AJANTA

1956

FEB-DEC

G. K. U.
HARIDWAR LIB.

079513

COMPILED

Stock Verification-2[illegible]

Stock Verification-2[illegible]

आजकल

COMPILED

R
079513

079513

वर्ष ८ फरवरी १९५[illegible]

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एक मात्र
स्थान

●

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

नामपल्ली रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

टेलिफोन नं. ५४५०
तार : हिन्दी

FIRE! *ACCID*

THE HYD

UNITED INSUR

S

THE GOV

Po

ABID ROAD,

Telegram: ***HUICOL***

Chairman

L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMA

'HIND'

म्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की

त के लिए

मेडिकल हॉल

विंद रोड, हैदराबाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

मेडिकल हॉल

बाद दक्षिण

तार का पता : लीवेरेक्स

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: **सी. डी. एल नं० १६८३**

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है

या

कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात हैदराबाद-द. से मँगाइए।

हिन्दी के

तथा उ

श्रेणी

के

सा

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

वार्षिक मूल्य ८) अर्धवार्षिक ४)

[सरकारी विज्ञापनों के लिए स्वीकृत]

सासाहिक सेनानी

से गाँव गाँव घर घर में लोग इसलिए पढ़ते हैं कि :

'सेनानी' राजस्थान का एक विश्वस्त पत्र है ।

सेनानी' दलगत राजनीति से ऊँचा रहना जानता है।

तानी' नेताओं की भड़ौती से नहीं अपनी क़लम

ीवित है ।

ी' ठोस विचारों और विश्वस्त समाचारों का

राजस्थान की समस्याओं पर गहराई से विचार

का कलेवर भरती के लेखों से भरा नहीं होता।

नानी' राजस्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र है ।

अपने 'सेनानी' के ग्राहक बनिए ।

अपने मित्रों को 'सेनानी' के ग्राहक बनाइए ।

व्यवस्थापक, साप्ताहिक 'सेनानी'

'सेनानी कार्यालय' बीकानेर

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

मैजिक गेंद

एक सुन्दर रंग-बिरंगी गेंद सूत की डोर में पिरोई हुई है। जब तक आप आदेश न देंगे, वह सूत की डोर में जहाँ की तहाँ ही अचल रहेगी । हाँ, आपके आदेश पर जब जैसा चाहेंगे, वह चलेगी दौड़ेगी, रुकेगी । गम्भीर से गम्भीर दर्शक भी हँसे बिना न रहेगा । इस शो की बदौलत जादू-सम्राट आसानी से कह देते हैं कि यह गेंद मैस्मेरजम के ज़ोर से चलती-फिरती है । विधि सहित पूरे सामान का मूल्य **एक रुपया आठ आना**

डाक-व्यय के लिए आठ आना भेज कर ५४ मैजिक शो का बड़ा सचित्र-सूची पत्र रजिस्टर्ड द्वारा मुफ्त मँगाइए ।

१०५ दी यूनाइटेड मैजिक कम्पनी लिमिटेड

मुरादाबाद, इण्डिया

टेलिफोन नं. १९९ **तार : मिस्ट्री**

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की

पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३१६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउराडरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।

आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है ।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है । नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा ।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।॥)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं।
अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र ।

प्रधान सम्पादक : श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल

सम्पादक : श्री हर्षदेव मालवीय

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक ।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

हिन्दी साहित्य में स्पृहणीय वृद्धि

कहानी-विशेषांक

प्रतिभा

का

आगामी मार्च १९५६ को प्रकाशित हो रहा है हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों एवं अन्य भाषाओं की महान् कहानियों का अमूल्य संग्रह।

मूल्य : एक रुपया

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड
वर्धा—रोड, नागपुर—१

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : **यशदेव शल्य**

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार

के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

उच्चकोटि की साहित्यिक एवं शिक्षाप्रद रचनाओं के साथ ही साथ राष्ट्रद्रोही फिल्मों के विरुद्ध खुला युद्ध छेड़ने वाला भारत का प्रथम पत्र

सचित्र मासिक

ऊषा

- ❀ बम्बई, आन्ध्र, भोपाल, मध्यभारत एवं मध्यप्रदेश राज्य सरकार के शिक्षा विभागों द्वारा स्वीकृत
- ✻ जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- ✻ कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।
- ✻ स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ चरित्र निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना ही जिसका मुख्य उद्देश्य है।

वार्षिक सदस्यता शुल्क ४)

नमूने की प्रति के लिए छः आने के टिकट भेजें

व्यवस्थापक : **भोज प्रकाशन धार [म. भा.]**

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०१ रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशियारपुर—पंजाब

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** *व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दाक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन-कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना।*

२. **पञ्चामृत** *(तेलुगु)* **:** *तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक—श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य चार रुपए।*

३. **सबरस :** *गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दाक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग तीन सौ, डेमी साइज़। मूल्य छः रुपए।*

४. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** *(अंग्रेज़ी)* **:** *उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष आचार्य श्री वंशीधर विद्यालङ्कार की अंग्रेज़ी में लिखी हुई विद्वत्तापूर्ण पुस्तक।*

५. **चाबुक** *(कहानी-संग्रह)* **:** *श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। मूल्य पौने दो रुपए।*

६. **तुलसीदास** *(नाटक)* **:** *गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है।*

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न छः पुस्तकें प्रकाशित की है । अठपेजी क्राउन साइज़, ३२ पृष्ठ रंगीन सचित्र छपाई । आकर्षक मुख-पृष्ठ । प्रत्येक का मूल्य आठ आना ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ । कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ । लेखक—श्री रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. ।

३. **दक्षिण के महापुरुष :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. ।

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ । लेखक—श्रीराम शर्मा ।

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी । लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. ।

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा । लेखिका— श्री कमला रानी संघी ।

प्रेस में :

१. दक्खिनी का व्याकरण	श्रीराम शर्मा
२. दक्खिनी का इतिहास	श्रीराम शर्मा
३. रहीम का अप्रकाशित काव्य : दम्पति विलास	
४. पञ्चामृत (मराठी)	
५. मराठी सहित्य का इतिहास	

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है । पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए ।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
शिक्षा-सचिव, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है
इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का
अतएव संग्रहणीय होता है ।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

सफेद कोढ़ के दाग
ऐसे निकल जाते हैं कि
वह कहाँ थे इसका पता भी
नहीं लगता। हज़ारों प्रशंसा
पत्र तथा कई इनाम मिले हैं ।
दवा का मूल्य ५) रुपया ।
विवरण पत्र मुफ्त मँगाइए ।
नक्कालों से सावधान रहिए ।
वैद्य बी० आर० बोरकर
'आयुर्वेद भवन'
मु० पो० मंगरूलपीर जि० अकोला (मध्य प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ फरवरी १९५६ अङ्क २

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी

फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

एक मामूली प्रश्न
जगदीशचन्द्र १
चिरन्तन
आरसीप्रसाद सिंह २
पहली जनवरी की सुबह
विनोद रस्तोगी ३
गीत
श्यामा श्रीवास्तव ४
शून्य पथ में
प्रेमशरण शर्मा ५
दो गीत
पाण्डेय कपिल ६
गीत
जितेन्द्रकुमार ७
गीत
हरिनारायण मिश्र ८
काव्य रचना के मूल में स्थित प्रेरणाएँ
राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी ६
हिन्दी कविता की नई विचार-दृष्टि
सौमित्र १४
रोमां रोलां और भारतवर्ष
डा. सुरेशचन्द्र विद्यालंकार २१
मसनवी 'लालारुख'
सरला शुक्ल २३
जायसी की आध्यात्मिक भावना
कृष्णा सक्सेना २६
ऊपर की मंज़िल
कर्तारसिंह दुग्गल ३३
हमारे देश की शिक्षा की समस्याएँ
डा. पट्टाभि सीतारामय्या ४०
भारतीय पत्रकारिता के निर्माता
मोरेश्वर तपस्वी 'अथक' ४४
मराठी लोकगीत : पवाड़े और लावणियाँ
शैलबाला ४८
इन्द्रनाथ
विश्वनाथ मुखर्जी ५४
अरिनत्व की मांग
कमलेश्वर ५६
कला-चर्चा ६०
हैदराबाद में अ. भा. ललित कला प्रदर्शनी
चिट्ठी-पत्री ६२
विनयमोहन शर्मा, ब्रजभूषण पाण्डेय, प्रेमकपूर 'कंचन', विनोद रस्तोगी, राजेन्द्रशुक्ल, कर्तारसिंह दुग्गल, बलवीर सहाय, विजय गोविन्द द्विवेदी
नीर-क्षीर ६८
रेडियो नाट्य शिल्प, मध्य देशीय भाषा : विनयमोहन शर्मा; अभियान, महिला-शासन, जिन्दगी बोलती है, जिप्सी, गार्गी के बाल नाटक, मेरी कहानी, कल्याण : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर
सामयिक ७४
आन्ध्र देश का छाया-नाटक, ब्राउनिङ्ग का प्रणय-व्यापार : फ्योदर दोस्तोयेव्स्की
सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालङ्कार

चित्र

दौलताबाद का दुर्ग : चित्रकार, विश्वनाथ मुखर्जी; एकान्त : चित्रकार, वीरेन डे
कुमारी खुर्शीद : चित्रकार, ए. बी. गोगले; अन्नोत्पत्ति : चित्रकार, के. राजैया
हैदराबाद की पन्द्रहवीं अ. भा. ललित कला प्रदर्शिनी का डा. याजदानी द्वारा उद्घाटन

वार्षिक मूल्य : ६)

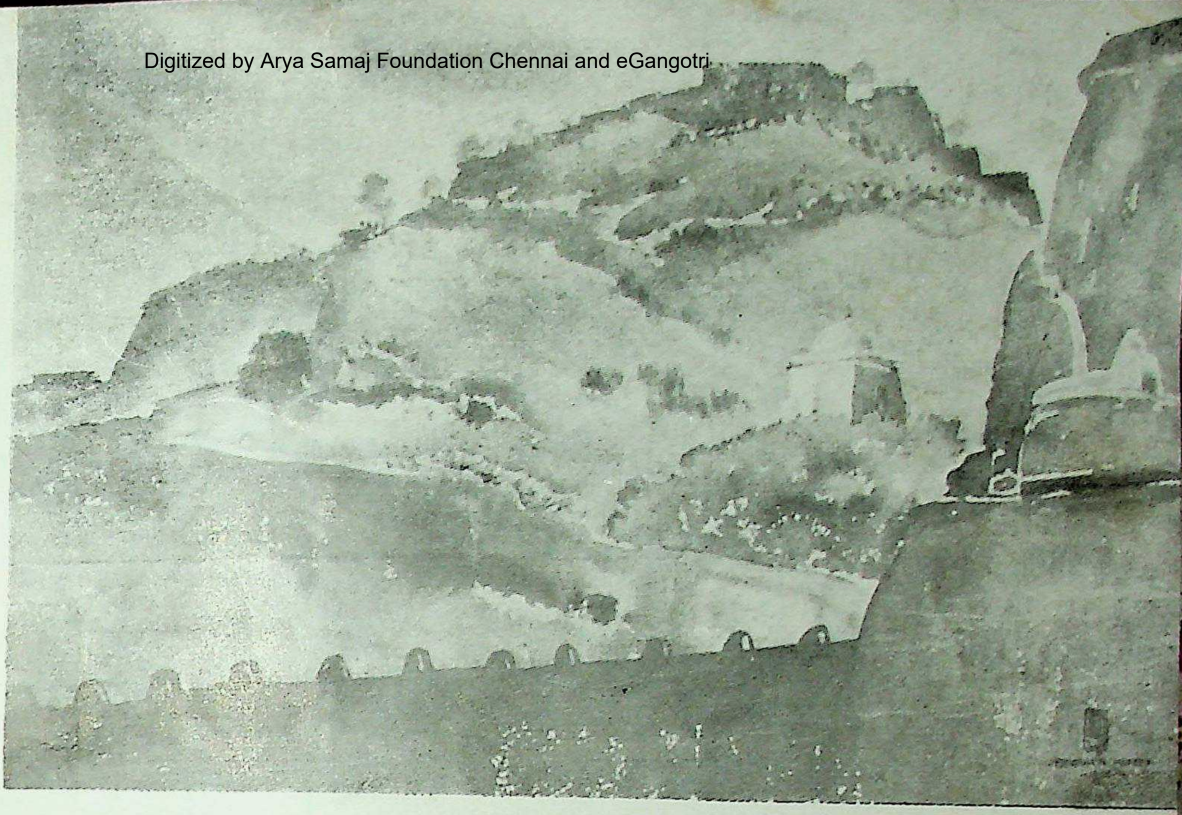

दौलताबाद का दुर्ग

चित्रकार : विश्वनाथ मुख

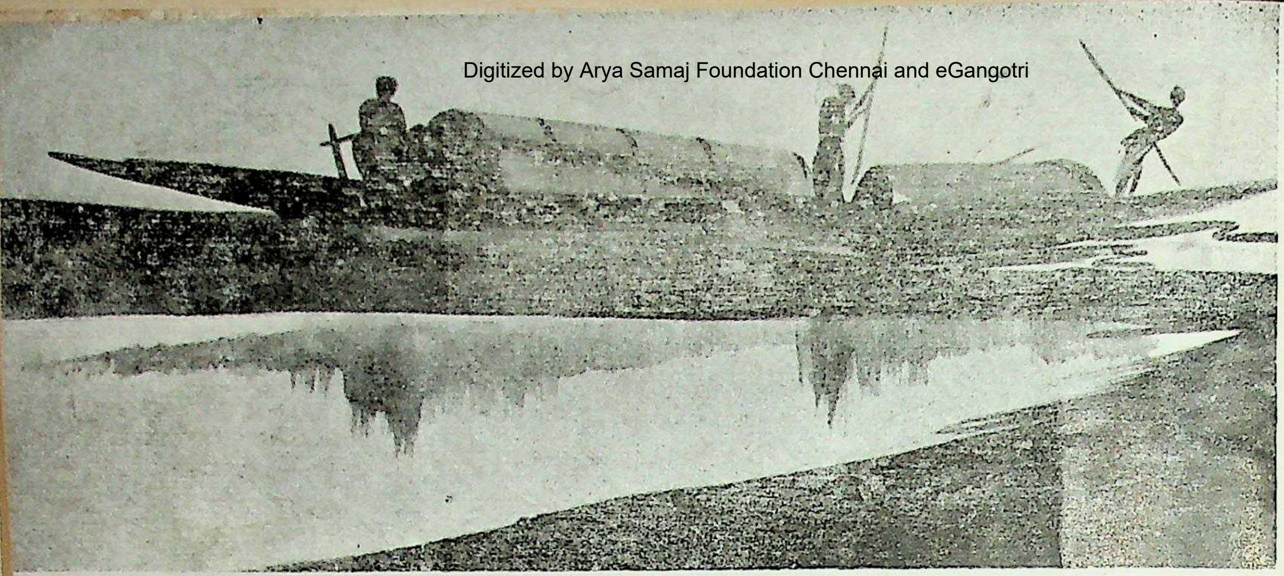

एकान्त
चित्रकार : वीरेन डे

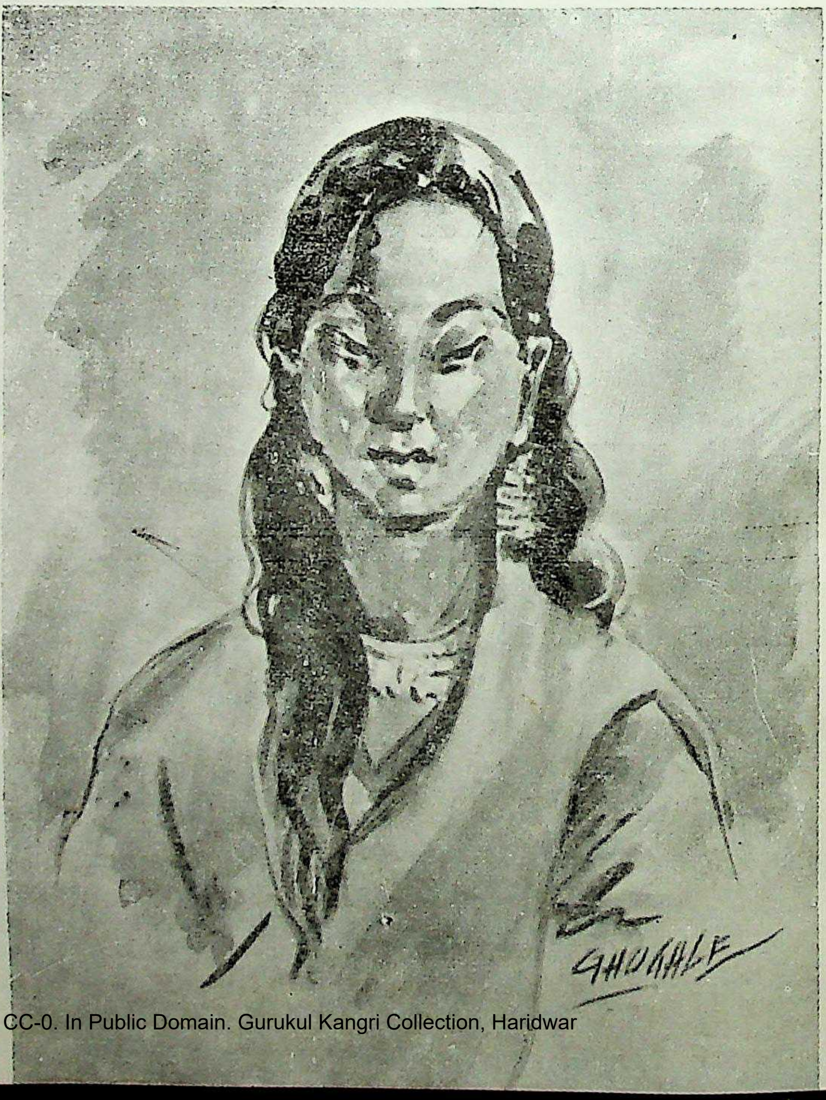

कुमारी खुर्शीद

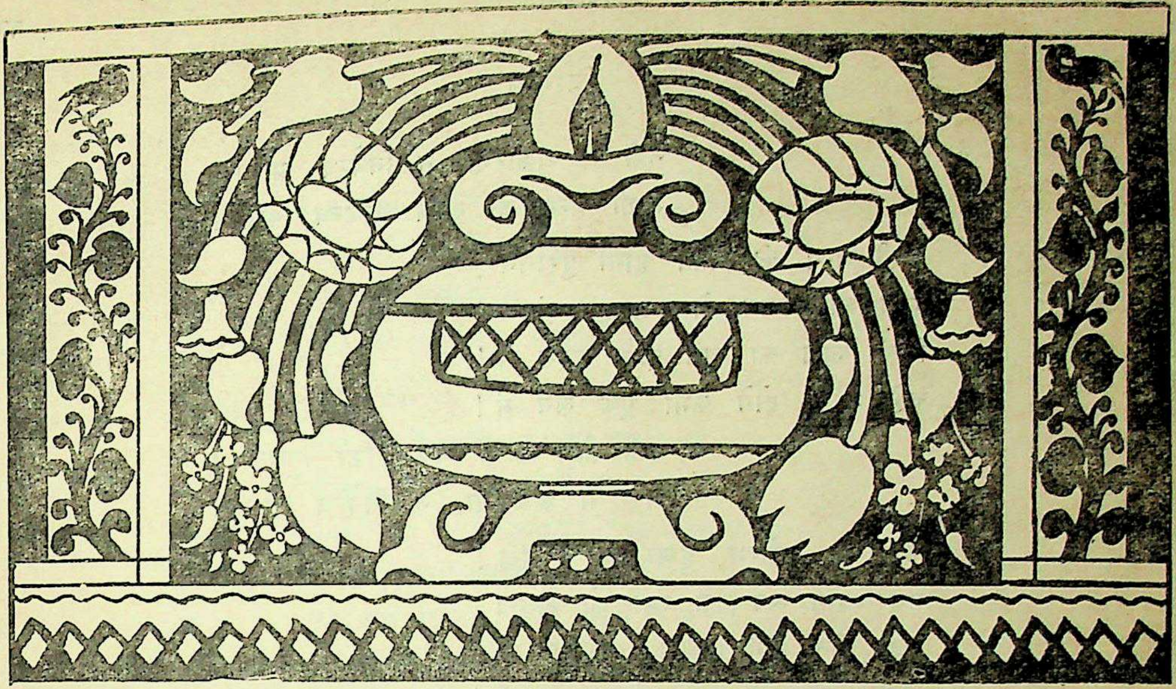

वर्ष ८

अजन्ता

अङ्क २

एक मामूली प्रश्न

हम महज ईमानदार
सीधे हों
सबके प्रति उदारता, सहानुभूति बरतते हों,
सबका सुख, सबका हित
मंगल भाव रखते हो

इतना ही यथेष्ट नहीं जीवन को
और भी कुछ चाहिए
हम अपनी कमज़ोरी,
अधूरेपन, कमियों को
बिना किसी संकोच के, लज्जा के
कर सकें स्वीकार

हर नए मोड़ पर हम कर सकें यह प्रश्न
क्या हमारी मान्यताएँ
क्या हमारी आस्थाएँ
क्या हमारा रास्ता ही ठीक था
और उसके बाद ही आगे बढ़ें ?

इलाहाबाद

—जगदीशचन्द्र

चिरन्तन

नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !
किसी जन्म का खींच सम्बन्ध लाया !

किसी जन्म की प्रीति होगी पुरातन !
कभी का मिलन, प्रेम आनन्द गुंजन !
किसी काल का राग होगा हृदय में !
चले श्वास होंगे कभी एक लय में !
इसी लोभ से है नयन फिर लुभाया !
नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !

कभी का मनोरथ, हुआ जो न पूरा !
मधुर स्वप्न अब तक रहा जो अधूरा !
बजी बीन होगी कभी कामना की !
विकल रह गई एक झंकार बाक़ी !
वही स्वर किसी ने अचानक बजाया !
नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !

कहीं मर्म में रह गई मौन भाषा !
रही तृप्ति को ढूँढ़ती ही पिपासा !
कदाचित् मिले हों कभी पंथ में कल,
नयन से नयन, प्राण से प्राण चंचल !
तभी तो विकम्पित हुई आज काया !
नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !

किसी ने अगर यों पुकारा न होता !
बजा यों हृदय एक-तारा न होता !
कभी का न होता अगर प्राण परिचय,
अधर पर न आता उमड़ आज विस्मय !
स्वजन-सा हृदय को न लगता पराया !
नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !

किसी दिन कभी पूर्ण एकान्त क्षण में,
धरा की भुजाएँ उठी हों गगन में !
घटा हो घिरी मस्त नाचा शिखी हो !
प्रणय की कथा सुर धनुष पर लिखी हो !
उसी की जगत् पर पड़ी रूप-छाया !
नहीं मैं अकारण, न निर्बन्ध आया !

—आरसीप्रसाद सिंह

पोस्ट बॉक्स १०७
पटना—१

पहली जनवरी की सुबह

नए वर्ष का नया प्रात है
तरुणी के अरुणिम अधरों के मुक्त हास्य सी—
गोरी-क्वाँरी धूप कर रही जादू-टोना !
एक नया उल्लास—
नया विश्वास आज जागा है मन में

नयी उमंगें—
नयी उछाहें लगीं गुदगुदाने अन्तर को
कोमल हरी दूब पर मोती चमक रहे हैं;
क्यारी का गुलाब मुझको दे रहा निमन्त्रण —
"आओ, हँसो-हँसाओ जी भर !"
नए प्रात की नई किरण उतरी है भू पर
नई-नवेली, अलंकृता नव वधू सरीखी !

मुख पर अवगुंठन है,
अवगुंठन के अन्दर—
छिपे हुए अनगिनत रहस्य हैं !
आँसू-हँसी,
सफलता-असफलता,
सुख-दुख,
जय और पराजय !

जाने क्या-क्या सौगातें ले—
नए वर्ष का नया प्रात मुझ तक आया है
उत्सुकता है,
जिज्ञासा है,
कौतूहल है !
इसीलिए अनदेखा, अनजाना, अनचीन्हा
नए वर्ष का नया प्रात यह मुझ को प्रिय है !

स्वागत करता हूँ आगत का !
गत ?
वह तो मर चुका,
व्यर्थ क्यों अश्रु बहाऊँ ?
दुख अवश्य है बीते सन् का,
पर उसकी तुलना में—
आने वाले सन् का हर्ष अधिक है

७/१४०, स्वरूप नगर
कानपुर

—विनोद रस्तोगी

गीत

मेरे गीतों का मौन आज मुखरित कर दो !

सूनेपन में जब भी गाने को मचला मन
छू गया तभी जाने कैसा करुणा क्रन्दन
इसलिए स्वरों में जीवन की ज्वाला भरकर
उन्माद नहीं, अब गाती विप्लव के गायन
सांसों में सौ सौ भूचालों के आमन्त्रण
हंसते होठों पर जलती चिनगारी धर दो !

यह ज्वाल विषम, जिसमें दानवता हँसती है
अभिशाप, अमर साधें जीवन की जलती हैं
यह आग कि जिसकी भीषण लपटों में पड़कर—
आहत मानवता कब से पड़ी सिसकती है !
सन्ताप मिटे युग-युग की प्यासी धरती का
मेरी आँखों में बरसाती बादल भर दो !

दो उठा, गिरा करते जो, जाने अनजाने
रोने वाले फिर याद करें भूले गाने
वह हँसी विषादों में जो खोई रहती है
लौटा दो उनको, उनकी भूली मुसकानें
समभाव नहीं, विष किन्तु विषमता का पीकर
संसार बना है विषमय, अमृतमय कर दो !

किसलिए चाह सुख की, दुख के अवसानों की
संसार एक जलती वेदी बलिदानों की
अंगार लिए अधरों पर मुसकाने वाली
जिन्दगी माँग है केवल जलते प्राणों की
इसलिए अगर कुछ देना ही है तुमको तो—
मेरे प्राणों में प्रीति नहीं, ज्वाला भर दो !

—श्यामा श्रीवास्तव

भार्गव आइस फैक्टरी,
१७।१५ सिविल लाइन्स, कानपुर

१९५६

शून्य पथ में

शून्य पथ में दीप तुम उर का जलाना,
मैं उसी आलोक में पथ ढूँढ़ लूँगा

आज मुझ को विश्व में विश्वास कम है,
जिन्दगी यदि है अकेली तो न ग़म है
किन्तु अभिलाषा यही उर में रहेगी,
कब ? न जाने प्यार की धारा बहेगी
मैं उसी को कुछ घड़ी संगम समझ कर,
प्राण अपनी वेदना को धो सकूँगा
शून्य पथ में दीप तुम उर का जलाना,
मैं उसी आलोक में पथ ढूँढ़ लूँगा

है न दुख यदि आज की निशि है अँधेरी,
सो रही है यदि हृदय की बीन मेरी
दीप यदि मुझ को दिखाती ही रहोगी,
मुक्त स्वर से गीत गाती ही रहोगी
तो तुम्हारे गीत की गति के सहारे,
सुप्त उर की बीन को झकझोर दूँगा
शून्य पथ में दीप तुम उर का जलाना,
मैं उसी आलोक में पथ ढूँढ़ लूँगा

प्रिय कभी तो निविड़ निशि का नाश होगा,
शिथिल मेरी वेदना का पाश होगा
फिर अमाँ के बाद निशि होगी उजाली,
साधना से ही मिटेगी रात काली
मैं उजाली रात को हिमगिरि समझ कर;
साधना का शान्तिमय मन्दिर रचूँगा
शून्य पथ में दीप तुम उर का जलाना,
मैं उसी आलोक में पथ ढूँढ़ लूँगा

४४२२, सब्ज़ी मण्डी
देहली-६

—प्रेमशरण शर्मा

दो गीत

(१)

नैया तट को छोड़ चुकी है !

तुम वेला पर बन कर हँसमुख,
व्यर्थ छिपाते अन्तर का दुख,
आग हिए की, पानी हो कर
पत्थर का दिल तोड़ चुकी है !

होता जाता दूर किनारा,
दूर नयन से स्वप्न-सहारा,
पनघट पर कुछ लहर लुटाकर
धारा ही मुँह मोड़ चुकी है !

उठते गिरते श्वास हिलोरे,
डाल रहे हैं निष्फल डोरे,
तट से वंचित नाव, नए ही
तट से नाता जोड़ चुकी है !

(२)

नयनों के जल-पथ में उठता ज्वार है !

यह पथ अपने से अनजाना,
नाविक हौले ही ले जाना,
मेरी नैया की टूटी पतवार है !

सपनों का है दूर किराया,
दूर क्षितिज ही एक सहारा,
ऊपर बादल, नीचे यह मँझधार है !

मिलन सिहरता भँवर-भँवर पर
विरह विहरता लहर-लहर पर
कहाँ न जाने इस प्लावन का पार है !

बिहार विधान परिषद्,
पटना

—पाण्डेय कपिल

गीत

मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?
फूलों से भी हलका-फुलका
तूलों से भी मंजुल-कोमल
परिमल से भी भीना-भीना
चन्दन से भी सुरभित-शीतल
रजत चाँदनी से भी उज्ज्वल
दुग्ध-फेन से भी मृदु निर्मल
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय भार बन गया ?
प्रतिपल का आराधन-साधन
प्रतिपल का अर्चन-अभिवंदन
प्रतिपल का अभिनन्दन-पूजन
प्रतिपल का नैवेद्य-निवेदन
प्रांतपल का आत्मा का गुंजन
प्रतिपल का सर्वस्व समर्पण
प्राण, तुम्हारी ग्रीवा का कैसे विषमय अहि-हार बन गया ?
मेरा प्यार तुम्हारे प्राणों पर कैसे प्रिय, भार बन गया ?
अम्बर-सा ही मुक्त और
अम्बर-सा ही विस्तीर्ण अपरिमित
अम्बर-सा ही अन्त-हीन
अंबर-सा ही अगाध अति विस्तृत
अम्बर-सा ही अकलुष मेरे
अन्तरतम का स्नेह सुसंचित
प्राण तुम्हारे हर्ष-विहग का कैसे कारागार वन गया ?
प्यार, तुम्हारा मेरे प्राणों पर कैसे प्रिय भार बन गया ?
फूल सदा बरसाने वाला
अमृत सुधा सरसाने वाला
चिर निष्ठुरतम कठिन शिला पर
पाटल-पुष्प खिलाने वाला
मरु को नन्दन करने वाला
ज्वाला चन्दन करने वाला
कैसे मेरा प्रणय तुम्हारा आत्मप्रलय सुकुमार बन गया ?
प्यार तुम्हारा मेरे प्राणों पर कैसे प्रिय भार बन गया ?

पोस्ट—खगारिया
जि० मुंगेर (बिहार)

—जितेन्द्रकुमार

गीत

क्या दुख, क्या दुविधा, जब तुमने स्नेह-नयन से मुझे निहारा !

कुंठा की यह कुहा फट गई
तुमने देखा मुझे, युगों की
जड़ता मुझ से दूर हट गई
मेरे जीवन के आँगन में उतरीं बन कर स्वर्ण किरण तुम
आज तुम्हारे ज्योति स्पर्श से पुलकित मेरा तन-मन सारा !

आशा की तितली पर खोले
मन की मुकुलित अमराई में
नव उमंग की कोयल बोले
शिरा-शिरा में मस्ती छाई नई स्फूर्ति से पूर्ण चेतना
दौड़ चली है घोर मरुस्थल में अजस्र रस की यह धारा !

कब का खोया गान मिल गया
पुण्य मूर्त्त हो आया कब का
कैसा यह वरदान मिल गया
क्या से क्या हो गया तुरत, कैसे इसको शब्दों में बाँधूँ
कैसे तुमको बतलाऊँ प्रिय, अब तो मैं हो गया तुम्हारा !

शोकहरा, पो. बरौनी,
जि. मुँगेर (बिहार)

—हरिनारायण मिश्र

काव्य-रचना के मूल में स्थित प्रेरणाएँ

काव्य इसी लोक की किन्तु असाधारण वस्तु है और वह जीवन से ही प्रेरणा प्राप्त करता है । काव्य जीवन का मुखरित रूप है, जीवन-विटप का मधुरतम पुष्प है । अतः जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही काव्य मूल की प्रेरणाएँ हैं । जीवन की वृत्तियाँ काव्य की प्रेरक शक्तियाँ हैं । काव्य जीवन का चरम विकास है, उसमें जीवन से सम्बन्धित वृद्धिगति, पुनरुत्थान आदि समस्त विशेषताएँ एवं गुण मिलते हैं ।

जीवन की मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में विद्वद्गण सदा से विचार करते आए हैं । उपनिषदों में तो सीधे-सादे ढंग पर कह दिया गया है कि मानव-जीवन की मूल प्रेरणाएँ तीन हैं—पुत्रैषणा (पुत्र की चाह), वित्तैषणा (धन की चाह) और लोकैषणा (यश की चाह ।)[1]

यूरोप के विद्वानों ने मानव-मन के विश्लेषण के आधार पर इन प्रेरणाओं का अध्ययन किया है । उनके मतानुसार प्राणिमात्र के भीतर कुछ मूल वृत्तियाँ होती हैं । इन्हीं के अनुसार वह प्रत्येक कार्य करता रहता है ।[2] एक साथ एक से अधिक वृत्तियों (Instincts) के काम करने का कारण यह है कि उनके साथ उपार्जित ज्ञान (Intelligence) का सम्मिश्रण होता रहता है । जीवधारियों में ज्यों-ज्यों हम नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों हमें बुद्धि-तत्व का क्रमिक विकास मिलता जाता है । बुद्धि-तत्व के आधार पर ही जीव धारियों की विभिन्न श्रेणियाँ निर्धारित की गई हैं । बुद्धि-विहीन मनुष्यों पर पशुता का हम सहसा ही आरोप कर देते हैं । प्रत्येक मूल वृत्ति से सम्बद्ध एक मनोवेग (Emotion) होता है ।[3] ये मनोवेग तीन प्रकार के होते हैं ।[4] मौलिक मनोवेग (Primary Emotions) मिश्रित या गौण मनोवेग (Blended or Secondary Emotions) तथा व्युत्पन्न मनोवेग (Derived) (Emotions) । व्यापक और तीव्र मनोवेग मानव स्वभाव के मूल अँग स्वीकार किए गए हैं—इन्हें मौलिक भाव (Elmental Passions) भी कहते हैं । इनका सीधा सम्बन्ध मानव आत्मा के मूल भूत गुण राग-द्वेष से है । आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता अथवा अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषक अहं (Ego) अथवा आत्माभिव्यक्ति (Self assertion) के रूप में स्वीकार करते हैं । इस अहं की अभिव्यक्ति के दो रूप हैं—राग और द्वेष[5], जो मानव जीवन के दो मौलिक अनुभवों, सुख और दुःख के पर्याय हैं । बाह्य जगत के संवेदनों (Sensations) के कारण हमारे भीतर उठने वाले मनोविकार ही हमारे मौलिक अनुभव (Feelings) अथवा चेतन हैं । इन्हें प्रेम करने की प्रवृत्ति (Libido) और नाश करने की प्रवृत्ति (Thanotos) कहा गया है । डाक्टर भगवान दास ने विस्तारभाव को ही जीवन की एकमात्र प्रमुख वासना माना है ।[6] डा० आयन डी० सती (Ian D. Suttie) के मतानुसार मानव जीवन का मौलिक भाव केवल राग है । द्वेष की स्वतन्त्र स्थिति को अस्वीकार करते हुए वह कहते हैं कि पृथकत्व के कारण ही घृणा अथवा द्वेष का जन्म होता है, राग का पराभव द्वेष की उत्पत्ति का कारण बनता है ।[7] इस प्रकार आधुनिक मनोविश्लेषकों के मतानुसार राग, स्व-विस्तार अथवा संयोग की इच्छा ही मानव जीवन के मूल में ठहरते हैं । इस संयोगेच्छा को पूर्णत्व की प्राप्ति की इच्छा भी कहा गया है । फ्रायड ने इसी को 'काम-वृत्ति' बताया है ।

---

[1] एवं वै तदात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्यत्थायाम भिक्षाचर्यं चरन्ति । (बृहदारण्यक ३-५-१)

[2] इनकी संख्या १६ है (देखें अध्याय १)

[3] An outline of Psychology—William Me Dougall

[4] वही

[5] An outline of Psychology—William Me Dougall

[6] Chapter II Science of Emotions

[7] Chapter V Origins of Love and Hate

मनोविश्लेषण शास्त्र (Psychoanalysis) के तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं। उनके आचार्यों के नाम हैं—फ्रायड (Freud), एडलर (Adler), और युंग (Jung)।

फ्रायड : फ्रायड के मतानुसार 'कामवृत्ति' जीवन की सबसे अधिक प्रबल एवं प्रमुख वृत्ति है। जीव की समस्त क्रियाओं का मूल काम-वासना है। ये वासनाएँ विकसित रूप में ही नहीं अपितु बाल्यकाल के अविकसित रूप में भी जीवन की क्रियाओं की मूल प्रेरक शक्तियाँ ठहरती हैं। सामाजिक शिष्टाचार के कारण ये उपचेतना में दब जाती है, और परोक्ष रूप में हमारे जीवन को प्रभावित करती हैं। इनके विकास के मुख्य मार्ग ये हैं—स्वप्न, दैनिक भूलें और हँसी मजाक। कला और काव्य इन्हीं के विकास के परिष्कृत और परिमार्जित रूप हैं। इन रूपों में वासना का उन्नयन (Sublimation) हो जाता है। फ्रायड ने बोध-वृत्ति, ज्ञान तथा भक्ति-भावना का इसी आधार पर 'काम' के साथ सीधा सम्बन्ध बताया है।

डा. हैवलोक ऐलिस ने भी योनि-भावना की समस्या को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताया है। विलड्यूरेन्ट ने भी स्त्री और पुरुष के पारस्परिक कामुक आकर्षण को अन्य भावों की अपेक्षा अधिक व्यापक माना है। जेम्स ने भी इस पक्ष का समर्थन किया है। उसके विचार से सूफ़ी फ़कीरों की 'हाल' की दशा प्राप्त होने के मूल में भी यही 'कामवृत्ति' ही कार्य करती है।

एडलर : एडलर किसी अभाव अथवा क्षति की पूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। इनके मतानुसार बच्चा शुरू से ही किसी शारीरिक या परिस्थिति सम्बन्धी अभाव का अनुभव करता है। उसके मन में हीनता-भाव (Imperiority complex) की एक गांठ पड़ जाती है, उसी से प्रेरित होकर वह अपनी कमी को पूरा करने के लिए भले या बुरे उपायों में बराबर लगा रहता है। इस प्रकार काव्य का निर्माण किसी क्षतिपूर्ति के रूप में ही होता है। इस मत के अनुसार जायसी ने अपनी कुरूपता की हीनता के कारण लिखा, कबीर को जुलाहेपन का हीनता-भाव था, सूरदास ने काव्य लिखकर अपने अन्धेपन की कमी की पूर्ति की, तुलसीदास अपनी स्त्री की डांट-फटकार से उत्पन्न हीनता भाव को दूर करने के प्रयत्न में ही इतने महान् कवि बन गए—आदि। सारांश यह है कि एडलर का सिद्धान्त इस बात पर ज़ोर देता है कि हमारे समस्त कार्यों के मूल में प्रमुख—कामना ही कार्य करती है। वही काव्य की भी मूल प्रेरणा है

युग : युंग काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों को स्वीकार करते हैं। उनके मत में कुछ लोगों में काम-वासना का प्राधान्य रहता है और कुछ लोगों में प्रभुत्व-कामना का। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्यों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। यथा—(१) अन्तर्मुखी इनमें प्रभुत्व-कामना प्रधान रहती है। और (२) बर्हिमुखी, इनमें काम-वासना की मुख्यता रहती है। अन्तर्मुखी लोग अपना ही ध्यान रखते हैं और बर्हिमुखी लोग दूसरों का अधिक ध्यान रखते हैं, वे दूसरों से शासित होना पसन्द करते हैं। जीवन के व्यावहारिक रूपों का हम यदि गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करें, तो हमें विदित होगा कि जब कोई भय उपस्थित होता है, तो उस समय हमें न भूख की चिन्ता रहती है और न उस समय काम ही सताता है, भूखे पेट काम-वासना सोती रहती है और पेट भर जाने पर हमारा काम जागृत हो उठता है। सारांश यह है कि भय, काम, भोजनोपार्जन, आत्म-रक्षा तथा आत्म-प्रतिष्ठा की वृत्तियों का हमारे जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है अथवा ये ही हमारी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं।[९] इनमें आत्म-रक्षा की वृत्ति ही सबसे अधिक प्रबल है। भय तथा भोजनोपार्जन की वृत्तियाँ वर्तमान में आत्म-रक्षा के विचार से कार्य करती हैं तथा प्रजनन और आत्म-प्रतिष्ठा की वृत्तियाँ भविष्य में आत्म-रक्षा के विचार से कार्य करती हैं। हमारे विचार से वृत्तियों का यह विश्लेषण भारतीय दृष्टिकोण के साथ मेल खा जाता है। उपनिषदों में जहाँ पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को जीवन की प्रेरक शक्तियाँ बताया है, वहीं इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि 'आत्म-प्रेम' ही सब क्रियाओं का मूल कारण है।[१०]

---

[९] विशेष का विवेचन के लिए देखें लेखक की पुस्तक 'रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस'। [१०] स होवाच न वारे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिःप्रियो भवति। न वारे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्त प्रियं भवति। (बृहदारण्यक २।४।५)

इस प्रकार युंग भारतीय दृष्टिकोण के बहुत कुछ निकट ठहरते हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि वह भारतीय दृष्टिकोण की ओर बढ़े तो सही, परन्तु मार्ग में ही रुक गए। काम-वासना और प्रभुत्व-कामना का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु वे सर्वोपरि नहीं हैं, दोनों आत्म-प्रेम के निम्न रूप हैं अथवा इसके नीचे ठहरते हैं। प्रभुत्व-कामना तथा काम-वासना दोनों ही के द्वारा हम आत्म-प्रकाश करने में तत्पर होते हैं। हम न तो आत्मा पर प्रभुत्व ही प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और न शरीर को जड़ पदार्थों की भाँति केवल वासना का हेतु ही बनाना हमारा ध्येय है। हमारा तो केवल यही एक उद्देश्य रहता है कि हमें आत्मा के अखण्ड व चिन्मय आनन्दस्वरूप की अनुभूति प्राप्त हो जाए। यह कार्य सहृदयता और सहानुभूति के प्रसार द्वारा सम्भव होता है। इस दशा के साधारणीकरण, रस-सिद्धि, समाधि आदि विभिन्न नाम हैं, तथा काव्य, योग आदि इसके साधन हैं। यही आत्मानुभूति आत्म-रक्षा का क्रियात्मक रूप धारण करती है। उदार एवं विस्तृत होकर आत्म-रक्षा श्रेयस् की ओर ले जानेवाली बन जाती है। विज्ञान, इतिहास, काव्य आदि सब तथाकथित अनात्म में आत्मा के दर्शन कर इसकी स्थिति-रक्षा, विस्तार और उन्नति के प्रयास हैं। जब हमको आत्मा और अनात्मा की एकध्येयता के दर्शन मिलते हैं, तब हमारे आनन्द की सीमा नहीं रहती। सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हमको आत्मा की पूर्णता की ओर ले जाता है। साहित्य द्वारा हम 'बहु' एकत्व में पुनरावृत्ति का विधान करते तथा दृश्य देखते हैं। काव्य में आत्माभिव्यक्ति अपनी आत्मा को मूर्तिमान् कर अपने को विस्तार कर देने के कारण आनन्द की उत्पादक होती है। बस यही है काव्य अथवा साहित्य[11] की मूलभूत प्रेरणा। काव्य की प्रेरणाएँ प्रयोजन का रूप धारण कर लेती हैं, प्रेरणा आन्तरिक हैं फल और प्रयोजन बाह्यरूप। साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य के विभिन्न प्रयोजन बताए हैं।[12]

आचार्य मम्मट के मतानुसार "यश की प्राप्ति, सम्पत्ति लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिए काव्यग्रन्थ उपादेय। (प्रयोजनीय) है।[13]

इस कारिका का अर्थ विशद करने के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है कि : "काव्य-रचना सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखा कर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराती है कि ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं। निदान लोगों को सभी प्रकार से इस काव्यज्ञान प्राप्ति के लिए यत्नशील होना चाहिए।[14]" सारांश यह है कि काव्य के विभिन्न फल बताने के पश्चात् मम्मटाचार्य ने आनन्द को ही काव्य का मूल प्रयोजन माना है।[15]

"काव्यप्रकाश" के लेखक द्वारा बताए गए काव्य के ये प्रयोजन अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हैं। कारिका की व्याख्या के अन्तर्गत स्वयं ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "यशसे, अर्थकृते और शिवेतरक्षतये," ये

---

[11] साहित्य के विभिन्न रूप (धर्म, इतिहास, विज्ञान आदि) आत्म-रक्षा के ही रूप हैं। [12] कुछ का सम्बन्ध स्रष्टा से है और कुछ का आस्वादक से। वस्तुतः हैं दोनों एक ही।

[13] काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे। (काव्य प्रकाश १।२)

[14] सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्+++कवैः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र (यतनीयम्)।

[15] एक लहैं तपपुंजन्ह के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु सम्पत्ति केशव भूषण ज्यों बर बीर बड़ाई॥
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन हैं रसखान रहीम की नाईं।
दास कवित्तन्ह की चरचा बुधिवन्तन को सुखदै सब ठांईं॥
(भिखारीदास, काव्य निर्णय, मंगलाचरण) साहित्य दर्पणकार ने काव्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का साधन बताया है।

तीन प्रयोजन कवि के लिए हैं तथा शेष "व्यवहारविदे," "सद्यः परनिर्वृतये" कवि एवं पाठक के लिए हैं।

यद्यपि कविगण प्रायः यश की प्राप्ति के लिए भौतिक प्रलोभन के वश अथवा अनिष्ट-निवारण के हेतु ही काव्य-रचना करते हैं, तथापि हमें ऐसे भी अनेक कवि-पुंगवों के दर्शन होते हैं जिन्होंने केवल आनन्द की प्राप्ति के लिए ही काव्य-रचना की, धन, यश प्राप्ति से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, "स्वान्तःसखाय तुलसी[१६] रघुनाथगाथा भाषानिबंध-मतिमंजुलमातनोति।"[१७] जो कविगण धन आदि भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए कविता करते हैं, उनके मतानुसार वे अपने उच्च आसन से नीचे गिर जाते हैं। यथा—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना[१८] उनके मतानुसार काव्य-रचना का उद्देश्य लोकहित है। यथा—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि-सम सब कँह हित होई।"[१९]

"स्वान्तःसुखाय" वाले प्रयोजन के सम्बन्ध में बात समझ लेनी चाहिए। 'स्वान्तःसुखाय' लिखे गए काव्य का श्रोता या पाठक से कोई सम्बन्ध न रहता हो, ऐसी बात नहीं है। कवि अपनी बात दूसरों तक पहुँचाना चाहता है, अरण्यरोदन मात्र इनका अभीष्ट नहीं होता है। यथा—

"उत्पस्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधि र्विपुला च पृथ्वी।"
[भवभूति, मालती माधव १-८]

"जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।"
[गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस]

कवि अपने आपको पाठक और श्रोताओं के साथ भाव की एकरूपता में अतीव आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार "सद्यः परनिर्वृतये" वाला प्रयोजन सर्वोपरि ठहरता है। यद्यपि इसमें काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्द ही की ओर लक्ष्य है, तथापि इसमें कवि (स्रष्टा) के अन्तःकरण का वह आनन्द भी सम्मिलित है, जिसके द्वारा प्रेरित होकर वह काव्य का निर्माण करता है। क्या कवि स्वयं अपनी कृति का उपभोग करके आनन्द प्राप्त नहीं करता है? काव्य उत्पत्ति और उपभोग दोनों ही अवस्थाओं में आनन्द (आह्लाद) का हेतु होता है। अतः "तुरन्त उच्चकोटि" के आनन्द का अनुभव ही काव्य का मूल उद्देश्य ठहरता है।

काव्य में उपदेशात्मकता हो या न हो, इस सम्बन्ध में विद्वानों में काफ़ी मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि उपदेश प्राप्ति के लिए हम नीति-ग्रन्थों धर्म-ग्रन्थों आदि को क्यों न पढ़ें? काव्य को क्यों पढ़ें? ग्रन्थकार को सम्भवतः विदित था कि आगे चलकर लोक में ऐसी शंका उत्पन्न होगी। केवल 'उपदेशयुजे' न लिखकर उसमें 'कान्तासंमित' जोड़ दिया है। उसका कहना है कि काव्य न तो वेद के विधि-वाक्यों के समान आज्ञा (प्रभुसम्मतशब्द) ही देता है, और न इतिहास-पुराणादि की भाँति ऊँच-नीच, इष्टानिष्ट सम्बन्धी सुझाव देता है। वह तो अपनी बात को मन-भावन स्त्री की भाँति प्यारी बना कर अपने पाठक के उपभोग के लिए प्रस्तुत करता है।[२०] कविवर बिहारीलाल ने निम्नलिखित दोहे के द्वारा राजा जयशाह को कल्याण-मार्ग दिखाया था—

"नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल
अली, कली, ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल"

काव्य के "कान्तासंमित उपदेश" का यही अभिप्राय है। उपदेश यदि औषधि के समान कटु होता है, तो काव्य का रस उसे ग्राह्य बना देता है।[२१]

२१ आजकल की भाषा में इसे Sugurcoated quinine pills कह सकते हैं।

मम्मटाचार्य द्वारा बताए गए काव्य के प्रयोजन यद्यपि काफ़ी व्यापक हैं, तथापि पाठकों की जानकारी के लिए हम कतिपय अन्य विद्वानों के मतों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं:

---

[१६] कहते हैं गोस्वामी जी ने बाहुपीड़ा के निवारणार्थ 'हनुमान-बाहुक' की रचना की थी। [१७] बालकाण्ड—'रामचरितमानस'

[१८] वही। [१९] वहीं।

[२०] कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे।
कस्य वा रोगिणः, सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात (काव्यप्रदीप [illegible] की वृत्ति)

"साहित्य में चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है।"

—कवीन्द्र रवीन्द्र

"साहित्य या कला का उद्देश्य जीवन-सुधार है, केवल सामान्य जीवन का सुधार ही नहीं, इससे और भी बहुत्त कुछ है।"

—टालसटाय

"कविता ने मुझे वह शक्ति दी है जिससे मैं संसार की सब वस्तुओं में भलाई और सुन्दरता देखने का प्रयत्न करता हूँ।"

—कोलरिज

कला का विवेचन करते समय हम कला के विभिन्न प्रयोजनों का उल्लेख कर चुके हैं। काव्य के भी ये प्रयोजन हो सकते हैं। इन विभिन्न प्रयोजनों में कोई तात्विक भेद नहीं है। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य का जीवन और जीवन-निर्माण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यश, अर्थ, योनि सम्बन्ध आदि सब हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बनते हैं। काव्य-गत आनन्द लेखक और पाठक सबका जीवन-रस है। आत्मा की अधिक से अधिक व्यापक एवं सम्पन्न अनुभूति ही काव्य-रचना का चरम फल है।

—राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

शीतला गली,
आगरा

क्या लाभ ?

अनन्त धन-राशि से क्या लाभ ?

जब कि मनुष्य को खाने के लिए मुट्ठी भर अन्न ही पर्याप्त है अनगिनत पोशाकों से क्या लाभ ?

जब कि मनुष्य को पहनने के लिए एक ही पोशाक पर्याप्त है बहुत-सी भूमि के स्वामित्व से क्या लाभ ?

जब कि मनुष्य को लेटने के लिए साढ़े तीन हाथ भूमि ही पर्याप्त है तरह तरह के सैकड़ों भोजनों को बनाने से क्या लाभ ?

जब कि मनुष्य मुख में एक कौर ही ले सकता है नदी में यदि बाढ़ आ गई तो इससे क्या लाभ ?

घट में तो घट जितना ही पानी भरा जा सकेगा ओह ! मन इससे कुछ लाभ नहीं है।

हमें राम को कभी नहीं भूलना चाहिए।

—त्यागराज के एक तेलुगु
गीत का अनुवाद

---

२१ आजकल की भाषा में इसे Sugar coated quinine pills कह सकते हैं।

हिन्दी कविता की नई विचार-दृष्टि

'तार सप्तक' का प्रकाशन (सन् '४३) केवल इसीलिए ही उल्लेखनीय न था कि उसमें पहली बार सात कवियों की रचनाओं को एक साथ रखा गया था; बल्कि इसलिए भी उल्लेखनीय था कि उसमें काव्य सम्बन्धी दो विचार दृष्टियों का भी प्रतिपादन किया गया था। इस दृष्टि से कविता के विकास में इसका दोहरा महत्व था।

पहला तो यह कि उसमें दी गई रचनाओं ने पूर्ववर्ती कविता की तुलना में एक नये भाव-विधान की ओर ध्यान आकर्षित किया :

दूसरा यह कि उसके द्वारा प्रतिपादित की गई विचार दृष्टियों ने ही आगामी काव्य-विकास के लिए सैद्धान्तिक आधार-भूमि प्रस्तुत की।

अतः आज की कविता के नवीनतम विकास का मूल्यांकन करने के लिए 'सप्तक' की कविताओं का विश्लेषण जितना आवश्यक है, उसकी बौद्धिक पृष्ठभूमि जानने के लिए इन दोनों विचार दृष्टियों का विवेचन करना भी लगभग उतना ही आवश्यक है।

ये दोनों विचार दृष्टियाँ मूलतः परस्पर विरोधी मान्यताओं पर आधारित हैं। इनमें से एक ने नई कविता की प्रगतिवादी धारा को प्रभावित किया है, दूसरी ने प्रयोगशील धारा को प्रेरणा दी है। पहली को वस्तुनिष्ठ दृष्टि तथा दूसरी को व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि कहा जा सकता है। 'सप्तक' के कवियों में 'मुक्तिबोध', 'नेमिचन्द' और भारतभूषण अग्रवाल ने वस्तुनिष्ठ दृष्टि का तथा गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे एवं 'अज्ञेय' ने व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि का प्रतिपादन किया था। वस्तुनिष्ठ विचार दृष्टि के समर्थक या तो कम्यूनिस्ट थे या उसकी राजनैतिक आस्था से प्रभावित। इसलिए उनके कला सम्बन्धी दृष्टिकोण का आधार समाजवादी जीवन-बोध था। व्यक्तिनिष्ठ विचार दृष्टि के कवि प्रधानतः इलियट, एज़रा पाउण्ड और अन्य अंग्रेज़ी प्रयोगशील कवियों तथा उनके सौन्दर्य शास्त्र से प्रभावित थे, इसलिए कला सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण में व्यक्तिवाद की प्रधानता थी।

सबसे पहले वस्तुनिष्ठ दृष्टि पर विचार किया जाय इस दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता है "प्रबुद्ध सामाजिक चेतना"। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका आभास सर्वप्रथम पन्त जी की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओं में मिला। 'आधुनिक कवि भाग २' की भूमिका में उन्होंने इस चेतना के जीवन-बोध पर विस्तृत प्रकाश डाला। परन्तु पन्त जी की सामाजिक चेतना तथा 'सप्तक' के इन कवियों की चेतना में बुनियादी अन्तर था। पन्त जी की चेतना पर प्रधानतः मानवतावाद की उदात्त भावनाओं का प्रभाव पड़ा था; इसलिए 'आधुनिक कवि की भूमिका' में उन्होंने गांधी तथा मार्क्स के प्रति आस्था तो व्यक्त की लेकिन नव-निर्माण के लिए मानवतावादी धरातल के साथ दोनों के समन्वय पर ही विशेष जोर दिया। उनकी धारणा थी कि दोनों के समन्वय पर ही जन-कल्याण की व्यापक भूमि तैयार की जा सकती है। इसके विपरीत 'सप्तक' के इन कवियों द्वारा जिस सामाजिक चेतना का परिचय दिया गया उसमें समाजवादी जीवन बोध की अक्षरशः स्वीकृति दिखाई दी। पन्त जी की तरह उनके सामने न कोई विकल्प था, न कोई संशय। मुक्तिबोध ने अपने वक्तव्य में लिखा, "कला का केन्द्र व्यक्ति हैं, पर उसी केन्द्र को अब दिशा व्यापी करने की आवश्यकता है।" नेमिचन्द्र ने अधिक स्पष्टता के साथ स्वीकार किया, "साहित्य में प्रगतिशीलता पर मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ट प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ, किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में हैं।" उनके विचार से प्रगति की माँग करने की आवश्यकता केवल इसलिए है कि आज के पूँजीवादी युग में व्यक्तित्व खण्ड-खण्ड हो चुका है, इसलिए कलाकार के लिए यह जरूरी है कि "वह जीवन की ओर अपने दृष्टिकोण को बदले। अपने ही दायित्व और स्थान को नहीं बल्कि अपने काव्य के भी सामाजिक महत्व को समझे।" क्योंकि "कवि सर्वदा ही एक महत्वपूर्ण सामाजिक दायित्व पूरा करता आया है।"

भारतभूषण अग्रवाल ने भी इन्हीं विचारों पर ज़ोर देते हुए कहा, "कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई

और समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है।" इसलिए "कवि को समाज से नाराज़ होकर भागने की बजाए समाज की शोषण सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है।"

स्पष्ट है इस विचार दृष्टि का विशेष ज़ोर सामाजिक उत्तरदायित्व एवं उपयोगिता पर अधिक था; लेकिन यह उल्लेखनीय है कि इसमें वह कट्टरता नहीं थी जो बाद में इस स्कूल के कई कवियों में उत्पन्न हो गई। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह था कि ये कवि कला की भूमि एवं उसके मूल तत्वों से भी पूरी तरह परिचित थे। जिस सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति को कई प्रगतिशील आलोचक पलायन की भावना एवं बोर्जुआ मनोवृत्ति घोषित कर चुके हैं उसे भी इन कवियों ने अपने विचारों में उचित स्थान दिया और कविता में उसकी अभिव्यक्ति पर कोई बंदिश नहीं लगाई। इस सम्बन्ध में नेमिचन्द के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :

"काव्य में उसका (सौन्दर्यानुभूति) प्रकाशन पलायन नहीं, वरन् जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्ति में सौन्दर्यबोध अत्यन्त क्षीण है, उसे किस हद तक जीवित कहा जाएगा यह कहना कठिन है। सौन्दर्यानुभूति तभी पलायनशील साहित्य को जन्म देती है जब साहित्यकार एक प्रकार के सौन्दर्याभास के कल्पना जाल में अपने दायित्व से भागता है; जो सौन्दर्य के प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है, बल्कि जो सौन्दर्य को अपनी दायित्व-हीनता की एक आड़ बनाता है।"

अब व्यक्तिनिष्ठ विचारदृष्टि को लीजिए। कला के प्रति इसका दृष्टिकोण सामाजिक उपयोगिता की भावना से निश्चित नहीं हुआ। इसके दृष्टिकोण की रचना में कलात्मक पूर्णता एवं निर्बन्ध आत्माभिव्यक्ति की भावनाएँ ही प्रधान थीं। इसलिए इसके समर्थक कवियों ने सैद्धान्तिक रूप में कला को किसी विशेष सामाजिक उत्तरदायित्व से संयुक्त नहीं किया। कला के प्रति इनकी मूल समस्या यह थी कि मनोगत भावों को पाठक के लिए अधिक से अधिक सुगम कैसे बनाया जाए। इसका हल उन्हें अभिव्यंजनागत उपादानों को इच्छित दिशा में विकसित करने में ही दिखाई दिया। अभिव्यंजनागत उपादानों को अभीष्ट दिशा में विकसित करने का आशय है काव्य की प्रतिष्ठित शिल्पयोजना के क्षेत्र में प्रयोग करना ताकि कवि का आशय सही तौर पर प्रगट हो जाए। इसलिए इन कवियों ने खासकर अभिव्यंजना पर ज़ोर दिया। गिरिजाकुमार माथुर ने कहा "...मेरा विश्वास है टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है।" प्रभाकर माचवे ने भी नवीनता के प्रति आग्रह प्रगट किया तथा भाषा, छन्द, आदि दिशाओं में प्रयोग करने की आवश्यकता बताई।

लेकिन यह उल्लेखनीय है कि इन दोनों कवियों ने विशेषतः कविता के रूप-विधान की ओर ही ध्यान दिया था जिसमें पूर्ववर्ती कविता की तुलना में नवीनता लाने का आग्रह अधिक था। इस आग्रह की जड़ें किसी खास Aesthetic concept (सौन्दर्य धारणा) में न थीं। इस अभाव की पूर्ति अज्ञेय जी ने 'अपने' वक्तव्य के द्वारा की और प्रयोगशील कही जाने वाली कविताओं के लिए एक सैद्धान्तिक आधार उपस्थित किया। उनकी धारणा का सार है कि कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है। इस सत्य को व्यक्त करने के लिए उसे साधारणीकरण और Communication (निवेदन) की समस्या का सामना करना पड़ता है। यही वह मूल समस्या है जो कवि को भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग करने की प्रेरणा देती है। प्रयोग प्रधानतः भाषा के क्षेत्र से ही आरम्भ होता है, क्योंकि कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व अब उसमें नहीं है। वह शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है, पर बहुधा वह अनुभव करता है कि उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन उसके पास अपर्याप्त हैं। इसलिए "विराम संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे उलटे अक्षरों से लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से, सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।"

प्रश्न है कि आज के कवि की संवेदना इतनी उलझी हुई क्यों है जिसके कारण कवि को प्रयोग करने के लिए विवश होना पड़ता है?

'अज्ञेय' जी ने इसके दो कारण बताए है। पहला तो यह कि "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है।" उसका मन यौन-भावनाओं की

कुण्ठा से दबा हुआ है। उसका सौंदर्य चेतन भी इससे आक्रान्त है। दूसरा कारण वर्ग संघर्ष है। 'अज्ञेय जी' के ही शब्दों में इस "आन्तरिक संघर्ष के उपर जैसे काठी कस कर एक बाह्य संघर्ष भी बैठा हुआ है जो व्यक्ति-व्यक्ति का नहीं; वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक दूसरे की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है और उनके साथ ही उनके प्रति विद्रोह का स्वर जागता है।"

इस दोहरे वर्जना पुंज के फलस्वरूप ही आज के कवि की संवेदना उलझी हुई है जब वह इस संवेदना को वाणी देने के लिए सचेष्ट होता तब उसे अनिवार्यतः प्रयोग की ओर प्रवृत्त होना पड़ता है।

इस प्रकार इन दोनों विचार दृष्टियों का मूल आग्रह दो अलग-अलग नुक्तों पर था। वस्तुनिष्ठ विचार दृष्टि में सामाजिक जीवन बोध पर विशेष बल था इस लिए उसमें उपयोगितावादी भावनाओं को ही प्रमुखता दी गई। व्यक्तिनिष्ठ विचार दृष्टि का खास झुकाव अभिव्यंजन के इतर साधनों को टेकनीक की पूर्णता के लिए अपनाने की ओर था इसलिए उसमें 'नवीनता' को गौरव दिया गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया इन दोनों का यह आग्रह अधिकाधिक दृढ़ होता गया जिसका फल यह हुआ कि एक में अत्यधिक सामाजिकता की माँग के कारण कविता का स्तर गिर गया, दूसरी में आत्माभिव्यक्ति के ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिन नवीन पैंतरो को अपनाया गया उससे कविता-कविता ही न रही।

इन दोनों ही स्कूलों के अन्तर्गत कविता करने वाले कवियों ने इस स्थिति के प्रति उपेक्षा ही प्रगट नहीं की बल्कि नई-नई दलीलों का सहारा लेकर उसे गौरवान्वित ही किया है। वस्तुनिष्ठ विचार दृष्टि के ऐसे कवियों को छोड़ कर जिन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को कट्टरता से नहीं अपनाया बाकी सब कवियों की रचनाओं का सामान्य स्तर अत्यन्त ही चिन्तनीय है। उनके बारे में विशेष कुछ न कह कर दो उदाहरण दे देना ही काफ़ी होगा :

"आयी आवाज़ एक
आज आवडी से
छोड़ना है भ्रष्टाचार
छोड़ना है अनाचार
बनना पवित्र है
बनना विशुद्ध है...

'नयापथ' अप्रेल '५५

या—

"एक हथौड़े वाला घर में और हुआ
हाथी सा बलवान
जहाज़ी हाथों वाला और हुआ
माता रही विचार
अँधेरा हरने वाला और हुआ
दादा रहे निहार
सबेरा करने वाला और हुआ
सुन ले सरकार
क़यामत ढाने वाला और हुआ।"

'जनयुग' विशेषांक '५५

दूसरे स्कूल की कविता (व्यक्तिनिष्ठ) में अत्यधिक प्रयोगशीलता के कारण एक सामान्य पाठक को न किसी गहरे आत्म-सत्य की अभिव्यक्ति दिखाई देती है न कोई कलात्मक उत्कृष्टता। इसके विपरीत उसके मन में इसके प्रति कुछ आपत्तियाँ खड़ी होती हैं जो मूलतः काव्य प्रयोजन और शिल्प-विधान के प्रश्नों से सम्बन्धित हैं।

उसकी सबसे पहली आपत्ति यह है कि आज की कविता में न गद्य का अर्थ-गौरव ही प्रगट हो सका है; न कविता का भाव-सौन्दर्य ही। 'अज्ञेय' जी ने सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की आलोचना करते हुए कविता की इस कमज़ोरी की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वे मानते हैं, "आज की कविता बोल-चाल की अन्विति माँगती है, पर गद्य की जय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनात्यन्तिक मान लिया है पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग माँगती है। बाह्य अनुशासन को हेय नहीं तो गौण मान लेने पर आन्तरिक अनुशासन को वह अधिक महत्व देती है।" ('नई कविता' अंक २)

और भी कई आलोचकों ने कविता की इस कमज़ोरी की ओर संकेत किया है लेकिन काव्य-शिल्प की इस बुनियादी माँग के प्रति कवियों ने उपेक्षा ही प्रगट की है; जिसका फल यह हुआ है कि कविता में गद्य की स्थूलता बढ़ती जा रही है। एक-दो उदाहरण लीजिए :

'तुम तीर से अलग-अलग दिशाओं में अपना

अपना मुँह छिपा कर चले गए, जहाँ तुम्हारी फ़ौजें तुम्हारा इन्तज़ार कर रही थीं। महज़ इसलिए कि मुझे विश्वास है कि तुम्हारी आँखों के सामने पिकासो का शान्ति-कबूतर ही था; जिसे अगली बार युद्ध-क्षेत्रों में मार्च करते हुए विशाल टैंकों पर तुम सुन्दरता के साथ लगाने की बात सोच रहे थे...।' ('नई कविता' : २)

या—

"मैं आज भी ज़िन्दा हूँ उस हस्ताक्षर की भाँति जो मज़ाक मज़ाक में यों ही किसी वट-वृक्ष के नीचे पिकनिक, तफ़रीह में लिख दिया गया था। एक तेज़ धार वाले फ़ौलाद की नोक अब भी मेरी छाती में गड़ी है और उस वट-वृक्ष का घायल सीना, उस दाग की रक्षा हर मौसम में करता है..." ('नई कविता' : १)

दिखने में ये भले ही गद्य के नमूने मालूम हों, किन्तु कवियों ने इन्हें ईमानदारी के साथ प्रयोगशील कविता के रूप में ही प्रस्तुत किया है। साधारण पाठक समझ नहीं पाता कि काव्य की किस परिभाषा के अन्तर्गत ऐसी रचनाओं को कविता के नाम पर चलाया जाता है। क्या ऐसी रचनाएँ कविता की समस्त माँगों को पूरा करती हैं?

प्रयोगशील कविता में जब यह सीधा गद्य नहीं होता उस समय उसमें बोलचाल के ऐसे मुहावरे दिखाई देते हैं जो कविता के किस सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं यह समझना कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए :

"तुम्हें जाने
अगर इस बार बतला दो
हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज़?
ऊ हूँ! क्यों बताएँ हम
छिपाने में पुरुष होते नहीं हैं कम
किसी से भी।
न बतलाओ नहीं मालूम है तो
यों किसी को दोष देने से
मिलेगा क्या?"

('नई कविता' : १)

अथवा—

"यह आम रास्ता नहीं,
इधर से मत जाओ
इस गलियारे से जाना
वर्जित है......

('साहित्यकार' सितम्बर-अक्तूबर अंक '५५)

जैसा कि ऊपर भी कहा गया है हिन्दी कविता की यह प्रयोगशीलता मूलतः अंग्रेज़ी कविता की प्रयोगशील प्रवृत्तियों से अनुप्राणित हुई है। लेकिन अंग्रेज़ी कविता की सामान्य स्थिति भी कुछ बेहतर नहीं। वहाँ भी साधारण पाठकों ने कविता के बारे में अनेक शंकाएँ उठाई हैं जो वास्तव में निराधार नहीं। 'रीडर्स डायजेस्ट' के नवम्बर अंक में एक लेखक ने जो स्वयं भी एक प्रतिष्ठित कवि हैं ऐसी शंकाओं के कारणों की चर्चा करते हुए लिखा कि सबसे बड़ा करण तो यह है कि आजकल कविता के नाम पर कूड़ा लिखा जा रहा है और आलोचकों के द्वारा उसे प्रोत्साहन भी मिल रहा है।

"..That a great deal of dull rubbish is being written at this time and is encouraged recklessly by reviewers."

अंग्रेज़ी में यह स्थिति आज ही उत्पन्न नहीं हुई परन्तु उस समय ही उत्पन्न हो गई थी जब हमारे यहाँ प्रयोगशील कविता का जन्म भी नहीं हुआ था। टी. एस. इलियट का मत है कि इसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व 'फ्री वर्स' पर है। अपने प्रसिद्ध लेख 'The Music and Poetry' में उसने आज से १४ वर्ष पूर्व लिखा था :

"No one has better cause to know than I, that a great deal of bad Prose has been written under the name of free verse."

कहना न होगा हिन्दी में भी कविता के नाम पर बहुत कुछ कूडा लिखा जा रहा है और नए नए आलोचक जो स्वयं प्रयोगशील कवि भी हैं—दलीलों पर दलीलें सामने रख उसे प्रोत्साहित करते जा रहे हैं। उनकी ये दलीलें काव्य-प्रयोजन की किसी बुनियादी समस्या पर प्रकाश नहीं डालतीं वरन् प्रयोगशील कविता की शिल्पगत कमजोरियों का 'बचाव' करती हैं।

डॉ० जगदीश ने छन्द-सम्बन्धी समस्या पर विचार करते हुए एक मौलिक सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला है। उनका कहना है कि, "जिस प्रकार आज के जीवन में अनावश्यक बन्धनों एवं विधि निषेधों के प्रति अरुचि दिखाई देती है उसी प्रकार छन्द विधान में भी स्वत-

न्त्रता का आग्रह अधिकाधिक व्यक्त हो रहा है। कथ्य की शक्तिमत्ता और महत्ता के साथ साथ कथन की यथा-संभव अकृत्रिमता इस युग की कविता की एक विशेषता कही जा सकती है। इस कृत्रिमता से मुक्ति पाने की वृत्ति ने ही कदाचित् नई कविता को कुछ अंशों में गद्य के समीप ला दिया है।''

('नई कविता' २)

उसका परिणाम क्या हुआ?

इसका परिणाम यह हुआ कि कविता में गद्य की शब्दावली की बहुलता हो गई, दूसरा यह हुआ कि छन्द सम्बन्धी समस्त मर्यादा बन्धन समझ कर छोड़ दी गई।

कविता में अकृत्रिमता अभिनन्दनीय है किन्तु अकृत्रिमता का यह आशय नहीं कि काव्य की अपनी मर्यादा को भी समाप्त कर दिया जाए। लेकिन हुआ यही। कविता में अकृत्रिमता लाने के प्रयत्न में नए कवियों ने कविता को रूप एवं वस्तु दोनों पक्षों में गद्य के समीप ला बिठाया। इसका सबसे अधिक दायित्व कवियों के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण पर है। कविता में बोलचाल की शब्दावली का व्यवहार करना एक बात है, अभिव्यक्ति में पूरी तरह गद्य का लहजा, उसका मुहावरा अपना लेना, बोलचाल का पूरा तौर तरीका ले लेना दूसरी बात। नई कविता का भाषा के सम्बन्ध में लगभग यह दूसरा 'अप्रोच' ही रहा; उसमें भी दो 'अतियाँ' दिखाई दीं। एक तरफ भाषा को बोल चाल के इतनी क़रीब ला दिया गया कि उसमें काव्य की आत्मा ही मर गई; उसका संगीत कुण्ठित हो गया; दूसरी तरफ़ भाषा को इस आदर्श से इतना हटा दिया गया कि कहीं कहीं वह 'प्रियप्रवास' की 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्रायः कलिका राकेन्दु बिम्बानना' वाली सतह से भी आगे बढ़ गई।

भाषा के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण कविता में कितनी अकृत्रिमता ला सका यह एक विवादग्रस्त प्रश्न हो सकता है किन्तु यह मानना असंगत न होगा कि भाषा को भावों की अन्विति में बिठा 'बच्चन' ने जितना प्रभावशाली बनाया उतना और किसी ने नहीं बनाया। भावों को सीधे व्यक्त करके छू लेने वाली भाषा 'बच्चन' ने ही लिखी जो हृदय के आवेग को निर्बन्ध रूप से व्यक्त करती हुई मालूम पड़ती है। वहाँ बोल चाल की भाषा का काव्यात्मक सौन्दर्य दिखाई देता है, यह भावात्मकता नहीं जो तथाकथित अकृत्रिम भाषा में मिलती है। उदाहरण के लिए :

> ''हरा भरा रहता मदिरालय, जग पर पड़ जाए पाला
> वहाँ मुहर्रम का तम छाए, यहाँ होलिका की ज्वाला
> स्वर्ग लोक से सीधी उतरी, वसुधा पर, दुख क्या जाने
> पढ़े मर्सिया दुनिया सारी, ईद मनाती मधुशाला''
>
> मधुशाला

नई कविता ने जिस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में एक भ्रामक दृष्टिकोण अपनाया है, लगभग वैसा ही छन्द के सम्बन्ध में भी। डॉ० जगदीश ने अपने उसी लेख में लिखा है, ''कविता गद्य और पद्य दोनों से ऊपर है।'' यह कवि की इच्छा पर है कि कविता की रचना वह गद्य में करे अथवा पद्य में करे। पद्य कविता की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी रूढ़ि है जिसे 'निराला' जी ने झकझोर दिया था। नई कविता इसे तोड़ कर आगे बढ़ रही है। इसीलिए इतना हाहाकार मच रहा है।

इस प्रकार प्रयोगशील कवियों का सबसे बड़ा युगान्तकारी क़दम है पद्य की कारा को तोड़ कर कविता को स्वतन्त्र करना दूसरे शब्दों में जो कार्य 'निराला' जी ने अधूरा रखा उसे पूरा करना। उन्होंने 'मुक्तछन्द' की रचना कर केवल पद्य की रूढ़ि को 'झकझोर' भर दिया था। नये कवियों ने कविता को गद्य के समीप बिठाकर सर्वदा के लिये उस रूढ़ि को समाप्त कर दिया।

लेकिन गंभीरता से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह एक भ्रामक धारणा है। 'निराला' जी ने पद्य की कठोर बंदिशों को तोड़कर उसकी नई संभावनाओं को बढ़ाया। उन्होंने छंदविधान के प्रति रूढ़िगत निष्ठा को समाप्त कर उसकी नई संभावना की ओर संकेत किया जिसके कारण कविता में अभिव्यंजनागत निर्बन्धता का विकास हुआ। किन्तु डा० जगदीश के विचार में 'निराला' का यह कार्य केवल पद्य की रूढ़ि को झकझोरना ही है क्योंकि जिसे वे 'अकृत्रिमता' समझते हैं, वह इससे न आ पाई थी वह आई नई कविता के नए कवियों के द्वारा जिन्होंने 'मुक्तछन्द' को भी रूढ़ि समझ 'छन्द मुक्त कविता लिखना आरम्भ किया।

यह स्मरणीय है कि 'निराला' का मुक्त छन्द छन्द की लयगत सांगीतिक संभावनों का विकास था जो गद्य की स्वाभाविकता एवं अभिव्यक्ति प्रवाह पाकर भी, उससे

इसलिए ऊँचे स्तर पर रहा कि उसमें लय आत्मा की तरह व्याप्त थी। उनका छन्दगत विद्रोह छन्द के उस दृढ़ विधान के प्रति था, जो काव्य की निर्बन्ध अभिव्यक्ति के लिए वांछित न था, मात्राओं, वर्णों अथवा तुकों की उस बन्दिश के प्रति था जो अनुभूति के मुक्त प्रकाशन के प्रति एक बहुत बड़ी बाधा थी। इसलिए उनका विद्रोह छन्द के (Negative) नकारात्मक तत्वों के प्रति था। यही कारण है कि 'निराला' ने रूढ़िगत छन्द-विधान को समाप्त करते हुए भी 'छन्द चेतना' को काव्य के रचना शिल्प में गौण स्थान न दिया। लय सम्बन्धी यह विवेक जिसे छन्द-चेतना कहना उचित होगा छन्दहीन कविता और गद्य के बीच एक विभेदक रेखा रही किन्तु नई कविता ने इसका भी उच्छेद कर दिया, केवल इस आधार पर कि उसके कारण अभीष्ट अकृत्रिमता नहीं आ पाती।

देखने में यह 'निराला' जी से भी आगे की सूझ मालूम पड़ती है किन्तु इसका परिणाम कविता के लिए हितकर नहीं हुआ। कविता आन्तरिक अभिव्यक्ति को अधिक से अधिक जीवन के निकट लाने की चेष्टा में स्वयं गद्य के समीप आ गई है; अर्थात् लय की विभेदक रेखा का उच्छेद हो गया है। परन्तु डॉ० जगदीश गुप्त ने एक नए तथ्य पर प्रकाश डाल कर कविता की इस कमज़ोरी का बचाव किया है। उनका कथन है कि लय दो प्रकार की होती है। वह केवल शब्द की ही नहीं अर्थ की भी हो सकती है। अर्थ की लय से उनका क्या आशय है यह वे स्पष्ट नहीं करते किन्तु नई कविता के 'छन्द लय तोड़' रुख की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं "आज जब कविता इस अर्थ की लय को पकड़ कर चलती है तो छन्द का स्थूल रूप पीछे छूट जाता है। जो उसके अर्थ-तत्व पर ध्यान नहीं देते उन्हें वह गद्य में ही लिखी प्रतीत होती है। ('नई कविता' २)

छन्द के स्थूल रूप को छोड़ कर अर्थ की लय को पकड़ कर चलने वाली प्रयोगशील कविता के कुछ उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। ऐसी कविताओं में कलात्मक अर्थ-तत्व किस स्थान पर निहित होता है यह कम से कम साधारण पाठकों की समझ में नहीं आता।

'नई कविता' के जिस अंक में प्रयोगशील कविता की कमज़ोरियों का बचाव करने के लिए डॉ० जगदीश का लेख निकला है उसी अंक में 'कविता तथा गद्य कविता' नामक एक लेख और भी प्रकाशित हुआ है। उसमें भी डॉ० जगदीश द्वारा प्रस्तुत की गई दलीलों को नई कविता के समर्थन में ग्रहण किया गया है। इस निबन्ध में यह मान लिया गया है कि आज की कविता का अधिकांश न कविता की स्वीकृत परिभाषा के अन्तर्गत आता है न पूरी तरह उसे गद्य ही कहा जा सकता है। इसलिए लेखक महोदय ने इस बीच की कविता के लिए 'गद्य कविता' नाम का सुझाव रखा है। उनका कहना है कि इस 'गद्य कविता' में "वस्तु कविता की होगी अर्थात् वह भावावेगमय होगी परन्तु उसका विधान गद्य का होगा...इस प्रकार कविता की आत्मा तथा गद्य का शरीर लेकर गद्य कविता" अपने विकास की ओर अग्रसर होगी।

एक ओर डॉ० जगदीश अर्थगत लय की चर्चा कर नई कविता की गद्यात्मकता का बचाव करना चाहते हैं; दूसरी ओर 'कविता तथा गद्य कविता' के लेखक कविता के लिए गद्य का विधान स्वीकृत कर कविता का 'उत्कर्ष' करना चाहते हैं।

कहना न होगा कविता के विकास के लिए यह दृष्टिकोण अधिक उपादेय नहीं। इसके कारण वह त्रिशंकु की तरह न काव्य के स्वर्ग में ही पहुँच पाएगी और न गद्य की धरती पर ही अभिनंदित हो सकेगी।

नई कविता के प्रति एक अन्य प्रमुख आपत्ति यह है कि उसमें केवल गद्यात्मकता ही नहीं गद्य की वस्तुवत्ता भी दिखाई देती है। इस धारणा से सहमत हुआ जा सकता है कि कविता गद्य और पद्य से ऊपर है। किन्तु इसका मतलब यह तो नहीं कि गद्य की छोटी-बड़ी पंक्तियों में सँजो कर रखी गई प्राचीन रचना कथावस्तु से युक्त है। अनुभूति की प्रभावशाली अभिव्यंजना ही कविता का प्राण है। इसमें दो शब्द महत्वपूर्ण हैं : (१) अनुभूति (२) प्रभावशाली अभिव्यंजना। कविता में मार्मिकता—छू कर विचलित करने की शक्ति आना तब तक असंभव है जब तक उसमें प्रेषित भाववस्तु निरे तथ्य-कथन पर ही आधारित न हो। इसके लिए अभिव्यंजनागत पूर्णता भी अपेक्षित है। किन्तु साधारणतः कविताओं में अनुभूतिगत तल्लीनता एवं अभिव्यंजनागत पूर्णता बहुत कम मिलती हैं। इनके स्थान पर केवल 'कुछ चित्रों' का आभास देकर अथवा किसी नए प्रकार की वस्तु का वर्णन कर कविता समाप्त हो जाती है

जिसमें न आत्मा के सत्य के दर्शन होते हैं न मन की उलझनदार स्थिति का ही पता लगता है। न कल्पना का सौन्दर्य ही दिखाई देता है और न कोई सहज समझ में आ सकने वाली 'अर्थ लय' ही मिलती है। जैसे :

"बारह बज गये
भटकती हुई चीलें
थक कर डालों पर बैठ गयीं
दो एक अब भी आसमान में
मँडरा रही हैं" (नई कविता : २) या
"पहले उसने पाले कुछ पिल्ले
बड़े हुए भाग गये
पाली कुछ बिल्लियाँ, वे
दोस्त कुछ माँग गये
पाली लाल मछलियाँ वे मर गयीं
पाली एक मैना, जो उड़ गई" (नई कविता : २) या
"अल्ला रे अल्ला
होता न मनुष्य मैं, होता करमकल्ला
रूखे कर्म जीवन में उलझता न पल्ला
चाहता न नाम कुछ
माँगता न दाम कुछ
करता न काम कुछ बैठता निठल्ला
अल्ला रे अल्ला" (अज्ञेय : हरी घास पर क्षण)

वास्तव में यह नवीनता के प्रति आत्यन्तिक आग्रह का ही परिणाम है। इलियट ने लगभग १५ वर्ष पूर्व प्रयोगशीलता के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए लिखा था कि कविता में प्रयोग अवाञ्छित नहीं; उनका भी अपना महत्व है लेकिन वे अनुभूति की तीव्रता-भावों के आवेग को प्रेषित करने में ही है; नवीनता लाने अथवा चकित करने में नहीं। लेकिन जैसा कि ऊपर दिए गए भिन्न-भिन्न उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि वर्तमान हिन्दी कविता के मूल में अनुभूति की सही अभिव्यक्ति करने की उत्कट इच्छा नहीं वरन् केवल कुछ नई चीज लिखने की भावना ही प्रधान है। फलस्वरूप कविता के नाम पर ऐसी ऐसी चीजें सामने आती हैं जिन्हें किस कसौटी पर कविता कहा जाए यही एक समस्या हो जाती है। जैसे :

"आज का नहीं दिन
ठीक :
कल जाना
मीत।
यह भी पथ है
तुम भी पथमय
पंथी की लय
पथ मय" (नई कविता : १)
या—
धुक धुकी का सिलसिला जाता रहा
आज महज़ 'धुक' शेष है
मैं प्रतीक्षा में खड़ा हूँ
धुकी कब आये" (नई कविता : अंक २)

अंत में मुझे यही निवेदन करना है कि नई कविता के बारे में जो कुछ कहा गया है वह उसके सामान्य रूप प्रकार तक ही सीमित है। जहाँ तक प्रयोगशील कहे जाने वाले कवियों की अपनी अपनी रचनाओं का सम्बन्ध है उनमें डॉ० सुमन, गिरजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती का विशेष महत्व है। इनके काव्य ने समग्रतः हिन्दी कविता को भाव वस्तु एवं कला विधान दोनों ही क्षेत्रों में आगे बढ़ाया है। माथुर में नई कविता की स्वछंद सौंदर्य दृष्टि, सजग सामाजिक बोध, एवं भाषा की भावगत (emotive) शक्तियाँ प्रगट हुई हैं; तो भारती के काव्य में कल्पनात्मकता के प्रति अतिशय झुकाव के साथ साथ रोमानी भावनाओं का उन्मुक्त आल्हाद प्रगट हुआ है। सूक्ष्म भावों को सौंदर्य चित्रों में पूरी तरह उभार कर भाव प्रतीति करा देने में कदाचित् भारती की कलम भी उतनी ही सबल है जितनी माथुर की। डॉ० सुमन की रचनाओं में न अतिशय कल्पनात्मकता है न अतिशय रोमानी भावुकता। उनके काव्य में जीवन की सरल अभिव्यक्ति अधिक हुई है। अवश्य ही उनमें टेकनीक के प्रति वह दृष्टिकोण नहीं प्रगट होता जो उपर्युक्त दोनों कवियों में मिलता है। किन्तु जीवन के साधारण क्षणों की जितनी मार्मिक अभिव्यंजना उनकी कविताओं में दिखाई देती है, वह अन्यत्र बहुत कम मिलती है। इन कवियों के अतिरिक्त सर्व श्री भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, नीरज, वीरेंद्र मिश्र आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने नई कविता को ऊँचे स्तर पर उठाने का प्रयत्न किया है।

—सौमित्र

रतलाम (म. भा.)

079513
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

रोमाँ रोलाँ और भारतवर्ष

फ्राँस के लेखक रोमाँ रोलाँ १९२० में सर्व प्रथम महात्मा गान्धी के विचारों की ओर आकर्षित हुए। रोमाँ रोलाँ गान्धी जी को भारतवर्ष का ईसामसीह कहा करते थे। रोमाँ रोलाँ ने महात्मा गान्धी के विषय में अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया और वे महात्मा-गान्धी के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलनों से निकटतम सम्पर्क रखते थे। गान्धी जी का रोमाँ रोलाँ की विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा और ज्यों-ज्यों भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का आन्दोलन अहिंसात्मक उपायों से अग्रसर होता गया (१९२० से १९२७ तक) त्यों-त्यों उस सुन्दर पर्वतीय प्रदेश के सन्त रोमाँ रोलाँ की विचारसरणी भी गान्धी जी के विचारों की ओर प्रवाहित होती गई। यूरोप के इस क्रान्तिकारी और महान् विचारक ने सम्पूर्ण पाश्चात्य देशों की विचारधारा को परिवर्तित कर दिया और समाज को एक नई क्रान्ति का मार्ग दिखाया। उस समय रोमाँ रोलाँ ने स्वयं लिखा है कि, "यदि किसी विचारधारा का मुझ पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा तो वह गान्धी जी की अहिंसात्मक विचारधारा का।" इस समय रोमाँ रोलाँ का मन संदिग्ध था। ऐसे समय में वे एक निश्चित मार्ग की खोज में थे, जिस मार्ग से संसार में शान्ति की स्थापना हो सके। उनका विश्वास था कि गान्धी जी के अहिंसात्मक साधनों द्वारा संसार में समाज की सुव्यवस्थित रचना सम्भव नहीं। उस पर्वतीय देश में बैठ कर वे कोई मार्ग न ढूँढ़ पा रहे थे। रोमाँ रोलाँ के सामने केवल दो रास्ते थे। एक रास्ता था हिंसा का जो उन्हें अप्रिय था, तथापि उनका ऐसा विचार था कि हिंसा ही एक क्रान्तिकारी साधन है। अहिंसा को वे एक ऐसा मार्ग समझते थे जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता तथा जिसे कि क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सकता था।

एक तरफ़ रोमाँ रोलाँ अपनी पुस्तकों और विचारों द्वारा पाश्चात्य देशों में क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार कर रहे थे और क्रान्ति के ही मार्ग को अपनाना चाहते थे, परन्तु दूसरी तरफ़ आधारभूत नैतिक सिद्धान्तों को भी वे परित्याग नहीं करना चाहते थे। साथ ही विश्वभ्रातृत्व एवं आर्थिक प्रोग्राम को भी वे अपनाना चाहते थे। ऐसे समय जब उन्हें कोई स्पष्ट मार्ग नहीं दीख रहा था, तब महात्मा जी के भारत में सफलीभूत अहिंसात्मक परीक्षण का रोमाँ रोलाँ की विचारधारा पर क्रान्तिकारी प्रभाव हुआ। उनके अपने क्रान्तिकारी, हिंसात्मक एवं सामाजिक विचारों में परिवर्तन होना शुरू हुआ, जिसके कारण सम्पूर्ण पाश्चात्य देशों में एक नई विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। महात्मा गान्धी ने जब संसार को यह बताया कि "हिंसा और घृणा (और द्वेष) से कोई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। विश्वभ्रातृत्व कोई स्वप्न नहीं किन्तु वास्तविकता है।" उस समय रोमाँ रोलाँ के विचारों में एक नई क्रान्ति हुई और रोमाँ रोलाँ को उस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हुआ जिसकी वे खोज में थे।

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं रोमाँ रोलाँ अहिंसा में विश्वास न रखते थे और साथ ही उनका विचार यह भी था कि एक नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति नैतिक साधन के द्वारा ही हो सकती है। गान्धी जी ने अपने अहिंसात्मक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि कोई भी साधारण से साधारण व्यक्ति अहिंसात्मक मार्ग को आसानी से अपना सकता है। यह मार्ग केवल सन्तों और तपस्वियों के लिए ही नहीं है। यह एक नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा थी जिसके कारण रोमाँ रोलाँ गान्धी जी के शिष्य हो गए। इसका प्रभाव रोमाँ रोलाँ पर यह भी हुआ कि वे समझ गए कि वे गान्धी जी के बताए हुए मार्ग और साधनों द्वारा अपने आदर्शों को क्रियात्मक रूप दे सकते हैं।

इस समय रोमाँ रोलाँ ने अपने अन्य साहित्यिक कार्यों को छोड़ कर महात्मा गान्धी की जीवनी लिखी। और अपने लेखों द्वारा उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रचार किया। गान्धी जी के लेखों और पुस्तकों का रोमाँ रोलाँ के मन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने भारतीय संस्कृति का अधिकाधिक अध्ययन किया। उन्होंने रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखीं।

धीरे-धीरे भारतवर्ष के प्राचीन तथा आधुनिक लेखकों और विचारकों में उनकी रुचि बढ़ी। भारतवर्ष के तत्कालीन राजनीतिक नेताओं से भी उनका सम्बन्ध बढ़ता गया। १९२१ में पेरिस में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी भेंट हुई, और १९२६ में स्विट्ज़रलैण्ड में भारत के प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू से भी उनकी भेंट हुई। बाद में नेता जी सुभाषचन्द्र बोस से इनके घनिष्ठ संबन्ध रहे और युद्धकाल में भी उनसे मुलाक़ात हुई। प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस से भी आप मिले। १९३१ में लन्दन की गोलमेज़ पारिषद् से वापस होते हुए गान्धी जी स्विट्ज़रलैण्ड पहुँचे। वहाँ रोमाँ रोलाँ को गान्धी जी के साथ कुछ समय व्यतीत करने का अवसर प्राप्त हुआ।

फ्रांस में ऐसे अनेक पुरातत्व वेत्ता हुए जिन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों और संस्कृति के विषय में पुस्तकें लिखीं और प्रामाणिक अनुसन्धान भी किए, जिनसे कि फ्राँस की जनता को भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता एवं धर्म के बारे में कुछ ज्ञान हुआ। किन्तु फिर भी फ्राँस की जनता भारतवर्ष के बारे में अनभिज्ञ थी। विशेषतः भारतवर्ष के आधुनिक इतिहास और आधुनिक राजनीति के रंगमंच के कलाकारों के विषय में तो उन्हें बहुत ही कम ज्ञान था। वे भारत के स्वतन्त्रना संग्राम के योद्धाओं से भी परिचित न थे। फ्राँस में यह समझा जाता था कि यद्यपि भारतवर्ष की एक प्राचीन संस्कृति और इतिहास है किन्तु आधुनिक काल में भारतवर्ष एक अधःपतित देश है जहाँ संस्कृति और सभ्यता का अभाव सर्वथा है। रोमाँ रोलाँ की भारतवर्ष के बारे में लिखी गई रचनाओं के कारण फ्राँस तथा यूरोप की जनता में भारतवर्ष के प्रति एक आदरभाव उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार यह कहना भी असत्य न होगा कि भारतवर्ष में भी रोमाँ रोलाँ की पुस्तकों का नवयुवकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। रोमाँ रोलाँ भारत की आत्मा को पूर्णरूपेण समझ चुके थे। रोमाँ रोलाँ से पूर्व अंग्रेज़ी के कवि किप्लिंग ने जो यह भावना फैलाई थी कि "पश्चिम और पूर्व कदापि मिल नहीं सकते हैं" इस का उन्होंने प्रत्याख्यान किया और संसार को बताया कि पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यताएँ एक साथ मिल कर रह सकती है। रोमाँरोलाँ ईसाई धर्म की मानने वाले थे। वे एक महान् अध्यात्मवादी पुरुष थे। महात्मा जी की भारतीय विचारधारा में उन्होंने अपने विचारों का प्रतिबिम्ब पाया।

हमने देखा कि किस प्रकार रोमाँ रोलाँ प्राचीन और आधुनिक भारतीय संस्कृति और विचारों से प्रभावित हुए थे और भारत केसंबन्ध में पाश्चात्य देशों—विशेषतः फ्रेंच भाषी प्रदेशों में जानकारी दिलाने का भी आप ही को श्रेय है। आज भी रोमाँ रोलाँ की बहन कुमारी मादलेन रोलाँ से यदि कोई भारतीय मिले और पेरिस में उनके निवास स्थान पर जाए तो गान्धी जी के चित्रों, रचनाओं एवं अन्य भारतीय नेताओं के चित्रों, पुस्तकों तथा कलाकृतियों को देख कर उनका हृदय गद्गद हो उठेगा। मुझे कुमारी मादलेन रोलाँ और मदाम रोलाँ के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और यह भी एक सौभाग्य का विषय है कि गान्धी-समाज की स्थापना भी पेरिस में उन्हीं के निवास स्थान पर हुई। मुझे भी इस गान्धी-समाज के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। इन उत्साही वयोवृद्ध कर्मठ महिलाओं की उच्च भावनाओं से प्रेरणा और उत्साह प्राप्त होते हैं। जिस उत्साह और भावना से ये सच्चे गान्धीवादी गान्धी जी के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं और उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते हैं उनसे हमारे देशवासी और गान्धी जी का नाम लेने वाले बहुत से राजनीतिक नेता शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि जिस सच्ची भावना और असीम उत्साह से ये गान्धीवादी जो कि गान्धी जी की जन्मभूमि से हज़ारों मील दूर बैठे-बैठे उनकी विचारधारा को प्रवाहित कर रहे हैं, उसे देख कर गान्धी को स्वर्ग में भी सान्त्वना और सन्तोष मिलेगा।

११, विंडमर प्लेस,
नई दिल्ली

—(डॉ.) सुरेशचन्द्र विद्यालंकार

जो व्यक्ति अपने को सबसे अधिक सुखी समझता है वह सब से अधिक सुखी हो सकता है परन्तु जो व्यक्ति अपने को सबसे अधिक बुद्धिमान् समझता है वह साधारणतया सबसे बड़ा मूर्ख सिद्ध होता है।

मसनवी 'लालारुख़'

यह मसनवी प्रथम बार सन् १८१६ के लगभग लॉगमैन्स प्रेस से प्रकाशित हुई। इसका रचयिता 'टामस मूर' है। टामस मूर एक भ्रमणशील व्यक्ति था। पूर्वी देशों के साहित्य एवं संस्कृति का उस पर प्रचुर प्रभाव था, यद्यपि उसने भारत-भ्रमण नहीं किया था, फिर भी यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं विलास वैभव उसके आकर्षण के केन्द्र थे। मुगलकालीन भौतिक सम्पन्नता के सम्बन्ध में उसने इतिहास-ग्रन्थों में पढ़ा था। यहाँ की धार्मिक आस्थाओं एवं पौराणिक आख्यानों का उसे अच्छा ज्ञान था। इतिहास प्रसिद्ध वीरों, शास्त्र प्रसिद्ध धर्माधिष्ठाताओं एवं काश्मीर के उपवनों, सरिता तटों, बुलबुल और कोकिल की तानों, निर्जन वन्य प्रदेशों का उसने इतना यथातथ्य चित्रण किया है कि पाठक यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि टामस मूर कभी भारत नहीं आया। उसकी कल्पना शक्ति बड़ी प्रबल थी।

'लालारुख़' मसनवी पूर्णतः काल्पनिक है। मूर ने इसमें पूर्वीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की परम्पराओं को बनाए रखने का प्रयास किया है। टामस मूर की इस मसनवी का लतीफ़ अहमद के द्वारा उर्दू गद्य में उल्था भी किया गया है। अंग्रेज़ यात्री मौरिया के द्वारा इसी प्रकार 'हाजी बाबा ऑफ अस्फहान' ग्रन्थ लिखा गया था जिसमें एक काल्पनिक पात्र हाजी बाबा के आधार पर अस्फ़हान नगर के नागरिक जीवन का वर्णन किया गया था। इस ग्रन्थ का फ़ारसी भाषा में 'सर गुजश्त हाजी बाबा अस्फ़हानी' के नाम से अनुवाद हुआ है।

मसनवी 'लालारुख़' एक प्रेमाख्यान है जिसमें कल्पना तथा रोमान्स की प्रधानता है। मध्ययुगीन सामन्त युग अपनी सभी रंगीनियों के साथ 'लालारुख़' में चित्रित है। 'लालारुख़' की प्रेमकथा में प्रसंगवश चार अन्य कथाओं का भी संगुम्फन किया गया है जिससे कथा के कलेवर वृद्धि के साथ ही चमत्कार एवं कौतूहल की भी अभिवृद्धि होती है। 'लालरुख़' का कथानक इस प्रकार है : "औरंगज़ेब के शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में चंगेज़खाँ का वंशज अब्दुल्ला जो बुख़ारा का शासक था, अपने पुत्र को सिंहासनाधीश करके स्वयं मक्का शरीफ की यात्रा को चल दिया। काश्मीर की घाटियों से गुज़रते हुए उसने कुछ दिन दिल्ली में भी ठहरने का विचार किया। औरंगज़ेब ने उसकी यथोचित आवभगत की तथा सुविधापूर्वक सूरत तक जाने का प्रबन्ध भी कर दिया, जहाँ से वह जहाज़ पर बैठ कर अरब की ओर 'हज' करने चला गया। जाने से पूर्व दिल्ली में मेहमानदारी करते समय अपने बेटे से औरंगज़ेब की सबसे छोटी बेटी 'लालरुख़' की शादी निश्चत कर दी। विवाह की सारी रीतियाँ काश्मीर में पूर्ण की जाएँगी तथा कुछ सप्ताह ये दम्पति काश्मीर के प्रकृति-प्रांगण में बिता कर अपनी राजधानी 'बुख़ारा' चले जाएँगे यह भी निश्चित हो गया।

अपने समय में 'लालारुख़' शीरी, लैला तथा देवल दे से भी अधिक सुन्दर मानी जाती थी। 'लालारुख़' को निकाह के लिए बिदा देते समय औरंगज़ेब ऐसे कठोर व्यक्ति के भी नेत्र तरल हो उठे। दिल्ली की सजावट उस समय नवागता वधू को भी मात कर रही थी और उस वैभव सागर के बीच आलोडित होती 'लालारुख़' की सवारी लाहौर वाली सड़क पर काश्मीर की ओर चल दी। महलों की कृत्रिम सजावट के बीच रहने वाली उस राजकुमारी का मन कुछ दिन तो प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में लगा, किन्तु बाद को मध्याह्न में जब काफ़िला कहीं रुक कर विश्राम करता, राजकुमारी का मन ऊबने लगता, विश्राम के वे क्षण काटना दूभर हो जाता। 'लालारुख़' को ज्ञात हुआ कि शाहज़ादे की ओर से आए हुए परिचारकों में एक कवि भी है जिसे शाहज़ादे ने 'लालारुख़' के मनोविनोदार्थ उसके सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दे दी है। 'लालारुख़' ने कवि को, जिसका नाम फेरामूर्ज़ था, उपस्थित होने की आज्ञा दी। फेरामूर्ज़ के आने पर 'लालारुख़' उसकी आकृति एवं मुद्रा से प्रभावित हुई। फेरामूर्ज़ अपने हाथ में 'एकतारा' लिए हुए था जिससे वह कथा के भावात्मक स्थलों को गाकर सुना सके। सर्वप्रथम उसने जो कथा सुनाई वह 'खुरासान के रसूल' की थी जिसने हि. सन्

१६३ के लगभग पूर्वीय प्रदेशों को आतंकित कर रक्खा था ।

खुरासान में 'मोकाना' का राज्य था जो अपने मुख पर रजतपट डाले रहता था । जनता के मध्य यह अन्धविश्वास प्रचलित था कि उसके मुख पर नूर ऐसा है कि कोई साक्षात् नहीं कर सकता । एक दिन उसके दरबार में बुखारा का प्रसिद्ध सरदार 'आज़म' उपस्थित हुआ जिनके व्यक्तित्व से सब प्रभावित हुए । फ़ारस के उस शासक के हरम में सुन्दरी 'ज़ुलेखा' आज़म को देख कर मूर्च्छित हुई जा रही थी । ज़ुलेखा को अपने वे स्वर्णिम दिन याद आ रहे थे जब वे दोनों साथ-साथ प्रेम-क्रीड़ा करते हुए बुखारा की घाटियों में निवास करते थे । अन्य सभी व्यक्ति उस युग्म की प्रेम-गाथा सुन कर आनन्द लाभ करते थे, उसे वह घटना भी याद आई जब ग्रीस से युद्ध छिड़ जाने पर आज़म अपने कर्तव्य निर्वाह के लिए युद्धक्षेत्र में चला गया था और ज़ुलेखा का जीवन भार बन गया था । एक दिन एक युग की भाँति व्यतीत हो रहा था कि ज़ुलेखा को आज़म की मृत्यु का समाचार मिला और वह व्यथा से पागल हो गई । ऐसे ही बुरे समय में वह रजतपटावृत्त रसूल के दूतों के द्वारा फुसलाई जाकर 'रसूल' से व्याह करने को बाध्य कर दी गई । ज़ुलेखा की आत्मा सदैव आज़म को याद करती रही, आज आज़म को सम्मुख उपस्थित देख कर उसे मरणान्तक पीड़ा हो रही थी, वह परकटे पक्षी की भाँति विवश बिलख रही थी । उसी रात्रि में मोकाना ने आज़म को छल से परास्त करने की बात ज़ुलेखा से कही तथा अन्य सुन्दरियों के साथ ज़ुलेखा को भी इसमें सहयोग देने को कहा । व्यथित ज़ुलेखा विवश थी ।

आज़म को कई सुन्दरियों ने संगीत एवं सौन्दर्य से आकर्षित करना चाहा किन्तु ज़ुलेखा का प्रेमी दृढ़ चरित्र व्यक्ति था, उसे स्वप्न में भी ज़ुलेखा के अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान न आता था । सुन्दरियों के पलायन कर जाने पर जैसे ही आज़म अपनी विश्राम शय्या की ओर जाने लगा उसे शोक-सज्जा में आवृत्त एक रमणी सिकुड़ी सिमटी-सी दिखाई दी । वह आश्चर्यान्वित होकर आगे बढ़ा और उधर मूर्च्छित ज़ुलेखा धराशायिनी थी । आज़म ने देखा कि यह उसकी अपनी ज़ुलेखा ही उसके सम्मुख बेसुध पड़ी थी । क्रमशः ज़ुलेखा ने अपने दुर्भाग्य की चर्चा आज़म से की । आज़म अत्यधिक दुःखी हुआ । उसने ज़ुलेखा को वहाँ से भाग-चलने की सलाह दी, ज़ुलेखा तत्पर थी किन्तु मोकाना छिप कर सब देख सुन रहा था यह जान कर विवश ज़ुलेखा आज़म के पास से छूट कर रहम की ओर भाग गई ।

इसी समय बग़दाद के ख़लीफ़ा और मोकाना में युद्ध छिड़ गया । मोकाना विजयी हुआ । ख़लीफ़ा की सेना भाग खड़ी हुई किन्तु आज़म ने उन भागते हुए सैनिकों को संगठित कर उसमें नए प्राण फूँक दिए । मोकाना के जीत को उसने दुस्साध्य बना दिया । घबड़ा कर मोकाना अपने चुने हुए सरदारों तथा ज़ुलेखा के साथ नेक्शाब के गढ़ में जा छिपा । आज़म के हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्वलित थीं वह मोकाना के नाश पर उतारू था उधर आज़म ज़ुलेखा को अपनी पत्नी घोषित करके उसे दुःख दे रहा था । तभी एक शाम को जलते हुए भालों की वर्षा आरम्भ हो गई और मोकाना के साथी एक-एक करके मूर्च्छित होकर धराशायी हो गए । सभी सरदारों के नष्ट हो जाने पर मोकाना स्वयं भी खौलते हुए पानी में कूद पड़ा । क्योंकि उसे विश्वास था कि उसके निधन के बाद धर्मान्ध जनता यही समझेगी कि रसूल कहीं अदृश्य हो गया है । उस महल में अकेली ज़ुलेखा अपनी व्यथा का बोझ ढो रही थी । आज़म के हाथ से अपनी मृत्यु की आकांक्षा करती हुई ज़ुलेखा उस खुदा के झूठे बन्दे मोकाना का आवरण मुँह में डाल कर आज़म की सेना की प्रतीक्षा में आगे बढ़ी । उधर आज़म ने सब सैनिकों को रोक कर उसे अपना शत्रु समझ कर अपने भाले का शिकार बनाया । मृतप्राय होकर गिरती हुई ज़ुलेखा को पहचान कर आज़म ने अपनी बाहों पर ले लिया और इस प्रकार प्रेम की पवित्रात्मा प्रिय की बाहों में ढुलक पड़ीं । वर्षों बाद तक लोग एक वृद्ध वीर को एक समाधि पर फूल बिखेरने तथा ध्यानावस्थित बैठा देखते रहे । इस प्रकार अपनी प्रथम प्रेमकथा सुना कर फेरामूर्ज़ चुप हो गया । कवि ने अपनी कल्पना से कथा में ऐसे कई मार्मिक स्थलों का समावेश किया है कि पाठक द्रवीभूत हुए बिना नहीं रहता । हनुमान् की पूजा तथा सतीत्व की महत्ता आदि के वर्णन में भारतीय विचारधारा का प्राधान्य है । लालारुख के साथ आए हुए संरक्षक फ़ज़लुद्दीन को यह कथा बिलकुल नहीं भाई और उसने इसकी कटु आलोचना की । कवि ने स्वयं लिखा है कि

आलोचक संभवतः इस कथा को कई दृष्टिकोणों से तुच्छ समझें किन्तु लालारुख के प्रेमप्रवण हृदय पर इसका सद्प्रभाव पड़ा। कथा में भावनाओं का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया गया है। कवि ने लालारुख के मुख से यह स्पष्ट कहलवाया है कि शताब्दियों में कभी एक ऐसा कवि उत्पन्न होता है जो प्राणिमात्र की कोमलानुभूतियों की सफल अभिव्यंजना करता है।

फजलुद्दीन कविता का कटु आलोचक था किन्तु 'लालारुख' फेरामूर्ज की कोमल एवं आकर्षक मुद्रा, भावुक हृदय तथा संगीतात्मक स्वर पर मुग्ध थी। दूसरे दिन फिर फजलुद्दीन की आज्ञा लेकर फेरामूर्ज ने कथा आरम्भ की जिसके कथानक को उसने पहले की अपेक्षा कम करुणात्मक कहा। इस कहानी का सम्बन्ध 'परी लोक' से था।, "एक दिन एक परी अदन के उपवन के सिंहद्वार पर खड़ी आठ-आठ आँसू रो रही थी, उसे परीलोक का प्रवेशाधिकार नहीं मिला था। वह अभिशप्त परी विषाद निमग्न खड़ी थी कि आकाशवाणी सुनाई दी कि यदि वह पवित्रतम वस्तु परीलोक में ले आए तो उसे प्रवेशाधिकार मिल सकता है। वह उड़ी और स्थान-स्थान पर भ्रमण करती हुई बड़ी आतुरता से विशुद्ध एवं पवित्र स्वर्गीय तत्व की खोज करने लगी। एक स्थान पर उसे वीर जो स्वदेश की रक्षा में प्राण त्याग चुका था, पड़ा मिला। उसकी रक्तबूँद को संसार की पवित्रतम वस्तु समझकर परी उसे स्वर्गद्वार तक ले गई किन्तु उसे प्रवेशाधिकार नहीं मिला। दूसरी बार उसे एक स्थान पर प्रेमी युग्म मृत पड़ा मिला, नायक के निधन पर नायिक ने शोकग्रस्त हो प्राण त्याग दिया था। इन प्रेमियों की रूह को लेकर परी फिर स्वर्गद्वार पर पहुँची किन्तु इस बार भी वह प्रवेशानुमति न पा सकी। वह फिर लौटी और इस बार भी उसे एक पापी क्रूर व्यक्ति के पास एक सौम्य बालक इबादत करता हुआ मिला उस बालक की भावमग्न मुद्रा को देख कर वह लुटेरा भी इबादत में झुक गया, उसे अपने दुष्कृयों पर पश्चाताप हुआ और उसके गालों पर पश्चाताप के आँसू ढुलक पड़े। इस बार परी जब उन अश्रुबिन्दुओं के साथ स्वर्ग द्वार पर पहुँची तो उसे प्रवेश मिल गया। इस कथा के माध्यम से कवि ने यही प्रमाणित करना चाहा है कि पश्चात्ताप में गिरे हुए आँसू का महत्व संसार की अन्य पवित्र वस्तुओं से कहीं अधिक है।

मार्ग में एक ध्वस्त मीनार को देख कर लालारुख की करुणा जागृत हो गई और उसने मीनार के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा की। फेरामूर्ज ही इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ बता सकता था यह जान कर लालारुख ने उसे बुलाया। फेरामूर्ज ने बताया कि यह ध्वसांवशेष एक अग्निमन्दिर के हैं। इसी आधार पर उसने कथा आरम्भ की जिसका शीर्षक "अग्नि-पूजक है।" एक रात्रि ध्यानमग्ना 'हिन्दा' बैठी हुई अपने प्रेमी के बारे में सोच रही थी, हिन्दा अरब के एक अमीर की सुन्दरी कन्या थी। यह अमीर ईरान के अग्नि-पूजकों के विरुद्ध जिहाद या धर्म-युद्ध घोषित कर चुका था। ईरान की भूमि उस उद्दण्ड वीर से अत्यन्त त्रस्त थी किन्तु हिन्दा इन सभी लौकिक महत्वाकांक्षाओं से परे प्रेम की पवित्र भूमि में विचरण रही कर थी। उसे यह भी नहीं ज्ञात था कि उसका प्रेमी किस जाति या देश का है। उसका नाम क्या है किन्तु वे दोनों प्रेम करते थे एक दूसरे के मानो जीवन-प्राण थे। तभी एक रात्रि अपने प्रेमी के आगमन पर हिन्दा ने उसे अत्यन्त उदास देखा। प्रेम की उत्कण्ठा, तीव्रता एवं गम्भीरता को स्पष्ट करने वाले वार्तालाप के पश्चात् कवि ने पाठक की जिज्ञासा तुष्टि की है वस्तुतः हिन्दा का प्रेमी 'गब्र' (Gheber) उसके पिता का विरोधी था। उसने ईरान को अरबों की दासता से मुक्त करने की प्रतिज्ञा की थी। एक बार अरब सरदार से बदला लेने की भावना से ही वह मीनार पर चढ़ कर कक्ष में आया था और उसकी भेंट हिन्दा से हुई थी तब से वह प्रेम में आबद्ध अपना कर्तव्य नहीं निश्चित कर पाता था। उसकी उदासी का यही कारण था उसने निर्णय कर लिया था कि वह अरब सरदार से बदला लेकर अपनी मातृभूमि का उद्धार करेगा। अपने निर्णय की सूचना देकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए वह वहाँ से चला गया।

ईरान के उस वीर का नाम हाफ़िज़ था। निरन्तर अरबों का विरोध करने के कारण शक्तिहीन होकर उसे एक पुराने पर्वत की गुहा में छिप जाना पड़ा। अब बल की अपेक्षा नीति से वह शत्रुओं को परास्त करने का प्रयास करता रहा। सातवें दिन हिन्दा के पिता ने सूचित किया कि उसे हाफ़िज़ के गुप्त निवास स्थान का पता लग गया है और वह अपने सरदारों सहित जाकर शेर की उसकी मांद में मारेगा। हिन्दा की वेदना अपार

थी। सुरक्षा के विचार से सरदार ने उसे अरब जाने के लिए जहाज पर चढ़ाया, मार्ग में हाफ़िज़ के साथियों ने उसके जहाज़ को लूट लिया। हाफ़िज़ की बन्दिनी उसकी प्रेमिका हिन्दा ने उसे सचेत करना चाहा किन्तु वह वीर देशभक्त अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हुआ। हिन्दा की सुरक्षा का प्रबन्ध करके वह फिर देश-धर्म की बलि वेदी पर प्राणार्पण करने पहुँच गया। धन के लोभ में उसके कुछ साथियों ने देशद्रोह किया था। अपने कुछ चुने हुए सरदारों के साथ हाफ़िज़ घिर गया था बचने या जीत सकने की कोई आशा न थी। अब उसके सामने अग्नि-समर्पण के अतिरिक्त कोई उपाय न था और उसने वही किया।

जहाज़ पर बैठी अरब प्रदेश की ओर संतरण करती हुई हिन्दा की दृष्टि निरन्तर हाफ़िज़ की पहाड़ी की ओर लगी हुई थी। हाफ़िज़ की पूर्ण प्राणाहुति को देख कर वह भी चीत्कार करती हुई समुद्र में कूद पड़ी। समुद्र लहरों ने उसे चिर-शान्ति प्रदान की तथा जल परियों ने उसका यशोगान किया। इस कहानी को सुन कर वातावरण में करुणा छा गई थी किन्तु मार्ग में काश्मीर की पुष्पघाटी को देख कर लालारुख़ की खिन्नता दूर हो गई। फेरामूर्ज़ ने उसे बताया कि इस पुष्पघाटी में जहाँगीर के साथ नूरजहाँ आनन्द-क्रीड़ा किया करती थी। कुछ क्षण और साथ रहने की आशा से लालारुख़ ने फेरामूर्ज़ से इस प्रेम कथा को सुनाने का आग्रह किया। फ़ज़लुद्दीन चुप था क्योंकि वह फेरामूर्ज़ को बुख़ारा के सम्राट् से दण्डित कराने के लिए सोच चुका था। 'चाबुक-प्रहार' ही फेरामूर्ज़ की उद्दण्डता का उचित पुरस्कार है, यह सोच कर वह चुप था।

चौथी कहानी इतिहास प्रसिद्ध नूरमहल तथा जहाँगीर की प्रेमगाथा है। एक बार जहाँगीर राजकार्य से मुक्त होकर कुछ क्षण काश्मीर की घाटियों में बिताने गया था। समय हर्ष एवं उल्लास में व्यतीत हो रहा था कि प्रेमियों में कुछ अनबन हो गई। दोनों विरही विकल एवं मिलनातुर थे। जहाँगीर की उदासी को दूर करने के लिए नर्तकियाँ संगीत एवं नृत्य का उपयोग कर रही थीं किन्तु सम्राट् की उदासी दूर न होती थी। अपनी सखी के कहने पर एक विशेष उपवन के गुलाब के फूलों की माला पहन कर नूरमहल के सो जाने पर उसे स्वप्न में फ़रिश्तों के द्वारा एक गीत ज्ञात हुआ जिसके प्रभाव से जहाँगीर की उदासी दूर हुई और प्रेमियों का पुनर्मिलन हो गया।

कथा की समाप्ति पर फ़जलुद्दीन बहुत उदासीन था। उसका कहना था कि यह कथा निस्सार और केवल शब्दों का जंजाल मात्र है। लालारुख़ को फेरामूर्ज़ का अभाव खटक रहा था। उसके विरह में वह कृश होती जा रही थी। लालारुख़ की क्षीणता देख कर उसकी सखियाँ एवं दासियाँ चिन्तित थीं। काश्मीर की घाटी में प्रवेश करते ही लालारुख़ का शानदार स्वागत किया गया। उसके आगमन के दूसरे दिन उसकी शादी थी। शालीमार का वैभव सम्पन्न राजमहल उसी दिन लालारुख़ के स्वागतार्थ सुसज्जित किया गया था।

प्रातःकाल सभी प्रसन्नचित्त थे किन्तु लालारुख़ में त्यागमयी उदासीनता थी वह मार्ग में चतुर्दिक् दृष्टिपात करती जाती थी कि शायद उसे कहीं फेरामूर्ज़ दृष्टिगोचर हो जाए। कई तोरणों को पार करके जब लालारुख़ उस शामियाने तक पहुँची तो लालारुख़ के स्वागतार्थ सम्राट् ने हाथ बढ़ाया किन्तु इसके पहले ही लालारुख़ आश्चर्य से बेसुध हो भूपतित हो चुकी थी। लालारुख़ का स्वागत करने वाला शाहज़ादा स्वयं फेरामूर्ज़ था।

लालारुख़ को अपने जीवन की यह आनन्द यात्रा सदैव स्मरण रही और वह शाहज़ादे को सदा 'फेरामूर्ज़' कहकर ही पुकारती रही। प्रेमियों की यह प्रेम-यात्रा पाठक के कौतूहल का संवर्द्धन कर उसे भावलोक की संगीत लहरियों में आत्म-विस्मृत कर देती है। बीच-बीच में फ़ज़लुद्दीन की आलोचना हास्य एवं व्यंग का भी समावेश कर देती है। 'लालारुख़' अपनी ढंग की अद्वितीय मसनवी है, मनोरंजन, कुतूहल एवं प्रेम की चर्चा करने वाली चमत्कारपूर्ण कथाओं का स्वरूप इसमें सुरक्षित है।

इस्माइल बिल्डिंग, यूनिवर्सिटी रोड,
लखनऊ

—सरला शुक्ल

जायसी की आध्यात्मिक-भावना

इस अखिल अपार विश्व के मूल में कोई अज्ञेय और अप्रमेय रहस्य अवश्य है और उसे व्यक्त करने के लिए हमारे समस्त मत-मतान्तर एवं सिद्धान्त प्रयत्नशील रहे हैं—किन्तु यह सम्भव नहीं हो सका और सभी उसे अकथ, अगोचर एवं निराकार मानकर ही रह गए। हमारे उपनिषदों ने उसे मन और वाणी से भी अलभ्य कहा है—क्योंकि आध्यात्मिक स्वानुभूति वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती और तर्क एवं विवाद के द्वारा वहाँ तक पहुँचना नितान्त ही असम्भव है। यथा :

> "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह
> आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न विभेति कदाचन"

पुनः कहा गया है कि :

> "अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा प्राप्नुवन्पूर्वमर्शत्
> तद्धावतोऽन्यानत्येति निष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति"
> —ईशोपनिषत्

हमारे अमर कवियों ने अपनी आध्यात्मिक साधना और स्वानुभूति के आधार पर जीवन के अन्तःपुर में प्रवेश कर उसी अमर-राग को अलापा है और वह उनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष है। उन्होंने यह भी देखा है कि इस विश्व के सकल चराचर का हृदय एक ही अजस्र स्रोत से प्लावित हैं। यह जो विश्व विविध रसों से परिपूर्ण है उसमें एक ही रसराज है और उसी को पान कर लेने से संसार की सारी विषमता और विरोधात्मक प्रवृत्तियाँ अस्तित्वहीन हो जाती हैं। सर्वात्मभाव के इस मनोशिखर पर पहुँचने से यह अखिल व्यापार जगत् असार एवं तत्वहीन दृष्टिगोचर होने लगता है और उस समय केवल एक ही रूप दिखाई देता है, जिसमें एकता एवं अनेकता का कोई भेद ही नहीं है और न वहाँ अहम् का कोई अस्तित्व ही है। वहाँ जीवन और मृत्यु का अन्तर समाप्त होकर केवल वही एक सार और तत्व की वस्तु रह जाती है।

हमारे अमर-सन्त कवियों के यही संगीतमय अमर अलाप महाकाव्यों के स्रोत हैं। हमारे समस्त अमर काव्य उनके इसी अमृतमय प्रवाह से ओत-प्रोत हैं। इसी रस का स्वाद चख कर कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा आदि सन्तों एवं शेक्सपियर, शेली, गेटे तथा होमर आदि पाश्चात्य कवियों ने आध्यात्मिक स्वानुभूति के सुखद एवं मधुर-स्पर्श से आनन्द-विभोर होकर अमर गान गाए हैं। इन्होंने संसार-सागर के अन्तस्तल में प्रवेश कर मोतियों का अन्वेषण किया है जो कि आज हमारे समक्ष विभिन्न महाकाव्यों के रूप में विद्यमान हैं।

यह बड़ी ही अकथ कहानी है। इसका साक्षात्कार होना सहज नहीं है। जब तक मानव माया के पर्दे में छिपा हुआ है, तब तक तो उसके लिए यह अत्यन्त ही अगोचर और अदृश्य है। इसीलिए महात्मा कबीर ने 'घूँघट का पट खोल कर' ही उसके मिलने का मार्ग बताया है। और मीरा के दिल का दर्द तो आज तक कोई समझ ही न सका। हमारे इन्हीं महासन्तों में जिन्होंने जीवन के रहस्य-मर्म को पूर्णरूपेण पहचाना है और इस प्रपंच का परदा हटा कर अपने जीवन-धन के मन-मोहक रूप का दर्शन पा लिया है; जायसी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

जायसी का यह मत था कि इस विश्व की समस्त वस्तुओं एवं इस अखिल व्यापार जगत् का उस अलौकिक सत्ता से अभिन्न सम्बन्ध है, जिसके एकमात्र संकेत पर यह समस्त ब्रह्माण्ड संचालित है। इस विश्व के अणु-अणु में उसकी सत्ता विद्यमान है, उस अखण्ड-ज्योति से ही यह सारा विश्व प्रकाशित है, जो कुछ भी हमारे दृष्टिगत है, उसमें हमारे प्राणवल्लभ का. ही संकेत निहित है।

जायसी बहुत पहुँचे हुए सूफ़ी फ़कीर थे। सूफ़ी सम्प्रदाय मुसल्मानों का वह सहृदय दल है जो ईश्वर को अपना परम प्रियतम मान कर उसकी उपासना करता है। सूफ़ी सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त हमारे वैष्णव धर्मावलम्बी भक्तिमार्ग की माधुर्य भावना के उपासकों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इस सिद्धान्त के अनुयायी परमात्मा को अपना पति मानते हैं और

इस अखिल विश्व के सकल चराचर में अपने उसी प्रियतम की मोहिनी छवि को देखते हैं। इनकी मान्यता है कि इस विश्व में जो कुछ भी है, वह हमारे प्रभु की सत्ता से ओत-प्रोत है। यह समस्त चर-अचर हमारे प्राणों से ही अद्भुत है और वह इन सब में समाया हुआ है। 'ईश्वर-अंश जीव अविनाशी' के आधार पर वह मानते हैं कि यह शरीर जिसमें कि अविनाशी आत्मा की सत्ता है और जिसे—

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः"

यह उसी प्रभु का अंश है। यह शरीर रूपी पिंजड़े में पक्षी की भाँति बन्द है। अतः इसे वास्तविक आनन्द की अनुभूति तभी हो सकती है जब वह इस पिंजरे से निकल कर उन्मुक्त वातावरण में विचरण करे। इसलिए वे मृत्यु को ही एकमात्र साधन समझते हैं जिससे उनकी यह विरहिणी आत्मा अपने परम-प्रिय से साक्षात्कार कर सकती है। मृत्यु के इस अनन्य प्रेम के कारण उन्हें सांसारिक प्रपंचों से विराग हो जाता है और उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है। ज्ञान के इस समुज्ज्वल प्रकाश में वह अपने परम-प्रिय का दर्शन करते हैं और इस प्रकार जीवन-पर्यन्त उसी के प्रेमरस में मस्त रह कर अन्ततोगत्वा मृत्यु के समय वे अपने सर्वात्मभाव को उसी में लय कर देते हैं। इस लय की अवस्था का सूफ़ीमत में बहुत बड़ा महत्व है।

जायसी यद्यपि मुसलमान थे किन्तु उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के व्यर्थ आवरण और मानसिक संकीर्णता को दूर कर उनकी भावना को प्रेम की एक धार में प्रवाहित किया। इन्होंने तत्कालीन समाज में अधिक लोकप्रिय राम और कृष्ण की उपासना को अपने काव्य का विषय बना कर उस समय के प्रचलित सूफ़ी सिद्धान्तों की अत्यन्त ही सरल और मनोरंजक शैली द्वारा जन-मन को आकर्षित किया। इस शैली को अपनाने में इनकी एक विशेषता यह भी रही है कि पूर्व प्रचलित सूफ़ी कवियों के काल्पनिक आधार को ही पूर्णरूपेण न ग्रहण कर इन्होंने उसमें ऐतिहासिक घटनाओं को भी जोड़ दिया और अपने वर्णित विषय को सजीव एवं आकर्षक बनाने के लिए प्रचलित हिन्दू धर्म के विवरणों को भी सम्बद्ध कर दिया जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों की अभिरुचि को यह सफलतापूर्वक वशीभूत कर सके। ऐतिहासिक प्रेम-कहानियाँ इनकी रचना की लोकप्रियता बढ़ाने में बहुत ही सहायक हुईं।

हिन्दू धर्म के लोकप्रिय सिद्धान्तों को भी सूफ़ीमत में समावेश करना इनके हृदय की विशालता और इनकी महानता का द्योतक है। यही कारण था कि वे अपने समय के सन्तों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मुसलमान होते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म की प्रमुख बातों पर भी बड़ी ही गम्भीरता से अपने विचार व्यक्त किए हैं। धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ इनके काव्यों की भाषा अत्यन्त ही सरल और सुमधुर तो है ही किन्तु वास्तविकता और कला की दृष्टि से भी इनके काव्य बहुत ही उत्कृष्ट हैं। इसके अतिरिक्त सूफ़ी सिद्धान्तों के सरल और मनोरंजक रूप का वर्णन एवं तत्कालीन राम और कृष्ण की धार्मिक विचारधारा को न अपना कर प्रेम कहानियों के रूप में प्रस्तुत करना भी इनके काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इस प्रकार इनकी रचनाओं में आध्यात्मिक अभिव्यंजना और सूफ़ी सिद्धान्तों की रूपरेखा सर्वत्र व्याप्त है। कुछ अंशों में जायसी और कबीर का मार्ग प्रायः एक-सा है—जिस प्रकार कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का अन्तर समाप्त कर दोनों में वास्तविक प्रेम-साधना के बीज बोने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार जायसी ने भी दोनों की एकता पर बल दिया है। दोनों सन्तों ने सूफ़ी सिद्धान्तों के आधार को ग्रहण किया है जिससे इनकी रहस्यात्मक प्रवृत्ति एक दूसरे से मिलती-जुलती है। इस सकल चराचर विश्व में एक ही अलौकिक शक्ति की सत्ता मान कर इन महात्माओं ने उसके वास्तविक ज्ञान-बोध का सफल प्रयास किया है। जायसी पर मुस्लिम संस्कृति के साथ-साथ हिन्दू संस्कृति का भी सम्यक् प्रभाव पड़ा था। वे प्रेम कहानियों के वर्णन में भी अपनी गम्भीरता बनाए रखते थे और सम-भाव से दोनों धर्मों को अपनी प्रेम-कहानी के सूत्र में पिरो कर उन्होंने अपने ज्ञान-भण्डार की विशालता का परिचय दिया है।

सन्त जायसी अवध के निवासी थे। यह कहीं से आकर जायसनगर में बस गए थे। इनके जन्म स्थान

आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है :

"जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥"

वैसे जनश्रुति के आधार पर ये गाज़ीपुर के निवासी किसी दरिद्र मुसलमान की सन्तान थे। बाल्यावस्था में ही चेचक के कारण इनकी बाँयी आँख और बाँये कान की शक्ति क्षीण हो गई थी। इसका वर्णन इन्होंने स्वयं किया है :

"मुहम्मद बाँयी दिसि तजा,
इक सरवन इक आँखि।"

यह निज़ामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा के थे। जनश्रुति है कि इनके आशीर्वाद से ही अमेठी नरेश को पुत्र-रत्न का लाभ हुआ था, तभी से यह सिद्ध माने जाने लगे थे और राजा इन्हें इतना अधिक मानने लगे थे कि मृत्यु के पश्चात् इनकी कब्र राजा ने अपनी कोट के सामने बनवाई थी जो कि अभी तक विद्यमान है। यह भी कहा जाता है कि कोढ़ी के रूप में भगवान् ने जायसी को दर्शन भी दिया था।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'पद्मावत' और 'अखरावट' का प्रमुख स्थान है। 'पद्‌मावत' की रचना प्रेमाख्यान फ़ारसी की मसनवी पद्धति पर हुई है। इसमें चित्तौड़ की महारानी पद्‌मिनी की कथा का वर्णन दोहे और चौपाइयों में किया गया है। उन्होंने अपने 'पद्मावत' की कथा में आध्यात्मिक अभिव्यंजना रखी है और इसके पीछे सूफ़ी सिद्धान्तों की रूपरेखा है। 'पद्मावत' की रचना अध्याय और सर्गबद्ध न होकर घटनाओं के आधार पर खण्डबद्ध है। इस प्रकार कुल इसमें ५७ खण्ड हैं। इसमें स्थान-स्थान पर ऐसी सांकेतिक पदावली का प्रयोग किया गया है, जो लौकिक सौन्दर्य एवं आनन्द की अनन्त तथा विश्वव्यापिनी विश्वता की ओर ले जाती है। ऐसे स्थलों पर जायसी की रहस्यात्मक भावना प्रतिबिम्बित होती है। इसमें कवि ने कथा का विस्तार अत्यन्त ही मनोरंजक ढंग से किया है; जहाँ कहीं घटनाओं की वास्तविकता का दिग्दर्शन कराया गया है वहाँ पर तो कवि भावजगत् से बहुत ऊँचा उठा हुआ दिखाई देता है।

जायसी ने हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों का वर्णन किया है। इनके पात्रों के चरित्रचित्रण में हिन्दू संस्कृति के आदर्शों का पूर्ण सामंजस्य है। इनके पात्र प्रायः दो दृष्टिकोणों को लिए हुए हमारे समक्ष आते हैं। एक का दृष्टिकोण सतोगुणी तथा दूसरे का तमोगुणी होता है। इस प्रकार दोनों में संघर्ष होता है और अन्ततोगत्वा 'सत्' की ही विजय होती है। 'पद्मावत' के पात्रों में भी प्रायः दो दृष्टिकोण हमें मिलते हैं। रत्नसेन, पद्मावती एवं नागमती का दृष्टिकोण जहाँ एक ओर सतोगुणी स्वरूप है वहीं अलाउद्दीन, राघवचेतन एवं देवपाल की दूती का दृष्टिकोण तमोगुणी है। इन दोनों वर्गों में युद्ध होता है किन्तु अन्त में विजय सतोगुणी के ही हाथ होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि 'पद्मावत' की रचना में जायसी ने आध्यात्मिकता भावनाओं एवं हिन्दू संस्कृति के आदर्शों का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया है। रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् पद्मावती और नागमती का सती होना जहाँ एक ओर सूफ़ी मत के सिद्धान्तों के आधार पर 'मिलन' का रूप उपस्थित करता है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू संस्कृति के आदर्श का सम्यक् रूप के साथ चित्रण करता है। इसी प्रकार हिन्दू संस्कृति के अन्यान्य आदर्शमय आध्यात्मिक सिद्धान्तों की ओर भी संकेत मिलता है।

यथा : हठयोग—

"नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा
औ तहं फीरहिं पाँच कुटवारा
दसवं दुवार गुपुत एक ताका
आम चढ़ाव, बाट सुठि बाँका"

पद्मावत—पृष्ठ १००

इसी प्रकार—

"नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहं वहं कीवार
चारी बसेरे सौं चढ़ै, सत सों उतरै पार
नव पौरी पर दसवं दुआरा
तेहि पर बाज राज घरियारा"

पद्मावत—पृष्ठ १८

पद्मावती के 'वरुनी वर्णन' में जायसी की अध्यात्मिक भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

"वरुनी का वरनों इमि बनी
साधे बान जानु हुई अनी
जुरी राम-रावन के सेना
बीच समुद्र भये दुई नेना
वारहि पार वनावरि साधा
जा सहुँ हेर लाग विष बाधा
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा
बेधि रहा सगरो संसारा
गगन नखत जो जाहिं न गने
वै सब बान ओही के हने
धरती बान बेधि सब राखी
साखी ठाढ़ देहि सब साखी
रोवं रोवं मानुस तन ठाढ़े
सूतहि सूत बेध अस गाढ़े"

"वरुनि बान अस ओ पहं बेधे रन बन ढाँख
सौजहिं तन सब रोवाँ पंखिहिं तन सब पाँख"

(पद्मावत पृष्ठ ४६)

इसमें वरुनी को बाण का रूप देकर इस अखिल विश्व के कण-कण में उसे व्याप्त बताया गया है।

जायसी के 'अखरावट' ग्रन्थ में भी हमें उनकी आध्यात्मिक भावना का दर्शन होता है। इसमें सूफ़ी सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साथ ही प्रायः सभी सिद्धान्तों के सार-तत्व विद्यमान हैं। इसमें कुल ५३ दोहे हैं और प्रत्येक दोहे के साथ सात-सात चौपाया और सोरठा भी दिया गया है। यह अवधी भाषा में लिखा गया है। इस प्रकार चौपाइयों और दोहों में हृदय के मधुरतम संगीत के सृजन करने का सर्वप्रथम श्रेय जायसी को है। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की संस्कृति का चित्रण किया है। इसमें जहाँ एक ओर वेदान्त के सिद्धान्त प्रदर्शित किए गए हैं वहीं दूसरी ओर सूफ़ीमत के।

अखरावट (जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ ३५३-३५४)

वेदान्त :

"माया जरिअस आपुहि खोई
रहे न पाप, मैलि गई धोई
गौं दूसर भा सुन्नहिं सुन्नू
कहं कर पाप, कहँ कर पुन्नू
आपुहि गुरु, आपु भा चेला
आपुहि सब औ आपु अकेला
अहै सो जोगी, अहै सो भोगी
अहै सो निरमल अहै सो रोगी
अहे सो कड़ुवा अहे सो मीठा
अहे सो अमिल अहे सो सीठा
वे आपुहि कहं सब महं मेला
रहे सो सब महं, खेलै खेला
उहै दोउ मिलि एकै भयऊ
बात करत दूसर होइ गयऊ"

"जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ
जो मन चाहा सो किया, जो चाहे सो होइ"

सूफ़ीमत के सिद्धान्तों का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

साई केरा बार, जो थिर देखे औसुने
नई नई करे जुहार, मुहमद निति उठि पांच बेर

ना-नमाज है दीन की थूनी
पढ़े नमाज सोइ बड़ गूनी
कही सरीअत चिसती पीरू
उधरित असरफ और जहंगीरू
तेहि के नाम चढ़ाहों धाई
देखि समुद जल जिउ न डेराई
जेहि के ऐसन सेवक भला
जाह उतारि निरभय सोलचा
राह हकीकत परै न चूकी
पैठि मारफत मार बुड़की
ढूढ़ि उठै लेइ मानिक मोती
जाइ समाइ जोति महं जोती
जेहि कहं उन्ह अस नाव चढ़ावा
कर गहि तीर खेइ लेइ आवा
सांची राह सरीअत, जेहि विश्वास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी आध्यात्मिक भावना किसी न किसी संस्कृति का आधार लेकर उनके काव्यों में सर्वत्र व्याप्त है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जायसी सूफ़ीमत के एक बहुत बड़े महात्मा थे और सूफ़ीमत में ईश्वर

को प्रियतम तथा आत्मा को उसकी विरहिणी परिणीता मान कर उपासना करने की परम्परा है। इसी तरह जायसी अपने परमप्रिय प्राणेश्वर के प्रेम में मस्त रह कर उसके विरह में बेसुध रहते थे। उनकी प्रेम-विह्वल आत्मा की यह पुकार है कि मेरा जीवन अपने प्रियतम के विना मृत्यु के समान है। मेरे नेत्रों में उसकी अनुपम छवि समा गई है और मेरा हृदय उसी की शोभा से आच्छादित है। जहाँ कहीं भी मैं देखती हूँ, सर्वत्र उसी का मनमोहक रूप दिखाई पड़ता है उसे छोड़ कर कोई भी दूसरा रूप मुझे दिखाई नहीं देता और उसी में हमारा सर्वस्व है फिर हमें दूसरों की चर्चा से क्या मतलब ?

> "सुख भा सोच एक दुख मानूं
> वहि बिन जीवन मरन के जानूं
> नैन रूप सों गयेउ समाई
> रहा पूर भर हिरदय छाई
> जहं वै देखौं तहं वै सोई
> और न आव दिष्टतर कोई
> आपन देख देख मन राखौं
> दूसर नांव सो कासों माखौं"

जायसी की सबसे महत्वपूर्ण एक विशेषता तो यह है कि इन्होंने प्रियतम के वियोग में व्याकुल अपनी आत्मा की विरहाकुल दशा का चित्रण करने के लिए प्राकृतिक वस्तुओं एवं व्यापारों का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है। उनकी वियोगिनी आत्मा उस दिन की प्रतीक्षा में है जब उसके प्रियतम आकर उसे गले से लगा लेंगे और इस असह्य वेदना को देखेंगे।

> "बिनु जल मीन तलफ जस जीऊ
> चातक भयऊ कहत पिऊ पीऊ
> जरिऊं बिरह जस दीपक बाती
> पथ जोवत भइ सीप सेवाती
> भइऊं बिरह वही कोइल कारी
> डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी"

> "कौन सो दिन जब पिउ मिलै, यह मन राता जासु
> वह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु"

जायसी ने इस प्रपंच और माया-मोह-जटिल संसार को एक नववधू के रूप में और अपने आराध्यदेव के मिलन को प्रियतम के प्रदेश के रूप में देखा। जिस तरह से एक नवविवाहिता वधू को पहले अपने मायके से अपार स्नेह होता है और अपने "पति" के घर जाने में उसे बड़ा संकोच एवं झिझक-सी होती है। यह निश्चित है कि उसे एक न एक दिन अपनी नैहर-नगरी छोड़ कर प्रियतम के घर अवश्य जाना है। इसलिए उसे अपने नैहर की नगरी छोड़ते समय यद्यपि अपार दुख होता है किन्तु अपनी सभी साथ-संग की सहेलियों को छोड़ कर वह अकेली सबसे दूर अपने प्रियतम के देश चली जाती है और वहाँ पहुँच कर जब वह अपने घूँघट के पट को खोल कर एक बार भी अपने प्रियतम का मनमोहक रूप देख लेती है तो अपना सर्वस्व उसी के चरणों में निछावर कर देती है फिर तो एक क्षण भी वह अपने प्राणनाथ का वियोग सहन नहीं कर सकती। वहाँ पहुँच कर अपने जीवनधन को पाकर उसे यह ज्ञान होता है कि हमारा सब कुछ यहीं है और इस प्रकार कुछ समय बाद वह सब कुछ भूल जाती है यहाँ तक कि उसे नैहर की याद भी नहीं आती।

> "छाँड़िउ नैहर, चलिऊँ बिछोई,
> एहि रे दिवस कहं हौं तब रोई
> छाँडिउ आपन सखी सहेली,
> दूरि गवन तजि चलिउं अकेली
> नैहर आइ काह सुख देखा,
> जनु होइगा सपने कर लेखा
> मिलहु सखी हम तहवां जाहीं,
> जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं
> हम तुम मिलि एकै संग खेला,
> अन्त बिछोह आनि जिउ मेला"

इस प्रकार जैसे नववधू अपनी सभी संगी-सहेलियों तथा नैहर की मोह-माया को छोड़ कर अपने प्रियतम के घर चली जाती है उसका सारा जीवन वहीं बीत जाता है और नैहर से फिर कोई नाता नहीं रह जाता। ठीक यही स्थिति प्राणी की है। वह इस माया-मोहमय संसार से अपार प्रेम रखता है और अपना सब कुछ यहीं समझता है। अपने रागरंग और धन-सम्पत्ति को बटोर कर हम यही समझते हैं कि हमेशा यहीं रहना है और हमारे जीवन का सच्चा उद्देश्य यहीं तक है किन्तु वस्तुतः यह सब कुछ झूठा है, जाल है। हमारे जीवन

का लक्ष्य कुछ और है। अन्त में सब कुछ यहीं पर छोड़ कर निश्चय ही एक दिन अपने आराध्य देव (प्रियतम) के घर जाना है। इसलिए अपने प्राणेश्वर से विलग रह कर इस विश्व में हमें जितने दिन रहना है उतने समय तक उसी के विरह में बीत रहा है। और ये विरह के दिन मेरे लिए बहुत ही सुखदायी हैं। इन वेदनापूर्ण दिनों की अनुभूति अत्यन्त सुखद होती है जो इन्हें दुखद कहता है वह वास्तव में वियोगरस को जानता ही नहीं। सच तो यह है कि इस रस की सच्ची अनुभूति जिसको होती है वह उसका वर्णन कर ही नहीं सकता। वह आठों पहर उसी में छका रहता है। जायसी की गति सचमुच इसी प्रकार की हो गई है। अपने प्राणेश्वर के वियोग में उनका शरीर सूख कर जर्जर हो गया है उनके शरीर की हड्डियाँ सूख कर किंगरी और नसें ताँत सदृश हो गई हैं। विरह की इस यन्त्रणा का वर्णन वह स्वयं किसी प्रकार नहीं कर सकते।

"हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब तांति।
रोंव रोंव ते धुनि उठे, कहौं विथा केहि भांति॥"

प्रेम का यह पन्थ बड़ा ही निराला है। यह देखने में जितना ही सुगम प्रतीत होता है सचमुच उतना ही दुर्गम है। क्योंकि इसमें "मैं" और "प्रभु" दोनों की स्थिति एक साथ नहीं रह सकती। "मैं" का लोप हो जाने पर ही "प्रभु" की प्राप्ति होगी और यदि कहीं हमने अपने "प्रभु" को खो दिया तो सब कुछ खो जाएगा। इसलिए कल्याण इसी में है कि "प्रभु" को पाने के लिए "मैं" का लोप करना ही होगा।

"आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ।
देखहु बूझि बिचार मन, लेहु न हेरि हेराइ॥"

C/o श्री रजवन्त सिंह
२०४, बहादुरगंज, इलाहाबाद

किन्तु जायसी ने ऐसा करने के लिए सबसे पहले दर्पण की भाँति अपने तन और मन को स्वच्छ करने को कहा है। जिस प्रकार शीशे (दर्पण) की मैल को साफ़ करने के लिए उसे माँजा जाता है उसी प्रकार काम-क्रोध, मद-लोभ और माया रूपी समस्त तन-मन की मैल (दुर्गुणों) को ज्ञान रूपी मंजने से माँजना होगा और इस प्रकार जब मन एवं शरीर पूर्ण रूप से दर्पण की भाँति निर्मल हो जाएगा, फिर तो अपने प्रियतम की मोहिनी छवि उसमें अवश्य झलकने लगेगी।

"तन दरपन कहं साजु, दरसन देखा जो चहै।
मन सौं लीजिय माँजि, "मुहमद" निरमल होइ दिया॥"

जायसी ने अपने प्रियतम की स्थिति उसी प्रकार मानी है जैसे दूध में घी और समुद्र में मोती स्थित है। अतः अपने "ज्ञान-चक्षु" को खोल कर देखने से अपने आराध्य की छवि स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

"दूध माँझ जस घीउ है, समुद्र माँझ जस मोति।
नैन मीँजि जौ देखहु, चमकि उठै तस जोति॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी प्रेममार्ग के द्वारा ही अपने इष्टदेव से चिर-मिलन की आकाँक्षा रखते थे। वे इस अखिल विश्व के कण-कण में अपने आराध्य की रूपमाधुरी को व्याप्त देख कर और इस मधुर संवेदना से पुलकित होकर प्रतिपल उसी की आराधना में लीन रहते थे। जायसी एक आत्मदर्शी सन्त कवि थे। इनका पन्थ कबीर से मिलता-जुलता है किन्तु कबीर के पंथ में जहाँ ज्ञान का पुट अधिक था वहाँ जायसी के पन्थ में ज्ञान के साथ भक्ति का पुट अधिक था। इस तरह जायसी की समस्त रचनाओं में ज्ञान और भक्ति की अविरल—आध्यात्मिक—धारा प्रवाहित है।

—कृष्णा सक्सेना

किसान का जीवन

एक मेले में एक पादरी ने किसी पहाड़ी बूढ़े किसान से कहा : "तुम्हारा जीवन कितना महान् है। वास्तव में यही जीवन श्रेष्ठ है।" बूढ़े पहाड़ी किसान ने उत्तर दिया : "नहीं, किसानों का जीवन सबसे अधिक ख़राब है क्योंकि उन्हें भगवान् पर निर्भर होना पड़ता है।

—'कंट्रीमैन' से

ऊपर की मंज़िल

[किसी शहर की सिविल लाइन्स में एक कोठी की ऊपर की मंजिल का कमरा। इस कमरे की खुली खिड़की में अधेड़ उम्र का एक पुरुष खड़ा है। इस खिड़की से सामने की सड़क दिखाई देती है, कोठी का गेट दिखाई देता है, पड़ौस की कोठी का आंगन और बरामदा भी दिखाई देता है। थोड़ी दूर रेलवे स्टेशन से गाड़ियों के आने-जाने की आवाजें भी सुनाई देती रहती हैं।

खिड़की में खड़ा पुरुष अट्टहास कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी हँसी का कारण कोई बात है, जो उसके नौकर ने उसे अभी बताई है।

जब पर्दा उठ रहा होता है नौकर की केवल पीठ दिखाई देती हैं, जो पूरा पर्दा उठने पर छिप जाती है।

पुरुष हँसता ही जा रहा है, एक ऐसी हँसी जो व्यंग्य से घृणा में बदल जाती है; फिर घृणा से जैसे जहर होकर रह जाती है]

पुरुष : (विषाक्त हँसी हँसते हुए)

मेम साहब स्टेशन गई हैं।
(हंसता जाता है)
मेम साहब स्टेशन गई हैं
अपने प्रेमी को बिदा करने के लिए
(अभी तक हंस रहा है)
प्रेम खुद चल कर गया है
अपनी आशाओं की आहुति देने के लिए
(एकदम हँसी रोकते हुए)
मेम साहब स्टेशन गई हैं
अन्तिम बार अपने मदमाते नयनों से
किसी पराए मर्द की पलकों में सपने जगाने के लिए,
मेम साहब स्टेशन गई हैं,
अन्तिम बार अपने एक पत्नी के होंठों को
किसी पराए मर्द के स्पर्श से अपवित्र करने के लिए,
मेम साहब स्टेशन गई हैं
जैसे किसी डाल पर कोई घोंसला बनाए
और नीचे से डाल टूट जाए,
जैसे स्वयं अन्धकार किसी हृदय की कालिमा से
काँप उठे,
जैसे कोई पथ-भूला
किसी बन्द गली में आकर रुक जाए
(वैसे का वैसे क्रोध से ओंठों को भींचते और काटते हुए)

पुरुष :

मेम साहब स्टेशन गई हैं
क्योंकि आज उसके हृदय का राजा जा रहा है
दूर बहुत दूर,
जहाँ तड़तड़ गोलियों की वर्षा होती है,
जहाँ बमों के बादल आकर फटते हैं,
और रक्त की नदियाँ बह निकलती हैं,
जहाँ मृत्यु की फुँकार
अफ़सर और मातहत में भेद नहीं जानती,
जहाँ काल मुँह बाएँ खड़ा रहता है—
उनके लिए जिनके घर कोई रोने वाला नहीं,
और उनके लिए
जिनकी राहों में
उनके पड़ौसियों की पत्नियाँ
अपने पतियों को, अपने बच्चों को छोड़ कर
आँखें बिछाए रहती हैं,
(एक दम रुआंसा हो उठता है)

पुरुष :

कभी ऐसा भी हुआ है ?
आदि काल से कभी ऐसा हुआ है
कि कोई पैंतीस वर्ष की पत्नी
फिर से प्रेम करने लग जाए ?
कि कोई तीन बच्चों की माँ
किसी पराए मर्द के लिए पागल हो उठे,
कभी किसी ने यह भी सुना है
कि पन्द्रह साल एक छत के नीचे रह कर
कोई यों खुल खेले !
(आँखों में अश्रु भर कर)

पुरुष :

रानी !

तुमने मुझे तब न छोड़ा
जब एक जून हमारे पास खाने के लिए होता था
और दूसरा वक़्त तुम मुझ से बातें करके काट लेती थीं,
जब तुम्हारी सूखी छातियों में
दूध नहीं होता था,
और अपने बच्चे को तुम लोरियाँ गा गा कर बहलाती थीं
लोरियाँ जिनमें
तू उसके 'बाप राजा' के गुण गा गा कर नहीं थकती थी,
जब आँखों से बरबस फूट निकले आँसुओं को
तू हँस हँस कर मुझ से छिपाती थी,
बार बार अपने ओठों पर
मुसकानें खिलाती थीं,
मेरे माथे पर तू एक शिकन नहीं देख सकती थी!
राजी!
तुमने मुझे तब न छोड़ा
जब पलंग पर पड़ा मैं हड्डियों की मुट्ठी होके रह गया था,
डाक्टर तुम्हें कुछ कहते थे मुझे कुछ कहते थे,
जब कोई मेरे पास नहीं फटकता था,
मेरी गन्दी चादरों को तू धोते नहीं थकती थी,
मेरे गीले कपड़ों को तू बदलते नहीं ऊबती थी,
मेरे मुरझाए सूखे होठों को जब तू चूमती थी
मेरी हड्डियों की ठठरी को जब तू दुलारती थीं
मेरी सूखी बेजान बाहों को जब तू उठा उठा कर
अपनी आँखों से लगाती थी
रात भर जाग जाग कर तुमने मेरी सेवा की
तुमने बिलख बिलख कर भगवान से मेरी सेहत की
भीख माँगी
राजी!
तुमने मुझे तब न छोड़ा
जब आधी आधी रात को मैं घर लौटता था,
जब मेरे अंग अंग से दुर्गन्ध आती थी
वह दुर्गन्ध जो एक मर्द में से आती है
जब कोई मर्द अपनी पत्नी का हक़ मार कर घर आता है,
जब मेरे होठों पर से अभी वह चिन्ह नहीं मिटे होते थे
किसी पराई औरत के चुम्बनों के चिन्ह,
जब मेरी आँखों में
कपट होता था, छल होता था, झूठ होता था
और तू खिड़की पर खड़ी होकर मेरी बाट जोहती थीं,
नशे में डगमगाते मेरे लड़खड़ाते क़दमों को सहारा देकर
मुझे टैक्सी में से तू निकाल लाती थी
(आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते हैं)

पुरुष :

और अब जब मैं कोठियों का मालिक हूँ,
और अब जब मैं तीन बच्चों का बाप हूँ,
और अब जब मैं प्याज़ के छिलके तक से परहेज़ करता हूँ
तू मुझे अब छोड़ गई,
अब जब मैं शराब नहीं पीता
कि उसके नशे में कोई अपना ग़म ग़लत कर सके
अब जब मैं किसी पराई औरत की तरफ़ आँख उठाकर
नहीं देखता
कि सोचूँ तेरे अन्याय का मैं कभी तुझ से बदला लूँ
अब जब कि मेरे फूलों जैसे कोमल बच्चे
मेरे क़दमों की बेचैनी को
जब तू घर नहीं होती
अवाक् से देखते रहते हैं
तू अब चली गई
जब मुसाफ़िर के पास और चलने की शक्ति नहीं रहती
जब पथिक सुस्ताने के लिए बैठ जाता है
जब किसी का गीत सुनने को जी चाहता है
पलकों पर पलकें जैसे थक कर गिर पड़ती हैं
तू अब चली गई,
जब कई बार मंज़िल खुद मुसाफ़िर के पास चली आती है
तू अब चली गई
जब हमारी बच्ची हूबहू तेरे जैसी निकल आई है
हूबहू तेरी तरह हँसती है
हूबहू तेरी तरह चलती है,
तू अब चली गई
जब उसे जरूरत है राहों की, रास्तों की जिनको वह अपनाए!
तू अब चली गई,
जब रात को पल पल मेरी आँख खुल खुल जाती है
जब इस घर की दीवारें तक तुम्हारी राह तकती हैं
जब हर दूसरा टेलीफ़ोन तुम्हारे लिए ही आता है,
जब कलियाँ खिलती हैं किसी कोमल परस के लिए,
तू अब चली गई
जब फल आगए हैं उन पौधों पर जिनको तूने
अपने हाथों लगाया था
(अपने आपको संयत करते हुए)

पुरुष :

आज डेढ़ वर्ष हो गया है
इस कमरे के झरोखे वैसे के वैसे बन्द हैं
हमारे इस सोने के कमरे में कभी कोई हँसी नहीं सुनाई दी
सत्य, धर्म और न्याय की कभी चर्चा नहीं हुई,
आज डेढ़ वर्ष हो गया है,
मुझे ऐसे लगता है जैसे मैं किसी ऊसर पर विचर रहा हूँ
पेड़ हैं, जिन पर पत्ते नहीं,
नदियाँ हैं, जिनमें पानी नहीं,
धूप है जिसमें गरमी नहीं।
ठण्ड, ठण्ड, ठण्ड,
सर्दियों में कुंआरी पगडंडियों पर कोहरे की ठण्ड
ढोरों के खुरों से मसले पोखरों की कीचड़ की ठण्ड
टूटी हुई झोंपड़ी पर नई गिरी बर्फ़ की ठण्ड,
फूल जैसे सुगन्ध रहित
स्पर्श जैसे निष्प्राण
मुस्कराहट, बुझी, फीकी, रसहीन।
(स्मृतियों में जैसे खो जाता है)

पुरुष :

वसन्त का दिन था
जब उस वर्ष
वह फौजी कप्तान हमारे पड़ौस में आकर रहा,
इसी खिड़की में खड़े
मैं और मेरे बच्चों की माँ
कितनी देर देखते रहे
रिमझिम फुहार पड़ रही थी
कीचड़, कीचड़, कीचड़ था चारों ओर!
जहाज सी विशाल
लदी फंदी एक लारी आई
और मोटे मोटे बूटों वाले फौजी अर्दली
उसमें से सन्दूकों और ट्रंकों को
इस तेज़ी से उठाने उतारने लग गए
जैसे कोई ऊन के,
रेशम के लिफ़ाफे उठा कर अन्दर ले जाता हो!
बात बात पर अर्दली कप्तान को सलाम करते
और मन्द मन्द सुलगता सिगार मुँह में थामे
वह बरामदे में टहलता रहा,
खिड़की में खड़े हम देखते रहे, देखते रहे
हवा तेज हो गई,
सर्दी बढ़ गई,
बार बार मेरी पत्नी का आँचल ढलक ढलक पड़ता,
शाल में से जालीदार दुपट्टा वह,
बार बार सिर पर ओढ़ती
और बार बार वह सरक सरक जाता,
फिर मैंने खिड़की बन्द कर ली
खिड़की मैंने बन्द कर ली,
और मुझे अपना सोने का कमरा ऐसे लगा
मानों सिगार की धीमी धीमी सुगन्ध से भर गया हो,
उस शाम वह श्रृंगार मेज़ के सामने खड़ी थी,
दबे पाँव पीछे से आकर मैंने उसे चूमा,
मुझे ऐसे लगा जैसे सिगार की सुगन्ध
सारी की सारी उसके होठों पर जमी हुई हो
मेरा मुंह सिगार के स्वाद से लबालब भर गया।
वह दिन, अगला दिन, उससे अगला दिन,
और फिर दिन प्रति दिन,
मुझे सिगार की धीमी-धीमी खुशबू आती—
चादरों से, तकिए में से, किताबों में से,
पानी में से, प्लेटों में से,
उसके बालों उसकी मुस्कराहटों में से, शोखियों में से
मुझे सिगार की धीमी-धीमी खुशबू आती
हमारे फूलदानों में लगे फूलों में से,
मैं बार-बार खिड़कियों के पर्दे गिराता
दरवाज़े बन्द रखता, बन्द रखता,
पर सिगार की वह धीमी-खुशबू
जैसे बलात् मेरे घर में घुसी चली आ रही हो
मैं लाख अगरबत्तियाँ ला-ला कर जलाता
निष्फल, बेकार, व्यर्थ!
और फिर एक दिन उसके मुँह की ओर मैं
देखता रह गया
वह कहने लगी—
"सिगरेट का भी क्या पीना,
कोई पिए तो सिगार पिए"
और मेरी उंगलियों में से मेरा सिगरेट
पता नहीं कब खिसक कर नीचे जा गिरा
हमें तब मालूम हुआ
जब फ़र्श की कालीन सुलगने लगा था,
मेरे तन-मन में जैसे आग-सी लग गई

और वह बार बार कहती—
उसके दहेज के क़ालीन का सत्यानाश हो गया
और फिर उसे पड़ोस में
आधी आधी रात तक
नशे में धुत लोगों का हंसना
अच्छा अच्छा-सा लगने लगा
मदमस्त लड़खड़ाते बहक रहे लोगों को
आधी आधी रात तक खिड़की में खड़ी वह
देखती रहती, देखती रहती
और फिर वह थकी थकी-सी रहने लगी !
उलझी उलझी-सी रहने लगी,
खोई खोई-सी रहने लगी,
उसकी आँखों में एक भय, एक डर, एक आतंक
जैसे बहुत गहरी खाई फांदते कोई महसूस करता है
वह खिड़की में खड़ी होती, तो खड़ी ही रहती
साड़ियों को निकालती, पहनती,
फिर उतार कर रख देती
कितनी कितनी देर शीशे के सामने बैठी एक टक
देखती रहती
और फिर एक रात
जब मैं थका हारा घर लौटा
हमारे सोने के कमरे में पीली ज़र्द-चोरों की तरह
वह अकेली खड़ी थी,
जैसे पराये खेत में चर रही कोई गाय
खेत के मालिक की ओर देखती है
मुझे उसने देखा और वह पलंग पर जा गिरी
फूट फूट कर उसके आँसू बहने लगे
वह रोती गई, रोती गई
रो रो कर उसकी हिचकी बंध गई
मैं उससे क्या पूछता ?
वह मुझे क्या बताती ?
बेबस बेजुबान मैं उसके पास बैठ गया
मैंने कोई शिकायत नहीं की
मैंने उसे बुरा नहीं कहा
उसकी आँखें बार बार जैसे मुझे कह रही थीं
"तू मुझे कोसता क्यों नहीं
फटकारता क्यों नहीं"
मैं गुमसुम अपलक उसे मछली की तरह
तड़पता देखता रहा
सारी रात वह फूट फूट कर रोती रही
रात भर मैं उसे हक्का-बक्का देखता रहा
यह कोई अंचल से गिरे बेर थोड़े थे
जिनका कुछ बिगड़ा न था
वह रात और आज का दिन,
फिर उसने कभी मेरी आँखों से आँखें नहीं मिलाईं,
एक घर में बसते
एक छत के नीचे
हम एक दूसरे से कोसों दूर हो गए
और फिर मैंने क्या क्या नहीं देखा ?
मेरे भीतर के पति ने क्या क्या नहीं सहन किया ?
मेरे भीतर के पिता ने क्या क्या नहीं बर्दाश्त किया ?
मेरे भीतर के पुरुष ने कैसे अपने आप को मार लिया ?
उसके नाखूनों की पालिश के रंग बदल गए
उसके ओठों की सुर्ख़ी की आभा और की और हो गई,
सारी उम्र संभाल संभाल कर रखे
अपने बालों को उसने कटवा दिया,
उस दिन जब मैंने पहली बार उसके कटे हुए बाल देखे,
सारी रात मैं सो नहीं पाया
किसी से किसी का बाग़ छिन जाए,
बाग़ छिन जाए और कोई फ़रयाद न करे,
और किसी बेल को याद करके कोई रोने लग पड़े
आख़िर मैंने अपने आपको समझा लिया
और जब मैं समझने लगा
तो मैंने किस किस बात के लिए
अपने आप को नहीं समझाया !
मेज़ पर बैठे यदि कोई छुरी मेरे हाथ में होती
मेरी उंगलियाँ ऐंठने लगतीं
मेरा अंग अंग कभी गर्म होता, कभी ठंडा होता,
मेरे होंठ लहू-लुहान होकर रह जाते,
कई अंधेरी रातों में
अकेला अपने कमरे में टहलता,
मेरे हाथ मेरी जेब में पड़े
सात गोलियों वाले रिवालवर को सहलाते रहते
सपनों में कई बार
मैंने अपने हाथों को लहू से लथपथ देखा
कई बार मैंने औरत की कमज़ोरी के बयान दिए,
कई बार मैं फांसी के तख़्ते पर लटका
बन्द कमरे की दीवारों से टक्करें मार मार

मैं कई बार फूट-फूट कर रोया
आँखें फाड़ फाड़ कर
मैं व्यर्थ
दूर गहरे आकाश में न्याय ढूंढता रहा,
ऊँची चोटियों पर कई बार चढ़ कर
मैंने सोचा मेरा पैर फिसल जाए,
कई बार मैंने कुँओं में झांका,
कहीं मुझे चक्कर आ जाए,
नदी की लहरों ने
बार बार मुझे किनारे पर फेंका
हर बार हंसती,
झाग छोड़ कर चली जातीं
मेरे बच्चे कई बार मेरी छाती के साथ आ आ लगे
मेरे अन्दर केवल पिता के स्नेह को पाकर,
बार बार अपनी मां को मेरी आंखों में खोजते रहे,
मेरे नौकर भाग भाग कर मेरे काम करते
और मुझे उनकी हर तेज़ी
एक गोली की तरह सीने में आकर लगती
पड़ौसी बातों बातों में
अगर मेरी पत्नी की बात करते
तो भी मुझे बुरा लगता,
अगर बात न करते
तो भी मुझे बुरा लगता,
और क्लब में, और गली में, और दफ़्तर में,
लोग कितनी कितनी बातें करते
मुझे उनकी हर अनसुनी बात
लाख बार सुनी प्रतीत होती,
कई बार लोगों को धोखा देते हुए
मैं अपने आप को धोखा देने लगता
मुझे अपनी आँखों पर सन्देह होने लगता
मुझे अपनी सूझ बूझ पर शक होने लगता
मुझे लगता जो कुछ मैं सुन रहा हूँ वह ठीक नहीं
शायद वही ठीक है जो कुछ मैं सुनना चाहता हूँ
(दूर स्टेशन से इंजन की सीटी का स्वर एक आवाज़ के बाद एक और सीटी की आवाज़)

पुरुष :

स्टेशन पर इंजन सीटी दे रहा है
चलने के लिए आतुर हो रहा है
कोई फ़रियाद उसे रोक नहीं सकती
कोई विनती उसे नहीं ठहरा सकती
नोच कर ले जाएगा, छीन कर ले जाएगा,
कोई बाहें आज लुट जाएगी
कोई आलिंगन आज टूट जाएँगे
(गाड़ी के चलने की ध्वनि जिसे सुन कर पुरुष हंसना शुरू कर देता है और हंसता ही जाता है)

पुरुष :

चली गई,
गाड़ी चली गई,
फुंकारती हुई, दहाड़ती हुई,
रौंदती हुई किसी के अरमानों को, गाड़ी चली गई,
दूर, बहुत दूर,
जहाँ से सन्देश आते हैं तो चबाए हुए
खत आते हैं तो जूठे किए हुए
जहाँ सीने तक को खोल कर तलाशी ली जाती है
दिल के हर कोने के भेद
लाख बार पढ़े जाते हैं, लाख बार जांचे जाते हैं
और फिर कहीं पास होते हैं
जहाँ हर इन्सान का मूल्य
या मार सकने की तुला पर तौला जाता है
या मर सकने के मापदण्ड से मापा जाता है
जहाँ से जो लौटते है
उनको प्रेम करने का ढंग फिर से सीखना पड़ता है
यहाँ से जो लौटते हैं
धीमे स्वर में उनसे बोला नहीं जाता,
जहाँ से जो लौटते हैं
मुस्कराहटें मुरझा चुकी होती हैं,
हँसी मर चुकी होती है उनके होठों पर,
झुलसे हुए चेहरे, पटी हुई आँखें,
झड़ी हुई उँगलियाँ,
टूटे हुए बाज़ू
कुचली हुई टाँगे
मुड़े हुए कन्धे,
झुकी हुई कमरें,
घायल छातियाँ,
गोलियाँ ठण्डी पड़ीं

सोई पर्दी, जिनके पट्टों में

(कोठी के बाहर मोटर आकर रुकती है)

पुरुष :

आ गई !
आज ऊँचे लम्बे हार्न नहीं बजाए गए
जिनको सुन कर नौकर भागे हुए जाते थे
कोठी का गेट खोलने के लिए,
खुद ही मोटर से निकल आई है,
अकेली
आज उसके संग मर्द नहीं कोई
जो उसके लिए मोटर चलाए
वह उतरे और उसके लिए बिछ जाए,
स्वयं अपने हाथों से गेट खोल रही है
अकेली ।
पीली जर्द
पीपल के सूखे पत्ते की तरह काँप रही है
अब इसे पता चलेगा
जो बालू की दीवार खड़ी करते हैं
सारी उम्र खाक छानते उनकी बीत जाती है
अब से पता चलेगा
कैसे दाँतों से खोली जाती है वे गाँठें
जिन्हें कोई खुद अपने हाथों से लगाता है,
अब इसे पता चलेगा
कैसे औरत अपने मर्द के साथ अन्याय करके
भटकती है इस दुनिया में
ख्वार होती है उस दुनिया में
अब जब कि वह अपने बच्चों के लिए पराई हो गई है ।
अब जब कि वह अपने पति के लिए वह मर चुकी है
अब जब कि वह चला गया है दूर बहुत दूर
जिसके लिए इसने सबको छोड़ा
अब यह रोया करेगी
रात भर तारों को गिन गिन कर
अब यह सिसकियाँ भरा करेगी
अधखिली कलियों को देख देख कर
जिन्हें तोड़-तोड़ कर कोई इसके बालों में सजाया करता था
अब खाने को दौड़ेगा
इसको इसका सूना पड़ौस
पड़ौस जिसके आँगन में चीथड़े बिखरे पड़े हैं,
कागज उड़ रहे हैं,
हवा खिड़कियों की कभी खोल जाती है
कभी बन्द कर जाती है

(मोटर फिर चलती है और कोठी में आती है)

पुरुष :

ऐं !
आज तो मोटर को खुद गैराज में रखने जा रहा है।
गैराज के बाहर मोटर को रोक कर
गैराज का दरवाज़ा खोल रही है,
फिर मोटर में बैठ गई है
मोटर गैराज के अन्दर ले गई है,
अब गैराज के भारी दरवाज़े अपनी सारी शक्ति लगा
कर बन्द कर रही है
और अब आ रही है इधर,
कैसे सूख कर काँटा हो गई है,
जैसे शरीर में बूँद भर खून नहीं ।
फटी फटी आँखें !
बिखरे हुए बाल !
वीरान माथा !
हल्दी की तरह पीले गाल !
सूखे नीले होंठ !
गिन गिन कर क़दम रख रही है,
चिन्ताओं में डूबी हुई,
विचारों में खोई हुई,
काँपते हाथ !
डगमगाते पाँव !
यह तो नहीं बचेगी ।

(एकदम घबरा कर)

ऐं, गिरी !
बच गई।
पत्थर के टुकड़े से ठोकर खाकर
कैसे अंधी हो गई थी !
यह तो नहीं बचेगी ।
मेरे बच्चों की माँ मर जाएगी !
मर जाएगी ?
राजी मर जाएगी ?
यह तो वियोग की चोट नहीं सह सकेगी !
राजी, तूने प्यार किया

तो कैसे सारी की सारी न्योछावर हो गई !
तेरा प्रियतम चला गया
तू उसे इतना चाहती थी !
और अब तू अकेली है
तू अब नहीं बचेगी ?
तू मर जाएगी, राजी, ?
सिसकती हुई तड़पती हुई ?
नहीं
नहीं
तुझे साथी की जरूरत है
तुझे हमदर्द की जरूरत है
तुझे हमराज की जरुत है
मैं तुझे नहीं मरने दूँगा
मैं तुझे मरने नहीं दूँगा
यह घर तेरे लिए खुला है
यह बाहें तेरे लिए खुली है
यह फूल तेरे लिए है
(फूलों को फूलदान से निकालते हुए)
तू आज राजी
पन्द्रह साल से तेरे साथ एक छत के नीचे रहा
पन्द्रह साल की यह सांझ
मुझ से बढ़ कर तेरा हमदर्द कौन हो सकता है
मुझ से बढ़ कर तेरा हमदर्द कौन हो सकता है ?
मुझ से बढ़ कर तेरा हमराज कौन हो सकता है ?
(सीढ़ियों पर स्त्री के चढ़ने की आवाज़)

पुरुष :
तू सीढ़ियाँ चढ़ रही
तू आ जा
तू ऊपर आ रही है
तू आ जा
मुहब्बत की एक और मंजिल भी होती है
तू आ जा
तू चढ़ आ
यह फूल तेरा हैं
ओस के अछूते मोती तेरे है
तारों की धीमी धीमी लौ तेरी है
तू आ जा
तू चढ़ आ
(सीढ़ियों पर पदचाप)
सर्प जैसी अपनी काया के
तू ने सब झरोखे बन्द कर लिये हैं
कोई बात नहीं
मैं तो खंडहर में भी जोत जगा सकता हूँ
कमल की पत्ती पर पड़ी कोई कीचड की छींट
मैं तुझे लाख पानियों में धो लूंगा
तू आ जा
तू चढ़ आ
तू आ जा
(सीढ़ियों पर स्त्री ऊपर आने की पदचाप सुना
देरही है कि पर्दा गिरता है)

आकाशवाणी,
हैदराबाद

—कर्तारसिंह 'दुग्गल'

सच्चा सुख : साधारणतम वस्तुओं में

वास्तविक सुख जीवन की अत्यन्त सामान्य वस्तुओं में है । सुख उन वस्तुओं में कभी नहीं होता जो कि कुछ थोड़े-से लोगों की सम्पत्ति होती हैं। सुख अपरिमित धन, अप्रतिम विद्या, अनुपम प्रतिभा और अप्रतिहत शक्ति में नहीं है । सच्चा सुख है स्वास्थ्य, मित्रता, घर का प्रेम, बच्चों की किलकारी और सूर्य का प्रकाश । सच्चा सुख अत्यन्त साधारण वस्तुओं में है, विशिष्ट वस्तुओं में नहीं । सुख उन उपहारों में है जिन्हें भगवान् ने सर्वत्र बखेर रक्खा है ।

—'मार्टिन रिब्यू'

हमारे देश की शिक्षा की समस्याएँ[†]

सन् १९३९-४७ के लगभग, जब कि मैं राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्य को कर रहा था, मैंने हैदराबाद आने का प्रयास किया मगर राज्य के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सर अकबर हैदरी ने मुझ से एक पत्र लिख कर विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आप अपनी संभावित हैदराबाद यात्रा को स्थगित कर दीजिए। उस समय मैं बम्बई जा रहा था कि डोर्नकल नामक स्थान पर बड़ी शिष्टता के साथ गिरफ़्तार कर लिया गया क्योंकि मैंने एक पुलिस अधिकारी के आदेश को मानने से अस्वीकार कर दिया था और अपना बम्बई जाने का कार्यक्रम पूर्ववत् रक्खा था। वास्तव में बात यह थी कि बम्बई के लिए मेरी रेलयात्रा निज़ाम राज्य में से होती थी।

हैदराबाद के प्रधान मन्त्री महोदय सम्भवतः इस बात को क़तई अनुभव नहीं कर पा रहे थे कि बम्बई की यात्रा भूमि या आकाश—कहीं से हो, मार्ग में हैदराबाद तो अवश्य ही पड़ेगा। कुछ वैधानिक निर्बलताओं के कारण पुलिस अधिकारी ने मुझे छोड़ दिया और मैं अपनी यात्रा पर पूर्ववत् चल दिया।

मुझे स्मरण है, मेरे नाम अपने पहले पत्र में सर अकबर हैदरी ने भाग्यवश समय में मुझे हैदराबाद आने का आमन्त्रण दिया था और आज (मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ) अन्ततः वह समय आ ही गया। आज मैं इस महान् नगर को देख रहा हूँ और इधर विश्वविद्यालयीन क्षेत्रों में सज्जित विद्वन्मण्डली भी मेरा ध्यान हठात् ही आकर्षित कर रही है। एक प्रकार से यह तो एक परम्परा मात्र है कि किसी भी बड़े आदमी को यहाँ आमन्त्रित किया जाता है और उससे उस वर्ष के स्नातकों के समक्ष कुछ सन्देशवाहक शब्द कहलाए जाते हैं।

मुझे यह बात गहराई से महसूस हो रही है कि इन स्नातकों के वैचारिक दृष्टिकोणों और जीवन के धरातल की समस्याएँ मूलगत हैं और उन्हें स्थिर कराने में मुझे स्नातकों का सहायक होना चाहिए। पर आज की संध्या में तो मुझे जो कुछ करना है, वह है कि मैं औपचारिक रूप से स्नातकों के सुशिक्षित होने की घोषणा करूँ। आजकल की ये शिक्षाएँ व्यक्ति की श्रेष्ठता पर एक अतिरिक्त आवरण-सी प्रतीत होती हैं।

मैं बुद्धिमत्ता के इस तथाकथित व्यवसाय के लिए कुछ भी न कहना चाहूँगा। हम इंगलैण्ड पर दृष्टिपात करें तो वहाँ के ९३ प्रतिशत नवयुवक उद्योग-व्यवसाय में लगते हैं या दुकानदारी में लग जाते हैं। हमारे देश का दृष्टि-विधान इससे बहुत भिन्न है। हमारा देश कृषि प्रधान है। यहाँ के सत्तर प्रतिशत निवासी कृषि करते हैं। और यहाँ की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है। अधिकांशतः यहाँ का प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकतावश अन्न उत्पन्न करने का उद्योग करता है। मगर इंग्लैण्ड में लोगों का कुल एक तिहाई भाग अपने वर्ष की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा रहता है—भोजन में सब्ज़ी और फल भी सम्मिलित हैं। अन्यथा वहाँ के लोग विभिन्न व्यवसायों और उत्पादनों में व्यस्त रहते हैं। वास्तव में वहाँ और यहाँ की सभ्यता और संस्कृति के समस्यागत दृष्टिकोणों में भी गहरा पार्थक्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। सम्भव है, यहाँ के नव-शिक्षितों पर कुछ प्रभाव आज की आधुनिक सभ्यता का भी परिलक्षित होता हो, मगर केवल बाह्य रूप में। कोई भी बाह्य प्रभाव संस्कार-परक नहीं हो सकता और ऐसा न होना किसी भी स्थिति में वांछनीय ही है। संस्कार व्यक्तित्व के निजत्व से ओतप्रोत होते हैं। संस्कृति में भी निजत्व की भावनाएँ अपरिहार्य रूप में अनुप्राणित होती हैं—और सभ्यता—संस्कार एवं संस्कृति दोनों का प्रतिबिम्ब है। कहने का वास्तविक अभिप्राय अपने देश के संबन्ध में एक ऐतिहासिक और मूलगत विवेचन है।

हमारी मुख्य आवश्यकता है, अपने देश भारत के मूलगत स्रोत प्रवृत्ति, अपेक्षा—और उनके प्रकृतिपरक

[†] विगत दिसम्बर २४ '५५ को मध्य-प्रदेश के राज्यपाल डा० पट्टाभि सीतारामैया द्वारा उस्मानिया विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में किये गये अभिभाषण का कुछ अंश।

समाधान के सम्बन्ध में अधिक गम्भीरता और वास्तविकता से हम न केवल विचार करें अपितु जो सहज है, भारत की प्रकृति के अनुरूप है, उसके ग्रहण और उन्नयन में हम सब रचनात्मक निष्ठा लेकर अग्रसर भी हों। संसार में देश विभिन्न हैं, संस्कृति भी विभिन्न हैं, उनकी भौतिक आवश्यकताएँ भी विभिन्न हैं; आज के संसार से अनभिज्ञता अथवा अवास्तविकता का वातावरण उत्तरोत्तर उठता जा रहा है; जो वास्तविक तथ्य है, सत्य है, वह आज बहुत अधिक प्रत्यक्ष हो गया है। इंग्लैण्ड की वास्तविक स्थिति आखिर क्या है; यद्यपि आज भी वह संसार के उच्च राष्ट्रों की पंक्ति में गिना जाता है और इसमें भी सन्देह नहीं कि वहाँ के निवासियों में उत्साह, उद्योग और श्रम के लिए दिलचस्पी भी बहुत अधिक है; पर मूल बात तो यह है कि आज का इंग्लैण्ड परावलम्बी है, उस पर अभावों की विभीषिका छाई हुई है। हम सैन्य और शक्ति की बात को पृथक् रख कर भी विचार करें तो इंग्लैण्ड अनेक दृष्टियों से प्रायः दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर है। यहाँ तक कि आज वहाँ एक बड़े परिमाण में वस्त्रों का भारत से आयात होता है; जब कि वह सन् १९२९ में ९६ करोड़ मूल्य का वस्त्र और ९ करोड़ मूल्य का सूत भारत को निर्यात कर चुका है। लगभग सन् १८०३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने हमारे खादी वस्त्रोद्योग—हाथ से कते-बुने कपड़े—को हथियाया। उसने भारत में विदेशी मिलों के वस्त्रों का निर्यात सर्व प्रथम १८०९ ई. में किया था; जब कुल तीन लाख रुपए मूल्य का कपड़ा भारत में आया; पर सन् १८२९ ई. में यही कपड़ा २९ लाख रुपए मूल्य का निर्यात हुआ और सन् १९२९ में मिल में निर्मित होने वाले कपड़े की भारत में खपत ७२ करोड़ रुपए मूल्य तक पहुँच गई। सचमुच यह स्थिति हमारे देश के लिए असामान्य थी। इसका भारत के सामान्य जनजीवन पर अप्रतिहत प्रभाव पड़ा क्योंकि देश के प्रायः सभी उद्योगों का द्रुत गति से मशीनीकरण होता गया। भारत के ग्राम-ग्राम में व्याप्त कुटीरोद्योग समाप्ति के लिए बाध्य कर दिए गए। इसका देश भर पर व्यापक परिणाम आज भी प्रत्यक्ष है। आज भारत में अन्न और कार्य की स्थिति जितने उग्र और विषम रूप में हमारे सामने हैं, पहले शायद ही कभी वह किसी की कल्पना में भी आई हो। हमारे सामने चारों ओर ज्वलन्त समस्याएँ बिखरी हुई हैं। यहाँ तक कि हम अन्न की ओर से भी आत्मनिर्भर नहीं रहे और उसका आयात भी हमें विदेशों से करना पड़ रहा है। भारत के ग्राम्य जीवन में जो स्थिरता, आश्वस्तता और निजता दृष्टिगोचर होती है; उसमें हम आधारभूत राष्ट्रीयता के दर्शन पा सकते हैं और हमारी आज की सभी समस्याओं का एकमेव व्यापक समाधान इसी में है कि राष्ट्र की मूलभूत प्रवृत्तियों को अपनाया जाए।

भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति भी अद्भुत थी। यद्यपि जब आज के जैसे मुद्रण आदि साधन सुलभ नहीं थे; लेकिन उस काल में शिक्षा ग्रहण करनेवाले लोग मेधावी और बहुज्ञानी थे। उस काल के लोगों की स्मरण शक्ति विलक्षण थी। गणित, दर्शन, काव्य आदि विषयों का जितना सुन्दर और सौष्ठवशाली प्रणयन संस्कृत-साहित्य में हुआ है; वह आज भी सर्वत्र अलभ्य है। उस काल का ज्ञान मूलतः अन्तर्मुखी था। उस काल की शिक्षा का दृष्टिकोण उदात्त ही नहीं था; उसका अभिप्रेत व्यक्तिमन के आन्तरिक संस्कारों को झंकृत करना ही अधिक था—तब की शिक्षा में (आज की भाँति) बाह्य विडम्बनाएँ, लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दृष्टिकोण, व्यावसायिक मनोवृत्तियों की कल्पना तक नहीं थी। उस काल में शिक्षक का व्यवसाय पवित्र और महान था और शिक्षक की मनोभावनाएँ उच्चादर्शों से अनुप्राणित थीं। पर समय बदला। उसके साथ हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति लगभग लुप्त-सी हो गई।

भारत की स्थापत्य कला के प्रतीकों के रूप में मंदिर, मस्जिद, मीनारें, गुफ़ाएँ आदि वस्तुएँ आधुनिक काल के बड़े-बड़े स्थापत्य कला-विशेषज्ञों को विस्मित और मुग्ध कर देती हैं। दक्षिण से उत्तर तक यदि हम एक विहंगावलोकन करें तो हमें महान् आश्चर्य होगा। सुदूर दक्षिण में कन्याकुमारी का मन्दिर सागर की अमूर्त्त कल्पनाओं को मुखर करता-सा लगेगा। सन्निकट ही सूचीन्द्रम् का विशाल और भव्य मन्दिर भी अपनी विलक्षणताओं से हमें हठात् ही आकर्षित कर लेगा। भावनाओं और सौन्दर्य की अप्रतिम और महान् शिल्प-शृंखलाएँ कन्याकुमारी, सूचीन्द्रम, त्रिवेन्द्रम् का पद्मनाभ मन्दिर और उसका कुलशेखर मंडप, कावेरी के एक ओर श्रीरंगम् तो दूसरी ओर त्रिचनापल्ली, फिर मदुरा में मीनाक्षी, वहाँ स्थापित मदुरा मीनाक्षी, कांची कामाक्षी और काशी विशालाक्षी नामक

तीन देवियों की चिर भव्य प्रतिभाएँ, (मदुरा का मीनाक्षी-मन्दिर भारत में ही नहीं, सम्भवतः विश्व में भी सबसे महान् मन्दिर है), तंजौर का बृहदेश्वर, चिदम्बरम् और उसमें स्थापित भगवान् नटराज (शिव के ताण्डव नृत्य की मुद्रा), महाबलीपुरम्, कांजीवरम्, मैसूर में बेलूर, हम्पी के वैभवशाली भग्नावशेष, श्रीरंगपट्टम् में रंगनादस्वामी का मन्दिर, टीपू और हैदर के स्मारक-स्तम्भ, श्रवण बेलगोला की जैन प्रतिमाएँ, लेपाक्षी का मन्दिर, पेनू कोण्डा, अनन्तपुर, सिम्मद्री नरसिम्मा का मन्दिर रायलसीमा में अहोबीलम् मंदिर, हैदराबाद में चारमीनार, विश्वविख्यात अजन्ता, एलौरा की गुफ़ाएँ, बीजापुर की तोप, अहमदाबाद की मस्जिद, आगरे में सौन्दर्य का देदीप्यमान रूप ताज, फतेहपुर सीकरी, अकबर का लाल क़िला, दिल्ली का लाल क़िला, कुतुबमीनार, राजा जयसिंह द्वारा निर्मित जन्तर-मन्तर, लौहस्तम्भ, हुमायूँ का मकबरा, जुम्मा मस्जिद, मध्यभारत में माण्डू का दुर्ग, सांची का बौद्ध स्तूप, काशी में सारनाथ का भग्न स्तूप, (इस स्तूप में प्राप्य चार सिंहों का चित्र भारत की राजकीय मुद्रा में अङ्कित हैं) भेलसा में उदयगिरि की गुफ़ाएँ, गया जी में बुद्ध मंदिर, उड़ीसा में कोणार्क और पुरी के मंदिर, भुवनेश्वर के मंदिर, विन्ध्य प्रदेश में खजुराहो के मंदिर और देश के कोने-कोने में प्राप्त विभिन्न वस्तुएँ राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्कर्ष और गौरव के आज भी महान् प्रतीक हैं! साथ ही राष्ट्र की सृजनात्मक प्रवृत्तियों का मूक आह्वान भी करती हैं।

इंजीनियरिंग के छात्रों को अनवरत श्रम और गवेषणा करते रहने की परमावश्यकता है। उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर प्रवृत्त होना चाहिए : भवन निर्माण की प्राचीन पद्धति भी अब बहुत पीछे छूट गई है, ग्राह्य आधुनिकताएँ हमारे लिए एक बड़ा सामयिक महत्व रखती हैं। नागरिक, मशीनी, विद्युत्-सम्बन्धी आदि आधुनिक इंजीनियरिंग का परिज्ञान हमारे छात्रों और राष्ट्र के समुन्नत पुनरुत्थान के लिए नितान्त आवश्यक है।

भारत की तत्काल आवश्यकता तो इंजीनियरिंग के अध्यवसाय की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होने की है। देश को लगभग पाँच हज़ार इंजीनियरों की तो तत्काल आवश्यकता है। भवन आदि निर्माण की प्राचीन पद्धति न समय के अनुसार दिखती है और परिवर्तित वातावरण और व्यक्ति की मनःस्थिति की दृष्टिकोण से उतनी सुविधाजन्य भी प्रतीत नहीं होती। इंजीनियरों का महत्व न केवल अभी ही है; वह तो भविष्य में भी सदा रहेगा। हमारे देश में इंजीनियरों का आज तो बड़ा अभाव है। और उस अभाव की पूर्ति एक दिन में कदापि सम्भव नहीं है। इंजीनियरिंग के छात्रों को राष्ट्र के मूलगत विषयों के लिए अपने अध्यवसाय को लगाना चाहिए। उन्हें चर्खा, मार्ग निर्माण, पुल, जलघर, जलद्र प्रदाय, तट आदि आदि राष्ट्रव्यापी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए। एक बात और। उनमें अर्थ और व्यवसाय की मनोवृत्ति कुछ अंशों में ही हो, निर्माण के लिए शुद्ध निष्ठा और सेवा की भावना समग्रतः हो। उन्हें देश में चारों ओर भ्रमण करके उसकी वास्तविक आवश्यकताओं को स्वयं ही टटोलना चाहिए और जन सामान्य के अभाव और कष्टों के निवारण में उपयोगी अपने को सिद्ध करना चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध में हमारा एक निर्दिष्ट महान् ध्येय है—राष्ट्र की ९६ प्रतिशत जनसंख्या को प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च-शिक्षा के लिए नियोजित करना। ध्येय की पूर्ति के उपरान्त का दृश्य कितना परिवर्तित होगा। उस समय कितने ही छात्र (स्नातक) लेखक, मुद्रक, प्रकाशक होंगे और उस समय की जनता भी शत-प्रतिशत शिक्षित और सुसंस्कृत होगी। यह निर्दिष्ट लक्ष्य स्वयं हमें आह्वान के रूप में स्वीकार करना है। प्रत्येक छात्र स्नातक होने तक १०० व्यक्तियों को शिक्षित करने का संकल्प करे तो भारत की एक बड़ी समस्या स्वतः हल हो जाती है। और यदि यही आवश्यक हो कि इस ओर कुछ व्यवस्था नियम-रूप में स्वीकार की जाए तो विश्वविद्यालयों को यह अनिवार्य कर देना चाहिए कि उपाधि लेने से पूर्व प्रत्येक स्नातक १०० व्यक्तियों को शिक्षित करे।

नागरिक जीवन में प्रारम्भिक उत्तरदायित्व की भावना की आवश्यकता छात्रों के लिए तो बहुत अधिक है। यह प्रकट तथ्य है कि मनुष्य किसी भी स्थिति में क्यों न हो, यदि वह उत्तरदायित्व की भावना को गम्भीरता से अनुभव करता हुआ अपना कार्य करे तो वह आप से आप उच्चता की ओर अग्रसर होता है।

आज का समय शीघ्रतापूर्वक परिवर्तनशील है। हम सब भी इस बात के लिए कृत संकल्प हैं कि राष्ट्र में

अध्ययन को पुनः गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाए। आज की सामाजिक आवश्यकताओं, धारणाओं और परिस्थितियों में गहरा परिवर्तन हो गया है। प्राचीन काल की संयुक्त परिवार पद्धति, जिसकी उपयोगिता समाज के लिए बहुत थी और जो सहकारिता समाज के रूप में और श्रमिक संगठन के रूप में थी, आज अस्त-व्यस्त हो चुकी है। अब व्यक्ति की; सामाजिक वृत्तियाँ स्वार्थपरक हो गई हैं। इसके अतिरिक्त समाज में बड़े अप्रत्याशित परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं। एक समय जो वस्तु पुरुष के लिए समझी जाती थी, उसमें महिलाओं का प्रवेश हो गया है। विवाह सामाजिक रूप में एक वैधानिक वस्तु है, किन्तु अभी अविवाहित माताओं के लिए कहीं कोई स्थान समाज में नहीं है। यह स्थिति समाज के लिए अन्ततः वाञ्छनीय और श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हो सकती। निःसन्देह ऐसी माताएँ और उनके बच्चे समाज की अधिक से अधिक सहानुभूति के पात्र हैं और एक दिन समाज को उन्हें भी समुचित स्थान देना ही पड़ेगा।

हमारा वास्तविक लक्ष्य लोक-राज्य में केन्द्रित होना चाहिए। एक अर्थ में लोकराज्य लोकतन्त्र से भी उदात्त और ऊँचा है। लोकतन्त्र अधिक परिमाण में अधिक हितों की पूर्ति करता है; जब कि लोकराज्य सबके हितों की पूर्ति करता है और यही लोकराज्य 'सर्वोदय' हैं। सर्वोदय ग्राम से आरम्भ होता है। ग्राम उसका केन्द्र होता है। इसका अर्थ है ग्रामों के स्तर को ऊँचा उठाना। लोकराज्य प्रशासकीय चेष्टाओं या विधानों से नहीं; जन सामान्य की शान्तिपूर्ण क्रान्ति से ही संभव है।

जातिगत उपनामों की तीव्र भर्त्सना की जानी चाहिए। जातिगत उपनामों के उपयोग का बहिष्कार होना चाहिए। यदि स्वेच्छया ऐसा न हो तो वैधानिक स्तर पर जातिगत उपाधियों अथवा उपनामों का प्रयोग बन्द किया जाना चाहिए। ऐसा करने से राष्ट्र की रूढ़ि ग्रस्त जातीय भावनाओं पर ज़बर्दस्त कुठाराघात होगा। राम स्वामी, अय्यर या आयंगर, मुदालियर, पिल्ले नायडू, या नैयर, चेट्टी, चौधरी, शर्मा, वर्मा आदि—ये सब शब्द वर्ण व्यवस्था के प्रतीक हैं। मालाबार में राम, मेनन, नायर, नम्बियार, पिल्ले होते हैं। उत्तर में कलाल, साहू, शोरी, जायसवाल, रईस, गलहारे, म्हौरी आदि लोग मादक वस्तुओं के विक्रेता होते हैं। कायस्थों में श्रीवास्तव, सिन्हा, भटनागर, सक्सेना, माथुर, निगम, कुलश्रेष्ठ आदि होते हैं। वैश्यों में अग्रवाल, माहेश्वरी, गुप्त, गर्ग, गोयल, मित्तल, जिन्दाल, बंसल, तथा ठोयण होते हैं। क्षत्रियों को क्षत्रपाल, चोपड़ा, चावला, मल्होत्रा या निल्ला कहते हैं।

राष्ट्रीय एकता, उन्नति और एकसूत्री सांस्कृतिक चेतना के लिए हिन्दी के अध्ययन का अपरिहार्य महत्व है। आपकी क्षेत्रीय भाषा अथवा मातृभाषा भले ही कुछ हो, किन्तु समय का भी यही आह्वान है कि आपमें से प्रत्येक भारतवासी को हिन्दी का अध्ययन पूरी अभिरुचि और आस्था के साथ करना चाहिए। प्रशासकीय स्तर की स्थिति कुछ ऐसी बनती जा रही है कि हिन्दी की आवश्यकता हमारे सब के सामने प्रत्यक्ष है। प्रशासकीय प्रतियोगिता परीक्षाओं में भी हिन्दी को स्थान प्राप्त हो रहा है। राष्ट्रपति के अध्यादेश द्वारा भी यह निर्देश किया गया है कि प्रशासकीय कार्यों के लिए हिन्दी ही व्यवहृत होगी। इस अध्यादेश के अनुसार पत्रव्यवहार, प्रशासकीय विज्ञप्तियाँ, सरकारी पत्र, संसद् की सूचनाएँ, प्रस्ताव आदि, विधान सभा के विधि-नियम, राज्यों से सम्बद्ध पत्रव्यवहार, संधियाँ, विदेशी राजदूतों, पदाधिकारियों और कार्यालयों, अन्तर्राष्ट्रीय पत्र व्यवहार आदि प्रायः सभी कार्यों में हिन्दी का व्यवहार होना आवश्यक है। हिन्दी की उपयोगिता न केवल राष्ट्रहित को लक्ष्य करती है, उससे भारत की सांस्कृतिक श्रृंखलाओं में एकसूत्रता भी स्थापित होती है।

राज्यपाल, मध्यप्रदेश,
नागपुर

—डा. बी. पट्टाभि सीतारामय्या

प्रसिद्धि ग्रीष्म ऋतु के उस फूल के समान है......जो कि खिलता है और घण्टे भर में ही भूमि पर बिखर जाता है।

—दान्ते

भारतीय पत्रकारिता के निर्माता

बालशास्त्री जाम्भेकर और भाऊ महाजन

(४)

भारतीय पत्रकारिता का प्रारम्भ यद्यपि अंग्रेज़ों ने ही यहाँ किया, तथापि भारतीयों द्वारा संचालित तथा सम्पादित पत्र भी शीघ्र ही प्रकाशित होने लगे और अंग्रेज़ी के पत्रों के ३०-३५ वर्ष बाद भारतीय भाषाओं में पहला पत्र प्रकाशित करने का सम्मान बंगाल ने पाया। बंगाल प्रान्त में प्रकाशित पत्रों के कोई तीन या चार वर्ष बाद ही गुजराती पत्रकारिता भी प्रारम्भ हो गई और उसने भारतीय पत्रकारिता के मस्तक को उन्नत किया। इस बीच यद्यपि उर्दू पत्रकारिता बहुत बढ़ने लगी थी और उस समय के विद्वान् हिन्दू भी उर्दू में ही अपना पत्र व्यवहार किया करते थे, फिर भी पत्रकारिता की दृष्टि से उन्होंने कोई ठोस काम नहीं किया। उर्दू ने अगर कुछ किया हो, तो इतना ही कि उसने हिन्दी पत्रकारिता के मार्ग में कठिन से कठिन रोड़े अटकाए और हिन्दी पत्रकारिता के विकास के मूल्य पर अपना प्रचार और प्रसार करा लिया। इसीलिए हम देखते हैं कि गुजराती पत्रों के प्रारम्भ के बाद लगभग १०-१५ वर्ष तक भारतीय पत्रों के प्रकाशन में एक गैप सा पड़ गया था जिसे मराठी भाषा ने समाप्त किया। पहले गुजराती पत्र के १४ वर्ष बाद मराठी का पहला पत्र 'दर्पण' प्रकाशित हुआ।

मराठी के पहले पत्रकार और प्रथम पत्र के सम्पादक थे श्री बाळशास्त्री जाम्भेकर। 'दर्पण' इन्होंने ही निकाला। 'दर्पण' का प्रथम अंक ६ जनवरी १८३२ को प्रकाशित हुआ। श्री जाम्भेकर जी अंग्रेज़ी के प्रकाण्ड पंडित थे। आयु के १६ वें वर्ष में ही उन्हें सरकारी कालेज में मराठी का प्राध्यापक होने का सम्मान प्राप्त हुआ था। इसके अलावा वे लगभग नौ भाषाएँ जानते थे और उन सभी में लिखा भी करते थे। यह गौरव की बात है कि मराठी पत्रकारिता के निर्माता इतने प्रकाण्ड पण्डित और जाने-माने हुए शिक्षाशास्त्री थे। पत्रकारिता की लगन से पत्र को प्रकाशित करने वाला सम्पादक और किसी विषय का प्रकाण्ड पण्डित सम्पादक इतने पत्रों में जो आवश्यम्भावी फ़र्क दिखाई देता है, वही फ़र्क मराठी के प्रथम पत्र और अन्य भाषा के प्रथम पत्रों में दिखाई दिया। श्री बालशास्त्री जाम्भेकर एक शिक्षाशास्त्री थे और छात्रोपयोगी अनेक पुस्तकों के लेखक भी। पत्रकारिता के साथ ही उन्होंने मराठी भाषा और साहित्य की जो महान् सेवाएँ कीं, उनसे उनका नाम तो चिरकीर्ति पा ही सका, किन्तु उनकी उस लगन और अध्यवसाय के कारण हमारी राय में तो माँ भारती का और उसी के साथ भारतीय पत्रकारिता का भी भण्डार विभूषित और मालामाल हुआ।

श्री जाम्भेकर जी की यही विशेषता थी, कि उन्होंने अपनी विद्वत्ता और ज्ञान का उपयोग समाज के लिए किया। अपनी ज्ञानसंपदा उन्होंने अपने अज्ञानी बंधुओं के लिए खर्च की। शिक्षा प्रसार के कार्य में आजीवन अपनी तनु को चन्दन के समान घिस कर, अध्ययन के साथ अध्यापन भी करते हुए, विभिन्न विषयों पर ग्रन्थ लिख कर उन्होंने पश्चिमी ज्ञानभण्डार को मातृभाषा में उतारने की कोशिश की। हर संभव उपाय से जनता में ज्ञान का प्रसार करने की तीव्र लगन से उन्होंने कार्य किया।

मराठी के प्रथम पत्रकार ने प्रत्यक्ष कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं छेड़ा। किन्तु उनका कार्य इसलिए अधिक महत्व का है, क्योंकि उन्होंने संघर्ष के लिए आवश्यक ज्ञान का प्रसार किया। ज्ञान के प्रसार के कारण जनता विचारवान् बनेगी, उसमें जागृति फैलेगी, वह अपने दोषों से परिचित हो जाएगी और उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील होकर, अन्ततः जीर्ण रूढ़ियों को त्याग कर अपनी उन्नति के लिए स्वयं कटिबद्ध हो सकेगी, इसी धारणा से श्री जाम्भेकर जी ने कार्य किया। प्रत्यक्ष में कोई आन्दोलन छेड़ने से पूर्व उस आन्दोलन के

लिए जनता में एक वैचारिक क्रान्ति आवश्यक होती है। इस चिर सत्य सिद्धान्त के प्रकाश में जब हम श्री जाम्भेकर जी के प्रयासों को देखते और तौलते हैं, तो निस्सन्देह ही उस महान् समाज सुधारक और मराठी के प्रथम पत्रकार की महानता के सामने हमारा हृदय नतमस्तक हो जाता है। श्री जाम्भेकर जी के बारे में इतना सब कुछ लिखने का कारण यह है कि ज्ञानप्रसार की यह पिपासा, यह लगन ही उनकी पत्रकारिता थी।

यद्यपि ज्ञानप्रसार के उद्देश्य से ही 'दर्पण' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था, फिर भी उसमें आने वाले विषयों का चयन इस प्रकार से रहता था कि पाठक का ज्ञान तो बढ़ता ही, साथ ही साथ अपने सामाजिक उत्थान के लिए प्रयास करने की भावना भी पैदा हो जाती थी। इसी लिए मराठी के इस पत्र के लिए कोई भी विषय वर्जित नहीं था। भारतीय लोगों को विश्वास में लेकर, उन्हें सरकारी नौकरियों में भरती करने का समर्थन करनेवाले लेख भी उसमें निकलते, तो कभी जातिभेद की विस्तारपूर्वक चर्चा भी उसमें रहती थी। राजा राममोहन राय के कार्य, परिचय, हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में लेख और पत्र व्यवहार, नागरी और न्याय विभागीय अधिकारियों की नियुक्तियों की सूचनाएँ, नारी-शिक्षा, विधवाविवाह, काव्य, वाष्पयन्त्र, पुच्छलतारा, ग्रहनक्षत्र, सुप्रीम कोर्ट के निर्णय आदि अनेक विषयों पर लिखे विवेचनात्मक लेख 'दर्पण' में प्रकाशित होते थे। पूना की एक सरकारी कचहरी में गबन और गोलमाल का समाचार ज्ञात होने पर उस विषय पर सम्पादकीय लेख भी लिखा गया था। 'दर्पण' में आज से लगभग १२५ वर्ष पूर्व प्रकाशित लेखों के विषयों की उपर्युक्त परिधि से हम भलीभाँति अनुमान लगा सकते हैं कि श्री जाम्भेकर जी ने कितनी अनोखी सूझबूझ से काम लिया होगा, क्योंकि आज अपने आपको "सर्वाधिक प्रसार वाला पत्र" घोषित करने वाले कई पत्रों में भी विषयों की इतनी विविधता नहीं पाई जाती।

किन्तु विषयों की विविधता प्रस्तुत करने मात्र से ही कोई अच्छा पत्रकार नहीं कहला सकता। श्रेष्ठ पत्रकारिता के लिए जो अन्य बातें आवश्यक थीं, और आज भी हैं, वे भी श्री जाम्भेकर जी में प्रचुर मात्रा में थीं। उन्होंने 'दर्पण' का स्तर कभी गिरने नहीं दिया। विषय का प्रतिपादन भी उन्होंने अत्यन्त सन्तुलित ढंग से किया। सब क़िस्म के मत रखनेवालों को 'दर्पण' के स्तम्भों में समान रूप से स्थान मिलता था। निष्पक्षतापूर्वक समाज को ज्ञान का दान देकर उसे सुविचारी बनाने का कार्य 'दर्पण' ने कभी शिथिल नहीं होने दिया। उसके प्रकाशन के पहले ही वर्ष में उसमें प्रारम्भ 'जाति' शीर्षक विवाद में, सम्पादक ने किसी का भी पक्ष न लेते हुए एकदम निष्पक्ष भूमिका अपनाई थी और 'दर्पण' की इसी निष्पक्षता से प्रभावित होकर डाक्टर विलसन जैसे विद्वान् ने विचार की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देने के लिए सम्पादक को हार्दिक बधाई दी थी।

इस प्रकार मराठी का पहला पत्र इतना ऊँचा दृष्टिकोण लिए हुए था और वह इतना श्रेष्ठ स्तर पर निकला यह बात, जहाँ उसके सम्पादक श्री जाम्भेकर जी के लिए गौरव का विषय है, वहाँ उसके कारण भारतीय पत्रकारिता का भी मस्तक ऊँचा हुआ है। बंगाली के समान मराठी का भी प्रथम पत्र उदरभरण के लिए नहीं निकाला गया था, यह बात भी भारतीय पत्रकारिता के उस ज़माने में हमारे लिए महान् मार्ग दर्शक सिद्ध हो सकती है, जब कि पत्रकारिता के इस आदर्श का अनुगामी पत्रकार रोटी और मकान की रट लगा रहा हो। इस दृष्टि से मराठी पत्रकारिता के लिए यह अतीव गर्व की बात है कि उसका पहला पत्रकार पेटभरू मनोवृत्ति से संसार में नहीं आया। ज्ञान प्रसार के उदात्त हेतु से मराठी के पहले पत्र का जन्म हुआ है और यह भी कम हर्ष और अभिमान की बात नहीं, कि जिस महान् उद्देश्य को लेकर मराठी का पहला पत्र और उसका पत्रकार चला, उस उद्देश्य पर वे दोनों अन्त तक डटे रहे। यह तो जाम्भेकर जी की महान् सेवा का ही फल है, कि मराठी पत्रकारिता में मामूली मनोरंजन हो या लोकशिक्षा हो, उससे बिलकुल निरपेक्षता की भावना के साथ करने की महान् परम्परा क़ायम हो सकी। हम तो यों कहेंगे कि जाम्भेकर जी के बिना वेतन काम करने से समूची भारतीय पत्रकारिता में ही इस प्रकार की श्रेष्ठ परम्परा की नींव डाली गई, जिसके परिणाम स्वरूप उनके १२५ वर्ष बाद हिन्दी पत्रकारिता के सम्पादकाचार्य श्रद्धेय बाबूराव जी पराडकर के रूप में हमने एक ऐसे पत्रकार को पाया, जो अपने पत्र की गिरती हुई दशा को जान कर पत्र के व्यवस्थापकों के पास जाकर स्वयं स्फूर्ति से अपने वेतन में कटौती करने की बात कर सका। पत्रका-

रिता को व्यवसाय न मानने के महामन्त्र के उद्‌गाता थे श्री बाळशास्त्री जाम्भेकर जी।

किन्तु इस परम्परा को और अधिक उज्ज्वल करने वाला मराठी का दूसरा पत्रकार है श्री गोविन्द विट्ठल कुटे उपाख्या भाऊ महाजन। आपने सन् १८४२ से 'प्रभाकर' नामक पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। पत्रकारिता की शिक्षा-दीक्षा आपने यद्यपि श्री जाम्भेकर से ही पाई थी, तथापि आप एक दृष्टि से उनसे भी बढ़ कर साबित हुए। आपके कुशल और चटपटे लेखन के कारण 'प्रभाकर' शीघ्र ही लोकप्रिय होता गया और २०-२१ वर्ष तक चलता रहा। सबसे उल्लेखनीय बात यह रही कि अंग्रेज़ी राज्यशासन पर सबसे पहले आलोचना का अस्त्र चलाने का साहस 'प्रभाकर' के माध्यम से श्री भाऊ महाजन ने ही किया।

'प्रभाकर' के जन्म काल में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें फैलती जा रही थीं। उत्तर में सिखों का राज्य नाममात्र के लिए शेष था। पश्चिम में सिन्ध प्रान्त पर कम्पनी सरकार की तीक्ष्ण दृष्टि पड़ चुकी थी, उत्तर पश्चिमी प्रान्त में अफ़गानों के क्षेत्र में अंग्रेज़ों के साथ आए दिन मुठभेड़ें होने लग गई थीं, और दक्षिण में सतारा का किस्सा हाल ही में निपट चुका था। ब्रिटिश सामन्तशाही भारत के एक एक हिस्से को क्रमशः अपने गले के नीचे उतारती जा रही थी और परिणामस्वरूप भारतीय जनता में एक प्रकार की बेचैनी सी फैलने लगी थी। उन दिनों विशेषतया अफ़गानिस्तान में हो रहे युद्ध की ओर आम जनता की आँखें लगी रहती थीं। श्री भाऊ महाजन ने यह बात बराबर भाँप ली थी, कि जनता क्या चाहती है। उन्होंने उसी के अनुसार, किन्तु फिर भी जनता को सही परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान कराने के उद्देश्य से, 'प्रभाकर' में प्रकाशित होने वाली सामग्री का चयन करना प्रारम्भ किया और अफ़गान-युद्ध, अंग्रेज़ी शासन प्रणाली, फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति आदि सामयिक विषयों पर अत्यन्त निर्भीकता के साथ अपने विचार जनता के सम्मुख रखे। श्री जाम्भेकर जी से वे आगे बढ़ गए थे ऐसा हमने ऊपर कहा है। उसके भी स्पष्ट कारण हैं। एक तो यह कि जाम्भेकर जी का 'दर्पण' विशुद्ध मराठी नहीं था। वह अंग्रेज़ी और मराठी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होता था और दोनों भाषाओं के भाग आमने सामने एक ही अङ्क में रहते थे। दूसरी बात यह कि श्री महाजन ने जो कुछ लिखा सब अख़बारों में ही लिखा। समाचारपत्रों के बाहर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो अपना सारा लेखन कौशल उन्होंने पत्रकारिता के चरणों में समर्पित कर दिया था। जाम्भेकर जी के समान ही श्री महाजन की भी गणना उन दिनों अग्रणी विद्वानों में की जाती थी। श्री महाजन ने पत्रकारिता के क्षेत्र में ठीक उसी उद्देश्य को लेकर प्रवेश किया, जिसे लेकर जाम्भेकर जी ने श्रीगणेश किया था। श्री महाजन की अपनी विशेषता यह थी, कि उन्होंने नौकरी का बन्धन अस्वीकार करते हुए केवल पत्रकारिता ही की, जब कि जम्भेकर जी ने एल्फिन्स्टन कालेज में अध्यापन करते हुए पत्र का संचालन और सम्पादन किया था।

अधिक धन लाभ करा देने वाली नौकरी प्राप्त करना उनके लिए आसान होते हुए भी, उन्होंने समाचार पत्रों के संचालन और संपादन जैसा नया और विशेष द्रव्यलाभ की आशा से कोसों दूर रहनेवाला व्यवसाय स्वीकार किया और पत्रकारिता का यह व्रत उसी अकिंचन अवस्था में एक दो नहीं, पूरे २५ वर्ष तक अत्यन्त सफलता के साथ निभाया। श्री महाजन को यथार्थ में 'महा-जन' बनाने में उनकी यही निःस्वार्थ सेवा मुख्य कारण रही। ज़माने की हवा जब अनुकूल हो, जनता का सक्रिय सहयोग भी सहजता से प्राप्त होता हो, साधनों की भरमार हो, पैसा भी प्रचुर मात्रा में मिलता हो और सबसे ऊपर सफलता का सेहरा बाँध जाना प्रायः सुनिश्चित ही हो, तो ऐसी अवस्था में, इस उत्साह बढ़ाने वाली परिस्थिति में संकीर्ण स्वार्थों को लात मार कर समाज सेवा का व्रत लेने वाले लोग तो कुछ संख्या में हर ज़माने में निकल ही आएँगे, किन्तु ज़माने की हवा जब उलटी चल रही हो, जनता में अज्ञान हो, उपेक्षा हो, साधनों का न केवल अभाव अपि तु अकाल भी हो, दरिद्रता की कृष्ण छाया सब पर छाई हो, यश की आशा तो दूर रही असफलता के आसार ही सर्वत्र दिखाई दे रहे हों, तब उस निराशामय परिस्थिति में जनहित पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, केवल कर्तव्यबुद्धि से पत्रकारिता के जैसा महान् दायित्व सिर पर लेकर, अनेक भीषण व्याघातों का हिम्मत के साथ सामना करते हुए उसे निभाने वाला श्री भाऊ महाजन जैसा व्यक्ति विरला ही होता है।

श्री महाजन की पत्रकारिता की एक और विशेषता यह थी कि उन्होंने पत्रकारिता का व्रत एकदम स्वाभिमानपूर्ण प्रवृत्ति के साथ निभाया। 'साहब वाक्यं प्रमाणम्' का यह ज़माना था, किन्तु श्री महाजन ने जहाँ पश्चिमी ज्ञान स्वीकार कर उसका प्रसार भी किया, वहाँ उन्होंने अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रखर स्वाभिमान भी प्रकट किया और भ्रष्ट हुए लोगों को चेतावनियाँ भी दीं। उनकी सम्पादन कुशलता और स्वतन्त्र प्रवृत्ति 'प्रभाकर' के अंकों में सर्वत्र पाई जाती थी। पाश्चात्यों का अन्धानुकरण न करते हुए उन्होंने अपनी क़लम चलाई। ब्रिटिश शासन से हुए लाभों को स्वीकार करते हुए भी, उन्होंने उनके शासन के दोषों का आम दिग्दर्शन कराने में कभी कोई कसर न रखी। इतना ही नहीं, सरकार के कारोबार के छोटे-छोटे अन्यायों को भी उन्होंने मुखर कराया और अपनी निडरता तथा स्वतन्त्र प्रवृत्ति के बल पर उन से प्रखर आलोचना का दुधारा चलाया। मराठी साहित्य में सरदार गोपाळराव हरि देशमुख के लिखे पत्रों को ऊँचा स्थान है। आपने ये पत्र 'लोकहितवादी' उपनाम लेकर लिखे थे। 'लोकहितवादी' के 'शतपत्र' क्रान्तिकारी विचारों के मूर्तिमान् प्रतीक हैं। इन्हीं पत्रों में व्यक्त विचारों के कारण 'लोकहितवादी' को स्वजन द्रोही कहा गया था, क्योंकि उनके विचार उस ज़माने के समाज को जँचने वाले नहीं थे। परन्तु श्री महाजन की निर्भय और सत्यप्रिय प्रवृत्ति के कारण उन्होंने 'लोकहितवादी' के शतपत्रों को 'प्रभाकर' में प्रकाशित करवाया। स्वजन-द्रोही कहे जाने वाले और समाज को जँचने वाले किन्तु पथ्यकारक विचार अन्तःकरण पूर्वक और साफ़ साफ़ रखने वाले 'लोकहितवादी' जैसे व्यक्ति के पत्रों को 'प्रभाकर' में स्थान देकर श्री महाजन ने सचमुच ही सूझबूझ और धैर्य का परिचय दिया।

श्री महाजन जी द्वारा निर्मित 'प्रभाकर' की यह स्वतन्त्र और बेमुरव्वत प्रवृत्ति के कारण 'प्रभाकर' तो लोकप्रिय हो ही गया, किन्तु उसकी निर्भीकता आने वाले ज़माने में लोकमान्य तिलक, विष्णुशास्त्री चिपळूणकर, और आगरकर जी जैसे महानुभावों द्वारा प्रारम्भ स्वतन्त्र प्रवृत्ति की पत्रकारिता का पूर्व संकेत सिद्ध हुई। 'प्रभाकर' शत प्रतिशत मराठी पत्र था! इतना निर्भीक होते हुए भी पत्र २५ वर्ष तक जीवित रहा। स्वाभिमानी और प्रखर मनोवृत्ति का परिचय देते हुए भी श्री महाजन ने 'प्रभाकर' की पत्रकारिता की दृष्टि से भी उन्नति करने की ओर बराबर ध्यान दिया। भारतीय घटनाओं का संकलित वृत्त, पाठकों का पत्र व्यवहार, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, प्रथम पृष्ठ पर अग्रलेख, प्रचलित राजनीति के सम्बन्ध में जानकारी पूर्ण लेख माला और सामाजिक तथा धार्मिक विषयों की चर्चा 'प्रभाकर' में बराबर पाई जाती थी। इस दृष्टि से 'प्रभाकर' का और उसके जन्मदाता श्री भाऊ महाजन का स्थान मराठी पत्रकारिता में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

श्री बाळशास्त्री जाम्भेकर ने 'दर्पण' पत्र प्रारम्भ कर मराठी पत्रकारिता की नींव रखी, किन्तु उसे सुदृढ़ और ठोस बनाने का तथा उस पर पत्रकारिता के यशो-मन्दिर के निर्माण का श्रीगणेश करने का शुभ कार्य श्री भाऊ महाजन जी ने ही किया।

कावले का बाडा, मस्कासाथ
इतवारी, नागपुर—२

—**मोरेश्वर तपस्वी 'अथक'**

सत्य-भाषण

मैं सत्य बोलता हूँ परन्तु उतना नहीं जितना कि मुझे बोलना चाहिए। मैं उतना ही सत्य बोलता हूँ जितना कि मैं साहस कर सकता हूँ। मैं जितना वृद्ध होता जा रहा हूँ सत्य बोलने के लिए उतना ही मेरा साहस बढ़ता जा रहा है।

—**रैबेले**

मराठी लोकगीत : पवाड़े और लावणियाँ

मराठी भाषा का प्राचीन साहित्य भक्तिप्रधान है। भारतीय महापुरुषों के चरित्र को लेकर अनेक काव्य ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी गईं, अनेक नीतिपरक तथा उपदेशात्मक कविताएँ निर्मित हुईं। इस प्रकार श्री नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास प्रभृति सन्तों के प्रयत्नों से परिष्कृत होती हुई, मराठी उस युग में पहुँचती है, जहाँ से महाराष्ट्र का अभ्युदय आरम्भ होता है। इस युग में जिस प्रकार महाराष्ट्र ने क्रान्तिकारी परिवर्तन देखे उसी प्रकार मराठी साहित्य ने भी देखे। साहित्य तो जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। जिस प्रकार शीत समाप्त होने पर और वसन्त ऋतु के आने पर प्रकृति का आनन्द और प्रफुल्लता फूल, पल्लवों के रूप में उभर आती है, उसी प्रकार जब देश के आकाश में वैभव और सम्पन्नता की हवाएँ बहने लगती हैं, तब मानव का आनन्द, ललित और सुरुचिपूर्ण काव्य तथा कलाओं में अमर हो जाता है। महाराष्ट्र के जीवन में इस काव्यमय वसन्त का आरम्भ शिवाजी महाराज के समय से होता है। मराठी साहित्य के रसभरे पवाड़े और लावणियाँ भी इसी काल से आरम्भ होती हैं। इन लोकगीतों के रचयिता 'शाहीर' कहे जाते थे। 'शाहीर', 'शायर' शब्द का परिवर्तित रूप है। यह शब्द मराठी में लोककवि का पर्यायवाची है। यह शब्द एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उपस्थित करता है जो अपने समाज के साधारण स्त्री-पुरुषों की पहुँच में रहता हुआ, वीर और श्रृंगार रस से परिपूर्ण गीत लिखा तथा गाया करता था।

वीर रस के गीत 'पवाड़े' कहे जाते हैं। इनमें किसी वीरतापूर्ण कृत्य अथवा किसी चढ़ाई का वर्णन होता है। लोकभाषा में लिखे हुए इन गीतों में, घटनाओं का वर्णन इतना सरल और हृदयद्रावक होता था कि सर्व-साधारण के हृदय उद्वेलित हो उठते, वीरता का स्फुरण उनके हृदयों में होने लगता तथा अपने विगत अथवा वर्तमान राष्ट्रनायक के प्रति श्रद्धा का समुद्र उमड़ने लगता है।

लावणियाँ श्रृंगार रस के गीतों को कहा जाता है। इनमें जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों का वर्णन होता है, मनुष्य की प्रेममयी अनुभूतियों का सहज और मनोहारी चित्रण होता है। ये लावणियाँ हमारे रीतिकालीन काव्य की याद दिलाती हैं। कई बार ये हमारे गाँवों में गाए जाने वाले उन अवधी और ब्रजभाषा के गीतों की भी याद दिलाती हैं, जिनमें नारी का स्नेह मधुर किन्तु अश्रु-कातर चित्र तरंगित हुआ करता है।

पवाड़े और लावणी लिखने वाले ये कवि प्रायः कम पढ़े लिखे, किन्तु भावुक हृदय वाले व्यक्ति हुआ करते थे। ग्वाले, बढ़ई, तेली, तमोली, दरजी आदि जातियों के युवकों ने इस परम्परा का आरम्भ किया था। इसलिए यद्यपि आरम्भ में पवाड़ों में भाव प्रबलता हुआ करती थी तथापि भाषा-सौष्ठव में न्यूनता स्पष्ट लक्षित होती थी। ये गीत कम पढ़े लिखे साधारण जन के लिए लिखे जाते थे तथा भाषा सौष्ठव की कमी को संगीत के स्वरों से पूरा कर लिया जाता था। परन्तु जैसे जैसे समय बीतने लगा और इन गीतों की लोकप्रियता बढ़ने लगी; पढ़े लिखे और विद्वान् व्यक्ति भी इन गीतों में रुचि लेने लगे। फिर कविता के जानकार व्यक्तियों ने जब अपनी लेखनियाँ इस ओर मोड़ीं तो ये गीत निखरने लगे—भावपक्ष के समान शब्दपक्ष भी परिष्कृत होता गया। और जब विद्वान् सुशिक्षित कवियों ने इन्हें अपनाया तब तो अपनी सम्पूर्णता में ये गीत बहुत ही मधुर हो उठे।

अब तक जितने भी पवाड़े प्रसिद्ध हो चुके हैं, उनमें सबसे पुराना पवाड़ा रचने वाले थे अग्निदास। ये अग्निदास पूना के रहने वाले थे। इनके पवाड़े का विषय था शिवाजी द्वारा अफ़जल खाँ का वध। यह पवाड़ा कदाचित् शिवाजी के काल में, उक्त घटना के बाद ही रचा गया था क्योंकि पवाड़े के अन्तिम चरण में कवि कहता है कि इस अलौकिक प्रसंग के बाद जो आनन्दोत्सव जीजाबाई ने आयोजित किया था उसमें उन्होंने कवि को बुलाया था। उसी उत्सव में गाने के लिए उसने इस घटना का वर्णन यथाबुद्धि किया था। आगे कवि कहता है कि शिवाजी महाराज

ने यह पवाड़ा सुन कर कवि को एक घोड़ा और सेर भर सोना इनाम में दिया था। इन बातों से ज्ञात होता है कि स्वयं शिवाजी और जीजाबाई ने यह पवाड़ा सुना था।

इस पवाड़े की रूपरेखा, शब्दपक्ष में कम सुघड़ और कम कलात्मक है। यहाँ तक कि इसे पद्यमय गद्य भी कह सकते हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कला के निखार के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है और अपनी परम्परा की प्रारम्भिक रचनाएँ उसके अभाव में खुरदरापन लिए हुए होंगी ही। परन्तु यदि हम इस खुरदरेपन पर ध्यान न दें तो घटना का जो वर्णन कवि ने इस ऐतिहासिक पवाड़े में किया है, वह भावपक्ष में सर्वथा सम्पन्न एक सजीव वर्णन है। खड़ाखड़ाते, खुरदरे शब्द बाहर ही रह जाते हैं, उनकी तरफ़ श्रोता का ध्यान नहीं जाता, मन के अन्दर प्रवेश करता है—उस महान् घटना का भावपूर्ण महान् चित्र!

पवाड़ों की परम्परा का आरम्भ इतना सजीव और सशक्त था कि अग्निदास के बाद अनेकानेक कवियों ने इस परम्परा को पूरे उत्साह और परिश्रम के साथ आगे बढ़ाया। इस शृंखला का दूसरा प्रसिद्ध कवि तुलसीदास है। यह भी शिवाजी के काल में ही हुआ—उसका सब से प्रसिद्ध पवाड़ा सिंहगढ़ विजय का वर्णन करता है। यह पवाड़ा भी बड़ा ही ओजपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी है। शिवाजी के दाहिने हाथ—तानाजी मालुसरे की वीरता और स्वामिभक्ति का अनुपम वर्णन इस पवाड़े में उपलब्ध है।

इन पवाड़ों के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि वीर रसपूर्ण तथा घटना-प्रधान ये लोक गीत मानव सम्बन्धों की इतनी सूक्ष्म और हृदयग्राही व्याख्या करते हैं कि कई बार पढ़ते पढ़ते भाव प्रबलता के कारण कण्ठावरोध हो जाता है—हृदय गद्गद हो उठता है। संगीत के स्वरों से अनुप्राणित होने पर तो ये पवाड़े कितने प्रभावशाली न होते होंगे!

शिवाजी का काल समाप्त होने पर मराठा राज्य पर दुर्भाग्य की जो घटाएँ उमड़ीं उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। और इस प्रकार पवाड़ों की यह परम्परा खण्डित हो गई। दुर्भाग्य के दिनों में, अपनी विगत वीरता के गीत कोई गाए भी तो कैसे? परन्तु जब पेशवाओं के समय में समृद्धि के दिन फिर लौटे तब पवाड़ों को भी नवजीवन प्राप्त हुआ। इस समय कादर नामक एक मुसलमान ने 'जंगबहार' नामक एक उर्दू पवाड़ा बनाया; जिसमें पानीपत के युद्ध का वर्णन किया गया था। यह पवाड़ा मराठी में न होते हुए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कवि ने स्वयं देखे हुए युद्ध का मार्मिक वर्णन किया है। इसे भूमिका के रूप में लेकर इस प्रसंग पर सात-आठ मराठी पवाड़ों की रचना हुई। जिनके कवि पिपलगांवकर शिवराम, रामा सटवा जी, रंगराय आदि थे।

पवाड़ों की परम्परा जैसे जैसे आगे बढ़ती गई उसका कलात्मक निखार भी होता गया। भाषा में अधिक सफ़ाई आती गई तथा कठिन शैली भी परिष्कृत होती गई। धीरे धीरे इनमें प्रकृति वर्णन का भी समावेश होता गया। रंगराय ने इस दिशा में पहला कदम उठाया। इनके बाद माधवसुत, लहरी मुकुन्दा, खंडुसंतु, जनार्दन, ये सब भी पेशवाकालीन कवि हैं जिन्होंने अनेकानेक प्रसंगों पर पवाड़े तथा कविताएँ लिखीं।

पवाड़ों में प्रकृति वर्णन के साथ साथ दूसरे रसों का समावेश भी हुआ। लहरी मुकुन्दा ने श्रीमन्त नारायणराव पेशवा की मृत्यु पर एक बड़ा सुन्दर पवाड़ा लिखा है :

"दखन चा दिवा मालवला, हिरा हरयला
काय गुपित थाला, केला नारायणरावाला"

दक्षिण का दीपक बुझ गया, हीरा खो गया, नारायणराव पर यह कैसा गुप्त आक्रमण किया गया?

मराठाराज्य के इस दुर्भाग्य पूर्ण प्रसंग का बड़ा ही चित्तवेधक वर्णन इस पवाड़े में किया गया है।

समय बीतता गया। एक बार फिर महाराष्ट्र की राज्यश्री स्थिर हुई। नाना फडनवीस जैसे बुद्धिमान् और नीतिकुशल व्यक्ति के हाथों राज्य की बागडोर आ गई। आए हुए दुर्भाग्य के बादल फट गए और तभी कवियों को एक बार फिर एक आप्तनायक काव्य के लिए मिल गया :

"धन्यवंश एकेक पुरुष कल्पतरु पिकले
शतवर्षे द्विज पक्षि आनंदे ला तरुवर टिकले
जलचर, हैदर, नवाब, सन्मुख रण करता थकले
ज्यानी पुष्याकडे विलोकिले तो संपत्तिला मुकले"

अर्थात् वह वंश धन्य है जिसका प्रत्येक पुरुष

कल्पवृक्ष के समान हुआ। द्विजरूपी पक्षी आनन्दपूर्वक इस तरुवर पर सौ वर्ष तक निवास करते रहे। जिनके सम्मुख हैदर, नवाब आदि युद्ध करते करते थक गए। इन महापुरुषों के समय पूना का वैभव देख कर लोग मुग्ध हो जाते थे।

वीर और श्रृंगार रस काव्य में बहुधा साथ साथ दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों के साथ तत्कालीन समाज की स्वस्थ विचार धाराओं का प्रतीक होता है। वीरता के कृत्यों के लिए जिस स्वाभाविक दृढ़ता की आवश्यकता होती है उससे उत्पन्न पौरुषता को सन्तुलित करने के लिए श्रृंगार की कोमलता आवश्यक है। केवल वीरता मनुष्य को रुक्ष बना देती है और केवल श्रृंगार पौरुषहीन विलासिता को जन्म देता है। अतः दोनों का सम्मिलन ही श्रेयस्कर होता है।

जैसे जैसे मराठा साम्राज्य स्थिर होता गया, जीवन में साधना के साथ वैभव और उसके साथ विलासिता का प्रवेश होता गया। तभी साहित्य में पवाड़ों के साथ-साथ लावणियों का निर्माण होने लगा। इस काल में पवाड़े और लावणियाँ दोनों ही जनप्रिय थे, यह मराठों के उत्कर्ष का सर्वोच्च शिखर था। फिर धीरे धीरे पवाड़ों का काल समाप्त होता गया और लावणियाँ प्रमुखता से राष्ट्र-जीवन में समा गईं। बाजीराव द्वितीय का काल श्रृंगारप्रधान लावणियों का काल था। तब पेशवा और उनके दरबारियों के साथ-साथ जनता के जीवन में भी विलासिता प्रबल से प्रबलतर होती जा रही थी और इसके बाद तो इतिहास साक्षी है कि केवल महाराष्ट्र पर ही नहीं—सम्पूर्ण भारत पर दासता की अनन्त काली घटाएँ छा गईं।

लावणियों के विकास का विवरण देते समय एक बात और है जो किसी हालत में भी भुलाई नहीं जा सकती। वह है प्रतियोगिता की भावना। उस समय बड़े नगरों में गीतकारों और तुकबन्दी करने वालों के दो दल हुआ करते थे। एक दल अपने को कलगी वाला कहता था और दूसरा तुर्रे वाला। आगे चल कर दो जातिगत अखाड़े भी बन गए। एक ग्वाल दल था और दूसरा रावल दल। इन दलों के बीच प्रतियोगिता की भावना बहुत बढ़ी-चढ़ी रहती थी। एक दल वाले दूसरे दल वालों को परास्त करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते थे। कभी कभी तो एक दूसरे को लांछित करने में भी ये लोग कुछ कसर उठा नहीं रखते थे। इस लोकप्रियता की भावना से लावणियाँ और पवाड़े लिखे तथा गाए जाते थे। अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए दोनों ही दल जी-तोड़ प्रयत्न करते थे। इस प्रतियोगिता की भावना ने इन लोकगीतों के विकास में बड़ा सहयोग दिया। यदि लांछन लगाने की बात छोड़ दें तो यह प्रतियोगिता निर्माणोन्मुख प्रतियोगिता रही।

लावणीकारों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कवि हैं रामजोशी और होनाजी। होनाजी जाति से ग्वाले थे और रामजोशी विख्यात ब्राह्मण वंश के सुपुत्र। कविता इनके परिवार की विरासत थी। रामजोशी शोलापुर के विद्वान् पण्डित जगन्नाथ जोशी के सुपुत्र और उतने ही विद्वान् मुद्गल जोशी के छोटे भाई थे। जगन्नाथ जोशी और मुद्गल जोशी, ये दोनों पिता-पुत्र शास्त्रज्ञ और धर्मज्ञ थे। परन्तु रामजोशी इन दोनों से सर्वथा भिन्न थे। यद्यपि रामजोशी भी बड़े ही प्रतिभासम्पन्न विद्वान् और संस्कृतज्ञ थे परन्तु पिता और भाई के समान कथा कीर्तन करना उन्हें जरा भी पसन्द न था। न धर्म कार्यों में ही थोड़ी-सी रुचि थी। ये तो पवाड़े और लावणी गाने वालों की संगति में बैठना अधिक पसन्द करते थे। वहीं से इन्हें लावणियाँ लिखने की प्रेरणा मिली और इस प्रकार पिता और भाई की दृष्टि में आवारा रामजोशी अपनी लावणियों के कारण अमर बन गए। आरम्भ में पिता और भाई की अप्रसन्नता का ध्यान करके वे अपनी लावणियाँ धोंडी शाहीर के नाम से लिखते थे। धोंडी इनके दल का मुखिया था परन्तु कुछ समय के बाद अपनी लावणियों की लोकप्रियता और प्रसिद्धि से उत्साहित हो कर इन्होंने अपनी लावणियों में 'राम' शब्द रखना आरम्भ किया। परन्तु उस काल में राम नाम से एक और लावणीकार भी थे। अतएव रामजोशी ने 'कविराव' उपनाम ले लिया और इसी उपनाम से इन्होंने पवाड़े और लावणियाँ लिखीं।

रामजोशी अपने प्रदेश के सर्वोत्कृष्ट कवि थे। इन्होंने संस्कृत में भी 'मदालसा चंपू' तथा कुछ आरतियाँ लिखीं हैं। संस्कृत में सुन्दर कविता लिखने जैसी योग्यता रखते हुए भी इन्हें तो हाथ में डफ लेकर अपनी मराठी लावणियाँ गाने में ही अधिक आनन्द आता था। अनेक श्रृंगारिक कवियों के समान इनका स्वयं का जीवन भी श्रृंगार से ओतप्रोत था। अतः स्वतः अनुभूति से ही

ये लावणियाँ लिखते थे। इनकी लावणियों का शब्द चयन भी बड़ा ही सुन्दर है। भाषा पर इतना अधिकार तो शायद मुक्तेश्वर कवि को छोड़ कर और किसी भी कवि का नहीं था। और अपने इस अधिकार की बात को वह स्वयं अच्छी तरह जानते थे तभी तो गर्व से कह सके :

"कविराय धरिल पाय अशी लावणी जो करी
माय कृष्णाची व्याली गगनाखालीं कविता सोलापुरी"

अर्थात् ऐसी लावणी यदि कोई रच सके तो कविराय उसके पैर पकड़ लेगा। सोलापुरी कविता के समान कविता करने वाले को क्या किसी माँ ने इस आकाश के नीचे जन्म दिया है ?

रामजोशी की लावणियों में छेकापन्हुति अलंकार के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। इनकी लावणियाँ संस्कृत की उस शैली पर भी बनी हुई हैं जिसमें नायिका अपनी सखी से अथवा नायक अपने मित्र से इस प्रकार का वार्तालाप करता है जिसका तात्पर्य प्रियतम अथवा प्रेयसी की प्रशंसा भी हो सकता है। और जब सखी या मित्र उस ओर इशारा करता है अथवा पूछता है तो नायिका और नायक इन्कार करते हुए किसी और ही वस्तु का नाम लेते हैं। जैसे :

"कंठी लपटुनि सदा असावी सुभगा गुणशालिनी
वाटते पुष्पवति शोभिनि।"
"वृषभानूची सुता काय रे ? राधा लकुचस्तनी
नव्हे रे, 'माळ' आठवली मनी।"

श्रृङ्गार की लावणियों के अतिरिक्त राम जोशी ने वैराग्यपरक लावणियाँ भी लिखीं। और आश्चर्य की बात यह है कि इनकी ये लावणियाँ भी उतनी ही उत्कृष्ट और प्रसिद्ध हुईं जितनी श्रृंगारिक लावणियाँ। इनकी वैराग्य-मय लावणियाँ पढ़ते समय पाठक कल्पना भी नहीं कर सकता कि यह व्यक्ति कभी श्रृंगारिक भावनाओं को अपने पास भी फटकने देता होगा। इन वैराग्यमयी लावणियों ने लावणी के स्तर को इतना अधिक उन्नत किया कि 'लावणी' के नाम पर नाक भौं चढ़ाने वाले पण्डितों ने इन्हें कथा कीर्तनों में सम्मिलित करना आरम्भ कर दिया। और वेद-शास्त्रों के उद्भट विद्वान् नीलकण्ठ शास्त्री, भोर शास्त्री, साठे अण्णासाहब सांगलीकर जैसे महानुभाव लावणियों को सम्मान देने पर विवश हो गए। यह लावणियों की और राम जोशी की सब से बड़ी विजय थी।

राम जोशी ने पवाड़े भी लिखे हैं और उसी प्रवीणता से जिससे उन्होंने लावणियाँ लिखी हैं। ये पवाड़े भी इतने ही प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार इन्होंने लावणियों को वैराग्य की नई दिशा दी उसी प्रकार पवाड़ों में भी युद्धों के अतिरिक्त अन्य विषयों का समावेश किया। अपने समय के एक अकाल का वर्णन इन्होंने अपने एक पवाड़े में किया है। इनका वर्णन भी बड़ा ही हृदयस्पर्शी है।

इस प्रकार रामजोशी ने अपनी मौलिक और सर्वतोमुखी प्रतिभा के साथ अपनी परम्परागत विद्वत्ता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय करके लावणियों और पवाड़ों को चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कर उनके साथ साथ अपने आपको अमर कर लिया।

इस काल के अन्य लावणीकारों में अनन्तफँदी, प्रभाकर, दादावीरा सातप्पा भी उल्लेखनीय हो गए हैं। इनमें से प्रत्येक ने सुन्दर लावणियाँ लिखी हैं जिनकी विषय-वस्तु लगभग वही है जो हिन्दी के श्रृंगारिक काव्य में बहुलता से पाई जाती है। कृष्ण और राधा के रासरंगों से लेकर लक्ष्मी और पार्वती के व्यंग्यपूर्ण संवाद तक, तथा प्रेषित पति का नायिका के उद्गारों से लेकर मान मनुहार तक सभी विषय इनमें सम्मिलित हैं।

अब्राह्मण कवियों में 'होनाजी' सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी विद्वत्ता के बारे में ठीक ठीक तो मालूम नहीं है परन्तु उनके काव्य को पढ़ कर लगता है कि संस्कृत का साधारण परिचय उन्हें अवश्य रहा होगा। मराठी के पुराने कवियों का भी इन्होंने अध्ययन किया था। पुराणों की कथाओं को गीतबद्ध करते हुए इन्होंने मुक्तेश्वर और श्रीधर के काव्य की उत्तम कल्पनाओं को करीब करीब उन्हीं के शब्दों में अपना लिया है। वैसे तो पौराणिक देवताओं के चरित्रों पर भी उन्होंने लावणियाँ लिखी हैं परन्तु ग्वाल जाति के इस कवि ने ग्वाल नायक कृष्ण का चरित्र तो बहुत ही सुन्दरता से अंकित किया है। कृष्ण के बचपन की घटनाओं पर उन्होंने उतनी ही सुन्दर लावणियाँ रची हैं जितनी उनकी यौवन की क्रीड़ाओं पर लिखी हैं।

कृष्ण के अतिरिक्त गणपति, शिव आदि देवताओं

को भी होनाजी ने अपनी लावणियों का विषय बनाया है। शंकर जी पर लिखी हुई वह लावणी तो बहुत ही चातुर्यपूर्ण है जिसमें पार्वती शंकर जी की जटाओं में सुन्दरी गंगा को देख कर ईर्ष्या से शंकर जी से उनके बारे में पूछती हैं। शंकर जी तब वकीलों की सी चतुराई से उन्हें समझाना चाहते हैं कि उनके सिर पर कोई स्त्री नहीं है। उनकी जटाओं के गंगाजल में एक कमल शायद खिल आया है जिसे पार्वती स्त्री का मुख समझ रही हैं। आगे वे पार्वती को समझाते हैं कि गंगाजल की मछलियों को वे आँखे समझ बैठी हैं और लहरों को भौहें। आगे वह यह भी कहते है कि पार्वती को पहले अच्छी तरह चीजों को देख लेना चाहिए और तब दोषा-रोपण करना चाहिए आदि।

शृङ्गार के इन कवियों ने यद्यपि स्त्रियों के हास विलास और कटाक्षों का ही समय असमय वर्णन किया है तथापि स्त्रियों को विलासिनी के अतिरिक्त और किसी रूप में ये देख ही नहीं सकते थे ऐसी बात नहीं थी। होनाजी ने आदर्श भारतीय स्त्री का चित्र भी अपनी एक लावणी में खींचा है।

होनाजी पेशवा के अन्न का ऋषि था। अतः उसने उनकी प्रशंसा भी अपनी कविता में की है। परन्तु यह कविता भी केवल औपचारिक कविता नहीं है। उसमें भी होनाजी ने भावना भर दी है। उसे भी मनो-वेधक बना दिया है। होनाजी की अमर कलाकृति है एक भूपाली :

> "घनश्याम सुन्दरा श्रीधरा, अरुणोदय झाला
> उठी लौकर वनमाली, उदयाचली मित्र आला"

यह प्रभाती वास्तव में बड़ी मधुर है। आज सौ वर्ष से यह महाराष्ट्र के मन को आनन्दविभोर कर रही है। सुबह के समय तो कौए की बोली भी मधुर मालूम होती है तब इस सुन्दर भूपाली का तो कहना ही क्या? गाने वाले तो अपने सुस्वर में इसे गाना ही चाहते हैं। परन्तु इस भूपाली की लोकप्रियता तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि बूढ़ी तथा अनपढ़ स्त्रियाँ भी घर के काम-काज करती हुई इसे गाती रहती हैं।

होनाजी का समकालीन सगन भाऊ, भी एक प्रसिद्ध लावणीकार था। जाति से यह मुसल्मान था यह शृङ्गार की लावणियाँ ही लिखा करता था जो कभी-कभी अश्लीलता की हद तक पहुँच जाती थीं। सगन की लावणियों में दादासाहब, समशेर बहादुर तथा बाजीराव पेशवा का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया गया है जिससे अनुमान किया जाता है कि कदाचित् किसी युद्ध में यह इन महानुभावों के साथ अवश्य गया था।

मुसल्मान होते हुए भी सगन भाऊ ने हिन्दू देव-ताओं पर लावणियाँ लिखी हैं। इसे पुराने मराठी कवियों का भी अच्छा परिचय था। यह बड़ा अच्छा गायक था तथा लावणियों को जब विलम्बित लय में गाता था तो उनमें उत्तर भारतीय खयालों का आनन्द आने लगता था।

सगन भाऊ की बैठक में और भी बहुत से शाहीर थे। काशीराम, काशी महीपति, खण्डु नारायण, बाळा बाघू, बिबन, कान्हा, दारुमल ये सभी उसके अनुयायी थे।

होनाजी, गंगु हैबती, सगन भाऊ, कुशा माली आदि उस समय महाराष्ट्र के लुभाने वाले व्यक्ति थे। गंगु हैबती ने कृष्ण पर बड़ी ही सुन्दर लावणियाँ लिखी हैं। कुशा माली को कूटात्मक रचना करने का भी शौक था वह अपनी रचनाओं में कूट पहेलियाँ बुझाना बहुत पसन्द करता था। कुशाबा ने वेदान्त को भी लावणियों का विषय बनाया। यद्यपि वेदान्त जैसे गम्भीर विषय को लावणियों में खींच लाना अप्रयोजनीय था परन्तु वीर रस और शृंगार रस की प्रशंसा करने का सामर्थ्य जब शरीर में नहीं रह जाता तब लावणी सुनने वालों की तृप्ति के लिए कुछ तो चाहिए ही। इन लावणियों ने इस आवश्यकता को पूरा किया।

इसके बाद मोतीराम और परशुराम ये दो और महत्वपूर्ण लोककवि हुए। मोतीराम कदाचित् मारवाड़ी था। एक मारवाड़ी मराठी में कविता लिखे पहले तो यही आश्चर्य की बात है। और वह भी शाहीरों की बैठक में बैठ कर लावणियाँ बनाए और गाए, यह तो उससे भी अधिक आश्चर्य की बात है। परन्तु मोतीराम ने यह सब किया और प्रवीणता से किया। महाराष्ट्र के वैभव सागर में जब ज्वार आया तो उसकी ऊँची लहरों में दूसरों के समान यह महाराष्ट्रीय मारवाड़ी भी बह गया। इसकी लावणियों का ठाठ भी वास्तव में निराला था। इसने स्त्री और पुरुषों दोनों की शृंगारिक मनो-

भावनाओं को प्रदर्शित करने वाली लावणियाँ लिखी हैं। कई तो मनोविकारों में रंगी हुई वासना प्रधान लावणियाँ भी हैं।

मोतीराम से भी अधिक प्रसिद्ध हुआ—परशुराम जो नासिक क्षेत्र का निवासी था। अपनी कला और प्रसिद्धि में यह होनाजी के समकक्ष पहुँचता है। जाति से यह दरज़ी था। बचपन से ही पौराणिक ग्रन्थ बड़ी रुचि से पढ़ा करता था। इसीलिए इसकी लावणियों में पुरानी कविता की छाप कहीं कहीं दिखाई देती है। परशुराम के उपास्य देव विट्ठल थे और इन्हीं की प्रेरणा से परशुराम ने लावणियाँ रचीं। स्थानिक देवी देवताओं और भागवत, महाभारत के प्रसंगों को परशुराम ने अपनी लावणियों का विषय बनाया। इसके अतिरिक्त मल्हारराव होळकर, खण्डेराव महाराज, फतहसिंह गायकवाड़ आदि राजाओं पर पवाड़े भी लिखे। शृंगारिक लावणियाँ तो परशुराम ने बहुत लिखीं।

मराठी के लोक कवियों ने अपनी जनता की कला-भावना को तृप्त करते हुए उसे विकसित भी किया। इन कवियों ने अपने लावणियों और पवाड़ों में महाराष्ट्र की देशगत विशेषताओं को भी बड़ी सुन्दरता से समन्वित किया है। संस्कृत के विद्वानों तथा संस्कृत की परम्परा में कविता करने वाले मराठी कवियों से जो छूट गया उसे इन लोक कवियों ने अपनी कलापूर्ण लेखनी से रंगीन बना दिया। मराठी के साहित्यिकों का तो ऐसा विचार है—और वह उचित भी है कि उन प्राचीन पंथी कवियों में कवित्व और पाण्डित्य की विशेषता हो सकती है—परन्तु उनके काव्य में ऐसी कोई ख़ास बात नहीं है जो भारत की संस्कृति के साथ साथ महाराष्ट्र की अपनी संस्कृति की छाप भी कहीं छोड़ सके। परन्तु इन लोक कवियों की लेखनी में महाराष्ट्र के जीवन की विशेषताएँ साकार हो उठी हैं। उदाहरण के लिए—इन लोक कवियों ने नायक, नायिका, युद्ध, वीरता आदि के साथ साथ अपनी कविता का आलम्बन कभी कभी अपने घोड़ों को भी बनाया है।

इसी प्रकार तत्कालीन मराठा युवकों की कर्तृत्व प्रियता तथा स्वामिभक्ति का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण लावणियों और पवाड़ों में मिलता है। होनाजी की एक लावणी में एक मराठा पत्नी अपने पति को युद्ध में जाने से विमुख करने का प्रयत्न करती है—परन्तु वह मराठा वीर उत्तर में अपने स्वामी की प्रशंसा करता हुआ, सेना के सुख-विश्राम की सुविधाओं का वर्णन करता हुआ बताता है कि देश विजय के लिए प्रस्थान करते हुए मराठा सैनिकों को कभी कोई असुविधा नहीं होती। और फिर युद्ध में विजयी होने पर पुरस्कार भी तो उन्हें मनचाहा मिलता है। इस प्रकार की देशगत अथवा जातिगत विशेषताएँ मराठी के इन लोकगीतों के लावण्य को द्विगुणित कर देती हैं।

बेगम बाज़ार,
हैदराबाद-दक्षिण

—शैलबाला

४२० नम्बर

हैदराबाद राज्य में कार को रजिस्टर कराने के लिए ४२० नम्बर को कोई पसन्द नहीं करता। एक कार के मालिक को उसकी कार के लिए यह नम्बर दिया गया। उसने पुलिस के पास एक आवेदन-पत्र भेजा कि उसकी कार का नम्बर बदल दिया जाय-क्योंकि उसकी कार पर इस नम्बर को देख कर लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं। कार के कई मालिकों को उनकी कार के लिए यह नम्बर दिया गया परन्तु सब ने इस नम्बर को लेने से इनकार कर दिया।

—पी टी भाई

इन्द्रनाथ

स्व. शरच्चन्द्र का एक मनोरंजक संस्मरण

शरच्चन्द्र जी अपने बचपन की कहानी सुना रहे थे। श्रोताओं में कतिपय साहित्य-रसिक, मामा तथा बाल्यबन्धु सुरेन्द्रनाथ गांगुली उपस्थित थे। 'श्रीकान्त' पर चर्चा चलने पर एक ने उनसे प्रश्न किया : "इन्द्रनाथ की तरह कोई पात्र क्या आपके वास्तविक जीवन में कभी आया था, अथवा वह चरित्र काल्पनिक है ?"

शरच्चन्द्र ने कहा : "नहीं, वह काल्पनिक चरित्र नहीं, बल्कि वास्तविक चरित्र है। भागलपुर में मेरे मामा के मकान के पास ही एक नामी इंजीनियर रहते थे— रामरतन मजूमदार। रामरतन बाबू का एक लड़का था राजेन। हम उसे राजू के नाम से बुलाते थे। यही राजू ही मेरे 'श्रीकान्त' उपन्यास का इन्द्रनाथ है। राजू के बड़े भाई राय बहादुर सुरेन मजूमदार डिप्टी कलक्टर थे। वे स्वयं प्रसिद्ध साहित्यिक और गायक थे।

राजू अधिक पढ़ा लिखा नहीं था, लेकिन लड़का काफ़ी चलता पुर्जा था। इतनी कम उम्र में इतना चालाक लड़का आज तक मैंने नहीं देखा। 'श्रीकान्त' लिखते समय मुझे इन्द्रनाथ का चरित्र चित्रण करने में कल्पना का आश्रय नहीं लेना पड़ा था। राजू था भी इसी तरह का। आज भी जब उसकी याद आती है न जाने क्यों प्राण व्याकुल हो उठता है। जब आज उसकी चर्चा चल पड़ी है तो उसकी कहानी सुना दूँ।

राजू के घर के पास ही गंगा नदी बहती थी। उसके समीप ही एक विराट् वटवृक्ष था। जगह निर्जन थी। बरगद का एक हिस्सा गंगा नदी की ओर झुक गया था। उस हिस्से की एक डाली पर टीन से घेर कर राजू ने अपने लिए एक कमरा बना रखा था। नित्य सबेरे उठ कर अपने उस कमरे में जाकर घण्टों भगवान् की आराधना किया करता था। सभी उस घर को राजू के पूजा-गृह के नाम से जानते थे। लेकिन किसी में इतना साहस नहीं था कि उस घर में जाए। यद्यपि मेरे लिए मुमानियत नहीं थी। अकसर राजू मुझे अपने उस कमरे में ले जाता था। पेड़ की डाली पर चढ़ कर वहाँ तक पहुँचना मज़ाक नहीं था।

एक दिन पूजा समाप्त कर राजू लौट रहा था। अचानक बंगाली टोला घाट के समीप आकर वह खड़ा हो गया। बात यह थी कि एक नौजवान लड़की घाट के एक किनारे नहा रही थी और पास ही एक उजड्ड गँवार आदमी तैरना सीखने की आड़ में हाथ-पैर फटकारते हुए उस पर छींटे उड़ा रहा था। बेचारी लड़की संकोचवश कुछ कह नहीं पा रही थीं। यह दृश्य देख कर राजू चट से नदी में कूद पड़ा। इसके बाद कमर से धोती खोल कर फन्दा बनाया और उसके गले में फँसा कर एक झटका दे उसे डुबकी खिला दी। एक बार नहीं, इसी तरह लगातार कई बार डुबकी खिलाता गया। इधर उस बेचारे की हालत खतरनाक हो गई उधर राजू वन, टू, थ्री गिनता रहा। जब पूरी सौ डुबकी लगवालीं और तब पूछा : "कहिए जनाब ! फिर कभी ?"

जिसे साँस लेना मुहाल हो उठा था, इस भयानक काण्ड से मुक्ति पाने के बाद चटपट बोल उठा : "नहीं हुज़ूर—अब नहीं। माफ़ कीजिए।"

"तब भाग जाओ।" कहता हुआ वह ऊपर चला आया।

(२)

लगे हाथ एक दिन की घटना और सुन लो : उस दिन शाम के समय राजू टहलने के लिए घर से बाहर निकला था। रास्ते में बारारी स्टेट हाईस्कूल के हेड पण्डित से मुलाकात हो गई। उन्होंने देखते ही एक तरह से रोते हुए कहा : "बेटा, कई दिनों से मैं तुमको खोज रहा था।"

राजू ने घबड़ा कर पूछा : "क्या बात है मास्टर साहब ? आप रो क्यों रहे हैं ?"

प्रत्युत्तर में अपनी पीठ दिखाते हुए पण्डित जी ने कहा : "यह देखो बेटा, न लड़ाई न झगड़ा, पुलिस के साहब ने मुझे बुरी तरह पीटा। बात यह है कि उस दिन जमींदार साहब के यहाँ पढ़ाने के लिए जा रहा था। रास्ते में पुलिस के साहब से मुलाक़ात हो गई।

साहब को घोड़े पर आते देख मैं जल्दी से एक किनारे हट गया। फिर भी साहब का मिज़ाज गरम हो गया। गाली देते हुए कहा : 'रास्ते में हटकर नहीं चल सकते?' कहने के साथ ही उन्होंने तड़ातड़ कई बेंत मारे। इसके बाद घोड़ा हँकाते हुए चले गए।"

राजू ने कहा : "अच्छा, मैं उनकी खबर लेता हूँ। क्लब में विलियार्ड देखने गए होंगे, लौटते समय उन्हें सज़ा मिल जायगी। आप फ़िलहाल घर चले जाइए। मैंने क्या सज़ा दी है, कल आपको मालूम हो जाएगा।" पण्डित जी को दिलासा दे कर राजू सीधा मेरे पास आया। उस समय उसकी आकृति क्रोध से लाल थी। मुझसे कहा—"शरत्, तू मेरे साथ अभी चल।"

इस आह्वान को अस्वीकार कर सकूँ, इतनी शक्ति मुझमें नहीं थी। फिर भी डरते-डरते मैंने कहा : "तू साहब को मारेगा राजू! उसके कमर में हमेशा पिस्तौल बंधा रहता है, हमलोग ख़ाली हाथ रहेंगे—यह याद रखना।"

राजू ने कहा : "तू मेरे साथ चल, फिर देखना क्या करता हूँ।"

इसके बाद प्रतिवाद नहीं कर सका, चुचचाप उसके साथ चल पड़ा। पहले हम आदमपुर घाट गए। आदमपुर घाट वहाँ का जहाज घाट था। हर समय वहाँ कई स्टीमर और नावें बँधी रहती थीं। अँधेरे में राजू चुपचाप एक बड़ी नाव पर चढ़ गया और फिर मल्लाह की नज़र बचाकर रस्सी का एक बण्डल उठा लाया। मैं किनारे पर एक जगह छिपा खड़ा था। आकर उसने कहा : "अब चल।"

पुलिस साहब का बंगला क्लब से लगभग एक मील की दूर पर है। इतनी दूरी साहब वो घोड़े पर चढ़ कर पार काटना पड़ता था। उसमें एक बुरी आदत यह थी कि वह कभी आहिस्ते से घोड़ा नहीं ले जाता था। जब देखो तब तेजी से घोड़ा उड़ाता चलता था।

साहब के बंगले और क्लब के बीच एक स्थान पर आकर हम दोनों छिप गये। जब रात कुछ अधिक घनी हो गई और यह अनुमान हो गया कि अब साहब के लौटने का समय हो गया है, तब ज़मीन से दो हाथ ऊपर उठा कर उक्त रस्सी को आमने-सामने के दो आम के पेड़ों में कसकर बाँध दिया।

यह पहले ही कह चुका हूँ कि रात घनी हो गई थी, इसलिए लोगों का आना-जाना बन्द हो गया था। पेड़ों में रस्सी बांध कर हम पेड़ के ऊपर जा छिपे। कुछ देर इसी तरह बैठे रहने बाद सहसा घोड़े की टाप सुनाई देने लगी। आवाज़ से ही भांप लिया कि साहब विलियार्ड क्लब से लौट रहे थे। अपनी पुरानी आदत के मुताबिक वह तेज़ रफ़्तार से घोड़े को दौड़ाता हुआ आ रहा था। ज्यों ही हमारे समीप आया त्यों ही घोड़े के साथ सवार भी उलट गया। एक तो अचानक ठोकर पाकर गिरा, दूसरे काफ़ी ऊपर से तीसरे, शराब में चूर रहने के वजह से कितनी बुरी तरह घायल हुआ—इसका अन्दाज़ा तुम स्वयं लगा सकते हो। हजरत अभी उठकर सम्हल भी नहीं पाए थे कि ऊपर से हिंस्र बाघ की तरह राजू उसके ऊपर उछल कर कूद पड़ा और लगा दनादन पीटने। मार के आगे नशा काफ़ूर हो गया। राजू चुपचाप जितना जी में आया पीटता रहा। जब वह बिलकुल थक गया तब चुपचाप उसकी कमर से पिस्तौल निकाल कर खड़ा हो गया।

इशारे से मुझसे कहा : "चल।"

जल्दी से हम दोनों तरफ़ से रस्सी खोलकर नौ-दो ग्यारह हो गए। आदमपुर घाट पर आकर रस्सी जहाँ की तहाँ रख कर पानी में पिस्तौल फेंक दी। फिर कहा : "अब घर चलो। उनकी ख़ासी मरम्मत हो गई।"

यही राजू मेरे 'श्रीकान्त' का इन्द्रनाथ है।

अन्याय उससे जरा भी बरदाश्त नहीं होता था! हमेशा इसके विरुद्ध मरने मिटने के लिए तैयार रहता था अपने जीवन में इस तरह के व्यक्ति को कभी नहीं देखा। वही राजू एक दिन चुपचाप न जाने कहाँ चला गया। आज तक किसी को उसका पता नहीं चला। आज भी जब उसकी शक्ल आँखों के सामने नाच उठती है तब दिल मसोस कर रह जाता हूँ। वह मेरा कितना महान् मित्र था — कह नहीं सकता। न जाने कितने देश-विदेश घूमा, कितने व्यक्तियों को देखा—लेकिन राजू की तरह कोई दिखाई नहीं दिया।

सिद्धगीर बाग
बनारस

—विश्वनाथ मुखर्जी

अस्तित्व की माँग

शाम की सिलेट पर कालिख पुत चुकी थी और एक आध सितारे किसी नादान बच्चे द्वारा लिखे गए खड़िया के अक्षरों की भाँति चमक रहे थे। दो सड़कों वाला जमुना का पुल ! जिसके ऊपर रेलवे लाइन, पुल के नीचे उगी हुई जंगली आवारा घास, फिर पैर की शक्ल का ढाल और उसके बाद मैले क़लई के बरतन की तरह चमकती जमुना की चौड़ी अथाह धार।

वह ट्रैफ़िक पुलिस का कॉन्सटिबुल कुछ अलसाया सा खड़ा था। शहर जाने वाली सड़क की ओर एकबार उसने ग़ौर से देखा—जो अपने दाएँ बाएँ दोनों ओर के अंधकार के मध्य क्वाँरी माँग की तरह स्पष्ट सी होकर आगे सिर के ढलान के रूप में गहन अंधकार में डूब गई थी। सड़क सुनसान थी, सर्दी बढ़ती जा रही थी और वह अपने ग्रेट कोट के बटन बन्द करता जा रहा था। रात की ख़ामोशी सर्दी में भीग कर और भी घनीभूत हो गई थीं। उसने जेब से सिगरेट निकाल कर अपने हाथों को प्याले की तरह बनाते हुए तीली जलाई, उसकी मद्धिम रोशनी में उसका मुख ऐसे चमक उठा जैसे भट्टी से निकला हुआ लोहा थोड़ी सी हवा लग चुकने पर चमकता है—कुछ काला कुछ लाल लाल। इन कुछ क्षणों में ही हवा काफ़ी ज़ोर पकड़ चुकी थी, उसने आसमान की ओर देखा तो खड़िया के अक्षर मिट चुके थे और सिलेट स्याह पड़ चुकी थी। एक अजीब मनहू-स शोर, डूबा डूबा सा कोलाहल वातावरण में भर सा गया था। जमुना की सतह पर कुहरे की पर्त और गहरी पड़ गई थी। पुल के पथरीले खंभों पर गड़े तार के खंभों की झनझनाहट और तेज़ हो गई थी। अपनी बाहों को कसते हुए एक बार उसने अपने चारों ओर देखा कालिख, मनहूस सा शोर; कुहरा जंगली घास। कुछ कंपकंपी सी उसके बदन में दौड़ गई पर उसकी आँखें पुल के भारी भारी गर्डरों पर टिक गईं। वज़नदार विशाल गर्डर जो भीमकाय पथरीले खंभों पर टिके थे और उन खंभों से निरन्तर टकराती हुई जमुना की अथाह जल राशि उसकी तहों में जैसे एक पानी सा हो रहा था, हवा के सर्द झोंके उसके शरीर की भीतरी तहों में घुसे जा रहे। प्रकृति के भयावह रूप को देख कर वह घबरा सा गया। उसकी दीन आँखें अँधेरे की पर्तों में हलके प्रकाश की किरण पा सकने के लिए छटपटा उठीं। मस्तिष्क में भयानक कोलाहल समा गया। सिगरेट का एक कश खींच कर उसे कुछ सान्त्वना सी मिली। तभी दिमाग में एक विचार रह-रह कर उठने लगा—यह विशाल पुल अँधेरी सर्दी की रात और बारिश की संभावना यह जमुना जो टकराती किनारों को झकझोरती बही जा रही है। यहाँ उसका, एक आदमी का क्या अस्तित्व है? यह पुल, इसका गर्डर उसकी हड्डियों को पीस सकता है। यह जमुना की धार उसे अभी निगल सकती है!

तभी एक गाड़ी पुल के ऊपर से घड़घड़ाती निकलने लगी। इंजिन की सांसों की भयानकता, कठोर लोहे के पहियों की रगड़। उसे लगा जैसे अभी यह पुल काँप कर टूटा जा रहा है। और तब उसका अस्तित्व, पुलिस कॉन्स्टिबल रामसिंह का अस्तित्व! घबरा कर उसने सिगरेट होठों से लगा ली; एक कस खींचा, कुछ स्वस्थ सा हुआ। एक कुत्ता जाड़े में सिकुड़ता अपनी पूँछ को पिछली टाँगों में दबाए चुपचाप उसके पास से निकला जा रहा था। रामसिंह ने अपने बूट की एक भरपूर ठोकर उसके लगाई और कुत्ता बुरी तरह चिचियाता उस के अस्तित्व की घोषणा करता जल्दी-जल्दी भाग गया। रामसिंह के ओठों पर एक रेखा उभर कर मिट गई। उसने आसानी से अपनी बाँहों को झटका दिया और आराम से रास्ते पर आती रोशनी की ओर देखने लगा।

वह रोशनी एक ट्रक की थी चढ़ाव पर फ़र्स्ट गेयर में चढ़ती गाड़ी के लोड के साथ-साथ धीमी और तेज़ होती जा रही थी। ट्रक नज़दीक आ गया था; घूमते समय उसकी रोशनी एयरोड्रोम की सर्चलाइट की तरह जमुना के ढाल पर पड़ कर अपने पर आ गई। उस रोशनी में रामसिंह ने देखा एक छाया धीरे-धीरे

जमुना की धार की ओर बढ़ती जा रही है। उसने ट्रक को हाथ दिया और वह अपने रास्ते पर चली गई। फुर्ती से उसने कटीले तारों को पार किया और झाड़ों से गिरी रेतीली पगडंडी पर आ गया। छाया निरन्तर धार की ओर बढ़ती जा रही थी और रामसिंह के बूट भी रेत में सप-सप की ध्वनि के साथ चलते जा रहे थे। उसने टार्च की रोशनी छाया पर फेंकते हुए तेज़ आवाज़ में कहा—"कौन है रुक जाओ।"

छाया बड़ी आसानी से रुक गई और टार्च की रोशनी में एक आदमी में बदल गई जो अपने कोट के कालर को ऊपर उठाए पतलून की जेब में हाथ डाले खड़ा था। जैसे शायद किसी परिचित ने उसे पुकारा हो।

"कौन हो तुम?' रामसिंह ने भर्राई आवाज़ में पूछा

"हूँ...क्या सवाल किया है आपने, जो आप हैं वही मैं भी हूँ"—वह आदमी बोला "लेकिन इस"... रामसिंह कहने जा रहा था कि बीच में ही काटते हुए वह आदमी बोल पड़ा: "इस वक़्त यहाँ किसलिए। यही न" और कहता गया—"आप विश्वास रखिए मैं आत्म हत्या के इरादे से यहाँ नहीं आया हूँ।"

"तब कोई मुनासिब काम और आपके यह बात करने का अजीब ढंग" ओठों को कसते हुए रामसिंह बोला।

"मेरा ढंग अजीब है! पर मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि मैं बिलकुल ठीक हालत में हूँ; मैंने ऐसी कोई चीज़ इस्तेमाल नहीं की है जो मुझे मेरे काबू के बाहर कर दे।"—बड़ी आसानी और गंभीरता से उस आदमी ने कहा।

रामसिंह को कुछ खल सा गया। यहाँ इस सुनसान रात में एक साधारण मनुष्य ऐसी बेतुकी बातें कर रहा है। रामसिंह के डील डौल देख कर लोग कितना डरते हैं: वह यही सोच रहा था। और फिर उसकी वर्दी! रौबीला मुख और सबसे अधिक रौबीली उसकी वे बिच्छू के डंक की तरह ऐंठी हुई मूँछें! पर शायद यहाँ अंधेरा अधिक गहरा है। तो रामसिंह बोला: "आप घूमने आए होंगे तो फिर चलिए वहीं पुल पर बातें ही होंगी।"

"जरूर...पर...' वह आदमी कहने जा ही रहा था कि गाड़ी की गड़गड़ाहट से सारा वातावरण गूँज गया। पहियों की रगड़ और सर्द हवा की साँय साँय भयानकता लेकर छा गई और उसके शब्द उसी शोर में डूब कर रह गए। पानी में छपाक की आवाज़ हुई और मिटने लगी।

दोनों आकर पुल पर खड़े हो गए। उस आदमी ने चबूतरे पर बैठते हुए कहा: "सर्दी बढ़ती जा रही है।"

"शायद पानी भी बरसे"—रामसिंह बोला।

पुल के भीतर शहर जाने वाली सड़क पर रोशनी चमक उठी पर अभी दूर थी, उस पार वाले कॉन्सटेबल ने अभी शायद उसे पास किया ही होगा। उधर देखते हुए रामसिंह ने पूछा: "आप रहते कहाँ हैं।"

"यहाँ से क़रीब चार मील दूर"—वह आदमी बोला।

"माफ़ कीजिएगा मैंने जो बेतुके सवाल पूछे क्योंकि यहाँ ऐसी ख़तरनाक बारदातें रोज़ होती रहती हैं।"—कहते कहते रामसिंह पास आती रोशनी को ताकने लगा। तभी पुल के इस्पाती शरीर से कोई फूली हुई सी चीज़ टकरा कर बिखर गई। गीलापन अनुभव करते ही वह आदमी कुछ सरक गया और बोला: "उफ़ ज़ोर की बारिश पड़ने लगी है।"

रोशनी नज़दीक आ गई थी। रामसिंह ने हाथ देकर गाड़ी को रोका। लारी में भीतर रोशनी हो रही थी और बाहर की रोशनी में वर्षा की बूँदें गुबार में ऐसे चमक रहीं थीं जैसे बिजली की रोशनी में झिलमिलाती नौशा की कार पर पड़ी रेशमी गोटे की बारीक़ डोरियाँ। और भीतर से मादक क्रीम और ऊनी कपड़ों की मिली हुई जवान सी महक उस जगह में भर गई। काँच फूटने ऐसे कोमल स्वर बस की सीमा में चमकते वे तमाम गोरे गोरे चेहरे...काले चमकते बाल और उनमें बँधे रिबन, चूड़ियाँ, पर्स और वह जीवन पूर्ण उनके इर्द गिर्द वातावरण। एक नशा सा छा गया। उसने ड्राइवर से मालूम करके कि वह एक गर्ल्स कालिज की बस है जो पिकनिक से वापस आ रही है, हाथ दिया और बस चली गई।

"क्या हाल है साहब"—रामसिंह ने व्यंग से पूछा।

"कुछ नहीं कुछ समाँ बदल गया लेकिन इन ख़ुशनसीबों के साथ हमारी क्या पटरी?"—वह बोला।

"यह अच्छा है कि आपकी पटरी नहीं बैठती...

नहीं तो यह औरत की ज़ात बड़ी बेवफ़ा होती है—" रामसिंह ने जैसे गहरे अनुभव को याद करते हुए कहा।

"मालूम होता है आपको कुछ कटु अनुभव हो चुका है।"—उस आदमी ने पूछा।

"जी हाँ इन्हीं कारणों पर...और बारदातों को छोड़िए पर एक कहानी जो मेरे दोस्त की है आपकी आँखें खोल देगी"—कहकर रामसिंह गहरी नज़रों से उसे ताकते हुए और अपने विशाल प्रत्यक्ष अनुभव पर जैसे गर्व महसूस करते हुए अन्दाज़ से कहता गया: "वह रोज़ यहीं उससे मिलता था, वह खुद रोज़ उसे बुलाती थी। वे दोनों बहुत देर तक यहीं वीरान में बातें करते थे। वह मुस्करा कर बात करती थी वह फूल उठता था। उस बेचारे ने कभी उसके बदन को हाथ तक न लगाया, हमेशा उसे पूज्य समझता रहा, प्यार करता रहा क्योंकि वह ग़रीब थी और वह उसकी ग़रीबी का नाजायज़ फ़ायदा नहीं उठाना चाहता था। वह उसको रुपए पैसे से भी मदद करता रहा। वह पाक था पर..."

"दुनिया न देख सकी"—बात काट कर वह आदमी बोल पड़ा।

"जी नहीं"—झुँझलाते हुए रामसिंह ने उसे तुच्छ नज़रों से देखा और अपनी बात की अहमीयत पर ज़ोर डालने के लहज़े में बोला: "उसे सात साल की सख़्त क़ैद हुई...आप नहीं समझ सकते कि क्यों? इसलिए कि उस औरत ने किसी दूसरे से उत्पन्न बच्चे को उसका बच्चा बतलाया और अपने आँसुओं में सचाई को डुबो कर उसे सात साल की सख़्त क़ैद करने के लिए मजबूर कर दिया...आज भी मेरा वह दोस्त जेल के सींकचों के भीतर अपने प्यार को भुगत रहा है।"

"हो सकता है पर सबके साथ नहीं"—बड़ी आसानी से वह आदमी कह गया।

रामसिंह अपने में तिलमिला सा उठा। इतनी महत्वपूर्ण बात को उस आदमी ने तुच्छ बना कर छोड़ दिया था। वह अपने में घुट रहा था। बादल गड़गड़ा उठे और बिजली कौंध उठी, तारों के सहारे रेंगती पानी की बूँदें मोती की तरह चमक उठीं और उसी क्षणिक रोशनी में उस आदमी की कमीज़ पर पड़ा एक गहरा स्याह धब्बा चमक उठा। रामसिंह एकदम बोल उठा: "यह आपकी कमीज़ पर खून कैसा है?"

"अरे रास्ते में एक गधे से टकराते हुए बच्चे को उठाने में लग गया था"—वह कह गया।

"हूँ"—कह कर रामसिंह ख़ामोश हो गया।

"आप यहाँ कब तक रुकेंगे"—उस आदमी ने पूछा।

"मेरा 'वान' अब आता ही होगा, मुझे 'पिक' करके उस पार वाले कॉन्सटेबल को 'पिक' करेगा और वापस चला जाएगा, पर आज देर बहुत हो रही है"—रामसिंह ने कहा। और कुछ सोच कर फिर बोला: "पर आप कैसे जाएँगे इस पानी में?"

"पैदल ही जाऊँगा और कौन सा ज़रिया मेरे पास है"—वह बोला।

उसकी एक कमी को देखते हुए रामसिंह ने अपने मोटे पर्स का ध्यान किया और पैसे का असर उसे बहा ले गया, बोला: "आपकी दुआ से पैसों की कमी नहीं रहती मेरे पास...आख़िर अब तो आप मेरे दोस्त हो गए हैं लीजिए पैसे मैं दे दूँगा आप रिक्शे से चले जाइएगा"—कह कर उसने पर्स निकाला तभी दो रोशनियाँ एकदम पास ही चमक उठी; पर्स उस आदमी को देते हुए और कहते हुए: "एक अठन्नी निकाल लीजिए" वह हाथ देने में तल्लीन हो गया। पर 'बस' उसी के पास रुक गई वह पुलिस वान ही था जो उसे 'पिक अप' करने आया था। उस आदमी के हाथ से पर्स लेकर वह कूद कर उसमें चढ़ गया। 'वान' उस पार वाले कॉन्सटेबल को लेने के लिए पुल के भीतर चल दिया। "फिर यहीं मिलेंगे"—रामसिंह की आवाज़ गूँजी और वह देखता रहा। 'वान' की पिछली रोशनी में उसने देखा एक नोट पत्थर के कोने से चिपका फड़फड़ा रहा था। झुक कर उसने उसे उठाया, देखा, पर विचार आया...शायद पैसे निकालते वक्त गिर गया है। यह रामसिंह का ही है...पर यह नोट है...जूते की पालिश...ब्लेड...कल का नाश्ता...और बहुत कुछ, पर कितने दिन! लेकिन यह नोट जो है पर यह आदमी पर रहे सहे उसके विश्वास को भी मिटा सकता है.. औरत पर उसे विश्वास नहीं...रामसिंह को जो अब उसका दोस्त है, उसकी हमदर्दी...इसे रखना बेईमानी है और 'वान' उस पार से अभी लौटता होगा। कुछ क़दम चल कर वह रुक गया। वान वापस जा रहा था। उसके नज़दीक पहुँचते ही एक आवाज़ के साथ वह रुक गया और उसके कानों में आवाज़ पड़ी: "यही

है बदमाश पकड़ लो।"

दो आदमियों ने कूद कर उस आदमी को भीतर 'वान' में डाल दिया। वह हकबका सा गया, एकदम बोला : "आपका नोट देने के लिए ही मैं रुक गया था।"

"चुप रह बदमाश"—कड़कती आवाज़ में रामसिंह बोला। 'वान' अपनी राह पर चल दिया था। अगली सीट पर बैठे दीवान जी शायद अधूरी बात पूरी कर रहे थे : "उसका बचना मुश्किल है, बड़ी बेरहमी से मारा है...सुनने में आया है कि किसी औरत के पीछे रंजिश मान कर किसी ने यह काम किया है अभी दो ढाई घण्टे पहले की बात है।"

"लेकिन"—वह आदमी! रामसिंह ने बड़ी दीनता से बोला।

उसकी कमीज़ पर टार्च की रोशनी डालते हुए रामसिंह ने हिक़ारत से उसे ताका। वह कुछ बोलने को ही हुआ था कि एक ज़ोर का तमाचा मारते हुए घृणा से रामसिंह ने उसे अपने नज़दीक से भारी बूट की ठोकर से सरका दिया। 'वान' घुरघुराता हुआ शहर की आबादी में पहुँचता जा रहा था और सर्दी तथा मार के बोझ से वह आदमी बड़ी दीनावस्था में टाँगें सिकोड़े बैठा था जैसे कसाई का बकरा हो और रामसिंह की आँखों में पाशविक विजय की चमक थी। उसकी बिच्छू के डंक सी मूछों, भारी बूटों और भारी भरक़म शरीर का पूरा दबदबा और रौब उस आदमी पर छा गया था। वह अपनी मूछों के डंक और भी पैने कर रहा था और उसकी छाती पूरी साँस से फूल सी उठती थी और जंगली सन्तोष तथा हैवानियत के सुख से उसका मुख चमक रहा था। और 'पुलिस वान' अपनी गति से सड़कों, दूकानों और बाज़ारों को, जहाँ इन्सान का अस्तित्व है, पार करता निरन्तर अपनी राह पर बढ़ा जा रहा था।

३४७, बादशाही मण्डी,
इलाहाबाद—३

—कमलेश्वर

वृक्ष और संगीत

वृक्षों को संगीत अति प्रिय है। वृक्ष नारी का स्वर सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। मधुर स्वर सुन कर वृक्षों का जीवन-तत्व विचलित और गतिमान हो उठता है। नियमित संगीत वृक्षों की स्वस्थ उन्नति में बड़ा सहायक होता है यद्यपि लगातार अधिक संगीत उन्हें थका भी डालता है। कुछ विशेष राग पौधों के लिए घातक भी सिद्ध होते हैं।

पौधों पर पुरुष और नारी के स्वरों के प्रभाव की भी जाँच की गई है। पौधे पुरुष स्वर के प्रति उदासीन रहते हैं। नारी का स्वर उनमें स्पन्दन उत्पन्न करता है और वे बढ़ने लग जाते हैं। खेती और फ़सलों पर संगीत के प्रभाव के सम्बन्ध में व्यापक प्रयोग और गवेषणा की जा रही है।

—(प्रो.) टी. सी. सिंह
अन्नमलाई विश्वविद्यालय

कला-चर्चा

हैदराबाद में पन्द्रहवीं अखिल भारतीय कला-प्रदर्शिनी १९५६

१५ जनवरी १९५६ की सायं हैदराबाद कला परिषद् द्वारा आयोजित अखिल भारतीय कला-प्रदशर्नी का उद्घाटन डाक्टर गुलाम याज़दानी ओ. बी. ई. के कर कमलों से सम्पन्न हुआ।

हैदराबाद कला परिषद् के अध्यक्ष श्री एल. एन. गुप्ता आई. एस. एस. ने अपने मुख्य अतिथि का स्वागत करते हुए कहा कि कला की शिक्षा का देश की प्रगति में हाथ रहा है। उन्होंने कहा कि भारतीय कला की रुझान से ज्ञात होता है कि इसमें तीन धाराएँ प्रमुख हैं—परम्परा, लोक तथा आधुनिक। आपने इस बात पर अधिक जोर दिया कि कलाकार को व्यापक दृष्टिकोण से उक्त तीनों धाराओं को अपनाना चाहिए। श्री गुप्तजी बताया कि हैदराबाद कला परिषद् ने भी कला की उल्लेखनीय सेवाएँ की हैं।

डा॰ गुलाम याज़दानी ने उद्घाटन भाषण देते हुए कहा कि उन्हें हैदराबाद शासन के अन्तर्गत रह कर कला के समीप रहने का शुभ अवसर भी प्राप्त हुआ है और इसलिए वह कला को कुछ समझ पाए हैं और उस पर कुछ बोल सकते हैं।

इस अवसर पर कालाकारों तथा कला-समालोचकों के अतिरिक्त राज्य कर्मचारी, जन-नेता तथा कला-प्रेमी भी भारी संख्या में उपस्थित थे।

कला केवल मनोरंजन के ही लिए नहीं होती जैसा कि उसकी खूब सूरत तसवीरों तथा प्रतिमाओं को देख कर अनुभव किया जा सकता है। ऐसा समझना कला के प्रति अन्याय है। व्यापकता से यदि समझा जाए तो कला देश की सांस्कृतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव डालती है और देश की सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को सुलझाती है। वह भावना और विचारों को भी निखारती है।

पिछले दो सौ वर्षों से भारत विदेशी राज्य के आधीन रहने से कला में अधिक प्रगति नहीं कर पायी। उत्तर भी 'कांगड़ा धारा' बढ़ी क्योंकि वह विदेशियों के प्रभाव से ज़रा दूर ही रही। अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी फ़ौज़ी अफ़सरों ने भारतीय कला की शैली पर काफ़ी प्रभाव डाला। राजा रवि वर्मा के चित्र भारत के साथ साथ पश्चिम में भी लोकप्रिय हुए।

मुग़लों के समय में लखनऊ, बनारस तथा जयपुर में भारतीय कला का विशेष विकास हुआ।

१८ वीं शताब्दी में यूरोपीय कलाकारों ने कलकत्ता तथा अन्य प्रान्तों में कला के स्कूल स्थापित किए और वह स्वयं उन स्कूलों के अध्यक्ष रहे। इस प्रकार भारतीय कला में पश्चिमी रंग भरा गया जो भावना एवं अनुभूति के स्थान पर बाह्य रूप तथा ऊपरी चमकदमक से भरपूर था। भारतीय कला की सुन्दरता अन्तः आत्मा को बाहर लाकर प्रस्तुत करने में ही है जब कि विदेशी कला में अन्दर झाँकने की कला नहीं थी। कला को बनावटी तथा ऊपरी तौर से परखना कुछ मशीन का-सा काम हो जाता है। फ्रान्स के प्रभाववादियों ने गत शताब्दी में इस रूखी शैली से निकल कर अन्तः देखने की कोशिश की थी। फिर अंग्रेज़ ने भी उनका अनुसरण किया। और बाद में भारत में भी यह किरण दिखाई दी।

कलकत्ता स्कूल के अध्यक्ष श्री हैवेल भारतीय कला की वास्तविक आत्मा को पहिचान पाए और उन्होंने भारतीय कला के सही रूप को विदेशियों के सम्मुख प्रस्तुत किया। श्री हैवेल को इस महान् कार्य में डाक्टर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ। प्रभाववादी धारा की झलक हमें यामिनी राय, चुगताई तथा अमृत शेरगिल की कला-कृतियों में मिल सकती है। बम्बई शैली में अवश्य अजन्ता तथा एलोरा की छाप दिखाई देती है।

गत महायुद्धों ने कला में निश्चय ही बड़ा परिवर्तन एवं आन्दोलन पैदा किया और अनेक वादों का

प्रादुर्भाव हुआ।

डाक्टर यज़दानी ने कहा कि उन्हें विश्वास है कि नवाब मेहदी नवाज़ जंग ग्रामीण जनता के लिए इस प्रकार की योजनाएँ बनाएँगे। उन्हें इस बात को जान कर बड़ा हर्ष हुआ कि हैदराबाद कला-परिषद् के अध्यक्ष श्री गुप्त की योग्य संरक्षता में यहाँ की जनता को देश की कला के बारे में समय-समय पर जानकारी होती रहती है।

उन्होंने यह भी बताया कि हैदराबाद कला-परिषद् के अवैतनिक मन्त्री श्री विश्वनाथ मुखर्जी तथा उपमन्त्री श्री मसूद अहमद ने राज्य की सांस्कृतिक शिक्षा की प्रगति के लिए बड़ा योगदान दिया है।

प्रदर्शिनी पर सरसरी चर्चा करते हुए हैदराबाद कला-परिषद् के मन्त्री तथा १५ वीं अखिल भारतीय कला प्रदर्शनी के संयोजक श्री विश्वनाथ मुखर्जी ने बताया कि ५० वर्ष पूर्व भारत की आधुनिक कला का स्वर्गीय श्री हैवेल के सहयोग से डॉ० अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने सूत्रपात किया था। डा० नन्दलाल बसु, असित कुमार हलदर, डी० पी० राय चौधरी, स्वर्गीय रमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, स्वर्गीय शारदा चरण उकील, अब्दुर रहमान चुगताई तथा वेंकटप्पा आदि की कृतियों से कला सम्पन्न हुई।

प्रस्तुत प्रदर्शनी में विभिन्न प्रकार की धाराओं की रचनाएँ आपको मिलेंगी और यह जानकर बड़ा आनन्द होता है कि इस वर्ष अत्यधिक रचनाएँ प्रदर्शनार्थ आई हैं। लगभग ढाई सौ देशों के विभिन्न कलाकारों की साढ़े चार सौ कलाकृतियाँ हमें प्राप्त हुई थीं जिनमें से दो सौ सतरह कृतियाँ छांट कर आपके सामने प्रस्तुत की गई हैं। कई योग्यता के प्रमाण पत्र तथा पुरस्कार भी योग्य रचनाओं को दिए गए। इस वर्ष की विशेष बात यह है कि एक 'एमेच्यूर विभाग' जिसमें ५० रचनाएँ प्रदर्शनार्थ रक्खी गई हैं। १००, ५०, २५-२५ रु० के अनेक पुरस्कार उदीयमान कलाकारों को प्रदान किए गए।

अखिल भारतीय उद्योग प्रदर्शिनी का स्वर्ण पदक स्थानीय फाइन आर्ट्स कालेज के अध्यापक श्री उस्मान सिद्दीक़ी को उनकी 'श्रीराम' नामक प्रतिमा के लिए दिया गया है। जो इस वर्ष प्रदर्शिनी की सुन्दरतम रचना घोषित की गई है।

हैदराबाद कला परिषद् वास्तव में सब उस सहयोग के लिए आभारी है जो उसे भारतीय कलाकारों से इस महान् कार्य में मिला है और हर्ष की बात तो यह है कि इस प्रदर्शिनी में श्रमजीवी कलाकारों की संख्या बढ़ती जा रही है।

अखिल भारतीय औद्योगिक प्रदर्शिनी कमेटी इस बारे में बहुत ही धन्यवाद की पात्र है क्योंकि उसने राज्य में कला जीवन को प्रोत्साहन देने में बड़ा योग दिया है।

रचनाओं में इस वर्ष निश्चय ही पहले से तरक्की की झलक दिखाई देती है। यद्यपि कुछ कलाकार इस प्रदर्शिनी में भाग नहीं ले सके। जैसे कि प्रसिद्ध एन० सी० भट्टाचार्य, अनिल राय चौधरी, विश्वनाथ मुखर्जी, विद्याभूषण, जगदीश मित्तल, कमला मित्तल, पी० टी० रेड्डी तथा वीरेन डे आदि।

उन कलाकारों की रचनाओं को प्रतियोगिता के लिए नहीं के तौर पर प्रदर्शित किया गया था।

प्रदर्शिनी ने ऊर्मिला शा, आर० वी० राजू, और कोण्डल रेड्डी जैसे कुछ नये कलाकार भी सामने आए हैं।

कम्पोज़ीशन सेक्शन में पहला इनाम दिल्ली के अहपदास को उनके 'हरे भरे खेत में संगीत' नामक शानदार रचना के लिए मिला और बी० व्ही० नरसिंहराव की "समुद्रगुप्त द्वारा लंका के लोगों का स्वागत" दृश्य विभाग में विमलदास गुप्त (दिल्ली) को उनकी 'समुद्र तट' रचना पर मिला।

इनके अतिरिक्त प्रदर्शिनी में और भी मनमोहक रचनाएँ दिखाई गई हैं जिनसे भारतीय कला की विभिन्न धाराओं का ज्ञान होता है।

इस वर्ष इस प्रदर्शिनी के विद्यार्थी विभाग के लिए श्री एम० अज़ीदुल्लाह आई० पी० ए० का १००) का दान विशेष उल्लेखनीय रहा जो इनामों के रूप में प्रतियोगियों को दिया गया।

प्रदर्शिनी में आपको श्रीमती रमा मुखर्जी (प्रयाग) और ए० पी० दुबे (बंगलौर) के भारतीय शैली पर मधुर रंगों की योजना में सुन्दर रचनाएँ भी देखने को मिलेंगी।

हैदराबाद दक्षिण.

—नीहार

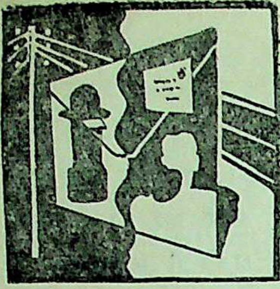

चिट्ठी-पत्री

(१)

प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन : भारतीय स्तर पर

जनवरी की 'अजन्ता' में "प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन : भारतीय स्तर पर" शीर्षक टिप्पणी पढ़ी। उसमें आपने सामयिक प्रश्न की बड़ी मार्मिक आलोचना की है और हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विरोध की जड़ को सर्वथा उन्मूलन करने की समुचित सलाह भी दी है। आपका यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि "भारतवर्ष के भविष्य के महान् कवि, पत्रकार और लेखक वे ही हो सकेंगे जो हिन्दी के साथ-साथ भारतवर्ष की कई भाषाओं के न केवल पंडित होंगे अपितु साहित्यकार भी होंगे।" 'नारद-स्मृतिकार' ने भी मध्यदेश के पंडितों के सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार की बात कही थी। उस समय उसी को 'गुरु' या आचार्य कहा जाता था जो केवल संस्कृत ही नहीं, देश में प्रचलित अन्य प्राकृतों से भी परिचित होता था। 'नारद स्मृति' का समय कदाचित् छठी शताब्दी है। संस्कृत के नाटकों में भी विभिन्न श्रेणी के पात्रों से भिन्न-भिन्न प्राकृतों के व्यवहार की व्यवस्था थी।

क्योंकि प्राचीन साहित्यकार का लक्ष्य केवल 'मध्यदेश' नहीं होता था, समस्त भारतवर्ष उसकी आत्मा में प्रतिध्वनित होता था; तभी उनकी कृतियों को अखिल भारतीय मान्यता प्राप्त होती थी। जब हिन्दी का साहित्यकार प्रमुख अहिन्दी (विशेषकर भारतीय) साहित्य का अध्ययन करेगा तो उसकी कृतियों में निःसंदेह गहनता और व्यापकता आएगी और उनमें समस्त भारतीय भाव-वैभव की एक मनोरम छटा के भी दर्शन होंगे। अभी कुछ समय पूर्व जब मैं मैसूर गया हुआ था तब वहाँ के प्रसिद्ध हिन्दी-सेवक वेंकटाचल शर्मा ने मुझे बतलाया कि उनके पास आज से पाँच सौ वर्ष पुराना एक व्याकरण है, जिसमें भाषा की दृष्टि से उत्तर तथा दक्षिण की भाषाओं का तुलनात्मक समन्वयन है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन युग में भारतीय विद्वान् एक से अनेक भाषाओं पर आधिपत्य प्राप्त करने का यत्न करते थे। यदि भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाए और हमारे हिन्दी के विद्वान् उत्तर के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं से परिचित होने का यत्न करें तो हिन्दी-विरोध बहुत शीघ्र शान्त हो जाएगा।

धर्मपेठ एक्सटैन्शन,
नागपुर

—विनयमोहन शर्मा

(२)

'अजन्ता' जनवरी '५६ के अङ्क में उसके सम्पादक ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सामयिक समस्या की ओर साहित्यकारों एवं भाषाविदों का ध्यान आकर्षित किया है। भारतवर्ष में सम्प्रति प्रान्तीय भाषाओं की समस्या केवल इसलिए नहीं विचारणीय हो गई है कि उनकी समृद्धि होनी चाहिए, बल्कि इसलिए भी देश की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकता तथा उनकी समष्टि की अभिव्यक्ति की सुरक्षा भी इस समस्या से सम्बन्ध रखती है। इन दृष्टियों के अतिरिक्त देश की सर्वांगीण उन्नति तभी संभव है, जब उसकी सभी प्रान्तीय भाषाएँ, सभी दृष्टियों से पूर्ण हो जाएँ। इन बातों पर किसी भी विचारशील भारतीय की असहमति नहीं हो सकती। इसलिए प्रान्तीय भाषाओं का क्या महत्व है अथवा देश की प्रगति में वे कहाँ तक योग दे सकती हैं, इस प्रकार के प्रश्न उठ ही नहीं सकते। समस्या तो यह है कि किन साधनों से प्रान्तीय भाषाएँ विकसित एवं समृद्धिशाली बन सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि सभी प्रान्तीय भाषाओं का भारतीय स्तर पर और व्यापक पैमाने पर अध्ययन किया जाए। तभी उनमें वह शक्ति आ सकती है, जिसकी अपेक्षा है और जिसे पाकर ये भाषाएँ भारतीय अभि-

व्यक्ति के लिए समर्थ बन सकती हैं। मैं समझता हूँ जहाँ तक समस्या का प्रश्न है, वह निर्विवाद है; किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि प्रान्तीय भाषाओं का भारतीय स्तर पर अध्ययन किस प्रकार प्रोत्साहित किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में सम्पादक महोदय ने केन्द्रीय प्रशासन के उपगृहमन्त्री श्री बी. एन. दातार द्वारा कथित भारतीय सरकार की एक योजना की ओर संकेत किया है। यद्यपि इस प्रकार की योजना निश्चित ही इस ओर एक लाभदायक प्रयत्न है। परन्तु इतने मात्र से ही अभीष्ट की सिद्धि सम्भव नहीं है।

मैं सम्पादकीय की इस बात से सहमत हूँ कि "इस बात का भी प्रयत्न किया जाना चाहिए कि प्रत्येक भारतवासी को यह अनुभव हो कि इस विशाल देश में जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, वे सब उसकी अपनी भाषाएँ हैं।" जन-जीवन में इस प्रकार की भावना का उदय केवल विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने से सम्भव नहीं है। इससे तो कुछ सीमित लोग सुविधाओं के लालच से परिपाटी रूप में प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन उसी प्रकार करेंगे, जैसे अनेक प्राचीन और विदेशी भाषाओं का अध्ययन कुछ विश्वविद्यालयों में हो रहा है। समस्त प्रान्तीय भाषाओं में प्रत्येक भारतवासी को अपनत्व का अनुभव तभी हो सकता है जब वस्तुतः उनमें उन्हें अपनत्व दिखलाई दे। मेरे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रान्तीय भाषाओं में भारतीयता या भारत की अपनी चीज़ नहीं है। किन्तु जैसा कि सम्पादकीय में ही संकेत किया है: "ये समस्त भाषाएँ एक देश की और एक ही प्रकार की संस्कृति से अनुप्राणित होती हुई भी एक दूसरे से न केवल अपरिचित हो गई हैं, अपितु आज उनमें इस प्रकार की दूरी आ गई है कि वे अपने को जितना क्षेत्रीय या प्रान्तीय समझने लग गई हैं, उतना भारतीय नहीं।" जब तक प्रान्तीय भाषाओं में इस प्रकार की कमी है, तब तक उनका भारतीय स्तर पर अध्ययन संभव नहीं है। इस कमी को कुछ सीमित विश्वविद्यालयों का एकांगी अध्ययन भी दूर नहीं कर सकता। इसे दूर करने के लिए सबसे अधिक प्रयत्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों को इस कमी का अनुभव करना चाहिए। और इस दृष्टि से भाषा को पूर्ण बनाने की पूरी चेष्टा उनकी ओर से होनी चाहिए। इस चेष्टा के दो पहलू हो सकते हैं। पहला यह कि वे दूसरी भाषाओं की चीज़ को व्यापक बना कर प्रान्तीयता की छाप से उसे मुक्त करें। यहाँ दूसरी भाषाओं की चीज़ लाने का तात्पर्य अनुवाद से नहीं है। दूसरी भाषाओं के अनूदित ग्रन्थों से किसी भाषा में मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता। बल्कि दूसरी भाषाओं की विशेषताओं से अपनी भाषा को भूषित करने से ही उसकी मौलिक पृष्ठभूमि सुदृढ़ तथा विकसित हो सकती है। इस प्रकार का प्रयत्न व्यापक पैमाने पर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों की ओर से होना चाहिए।

इस कार्य में अर्थात् प्रान्तीय भाषाओं को प्रत्येक भारतवासी को अपनी भाषा बनाने में सबसे महत्वपूर्ण काम एक दूसरी प्रवृत्ति कर सकती है, जिसके सम्बन्ध में हम विस्तार से कुछ कहना चाहेंगे। यदि किसी प्रान्तीय भाषा में ऐसे चार छः उच्च कोटि के साहित्यकार पैदा हो जाएँ, जिनकी भाषा प्रान्तीय भाषा न हो, तो उस भाषा में व्यापकत्व और विकास का पथ अधिक प्रशस्त हो जाए। यह प्रवृत्ति दोनों भाषाओं के लिए कल्याणप्रद होगी। जैसे, यदि उच्च कोटि के चार मराठी साहित्यकार बंगला के भी साहित्यकार हो जाएँ तो वे केवल मराठी को ही बंगला भाषाभाषियों के लिए प्रिय न बना देंगे, अपितु अपनी बंगला भाषा की रचनाओं को पढ़ने के लिए मराठी भाषा-भाषियों को प्रेरित भी कर सकेंगे। इस प्रकार के द्विभाषी साहित्यकार जहाँ दो भाषाओं को जोड़ने की कड़ी का काम करेंगे वहाँ वे दोनों भाषाओं को प्रान्तीयता के दायरे से मुक्त साहित्य दे सकेंगे। यह तो मैंने एक उदाहरण मात्र दिया। इस प्रकार की प्रवृत्ति यदि व्यापक हो जाती है और, संयोगवश यदि किसी प्रान्तीय भाषा में सभी प्रान्तीय भाषाओं के दो-दो, चार-चार अच्छे साहित्यकार आ जाते हैं, तो वह भाषा निश्चित ही अखिल भारतीय भाषा बन जाएगी। इस प्रवृत्ति का पैदा हो जाना कोई कठिन नहीं है। किसी भाषा की ओर से ऐसा प्रयत्न आरम्भ हो जाने पर, बड़ी शीघ्रता से यह फैल सकती है। इसके लिए प्रत्येक भाषा को प्रयत्न करना चाहिए।

प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों में उपर्युक्त प्रवृत्ति को जागृत करने के लिए दुतरफ़ा प्रोत्साहन होना चाहिए। उदाहरण के लिए गुजराती भाषा-भाषी अपने ऐसे साहित्यकारों को प्रोत्साहन और प्रश्रय तो दें ही, जो

दूसरी भाषाओं के साहित्यकार हों, साथ ही उन्हें दूसरी भाषा के साहित्यकारों को अपनी भाषा में लिखने के लिए आमन्त्रित एवं प्रोत्साहित करना चाहिए। हिन्दी भाषा की ओर से इस प्रकार का प्रयत्न हुआ है और हो रहा है। इसी का परिणाम है कि अनेक अन्य भाषा भाषी विद्वान् हिन्दी के उच्च साहित्यकार हैं। और, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त बनाने में इन विद्वानों एवं साहित्यकारों का महत्वपूर्ण योग है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'मुरारका पारितोषिक' हिन्दी के ऐसे लेखकों को दिया जाता है, जो अन्य भाषा-भाषी हैं। इस प्रकार का प्रोत्साहन प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों को विभिन्न भाषाओं के लिए दिया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में हिन्दी की ओर से भी जो प्रयत्न हो रहा है, वह एकांगी है। क्योंकि उसकी ओर से ऐसे हिन्दी लेखकों को तो प्रोत्साहित किया जाता है जो अहिन्दी भाषा-भाषी हैं; किन्तु ऐसे हिन्दी-तर लेखकों को नहीं प्रोत्साहित किया जाता जो हिन्दी भाषी हों। प्रान्तीय भाषाओं की ओर से दुहरा प्रोत्साहन प्रारम्भ होने पर हिन्दी वाले भी उसका अनुकरण करेंगे। मैं समझता हूँ कि विश्वविद्यालयों के अध्ययन की प्रोत्साहन देने की अपेक्षा यह प्रयत्न अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। विश्वविद्यालयों का अध्ययन केवल विद्यार्थी पैदा करेगा और इस प्रकार का प्रोत्साहन ऐसे साहित्यकारों को पैदा करेगा जो भाषाओं की सम्प्रति सीमा को तोड़ कर उन्हें एक रूप में गूँथ देंगे।

हमें यह न भूलना चाहिए कि किसी भाषा में विद्यार्थी पैदा करने के लिए अर्थात् किसी भाषा को अधिक प्रिय बनाने के लिए उसमें लोकप्रिय साहित्यकारों की आवश्यकता होती है। रवीन्द्र और शरत् साहित्य पढ़ने के लिए कितने ही अन्य भाषा-भाषियों ने बंगला सीखी है। कालिदास, वाल्मीकि तथा व्यास की रचनाओं को पढ़ने के लिए कितने ही विदेशियों ने संस्कृत सीखी है। इतिहास की यह सत्य घटना केवल इन साहित्यकारों की विशेषताओं के श्रवणमात्र से ही घटित हुई है। यदि रवीन्द्र और शरत् मराठी भाषा में भी दो-एक कृति दे सके होते तो आज मराठी और बंगला में अद्भुत एकता स्थापित हो गई होती। तब ऐसा नहीं हो सका; किन्तु अब ऐसा होना चाहिए। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकारों को भाषा सम्बन्धी विभेद और संघर्ष को समाप्त करने के लिए इस ओर क़दम बढ़ना चाहिए। सम्पादकीय में यह जो विश्वास प्रकट किया गया है कि: "भारतवर्ष के भविष्य के महान् कवि, पत्रकार और लेखक वे ही हो सकेंगे जो हिन्दी के साथ-साथ भारतवर्ष की कई प्रान्तीय भाषाओं के न केवल पंडित होंगे, अपितु साहित्यकार भी होंगे।"—जब तक प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक प्रान्तीय भाषाओं में सर्वजनीन विशेषताओं का आना सम्भव नहीं है। इसलिए मेरी धारणा है कि सरकारी प्रयत्न जो भी हो, उसका स्वागत तो होना ही चाहिए, साथ ही जनता की ओर से ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि ऐसे बहुभाषी साहित्यकार हमारे बीच पैदा हों जो अपनी लोकप्रियता से सैकड़ों हज़ारों लोगों को दूसरी भाषा सीखने के लिए बाध्य कर दें। मैं मानता हूँ कि ऐसा एक भी साहित्यकार इस दिशा में जो काम करेगा, वह विश्वविद्यालयों के अध्ययन से लाखों गुना अधिक होगा।

इस सम्बन्ध में एक निवेदन और कर देना आवश्यक समझता हूँ। विश्वविद्यालयों में प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन का पहलू अलग है और सार्वजनिक रूप से उनके अध्ययन का पहलू दूसरा है। प्रान्तीय भाषाओं में ऐसी पुस्तकों का बिलकुल अभाव है, जिनके माध्यम से अन्य भाषा-भाषी उनका अध्ययन कर सकें। प्रान्तीय भाषाएँ इधर ऐसी पुस्तकों को तो प्रस्तुत कर रही हैं जिनके माध्यम से हिन्दी सीखी जाए; किन्तु हिन्दी के माध्यम से या किसी अन्य भाषा के माध्यम से कोई प्रान्तीय भाषा सीखी जा सके, ऐसी पुस्तकों का प्रान्तीय भाषाओं में बिलकुल अभाव है। उदाहरणार्थ हिन्दी-मराठी, हिन्दी-गुजराती तथा हिन्दी-बंगला आदि कोशों का निर्माण तो हो रहा है; किन्तु मराठी-हिन्दी, गुजराती-हिन्दी या मराठी-बंगला जैसे कोशों की ओर किसी का ध्यान नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यकार या शुभेच्छु उसके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने की ओर बहुत कम सजग हैं। इसलिए जो कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

'अजन्ता' के विद्वान् एवं दूरदर्शी सम्पादक ने इस समस्या को उठाकर अपनी कुशलता का परिचय दिया है, मुझे आशा है, वे 'अजन्ता' के माध्यम से

इस प्रकार का आन्दोलन चला कर प्रान्तीय भाषाओं की समस्या को एक स्वस्थ दिशा दे सकेंगे। इस ओर रुचि रखने वाले अन्य विद्वानों से भी मैं निवेदन करूँगा कि वे सब इस समस्या पर अपने-अपने अमूल्य विचारों को सामने लाएँ। इन सबसे अधिक मेरा निवेदन प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे संगठनों से है जो अपनी भाषा की उन्नति में दत्तचित्त हैं। उन्हें इस आन्दोलन को क्रियात्मक रूप से चलाना चाहिए। मेरे मस्तिष्क में इस सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना है, जिसे यदि अवसर मिला तो शीघ्र ही प्रकाश में लाने का यत्न करूँगा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद **—ब्रजभूषण पाण्डेय**

(३)

नए वर्ष का नया अंक विशेष रूप से सुन्दर लगा। श्री दातार और रहमान साहब के चित्रों ने तथा श्रीयुत वंशीधर जी की कविता 'आम्र मंजरी' में अत्यधिक ठोस पकड़ है और वह मन के अति मानस को छूती है। 'इन्द्र' जी का गीत "हिन्दी का गीतकार" गीतकारों की समस्या को सामने रखता है।

इधर 'अजन्ता' में साहित्य के विशेष अंगों पर लेख देकर आप हिन्दी साहित्य की एक कमी पूरी कर रहे हैं। इस बार का श्री इस्सर जी का लेख 'कहानी कला' बहुत ही महत्वपूर्ण है और उनके गहन अध्ययन को दर्शाता है। मेरी सलाह है इस्सर जी इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखें। भाई मार्कण्डेय का एकांकी 'चिड़ियाखाना' बहुत अच्छा बन पड़ा है। तेलुगु साहित्य का लेख 'आमुक्त माल्यदा' सम्पूर्ण सूचनामय और उपयोगी है।

सबसे अधिक सराहना तो मैं आपके सम्पादकीय की करूँगा। अत्यन्त सूझबूझ के साथ ठोस और सही बात कही जाती है। इसी अंक में "प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन: भारतीय स्तर पर" तथा "भारतीय भाषाएँ और रोमन लिपि" पर आपने सही और महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। आपकी भविष्यवाणी कि—"भारत के भविष्य के महान् कवि, पत्रकार और लेखक वे ही लोग हो सकेंगे जो हिन्दी के साथ साथ भारतवर्ष की अन्य भाषाओं के न केवल पंडित होंगे अपितु उनके साहित्यकार भी होंगे।"—आने वाले जमाने का एक रूप रखती है। मेरा अपना विश्वास है कि हिन्दी वालों को अपने मठ और घरौंदे की परिधि व्यापक दृष्टिकोण से बनानी चाहिए।

श्रीयुत वंशीधर जी को हिन्दी पाठकों का ही नहीं वरन् अहिन्दी पाठकों का भी पूरा ध्यान रहता है और दोनों ही 'अजन्ता' से भविष्य में बड़ी आशाएँ रखते हैं क्योंकि आपकी नीति समन्वय, साधारणीकरण और सहयोग पर पूर्ण-रूपेण आधारित है। राष्ट्रभाषा की आप समृद्धि करते रहें—हमारी यह अन्तरतम हार्दिक कामना है।

५२४, अहियापुर,
इलाहाबाद **—प्रेमकपूर 'कंचन'**

(४)

'अजन्ता' का मैं नियमित पाठक हूँ। जैसी शिष्ट, सुसंस्कृत एवं उच्च स्तर की सामग्री 'अजन्ता' में मिलती है वैसी हिन्दी के एक दो पत्रों में ही रहती है। अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना है और फलस्वरूप उनमें सस्ती, भावुकतापूर्ण तथा मानसिक भोग के साधन जुटाने वाली सामग्री ही रहती है। या फिर कुछ पत्रिकाएँ ऐसी हैं जो वर्गविशेष की सीमा में बद्ध हैं। 'अजन्ता' में प्रकाशित रचनाओं के आधार पर मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इसके लिए निश्चय ही सम्पादक बन्धु बधाई के पात्र हैं।

जनवरी के अंक में श्यामा श्रीवास्तव तथा देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की कविताएँ विशेष पसन्द आईं। 'हिन्दी का गीतकार', मर्म को छूता है। पढ़ कर मन भारी हो गया। कुछ सोचने समझने के लिए विवश हो गया। बहुत सच्चा और चुभने वाला चित्र खींचा है 'इन्द्र' जी ने। लेखों में सर्वश्री जगन्नाथ पाठक, आदित्य मिश्र तथा बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख पसन्द आए। मार्कण्डेय का एकांकी शिथिल लगा। एकांकी का प्राण संघर्ष होता है। 'चिड़ियाखाना' में संघर्ष की कमी है, शिल्प की दृष्टि से भी एकांकी सफल नहीं है। हाँ कुछ संवाद बहुत सुन्दर हैं। मोपाँसा की कहानी का अनुवाद अच्छा है। 'कला चर्चा' अजन्ता का विशेष स्तम्भ है। 'नीर-क्षीर' में 'बुझते दीप' की स्पष्ट और निष्पक्ष आलोचना पढ़ कर तबीयत बाग़-बाग़ हो गई। यह उपन्यास पढ़ कर मैंने भी यही सोचा था कि आत्माराम ऐण्ड सन्स

जैसे प्रकाशक ने इसे छाप कर अपना स्तर नीचा किया है।

जनवरी अङ्क का सम्पादकीय "प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन : भारतीय स्तर पर" बहुत ही सामयिक है। अखिल भारतीय स्तर पर प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन के लिए जो सुझाव सम्पादकीय में दिए गए हैं उन पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए और फिर उनको कार्यान्वित करना चाहिए।

'अजन्ता' की उत्तरोत्तर उन्नति की शुभ कामनाओं के साथ—

७-१४०, स्वरूपनगर
कानपुर —विनोद रस्तोगी

(५)

'अजन्ता' का जनवरी '५६ अंक देखा। हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए।

मेरी अपनी धारणा यह है कि 'अजन्ता' हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट सज्जित मासिक पत्रिका है, भले ही अन्य व्यक्ति मेरी राय से सहमत हों या न हों। प्रस्तुत जनवरी अंक की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है—श्री वंशीधर जी द्वारा लिखित प्रथम सम्पादकीय टिप्पणी "प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन : भारतीय स्तर पर"। में इस मास के हिन्दी पत्र पत्रिकाओं के अपने यथासाध्य अध्ययन के आधार पर यह कह सकता हूँ कि 'अजन्ता' की उक्त टिप्पणी इस मास की सम्पादकीय टिप्पणियों में सबसे अधिक उपयोगी, सामयिक और प्रस्तुत समस्याओं के लिए बड़ा महत्व रखती है। इस अंक की अन्य सामग्री में श्री वंशीधर जी विद्यालंकार की 'आम्रमंजरी' कविता केवल आठ पंक्तियों द्वारा मधु-मास का एक सामान्य और भावपूर्ण चित्र हमारे मनों पर अंकित कर देती है। श्री जितेन्द्रकुमार की कविता में नयापन नहीं है—यही हाल आरसीप्रसाद सिंह का है। मालूम नहीं, श्री आरसीप्रसाद सिंह बार-बार दुहराई हुई अभिव्यक्तियों को लेकर अभी भी किस प्रकार चले आ रहे हैं। अन्य सामग्री में 'संत-साहित्य में सामजिक क्रांति की भावना' श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा लिखित विशेष उल्लेखनीय है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का लेख तो 'अजन्ता' के लिए नया नहीं है। अभिप्राय है उसका प्रकाशन अन्य पत्र पत्रिकाओं और पुस्तकों आदि में इससे पूर्व ही हो चुका है। दूसरी बात यह है कि श्री चतुर्वेदी जी ने अपने विषय का प्रतिपादन मौलिकता और पूर्णता से नहीं किया है। 'आमुक्त माल्यदा' और 'वर्ग समाज में कला की स्थिति' लेखों में विषय को कुछ इस ढंग से रखा है कि वह सरलता से बोधगम्य नहीं हो पाता। 'कहानी की कला' लेख विषय की दृष्टि से नवीनता से युक्त नहीं है। हाँ, 'संस्कृत काव्यों में परिहास के प्रकार' अच्छा लेख है। 'चिड़ियाखाना' साधारणतः अच्छा है और कहानी भी अच्छी कही जा सकती है। पर दिसम्बर-अंक में श्री कमल जोशी की कहानी 'शीराज़ी' की शिल्प, शैली और गठन के बारे में अभी भी सोचता हूँ तो मुग्ध हो जाता हूँ।

'अजन्ता' के स्तम्भ 'कलाचर्चा', 'सामयिक' और 'नीर-क्षीर' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कला-चर्चा' और 'सामयिक' स्तम्भ तो मानो 'अजन्ता' के व्यक्तित्व ही हों। ऐसे अच्छे स्तम्भ अन्य हिन्दी पत्रिकाओं में दुर्लभ हैं। 'नीर-क्षीर' स्तम्भ के अन्तर्गत श्री दयाशंकर मिश्र द्वारा लिखित 'बुझते दीप' उपन्यास मैंने भी पढ़ा है और मेरे दृष्टिकोण से श्री ज्ञानेन्द्र भटनागर द्वारा उसकी समीक्षा वादजन्य द्वेषभावना से ही प्रेरित होकर की गई प्रतीत होती है। श्री भटनागर जो को और निष्पक्ष रहना चाहिए। अस्तु।

'अजन्ता' असंदिग्धतः श्रेष्ठ पत्रिका है। उसके सुसम्पादन के लिए मेरी बधाई पुनः स्वीकार करें।

ग्वालियर —राजेन्द्र शुक्ल

['बुझते दीप' की समीक्षा मात्र-समीक्षा-दृष्टि पर आधारित है—किसी प्रकार के वाद-विशेष या द्वेष विशेष को प्रश्रय उसका अभिप्रेत स्वतः नहीं रह पाया है—मेरा नम्र निवेदन है।—**ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर**
सह-सम्पादक]

(६)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

"...एक अरसे से मैं चाह रहा था कि 'अजन्ता' के विषय में आपको अपने विचार लिखूँ। परन्तु अब तक मैं ऐसा नहीं कर पाया। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि, जब से मैंने 'अजन्ता' में लिखना शुरू किया है, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह मेरी अपनी ही पत्रिका है। अपनी चीज़ हर एक को पसन्द होती है और उसके सम्बन्ध में लिखने में संकोच अनुभव होता है। मेरे पास

जब भी कोई अच्छा निबन्ध होता है, हमेशा मेरी यही इच्छा होती है कि वह 'अजन्ता' में छपे। और आपकी पत्रिका में अपनी चीज़ को छपा देख कर सदा मुझे प्रसन्नता होती है।

हमारे देश में बहुत कम पत्रिकाएँ ऐसी हैं जो किसी लेखक की रचना को ठीक-ठीक छाप सकें। 'अजन्ता' उन बहुत कम पत्रिकाओं में से एक है। 'अजन्ता' में छपी मेरी किसी रचना के बारे में मुझे किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं हुई।

कई पाठक यह ज़रूर चाहते हैं कि 'अजन्ता' में कहानियाँ और नाटक अधिक होने चाहिएँ। कहानियों और नाटकों का हमारे साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। पर हमारी साहित्यिक पत्रिकाओं में 'अजन्ता' का भी एक विशिष्ट स्थान है और मैं नहीं सोचता कि ऐसा करना इस पत्रिका के हित में होगा। हिन्दी की कई मासिक पत्रिकाओं से कहीं ज़्यादा कविताएँ 'अजन्ता' में छपती हैं, और मैं सोचता हूँ 'अजन्ता' में छपी कविताओं का स्तर बहुत ऊँचा होता है। यह शायद इसलिए है कि 'अजन्ता' का सम्पादन आप जैसे श्रेष्ठ कवि के हाथों में है।

'अजन्ता' के सभी स्तम्भ बहुत अच्छे हैं, विशेष कर 'टेलपीसिस' तो मैं हमेशा शौक़ से पढ़ता हूँ।

आकाशवाणी,
हैदराबाद

—**कर्तारसिंह दुग्गल**

(७)

'अजन्ता' देखा और सबसे पहले मिली 'आम्र-मंजरी'। आपने 'आम्रमंजरी' की आठ पंक्तियों के गागर में वसंत का सागर भर दिया है जो सब किसी के बस की बात नहीं होती। 'आम्र मंजरी' वसंत की प्रतिनिधि कविता है। 'आम्रमंजरी' में रस है, आत्मानुभूति है। पढ़ने वाला स्वयं बहार का अनुभव करके आनन्द लेने लगता है। 'आम्रमंजरी' के लिए मेरी ओर से बधाइयाँ।

चंचलगुड़ा
हैदराबाद—२

—**बलबीर सहाय**

(८)

'अजन्ता' का दिसम्बर-अंक

'अजन्ता' का दिसम्बर अंक पढ़ गया। पिछले अंक भी देखता ही रहा हूँ। इसका सातवाँ वर्ष चल रहा है। हिन्दी पत्रिका की दृष्टि से सात वर्ष की आयु थोड़ी नहीं है। परन्तु 'अजन्ता' में अब तक विकासावरोध नहीं आ सका है, जो वय की प्रौढ़ता के साथ, बहुधा विशिष्ट अपवादों को छोड़ कर दिखाई देने लगता है। अतः सतत विकासशील 'अजन्ता' विशिष्ट अपवाद ही है।

कहानी श्री कमल जोशी की 'शीराज़ी' एक ही है। उस साहित्य से आकुलता होने लगी है, जिसमें शृंगार की सस्ती अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है बिना अन्तर्दृष्टि प्राप्त किए और कोई चालू नारा ले लिया जाता है। 'शीराज़ी' उससे भिन्न है। कला की दृष्टि से कहानी उत्तम है। उसमें जो कहना चाहा गया है, वह नहीं कहा गया है, और कह दिया गया है अपने हाथों को बहुत दूर रखते हुए। इससे कहानी में कोमलता का समावेश हो गया है।

प्रस्तुत अंक में जहाँ विद्वान् श्री रामशंकर भट्टाचार्य, खोजी श्री अगरचन्द नाहटा और अध्ययनशील श्री राजकिशोर पाराडेय के ठोस लेख हैं, वहाँ श्री ब्रजभूषण पाराडेय का 'जीवन के पिछले पन्नों पर' लेख अन्तर्दर्शन की प्रेरणा देता है। देश-विदेश-दर्शन, साहित्यिक विवेचन और संस्मरण भी हैं, जो अच्छे हैं। दक्षिण की भाषाओं पर 'अजन्ता' का प्रवर्तन ईर्ष्या को प्रेरित करता है।

'कला-चर्चा' 'नीरक्षीर' तथा 'सामयिक' स्तम्भों के साथ उन्मेषशील जीवनयुक्त कलाकारों के चित्रों से अलंकृत 'अजन्ता' का प्रत्येक कोना संस्कृति-साधना में तल्लीन दिखता है, उसकी पृष्ठपूर्ति के हेतु एराटन चेखव के 'चूहा बिल्ली' और ईरानी कहानी 'पहली उमंग' जैसे साहित्य के योजन से। 'चिट्ठी पत्री' स्तम्भ अजन्ता की संकोचहीन आत्म-समीक्षा की जिज्ञासा की निर्भीक विकासेच्छा का द्योतक है और सम्पादकीय लोक जीवन के अछूते अंचलों का अवगाहन करते हैं।

समग्रतः हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद का प्रकाशन 'अजन्ता' साधना के क्षेत्र में सम्पादकों के सामूहिक प्रयास का परिणाम है जहाँ श्रुति के शब्दों में :

> "समीचीनास आसते होतारः सप्तजामतः
> पदमेकस्य पिप्रतः ॥ ऋग्वेद। ९।१०।७॥

संपादक 'भारती'
भारती कार्यालय, सराफ़ा
ग्वालियर

—**विजयगोविन्द द्विवेदी**

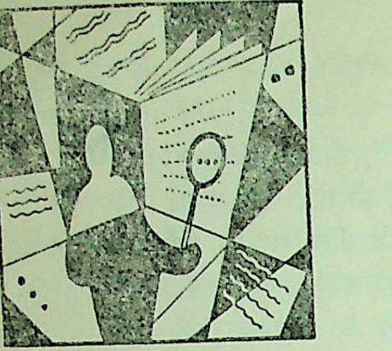

नीर-क्षीर ..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

रेडियो नाट्यशिल्प

लेखक : श्री सिद्धनाथ कुमार एम० ए०
प्रकाशक : भारतीय विद्यापीठ, काशी
मूल्य : ढाई रुपया

आकाशवाणी के प्रत्येक केन्द्र से सप्ताह या पक्ष में एक ध्वनिरूपक अवश्य प्रसारित होता है। श्रोता उसे चाव से सुनते हैं, कभी सन्तुष्ट होते हैं और कभी इतने असन्तुष्ट कि सुई को तुरंत आगे बढ़ा देते हैं। वास्तव में अनेक स्टेशनों से जो रूपक अभिनीत होते हैं, वे अनेक लेखकों के प्रयोग मात्र होते हैं। जिस प्रकार एकांकी नाटक हिन्दी में पहले प्रयोग के रूप में लिखे गए (यद्यपि एकांकीकारों के सामने प्राचीन संस्कृत नाट्यशिल्प विद्यमान था पर वे आधुनिक परिस्थितियों और मान्यताओं के अनुरूप न होने से विशेष सहायक नहीं हुआ।) उसी प्रकार देश में आकाशवाणी (रेडियो) के प्रचार से प्रतिभाशाली नूतन लेखकों को भी अँधेरे में प्रकाश खोजना पड़ा और धीरे धीरे उसके शिल्प के सूत्र को उन्होंने पकड़ लिया। उनके सामने इस विषय पर अंग्रेजी में लिखित प्रचुर सामग्री विद्यमान थी। उन्होंने उसके सहारे से अपने शिल्प में काँट-छाँट की और उसे अपने देश के वातावरण के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने यही कार्य किया है। उन्होंने अपने गत आठ वर्षों के रेडियो जीवन के प्रारंभिक दिनों में कुछ अपनी सूझ-बूझ और बहुत विदेशी साहित्य का सहारा लेकर रेडियो ध्वनित नाट्य की कला को आत्मसात् कर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की है। हिन्दी में यह अपने विषय की प्रथम पुस्तक है। इसमें से रंगमंच नाटक की तुलना, रेडियो नाटक के उपकरण, उसके प्रकार आदि पर संक्षेप में विचार किया गया है। परिशिष्ट में लेखक के दो रेडियो रूपक भी उदाहरण के रूप में संकलित हैं। पुस्तक परिश्रम के साथ लिखी गई है परन्तु यत्र-तत्र भाषा क्लिष्ट हो गई है जिसके कारण नवसिखुओं को तन्त्र का मर्म समझने में कठिनाई होती है पर इसमें लेखक का दोष कम है क्योंकि अभी इस विषय की पारिभाषिक शब्दावली का ही निर्माण कहाँ हो पाया है? अपने विषय की प्रथम पुस्तक होने से उसका विषय प्रतिपादन तन्त्र भी प्रयोगावस्था में है। फिर भी वह रेडियो रूपक प्रेमियों के पढ़ने की वस्तु है।

मध्य-देशीय भाषा (ग्वालियरी)

लेखक : श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी
प्रकाशक : विद्या मंदिर प्रकाशन, ग्वालियर

भाषा विज्ञानियों ने ग्वालियरी—बुन्देलखण्डी—की व्रजभाषा की उपभाषा के अन्तर्गत गणना की है। उन्होंने पश्चिमी हिन्दी में व्रज भाषा को प्रमुख भाषा मान कर ही यह स्थापना की है। प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक ने इस स्थापना को खंडित कर यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि वास्तव में 'ग्वालियरी' ही मुख्य भाषा है और उसके अन्तर्गत व्रजभाषा का स्थान है। वल्लभ सम्प्रदायियों ने कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि की बोली को धार्मिक दृष्टि से महत्व देकर उसे व्रज भाषा के नाम से अभिहित किया और उसका प्रचार किया। बंगाल के वैष्णव भक्तों ने भी व्रज बोली को अपनाया। परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय के प्रचार के पूर्व इस बोली और इसके साहित्य को ग्वालियरी के नाम से पुकारा जाता था। लेखक ने इस सम्बन्ध में अनेक पुष्ट प्रमाण एकत्र किए हैं। पुस्तक में दक्षिण में श्री भालेराव द्वारा प्राप्त किसी नानाबुआ केन्दूरकर की नाभादास के मूल ग्रन्थ और प्रियादास की टीका के अनुवाद

की चर्चा है जिसमें "भक्तमाल" की भाषा को 'ग्वालियरी' कहा गया है। इस "दुर्मिल ग्रन्थ" के अतिरिक्त मराठी में महिपतिबुआ का "भक्तविजय" प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसका आधार भी उपर्युक्त 'भक्तमाल' है। उसमें भी मतिपतिबुआ ने "भक्तमाल" की भाषा को 'ग्वालियरी' कहा है। सोलहवीं शताब्दी में 'ग्वालियरी' शब्द इतना प्रचलित हो गया था कि दक्षिण की जनता व्रज भाषा को इसी नाम से पहचानती थी पर 'वल्लभ' मत के प्रचार से यह नाम व्रज भाषा में समा गया।

लेखक ने अत्यन्त खोज के साथ 'ग्वालियरी' का उद्धार किया है और सूर के पूर्ववर्ती ग्वालियरी भाषा-कवि गोस्वामी विष्णुदास की कृति को भी हिन्दी-संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया है। इसी भाषा के कतिपय अज्ञात गद्य लेखकों की भाषा के उदाहरण भी परिशिष्ट में दे दिए गए हैं। यह आवश्यक नहीं है कि पुस्तक की समस्त स्थापनाएँ हिन्दी भाषाविदों को मान्य हों पर इसमें सन्देह नहीं कि वे विचारणीय हैं—मनन योग्य हैं। पुस्तक गम्भीर अध्ययन का परिणाम है। वह हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास के अध्येताओं को प्रेरणा और बहुमूल्य मौलिक सामग्री प्रदान करती है। इस प्रकार की खोजपूर्ण कृति हिन्दी में वर्षों बाद प्रकाशित हुई है। हम लेखक और प्रकाशक दोनों को बधाई देते हैं।

धर्मपेठ एक्सटैन्शन,
नागपुर

—**विनयमोहन शर्मा**

अभियान (कविता-संग्रह)
रचयिता : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : आदर्श विद्यामंदिर प्रकाशन
३१, गौराकुण्ड, इन्दौर
मूल्य : डेढ़ रुपया।

इस संग्रह में कुल छत्तीस कविताएँ हैं। इनका प्रकाशन १९४२ से '४९ तक विभिन्न कोटि की पत्र-पत्रिकाओं में हो चुका है। इस संग्रह की प्रायः सभी कविताएँ छोटी-छोटी, स्वच्छन्द और सुगेय हैं। श्री महेन्द्रजी की कविताओं में वस्तुगत भावनाओं के साथ रसानुभूति का होना एक उल्लेखनीय विशेषता है और इस संग्रह की कविताओं में भी हमें सर्वत्र ही यह विशेषता उपलब्ध होती है। इसके साथ ही इन कविताओं में शिल्प और सुकुमार भावाभिव्यक्तियों का जो सहज सम्मिलन हुआ है, वह इन कविताओं को और भी आकर्षणीय बना देता है। वस्तुगत और अनुभूतिपरक भावाभिव्यक्तियों का वैविध्य दर्शनीय और सराहनीय है। 'तुलसीदास', शीर्षक कविता में कवि की विषयगत भावाभिव्यक्ति कितनी स्निग्ध और कैसी रसप्रवण हो गई हैं :

"ओ महाकवि
गा गए तुम गीत जीवन के मरण के,
भावपूरक मुक्त मन के
सत्य, शिव, सौन्दर्य-वाहक
गीत जो अभिनव अमर
धरती गगन के
हैं अपार्थिव और पार्थिव
लोक के परलोक के"

इसी क्रम में आगे—

"नव मानव, नव कल्पना,
आराधना के गीत
जिनमें गूँजता है प्राणमय संगीत"

और यह कविता इस संग्रह की संभवतः सबसे उत्कृष्ट कविता है। शेष कविताओं में कुछ सामान्य कोटि की प्रतीत होती हैं और कतिपय साधारण से कुछ निम्न कोटि की। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि कवि में अगम्य कल्पनात्मकता अथवा शब्दाडम्बर-मात्र की प्रवृत्तियाँ लगभग गौण ही रही हैं और यही बात इन कविताओं को सामान्य जीवन और व्यक्ति के समीप खड़ा कर देती है। कवि का दृष्टिकोण वादों से पृथक्-सीधा सादा और समाजपरक है। वह समाज में विचारोत्तेजना और जागृति उत्पन्न करना चाहता है। अभाव, उत्पीड़न और शोषण की बात ने कवि को उद्वेलित किया है और कवि हमें नव जागरण और नव चेतना के लिए आह्वान करता है, अभियान के लिए अभिप्रेरित करता है विभिन्न माध्यमों और पृष्ठभूमि में। पर कविताओं में निगूढ़ता और अनुभूति-प्रवणता से आलोड़ित कर देने वाली भावाभिव्यञ्जना का लगभग सर्वत्र अभाव-सा है। हो सकता है कि इस संग्रह की कविताओं की प्रस्तुत भावाभिव्यञ्जना सुनने में ग्राह्य और रुचिकर लगे। किन्तु हमें पढ़ते समय किसी भावोद्रेक में अवश-सा नहीं रह जाना पड़ता। 'अभियान'

शीर्षक कविता ही (जिस पर शायद इस संग्रह का नाम भी रखा गया है।) अपनी अभिव्यक्ति में इतनी निराडम्बर हो गई है कि उसमें भाव-पक्ष कहीं प्रयास करने पर भी नहीं मिल पाता। कतिपय कविताओं को छोड़कर यही बात सबके लिए भी दुहराई जा सकती है।

हम कवि का सर्जनात्मक-दृष्टि, प्रपीड़ित विश्व के लिए द्रवीभूत भावना और विषयगत प्रवृत्तियों को सरलता, सहजता और निराडम्बरता से प्रस्तुत करने के कारण पुनः अभिनन्दन करते हैं।

महिला-शासन

लेखक : चिरंजीलाल पाराशर
प्रकाशक : राकेश पब्लिकेशन्स गाजियाबाद
वितरक : राजकमल प्रकाशन
मूल्य : दो रुपये।

पुस्तक पुस्तक में लेखक की इक्कीस कहानियाँ संगृहीत हैं—सभी कहानियाँ हास्य-रस के अन्तर्गत आती हैं। इनके माध्यम से लेखक ने लोक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को ज्यों-का-त्यों छूने का प्रयास किया है। 'ज्यों-का-त्यों' से अभिप्राय है कि समाज में प्रचलित उन शब्दों के समूह भी इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर मिलते हैं—जिन्हें यौनविकारों से पीडित व्यक्ति बहुधा सड़कों पर कहते घूमते हैं। उदाहरणतः अपनी 'प्रेम-प्रैक्टिस' शीर्षक कहानी में लेखक ने कालेज की छात्राओं को कहीं 'बछिया,' कहीं 'कटिया' और किसी को 'गाय' कहा है। इतना ही नहीं; पूर्ववर्तियों की भाँति इस लेखक ने भी बलपूर्वक ऐसे स्थल और विषयों को ठूँसने की बिलकुल सीधी दुश्चेष्टा की है—जो शिष्टता और स्वाभाविकता की कोटि में कहीं भी नहीं रह पाते। इसके अतिरिक्त पुस्तक में बाज़ारू, अश्लील और निम्न स्तर के शब्दों तथा वाक्यों का भी अभाव नहीं है—वे भी सम्भवतः प्रत्येक कहानी में दो-एक की मात्रा में तो अवश्य ही निकल आएँगे—"देवी जी ने कुत्ता पाला..." कहानी में लेखक एक स्थल पर एक पुरुष पात्र से स्त्री पात्र के प्रति कहलवाता है :

"अरे तुझे यकीन ही नहीं आता और यहाँ शनैः शनैः मेरी यौनि तक कुत्ता-यौनि में बदलती जा रही है।"

इस प्रकार तो साधारण व्यक्ति में भी हास्य के स्थान पर उसके लिए कुण्ठा और क्षोभ की भावनाएँ ही प्रश्रय पा सकेंगी। 'तीर्थ-यात्रा' कहानी में लेखक एक पात्र से कहलवाता है : "इलाहाबाद में अमरूद और लेखक दो चीजें सस्ती हैं, सो अमरूद यहाँ भी मँहगे नहीं।" और लेखक का काशी को 'रांड-सांड' और 'सीढ़ी-सन्यासी' लोगों की महानगरी कहना बड़ी ऊँट पटांग और प्रसंगहीन भरमार है।

हिन्दी में प्रथम तो हास्य-साहित्य का अत्यधिक अभाव है और जो हास्य-साहित्य अब तक हमें उपलब्ध है, वह भी पुराने-धुराने, ऊँट-पटांग शब्दों, निकृष्ट कोटि के बाज़ारू वार्तालापों और भौंडे विषयों में अधिकांश में सीमित हैं; पश्चिमी हास्य-साहित्य की तरह उच्चता और उत्कृष्टता हमें हिन्दी में दो-एक हास्य-लेखकों को छोड़ कर कहीं मिलती ही नहीं कि शब्दों पर पूर्णतः सन्तुलन रखते हुए स्वभावतः कोई ऐसा दृश्य या विषय प्रस्तुत हो जाए, जिससे बिना किसी कटुता या क्षोभ के हमारे ओठों पर स्वतः ही मन्द-मन्द हँसी स्वच्छता से बिखर जाए।

प्रस्तुत कहानियाँ हिन्दी के हास्य-साहित्य में भव्यता नहीं प्रस्तुत करतीं साथ ही इनका कथा-तत्व भी बड़ा अशक्त, प्रसंगहीन और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। 'वाक्युद्ध' शीर्षक कहानी को अपेक्षाकृत ठीक और ऐसा कहा जा सकता है, जिसने प्रासंगिक विषय का निर्वाह सामान्यतः कर लिया है।

भविष्य में लेखक अपनी रुचि को अधिकाधिक परिष्कृत रक्खें—यही हमारी उनसे अपेक्षा है।

जिन्दगी बोलती है (कहानी-संग्रह)

लेखक : रामस्वरूप
प्रकाशक : शतदल प्रकाशन, ४६-१ स्ट्रांड रोड
कलकत्ता—७
मूल्य : पौने तीन रुपए

इस कहानी-संग्रह में श्री रामस्वरूप की बारह कहानियाँ संगृहीत हैं। श्री रामस्वरूप इधर कतिपय वर्षों से विविध पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ लिखते आ रहे हैं। आपकी कहानियों का लक्ष्य जीवन-मान है। प्रस्तुत पुस्तक 'जिन्दगी बोलती है' की प्रत्येक कहानी इसी प्रकार की है।

आज की कहानी कहीं की कहीं पहुँच चुकी है—कम से कम अभिनव शिल्प-रूप, सौष्ठव-दृष्टि और विषयाभिव्यंजना की कलात्मकता में। प्रस्तुत संग्रह की समस्त

कहानियों में हमें न तो कोई विषयगत नवीनता उपलब्ध होती है और न शैली आदि में अभिनवता ही, न आकर्षण और न विविधता। संग्रह की 'दहकते अंगारे', 'चोर', 'दूसरा पहलू', 'आक्टरलानी मनूमेंएट', 'चिराग जलेगा', 'डूबता-उगता सूरज', 'हा-हा-हा', 'हमराही', 'प्रकाश की ओर' आदि कहानियों में विषयगत नवीनता का तो सर्वथा अभाव है। समस्त कहानियाँ समस्यागत कही जा सकती हैं, पर उनमें सन्निहित समस्याओं को कुछ इस प्रकार उठाया गया है कि पाठक प्रभावित तो हो सकता है; किन्तु अस्वाभाविकता से अर्थात् यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर सहजता से हृदय पर अंकित हो जाने वाले दृश्यों का बड़ा अभाव है। 'बिन्दकी की बिन्दकी देवी' कहानी इस संग्रह की अपेक्षाकृत उत्कृष्ट कहानी कही जा सकती है, पर दुहराए हुए विषय और अत्युच्च कल्पना के कारण उसका आकर्षण भी कम हो गया है और मौलिकता भी हठात् ही नष्ट हो गई है।

पुराने विषयों, समस्याओं को प्रस्तुत करने के अस्वाभाविक ढंगों और एकरूप तथा अनाकर्षक शैली के कारण ये कहानियाँ हमें तो अग्राह्य और प्रभावहीन ही लगीं। ऐसे तथाकथित प्रगतिवादी प्रकाशन साहित्य की सहज गतिशील सृजनशीलता, अभिनवता और प्रशस्तता में स्पष्टतः ही प्रच्छन्नता और अवरोध की सी स्थिति ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इन कहानियों में साफ़-साफ़ सस्ती भावुकता और पुराने विषयों का पुनः तालमेल है।

जिप्सी (काव्य)
मूल लेखक : अलेक्सान्दर सेर्गेविच पुश्किन
अनुवादक : वीर राजेन्द्र ऋषि
प्रकाशक : आत्मराम एण्ड सन्स, प्रकाशक तथा
पुस्तक-विक्रेता काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : दो रुपए

पुस्तक की प्रस्तावना में भारतीय शासन के रक्षा मन्त्रालय के विदेशी भाषा विद्यालय के अध्यक्ष श्री प्रमथनाथ बनर्जी ने अनुवाद-कार्य के विषय पर लिखा है : "इटालियन भाषा में एक कहावत है—'त्रादुत्तोरे त्रादितोर' अर्थात् अनुवाद विश्वासघातक होता है।" अब तक के रूसी, फ्रेंच, चीनी, जर्मनी आदि भाषाओं के हिन्दी-अनुवाद अंग्रेज़ी के माध्यम से ही समग्रतः उपलब्ध होते रहे हैं अर्थात् उक्त भाषाओं की मूल रचनाएँ पहले अंग्रेज़ी में अनुवाद होती थीं; उसके अनन्तर हिन्दी में—उपरोक्त इटालियन लोकोक्ति के अनुसार तो यह प्रवृत्ति न जाने कितनी विश्वासघातक रही होगी। इस अनुवाद-पुस्तक की सबसे बड़ी विशिष्टता तो यही है कि इसका अनुवाद रूसी भाषा से हिन्दी में सीधे किया गया है और दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि अनुवादक ने हिन्दी-अनुवाद के साथ-साथ रूसी मूल पाठ को हिन्दी-लिपि में भी दिया है—विशेषतः इस बात ने हमें इस अनुवाद के प्रति अत्यधिक आकर्षित और चमत्कृत किया है और इसके द्वारा हम एक विदेशी भाषा के अक्षर, शब्द, पद-योजना, उच्चारण आदि का परिचय हिन्दी-अनुवाद के साथ ही पाते हैं तो आह्लाद और आत्मीय भावनाओं की मृदु अनुभूति हमें स्वतः होने लगती है। पुस्तक के अनुवादक श्री वीर राजेन्द्र ऋषि ने अनेक वर्षों तक मास्को और भारत में रूसी भाषा का अध्ययन अध्यवसाय और निष्ठापूर्वक किया है। अनुवाद की प्रामाणिकता और पूर्णता तो इस बात से भी असंदिग्ध हो जाती है कि उसे किसी माध्यम का आश्रयी नहीं बन पड़ा है और अनुवाद की भाषा में जो परिमार्जन, प्रौढ़ता, लालित्य, भव्यता, गहनता सर्वत्र मिलती है—उससे अनुवादक का यह प्रयास स्तुत्य और अभिनन्दनीय बन गया है।

पुश्किन की प्रतिभा अप्रतिमता की प्रतीक है। उसके सम्बन्ध में प्रसिद्ध गोगोल ने उसके जीवन काल में ही कहा था : "पुश्किन में रूस की भाषा, प्रकृति, आत्मा, रूस का नैतिक स्तर उसी प्रकार स्वच्छ रूप से और विमल सुन्दरता से प्रतिबिम्बित है जैसे शीशे की उन्नत सतह पर प्रकृति का अनुपम दृश्य।" और इन शब्दों का हृदय-स्पर्शी, झंकृत तथा प्रतिबिम्बित रूप हमें पुश्किन की 'जिप्सी' (रूसी भाषा में 'त्सीगानी') पुस्तक में सर्वाधिक साकार मिलता है। 'जिप्सी' में वर्णित प्रसंग विशेष मार्मिक और करुण है। उसके दृश्यों में प्रकृति के सन्निकट आदिम जीवन का अति मुखर, स्वच्छन्द अन्तर्द्वन्द विशेष संवेदनशीलता और दृप्तता से छलछलाता है; इसमें वर्णित जिप्सियों की गहन-करुण जीवन-कथा हमारे हृदयों को अभिभूत कर डालती है—इस रचना से हमें पुश्किन की प्रखर प्रतिभा का ज्वलन्त आभास मिलता है।

'जिप्सी' का कथासार है : नगरवासी ओलेको नागरिक जीवन से ऊबकर जिप्सियों के एक समूह में जा मिलता है और वहाँ जिप्सी तरुणी जेम्फीरा से उसका प्रेम हो जाता है। जिप्सियों की स्वभावजन्य प्रवृत्तियों के अनुकूल शनैः शनैः जेम्फीरा आलेको के प्रति उदासीन हो जाती है और किसी अन्य के प्रति आसक्त हो जाती है। नगरपोषित ओलेको इस स्थिति का अभ्यस्त नहीं है; वह जेम्फीरा और उसके नये प्रेमी की हत्या कर डालता है।......इसी कथा को पुश्किन ने एक अत्युत्कृष्ट और प्रखर काव्य का रूप दे दिया है और बड़ी मार्मिकता तथा गहनता से उमंगों, उन्मुक्तताओं और आसक्तियों, तीव्र विरक्तियों और दग्ध स्तब्धताओं के दृश्य अंकित किए हैं। इन दृश्यों में जो तीक्ष्ण दृप्तता, उद्रेक और सप्राण करुणा छलछलाती है, उससे हमें कहीं मर्माहत, कहीं अवश-सा विस्मित और कहीं कवि के शिल्प नैपुण्य तथा विषयाङ्कन की अद्भुत क्षमता पर विमुग्ध हो जाना पड़ता है। पुश्किन के इस दृश्य में कैसी गहन गीतात्मकता है। पुश्किन जेम्फीरा से कहलवाता है :

"वह होना जो मेरा—
कौन उसको मुझ से छीन ले जा सकता है ?
किन्तु हो गई देर...छिप गया है तरुण चाँद,
और धुंध छा गई है भूतल पर
निद्रा कर रही है विवश मुझे ....."

रूसी मूल पाठ :

"ओन बूयेत मोय—
क्तो-भ ओत् मीन्या येवो ओतगोनीत ?
नो पोज़्दनो...मेस्यात्स् मोलोदोय
जाश्योल; पोल्या पोक्रीती म्गलोय,
ई सोन मीन्या नेवोल्नो क्लोनीत......

इन पंक्तियों में पुश्किन का प्रतीक-नैपुण्य कितना गहरा हो उठा है :

"दिव्य पक्षी नहीं जानता यह रंचमात्र
चिन्ता क्या होती है; श्रम क्या होता है;
पंख फड़फड़ाता है, गाता है मधुर-गान
बीतता वसन्त ऋतु-राज और उसके बाद
गर्मी भी आती है और चली जाती है,
छाती है धुन्ध तब, दारुण हेमन्त जब
लाता है हिम-पतझड़ को अन्त में,
जन-जन उदास होता, होते सब लोग दुःखी;
किन्तु वह पक्षी तब दूरवर्ती देशों को,
गरम प्रदेश में नीले सागर के पार
दूसरे वसन्त-काल तक को उड़ जाता है,"

और प्रकृति-चित्रण की दीप्त रम्यता को यों देखिए :

"नीरव निशीथ है, छिटक रही है चन्द्रकला
दक्षिण के नील वर्ण क्षितिज के छोर..."

पुश्किन की उपसंहार की पंक्तियाँ :

"प्रेरित हो गीतों की चमत्कृत शक्ति से
मेरे धुँधियाले-से मस्तिष्क में
इस प्रकार दृश्य हो उठता है सजीव,
कभी सुख-पूर्ण कभी व्यथा-पूर्ण दिवसों का...
उनके उन मंथर प्रस्थानों में गाए गए
गीतों के स्वर मुझे बहुत पसन्द आए"

इसी क्रम में आगे :

"नीचे भी रहते हैं व्यथा-पूर्ण सपने...
बीहड़ों में भी न बच पाए दुःखों से
और हैं सर्वत्र लालसाएँ उद्दाम......"

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व का यह रूसी कवि अपनी प्रखर प्रतिभा, विषयगत सौष्ठव तथा भावाभिव्यंजना में अभी भी हमारे लिए अनुसरणीय है। उसकी इस श्रेष्ठ कृति के प्राञ्जल और उत्कृष्ट अनुवाद के लिए श्री वीर राजेन्द्र ऋषि हमारी बधाई के विशेष पात्र हैं और हमारी उनसे यह आग्रहपूर्ण अपेक्षा है कि वे इसी कोटि की अन्य रचनाओं का अनुवाद भी यथाशक्य शीघ्र ही हमारे समक्ष उपस्थित करें। मूल रचना से सीधे हिन्दी अनुवाद असंदिग्धतः ही व्यापक और स्थायी समादर प्राप्त कर सकेंगे।

गार्गी के बाल-नाटक (सचित्र)

लेखक : परितोष गार्गी
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स प्रकाशक तथा
पुस्तक-विक्रेता काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : रुवा रुपया

पुस्तक में श्री परितोष गार्गी के चार बालोपयोगी नाटकों को संकलित किया गया है। इनमें से 'चोर पर

मोर', 'रामू और निम्मी', 'दो मित्र'—ये तीन नाटक बच्चों द्वारा खेले जा चुके हैं और अन्य एक 'जहांगीर का इन्साफ़' नाटक अखिल भारतीय आकाशवाणी के जालन्धर-केन्द्र से प्रसारित हो चुका है—इस प्रकार इन नाटकों की व्यावहारिक श्रेष्ठता प्रकाशन होने से पूर्व ही सिद्ध हो चुकी है। चारों नाटकों के बाल-विषयों के वातावरण को बड़ी सन्निकटता और सादृश्यता से प्रस्तुत किया गया है। नाटक रुचिकर और मनोरंजक होने के साथ ही अल्प वय बालकों में परिष्कृत भावनाओं और स्वस्थ वातावरण को तैयार करने में भी बड़े सशक्त हैं। लेखक बाल-वातावरण तैयार करने में पूर्णतः सफल हुआ है। उसने पुस्तक में नाटकों के साथ ही अभिनय, मंच आदि के विषय में आवश्यक तैयारी करने सम्बन्धी कतिपय उपयोगी निर्देश देकर बालकों के लिए पुस्तक को और भी उपयोगी और बोधगम्य बना दिया है।

मेरी जीवन कहानी (The story of my life का हिन्दी-अनुवाद)

लेखिका : डा. मिस हेलन केलर

प्रकाशक : वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड,
बम्बई—२

मूल्य : दो रुपए

प्रस्तुत पुस्तक विश्वविश्रुत महिला कुमारी हेलन केलर की आत्मकथा है। आत्मकथा को प्रारंभ करते हुए उनके ये शब्द कितने मार्मिक हैं : "अपनी जीवन गाथा आरम्भ करते हुए एक प्रकार का डर-सा मेरे मन पर छा जाता है। एक सुनहली धुन्ध-सा जो परदा मेरे बाल्यकाल पर छाया हुआ है, उसे उठाने में मानो एक अकारण संकोच बाधा दे रहा है...बालिका की अनुभूतियों को वयस्क नारी अपनी कल्पना के रंग से रंग देती है। अपने जीवन की पहले कुछ वर्षों की कुछ स्मृतियाँ अभी तक बड़ी स्पष्ट उभर कर आती हैं। किन्तु बाकी सब पर मानो 'कारा की छाया छाई' है..." और "जिन लोगों से मेरी भेंट होती है, उनके हाथों का स्पर्श मुझे बहुत-कुछ बता देता है। कुछ स्पर्श मानो मूर्तिमान् दुर्विनय होते हैं। कुछ हाथों का आनन्द विहीन स्पर्श ऐसा होता है कि उनकी ठण्डी अँगुलियों को छूकर जान पड़ता है, मैं बर्फ़ के तूफ़ान से हाथ मिला रही हूँ। कुछ के हाथ मानो छिपी हुई धूप लिए होते हैं......कभी कभी मैं सोचती हूँ कि मूर्तियों के सौन्दर्य को मेरे हाथ, आँखों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह ग्रहण करते होंगे?...रेखाओं के लययुक्त प्रवाह का दृष्टि की अपेक्षा स्पर्श से अधिक सूक्ष्म बोध हो सकता है......"

प्रस्तुत पुस्तक में कहने को तो कुमारी हेलन केलर के जीवन के प्रथम इक्कीस वर्षों का वृतान्त दिया गया है, किन्तु उसकी पंक्ति-पंक्ति में प्रकृति और मानवीय सृष्टि के निगूढ़, अगम्य और अन्तर्भूत रहस्यों का सुललित और संवेदनशील आभास हमें मिलता है। कुमारी हेलन ने बधिर और नेत्रविहीन होते हुए भी जिस अन्तःज्योतित प्रतिभा और अजस्र अध्यवसाय से सवृत्त अनुभूतियों और ज्ञान को हमें प्रदान किया है, उन्हीं की यह आत्मकथा शरीर से असमर्थ व्यक्तियों के जीवन पथ को अहर्निश-भाव से समुज्ज्वल कर सकेगी और उनका अप्रतिम अन्तः व्यक्तित्व तो विश्व को भी बौद्धिक उच्चता और उन्नयन के लिए सदा अभिप्रेरणाएँ प्रदान करता रहेगा। ऐसे उत्कर्षशील और सोद्देश्य प्रकाशन के लिए प्रकाशक का हार्दिक अभिनन्दन।

हमारे सहयोगी

कल्याण (सत-कथा-अङ्क)

सम्पादक : हनुमान प्रसाद पोद्दार

प्रकाशक : गीता प्रेस, गोरखपुर

'कल्याण' भारी भरकम विशेषांकों को निकालने के लिए विशेष प्रसिद्ध रहा है। 'कल्याण' का क्षेत्र स्थायी और व्यापक है। प्रस्तुत अंक भी विशाल कलेवर, सैकड़ों उपदेशात्मक पौराणिक कथाओं (जो रूढ़ियों पर आधारित हैं और जिन्हें हम युगों से सुनते आ रहे हैं) और बहु संख्यक चित्रों के साथ हमारे समक्ष है। 'कल्याण' हमारे देश की 'अध्यात्म' चेतना का प्रतीक है और वह अपने इसी मार्ग पर प्रारंभ से आज तक चलता रहा है। हिन्दी के पत्रों में उसका एक अपना विशिष्ट स्थान है। यह विशेषांक परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है और संग्रह के योग्य है।

हैदराबाद दक्षिण —ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

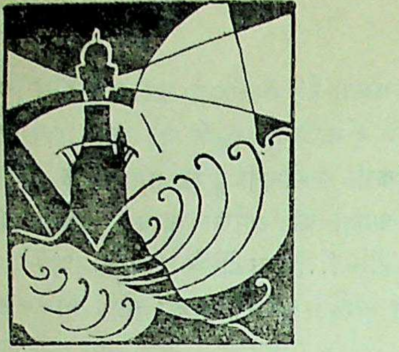

सामयिक

॥

आन्ध्र देश का छाया-नाटक

कहा जाता है कि छाया-नाटक आन्ध्र देश में महाराष्ट्र से आया और उसके पश्चात् इसका प्रचलन भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों और विदेशों में हुआ। छाया-नाटक एक प्रसिद्ध और पुरानी लोक-कला है। छाया-नाटक के सम्बन्ध में श्रीयुत के० पार्थसारथी का मद्रास के पत्र 'हिन्दु' के साप्ताहिक मेगज़ीन विभाग में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"यह समझा जाता है कि छाया-नाटक आन्ध्र लोगों में बहुत प्राचीन-काल से प्रचलित है। यह दूर के द्वीपों जावा, बोर्निओ और सुमात्रा में प्रचलित हुआ और कालक्रम से वहीं का समझा जाने लगा। "वयूंग" जावा द्वीप का एक अत्यन्त लोकप्रिय छाया-नाटक है। यह आन्ध्र के छाया-नाटक से ही विकसित हुआ है। छाया-नाटक के उद्भव की कथा बड़ी मनोरंजक है। इससे ज्ञात होता है कि छाया-नाटक आन्ध्र देश में नहीं परन्तु महाराष्ट्र में उत्पन्न हुआ। महाराष्ट्र में इसकी पूछताछ न होने से बचपन में ही यह वहाँ से निष्कासित कर दिया गया। आन्ध्र ने दुःखी और निराश कलाकारों का स्वागत किया और उन्हें अपने यहाँ प्रश्रय दिया। अल्प काल में ही लोग यह भूल गए कि छाया-नाटक महाराष्ट्र में उत्पन्न हुआ था और उस पर आन्ध्र देश की संस्कृति की छाप पड़ गई।

कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि छाया-नाटक आन्ध्र देश में महाराष्ट्र से आया। पहली बात तो यह है कि छाया-नाटक के कलाकार आज तक भी मराठी और तेलुगु दोनों भाषाएँ बोलते हैं। दूसरी यह है कि छाया-नाटक के कलाकारों में बहुत-सी महाराष्ट्रीय सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित हैं और अन्तिम यह कि एक पूरा ग्राम बलारी ज़िले में आज तक भी उनके नाम पर है। ग्राम का नाम है "बोम्मलातपल्ली"—इसका अर्थ है : 'छाया-नाटक खेलने वालों का ग्राम' और इसके निवासी आन्ध्र और महाराष्ट्रीय संस्कृति के सम्मिलन का स्मरण दिलाते हैं। अब तो यह समझा जाता है कि छाया-नाटक के खेलनेवाले मूलतः आन्ध्र देश के निवासी हैं। महाराष्ट्र में छाया-नाटक के कलाकारों को "बोंडिली क्षत्रिय" कहा जाता है।

प्राचीन काल में छाया-नाटक के चित्रों को आधारतः दो प्रकार के चमड़ों से बनाया जाता था। देवी-देवताओं और पुण्यश्लोक महान् आत्माओं के चित्रों को हरिण के चर्म से बनाया जाता था क्योंकि हिन्दु धर्म में हरिण के चर्म को सदा पवित्र समझा जाता रहा है। राक्षसों और शैतानों के चित्रों को बकरी के चमड़े से बनाया जाता रहा है परन्तु बाद में छाया-नाटक के कलाकार जिनको "विट्ठनलवारु" और "गोदावरी-तीर-वासी" कहा जाता है; हरिण के चर्म के स्थान में बैल के चमड़े का उपयोग करने लगे और इस प्रकार की एक दन्तकथा प्रचलित है जिससे यह ज्ञात होता है कि जब से यह परिवर्तन हुआ—तभी से इस कला का ह्रास होने लगा।

साधारणतया बैल के चमड़े का जूतों के लिए उपयोग किया जाता है और इसलिए इस चर्म का देवी-देवताओं और पवित्र व्यक्तियों के लिए प्रयोग अनुचित है और इससे पवित्रता नष्ट होती है। यही कारण है कि इस कला के ह्रास की कथाएँ यत्र-तत्र प्रचलित हो गईं।

ग्रामों में उत्सवों के अवसरों पर प्रायः छाया-नाटक खेले जाते हैं। मंदिर का प्रांगण थियेटर बन जाता है। रंगभूमि सीधी-सादी होती है परन्तु विशेष प्रकार से तैयार की जाती है। स्टेज को तीन ओर से बन्द रखा जाता है और सामने के स्टेज पर एक पतला मलमल का सुन्दर पर्दा लगा दिया जाता है। समस्त स्टेज को इस प्रकार बनाया जाता है कि उपस्थित जनता समस्त

खेल को देख सकें। पर्दे के प्रत्येक ओर पीछे से गुंबज़ के आकार के मन्दिर के दीप लटकाए जाते थे। अब इनका स्थान पेट्रोमैक्स के लैम्पों ने ले लिया है। खेल प्रारम्भ होने से पहले गणपति के चित्र को स्टेज से ऊपर उठाया जाता है और उसकी पूजा की जाती है। छाया-नाटकों में "रंगनाथ रामायण" को स्टेज पर खेला जाता है। यह रामायण कविता में है। अन्य ऐतिहासिक नाटकों का भी अभिनय किया जाता है।

आकृतियाँ काले आकार में बनाई जाती हैं फिर उनमें हिलने-डुलने वाले हाथ और पैर क्लिपों के द्वारा जोड़ दिए जाते हैं। चेहरे हमेशा एकतर्फा होते हैं। इन चित्रों को भिन्न-भिन्न डिज़ाइनों में रंगा जाता है।

पात्रों की मूर्तियाँ चमड़े के द्वारा सुन्दर आकृतियों में बनाई जाती है। उन्हें इस नाटक का अभिनय करने वाले कुशलतापूर्वक बनाते रहते हैं जो कि प्रकाश के पीछे खड़े रहते हैं।

संवाद बड़े आकर्षक होते हैं। वे पद्य और गद्य दोनों में होते हैं। व्याख्याकार आवाज़ बदल-बदल कर कहानी के चरित्रों को प्रस्तुत करता है। बीच-बीच में वह श्लोक भी पढ़ता है। छाया-नाटक की विशेषता इसी में है। इसके द्वारा कई प्रकार के भावों को जागृत किया जाता है। लोग रावण के प्रति क्रोध को प्रदर्शित करते हैं और अशोक वृक्ष के नीचे बैठी सीता के प्रति उनके हृदय में करुणा जागृत हो जाती है।

प्रत्येक छाया-नाटक में "जुट्टिपोलिगड्डु" और "बंगारक्का" पुरुष और स्त्री की जोड़ी हँसाती रहती है। इनका जहाँ कहानी से सम्बन्ध रहता है वहाँ वे ग्राम के प्रतिदिन के हास-परिहास को भी प्रदर्शित करते हैं। साधारणतया छाया नाटकों में गानेवाली स्त्रियाँ ही होती हैं। भिन्न-भिन्न रागों में 'मुखरी' राग अत्यन्त लोकप्रिय है।

आन्ध्र के लोक-साहित्य में छाया-नाटक का एक अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। इसका सांस्कृतिक महत्व है। धीरे-धीरे छाया नाटक की कला आन्ध्र देश से तमिलनाड में और तमिलनाड से मालाबार में गई। तमिलनाड में अभिनय करने वाले कम्बन की 'रामायण' की कविता का उपयोग करते हैं। मालाबार में पुराण के राक्षस चरित्रों को बड़ी सुन्दरता से प्रदर्शित किया जाता है। जावा, बोर्नियो और चीन में छाया-नाटक के प्रचलन के कारण इसे एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हो गया है। अब आन्ध्र देश में छाया-नाटक प्रायः लुप्त-सा हो गया है। पूर्व और पश्चिम गोदावरी के ज़िलों के कुछ ग्रामों में उत्सवों के अवसर पर शारदीय शुक्ल पक्ष की रात्रियों में एकाध दिन छाया-नाटक का अभिनय किया जाता है।"

॥

ब्राउनिङ्ग का प्रणयव्यापार

ब्राउनिङ्ग अंग्रेज़ी का एक प्रसिद्ध कवि है। उसकी और उसकी पत्नी की प्रेमगाथा अंग्रेज़ी साहित्य में प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में श्रीमती मृणालिनी एम्मर्सन की कलकत्ता आकाश-वाणी से एक वार्ता प्रसारित हुई थी। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

......"ब्राउनिङ्ग और एलिज़ाबेथ का विवाह दो सच्चे मनों का विवाह था और वर्षों तक यह एक आदर्श विवाह के रूप में प्रकाशमान रहेगा। रौबर्ट ने अपने विवाह के पश्चात् आजीविका प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश म्यूज़ियम में नौकरी प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उसने लिखा था : "वह एक घोड़े की तरह कार्य करेगा और उसे प्रसन्नता होगी कि यदि उसे कोई छोटी से छोटी नौकरी भी दे दी जाएगी।" उसने वकील बनने का भी प्रयत्न किया था और वकालत की पुस्तकों को पढ़ना भी प्रारम्भ किया था। उसकी पत्नी एलिज़ाबेथ ने आग्रह किया कि उसे कवि और एकमात्र कवि ही रहना चाहिए। ब्राउनिङ्ग और एलिज़ाबेथ की प्रेमकथा प्रसिद्ध है। एक दूसरे को साक्षात् करने से पूर्व वे दोनों एक दूसरे की कविता के प्रशंमक थे। ब्राउनिङ्ग की कविता में उसका हृदय पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है। श्रीमती एलिज़ाबेथ बैरेट ने प्रेम के सम्बन्ध में लिखा है :

"यदि तुम सोच सकते हो,
जब कि गान समाप्त हो जाता है,
कि और कोई संगीत इतना मृदु नहीं है
यदि तुम अनुभव करते हो,
कि अन्य समस्त मनुष्य उसी की छायामात्र हैं
यदि तुम समझते हो कि जब तक वह प्रशंसा नहीं
करता
तब तक तुम्हारी सुन्दरता को सार्थकता प्राप्त नहीं होती

यदि तुम "जीवन के लिए और मृत्यु के लिए" शपथ
ले सकते हो"

स्विनबर्न कहता है :

"जीवन हो, मृत्यु हो—एक ही वस्तु अमर है
और वह है
इस पृथ्वी पर इस जीवन में पूर्ण
प्रेम को प्राप्त करना"

और यह प्रेम ब्राउनिङ्ग और एलिज़ाबेथ को प्राप्त हुआ था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राउनिङ्ग और उसकी पत्नी में मत-भेद नहीं थे। बहुत-से विषयों में उनके विचारों में भिन्नता थी। अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में दोनों के विचार भिन्न थे। एलिज़ाबेथ का अध्यात्म में विश्वास था जब कि ब्राउनिङ्ग का उसमें कतई विश्वास न था। एलिज़ाबेथ नेपोलियन तृतीय और जार्ज सैंकरण्ड की प्रशंसक थी परन्तु ब्राउनिङ्ग उनको पसन्द नहीं करता था। ब्राउनिङ्ग अपनी पत्नी को पूर्ण समझता था और उसने अपनी कविताओं में उसकी प्रशंसा की है। वह जब जब भी इंग्लैण्ड जाता था मार्लेबोन के चर्च की सीढ़ियों को चूमता था क्योंकि उसी चर्च में उसका एलिज़ाबेथ से विवाह हुआ था। एलिज़ाबेथ और ब्राउनिङ्ग के प्रेम में पूर्णता थी। जब वे पहले पहल मिले थे तब एलिज़ाबेथ ने ब्राउनिङ्ग को लिखा था: "यह एक अद्भुत बात है—अत्यन्त अद्भुत और दीनता अनुभव कराने वाली कि तुमने बाह्य और आन्तरिक जीवन का इतना महान् और विस्तृत अनुभव प्राप्त किया है। तुम्हें मनुष्यों और पुस्तकों का ज्ञान और साधारण ज्ञान इतना अधिक है और इस सब के होते हुए भी तुम वृद्ध नहीं प्रतीत होते... .."

दोनों एक-दूसरे की प्रतिभा और कविता के प्रशंसक थे और एक दूसरे को प्रोत्साहन प्रदान करते थे। ब्राउनिंग ने एलिज़ाबेथ के विषय में कहा था : एलिज़ाबेथ कवियों में सर्वोत्तम है। वह कवियों में चन्द्रमा है।" ब्राउनिंग ने अपनी पत्नी को यशस्वी बनाया। यह सत्य है कि प्रारम्भ में ब्राउनिंग अपने को कवि के रूप में अपनी पत्नी से हीन समझता था और बाद में भी वह अपने जीवन में इस बात को अनुभव करता रहा। दोनों को एक पुत्र हुआ था। उसका नाम पैन था। वह कला से खेल करता रहा परन्तु उसकी कला में कुछ विशेषता न थी। पैन ने एक अमरीकन स्त्री से विवाह किया था।

ब्राउनिंग ने वेनिस में पेन के लिए एक मकान ख़रीदा था। ब्राउनिंग की मृत्यु १२ दिसम्बर, १६२० को वेनिस में हुई थी। इसी दिन उसने "एसैलैण्डो" पुस्तक प्रकाशित की थी। उसके शरीर को दफ़नाने के समय उसकी पत्नी की कविता "वह अपने प्रिय को नींद प्रदान करता है।" गाई गई थी। जी. के. चैस्टरटन ने लिखा है : रौबर्ट ब्राउनिंग की पत्नी की मृत्यु हो गई क्योंकि अपनी बहन की मृत्यु से उसके हृदय पर गहरी चोट लगी थी। वह जब मरी तो अपने कमरे में अकेली थी और उसके कमरे में एकमात्र ब्राउनिंग था। उस समय क्या हुआ—इसके विषय में यद्यपि बहुत कुछ कहा जा चुका है तो भी वह अत्यल्प है। उसने जब उस कमरे को बन्द किया तब अपने को ही सदा के लए बन्द कर दिया उसके पश्चात् किसी ने ब्राउनिंग को नहीं देखा—वह छायामात्र और शरीरमात्र ही रह गया था।"

॥

फ्योदर दोस्तोयेव्स्की : रूसी कथाकार

निम्न सामग्री हम 'सोवियत भूमि' नामक पत्रिका से दे रहे हैं :

शेक्सपियर, बालज़ाक, पुश्किन, गेटे और विश्व-साहित्य के अन्य अमर साहित्यिकों की तरह दोस्तोयेव्स्की राष्ट्रीय विषय-वस्तु की सीमाओं को पार करके रूसी पृष्ठभूमि के माध्यम को ऐसी समस्याओं को चित्रित करने के लिए प्रयोग करता है जो आम तौर पर पूरी मानव-जाति के लिए महत्व रखती है।

दोस्तोयेव्स्की की लेखनी में सजीव पात्रों ने कैसे वैविध्यपूर्ण जगत् को जन्म दिया है—उसकी शुरू की कहानी "ग़रीब लोग" से लेकर उसके अन्तिम अपूर्ण उपन्यास "करामाज़ोव बन्धु" तक यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस अनथक कलाकार ने वास्तविकता को कितनी गहराई में पैठ कर देखा है: उसने कितने सच्चे और भावपूर्ण ढंग से सामाजिक संघर्षों, छोटे-मोटे लोगों, अपना खून पसीना एक करने वालों, दलित-पीड़ित जनों की विपदाओं और "शासक वर्ग"—सामन्तवादियों, ज़ारशाही नौकरशाहों के प्रतिनिधियों—के नैतिक पतन का चित्रण किया है।

दोस्तोयेव्स्की की रचनाओं में जो प्रबल भावात्मक आकर्षण है और उनमें जो सजीव और तर्कसंगत मनो-

वैज्ञानिक चित्रण किए हैं उनका श्रेय उसके जीवन के अत्यन्त समृद्ध अनुभव को भी उतना ही है जितना कि उसकी महान् प्रतिभा को। उसकी रचनाओं में बहुधा जो एक व्यथा और घुटन का पुट होता है, उसका कारण भी अधिकांशतः उसका यही कटु अनुभव है।

एफ़० दोस्तोयेव्स्की मास्को के एक ख़ैराती अस्पताल के डाक्टर का पुत्र था और उसका जन्म ११ १८२१ को हुआ था। उसने अपने बचपन से ही ग़रीबी का जीवन देखा था।

उस महान् नगर के छोटे-छोटे लोगों के प्रति उसका प्रेम और लगाव १८४६ में प्रकाशित उसकी कहानी "ग़रीब लोग" में हुआ। इस कहानी की लोकतान्त्रिक भावना और मानववादिता को रूस के सबसे बड़े साहित्य-समीक्षक बेलिंस्की की प्रशंसा प्राप्त हुई। अपनी इस सफलता से प्रोत्साहित होकर लेखक ने पिछली शताब्दी के पाँचवें दशक में कई कहानियाँ लिखीं जिनमें उसने छोटे-मोटे लोगों के विषय पर और विस्तार के साथ लिखा।

अप्रैल १८४९ में यह नवयुवक लेखक बुताशेविच पेत्रोशेव्स्की के क्रान्तिकारी संगठन में भाग लेने के जुर्म में गिरफ़्तार कर लिया गया। आठ मास के कारावास के बाद दोस्तोयेव्स्की और इस संगठन के अन्य कई सदस्यों को मृत्युदण्ड दिया गया। सरकार का इरादा इस दण्ड को लागू करने का नहीं था; वह तो केवल इन तथाकथित "अपराधियों" को नैतिक रूप से कुचल देने के लिए ही घोषित कर दिया गया था। जिस समय सिपाही इस मृत्युदण्ड को कार्यान्वित करने की तैयारी कर रहे थे, उस समय कैदियों को सूचना दी गई कि मृत्युदण्ड घटा कर उनकी सज़ा सश्रम कारावास की कर दी गई है। १८५९ में जाकर उसे मध्य रूस में लौटने की इजाज़त दी गई।

जब वह लौटा तो वह बीमार और थका हुआ था पर अपनी साहित्यिक योजनाओं को पूरा करने की प्रबल उत्सुकता थी।

१८६६ में दोस्तोयेव्स्की की एक अत्यन्त सराहनीय रचना—उसका उपन्यास "अपराध और दंड" ("क्राइम एण्ड पनिशमेंट")—प्रकाशित हुआ; इस पुस्तक से लेखक की ख्याति सारे यूरोप में फैल गयी। कहानी का नायक रास्कोलनिकोव यद्यपि जीवन की गंदगी को कोसता है, पर स्वयं उसका शिकार हो जाता है, और बदी का नैतिक आचरण अपनाता है, जिसे वह चरम सीमा तक पहुँचा देता है।

अपने नायक की "विचार-धारा" के प्रति स्वयं लेखक का रवैया कुछ जटिल है और बुराइयों और अन्याय का सजीव चित्रण करने वाले दृश्य रास्कोलनिकोव के तमाम तर्क-विवेक से अधिक विश्वासप्रद हैं। ये दृश्य उस अन्यायपूर्ण और अस्वाभाविक सामाजिक व्यवस्था की भर्त्सना है जिसके अन्तर्गत मनुष्य का व्यक्तित्व इतना अपमानित और पददलित हो जाता है।

इस दृष्टि से दोस्तोयेव्स्की की एक और प्रशंसनीय रचना उनका प्रख्यात उपन्यास 'मूर्ख' (दि इडियट) है।

उसकी महान् रचना "कारामाज़ोव बन्धु" ("दि ब्रदर्स कारामाज़ोव") उसकी सृजनात्मक खोज का सार-तत्व होने वाली थी। लेखक अपनी इस रचना को पूरी न कर सका, जिसमें उसने उस सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्या का, जिसे बाद में चलकर "कारामाज़ोववाद" का नाम दिया गया, गहरा विश्लेषण किया है।

"कारामाज़ोववाद" पतनोन्मुख शासक वर्गों की, उन वर्गों की जिनके कोई सकारात्मक सिद्धान्त नहीं हैं, मनोदशा का नाम है। इस मनोदशा की एक लाक्षणिक विशिष्टता है: अत्यधिक नैतिक अस्थिरता, एक ही व्यक्ति में सकारात्मक नैतिक प्रयासों और नीचतम वासनाओं के बीच निरन्तर और जटिल संघर्ष जिसमें नीचतम वासनाएँ ही छायी रहती हैं और विजय पाती हैं। बाद में अवनति काल में "कारामाज़ोववाद" की तरफ़ से आँखें मूँद लेने की यही छूटी हुई प्रवृत्ति में प्रतिक्रियावादी साहित्य की लाक्षणिक विशिष्टता बन गयी।

दोस्तोयेव्स्की ने एक सराहनीय शैली विकसित की जो भावपूर्ण भी थी और चित्ताकर्षक भी। कलाकार का उद्देश्य था कि हर रचना और हर छोटी-से-छोटी बात अधिकतम स्वाभाविक हो।

९ फरवरी, १८८१ को दोस्तोयेव्स्की का देहान्त हो गया। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वह अपने देश में भी और विदेशों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हो गए, और कई रूसी तथा पश्चिमी देशों के लेखकों की रचनाओं में उनका प्रभाव झलकता है। दोस्तोयेव्स्की की रचनाओं ने विश्व की सांस्कृतिक निधि को समृद्ध बनाया और उनका कलात्मक मूल्य स्थायी महत्व रखता है।

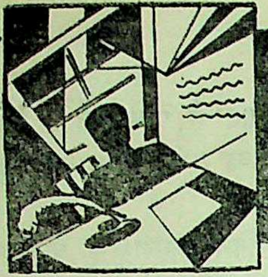

सम्पादकीय

विभाजन या पुनर्गठन ?

अभी तक विश्व में झगड़े का कारण तीन 'ज़' समझे जाते रहे हैं : ज़र, ज़मीन और ज़न। अब इनमें एक और 'ज़' की वृद्धि हो गई है और वह है ज़बान। क्या कोई यह कल्पना कर सकता था कि ज़बान किसी देश में इतने झगड़े और समस्याएँ उत्पन्न कर सकती है ? हमारे देश का विभाजन मज़हब के नाम पर हुआ परन्तु इस विभाजन से क्या उन समस्याओं का अन्त हो गया, जिनके कारण यह विभाजन किया गया था ? कहा तो यह गया था कि भाषाओं के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जा रहा है, परन्तु हमारे देश की आज जिस प्रकार की स्थिति है उससे तो यह ज्ञात होता है कि भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन नहीं विभाजन किया जा रहा है और यही कारण है कि समस्त प्रान्तों में आज जैसे अपना-अपना हिस्सा लेने की लहर दौड़ गई है। कल तक हमारे देश के जो नेता समस्त देश की दुहाई दे रहे थे और समस्त देश की उन्नति के लिए जिन साधनों का प्रयोग कर रहे थे वे अब एकमात्र अपनी भाषा और अपने प्रान्त की दुहाई दे रहे हैं और उन्हीं साधनों को अपने प्रान्तों के विभाजन के लिए काम में ला रहे हैं। कहावत है "अपनी अपनी डफली अपना अपना राग"; यह कहावत हमारे देश में आज कुछ ऐसे रूप में परिवर्तित हो गई है : "अपनी अपनी भाषा और अपना अपना राज्य।" ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के आधार पर प्रान्तों का विभाजन वैसी ही एक मृग-मरीचिका सिद्ध होगा जैसे कि मज़हब के आधार पर देश का विभाजन। इससे जिस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है वह समस्या और भी अधिक उलझती और जटिल होती चली जा रही है और अभी तो उसका केवल सूत्रपात ही हुआ है। "आगे आगे देखिए होता है क्या।"

समस्त राष्ट्र के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या देश की एकता की है—विभाजन की नहीं। भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन इसीलिए किया जा रहा था कि इसके द्वारा समस्त देश में शान्ति और एकता की स्थापना हो परन्तु इससे तो देश में अशान्ति, अनैक्य और अराजकता के उत्पन्न होने का भय उत्पन्न हो गया है। भाषा के पक्षपातियों और समर्थकों की दृष्टि आज समस्त राष्ट्र और देश से हट कर एकमात्र अपने प्रान्तों पर ही केन्द्रित हो गई है। सिद्धान्त तो यह था : "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे..." कुल के लिए एक को छोड़ दे, ग्राम के लिए कुल को छोड़ दे और जनपद के लिए ग्राम को छोड़ दे—परन्तु हो यह रहा है कि विभाजन के जोश में बड़े बड़े लोग अपने अपने प्रान्त के लिए समस्त देश को कुरबान करने के लिए तैयार हो गए हैं। केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जिन लोगों को हमारे देश की एकता में विश्वास नहीं था वे कहा करते थे कि यह देश एक नहीं है क्योंकि इस देश में अनेक भाषाएँ और अनेक संस्कृतियाँ हैं। यह सत्य है कि हमारे देश में अनेक भाषाएँ हैं परन्तु वे सब एक ही प्रकार की परम्पराओं और संस्कृति के द्वारा अनुप्राणित हैं। आप इस समस्त देश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक चले जाइए आपको यह पूर्णतया अनुभव होगा कि इस समस्त देश की संस्कृति एक ही है। भाषाओं की अनेकता होते हुए भी उनमें एक प्रकार की एकता है और इसी एकत्व के कारण ही यह देश अपनी प्रतिष्ठा और अपने महत्व को क़ायम रख सका है। यदि इस देश की एकता को क़ायम न रखा जा सका तो फिर यह देश छिन्न-भिन्न हो जाएगा और इसकी विशालता नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। इससे संभवतः हमारे प्रान्त तो "विशाल" बन जाएँगे परन्तु इससे हमारे देश की "विशालता" नष्ट हो जाएगी। हमारे प्रान्त चाहे कितने ही महान् क्यों न हो क्या उनकी महानता की तुलना किसी भी प्रकार समस्त देश की महानता से की जा सकती है ? इस बात को अच्छी तरह समझ लिया जाना चाहिए कि भाषाओं के आधार पर राज्यों का विभाजन नहीं पुनर्गठन किया

जा रहा है किन्तु यह पुनर्गठन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि जिससे समस्त देश में एकता और सद्भावना की वृद्धि हो और प्रान्तों में एक दूसरे से पृथक होने की सम्भावना न रहे।

अनिश्चित काल तक अंग्रेज़ी

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से यह स्वाभाविक ही था कि जब लोग राष्ट्र ही को भूल गए तो वे राष्ट्रभाषा को भी भूल जाएँ। अब तक इस सम्बन्ध में राष्ट्रभाषा के विषय में किसी ने कुछ नहीं कहा था परन्तु अब इस स्थिति से लाभ उठाकर मद्रास के कुछ प्रमुख नेताओं ने हिन्दी का विरोध प्रारम्भ कर दिया है और वे इस देश में न केवल कुछ काल के लिए अंग्रेज़ी को 'यथापूर्व' रखना चाहते हैं अपितु वे अनिश्चित काल तक अंग्रेज़ी की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं— अन्यथा वे समझते हैं कि समस्त देश में अशान्ति और अराजकता उत्पन्न हो जाएगी।

पिछले दिनों मद्रास में इसी सम्बन्ध में एक गोलमेज़ कान्फ्रेन्स आयोजित की गई थी। इसमें सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया गया कि क्योंकि समस्त भारतवर्ष के शिक्षित नागरिकों को अंग्रेज़ी का पर्याप्त ज्ञान है इसलिए अंग्रेज़ी को ही सरकारी भाषा रखा जाए। इस सम्बन्ध में मद्रास विधान सभा के एक सदस्य ने कहा: "...हमारे देश में पिछले दिनों जो घटनाएँ हुई हैं उनसे सबकी आँखें खुल जानी चाहिएँ। कहीं ऐसा न हो कि खेर-कमीशन की रिपोर्ट का भी वही हाल हो जो कि राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट का हुआ है और समस्त देश का वातावरण क्षुब्ध हो जाए।"

अंग्रेज़ी के पक्षपाती यह कैसे समझ लेते हैं कि यदि अंग्रेज़ी को अनिश्चित काल के लिए केन्द्र की सरकारी भाषा रखा जाएगा तो देश का वातावरण क्षुब्ध नहीं होगा। जब राष्ट्र का संविधान बनाया गया और हिन्दी को केन्द्र की भाषा उद्घोषित किया गया तो क्या उससे देश के वातावरण में किसी प्रकार की क्षुब्धता उत्पन्न हुई थी? अब यह क्यों कहा जा रहा है कि अंग्रेज़ी के हटाने से देश में अशान्ति उत्पन्न हो जाएगी? खेर आयोग का निर्माण इसलिए नहीं किया गया कि अंग्रेज़ी को भारतवर्ष में अनिश्चित काल तक अक्षुण्ण रखा जाए। यदि आयोग ने इस बात की सिफ़ारिश की तो खेर आयोग की नियुक्ति का तात्पर्य ही कुछ नहीं रहेगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ओर तो वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि देश में अंग्रेज़ी के ज्ञान का स्टैंग्डर्ड (मान) घटता जा रहा है और दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि क्योंकि भारतवर्ष की शिक्षित जनता को अंग्रेज़ी का पर्याप्त ज्ञान है इसलिए अंग्रेज़ी को केन्द्र की सरकारी भाषा रखा जाना चाहिए। यदि अंग्रेज़ी के ज्ञान में अवनति हो रही है तो यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि शिक्षित जनता को अंग्रेज़ी का पर्याप्त ज्ञान है? दोनों ओर से तो अंग्रेज़ी के पक्ष में नहीं बोला जा सकता। यदि हमारे देश की अधिकांश शिक्षित जनता को लिया जाए तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि वह जितना हिन्दी को समझती है, उतना अंग्रेज़ी को नहीं।

अंग्रेज़ी हमारे देश के किसी प्रान्त की भाषा नहीं है। हमें समझ में नहीं आता कि यह कैसे आशंका की जा रही है कि यदि अंग्रेज़ी को केन्द्र की सरकारी भाषा अनिश्चित काल तक न रखने की सिफ़ारिश की गई तो देश में वैसी ही अशान्ति फैल जाएगी जैसी कि राज्यों के पुनर्गठन के समय हुई है। हम समझते हैं कि यह आशंका सर्वथा निर्मूल है।

मातृभाषा का गौरव

माइकेल मधुसूधन दत्त बंगाली के एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि हुए हैं। वे जब यूरोप में प्रवास कर रहे थे, उस समय उन्होंने फ्रान्स से अपने एक पत्र में श्री विद्यासागर को लिखा था कि यह सत्य है कि यूरोप की भाषाएँ अत्युन्नत हैं परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपनी मातृभाषा को भूल जाएँ। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में श्रीयुत आर॰ के॰ दास ने अपने एक लेख में उनके एक पत्र को उद्धृत किया है। इस पत्र का कुछ अंश निम्न प्रकार है: "...यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान निस्सन्देह एक विशाल और समृद्ध राज्य की प्राप्ति के समान है। यदि मैं जीवित रहा तो अपने देश में वापस आकर अपनी मित्रों को अपनी मातृभाषा के द्वारा इन भाषाओं के साहित्य से परिचित कराने का प्रयत्न करूँगा।... अन्ततः इससे बड़ी वस्तु और कोई नहीं हो सकती कि हम अपनी भाषा को उन्नत और समृद्ध करें। क्या आप समझते हैं कि इंग्लैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी को कवियों और निबन्धकारों की आवश्यकता है? मैं भगवान्

से प्रार्थना करता हूँ कि हमारे देश के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के हृदयों में अपने देश और भाषा के प्रति वही महत्वाकांक्षा जागृत हो जो कि अंग्रेज़ी के कवि मिल्टन के हृदय में जागृत हुई थी यदि हममें कोई ऐसा व्यक्ति है जो अपने पीछे अपने नाम को छोड़ जाना चाहता है और विस्मृत नहीं होना चाहता तो उसका यह कर्तव्य है कि वह अपनी मातृभाषा की सेवा करे। यह उसका उपयुक्त और न्याय संगत क्षेत्र है। निस्संदेह यूरोपियन विद्वत्ता अनुकरणीय है परन्तु जब हम विश्व के सम्मुख बोलें तो अपनी ही भाषा में बोलें। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि उनके पास कुछ नए विचार हैं—उन्हें उन विचारों को अपनी भाषा में अभिव्यक्त करना चाहिए। कई व्यक्ति अंग्रेज़ी में लिख कर यह समझते हैं कि वे काले मैकोले, कार्लाइल या थैकरे है। मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि वे इस प्रकार के कुछ नहीं हैं। मैं उस व्यक्ति को शिक्षित मानने के लिए तैयार नहीं हूँ जो कि अपनी भाषा को अच्छी तरह नहीं जानता।''

माइकेल मधुसूदन दत्त ने इन शब्दों को तब लिखा था जब कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ों का राज्य था। अब हमारे देश में अंग्रेज़ों का राज्य नहीं रहा है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ी के प्रति हमारे देश के कई विचारकों की निष्ठा अब पहले से अधिक बढ़ती जा रही है। अब हमारे देश में समस्त शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया जा रहा है और इसके कारण स्वभावतः ही अंग्रेज़ी के ज्ञान का मान घट रहा है परन्तु इससे अंग्रेज़ी के प्रेमी सन्तुष्ट नहीं हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उनकी दृष्टि अपनी मातृभाषा पर उतनी नहीं है जितनी कि अंग्रेज़ी पर। ये अपनी भाषाओं को उतना गौरव नहीं प्रदान करते जितना कि अंग्रेज़ी को। क्या अंग्रेज़ी के समर्थक माइकेल मधुसूदन दत्त के उपर्युक्त कथन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेंगे?

'दक्षिण भाषा पुस्तक ट्रस्ट' और हिन्दी

दक्षिण की चार बड़ी भाषाओं तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ में उच्च साहित्य के प्रकाशन के लिए 'दक्षिण भाषा-पुस्तक-ट्रस्ट' की स्थापना की गई है। इस ट्रस्ट की एक परामर्श समिति बनाई गई है जिसके सदस्य दक्षिण में अवस्थित समस्त विश्वविद्यालयों के वाइस-चान्सलर हैं। पिछले दिनों इस परामर्श समिति की एक बैठक मद्रास में हुई जिसमें इस बात का निर्णय किया गया कि इसके तत्वावधान में प्रकाशक किस प्रकार की पुस्तकों को प्रकाशित करें। इसके द्वारा निर्धारित सूची में भारतीय और विदेशी अत्यन्त प्राचीन श्रेणिक पुस्तकों, आधुनिक उपन्यास और कहानियों, विज्ञान और दर्शन में जनसाधारण के लिए आवश्यक पुस्तकों, भ्रमण वृत्तान्त, कला और धर्मसम्बन्धी पुस्तकों आदि का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए परामर्श दिया गया है जिनके द्वारा एक साधारण व्यक्ति को अपने प्रतिदिन के कार्यों को करने में सुविधा हो।

इस ट्रस्ट ने तीन वर्ष की एक योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत साधारण संदर्भ पुस्तकों, संग्रहों, पाकेट कोशों और विश्वकोशों का प्रकाशन किया जाएगा। ट्रस्ट ने इस प्रकार के सुझाव दिए हैं कि घर-गृहस्थी "दक्षिणी भाषाओं का कथा-साहित्य" इसका चारों दक्षिणी भाषाओं में अनुवाद, अन्य भारतीय और विदेशी पुस्तकों का अनुवाद आदि को प्रारम्भ में प्रकाशित किया जाए। ट्रस्ट स्वयं इन पुस्तकों को प्रकाशित नहीं करेगा। इसका उद्देश्य इतना ही है कि इसके तत्वावधान में दक्षिण की चारों मुख्य भाषाओं में पुस्तकों का बृहत् संख्या में प्रकाशन हो और प्रकाशक अपनी पुस्तकों को आधुनिक व्यवस्था के आधार पर विक्रय कर सकें। इस ट्रस्ट का यह भी प्रयत्न रहेगा कि अधिक संख्या में कम क़ीमतों पर पुस्तकों को प्रकाशित किया जाए जिससे कि जनसाधारण को सुगमता से पुस्तकें उपलब्ध हो सकें।

दक्षिण के विश्वविद्यालयों के वाइस चान्सलरों द्वारा पुस्तक ट्रस्ट की इस योजना में इस प्रकार की पुस्तकों को कोई स्थान नहीं दिया गया जिससे दक्षिण भारत की भाषाओं और साहित्य का ज्ञान कम-से-कम हिन्दी के द्वारा भारतवर्ष के अन्य प्रान्तवालों को प्राप्त हो सके। अन्य प्रान्तवालों को दक्षिणी भाषाओं का सुगमतापूर्वक वैज्ञानिक पद्धति से ज्ञान कराने वाली पुस्तकों का नितान्त अभाव है। दक्षिण की भाषाओं के महान् साहित्य को उत्तर और अन्य भारतीय प्रान्तों तक पहुँचाने के लिए इस ट्रस्ट को योजना में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए था कि इनका प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में सुगमतया उपलब्ध हो सके। इससे दक्षिणी भाषाओं की पुस्तकों के प्रकाशकों को विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो सकेगा और उनकी लोकप्रियता बढ़ेगी।

आइए ! मिलिए !!

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी
सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, ::: हैदराबाद-द.

रजिस्टर्ड नं. H. ५९९ Regd. No.

अजन्ता

वर्ष ८ मार्च १९५६ अंक ३

ITS ONLY **"DEFIANCE"**

WHICH CAN SATISFY YOUR NEEDS IN

AUTOMOBILES

HERE IS A RANGE IN VARIETY FOR YOUR SELECTION

MAKE YOUR CHOICE

1 ***New Baby Hindusthan*** 8. H. P.

with Overhead Valve Engine

2 ***Studebaker*** Champions 4-Door Sedan 21-6 H. P.

Conestoga Station Wagon 21.6 H. P.

Pick-up Van & Trucks V 8 Engine 40-6 H. P.

Chassis in Different Ranges

3 ***Land Rover*** Four-Wheel Drive 15 H. P.

4 ***Defiance Battery*** With Glass Floss

5 ***Servicing & Efficienit Repairs***

6 ***Huge Stock of Auto Spares***

All These Popular Vehicles Available For Immediate

• Deliveries At Best Prices •

Please Visit Our Show Rooms "MEHTA MAHAL"

49, Mahatma Gandhi Road,
and Siddiambar Bazar,

SECUNDERABAD
HYDERABAD

Phone 6233
Phone 4780

Defiance Automobiles

(Prop : Chandulal Mehta & Co. Ltd., Bombay)

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager H. D. MEHTA Esqr.

Brenches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है

या

कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात हैदराबाद-द. से मँगाइए।

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

मैजिक बक्स

इस बक्स में ताश का पत्ता जला कर डाल देने पर फिर खोल कर देखने पर वह पत्ता सही और साबित निकलेगा। सादा काग़ज़ डालने पर नोट और रुपया डालने पर एक बार वह ग़ायब (अदृश्य) हो जायेगा और दूसरी बार मिल जायेगा। भुलावे में डाल देने वाला अनोखा मैजिक, जिसे देख कर लोग बड़े हैरान होते हैं कि आखिर राख यकायक ही कहाँ ग़ायब हो गई और जली हुई राख का पत्ता या नोट कैसे तैयार हो गया। विधिसहित पूरे सामान का मूल्य दो रुपया।

डाक-व्यय के लिए आठ आना भेज कर

५४ मैजिक शौ का बड़ा सचित्र-सूचीपत्र रजिस्टर्ड द्वारा मुफ्त मँगाइये

१०५ दी यूनाइटेड मैजिक कम्पनी लिमिटेड,

मुरादाबाद इण्डिया

टेलिफोन : १९९ तार : मिस्ट्री

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जायँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२

वसुधा

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक

रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता

पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी

पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी

श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।

प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी।

अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।

नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता

वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,

जबलपुर (म० प्र०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३१६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ

एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक………

आपका-स्वास्थ्य

………के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है ।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है ।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है । नमूने के लिए

आठ आने का टिकट भेजिए ।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा ।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं।

अवश्य पढ़िए ।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र ।

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए

अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए

अनिवार्य रूप से आवश्यक ।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

हिन्दी साहित्य में स्पृहणीय वृद्धि

कहानी-विशेषांक

प्रतिभा

का

आगामी मार्च १९५६ को प्रकाशित हो रहा है हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों एवं अन्य भाषाओं की महान् कहानियों का अमूल्य संग्रह ।

मूल्य : एक रुपया

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड
वर्धा—रोड, नागपुर—१

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

उच्चकोटि की साहित्यिक एवं शिक्षाप्रद रचनाओं के साथ ही साथ राष्ट्रद्रोही फिल्मों के विरुद्ध खुला युद्ध छेड़ने वाला भारत का प्रथम पत्र

सचित्र मासिक

ऊषा

* बम्बई, आन्ध्र, भोपाल, मध्यभारत एवं मध्यप्रदेश राज्य सरकार के शिक्षा विभागों द्वारा स्वीकृत
* जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
* कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।
* स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ चरित्र निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना ही जिसका मुख्य उद्देश्य है।

वार्षिक सदस्यता शुल्क ४)

नमूने की प्रति के लिए छः आने के टिकट भेजें

व्यवस्थापक : **भोज प्रकाशन धार** [म. भा.]

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन ।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त ।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबा

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खि भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी ही खुसरों और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सब पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस सकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचना का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक न कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चट ने लिखी है। संकलन-कत्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उन उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भा लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी मूल्य चार रुपए।

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-ग की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। य पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता — श्रीराम शर्मा। पृष्ट संख्या लगभ तीन सौ, डेमी साइज़। मूल्य छः रुपए।

४. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी) : उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग भूतपूर्व अध्यक्ष आचार्य श्री वंशीधर विद्यालङ्कार की अंग्रेज़ी में लिखी हुई विद्वतापूर्ण पुस्तक।

५. **चाबुक** (कहानी-संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्र कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अं हुआ है। मूल्य पौन दो रुपए।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। ना रंगमंच के उपयुक्त है।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचा

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल–साहित्य–माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न छः पुस्तकें प्रकाशित की है। अठपेजी क्राउन साइज़, ३२ पृष्ठ रंगीन सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ। प्रत्येक का मूल्य आठ आना।

१. **बालपद :** *७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार*

२. **गाँवों की कहानियाँ :** *उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ। लेखक— श्री रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए.।*

३. **दक्षिण के महापुरुष :** *दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक— श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.।*

४. **बालकों कहानियाँ :** *बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक—श्रीराम शर्मा।*

५. **दो एकांकी :** *७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका— विमला लूथरा एम. ए.।*

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** *अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी।*

प्रेस में :

१. **दक्खिनी का व्याकरण**	*श्रीराम शर्मा*
२. **दक्खिनी का इतिहास**	*श्रीराम शर्मा*
३. **रहीम का अप्रकाशित काव्यः दम्पति विलास**	
४. **पञ्चामृत** *(मराठी)*	
५. **मराठी साहित्य का इतिहास**	

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'

की

परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
शिक्षा-सचिव, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

सफेद कोढ़ के दाग
ऐसे निकल जाते हैं कि वह कहाँ थे इसका पता भी नहीं लगता। हज़ारों प्रशंसा पत्र तथा कई इनाम मिले हैं।
दवा का मूल्य ५) रुपया।
विवरण पत्र मुफ्त मँगाइए।
नक़्क़ालों से सावधान रहिए।
वैद्य बी० आर० बोरकर
'आयुर्वेद भवन'
मु० पो० मंगरूलपीर जि० अकोला (मध्य प्रदेश)

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ मार्च १९५६ अङ्क ३

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार । हिन्दी

फोन : ५५५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

गीत
गंगा सहाय प्रेमी १
बिछुड़ा मीत निहार रहा मैं
बालस्वरूप राही ३
गीत
श्यामा श्रीवास्तव ४
ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे
उमाकान्त राय 'प्रलयंकर' ५
कई दिनों से देख रहा तुम उदास हो
देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ६
गीत
कीर्तिनारायण मिश्र ७
छोटी-सी बूँद
वंशीधर विद्यालंकार ८
सात्त्विक साहित्य की आवश्यकता
बनारसीदास चतुर्वेदी ९
हिन्दी-समीक्षा की परम्परा
ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ११
हमारी चिन्तना शक्ति
व्रजभूषण पाण्डेय १७
अरबी भाषा तथा साहित्य
डा. एम. अब्दुल मोईद खान २४
आधुनिक तेलुगु साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ
के. लक्ष्मीरंजनम् ३२
विचित्र प्रेमी
शान्ति मेहरोत्रा ३७
भारतीय पत्रकारिता के निर्माता
मोरेश्वर तपस्वी 'अथक' ४२
जिगर मुरादाबादी
बलवीर सहाय ४६
सभापति
कमल जोशी ४८
कन्नड़ के प्राचीन कवि
एम. रंगनाथ ५२
सिक्के के दोनों ओर
विमला बांठिया ५४
कला-चर्चा
डा. गुलाम याजदानी ६१
चिट्ठी-पत्री
राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी; भगवत शरण अग्रवाल; श्यामा श्रीवास्तव; धर्मवीर भारती; कैलाश कल्पित; रामनारायण शर्मा; बालस्वरूप 'राही'; व्रजभूषण पांडे; कालिदास कपूर; विमला अवस्थी; राजबली पांडेय । ६३
नीर-क्षीर
कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, गीत संगम : वंशीधर विद्यालंकार; महान् चौलुक्य कुमारपल, हमारी नाट्य साधना, सप्तदान : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर । ६८
सामयिक
औसतन अंग्रेज, आन्ध्र संस्कृति, अंग्रेजों और अमरीकियों की अंग्रेज़ी । ७४
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार ७८

चित्र :—कोलन, जर्मनी का एक भवन : चित्रकार, एन. सी. भट्टाचार्य
गीशा युवतियाँ : चित्रकार, डी. बद्री

वार्षिक मूल्य : ६)

एक प्रति का मूल्य : १)

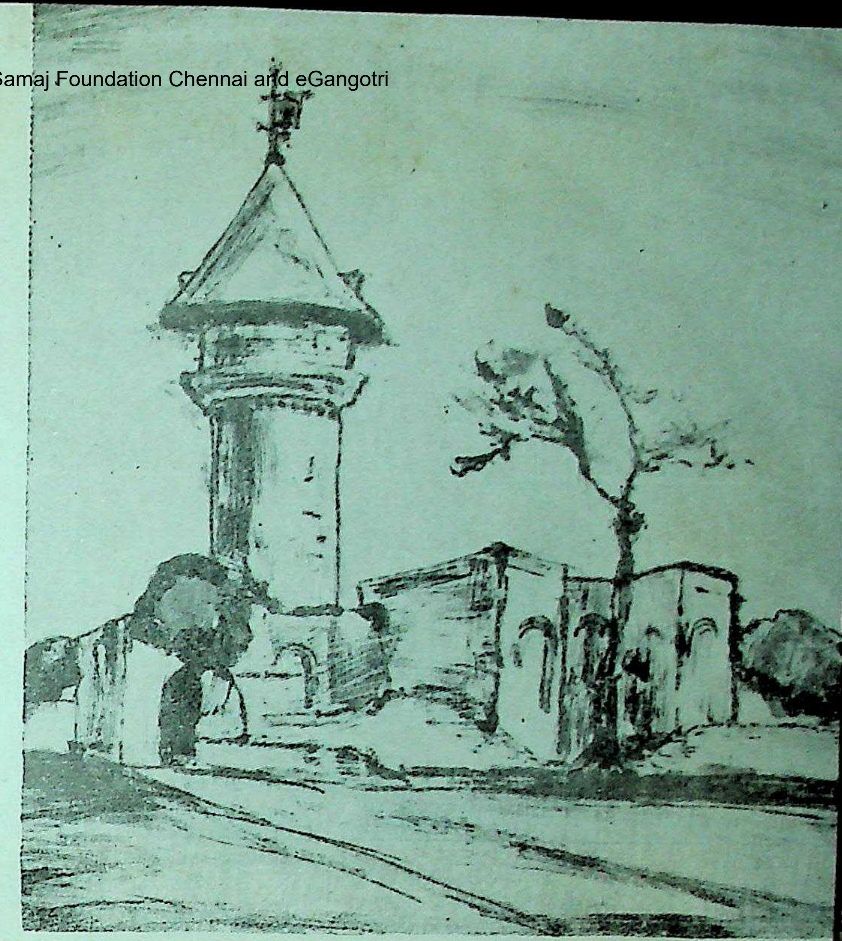

कोलन, जर्मनी का एक भव
चित्रकार : एन. सी. भट्टाच

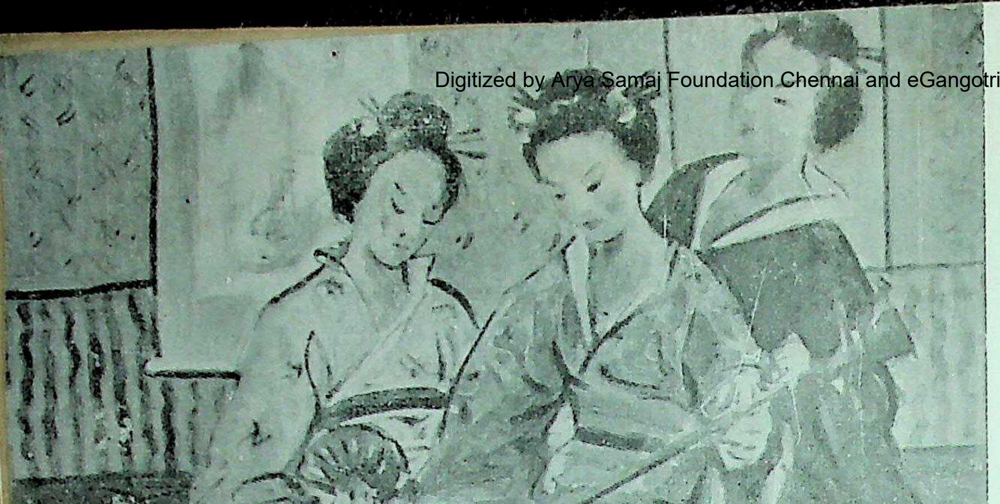

शा युवतियाँ
त्रकार : डी. बद्री

वर्ष ८

अजन्ता

अङ्क ३

गीत

वज्र-सा निष्ठुर बना कर आज माँगा प्यार तुमने

लाल आँखों से उषा की मैं क्षितिज तक घूम आया
चाँदनी का दीप लेकर सब सितारे चूम आया
आँधियों की चाल से चल जब तुम्हें ढूँढ़ा, छिपे तुम
आज कुंठित से चरण हैं, तब किया अभिसार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

मग तुम्हारा हेरता था पन्थ में आँखें बिछाए
नयन में मरु की पिपासा हृदय में आशा बसाए
रो थका सौ बार सावन पर न तुम को ध्यान आया
आज मैंने दृष्टि खोई तब किया शृंगार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

चल तुम्हारे द्वार आया डगमगाते से चरण से
दीप आशा के जला कर जूझता पथ में मरण से
सैकड़ों मधुमास बीते पर न तुम को ध्यान आया
पीठ मैंने फेर ली जब आज खोला द्वार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

यामिनी के श्याम अंचल में कुसुम से भर सितारे
नयन में निधि मोतियों की द्वार पर लाया तुम्हारे
धूल में मोती गए गिर और मुरझाए कुसुम सब
आज खाली हाथ, तब माँगा प्रणय उपहार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

छीन कर मुसकान मेरी चाँद तारों को हँसाया
और मेरे ही स्वरों से गीत कोकिल को सिखाया
साँस भी गिन कर मुझे दीं, हाय रे परतन्त्र जीवन
पर न पाया छीन मेरा मृत्यु का अधिकार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

तार के लघु कम्पनों पर मूर्छनाएँ झूमती थीं
दौड़ कर रस की हिलोरें उंगलियों को चूमती थीं
सैकड़ों पाषाण पिघले पर न तुमको गीत भाया
आज गाने को कहा है, तोड़ कर सब तार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

स्वर्ग की मेरी उमंगे जब धरा पर खींच लाई
स्वेद की बूँदें अनेकों बार मरु को सींच आई
तब बिछाए पन्थ में काँटे, थकीं सोई उमंगे
आज जीने को कहा है, सौंप कर दुख भार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

तोड़ जग के बन्धनों को जब तुम्हें अपना बनाया
दूर तब तुमने मुझे रख विश्व का सपना दिखाया
आज जग का हो गया मैं और जग अपना चुका हूँ
पास आने को कहा तब छोड़ कर संसार तुमने
आज माँगा प्यार तुमने

कृष्णा कालेज, अतरौली
अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

—गंगा सहाय 'प्रेमी

बिछुड़ा मीत निहार रहा मैं

मुझे शिकायत भरी नजर से तुम मत देखो
तुम में अपना बिछुड़ा मीत निहार रहा मैं!

कुछ वैसा ही लोचन, लोचन का नीलापन
झुकी-झुकी-सी पलक, निगाहें उन्मन-उन्मन
बिलकुल वैसी ही बिखरी-बिखरी-सी अलकें
बिलकुल वैसा ही अधरों का मादक कम्पन!
रूप तुम्हारा अंकित कर दृग की पुतली पर
किसी प्रवासी की तसवीर उतार रहा मैं!

आज तुम्हें यद्यपि पहली ही बार निहारा
किन्तु लगा परिचित-सा हर संकेत तुम्हारा
बचपन की साथिन-सी जो मिल गई आज तुम
डूबी-डूबी नाव स्वयं पा गई किनारा!
स्वर में भर मनुहार, नयन में सजल वेदना
तुम्हें प्यार से सौ-सौ बार पुकार रहा मैं!

ज्ञात मुझे यह बात प्राण, तुम हो बेगानी
अभी-अभी वर लोगी कोई राह अजानी
किन्तु पास बैठो तुम पल-भर, यह क्या कम है
सुन न सको चाहे तुम मेरी कसक कहानी!
अगर रुक सको पल-भर तो अहसान तुम्हारा
तुम में अपने दिल का दर्द बिसार रहा मैं!

यहाँ सभी हैं प्रीत जता कर छलने वाले
आँख मिला कर खुद ही आँख बदलने वाले
मेरा अनुभव कहता—कब अपने होते हैं—
चलते-चलते चौराहों पर मिलने वाले!
इसीलिए शंकित हूँ, दाँव लगा ममता का
तुम्हें जीत बैठा कि स्वयं को हार रहा मैं!

मुझे शिकायत भरी नजर से तुम मत देखो
तुम में कोई बिछुड़ा मीत निहार रहा मैं!

तिमारपुर,
दिल्ली

—बालस्वरूप 'राही'

गीत

सुन्दर चाँद सितारे लगते !

कितनी कसक तड़प कितनी है
सजल मेघमाला से पूछो !
कितना दाहक स्नेह भरा है
दीपक की ज्वाला से पूछो !

इस दुनिया की रीति यही
जो दूर रहें वे प्यारे लगते !

ग़ैरों का अपना बन जाना
अपनापन खो देने वाला
अमरों का भी अमर कहाता
बलि, बलि-पथ पर होने वाला !

यहाँ डूब चुकती हैं जिनकी—
नैया, वही किनारे लगते !

सुन्दर चाँद सितारे लगते !

भार्गव आइस फैक्टरी,
१६।१८ सिविल लाइन्स,
कानपुर

—श्यामा श्रीवास्तव

ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

ये बोल अर्चना के कोमल, पाषाण, तुम्हें पिघला लेंगे !
तुम जहाँ कहीं भी रहो निठुर, ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

होगी मिट्टी की साध सफल, आकाश किसी दिन उतरेगा
किरणों के हेम-दीप्त रथ पर विश्राम किसी दिन उतरेगा
है अभी निशा, पर बहुत शीघ्र अरुणिमा भोर की गाएगी
चाँदी की चंचल लहरों पर शतदल-कलिका मुसकाएगी
सपनों के चिर-आतुर सम्पुट थपकी दे तुम्हें सुला लेंगे !
तुम जहाँ कहीं भी रहो निठुर, ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

सच है, सरिता की साँस बँधी मरु की सैकत जंजीरों में
पतझर की प्रेतवती छाया रोती मधुवन के नीड़ों में
झकझोर रहा तूफ़ान क्षुब्ध दीपक की मृदुल कलाई को
है निगल रहा विषधर-निदाघ हँसती-खिलती अमराई को
पर दूर नहीं वह घड़ी कि जब झरते गुलाब मुसका देंगे !
तुम जहाँ कहीं भी रहो निठुर, ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

तट की होगी सच्ची पुकार तो लहर पार से आएगी
निश्चय ही दौड़ेगा पतंग, बाती न व्यर्थ ही जाएगी
निर्मम अलि क्या न पसीजेगा फूलों के ठण्ढे पानी से ?
क्या कुलिश नहीं बह जाएगा बन मोम, प्रणय की वाणी से ?
ये रोते-रोते प्राण विकल तुम को भी कभी रुला लेंगे !
तुम जहाँ कहीं भी रहो निठुर, ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

पलकों की तरल घटाओं में, बिजली के फूल, खिलोगे ही
हे प्राणों के बिछुड़े वैभव, आशा है पूर्ण, मिलोगे ही
तुम आओगे, आओगे ही, नीरव गलियाँ गुंजारेंगी
आँगन की मुरझी लतिकाएँ कुसुमों के दीप सँवारेंगी
हे दूर गगन के घन. उन्मन, दृग-चातक तुम्हें चुला लेंगे !
तुम जहाँ कहीं भी रहो निठुर, ये आँसू तुम्हें बुला लेंगे !

बच्चन-निकेतन, गणेशदत्त कालेज,
बेगूसराय, मुँगेर (बिहार)

—उमाकान्त राय 'प्रलयंकर'

कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !

कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !
अकसर जाता हूँ जब द्वार तुम्हारे हो कर
पथ के दोनों ओर द्रुमों की शाखाओं पर !
ढलते सूरज की उलझी केसर किरणों की
छाया में, उच्छ्वसित हृदय, श्लथ पग धर मन्थर !!
तब मेरे नयनों के सम्मुख आ जाती हैं
अश्रुभरी सावन की नीर भरी बदली-सी !
नमित थकित पलकें बेबस नीली-गीली-सी
युग युग की शिकायतों से ओझिल बोझिल-सी !!
जिन्हें निरख कर बरबस आह निकल जाती है—
कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !
ढका हुआ है चिन्ता के धूमिल मेघों से
वह पूनम के शशि-सा भोरा-गोरा मुखड़ा !
जिसे निरख मैं कुमुद-कुसुम-सा मुसकाता था
आज उसी पर पड़ा हुआ घूँघट-सा दुखड़ा !!
तुम चम्पई हथेली से निज चिबुक थाम कर
बरामदे में बैठी हो गुम-सुम-सी आकुल !
बिखरी हैं गोदी तक रूखी-सूखी अलकें
अस्त व्यस्त-सा फैला है मटमैला आँचल !!
संध्या की, सपनों की दुनिया में खोई-सी
कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !
अब भी वे ही राग गूँजते विहग-स्वरों में
अब भी वही निकलते सूरज-चाँद-सितारे !
वैसी ही अग जग में अब भी चहल-पहल है
अब भी वे ही होते फिर-फिर साँझ-सकारे !!
बहुत दूर धुँधले अतीत के संग कहीं पर
लगता जैसे कोई मुझ से छूट गया है !
बनते बनते कोई सपना टूट गया है
आते आते पास कि कोई रूठ गया है !!
मेरे ही दुख कम थे क्या पहले से, पर अब
कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !
यदि मैं पास तुम्हारे आ पाता न पूर्ववत्
यह न समझना तुम से मुझको प्यार नहीं है !
मैं मानव हूँ, मुझ को तुम पाषाण न कहना
मेरे उर में अब भी मधुर दुलार वही है !!
माना, मैं बन्दी हूँ जग की सीमाओं में
और तुम्हारी स्नेह छाँह से दूर हुआ हूँ !
पर तुम तक अब भी उड़ते हैं मेरे सपने
तुम्हें भुलाने पर न अभी मजबूर हुआ हूँ !!
इस अन्तर में अब भी है अधिवास तुम्हारा
फिर भी प्रिय जाने क्यों तुम रहती उदास हो !
आज तलक संघर्षों से मैं रहा जूझता
उर में केवल लिए तुम्हारा एक सहारा !!
जब जब निष्ठुर मौत बुलाने आई मुझको
सावित्री-सी तब तब मैंने तुम्हें पुकारा !!
और नहीं अब रूठो मुझ से अरी ! मानिनी
बिना तुम्हारे दर्द किसे दिखलाऊँगा मैं ?
सच कहता हूँ रोम-रोम में अब भी तुम हो
तुम्हें छोड़ कर और कहाँ पर जाऊँगा मैं ??
इन पूजा के गीतों की सौगन्ध तुम्हें है
और न मुझ को करो विकल, तुम यों उदास हो !
कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो !!

५१, न्यू ईदगाह कॉलोनी वैस्ट,
आगरा

—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

गीत

मैं जब-जब रोया करता हूँ, आँसू बन कर तुम ढलती हो !

मैंने सब कुछ अर्पा तुम पर
पाकर केवल एक सहारा
भूल चुका हूँ आज सभी कुछ
याद शेष—बस नाम तुम्हारा
मेरे प्राणों के दीपक में स्नेह-सुधा बन तुम जलती हो !
मैं जब-जब रोया करता हूँ, आँसू बन कर तुम ढलती हो !

तिमिरावृत है पन्थ, जानता हूँ
फिर भी मैं आगे बढ़ता
देख विघ्न-बाधाओं के दल
चरण सदा मैं आगे धरता
आलोकित अग-जग हो जाता, जब प्रकाश बन तुम चलती हो !
मैं जब-जब रोया करता हूँ, आँसू बन कर तुम ढलती हो !

चाह एक बस—चरण सदा ही
बढ़ते रहें तुम्हारे पथ पर
तम की सघन घटा घिर आए
पर मन रहे विभा के रथ पर
केवल सुधि है आज तुम्हारी, तुम ही प्राणों में पलती हो !
मैं जब-जब रोया करता हूँ, आँसू बन कर तुम ढलती हो !

शोकहरा, बरौनी
मुँगेर (बिहार)

—कीर्तिनारायण मिश्र

छोटी-सी बूँद

पानी की एक छोटी-सी बूँद,
एक दिन मचल उठी,
कहने लगी : "जानते हो,
मैं पानी की छोटी बूँद नहीं हूँ
मैं वह अनन्त समुद्र हूँ
जहाँ प्रतिक्षण अपार लहरें उठती रहती हैं"

किसी ने कहा : "यह क्या कहा तुमने
पानी की छोटी-सी बूँद ?
तुम समुद्र हो ?
समुद्र कहाँ और तुम कहाँ ?
तुम्हारा और समुद्र का मेल कहाँ ?"

सुन कर पानी की छोटी बूँद
और भी अधिक मचल उठी
कहने लगी : "तो तुम नहीं मानते
कि मैं समुद्र हूँ ?
अच्छा, पूरी आँखें खोल कर देखो,
देखो—मैं अभी समुद्र बनती हूँ"

यह कह कर पानी की छोटी बूँद,
एक दम समुद्र में कूद पड़ी
और समुद्र बन गई

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद दक्षिण

—वंशीधर विद्यालंकार

सात्विक-साहित्य की आवश्यकता

एक पत्र

प्रिय वंशीधर जी,

एक प्रश्न प्रायः मेरे मन में उठा करता है, वह यह है कि साधारण जनता तक शुद्ध सात्विक स्वास्थ्यप्रद मानसिक भोजन कैसे पहुँचाया जाए? सैकड़ों ही प्रकाशक हमारे देश में विद्यमान हैं और अपने अपने ढंग पर वे अच्छा काम कर रहे हैं। उनकी कठोर आलोचना करके कौन उनसे लड़ाई मोल ले? इस खुदाई फ़ौजदारी में मुनाफ़ा कुछ भी नहीं। और फिर हमारे प्रकाशक सर्वज्ञ हैं, वे भला किसी की सलाह क्यों मानने लगे?

अगर आप मुझ से "शुद्ध सात्विक स्वास्थ्यप्रद मानसिक भोजन" की परिभाषा पूछें तो उत्तर देना मेरे लिए कठिन होगा। हाँ, उदाहरण देकर मैं अपनी बात समझाने की कोशिश करूँगा। अभी अभी प्रातःकालीन चाय के साथ में अमरीकन ऋषि एमर्सन के निबन्ध (Self reliance) स्वावलम्बन को पढ़ रहा था। क्या कहना है उसके प्रोत्साहक सन्देश के बारे में! बड़ी जानदार चीज़ है। एमर्सन के विषय में कहा जाता है कि संसार की सभ्यता के लिए अमरीका की सबसे बड़ी देन एमर्सन के विचार हैं। एमर्सन के, थोरो के और ह्विटमैन के भी—और 'सेल्फ रिलाएंस' उन्हीं एमर्सन के सर्वोत्तम निबन्धों में से है। उसका अनुवाद गुजराती में हो चुका है, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, हिन्दी में उसका अनुवाद अभी तक नहीं हुआ। यदि उसका अनुवाद करके दो आने में उसे सुलभ कर दिया जाए तो कितने नवयुवकों को उससे प्रोत्साहन मिल सकता है।

दूसरा उदाहरण लीजिए। लाला हरदयाल जी की पुस्तक Hints for self-culture (आत्मसंस्कृति के उपाय) मेरे प्रिय ग्रन्थों में है। मैं उसे प्रायः स्वाध्याय के तौर पर पढ़ता रहा हूँ। उसके कई अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मसलन स्वास्थ्य के विषय में उनके विचार उनके सारे जीवन के अनुभवों का निचोड़ प्रतीत होते हैं—वैसे तो सम्पूर्ण ग्रन्थ ही उनके महत्वपूर्ण जीवन का एक अमर सन्देश माना जा सकता है—और उन विचारों को साधारण जनता तक विशेषतः नवयुवक समाज तक पहुँचाना हम लोगों का कर्तव्य है।

अपने नगर के लिए हम लोग क्या करें, इस बारे में भी लाला जी का लेख सुपाठ्य है और उसे पाठ्य पुस्तकों में उद्धृत करना चाहिए।

महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र की आत्मकथाओं के कई अध्याय ट्रैक्टों के रूप में निकाले जा सकते हैं। अव्वल तो ऐसे पाठकों की संख्या प्रधान न होगी, जो सम्पूर्ण ग्रन्थों को ख़रीद सकें और फिर उनका सार निकालने तथा ग्रहण करने की शक्ति कितनों में हो सकती है?

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के एक ऐसे ही महत्वपूर्ण निबन्ध 'तपोवन' का हिन्दी अनुवाद हमने 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया था। वह श्री धन्यकुमार जी जैन द्वारा किया गया था और उसे अलग से ट्रैक्टाकार में हमने वितरणार्थ छपाया भी था। 'तपोवन' में एक सन्देश है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूल स्रोत तपोवनों में ही था और गुरुदेव ने अपनी काव्यमयी भाषा में उनका बड़ा विशद वर्णन किया है। प्रत्येक नवयुवक को वह निबन्ध पढ़ना ही चाहिए।

जब कोई अच्छी किताब हमें पढ़ने को मिलती है तो बराबर हमारे मन में यह बात उठती है कि इसका सारांश साधारण जनता तक कैसे पहुँचाया जाए। सारांश पढ़ कर उनमें से कितने ही पाठक मूल ग्रन्थ को ख़रीद कर पढ़ सकते हैं। अपने परिमित साधनों के बावजूद हमने कितने ही ट्रैक्ट इस प्रकार के छपाए भी थे। स्वर्गीय पं. पद्मसिंह जी शर्मा संस्मरण-लेखकों में शिरोमणि थे और उनके लिखे संस्मरणों में महाकवि अकबर के संस्मरण सर्वोत्तम थे। उन्हें ट्रेक्ट के रूप में हमने छपाया था। यह निबन्ध एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने की चीज़ है।

हमारे लिखे कितने ही ट्रेक्टों को बन्धुवर भानुकुमार जैन ने बम्बई से प्रकाशित करने की कृपा की थी। उन पर लिखा हुआ था "कोई अधिकार रक्षित नहीं, जो चाहे सो छाप ले" मूल्य भी दो दो आने था। जापान के गान्धी कागावा की संक्षिप्त जीवनी उसी में निकली थी।

ट्रेक्टों का जिक्र चलने पर हमें स्वामी दर्शनानन्द

का स्मरण हो आता है, जिनके ट्रेक्टों ने आर्यसमाज के प्रचार में बड़ी सहायता दी थी। देशों में ही नहीं, विदेशों फ़िजी इत्यादि में उनका बहुत प्रचार हुआ था। श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय ने उस परम्परा को क़ायम रक्खा। स्वराज्य आन्दोलन के प्रारम्भ में 'अभ्युदय' द्वारा इस प्रकार के छोटे-छोटे अनेक ट्रेक्ट छपे थे। उनके द्वारा जनजागृति में जो मदद मिली थी, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना आज हमारा कर्तव्य है।

प्रिंस क्रोपाटकिन का वह सुप्रसिद्ध निबन्ध 'युवकों से दो बातें' सहस्रों की संख्या में हिन्दी पाठकों तक पहुँच चुका है। पहले पहल वह 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था। हमारी प्रार्थना पर बन्धुवर सत्यभक्त जी ने उसका अँग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद किया था और कलकत्ते के खादी भंडार ने सर्व प्रथम उसे ट्रेक्टाकार में छपाया था। क्रोपाट किन का वह लेख लाखों की संख्या में यूरोप की कई भाषाओं में छप चुका है। और यद्यपि वह ७० वर्ष पहले लिखा गया था तथापि उसमें ताज़गी ज्यों की त्यों विद्यमान है।

आचार्य विनोबा जी के कुछ निबन्ध ऐसे हैं, जिन्हें ट्रेक्ट की शक़्ल में छपां देना चाहिए। कुछ छपे भी हैं। अखिल भारतवर्ष सर्व सेवा संघ ने कितने ही अच्छे-अच्छे ट्रेक्ट छपाए हैं। श्री धीरेन्द्र मजूमदार का 'ग्राम राज' उनमें से एक है। धीरेन भाई भी अराजकवाद के समर्थक हैं—पर वे कोरम कोर विचारक ही नहीं, अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति भी उनमें विद्यमान है। इसलिए जो कुछ वे लिखते हैं उसके पीछे एक व्यक्तित्व विद्यमान रहता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से कोई यह न समझे कि हम केवल एक ही प्रकार का मानसिक भोजन देने के पक्षपाती हैं। मस्तिष्क के कपाटों को बन्द कर लेना और किसी वाद विशेष के प्रचारक बन जाना हमारा उद्देश्य नहीं। अगर रूस तथा चीन में कोई अनुकरणीय कार्य हुए हैं (अगर मगर की बात नहीं, वे दरअसल हुए भी हैं) तो उनके बारे में भी ट्रेक्ट छपने चाहिए। पर उससे भी पूर्व हमें भाखरा नंगल तथा माता टीला आदि पर ट्रेक्ट छपाने चाहिएँ। यद्यपि भारत सरकार का सूचना विभाग अब पहले से कहीं अधिक जीवित तथा जागृत बन गया है, फिर भी विदेशी प्रचार विभागों के मुक़ाबले अभी उसका कार्य बहुत पीछे है। उसके पास साधन हैं, शक्ति है और उसकी पहुँच भी दूर दूर तक है। पर सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सुयोग्य व्यक्तियों के हाथ में यह यज्ञ सौंपने की ताक़त या कल्पना शक्ति उसके पास नहीं। सरकारी मशीनरी प्रायः निर्जीव होती है और उससे काम लेना अत्यन्त कठिन होता है। सरकारी प्रचार की सीमाएँ हैं। उन सीमाओं के भीतर किसी भी सजीव लेखक का कचूमर निकल सकता है। वन में स्वच्छन्द गर्जन करने वाला सिंह भी सरकारी ग्रामोफ़ोन में भेड़ की तरह मिमियाने लगेगा और कण्ठावरोध से पीड़ित सरकारी नौकरों की शिकायत से भरी करुणोत्पादक बातों को सुन कर हमें आश्चर्य नहीं होता। जनता को वे कसी सजीव सन्देश दे सकेंगे, इसकी सम्भावना नहीं। सरकार परोक्ष रूप से सहायता भले ही देदें पर उसका प्रत्यक्ष प्रचार सदा शङ्का की दृष्टि से देखा जाएगा। फिर भी हम सरकारी सहायता की उपेक्षा नहीं कर सकते। जनता तक शुद्ध सात्विक मानसिक भोजन पहुँचाने का कार्य इतना महान् है कि कहीं से भी प्राप्त होने वाली सहायता का हमें स्वागत ही करना चाहिए।

ज्यों ज्यों हमारे यहाँ शिक्षितों की संख्या बढ़ती जाएगी त्यों त्यों जनता को मानसिक भोजन देने का प्रश्न गम्भीर से गम्भीरतर बनता जाएगा। यदि सर्व साधारण को स्वास्थ्यप्रद मानसिक भोजन नहीं मिला तो वह छबीली भटियारी, क़िस्सा तोता मैना, क़िस्सा साढ़े तीन यार और भड़े मूड़ की दो दो बातें पढ़ने के लिए बाध्य होगी। इसलिए दूरदर्शी लेखकों तथा प्रकाशकों का कर्तव्य है कि वे समय रहते सावधान हो जाएँ। इस प्रसंग में हमें 'कल्याण' कार्यालय की प्रशंसा करनी पड़ेगी। यद्यदि उनके कितने ही धार्मिक सिद्धान्तों से हमारा मतभेद है तथापि उनकी कार्य पद्धति की दाद देना हमारा कर्तव्य है।

संसार के उत्तमोत्तम विचारकों के विचार हमारी जनता तक पहुँचने चाहिए। कठमुल्लापन हमें अवनति के गढ़े में गिरा देगा। क्या ही अच्छा हो यदि 'अजन्ता' संचालक इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

१६८, नार्थ ऐवेन्यु,
नई दिल्ली

हिन्दी-समीक्षा की परम्परा

संस्कृत हमारे भाषा-विज्ञान और साहित्य-शास्त्र दोनों का आदि प्रेरणा-स्रोत है और हमारे आज तक के साहित्यिक विकास-क्रम में संस्कृत का योग आधारभूत रहा है। संस्कृत के समीक्षा-शास्त्र का जन्म-काल अभी भी असंदिग्ध भाव से निश्चित नहीं किया जा सका है। राजशेखर कृत 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य-शास्त्र के प्रारम्भ और उन्नयन का रोचक आभास हमें उपलब्ध होता है। वेद-वेदांगों, संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में न इस प्रकार का कोई संकेत मिलता है और न ऐसी रचना ही प्राप्त होती है, जिससे आलोचना के प्रयोगारम्भ का काल प्रमाण-सम्मत रूप में स्थिर किया जा सके। कतिपय ऐतिहासिक शोधों से हमें यह विदित होता है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शती में अर्थात् गुप्त वंश के प्रादुर्भाव के समय संस्कृत-साहित्य का अध्ययन विशेष रूप से बढ़ा और उसके साथ ही अध्ययनकर्ताओं का ध्यान साहित्य के अन्यान्य प्रश्नों की ओर भी गया। किन्तु हमें बाल्मीकि के काव्य में भी रसशास्त्र का विवेचन और आलोचनापरक विचार यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। समीक्षा का कुछ आभास हमें पाणिनि की रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। भरत की 'नाट्यशास्त्र' पुस्तक सम्भवतः सबसे प्रथम कृति है, जो समीक्षा के सम्यक् रूप के साथ नाटक के तत्वों का विवेचन हमें देती है और उसके पश्चात् लगभग नवीं शताब्दी तक संस्कृत में समीक्षा-शास्त्र की अच्छी प्रगति होती रही। मम्मट (जिसका काल ईसा से सात शताब्दी पूर्व माना जा सकता है) के कृतित्व से हमें यह विदित नहीं हो पाता कि वह समीक्षा को साहित्य-शास्त्र का एक मुख्य अंग मानता था अथवा नहीं; लेकिन ऐसा लगता है कि स्वयं उसने नवीन पद्धति पर समीक्षा-शास्त्र की स्थापना करनी चाही थी।

तात्विक दृष्टि से संस्कृत के साहित्यकारों की समीक्षा रसशास्त्र पर ही समग्र रूप में आधारित है—ऐसा कहा जा सकता है। संस्कृत में रस-शास्त्र की प्रधानता के साथ ही नाट्यशास्त्र को भी महत्वपूर्ण स्थान मिला है। संस्कृत में काव्य-रचना का समस्त वातावरण विद्वत्तापूर्ण मिलता है और काव्य-शास्त्र की गणना अन्य वैज्ञानिक शास्त्रों की श्रेणी में भी की गई है। संस्कृत में काव्य का जो वर्गीकरण हुआ उससे वह दो वर्गों—छन्दोबद्ध कविता तथा गद्य में विभाजित हुआ। इसके अतिरिक्त भाषागत दृष्टिकोण पर भी तीन वर्ग मिलते हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वस्तु के आधार पर चार वर्ग मान्य हैं—इनका स्रोत देव लोक, मनुष्य, कला और विज्ञानशास्त्र से माना जा सकता है। परम्परा और रूढ़ि के अनुसार साहित्य को महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा, अनिबद्ध काव्य अथवा गाथा आदि अंगों में विभाजित किया गया है। और प्रायः सारे संस्कृत-साहित्य में काव्य को पद्य के विपरीत समझा गया है, गद्य को पद्य के उतना विपरीत नहीं माना गया है और हम तो यह भी पाते हैं कि संस्कृत में पद्य और काव्य की तुलना ही अधिकांश में मिलती है। गद्य के साथ काव्य अथवा पद्य की तुलना प्रयास करने पर भी नहीं मिलती। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समीक्षा की आधारभूत पृष्ठभूमि काव्य, पद्य, रस और नाट्यशास्त्र के मनन, अनुशीलन और विवेचन पर ही अधिकाधिक आश्रित रही है।

नाट्य-शास्त्र के प्रसंग में यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से भरत द्वारा प्रणीत 'नाट्य-शास्त्र' ही सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जो समुचित रूप में नाटकों का विवेचन देता है और रस के विशिष्ट नियमों पर प्रकाश डालता है। भरत ने जिस विद्वत्ता और क्षमता से रस-शास्त्र की स्थापना की, उसका आज भी गहरा प्रभाव सर्वत्र है। उन्होंने नाटक देखने के उपरान्त जो भावी प्रतिक्रिया होती है, उस पर मार्मिक और विशद प्रकाश डाला और रसानुभूति का विश्लेषण बड़ी गहनता से किया। भरत ने ही रस को वर्गों में विभाजित किया और उसके आठ वर्गों का प्रतिपादन किया—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्भुत और भयानक रसों में सारा रस-सिद्धान्त स्थिर है। हिन्दी-समीक्षा पर रस-सिद्धान्त का संस्कार-परक प्रभाव बड़ा गहरा है। अनेक विद्वानों की सम्मति है कि

संस्कृत का नाटक-सृजन यूनानी प्रभावों से मुक्त नहीं है। किन्तु इस सम्मति के पक्ष में कोई ठोस तथ्य और प्रमाण हमें नहीं मिलते। यह ठीक है कि यूनानी नाटकों का रचना काल संस्कृत नाटकों से पूर्व का है। अरस्तू और भरत के द्वारा स्थापित नाट्य-सिद्धान्तों में कहीं भी मौलिक सादृश्य नहीं मिलता। हाँ, दोनों ने नाटक-रचना में वर्ण्य विषय, कार्य तथा समय में सादृश्य, पात्रों का विभाजन तथा नाटक के रूप के सम्बन्ध में अपना-अपना विवेचन दिया है किन्तु दोनों के विवेचन में पार्थक्य गहरा है। भरत के नाटकों का संकल्प आदर्श का प्रतिपादन था तो यूनानी नाटकों का अभीष्ट सामाजिकता में था। नाट्य-शास्त्र के दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य अभी भी भरत के नाट्य-सिद्धान्तों से बहुत अंशों में प्रभावित हैं; यद्यपि नए नाटकों की सृष्टि समाजपरक अधिक हो चली है और समीक्षा की दृष्टि से हिन्दी में आज यूनानी और पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों को उत्तरोत्तर बल मिलता जा रहा है। भले ही, यह सामयिक उपयोगिता और परिवर्तित परिस्थितियों को ही लक्ष्य करता हो।

भारत में साहित्य-शास्त्र का जो रूप और विधान बहुत पहले विकसा और स्थिर हुआ; उसका हिन्दी पर अप्रतिहत प्रभाव पड़ा। हिन्दी-समीक्षा का प्रादुर्भाव तो अभी हाल का है, किन्तु हिन्दी का साहित्य-सृजन कुछ समय पूर्व तक काव्य और पद्य की परिधि में ही रहा है और हम स्पष्ट पाते हैं कि हिन्दी की प्रारंभिक समीक्षा रस शास्त्र—काव्य और पद्य—तक ही सीमित रही है। किन्तु वस्तु के विकास-क्रम का प्रभाव भी हिन्दी पर अपरिहार्य रूप में हुआ है। एक समय हिन्दी में भी काव्य और पद्य का क्षेत्र पर्याप्त रूप में परिपूर्ण था और तब गद्य की स्थिति शून्यवत् ही कही जा सकती थी किन्तु आज काव्य और पद्य की ओर से सामान्य साहित्यिक चेतना कुण्ठा और उदासीनता में उत्तरोत्तर अभिभूत दृष्टिगत होती है। गद्य के विभिन्न अंगों के तीव्र विकास के साथ-साथ हिन्दी पर पश्चिमीय साहित्य-शास्त्र का भी उत्तरोत्तर प्रभाव परिलक्षित होता है। और हिन्दी समीक्षा के सम्बन्ध में वास्तविक सत्य यह है कि उसका नवारम्भ पश्चिमीय समीक्षा-शास्त्र से होता है और उसकी परम्परा भी पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में उत्तरोत्तर आत्मसात्-सी होती जाती है; केवल समीक्षा ही नहीं, साहित्य के प्रायः सभी अंगों पर पश्चिमीय साहित्य के रूप और प्रवाह का अप्रतिहत प्रभाव पड़ा है और यह प्रभाव बढ़ता ही जाता है।

मूल में पश्चिम का साहित्य-शास्त्र यूनानी विचार-धाराओं से आज भी प्रभावित है—विशेष कर प्लेटो और अरस्तू के समीक्षा-सिद्धान्तों का उस पर बड़ा प्रभाव है। यह प्रभाव रोमन-साहित्य पर भी बड़ी मात्रा में है। इंग्लैण्ड की साहित्यिक नवचेतना का आरम्भ बेकन से माना जा सकता है। कविता के विषय में उसका मत था—"कविता कल्पित इतिहास के सिवाय कुछ नहीं है और वह गद्य तथा पद्य दोनों में की जा सकती है।" इंग्लैण्ड में अठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए एडीसन को 'सर्वप्रथम यथार्थ समीक्षक' माना गया है। उसने प्राचीन समीक्षा-सिद्धान्तों को अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण बताते हुए साहित्यालोचन के नए सिद्धान्तों का विवेचन और प्रतिपादन किया। एडीसन का साहित्यिक अध्ययन विशाल और बन्धनरहित था। उसने अरस्तू के समीक्षा-सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया। वह जैसे-जैसे अनुसन्धान की ओर बढ़ता गया, उसने ज्ञान के नए-नए प्रकरणों को अपनाया। उसने मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट' की आलोचना अरस्तू के समीक्षा-सिद्धान्तों के परिपार्श्व में की। अपने निबन्ध 'कल्पना के आनन्द' (Pleasure of Imagination) में उसने काव्य के सौन्दर्य और उसकी शक्ति का विवेचनात्मक मूल्याङ्कन किया। उसने मिल्टन के काव्य की आलोचना चार अंगों में विभाजित करके की है—कथा, पात्र, भावना और भाषा। जर्मनी के प्रसिद्ध आलोचक लेसिंग ने अपनी पुस्तक 'लोकून' (Locoon) में साहित्य के विषय पर बड़ी गहनता से विचार किया है; उसके विचार कठिन और दुरूह होते हुए भी मौलिक और प्रतिभाशाली हैं। एक अन्य आलोचक विक्टर कजिन्स ने सौन्दर्य और कला का नियमगत और सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने सौन्दर्य को तत्वज्ञान के एक अविभाज्य अंग के रूप में रक्खा और यहाँ तक दावा किया कि प्लेटो और अरस्तू ने जिन विषयों की उपेक्षा की है, उन्हीं की उसने स्थापना की है। अन्य आलोचकों में हर्बिन्सन रीड, कान्ट आदि ने अपने तत्त्वज्ञान में सौन्दर्य की भावना को स्वीकार तो किया पर उन्होंने सौन्दर्य को आत्मा और प्रकृति में देखा। कजिन्स के मत के अनुसार हम तर्क, भावना, कल्पना और अभिरुचि इन चार बातों के माध्यम

से सौन्दर्य के मान का मूल्याङ्कन कर सकते हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड साहित्य के साथ-साथ मानव जीवन का भी समीक्षक है। अभिप्राय है कि वह साहित्य और जीवन की आलोचना एक ही पृष्ठभूमि पर करता है। मैथ्यू की मान्यता के अनुसार संस्कृति को सम्पूर्णतः व्यक्त करने के लिए समालोचना शब्द ही अधिक सार्थक है। उसकी सम्मति है कि काव्य और साहित्य को सृजनात्मक न होकर, समीक्षात्मक ही अधिक होना चाहिए। मैथ्यू आर्नोल्ड ने व्यापक और विवेचना पूर्ण स्तर पर समीक्षा के वर्तमान सिद्धान्तों की स्थापना की। इनके अतिरिक्त ग्रीक, फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मन आदि पश्चिमी देशों के अन्य विभिन्न समीक्षकों ने साहित्य-शास्त्र के विषय पर जो व्यवस्थाएँ दीं, उनसे न केवल पश्चिम के साहित्य को ही रूप और सन्तुलन मिला, अपितु हिन्दी की प्रारंभिक समीक्षा और उसके बाद अभी तक चली आ रही परम्परा भी व्यापक रूप में अनुप्रेरित हुई है। इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा की परम्परा के क्रम-विकास का तात्विक आधार बहुत अंशों में पश्चिमी साहित्य-शास्त्र की दीर्घ परम्परा पर आश्रित दीखता है।

इस बात को हम दूसरे शब्दों में और अधिक स्पष्ट करना चाहेंगे। हिन्दी के साहित्य-सृजन के, आरंभिक और रीति काल में समीक्षा की स्थिति सिद्धांततः लगभग शून्य-सी रही है और इस काल के साहित्य में हमें प्रामाणिक रूप में ऐसी कोई भी सामग्री अभी भी उपलब्ध नहीं हो सकी है, जिसके आधार पर उस काल की समीक्षा को हम थोड़ा भी शुद्ध समीक्षा के रूप में स्थिर कर सकें। उस समय की रचनाओं में हमें रस-शास्त्र का विवेचन स्फुट रूप से अवश्य मिलता है; किन्तु केवल इतने से ही साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग की परम्परा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थिर नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी में रस-साहित्य का अवसान उन्नीसवीं शताब्दी तक हो जाता है और लगभग उसी समय हिन्दी समीक्षा की ऐसी परम्परा का आविर्भाव होता है, जिसमें नियम, गति, स्थिरता, सन्तुलन, रूप आदि आवश्यक विषयों का उत्तरोत्तर विकास हमें मिलता है। संस्कृत-समीक्षा का आधार रस-शास्त्र का विवेचन ही अधिक है; किन्तु हिन्दी की प्रारंभिक समीक्षा भी रस-शास्त्र से पृथक्— साहित्य के विभिन्न अंगों पर विवेचन करती हुई मिलती है। हिन्दी-समीक्षा के इस दृष्टि-विधान को केवल संस्कृत की परम्परा पर आश्रित नहीं किया जा सकता; इसके रूप और गति में स्पष्ट ही नवीनता है और इसकी मूल प्रेरणा हमें पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों पर अधिक आश्रित प्रतीत होती है।

किन्तु एक तथ्य का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक है। रस-शास्त्रपरक संस्कृत-समीक्षा के व्याख्याकार भरत, महिम भट्ट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनय गुप्त, मम्मट, क्षेमेन्द्र, भामह, हेमचन्द्र, भानुदत्त आदि आदि विद्वानों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए, उसका हिन्दी के साहित्य-शास्त्र पर दीर्घ काल तक गहरा प्रभाव रहा है। इस आधार पर तो हिन्दी-समीक्षा का काल-विस्तार हो जाता है और हिन्दी की आरंभिक स्थिति से ही उसमें समीक्षा के तत्व ढूँढ़े जा सकते हैं। मुरारदान, केशवदास, कुलपति, देव, सुरति, कुमार मणि, सोमनाथ, भिखारीदास, जसवन्त सिंह, मतिराम, भूषण, पद्माकर, तोष, लछिराम आदि आदि विद्वान् कवियों ने किसी न किसी रूप और कुछ-न-कुछ अंशों में काव्य-शास्त्र का अच्छा विवेचन हमें दिया है। हिन्दी की समग्र काव्य-समीक्षा का अधिकांश इस विवेचन के आधार पर ही उपलब्ध होता है; इतना ही नहीं, रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र के इस विवेचन के आधार पर हिन्दी में अनेक विद्वत्तापूर्ण समीक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई है। इतना सब होने पर भी रीतिकालीन विवेचना को हम शुद्ध समीक्षा के अन्तर्गत प्रतिष्ठित नहीं कर सकते और ऐसा करना औचित्यपूर्ण भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि आलोचना के मूलभूत सिद्धान्त रीतिकालीन विवेचना से सर्वदा भिन्न हैं। यह ठीक है कि आलोचना का विवेचना से भी गहरा सम्बन्ध हैं, और सम्भवतः इसी सम्बन्ध पर हिन्दी की प्रारंभिक समीक्षाएँ रीतिकालीन कृतियों और विवेचनाओं से बहुत अधिक प्रभावित भी रही हैं।

हम पुनः इस बात को दोहराना चाहते हैं कि हिन्दी-समीक्षा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से ही होता है; इससे पूर्व की समीक्षा यदि कहीं उपलब्ध भी होती है, तो प्रच्छन्न रूप से और उसका अस्तित्व शुद्ध समीक्षा के रूप में स्थिर नहीं किया जा सकता। फिर भी हम देखते हैं कि प्राचीन काव्य के प्रति आकर्षण उन्नीसवीं शताब्दी तक पर्याप्त रूप में मिलता है। इस काल में रीति-शैली के साहित्य का ही बाहुल्य था। यद्यपि समीक्षा का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जा सकता है,

किन्तु वास्तविक समीक्षा का आरंभ स्व. महावीरप्रसाद द्विवेदी से माना जाना चाहिये, और द्विवेदी जी के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति हिन्दी-समीक्षा के प्रारंभिक काल के प्रमुख समीक्षक हैं। नवीन साहित्य का सृजन बड़ी तीव्रता से हुआ है और उसके साथ ही लगभग उतनी ही तीव्रता से रीति-काव्य के युग की समाप्ति भी।

पं. पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का विषय रीतिकालीन काव्य पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। उनकी समीक्षा का आधार काव्य-शरीर है, न कि काव्य की आत्मा। काव्य-शरीर से हमारा अभिप्राय भाषा, पद, उक्ति, रचना-चातुर्य आदि रूप और विधि की बातों से है और काव्य-आत्मा से आशय अनुभूतिपरक भावाव्यक्तिओं से है। श्री पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों पर एक प्रकार से भावात्मक प्रतिक्रियाओं की परिणति मानी जा सकती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी-समीक्षा पर आज भी व्यापक और गहरा प्रभाव है। उन्हें साहित्यकार से अधिक पत्रकार माना जा सकता है। उनके लगभग सारे प्रयास हिन्दी को शुद्ध, विशद और व्यवस्थित रूप देने में अधिक केन्द्रित दीखते हैं और सम्भवतः इसीलिए उनकी समीक्षा का आधार व्यवस्था और नीतिमत्ता पर ही आधारित है। उन्होंने काव्य में छन्दो-विधान के विषय पर परम्परा का ही प्रतिपादन नहीं किया, वे विषयानुकूल छन्द-योजना पर भी अधिक बल देते थे। वे हिन्दी-काव्य को संस्कृत की भाँति शास्त्रीय जटिलताओं में उलझाने के भी विरोधी थे। खड़ी बोली और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रति उनका झुकाव अधिक था और ब्रजभाषा और उसके प्राचीन कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि के प्रति वे प्रायः उदासीन ही थे। मूल में तो द्विवेदी जी भाषा के समीक्षक थे। उन्होंने हिन्दी को बड़ी विशदता के साथ संस्कार प्रदान किए। भाषा और व्याकरण के संशोधन कार्य पर उनकी दृष्टि गहरी थी। संक्षेप में हम यह भी कह सकते हैं कि उनकी आलोचना का विषय गुणदोष निरूपण ही अधिकांश में था। उनकी समीक्षाओं से हमें भाषा और साहित्य के संस्कार की बलवती प्रेरणाएँ मिलती हैं। उनकी समीक्षाओं में सुगमता और स्पष्टता मिलती है। प्रथम तो द्विवेदी जी की काव्य-समीक्षा अत्यल्प है; फिर कवि के जीवन-क्रम आदि पर उनकी दृष्टि अधिक गई है। आधुनिक समीक्षा में कवि के जीवन तथा उसके काल-निर्णय पर कुछ अधिक लिखने की प्रवृत्ति हमें नहीं मिलती। ये साहित्य के इतिहास के क्षेत्रीय विषय हैं। द्विवेदी जी की भाषा-शैली परिमार्जित और सुसंस्कृत थी। मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-समीक्षा के संबंध में आधारभूत, ऐतिहासिक और आरंभिक सामग्रियों की उपलब्धि हमें कराई। हिन्दी-आलोचना में उनका एक विशिष्ट महत्व है।

हिन्दी में नवीन आलोचना-पद्धति का सूत्रपात तो एक प्रकार से रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा ही हुआ। शुक्ल जी निबन्धकार, कोशकार, साहित्य के इतिहासकार भी थे। आलोचना में उन्होंने निर्णय दे देने की प्रवृत्ति को अधिक अवसर नहीं दिया अपितु आलोचना के व्याख्यात्मक रूप की ओर वे अधिक उन्मुख हुए। उन्होंने रचना और रचनाकार की आन्तरिक प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन किया। अपने अध्ययन के दृष्टिकोण को बहुमुखी बनाया। उनकी आलोचना-शैली बहुत प्रखर है और वे साहित्य-शास्त्र के गम्भीर विश्लेषक हैं। पर उनका हृदय शुष्क नहीं था। वे बड़े रस-प्रवण और भावुक हृदय के व्यक्ति थे। शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि नवीन हिन्दी-समीक्षा की परिचायक होने के साथ-साथ उसे गति और विधान भी प्रदान करती है। किन्तु उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के दृष्टिकोण से हिन्दी के नए समीक्षक अभी भी उनकी समता को प्राप्त नहीं कर सके हैं। प्राचीन काव्य-परम्पराओं का मोह अभी भी दृष्टिगोचर होता है और हिन्दी-समीक्षा पर उसका प्रभाव भी किन्हीं अंशों में मिल जाता है। स्वयं शुक्ल जी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन परम्पराओं की ओर अधिक उन्मुख दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दी की प्रारंभिक समीक्षाओं में पं कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन का भी उल्लेखनीय स्थान है। उन पर रीति-शैली की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। उनके दृष्टिकोण से विषय की अपेक्षा काव्य-शैली का महत्व अधिक है। पर शुक्ल जी के समीक्षा-प्रयास इतने व्यापक और उदात्त थे कि उनके द्वारा प्राचीन और नवीन साहित्य-शास्त्र में सुन्दर समन्वय स्थापित हो सका और उन्होंने हिन्दी-समीक्षा की परम्परा को एक पुष्ट और परिमार्जित गति भी प्रदान की। उनकी समीक्षा में हमें भारतीय और पश्चिमी साहित्य के अनुशीलन का सम्यक् आभास मिलता है। उन्होंने

हिन्दी में साहित्यिक और मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि का भी सूत्रपात किया।

श्री श्यामसुन्दर दास ने अपने 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न अंगों की, गम्भीर अनुशीलन पर आधारित सुन्दर व्याख्या की। 'साहित्यालोचन' का हिन्दी-समीक्षा पर अप्रतिहत प्रभाव पड़ा है। इस ग्रन्थ ने साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष को ही प्रभावित नहीं किया अपितु भावात्मक कला-वस्तु को भी भव्य प्रेरणाएँ दी हैं। 'साहित्यालोचन' में हमें तटस्थ, ऐतिहासिक और वस्तुगत व्याख्या के आरंभिक प्रयासों का आभास मिलता है।

इसके अनन्तर तो हिन्दी-समीक्षा विभिन्न रूपों और विभिन्न दिशाओं में तेज़ी से अग्रसर होती है। इस समीक्षा-धारा में डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की मूलग्राहिता और हिन्दी-काव्य की निर्गुणधारा की दृष्टि, डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी की भारतीय संस्कृति से अनुप्रेरित नवीनता और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन का सांस्कृतिक सान्निध्य, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों का गम्भीर समीकरण, डा. धीरेन्द्र वर्मा की गहन अनुशीलन, मनन और अध्यवसाय पर आधारित विवेचना-पद्धति और उनके डा. माताप्रसाद गुप्त, डा. ब्रजेश्वर वर्मा, डा. रघुवंश, डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा. हरदेव बाहरी डा. रामरतन भटनागर, डा. धर्मवीर भारती, डा. जगदीश गुप्त, डा. शैलकुमारी माथुर, डा. बुल्के आदि विद्वान् शिष्यों की सैद्धान्तिक परम्परा, डा. सत्येन्द्र की छात्रोपयोगिता-दृष्टि, बाबू गुलाबराय की बहुमुखी विवेचना, रसवादी आलोचना-धारा और छायावाद के प्रतिपादक श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की सूक्ष्मदर्शिता, शान्ति-प्रिय द्विवेदी की छायावाद की गम्भीर, सुकुमार व्याख्या, डा. नगेन्द्र की गहन अनुशीलनात्मक पद्धति, श्री वंशीधर विद्यालंकार की सुस्पष्ट विवेचना और तर्कशीलता, इलाचन्द्र जोशी का मनोविश्लेषण-तत्त्व, अज्ञेय का स्वातन्त्र्य और शैली-आग्रह, डा. देवराज उपाध्याय की दार्शनिक-सूत्रता, नलिनी विलोचन शर्मा का नवीन और प्राचीन साहित्य-परम्पराओं का सम्यक् अध्ययन, रामदहिन मिश्र और कन्हैयालाल पोद्दार की पौर्वात्य पद्धति पर आधारित शास्त्रीय व्याख्या, राहुल सांकृत्यायन, डा. रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह, अमृतराय, मन्मथनाथ गुप्त, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, मुक्तिबोध आदि की प्रगतिवादी व्याख्याएँ और स्थापनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्रबली पाण्डेय, डा. रामकुमार वर्मा, डा. विनयमोहन शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, परशुराम चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय, जगन्नाथप्रसाद शर्मा, डा. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा. उदयनारायण तिवारी, प्रभाकर माचवे, कमलाकान्त पाठक, सीताराम चतुर्वेदी, जानकीवल्लभ शास्त्री, डा. कन्हैयालाल सहल, ललिताप्रसाद सुकुल, शचीरानी गुर्टू, मोहनसिंह सेंगर, रामचन्द्र वर्मा, किशोरीदास बाजपेयी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु, लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रभृति समीक्षकों का अपना-अपना पृथक् अस्तित्व है। कवि के स्वगत-भाव की समीक्षा दृष्टि को अभिव्यक्त करने वालों में सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि का स्थान विशिष्ट है।

निष्कर्ष रूप में हिन्दी-समीक्षा की परम्परा अभी भी अपने आरंभिक अस्तित्व और विभिन्न प्रयोगों की स्थिति में है; फिर भी उसकी गति में अद्भुत परिमार्जन, प्रवाह, प्रौढ़ता, उसके दृष्टिकोणों में विविधता, सन्तुलन और सम्यक् दृष्टि को समुचित रूप से देखा जा सकता है। हिन्दी में नवीन काव्य-दृष्टि का आविर्भाव—छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद प्रभृति काव्य-दृष्टियाँ—निःसन्देह एक बहुत बड़ी घटना है और इसी के अनुरूप हिन्दी-समीक्षा में अभिनव, अनुशीलनात्मक और अनुभूतिप्रवण दृष्टिकोण पाया जाता है। उसमें जीवन, व्यक्ति, अनुभूति, अभिव्यक्ति और कला का वैविध्य, वस्तु और शैली क कमनीय और बहुरंगी रूप देखे जा सकते हैं। नवीन काव्य के गीतात्मक विधान ने हिन्दी-समीक्षा को काव्य के भावात्मक और आध्यात्मिक अस्तित्व की ओर भी आकर्षित किया है। छायावादी युग ने हिन्दी-समीक्षा में सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं का सूक्ष्म निरूपण दिया, तो प्रगतिवादी विचारधारा ने अतिवादी दृष्टिकोण को सामने रक्खा; प्रगतिवादी समीक्षा ने हिन्दी के साहित्य सृजन में तिरस्कार, प्रतिक्रिया, कुण्ठा, गत्यवरोध आदि प्रवृत्तियों को जन्म दिया।

सूत्र रूप में देखने पर हिन्दी-समीक्षा अभी भी समग्रतः वैज्ञानिक या शास्त्रीय मान पर नहीं पहुँच सकी है; उसमें अभी विविध प्रयोगों और पद्धतियों के आविर्भाव निरन्तर हो रहे हैं। परन्तु रामचन्द्र शुक्ल की तुलना में

आधुनिक समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम, सामाजिक प्रेरणाओं, शैली-भेदों, कला-रूपों का अध्ययन और चिन्तन अधिक व्यापक और अधिक परिमार्जित हो गया है। आधुनिक समीक्षकों की सौन्दर्यानुभूति और कलापरक दृष्टि जहाँ हिन्दी की समीक्षा-परम्परा को एक रूप और प्रगति देती है, वहाँ नए वादों का प्रवेश समीक्षा की प्रगति में एक अवाञ्छनीय अवरोध भी उत्पन्न करता है। हमारी समीक्षा को सम्यक् दृष्टि की निरन्तर अपेक्षा है।

हैदराबाद दक्षिण

—ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

आइन्सटीन

आइन्सटीन अपने युग के एक महान् दार्शनिक तथा विचारक भी थे। परमाणु बम के विस्फोट की शक्ति के बारे में आज से ५० वर्ष पूर्व आपने भविष्य-वाणी की थी; उस समय के प्रतिपादित किए गए वैज्ञानिक सूत्र प्रयोग की कसौटी पर बिलकुल सही उतरे। आइन्सटीन ने ही सर्व प्रथम विज्ञान-जगत् के समक्ष इस क्रान्तिकारी तथ्य को रखा कि पदार्थ पूर्णतया क्षय होकर शक्ति में परिणत हो सकता है। निस्संदेह आइन्सटीन अपने युग के सर्वोच्च प्रतिभाशील व्यक्ति थे। आपने केवल २६ वर्ष की अवस्था में अपने अनुसन्धानों के उपलक्ष्य में नोबल पुरस्कार प्राप्त किया। कुछ ही दिनों उपरान्त आइन्सटीन ने सापेक्षवाद की क्रान्तिकारी खोज करके समस्त संसार को चमत्कृत किया।

आइन्सटीन उन जागरूक वैज्ञानिकों में से थे जो विज्ञान के दुरुपयोग को रोकने के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। युद्ध का उन्होंने सदैव ही विरोध किया हिटलर की युद्धप्रिय नीति की खुले शब्दों में भर्त्सना करने के कारण आपको अपना सब कुछ त्याग कर जर्मनी छोड़ देनी पड़ी। तदुपरान्त आपने अमेरिका में आकर प्रिन्सटन युनिवर्सिटी में अपना शोधकार्य जारी रखा तथा विज्ञान के मानव कल्याण के पक्ष के समर्थन में वे जीवन पर्यन्त क्रियाशील रहे। स्वयं अमेरिका में भी आपने अमेरिकन गवर्नमेण्ट की परमाणु शक्ति राजनीति के विरोध में निर्भीकता के साथ अपने विचार प्रकट किए। वैज्ञानिक रोजेनबर्ग दम्पति को देशद्रोह के अभियोग के सिलसिले में जब प्राणदण्ड की आज्ञा सुनाई गई तो इस अवसर पर डाक्टर आइन्सटीन ने प्रेसिडेण्ट ट्रूमन को स्पष्ट शब्दों में लिखा : "मेरी अन्तरात्मा मुझे मजबूर करती है कि आपसे निवेदन करूँ कि रोजेनबर्ग दम्पति की प्राणदण्ड की आज्ञा रद्द की जाए।" वैज्ञानिकों के उत्तर-दायित्व के प्रति आपने अपने विचार निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किए हैं :

"हम वैज्ञानिकों का विश्वास है कि अगले कुछ वर्षों में हम तथा हमारे सहयोगी क्या करते हैं, और क्या नहीं करते हैं बस इसी पर हमारी सभ्यता के भाग्य का निबटारा होना है।"

वास्तव में इन शब्दों द्वारा आइन्सटीन ने समस्त मानव जाति को चेतावनी दी है कि विज्ञान के दुरुपयोग को रोकने के लिए यदि प्राणपण से चेष्टा न की गई तो हम अपनी सभ्यता के विनाश को रोक न सकेंगे।

हमारी चिन्तना-शक्ति

विचार-क्षेत्र में 'चिन्तन' शब्द बहुत ही प्रिय है। किन्तु इसका स्वरूपानुसन्धान बहुत ही गहन है। 'चिन्ता' सर्पिणी तो सभी को खाती है; किन्तु चिन्तना की भगीरथी का अवगाहन विरले ही करते हैं। चिन्ता और चिन्तना में आकाश-पाताल का अन्तर होते हुए भी दोनों एक ही शक्ति की करामात हैं। जब हमारी वह शक्ति विषयों की ओर अग्रसर होती है तो चिन्ता सर्पिणी का हार हमारे गले में पड़ता है। और वही शक्ति जब अपने स्वरूप की ओर बढ़ती है तो चिन्तना की सुखद छाया हमें मिलती है। विषयों का चिन्तन चिन्ता के रूप में स्पष्ट होता है और स्वरूप का चिन्तन आनन्द के रूप में प्रकट होता है। विषयाभिमुखी चिन्तन बहिर्मुखी होता है और स्वरूपाभिमुखी चिन्तन अन्तर्मुखी। इस प्रकार हमारी चिन्तना-शक्ति का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। अतः उसके स्वरूप को अच्छी तरह से समझने के लिए उसके क्षेत्र का वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि वह शक्ति अन्तः और बाह्य दोनों क्षेत्रों में दो रूप धारण करके प्रवेश करती है। यही नहीं, दोनों स्थानों पर उसके बलाबल में भी अन्तर हो जाता है। विषयाभिमुखी शक्ति अत्यन्त निर्बल तथा हीन होती है। और अन्तर्मुखी शक्ति अग्नि की शिखा की तरह देदीप्यमान और प्रचण्ड होती है। इसलिए शक्ति के इन दो भागों पर अलग-अलग विचार करना होगा।

'यह', 'मेरा', 'तेरा', 'पराया' इत्यादि शब्दों से हम जिस दुनिया को जानते हैं, वही बाह्य क्षेत्र है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार समझा जा सकता है कि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान बाह्य क्षेत्र का निर्माण करता है। हम साधारणतः दिन-रात जिन विषयों पर सोचा करते हैं, वे हमारी इन्द्रियों द्वारा इकट्ठी की हुई सामग्री होती हैं। हमारी बाह्यमुखी चिन्तना-शक्ति इन्द्रियों की आँख से देखती है। 'चिन्तना' तो वह स्वयं करती है; किन्तु 'चिन्तन' की सामग्री तथा उसका ढंग वह इन्द्रियों से लेती है। बाह्य क्षेत्र स्वयं चिन्तन-शक्ति का समझा-बूझा क्षेत्र नहीं होता है। इन्द्रियाँ भी इस क्षेत्र के रहस्य को नहीं जानतीं। इसलिए वे स्वयं धोखा खाती रहती हैं और हमें भी धोखा देती रहती हैं। चिन्तना-शक्ति हमारी चेतना (चैतन्य तत्त्व) का वह भाग है जिसके द्वारा चेतना अपने अनुकूल तत्त्वों का चयन करती है। किन्तु 'मन' चिन्तना-शक्ति को फँसा कर अपना काम साधने लगता है और चैतन्य तत्त्व को यह समझा कर सन्तुष्ट किए रहता है कि हम तुम्हारे अनुकूल ही चल रहे हैं। जब हमारे सामने कोई विषय उपस्थित होता है तो हम उसकी रूपरेखा तथा उसके परिणाम आदि पर विचार करके यह निश्चय करते हैं कि यह हमारे किस काम का है। अथवा, यह हमारे लिए उपयोगी है या अनुपयोगी। विषय का विश्लेषण तथा उसके साथ अपने सम्बन्ध का अन्वेषण, यह सब हमारी चिन्तना-शक्ति करती है। अपनी इस क्रिया में वह अंशतः स्वतन्त्र होती है। यहाँ इन्द्रियों की लगाम कुछ ढीली रहती है। उदाहरण के लिए हमारे सामने कोई सुन्दर वस्तु उपस्थित होती है, आँखें उसके रूप पर मुग्ध हो जाती हैं और मन ललचा उठता है। किन्तु हमारी चिन्तना-शक्ति अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देती है। मन और इन्द्रियों के घेरे से बाहर होकर उस सौन्दर्य की उपयोगिता तथा हमारे—उसके सम्बन्ध, व्यवहार आदि की खोज करने लगती है। यदि वह वस्तु पराए की है तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे लिए इसका उपयोग केवल दर्शनमात्र है। इसी प्रकार जिह्वा, त्वक आदि इन्द्रियों द्वारा उपस्थित सामग्री के सम्बन्ध में भी यही होता है। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि इस चिन्तना शक्ति के रहते हुए भी हम कभी-कभी गलत क़दम क्यों उठा देते हैं। इसका उत्तर समझने लिए हमें बाह्य क्षेत्र की विशेषता और उसमें फँसी हुई चिन्तना-शक्ति की विवशता पर ध्यान देना होगा। बाह्य क्षेत्र जिसे दर्शन की भाषा में 'इदम्', कहा जाता है, हमारे मन का क्षेत्र है। अपने क्षेत्र में दुर्बल भी बली हो जाता है और पराए के क्षेत्र में जा कर बलिष्ठ भी निर्बल हो जाता है और हमारी चिन्तना-शक्ति मन के क्षेत्र में पहुँच कर उसके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाती। इसलिए मन दबाव डाल कर उससे अपने अनुकूल निर्णय करवाता है।

और यदि चिन्तना-शक्ति ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो वह उसकी उपेक्षा करके उसमें प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार हार पर हार खाकर चिन्तना-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। अतएव उसका कार्य एकमात्र 'मन' के लिए विषयों को ढूँढ़ना और उनका चिन्तन करना हो जाता है। एक बार ऐसा हो जाने पर हमारी चिन्तना-शक्ति की कायापलट हो जाती है। और जान-बूझ कर वह वही निर्णय देती है जो मन के अनुकूल पड़ता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस स्थिति में पहुँच कर भी उसमें पर्याप्त स्वातन्त्र्य वर्तमान रहता है। इसी स्वातन्त्र्य का फल है कि वह कुछ गर्हित कार्यों को छिप कर करने का आदेश देती है। क्योंकि वह जानती है कि यह काम उचित नहीं है। युंग जिसे नैतिक मन कहता है, वह हमारी चिन्तना-शक्ति का ही एक काम है। मन वास्तव में केवल चेतना मात्र रखता है। इसीलिए जिसे अवचेतन मन कहा जाता है, वह इस प्रकार के विवेक से शून्य होता है। इस स्थिति में पड़ी हुई चिन्तना-शक्ति की दशा ठीक उस न्यायाधीश की तरह होती है जो अपने कर्त्तव्य से च्युत होकर किसी फ़रीक को कानून के दण्ड से बचने के लिए स्वयं उपाय बताता है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मन की एक शक्ति चिन्तना भी है। किन्तु यह बिलकुल भ्रान्त धारणा है। चिन्तना शक्ति मन की परिभाषा से बिलकुल पृथक् सत्ता रखती है। चूँकि इसका सारा कार्य-कलाप मन के क्षेत्र में होता है तथा मन सदा इसके पीछे डण्डा लेकर खड़ा रहता है। इसलिए हमें ऐसा लगता है कि मन का ही एक भाग यह शक्ति भी है। चिन्तना-शक्ति मन का कोई भाग नहीं है। हाँ वह मन के भाग की तरह हो जाती है। चिन्तना-शक्ति का काम है सत् और असत् की परख करना; किन्तु जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो चुका है; वह मन के पंजे में पड़ कर अपनी इस क्रिया से अंशतः विरत हो जाती है। एक बात और है, इसके बिना मन बिलकुल पंगु हो जाता है, फ्रायड जिसे अवचेतन मन कहता है, वह चिन्तना से रहित मन है। इसमें चेतना तो रहती है; किन्तु चिन्तना शक्ति नहीं होती। चिन्तना के अभाव में मन की सारी सामग्री कल्पना, स्मृति, प्रत्यय आदि ज्यों की त्यों पड़ी रहती है। इसलिए मन इसे (चिन्तना को) अपने काबू में रखना चाहता है। चिन्तना जब मन के काबू से निकल जाती है, तो मन निरुपाय होकर उसी के अधीन हो जाता है। फिर तो मन के राज्यकाल में जो तत्व प्रफुल्लित तथा विकसित थे, वे मुरझा जाते हैं। मन का डेरा-खेमा उखड़ जाता है और उसका छत्र-चँवर भी छिन जाता है। इसलिए उसके सहयोगी पिट्ठू आदि भी रफूचक्कर हो जाते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मन के अधीन रहने वाली चिन्तना-शक्ति अपनी क्रिया से विरत तो हो ही जाती है, अपने स्वरूप को भी खो बैठती है। यह स्वरूप-च्युति ही उसे मन के घेरे में बन्द रखती है। बाह्यमुखी चिन्तन का स्वरूप उस किसान के सदृश हो जाता है जिसने खेती करने का ढंग सीखा क्या देखा भी नहीं है। जिस किसान को यह पता नहीं है कि धरती से अन्न कैसे पैदा किया जाता है, वह दूसरों की हरी-भरी फ़सलें देख कर मन ही मन कुढ़ा करता है और अपनी योग्यता की ओर न देख कर दूसरों के साथ द्वेष करना ही ठान लेता है। विषयाभिमुखी या बाह्यमुखी चिन्तना-शक्ति भी यही करती है। वह मन तथा उसकी अभिलाषाओं के रहस्य को समझने की चेष्टा नहीं करती और न समझती ही है, उलटे उसे खुश रखने तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति में ही व्यस्त रहती है। इसीलिए इस कार्य में वह सदा ही असफल होती रहती है। वह जानबूझ कर उन्हीं विषयों का चयन करती है जिससे मन उद्दीप्त होता है। ज्यों ज्यों मन विषयों का भोग करता है, त्यों त्यों वह बलिष्ठ होता जाता है। और, उसकी इच्छाएँ आकाश पर चढ़ती जाती हैं। मन की इस इच्छापूर्ति में व्यस्त हमारी चिन्तना-शक्ति 'चिन्ता' के रूप में हमारे गले पड़ जाती है। यह उसके स्वरूप की हानि है।

अपने वास्तविक स्वरूप और क्रिया दोनों से च्युत होकर वह एक नए स्वरूप और नई क्रिया को अपनाती है। बाह्यक्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए यह परिवर्तन आवश्यक है। किसी दूसरे देश में रहने के लिए वहाँ की नागरिकता और सामयिक कानूनों का पालन आवश्यक होता है। चिन्तना-शक्ति के वास्तविक स्वरूप के ऊपर मन अपने स्वरूप की छाप लगा देता है और काम करने के लिए वह इन्द्रियों की कमेटी बैठा देता है। इस कमेटी का अध्यक्ष मन होता है। इस प्रकार इन्द्रियों के

बीच में बैठ कर मन के निर्देश पर यह छद्मवेषी चिन्तना-शक्ति जो काम करती है, उसे हम सब दिन रात देखते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मन के तीन भागों की कल्पना की है। फ्रायड के अनुसार वह अवचेतन, अर्ध-चेतन और चेतन के नाम से कहा जाता है। कुछ हेर-फेर के साथ युंग इन्हें ही 'इदम्' 'नैतिक मन' और 'अहं' की संज्ञा देते हैं। चिन्तना को और चेतना को मन का ही रूप मान लेने के कारण मनोविज्ञान को इस प्रकार के तीन भागों को या तीन मनों की कल्पना करनी पड़ी है। वस्तुतः चैतन्य तत्त्व मन से ऊपर है और चिन्तना इसी चेतना की एक शक्ति विशेष है। चैतन्य तत्व की सत्ता मन से सर्वथा पृथक् है। यह 'मन' की उत्पत्ति का कारण है। जिसे चेतन मन कहा जाता है, वह चिन्तना-शक्ति के सहयोग से जागरूक मन का रूप है। चिन्तना-शक्ति मन के साथ हमेशा नहीं रहती। इसमें स्वयं मन की इच्छा भी कारण हो सकती है। मन की इच्छा से तात्पर्य है मन का इन्द्रियों के वश में रहना। जिस इन्द्रिय के विषय की ओर मन अधिक झुकता है, चिन्तना-शक्ति उसी ओर विशेष सहयोग देती है। स्वयं चिन्तना की शक्ति पर भी यह निर्भर होता है कि वह किस हद तक मन का साथ दे। जागृत अवस्था में हमारी चेतना सजग होती है इसलिए वह मन के साथ एकाकार होकर चिन्तना-शक्ति को कार्य में लगाए रहती है। सुप्तावस्था में चेतना कहीं जाती तो नहीं, किन्तु जब वह सो जाती है तो चिन्तना-शक्ति भी अलसित हो जाती है अथवा सो जाती है। स्वप्नावस्था में मन सुप्त चिन्तना-शक्ति के स्पर्शमात्र से घर-घरौंदा बनाया करता है। इसलिए उसमें प्रौढ़ चिन्तना-शक्ति का हाथ नहीं होता। और इसीलिए स्वप्नावस्था की बातें जागृतावस्था की चिन्तना-शक्ति के लिए कुतूहलवर्धक और कभी-कभी काल्पनिक तथा खिलवाड़ जैसी लगती हैं। ऊट-पटांग स्वप्नों का यही रहस्य है। स्वप्नों का विश्लेषण करने पर भले ही यह प्रमाणित हो जाए कि मन में छिपी हुई प्रवृत्तियाँ, अनुकृतियाँ और भाव इसमें सामने आते हैं। किन्तु मनोविज्ञान इस बात का कोई सन्तोषजनक और युक्तिसंगत उत्तर नहीं देता कि क्यों मन को वही चीजें जागने पर असफल लगती हैं जो स्वप्नावस्था में सम्भव लग रही थीं। उदाहरण के लिए स्वप्न में हम उड़ते हैं मरते हैं और आश्चर्य तो यह कि हम मर गए इसकी जानकारी हमें रहती है। किन्तु यह सब उस समय असम्भव तो बिलकुल ही नहीं लगता। किन्तु जागने पर हम यह निश्चित करते हैं कि यह सब असम्भव है। इसका यह उत्तर कि स्वप्नावस्था की घटनाएँ अवचेतन मन की लीला होती है और अवचेतन मन सम्भव, असम्भव तथा उचित अनुचित के बन्धन से सर्वथा मुक्त होता है, ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मान लेने पर स्पष्ट ही मन के दो पृथक् पृथक् टुकड़े हो जाते हैं जो अनुभव का विरोधी है और सम्भवतः स्वयं फ्रायड भी इसे नहीं मानते थे। स्वप्नावस्था में यदि मन का अवचेतन भाग ही कार्य करता है और चेतन मन का उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो जागने पर स्वप्न की बातों का अनुभव चेतन मन को कैसे होता है। वस्तुतः मन के किसी भाग को चेतन और किसी को अचेतन मानना 'चेतना-तत्व' की अनभिज्ञता प्रकट करता है। 'चेतना-तत्व' किसी आश्रय के किसी देश-विशेष में नहीं रहता अपितु सम्पूर्ण पदार्थ में समान रूप से चेतना वर्तमान रहती है। इसलिए मन मूलतः चेतन है किन्तु 'चेतन-तत्व' का आरोप मात्र होने से ही उसमें चेतनता रहती है। मुख्य चैतन्य-तत्त्व मन से पृथक् है। इसी प्रकार अर्धचेतन तथा नैतिक मन की कल्पना भी युक्ति संगत नहीं है। यदि मनोविज्ञान यह मान ले कि मन स्वयं चेतनतत्व नहीं है, चेतन-तत्त्व मन से पृथक् सर्वथा एक दूसरी ही सत्ता है। इस चेतना से ही मन में चेतना आती है तो उसे मन के अनेक रूपों की कल्पना न करनी पड़े। चेतन-तत्त्व की ही एक शक्ति चिन्तना-शक्ति है जिसका प्रादुर्भाव और तिरोभाव चेतना के ऊपर निर्भर रहता है। इसी चिन्तना-शक्ति का ही एक काम सद्-असद् का निर्णय करता है जिसे नैतिक मन का रूप दिया जाता है।

हमारी अन्य इन्द्रियों की तरह 'मन' भी एक इन्द्रिय विशेष है जिसमें चेतना निवास करती है। यह इन्द्रिय अत्यधिक शक्ति सम्पन्न एवं समर्थ होने के कारण शेष इन्द्रियों को वशीभूत करके उन पर शासन करती है। जैसा कि मैं ऊपर स्पष्ट कर चुका हूँ, मन इतना शक्तिशाली होता है कि चैतन्य-तत्त्व की शक्ति चिन्तना-शक्ति को भी अपने पंजे में जकड़ लेती है। चैतन्य का सहयोग मन को सदा मिलता रहता है। सुषुप्तिकाल में

मन अन्तर्मुखी होकर चैतन्य में सुप्त हो जाता है। जागृत अवस्था में वह चेतना की चिन्तना-शक्ति को लेकर खेल खेलता है। और स्वप्नावस्था में इन्द्रियों में सुप्त चिन्तना की छाया से अठखेलियाँ करता है। सीधे चैतन्य तत्त्व से मिलने वाली चिन्तना-शक्ति स्वप्नावस्था के मन को नहीं मिलती। इस प्रकार जागृति, सुषुप्ति तथा स्वप्नावस्थाएँ और अहं, इदम् तथा नैतिक मन की व्याख्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मेरे विवेचन का विषय उस शक्ति से सम्बन्ध रखता है जो मन की जागृतावस्था का कारण बनती है। चिन्तना-शक्ति का सहयोग मिलने के कारण ही मन की जागृतावस्था इतनी व्यवस्थित और युक्ति संगत प्रतीत होती है। विक्षिप्त व्यक्तियों में यह चिन्तना-शक्ति सुप्त या लुप्त हो जाती है। इसलिए उनके मन का कार्य-कलाप अव्यवस्थित तथा हास्यास्पद प्रतीत होता है। इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् अब चिन्तना-शक्ति के कामों पर विचार करना सरल हो गया है।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने में चिन्तना का हाथ तो होता ही है, इनसे परे भी वह सीधे मन द्वारा गृहीत ज्ञान को व्यवस्थित एवं परिमार्जित करती है। ज्ञानार्जन की दिशा में मन इसी का सम्बल लेकर आगे बढ़ता है। पशुत्व और मनुष्यत्त्व के भेद का एक कारण मानव-मन का चिन्तना-युक्त होना भी है। पशुओं में भी बुद्धि होती है; किन्तु चिन्तना-शक्ति का अभाव होने के कारण वह कुण्ठित रहती है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बुद्धि चिन्तना-शक्ति का वह कोष है जिसके द्वारा वह हमारी अनुभूतियों में उतरती है या कार्यरत होती है। बुद्धि के माध्यम से चिन्तना-शक्ति चैतन्य-तत्त्व से सम्बन्ध भी स्थापित करती है। अप्रासंगिक होने के कारण बुद्धि और चिन्तना-शक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है; किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बुद्धि तत्त्व और चिन्तना-शक्ति में बहुत कम अन्तर है। स्थूल दृष्टि से दोनों एक ही सत्ता प्रतीत होती हैं; किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः हमारी आत्मा, जिसका परिवर्तित रूप चेतना बनती है, दो तत्वों के मेल से मन को प्रकाशित करती है। ये दोनों तत्त्व हैं, बुद्धि और हृदय। बुद्धि के द्वारा आत्मा के ज्ञान रूप का आभास मन को मिलता है और हृदय के द्वारा आनन्द रूप का आभास। चिन्तना-शक्ति शान्त आत्मा में तरंग के समान हैं। हृदय में पहुँच कर यह तरंग अनुभूति का सृजन करती है और बुद्धि में पहुँच कर विचार और ज्ञान का। चिन्तन-शक्ति ज्ञान को आलोड़ित करती हैं। मन के साम्राज्य में चैतन्य का ज्ञानस्वरूप तिरोहित रहता है। चिन्तना-शक्ति का वास्तविक ज्ञान इस तिरोहित 'ज्ञान' को खोजना है। किन्तु बीच में मन ठग मिल जाता है और इससे दूसरा काम लेने लगता है। बुद्धि और चिन्तना-शक्ति का भेद इस बात से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तना-शक्ति बुद्धि के कोष में पहुँच कर जितना काम करती है, उतना ही काम वह हृदय के कोष में भी पहुँच कर करती है। बुद्धि को यह तर्क, विचार तथा गवेषणा आदि में सहायता देती है और हृदय को तल्लीनता तथा अनुमति की गहराई को मापने में मदद करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तना-शक्ति मन, बुद्धि, हृदय आदि से पृथक् एक ऐसी सत्ता है, जिसका सीधा सम्बन्ध हमारी चेतना से है, अथवा आत्मा से है।

पशुओं में भी हृदय बुद्धि और मन होता है; किन्तु चिन्तना-शक्ति नहीं होती। कुछ लोग पशुओं में बुद्धि नहीं मानते; किन्तु यह मान्यता अप्रामाणिक है। रास्ते में पड़ी हुई खाई को कूद जाना, दीवार से बचना आदि पशुओं के अनेक कार्य उनमें बुद्धि की सत्ता का संकेत करते हैं। हाँ, उनमें चिन्तना-शक्ति नहीं होती। वे कुछ दूर की नहीं सोच पाते अर्थात् किसी समस्या पर विचार नहीं कर पाते। इस विषय से सम्बन्धित एक उदाहरण पर दृष्टिपात कर लेने से विषय स्पष्ट हो जाएगा। कुछ गाँवों में जहाँ पशु अनियन्त्रित छोड़ दिए जाते हैं, खेतों के चारों तरफ़ ऊँची मेड़ उठा दी जाती है। गर्मियों में ईख के खेत अस्थायी ऊँची दीवारों से घिर जाते हैं। कुछ पशु जो यह समझते हैं कि इसे मैं कूद जाऊँगा वे प्रयास भी करते हैं। अनेक ऐसे पशु दीवार का निरीक्षण का ऐसा स्थान चुन लेते हैं जहाँ दीवार कुछ नीची होती है या कूदने का स्थान कुछ ऊँचा होता है। उनका यह कार्य उनमें वर्तमान बुद्धि सत्ता का द्योतक है: किन्तु वे अपने इस कार्य की वैधता, अवैधता अथवा इसके परिणाम आदि पर विचार नहीं कर पाते। सुझाई देना बुद्धि का काम है और उस सूझ की परीक्षा करना अथवा उस पर विचार करना

चिन्तना-शक्ति का काम है। पशु का मन बुद्धि की सूझ को तुरन्त कार्यान्वित कर देने का आदेश सम्बन्धित इन्द्रिय को दे देता है। पशु ऊहापोह नहीं कर पाते, बन्दरों में तो बुद्धि कुछ तीव्र होने के कारण अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है; किन्तु चिन्तना का इनमें भी पूर्णतः अभाव है। पशुओं में चिन्तना-शक्ति के अभाव का कारण, उनकी आत्मा अथवा चेतना का अविकसित होना है। विकसित आत्मा ही चिन्तना-शक्ति को जन्म दे सकती है। क्योंकि वह अपने स्वरूप को जानना चाहती है। जिन स्वरूप की ओर उन्मुख आत्मा शान्त एवं समरस रूप से चिन्तना की तरंग को आविर्भूत करती है। यह तरंग मन, बुद्धि, हृदय और समस्त इन्द्रियों में आवश्यकतानुसार फैल जाती है। मनुष्यों में भी, सब में समान रूप से चिन्तना-शक्ति का बलाबल नहीं होता। बुद्धि, मन, हृदय और इन्द्रियों की समानता मनुष्य को एक जाति में समन्वित करती है, और चिन्तना-शक्ति की विभिन्नता प्रत्येक वस्तु का निर्माण करती है। जिस व्यक्ति में चिन्तना-शक्ति जितनी ही प्रबल होती है उस व्यक्ति के मन, हृदय और बुद्धि के विकास की तीव्रता उतनी ही अधिक होती है। कुछ लोगों की यह धारणा कि जो व्यक्ति भावुक है वह विचारशील कम होता है, बहुत ही भ्रान्त है। वस्तुतः जो भावुक है, वह उतना ही विचारशील भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति जितना ही गम्भीर विचारक है, वह उतना ही अधिक भावुक भी है। क्योंकि भावुकता और विचारशीलता दोनों में गम्भीरता लाने का काम चिन्तना-शक्ति ही करती है। यह बात दूसरी है कि अभ्यास एवं साधना के बल पर कोई उस चिन्तना-शक्ति को बुद्धि के माध्यम से ही अधिक प्रयोग में लाता है और कोई हृदय के माध्यम से। किसी युग विशेष का बुद्धिवादी होना यह बतलाता है कि इस युग में मानव-चिन्तना ने समष्टि रूप से बुद्धि के माध्यम से अधिक कार्य किया है। इतिहास इसका कारण ढूँढ़ता है। जिन दिनों तुलसी, सूर, मीरा जैसे भावुक भक्तों की वाणी भारत में गूँज रही थी, उस समय भारत की चिन्तना-शक्ति हृदय के माध्यम से अधिक काम कर रही थी, इसका भी कारण ढूँढ़ना इतिहास का काम है। कहने का तात्पर्य यह कि चिन्तना एक ऐसी सत्ता है, जिस पर हमारे व्यक्तित्व का दृढ़ भवन खड़ा होता है।

चिन्तना एक शक्ति है। हृदय और बुद्धि इसका उपयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं। बुद्धि और हृदय मन के आधीन होने के कारण उसी से परिचालित होते हैं। फलतः यदि मन कलुषित है, तो बुद्धि और हृदय भी कलुषित होगा। और यह कलुषित 'बुद्धि-हृदय' चिन्तना-शक्ति का दुरुपयोग करेगा। इसी प्रकार चिन्तना का विकास और पतन भी होता रहता है। बात यह है कि आत्मा जब तक मन के पंजे में रहता है अर्थात् जब तक उसे स्वरूप का पदार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह मन से ही प्रभावित रहता है। इसलिए मन की स्थिति का प्रभाव उस पर पड़ा करता है। फलतः चिन्तना-शक्ति का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता करता है। विकसित आत्मा ही स्वस्थ चिन्तना को मन के साथ संघर्ष करने के लिए ही प्रेरित करता है। इसलिए मन का निरोध आत्मा और मन की वह रस्साकशी है जिसमें चिन्तना 'शक्ति' का काम करती है। मानवीय आत्मा कुछ जीत की ओर उन्मुख रहती है किन्तु यदि इसी बीच साधना में विघ्न पड़ने से मन बली हो जाता है तो वह बाज़ी मार ले जाता है। इस प्रकार मानवीय आत्मा की हज़ारों वर्ष की साधना धूल में मिल जाती है। मनुष्य जन्म की दुर्बलता का यही रहस्य है। मन और आत्मा की रस्साकशी पर तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। क्योंकि इसका स्पष्टीकरण हो जाने पर चिन्तना का असली स्वरूप सामने आ जाएगा। मन मूलतः चैतन्य नहीं है, रस्से के माध्यम से चेतना का आभास मात्र मन तक पहुँचता है। जब 'मन' से रस्सा छूट जाता है तो मन चेतनाशून्य अतएव नष्ट हो जाता है। जब मन और आत्मा दोनों कुछ-कुछ समान रूप से रस्से पर अधिकार जमाने की स्थिति में आते हैं, तो चिन्तना नामक शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। सभी योनियों में मन और आत्मा का संघर्ष चला करता है; किन्तु वहाँ मन काफ़ी आगे बढ़ा करता है। अर्थात् रस्से के अधिकांश मार्ग पर मन का अधिकार होता है। वस्तुतः यह मन की मूर्खता है क्योंकि वह ज्यों-ज्यों रस्से पर अधिकार जमाता जाता है त्यों-त्यों वह मूढ़ होता जाता है। विकास की दृष्टि से अर्थात् मानवीय दृष्टि से अनेक जन्तुओं का कार्यकलाप मूढ़ता ही तो प्रतीत होता है; किन्तु मानवीय मन से वह इस अर्थ में शक्तिशाली होता है कि जन्तु के समस्त

आभ्यन्तरिक ढाँचों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वहाँ मन का निरोध संभव नहीं और न मन के निर्णय पर दखल ही दिया जाता है। जन्तु पूर्णतः मन पर आधारित रहता है। अर्थात् उसकी आत्मा मन से पूर्णतः दबी रहती है; किन्तु विकास की दृष्टि से यह मन शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें चिन्तना का अभाव होता है। बात यह है कि शक्ति तो आत्मा से ही आती है। आत्मा के साथ रस्से का सम्बन्ध ज्यों-ज्यों ढीला पड़ता जाता है, त्यों-त्यों वह न्यून शक्ति का ही संचरण कर पाता है इसीलिए पशुओं का मन, बुद्धि, हृदय सब कुछ मूढ़ होता है। मन सर्वथा उस रस्से को अपने काबू में नहीं कर सकता, क्योंकि वह आत्मा की ही शक्ति विशेष है आत्मा से पृथक् उसकी (रस्से की, या चेतना की) सत्ता नहीं है। आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध ढीला पड़ सकता है। यह सम्बन्ध ही चेतना-तत्व है। यह रस्सा चेतना है और जब इस रस्से पर मन और आत्मा का तनाव कुछ-कुछ समान रूप से पड़ता है तो चिन्तना-शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यह आत्मा के जागरण की ऊषा बेला है। इस अँगड़ाई का सुपरिणाम यह होना चाहिए कि आत्मा कर्तव्य पथ पर पूर्णतः सजग हो जाए और रस्से को संभाले। उसकी असावधानी का ही यह फल होता है कि रस्से में उत्पन्न इस चिन्तना-शक्ति का उपयोग मन करने लगता है। और आत्मा द्वारा उद्बुद्ध शक्ति से आत्मा को बन्धन में डाल देता है। आत्मा से उत्पन्न सात्विकी एवं निर्मल चिन्तना-शक्ति को मन गन्दा कर देता है। फलतः चिन्ता में छूट कर आत्मा निर्बल हो जाता है। उपर्युक्त विवेचन से चिन्तना के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। अब उस साधना पर भी थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है, जिसके सहारे आत्मा शक्ति का प्रयोग करती है। अब तक जो कुछ विचार किया गया है, उसमें चिन्तना शक्ति के बाह्यमुखी रूप का अधिक स्पष्टीकरण हुआ है। आत्मा की साधना के प्रसंग में जो विचार होगा, उसमें चिन्तना-शक्ति के अन्तर्मुखी रूप का स्पष्टीकरण हो जायगा।

मनोवैज्ञानिकों ने मन के कार्यकलापों का अध्ययन करने के लिए 'निरीक्षण' को प्रमुख साधन माना है। संवेगों का अध्ययन करने में इससे बहुत मदद मिलती है। निरीक्षण का यह व्यापार चिन्तन-प्रधान होता है। दूसरों के संवेगों का थोड़ा बहुत अध्ययन हम शारीरिक प्रतिक्रियाओं के माध्यम से कर भी लेते हैं; किन्तु निज के संवेगों का अध्ययन करना कठिन हो जाता है। कठिनाई यह उपस्थित होती है कि जैसे ही हम उन पर विचार करने चलते हैं, वे रफूचक्कर हो जाते हैं। मनोविज्ञान ने इस घटना के रहस्य पर दूर तक विचार नहीं किया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक इस बात को मानते हैं कि निज के संवेगों का अध्ययन ही अधिक तत्त्वमूलक होता है; किन्तु इस अध्ययन की उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने में वे विवश हैं। चिन्तना के अन्तर्मुखी स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह समस्या कुछ सुलझ जाती है। वस्तुतः संवेग की स्थिति में मन किसी आघात विशेष की प्रतिक्रिया के रूप में स्थित रहता है। इसलिए वह चिन्तना को भी उधर ही लगाए रहता है। संवेगों में तीव्रता लाना चिन्तना का ही काम है। इधर निरीक्षण की ओर चिन्तना के मुड़ते ही तरंग द्वारा फेंकी हुई जलराशि की तरह संवेग मन में ही लीन हो जाते हैं। प्रतिक्रिया के लिए तैयार मन अपने अस्त्र चिन्तना को दूसरी ओर मुड़ता देख कर विचलित हो जाता है और वह उन आघातों को भूल जाता है, जिनसे उनमें प्रतिक्रिया पैदा हुई थी। यह अन्तर्मुखी चिन्तना-शक्ति है। संवेगों को तीव्र बनाने वाली बाह्यमुखी चिन्तना-शक्ति को जब चेतना आत्मा की ओर मोड़ देती है तो मन छूँछा हो जाता है। कुछ योगियों ने उल्टी गंगा बहाने की बात कही है। चिन्तना का अन्तर्मुखी होना भी उसी प्रकार का है। अपने संवेगों, भावों और इच्छाओं के स्वरूप का चिन्तन करना इसका अन्तर्मुखी होना है। चिन्तना का यह प्रयास बुद्धिकोष के माध्यम से ही अधिक होता है। यहाँ यह स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है कि जैसे चिन्तन का विषय बनते ही संवेग का रूप गायब हो जाता है, केवल उसकी छाया या आभास मात्र चिन्तन के लिए बच रहता है। उसी प्रकार भावों, इच्छाओं के सम्बन्ध में भी होता है। धीरे धीरे जब यह साधना आगे बढ़ जाती है तब अपने निज के स्वरूप (अहं) चेतना का भी चिन्तन होता है। और, वही दशा चेतना की भी होती है हम जिसे चेतना माने बैठे हुए हैं वह गायब हो जाती है और इस प्रकार की आभ्यन्तरिक खोज हमारे शुद्ध आत्म-तत्त्व तक पहुँच जाती है। बुद्धिकोष को विवेक युक्त करके उसके

माध्यम से स्वरूप का चिन्तन एक ऐसी साधना है जिसमें चिन्तना-शक्ति बुद्धि-प्रधान होकर ज्ञान का साधन बनती है। इसी प्रकार हृदयकोष को भक्तिभाव से युक्त करके (हृदय में आत्मभाव की स्थापना करके) स्वरूप में स्थित हो जाने की साधना ऐसी साधना है, जिसमें चिन्तना-शक्ति भाव प्रधान होकर ब्रह्मानन्द का कारण बनती है।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि जब तक व्यक्ति का शरीर संस्थान बना रहता है, तब तक आत्मा और मन में खींचा-तानी चला ही करती है। अन्तर्मुखी चिन्तना-शक्ति का उपयोग करके आत्मा सदा मन को पीछे धकेले रहती है। शरीर संस्थान के विद्यमान रहते मन का सर्वथा विनाश सम्भव नहीं है। हाँ, निरन्तर मुँह की खाते-खाते वह अत्यन्त दुर्बल स्थिति में पहुँच जाता है। फलतः वह सरकार के फँसाए गए दुर्बल शेर की तरह बिजली के हण्टर (चिन्तना-शक्ति) के इशारे पर चला करता है। किन्तु साधक को सर्वथा सावधान रहना पड़ता है। कितना भी निर्बल शेर क्यों न हो, बिजली का हण्टर उसकी आँखों के सामने होना ही चाहिए।

अन्तर्मुखी चिन्तन की स्थिति बड़ी विलक्षण होती है। साधना बढ़ जाने पर उसमें सुख का विलक्षण उद्रेक होता है। बात यह है कि दुःख का एकमात्र कारण मन उस स्थिति में चेतन शून्य-सा रहता है। इन्द्रियाँ मन में प्रविष्ट हो जाती हैं और मन, हृदय और बुद्धि के समेत चेतना में लीन हो जाता है। चेतना आनन्द स्वरूप है और मन दुःख स्वरूप। विषयों के चिन्तन में चेतना मन का सहयोगी रहता है। और स्वरूप चिन्तन में वह आत्मा में लीन रहती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साधनावस्था का यह सुख मोक्ष के सुख से सर्वथा पृथक् तो नहीं है; किन्तु सर्वथा वही भी नहीं है। बात यह है कि शरीर संस्थान की आत्मा चिन्तना, मन तथा इन्द्रियों आदि से संयुक्त रहती है। मोक्षावस्था में इन सबका विनाश हो जाता है। जिसे हम चेतना कहते हैं, वह भी नहीं रहती। चिन्तना, मन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ यह सब भी नहीं रहतीं। आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा जब तक शरीर में रहता है तब तक उसे ज्ञान रहता है कि 'मैं अमुक शरीर में स्थित हूँ।' किन्तु मोक्षावस्था में उसके इस ज्ञान का स्वरूप यह हो जाता है कि 'मैं स्वयं अपने में स्थित हूँ।' यही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

> "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" ॥गीता६-५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

—व्रजभूषण पाण्डेय

मूल्यवान् हस्तलिखित पुस्तकें

हैदराबाद के निज़ाम श्रीयुत नवाब उस्मान अली खान के पास कुछ अत्यन्त मूल्यवान् हस्तलिखित पुस्तकें हैं। उनके पास इस प्रकार की दुर्लभ २०० हस्तलिखित पुस्तकें है। उनके पास मुक़द्दस कुरान शरीफ़ की एक हस्तलिखित प्रति है जो कि १०० वर्ष पुरानी है। निज़ाम के कथन के अनुसार इस समय इस हस्तलिखित पुस्तक की क़ीमत एक लाख रुपए से अधिक है। निज़ाम के छोटे पुत्र ने उन्हें इस वर्ष उनके जन्म-दिन के अवसर कुरान शरीफ़ की एक हस्तलिखित प्रति भेंट में दी थी। यह भी एक अत्यन्त दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तक है। कहा जाता है कि इसकी क़ीमत पचीस हज़ार से अधिक है।

अरबी भाषा तथा साहित्य

अरबी भाषा सेमेटिक परिवार से सम्बद्ध है। पुरातत्त्व की शोधों से यह भी ज्ञात होता है कि अरबी सभ्यता ४००० वर्ष ई० पूर्व की है। दक्षिणी अरब में पाए गए कुछ शिलालेखों का काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है और इनसे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उस समय की संस्कृति उत्कर्ष पर होगी। इन शिलालेखों से यह भी निश्चित किया जाता है कि १५०० ईसवी पूर्व इस क्षेत्र में पढ़ने-लिखने की कला भी विकसित रूप में विद्यमान थी। अनेक प्रमाणों से यह निश्चित किया जा सकता है कि अरब के उत्तर में अरबी पल्लवित और विकसित हुई तथा मक्का के धार्मिक स्थान में इसे विशेष रूप से प्रश्रय प्राप्त हुआ। अरबी का प्रवाह कबीलों के साथ-साथ कारवानों द्वारा मेसोपोटामिया तक फैला। यहाँ अरबी के रूप में परिमार्जन और परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् इस्लाम मजहब के साथ-साथ, अरबी की भाषा, सभ्यता, संस्कृति भी न केवल समस्त मध्यपूर्व के देशों में ही फैलीं; अपितु अन्य एशियाई देशों और अफ्रीका के कतिपय भागों में भी फैली। अरबी इन समस्त प्रदेशों में बोली जाने के अतिरिक्त लौकिक व्यवहार के लगभग सभी कार्यों के लिए व्यवहृत भी की जाती थी। जावा, याल्टा, मिस्र आदि प्रदेश भी इसके प्रभाव से न बच सके। तेरहवीं शताब्दी पूर्व तक कुरान का प्रभाव एशिया, आफ्रीका और यूरोप के एक बड़े भूभाग पर व्यापक रूप में पड़ा। आज भी अरबी मध्य पूर्वीय देशों की न केवल मातृभाषा ही है, अपितु वह समस्त मुस्लिम संसार की संस्कृति और धर्म का स्रोत भी है। इसके अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण अमेरिका में स्थित कतिपय अरब-संस्थानों द्वारा अरबी के साहित्यिक पत्रों की बड़ी माँग रहती है।

अन्य भाषाओं की भाँति अरबी भाषा का उद्गम और विकास भी प्रारम्भ में कविता द्वारा ही माना जाता है। अरबी कविता का आविर्भाव सुललित एवं संगीतमय गद्य से हुआ। मूर्तिपूजा के उपदेशात्मक अवसरों में मन्त्रों के स्थान पर कविता का प्रयोग हुआ। ऐसी कविताएँ अधिकांश में सोलह मात्राओं में ही हुईं। इन्हीं मात्राओं में अरबों ने भी कविता की, किन्तु काल्पनिक—पाँचवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती कवियों का भाषा पर अच्छा अधिकार था और उनकी वर्णनात्मक शैली भी पर्याप्त रूप से विकसित थी। इस कविता को 'क़सीदा' का नाम दिया गया। 'कसीदे' में ६० से १०० तक पंक्तियाँ होती थीं। क़सीदा सामान्यतः एक यात्री की वियोग-गाथा होता है। क़सीदे का यात्री रेगिस्तान की यात्रा करते-करते जब ऐसे स्थान में पहुँचता है, जहाँ वह कभी प्रिय (महबूब) के साथ रहा था, प्रेमालाप किया था; उन्हीं विस्मृत बातों को वह फिर स्मरण करने लगता है। इन क़सीदों में रेगिस्तान तथा दूसरे अन्य स्थानों के विस्मृत और अतीत सुख-वैभव के दृश्यों का अच्छा चित्रण होता था। इनमें ऊँट, शिकार, धूल, तूफ़ान आदि विषय प्रमुखता से होते थे। मुख्य विषय भले ही कुछ हों, कसीदों में उक्त बातों का वर्णन अवश्य होता था। बहुत से क़सीदे मेज़ों के ऊपर भी मिलते हैं। इन्हें 'मुलाक़ात' कहते हैं।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व अरब में उमरा-उल-क़ैस नामक कवि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। क़ैस ने भी क़सीदे ही लिखे हैं। क़ैस का अनुकरण कुछ अन्य कवियों ने भी किया। इनमें दो-एक कवियों ने अपने कबीलों की जीत के गीत भी गाए। इस्लाम से पूर्व अरब में दो शाही खानदान थे और इन दोनों का फ़ारस और रोम के युद्धों में बड़ा भाग रहा है। किन्तु इन सुलतानों ने अपने दरबार में कवियों को अच्छा प्रश्रय दिया। इस प्रकार क़सीदों की कविता ने दरबारी कविता का रूप ग्रहण करना भी आरम्भ किया।

इस्लाम से पूर्व की कविता से स्पष्टतः झलकता है कि रेगिस्तान के वासियों ने घूमने फिरने के समय अपना डेरा डालने के लिए स्थान-स्थान पर क्या देखा होगा। इस कविता में कहीं-कहीं रेगिस्तान की शुष्क व्यापकता की तुलना जीवन से की गई है। इस कविता में युद्ध, गुस्सा, वीरता, प्रेम, अपमान, गौरव, आतिथ्य

आदि विषयों को सामान्यतः पृष्ठभूमि बनाया गया है। इसमें धार्मिक भावना कहीं भी परिलक्षित नहीं होती। लेकिन इस कविता में सामाजिक अवस्था और विशिष्ट सामयिक प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। उत्तरी अरब वालों की 'खाओ, पीओ, मौज करो' में आस्था अधिक थी। अरब की प्राचीन कविता में उस समय के कबीलों का जीवन, उनकी प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, संघर्ष आदि विषयों का परिचय मिलता है।

उस समय के गद्य-साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि अरब में लेखन-कला न केवल लोकप्रिय ही नहीं थी, बलिक उसका अस्तित्त्व न-के बराबर ही था। 'कुरान' को अरबी-साहित्य का प्रथम लिखित ग्रन्थ माना जाता है। 'कुरान' धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श एवं व्यवस्था के अतिरिक्त मानवीय स्तर पर पवित्र जीवन का निर्देश करता है। इसे पवित्र धर्म-ग्रन्थ माना जाता है और धार्मिक धारणाओं के अनुसार स्वर्ग में रसूल मुहम्मद को इसमें वर्णित तत्त्व ज्ञान का बोध हुआ। 'कुरान' आज तक भी अरबी की अद्वितीय और विशिष्टतम कृति है और उसका समूचे अरबी-साहित्य पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। वह समस्त मुसलमानों की सर्वोपरि विधान-पुस्तक भी है। उसके कारण अरबी का क्षेत्र संसारव्यापी हो गया।

रसूल मुहम्मद के जीवन काल में जब इस पुस्तक का प्रणयन हुआ था, उस समय भी अरबी-लिपि अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण थी। 'कुरान' का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण, शब्दज्ञान तथा भाषाशास्त्र के गहन ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। 'कुरान' की अपेक्षाकृत प्रौढ़ और पुष्ट भाषा का तत्कालीन प्रभाव यह हुआ कि भाषा-विज्ञान तथा कोश-रचना को बड़ा बल मिला। कुरान से पूर्व के अरब की बौद्धिक भूमि का अध्ययन करने से कबीलों की वंशावली का विवरण ही अधिक मिलता है उस समय के गद्य का विकास 'कुरान' की शैली पर हुआ; कुरान की गद्य शैली आज भी अरबी साहित्य में आदर्श मानी जाती है।

इस्लाम की शिक्षा (मत वाद) जो कि ईश्वर, राष्ट्र, कर्म तथा विचारशीलता की एकता पर जोर देती है, कबीलों की परम्परागत मनोभूमि पर शक्तिशाली प्रहार करती है। उस समय उपदेशात्मक तथा धर्म-सम्बन्धी विषयों के लिए गद्य का उपयोग ही अधिकाधिक किया गया और उससे आगे भी पैगम्बरों और खलीफ़ाओं के समय भी काव्य की प्रगति अवरुद्ध-सी रही तथा अमुस्लिम देशों के धार्मिक कवि लगभग वे ही थे, जिन्हें प्रोत्साहन तथा प्रश्रय प्राप्त हुआ।

इस्लाम के उत्थान तथा खलीफ़ाओं के प्रभुत्व काल में जहाँ अरब में इस्लामी सिद्धान्तों और दृष्टिकोणों का प्रसार हुआ। वहाँ उच्च तथा सामान्य वर्गों में ऐश्वर्य का भी प्रवेश हुआ, इस काल में कबाइली सरदारों ने राजनीतिक जामा पहन लिया और अरब की सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि भी राजनीतिक प्रवृत्तियों में आत्मसात् होती चली गई। उस समय की रचनाओं में राजनीतिक रंग स्पष्टता से देखा जा सकता है। अरब के जीवन में राजनीति के व्यापक प्राबल्य से भोगविलास का प्रसार भी स्वभावतः हुआ और इसकी परिणति स्वरूप अरबी कविता में सुरूर आया। इससे पूर्व प्लैटो की स्थापनाओं के अनुसार कविता की निराडम्बर अनुभूतियाँ रेगिस्तान की कविता में भी पल्लवित और विकसित हुई थीं, उसमें कला और शिल्प का भी आडम्बर-पूर्ण सम्मिश्रण होने लगा; किन्तु इस काल के काव्य का प्रेम-विषय बड़ा प्रखर था। इस कविता में बुथानिया का प्रेमी जमील-ब-मामार, लुबना का प्रेमी कैस-ब-ज़रीह, लैला का प्रेमी मजनू आदि के प्रसंग पवित्र प्रेम के चिरस्मरणीय विषय हैं। इन काव्यात्मक प्रेम-प्रसंगों ने अरबी-साहित्य में लोक-गाथाओं का रूप धारण तो किया ही; इसके अतिरिक्त ईरान, तुर्किस्तान आदि प्रायः समस्त मुस्लिम क्षेत्रों में इनको बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस प्रकार की अलौकिक प्रेम-कविताओं में उमर-ब-अरबिया का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कुरैश कबीले का था। इसकी कविताएँ एक दीवान में संग्रहीत हैं। अलौकिक तथा लौकिक प्रेम प्रसंगों से पूर्ण कविताओं का क्षेत्र सर्वाशतः धर्म-शून्य भावना तक सीमित प्रतीत होता है। इस प्रकार की कविता में क़सीदों के स्थान पर ग़ज़लों को तेजी से प्रश्रय मिला। यद्यपि अभी तक ग़ज़लों का कोई विशेष अस्तित्व अथवा स्थायित्व निर्धारित नहीं किया जा सका था; किन्तु उमैया के काल में ग़ज़लों को स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त हुआ। अरबी कविता में दीर्घावधि तक धर्मशून्य भावना के प्रेम-प्रसंगों का एकाधिपत्य-सा दृष्टिगोचर होता है। उस काल की कविता में हमें सामाजिक और आर्थिक बन्धनों की झलक स्थान-स्थान पर मिलती है,

किन्तु कविता की अभिव्यक्ति और शैली में पत्थर पूजा का प्रकाशन बहुत अंशों में मिलता है। उस काल में कविता की प्रवृत्तियों को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने का एक ऐतिहासिक कारण यह भी था कि कुरान के प्रवचनों, उपदेशों और प्रसंगों को समझने के लिए काव्य-तत्वों के मर्मों का परिज्ञान भी आवश्यक था और लोग भी कुरान के अध्ययन और व्याख्या के लिए कविता को ही माध्यम बनाए हुए थे। कुरान ने ही वस्तुतः इस्लाम को साहित्यिक संस्कार प्रदान किए। प्राचीन कविता का पाठ करने वाले 'रावी' कहलाते थे। इनका एकमात्र काम कविता को कण्ठस्थ करना और लोगों को सुनाना था। प्राचीन काव्य के संग्रहकर्ताओं में खलफ़-उल अहमर का नाम सदा अविस्मरणीय रहेगा।

राजनीतिक कारणों से खलीफ़ाओं की राजधानी दमिश्क से बगदाद में परिवर्तित हुई। बगदाद और उसके आस-पास पारसियों का प्रभाव अधिक था। इसका अरब के राजनीतिक, लौकिक और सांस्कृतिक जीवन में भी प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप इस काल के साहित्य-सृजन में विभिन्न प्रकार की और नई-नई प्रवृत्तियों का भी आविर्भाव दीखता है। अब्बासियों ने गद्य और पद्य को ही पर्याप्त समृद्ध नहीं किया, उनका ध्यान वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भी गया। इस काल के साहित्य को अध्यात्म, धर्म, दर्शन, इतिहास, भूगोल तथा प्रकृति विज्ञान आदि अनेक विषयों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें कुछ विषय गद्य में लिखे गए और कुछ पद्य में भी लिखे गये।

मुसलमान इस्लाम मज़हब के सिद्धान्तों पर अपनी निगूढ़ निष्ठा और रसूल के कथनानुसार कुरान के समस्त प्रवचनों पर गम्भीरतापूर्वक मनन करते थे। उनका यह कार्य नैमित्तिक था। कुरान पर दीर्घावधि तक किए गए मनन के पश्चात् कहा जा सकता है कि उसमें कितनी सामग्री असली है और कितनी बाद में ठूँसी हुई। इस सम्बन्ध में अब तक के अनुसन्धान पर कुरान के छः संग्रह विश्वसनीय माने जाते हैं।

१ अलबुखारी द्वारा संगृहीत
२ मुस्लिम द्वारा संगृहीत
३ अबूदाउद द्वारा संगृहीत
४ अबू-इस-तिरमिज़ी द्वारा संगृहीत
५ नसाई द्वारा संगृहीत
६ इबू माज़ा द्वारा संगृहीत

किन्तु इनके अनन्तर भी कुछ संग्रह और माने गए हैं। इनको कुरान की व्याख्या को और अधिक सरल बनाने के लिए अथवा वैज्ञानिक अध्ययन की परम्परा को स्थिर रूप देने के लिए प्रश्रय दिया गया। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में कुछ और भी गवेषणाएँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की समस्त गवेषणाओं और अध्ययनों का विषय मूलतः कुरान ही था। ऐतिहासिक दृष्टिकोण, मौलिक निरूपण, व्याकरण सम्बन्धी, आलंकारिक, प्रशस्तिपरक तथा विधान सम्बन्धी विवेचनाएँ कुरान की आयतों की आध्यात्मिक और लौकिक व्याख्याएँ के मुख्य विषय हैं। इस प्रकार के अध्ययन की कुछ काल तक तो परम्परा ही चल पड़ी। कालान्तर में यही परम्परा स्वतन्त्र और नियमित ज्ञान के रूप में मान्य हुई। इन समस्त पूर्व अन्वेषणों को एकत्र करने और नियमित ज्ञान के रूप में मात्र हुई। इन समस्त पूर्व अन्वेषणों को एकत्र करने और उन्हें संग्रह का रूप देने में इब्नज़रीर उलतहरी का नाम उल्लेखनीय है। १२०६ ई० के लगभग फखरुद्दीन-अर-राज़ी ने 'मफातिहु-ग़ालिब' में कुरान की आध्यात्मिक एवं दार्शनिक व्याख्याओं के विषय पर लिखा।

लगभग इसी काल में अमूर्त कल्पना आदि यूनानी दर्शन तथा ईसाई लोकोक्तियों के प्रभाव में अरबी-साहित्य में चर्चा का विषय बनीं। और इसलिए इसके अनन्तर अरब में परम्परात्मक रूढ़ियों के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चला। यह आन्दोलन काफ़ी दिन चला और एक नई विचार-धारा का जन्म हुआ, जिसके प्रणेता अबुल हसन अल-अशखी (९३५) और मनसूर अल-मतुरीदी (९४४) नामक दो विद्वान् थे। इन विद्वानों ने रूढ़िग्रस्त परम्परावाद और मआताल के विचारवाद में निर्णायकों का काम किया। इससे एक दार्शनिक पद्धति का जन्म हुआ, जिसे 'क़लाम' कहते हैं। 'क़लाम' के साहित्यिक प्रतिनिधि अबूबकर अल-बलीक्षनी (१०८५) हैं जो अपने समय के एक बड़े सिद्धान्तवादी विद्वान् माने जाते थे, और जिनके शिष्य अलग़ज़्ज़ली थे। इनके अतिरिक्त एक प्रतिभाशाली विद्वान् बगदाद में और हुए—अबुल-फतेह-ऐश-शरस्तानी (१९५३)। इन्होंने अपनी कृति किताब-अल-मिलल वल निहाल में समस्त प्रचलित धार्मिक [illegible] दार्शनिक पद्धतियों और इल्लामी मान्यताओं को प्रशस्त

रूप दिया । हारिस उल-मुहासिबी (८२८), ज़ुन नूर उल-मिसरा (८५९) और अल जुनैद (९००) ने न केवल आदर्शपूर्ण रचना लिखीं बल्कि अपनी आत्मा को भी पवित्र किया और आदर्श जीवन व्यतीत किया । अल-कुशैरी (१०७२) के रिसाले में इन रचनाओं का बहुत कुछ उल्लेख मिलता है ! प्राचीन पद्धति के सबसे प्रमुख प्रतिनिधि शेख अब्दुल क़ादिर जीलानी हैं जिन्होंने अल-कदीरिया शहाबउद्दीन उमर अस-सुहरावरदी (१२३४) और म्हीउद्दीन इन अरबी (१२४०) आदि के आधार पर लिखा । शेखअब्दुल क़ादिर ने भाषण भी दिए और यौगिक आदर्श एवं सत्य धर्म पर भी पुस्तकें लिखीं । इस समय के सबसे अधिक प्रतिभाशाली सूफ़ी दार्शनिक अल-गज़्ज़ली (११११) थे जो अपने समय के सारे विरोधों का सामना करते हुए निगूढ़ आध्यात्मिक जीवन का सन्देश दे गए । उनकी प्रसिद्ध रचना ईह्यू-अल-उलूम-उद्दीन उनके जीवन के अध्ययन का संक्षिप्त सार है । इसके द्वारा इस्लाम में सूफ़ी मत के समावेश होने का सूत्र-पात होता है ।

जब गैर अरब इसलाम धर्म में आने लगे और अरब सुदूर प्रदेशों में बसने लगे......तब तो कुरान के समुचित अध्ययन की आवश्यकता और भी पड़ी । पश्चिमी देशों में स्पेन के अल-दनी और अल-शतीबी ने कुरान के उच्चारण तथा पढ़ने के ढंग पर लिखा था ।

अबु असदुदौला (६८५) पहले विद्वान् माने जाते हैं, जिन्होंने व्याकरण की व्याख्याएँ कीं । अरबी के व्याकरण का अध्ययन ईराक़ के दो नगरों—कुफ़ा और बसरा में चलता रहा । जहाँ अरबी के प्रचलन में दो विचार धाराएँ उक्त विद्वानों द्वारा निर्धारित कर दी गई थी और इसी प्रकार व्याकरण में भी दो शैलियाँ उत्पन्न हो गई थीं । सब से प्रसिद्ध व्याकरणकारों में छन्द शास्त्र के प्रणेता खलील-बिन-अहमद (७८६); २, अल किताब (व्याकरण) के लेखक अबुशिर अमर-बिन-उस्मान (७९६) का नाम उल्लेख्य है । प्रारम्भिक रचनाएँ जंगली जानवरों, घोड़ों, ऊँटों और आदमी की प्रकृति के विषयों पर लिखी गईं इन्हीं पुस्तकों में से भाषा तथा शब्द कोश सम्बन्धी सामग्री एकत्रित की गईं । बाद में इन पुस्तकों से विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से शब्दकोश बनाए गए । बसरा के विद्वान् अबूबकर इब्न रैद ने 'जम्हरा' और 'किताब अल-इश्ततिकाक़' जैसे शब्द कोश की पुस्तकें रचीं जिनमें संसार के विभिन्न ज्ञान-सूत्रों का अच्छा संकलन है । इस श्रेणी में अल-मुहर्रद (८९८) पहले आते हैं जिनकी 'किताब-उल-कामिल' अरबी भाषा एवं साहित्य का विश्वकोश ही नहीं है बल्कि पुरातन इतिहास तथा परम्परा में भी महत्वपूर्ण है ! और कूफ़ा में किसाई, फ़र्रा और इब्न अल हुए जिनकी पुस्तक 'इस्लाह-उल-मनतिक' और 'किताब उल-अलफ़ाज़' प्रसिद्ध है । बसरा में जो स्थान सिक़ित मुवर्रद का था वही स्थान कूफ़ा में तालब का था । जो अपनी रचना 'किताब उल-फसीह' के लिए प्रसिद्ध है । इनके शिष्य इब्न-उल-अन्हरी ने अधिकृत शब्दों पर एक पुस्तक लिखी, दीवानों का संकलन किया और उनकी टीका की । बग़दाद में इब्न खलाबिया, इब्न अहमद और इब्न फारिस ने उन्नति की । स्पेन में शब्द ज्ञान के प्रणेता अबुअली उल-खली (९६६) थे । स्पेन में सबसे महत्वपूर्ण रचना इब्न सिदा (१०६५) द्वारा रचित अलमु खस्सस थी । व्याकरण तथा शब्दकोश के लिए एक और महान् विभूति अज़-जमखशरी है, जिनका रचित शब्दकोश उल्लेखनीय है और मुफ़स्सल (व्याकरण) अब भी लोकप्रिय है । लेकिन अरबी में हर स्थान पर जहाँ भी वह पढ़ाई जाती है इब्न मलिक का अलफ़िया ज़रूर पढ़ाया जाता है ।

ईरानियों के सम्पर्क में काव्य ने नाज़ुक ख़याली तथा शायराना मुहावरों से वशीभूत होकर गम्भीरता का रूप धारण कर लिया । इस काल के कवियों में बशहर इब्न बुर्द (७८३) और सबीह इब्न अब्दुल कुद्दुस (८१३) उल्लेखनीय हैं । कुछ प्रारंभिक कवियों में से छोड़ कर इस युग के सबसे प्रसिद्ध कवि अबु निवास, अबुल अताहिया और अबु तम्मान और अल-बुहतरी हैं । अबु निवास (८१०) बहुत ही स्वतन्त्र तथा अपरिचित कवि था । बुढ़ापे में जैसा कि उसके दीवान के अन्तिम परिच्छेद 'ज़ूहदियात' से प्रतीत होता है कि वह काफ़ी गम्भीर विचारों में डूबा हुआ दीखता है । वैसे उसके शराब एवं प्यार के गीतों ने काफी लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि प्राप्त की । जब कि अबुल अताहि ने (८२८) 'ज़ुहद' (पवित्र जीवन) पर काफ़ी लिखा और लौकिक कविताएँ साधारणतया उपदेशपूर्ण शैली में रची ।

वह स्वच्छन्द स्फूर्ति जिसने वृद्ध परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया, कविता में भी एक विशेष धारा प्रवाहित की और इस धारा प्रवाह में अब्दुल्ला इब्न अलमु हाज़ सुपुत्र खलीफ़ा अलमुताज भी सम्मिलित थे।

क़सीदे की प्राचीन शैली को जीवित रखने वाले कवियों में से अबुहम्माम (८४५) और अलबुहतुरी (८९७) का नाम लिया जा सकता है। ये दोनों सीरिया के थे और बग़दाद आकर राजकवियों की तरह रहे। स्तुति पाठक (भाट) होने के अतिरिक्त दोनों ने 'अलहमन' के शीर्षक से पदावली का संकलन किया। 'अबुतम्माम' अभी तक के अरबी कविता-संग्रहों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। किन्तु स्पेन में मुवाशाह और जज़ाल प्रकार की नयी कविता का रूप शुरू हुआ। अरबी काव्य तथा संगीत स्पेन में ही नहीं; बल्कि आफ्रिकी देशों और सिसली आदि में भी गूँज़े।

अब्बासी सैफुद्दौला हमदानी का दरबार विशेष तया अरबी साहित्य का सबसे बड़ा केन्द्र था, जहाँ अल-मुतनब्बी (९६५) जैसे प्रसिद्ध कवि ने रहकर कीर्ति पाई। इनकी रचनाएँ हमेशा साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी रुचि से पढ़ी जाती रही है और सराही जाती है। अल-मुतनब्बी ने अपने समकालीन कवि अबु फिरस अल-हमदनी के साथ सैफुद्दौला के विजय की गीत गाए जो उस समय वहाँ का शासक था और यूनान से चालीस लड़ाइयाँ लड़ीं थी। सीरिया और बग़दाद में कविता में शास्त्रीय शैली का समावेश चक्षुहीन कवि मअर्री (१०५४) से शुरू हुआ। जिसका इस्लामी तथा यूनानी ज्ञान के साथ-साथ भारतीय दर्शन में भी बड़ा ज्ञान था। साहित्यिक रसायल (पत्र व्यवहार) के अतिरिक्त वह अपनी दो काव्य रचनाओं "सकत-उल-ज़न्द" तथा "लुज़ुम-मायालज़ुम" के लिए प्रसिद्ध है। इन रचनाओं में मअर्री ने बड़ी बहादुरी से अपने समकालीन विचार, सामाजिक जीवन, राज्य तथा धर्म की कटु आलोचना की है। उसने स्वयं 'ज़ुहद' के आदर्श को अपनाया। उसके विचार से बौद्ध विचार आदर्श हैं।

गद्य का श्रीगणेश फ़ारसी, यूनानी, सीरियाई साहित्यों का अब्बासी खलीफ़ा द्वारा अरबी में अनुवाद के प्रोत्साहन से हुआ। फ़ारसी से सामान्य-साहित्य, यूनानी से दर्शन, प्रकृति, विज्ञान तथा भारत से गणित के अनुवाद के आन्दोलन ने बड़ा ज़ोर पकड़ा। संस्कृत के 'पंचतन्त्र' का अरबी अनुवाद कलीला और दमना के नाम से पहलवी में हुआ जो फारसी में इब्न अल मुकफ़्फ़ा (७५७) ने अनुवाद किया। अरबी से फ़ारसी की ऐतिहासिक रचना 'खुदाईनामा' का भी अनुवाद हुआ। अरब में सबसे लोकप्रिय एवं कलात्मक गद्य रचनाकार बसरा के अल ज़ाहीज़ थे जिनकी 'किताब उल-हैवान', 'किताब-उल-बयान' 'बल-तबईन' और किताब 'अलमुखाश' है जिसमें अरबी मुहावरे तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का भण्डार भरा है। वह न केवल तीखे व्यंगकार ही थे बल्कि अरबी गद्य के आचार्य भी थे जिन्होंने आने वाली पीढ़ियों पर भारी प्रभाव डाला है। भाषा शास्त्रीय एवं इतिहासकार इब्न कुतैबा (८८३) अल ज़ाहीज़ के समकालीन थे। अपनी रचना 'अदब-उल-कबीर' में इन्होंने व्याकरण तथा भाषा की विशेष समस्याएँ भी उठाई हैं जिसका ज्ञान एक लेखक के लिए अनिवार्य है। और अपनी किताब 'उलमा-अरिफ़' और 'मुईन-उल-अखबार' में इन्होंने काव्य एवं साहित्य के विषयों को ऐतिहासिक रूप में लिया है।

विभिन्न विषयों पर प्रौढ़ गद्य में अगणित रचनाओं के अतिरिक्त विश्व-कोश की भी रचना हुई जिसमें सर्व-साधारण शिक्षा के लिए सभी उपयुक्त सामग्री दी गई। इस प्रकार की रचना स्पेन के इब्न अब्दुलखनी (९३९) द्वारा रची गई इसमें पच्चीस परिच्छेद हैं जिनमें इस्लाम से पूर्व इस्लामी इतिहास, काव्य, छन्द शास्त्र, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ आदि हैं। इसी प्रकार की रचना इसके बाद राग़िब-उल-इफ़हामी (११०९) और अज-जमग्ररी (११४३) की क्रमशः 'मुहावरात उल उदबा' और 'रागेबुल-इफ़हान' हैं।

कलात्मक गद्य की आवश्यकता शासकों के राज-नैतिक पत्रव्यवहार एवं राजकीय लेखों के द्वारा और तीव्रता से बढ़ी। पहले राजकीय लेखों की सीधी स्वच्छ शैलियों में गुलकारी की गई और उन्हें आकर्षित बनाया गया। आलंकारिक सजावट तथा आकर्षक गद्य शैली का भी आरम्भ हुआ।

इन कलाकृतियों से साहित्य को एक और विशेष रूप मिला जिसे 'मकमा' कहा जाता था। ये एकांकी नाटक की तरह होता है। जिसमें हमेशा कहानी कहने वाले के द्वारा नायक को दुःखावस्था में प्रस्तुत किया

जाता है। सारी वार्ताएँ गेय गद्य में रहती है। इस प्रकार की साहित्यिक रचना के सर्वप्रथम प्रणेता अहमद-उल-हमदनी उपनाम—'वसी' उज्ज़मा (१००७) थे किन्तु मक़म की शैली में अल-हरीरी (११२१) की लेखनी में विशेष प्रौढ़ता है।

पूर्व के इस्लाम की युद्ध कथाएँ, अत्तारा की गाथाएँ सैफ़ इब्न जीयाजां की प्रेम कथा, दक्षिणी अरबीय राजा की कहानी और बनु-हिलाल की प्रेम कहानियाँ बहुत रोचकता से पूर्ण हैं। इसी श्रेणी में 'अलिफ़ लैला की कहानियाँ' भी आती हैं जो सारे संसार में प्रसिद्ध हैं।

अरब का पहला दार्शनिक लेखक अबुयुसुफ़ याक़ूब उल-किन्दी (८७२) है जिसने दो सौ रचनाएँ दर्शन, औषधि, ज्योतिष, गणित एवं संगीत पर कीं। इस युग के चुने हुए दार्शनिकों में अबुनसर-उल-फ़राबी (९५०) हैं जिन्होंने अरस्तु गणित एवं संगीत पर टीकाएँ लिखी थी। अबु अली इब्नेसीना ने भी इसी प्रकार के विषयों पर लिखा। उनकी 'किताब-उश-शफ़ा' दर्शन शास्त्र में और 'अलकानून फ़िततिब' औषधि पर प्रसिद्ध रचनाएँ हैं और इसका लैटिन अनुवाद तो मध्ययुग में यूरोप में हुआ। इनके अतिरिक्त अलग़ज़्ज़ाली ने 'मक़ासिद उल फलासफ़ा' लिखा और इसके पश्चात् 'तहफ़ात-उल-फलसफ़ा' लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि दर्शन धार्मिक गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता।

किन्तु स्पेन और उत्तरीय अमरीका के दर्शन में नया मोड़ पैदा हुआ इब्न रुशर्द ने (११९८) अल ग़ज़्ज़ाली की विचारधारा का विरोध किया और अपने दर्शन की पुष्टि की। इब्न अबज्जा (११३८) और इब्न तुफ़ैल (११८५) पश्चिमी क्षेत्रों में काफ़ी प्रसिद्ध है।

जहाँ अल ख्वाराज़्मी (८१०), तावित-इब्न-कुर्रा और अल करख़ी ने गणित पर अनेकों रचनाएँ लिखीं वहाँ इब्राहीम अल-फज़री ने ज्योतिष-तालिकाएँ बनाईं। दूसरे खलीफ़ा उल-मनसूर ने भारतीय गणित 'सिद्धान्त' अरबी में अल-ख्वारिज्मे से अनुवाद कराया। अरबी ज्योतिष शास्त्र का प्रतिनिधित्व करने वालों में से प्रसिद्ध अल-फ़रग़ानी अल-बथानी, इब्न युनुस, इब्न उल हैइत और जाबर इब्न अफ़ताह को गिना जा सकता है। इन के अध्ययन से बग़दाद, दमिश्क और क़ाहिरा में प्रयोगशालाएँ स्थापित करने में बड़ी सहायता मिली।

अन्य विषयों के साथ साथ यूनानी हकीमों की रचनाओं का अध्ययन एवं अनुवाद शुरू हुआ। लेकिन रचनात्मक एवं व्यक्तिगत अनुवादों से अरबी विद्वानों ने औषधिज्ञान में प्रगति की, और अपना स्वतन्त्र साहित्य बनाया। इस युग के सर्वप्रधान हकीम अबु जकारिया अर. राज़ी (९३२), अज़ जहरोई (१००९), इब्न सीना (१०३७), इब्न मसावह (१०१५), इब्न बुतलन (१०२२), इब्न मेमून (१२०९) और इब्न नफ़ीस (१२९०) थे। अरब के हकीमों ने औषधि बनाने और रोगों को लक्षणों से जानने की विद्या को बहुत बढ़ा लिया था। उस समय पश्चिम में भी हस्पातालों तथा औषधि संस्थाओं में भी इन्हीं का बोल बाला था।

खलीफ़ाओं की अच्छी शासन व्यवस्था और आवागमन व्यवस्था से भूगोल ज्ञान में काफ़ी सहयोग मिला। वैसे तीर्थयात्रियों को तो दूसरे देशों का ज्ञान रहता ही था जहाँ वह जाते थे। इन भौगोलिक पुस्तकों में केवल आने जाने के रास्ते, व्यापार तथा व्यापारिक संस्थाओं का ही हाल नहीं था बल्कि वहाँ के लोगों का सांस्कृतिक सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के बारे में भी विवरण था। इस प्रकार के संकलनों से इस बात का काफ़ी प्रमाण मिल जाता है कि इस ओर लोगों का अध्ययन कहाँ तक था। यात्रियों ने भी पूर्व और पश्चिम के कई देशों के बारे में बहुत लाभदायक सूचनाएँ दीं। भूगोल में इब्न खुरदादबीह द्वारा लिखित "किताब उल मासलिक वल मुमालिक" था कूबी की किताब 'अल बुलदा' इब्न रुस्ता की अल-अल्क़ अन नफ़ीस, अल इस्तख़री की 'किताबल-मुसलिक अल ममालिक' के साथ साथ अलमक़दसी द्वारा लिखित 'अशन अल तक़सीम की मा 'रिफ़त अल अक़लीम' इद्रीसी की नुज़रत अल मुश्ताक़, और 'तवारीख़े हिन्द' के रचयिता अलबेरूनी की लिखी हुई पुस्तक अल-अथर 'अल बाक़िया अन अल कुरान अल-ख़ालिया' हैं। इब्न फ़दलन, अबु दुलफ़, खाज़ाजी, इब्न जुहारी और इब्नबतूता ने भी अरब और उन सब देशों के बारे में लिखा है जहाँ वे गए थे। बक़ीरी ने 'मुजम्मा रत्तजम' और याक़ूत ने 'मु जम अलबल्दा' भौगोलिक शब्द कोशों का संकलन किया।

प्राचीन काव्य तथा वंश परंपराओं से इतिहास के अध्ययन में काफ़ी सहयोग मिला। इस्लाम की शुरुआत का ज्ञान प्राप्त करने के रसूल की जीवनी तथा इस्लाम की लड़ाइयों जैसी सामग्री एकत्रित करना परम आवश्यक

हो गया था। रसूल की सर्वप्रथम अनुरूप जीवनी मुहम्मद इब्न इशाक़ ने लिखी जो इब्न हिशम द्वारा फिर से सम्पादित हुई।

स्पेन के सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार हिमसुद्दीन इब्न अल-खवीब (१३७४) हैं जिनका इतिहास 'अलईदता फ़ी तारीख़-ए-गश्त' बहुत प्रसिद्ध है। लेकिन स्पेन के अरबों के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक जीवन पर उत्तरी आफ्रीकी इतिहासकार अलमक़री ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'नफ़ह-उल-तिब मिन गुस्न अल-अंदलुस अर रातिब' में विवरण से प्रकाश डाला है।

मंगोलों के आक्रमण तथा बग़दाद की पराजय के पश्चात् ६५६-१२५९ में सांस्कृतिक केन्द्र फिर सीरिया और मिश्र बन गए और साहित्य में स्वाभाविक परिवर्तन आया। इस युग के विशेष साहित्यकारों में इब्न हज़र अल अस्क़लानी (१४४८) जलालुद्दीन अल-महल्ली (१४५९) जलालउद्दीन अस-सईदी (१५०५) शबीबउद्दीन अल-क़स्तलनी (१५१७) और मुस्लिम आदर्शों के लिए इब्न तैमिया (१३२७) इब्न-उल-जौज़िया (१३५०) और तक़ीउद्दीन अस सुबकी (१३६९) हैं अल-रौरानी (१५६५) ने सूफ़ीमत पर बहुत लिखा। इब्न सैयाद अन नस (१३३३), बदरउद्दीन उल-हलाली (१६३४) और जैनी देहलान ने रसूल के जीवन चरित्र को संकलित किया। और तिक्क़िका (१३०१) अब्दुल फ़िदा इस्माइल (१३३१) अबु अब्दुल्लाह उद-धवी (१३४७), इब्न खातिर (१३७२), तक़ीउद्दीन अल-मकरीज़ी (१४४१) और अब्दुल महासिन अल-तग़रीविरदी (१४६९) ने तो इस शैली में चार चाँद लगा दिए। आठवीं शताब्दी हिजरी में जो महान् इतिहासकार था जिसने अरबी इतिहास के लिए बिलकुल नया ढंग दिया वह था इब्न ख़लदुन (१४०६)। उसकी शैली न केवल पूर्व में ही अपनाई गई बल्कि पश्चिम के भी इतिहासकारों ने इसका प्रयोग किया। सम्पूर्ण अरबी साहित्य का अध्ययन एक तुर्की साहित्यकार हाजी खलफ़ा (१६५७) ने किया और इस अध्ययन के आधार पर खोजपूर्ण पुस्तक 'कश्फ़ुज़ जुनून' लिखी।

यद्यपि इस युग में कविता नाम मात्र को ही थी फिर भी इसका बीजारोपण हो गया था। इस युग के प्रसिद्ध कविगण सफ़ीउद्दीन अल-हल्ली (१३४४), अलबसरी (१२९६) और सलेहउद्दीन अल सफदी (१३६३) थे।

इन तमाम बड़ी-बड़ी रचनाओं के अतिरिक्त शब्दकोष को जिन्होंनें स्मरणीय देन दी है वह है—अल-फ़िरोज़बादी (१४१४) इब्न मनसूर (१३११) और मुर्तज़ा अज़ ज़ाहीदी (१७९०)। प्रकृति के इतिहास तथा प्राणिविद्या में कमलुद्दीन अद दमीरी (१४०५) ने 'हयात उल हैवान' लिखी।

भौगोलिक तथा राजनैतिक संकटों के बावजूद भी भारत के मुसल्मानों और धार्मिक संस्थाओं में अरबी रही। कुछ भारतीय मुसल्मान अब्बासी तथा उमैयारी युग में अल-हिजाज़ और ईराक चले गए और वहीं बस गए। वहाँ अबुअता अल-सिन्धी कवि के रूप में, हसन अल-सगनी (१२५२) शब्द शास्त्री के रूप में और सफ़ीउद्दीन अल-हिन्दी (१३१५) कानून में माहिर के रूप में प्रसिद्ध हुए। अल-बरुनी अपनी किताब अल-हिन्द को लिखने के लिए भारत आया था और हिन्दू संस्कृति तथा अन्य विशेषताएँ लेकर वापस गया। शमसुद्दीन मुलतान आए और हदीस की विचारधारा भारत में फैलाई। लेकिन भारत के मुस्लिम शासन काल में—गज़नवियों (९९८) ई. से मुग़लों (१५३९) तक कोई मौलिक अरबी साहित्य देखने में नहीं आया। भारतीय मुसल्मानों ने इस समय में कुछ भी मौलिक नहीं लिखा किन्तु तर्कशास्त्र इन्हें बहुत पसन्द आया और और मुहीव उल्लाह बिहारी (१७०७) ने 'सल्लुम अल-उलूक' लिखा जो तर्कशास्त्र पर विशेष रचना मानी जाती है।

इनके अलावा सद-बिन-सामान, निज़ामुद्दीन औलिया, नासिरुद्दीन चिराग़ देहलवी और शाहबुद्दीन और अमीर खुसरो अरबी काव्य के चमकते हुए नक्षत्र हैं। ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने अरबी में पूरा दीवान भी लिखा है। जैसे मालाबार के मुहम्मद-व-अब्दुल अज़ीज़ (१० वीं शताब्दी), सैयद अलीखाँ इब्ने मासूम (१७०५), सैयद अब्दुल ज़लील बिलग्रामी (१७१५), सैयद गुलाम अली आज़ाद (१७८५) ये सभी कवि फारसी शायरी से प्रभावित थे और अपनी कविता में वैसा ही व्याकरण के प्रयोग करते थे। मुहम्मद (मालाबार के) ने अरबी में लगभग ५०० पद्यों की मसनवी लिखी थी जिसमें कालीकट के ज़मोरिन और पुर्तगालियों में हुई लड़ाई की कथा है। इस्लाम के प्रति अनुराग इब्न मासूम ने अपनी रचना 'अलबदियात' में प्रदर्शित किया

है। अन्य कवियों की तरह आज़ाद भी अपनी कविता में हिन्दी और संस्कृत की उपमाओं तथा अलंकारों का प्रयोग करते है। धार्मिक अध्ययनों और रचनाओं में भारतीय मुसलमानों का भी योग सराहनीय है। मुहिब उल्लाह बिहारी (१७०७) द्वारा रची फ़तवा-ए-आलमगीरी और मुसल्लम उल सुबुत धर्म शास्त्र पर अद्वितीय रचनाएँ मानी जाती हैं। बुरहानपुर के अली मुक़्क़ी (१५५७) ने कनज़ुल उम्मल लिखा। देहली के शाह वली उल्लाह (१७६२) ने इसी परम्परा में मुसव्वा लिखा। इसी प्रकार इन्होंने कुरान पर टीकाएँ लिखीं जहीर अली का 'ताज' अरबी भाषी देशों में काफ़ी सम्मानित हुआ है।

अरबी साहित्य में आधुनिकता का सूर्य तब उदय हुआ जब वह एक फिर (१७९८) में पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आया। मिश्र से ही ये आधुनिकता शुरु हुई। पाश्चात्य पद्धति पर स्कूलों का खुलना, अरबी मुद्रणालयों का स्थापित होना और पत्रकारिता एवं यूरोपीय रचनाओं का अरबी में अनुवाद ही आधुनिकता के मूल लक्षण है। पुराने ढंग की गद्य शैलियों ने नएपन का जामा पहना। शेख़ मुहम्मद अब्दुल ने अजहर में उपदेश, कुरान पर टीका तथा इस्लामी दर्शन में बिलकुल नए ढंग से प्रस्तुत किए। कवियों ने आधुनिक और नए प्रयोग किए। कहानी लिखने की कला भी ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ शुरू हुई। जिन्होंने यूरोपीय देशों में जा कर अध्ययन किया उन्होंने फ्रैंच, इंग्लिश, जर्मन तथा इटालियन भाषाओं से अरबी में अनुवाद किए। अल मनफ़लूती, अज्जैयात और अल मज़नी ने अपनी रुचि के अनुसार यूरोपीय प्रेम कथाओं को प्रस्तुत किया। बाद में तौफ़ीक उल हकीम, अल मज़नी और अहमद तैमोर ने मिश्र की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखे। इसके अनन्तर भी नाटक कम्पनियों, फ़िल्म कम्पनियों तथा रेडियो केन्द्रों ने इस क्षेत्र में बड़ी सहायता दी।

गद्य की तरह आधुनिक कविता भी फ्रांस के कवियों के लोक गीतों के अनुवादों से शुरु हुई। क़सीदे की परम्परा का उल्लेख करते समय कविताओं की आधुनिक प्रवृत्तियों का इस्लामी तथा पश्चिमी दर्शन से सम्पर्क बताना विशेष बात है। अल बरुदी (१०६९-१९०४) हफ़ीज और शौक़ी (१८६८-१९३२) ने अरबी राष्ट्रीयता के गीत गाए और प्राचीन संस्कृति की भी याद दिलाई। आज के कवि छन्दों और मात्राओं के बन्धन से बाहर निकल कर स्वच्छन्द और अतुकान्त कविताओं की ओर अभिमुख हैं और इस योग में उन्हें भारी सफलता मिल रही है।

उस्मानिया यूनिवर्सिटी
हैदराबाद

—(डा.) एम. अब्दुल मुईद खान

सूर्य : एक महिला

........आसाम के पहाड़ों में खासी लोगों में, जितनी भी उत्तम और महान् वस्तुएँ हैं प्राय: उन सब के लिए स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है। उनके लिए पुल्लिङ्ग का प्रयोग नहीं किया जाता। एक बार मैंने बात-चीत में सूर्य के लिए भी स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग सुना। मुझे इसमें अत्यधिक आश्चर्य हुआ क्योंकि मैं तो सूर्य को पुल्लिङ्ग में ही प्रयोग करने में अभ्यस्त था। मैंने प्रश्न किया कि क्या कारण है कि आपके यहाँ सूर्य के लिए स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है। उसका जो उत्तर मुझे दिया गया उसे सुन कर मैं दंग रह गया। मुझे उत्तर दिया गया : "सूर्य इतना लज्जाशील है कि वह कभी अन्धकार में अपने को प्रदर्शित नहीं कर सकता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सूर्य एक महिला है।"......

—"इलस्ट्रेटेड वीकली आफ़ इंडिया"
के एक लेख से

आधुनिक तेलुगु साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

तेलुगु जनता के जीवन में जो जागृति हुई उसी का प्रतिबिम्ब आधुनिक तेलुगु साहित्य है। १६ वीं सदी के चतुर्थ भाग में इसका प्रादुर्भाव माना जा सकता है। आधुनिक तेलुगु साहित्य आन्ध्र जीवन के डेढ़ सदी की कहानी है। लोकोक्ति है कि जीवन और साहित्य एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते और यह लोकोक्ति तेलुगु साहित्य पर भी चरितार्थ होती है।

यह कहना अनुचित न होगा कि देश के संक्रान्ति काल का प्रभाव अन्य मुख्य भारतीय भाषाओं के साहित्यों पर भी पड़ा है। विगत में वैदिक धर्म और संस्कृत भाषा भारत राष्ट्र के अभिन्न अंग थे। आधुनिक काल में चेतना और मानवता वाद का आविर्भाव एक अपरिहार्य शक्ति के रूप में हुआ है।

ब्रिटिश शासन और अंग्रेज़ी भाषा पाश्चात्य जगत् से सम्बन्ध स्थापना का माध्यम थी। एक भाग नियन्त्रित था तथा दूसरा प्रोत्साहित था। हम प्रथम और नियन्त्रित माध्यम को लुप्त पाते हैं। प्रोत्साहित भाग अभी भी हमारा अतिथि है और हो सकता है कि हमारे परिवार का स्थायी घटक बन जाए। भारत में १८ वीं सदी के अर्द्ध भाग के राजनैतिक रंगमंच में, आन्ध्र प्रदेश के समुद्र तटीय नगर १७६६ में ब्रिटिश शासन के अधीन हुए। तेलंगाना के नगर निज़ाम द्वारा शासित रहे। सर्वप्रथम ब्रिटिश आधीन भाग में ही तेलुगु भाषा में नवजागृति का प्रादुर्भाव होता है।

१९ वीं सदी के प्रथम चरण में तेलुगु छापेखाने का प्रारम्भ हुआ। पवित्र इंजील के प्रसार के लिए और शासन सुविधा के विचार से ब्रिटिश अफ़सरों ने तेलुगु की उन्नति में हाथ बँटाना आरम्भ किया। इस प्रकार इन्होंने परोक्ष सेवा की। विदेशियों के लिए आधुनिक ढंग पर व्याकरण और शब्दकोश बनाए गए। सरल पुस्तकें छापी गईं। जो एक आकस्मिक अध्ययन था पर यही कुछ स्वच्छन्द प्रवृत्ति के अंग्रेज़ों के जीवन का अंग बन गया। चार्ल्स फ़िलिप्स ने तेलुगु के दो प्रमाणित कोश प्रकाशित किए; एक व्याकरण लिखा, अनुवाद किए, कई प्राचीन तेलुगु साहित्य की प्रतियाँ छापीं और उन्हें सम्पादित करने में योग दिया। पुरानी हस्तलिखित प्रतिलिपियों को एकत्र करके विद्वान् कर्नल कालिन मैकन्ज़ी ने अविस्मरणीय सेवा की और वे हमें आन्ध्र देश का इतिहास लिखने और गम्भीर अन्वेषण के लिए समुचित सामग्री प्राप्त करा गए।

प्रारम्भ में यह सब अद्भुत-सा लगा। यहाँ के निवासी या तो एकमात्र दर्शक बनते या साधारण कार्य में हाथ लगाते। किन्तु ब्राउन तथा अन्य विद्वानों के किए हुए कार्य को आगे बढ़ाने की भी शक्ति उनमें थी। अभी तक कविता ही साहित्य की मुख्य धारा समझी जाती थी। पदाधिकारी और विद्वान् को प्रसन्न करने के लिए यह एक अत्यन्त उपयुक्त साधन था। किन्तु आज आदर्श भिन्न हो गए हैं। अब अधिक से अधिक जनता का मन बहलाने और उसे शिक्षित करने का लक्ष्य सामने है। १६ वीं शताब्दी के मध्य में चिन्नया सूरी संस्कृत और तेलुगु के बड़े विद्वान थे। कई पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने एक 'नीति चंद्रिका' नामक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जिसमें प्रमाणित और उत्कृष्ट लेखों का उत्तम संग्रह है। उन्होंने 'बाल व्याकरण' नामक व्याकरण भी लिखा जो निर्दोष लेखन के लिए अपना महत्व स्थापित कर चुका है। उनके शिष्य सीताराम आचार्य ने 'सुबोध रत्नाकरमु' प्रमाणित तेलुगु शब्द-कोश लिख कर उनके कार्य को आगे बढ़ाया जो इस दिशा में आगे के प्रयत्नों में एक अनुकरणीय रचना सिद्ध हुई।

आधुनिक आन्ध्र की नवचेतना के पिता कुरडकूरी वीरेशलिंगम राजमुन्दरी के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। आन्ध्र में उन्होंने अपने आपको राजा राममोहनराय का प्रतिरूप सिद्ध किया। वे एक महान् प्रतिभाशाली लेखक थे। पूर्वलिखित काव्य को पीछे छोड़ कर उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ करते हुए अनुभव किया कि उन्हें ज्ञान को सामान्य जन के द्वार तक पहुँचाना है। काव्य की ओर उदासीन रहते हुए उन्होंने गद्य को अपनाया। आन्ध्र देश ने उन्हें "गद्य-तिक्कन्ना" नाम से पुकारा। तेलुगु कवियों में तिक्कन्ना का नाम सर्वोपरि है। वीरेशलिंगम के पास जनप्रेरित

कार्य था। वे एक बहुत बड़े समाज सुधारक थे। उन्होंने विधवा विवाह को प्रचारित करने और जनप्रिय बनाने के लिए संघर्ष किए। तेलुगु देश में ब्रह्म समाज के लिए उन्होंने कार्य किया। वे वास्तव में समस्त आधुनिक तेलुगु-साहित्य की प्रवृत्तियों का सूत्रधार थे। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने तेलुगु गद्य में निबन्ध लिखना आरम्भ किया। उन्होंने "राजशेखर चरित्रमु" नामक सर्वप्रथम तेलुगु उपन्यास लिखा। उन्होंने संस्कृत नाटकों को तेलुगु में अनुवाद करने की परम्परा निर्धारित की और स्वयं भी कई मौलिक नाटक लिखे। समाज की त्रुटियों को प्रदर्शित करने और जनता का मन बहलाव करने के लिए उन्होंने कई आक्षेपपूर्ण और रसपूर्ण कृतियों की रचना की। आज के नारी जगत् पर भारतीय समाज द्वारा जो दुर्बलताएँ थोपी गई हैं उन पर उनकी कृति 'सत्यराज पूर्वदेश यात्रालु' एक सुन्दर और अनुकरणीय काव्य है। वीरेशलिंगम ने साहित्यिक आलोचना और अन्वेषण की भी नींव रखी। उनका महान् कार्य 'तेलुगु कवियों का इतिहास' स्मरणीय रचना है। तेलुगु में वैज्ञानिक साहित्य प्रस्तुत करने की उनकी प्रबल इच्छा थी और इस दिशा में उन्होंने जीवन-शास्त्र (Physiology) प्राणि-विज्ञान और खगोल-विद्या सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित कीं। उन्होंने अपनी 'विवेक वर्धिनी' और 'हास्य संजीवनी' पत्रिकाओं द्वारा तत्कालीन पत्रकारिता का मार्ग दर्शन किया। वीरेशलिंगम ने ही सबसे पहले अपना जीवन-वृत्तान्त लिखा। इस प्रकार वह आन्ध्र देश के वर्तमान युग के निर्माता के रूप में सदा अविस्मरणीय हैं।

वीरेशलिंगम के अनन्तर गद्य लिखना एक लोकाचार बन गया था। नाटक बहुत प्रिय हो गए और तेलुगु साहित्य में प्रथम बार उतनी बड़ी और भारी नाटकीय रचनाएँ देखने में आई। बहुत से संस्कृत नाटक विद्वानों द्वारा तेलुगु में अनुवादित किए गए। बेल्लारी के डा. कृष्णमाचार्य को आन्ध्र नाटक का पितामह कहा जाता है। उन्होंने तेलुगु नाटक में चरित्र चित्रण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्तियों का अच्छा समावेश किया। वे अपनी रचना 'विशद सारंगधर' से दुःखान्त नाटक के सूत्रधार माने गए। इसी काल में ऐतिहासिक और देश-भक्ति के नाटक भी लिखे गए। बेल्लारी के कोलाचलम् हरिनिवास राव, नेल्लूर के वेदमु व्यंकट शास्त्री, राजमुंदरी के श्रीपाद कृष्णमूर्ति शास्त्री ने इस क्षेत्र में अपने आपको प्रतिष्ठित किया। उपहास मिश्रित पौराणिक विषय लक्ष्मी नरसिंमा के नाटकों की पृष्ठभूमि है।

उपन्यास के क्षेत्र में नरसिम्मा ने बहुत अच्छा कार्य किया। रमेश चन्द्रदत्त की 'आगरा की दासी कन्या' के अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने अनेक सुन्दर सामाजिक और ऐतिहासिक नाटक लिखे। नरसिम्मा उच्चकोटि के उपन्यासकार थे और उन्होंने तेलुगु में प्रथम बार उपहास को साहित्यिक रूप दिया। भोजराज नारायण मूर्ति ने उनका अनुसरण किया। यह काल १६ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। इस काल में कविता केवल पुरानी धारा में बहती रही। प्रबन्ध गद्य के नमूने को सम्मुख रख कर पुराने ढंग पर रचना करना और संस्कृत से अनुवाद करना ही अब तक का सामान्य क्रम बना हुआ था।

तेलुगु साहित्य में २० वीं सदी का आविर्भाव दृढ़ क्रान्ति की भित्ति पर हुआ। तीन महान् साहित्यिक पुरुष इस क्षेत्र में उतरे और उन्होंने दृष्टिकोण में मूल परिवर्तन का प्रतिपादन किया। अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के कई अवगुणों में एक यह भी था कि वह देशवासियों को परम्परागत साहित्य से पृथक् रखना चाहती थी। त्रिपति काव्यलु में सरलता से कविता रचने की अपूर्व बुद्धि थी और उन्होंने काव्य, नाटक तथा गद्य के अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया।

विजयनगरम् के राजा आनन्द गजपति के सामन्त और मित्र गुरुजाड़ा अप्पाराव का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अप्पाराव ने भी आधुनिक तेलुगु काव्य के निर्माण में बड़ा योग दिया है। कृष्णदेवराय के युग के पश्चात् कविता में विस्तृत प्राचीन विषयों को लेकर अत्यधिक पाण्डित्य प्रकट करना, रूढ़ियों को अपनाना और साहित्य में कृत्रिमता लाना ही अधिक श्रेयस्कर बात समझी जाती थी। जीवन में श्वास और गति लाने के लिए कविता अपनी शक्ति और जादू खो बैठी थी। अप्पाराव ने उसे ऐसे गत्यवरोध से बचाया और उसने उसमें पुनः चमत्कार उत्पन्न किया। सर्व प्रथम उसने प्राचीन विषयों का परित्याग किया और कविता के लिए संवेदनाशील जीवन और सामान्य सामाजिक वातावरण को चुना। मानवीय संवेदनाओं को छूते हुए बड़े अकृत्रिम ढंग से अपने विषयों का प्रतिपादन किया। उन्होंने अंग्रेज़ी से गीतिकाव्य की शैली ग्रहण की। पहले के छन्द पुराने पड़ गए थे, इस-

लिए अब अप्पाराव ने गेय और नवीन छन्दों को अपनाया । काव्य रचना में सामान्य भाषा के प्रयोग ने कविता में एक नई जान फूँक दी । इसने काव्य के परम्परागत क्षेत्र में नवक्रान्ति का आविर्भाव किया । अप्पाराव यहीं पर न ठहरे । उन्होंने अपने नाटक 'कन्या शुलकमु' के द्वारा नाटक-साहित्य में भी महान् क्रान्ति उत्पन्न की । यह एक सुखान्त नाटक है जिसमें उन्होंने सब प्रकार की मूर्खता, अज्ञानता और चारित्रिक विकृतियों के साथ समकालीन जीवन को अंकित किया है ।

तेलुगु-साहित्य के इस काल में तृतीय किन्तु प्रबल शक्ति के द्योतक स्वर्गवासी गिडुगु राममूर्ति पन्तुलु हैं । १९ वीं सदी के मध्य में व्याकरणाचार्य चिन्तय्या सूर्य ने प्रमाण निर्धारित किया वह प्रायः गम्भीर गद्य के लिए माना जाता है । राममूर्ति पन्तुलु ने ज़ोरदार शब्दों में शास्त्रार्थ किया कि सभ्य जनता की जो बोलचाल की भाषा है, वही साहित्यिक भाषा का प्रमाणित रूप होना चाहिए । अपनी 'गद्यचिन्तामणि' और दूसरी कृतियों से राममूर्ति ने सिद्ध कर दिया कि कम-से-कम गद्य में बोलचाल की भाषा लिखने का विद्वानों को अच्छा अभ्यास है ।

देश के आधुनिक जीवन पर एक दृष्टि डालने से पहले हम कुछ विहंगावलोकन १९ वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ भाग का करेंगे जिसमें भारतीयों के दृष्टिकोण में अगोचर परिवर्तन हुआ । श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से जनता भारत के प्राचीन धर्म और सभ्यता का मूल्यांकन करने लगी । शताब्दियों की अवधि और मिथ्या आवरण के आडम्बर में दबे ज्ञान की ज्योति को उन्होंने देखा । राजनैतिक क्षेत्र में भारत को विदेशी शासन से मुक्त करने के लिए इंडियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ । इस संघर्ष को पूर्ण करने के लिए साठ वर्षों की आवश्यकता पड़ी । बीज डाल दिए गए थे, वृक्ष को समय पर फलीभूत होना था । २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में उद्भूत विचार और कर्म के क्षेत्र में दो युगल शक्तियों का आगमन हुआ । रूस और जापान के युद्ध ने इस विचार को हिला दिया कि पश्चिम पूर्व पर सदा अजेय रहेगा । बंगाल विभाजन का संघर्ष घर ही का उदाहरण है । इसने अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए भारतीयों के आत्मविश्वास को प्रोत्साहित किया । इस सारे वातावरण का आन्ध्र देश पर भी अपरिहार्य रूप में प्रभाव पड़ा । आन्ध्र ने बंगाल के बौद्धिक नेतृत्व का अनुगमन किया। स्वभावगत संवेदनाओं को दोनों ने ग्रहण किया ।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व जीवन की कुछ प्रधान वृत्तियाँ थी । इनकी समुचित अभिव्यक्ति के लिए आर. सुब्बाराव जैसे प्रतिभाशाली कवि हमें उपलब्ध हुए। ज्ञान, विज्ञान और यहाँ तक कि चरित्र के सम्बन्ध में भी गुरजाड़ा जहाँ पश्चिम की पूर्व पर प्रधानता बताता है और वहाँ सुब्बाराव ने आत्म-गौरव और प्राचीन भारत के यश के गुणों को उठाया । अपनी अभूतपूर्व कल्पना शक्ति से इतिहास में आन्ध्र लोगों की महानता दिखला कर और उन्हें कर्म की ओर बढ़ने को प्रेरित कर उन्होंने अद्भुत चमत्कार-सा किया । अपने देशभक्ति के गानों के अतिरिक्त उन्होंने गीति-काव्य की रचना को खण्डकाव्य के लिए भी आदर्श निर्धारित किया। शुद्ध चित्त-वृत्ति के चित्र खींचें गए, प्रेम अपने सरल रूप में लिया गया, विषय विद्यमान जीवन से लिए गये। दुःख और शोक की भावनाओं को बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया गया । प्रकृति का परम्परागत वर्णन और वर्ड्सवर्थ के मार्ग पर प्रकृति में दार्शनिकता ढूँढने के कार्य को सुब्बाराव ने आधुनिक तेलुगू कविता में किया। कवि और उसके अनु-सरण कर्ताओं पर पश्चिम की प्रवृत्तियों का रोमांटिक प्रभाव पड़ा है । डी. कृष्ण शास्त्री, टी. शिवशंकर शास्त्री जैसे और कई अन्य कवियों द्वारा सुब्बाराव के गीतिकाव्य का अनुसरण किया गया है। विश्वनाथ सत्यनारायण एक अन्य महान् कवि हुए हैं, जिन्होंने देश भक्ति पूर्ण काव्य पर बल दिया । भाव और अभिव्यक्ति को उच्चता प्रदान की ।

इस बीच में गद्य और नाटक का विकास तीव्र गति में हो रहा था । पानुगन्ती लक्ष्मीनरसिंह राव ने अपने विनोदात्मक निबन्ध 'साक्षी' से अच्छी ख्याति प्राप्त की । सी. आर. रेड्डी ने अपनी कृति 'कविता तत्त्व चीरमु' द्वारा उच्चकोटि की साहित्यिक समीक्षा-दृष्टि का परिचय दिया । इस दिशा में श्री बी. शिवाराम शास्त्री ने आर. अनन्त कृष्ण शर्मा, के. रामकृष्णय्या आदि ने एक अच्छी परम्परा स्थापित की । कई पत्रिकाओं ने जन्म लिया और काल की गोद में चली गईं । अमुद्रित ग्रन्थ चिन्तामणि, 'कृष्ण पत्रिका' और 'भारती' अच्छी पत्रिकाओं में गिनी जा सकती हैं, जिनके द्वारा उच्चकोटि

के साहित्य का संकलन और सृजन होता है। इनमें प्रथम का तो अब केवल नाम ही शेष रहा है। गद्य में ऐतिहासिक निबन्धों का अपना विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में के. वी. लक्ष्मण राव ने महान् सेवा की है। उनकी कृतियाँ 'हिन्दुमहायुगमु' और 'मोहमदिय महा युगमु' ऐतिहासिक साहित्य में अग्रगण्य हैं। एम. सोमशेखर ने भी इस क्षेत्र में योग्यता से कार्य किया है। तेलुगु में विश्व ज्ञानकोश बनाने का कार्य लक्ष्मणराव ने आरम्भ किया था किन्तु वह अपना कार्य पूर्ण करने से पहले ही चल बसे। २० वीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में नाटक बहुत प्रिय हुआ। संस्कृत से अनुवाद के अतिरिक्त त्रिपति काव्यलु ने महाभारत के आधार पर उत्कृष्ट नाटक लिख कर मार्ग दर्शन किया। पूर्ण विनोद और विवेकी दृष्टिकोण से पनुगन्ती का 'साक्षी' नाटक बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने नाटक में संगीत और काव्य को कम करने पर जोर दिया। उसने दुःखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे। 'राधाकृष्ण', 'पादुका पट्टाभिषेकमु' उनकी सुन्दर रचनाओं में से हैं। उत्तम नाट्यशाला के होने का सौभाग्य तेलुगु को प्राप्त है। हमारे पास कई श्रेष्ठ अभिनेता हुए हैं। जिन्होंने इस ऐतिहासिक कला की शोभा को बढ़ाया। श्री टी. प्रकाशम्, हरिप्रसाद राव, बेल्लारी राघवाचार्य और संतनाम नरसिंह राव का नाम उनमें उल्लेखनीय हैं।

यदि हम तेलुगु विद्वानों की पौराणिक कृतियों का स्मरण न करेंगे तो हम विद्या के साथ अन्याय करेंगे। पाश्चात्य शिक्षा के कारण इस ज्ञान को अछूता छोड़ दिया गया था। विद्वानों ने संस्कृत के पुराणों को अपनी भाषा में अनुवाद करते हुए परम्परा के मार्ग पर तेलुगु साहित्य को परिपुष्ट किया। इस कार्य को सम्पन्न करने वालों में उल्लेख्य आचार्य कृष्णामूर्ति शास्त्री ने महाभारत का फिर से अनुवाद किया। बी० सुब्बाराव ने रामायण का अनुवाद किया। कुदापा के श्री शेषधारी शर्मा ने 'ब्रह्मानन्द पुराण' का अनुवाद किया। मल्लादि सूर्यनारायण शास्त्री ने 'भविष्य पुराण' का अनुवाद किया। इसी प्रकार और भी कई अनुवाद हुए। इसके अतिरिक्त भारत की स्वतन्त्रता का युद्ध महात्मा गान्धी ने अपने कन्धों पर लिया। अपनी संवेदना-शील भावना और आदर्श के प्रति सच्चे आन्ध्र लोगों ने जन समूह को संगठित और सावधान किया, और इस काल की देशभक्ति के गीत प्रतिक्रिया के रूप में रचे गए। हम श्वेत चमड़ी का राज्य नहीं चाहते। हे भगवान् हम इस शासन को सहन नहीं कर सकते यही विषय इन गीतों का आधार था। अल्लूरि सीताराम राजू का एक प्रसिद्ध गीतिकाव्य (Ballad) है जिसमें क्षत्रिय नायक ब्रिटिश बन्दूकों के साथ धनुष और बाण से संघर्ष करता है।

इसके शताब्दि के बीसवें और तीसवे वर्ष में उपन्यास-साहित्य की भी अच्छी प्रगति रही, अनेक उपन्यास भी मनचाहे रोमांस गाथाओं में लिखे गए। व्यंकट पार्वतीश्वरा काव्यलु का नाम इस क्षेत्र में अग्रिम पंक्ति में है। व्यंकट शास्त्री ने अच्छे सामाजिक उपन्यास भी लिखे। निःसंदेह ही स्वर्गीय बापुराज, एक मानवतावादी और उत्कृष्ट कलाकार थे, वे एक उत्तम चित्रकार और सफल कवि भी थे। उन्होंने कई ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन भी किया। इस क्षेत्र में श्री सत्यनारायण सब से विलक्षण पुरुष थे। 'आनन्द प्रशस्ति', कविताओं और 'किन्नेरसनि पाटलु' नामक जादू भरे गीत-काव्यों से प्रसिद्धि पाकर सत्यनारायण की अपूर्व बुद्धि ने साहित्य के क्षेत्रों में भी प्रवेश किया। उन्होंने उपन्यासों का सृजन भी बड़ी विलक्षणता से किया। वे हमारे उन विचारकों में से हैं जो जीवन के लिए प्राचीन भारतीय सामाजिक वातावरण को आदर्श और पश्चिम की आधुनिक आडम्बरावृत्तियों को विडम्बना मात्र समझते हैं। सत्यनारायण के पास हिमालय जैसी रचना शक्ति और प्रबल कल्पना शक्ति थी। उनका सर्वोत्तम उपन्यास ''वेयी पदागल'' चर्म और संस्कृति का विश्व-कोश (Encyclopedia) है। सौभाग्य से वे अभी भी हमारे बीच विद्यमान हैं, और कविता, उपन्यास, नाटक आदि से तेलुगु साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। ''रामायण कल्पवृक्ष'' नामक ग्रन्थ अत्यधिक विचार प्रेरक है। ''पीछे देखो'' सन्देश में उन्होंने कुछ भी छिपा कर नहीं रक्खा है।

द्वितीय युद्ध में और उसके पश्चात् उपन्यास साहित्य और प्रौढ़ हुआ। सामाजिक और ऐतिहासिक विषय अप्रचलित हो चले थे। मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समस्या प्रधान उपन्यास और विरोधी मान्यताओं पर आधारित उपन्यास, यह सब प्रिय विषय थे। गोपीचन्द्र

की "असफल मनुष्य के जीवन की कहानी" चिट्टी बाबू का "अन्त में जो रहता है केवल वह है" एम० राममोहन का "रथ चक्रमुलु" कुछ तत्कालीन प्रवृत्तियों का आभास देते हैं। पाठक को लेखक निम्न श्रेणी के संसार में ले जाता है और वह ऐसा चित्रण कर डालता है कि कभी कभी हमें बस कहना पड़ता है।

रीतिरिवाज और परम्परा के प्रति विद्रोह को भी बहुत दूर तक ले जाया गया था। इस प्रवृत्ति ने विश्व-युद्धों के मध्य में जन्म लिया। मधुकृष्ण ने अपने नाटक 'अशोकमु' और गडीपति व्यंकटाचलम ने अपने कई लेखों में भारतीय नारीत्व के अनेक प्राचीन आदर्शों को आह्वान किया है। सीता और सावित्री का बहुत विकृत रूप भी चित्रित किया गया। कुछ भी हो इससे समाज को बहुत आघात पहुँचा और यह प्रवृत्ति समाज-विमुख होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो गई। रामपुरतु देवलुपल्ली और कई अनेक कवियों की मानवतावादी, बौद्धिक और कोमलकान्त पदावली के विरुद्ध इस सदी के तीसवें वर्ष के आरम्भ में ही एक प्रबल विद्रोह खड़ा हो गया। इसकी पृष्ठभूमि दो युद्धों के मध्य और उसके पश्चात की भारतीय समाज की शोचनीय स्थिति थी। महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में राजनैतिक संघर्ष अपनी तीव्रता के साथ चरम बिन्दु पर था। यह 'मरने या करने' का समय था। राष्ट्र उद्विग्न था और शासक अपना पाशविक दबाव डाल रहे थे। समाज चाहता था कि जीवन की यातनाओं से मुक्ति मिले। कृषक और मजदूर सामने आए। ललित कला प्रेमी मध्यश्रेणी को पीछे धकेला गया। साम्यवादी विचारधारा ने गरीब के लिए साहित्य में एक नया पृष्ठ पलटा। ये आन्दोलन जो कि स्पष्टतया अखिल भारतीय है 'प्रगतिशील' साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तेलुगु में 'अभ्युदय कवित्वमु' विशेष कर इसलिए आलोचना का विषय बन गया क्योंकि वह वर्तमान की अपेक्षा भूत और भविष्य तथा स्वप्निल आदर्शवाद में ही सीमित रहा और उसने आज की समस्याएँ बिलकुल ही छोड़ दी। प्रगतिवादी लेखकों ने ऐसे साहित्य का बड़ा विरोध एवं तिरस्कार किया। प्रगतिशील कवि-समुदाय का आन्ध्र में श्री श्रीरंगम श्रीनिवास राव जो 'श्री श्री' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, ने ही प्रतिनिधित्व किया। अपने काव्य संग्रह 'महाप्रस्थानम्' में उन्होंने दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन के लिए अपील की है। उनका कहना है कि जनता की क्रान्ति के लिए व्यापी पुकार ही युद्ध की घोषणा प्रतीत होती है। उनकी कविता में बड़ी से बड़ी वस्तुओं से मामूली-सी दिया सलाई की बत्ती, साबुन की टिक्की या कुत्ते का पिल्ला भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका में आते हैं। लेखकों की नई पीढ़ी 'श्री श्री' से काफ़ी प्रभावित हैं और वह उनका अनुकरण भी कर रही है। उनके कथनानुसार प्रगतिवादी सच्चे इन्सान हैं और उनका दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय एवं व्यापक है। तेलंगाना 'पुलिस एक्शन' के पश्चात् जाग उठा है। इस क्षेत्र के कवि दशरथी, कालोजी, पोटलापल्ली जनता की आशा के संदेशवाहक हैं। जनता की भूख और विवशता के प्रति वे सजग हैं। मानवीय प्रेम और सद्भावना के वे पक्षपाती हैं। इस प्रकार की ठोस निर्माणकारी कविता में तेलाँगाना के श्री सी. नारायण-रेड्डी विशेष रूप में अग्रणीय हैं।

आज का तेलुगु-साहित्य अन्य उन्नत साहित्यों की श्रेणी में गर्व के साथ खड़ा रह सकता है। उसमें साहित्य की समस्त आधुनिक प्रवृत्तियों पर पर्याप्त प्रयोग और सृजन कार्य हुए हैं। उसमें उत्कृष्ट अनुवादों को भी प्रचुरता से देखा जा सकता है और तेलुगु-साहित्य के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद भी भारतीय और विश्व की अन्य भाषाओं में उपलब्ध है। रूसी और अंग्रेजी के तो अनेक ग्रन्थों के अच्छे तेलुगु-अनुवाद उपलब्ध हैं। मराठी और कन्नड़ के कई प्रसिद्ध उपन्यासों के अनुवाद हो चुके हैं। मराठी के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर का अनुवाद रानी ललिता देवी द्वारा हुआ है। उर्दू और फ़ारसी साहित्य का तो तेलुगु से अभिन्न सम्बन्ध है, और उनके मध्य खूब आदान-प्रदान हुआ है। तेलुगु के कतिपय मासिक और पाक्षिक पत्र सृजनात्मक योग दे रहे हैं। इस विहंगावलोकन से यह स्पष्टतः ही विदित होगा कि तेलुगु साहित्य की आधुनिक गतिविधियाँ सृजनात्मक प्रवृत्तियों की ओर व्यापक रूप से अभिमुख हैं।

—के. लक्ष्मीरंजनम्

अध्यक्ष तेलुगु विभाग,
उस्मानिया विश्वविद्यालय
विद्यानगर, हैदराबाद द.

विचित्र-प्रेम

बात, मारकी द बैर्त्री के घर पर, शिकार का मौसम शुरू होने के उपलक्ष में दिए गए भोज के बाद की है। आठ नवयुवतियाँ, पड़ौस का डाक्टर और ग्यारह शिकारी बत्तियों से जगमगाती और फल-फूलों से लदी हुई विशाल मेज़ के चारों तरफ़ बैठे थे।

प्रेम की चर्चा हुई और उस पर ज़ोरों से बहस छिड़ गई; वही पुरानी बहस, कि कोई जीवन में एक ही बार सच्चा प्रेम कर सकता है या कई बार। उन्होंने बहुत से लोगों के उदाहरण दिए जिन्होंने जीवन में एक ही बार गम्भीर प्रेम किया; साथ ही उन्होंने उन लोगों के भी उदाहरण दिए जिन्होंने बड़े मनोयोग से बार-बार प्रेम किया। साधारण पुरुष यह हीला दे रहे थे कि रोग की भाँति वासना का भी आघात एक ही व्यक्ति पर कई बार हो सकता है, और राह में कोई बाधा पड़ जाने पर यह आघात घातक सिद्ध होता है।

यद्यपि इस दृष्टिकोण में विवाद की सम्भावना नहीं थी, फिर भी स्त्रियों ने—जिनका मत निरीक्षण की अपेक्षा कल्पना पर ही आधारित था—कहा कि प्रेम, सच्चा और महान् प्रेम, मनुष्य के जीवन में एक ही बार आता है; यह बिजली की तरह होता है और जिस हृदय को एक बार भी छू लेता है वह सदैव के लिए इतना लुटा हुआ, रिक्त और बुझा-बुझा सा हो जाता है कि फिर कोई भी सशक्त भाव, कोई भी स्वप्न तक, उस पर स्थायी रूप से अपनी छाप नहीं डाल सकता।

मारकी ने प्रेम के क्षेत्र में बहुत अनुभवी होने के कारण इस विश्वास का बड़े रोचक ढंग से विरोध किया, “मैं आपको बता सकता हूँ कि मनुष्य अपने सारे बल और सारी आत्मिक शक्ति के साथ कई बार प्रेम कर सकता है। आप लोगों ने उनके उदाहरण दिए हैं जिन्होंने दुबारा प्रेम कर पाने की संभावना को असंभव प्रमाणित करते हुए, प्रेम के लिए आत्मघात किया है। किन्तु मैं कहता हूँ कि यदि वे आत्म-हत्या की मूर्खता न करते—जिसने दुबारा उनके पतन की संभावना ही समाप्त कर दी—तो वे ठीक हो जाते और स्वाभाविक रूप से मृत्यु के समय तक बार-बार प्रेम करते। प्रेमियों की दशा बिलकुल शराबियों की तरह है। जिसके मुँह शराब लग गई वह पीता ही रहेगा, जिसने एक बार प्रेम किया वह भविष्य में भी जरूर करेगा। यह तो केवल प्रकृति की बात है।”

उन्होंने पेरिस के एक बूढ़े डाक्टर को, जो अब गाँव में ही एकान्तवास करता था, मध्यस्थ चुना और उससे प्रार्थना की कि वह अपना मत दे। यथार्थ में उसका कोई मत न था। जैसा कि मारकी ने कहा था, यह सारी बात प्रकृति पर निर्भर है।

“जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं एक ऐसे अटूट प्रेम के बारे में जानता हूँ जो एक भी दिन रुके बिना पचपन साल तक बराबर चलता रहा और जिसका अन्त मृत्यु ही कर सकी।” डाक्टर ने कहा।

मारकी ने ताली बजाई।

“बहुत सुन्दर!” एक महिला ने कहा, “इस इस प्रकार प्रेम किया जाना भी कितना मधुर स्वप्न है। पचपन साल तक गहरे सजीव स्नेह से घिरे रहना कितनी प्रसन्नता की बात है। ऐसे प्रेम से आच्छादित जीवन कितना सुखी होगा।”

डाक्टर हंसा। उसने कहा:

“सच तो यह है, श्रीमती जी, कि आप भ्रम में हैं क्योंकि प्रेम का पात्र पुरुष था। आप उसे जानती हैं; वह गाँव का औषधि-विक्रेता मोसियों शूक है। उस स्त्री को भी आप जानती हैं। यह वही बूढ़ी औरत है जो कुर्सियों में बेंत या आसन बनाया करती थी और जो हर साल इस घर में भी आती थी। लेकिन मैं आपको पूरी बात कैसे समझा सकता हूँ?”

स्त्रियों का उत्साह कम हो गया। उनके चेहरों पर घृणा नाच उठी: छिः! मानो केवल उन सुन्दर और प्रतिष्ठित लोगों को ही प्रभावित कर सकता है जो कि फ़ैशनबेल लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के योग्य है!

डाक्टर कहता गया:

"तीन मास पूर्व मुझे उस बूढ़ी औरत को देखने के लिए बुलाया गया। वह मौत की घड़ियां गिन रही थी। यहाँ वह अपनी उसी पुरानी गाड़ी में आई थी जो उसके घर का भी काम देती थी। गाड़ी में वही टट्टू जुता था जिसे आप लोगों ने अक्सर देखा है और उसके साथ दो बड़े-बड़े कुत्ते थे जो उसके मित्र भी थे और रक्षक भी।

पादरी वहाँ पहले पहुँच चुका था। बुढ़िया ने हम लोगों को अपने वसीयतनामे का उत्तर साधक बनाया और उसका अर्थ स्पष्ट करने के लिए अपने जीवन की कहानी सुनाई। मैंने इतनी प्रभावोत्पादक और अद्भुत बात कभी नहीं सुनी थी।

उसके बाप और माँ कुर्सियों के आसन बनाया करते थे। संसार के किसी एक स्थान पर घर बना कर रहना उसने कभी नहीं जाना। बचपन में वह गन्दे और फटे कपड़े पहने घूमा करती थी। वे लोग शहरों के पास सड़क के किनारे रुक जाते थे; घोड़े को चरने के लिए छोड़ देते थे; कुत्ता अपने पंजों के बीच नाक दबा कर सो जाता था; बच्ची घास में खेला करती थी जब कि माँ और बाप सड़क के किनारे उगे हुए जंगली पेड़ों की छाया में बैठ कर पास-पड़ोस की सारी पुरानी कुर्सियों के आसन नए बना डालते थे।

इस चलते-फिरते घर के लोगों में आपस में बातचीत कभी नहीं होती थी। कुछ अनिवार्य शब्दों में यह तय करके कि कौन घरों में चक्कर लगाएगा और कौन सुपरिचित स्वर में 'कुर्सियाँ बनवा लो' पुकारेगा; वे आमने-सामने या आस-पास बैठ कर पुआल गूँथने लगते थे।

जब बच्ची अधिक दूर निकल जाती थी या गाँव के किसी बच्चे से जान पहचान करने लगती थी तो बाप क्रोधित स्वर में उसे पुकारता 'तू इधर चल री छोकरी।' ममता के केवल इन्हीं मृदु शब्दों से वह परिचित थी।

जब वह कुछ और बड़ी हो गई तो वे उसे फिर से बनने वाली पुरानी कुर्सियाँ इकट्ठी करने के लिए भेजने लगे। तब जगह-जगह गली के बच्चों से उसका परिचय होने लगा। वहाँ उसके नए दोस्तों के माँ-बाप उन्हें पुकारते हुए कठोरता के साथ कहते 'इधर आओ दुष्टो! अब कभी इस नंगे पाँव घूमने वाली लड़की के साथ बातें करते पकड़ने दो (तब बताएँगे)।"

अक्सर लड़के उस पर ईंटें फेंकते थे। कभी-कभी महिलाएँ उसे कुछ पेनी[1] दे देतीं थीं और निकट से उसे ध्यान पूर्वक देखती थीं।

एक दिन—जब वह ग्यारह वर्ष की थी—इधर से गुज़रते समय उसे छोटा-सा शूके स्मशान के पीछे रोता हुआ मिला क्योंकि उसके किसी साथी ने उसके दो सू चुरा लिए थे। इस छोटे धनवान नागरिक के आँसुओं ने उसे बहुत व्यथा पहुँचाई क्योंकि अपने विचित्र मस्तिष्क में वह उसे उन लोगों में से एक लगता था जो उससे सर्वथा भिन्न हैं और जो सदैव प्रसन्न एवं संतुष्ट रहते हैं। वह उसके पास गई और जब उसे उसके कष्ट का कारण ज्ञात हुआ तो उसने अपना कुल संचित धन सात-सू उस लड़के के हाथों पर रख दिए; जो कि उसने अपने आँसू पोंछते हुए बड़े स्वाभाविक ढंग से स्वीकार कर लिए। तब प्रसन्नता से पागल होकर उस लड़की ने उसे गले से लगाने का दुःसाहस कर डाला। शूके ध्यान से सिक्के गिन रहा था अतः उसने उसे ऐसा करने दिया। यह देख कर कि न उसे डाँटा गया, न मारा गया, लड़की ने दुबारा शूके को गले से लगा लिया। उसने बाहों से ही नहीं, हृदय से उसका आलिंगन किया। तब वह वहाँ से भाग गई।

इसके बाद उसके अभागे मस्तिष्क की क्या दशा हो सकती थी? क्या वह इसलिए उस मूर्ख लड़के के प्रति अनुरक्त थी कि उसने अपनी तुच्छ सम्पत्ति का उसके लिए त्याग कर दिया था, या इसलिए कि उसने उसे अपना पहला सुकुमार चुम्बन अर्पित किया था? यह रहस्य छोटे और बड़े सभी के लिए समान है।

महीनों वह स्मशान के इस कोने और इस लड़के के स्वप्न देखती रही। उसे दुबारा देखने की आशा में वह माँ-बाप के पैसे चुरा लेती थी; कुर्सी की बनवाई में से, या भोजन की जो चीज़ें ख़रीदने के लिए उसे भेजा जाता था उसमें से वह एक-दो सौ बचा कर रख लेती थी।

जब वह फिर यहाँ लौटी तो उसकी जेब में से दो

---

[1] फ्रान्सीसी सिक्के [2] फ्राँसीसी सिक्का

फ्रैंक¶ थे, लेकिन उसने छोटे से औषधि-विक्रेता को अपने पिता की दूकान में बड़ी सी रंगीन शीशी के पीछे उचित ढंग से खड़े देखा। वहाँ खड़ा हुआ वह उसे और भी आकर्षक लगा। रंगीन पानी की शोभा और स्फटिक की चमक में उसे वह देवता सा लगा और उसका प्रेम पहले से कहीं अधिक बढ़ गया।

यह चित्र उसके स्मृति-पट पर अमिट हो गया और जब दूसरे वर्ष उसने उसे स्कूल के पास अपने साथियों के साथ गोलियाँ खेलते देखा तो वह झपट कर उसके पास पहुँची और उसे अपनी बाहों में इतनी ज़ोर से जकड़ कर चूम लिया कि वह डर से चिल्लाने लगा। तब उसे शान्त करने के लिए उसने अपने सारे सिक्के—सत्तर सेन्ट¶ उसे दे दिए। शूके आँखें फाड़ फाड़ कर उस सम्पदा को देखता रहा। उसने धन ले लिया और लड़की को जी भर कर दुलार करने दिया।

अगले चार साल तक वह अपनी सारी बचत उसे देती रही जिसे चुम्बनों की अनुमति के बदले वह शुद्ध अन्तःकरण से जेब में रख लेता था; कभी पन्द्रह सेन्ट, कभी चालीस और एक बार केवल साढ़े पाँच सेन्ट थे जिस पर वह व्यथा और आत्मग्लानि से खूब रोई थी। लेकिन उन लोगों का वह साल बुरा बीता था। पिछली बार पाँच फ्रैंक का गोल सिक्का पाकर वह संतोष के साथ खूब हँसा था।

वह केवल उसी के बारे में सोचती थी; और शूके काफ़ी उद्विग्नता के साथ उसके लौटने की प्रतीक्षा करता। जब वह दौड़ कर उससे मिलने आता तो लड़की का मन प्रसन्नता से उछलने लगता था।

तब अचानक वह गायब हो गया। उसे कालेज में पढ़ने के लिए बाहर भेज दिया गया। बड़ी कुशलता के साथ प्रश्न कर कर के उसने यह पता लगा लिया। तब उसने चातुरी से काम लेते हुए अपने माँ-बाप की यात्रा का क्रम इस प्रकार बदलवा दिया कि उन लोगों को छुट्टियों के दिनों में उधर से निकलना पड़ता था। इसमें वह एक वर्ष सफल रही; फिर दो साल वह उसे न देख सकी। इसके बाद जब उसने शूके को देखा तो वह इतना बदल गया था कि वह उसे पहचान भी मुश्किल से सकी। पीतल के बटनों वाला कोट पहने वह बहुत बड़ा, सुन्दर और प्रभावशाली लग रहा था। वह ऐसा बन गया मानो उसे देखा ही न हो और बड़े घमण्ड के साथ उसके पास से निकल गया।

इस पर वह दो दिन तक रोती रही और इसके बाद भी निरन्तर व्यथा सहती रही।

हर साल वह यहाँ लौट आती थी किन्तु साधारण शिष्टाचार के नाते उस युवक के सामने झुकने तक का साहस न कर पाने के कारण वह चुपचाप पास से निकल जाती थी और शूके उसकी ओर आँखें उठा कर देखता न भी था। वह उससे बेहद प्रेम करती थी। मुझसे उसने कहा "डाक्टर! धरती पर केवल वही आदमी मैंने देखा है; मैं नहीं जानती कि उसके अतिरिक्त दूसरे लोग भी हैं।"

उसके माँ-बाप मर गए। उसने उनका व्यापार ज़ारी रक्खा, लेकिन एक कुत्ते की जगह दो कुत्ते पाल लिए; दो भयंकर कुत्ते, जिनका सामना करने का साहस कोई नहीं कर सकता था।

एक दिन इस गाँव में—जहाँ उसका हृदय अब भी बसा था—आने पर उसने शूके की दूकान से एक नवयुवती को अपने प्रियतम की बाँह का सहारा लेकर निकलते देखा। वह उसकी पत्नी थी। उसका विवाह हो चुका था।

उसी शाम को वह नगर के अध्यक्ष के तालाब में कूद पड़ी। एक शराबी ने उसे निकाल लिया और औषधालय में ले गया। शूके रात को पहनने के कपड़े पहने हुए उसकी देखभाल करने के लिए नीचे आया। उसने बिना परिचय का आभास दिए उसके कपड़े ढीले किए और उसे चेतन करने के लिए उसके शरीर को रगड़ने लगा। तदनन्तर कठोर स्वर में बोला "उफ़! तुम सचमुच मूर्ख हो! यह जरूरी नहीं है कि तुम इस प्रकार जंगलीपन दिखाओ!"

यह उसके उपचार के लिए काफ़ी था। उसने उससे बात की! वह लम्बे अर्से तक प्रसन्न रही।

शूके अपनी सेवा के बदले रुपए नहीं चाहता था, किन्तु उसने अच्छी तरह रुपए देने की हठ की। और इसी प्रकार उसका सारा जीवन बीत गया। वह कुर्सियों के आसन बनाती थी और शूके के बारे में सोचती रहती

¶ फ्रान्सीसी सिक्का

थी। हर साल वह उसे अपनी बड़ी बड़ी खिड़कियों के पीछे खड़ा देखती थी। वह नियम-पूर्वक अपनी सारी दवाइयाँ उसी से ख़रीदती थी। इस तरह से वह उसे पास से देख सकती थी, उससे बात कर सकती थी और उसे कुछ रुपया भी दे सकती थी।

जैसा कि मैं शुरू में ही कह चुका हूँ, वह इस बसन्त में मर गई। अपना करुण इतिहास बता देने के बाद उसने मुझसे यह प्रार्थना की कि मैं उसे—जिसे उसने इतने धैर्य के साथ प्यार किया था—उसका बचाया हुआ सारा धन सौंप दूँ; क्योंकि वह सिर्फ़ उसी के लिए काम करती रही थी। उसने कहा कि उपवास कर कर के भी उसने धन जोड़ा जिससे उसके मरने के बाद कम से कम एक बार वह निश्चित रूप से उसके बारे में सोचे। तब उसने मुझे दो हज़ार तीन सौ सत्ताईस फ्रैंक दिए। मैंने उसे मरने के बाद सत्ताईस फ्रैंक पादरी को उसके अन्तिम संस्कार के लिए दे दिए और बाक़ी लेकर चला आया।

दूसरे दिन मैं शूके के घर गया। शूके और उसकी पत्नी ने उसी समय जलपान समाप्त किया था। वे दोनों एक दूसरे के सामने बैठे थे और उनके लाल लाल स्वस्थ शरीर से दवाइयों की महक आ रही थी। वे स्वयं को बहुत महत्व देते हुए संतुष्ट थे।

उन्होंने मुझसे बैठने को कहा और शराब पीने को दी, जो मैंने स्वीकार कर ली। तब मैंने बड़ी भावुकता के साथ अपनी बात शुरू की, इस विश्वास के साथ कि सुन कर वे रो पड़ेंगे।

जब शूके की समझ में आया कि एक इधर उधर भटकती हुई घुमक्कड़ कुर्सी बनाने वाली उससे प्रेम करती थी तो वह घृणा और क्रोध के कारण उछल पड़ा मानो उस स्त्री ने उसकी ख्याति, प्रतिष्ठा, भले लोगों की उसके प्रति आदर और सम्मान की भावना, तथा उसके मन में प्राणों से भी प्यारी जो कोमलता की धारणा थी, सब चुरा ली हो।

क्रोध के कारण दूसरा कोई शब्द पाने में असमर्थ उसकी पत्नी "वह भिखारिन! वह भिखारिन! वह भिखारिन!" दोहराती रही।

वह उठ कर लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ मेज़ के चारों तरफ़ घूमने लगा। उसकी यूनानी टोपी कान के ऊपर तक खिसक गई। वह बड़बड़ाया:

"इसके बारे में सोचिए तो डाक्टर! किसी भी व्यक्ति के लिए यह बड़ी भयंकर बात है। क्या किया जाए? ओह! यदि यह मुझे तभी पता चल जाता जब वह जीवित थी तो मैं उसे क़ैद करवा कर जेल में बन्द करा देता! और वह कभी बाहर न निकल पाती यह मैं आपको बताए देता हूँ।"

मैं अपने पवित्र कार्य का परिणाम देख कर भौंचक्का सा रह गया। मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या कहूँ या क्या न कहूँ। लेकिन मुझे अपने प्रेषित कार्य की पूर्ति करनी ही थी।

मैंने कहा, "आपको अपनी सारी बचत—दो हज़ार तीन सौ फ्रैंक देने का काम उसने मुझ को सौंपा था लेकिन जो कुछ मैंने आपको बताया वह आपको इतना अप्रिय लगा कि शायद यह रुपया ग़रीबों को दे देना ही अधिक ठीक होगा।"

वे, स्त्री और पुरुष दोनों इस आघात से सुन्न होकर मेरी ओर ताकने लगे। मैंने अपनी जेब से सिक्के निकाल लिए। सोने और चाँदी की तरह तरह की छाप के देश भर में घूम-घूम कर इकट्ठे किए हुए अभागे सिक्के।

तब मैंने पूछा "आप क्या तय करते हैं?"

श्रीमती शूके ही पहले बोलीं। उन्होंने कहा: "लेकिन जब कि यह उस औरत की अन्तिम इच्छा थी तो मुझे जान पड़ता है कि इसे अस्वीकार कर देना बड़ा कठिन होगा।"

उसके पति ने कुछ उलझन के साथ उत्तर दिया, "उस रुपए से हम लोग अपने बच्चों के लिए कभी भी कुछ खरीद सकते हैं।"

मैंने रूखे स्वर में कहा: "जैसी आपकी इच्छा।"

उसने आगे कहा: "हाँ, जब उसने वह रुपया आपको सौंपा था तो आप उसे हम लोगों को देते जाइए। हम लोग उसके सदुपयोग के लिए कोई अच्छा काम खोज लेंगे।"

मैंने रुपया रख दिया; झुक कर नमस्ते की और बाहर चला गया।

दूसरे दिन शूके मेरे पास आया और बड़ी अभद्रता के साथ कहने लगा: "वह यहाँ एक घोड़ा गाड़ी भी छोड़ गई होगी...वह...वह औरत! आप उस गाड़ी का क्या करेंगे?"

"कुछ नहीं। आप चाहें तो ले जाइए" मैंने कहा।

"बिलकुल! उस चीज़ की मुझे ज़रूरत है। मैं रसोई के स्टोव के ऊपर उससे साया करूँगा।"

वह जा रहा था लेकिन मैंने उसे पुकार कर कहा, "वह एक बूढ़ा घोड़ा और दो कुत्ते भी छोड़ गई है। आप लेंगे?"

वह आश्चर्य चकित-सा रुक गया।

"अरे नहीं" उसने उत्तर दिया: "मैं उनका क्या करूँगा? उन्हें आप जिसे चाहिए दे डालिए।"

उसने हँस कर मेरी तरफ़ हाथ बढ़ाया जिसे मैंने अपने हाथ में थाम लिया। मैं और कर भी क्या सकता था? हमारे देश में डाक्टर और औषधि-विक्रेता शत्रु बन कर नहीं रह सकते।

कुत्ते मैंने अपने घर रख लिए हैं। पादरी ने—जिसका आँगन खूब बड़ा है—घोड़ा ले लिया है। गाड़ी शूके के लिए कोठरी का काम देती है। और रुपयों से उसने रेल की पटरी के पाँच बाँड ले लिए हैं।

अपने इस जीवन में केवल यही एक गहरा प्रेम है जिसके सम्पर्क में मैं आया हूँ।"

डाक्टर चुप हो गया। तब मारकी ने आँखों में आँसू भर कर ठण्डी सांस लेते हुए कहा: "निश्चित रूप से केवल स्त्रियाँ ही जानती हैं कि प्रेम कैसे करना चाहिए।"

— गाय-द-मोपासां
अनु: शान्ति मेहरोत्रा

२० ए. घोष बिल्डिंग्स,
टैगोर टाउन, इलाहाबाद

फांसी को देखने का शौक़

किंग ऐडवर्ड सप्तम जब प्रिन्स आफ वेल्स थे उस समय उन्हें एक बार विदेशों के सम्भ्रान्त और प्रतिष्ठित अतिथियों के सत्कार करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में ईरान के शाह पधारे और उनका अतिथि-सत्कार भी उन्होंने ही किया।

ईरान के शाह की फाँसी की सज़ा में अत्यधिक अभिरुचि थी। उनको इंग्लैण्ड के जेलखाने में एक प्रकार की फाँसी दिखलाई गई जिसके विषय में कहा गया कि यह फाँसी बिलकुल नए प्रकार की है। ईरान के शाह ने फ़रमाया कि वे इस नए प्रकार की फाँसी को कार्यरूप में देखना चाहते हैं।

जब उन्होंने इसके लिए आग्रह किया तो उन्हें सूचना दी गई कि इस समय जेल में एक भी अपराधी इस प्रकार का नहीं है जिसे कि फाँसी की सज़ा दी जा सके।

इस पर ईरान के शाह ने फ़रमाया: "यदि आपके यहां कोई अपराधी नहीं है तो कोई बात नहीं। मेरे साथ बहुत-से अपराधी ईरान से आए हैं। आप इन्हीं में से किसी एक को फांसी पर लटका दीजिए। मैं देखना चाहता हूँ कि यह नए प्रकार की फांसी किस प्रकार की होती है।"

—'इंगलिश डाइजेस्ट' से

भारतीय पत्रकारिता के निर्माता

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और श्री बालकृष्ण भट्ट

(५)

हिन्दी-पत्रकारिता का प्रारम्भ ही अन्य भाषाओं की पत्रकारिता की तुलना में काफ़ी विलम्ब से हुआ। यद्यपि हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' एक साप्ताहिक के रूप में सन् १६२६ में ही प्रकाशित हुआ था, फिर भी 'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः' के सिद्धान्तानुसार उसके द्वारा संजोई हुई पूँजी, शीघ्र ही समाप्त हो जाने के कारण उसे अपना प्रकाशन अति शीघ्र ही स्थगित कर देना पड़ा। यह पत्र पुस्तकाकार में कलकत्ता से श्री मन्ना ठाकुर द्वारा प्रकाशित और श्री युगलकिशोर शुक्ल द्वारा सम्पादित था। सन् १८२६ के फरवरी माह की ६ तारीख़ को इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और सन् १८२७ के दिसम्बर की १५ तारीख़ को पत्र बन्द हो गया। उस समय इस पत्र के अन्तिम अंक में लिखा एक वाक्य हम यहाँ उद्धृत करते हैं, ताकि हिन्दी-पत्रकारिता को जन्म से ही किस भाँति की परिस्थिति का सामना करना पड़ा इसका पाठकों को कुछ आभास हो जाएगा। उसमें लिखा था : "स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहाँ तक बनजिए ?"

'उदन्त मार्तण्ड' के बाद यद्यपि हिन्दी में कतिपय पत्र निकले, तथापि उन्हें हिन्दी पत्रकारिता के निर्माण का श्रेय नहीं दिया जा सकता। चूँकि उस समय देश में अंग्रेज़ों का शासन चलता था; स्वभावतः ही इस काल के पत्रकारों को अपने पत्र में अंग्रेज़ी का भी कुछ अंश रखने की इच्छा हो ही जाती थी। बंगला और मराठी के पत्र भी इस धारणा के लिए अपवाद नहीं थे। वही हाल हिन्दी का रहा। किन्तु हिन्दी पत्रकारिता के मार्ग में सबसे अधिक बाधा अगर कुछ थी, तो वह थी उर्दू भाषा का प्रसार और उसे प्राप्त शासकीय समर्थन। यही कारण था, कि विशुद्धरूप से हिन्दी का पत्र निकलने के लिए उन दिनों के पत्रकारों को और तीस चालीस वर्ष तक अविराम संघर्ष करना पड़ा। विशुद्ध हिन्दी पत्रकारिता का प्रारम्भ सन् १८६७ में हुआ। और उसे प्रारम्भ करने का अग्रमान प्राप्त है श्रीयुत भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को, जिन्होंने पुण्यक्षेत्र काशी नगरी में, हिन्दी पत्रकारिता में अपना नाम उज्ज्वल की गई मासिक पत्रिका 'कवि वचन सुधा' प्रारम्भ की।

हिन्दी पत्रकारिता दो हिस्सों में प्रारम्भ हुई। एक हिस्सा बंगाल जैसे अहिन्दी भाषी प्रान्त में प्रारम्भ हुआ और हिन्दी का वहाँ कोई विरोधी न होने के कारण वह खूब पनपा भी। किन्तु दूसरा हिस्सा, जिसे वास्तव में हिन्दी-पत्रकारिता का आधार कहना चाहिए। इस प्रदेश में हिन्दी-पत्रकारिता को उर्दू पत्रकारिता से कड़ा मुकाबला करना पड़ा और यदि यह कहा जाए कि हिन्दी प्रान्त में हिन्दी-पत्रकारिता को एक एक इंच भूमि के लिए उर्दू से लड़ना पड़ा तो उसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उर्दू का मानो वहाँ साम्राज्य सा फैल गया था। और तो और, अंग्रेज़ों ने भी उर्दू और फ़ारसी को न्यायालय के कामकाज की भाषा घोषित कर हिन्दी की न केवल उपेक्षा, अपितु अवहेलना भी की थी। हिन्दी को इस अन्याय के निवारणार्थ बहुत परिश्रम करना पड़ा और उस परिश्रम के प्रेरणा स्रोत थे श्रीयुत हरिश्चन्द्र जी। अच्छे-अच्छे ख़ानदानी पंडित लोग भी तब उर्दू में ही लिखना पढ़ना पसन्द करते थे। यहाँ तक कि हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों की भी उर्दू प्रतिलिपियाँ निकली थीं और बादशाह दशरथ शाहज़ादा राम और बेगम कौशल्या तथा शहाज़ादी सीता जैसे शब्द-प्रयोग पंडितों के मुख से सुनने को मिलते थे। आज जिस प्रकार अंग्रेज़ी को ही सार सर्वस्व मानने वाले व्यक्ति दिखाई देते हैं, उसी प्रकार उन दिनों उर्दू और फ़ारसी भाषाओं को लहजेदार और प्रभावी भाषा माना जाता था। ऐसे टेढ़े समय में हिन्दी पत्रकारिता की ओर उसके मिस हिन्दी साहित्य की प्राण प्रतिष्ठा करने में योजना पूर्वक जुट गए दो व्यक्ति थे, श्रीयुत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट।

इन दोनों का कार्य यद्यपि हिन्दी-पत्रकारिता के माध्यम से हिन्दी को सुप्रतिष्ठित करना था, तथापि बारीकी से देखने तथा उनके कार्यों का सूक्ष्म अध्ययन

करने पर हमें साफ़ दिखाई देता है कि भारतेन्दु जी और भट्ट जी के कार्यों की प्रकृति कुछ भिन्न प्रकार की थी। भारतेन्दु जी ने अपने लेखन के द्वारा यह प्रयास किया कि जनता को हिन्दी के प्रति आकर्षण प्रतीत हो, जब कि भट्ट जी ने हिन्दी की उपेक्षा के प्रति अपना प्रोटेस्ट व्यक्त करने और शासकों के कुकृत्यों के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए हिन्दी को ही अपना माध्यम बना कर भारत में, भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में राजनीतिक पत्रकारिता के अध्याय का शुभारम्भ किया। इस दृष्टि से भारतेन्दु जी को हिन्दी पत्रकारिता में राजनीति का पाठ देने वाला एक शिक्षक पत्रकार कहना होगा।

भारतेन्दु जी को हमने हिन्दी पत्रकारिता का उद्गाता कहा है। उसके कई कारण हैं। हिन्दी साहित्य में तो उन्होंने एक युग का निर्माण किया और उनके नाम से हिन्दी साहित्य के इतिहास में जाना भी जाता है, किन्तु पत्रकारिता में भी उन्होंने एक युग के निर्माण का काम किया। सन् १८५७ की जनक्रान्ति असफल हो गई थी और जनता में अपना अज्ञान दूर करने और संसार के समाचारों की जानकारी लेने की प्यास बलवती हो चली थी। ऐसे समय भारतेन्दु जी ने जनता की खड़ी बोली में जिसमें न तो निरी उर्दू थी न केवल संस्कृत ही, "कवि वचन सुधा" पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ कर जनता को अप्रकाशित कविताओं के रूप में हिन्दी पाठ पढ़ाना प्रारम्भ किया और उस माध्यम के द्वारा उनके ज्ञान में वृद्धि करने का संकल्प किया। किन्तु वे इस प्रकार केवल कविताओं की पत्रिका निकाल कर ही भला कब सन्तुष्ट होने वाले थे? उन्होंने उसके बाद "हरिश्चन्द्र मासिक पत्रिका" और उसके भी कुछ दिन बाद "चन्द्रिका" पत्रिकाएँ निकाली।

"कवि वचन सुधा" की भाषा उन दिनों के विद्वानों ने हिन्दी-उर्दू विवाद के अच्छे समझौते के रूप में स्वीकार कर ली। उसकी भाषा लोगों को इतनी पसन्द आई कि उन्होंने व्यवहार में, बोलचाल में और लिखने पढ़ने में उसी भाषा का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। यह पत्रिका इतने श्रेष्ठ साहित्य का सृजन करती थी, कि उसके माध्यम से हिन्दी को ही एक प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। "कवि वचन सुधा" यद्यपि साहित्यिक पत्रिका थी, फिर भी उसके कारण हिन्दी पत्रकारिता का भी मस्तक उन्नत हुआ। यदि यह कहा जाए, कि उन दिनों हिन्दी पत्रकारिता का विकास भारतेन्दु जी की पत्रकारिता के सुफलों का विकास ही कहला सकती थी, तो उसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उस जमाने के सभी पत्रकारों ने भारतेन्दु के "कवि वचन सुधा" के माध्यम से ही पत्रकारिता की शिक्षा ग्रहण की। 'कवि वचन सुधा' में उन दिनों के गद्य का सर्वश्रेष्ठ नमूना थी। अपनी कार्यव्यस्तता के कारण भारतेन्दु जी उसकी ओर आवश्यकतानुसार ध्यान नहीं दे पाते थे। परन्तु फिर भी सन् १८७३ में "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" का प्रारम्भ होने तक 'कवि वचन सुधा' ने हिन्दी पत्रकारिता और भाषा के अत्यन्त सुदृढ़ आधार के रूप में अपना कार्य सुयोग्यता के साथ निभाया।

आज जिस प्रकार अंग्रेज़ी के विरुद्ध हिन्दी का विवाद चल पड़ा है, उसी प्रकार उन दिनों फ़ारसी लिपि और देवनागरी लिपि की ग्राह्याग्राह्यता के बारे में विवाद चल पड़ा था और इन दो भाषाओं तथा लिपियों के बारे में जहाँ तहाँ चर्चाएँ सुनाई देती थीं। उन दिनों के अख़बारों में इस विषय को लेकर लम्बे-लम्बे लेख प्रकाशित होते थे। शिक्षा विभाग के अधिकारी और अधिकांश अंग्रेज़ जन उर्दू की परम्परा में पले थे और फलस्वरूप वे हिन्दी के प्रबल विरोधी थे। परन्तु भारतेन्दु और उनके अनुयायी लेखकों के प्रयासों का ही फल था कि उनके द्वारा प्रकाशित साहित्य ने आलोचकों का मुँह बन्द कर दिया और हिन्दी को उन क्षेत्रों में भी मान्यता मिलने लगी, जहाँ कि उसका सबसे अधिक विरोध किया जाता रहा था। जिस किसी ने हरिश्चन्द्र जी के इन तीन पत्रों में से किसी एक को भी पढ़ लिया, वह शेष दो पत्रों को भी पढ़ने की इच्छा करता और उनको पढ़ लेने पर सदा के लिए तीनों पत्रों का ग्राहक बन जाता था। इसीलिए हम भारतेन्दु जी को हिन्दी पत्रकारिता का उद्गाता कहते हैं। उन्होंने हिन्दी के लिए, हिन्दी-पत्रकारिता के लिए ठीक वही काम किया, जो बंगला भाषा और उसकी पत्रकारिता के लिए राजा राममोहन राय ने किया था।

श्री बालकृष्ण भट्ट के कार्य का मूल्यांकन करते समय भी हमें हिन्दी भाषी प्रदेश में उर्दू को प्राप्त इस महत्ता का ध्यान अवश्य रखना होगा। भारतेन्दु जी के महनीय प्रयासों के कारण हिन्दी-पत्रकारिता ने गद्य

लेखन को जन्म दिया था। उन्होंने हिन्दी को मान्यता प्राप्त कराई थी। फलतः सर्वत्र लोग हरिश्चन्द्र जी की हिन्दी को अपनाने लगे थे और उनके हाथों उन्हें हिन्दी भाषा विषयक अपना नेतृत्व सुरक्षित भी प्रतीत होने लगा था। फिर भी इसकी प्रतिक्रिया उर्दू के उपासकों और भक्तगणों में बहुत तेज़ी से होने लगी थी और उन्होंने हिन्दी के समर्थकों को जी भर कोसना और उनकी हीनता का प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया था। हिन्दी के पीछे जो लोग थे, उनसे सर्वथा भिन्न धर्म भावना रखने वाले मुसलमान लोग तो उर्दू के पीछे थे ही, किन्तु जैसा कि हम ऊपर एक स्थान पर बता चुके हैं, हिन्दू लोग भी उर्दू का समर्थन करते नहीं अघाते थे। उर्दू के समर्थकों को शासकीय समर्थन पहले से ही प्राप्त था। ऐसी हालत में हिन्दी की रक्षा और अविराम प्रसार के लिए जिन दूरदर्शी पत्रकारों ने धर्माधिष्ठित पत्रकारिता को प्रश्रय दिया, उनमें श्री बालकृष्ण भट्ट का नाम बहुत ऊँचा स्थान रखता है।

हरिश्चन्द्र-युग की खड़ी बोली को लेकर ही उन्होंने सन् १८७७ में "हिन्दी प्रदीप" नामक मासिक पत्र निकाला। उन दिनों पत्र निकालना एक फ़ैशन सा हो गया था। जो भी थोड़ा बहुत धनी मानी हो, वह अपना एक पत्र चलाने की इच्छा करने और उस पत्र के पीछे अपना सब कुछ लुटाने के लिए तैयार दिखाई देता था। पत्रकारिता के क्षेत्र में पत्रों की जब इस प्रकार एक बाढ़ सी आ गई थी, तब यथार्थ में भारतीय पत्रकारिता का समयोचित मार्गदर्शन कर उसे देश और समय के अनुकूल बनाने का महान् कार्य श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट ने किया। मन में इस प्रकार का श्रेष्ठ उद्देश्य रख कर उन्होंने "हिन्दी प्रदीप" का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आगे चल कर सन् १८८५ में भारतेन्दु जी के इस असार संसार से चले जाने के बाद, हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी गद्य दोनों को नए परिवर्तनों के साथ उन्नति के शिखर पर ले जाने का प्रयास करने वालों का नेतृत्व पर्दे के पीछे रह कर करने वाला पत्रकार हमने श्रीयुत भट्ट जी के रूप में पाया था।

श्रीयुत भट्ट जी की पत्रकारिता की विशेषताओं का अध्ययन करते समय हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि उस समय धर्माधिष्ठित पत्रकारिता चल पड़ी थी। आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द जी की प्रेरणा से आर्यसमाज के अनेक नियतकालिक पत्र और पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। इन सब पत्रों ने श्रीयुत हरिश्चन्द्र जी की हिन्दी की उपेक्षा कर बिलकुल ही चलती-हिन्दी का प्रयोग करना प्रारम्भ किया था। श्रीयुत हरिश्चन्द्र की साहित्यिक हिन्दी एकदम दूर रख कर, उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में अत्यधिक बोलचाल की हिन्दी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ था कि उनके पत्र साहित्यिक पत्र पत्रिकाओं की अपेक्षा अधिक बिकने लग गए थे। इन पत्र पत्रिकाओं का अत्यधिक प्रसार होना पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रतियोगिता को पैदा करने लग गया और परिणामस्वरूप सभी पत्रों ने आर्य समाजी ढंग की हिन्दी को अपना लिया। यह हिन्दी ऐसी थी, कि जो अत्यधिक भावस्पर्शी होकर भी साहित्यिक अलंकारों से एकदम अछूती थी। सही शब्द प्रयोग करना या व्याकरण के नियमों का पालन करना उसके लिए बन्धनकारी नहीं था। ऐसे ज़माने में धर्माधिष्ठित पत्रकारिता का सहयोगी न बन कर श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी को एकदम ही चलतू बनने से बचा लिया। यद्यपि यह सत्य है कि स्वामी दयानन्द के धर्म प्रचार के कारण चले पत्रों ने भारतीय पत्रकारिता में एक नया मोड़ लाया और हिन्दी-पत्रकारिता के विकास के अध्याय में एक महत्वपूर्ण परिशिष्ट जोड़ दिया। पर हिन्दी-पत्रकारिता के स्तर को चलती-हिन्दी से बचा कर साहित्यिक हिन्दी के मार्ग में ही अग्रसर करने का अति दुर्धर कार्य करने का श्रेय श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट को ही है।

इस कार्य को हम दुर्धर इसलिए कह रहे हैं, क्योंकि साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करते हुए भी श्रीयुत भट्ट जी ने "हिन्दी प्रदीप" को ऐसी सामग्री से सजाया था, कि प्रचारात्मक पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में "हिन्दी प्रदीप" ने भी काफ़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। आर्य समाज द्वारा संचालित पत्र पत्रिकाओं की संख्या काफ़ी थी और यह नहीं कि उनमें केवल ऐसा-वैसा साहित्य ही प्रकाशित होता था, किन्तु उनका अपना निराला और सामयिक महत्व भी था। पत्रकारिता या साहित्य दोनों में किसी प्रकार की मौलिक वृद्धि करने में वे पत्र-पत्रिकाएँ समर्थ नहीं हो पाईं, न ही वे उस उद्देश्य से निकाली गई थीं। ऐसी अवस्था में कुछ भिन्न स्तर [illegible] पत्र चलाना और वह भी इस कुशलता के साथ कि

अन्य तड़क-भड़क वाले पत्रों के ज़माने में केवल उनके समान ही नहीं, अपितु शायद उनसे भी अधिक लोकप्रिय कर दिखाना एक टेढ़ी खीर नहीं, तो और क्या हो सकता है ? किन्तु यह तो श्रीयुत भट्ट जी की ही हस्ती थी कि उन्होंने इस टेढ़े और कठिन किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न किया। श्रीयुत बालकृष्ण के प्रयास इसीलिए हिन्दी-पत्रकारिता के विकास की एक अमर कहानी हैं।

यह महान् प्रयास करते समय, हिन्दी के माध्यम से भारतीय पत्रकारिता के यशोमन्दिर की नींव में एक अति सुदृढ़ पत्थर रखते समय, उन्हें कितनी सूझ बूझ और दूरदर्शिता से काम लेना पड़ा होगा ! भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्राप्त विरासत को आगामी पत्रकारों के हाथों में सुरक्षित पहुँचाने में उन्हें कितनी असाधारण सम्पादन-कुशलता का परिचय देना पड़ा होगा ? श्रीयुत बालकृष्ण ने उस अनिश्चितता के समय में "हिन्दी प्रदीप" का सम्पादन कर हिन्दी पत्रकारिता के नाम को उज्ज्वल तो किया ही, साथ ही उन्होंने भारतीय सम्पादकों और पत्रकारों के लिए मौलिक मान्यताओं की रूपरेखाओं को भी निश्चित कर दिया।

श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट यह भली भाँति जान गए थे, कि उर्दू से यदि टक्कर लेनी हो, तो हमें हिन्दी-पत्रकारिता में एक ऐसे उपक्रम को प्रारम्भ करना होगा, जो उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में अभी तक एकदम अज्ञात हो। अपनी इसी अन्तर्भावना के कारण उन्होंने श्रीयुत हरिश्चन्द्र के पदचिह्नों पर चल कर "हिन्दी प्रदीप" में उपन्यास, निबन्ध, नाटक, रसशास्त्र और प्राचीन कवि और उनके काव्य आदि विविध विषयों पर पाठकों को मनोरंजक और ज्ञानवर्धिनी जानकारी देना प्रारम्भ किया। उर्दू पत्रकारिता इस उपक्रम से एकदम अनभिज्ञ थी, फलतः वह श्रीयुत भट्ट जी द्वारा दी गई इस शह से मात खा गई और हिन्दी के पाठक पाठिकाओं की रुचि पुनः एक बार साहित्यिक हिन्दी की ओर मुड़ी, जिसका परिणाम हिन्दी पत्रकारिता को भारतीय पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त होने में हुआ। श्रीयुत भारतेन्दु जी ने "कवि वचन सुधा" में "कुछ आप बीती कुछ जग बीती" शीर्षक एक उपन्यास प्रारम्भ किया था, किन्तु वे उसे पूरा नहीं कर पाए। श्रीयुत बालकृष्ण जी ने "हिन्दी प्रदीप" में "पढ़े लिखे बेकार की नक़ल" शीर्षक एक दीर्घ कथा लिखी और हिन्दी में प्रदीर्घ कथा लेखन को प्रेरणा प्रदान की।

"हिन्दी प्रदीप" के इस उपक्रम को जनता ने इतना अधिक पसन्द किया, कि धीरे धीरे अन्यान्य पत्रिकाओं ने भी उसे अपनाया और फिर तो प्रायः सभी पत्र पत्रिकाओं में इस तरह की विविध साहित्यिक सामग्री प्रकाशित होने लगी। किन्तु जो मौलिकता लिए आता है, उसकी तो संसार में प्रतिष्ठा हो कर ही रहती है। श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट ने "हिन्दी प्रदीप" में बंगला भाषा के श्रेष्ठ उपन्यासों को हिन्दी में अनूदित कर पत्रकारिता को संकीर्ण दृष्टिकोण से बचा कर उसे व्यापक बनाया। क्योंकि बंगला की पत्रकारिता तब हिन्दी से काफ़ी कुछ पुरानी और इसीलिए कुछ अधिक अनुभवी भी हो चुकी थी; बालकृष्ण भट्ट ने उसका अनुकरण करने में किसी प्रकार की अवमानना का अनुभव नहीं किया। हमारा तो यही विचार है कि श्रीयुत बालकृष्णजी का यह प्रयास, आज के ज़माने में अन्यान्य भाषाओं का साहित्य हिन्दी में अनूदित करने की जो राष्ट्रीय आवश्यकता अनुभव की जा रही है, उसका आज से पौन सौ वर्ष पूर्व किया गया शिलान्यास है।

इस प्रकार साहित्य के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को क्रमशः अधिकाधिक उन्नत करते समय, श्रीयुत बालकृष्ण जी और उनसे पूर्व कुछ अंशों में भारतेन्दु जी ने यह नहीं भुलाया था, कि पत्रकारों को वर्तमान समय की घटनाओं के प्रति सदैव सजग और सतर्क रहना चाहिए। अतः उन्होंने काव्य और साहित्य के माध्यम से ही प्रतिदिन की घटनाओं और उनके प्रति जनता की भावनाओं का चित्रण अपने पत्रों में किया और इसीलिए उनके पत्र लोकप्रिय बनते गए।

इस प्रकार हम देखते है कि भारतीय पत्रकारिता के यशोमन्दिर की नींव रखने में हिन्दी के क्षेत्र में श्रीयुत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी और श्रीयुत बालकृष्ण भट्ट जी ने महत्वपूर्ण योगदान किया है।

काबले का बाडा मस्कासाथ,
इतवारी नागपुर—२

—मोरेश्वर तपस्वी "अथक"

जिगर मुरादाबादी : एक झलक

सैयद सुलेमान निदवी के शब्दों में जिगर शायर है, मगर कैसा शायर ? तनाह (अकेला) शायर बल्कि हया शायर। इनका तर्ज़ आबनाए ज़माना के तर्ज़ से अलग, लखनऊ और देहली दोनों हुकूमतों से आज़ाद। मौज़ूँ अलफ़ाज़ और दिलकश तरकीबों के बावजूद बेसाख़्तगी और आमद से मामूर, हर तक़ल्लुफ़ ताआमुक और आउर्द से पाक, तिलिस्मे अलफ़ाज़ से ख़यालात की एक दुनिया बना कर खड़ी कर देने वाला...?'' जैसा कि ज़िगर ने स्वयं अपनी शायरी के बारे में एक स्थान पर लिखा है : ''मुझे अपने साहित्य एवं काव्य पर सबसे बड़ा गर्व यह है कि मेरे जीवन और मेरी कविता में बिलकुल सामञ्जस्य है—भेद नहीं।...'' उन्होंने जैसा देखा है और जैसा अनुभव किया है वैसा ही लिखा है। उनका साहित्य उनका जीवन है और उनकी रामकहानी है। वे न तो अन्य नुमाइशी साहित्यकारों की तरह बिजली के पंखे और खस की टट्टियों में बैठ कर गर्मी से तपती हुई सड़क पर बैठी हुई भिखारिन का नक़्शा लिखने वालों में से है और न ही इस तरह का दोहरापन आप पसन्द करते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि जिगर के काव्य में शराब ने एक बहुत बड़ा पार्ट अदा किया है लेकिन उन के लिए केवल शराब शराब ही नहीं है। जैसा कि आपकी बिलकुल नवीनतम रचना 'आतिशे गुल' की भूमका में प्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीक़ी ने लिखा है—''मेरा विचार है कि जिगर की कविता से शराब को जितना लाभ पहुँचा है उतना शराब से ज़िगर की कविता को नहीं पहुँचा। जिस प्रकार आज कल के सिपाही शराब पी कर फ़ौजी बाजों की गत पर लड़ाई में मरने जाते हैं। वास्तव में व्यक्तित्व शराब होती है जहाँ से कविता नशा बन कर निकलती है...'' शराब नशा नहीं पैदा करती, नशा शराब पैदा करता है. जिगर को जिन्होंने हर हाल में देखा है और पाया है उनका कहना है कि वह हमेशा जिगर रहे हैं कोई भी क्षणिक घटना उन पर प्रभाव नहीं डाल पाई है।

जिगर ने पहले रोमांटिक ही लिखा जैसा कि ज़ाहिर है कि वह साहित्य उनकी नौजवानी का है और शुरु शुरु में ही उन्होंने अन्त की बात कही है जो सदा अटल सत्य बन कर रही और रहेगी :

''जिगर का हाथ होगा हश्र में और दामने हज़रत
शिकायत हो कि शिकवा, जो भी होगा बरमला होगा''

और यही नहीं बल्कि कभी कभी तो उन्होंने यह भी अनुभव किया कि :

''जज़्ब-ए-शौक़ कामयाब हुआ
आज मुझसे उन्हें हिजाब[1] हुआ''

या :

''इश्क़ क्या है ? परतौ-ए[2] हुस्ने-तमाम
शौक़ क्या है ? हुस्न का अक़्से-शबाब''

लेकिन इश्क़, हुस्न और शबाब में डूबते हुए भी जिगर ने चुनौती दी :

''मुख़तसर है शरह-ए हस्ती ऐ जिगर
ज़िन्दगी है ख़्वाबे अजल, ताबीरे-ख़्वाब''

फिर जब 'दिल बन गया निगाह, निगाह बन गई जवां' तब बस एक ही कसर रह गई जो शायद जिगर के बस की थी :

''मिरा कमाले-शेर बस इतना है ऐ जिगर
वह मुझ पे छा गए मैं ज़माने पे छा गया''

और आज जिगर ज़माने के हर दिल पर अपना राज्य कर रहे हैं। जादू हो रहा है लोगों पर और जादू हुए जा रहा है। उन्हीं के शब्दों में :

''कोई जीता कोई मरता रहा
इश्क़ अपना काम करता रहा''

जिगर साहब कवि हैं, जादूगर हैं, अपने प्यारों के लिए स्वयं इश्क़ बन गए हैं। और ये तो तब है जब

---

[1] पर्दा [2] प्रतिबिम्ब

आपने उन्हें देखा नहीं, उनसे बात नहीं की है और यदि नौबत यहाँ तक आ गई तो वह भी ख़त्म... । लोगों की आम शिकायत है कि जिगर साहब के पास समय की पाबन्दी बाँध कर कभी नहीं जा सकते। पाँच मिनट के लिए जाइए तो यदि एक घण्टे में भी वापस आए तो बहुत जल्दी आए। बातों में, चुटकुलों में आप ऐसे बँध जाएँगे कि आपके पास सिवाए जिगर के पास बैठे रहने के और कोई काम ही नहीं रह जाएगा।

युग के परिवर्तनों के साथ ही जिगर में भी परिवर्तन आता जा रहा है। जब कोई सुन लेता है कि जिगर शराब नहीं पीते, सिगरेट नहीं पीते, तो दंग रह जाता है और सोचता है इस सबके बिना वह रहते कैसे होंगे... लिखते किस प्रकार होंगे... पर जिगर बिलकुल वैसे ही हैं जैसे कि पहले थे। क्योंकि :

"पहले शराब ज़ीस्त[3] थी अब ज़ीस्त है शराब
कोई पिला रहा है, पिए जा रहा हूँ मैं..."

और अब तो युग बदल गया है 'अब तेज़ बहुत है दिल की धड़कन...' क्योंकि जिगर को मालूम है :

"बर्क़-ए[४] हवादिस[५] अल्लाह अल्लाह
झूम रही है शाख़े-नशेमन[६]..."

और यह सब शायद इसलिए कि :

"बैठे हम हर बज़्म[७] में लेकिन
झाड़ के उट्ठे अपना दामन"

ज़िन्दगी के अनगिनती थपेड़े सहते-सहते आज जिगर में एक चट्टान की तरह दुनिया का हर एक मुकाबला सहने की क्षमता है और उनका कहना है :

"हमको मिटा सके ये ज़माने में दम नहीं
हमसे ज़माना ख़ुद है, ज़माने से हम नहीं"

सिर्फ़ झण्डे बदल देनेवाली आज़ादी से संतुष्ट नहीं :

"काम अधूरा और आज़ादी
नाम बड़े और थोड़े दर्शन
शमा है लेकिन धुँधली धुँधली
साया है लेकिन रोशन रोशन"

और जब मानवता का गला घोंटा जा रहा था धर्म की आड़ में, गली गली कूँचों कूँचों में ख़ूँरेज़ी का बाज़ार गर्म था, इन्सान जिगर चाहते थे कि :

"इन्सान जिसमें बसते हों इस तरह के 'जिगर'
भाग ऐसी सर ज़मीन से बिस्तर लिए हुए"

और :

"इन्सानियत, कि जिससे इबादत है ज़िन्दगी
इनसान के साए से भी गुरेज़ाँ है आजकल
कैसा ख़ुलूस, किसकी मुहब्बत, कहां का दर्द
खुद ज़िन्दगी मता-ए गुरेज़ां है आजकल"

इसलिए :

"इससे तो ख़ुदकशी ही ग़नीमत है ऐ जिगर
वह मसलहत जो पेशाए-मर्दां हैं आजकल"

महात्मा गांधी की याद में आप ने कहा था :

"वही सितारे हैं मगर कहां वह महाताबे हिन्द
वही है अंजुमन मगर कहां वह सदरे अंजुमन"

जिगर निडर हैं, पाक हैं, और महान् हैं। गांधी जी द्वारा संकल्पित आज़ादी की तसवीर जिगर साहब ने अपने शायराना ढंग में यों उतारी है :

"बहार आए और इस शान की बहार आए
कि फूल ही नहीं काँटों पे भी निखार आए"

जिगर आज से पचपन वर्ष पूर्व मुरादाबाद में पैदा हुए। जन्म से अब तक की दीर्घावधि में उन्होंने विभिन्न रूपों, आकर्षण-विकर्षण, काल-प्रवाहों को आलोड़ित ही किया है। स्वयं उनमें आत्मसात् नहीं हुए अपितु उर्दू-कविता का एक पूरा युग उनके 'जिगर' में केन्द्रीभूत दीखता है। जिगर से उर्दू-कविता की युग-आत्मा व्यापक रूप में मुखरित होती है और उनके काव्य की प्रतिध्वनि ने अपने युग की काव्य-प्रवृत्तियों, सहज अनुभूतियों और शाश्वत भाव-सूत्रों को अधिकाधिक प्रखर और प्रशस्त ही किया है और अभी जिगर की सृजन-प्रवृत्तियाँ अविरत भाव से गतिशील ही हैं।

—बलवीर सहाय

हैदराबाद

---

[३] ज़िन्दगी [४] बिजली [५] दुर्घटनाएँ [६] नींद [७] सभा

सभापति

इससे पहले भी दिवाकर एक-दो साहित्य-सभाओं में गया क्यों नहीं है। पर तब वह साधारण वक्ता के रूप में गया था। एक बार शायद कहीं प्रधान अतिथि भी बन कर गया था।

लेकिन सभापति के रूप में यह पहला मौक़ा है। सिर्फ़ उसे ले जाने के लिए ही आयोजक अपना इतना पेट्रोल ख़र्च करेंगे, सात-आठ मील दूर से यहाँ आएँगे और सभा में ले जाएँगे। फिर उसे मोटर से ही पहुँचा भी देंगे। इतनी तकलीफ़, इतना ख़र्च, यह सारा आदर-सत्कार सब उसके लिए। उस दिन के साहित्य-समारोह का एकमात्र वही नायक होगा।

इसमें इतने ख़ुश होने की कौनसी बात है। यह तो उसकी साहित्य-साधना का प्राप्य पुरस्कार है। ऐसी ही बहुत-सी बातों से उसने अपने मन को समझाया। लेकिन फिर भी प्रसन्नता तो होती ही है।

सुबह जब वह सब्ज़ी लेने बाज़ार जा रहा था, तब सड़क के नुक्कड़ पर उसने एक हॉकर से तीन-चार दैनिक माँगे और उन्हें अच्छी तरह उलट-पलट कर देखा। सभा-समितियों की सूचनाएँ जहाँ छपती हैं वहाँ इस साहित्य सभा की सूचना भी छपी थी। सभापति के रूप में उसके नाम का भी उल्लेख था। नहीं, प्रूफ़ की ग़लतियाँ कतई नहीं हैं। प्रमुख स्थानों में ही सूचना छपी है। उसका नाम साफ़ पढ़ा जाता है।

उसने फिर सोचा। वाक़ई, इसमें इतने आनंदित होने का कोई कारण नहीं है। इससे उसे एक धेले का भी आर्थिक लाभ नहीं होगा। बल्कि, कुछ समय ही नष्ट होगा। थोड़ी परेशानी और मेहनत भी होगी। और ऊपर से उसकी ही जेब से कुछ ख़र्च भी हो जाएगा। साफ़-सुथरा पाजामा और कुरता तो चाहिए ही। ग़रज़ उनकी है। उन्होंने ही सभा बुलाई है। उन्हें ही सभापति की ज़रूरत है। बिना सभापति के आयोजन ही कैसे, हो सकता है। इस दृष्टि से तो धन्यवाद का पात्र वही है।

लेकिन इन सब तर्क-वितर्कों के बावजूद ख़ुशी तो होती ही है।

उसके सभापति निर्वाचित किए जाने में एक सम्मान है, एक स्वीकृति है। वह एक अच्छा साहित्यिक है, पाठकों की दुनिया में उसकी भी ख्याति है। उसे सभापति बना कर क्या इन सब बातों को नहीं माना जा रहा है?

नगर में इतने साहित्यिकों के रहते हुए वे लोग उसके पास आए। उन्हें सिर्फ़ उसी की ज़रूरत है। और भी तो अनेक साहित्यिक हैं, उनमें से किसी एक को भी सभापति बना सकते थे। उन लोगों के पास न जाकर वे उसी के यहाँ आए। इसलिए, इसमें क्या ख़ुश होने का, कुछ गर्वित होने का कारण नहीं है?

दिवाकर की साहित्य-साधना का पथ कंटीले रास्ते से गुज़रा है, यह कहने की ज़रूरत नहीं। कितने साहित्यिकों के भाग्य में यह नहीं होता? एक बीमा कम्पनी में वह काम करता था। वेतन था सत्तर रुपए माहवार। युद्ध के पहले इसमें किसी तरह गुज़र-बसर हो जाती थी। फिर विवाह हुआ। तब इस थोड़ी-सी आमदनी में ख़र्च कैसे चलता।

बचपन से ही उसे कुछ लिखने का शौक़ था। अब फिर उसने लिखना शुरू किया—कहानी और कविता। लेकिन ज़्यादातर कहानी ही। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उसने अपनी रचनाएँ भेजीं। किसी ने वापस कर दीं और किसी ने मौन धारण कर लिया। पर प्रकाशित एक भी नहीं हुई।

अतः इस क्षेत्र में वह प्रायः निराश ही हो चुका था। लेकिन अचानक एक दिन उसकी मुलाक़ात अपने एक पुराने दोस्त से हो गई। वह एक विख्यात दैनिक पत्र में काम करता था। रविवासरीय-परिशिष्ट का संपादक था। इस मुलाक़ात के बाद दिवाकर ने एक कहानी भेजी और वह अगले अंक में प्रकाशित भी हो गई। कुछ दिनों बाद उसने दूसरी कहानी भेजी और वह भी छप गई। फिर तो लगातार उसकी कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

अब भरोसे और विश्वास के साथ उसने दूसरे प में कहानियाँ भेजीं। दो-चार छपीं भी। सबसे ज़्या

आश्चर्य की बात यह थी कि इस बीच दो-तीन पत्रों से उसे पारिश्रमिक भी मिला। चाहे रक़म बहुत थोड़ी ही क्यों न हो, पर है तो, उसकी अपनी रचना का मूल्य। उस दिन उसे ऐसा लगा था जैसे बहुत मामूली परिश्रम से ही यह रक़म मिल गई है।

ऐसे ही वक़्त एकाएक वह बहुत ज़बरदस्त बेवक़ूफ़ी कर बैठा। उसने ज़रा-सी बात पर नौकरी छोड़ दी। पत्नी से कहा, क्यों चिन्तित होती हो, अब साहित्य-साधना से निर्वाह होगा। साहित्य-सेवा की ख़ातिर यदि एक वक़्त ही खाने को मिले, तो वह भी इस क्लर्की से कहीं अच्छा है।

लेकिन कुछ दिनों बाद ही उसे अपनी ग़लती मालूम हुई। जो सब पत्र-पत्रिकाएँ पारिश्रमिक देती हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। उनके छापने की सामर्थ्य भी सीमाबद्ध है। यानी प्रति सप्ताह एक ही व्यक्ति की रचनाएँ छापना तो संभव नहीं। दैनिक में बहुत हुआ तो महीने में एक रचना निकल सकती है और मासिक पत्र में कम-से-कम तीन महीने बाद। इस तरह नियमित रूप से भी रचनाएँ छपें, तो भी महीने में सौ-सवा सौ रुपए नहीं होते। लेकिन उन दिनों युद्ध जारी था, अवस्था कुछ न कुछ अच्छी थी।

अन्त में दिवाकर ने प्रकाशकों का द्वार खटखटाना शुरू किया। कहानियाँ वह अच्छी ही लिखता था, उसका नाम भी उन लोगों ने सुना था। पर आजकल कहानी-संग्रह बिकते नहीं। लोग उपन्यास पसन्द करते हैं। इस समय उपन्यासों की माँग है। जिसे देखो वही उपन्यास चाहता है। यानी किसी भी क़ीमत पर वे कहानी-संग्रह छापने को तैयार नहीं।

"लेकिन अख़बारों में आख़िरकार जो इतनी कहानियाँ छपती हैं, उनका क्या होगा?" प्रायः निराश हो कर भर्राए हुए स्वर में दिवाकर ने प्रश्न किया।

"यही समझ लीजिए कि पत्र-पत्रिकाओं से जो पारिश्रमिक मिलता है, वही बहुत है।" एक प्रकाशक ने उसे समझाया।

फिर भी, एक प्रकाशक ने दया दिखाते हुए उसकी कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित किया। तय हुआ कि संग्रह के लिए दिवाकर को कुछ नहीं मिलेगा। प्रकाशक महोदय ने बड़े प्रेम से समझाया "इससे आपका नाम होगा मार्केट वैल्यू बढ़ेगी। समझ लीजिए कि यही आपका बहुत बड़ा लाभ है।"

तथास्तु।

और एक प्रकाशक ने उसे पचास रुपए दिए। प्रवचन किया, 'आप उपन्यास क्यों नहीं लिखते? उपन्यास लिखें तो अच्छी रायल्टी मिलेगी।"

यह सब तो ठीक है। पर अच्छा पारिश्रमिक कहाँ मिलता है?

उसे तो रोज़ कुआँ खोद कर पानी निकालना पड़ता है। बातों ही बातों में दिवाकर को मालूम हो गया कि इस समय जासूसी उपन्यास, सस्ते रोमांस, सेक्स साहित्य और बच्चों की एडवेंचर पुस्तकों की अच्छी ख़ासी माँग है।

अतः उसने यही लिखना शुरू किया। शुरू-शुरू में तो उसकी समझ में नहीं आया कि क्या लिखें। पर अब होशियार हो गया है। उसने देखा, ऐसी रचनाओं में लेखकों की अपनी मौलिकता नाममात्र की रहती है। सब लोग सात समुन्दर से प्राप्त रचनाएँ पढ़ कर अपना अजीर्ण उगलते हैं।

दिवाकर ने भी उसी पथ का अनुसरण किया। लेकिन इससे भी कितनी आमदनी हो सकती है? बेहद परिश्रम करना पड़ता है। किताब पढ़ना, उसे आत्मसात् करना और फिर भारतीय आवरण पहनाना।

इतने दिनों के बाद उसने समझा कि इसमें क्लर्की से कहीं अधिक परिश्रम है। लेकिन ऐसी रचनाओं से लेखक का नाम नहीं होता। कहानियाँ वह अच्छी लिखता था। शायद अब भी लिख सकता है। लेकिन उन्हें पढ़ेगा कौन? और, पढ़ेगा भी तो ख़रीदेगा कौन? हर रोज़ ही रोटी की चिन्ता और प्रबन्ध करते हुए अच्छे उपन्यास के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, लिखना तो दूर रहा।

लेकिन अब पुराने रास्ते पर वापस जाने का भी कोई उपाय नहीं है। नए सिरे से क्लर्की नहीं की जा सकती। शायद अब नौकरी मिले भी नहीं। यह अज्ञात और अख्यात जीवन ही उसे बिताना होगा। साहित्य के नाम पर क़लम घिस कर और आँखें फोड़ कर।

इन दिनों जब वह अपने साहित्यिक जीवन से प्रायः निराश और उदासीन हो चुका था। तब ऐसे ही समय इस सभा का आह्वान आया।

तब तो उसकी यह साधना व्यर्थ नहीं हुई। इससे

तो यह ज़ाहिर होता है कि लोग उसे जानते हैं। एक अच्छे साहित्यिक के रूप में स्वीकार करते हैं। उसे मान्यता देते हैं।

इसी कारण उसे एक विषाद आनन्द है। गर्व है।

× × ×

ठीक पाँच बजे मोटर आई।

दिवाकर तैयार ही था। पत्नी ने सुबह ही कुरता और पाज़ामे को साबुन से धोया था और इस्त्री भी कर दी थी। इस्त्री तो ख़ाक है—ठीक से तह करके बिछौने के नीचे कपड़े रख दिए गए थे। शरीर के दबाव और गरमी से जैसी इस्त्री हो सकती थी हो गई।

कपड़े कुछ बुरे नहीं लगते। आईने के सामने खड़े होकर दिवाकर ने एक बार अपना चेहरा देखा और फिर मोटर में जा बैठा।

मोटर भी बाबा आदम के ज़माने की थी। तीन बार स्टार्ट करने के बाद चौथी बार बहुत शोर गुल के साथ मोटर रवाना हुई। रास्ते में दो-तीन बार ख़राब भी हुई। दिवाकर ने सोचा, भला साहित्यिकों के लिए अपनी अच्छी मोटर कौन देगा? और, इसमें ही भला पेट्रोल कौन कम खर्च हो रहा है! लेकिन हाँ, यह जो कुछ भी हो रहा है—वह सिर्फ़ उसी के लिए।

सभा स्थल में पहुँच कर उसका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया।

दर्शक या श्रोता, जो कुछ भी कहा जाए, उनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। सामने बिछी हुई दरी पर क़रीब सौ-सवा सौ लड़के बैठे शोर गुल कर रहे थे। कोई सीटी बजा रहा था, तो कोई सिनेमा के गीत गुनगुना रहा था। युवक या प्रवीणों की संख्या पच्चीस-तीस से ज्यादा नहीं होगी। हाँ, इनके अलावा उस सभा के दस-पन्द्रह आयोजक भी मौजूद थे।

उसके मुख के भाव पढ़ कर एक आयोजक ने बहुत धीमे स्वर में कहा, 'यहाँ भीड़ तो बहुत होती, लेकिन आज से ही रेहाना का "झम झमा झम" और "श्री श्री आठ सौ चालीस" रिलीज़ हुए हैं। इसलिए सब लोग पिक्चर देखने चले गए हैं। हमें पहले इसका पता नहीं था, अन्यथा किसी दूसरे दिन सभा करते।"

यथा रीति सभा प्रारम्भ हुई। न जाने किसने उसके गले में फूलों की माला पहना दी। सभापति के नाम का जो सज्जन प्रस्ताव करेंगे उठे, उन्होंने उसका नाम ग़लत बताया और परिचय देते हुए कहा कि वे एक प्रसिद्ध नाट्यकार हैं। दिवाकर ने अपने जीवन में एक भी नाटक नहीं लिखा था। लेकिन प्रतिवाद करने की उसकी कतई इच्छा नहीं हुई।

छोटी-छोटी लड़कियों ने स्वागत-गान गाया। पर गीत के बोल क्या हैं और क्या भाव हैं, यह कुछ समझ में नहीं आया। फिर, कविता पाठ शुरू हुआ। दस-बराह लोगों ने अपने गले की बहार दिखाई। न किसी का उच्चारण ही ठीक था और न पढ़ने के ढंग में ही कोई मधुरता थी। कविता सुनाते हुए कोई चीख़ता था, कोई हाथ नचाता था तो कोई आँखें मटकाता था। एक नाक से बोलता था तो दूसरा औरतों जैसी आवाज़ बनाता था।

यह कष्टप्रद कार्यक्रम साढ़े नौ बजे तक चला। सामने फ़र्श पर बैठे हुए बच्चे मूँगफली खा रहे थे, आपस में लड़-झगड़ रहे थे और जब कार्यक्रम ख़त्म होता, तो सबके सब एक साथ ख़ूब ज़ोर से तालियाँ बजा देते थे। कुछ लड़के सीटियाँ बजा कर अपना उत्साह प्रकट करते थे।

और, जब दिवाकर सभापति का भाषण देने खड़ा हुआ, तब तक सब वयस्क लोग चले गए थे। सिर्फ़ लड़के ही बैठे थे। वह बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें सोच कर आया था। पर इस समय जो उपस्थित थे, उनके सामने वे सब बातें कहते हुए उसे लज्जा आई।

लेकिन फिर क्या बोले? क्या कहना उचित है? यह उसकी समझ में नहीं आया। किसी तरह बे-मन से दो-चार बातें कहकर वह बैठा गया।

यह ज़रा-सी तो सभा है और आदमी ही कितने हैं—लेकिन तो भी माइक और लाउड स्पीकर किराए पर लाया गया था। माइक के सामने जब वह बोलने खड़ा हुआ, तो शर्म से उसका सिर झुक गया।

सभा ख़त्म होने के बाद जब दिवाकर उठा तो भूख और थकावट से परेशान था। आयोजकों ने भीतर के एक कमरे में मुँह मीठा करने की थोड़ी बहुत व्यवस्था भी की थी। ठण्डे समोसे और बदबूदार बूँदी के लड्डू इसके साथ साथ कड़वी चाय।

लेकिन तो भी दिवाकर ने प्लेट साफ़ कर दी। अगर पेट में कुछ नहीं डालता। तो उसके लिए खड़ा रहना सम्भव नहीं था।

अब उन लोगों ने असली बात कही । जो मोटर मिली थी, वह एक दम खराब हो गई । बहुत कोशिश करने पर भी कोई दूसरी मोटर नहीं मिल सकी । दिवाकर यदि कुछ खयाल न करे, तो बस ही इस समय ठीक है । बस में भीड़ भी नहीं होगी-कोई असुविधा नहीं होगी ।

''लेकिन'' क्षीण स्वर में दिवाकर ने एक बार कहा—''टैक्सी, यहाँ टैक्सी नहीं मिली ?''

''देखिए,'' बहुत ही संकोच के साथ एक सज्जन ने कहा, ''एक तो यहाँ आस-पास कहीं टैक्सी मिलेगी नहीं और मिलेगी भी तो बहुत ज़्यादा किराया मांगेगी और अब हमारे फण्ड में कुछ भी नहीं बचा है । किराए पर एक माइक लाने में ही काफ़ी खर्च बैठ गया ।''

अन्त में दिवाकर को उठना ही पड़ा । दो तीन आदमी उसे बस-स्टैंड तक पहुँचाने आए । किसी एक ने बस का किराया चार आने देना भी चाहा था, पर दिवाकर के आत्म-सम्मान को धक्का पहुँचा । उसने किराया नहीं लिया ।

उस समय रात के दस बजे थे । जहाँ बस बदलनी थी, वहाँ दूसरी बस नहीं मिली । काफ़ी देर तक बस की प्रतीक्षा में खड़े रहने के बाद उसने पैदल चलना शुरू किया । प्रायः घंटे भर तक पैदल चलने के बाद उसने एक रिक्शा किया । उसकी जेब में सिर्फ़ एक रुपया था, बचाने का मतलब था, तीन-सढ़े तीन मील पैदल चलना । पर इतना चलने को शक्ति उसके पैरों में नहीं थी ।

पत्नी जाग रही थी । प्रतीक्षा में बैठी हुई थी । दरवाज़ा खोलते हुए बोली—''वाह रे तुम्हारी सभा न हुई, पूरा रात्रि जागरण हो गया । ऐसी किस बात की सभा थी ? क्यों, मोटर में नहीं आए ?''

दिवाकर ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया, ''नहीं, रास्ते में ही खराब हो गई—''

पत्नी ने थाली बढ़ा दी, ठंडी और सूखी दो रोटियाँ कुछ संकोच से कहा, ''शायद खाना कम है । क्या करूँ, घर में अब चुटकी भर भी तो आटा नहीं बचा । कल सुबह बच्चे क्या खाएँगे, भगवान ही मालिक है । कल जब कुछ लाओगे, तभी चूल्हा जलेगा ।''

वह एकदम ठंडा पड़ गया । उसके पास जो आखिरी रुपया था, वह तो उसने अभी थोड़ी देर पहले ही रिक्शावाले को दे दिया था ।

दूसरे ही क्षण उसे याद आया, ''तुम खा चुकीं ?''

अपना मुँह दूसरी ओर घुमाते हुए पत्नी ने कहा—''हाँ, नहीं तो क्या रात के बारह बजे तक भूखी बैठी रहूँगी ?''

यह झूठ है । इसीलिए पत्नी ने इतनी बातें बनाई हैं, दिवाकर यह जानता है । जब उसके लिए सिर्फ़ दो ही रोटियाँ बची हैं, तब यह निश्चित है कि पत्नी ने पहले खाना नहीं खाया । पर इस समय खोद-खोद कर सच्ची बात जानने की भी उसकी अवस्था नहीं थी । वह रोटी खाकर चुपचाप उठ गया ।

कल सुबह ही रुपए चाहिए । एक प्रकाशक ऐसा है जिनके यहाँ धरना देने पर पांच-सात रुपए अडवांस मिल सकते हैं । पर वह भी कुछ कापी मिले बिना नहीं देगा । अतः उसके लिए अभी कापी लिखनी होगी, चाहे जितनी रात हो और वह कितना ही थका-माँदा क्यों न हो ।

छोटा-सा कमरा है, और वह भी प्रायः सारा का सारा चारपाई से भर गया है । चारपाई पर गन्दा बिछौना है और उस पर दोनों बच्चे सो रहे हैं । उनकी बगल में किसी तरह सोया जा सकता है । पर वहाँ बैठ कर साहित्य-सृष्टि नहीं की जा सकती ।

अभी उसने जिस जगह बैठ कर खाना खाया था, उस ज़रा संकीर्ण स्थान में ही लालटेन रख कर दिवाकर लिखने बैठा । अभी भी वह जगह कुछ गीली है । वहाँ से एक खास तरह की बू आ रही है ।

''अब फिर इस आधी रात के वक़्त लिखने बैठे ?'' पत्नी ने आश्चर्य से प्रश्न किया ।

''और कोई उपाय भी तो नहीं है । तुम सो जाओ । चाहे जैसे भी हो, मुझे तो सात-आठ पेज काले करने ही पड़ेंगे ।''

— कमल जोशी

सम्पादक : टिस्को समाचार
जमशेदपुर, बिहार

कन्नड़ के प्राचीन कवि : राघवांक

भारतीय भाषाओं के अनेक काव्य-रत्न और कविरत्नों के जीवन-चरित्र अत्यन्त प्राचीन होने के नाते अप्राप्य हैं। फिर भी उनकी अमूल्य कृतियों से जो कुछ विषय मिल जाते हैं, हमें उन्हीं पर सन्तोष कर लेना पड़ता है।

कन्नड़ भाषा की प्राचीनता, उसकी गौरव-गरिमा आदि दक्षिण-भारत में प्रसिद्ध है। कन्नड़ भाषा की उन्नति, उसकी सुन्दरता एवं आधुनिक कवियों की प्रवीणता, उन प्राचीन कवियों से ही अनुप्राणित है, जिन्होंने कन्नड़ भाषा में अमूल्य एवं श्रेष्ठ काव्यों की सृष्टि की और उनको सामान्य जनता के लिए बनाया। उनमें सर्वश्री राघवांक, रन्ना, पंपा, जन्ना, कुमार व्यास आदि मुख्य हैं।

कन्नड़ के कवि राघवांक के बारे में, जो आज तक खोज हुई हैं, उन सब को यहाँ उल्लेखित करना अशक्य है। इनके जन्म आदि के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं। इनका जन्म 'कुन्तळ देश' (दक्षिण भारत) के एक गाँव 'पम्पापुर' में हुआ जो तुंगभद्रा नदी के किनारे था। उनके पिता का नाम महादेव भट्ट और माता का नाम रुद्राणी था। इनके गुरु एक विद्वान् पंडित थे जिनका नाम हरिहर था। अपने गुरु के बारे में कवि राघवांक ने लिखा है :

> "सुर नर उरग सुंतादभिमानव
> दोरेकोंडु कायद चरितेया
> विरच्चिसिदेनु हँपेया हरिदेवना
> वरसुत राघवांकुसुरे।"

अर्थात् अन्यान्य राजाओं से अनेक बिरुदों (पदावलियों) से सम्मानित 'हंपे' गाँव के गुरु हरिदेव के वरसुत (सुपुत्र शिष्य) राघवांक ने इस कृति की रचना की है।" इस पद्य से हमें विदित होता है कि ये विद्वान् हरिहर के शिष्य थे।

इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में तो असंख्य मत प्रचलित हैं। जिनमें एक भी ठीक निर्णय पर नहीं पहुँच सका है। डा० केट्टेले ने कहा है कि ये कवि लगभग १२६० ईसवी में रहे होंगे। पर इसके विरुद्ध श्री नरसिंहाचार्य ने कई आधारों को पेश करके कहा है कि ये ११६५ ई० में जीवित थे। इन सब को मात करते हुए कन्नड़ के कवि सम्राट् श्री गोविन्द पैजी ने कहा है कि इस कवि रत्न का जन्म लगभग ११४५ के आसपास ही हुआ होगा और इनकी मृत्यु १२१० से २० के समय में हुई होगी। श्री ए० आर० कृष्णशास्त्री ने कहा है कि इनका काल लगभग १२०० होगा। (हरिश्चन्द्र काव्य-संग्रह XIV)

इन्हीं सब मतभेदों के कारण हमें इनकी जन्मतिथि के बारे में कुछ निश्चित रूप से पता नहीं चलता। फिर भी बिना शंका के अनुमान कर सकते हैं कि राघवांक जी "होयसाळ" राजाओं के समय में जीवित थे और होयसाळों के बाद की इनकी कोई कृति भी मिलती नहीं है। इससे आगे और भी कई मतों के आधार पर हम ठीक अनुमान कर सकते हैं कि इनका काल ११६० से १२५० के मध्य काल में ही रहा होगा।

कवि राघवांक की शिक्षा-दीक्षा आदि गुरु हरि- के आश्रम में ही सम्पन्न हुई थी। विद्या समाप्ति के बाद इन्होंने 'पम्पापुर' के राजा 'देवराज' की राजसभा में हरिश्चन्द्र काव्य को गाया, जिसे सुन कर राजसभा के सभी विद्वान् इनकी विद्वत्ता पर चकित रह गए थे। इसके बाद वे 'होयसाळ' नगर में जाकर वहाँ के राजा 'नरसिंह बल्लाळ' के पास रहने लगे। वहाँ अनेक अनुभवों को प्राप्त करने के बाद वे फिर पम्पापुर को आ गए और 'ओरंगल्लू' के राजा रुद्रप्रताप की राजसभा में अपनी विद्वत्ता एवं कविकल्पना शक्ति से अनेक कवियों को काव्यचर्चा में हरा दिया। यहीं इन्होंने "वीरेश्वर चरिते" काव्य की रचना की। बाद में 'बेल्लूर' (मैसूर) नामक गाँव में बस गए और अन्त तक वहीं रहे। यह हमें 'सिद्धनंजेश की राघवांक चरित्र' से पता चलता है। इस कृति का काल लगभग १६५० ई० माना जा सकता है।

इनकी अनेक रचनाएँ हैं पर ये सब आज तो प्राप्य नहीं है। फिर भी चार-पाँच रचनाएँ मिली हैं। इनमें "कविमुख कवात", "वीरेश्वर चरिते", "हरिश्चन्द्र

काव्य", सिद्धराम चरिते", "देवाँगदासिमय्यना पुराण" आदि मुख्य हैं। इनमें "कवि मुख कवाट" अप्राप्य कृति है। "देवाँगदासिमय्यना पुराण" के बारे में कोई कहते हैं कि यह ग्रन्थ इनका नहीं है। पर इसके पद्यों से पता चलता है कि इसके रचयिता कवि राघवांक ही हैं :

> "अतट कवियु निकरनु चौदंतनु
> नुत हंपिगळ हरिदेवा।
> सततात्म राघवांक ता पेळदनु
> वित "देवांगना,' चरितवनु"

अर्थात् : "अनेक उच्च पदवियों से सुशोभित मैं "हंपे" गाँव के "हरिदेव" का शिष्य "राघवांक" इस "देवांगदायिमय्यना" ग्रन्थ को लिख रहा हूँ।"

इन्होंने अपनी विद्वत्ता से महाकवि कुमार व्यास को भी हरा दिया था। "गुरु राज चरिते" नामक ग्रन्थ से (जो १६५० ईसवीं में रचित) यह पता चलता है कि ये कुमार व्यास के साथ बहुत उच्च पांडित्य की चर्चा करते रहे और अन्त में कुमार व्यास को हरा दिया था।

कवि राघवांक शैव थे। और इनके इष्ट देव परम शिव थे। ये विनीत और निरभिमानी थे। अपनी कृति के दोषों पर माफ़ी माँगते हुए उन्होंने लिखा है :

> "नाना रस भावार्थ बंधकलासं
> धानं संधि, समास, विभक्ति गळेसवभि
> धानवलंकार, प्रकरण, यति धातु, क्रिया, कारक निर्वाहं।
> स्थान प्रकृति प्रत्यय लिंगप्रयदोळ
> गेनेक विद्रोहुं पररण किस दंता लिपु
> दानंददोळ्ळेल्ला शिव भक्तरु वरुणिसितिर्दू कुदाँ निम्मवनु"

अर्थात् : "मेरी इस रचना में काव्य के सभी गुण, समाविष्ट हुए हैं, जिनको परख कर रखने में कोई गलती हुई है तो उसे शिवभक्त-पाठक ठीक करके पढ़ लें। और उन गलतियों के लिए मुझ को क्षमा करें। क्योंकि मैं आप ही लोगों का कवि हूँ।"

इससे इनकी विनयशीलता का ठीक पता चलता है। ये सुन्दर, हृष्ट-पुष्ट और रसिक रहे होंगे क्योंकि इनकी कृतियों में श्रृंगार, हास्य, एवं वीर रसों की प्रधानता पाई जाती हैं।

कुछ भी हो कन्नड़ जनता के कवि सब के सब दैव भक्त थे और कन्नड़ साहित्य को अपनी कृतियों से संपन्न कर गए हैं। आधुनिक कन्नड़ साहित्य इनके प्रति कृतज्ञ है।

३७, सीगेबेली
बैंगलूर २

—एन. रंगनाथ

लिखने की शैली

मैं एकमात्र लिखना और लिखते रहना ही चाहता हूँ। लिखने के इस जबर्दस्त शौक़ के कारण मैंने आक्सफ़ोर्ड को छोड़ दिया। मुझे १८ वीं शताब्दी सबसे अधिक पसन्द है क्योंकि १८ वीं सदी में मुझे सहानुभूतिपूर्ण पात्रों की जैसी विविधता प्राप्त होती है वैसी किसी अन्य शताब्दी में नहीं। मुझे सबसे अधिक आनन्द जीवन-चरित्रों में प्राप्त होता है। जिस लेखक की अभिरुचि चरित्र-चित्रण में हो उसके लिए जीवन-चरित्र से बढ़ कर अन्य कौन-सा श्रेष्ठ माध्यम हो सकता है। उपन्यास लिखने की मुझमें क्षमता नहीं है।

लिखने के समय मैं पुनः पुनः इसी बात पर विचार करता रहता हूँ कि मैं किस प्रकार लिखूँ। मेरे लिए सबसे आकर्षक वस्तु शैली है। १८ वीं सदी के लेखकों से मेरा गहरा सम्पर्क रहा है और संभवतः इसी कारण मेरी रुचि इस प्रकार की बन गई है। मैं ऐसा एक वाक्य भी नहीं लिखता जिसे कि यदि जोर से पढ़ा जाए तो वह अच्छा प्रतीत न हो।

—पीटर क्वेनेल

सिक्के के दोनों ओर

पात्र-परिचय

मगनलाल : जाति का छीपा, सरकारी नौकर
गणेशीलाल : एक ड्राइवर
गोपालदास : किराने का व्यापारी
भोजसिंह : एक हलवाई
पन्ना : मगनलाल की स्त्री
रत्नी : मगनलाल की बेटी
सुभागी : एक पड़ोसिन
बाज़ार के लोग आदि

समय···रात्रि प्रथम प्रहर ।

(सुभागी पड़ोसिन हाथ के उपले पर जला कोयला लिए पन्ना की कोठरी के आगे आती है । उम्र उसकी तीस बत्तीस से ज़्यादा नहीं पर दिखती है चालीस के ऊपर । उसे देखकर लगता है मानों कोई सूखी डाल हो जो न सावन सूखे न भादों हरे । देखकर ही जिसके प्रति मन में अरुचि उत्पन्न हो जाए ।)

सुभागी : (किवाड़ खटखटाकर) अोरी पन्ना, क्या कर रही है ?

पन्ना (अन्दर से) रोटी सेंक रही हूँ सोभी । जा तो रत्नी, सोभी मौसी आई है किवाड़ खोल दे ।

(तेरह चौदह वर्ष की सुरूपा रत्नी किवाड़ खोल कर तीव्र दृष्टि से सुभागी को देख कर पीछे हट जाती है । सुभागी अन्दर आती है ।)

सुभागी : (हाथ का उपला जमीन पर रख कर) मरे उपले भी क्या चीज़ है, पन्ना, ज़रा सा अंगारा रखते ही सारा घर धुएँ से भर जाता है ।

पन्ना : (चूल्हे में फूँक मारती हुई) सो तो है ही सोभी पर उपले लकड़ी से सस्ते जो पड़ते हैं । अक्सर ख़रीदने भी नहीं पड़ते । रास्ते से गोबर बटोरो और दीवारों पर पाथ लो । देख न उपले पाथ पाथ कर दीवारें कैसी हो गई हैं । लकड़ी जलाना अपने जैसों के लिए तो बहुत मुश्किल है । घर गन्दा होने पर भी क्या करें । पेट पहले है, घर पीछे ।

सुभागी : सो तो है ही । क्या सहर, क्या गाँव, ग़रीबों का तो सब जगह यही हाल है, बस फ़रक इतना ही है कि सहर वालों से गाँव के लोग ज़्यादा ताक़तवर होते हैं । मुझे ही देख न, जब गाँव से नई नई आई थी तो जितनी अभी हूँ, उससे चौगुनी थी । आहा गाँव के दिन भी क्या थे पन्ना । खेतों में घूमो, काम करो, सेर भर खाओ और पड़े रहो ।

पन्ना : (रोटी तवे पर डाल कर) मैंने तो गाँव कभी देखा ही नहीं सोभी, यहीं पैदा हुई, बड़ी हुई, गिरस्ती बसाई और यहीं एक दिन मर भी जाऊँगी ।

सुभागी : (आँखे मटका कर) मरें तेरे दुसमन! अभी से ऐसी बात मुँह से क्यों निकालती है ।

पन्ना : हाँ सो तो है ही । यह तो बता आज इतनी रात गए कैसे आई !

सुभागी : हलवाई के यहाँ से, अरी वो ही भोजसिंह, अंगीरा ले के जा रही थी, सोचा तेरे यहाँ भी होती चलूँ । रत्ना का बापू तो अभी आया नहीं होगा ।

पन्ना : नहीं । मालिकों के यहाँ से देर से छुट्टी मिलती है । नौ दस बजे आकर खाना खाएँगे फिर निकल जाएँगे । दो बजे से पहले कभी नहीं आते । न जाने दोस्तों से ऐसा क्या मीठा है ?

सुभागी : (रहस्यपूर्वक) अभी अभी तो मैंने उसे भोजसिंह की दूकान पर खड़ा देखा है । वह गणेशीलाल भी वहीं खड़ा बीड़ी फूँक रहा था । तेरे बहनोई जी कह रहे थे कि मालिकों के यहाँ से तो उसे सात बजे ही छुट्टी मिल जाती है, फ़िर तो उतनी देर से क्यों आता है री पन्ना ?

रत्नी : (गम्भीर हो कर) माँ से क्या पूछती हो मौसी मुझ से पूछो न । बापू देर से आवें या जल्दी, तुम्हें इतनी चिन्ता क्यों है ।

सुभागी : (आँखें चढ़ा कर) इस बित्ती भर की छोकरी की बातें तो सुन पन्ना । मैंने तो सीधी सी बात कहीं है और यह तो मेरे सिर ही हो गई ।

पन्ना : तू इसकी बातों में कहाँ आ रही है सोभी, यह बच्ची है ।

रत्नी : बच्ची हूँ या बड़ी, बापू के बारे में ऐसी

बात मैं नहीं सुनूँगी ।

सुभागी : तो नाराज़ क्यों होती है बिटिया । मैंने उसे देखा और सच्ची बात कह दी । अब कह दे इसमें भी मेरी मिलावट है कि सब कहते हैं तेरा बापू सट्टा करता है । मैंने तो आँख से देखा नहीं बिटिया, मुझे क्या पड़ी जो झूठमूठ किसी की बुराई करूँ ।

रत्नी : (बुरा सा मुँह बना कर) तुम बहुत ज़्यादा सीधी हो मौसी पर कृपा करके अपनी यह सिधाई माँ के सामने न ज़ाहिर किया करो । बापू सट्टा करते हैं, करने दो तुम्हें उनका उतना दर्द क्यों आता है । कुछ तुमसे तो माँग कर ले नहीं जाते । जिस दिन तुमसे माँगे उस दिन आ कर ये सब बातें बताना ।

(पन्ना रोटी बना चुकी है । सुभागी की बात सुन कर उसके मन में शंका बैठ जाती है)

पन्ना : बड़ों के मुँह लगती है रत्नी ? यही सीखती है स्कूल में ?

सुभागी : (सहारा पाकर) देख तो सही पन्ना क्या क्या कह रही है यह । हे भगवान् आजकल की छोरियाँ तो बात करते ही जैसे खाने को दौड़ती हैं । अरी मैं तेरे बापू को रुपए दूँगी ही क्यों । सटोरिए को रुपए दे कर मुझे अपने रुपए नहीं डुबाना है ।

रत्नी : (क्रोध से) मुँह सम्हाल कर बात करो मौसी । झगड़ा ही करना है तो फिर किसी दिन आकर कर लेना । अभी तो यहाँ से पधार जाओ । बापू आने वाले हैं ।

सुभागी : (पसरा मार कर बैठती हुई) ऐ, हे, ज़रा उसकी बात तो सुन पन्ना मुझे घर से निकाल रही है । तू तो स्कूल में पढ़ती है, वहाँ क्या यही सिखाते हैं कि घर आए आदमी को दुत्कार कर भगा दिया करो ?

रत्नी : ओह, अब तुम से कौन उलझे । अच्छी बात है तुम यहाँ बैठी-बैठी बहस करती रहो, मैं ही चली जाती हूँ । न जाने दूसरों की बातें करने का इतना शौक़ तुम्हें क्यों है ? जब देखो किसी न किसी बात में टाँग अड़ाने आ ही पहुँचती हो । भगवान् बचाए तुमसे ।

(चली जाती है ।)

सुभागी : (असन्तोषपूर्वक) ज़माना पलट गया री पन्ना । पढ़ाई ने तो इन छोरे छोरियों की अक़्ल ही ख़राब कर दी है । न बड़ों का लिहाज़ न सरम । भला कह तो, इतनी छोटी-सी बात और इतना क्रोध ?

पन्ना : तू उसके सामने उसके बापू की चर्चा मत किया कर सोभी । जान देती है उन पर । मुझे ही कुछ नहीं कहने देती तो तेरी सुनेगी वो ।

सुभागी : (विषय बदल कर उत्सुकता से) क्यों री तनखा तवनखा तो अब बराबर देता है न तुझे ।

पन्ना : (साँस भर कर) कहाँ सोभी, मैं नौकरी न करूं तो गुज़ारा ही नहीं चले । लड़-झगड़ कर कुछ रुपए ले भी लेती हूँ पर दूसरे ही दिन किसी न किसी बहाने से फिर ले जाते हैं । मुश्किल तो यह है कि रत्नी कुछ कहने भी तो नहीं देती । और कहूँ भी क्या । कितना ही बकूँ, किसी बात का जवाब तक नहीं देते । एक बार गरदन जो झुकाते हैं तो फिर उठाते ही नहीं । ऐसे आदमी से कुछ कहने का हिसाब ही नहीं होता ।

सुभागी : अरे यह सब उसकी चालाकी है, रुपए बूंतने के तरीके हैं । बुरा मत मानना पन्ना, पर मैं सच कहूँ उसे बिगाड़ा तूने ही है : छोड़ दे नौकरी फिर देखें वो तुझे रुपए कैसे नहीं दे । अभी तो जानता है न कि रोटी तो मिल ही जाती है, फिर फ़िक्र ही क्या है । रोटी नहीं मिलेगी तो सारी अक़्ल ठिकाने आ जाएगी । यह सट्टा । राम राम । देखा नहीं उस गणेशीलाल को । घर-दार इसी सट्टे में फूँक दिया । कहाँ राजा बना घूमता था और अब डराइवरी करता फिरता है । मेरी मान नौकरी छोड़ दे ।

पन्ना : नौकरी छोड़ कर कैसे काम चल सकता है, सो भी अगले साल तक तो रत्नी को पार करना ही पड़ेगा । नौकरी करती हूँ तो पास का जेवर बच रहा है, कभी का खा पी कर ख़त्म कर दिया होता । रत्नी अब की आठवीं पास कर लेगी । लड़का दसवीं में है, ऐसा लड़का भी ज़ात में दूसरा नहीं, उनकी जैसी रीत निभानी ही पड़ेगी । कितनी ही कटौती करूँ तब भी दो हज़ार से कम में हो ही नहीं सकती ।

सुभागी : (कुटिलता से) अरी तो उसी से कह न । अपना जेवर दबा के रख । मरद जात का क्या भरोसा । आड़े वक़्त काम ही आएँगे । मैं तो .....।

(रत्नी दरवाज़े के पीछे खड़ी थी अब बाहर निकल आती है ।)

रत्नी : अपना यह उपदेश अब ख़तम भी करो मौसी सुन कर कान पक गए । उपला जल-जल कर आधा हो गया है । मारे धुएँ के आँखें फूट गई मेरी

तो। जाओ न, जाकर खाना नहीं बनातीं, फिर क्या आधी रात को बनाओगी ? न मौसी अब एक भी बात नहीं, मुझे पढ़ना है।

(सुभागी कठोर दृष्टि से उसे देख कर चली जाती है।)

द्वितीय दृश्य

(रात के दस बज चुके हैं। मगनलाल सहमे से स्वर में स्त्री को पुकारता है।)

रत्नी : आई बापू (किवाड़ खोल कर) रोज़-रोज़ इतनी रात कैसे हो जाती है बापू! मालिक है तो क्या जान ही ले लेंगे ? इतनी देर तक रोक रखने का उनको क्या अधिकार है ? यह तो सरकारी नौकरी है।

मगनलाल : सो तो है ही रत्नी—पर-पर...।

पन्ना : (बीच में ही) पर-पर क्यों करते हो जी। सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते कि बाजार आबाद कर रहे थे बिचारे मालिकों को क्यों बदनाम करते हो ? सोभी आज सारी बातें कह गई है मुझ से। यह सट्टे की लत कबसे लगी जी ?

रत्नी : माँ......!

पन्ना : तू मत बोल रत्नी। इनको तूने ही सिर चढ़ाया। सोच तो देख यह झूठ बोलना, सट्टा करना क्या अच्छी चीज है ? बोलते क्यों नहीं जी।

रत्नी : पर माँ पहले बापू को खाना......!

पन्ना : (बात काट कर) खाना गया भाड़ में। पहले मेरी बात का जवाब दो। कहे देती हूँ तुम्हारी ठगाई में नहीं आऊँगी मैं।

रत्नी : मैं कहती हूँ माँ......!

पन्ना : फिर तू बीच में बोली ? जवाब क्यों नहीं देते जी। तुम चुप रहोगे तो भी आज यों सीधे-सीधे नहीं छोड़ूँगी। जवाब दो। सट्टा खेल कर क्या अब लुगाई को भी नंगी करोगे ? घर में खाने को एक पैसा भी नहीं देते। मुझे क्या पता था कि जितना लाते हो वह सट्टे में फूँक देते हो। मैं समझती थी चोरी-चोरी तुमने बैंक में रुपया जमा किया होगा। बरस हो गए, आज तक कहीं टिक कर नौकरी नहीं की। यहाँ टिके तो मरे इस सत्यानासी सट्टे का दामन थाम लिया। बोलो न, चुप क्यों हो।

मगन : (हिचकिचाते हुए) वो बात यह है पन्ना कि, वो......।

पन्ना : (हाथ मटका कर) बात ये है पन्ना, वा वो है। तुम्हारी इस ये और वो के चक्कर में मैं अब न आने की। सच-सच बताओ, तुम सट्टा करते हो ?

मगन : वो...वो...पन्ना......।

पन्ना : (तेज़ होकर) फिर वही वो वो ? क्यों मैं पूछती हूँ घर में आग लगा कर तमाशा देखने बुद्धि तुम्हें किसने दी। गोठ की अक्ल क्या ज़रा नहीं रही तुम में ? मैं गई भाड़ में पर इस छोकरी तो ध्यान रखो। इतनी बड़ी हुई अब तो ब्याह के लि पैसा जुटाओ। यह मत समझना कि मैं अपना जे निकाल कर तुम्हें सौंप दूँगी।

रत्नी : तुम भी माँ, क्या आते ही यह ग छेड़ बैठी। बापू को शान्ति से खा-पी तो लेने दो, फि जितना जी चाहो कोस लेना।

पन्ना : तू चुप रह रत्नी। पहले मेरी तरह गृहस्थी बसा। फिर देखूँगी, तेरी कितनी जबान निकल है। पढ़ी लिखी है, कहो तो बाप को रास्ते पर ला चाहिए; उल्टे उन्हें सह दे रही है। बड़ा अच्छा ध है न सट्टा। क्यों जी सुनते हो कुछ। बेटी के ब्या का इन्तज़ाम करो। मैं तो अब अगले साल तक हरगि भी नहीं रुकूँगी। कल ही जाती हूँ ब्याइजी के घर इसी जेठ में इसका ब्याह करूँगी। जुटाओ रुपया।

मगन : (दीनतापूर्वक) रुपया मैं कहाँ से लाऊँ पन्ना। अभी ठहर जा। रत्नी को दसवीं तो कर लेने दे जब इतना पढ़ाया है तो दो साल और सही, क खाएगी। मरद के आसरे तो नहीं रहना पड़ेगा।

पन्ना : (व्यंग से) हाँ, काहे को आसरे रहेगी माँ बाप की नज़ीर जो सामने है। कुछ भी कहो, रहें तो आखिर छोरी ही। ऊँची जात से लच्छन कहाँ आएँगे। कुछ भी हो जी रुपया तो जुटाना ही पड़ेगा तुम्हारा तो अब मुझे ज़रा भी भरोसा नहीं। क मालूम किसी दिन मुझे मार कर त्रण ज़ेवर निका ले जाओ तो छोरी यों ही रह जाए।

रत्नी : (असहिष्णु होकर) कान पक गए माँ अ यह कथा-पुराण बन्द करो। सच कहती हूँ तुमसे, कल जो सोभी मौसी इस घर में आई तो मैं उसका हा पकड़ कर बाहर निकाल दूँगी। दूसरों के घरों में आ लगाने के सिवा और भी कुछ आता है उसे ?

पन्ना : (नाराज हो कर) सोमी को क्यों कोसती है। उसने तो जो सुना है वही कहा है, कुछ अपनी तरफ़ से तो मिलाया नहीं है। आदमी अच्छा हो तो दूसरा बुराई करे ही क्यों। दोस अपने में होता है न तभी दूसरों की बातें कड़वी लगती हैं, समझी।

रत्नी : समझ गई माँ, पर अब इस राग को तुम बन्द करो। बुराई यदि आ ही गई है तो सुधर जाएगी। यों ताने मारने से क्या होगा। बापू?

मगन : (सिर झुका कर) हाँ।

रत्नी : (करुणा स्वर में) सोमी मौसी ठीक कहती है बापू?

(मगनलाल निरुत्तर हो जाता है)

पन्ना : (व्यंग से) बस देख लिए न अब तो लच्छन? सोमी को घर से निकाल रही थी। पहले घर के घोड़े को सिधा, तब दूसरों को सिधाना।

रत्नी : यह काम ठीक नहीं बापू। सट्टा करोगे तो कुछ डूबोगे और हमको भी डुबाओगे। पैसा माँ को दिया करो। वह भी आख़िर कहाँ तक अपने हाड़ गलाती रहेगी? बुराई को नष्ट कर देना ही अच्छा है। है न बापू!

मगन : (धीरे से) हाँ बेटी।

रत्नी : तो बापू गंगा जी की सौगन्द खाकर कहो कि अब से सट्टा नहीं करोगे।

मगन : (हिचकिचा कर) मैं.....मैं....मैं.... नहीं करूँगा।

(इसी समय किवाड़ खटखटाने का शब्द होता है। मगनलाल झपट कर उठता है और किवाड़ खोल सामने खड़े व्यक्ति को देख धीरे से कुछ कहता है।)

रत्नी : (पास आकर) कौन है बापू?

मगन : (धीरे से) गणेशी है रत्नी।

रत्नी : क्या कहते हैं?

मगन : भोजसिंह बुला रहा है, बुलाने आया है।

पन्ना : (जोर से) मत जाना उसके साथ, कह देती हूँ।

मगन : रत्नी जाऊँ?

रत्नी : (कुछ सोच कर) अच्छा खाना खा लो फिर चले जाना। पर देखो सट्टा न करना।

पन्ना : ओहो जैसे तेरी बात मान ही लेंगे न?

मगन : विश्वास कर पन्ना, मैं सट्टा नहीं करूँगा। गणेशी तू चल। मैं खाना खाकर आता हूँ।

(गणेशीलाल चला जाता है। मगनलाल कोठरी के किवाड़ बन्द कर लेता है।)

तृतीय दृश्य

स्थान : बाज़ार।

(रात आधी से अधिक बीत चुकी है। दुकानें बन्द हैं। उन्हीं बन्द दुकानों के तख़्तों पर रात आबाद करने वाले कुछ आदमी बैठे हैं। मगनलाल भी एक दुकान के तख़्ते पर बैठा है। भोजसिंह और गणेशीलाल पास ही लेटे बीड़ी के कश खींच रहे हैं। भोजसिंह अच्छा ऊँचा-पूरा आदमी है। पहनाव में एक तेल से चिकटी बण्डी और धोती है। सूरत से ही हलवाई दिखाई देता है। गणेशीलाल में कोई विशेषता नहीं, बस उसकी मूछें बहुत बड़ी-बड़ी हैं। दुबले-पतले मुँह पर वे ऐसी लगती हैं जैसे कि ढूहे पर बाँस का झुरमुट हो।

गणेशी : ओ बे मंगू, यार आज इतना सुस्त क्यों है।

मगन : सुस्त क्या यार। वो घीसू की लुगाई है न सुभागी, चुड़ैल ने न जाने कहाँ से पता लगा लिया सट्टे की बाबत। कम्बख़्त ने जाकर पन्ना के कान भर दिए। आज तो यार ऐसी ऐसी सुनाई है उसने कि खाना भी हराम हो गया।

भोजसिंह : (हँस कर) वाह रे मरद। अबे लुगाई की बात सुन ली तूने? अरे मेरी औरत मेरे ख़िलाफ़ बोले तो साली का मूँड कतर कर रख दूँ। मजाल है जो वो मेरे सामने बोल जाए?

गणेशी : अबे साले तू भी अपने को मरद कहता है? औरत जान यों मुँह चढ़ कर बोली और तू चुपचाप सुनता रहा। मैं तेरी जगह होता तो भगवान् क़सम सच कहता हूँ उसको पहले घर से निकाल कर तब कहीं पानी पीता। डूब मर बे चुल्लू भर पानी में।

मगन : तुमसे मेरी क्या बराबरी भैया। तुम ठहरे राजा मैं हूँ छीपा। मरद भला कहाँ से होऊँगा? कम से कम इतनी अकल तो मुझ में है कि औरत पर हाथ न उठाऊँ। अपनी सीख मुझे न सिखा दादा। न मेरे बाप ने कभी ऐसा किया; न मैं करूँगा। औरत की चार बात सुन कर सरम नहीं आती मुझे। सरम तो

तब आवे जब मैं भी उलट कर उस पर वार करूँ।

गणेशी : (उठ कर व्यंगपूर्वक) हाथ उठाएगा किस बल पर बेटा। औरत की कमाई जो खाता है।

मगन : कुछ भी समझ ले। तुम लोगों के साथ सट्टा खेलता हूँ, जुआ करता हूँ, झूठ भी बोलता हूँ पर इतना नीच काम तो कभी नहीं कर सकता। इतना जानता हूँ कि पन्ना से ताक़तवर हूँ, चाहूँ तो उसको चींटी की तरह मसल सकता हूँ पर कर सकता हूँ इसीलिए नहीं करना चाहता।

भोजसिंह : छोड़ बे यार इस क़ानून को। बता आज कितने लगाए हैं।

गणेशी : मेरे पास थे बत्तीस रुपए। घर बेचा, गहने बेचे आज यह आखिरी अंगूठी भी बेच दी। सब रुपए लगा दिए देखूँ किस्मत कितना ज़ोर मारती है।

मगन : मैं नहीं लगाऊँगा।

भोजसिंह : क्यों।

मगन : रत्ना ने आज क़सम दिलादी हैं। बड़ी हैं! जेठ में ब्याह करना है। सट्टे में बर्बादी के सिवा और कुछ नहीं। तुम लोगों ने रंगीन सपने न दिखाए होते तो कभी पैसा न लगाता। महल तो बना नहीं, बनी बनाई झोंपड़ी जरूर टूट जाएगी। रहने दे दादा इतनी बात मानी जो ही बहुत है।

(इसी समय सामने से गोपालदास आता है। गोपालदास दुबला पतला अधेड़ आदमी है। सिर पर पगड़ी है, बंडल जैसी। मुँह में पान भरा है। बोलता है तो पीक के फुहारे छूटते है)

गोपालदास : राम राम यारो, कहो क्या लगाया आज।

भोजसिंह : एके, चौके और आठे पर मेरे पाँच-पाँच गोपाल जी।

गणेश : साते और पाँचे पर पाँच पाँच और चौके पर बाईस।

गोपालदास : और तूने मंगू ?

मगन : मेरे पास पैसा नहीं है।

गोपाल : अरे पैसा नहीं है तो मुझ से ले, पर लगा जरूर। सट्टा तो जिन्दगी है। बोल कितना दूँ।

मगन : (हिचकिचा कर) नहीं दादा, मैं सट्टा नहीं करूँगा। रत्ना ने क़सम दिला दी है।

गोपाल : जा रे क़सम वाले। मेरी घरवाली रोज माथे फोड़ती है, क़सम दिलाती है पर मैं क्या डरता हूँ ? ऐके पर आज मैंने पूरे पचास लगाए हैं, निकल आया तो पौ बारह हैं, नहीं निकला तो ये भी डूबे ही सही। आज नहीं तो कल मिलेंगे। या तो इस पार या उस पार। बोल दूँ दस का पत्ता ?

(मगनलाल कुछ कुछ ललचा जाता है। गोपालदास भाँप लेता है।)

गोपाल : क़सम की बिसात घर तक है, यहाँ कौन देखने आता है। लगा। डरता क्या है। दस के बीस, बीस के चालीस और चालीस के हज़ार बनते क्या देर लगती हैं।

मगन : (अनिश्चित स्वर में) नहीं दादा, मुझे लालच मत दो। रुपए हार गया तो तुम्हें कहाँ से चुकाऊँगा। बहुत हारा हूँ दादा, अब माफ़ करो। कमज़ोर आदमी हूँ, इतना लालच मत दो।

गणेश : तू इतना डरपोक है मंगू। मुझे देख। सब फूँक डाला। पर आज भी लगाता हूँ। अबे सट्टा तो ज़िन्दगी है।

भोजसिंह : हाँ, हाँ लगा, मौके की बात है। चेत गई तो आज रात में ही पचास साठ बना लेगा। जोरू को दे देना। क़सम से कहता हूँ, तेरे पैर धोकर पीएगी। औरत को पैसा दो और जो जी चाहे करवाओ।

मगन : (निराशा से) पन्ना को तू जानता नहीं भज्जू।

गोपाल : अबे यार है तो औरत ही न। लगा। मैं कहता हूँ सुनहरा मौक़ा है, हाथ से मत जाने दे।

(मगनलाल इनकार करता है पर तीनों उसको रंगीन महल के सपने दिखाते हैं, आखिर वह फिसल जाता है।)

मगन : अच्छा तो लगाए पाँच साते के, पाँच आठे के।

गोपाल : शाबास बेटा।

(सब चुप बैठे नम्बर खुलने का इन्तजार कर रहे हैं। बम्बई से इन्दौर और इन्दौर से फिर यहाँ समाचार आएगा। नम्बर निकलेगा अमरीका में, पैसे लगेंगे यहाँ। मगनलाल का चेहरा उड़ा हुआ है। गोपालदास टेलीफ़ोन से कान लगाए बैठा है। गणेशीलाल और भोजसिंह निश्चित-होकर बीड़ी फूँक रहे हैं। तीन नम्बर खुल चुके हैं। भोजसिंह और गणेशीलाल का चेहरा

चमकने लगता है ।)

गोपालदास : हौसला रख मंगू, सच कहता हूँ आज तेरी क़िस्मत ज़रूर खुलेगी । इस बाज़ार में साता और आठा लगाने वाले बहुत कम हैं । चौके बहुत लगे हैं, देखें किसका भाग खुलता है ।

भोजसिंह : फ़ून सुनो गोपाल जी ।

गोपाल : (टेलीफ़ोन कान से लगा कर) हलो, हलो । चोका, हलो पाँची की उम्मीद है ? पाँचा हलो ।

मगनलाल : (धीरे धीरे) हे भगवान् आज लाज रखना । इन लोगों के कहने में आकर रत्नी की दी क़सम तोड़ी है । जितने लगाए हैं उतने तो वापस दिला देना । बस आज के बाद फिर कभी नहीं लगाऊँगा । लाज रखना प्रभु ।

गोपाल : (टेलीफ़ोन पर) हलो, हलो क्या चौका ? बस चौका खुला ? हलो ! चौका ।

भोजसिंह, गणेशीलाल : (एक साथ) चौका खुला गोपाल जी ?

गोपाल : (निश्चिन्तता से) हाँ यारो, तुम्हारी क़िस्मत तेज़ है । करो अब सबसे वसूल । बेटा मंगू, तू और मैं तो डूबे आज ।

मगनलाल : हे भगवान् ! मैं तो पहले ही मना कर रहा था दादा । तुम्हीं ने ज़ोर करके लगवा दिए । अब ये दस रुपए कहाँ से चुकाऊँगा ।

गोपाल : कोई बात नहीं मंगू । रुपया कल दे देना । कल एक हाथ और सही, इस पार या उस पार ।

(नम्बर खुलते ही एक-एक कर के सभी वहाँ इकट्ठे हो जाते हैं । रुपयों का बंटवारा होता है । चौका लगाने वाले केवल सात निकलते हैं । चौके वालों के हिस्से में पचास, पचास रुपए आते हैं । कुछ चले जाते हैं, कुछ आपस में बातें करने लगते हैं ।)

मगनलाल : (खड़ा हो कर) अच्छा भाई राम राम । खोटी क़िस्मत है हमारी । रत्ना की क़सम तोड़ी और उधारी की माथे पर खाई । वाह रे सट्टे । अब तो भैया अपनी तो तबीयत भर पाई । (हंसकर) सट्टे की कमाई, जैसे आए वैसे जाए । कोई बात नहीं दादा, तुम्हारा रुपया कल ज़रूर दूँगा ।

गोपाल : रुपया कल ज़रूर मिल जाना चाहिए । मंगू ।

मगनलाल : (जाते जाते रुक कर) दूँगा दादा, ज़रूर दूँगा चाहे अपने कपड़े ही क्यों न बेचने पड़ें । सट्टा नंगा न करेगा तो क्या करेगा कहीं से भी ला कर दूँगा । दादा न तुम फुसलाते न मैं रुपए लगाता । हुआ तो दिया, ऊपर से पत्थर फेंक रहे हो ।

गोपाल : (नाराज़ होकर) वाह, लगाने वाला तो तू था । मन का पक्का होता तो मेरी बातों से क्यों फुसलता । बेटा दोस अपना होता है, उसे दूसरों पर मत मढ़ ।

मगनलाल : (रोष से) रहने दो दादा । अंगूर सामने रख कर कहते हो खा, और जब खा डाले तो वापस माँगते हो । अच्छा न्याय है तुम्हारा ?

गोपाल : (क्रोध से) बड़ा न्यायी है तू । है तो बेटा जात का छीपा ही न, ओछापन न दिखाएगा ? जात का असर तो मरने पर भी नहीं जाता ।

मगनलाल : मुँह संभाल कर बात करो दादा । छीपा हूँ पर तुम से लाख दर्जे अच्छा हूँ । तुम्हारी तरह किसी ग़रीब को फुसला फुसला कर मैं उसे खाई में नहीं डालता । बनिया होकर भी तुम चमार से भी गए बीते हो ।

(गोपालदास उछल कर मगनलाल का गला पकड़ लेता है । भोजसिंह किसी प्रकार दोनों को अलग करता है ।)

भोजसिंह : ग़म खा मंगू । बात तो दस रुपए की ही है न । कल फिर लगाना, आ जाए तो चुका देना ।

गोपाल : (दाँत पीसकर) साला, आया वहाँ से मेरी जात बखानने । ला इसी वक़्त दे तू मेरे रुपए ।

मगनलाल : नहीं दूँगा । कल का वायदा है, कल बात करना, आज बोले तो गरदन मरोड़ दूँगा ।

गणेशी : बस मंगू बस ! तू घर जा । कल ही देना । गोपाल जी आज तुम उससे रुपए नहीं माँग सकते । कल न दे तो जो मन में आए सो करना ।

गोपालदास : कमीना कहीं का । खुद की बुराई नहीं देखता ।

मगन : बुरा मैं नहीं हूँ दादा, बुरे हो तुम, बुरी है तुम्हारी संगत और बुरी है सट्टे की लत जो भाई को भाई न समझे और दोस्त को दोस्त न माने । सट्टे की यह लत तुमने लगाई । मैं बुरा नहीं हूँ । ग़रीब हूँ, कमज़ोर हूँ । तुम्हारी तरह न किसी को ठगता हूँ न

सपने ही दिखाता हूँ।

गणेशी : फिर बोला मंगू? कहता हूँ घर जा। चलो गोपाल जी। जा घर जा।

(गणेशीलाल गोपालदास को घसीट कर एक ओर ले जाता है। मगनलाल जलती आँखों से गोपालदास को देखता हुआ घर की ओर चला जाता है।)

२००, भाटापाड़ा,
कोटा (राजस्थान)

—विमला बांठिया

संकट-काल में वीरता

महान् टिटानिक जहाज़ डूब रहा था। इस जहाज़ पर २,२०७ यात्री थे और जहाज़ पर जितनी नाव थीं, उनमें कुल १,१७८ यात्री ही आ सकते थे। इस जहाज़ के विषय में बहुत-से लोगों की यह धारणा थी कि "इस जहाज़ को भगवान् भी नहीं डुबा सकते।" और अब वही जहाज़ डूब रहा था। अनेक यात्रियों में घबराहट थी। बहुत-से यात्री हाथों में मालाएँ लिए हुए भगवान् को पुकार रहे थे। नावों में बच्चों और स्त्रियों को उतारा जा रहा था। पत्नियाँ अपने पतियों से सदा के लिए बिदा ले रही थीं। बड़ा ही भयानक और करुणा जनक दृश्य था। परन्तु ऐसे संकट के समय भी कुछ लोग बहुत शान्त थे। इनमें एक महिला थी जो अपने पति को इस संकट में अकेला छोड़ने के लिए तैयार न थी। उसने अपने पति से कहा : "हम दोनों जीवन में अनेक वर्षों से इकट्ठे रहे हैं और इस संकट के समय भी इकट्ठे ही रहेंगे। तुम जहाँ जाओगे मैं भी वहीं जाऊँगी।" हज़ार समझाने पर भी उसने अपने पति को छोड़ कर नाव में जाने से इनकार कर दिया। एक और महोदय इस जहाज़ पर थे। इनका नाम विलियम स्टेड था। वे एक स्वतन्त्र पत्रकार थे। वे फ़र्स्ट क्लास के सिगरेट पीने के कमरों में ऐसे शान्त भाव से बैठे हुए थे कि जैसे कुछ होने वाला ही नहीं है।

एक महिला को जो कि नाव में उतर रही थी श्रीयुत बेंजमिन गग्गेनहीम ने अन्तिम नमस्कार करते हुए कहा : "यदि मेरी मृत्यु हो जाए तो मेरी पत्नी से कह देना कि मैंने अपने अन्तिम क्षण तक अपने कर्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न किया।" उसने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहने हुए थे और वह कह रहा था : "हम एक शरीफ़ आदमी की तरह मृत्यु का आलिङ्गन करेंगे।"

—"ए नाइट टु रिमेम्बर" पुस्तक से

कला-चर्चा

भारतीय कला : विहंगावलोकन †

मैं स्वयं न तो कलाकार हूँ और न कला का ज्ञाता। परन्तु हैदराबाद राज्य में यहाँ की चित्रकला के निरीक्षण-कार्य में आयु का अधिकांश भाग मुझे व्यतीत करना पड़ा है। और इस राज्य के पुरातत्व क्षेत्र और कला को देख कर मुझे अन्य देशों की चित्रकला का जो अवलोकन मैंने किया था, उसका स्मरण अनायास हो आता है। इस प्रकार मुझे कला के विषय में कुछ अनुभव हो गए हैं।

चित्रकला बहुत प्राचीन कला है। यदि इस कला का विशेष अध्ययन और उसकी गहराइयों में उतरा जाए तो कला मनुष्य के जीवन की उन्नति में सहायक सिद्ध होती है। प्रतिभा, आचार-विचार की शुद्धता, जनहित के लिए, धन की कमी को दूर करने के लिए और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए कला की उन्नति आवश्यक है। कला को उच्चकोटि तक पहुँचाने के लिए और मार्ग ढूँढ़ने के लिए हमें प्रयत्न करने की विशेष आवश्यकता है। पिछले दो सौ वर्षों के इतिहास पर हम दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि कला (चित्रकला) बहुत प्राचीन काल से उन्नति की ओर अग्रसर होती रही है। कुछ समय पूर्व हम पर विदेशी शासन करते थे। उनकी निगाह में हमारी किसी भी वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं हो पाता था और न उसका उचित सम्मान होता था। हमारे रहन सहन का ढंग, हमारी आदत, हमारे जीवन के पहलू, हमारे देश की भाषा से विदेशी शासक अपरिचित थे। परन्तु पश्चिमी भारत और पंजाब के पर्वतीय प्रदेश में अंग्रेज़ी का प्रभाव अपेक्षाकृत कम था, साथ ही अंग्रेज़ी सभ्यता का प्रभाव भी उस समय तक वहाँ नहीं पड़ा था। चित्रकला की वहाँ बहुत कुछ उन्नति हुई। इस प्रदेश की चित्रकला को विशेष रूप से कांगड़ा की कला कहा जाता है। इन कलाकृतियों में राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं।

भारत में प्राचीन काल से धार्मिकता का बोलबाला रहा है और चित्रकला में भी विशेष कर अधिकांश स्थलों पर देवी देवताओं के ही चित्र हैं। इनकी शैली और माध्यम दोनों उजले रंगों के ही होते हैं। लेकिन जनता ने इन चित्रों का बहुत सम्मान किया। मुझे अपने बचपन की बात याद हो आती है कि रवि वर्मा द्वारा निर्मित श्रीकृष्ण और राधा के चित्र दीपावली के अवसर पर प्रत्येक गृह का स्वामी खरीदता था। उस समय इनका धार्मिक मूल्यांकन ही अधिक था। शुद्ध कला की दृष्टि से इन चित्रों को सम्मान नहीं मिला था।

दिल्ली, आगरा, लखनऊ, बनारस और जयपुर में जहाँ मुगल साम्राज्य के काल में चित्रकला के लिए व्यापक क्षेत्र थे, उस समय के कलाकारों द्वारा कला प्रेमियों को कला की शिक्षा भी दी जाती थी। मुगल साम्राज्य का पतन होते ही कलाकारों की कला-प्रवृत्ति का ह्रास हुआ। चित्रकला सिर्फ़ नक़ल पर ही आधारित रह गई। यूरोपीय सैनिकों के आगमन से कला पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु कला की पहले जैसी बिक्री नहीं रही। इस समय भी इन स्थलों पर ऐसे चित्रकार और कलाकार निवास करते हैं, जो मुगल कालीन और राजपूत कालीन कलाकृतियों की हूबहू वैसी ही नक़ल करके दर्शकों और व्यापारियों को देते हैं और इन चित्रों को असली कह कर खूब मूल्य आँकते हैं। यह नक़ल करने वाले कलाकार इस प्रकार नक़ल करते हैं कि असली और नक़ली कलाकृतियों को पहचानना कठिन हो जाता है। देश और विदेश के अजायब घरों में इनकी खोज की जाए तो बहुत-सी नक़ली चित्रकला के चित्र मिल सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बम्बई, कलकत्ता और अन्य प्रान्तों में चित्रकला की शिक्षा देने के लिए शिक्षणालय स्थापित किए गए। परन्तु एक तो शिक्षकगण विदेशी थे, दूसरा वे विदेशी

---

† १५ वीं हैदराबाद कला प्रदर्शिनी का उद्घाटन भाषण

शिक्षण पद्धतियों के अनुसार अपना शिक्षण चलाना चाहते थे। इनके सामने राष्ट्रीय भावना की आवश्यकता थी। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि ग्रियर्सन साहब ने अजन्ता की चित्रकला पर दो बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। ग्रियर्सन महोदय भी बहुत समय तक अजन्ता में रहे हैं। उन्होंने अपनी पुस्तकों में बोधिसत्त्व और पद्मपाणि के चित्रों की कलाकृति का, समावेश नहीं किया। दूसरी तरफ़ अजन्ता के बेलबूटों के विवरण में उन्होंने एक मोटी सी पुस्तक लिख दी। इसका कारण यह है कि ग्रियर्सन महोदय ग्रीक और रोमन की कला से प्रभावित थे। भारतीय कला का असली नमूना जो अपने समय के जीवित इतिहास का प्रमाण है, उनकी कल्पना में भी नहीं आया। कला को परखने का यह नमूना बिलकुल भ्रांतिपूर्ण था। फ्रान्स की एक कला शिक्षण संस्था ने इस गलती को दूर करने का कुछ प्रयत्न किया तो अवश्य, किन्तु उसका कोई विशेष परिणाम न निकला।

मिस्टर हावैल जो कि कलकत्ता के कला स्कूल के आचार्य थे, भारत की कला की उन्नति में सहायक बने और पश्चिमी देशों से कला के आदान-प्रदान का श्रेय भी उन्हें प्राप्त है। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें भी लिखी थीं। इन पुस्तकों में उन्होंने कला की महत्ता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। मिस्टर हावैल को अपना दृष्टिकोण स्थापित करने में डा. अवनीन्द्रनाथ ठाकुर से बहुत सहायता मिली। उन्होंने अगस्त १९२८ में आक्सफोर्ड में अपने भाषण में कहा था: "इंग्लैण्ड और फ्रान्स की विशिष्ट कला-कृतियों पर हिन्दुस्तान की कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।" इस शताब्दी में हमें कला की सम्मानित शिक्षण संस्थाओं में चित्रकला की झलक नज़र आती है। इस समय लोक-कला को भी विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला है। पंजाब की कला और स्व० अमृत शेरगिल की कला भी उल्लेखनीय है।

बम्बई के चित्रकारों पर अजन्ता की कला का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। पिछले दो महायुद्धों के कारण यूरोप की चित्रकला में जो क्रान्ति उत्पन्न हुई है इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा है। आज इस औद्योगिक प्रदर्शनी में (चित्रकला प्रदर्शनी का) उद्घाटन किया जा रहा है। सम्भवतः इसमें इस प्रकार की भी कलाकृतियाँ हों। मैं हर वस्तु की उन्नति का समर्थक हूँ। पीछे मुड़ कर देखना मुझे पसन्द नहीं है। लेकिन मैं कलाकारों से निवेदन करना चाहता हूँ कि वे नकल न करें और नवीन सामग्री देने का सदा प्रयत्न करते रहें। चाहे वे साधारण रंगों से निर्मित हो या विशेष रंगों से निर्मित। चित्रों में प्राण हो। चित्रों के द्वारा जीवन का दिग्दर्शन हो। चित्रों का दृष्टिकोण समाजोन्मुख हो; कला सीखने के लिए कलाकार को शिक्षा दी जाए और उसके खर्च का भार भी उठाया जाए। कला के शिक्षणालय आज बहुत कम हैं, जो विद्यार्थी कलाकार बन कर निकलते हैं वे विशेषकर स्कूलों में ड्राइंग मास्टर ही बनते हैं, उनके लिए कोई दूसरा मार्ग नहीं है। सिनेमा और जलपान गृहों में जनता की भीड़ लगी रहती है। इनसे बातचीत की जाए और इनके घरों में जाकर इनका अध्ययन किया जाए तो ये बड़े असभ्य और असंस्कृत मालूम होंगे। ऐसा सब कला की अज्ञानता के कारण है।

सामान्य जनजीवन की कल्याण-कामना को लेकर ही कोई सच्चा कलाकार बन सकता है। हमारी सरकार भी इस ओर ध्यान दे रही है। हमारे देश में कला की उन्नति के लिए विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता है। प्रथम तो हमारे देश के नेता गण गौर करें कि चित्रकला की शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिए। जो विद्यार्थी कला की ओर झुकें या उस ओर उनकी रुचि हो तो उन्हें क्या सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ। कला विद्यालयों में किस प्रकार का प्रबन्ध किया जाए और कैसे अध्यापक हों? इस विषय पर गम्भीर रूप में सोचने की आवश्यकता है। जनता के लिए सरकारी मकान जो निर्मित किए जा रहे हैं उनमें चित्रकला का भी कुछ प्रबन्ध होना चाहिए। मेरे विचार से ग्राम-सुधार या प्रारंभिक शिक्षा में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के साथ इस योजना को भी कार्यान्वित किया जाना चाहिए। कला समाज से अभिन्न है; उससे व्यक्ति को बौद्धिक चेतना के अतिरिक्त इतिहास और समाज आदि बहुत से सामान्य-असामान्य विषयों का भी अच्छा दिग्दर्शन होता है। हैदराबाद राज्य की कला का एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्व रहा है। वह भारत को ही नहीं, विश्व को अभी भी एक महान् सम्पत्ति दे सकती है।

हैदराबाद —डा० गुलाम यज़दानी

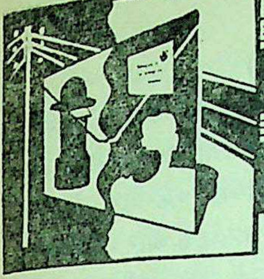

चिट्ठी पत्री

(१)

वर्तमान कवि और कविता

'अजन्ता' के फरवरी में अंक प्रकाशित "हिन्दी कविता की नई विचार दृष्टि" शीर्षक लेख के अन्तर्गत ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—"आज की कविता में न गद्य का अर्थ-गौरव ही प्रगट हो सका है, न कविता का भाव-सौन्दर्य ही।" अर्थात् आजकल कविता पढ़ते और सुनते समय यही समझना कठिन हो गया है कि हम जो पढ़ या सुन रहे हैं, वह आखिर है क्या? हिन्दी की कविता को आखिर हो क्या गया है? न भाव हैं न विचार, न भाषा न व्याकरण, न अलंकार न छन्द। और दुहाई है प्रयोगवाद, युग-प्रवर्तन, विचार-स्वातन्त्र्य आदि की!

कारण स्पष्ट है। भाव के लिए अनुभूति और अनुभव चाहिए। वे आए कहाँ से? आज के कवि को बात करना पीछे आता है, वह कविता पहले लिखने लगता है। विचार के लिए चाहिए, अध्ययन। उसमें होता है परिश्रम! अतः विचार-स्वातन्त्र्य के नाम पर उसमें भी छुट्टी ले ली गई है और जो जी में आता है लिख दिया जाता है। गद्य लिखने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक और पद्य के लिए छन्दों का ज्ञान अपेक्षित है। जब दोनों के नाम पर रामजी का नाम हो, तब एक यही रास्ता शेष रह जाता है कि दोनों को फ़िजूल अथवा फ़िजूल के बन्धन कह कर विदा कर दिया जाए। यही कारण है कि आजकल की तथाकथित कविता न गद्य ही रह जाती है और न पद्य ही बन पाती है।

साहित्य-सर्जना एक तपस्या है। इसके लिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय, लगन, विनम्रता आदि की आवश्यकता पड़ती है। इनके पचड़े में कौन पड़े? अस्तु, प्राचीन परम्पराओं को बुरा-भला कह कर नवीन प्रयोगों के नाम पर मनमानी करने का रिवाज चल पड़ा है। यही कारण है कि आज के दिन हिन्दी का प्रत्येक कवि युग-प्रवर्तक ही दिखाई देता है। आज की हिन्दी-कविता को कदाचित् केवल स्वयं रचयिता महानुभाव भले ही समझते हों। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि आप कवि जी से कविता की किसी पंक्ति की व्यवस्थित व्याख्या करने को कहें तो वह आपको अत्यन्त टकसाली उत्तर दे देंगे: "कवि का कार्य रचना करना है, व्याख्या करना अध्यापकों का कार्य है। कविता तो अनुभूति के क्षणों में की जाती है। कवि न मालूम किस धुन और मस्ती में लिखता है?"

आप किसी कवि से यह पूछ कर देखिए कि हिन्दी के किस किस कवि को आप आदर्श मानते हैं, तो इनकी वचनावलियों के ये नमूने होंगे: "हिन्दी साहित्य में है ही कौन? वीर गाथा काल में केवल युद्धों के अतिरंजित वर्णन हैं, तुलसी ब्राह्मणवादी थे, सूर का दृष्टिकोण संकुचित था, दुनिया से वे कोसों दूर थे। रीतिकाल में केवल बँधी परिपाटी के नायिकाभेद लिखे गये हैं, भारतेन्दु, रत्नाकर पुरानी लकीर को ही पीटते रहे, द्विवेदी युग वाले आदर्शवादी बने रहे, प्रसाद और पंत यही तय न कर पाये कि कविता में केवल भावव्यंजना हो अथवा प्रचार का साधन आदि।" तात्पर्य यह है कि वे स्वयं ही अपने आदर्श हैं और उन्हें हमेशा यही शिकायत बनी रहती है कि हिन्दी वाले उन्हें पहचान नहीं सके हैं।

आखिर क्या किया जाए? सबसे पहिले कवि-सम्मेलनों का होना बन्द किया जाए जिससे गवैया और नचैया कवियों का दौर-दौरा बन्द हो। इसके अतिरिक्त विद्वानों को चाहिए कि केंचुआ, रबड़ अथवा गड़बड़ छन्द में लिखी जाने वाली कविताओं का पढ़ना, सुनना और छापना बन्द कर दें। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों को चाहिए कि वे कवि को विवश करें कि कविता के साथ उसका स्पष्ट एवं सुबोध अर्थ भी लिखा

रहना चाहिए।

कविता के क्षेत्र में एक अजीब गदर हो गया है—न भाव है, न भाषा, न अर्थ है, न मतलब। और जनाब बन गए हैं युग-प्रवर्तक, प्रयोगवादी और न मालूम क्या क्या ?

नीचे लिखी कविता का जरा मुलाहिज़ा तो फ़रमाइए :—

"तुम्हें जाने
अगर इस बार बतला दो
हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज ?
ऊ हूँ क्यों बताएँ हम
छिपाने में पुरुष होते नहीं है कम
किसी से भी
न बतलाओ नहीं मालूम है तो
यों किसी को दोष देने से
मिलेगा क्या ?"

नई कविता—१

तथा

"यह आम रास्ता नहीं
इधर से मत जाओ
इस गलियारे से जाना
वर्जित है।"

(साहित्यकार, सितम्बर-अक्तूबर अंक, ५५)

आप यह कह सकते हैं कि यदि छन्दों का बन्धन नहीं स्वीकार है तो अपनी बात को सीधे तौर पर गद्य में ही क्यों नहीं लिख देते हैं। क्या यह जरूरी है कि अपनी प्रत्येक बात पद्य में ही कही जाए ? हम आपको विश्वास दिला दें, गद्य लिखते समय लिंग-वचन की भूल का भय लगा रहता है और कविता में इस प्रकार की भूलें यों ही माफ़ समझी जातीं हैं।

उर्दू का शायर आज भी किसी उस्ताद का शागिर्द होता है। यही कारण है कि मुशायरे में कवि सम्मेलन की अपेक्षा कहीं अधिक रस आता है। यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी की कविता की गतिविधि में सुधार हो और वह सही रास्ते पर आए, तो हमें गुरु-शिष्य वाली परम्परा को पुनर्जीवित करना पड़ेगा।

शीतला गली,
आगरा

—राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

(२)

कई वर्षों से नियमित रूप से 'अजन्ता' पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होता रहा है। मेरे विचार से 'अजन्ता' हिन्दी के गिने-चुने मासिकों में से एक है। हिन्दी में वैसे तो सैकड़ों की संख्या में साप्ताहिक और मासिक प प्रकाशित हो रहे हैं (कुछ तो दो चार महीने या केवल एक ही अंक निकाल कर ठप्प हो जाते हैं) किन्तु राष्ट्र भाषा हिन्दी की महत्ता समझते हुए, उसका उचि रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली पत्रिकाएँ कुछेक ही हैं। 'अजन्ता' उसी श्रेणी की पत्रिकाओं में से एक है। दक्षि भारत में हिन्दी के सही ढंग से प्रचार की कितनी आव श्यकता थी और अब अधिक बढ़ गई है। यह बात हिन्दी प्रेमियों से छिपी नहीं है, किन्तु मनोरंजन के लिए गीत कहानियाँ तथा एकांकी नाटकों के साथ-साथ जिसे मा सिक भोजन कहा जा सकता है। ऐसी सामग्री 'अजन्ता' के प्रत्येक अंक में मिल ही जाती है और इस दृष्टि से य संग्रहणीय भी हो जाती है, विशेषकर इसके सम्पादकी सामयिक, और नीर-क्षीर तथा कला-चर्चा के स्तम्भ सराहनीय हैं।

फरवरी का अंक पढ़ा। फरवरी अंक के गीतों में कुमारी श्यामा श्रीवास्तव तथा आरसी प्रसाद सिंह के गीत सुन्दर बन पड़े हैं। आलोचनात्मक लेखों में 'हिन्दी कविता की नई विचार दृष्टि' के लेखक बधाई के पात्र हैं।

'काव्य रचना के मूल में स्थित प्रेरणाएँ' त 'जायसी की आध्यात्मिक भावना' ऐसे लेख हैं जिन माशे भर भी नवीनता नहीं है।

दुग्गल जी के पद्यरूपक तथा मराठी लोकगीत ले के बारे में क्या कहा जा सकता है—कला स्वयं बोलत है। इस प्रकार आप देश की अन्य भाषाओं के साहि से जो परिचय करा रहे हैं, उसके लिए आपको त आपके सहयोगियों को हार्दिक बधाई।

आल इंडिया रेडियो,
लखनऊ

—**भगवतशरण अग्रवा**

(३)

'अजन्ता' के दिसम्बर, जनवरी तथा फरवरी अं आद्योपान्त पढ़े। दिसम्बर अंक में डा० धर्मवीर भार की 'अन्धेरे का फूल' प्रतीकात्मक शैली की श्रेष्ठ प्रतिनिधि रचना है। श्री हरिनारायण मिश्र, कुमा

इन्दिरा 'नूपुर' तथा शकुन्तला श्रीवास्तव की कविताएँ सुन्दर हैं। श्री रामरजपाल द्विवेदी की कविता में अनुभूति है किन्तु शैली शिथिल है। विचारानुकूल भाषा एवं प्रभावपूर्ण शैली के लिए प्रयत्नशील होने की उनसे आशा की जा सकती है।

जनवरी की कविताओं में 'आम्रमंजरी' सर्वोत्तम है। वह कविता नहीं, किन्तु भावना की एक सुरभिपूर्ण सांस है। दूसरी उत्कृष्ट कविता 'हिन्दी का गीतकार' है। कवि यथार्थ में अपने युग की आवश्यकता, अभाव एवं अधिकारों का जागरूक प्रहरी है। श्री जितेन्द्र कुमार तथा आरसीप्रसाद सिंह के गीत सुन्दर हैं।

उच्च कोटि के साहित्यिक निबन्ध इन अंकों के विशेष आकर्षण हैं। अन्तर्प्रान्तीय एवं अन्तर्देशीय भाषा और उनके साहित्य के प्रति सजग और उदात्त दृष्टिकोण 'अजन्ता' को अधिक व्यापक और उसके क्षेत्र को विशद बनाता है। हमें आशा है कि 'अजन्ता' में दिए हुए निबन्ध साहित्यिक ही न हो कर विविध उपयोगी विषयों पर भी हों, जो साहित्य और जीवन दोनों के अधिक निकट हो।

'अजन्ता' में कहानी और एकांकी की कमी एक बहुत बड़ा अभाव उत्पन्न कर देती है। इन अंकों में 'शीराज़ी' एक सफल कहानी है।

'शीराज़ी' का अन्तर्द्वन्द और नाव्यकार की स्वाभाविक तटस्थता दोनों से पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। शीराज़ी और नाव्यकार, दोनों अपने-अपने स्थान पर औचित्य एवं विशेषता लेकर प्रतिष्ठित हुए हैं। कहानी का आकस्मिक अन्त उसमें नाटकीय प्रभाव की अभिवृद्धि करता है।

जनवरी अंक के पण्डित जगन्नाथ पाठक से निवेदन है कि संस्कृत के समृद्ध साहित्य के अमूल्य तथा उत्कृष्ट विचार प्राकृतिक भावानुभूति एवं अन्यान्य उपयोगी विषयों को प्रस्तुत करने का कष्ट करें 'संस्कृत साहित्य में हास्य के विविध प्रकार' लेख को लिखने में पर्याप्त श्रम किया है।

'अजन्ता' का फरवरी अंक अत्यन्त सुन्दर तथा सम्पूर्ण है। इस अंक की सभी कविताएँ तथा निबन्ध तथा कहानी और एकांकी कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं।

श्री जगदीशचन्द्र, विनोद रस्तोगी, जितेन्द्र कुमार हरिनारायण मिश्र तथा प्रेमशरण जी की कविताएँ अत्यंत भावपूर्ण और सुन्दर हैं। 'दो गीत' मर्मास्पर्शी और संवेदनशील कविताएँ हैं।

"हिन्दी कविता की नई विचार दृष्टि" लेख में लेखक ने वर्तमान हिन्दी-कविता की प्रगति, एवं उसने उन अभावों तथा अवरोधों का उन्मीलन किया है, जो नवीनता और मौलिकता की अभ्यर्थना के फलस्वरूप उसमें समाविष्ट होती जा रही है।

'नीरक्षीर' के अन्तर्गत 'अभियान', 'जिन्दगी बोलती है' तथा 'कल्याण' की निष्पक्ष समालोचना की गई है। मेरे विचार से 'अजन्ता' की समालोचनाएँ निर्दोष, निष्पक्ष तथा तर्कसंगत होती हैं उन पर पुनः सन्देह और दोषारोप की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सम्पादकीय में प्रान्तीय भाषाओं के स्वतन्त्र गौरव और अधिकार की सुरक्षा-स्वीकृति के साथ ही राष्ट्रभाषा के महत्वपूर्ण प्रश्न पर भी सीमारहित दृष्टिकोण के साथ विचाराभिव्यक्ति के लिए सम्पादक 'अजन्ता' सचमुच अभिनन्दनीय है।

साहित्य, कला, और भाषाओं के विविध प्रश्न एवं विषयों के साथ 'अजन्ता' का अन्तर्प्रान्तीय महत्व निर्विवाद माननीय है।

यह प्रसन्नता की बात है, कि 'अजन्ता' में व्यर्थ चित्रों की प्रदर्शनी नहीं है; किन्तु वह अपने नामानुरूप कलाप्रेम और कलात्मक उत्कृष्ट चित्रों से, सुरुचिपूर्ण पाठक के, ज्ञान-संवर्धन एवं सन्तुष्टि में सहायक है।

हमें 'अजन्ता' के उत्तरोत्तर विकास की कामना करते हुए हार्दिक प्रसन्नता होती है।

भार्गव आइस फैक्टरी,
कानपुर
१६ । १८ सिविल लाइन्स, **—श्यामा श्रीवास्तव**

(४)

नई 'अजन्ता' मिली। यद्यपि बहुत से अंशों से मैं सहमत नहीं हूँ किन्तु फिर भी सौमित्र का लेख पठनीय है, श्रम से लिखा गया है और तर्कपूर्ण रीति से अपनी बात कही गई है। दुग्गल जी का 'गीति-नाट्य' तो बहुत ही अच्छा है। इधर इतनी अच्छी कृति जो मन को छू जाए—मैंने नहीं पढ़ी। उन्हें मेरी ओर से अवश्य बधाई दे दें।

६६, अतरसुइया,
इलाहाबाद **— धर्मवीर भारती**

(५)

'अजन्ता' की प्रति मिली । यह कोई नई बात न होगी यदि मैं कहूँ कि 'अजन्ता' की सामग्री बहुत अच्छी है, वह प्रारम्भ से ही एक अच्छे स्तर की पत्रिका के रूप में साहित्य क्षेत्र में आई । फरवरी के अंक में सबसे बढ़िया लेख "हिन्दी कविता की नई विचार दृष्टि" पढ़ने को मिला, मैं लेखक की आलोचना का समर्थन करता हूँ और विशेषतय: उस अंश को सराहना चाहता हूँ जहाँ पर निराला जी के काव्य की चर्चा की गई है। निश्चय ही आजकल प्रयोगवाद के नाम पर काव्य की पर्याप्त छीछालेदर की जा रही है । जो कवि निराला जी के मुक्त काव्य की धारा को आगे बढ़ाने की जिज्ञासा रखते हैं या कोई नवीनता लाना चाहते हैं, उनसे निवेदन करना चाहता हूँ कि वे पहले काव्यात्मक भाव और फिर शब्द-भण्डार को अपने में बढ़ाएँ अन्यथा उनकी कोई भी इस प्रकार की कृति स्थायी न हो पाएगी। 'तार सप्तक' और 'नई कविता' की कितनी ही कविताएँ पढ़ कर हँसी आती है । 'अजन्ता' के इसी अंक में जो कविताएँ प्रकाशित हुई हैं उनमें आरसी प्रसाद सिंह, विनोद रस्तोगी, श्यामा श्रीवास्तव और जितेन्द्रकुमार की कविताएँ सराहनीय हैं । जगदीशचन्द्र की कविता न जाने क्यों, बिलकुल नहीं जँची । कमलेश्वर की कहानी जितनी अच्छी प्रायः होती है 'अस्तित्व की माँग' उससे कई डिग्री नीचे रह गई है । कथानक कुछ बन सका है । 'नीर-क्षीर' स्तम्भ में जिस निष्पक्ष आलोचना का रूप मिलता है वह कम पत्रों में देखने मिलता है । इस अंक में लेख सभी अच्छे स्तर के हैं केवल "काव्य-रचना के मूल में स्थित प्रेरणाएँ" नामक लेख अपने शीर्षक से अलग दिखाई देता है । उसमें बहुत कुछ होते हुए भी काम की वस्तु बहुत थोड़ी है। सामयिक बहुत अधिक रुचिकर लगा । इतने उत्कृष्ट सम्पादन के लिए आपको बधाई ही दे सकता हूँ।

६५ चक,
इलाहाबाद —कैलाश कल्पित

(६)

लगभग तीन वर्षों से मैं 'अजन्ता' का नियमित पाठक हूँ । फरवरी मास की रजत कलेवर से युक्त 'अजन्ता' की प्रति पा कर मन आनन्दविभोर हो उठा । आपके द्वारा शिष्ट, सुसंस्कृत एवं उच्च स्तर की सामग्री पाकर मन फूला न समाया । 'अजन्ता' के गत इतिहास के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि वह अबाध गति से उन्नति के पथ पर अग्रसर है 'अजन्ता' हिन्दी की सर्वोत्तम पत्रिकाओं में से एक है, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी । 'अजन्ता' के विविध स्तभों 'कला-चर्चा', 'चिट्ठी-पत्री', 'नीर-क्षीर' तथा सम्पादकीय की सामग्री अद्वितीय रहती है ।

इस मास के लेखों में पाण्डेय कपिल जी की "दो गीत" और जितेन्द्र कुमार जी की 'गीत' शीर्षक कविता बड़ी भली लगी । लेखों में सर्व श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, डा० सुरेशचन्द्र विद्यालंकार, कृष्णा सक्सेना डा० पट्टाभि सीतारामैय्या तथा शैलबाला जी के लेख मन भाए । "ऊपर की मंजिल" में श्री कर्तारसिंह दुग्गल ने हृदयस्पर्शी चित्र खींचा है । हर मास की तरह इस मास भी सम्पादकीय अपने ढंग का निराला लेख है । दक्षिण में हिन्दी का मार्गदर्शी 'अजन्ता' जैसा शायद कोई अन्य पत्रिका नहीं है ।"

मिशन विद्यालय,
डोरनकल —रामनारायण शर्मा

(७)

'अजन्ता' को उत्तरोत्तर प्रगति पर अग्रसर होते देख कर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव होता है । प्रकाशित रचनाओं के संतोष-प्रद स्तर, तथा सुन्दर रूप सज्जा के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें ।

१३, टीचर्स क्वार्टर्स, तिमारपुर
दिल्ली —बालस्वरूप 'राही'

(८)

'अजन्ता' के फरवरी, ५६ के अंक में प्रकाशित रचना "ऊपर की मंजिल" पढ़ कर मैं अपने को नहीं रोक सका । अतः यह पत्र मैं आपको लिख रहा हूँ। इस रचना में दुग्गल जी ने मानव जीवन की एक अति उपेक्षित भावना को स्वस्थ रूप दिया है, वह सर्वथा मौलिकता से पूर्ण है । दुग्गल जी को मेरी ओर से अवश्य बधाई दें ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद —ब्रजभूषण पाण्डेय

(९)

दिसम्बर और फरवरी की 'अजन्ता' के दर्शन हुए। धन्यवाद। आश्चर्य है कि उत्तर प्रदेश को हिन्दी का केन्द्रीय महत्व प्राप्त है, परन्तु उसका शिक्षा विभाग इस महत्व के अनुकूल अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहा है। 'अजन्ता' हैदराबाद राज्य की हिन्दी प्रचार सभा की मुख पत्रिका है और नर्मदा के दक्षिण भारत के अहिन्दी भाषी राज्यों में मुझे 'अजन्ता' से ऊँची किसी हिन्दी मासिक पत्रिका का पता नहीं। दस राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा यह पत्रिका स्वीकृत है। उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग द्वारा क्यों नहीं? कारण समझ में आता है। शिक्षा विभाग का कर्तव्य है कि वह सत्साहित्य—सामयिक और स्थायी की खोज में रहे और उसकी सूचना अपने शिक्षालयों तथा पुस्तकालयों को देते रह कर संग्रह की प्रेरणा भी देता रहे। यहाँ सत्साहित्य का प्रकाशन अपने प्रकाशनों की कई प्रतियाँ शिक्षा विभाग को मुफ़्त भेजें और ट्रेजरी चालान से पुस्तक पीछे तीस चालीस रुपए की भेंट दे, तब कई महीने बाद उस पर विभाग के देवताओं की स्वीकृति का प्रकाशन हो।

दिसम्बर की 'अजन्ता' में "मुदर्रिस की राम कहानी" की जिस सहृदयता से आलोचना हुई है, उसके लिए हार्दिक धन्यवाद। पुस्तक से न मुझे कमाना है न कदाचित् प्रकाशक को ही। उत्तर प्रदेश के शिक्षक बन्धुओं से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मैंने इस प्रदेश के शिक्षा विभाग की यथेष्ट लम्बी सेवा की है। विभाग द्वारा 'राम कहानी' की सूचना इन शिक्षक बन्धुओं तक पहुँचनी चाहिए थी। सो लम्बी भेंट का नियम होने के कारण प्रकाशक यह पुस्तक उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग को स्वीकृति के लिए भेज नहीं सके। उत्तर प्रदेश का शिक्षा विभाग अब जनता के प्रति उत्तरदायी है। पत्र-पत्रिकाओं में विभाग की इस 'व्यापारी' नीति के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन होना चाहिए।

राज्य-पुनस्संगठन के परिणाम में हैदराबाद को विशाल-आन्ध्र की राजधानी होना है। तब 'अजन्ता' के माध्यम से हिन्दी-संमार को द्रविड़ भाषाओं की साहित्यिक निधि मिलती रहनी चाहिए। हैदराबाद की स्थिति द्रविड़ और आर्य भाषाओं के संगम पर है। अतएव चारों—तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और द्रविड़ भाषाओं के सामयिक और स्थायी-साहित्य की नवनीत होकर यह पत्रिका प्रतिमास हिन्दी-संसार के सामने आया करे। इन भाषाओं की साहित्यिक निधि पर एक विशेषांक प्रकाशित होकर 'अजन्ता' के इस नए सेवा मार्ग का श्रीगणेश हो। इस सम्बन्ध में आवश्यक सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।

कपूर कुटी, हरदोई मार्ग
लखनऊ

—कालिदास कपूर

(१०)

मैंने 'अजन्ता' के बहुत से अङ्क पढ़े हैं, उसके लिए आपको अनेक धन्यवाद। 'अजन्ता' हिन्दी-जगत् की एक उच्चकोटि की मासिक पत्रिका है। उसकी सामग्री का चयन अत्यन्त सुरुचि के साथ किया जाता है। हार्दिक बधाई।

बरेली

—विमला अवस्थी

(११)

हिन्दी विश्वकोश

केन्द्रीय शिक्षा विभाग से माँगने पर हिन्दी विश्वकोश की योजना उसके पास तारीख़ २४-७-१९५४ को भेजी गई थी। कई परिवर्तनों और प्रतिबन्धों के साथ वह केन्द्रीय शिक्षा विभाग को मान्य थी। इस सम्बन्ध की कई बातें अभी अनिश्चित हैं और अन्तिम रूप से अभी तक कोई निर्णय नहीं हो पाया। इसमें बहुत विलम्ब हो रहा हैं और विश्वकोश का काम पिछड़ रहा है। इस परिस्थिति में सभा ने निश्चय किया है कि वह अपनी विश्वकोश की मूल योजना को स्वतन्त्र रूप से प्रवर्तित और सम्पादित करे। यह महान् तथा राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य बहुत ही श्रमसाध्य तथा द्रव्य-साध्य है। परन्तु यदि आज से ४० वर्ष एक बंगीय राष्ट्रसेवी श्री नगेंद्रनाथ बसु तथा हिन्दी लेखकों की साधना से हिन्दी का विश्वकोश २५ भागों और लगभग १६००० पृष्ठों में निकल सकता था तो आज स्वतन्त्र भारत में इसकी सम्भावना बहुत अधिक बढ़ गई है। इस साहित्यिक यज्ञ में देश के सभी विद्वानों, श्रीमंतों, केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों के सहयोग, आर्थिक सहाय्य तथा शुभकामना एवं आशीर्वाद की आवश्यकता है। विश्वकोश की पूरी योजना अविलम्ब प्रकाशित की जा रही है।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

—राजबली पाण्डेय

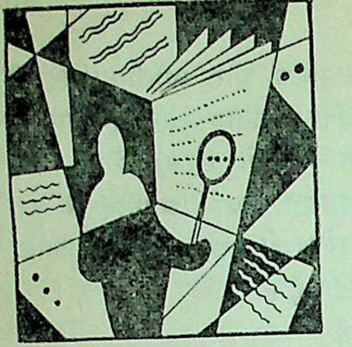

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा

लेखक : शिवप्रसाद सिंह
प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद
मूल्य : पाँच रुपए

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'कीर्तिलता' उपेक्षित-सी पड़ी हुई है। उसका जो महत्व है, उसकी ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक यथोचित रूप से आकृष्ट नहीं हुआ है। यह प्रसन्नता की बात है कि श्री शिवप्रसाद सिंह ने इस पुस्तक को जहाँ परिश्रमपूर्वक संपादित किया है वहाँ "अवहट्ट" भाषा और उससे सम्बद्ध अन्य विषयों पर विस्तार से विचार करने का प्रयत्न किया है। शब्दों के अर्थ दिए गए हैं और पहले विद्वानों ने इस पुस्तक के विषय में जो भ्रान्त धारणाएँ बना रखी थीं और जो स्थान स्थान पर अशुद्ध अर्थ किए थे—उनको ठीक करने का प्रयत्न किया गया है। हम श्री शिवप्रसाद सिंह के इस प्रयास को अभिनन्दनीय समझते हैं। उन्होंने 'कीर्तिलता' के महत्व को समझने और समझाने का और 'कीर्तिलता' के शब्दों का अर्थ देकर उसे अपनी ओर से सरल और सुबोध बनाने का भी प्रयत्न किया है। लेखक ने अपने ढंग से पुस्तक के लिखने में श्रम किया है और पुस्तक के मूल्य को अपनी ओर से अंकित किया है।

इतने पर भी हम यह कहना चाहेंगे कि लेखक की "कीर्तिलता" के प्रति जो कुछ धारणाएँ हैं, वे अधिकतर विद्यालयों और कालेजों के घेरे की हैं; ऐसा प्रतीत होता है कि वह विषय को अधिकांश में एकेडेमिक समझता है और उसका समस्त अध्ययन पुस्तकगत है—इस कारण उसका ध्यान बहुत से साधारण तथ्यों की ओर जिस प्रकार आकृष्ट होना चाहिए था—वैसा आकृष्ट नहीं हो सका है। "कीर्तिलता" की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य कवि "भाषा" या देशी भाषा में कविता लिखने में वह गौरव अनुभव नहीं करते जो कि उन्हें करना चाहिए वहाँ विद्यापति डंके की चोट से कहते हैं: "देसिल बअना सब जन मिट्ठा" और इसीलिए वे देसी वाणी में गर्व के साथ लिखते हैं। विद्यापति संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं के महान् पंडित, विद्वान और कवि थे परन्तु इतने पर भी उन्होंने "देशी वाणी" में ही लिखा और "देशी वाणी" में लिखने के गौरव को अनुभव किया—इसका कारण उन्होंने स्वयं स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है:

> "सक्कअ वाणी बहुअ (न) भावइ,
> पाउँअ रस को मम्म न पावइ
> देसिल बअना सब जन मिट्ठा
> तैं तैसन जम्पओ अवहट्ठा"

इन पंक्तियों से यह तो स्पष्ट है कि वे यह उच्च स्वर में उद्घोषित कर रहे हैं कि "देसी वाणी" सब को पसन्द आती है—सब की समझ में आती है—और देशी भाषा की प्रशंसा के पश्चात् "अवहत्थ" के चाहे जो भी शास्त्रीय अर्थ हों—इसका इस प्रकरण में सीधा-सादा सरल अर्थ यह हो जाता है कि वे "देशी भाषा" में लिख रहे हैं—अन्यथा उन्हें संस्कृत और प्राकृत के साथ इस प्रकार "देशी भाषा" की तुलना और प्रशंसा करने के पश्चात् एक अन्य और उससे पृथक् भाषा की ओर जाने की क्या आवश्यकता हो सकती है और उस अवस्था में "देसिल बअना सब जन मिट्ठा" कहने का महत्व भी क्या रह जाता है। इस पुस्तक के लेखक ने इस बात को उदाहरण देकर प्रतिपादित किया है कि 'अपभ्रंश' को भी "देशी भाषा" कहा जाता था—

इसलिए यह क्यों न समझ लिया जाए कि विद्यापति ने 'अवहत्थ' को 'देसी भाषा' के एक पर्यायवाची शब्द के रूप में ही प्रयुक्त किया है। एक संस्कृत टीकाकार ने "अवहत्थ" का अर्थ "प्राकृत भाषा" किया है। कुछ भी हो, इस उदाहरण से इतना तो बिलकुल स्पष्ट है कि विद्यापति ऐसी भाषा में लिखना चाहते थे जिसे सर्व साधारण लोग बोलते, समझते और पसन्द करते हैं—अब आप उस सर्व-साधारण की भाषा को 'अवहत्थ' कहिए या 'देसी भाषा'। "कीर्तिलता" में उन्होंने साधारण जनता की जिस दुरवस्था का चित्र खींचा है—उससे यह स्वाभाविक ही है कि विद्यापति के हृदय में यह भावना जागृत हुई हो कि यदि "देसी भाषा" में नहीं लिखा जाएगा तो सर्व-साधारण में भावना और जागृति उत्पन्न नहीं की जा सकेगी।

"कीर्तिलता" की भाषा के विषय में कुछ और तथ्य सर्वथा स्पष्ट हैं। इसमें मुसल्मानों के जीवन का स्थान स्थान पर चित्रण होने के कारण जहाँ अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्रचुर मात्रा प्रयोग किया गया है, वहाँ मुसल्मानी तौर-तरीकों का भी सजीव भाषा में वर्णन किया गया है। "कीर्तिलता" की भाषा स्थान स्थान पर ऐसी है जो बिलकुल सरल है और उसे सरलतापूर्वक हिन्दी समझा जा सकता है। कुछ नमूने देखिए :

"पहिल नेवाला खाइ जाइ मुंहु भीतर जब ही
खण यक चुप भै रहइ गारी गाड़ू दे तब ही"

उपर्युक्त पंक्ति में विद्यापति ने कैसा सजीव चित्रण किया है। गाली बिलकुल आज की है। इसी प्रकार :

"सब्ब क झूठ सब्बे खा"

सब का झूठा सब खाते हैं। इसी प्रकार :

"न शत्रक शंका न मित्र क लाज"

... ...

"न शुद्ध हृदय न साधुक संग"

... ...

"खरीदे खरीदे बहूता गुलामो
तुरुक्के तुरुक्के अनेको सलामो"

... ...

"चोरी पेम पिआरियो अपने दोस सशंक"

क्या यह सब भाषा 'अवहित्थ' या अपभ्रंश है? यह तो स्पष्ट 'देसी भाषा' है। गद्य की भाष में भी :

"धनहटा, सोनहटा, पनहटा, पक्कानहटा, मछहटा..."

इसी प्रकार :

"दरबार मेजारो दर, सदर, दारिगह, वारिगह, निमाजगह, खोआरगह, खोरमगह ....."

ऊपर की पंक्ति में 'हटा' और दूसरी पंक्ति में 'गह' की बहार देखिए। आश्चर्य की बात है कि श्री डा० बाबूराम सक्सेना ने 'वारिगह' शब्द का अर्थ "जल रखने का घर" (?) किया है (पृष्ठ ५१) जब कि बारिगह शब्द का अर्थ सीधा-सादा "बारगाह" है। 'कीर्तिलता' में एक ही प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं है। और देखिए :

"जनि दूसरी क अमरावती अवतार भा"

बोलचाल की भाषा में भिन्नता होती ही है। और विद्यापति ने जिस समय 'देसी भाषा' में लिखना आरम्भ किया था उस समय एक तो यह भाषा साहित्यिक भाषा नहीं बन पाई थी और न यह भाषा किसी प्रकार एकरूप या एक स्तर की हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य की भाषा नई करवट ले रही थी और इसीलिए प्रयोगावस्था में थी। 'कीर्तिलता' को पढ़ने से यह भी मालूम होता है कि भारतवर्ष की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को भी "भाषा" के नाम से ही कहा जाता था। वे एक स्थान पर लिखते हैं :

"तेलंगा, बंगा, चोल कलिंगा
राजा पुत्ते मंडीआ
निअ भासा जप्पइ........."

तेलंग, वंग, चोल, कलिंग......सब अपनी अपनी भाषा बोलते थे। 'कीर्तिलता' को चाहे किसी प्रकार का काव्य कहा जाए यह तो स्पष्ट ही है कि इसमें जहाँ कविता है वहाँ गद्य भी है और इस गद्य की भाषा अनेक स्थानों में अत्यन्त सरल और सुन्दर हैं। अभी तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विद्यापति को 'गद्य' के लेखकों में स्थान ही नहीं दिया गया है। विद्यापति का गद्य साहित्यिक और वर्णनात्मक है। हिन्दी में गद्य के विकास को समझने के लिए इस पुस्तक के गद्य का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन

किया जाना चाहिए। 'कीर्तिलता' का गद्य अनेक प्रकार का है। कहीं तो वह संस्कृत प्रचुर है, कहीं वह बिलकुल 'देसी भाषा' का हो गया है। कहीं वाक्य छोटे छोटे हैं—उनके अन्त में तुक है; कहीं गद्य की एक प्रकार की शैली है और कहीं दूसरे प्रकार की। विद्यापति ने जौनपुर का जो सजीव वर्णन किया है वह भी ध्यान देने के योग्य है। शर्की साम्राज्य के समय जौनपुर को एक विशेष महत्व प्राप्त हो गया था। कहा जाता है कि शर्की साम्राज्य के बादशाहों का यह प्रयत्न था कि जौनपुर की "दूसरा बगदाद" बनाया जाए। यहाँ अनेक मन्दिरों को मसजिदों के रूप में परिवर्तित किया गया और उनके नाम तोड़े हुए मन्दिरों के आधार पर ही रखे गए थे। कहा जाता है कि यहाँ बहुत-सी मसजिदें मन्दिरों के ढंग पर ही यहाँ बनवाई गईं और कई मसजिदों में नागरी अक्षरों में लेख प्राप्त होते हैं। यह भी एक विचारणीय बात है कि जौनपुर के आस-पास इसी इलाके में हिन्दी में 'प्रेमाख्यानक' काव्य लिखे गए।

'कीर्तिलता' में जिन छन्दों का प्रयोग किया गया है उन सब का हिन्दी कविता से गहरा सम्बन्ध है। 'कीर्तिलता' को भाषा, कविता और गद्य, उस समय की राजनैतिक अवस्था आदि कई दृष्टियों से अध्ययन करने की आवश्यकता है। इस पुस्तक का हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना ही एक विशिष्ट स्थान और महत्व है। आशा है कि श्री शिवप्रसाद सिंह का यह प्रयत्न इसी पुस्तक तक ही समाप्त न हो जाएगा और वे इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपने अनुसन्धान के कार्य को जारी रखेंगे। हम उनकी इस पुस्तक का हृदय से अभिनन्दन करते हैं।

गीत-संगम

लेखक : श्री रंजन सूरिदेव
प्रकाशक : लता-प्रकाशन, पटना—३
मूल्य : ढाई रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की १९४६ से १९५५ तक लिखी हुई १२० कविताओं का संग्रह किया गया है। इन गीतों को आशा, कामना और वेदना तीन भागों में बाँटा गया है और उन्हीं को ये गीत समर्पित किए गए हैं। उनकी इस पुस्तक में प्रकाशित १२ वीं कविता से कुछ इस बात का आभास प्राप्त होता है कि कवि किस प्रकार अपनी कविताओं को लिखता है :

"क्षण क्षण मेरी कलित कल्पना,
साकार स्वयं बन जाती है
तर्क-कल्पना-तन्मयतावश
होता तेरा बाह्य निरीक्षण (?)
आगे आ तू स्वयं विहँसती
बढ़ता प्रेम-प्रमोद-प्रवर्षण
खो व्यक्तित्व, चेतना मेरी,
उन्माद स्वयं बन जाती है

....

शनैः शनैः हो पुष्ट कल्पना—
ने सच्चा सौन्दर्य दिखाया
स्वप्न तर्क-सी यदा कदाचित्,
निज बुद्धि सजग बन जाती है

....

तन-मन की सुविचित्र समन्वयता,
राग अमिट बन जाती है (पृ. १५)

"तर्क-कल्पना" और तन-मन की "सुविचित्र समन्वयता" ही 'शनैः शनैः' गीतों में लेखक की "कल्पना को साकार" और उसके "रागों को अमिट" बना देते है। उनकी भावनाएँ "सपना-साया" हैं जिन्हें वे "विकल उनींदी पलकों में बाँध रहे हैं।" और "किस की याद"

"मन-खँडहर में गूँज रही है
भूली-बिसरी याद किसी की
लहराती है तार-तार में
मिसरी-मीठी दाद किसी की"

उनकी "साध" है कि उनके "सपने—सच हों" और इसीलिए वे "जग में काया को "बाँध" रहे हैं।

इन गीतों में विचार और झंकार है उनमें कल्पना है और विचित्रता है परन्तु उनमें सूक्ष्म और कोमल भावनाओं का तारतम्य नहीं है।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

महान् चौलुक्य कुमारपाल

लेखक : लक्ष्मीशंकर व्यास एम. ए. 'आनर्स'
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य : चार रुपए

पुस्तक के लेखक श्री लक्ष्मीशंकर व्यास उत्तर प्रदेश के एक लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार हैं; इतिहास उनके

प्रिय विषय है और अपने इस विषय पर वे गहन अध्ययन करते आ रहे हैं; प्रस्तुत पुस्तक उनके इस अध्ययन का ही एक सफल प्रतिफल है। पुस्तक की उपादेयता का एक प्रमाण यह भी है कि यह अपनी पाण्डुलिपि पर ही उत्तर प्रदेशीय शासन द्वारा पुरस्कृत की जा चुकी है; यद्यपि पुरस्कारों का प्रलोभन वास्तविकता से कहीं दूर भी होता है; शायद मरीचिका भी।

पुस्तक में वर्ण्य इतिवृत्त चौलुक्य कुमारपाल के सम्बन्ध में है। वह भारत के मध्यकालीन इतिहास का एक प्रतापी नरेश हो गया है; किन्तु इस नरेश की तुलना लेखक ने चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक से की है, यहाँ अतिशयता है। एक तो भारतीय इतिहास के आधुनिक काल को छोड़ कर भारतीय इतिहास के लगभग समस्त काल प्रच्छन्न-से और अप्रमाणिक हैं—समग्रतः अनुमानों और अनुकृतियों पर आधारित। फिर जब किसी नरेश अथवा राज्य का इतिवृत्त ही लेखक की रुचि का विशिष्टतः प्रिय विषय बन जाए तो ऐसे अतिरेक पूर्ण निर्धारणों का आ जाना बहुत सम्भव और स्वाभाविक है।

परमभट्टारक चौलुक्य कुमारपाल भारत के मध्यकालीन इतिहास के एक प्रसिद्ध शासक थे, उनकी प्रारंभिक स्थिति निरीह-सी थी; किन्तु अपने अध्यवसाय, दुर्द्धर्ष शौर्य, क्षमता तथा प्रबुद्ध प्रतिभा के बल पर अन्ततः न केवल एक नरेश, अपितु एक प्रबल प्रतापी नरेश बन गये। कुमारपाल का काल १२ वीं शताब्दी माना गया है; उस समय का भारत तमसावृत वातावरण और जर्जर-सी स्थिति में था और इसी काल में चौलुक्य कुमारपाल ने अपने तीस वर्षीय शासन काल में एक सुदृढ़ और विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी। उसके साम्राज्य में लेखक ने कोंकण, कर्नाटक, लाट, ग़ुर्जर, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु, उच्चा (शुद्ध उच्च है), मम्भेरी, मारवाड़, मालवा, मेवाड़, कीर, जांगल, सपालदक्ष, दिल्ली, जालन्धर, महाराष्ट्र आदि अठारह प्रदेशों को सम्मिलित माना है। किन्तु जैसा कि हम पूर्व में कह आए हैं कि प्राचीन, मध्यकालीन भारतीय इतिहास की निर्धारणाएँ बड़ी ही विवादास्पद है। कुछ अन्य ऐतिहासिक तथ्यों पर इस साम्राज्य-विस्तार को हम असंदिग्धतः सत्य नहीं मान सकते—यह बात भी विचारणीय है कि लेखक ने जो कुछ भी तथ्य हमारे इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किए हैं, वह सर्वांशतः निराधार ही नहीं कहे जा सकते।

प्रस्तुत पुस्तक को दस अध्यायों के क्रमिक अनुक्रम में रक्खा गया है; इससे अध्ययन में सुविधा और तारतम्यता तो प्राप्त होती है किन्तु प्रवहमान पद्धति का समावेश और भी श्रेयस्कर होता। इतिहास-लेखन शैली और पद्धति की दृष्टि से निःसंदेह अपेक्षाकृत अधिक प्रच्छन्न कार्य है; अब तक उपलब्ध भारतीय इतिहास के श्रेणिक साहित्य की दृष्टि से इस पुस्तक में प्रशंसनीय प्रमाणों और पर्यवेक्षण पद्धति को प्रस्तुत किया गया है और पाठक पुस्तक पढ़ते-पढ़ते कुछ इस प्रकार के वातावरण से अभिभूत हो उठता है कि भारत कुमारपाल मय प्रतीत होने लगता है; यह बात तो ठीक है कि हर्षवर्द्धन के अनन्तर राजवंशों में चौलुक्यवंश का नाम भी प्रसिद्ध है। चौलुक्य वंशीय नरेशों में कुमारपाल सबसे प्रतापी नरेश हुए हैं। पर उनके इतिवृत्त को कुछ इस प्रकार से रखना सम्यक् इतिहास दृष्टि का परिचय नहीं देता। पुस्तक को पढ़ने से यह भी लगता है कि चौलुक्य कुमारपाल की प्रेरणा और प्रभुत्व पर ही उस समय देश में जैन धर्म का विशेष प्राबल्य था; इस विषय में तो स्वयं कुमारपाल का इतिवृत्त ही विरोधाभास प्रस्तुत करता है।

ग्यारहवीं-बारहवीं सदी की राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्य और कला सम्बन्धी पृष्ठभूमि को समझने के लिए इस पुस्तक में प्रचुर सामग्री विशदता से उपलब्ध की गई है—यों कहना चाहिए कि कुमारपाल के उपक्रम में इसी पृष्ठभूमि का अनुक्रम अधिकाधिक व्याप्त है।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्येताओं के लिए पुस्तक की व्यापक उपादेयता असंदिग्ध है। श्री व्यास जी ने गहन अभिरुचि से विविध इतिहास-सामग्रियों का गम्भीर और सूक्ष्म अनुशीलन किया है और उन्होंने इस अनुशीलन की आधार-भूमि पर चौलुक्य कुमारपाल और समकालीन भारत की अवस्थिति का जो प्रबुद्ध निरूपण और आकलन इस पुस्तक के रूप में किया है, निःसंदेह उसका अक्षुण्ण महत्व है और व्यास जी अपने इस मौलिक एवं विशद कृतित्व के लिए अभिनन्दनीय हैं।

हमारी नाट्य साधना (हिन्दी नाट्य कला का विकास और इतिहास)

लेखक : राजेन्द्रसिंह गौड़ एम. ए.
प्रकाशक : श्रीराम मेहरा एण्ड को. माईथान, आगरा
मूल्य : सवा दो रुपए।

श्री राजेन्द्र सिंह गौड़ साहित्य के गम्भीर और मौन अध्येता है। प्रस्तुत पुस्तक उनकी अध्ययन-शैली की प्रौढ़ता तथा निरुपण-क्षमता का अच्छा आभास देती है। पुस्तक में हिन्दी नाट्य-साहित्य के आदिसूत्र से आधुनिकतम प्रवृत्तियों तक का विवेचनापूर्ण आकलन किया गया है। लेखक की आकलन पद्धति परिष्कृत, संतुलित और निर्लिप्त है।

पुस्तक को विकास दृष्टि से आठ प्रकरणों में विभक्त किया गया है। प्रथम प्रकरण 'नाटक की मूल प्रवृत्तियाँ और उनका महत्व' में अपूर्णता है और सम्यक् दृष्टि से रुचिकर और बोधगम्य भी नहीं है; तात्त्विक विवेचन ही न होकर, यदि प्रवृत्तिगत विवेचन भी होता तो कहीं श्रेयस्कर होता। 'संस्कृत-नाटकों का विकास और ह्रास तथा 'संस्कृत-नाट्य-कला का शास्त्रीय विवेचन' प्रकरणों में गम्भीर पर्यालोचन होते हुए भी अनेक धारणाएँ भ्रान्तिपूर्ण हैं—भवभूति के परवर्ती राजशेखर और क्षेमीश्वर को (पुस्तक के लेखक ने क्षेमीश्वर ही लिखा हैं। प्रचलित क्षेमेन्द्र है और क्षेमीश्वर के स्थान पर क्षेमेन्द्र ही होना भी चाहिए।) अपनी नाट्य-रचना में सफल नहीं माना है। इसके लिए लेखक को युक्ति और समाधान भी देना चाहिए था। 'संस्कृत नाट्य कला का शास्त्रीय विवेचन' प्रकरण हमें अंशतः ही उपादेय हो सकता है; एक तो लेखक की निरूपण-शैली तारतम्य स्थापित करती प्रतीत नहीं होती; फिर सूक्ष्मतः प्रासंगिक विषयों का ही विहंगावलोकन-मात्र होना चाहिए था। भरतमुनि के रूपक-विभाजन में 'भाण', 'डिम', 'व्यायोग', 'समवकार', 'ईहामृग' रूपक-भेदों की परिभाषा सुस्पष्ट होनी चाहिए थी; साथ ही हिन्दी-नाट्य की प्रवृत्तियों के साथ सम्यक्-दृष्टि पर निरूपण भी। इसी प्रकरण में रस-निरूपण का लगभग अभाव-सा बड़ा खटकता है, रसों का तो संस्कृत ही क्या, हिन्दी की आधुनिक नाट्य प्रवृत्तियों पर भी अप्रतिहत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लेखक का यह कथन तो ठीक है कि संस्कृत और हिन्दी की नाट्य प्रवृत्तियों में वियोगान्त नाट्य-रचना पर पाश्चात्य दृष्टि का अप्रतिहत प्रभाव पड़ा हैं, किन्तु हिन्दी में वियोगान्त का जो अर्थ है 'ट्रेजेडी' का अर्थ भिन्न उससे अवश्य है किन्तु यह भिन्नता प्रकारान्तर-मात्र है। पश्चिम और भारत की जीवन-दृष्टि में जो पार्थक्य वातावरण-जन्य विभिन्नताओं और धारणाओं पर आधारित है, उस दृष्टि से ट्रेजेडी और वियोगान्त के अर्थों में कुछ मौलिक भिन्नता प्रतीत नहीं होती।

'हिन्दी-नाट्य कला का शास्त्रीय विवेचन' प्रकरण क्लिष्ट-सा हो गया है, 'नाट्य-साहित्य में प्रहसन का स्थान' और 'रंगमंच और रंगमंचीय नाटक' के प्रकरणों को अनावश्यक विस्तार दिया गया है।

सूत्र रूप में पुस्तक के विवेचन को कुछ अधिक अनुशीलनात्मक पद्धति पर होना चाहिए; छात्रोपयोगिता की दृष्टि से इसे अभिनन्दनीय माना जा सकता है।

सप्तदान

रचयिता : कविवर श्री दुर्गाप्रसाद रस्तोगी 'आदर्श'
प्रकाशक : कैलाशचन्द्र रस्तोगी, आदर्श प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, प्रयाग
मूल्य : सवा रुपए

प्रस्तुत पुस्तक के आवरण को खोलते ही पृष्ठ के पृष्ठ उलटे और दूसरे ही लगे प्राप्त होते हैं, इस ओर के पृष्ठ उस ओर लग गए हैं और इस ओर के पृष्ठ उस ओर; कुछ पृष्ठ उलटे ही लग गए हैं। हिन्दी में मुद्रण कार्य अभी भी इतनी साधारण-सी त्रुटियों से रहित नहीं होने पाया है; यह इसका उदाहरण है; इससे हठात् ही अनुपेक्षणीय मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनःस्थिति पर पड़ता है।

'सप्तदान' का प्राक्कथन भारतीय लोक-सभा के अध्यक्ष स्व. श्री गणेश वासुदेव मावलंकर ने लिखा है, जो पुस्तक का यत्र-तत्र विहंगावलोकन और प्रच्छन्न रूप में व्याख्या मात्र होकर रह गया है।

'सप्तदान' का विषय 'विद्यादान', 'जलदान', 'भूमिदान', 'तन दान', 'संपत्तिदान', 'श्रम दान', 'प्रेम-दान' नामक सात दानों में विभक्त है : इन दानों का आदि-सूत्र प्राचीन और पौराणिक कथाओं से जोड़ा गया है। पर हमें तो इन दानों का प्रस्तुत काव्यमय वर्ण्य और तत्सम्बन्धी परिकल्पना कुछ भी रुचिकर नहीं लगी—अन्ततः यह काव्य-पुस्तक किस प्रेरणा अथवा किन भावों की पृष्ठ-भूमि पर लिखी गई है, हम क्या ग्रहण करें? कुछ भी आभास हमें नहीं मिल पाता।

लगता है, आचार्य श्री विनोबा के लोक कल्याण

के लिए प्रवर्तित भूमिदान, श्रमदान आदि दानों से अनुप्रेरणा ही पुस्तक की पृष्ठभूमि और प्रेरक-सूत्र है। पुस्तक में तथाकथित सप्तदानों की व्याख्या है :

"विद्यादान, जलदान,
भूमिदान, तनदान,
संपत्तिदान, श्रमदान,
और प्रेमदान ही,
सात दान हैं जो
सप्तदान कहलाते हैं,
विश्व शान्ति महल
सम्भालने के खम्भे ये"

और पुस्तक के काव्य का आभास निम्न काव्य भाग दे सकेंगे :

"व्यक्तियों को आपस में
भय है निरन्तर
सदा भय भीत रह कर
सोते नहीं रात में,
शत्रुओं की कल्पना,
सदैव किया करते हैं
भय के चित्र खींच
रंग भरा करते हैं।"

यह भयदान है क्या? जलदान के प्रसंग में इन्द्रदेव कवि से वार्ता करते हैं :

"मानव को चाहिए कि
प्यास भर पीले जल,
और तृप्त होकर
जल और को दान दे
बढ़ी है प्यास उसमें।"
"प्यासे खड़े देखते हैं
सामने ही जल धार
किन्तु असमर्थ हैं वे
एक बूँद पाने में"

पिपासा शान्त कैसे होगी, कवि निर्देश करता है :

"मानव यह याद रखे
उतना जल उसका है
जितनी प्यास उसकी
करनी है यदि रक्षा शान्ति की
अपने विराट लोभ का
वह संकोच करे"

पर कवि प्रेम की व्याख्या करने के लोभ का संकोच नहीं कर पाता :

"प्रेमदान उसी
भावलोक से उड़ता है,
प्रेमशाक भाजी नहीं
पैसे से न मोल मिले।
प्रेम वह रत्न है,
न मोल जिसका कहीं
लेकर के थोड़ा-सा,
अनन्त बदले में देता।"

और कवि का विचारशील निवेदन है :

"विश्व के विचारशील लोगों
तुम से निवेदन है
सोचो, ध्यान देकर विचार करो
उन सारी बातों पर
जिन्हें महापुरुषों ने
और देवताओं ने
रक्खी हैं हमारे और
योगिनी के सामने

× × ×

सप्तदान का सहारा
छोड़ कर चलना
सभी भाँति घातक है
और महा पातक है
सच पूछो तो
यह विश्व को है छलना"

निष्कर्ष-रूप में पुस्तक में जो-कुछ है—सब कुछ उपदेशात्मकता पर आधारित है; और आधारित भी कुछ ऐसा कि सम्यक् काव्य-दृष्टि से नितान्त अग्राह्य, अनुभूति शून्य और सर्वांशतः आकर्षण-रहित। वर्ण्य-अंश तो प्रकटतः ही कथा-वाचकों कैसे हैं, पर उनमें भी प्रभावोत्पादकता का अभाव। हम तो श्री आदर्श जी से प्रतिभापूर्ण साहित्य की अपेक्षा करते हैं।

हैदराबाद दक्षिण —**ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर**

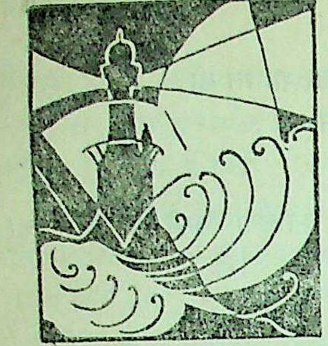

सामयिक

॥

औसतन अंग्रेज़

श्रीयुत जौफ्रे गोरर ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है "एक्सप्लोरिंग इंग्लिश कैरक्टर"। यह पुस्तक ४०३ पृष्ठ की है। इस पुस्तक में उसने अंग्रेज़ों के चरित्र और स्वभाव आदि के विषय में लिखा है। उसने इस सम्बन्ध में एक प्रश्नावली बनाई। इन प्रश्नों के उत्तर साप्ताहिक पत्र "पीपल" के ११००० पाठकों ने दिया। इस पुस्तक में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...लगभग सब अंग्रेज़ औसतन होते हैं। कुछ औसतन से ज़रा अधिक होते हैं। अंग्रेज़ों में आधी से अधिक जन-संख्या अपने आपको श्रमिक कहती है, अपनी पूरी पढ़ाई १४ वर्ष की आयु में समाप्त कर लेती है, विवाहित है और उसकी पारिवारिक आमदनी प्रति सप्ताह ८ पौण्ड है। एक अंग्रेज़ को अपने पड़ोसी को अच्छी तरह जानने में कम-से-कम दस वर्ष लगते हैं। और जब वह उससे अच्छी जानकारी प्राप्त कर लेता है तो यह संभव है कि वह उससे मिलना-जुलना पसन्द न करे, और दुःख में उसकी किसी प्रकार की सहायता न करे। प्रत्येक दूसरा अंग्रेज़ अपने को 'शर्मीला' समझता है। प्रथम दृष्टि में एक अंग्रेज़ के हृदय में प्रेम उत्पन्न नहीं होता। एक अंग्रेज़ का वैवाहिक प्रस्ताव प्रायः ६ महीने से २ वर्ष तक रहता है। ४३% व्यक्ति ऐसे हैं जो विवाह के अतिरिक्त वास्तविक प्रेम को स्वीकार करते हैं। आधे पुरुष और दो-तिहाई स्त्रियाँ इंग्लैण्ड में विवाह से पूर्व किसी प्रकार के सेक्स के अनुभव को स्वीकार नहीं करतीं। ब्रिटिश महिलाएँ पुरुष में जिस वस्तु की सबसे अधिक क़द्र करती है वह है 'समझ'। पुरुष घर का काम करने वाली स्त्री को अधिक पसन्द करते हैं। पुरुष स्त्री के झगड़ालूपन से घृणा करते हैं। स्त्रियाँ अपने पतियों की स्वार्थवृत्ति की शिकायत करती हैं। एक तिहाई से कम पुरुष और एक-छठ से कम स्त्रियां विवाह-विच्छेद में विश्वास करती हैं।

बच्चे एक ब्रिटिश पापा में सार्जेण्ट मेजर को अनुभव करते हैं। आधे से अधिक बाप बच्चों के अधिकारों को न मान कर उन्हें अनुशासन में रखते हैं और २१% उन्हें बेत आदि से सज़ा देते हैं। ब्रिटिश माताएँ यह विश्वास रखती हैं कि अनुशासन साधारण बातों से शुरू होता है और उनमें से ६९% छै महीने से छोटे बच्चों को नहाने-धोने की शिक्षा प्रदान करती हैं।

प्रत्येक पाँच अंग्रेज़ों में से तीन न नरक में विश्वास करते हैं और न शैतान में। लगभग २५% का किसी धर्म में विश्वास नहीं है; जिनका धर्म में विश्वास है उनमें ८०% प्रोटेस्टैण्ट हैं और ८% रोमन कैथोलिक हैं। १७°/॰ भूतों में विश्वास करते हैं।

अंग्रेज़ अपना सबसे विशेष गुण "समझ और विचार" को समझते हैं और उनकी कमज़ोरी क्रोध है। चार में से एक का मत यह है कि "गुणों की अधिकता" ही उनकी कमज़ोरी है।

१८ वीं सदी में एलिज़ाबेथ के समय में अंग्रेज़ों की जो विशेषता थी वही अब भी है। जौन बुल अब भी है; वह शिथिल नहीं हुआ है केवल पिंजरे में बन्द हो गया है।"

॥

आन्ध्र संस्कृति

श्रीयुत के. पार्थसारथी का मद्रास के प्रसिद्ध साप्ताहिक अंग्रेज़ी के पत्र "स्वतन्त्र" में "आन्ध्र संस्कृति के महत्व" पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"संस्कृति के द्वारा हमें किसी देश की उत्कृष्टता का परिज्ञान होता है। संस्कृति एक प्रकार का दर्पण है जिसमें किसी व्यक्ति या राष्ट्र का व्यक्तित्व प्रतिविम्बित होता है।

संस्कृति का तात्पर्य सभ्यता होता है परन्तु सभ्यता का अर्थ संस्कृति नहीं होता। जब कि अनेक सभ्यताएँ लुप्त हो गई हैं, महान् संस्कृतियाँ जीवित रही हैं।

यदि हम आन्ध्र लोगों के इतिहास का अध्ययन करें तो हमें यह पता लगता है कि "संश्लेषण" आन्ध्र संस्कृति का मूल मन्त्र है।

आन्ध्र मूलतः आर्य थे। संभवतः उनके जीवन में शिथिलता थी इसलिए आर्य जाति से वे निष्कासित कर दिए गए। 'ऐतरेय ब्राह्मण' ऋग्वेद से सम्बन्धित है और वह १००० ई. पू. का समझा जाता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में आन्ध्रों का नाम प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आन्ध्र लोगों को द्रविड़ लोगों में सम्मिलित किया जाता था और वे विन्ध्य प्रदेश के रहने वाले पुंड्र, पुलिन्द, मुतिबा और शबर जातियों के समान समझे जाते थे। आज तक भी शबर या शवर आन्ध्र समझे जाते हैं और वे विशाखपट्टनम् जिले में रहते हैं। शबरी नदी का नाम भी 'शबर' जाति के नाम पर ही पड़ा है। यह नदी गोदावरी में मिल जाती है। इतिहास के अनुशीलन से पता लगता है कि आन्ध्र लोग विन्ध्याचल की ओर से आए और वहाँ उनका तेलुगु या तेनुगु लोगों से सम्बन्ध हुआ जो कि द्रविड़ थे और वहीं के निवासी थे। "तेनुगु" शब्द का अर्थ है: "दक्षिण की ओर के लोग"। ऐसा प्रतीत होता है कि तेलुगु का संस्कृत रूप त्रिलिङ्ग बनाया गया। त्रिलिङ्ग शब्द का अर्थ है: "तीन शिव लिङ्गों की भूमि"। इस समय भी आन्ध्र देश में शैवों के तीन मन्दिर प्राप्त होते हैं। गोदावरी ज़िले में द्राक्षाराम का मन्दिर, करीमनगर ज़िले में कालेश्वरम् का मन्दिर और कर्नूल ज़िले में श्रीशैलम् का मन्दिर। त्रिलिङ्ग शब्द की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति इसी प्रकार की जाती है। इस शब्द का अर्थ तीन लिङ्ग है। त्रिलिङ्ग शब्द भी बहुत पुराना है। ग्रीस के दार्शनिक प्लेटोमी ने १३० ई. प. में "त्रिलिङ्गोन" शब्द का प्रयोग किया है।

संक्षेप में आन्ध्र लोग आर्यों से अलग होकर द्रविड़ देश के तेलंग या तेलुगु लोगों के साथ घुल मिल गए। ये लोग विन्ध्य के पूर्वीय तट पर रहते हैं। इन्हीं से आधुनिक आन्ध्रों की उत्पत्ति हुई है। इनमें आर्य और द्रविड़ रक्त मिला हुआ है।

तेलुगु भाषा की भी यही अवस्था है। तेलुगु मूल रूप से द्रविड़ परिवार की भाषा है परन्तु इसमें बहुत-से शब्द संस्कृत और प्राकृत से लिए गए हैं। तेलुगु में संस्कृत के शब्दों का तो इतना सम्मिश्रण हुआ है कि व्याकरण के प्राचीन पण्डित इस भाषा को संस्कृत से निकली हुई मानते हैं। भाषा शास्त्र ने इस भ्रम को दूर कर दिया है। इतिहास के द्वारा यह स्पष्ट हो गया है शातवाहन, इक्ष्वाकु और पहले के पल्लव और सालंकायन राजाओं के दरबार की, अनुलेखों और साहित्य की भाषा प्राकृत थी। ये सब राजा आन्ध्र थे। विष्णु कुण्डियों ने संस्कृत को प्रश्रय दिया। पूर्वीय चालुक्य वंश के राज्य के समय तेलुगु राज्य की और अनुलेखों की भाषा बनी। आन्ध्र लोग आर्य संस्कृति के बड़े प्रशंसक थे। पूर्वीय चालुक्य राजाओं के समय चार शताब्दियों तक लगातार संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रन्थों का तेलुगु में अनुवाद किया जाता रहा। महाकवि नन्नय, तिक्कन्न और पोतन्न ने "महाभारत" "भागवत" और अन्य संस्कृत के श्रेणिक काव्यों का तेलुगु में अनुवाद किया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आन्ध्र के महान् कवियों और विचारकों में मौलिकता नहीं थी परन्तु वे भारतीय संस्कृति की "एकता और सुरक्षा" के लिए प्रयत्नशील थे और यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत के श्रेणिक ग्रन्थों और काव्यों का तेलुगु में अनुवाद किया। इसके पश्चात् तेलुगु में बहुत-सी मौलिक रचनाएँ हुईं। इन रचनाओं के द्वारा आन्ध्र लोगों की प्रतिभा का ज्ञान होता है। इस के अतिरिक्त आन्ध्र के शैव कवियों ने अपने स्वतन्त्र साहित्य की रचना की। यह साहित्य भी उच्च कोटि का है। विजयनगर काल से तेलुगु साहित्य में अपनी नवीन विशेषताएँ उत्पन्न हुईं।

आन्ध्र संस्कृति संश्लेषणात्मक है इसका पता उनके धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों और व्यवहार आदि से लगता है। द्रविड़ लोगों में शिव और पार्वती, नागों और वृक्षों की पूजा प्रचलित थी। वैदिक धर्म के साथ आन्ध्र लोगों ने इनको भी अपना लिया। विवाहों में ब्राह्मणों और उच्च जातियों में तो वेद-मन्त्र पढ़े जाते हैं परन्तु सर्व-साधारण में अधिकतर देशीय प्रथाओं के द्वारा ही विवाह सम्पन्न होते हैं। दक्षिण देश में मामा की लड़की के साथ विवाह करने की प्रथा जिसे कि "मेनरिकम्" कहा जाता है—ब्राह्मणों और अब्राह्मणों

दोनों में एक समान प्रचलित है। यह प्रथा पूर्वीय चालुक्य वंश के राजाओं के समय से चली आ रही है।

आन्ध्र लोग बहुत से राज्यों और राजनैतिक संस्थाओं के निर्माता रहे हैं। उनकी इच्छा कभी किसी देश को विजय करने की नहीं रही। शातवाहन राजा दक्षिण और उत्तर भारत के अधिकांश भू-भाग पर राज्य करते थे। उनका यह राज्य चार सौ वर्ष तक रहा। मौर्यों के पतन के पश्चात् भारतवर्ष पर शक, यवन और पहलवों ने आक्रमण किया। बौद्ध धर्म फैलता जा रहा था और वैदिक धर्म लुप्त हो रहा था। ऐसे समय में शालिवाहन राजाओं ने अपने राज्य की स्थापना की। आन्ध्र शासन के विषय में मैगस्थनीज़ ने लिखा है: "इसके पश्चात् आन्ध्र आते हैं। ये महान् शक्तिशाली हैं। इनके पास अनेक ग्राम हैं, ३० शहर हैं। इनकी सेना में १,००,००० पदाति २,००० घुड़सवार और १,००० हाथी हैं।"

काकतीय और रेड्डी राज्य विजयनगर से पूर्व स्थापित हुए थे। इन्होंने हिन्दु धर्म की रक्षा की। जब बहमनी राजाओं से देश को खतरा पैदा हो गया तो उन्होंने विजयनगर राज्य की स्थापना की। शिवाजी ने भी विजयनगर राज्य से प्रेरणा प्राप्त की थी।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आन्ध्र लोगों ने महान् कार्य किया है। महान् आन्ध्र दार्शनिक नागार्जुन गुण्टूर ज़िले के नागार्जुन कोण्डा के रहने वाले थे। उन्होने बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय की स्थापना की थी। वे एक महान् तत्ववेत्ता और दार्शनिक ही नहीं अपितु एक महान् रसायन शास्त्री और मानव-सेवक थे। उन्होंने सर्व साधारण के लिए स्तम्भों पर स्वास्थ्य के नियमों को उत्कीर्ण करवाया था। नागार्जुनाचार्य शातवाहन राजाओं के अन्तिम काल में हुआ। नागार्जुन ने न केवल बौद्ध धर्म को महायान द्वारा नवीन जीवन प्रदान किया अपितु भक्ति की धारा को भी उन्होंने प्रवाहित किया। शंकराचार्य ने नागार्जुन के शून्यवाद से अपने मायावाद की स्थापना की।

कुमारिल भट्टाचार्य ७ वीं सदी ई. में हुए। ये आन्ध्र देश के निवासी थे। उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्होंने वेदों के अध्ययन पर बहुत बल दिया। आज भी वेद मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए आन्ध्र देश के ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। वल्लभाचार्य १४७६ ई. में उत्पन्न हुए। ये आन्ध्र देश के 'चैतन्य' कहे जाते हैं। इनका दर्शन 'पुष्टिवाद' है। इन्होंने उत्तर और पश्चिम भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया।

साहित्य के क्षेत्र में आन्ध्र देश में अनेक महान् और प्रसिद्ध रचनाओं का निर्माण हुआ। इनमें से एक प्रसिद्ध काव्य "गाथा सप्तशती" है। यह प्राकृत में है और शातवाहन राजा हल ने इसको लिखवाया था। गुणाढ्य की "बृहत्कथा" भी प्राकृत में है। यह भी एक शातवाहन राजा के संरक्षण में लिखी गई थी।

आपस्तम्भ एक ऋषि थे। ये भी आन्ध्र थे। आपस्तम्भ सूत्रों के साथ इन्होंने "शिल्पसूत्र" भी लिखे हैं। कहा जाता है कि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति आन्ध्र थे। महान् बौद्ध दार्शनिक, नाटककार और तार्किक दिङ्नागाचार्य आन्ध्र देश के थे। संस्कृत के बहुत से महाकाव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ आन्ध्र थे। रेड्डी राजा काट्या वेम और वेलम राजा सिंह भूपाल संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक थे। विद्यानाथ और पंडितराज जगन्नाथ आन्ध्र थे। शाहजहाँ और दाराशिकोह पंडितराज जगन्नाथ का बहुत आदर करते थे।

आन्ध्र ने कला के क्षेत्र में भी बहुत कार्य किया है। आन्ध्र लोगों ने पहाड़ों की शिलाओं में अनेक मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण किया। मध्य भारत में साँची के स्तूप, गुण्टूर के निकट अमरावती के स्तूप, भट्टीप्रोलु के स्तूप आन्ध्र-प्रतिभा को प्रदर्शित करते हैं। कृष्णा की घाटी में नागार्जुनकोंडा, पालमपेट में रामप्पा का मन्दिर, हम्पी के भग्नावशेष आन्ध्र देश की कला की महानता का परिचय प्रदान करते हैं। "अजन्ता" के भित्ति-चित्र, पालनाड में मचेरिया के रंगचित्र आन्ध्र देश की महान् चित्र कला के नमूने हैं। कोंडापल्ली की पुतलियाँ आ भी आन्ध्र देश की रंगीन चित्रकला की परम्परा का परिचय प्रदान करती हैं।

नृत्य और संगीत में भी आन्ध्र देश ने मौलिकता का प्रदर्शन किया है। नन्दिकेश्वर का "अभिनय-दर्पण" आन्ध्र देश में लिखा गया। नृत्य के संबन्ध में काकतीय राजा गणपति देव के सम्बन्धी और सेनापति जयप सेनानी ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम "नृ रत्नावली" है। नृत्य के विषय में जयपा सेनानी ने जि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे पालमपेट के रामप्

मन्दिर की सुन्दर मूर्तियों में मूर्तिमान् कर दिए गए हैं। जयपा सेनानी के "नृत्य रत्नावली" के सिद्धान्तों के अनुसार कृष्णा जिले के ग्राम "कुचिपडी" में अब भी नृत्य होता है। उन्होंने दक्षिण में नृत्य को लोकप्रिय बनाया है।

संगीत के क्षेत्र में भी आन्ध्र की बड़ी देन है। तेलुगु भाषा संगीतपूर्ण है। विदेशी लोगों ने भी तेलुगु संगीत की बहुत प्रशंसा की है और इसे "पूर्व की इटली-भाषा" कहा है। जिसे इस समय कर्नाटक संगीत कहा जाता है उसका उद्भव और विकास आन्ध्र-देश में ही हुआ। विजयनगर युग में इस संगीत ने बड़ी उन्नति की। कर्नाटक संगीत की प्रथम महान् पुस्तक "स्वर्ण मेल कलानिधि" है। इसे हामयामात्य ने लिखा है जिसे कि विजयनगर के आलिया रामराय ने संरक्षण प्रदान किया था। तंजोर का आन्ध्र शासक रघुनाथ नायक एक महान् संगीतज्ञ था। रघुनाथ नायक के निर्देश पर संगीत के महान् विद्वान् वेंकटमुखी ने संगीत की महान् पुस्तक "चतुर्दण्डी प्रकाशिका" लिखी है। अन्नमाचार्य के मधुर संकीर्तन ताँबे की प्लेटों पर उत्कीर्ण हैं। ये तिरुपति के थे और महान् भक्त थे। क्षेत्रय्या भी आन्ध्र के महान् संगीतज्ञ थे। आन्ध्र में "गोपाल पदमुलु" को कौन नहीं जानता ? संगीत के क्षेत्र में त्यागराय स्वामी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। आन्ध्र कवि नारायण के संस्कृत में "तरंग" की संस्कृत में जयदेव की पदावली से तुलना की जा सकती है।

आन्ध्र देश में लकड़ी अच्छी होती है। इसलिए वहाँ पूर्व-ईसा युग में जहाज बनाए गए। बौद्ध जातकों में आन्ध्र देश के समुद्र-तट पर स्थित कई बन्दरगाहों का वर्णन आता है। शातवाहन के समय यहाँ से रोम और चीन को जहाज जाते थे। यहाँ से विदेशों में बहुत से बौद्ध धर्म-प्रचारक गए। वर्मा, स्याम, इंडो-चाइना, मलाया, जावा, सुमात्रा औरि बोर्नियो में त्रिलिङ्ग, अमरावती, काकुलार, सिंहपुर आदि नाम पाए जाते हैं, जावा में जो अनुलेख प्राप्त होते हैं उनमें शालिवाहन के युग के कई विवरण प्राप्र होते हैं। जावा में बोरोवदुर में एक महान् स्तूप है—यह गुण्टूर जिले के अमरावती के संघाराम स्तूप की कला के नमूने पर बनाया गया है।

आन्ध्र संस्कृति का मूलमन्त्र संश्लेषण है। आन्ध्य पूर्व और उत्तर की संस्कृतियों में एक पुल के समान है।"

II

अंग्रेज़ों और अमरीकियों की अंग्रेज़ी

पिछले दिनों मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर ने "अंग्रेज़ों और अमरीकियों की अंग्रेज़ी" पर एक व्याख्यान किया था। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"......अंग्रेज़ों और अमरीकियों की अंग्रेज़ी में बहुत पहले से ही भेद प्रारम्भ हो गया था। जब अमरीकी उपनिवेश इंग्लैण्ड से पृथक् हुए उसके बाद बीस वर्ष के अन्दर ही "अमरीकीवाद" शब्द बन गया था। उस समय यह स्थिति थी कि इंग्लैण्ड एक भी अमरीकी शब्द को प्रयुक्त करना अच्छा और वाञ्छनीय नहीं समझता था। उस समय इंग्लैड में अमरीकी अंग्रेज़ी के विषय में साधारणतया यह विचार प्रचलित था—"...भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ भी अमरीकी है वह बुरा है।" उदाहरण के लिए एक शब्द है "रिलाएबल" (Reliable)। यह समझा जाता था कि यह शब्द अमरीकी है इसलिए कोई भी अंग्रेज लेखक अपनी अंग्रेज़ी में इसका प्रयोग नहीं करता था। बात यह है कि जब अमरीका का उपनिवेश १७ वीं सदी में बनाया गया, तभी से अमरीकी अंग्रेज़ी बननी प्रारम्भ हो गई। अमरीकी अंग्रेज़ी के विकास में जहाँ अमरीकी राष्ट्रीय जीवन का हाथ है वहाँ यूरोप के भिन्न भिन्न देशवालों का भी हाथ है जिन्होंने कि अमरीकी उपनिवेश को बसाया था। अमरीकी और इंग्लैण्ड की अंग्रेज़ी में एक तो स्पेलिंग (हिज्जों) का भेद है। बहुत-से लोग इस बात को अनुभव कर रहे हैं कि अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों के 'स्पेलिङ्ग' को बोलचाल के आधार पर बनाया जाना चाहिए। अमरीका की अंग्रेज़ी और इंग्लैण्ड की अंग्रेज़ी दोनों के बोलने के ढंग में बहुत भेद है। अमरीकी अंग्रेज़ी में अनुनासिक ध्वनि है और यदि उसमें अनुनासिक ध्वनि न हो तो इंग्लैण्ड और अमरीका की अंग्रेज़ी में बहुत कुछ भेद मिट जाएगा। भविष्य की अंग्रेज़ी में अमेरीका और इंग्लैण्ड दोनों की अंग्रेज़ी भाषाओं का सम्मिश्रण होगा। अंग्रेज़ी भाषा के एक विद्वान् ने कहा है : "अंग्रेज़ी की इन दोनों धाराओं का मेल हो जाएगा। पिछली आधी शताब्दी से अमरीकी अंग्रेज़ी को बिना किसी संकोच के स्वीकार किया जाता रहा है क्योंकि जहाँ उसमें आधुनिकता है वहाँ उसमें व्यापारिकता के सब आकर्षक रंग-ढंग हैं।"

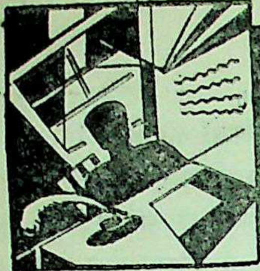

सम्पादकीय

क्या हिन्दी विदेशी भाषा है ?

यह आश्चर्य की बात है कि मद्रास में हिन्दी के विरोधी जहाँ इस बात को सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि "अंग्रेज़ी एकमात्र इंग्लैण्ड की ही भाषा नहीं है—वह हमारी राष्ट्रीय भाषा है" वहाँ वे इस बात को भी बड़े ज़ोर-शोर के साथ प्रतिपादित कर रहे हैं कि यदि अंग्रेज़ी एक विदेशी भाषा है तो हिन्दी भी हमारे लिए एक विदेशी भाषा है। श्रीयुत चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के इन शब्दों का उद्धरण दिया जाता है कि "अंग्रेज़ी हमारे देश की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए।" पिछले दिनों मद्रास विधान सभा में इस विषय में अनेक प्रश्न किए गए और विधान सभा के कई सदस्यों ने खुल्लमखुल्ला इस बात की घोषणा की कि "हिन्दी हमारे लिए एक विदेशी भाषा है।" मद्रास विधान सभा के एक सदस्य श्रीयुत रंगास्वामी रेड्डियर ने पूछा : "क्या माननीय मन्त्री महोदय हमारी इस बात से सहमत हैं कि हमारे लिए हिन्दी उतनी ही विदेशी है जितनी कि अंग्रेज़ी ?" एक और सदस्य ने कहा कि "हमारे लिए अंग्रेज़ी उतनी विदेशी भाषा नहीं है जितनी कि हिन्दी।" विधान-सभा के एक और सदस्य श्री विनायकम् ने कहा : "हमारे प्रान्त में अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी जाननेवालों की संख्या नगण्य है और यही कारण है कि हम हिन्दी को अपने लिए एक विदेशी भाषा समझते हैं। हमने अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान पिछले २०० वर्षों में प्राप्त किया है। हमें समझ में नहीं आता कि हमारा प्रशासन हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेज़ी के प्रति क्यों अधिक उदासीन होता जा रहा है।" इन प्रश्नों के उत्तर में माननीय मन्त्री श्री सुब्रह्मण्यम् ने उत्तर दिया : "मैं समझता हूँ कि हमारे लिए हिन्दी अंग्रेज़ी से अधिक निकट है। उपयोगिता की दृष्टि से हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेज़ी को कुछ अधिक महत्व प्रदान करें परन्तु हमें इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए कि क्योंकि हमें भारतवर्ष में रहना और कार्य करना है और उसे एक राष्ट्र बनाना है इसलिए हमें एक सरकारी भाषा को स्वीकार करना पड़ेगा।"... आगे चलकर उन्होंने कहा : "मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि हमारे लिए हिन्दी अंग्रेज़ी से अधिक विदेशी भाषा है। . मैं इस बात से भी सहमत नहीं हूँ कि यहाँ जितने लोग अंग्रेज़ी जानते हैं उतने हिन्दी नहीं जानते।"

एक अन्य अवसर पर मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर महोदय ने कहा : "...यदि हिन्दी के समर्थक समय की घड़ी के काँटों को पीछे ले जाना चाहते हैं और अंग्रेज़ी को समाप्त कर देना चाहते हैं तो हम उन्हीं की युक्ति के द्वारा उनके विरुद्ध मेज़ों को उलट देंगे। वे कहते हैं कि भारतवर्ष की अधिकांश संख्या हिन्दी बोलती है। हम कहेंगे कि क्योंकि हम विश्व की एक सरकार बनाना चाहते हैं और हम धीरे-धीरे इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं—हम उसी भाषा को अपनी सरकारी भाषा बनाएँगे जो कि विश्व की जनता में सबसे अधिक संख्या में बोली और समझी जाती है। यदि विश्व की एक सरकार स्थापित न की जा सकी तो फिर इसका परिणाम अणु-युद्ध होगा और यदि अणु-युद्ध हुआ तो जहाँ विश्व के अन्य प्रश्न हल हो जाएँगे—वहाँ भाषा का प्रश्न भी स्वयं हल हो जाएगा।"

हमने इन उद्धरणों को इसलिए पूर्ण रूप से दिया है कि क्योंकि हिन्दी के लिए सरकारी भाषा बनने का ज्यों-ज्यों समय निकट आता जा रहा है त्यों-त्यों अंग्रेज़ी के समर्थक किसी न किसी तरह हिन्दी को गिरा कर अंग्रेज़ी को क़ायम रखना चाहते हैं। अंग्रेज़ी में उनकी निष्ठा और आस्था इतनी अधिक है कि वे किसी भी महान् अयुक्तियुक्त बात को स्वयंसिद्ध युक्ति बना कर प्रस्तुत कर सकते हैं। अंग्रेज़ी को महत्व देने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह सि करने का प्रयत्न किया जाए कि वह हमारे देश की राष्ट्रीय भाषा है और हिन्दी को गिराने के लिए यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी हमारे लिए अंग्रेज़ी से अधिक विदेशी भाषा है। यह सत्य है कि हिन्दी भारतवर्ष के समस्त प्रान्तों की भाषा नहीं है परन्तु यदि भारतवर्ष के

एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के लिए विदेशी नहीं है तो उन प्रान्तों की भाषाएँ एक दूसरे के लिए किस प्रकार विदेशी भाषाएँ हो सकती हैं ? ऐसी अवस्था में तो यदि भारतवर्ष के एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त में जाएगा तो वह भी एक विदेशी ही कहलाएगा । क्या मद्रास विधान सभा के वे सदस्य जो हिन्दी को अंग्रेज़ी से भी अधिक विदेशी भाषा समझते हैं—यह चाहते हैं जब वे दिल्ली, बनारस और कलकत्ता आदि में जाएँ तो उन्हें विदेशी समझा जाए ? हिन्दी के सम्बन्ध में उनकी कठिनाइयों को अनुभव किया जा सकता है और उन्हें निस्संकोच होकर अपनी कठिनाइयों को प्रस्तुत करना चाहिए परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें विधान-सभा में ऐसी युक्तियाँ देनी चाहिएँ जिनसे यह अनुभव होता है कि वे इस समस्त देश को अपना देश ही नहीं समझते । उनकी इन युक्तियों को पढ़ कर हमें यह विश्वास नहीं होता कि वे अपने प्रान्त को भी अपना देश समझते हैं ! ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि यदि उनसे प्रश्न किया जाए कि उनकी मातृभाषा और अंग्रेज़ी में उनके अधिक कौन-सी भाषा निकट है तो वे ये उत्तर प्रदान करें कि अंग्रेज़ी हमारे अधिक निकट है और वे अपनी मातृभाषा को अंग्रेज़ी से अधिक विदेशी भाषा कहने के लिए तैयार हो जाएँ । अंग्रेज़ी के महत्व को प्रदर्शित करने के लिए क्या यह आवश्यक है कि हम इंग्लैण्ड को अपनी मातृभूमि सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगें । इससे तो एक मात्र यही सिद्ध होता है कि हमारे अन्दर से अभी तक गुलामाना मनोवृत्ति दूर नहीं हुई है । हम अभी तक अपने को एक स्वतन्त्र देश का निवासी नहीं समझते हैं और हम अपने महान् राष्ट्र के उत्तरदायित्व को किसी भी प्रकार अनुभव नहीं करते । ऐसा प्रतीत होता है कि जब उनके सम्मुख अपने समस्त राष्ट्र का चित्र उपस्थित होता है तो उनके सामने इंग्लैण्ड और अमरीका आदि ही आते हैं जहाँ अंग्रेज़ी का बोलबाला है । उनके सामने अपने देश और राष्ट्र के करोड़ों लोगों का चित्र कभी उपस्थित ही नहीं होता । हम समझते हैं कि अंग्रेज़ी को इस देश की राष्ट्रभाषा कहना बिलकुल वैसा ही है कि जैसे टेम्स को भारतवर्ष की एक नदी कहना । यह एक राजनैतिक ही नहीं भौगोलिक असत्य है ।

मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर का यह कहना कि यदि हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर पर लाया गया तो हम अंग्रेज़ी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लाएँगे और जो युक्तियाँ हिन्दी के लिए दी जाती हैं वे ही युक्तियाँ हम अंग्रेज़ी के लिए देंगे—उनकी मनःस्थिति को प्रदर्शित करता है । प्रश्न यह है कि युक्तियाँ देने से क्या हो जाएगा ? युक्तियों से सदा कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती । कई बार युक्तियों से मनुष्य की मानसिक अवस्था का पता चलता है । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेज़ी को लाने से राष्ट्रीय स्तर पर से हिन्दी को कैसे हटाया जा सकेगा ? अन्ततः राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर एक तो नहीं हो सकते । इन दोनों स्तरों को एक करने के लिए यदि एक विश्व के प्रशासन की स्थापना की जाएगी और इस एक विश्व की सरकारी भाषा अंग्रेज़ी होगी तो भी क्या इससे विश्व के समस्त राष्ट्रों की भाषा अंग्रेज़ी हो जाएगी ? मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर महोदय का यह कहना कि "यदि एक विश्व की एक सरकार न बनी तो विश्व में अणु-युद्ध हो जाएगा और इस अणु युद्ध में जहाँ विश्व की अन्य समस्याएँ हल हो जाएँगी वहाँ भाषा का प्रश्न भी स्वयं हल हो जाएगा"—उनके मन की निराशा को प्रदर्शित करता है । क्या अणु-युद्ध से विश्व की समस्याएँ हल हो सकेंगी ? यह समझ में नहीं आता कि मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर को हिन्दी और अंग्रेज़ी की समस्या को हल करने के लिए 'अणु-बम' तक क्यों जाना पड़ा ? वे एक विश्व की बात कर सकते हैं क्योंकि इससे अंग्रेज़ी विश्व की सरकारी भाषा बन सकेगी परन्तु वे भारतवर्ष के एक राष्ट्र की भाषा हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने में उन युक्तियों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं जो कि वे अंग्रेज़ी के लिए प्रस्तुत करते हैं !

हिन्दी का विकास और प्रसार

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने पिछले दिनों एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित की है जिससे यह ज्ञात हो सके कि हिन्दी के विकास के लिए भारतीय सरकार द्वारा क्या प्रयत्न किए जा रहे हैं । केन्द्रीय सरकार ने इसके लिए एक हिन्दी-शिक्षा-समिति का निर्माण किया था । पुस्तिका में कहा गया है कि हिन्दी-शिक्षा-समिति की सिफ़ारिशों को कार्य में परिणत किया जाएगा । हम समझते हैं कि इन सिफ़ारिशों को किए हुए पर्याप्त समय हो चुका है परन्तु अभी तक इन पर कुछ विशेष कार्रवाई नहीं की गई । हिन्दी-शिक्षा-समिति की कुछ

मुख्य सिफ़ारिशें निम्न प्रकार हैं :

(१) हिन्दी अध्यापकों के लाभ के लिए समय-समय पर गोष्ठियाँ करना।

(२) हिन्दी भाषी और अ-हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और विद्यार्थियों के वाद-विवाद दलों को एक दूसरे के यहाँ भेजना।

(३) हिन्दी के वैज्ञानिक तथा टैकनिकल साहित्य की प्रदर्शिनी करना।

(४) अ-हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्यार्थियों को हिन्दी का उच्च अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्तियों का दिया जाना।

(५) हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में प्रयोग किए जाने के लिए लगभग २००० बुनियादी शब्दों की एक सूची बनाना और ५०० बुनियादी शब्दों की एक ऐसी सूची तैयार करना जो हिन्दी में कम-से-कम साक्षरता की कसौटी होगी।

इनके अतिरिक्त पुस्तिका में बतलाया गया है कि "प्रशासन ने चार प्रादेशिक समितियों की नियुक्ति की हैं, जो अ-हिन्दी भाषी राज्यों का दौरा करेंगी और हिन्दी के प्रसार से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में राज्य सरकारों को सलाह देंगी। हिन्दी के प्रसार और विकास के लिए केन्द्र ने गैर सरकारी संगठनों को पर्याप्त मात्रा में अनुदान दिए। इसके साथ ही विभिन्न अ हिन्दी भाषी राज्यों की सरकारों को खर्च का कुछ हिस्सा देने के रूप में ४,८६,८७० रुपए के अनुदान भी दिए गए ताकि वे हिन्दी के प्रसार के सम्बन्ध में पहली पंचवर्षीय योजना में अनुमोदित अपनी योजनाओं को अमल में ला सकें। मंत्रालय ने दिल्ली में १२ अगस्त से २१ अगस्त १६५५ तक हिन्दी-पुस्तकों की एक प्रदर्शिनी आयोजित की। इस समय वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली बोर्ड के आधीन जो विशेषज्ञ समितियाँ काम कर रही हैं उनकी संख्या १६ है।"

क्या यह उचित नहीं होगा कि केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रतिवर्ष एक ऐसी पुस्तक प्रकाशित करवाई जाए जिसमें केन्द्र और भिन्न-भिन्न राज्यों के द्वारा हिन्दी के प्रसार और विकास के लिए जो भी प्रयत्न किए जा रहे हैं उनका पूरा विवरण प्रकाशित हो। हमें दुःख है कि केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने हिन्दी की जो पुस्तिका प्रकाशित की है उसको पढ़ने से यह तो समझ में आता है कि शिक्षा-मन्त्रालय हिन्दी के सम्बन्ध में जो कुछ कर रहा है उससे सर्व-साधारण जनता को अवगत कराना चाहता है परन्तु उससे हिन्दी के विकास और प्रसार के सम्बन्ध में समस्त देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में जो कुछ कार्य हो रहा है उसका कुछ विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। अब वह समय चला गया है जब कि सूचना मात्र देने वाली पुस्तिकाओं से कार्य चल सकेगा। अब तो प्रतिवर्ष हिन्दी के विकास और प्रसार के सम्बन्ध में पूरी जानकारी देने वाली पुस्तक को प्रकाशित किया जाना चाहिए। इसमें प्रकाशित समस्त विवरण, विज्ञप्तियाँ और सूचनाएँ इस प्रकार की होनी चाहिएँ जिससे यह पता लगा सके कि समस्त देश में हिन्दी की उन्नति, प्रगति, विकास और प्रसार के लिए क्या ठोस कार्य हो रहा है।

आचार्य नरेन्द्रदेव

आचार्य नरेन्द्रदेव अब इस लोक में नहीं रहे। जो व्यक्ति जीवन में मानवता के लिए एक मिशन लेकर आते हैं, उनका पलायन सारे समाज को स्तम्भित कर डालता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के देहावसान से हम सब का हृदय विदीर्ण हो गया है। वे भारतीय समाजवाद के महान प्रणेता थे; राजनीतिक होने के साथ-साथ उनका प्रकाण्ड विद्वान् होना अद्भुत बात थी। आचार्य जी का समग्र जीवन पूरी आस्था और आत्मत्याग के साथ राष्ट्र-सेवा के लिए समर्पित था; सभी राजनीतिक दल उनका आदर करते थे; राजनीतिक विचारधारा में वे अपने को मार्क्सवादी अवश्य कहते थे पर उनके राजनीतिक विचार संकुचित सीमित नहीं थे—भारतीय संस्कृति के उदात्त मानवतावाद से उन्होंने सदा प्रेरणा ली। सक्रिय राजनीति में होते हुए भी वे देश के सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों से अपना सम्पर्क बनाए रखते थे; वे स्वयं महान् शिक्षाविद् थे। १६४६ ई. में हैदराबाद में होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर वे हिन्दी प्रचार सभा के निकट सम्पर्क में भी आए और उसके पश्चात् सभा का सम्बन्ध उनसे बना ही रहा। हमारे साहित्यिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में उनके देहावसान से ऐसा स्थान रिक्त हुआ है, जो सम्भवतः कभी न भरा जा सके। वे जिस धरातल पर जीवित थे मनोयोग पूर्वक उसका अनुसरण ही हमारे शोकाकुल मन को सच्ची सान्त्वना दे सकेगा।

आइए ! मिलिए !!

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

अजन्ता

रजिस्टर्ड नं. H. ५११ Regd. No. H

अजन्ता

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

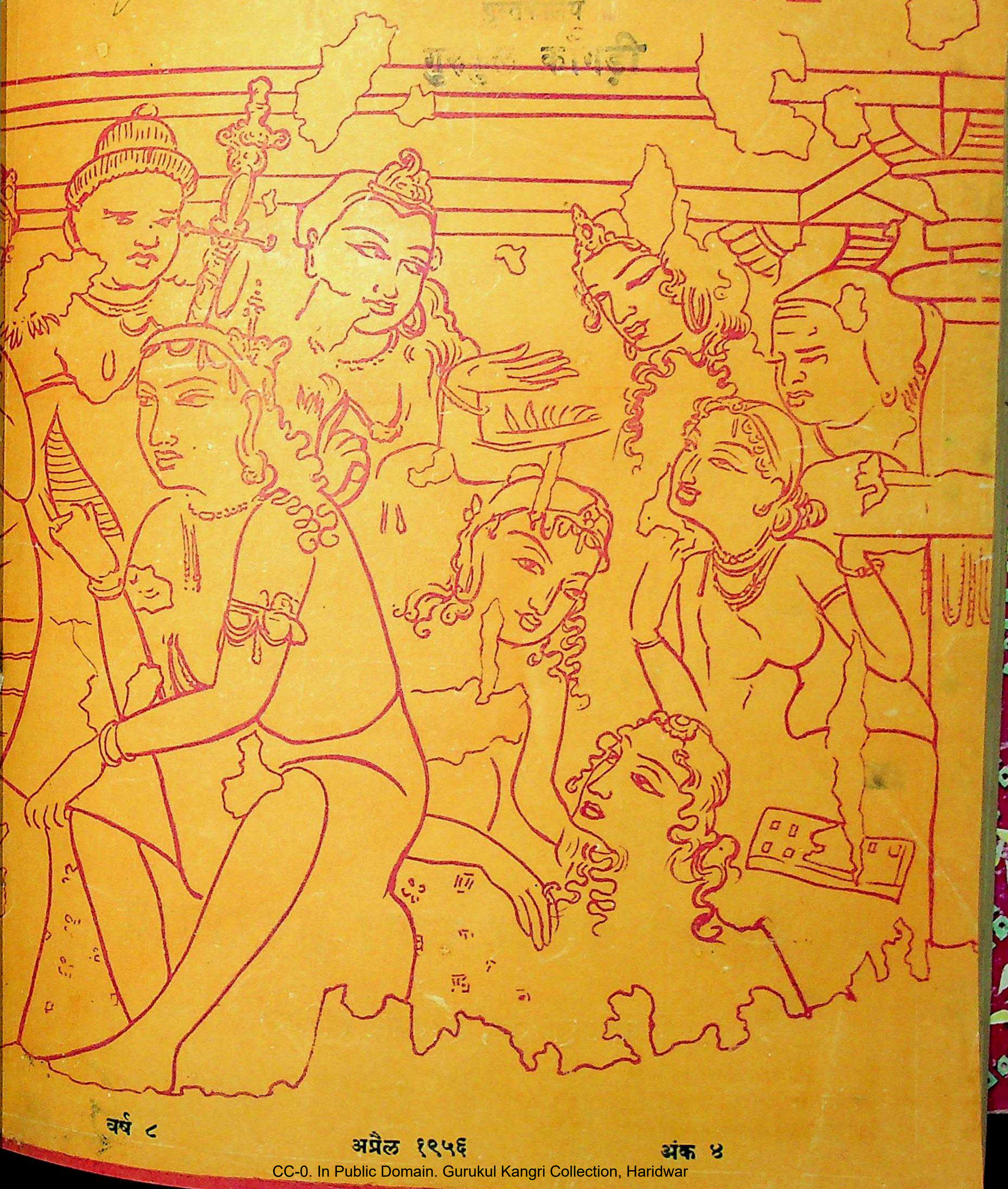

वर्ष ८ अप्रैल १९५६ अंक ४

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एक मात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

नामपल्ली रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

टेलिफोन नं. ५४५०
तार : हि

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: **सी. डी. एल नं० १६८३**

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है

या

कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात

हैदराबाद-द. से मँगाइए।

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

विचित्र-गोला

यह एक ठोस रङ्गीन गोला है जो सबके सामने हाथ ही हाथ में फूंक मारते ही एक से दो, फिर तीन और फिर चार गोले बन जाते हैं। इसके बाद चार के तीन, दो और अन्त में एक रह जाता है। बड़े अचरज की बात यह है कि जो गोला घटेगा, वह गोले वाले हाथ से दूर कमीज या पतलून की जेब (पाकिट) या मेज़ की दराज़ में दिखाई देगा और कोशिश करने पर भी जान नहीं पड़ेगा कि यह क्या चमत्कार है। यह गोला और शो सचमुच बड़ा ही विचित्र है। विधि सहित पूरे सामान का मूल्य केवल तीन रुपया।

डाक व्यय के लिए आठ आने भेज कर ५४ मैजिक शो का बड़ा सचित्र-सूची पत्र रजिस्टर्ड द्वारा मुफ्त मंगाइए

१०५, दी युनाइटेड मैजिक कंपनी लि०

मुरादाबाद, इण्डिया

टेलिफोन : १९९ * तार : **मिस्ट्री**

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * **एक प्रति ५) आने**

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२

वसुधा

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक

रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता

पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी

पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी

श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।

प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी।

अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।

नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता

वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,

जबलपुर (म० प्र०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६
तार का पता : **लीवेरेक्स**

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३
तार का पता : **लीवेरेक्स**

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी-मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ

एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक………

आपका-स्वास्थ्य

………के ग्राहक नहीं बने हैं?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए— वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का =)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

हिन्दी साहित्य में स्पृहणीय वृद्धि

कहानी-विशेषांक

प्रतिभा

का

आगामी जुलाई १९५६ को प्रकाशित हो रहा है हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों एवं अन्य भाषाओं की महान् कहानियों का अमूल्य संग्रह।

मूल्य : एक रुपया

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड
वर्धा—रोड, नागपुर—१

उच्चकोटि की साहित्यिक एवं शिक्षाप्रद रचनाओं के साथ ही साथ राष्ट्रद्रोही फिल्मों के विरुद्ध खुला युद्ध छेड़ने वाला भारत का प्रथम पत्र

सचित्र मासिक

ऊषा

- बम्बई, आन्ध्र, भोपाल, मध्यभारत एवं मध्यप्रदेश राज्य सरकार के शिक्षा विभागों द्वारा स्वीकृत
- जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।
- स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ चरित्र निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना ही जिसका मुख्य उद्देश्य है।

वार्षिक सदस्यता शुल्क ४)

नमूने की प्रति के लिए छः आने के टिकट भेजें

व्यवस्थापक : **भोज प्रकाशन धार [म. भा.]**

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : **यशदेव शल्य**

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.
संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध-संस्थान**

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबा

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य :** व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खि भी हिन्दी की एक विशेष शैली है । खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है । दक्खिनी ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है । हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का स पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है । इस सकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचना का संग्रह है । यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक कड़ी जोड़ने वाला है । पुस्तक की भूमिका भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चट ने लिखी है । संकलन-कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा । पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ । मूल्य दस रुपया आठ आ

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उन उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है । इस पुस्तक द्वारा हिन्दी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं । लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रे मूल्य चार रुपए ।

३. **सबरस :** गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना । शब्दों के विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका । पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी । प्रस्तुतकर्त्ता — श्रीराम शर्मा । पृष्ठ संख्या ल तीन सौ, डेमी साइज़ । मूल्य छः रुपए ।

४. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी) : उस्मानिया विश्वविद्यालय में हिन्दी विभा भूतपूर्व अध्यक्ष आचार्य श्री वंशीधर विद्यालङ्कार की अंग्रेज़ी में लिखी हुई विद्वतापूर्ण पुस्तक ।

५. **चाबुक** (कहानी-संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन । प्र कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है । इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है । कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अं हुआ है । मूल्य पौने दो रुपए ।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक । ना रंगमंच के उपयुक्त है ।

व्यवस्थापक : **पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचा**

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल–साहित्य–माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न छः पुस्तकें प्रकाशित की है। अठपेजी क्राउन साइज़, ३२ पृष्ठ रंगीन सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ। प्रत्येक का मूल्य आठ आना।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ। लेखक—श्री रामानिरंजन पाण्डेय एम. ए.।

३. **दक्षिण के महापुरुष :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.।

४. **बालकों कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक—श्रीराम शर्मा।

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—विमला लूथरा एम. ए.।

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी।

प्रेस में :

१. **दक्खिनी का व्याकरण**	श्रीराम शर्मा
२. **दक्खिनी का इतिहास**	श्रीराम शर्मा
३. **रहीम का अप्रकाशित काव्यः दम्पति विलास**	
४. **पञ्चामृत** (मराठी)	
५. **मराठी साहित्य का इतिहास**	

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल आफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है
इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का
अतएव संग्रहणीय होता है।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

वार्षिक मूल्य ८) अर्धवार्षिक ४)
[सरकारी विज्ञापनों के लिए स्वीकृत]

साप्ताहिक सेनानी

इसे गाँव गाँव घर घर में लोग इसलिए पढ़ते हैं कि :
* 'सेनानी' राजस्थान का एक विश्वस्त पत्र है।
* 'सेनानी' दलगत राजनीति से ऊँचा रहना जानता है।
* 'सेनानी' नेताओं की भड़ौती से नहीं अपनी कलम से जीवित है।
* 'सेनानी' ठोस विचारों और विश्वस्त समाचारों का पत्र है।
* 'सेनानी' राजस्थान की समस्याओं पर गहराई विचार करता है।
* 'सेनानी' का कलेवर भरती के लेखों से भरा नहीं होता।
* 'सेनानी' रास्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र है।
अपने 'सेनानी' के ग्राहक बनिए।
अपने मित्रों को 'सेनानी' के ग्राहक बनाइए :
व्यवस्थापक, साप्ताहित 'सेनानी'
सेनानी कार्यालय' बीकानेर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ अप्रैल १९५६ अङ्क ४

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

मनोमय
—सुमित्रानन्दन पन्त १

प्रेम का अर्थ
—वंशीधर विद्यालंकार ३

गीत
—शान्ति मेहरोत्रा ४

प्रतिष्ठापन
—सत्येन्द्र श्रीवास्तव ५

बीस पंक्तियाँ
—श्रीहरि ६

गीतों की पुकार
—रवीन्द्र भ्रमर ७

गीत
—जितेन्द्रकुमार ८

कालिदास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
—(डा.) भगवतशरण उपाध्याय ६

उत्तरी-भारत की भाषा पर दक्खनी उर्दू का प्रभाव
—(डा.) सैयद मुहीउद्दीन क़ादरी 'ज़ोर' १७

हैदराबाद में पुरातत्त्व
—(डा.) श्रीनिवासाचार्य २०

अजन्ता के चित्र
—(डा.) गुलाम यजदानी २३

गीत की खोज
—भारतभूषण अग्रवाल २८

उपनिषद् में भाषा-विज्ञान के बीज
—रूपनारायण शास्त्री ३४

जंगम कथाओं की परम्परा
—के. राजशेषगिरि राव ३८

निर्मला
—श्रीमती बिन्दु अग्रवाल ४१

जार्ज ग्रियर्सन की स्मृति
—कैलाश कल्पित ४५

शेत्रुजी के किनारे
—(डा.) जगदीशचन्द्र जैन ४७

उर्दू-साहित्य में उपन्यास की परम्परा
—ज़ीनत साजिदा ५३

गिरगिट
—देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ५८

कला-चर्चा : कला की व्यावहारिकी शिक्षा
—विश्वनाथ मुखर्जी ६२

चिट्ठी-पत्री
अजन्ता के सम्बन्ध में : मनोहर प्रभाकर, रूपनारायण, शील, कमल साहित्यालंकार, बिन्दु अग्रवाल, जगदीशचन्द्र, प्रेमकपूर कंचन गंगा सहाय 'प्रेमी', राजेन्द्र यादव। ६४

नीर-क्षीर
महात्मा गांधी, भारत (१६५५ वार्षिक-संदर्भ ग्रन्थ), मेघदूत : वंशीधर विद्यालंकार; पत्थर की आँख, वर्षान्त के बादल, राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त, कुरान और धार्मिक मतभेद, कला की परख, खाद और पेड़ पौधों का पोषण, रश्मिहास, शिक्षण-विचार, गधे (बालोपयोगी प्रहसन): ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर। ६८

सामयिक
अमरीकी नीग्रो कविता, बिहार में दक्षिण भारतीयों का ग्राम। ७४

सम्पादकीय ७८
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र : सिंहल के राजदूत का समुद्रगुप्त की राजसभा में पदार्पण : चित्रकार : बी. वी. नरसिंहराव
स्वर्णमय संगीत : चित्रकार : अनूपदास

वार्षिक मूल्य : ६) एक प्रति का मूल्य : १)

चित्रकार : अनूपदास

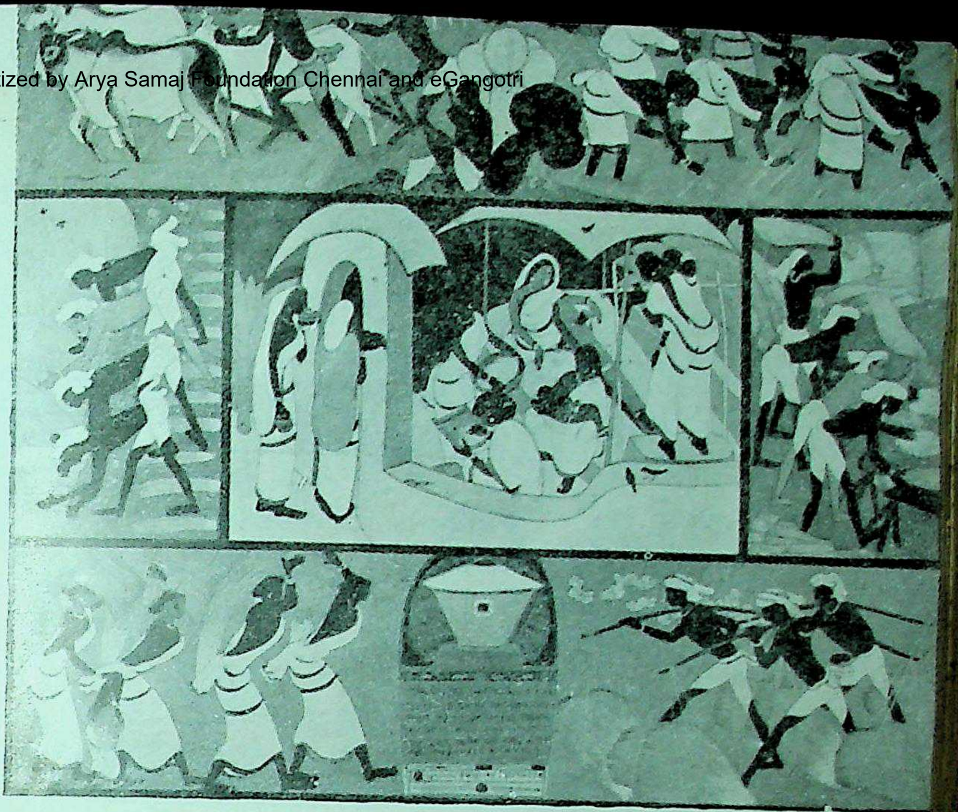

स्वर्णमय संगीत

अजन्ता

अप्रैल १९५६

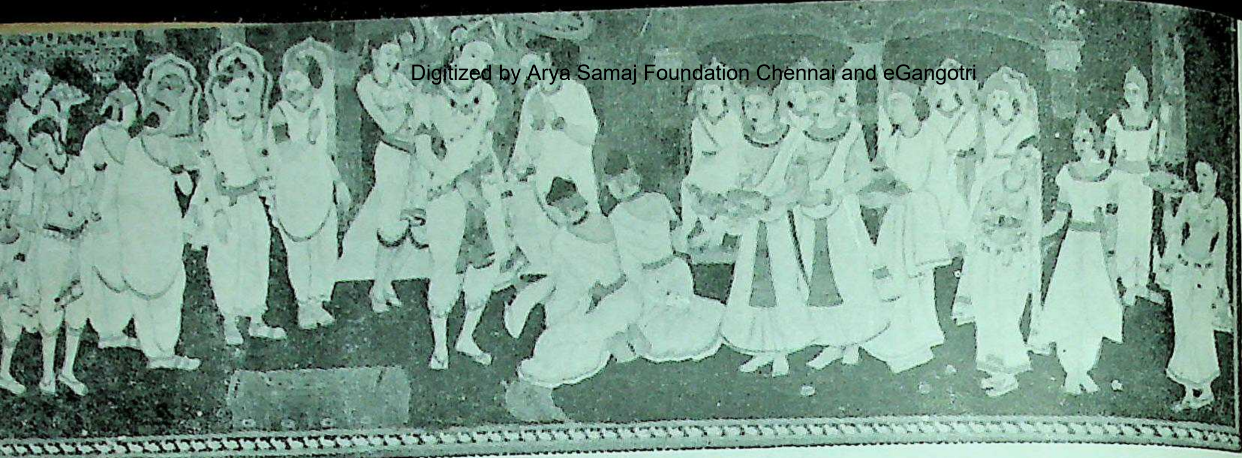

अजन्ता अप्रैल १९५६

चित्रकार : बी. वी. नरसिंहराव

सिंहल के राजदूत का समुद्रगुप्त की
राजसभा में पदार्पण

वर्ष ८

अजन्ता

अङ्क ४

मनोमय

तुम हँसते हँसते घृणा बन गए मन में
जन मंगल हित हे !

अब काटो जग का अंधकार
भू के पापों का विषम भार
मेटो मानव का अहंकार
चिर-संचित तुम्हें समर्पित हे
युग परिवर्तन में !
तुम तपते तपते द्वेष बन गए मन में
जन मंगल हित हे !

अब करो जीर्ण से संघर्षण
फिर हरो धरा मन के बन्धन
युग की जड़ता हो नव चेतन
गति दो नूतन को इच्छित हे
जग जीवन रण में !
तुम सहते सहते रोष बन गए मन में
जन मंगल हित हे !

फिर मृत्यु भीत जन हों निर्भय
मन प्राण ले सकें नव निर्णय
उर करे नहीं तुम पर संशय
तुम घट घट वासी परिचित हे
चिर जन्म मरण में !
फिर प्रेम, बनो तुम न्याय क्षमा मन-मन में
जन मंगल हित हे !

मानव अन्तर हो भू विस्तृत
नव मानवता में भव विकसित
जन मन हो नव-चेतना ग्रथित
जीवन शोभा हो कुसुमित हे
फिर दिशि क्षण में !
तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन जन में
जन मंगल हित हे !

टैगोर-टाउन
इलाहाबाद

—सुमित्रानन्दन पन्त

१९५६

प्रेम का अर्थ

प्रेम का अर्थ आलिङ्गन नहीं है
प्रेम का अर्थ चुम्बन नहीं है
प्रेम का अर्थ रुदन और तड़पन नहीं है
प्रेम का अर्थ आसक्ति और बन्धन नहीं है

प्रेम का अर्थ हृदय की वह मधुरता है
जो कभी कटुता में परिवर्तित नहीं होती
प्रेम का अर्थ हृदय की वह कोमलता है
जो कभी कठोरता में परिवर्तित नहीं होती
प्रेम का अर्थ हृदय की वह स्वच्छता है
जो कभी मलिनता में परिवर्तित नहीं होती
प्रेम का अर्थ हृदय की वह स्वतन्त्रता है
जो कभी स्वेच्छाचारिता में परिवर्तित नहीं होती

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद

—वंशीधर विद्यालंकार

गीत

पन्थ पर रुकना पथिक की मौत है
इसलिए ही ज़िन्दगी है चल रही

फूल मुरझाया, कली चट खिल गई
और यति को फिर नई गति मिल गई
शान्त जीवन का कहीं सागर न हो
इसलिए सरिता मचा हलचल रही
पंथ पर रुकना पथिक की मौत है
इसलिए ही जिन्दगी है चल रही

कण्ठ होता रुद्ध, रुकती आह है
गीत गाने की हुई तब चाह है
शून्य भावों की कहीं गागर न हो
इसलिए कविता स्वयं दे जल रही
पन्थ पर रुकना पथिक की मौत है
इसलिए ही जिन्दगी है चल रही

वह चलेगी, वह सदा चलती रही
मृत्यु जीवन को सदा छलती रही
दूर आशा का सदा अम्बर रहे
इसलिए ही भूमि दे सम्बल रही
पन्थ पर रुकना पथिक की मौत है
इसलिए ही जिन्दगी है चल रही

२० ए. घोष बिल्डिंग्स,
टैगोर टाउन, इलाहाबाद

—शान्ति मेहरोत्रा

प्रतिष्ठापन

इस चढ़ी डेगची को
कितना भी हम ढँक दें
रख दें उस पर तश्तरी, थालियाँ
या कि तवा
भाप उठेगी ही......
टहलें,
दौड़ें
घूमें, लहरायें
जी बहलायें
पर अन्दर अन्दर सुलग रहा जो
तेज़ लवा
उसको छूकर हर सांस घुटेगी ही...

यह सब यों है :
जो अनदेखे तल से उठता
कुछ अर्थ और अभिव्यक्ति लिये
अतिशय बलशाली होती है ।

ये भीतर की शक्तियाँ
किसी ऊपर ढँकन से
कभी नहीं बँध पाई हैं
न बँध पावेंगी—
उन पर पूजन का अर्घ्य उमड़
आवेगा ही......
निश्चित मानो......
यदि इसी तरह
यह नया मूल्य—

इस द्वार प्रतिष्ठित
होने को है खड़ा आज
सिंहासन पावेगा ही
निश्चित जानो......

श्रीवास्तव बिल्डिंग्स, खोतीवाड़ी,
गिरगाँव, बम्बई

—सत्येन्द्र श्रीवास्तव

बीस पंक्तियाँ

दिल है कैसा कम्बख़्त धड़कता जाता है
ये साँसें भी हैं धुआँ कि भीतर के भीतर
मेरे बाहर भी घुटती और घुमड़ती है
कुछ सूझ नहीं पड़ता, कड़वापन भी इतना
आँखों से पानी बरबस निकला आता है

यह आँसू है या सिर्फ़ करिश्मा साँसों का
ये डगमग-डगमग क़दम नहीं सीधे पड़ते
इनको ऊँचे-नीचे का भी कुछ पता नहीं
चेतना अभागिन अपने जर्जर कन्धों पर
लादे जीवन की लाश बस चली जाती है

गिरती-पड़ती-उठती, गुमसुम मजबूरी है
ऐसा लगता यह कमरा खिड़की दरवाज़े
बोरा-बिस्तर, काग़ज़-किताब, दावात-क़लम
वह मरा-मरा सा आसमान, बेवा ज़मीन
बेसमझे बूझे टूटे गीतों की कड़ियाँ

बेहोशी में कुछ यों ही दुहराए जाना
बेमतलब हैं, बेमतलब, बिलकुल बेमतलब
जब मैं अपने से पूछा करता यह सब क्यों
तब घर का सूनापन, मन का ख़ाली कोना
जैसे मुझ पर ये सब के हँस-हँस पड़ते

मजीदिया इस्लामिया कालेज,
इलाहाबाद

—श्रीहरि

गीतों की पुकार

नाम याद आया तो गीतों पुकारूँगा

दूध धुला रंग, अंग
मुकुलित मंजरियों-सा
लाज ढरे नयन, बयन
बिखरी बंसरियों सा
रूप याद आया तो पलकों उतारूँगा

सम्मुख रहो, न रहो
छवियों रंगा मन है
बाहों बँधो, न बँधो
सुधियों का बन्धन है
प्यार याद आया तो सपनों दुलारूँगा

ऐसे ही मीत, दिवस
रैन बीत जाएँगे
साँसों की राह विरह-
कल्प रीत जाएँगे
मिलन याद आया तो भरसक बिसारूँगा

काशी-विश्वविद्यालय,
काशी

—रवीन्द्र भ्रमर

गीत

देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

प्रतिक्षण प्रतिपल यह जो बजती
रहती मंजुल मुग्ध रागिनी
उर के नील गगन में छाई
रहती यह जो स्निग्ध चाँदनी
यह जो मन का पंछी उड़ता
रहता मृदु कल्पना-पंख पर
चिर रहस्य संकेत तुम्हारा मेरे सारे आकर्षण में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

हाथों में हथकड़ियाँ सुन्दर
पावों में बेड़ियाँ मनोहर
रोम-रोम पर प्रहरी सुख का
सजग अतन्द्रिल रजनी-वासर
चरण-चरण में मधु की कारा
पारिजात प्रसून सौरभ की
पलकें बन्दी प्राण, तुम्हारे स्वप्नों के ही सम्मोहन में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

दिन बिखेर जाता स्वर्णाभा
निशि बिखेरती शुभ्र चाँदनी
स्वर्ण रजत की वर्षा होती
इसी तरह से दिवा-यामिनी
दिन-भर खिलता स्वर्ण कमल-सा
निशि-भर खिलता रजत कुमुद-सा
इसी भाँति से बँधे-बँधे से निशि-दिन सुषमा के बन्धन में !
देखो, रूप तुम्हारी ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

आकांक्षा का नव वसन्त
मुसकाता रहता दिग्दिगन्त में
मलयानिल-सा बहता रहता
मृदु मन्थर गति से अनन्त में
जाने कितनी शोभा-श्री
लेती रहती है अँगड़ाई-सी
खिलते रहते पुष्प न जाने कितने मन के नन्दन-वन में !
देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में !

—जितेन्द्रकुमा

अलका प्रकाशन, खगरिया,
जिला मुँगेर

कालिदास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अपने युग का प्रभाव सभी पर पड़ता है। मनस्वी से भी मनस्वी एकान्त वैयक्तिक चेतना वाला व्यक्ति भी अपनी परिस्थितियों के प्रभाव से रहित नहीं हो सकता। वह स्वयं अपने युग पर गहरा से गहरा प्रभाव भी चाहे डाले पर निःसन्देह वह उसी प्रकार अपनी परिस्थितियों से खुद भी उसी मात्रा में प्रभावित होता है।

कालिदास अपने युग के निर्माता हैं, अपने युग के साहित्य के, संस्कृति के। वैसे ही अगले युगों के भी। उनके साहित्य के, संस्कृति के, जीवन के। भारतीय संस्कृति का व्यक्ति रूप में अकेला प्रतिनिधि अगर कोई पूछे तो उसका असंदिग्ध एक शब्द में उत्तर होगा—कालिदास। संस्कृति और जीवन की एकनिष्ठ एकस्थ घनता जितनी कालिदास में है उतनी किसी अन्य एक व्यक्ति में नहीं। वह अपने और अगले युगों के उसी प्रकार प्रतीक हैं, जिस प्रकार पिछले युगों की एकत्र सम्पदा। जिन परिस्थितियों ने, युगों की संस्कृति ने इस महाभूत समाधियों से बने महामना कालिदास का सृजन किया, उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डाले बिना हम कालिदास की महान् आत्मा को भी नहीं समझ सकेंगे। इसलिए उस पूर्ववर्ती युग के इतिहास पर एक नज़र डालें।

मौर्यों का अन्त दूसरी-सदी ईसवी पूर्व में शर्मनाक हुआ। बौद्धों और जैनों की दुरभिसन्धि पिछले मौर्यों की नैष्ठिक राजनीति बन गई थी। बाहर वालों को अवसर मिला और उन्होंने देश की कमज़ोरियों पर, उसके रन्ध्र पर प्रहार किया। मौर्य-साम्राज्य पुराने मकान की तरह हिला और भहरा कर गिर पड़ा, उसका यशस्वी विशाल कलेवर अपने ही मलबे में खो गया।

देश पर भयानक हमले हुए। सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य तोड़ कर अपना जो साम्राज्य खड़ा किया था वह वारिस के अभाव में अनेक टुकड़ों में बँट गया था। सिन्धु नद, वक्षु नद (आमू दरिया) से ग्रीस तक, कास्पियन सागर से नील नदी के उपरले काँठे तक सर्वत्र ग्रीकों का ही राज था। दूसरी सदी ईसवी पूर्व में एशिया के पूर्वी प्रान्त पार्थव और बाख्त्री (बलख, वह्लीक आदि) स्वतन्त्र हो गए। आमू दरिया के तट से वैक्ट्रिया के नए ग्रीक केन्द्र से भारत पर भयानक हमले शुरू हुए। देमित्रियस ने, जिसे युगपुराण ने 'धर्ममीत' और खाखेल के शिलालेख ने 'दिमित' कहा, पाटलिपुत्र तक धावा किया। पश्चिम की ओर से माध्यमिका (नगरी और चित्तौर) की राह देमित्रियस ने और पूरब की ओर से माथुर और अयोध्या की ओर से उसके दामाद मिनान्देर (मिलिन्द) ने भारत की उस प्राचीन राजधानी पर हमला किया। समकालीन वैयाकरण महर्षि पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में नोट कर लिया—अरुणद् यवनः साकेतम् अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। मगध पर यवनों (ग्रीकों) का शासन स्थापित हो गया और यदि युक्रेतिद के सिंहासन पर अधिकार कर लेने के कारण उसकी रक्षा के लिए देमित्रियस सपद स्वदेश न लौटता तब देश पर क्या बीतती, नहीं कहा जा सकता। फिर भी कुछ कम नहीं बीती। पाटलिपुत्र में काफ़ी नरसंहार हुआ। वर्णाश्रम धर्म छिन्न-भिन्न हो गया, साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए, राजा विनष्ट हो गए (नश्येरन् च पार्थिवा।) 'दुष्ट विक्रान्त यवनों' की चोट का यह नतीजा हुआ।

समूचे सिन्ध, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर यवनों (ग्रीकों) का अधिकार हो गया और वहाँ उनके राज क़ायम हो गए। उनके अनेक नगर (यूपीदामिया, पत्तल, दिमित्री आदि) खड़े हो गये, अनेक ऐसे भी जहाँ ग्रीकों के अपने स्वतन्त्र मुहल्ले थे। तक्षशिला और साकल (स्यालकोट) ऐसे ही नगर थे। इन नगरों में उनके दार्शनिकों ने अपने दर्शन गुने, खेलाड़ियों ने ओलिम्पिक खेले, ज्योतिषियों ने नक्षत्र सोचे, कलाकारों ने मूर्तियों कोरीं; रंगमंच के अभिनेताओं ने अपने रंगमंच खड़े किए। और इन सब का अपने देश की संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे ज्योतिष के पाँचों सिद्धान्तों में दो—रोमक और पौलिश—ग्रीकों के हैं। हमारे राशिचक्र उनके दिए हैं, हमारी जन्म-पत्री का नाम 'होड़ाचक्र' उनका दिया है, हमारे विवाह का सबसे पुनीत लग्न 'जामित्र' उनका 'दायामेत्रो' है। आश्चर्य

नहीं जो हमारे ज्योतिष-शास्त्र के महान् ग्रन्थ गार्गी-संहिता के रचयिता ने लिखा—"यवन म्लेच्छ हैं, पर चूँकि हमारे ज्योतिष शास्त्र के वे अनुसन्धाता हैं इससे हमारे लिए वे देववत् पूज्य हैं।" कला-क्षेत्र में तो ग्रीकों के योग से अपने देश में एक विशिष्ट 'गान्धार-शैली' ही चल पड़ी जिसने हमें बुद्ध की पहली मूर्ति दी। रंगमंच भी हमारा उनके व्यापक सम्बन्ध से संपन्न हुआ। उनकी 'यवनिका' ने हमारे रंगमंच पर पर्दों की लहर बाँध दी।

फिर हमले हुए, शकों के, कुषाणों के। ईसवी संवत् के आरम्भ होने के कुछ पूर्व ही ग्रीकों की दिखाई राह से शकों ने भारत पर हमला किया। उनका क्रूर नेता अम्लाट भारत के हृदय पाटलिपुत्र जा पहुँचा और वहां उसने जो नरसंहार किया उसका वर्णन प्रायः आँखों देखा 'युग पुराण' ने किया। युगपुराण कहता है कि नगर और प्रान्त पुरुष-विहीन हो गए हैं। सर्वत्र नारियों का ही राज है, सारे काम वही करती हैं, हल तक वही चलाती हैं। पुरुष कहीं देखने तक को नहीं मिलता और जो कहीं दीख जाता है तो नारियाँ विस्मय से चिल्ला उठती हैं—आश्चर्य! आश्चर्य! बीस-बीस नारियाँ एक पुरुष से विवाह करती हैं।

ऐसी स्थिति में देश पर क्या बीती होगी, कहना न होगा। पाँच-पाँच प्रान्तों से समूचे देश के स्वामी होकर शकों ने भारत पर शासन किया, सदियों। शकद्वीप (सिन्ध) से, तक्षशिला से, मथुरा से, मालवा-उज्जैयिनी से, महाराष्ट्र से। उनके दिए शकद्वीपी ब्राह्मण हमारे लिए सूर्य की पूजा करने लगे, उज्जैन में हमारे ज्योतिष का केन्द्र (ग्रीनविच) स्थापित हुआ, शीघ्र ही बाद कनिष्क ने जो हमें संवत् दिया, वह शक-संवत् हमारे पंचांगों और जन्मपत्रों का प्रिय साका बना। और उनके, उज्जैयिनी के शक नरपति रुद्रदामन ने हमें शुद्ध संस्कृत के सुललित गद्य की पहली शैली (१५० ई. का गिरनार-लेख) प्रदान की। कुषाणों की कला-साधना तो इतनी फली-फूली कि हमारे देश का आँगन उसकी अनन्त विभूतियों से भर गया। हमारे शिवतम्, सुन्दरतम् की पृष्ठभूमि कुषाणों ने प्रस्तुत की। उनके महायान की भक्ति, कला का रस, देवों की सम्पदा, यक्षों का हास्य-लास्य, हमारे जीवन के अंगांग को भर चला, भिन गया।

इसी पृष्ठभूमि से गुप्तकाल उठा जो अपने वैभव और बहुमुखी सम्पदा के कारण भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाया। और उस युग की सबसे प्रौढ़ मेधा, म से सुकुमार कल्पना, अभिरामतम भाव-राज्य, वसन्त की मदिरतम मंजरी हमें कालिदास के रूप में मिली।

× × ×

अशोक ने जीवहिंसा कब की बन्द कर दी थी जब तक जिया उसने अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन किया, उससे पुत्रवत् स्नेह किया। पर उसकी सन्तान अन्धकार में डूब चली। राजा का विरला ही बेटा धीमान होता है। उसके पिछले वंशधर स्वयं तो शक्ति-हीन हु ही ब्राह्मण-धर्म पर कुठाराघात ही करना उन्होंने अपना धर्म समझा। याग-कार्य बन्द हो गए, पुरोताई बन्द हो गई। जनता के असंख्य परिवार ऐसे थे जो ज्ञान क्रियाओं से ही अपने को धर्मवान् मानते थे, उनके लि कुछ भी धर्म रूप से करना न रह गया। उधर विदे हमलों ने समाज के सारे अनुबन्ध तोड़ दिए।

अन्तिम मौर्यराज बृहद्रथ के पुरोहित-सेनापति ने राजा को मार कर गद्दी पर अधिकार कर लिया। मा देश में सदियों ब्राह्मण-कुल राज करते रहे। पुष्यमित्र ने यज्ञ-कर्म फिर से शुरू किए। ब्राह्मण-धर्म लौटा, संस्कृ भाषा लौटी। बौद्ध ग्रीकों को देश पर चढ़ा लाए। पुष्य मित्र ने उन्हें देश से बाहर कर अश्वमेध किया, महा पतंजलि उसके ऋत्विज बने। पुष्यमित्र का पौत्र वसुमि ग्रीकों को ढकेलने सिन्धुनद तक जा पहुँचा। और इस का सारा देश उसके पितामह के अधिकार में आया। बौद्धों के विपरीत जो प्रतिक्रिया हुई उसके परिणाम स्वरूप पुष्यमित्र ने साकल (स्यालकोट) उस ग्रीकराज मिनन्दर की राजधानी जो बौद्ध होकर उस पर चढ़ आया था) में घोषणा की—यो मे श्रवणशिर दास्यति तस्याह दीनारशतं दास्याति—'जो मुझे एक श्रमण (बौद्ध-भिक्षु,) का सिर देगा उसे मैं (सोने के) सौ दीना दूँगा।' पाटलिपुत्र से जालन्धर तक सारे बौद्ध विहा उसने जला डाले। 'मनुस्मृति' लिखवाई जिसकी ली पर कालिदास के रघुवंश के राजा चले, जिसमें ब्राह्म ससुर बने, राजा देवताओं का देववत् पृथ्वी पर प्रतिनि और स्वयं पुष्यमित्र दोनों था, ब्राह्मण भी, राजा भी।

शीघ्र वर्णाश्रम धर्म अपने आकृत रूप में फिर ख हुआ। सूत्रों, स्मृतियों ने नए रूप धारण किए। दे फिर भी खतरे से खाली न था। पुष्यमित्र के म ही सारे पंजाब में फिर ग्रीक पार्थव राजाओं के र

खड़े हो गए। उनके हमले अभी लोगों को भूले न थे और शास्त्रियों ने अपनी स्मृतियों में अनेक नए विधान किए। बाल-विवाह भी विशेष गौरव से चला। हमले की दशा में पति अकेला पत्नी की जिस मात्रा में रक्षा कर सकता था, अनेक कन्याओं का पिता कन्या की उस मात्रा में नहीं कर सकता था। गौरी रूप में ही अष्टवर्षीय कन्या के दान की व्यवस्था जन्मी। जीवन नई दिशा में बह चला था, प्राचीन सूत्र टूट गए थे।

अशोक ने स्तम्भों से, स्तूपों से देश भर दिया था। प्रकृत धर्म को पुनः स्थापित कर चुकने पर पुष्यमित्र शुंग को फिर बौद्ध धर्म से कोई द्वेष न रह गया था। देश की बौद्ध कला को उसने अपनी संरक्षा दी। साँची भरहुत के मौर्य स्तूपों की आकार वेष्टनी (रेलिंग) कला और शैली की नई शक्ति से, नए निखार से चमकी। उनके द्वार-तोरणों के शिल्पी पुष्यमित्र के मूल निवास विदिशा के हाथी दाँत के कलावन्त थे। मौर्यों की कला-गंगा में ब्राह्मण शुंगों की यमुना बह चली।

हिन्दू जाति अपनी नई विरासत लिए खड़ी थी, नए हिन्दू धर्म की। बौद्ध जैन धर्मों के वर्ण-विद्रोह से, बौद्ध संघ और उसकी वर्ण सम्बन्धी उदारता से, नई विजयी विदेशी जातियों के प्रभाव से देश में एक नई हलचल ने जन्म लिया था, सहिष्णुता जिसकी प्राणवायु बन गई थी। इतनी विभिन्न विदेशी जातियाँ जिस देश के आँगन में उतरें और लौटने का नाम न लें, उस देश में सहिष्णुता का होना तो स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य होता है, फिर यहाँ तो समाज व्यवस्था के विपरीत धर्म का आँगन वैसे भी विस्तृत था। नई जातियाँ जो आईं तो वे अपने साथ अपने भाव-विचार, अपने भक्ति-विश्वास सभी लेती आईं। शक अपनी सूर्य-पूजा लाए और उसे यहाँ उन्होंने प्रचलित की। जब उन्हें यहाँ सूर्य-पूजा से परिचित पुजारी न मिले तो अपने पुजारी लाए जो यहाँ शकद्वीपी ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हुए। सूर्य की पहली मूर्ति जो बनी उसका पहनावा देखने ही लायक था, मध्य एशिया का—सिर पर पगड़ी, बदन पर भीतर लम्बा कुरता घुटनों से नीचे तक, बाहर पैरों तक पहुँचने वाला कसीदेदार चोगा, नीचे पैरों के ऊपर घुटनों को छूने वाले ऊँचे मध्य एशियाई बूट, और घँघरेदार सलवार। बगल में खंज़र। यह है भारतीय देवता की वेशभूषा।

कुषाण जो पहली सदी ईसवी में पहुँचे तो उनके राजा ने अपने सिक्कों पर सारे मध्य एशिया, ग्रीकों, ईरानियों चीनियों, शकों के देवता उतरवाए और यहाँ पहुँचते ही यहाँ के बुद्ध और शिव भी उनमें शामिल कर लिए। पहले भी भारत के भाग—पंजाब और सिन्ध—विदेशी (ईरानी) शासन में रह चुके थे, उस सम्बन्ध का भारत को ख़ासा लाभ भी हुआ था, परन्तु अब से पहले अब की तरह भारत का प्रायः हर भाग विदेशों के संपर्क में इतना कभी न आया था। ग्रीकों के शासन से सिन्ध और पंजाब का गहरा सम्बन्ध बैक्ट्रिया (आमू दरिया की धात्री) से हुआ सही पर शकों के शासन ने तो इस देश को पश्चिमी एशिया और चीन से गहरा बाँध दिया। शक देश के कोने-कोने तक पहुँच गए। स्वयं उनका सम्बन्ध दजला-फरात की घाटी से तो था ही साथ ही वे अपने को ईरानी राजाओं का प्रतिनिधि कहते और क्षत्रप-महाक्षत्रप के रूप में उनकी ओर से ही इस देश पर शासन करते थे। प्रकारतः उनका सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम से बना था। भारत के स्थानीय व्यापार को उस दिशा में बड़ा बल मिलता था सामुद्रिक व्यापार तो कब से ही चल रहा था, अब कुछ ही पहले से रोम-मिस्र की दिशा में और भी तेज़ हो गया था। हिन्दू-शकों के प्रतिनिधि तट घूम समुन्दर लाँघ जावा-सुमात्रा में उपनिवेश खड़े करने लगे थे। चीन के साथ स्थल और जल दोनों मार्गों से व्यापार और धर्म-सम्बन्ध हो गया था। इसे शकों ने अपने बाख्त्री के केन्द्र से और बढ़ाया। कनिष्क इधर तो पाटलिपुत्र तक धावे करने लगा था। उधर दक्षिण पूर्वी ईरान, अफ़गानिस्तान, कश्मीर, आमू दरिया की केसर भरी भूमि, चीन की सीमावर्ती रियासतें सभी पर शासन करता था। उधर दूर के रोम तक उसके दूत आते जाते थे। भारत पश्चिम-पूरब के राज मार्ग के बीचों-बीच खड़ा था, संसार के केन्द्र के रूप में। और संसार के व्यापार का खरीददार जिस प्रकार पश्चिम में रोम था, उसी प्रकार संसार के माल की सबसे बड़ी मण्डी पूरब में शकों की लाड़ली उज्जयिनी थी जहाँ चीन और सीरिया के स्थल मार्ग और रोम और सीरिया के स्थल मार्ग और रोम और पूरब के समुद्रों से आती सड़कें मिलती थीं। फिर देश सहिष्णु क्यों न हो?

अपने शासन काल में भारत से सम्पर्क होने पर

सभी एक-एक कर उसके विविध धर्मों में दीक्षित हो घुल मिल गए। वैष्णवों की भक्ति उस दिशा में विशेष आकर्षक सिद्ध हुई। भगवद्गीता का अपना रक्तिम और आकर्षक संसार कभी का खड़ा हो चुका था। गीता प्रायः तभी लिखी गई थी जब ग्रीकों के भारत पर पहले धावे शुरू हुए थे। उसमें विष्णु-भक्ति का अपना मनोरम संसार था जिसकी शक्ति और विविधता में शीघ्र ही बाद महायान बौद्ध धर्म ने निज का योग दिया। दल के दल ग्रीक परम भागवत, परम वैष्णव बन रहे थे। अभी ब्राह्मण शुंगों की शक्ति मध्यदेश और मालवा में क़ायम ही थी कि ग्रीक राज अन्तलिखिद के दूत टेसियोदोर ने बेसनगर में विष्णु का स्तम्भ खड़ा कर दिया। हेलियोदोर दिय का पुत्र था। उसका यह स्तम्भ अशोक के स्तम्भों के बाद पहला था, और विष्णु के स्तम्भ के रूप में या धार्मिक स्तम्भकारिता के क्षेत्र में सर्वथा पहला। यह उस सहिष्णु युग की महान् मर्यादा थी कि भारत के सबसे लोकप्रिय धर्म का पहला स्तम्भ विदेशी ग्रीक ने खड़ा किया।

शकों ने तो शिव की पूजा पराकाष्ठा तक पहुँचा दी। उज्जयिनी के महाकाल की महिमा प्रायः उन्हीं के राज्य-काल में इतनी बढ़ी। हिन्दुओं के साथ उनका विवाह-संबन्ध स्वाभाविक रूप से होने लगा। अनेक शक-राजा शैव थे और उन्होंने अपने नाम सर्वथा हिन्दू रख लिए। रुद्रदामन शिव का असाधारण उपासक था और 'पञ्चसिद्धान्तिका' (ज्योतिष-ग्रन्थ) का रचयिता वराहमिहिर जितना ईरानी था उससे कहीं अधिक शक, पर दोनों से अधिक प्राकृत हिन्दू।

ग्रीकों के पहले इस देश में चाँदी के नितान्त छोटे अत्यन्त कुरूप बिना किसी सही आकार के छापे हुए सिक्के चलते थे। ग्रीकों के सम्पर्क से बड़े बड़े सुन्दर गोल रूपायित सिक्के चलने लगे। अब उन पर देवताओं की आकृतियाँ राजा के नाम आदि भी होने लगे। सिक्कों के इतिहास में ग्रीकों की यह देन असाधारण मानी जाएगी। शकों ने उस दिशा में अपना गहरा योग दिया। पच्छिम का व्यवसायी समुद्रतट जो ग्रीकों को प्रायः अलभ्य था, गुजरात, सौराष्ट्र आदि के राजा होने के कारण शकों को सुलभ था, और व्यापार में सिक्कों का अधिकाधिक उपयोग होने के कारण उन्हें ढाल को अधिक से अधिक संख्या में प्रचलित करना पड़ा। शकों के हाथ से शासन छीन लेने के कारण सारा मालवा, सारा गुजरात और तटवर्ती सारा सौराष्ट्र जो गुप्त नरेशों के हाथ में आ गया तो उन्हें केवल उनकी व्यापार सम्पदा हाथ न लगी वरन् सिक्कों का आकार भी अधिकार में आ गया और उन चाँदी के सिक्कों को फिर से अपने नाम से छाप कर गुप्तों ने उन्हें उस भू भाग में चलाया। ग्रीकों, शकों, और कुषाणों की वह सिक्कों के धन, और कला की विरासत गुप्तों को मिली। वह सिक्कों की कला अपने स्वर्णमय रूप में जब गुप्त सम्राटों के हाथ से सँवरी तब उस स्वर्ण-युग की यशःशाला का एक स्तम्भ इन सिक्कों ने ही खड़ा किया।

जहाँ इस प्रकार के सौजन्य और सहिष्णुता का अभियान चल रहा था वहाँ एक दिशा से भारतीयता के नाम से भी एक आन्दोलन चला। राजनीतिक और सांस्कृतिक शुद्धता की देश में एक लहर उठी और विदेशी शकों से जा टकराई। इसके नेता ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों थे। मध्य भारत के वाकाटक ब्राह्मण राजा और (पद्मावती पदमपवायाँ—ग्वालियर, मध्य प्रदेश-भारत) क्षत्रिय भारशिव नाग। शकों से सांस्कृतिक क्षेत्र में तो वस्तुतः किसी प्रकार का डर न था। वे देश की जनता से घुल मिल रहे थे, यहाँ के देवता-धर्म भी उन्होंने अपना लिए थे। परन्तु उनका राजनीतिक महत्व निश्चय ही उदीयमान शक्तियों को पसन्द न था। शकों ने महाराष्ट्र और मालवा से दक्षिणापथ के प्राचीन सम्राट-कुलीय आंध्र-सातवाहनों से दीर्घकालिक संघर्ष किया था; उस ब्राह्मण राजकुल को उन्होंने उखाड़ तक डाला था। साथ ही उसी पच्छिम की ही दिशा में महाराष्ट्र में ही एक नई विदेशी प्रबल शक्ति उठ रही थी और उन दोनों से उसने सफल लोहा लिया था। वह जाति आभीर थी। उसके नेता प्रसिद्ध साहित्यकार शूद्रक के पुत्र ईश्वरवर्मा ने आभीरों का जो उधर साम्राज्य कायम किया और किसी समय पाटलिपुत्र तक दण्ड धारण करने वाले सातवाहनों तक की बची शक्ति उन्होंने उखाड फेंकी तब उत्तरापथ में बडी हलमची। वाकाटकों और भारशिव नागों ने उत्तर में वह कहानी फिर से न दुहाराई जाय इस बात पर कमर कसी। दोनों में समर्थ भारशिवनाग थे। कन्तित (जिला मिर्जापुर) और पद्मावती से उठ कर उन्होंने कुषाणों से लोहा लिया। दूसरी-तीसरी ईसवी सदियों में कुषाण कनिष्क के

वंशधर (अब भी उत्तर-पश्चिम, मथुरा आदि के स्वामी थे।) भारशिवों ने इन पर भयंकर हमले किए। नाग शिव के परम भक्त थे, वे पीठ पर शिव-लिंग वहन करते थे। इसी से वे भारशिव (शिव का भार वहन करने वाले) कहलाते भी थे। कुषाणों को हरा कर उन्होंने काशी विश्वनाथ के सामने बारंबार अश्वमेध के स्नान किए। प्रत्येक विजय वे अश्वमेध द्वारा करते थे, प्रत्येक अश्वमेध के बाद काशी में गंगास्नान करते थे। इसी प्रकार उन्होंने दस अश्वमेध किए और काशी के जिस घाट पर उन्होंने अवभृथ-स्नान किए उसका नाम ही दशाश्वमेध पड़ गया जो आज प्रायः दो सहस्र वर्षों से प्रचलित है।

भारशिव नागों ने कुषाणों के हाथ से तलवार छीन ली और मिर्जापुर से मथुरा तक की जमीन पर अपना अधिकार कर लिया। देश में एक नई लहर एक नई शक्ति उठ खड़ी हुई। इतिहासकार जिसे अन्धकार युग कहते थे वास्तव में भारत तब एक अद्भुत निष्ठा की राजनीतिक लड़ाई लड़ रहा था। विदेशी शक्ति उत्तर में भारशिवों ने सर्वथा तोड़ दी। अब वे स्वयं उस दिशा के स्वामी थे यद्यपि अपने संहारक अभियान से स्वयं भी वे थके रहने से बचे न रह सके। उनकी थकान का लाभ एक सर्वथा नई उदीयमान शक्ति को हो रहा था जो गंगा की घाटी में अब शीघ्र ही दहाड़ने वाली थी। गंगा-जमुना के द्वाब में फर्रुखाबाद कन्नौज की दिशा से वह मगध की ओर बढ़ी और शीघ्र उसका स्वामी बन बैठी। वह शक्ति गुप्तों की थी।

गुप्तों का शासन तीसरी सदी ईसवी के तीसरे चरण के अन्त या चौथे के आरम्भ में शुरू हुआ। कुल का प्रतिष्ठाता श्री गुप्त (या केवल गुप्त) था जिसका विरुद केवल 'महाराज' था। सदी के अन्त में उसके देहान्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कच राजा हुआ। ये दोनों नृपति नाम मात्र के थे। वस्तुतः शक्ति इस काल में चन्द्रगुप्त (प्रथम) के राज्यारोहण के बाद आई। उसका विरुद भी 'महाराजाधिराज' हो गया और ३१९-२० ई. में उसने प्रसिद्ध गुप्त-संवत् भी चलाया। उसके उत्कर्ष का विशेष कारण प्रसिद्ध और शक्तिमान गणतन्त्र लिच्छवियों के कुल में उसका विवाह हुआ। उसने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया। और उस घटना को इतना महत्वपूर्ण माना कि अपने सिक्कों पर भी लिच्छनव' लिखवाया और अपने साथ कुमारदेवी की आकृति खुदवा कर साथ ही उसका नाम भी उत्कीर्ण कराया। अपने अभिलेखों में उनके पुत्र पराक्रमी समुद्रगुप्त ने भी उस महत्व को बनाए रखने के लिए अपने को 'लिच्छविदौहित्रः' कहा।

इस कुल का महान् विजेता समुद्रगुप्त हुआ। उसने अश्वमेध किया और अपनी दिग्विजय की प्रशस्ति उसी स्तम्भ पर लिखवाई जिस पर अशोक के शान्ति अभिलेख खुदे थे। शान्ति और युद्ध इतना सजीव विरोधाभास अन्यत्र नहीं मिलेगा। उस स्तम्भ लेख से पता चलता है कि पहले वह आर्यावर्त के अपने पड़ोसी राजाओं की ओर बढ़ा और उनको उसने तत्काल उखाड़ फेंका। भारशिव नाग नौ राजाओं का संघ बना कर उससे लड़ने आए थे। एक साथ उसने उन्हें नष्ट कर दिया। फिर वह दक्षिण की ओर मुड़ा। पूर्व समुद्र (जो राह दिग्विजयी रघु ने भी कालिदास के रघुवंश में ली है) की राह दक्षिण पथ के बारह राजाओं को परास्त करता और कृपया उनकी भूमि उन्हें लौटाता। विजगापतम और उत्तर अर्काट के ज़िलों तक जा पहुँचा और संभवतः पश्चिम की राह लौटा। प्रत्यन्त के राजाओं ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार की और उसे कर देना शुरू किया। उधर गणतान्त्रिक जातियों को भी आत्मसमर्पण करना पड़ा।

साम्राज्यों पर एकमात्र अंकुश इन जातियों का रहा है और साम्राज्यों ने सदा अपनी विभूति के लिए उन्हें कुचला है। सिकन्दर के पिता फ़िलिप ने जिस प्रकार ग्रीस के नगर-राज्यों का दम तोड़ा उसी प्रकार पहले चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य ने फिर समुद्रगुप्त ने भारत में इन स्वतन्त्र गणतान्त्रिक जातियों का नाश किया। जिन मालवों ने सिकन्दर की पग-पग पर राह रोकी थी वे उस विजेता की चोट से तनिक विचलित नहीं हुए पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने शीघ्र ही बाद उन्हें रावी के तट से उखाड़ फेंका। अपनी आज़ादी की रक्षा के लिए वे बीहड़ स्थान की खोज में मरु की राह दखिन चल पड़े। राजपूताने की राह जब वे पहली सदी ईसवी पूर्व अवन्ती की ओर बढ़े तभी उधर शकों की पहली धारा भी जा बढ़ी थी। मालवों ने उन्हें अवन्ती से उखाड़ फेंका। उसी विजय के स्मारक में सम्भवतः मालवों (के मुखिया विक्रमादित्य) ने अपना मालव (विक्रम) संवत् चलाया

(५६-५७ ई. पू.) और वे अवन्ती में बस गए। तब से अवन्ती का 'मालवा' नया नामकरण हुआ (और जब-जब भारतीय जनरल ने विदेशियों से सफल असफल लोहा लिया तब-तब उसने 'विक्रमादित्य' विरुद धारण किया, चन्द्रगुप्त द्वितीय से हेमू तक।) समुद्रगुप्त द्वारा जिन नौ दुर्द्धर्ष जातियों की शक्ति का नाश हुआ। उनके नाम थे—मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक। मालवों के नष्ट होने का ही यह परिणाम हुआ कि शकों की शक्ति फिर मालवा में प्रचण्ड हुई, इतनी कि उनकी सम्मिलित वाहिनी ने समुद्रगुप्त के मरते ही साम्राज्य को संकट में डाल दिया और उसके पुत्र रामगुप्त से इस शर्त पर सन्धि कर उसे छोड़ा कि वह अपनी सुन्दरी रानी ध्रुवदेवी को शकराज को अर्पित कर दे (देवीचन्द्रगुप्तम्—विशाखदत्त)। जो भी हो अब गुप्त-साम्राज्य की सीमाएँ दूर-दूर तक पहुँच गई थीं।

समुद्रगुप्त ने तो चाहे जिस संहारक नीति के वशीभूत हो, दिग्विजय की हो, एक बात उसके सम्बन्ध में प्रशंसनीय है कि वह विद्या व्यसनी और कला पारखी था। शास्त्र में उसकी अबाध गति थी, कविता वह अत्यन्त सुन्दर करता था जिससे उसने 'कविराज' उपाधि अर्जित करली थी, और वीणा-वादन में भी वह असाधारण कुशल था। उसकी प्रशस्ति का दावा है कि अपनी विदग्ध गति मति से उसने देवराज इन्द्र के गुरु बृहस्पति और गायन-वादन में तुम्बुरु और नारद को लजा दिया। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) उसी का चुना हुआ था। परन्तु संयोगवश गद्दी उसके बड़े बेटे रामगुप्त को मिली। चन्द्रगुप्त उसका छोटा भाई था, ध्रुवदेवी का प्रिय, स्वयं असाधारण वीर। विशाखदत्त के नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से पता चलता है कि शकराज ने उसे इतना पराभूत कर दिया कि जब संधि के नियमों के अनुसार उसने उससे उसकी पत्नी ध्रुवदेवी को माँगा तो क़ायर और क्लीव रामगुप्त उसे भी देने को राज़ी हो गया। तब ध्रुवदेवी ने चन्द्रगुप्त से गुप्तकुल की लाज रखने की प्रार्थना की। चन्द्रगुप्त सुन्दर तरुण था। उसने ध्रुवदेवी की ओर से शकराज को सन्देश भेजा कि वह आ रही है और स्वयं रानी के वेश में अचानक शक-शिविर में पहुँच उसने शकराज को मार डाला फिर शीघ्र उसने गुप्त-साम्राज्य की गद्दी और साथ ही ध्रुवदेवी (पता नहीं रामगुप्त को मार कर या जीते जी) पर अधिकार कर लिया। समकालीन स्मृति ने क्लीव की पत्नी और विधवा के विवाह को झट जायज़ क़रार दिया। यही चन्द्रगुप्त (द्वितीय) साहित्य और लोक-कथाओं का प्रसिद्ध 'विक्रम' नाम का नायक है, कालिदास का संरक्षक, प्रसिद्ध विक्रमादित्य और शकों का संहारक 'शकारि' विरुद से प्रख्यात ३७५ और ३८० ई. के बीच कभी वह गद्दी पर बैठा।

उसने सुविस्तृत साम्राज्य पाया था पर उसके भोगने में एक बड़ा विघ्न था, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र के शकों का शक्तिमान् शासन जिसने उसके बड़े भाई के राज को ख़तरे में डाल दिया था। अब उसने उन्हें निर्मूल कर देना चाहा। मालवा के शकों और गुप्तों के बीच वाकाटकों का ब्राह्मण राज्य था। उसने वाकाटक राजा को अपनी बेटी ब्याह उससे संधि कर उसके राज्य से राह ली और शकों को नष्ट कर उदयगिरि में अपनी विजय की प्रशस्ति के साथ वराह-विष्णु की पृथ्वी-उद्धार करती हुई मूर्ति खुदवाई। वह स्वयं उसके शकों से भारतभूमि के उद्धार की प्रतीक थी। अब उसने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। अब सारा मालवा (उज्जैनी, जिसकी राजधानी, संसार के व्यापार की केन्द्र थी), गुजरात और काठियावाड़ उसके हाथ में आ गए। समुद्र से समुद्र तक। उचित ही उसके बेटे कुमार गुप्त के अभिलेख ने लिखा :

> "चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखला
> सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्
> वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनी
> कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति"

शकों के ही सिक्के फिर से अपने नाम से छपवा कर चन्द्रगुप्त ने पश्चिम के अपने उन प्रान्तों में चलाए। व्यापार का धन समुद्र पार से धारासार देश में बरसने लगा। उस पश्चिमी प्रदेश के शासन के लिए यह आवश्यक हो गया कि उज्जैनी को (जो पहले अशोक के समय में भी, विशेषकर इसलिए कि उत्तरी ओर से अधिकतर विदेशी आक्रमणों का संकट आता था, राजधानी रह चुकी थी) दूसरी राजधानी का वैभव दिया।

पर अभी शान्ति दूर थी। शान्ति की स्थापना के लिए अन्यत्र के शकों का नाश भी आवश्यक था। कुछ

तो बंगाल में थे, कुछ सीमा प्रान्त में जो समुद्रगुप्त से डर कर उसे कर देते रहे थे। दिल्ली के पास मेहरौली गाँव में कुतुबमीनार की छाया में उसका एक लोहे का स्तम्भ है जिस पर लिखा है कि शत्रु संघ बना कर बंगाल में जमे। तब चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने उनको हरा उनका संघ तोड़ पंजाब की सातों नदियों को लाँघ बह्लीकों (बैक्ट्रिया के हूण और सीमा प्रान्त के शक-मुरुण्ड) को हराया—तीर्त्वा सप्तमुखानियेन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका। तब शकों का अन्त हुआ और साहित्य और परम्परा ने इतिहास के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को 'शकारि' कह कर अमर किया। कालिदास ने भी उसी राह अपने रघु को ले जाकर बह्लीक (बैक्ट्रिया) में वंक्षु नद के तट पर हूणों को पराजित कराया है। वस्तुतः कालिदास की राष्ट्रीयता ने पिता-पुत्र समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों की दक्षिण-उत्तर विजयों को एकत्र कर अपने रघु द्वारा उनकी सारी भूमि को जिता कर राजनीतिक भारत की एक आदर्श सीमा नियत कर दी।

इसी चन्द्रगुप्त के शासन काल (ल० ३७५ से ४१४ ई०) में भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग अपनी चोटी पर पहुँचा। चीनी यात्री फ़ाहियान ने तभी भारत का देशव्यापी भ्रमण किया। जिस शान्ति, स्वतन्त्रता, शासन की सादगी और हस्तक्षेपहीनता, धार्मिक सहिष्णुता और सुख का उसने वर्णन किया है, महाकवि कालिदास की रचनाओं का वही समृद्ध सुरक्षित सुव्यवस्थित काल था। महाकवि ने सही कहा है कि रघु (समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त का सम्मिलित तेजःपुंज) के शासन में विहार के लिए जाती राह में मदात्यय से निद्रावश हुई नर्तकियों का वस्त्र तक वायु भी छूने का साहस नहीं करता। फिर चोरी के लिए भला हाथ कौन बढ़ा सकता था?

"यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां
निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्"

निःसन्देह उस स्थिति में चोरी कहाँ सम्भव थी? भारत को आरपार लाँघ कर भी फाहियान अछूता बचा रहा।

उस स्वर्ण युग की एक झलक यहाँ दे देना अनुचित न होगा। सही वह ब्राह्मण और स्मार्त जीवन के पुनरुज्जीवन का समय था परन्तु साहित्य कला आदि देश के इतिहास में अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गए थे। ऐसी साहित्य कलाएँ न कभी पहले हुई थी न पीछे हुई। भारत का गुप्त काल साहित्य की दृष्टि से रोम का आगुस्तन युग और इंग्लैण्ड का एलिज़ाबेथन युग था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में अधिकतर साहित्य के ही महान् सर्जक थे। यह नहीं है कि परंपरा ने जिन रत्नों के नाम गिनाए हैं वे सभी समकालीन नहीं थे परन्तु निश्चय उससे (चन्द्रगुप्त) विक्रमादित्य की उस परम्परा की स्थापना निस्सन्देह हो जाती है। उस रत्नसमूह का सब से देदीप्यमान रत्न स्वयं कालिदास है। (हम उसके तिथि-निर्णय पर अन्यत्र सविस्तर विचार करेंगे)। हरिषेण और वत्सभट्टी, जो क्रमशः समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का पुत्र) के प्रशस्तिकार कवि थे, इसी गुप्त युग के रत्न थे विशाखदत्त जिसने मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्तम् लिखे, सम्भवतः इसी युग का असाधारण कवि और नाट्यकार था। इसी युग के पिछले काल में गणित और ज्योतिष के महान् पण्डित आर्य भट्ट और वराहमिहिर हुए। कुछ ही दिनों बाद (जन्म ५६८ ई० में) विख्यात गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त हुआ। इसी काल में कुछ पहले या कुछ बाद हुए धन्वन्तरी और दिङ्नाग, वसुबन्धु और असङ्ग हरिषेण और वत्सभट्टी, ईश्वरकृष्ण और अमरसिंह, तभी पुराण भी आज के रूप में प्रस्तुत हुए। मनुस्मृति का अन्तिम संस्करण हुआ, याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना हुई। संस्कृत साहित्य का यह मूर्धाभिषिक्त काल था।

वैष्णवों और शैवों में सौहार्द था और बौद्धों-जैनों के प्रति भी असामान्य सहिष्णुता का बर्ताव सरकार और जनता दोनों करते थे। सबसे सुन्दर बौद्ध और जैन मूर्तियाँ तभी बनीं। कला के क्षेत्र में तो अपूर्व उन्नति हुई। पहाड़ों को काट कर बड़े-बड़े हाल बनाए गए और उन दीवारों पर नयनाभिराम चित्र बनाए गए। अजन्ता और बाघ की गुफा-गृहों के संसार प्रसिद्ध चित्र तभी बने। यहाँ से बौद्ध भिक्षु चीन जा कर वहाँ अपने धर्म का उपदेश करने लगे थे। वहाँ कुछ ही काल बाद हुएन-हुआंग की सैकड़ों गुफाओं में अजन्ता के ही अनुकरण में हजारों चित्र बन गए। धातुओं के ढालने का

काम भी अद्भुत रीति से हो रहा था। चन्द्रगुप्त का मेहरौली वाला स्तम्भ लोहे का है पर उसकी धातु ऐसी है कि आज डेढ़ हज़ार वर्ष आँधी-पानी में खड़े रहते हुए भी उसमें ज़ंग नहीं लगी। ग्रीक-शक-कुषाणों की सम्मिलित विरासत के धनी होने के कारण गुप्तों के सिक्के सुन्दरता में आदर्श बन गए। दीनार और सुवर्ण दो प्रकार के सोने के सिक्के चलते थे, दोनों ही देखने में अभिराम आकृति वाले थे। उनके खरे सोने और तौल से उस काल की समृद्धि पर प्रकाश पड़ता है।

इसी गुप्त-काल के आकर से कालिदास का-सा अनुपम रत्न निकला।

थार्न हिल रोड
इलाहाबाद

—भगवतशरण उपाध्याय

कालिदास का जन्म-स्थान

कहते हैं, ज्वलन्त प्रमाण के अभाव में लोग किंवदन्ती को भी प्रमाण मान लेते हैं। महाकवि कालिदास की जन्मभूमि मिथिला थी—इसका स्पष्ट उल्लेख कहीं मिलना कठिन है—फिर भी मिथिला के घर-घर में प्रचलित किंवदन्ती अपना एक महत्व रखती है। आप मिथिला के किसी भी ग्राम में जा कर महाकवि कालिदास की जन्म-कथा सुन सकते हैं। किस प्रकार कारी मिश्र नाम के मूर्ख ब्राह्मण युवक का विवाह पंडितों ने विदुषी राजकन्या से कराया, किस प्रकार वह अपनी पत्नी से अनादार पाकर तत्कालीन मिथिला के श्रेष्ठ विद्यापीठ "उचैठ" नाम के ग्राम में आए और किस प्रकार विद्याध्यन करते हुए माता काली के कृपा-भाजन हुए आदि विषयों का सविस्तार वर्णन आप यहाँ सुनेंगे।

विद्या प्राप्ति के बाद वे अपनी पत्नी के पास पहुँचे। रूठे पति के घर लौटने के समय पत्नी कपाट बन्द किए सो रही थी। पति का स्वर स्वभाव से गूँजा : "अनावृतं कपाटं द्वारं देहि"। स्वर पहचान कर पत्नी आश्चर्य में पड़ गई और बोली : "अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः"। महाकवि कालिदास ने इस वाक्य के तीनों पदों पर कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश तीन महाकाव्यों की रचना की।

कारी मिश्र तथा कालिदास की एकात्मता के लिए नेपाल के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित 'रघुवंश' की प्राचीन हस्तलिखित प्रति देखिए। पुस्तक मैथिली लिपि में है तथा उसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में अंकित है : "इति श्री मिश्र कालिदास कृते रघुवंशी महाकाव्ये"। यह प्रति कोई पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व की लिखी हुई मानी जाती है। मिथिला के प्रति जन्मभूमि का प्रेम महाकवि के ग्रन्थों में यत्र-तत्र देखा जा सकता है।

'कालिदास स्मारक-समारोह'
भाषण से

—सत्यनारायण सिंह
(मंत्री, संसदीय विभाग, केन्द्रीय सरकार)

उत्तरी-भारत की भाषा पर दक्खनी उर्दू का प्रभाव

औरंगज़ेब की विजय के पश्चात् उत्तरी और दक्षिणी भारत राजनीतिक रूप से एक-सूत्र में आबद्ध हुए ही, अपितु उनके मध्य सभ्यता और संस्कृति का भी सम्मिलन स्थापित हुआ। उस समय जब दक्षिण और उत्तर के मध्य आवगमन प्रारम्भ हुआ तब दोनों ही स्थानों के निवासियों को अपनी-अपनी बोलचाल की भाषाओं की विभिन्नता और पार्थक्य का भी आभास हुआ। उत्तर के निवासी जब दक्षिण में आए तो उन्हें यहाँ साहित्यिक कार्य प्रचुर रूप में देखने में आया। इससे उत्तर वालों ने यह भी अनुभव किया कि साहित्यिक क्षेत्र में वे दक्षिण से पर्याप्त पिछड़े हुए हैं। उत्तर भारत के विषय में कहा जा सकता है कि वहाँ अभी तक किसी भी व्यक्ति ने सामान्य उर्दू में कविता नहीं की थी। हमें उस समय इस प्रकार के दो चार उदाहरण मिल भी जाते हैं परन्तु साहित्य के इतिहासकारों ने उन्हें साहित्यिक कोटि की रचनाओं में स्वीकार नहीं किया है। उस समय उत्तरी भारत में रची गई उर्दू-कृतियाँ साधारण स्तर की ही मानी जाती हैं। उस युग में केवल दो चार कवि ही ऐसे मिलते है जिन्होंने उर्दू में रचनाएँ की थीं। जैसे उर्दू कवियों में मुइज़ मूसवी खाँ 'फ़ितरत' का भी नाम लिया जा सकता है। 'फ़ितरत' औरंगज़ेब के समय में हुए हैं और दर असल वे फ़ारसी के कवि थे। उनका निम्न उर्दू-शेर साहित्य के इतिहास में उपलब्ध होता है :

"अज़ ज़ुल्फ़े सियाह-ए तो बदिल दूम परी है
दर खान ए आईना गता भूम जूँ परी है"

मिर्ज़ा मुईज़ के साथ एक अन्य कवि क़ज़िल बाश खाँ 'उम्मीद' के शेर उर्दू में भी मिलते हैं। एक उर्दू शेर का उदाहरण है :

"बामन की बेटी आज मेरी आँक भूँ परी
गुस्सा किया व गाली दिया और दिगर लरी"

इस प्रकार के शेरों के अतिरिक्त औरंगज़ेब के काल के कुछ अन्य शेर भी उर्दू में मिलते हैं। ये उर्दू-शेर जाफ़र अली 'ज़टल्ली' द्वारा लिखे प्रतीत होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से ये शेर निकृष्ट कोटि के हैं, किन्तु लन्दन स्थित इंडिया आफिस के पुस्तकालय में संगृहीत पाण्डुलिपि में कुछ शेर इसी प्रकार के भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें सामान्यतः अच्छा कहा जा सकता है। नीचे उदाहरण रूप में एक शेर दिया जा रहा है, जिससे उस समय की उर्दू शायरी की अवस्था का आंशिक ज्ञान हो जाता है। निम्न शेर औरंगज़ेब की प्रशंसा में लिखा गया है :

"ज़हे धाक औरंगज़ेब शाहे वली
दर अक्लीमे दक्खन पड़ी खलबली
दरी पीर सा लो ज़ईफ़े बदन
मचाई धमा चौकड़ी दर दखन
ज़हे शाहेशाहां कि गाहे वगाए,
न हल्लत न टल्लत न जुम्बद ज़-जाएँ
बराबुर्द लश्कर बसा धूम धाम,
के हलचल पड़ी बरसरे रूम-ओ-शाम
महासूर जोधा बली बेबदल
चु अलबुर्ज़ क़ायम चु परबत अटल"

निम्न मर्सिया औरंगज़ेब की मृत्यु के समय का है :

"अकल बेकल हुआ संसार सारा
बखूँ तैयार शुद भिरींख तारा
सदाए तोपो बन्दूक अस्त हरसूँ
छुटा छुट्टो फटाफट अस्त हरसूँ
बहर सूँ मार मारो धाड़-धाड़-अस्त
अछल चालो तबर खंजर गुज़ारस्त"

कहना यों चाहिए कि इस प्रकार की उर्दू कविता करने वालों ने जब देखा कि दक्षिण में बहुत काल से उर्दू कविता पर्याप्त परिष्कृत रूप धारण कर चुकी है तो वे दक्षिणी साहित्य से प्रभावित होने के साथ ही उसकी ओर आकर्षित भी हुए। चूँकि ये लोग इस दीर्घावधि में फ़ारसी कविता का अनुसरण करते-करते ऊब भी चुके थे। एक विदेशी भाषा में सिद्धहस्त होने के लिए उन्हें विशेष परिश्रम भी करना पड़ता था। इसके बाव-

जूद वे फ़ारसी कवियों के सम्मुख अपने को स्वयं हीन अनुभव करते थे साथ ही चूँकि फ़ारसी उनकी मातृभाषा नहीं थी इससे वे अभिव्यक्ति के नए-नए ढंग ग्रहण कर पाने में भी अपने को असमर्थ ही पाते थे। इन कवियों को हर वक़्त यह भय भी सताता था कि कहीं ईरानी उस्ताद उनकी कविता को सिद्धान्त और शैली के आधार पर निम्न कोटि का अथवा त्रुटि-पूर्ण न ठहरा दें—विशेषतः इस पृष्ठभूमि पर ईरानी और भारतीय कवियों में मुहावरों आदि के प्रयोग के प्रश्न पर प्रायः विवाद ही छिड़ा रहता था। इन विवादों का उल्लेख प्राचीन साहित्य की पुस्तकों में भी उपलब्ध होता है। एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि भारत में फ़ारसी को प्रश्रय देने वाले राज्य बड़ी तीव्र गति से अवनति की ओर अग्रसर हो रहे थे—इस समय के शासक न तो स्वयं ही कवि थे और वे अपनी पतनोन्मुख स्थिति में अन्य कवियों को समुचित रूप में आश्रय नहीं दे पाते थे। यदि अकबर के काल के सामन्तों की भाँति औरंगज़ेब और उसके काल के सामन्त भी फ़ारसी कवियों को जी खोल कर प्रोत्साहित करते तो बहुत सम्भव था कि फ़ारसी कविता कुछ समय तक के लिए और प्रचलित रहती। इसके अतिरिक्त फ़ारसी के भारतीय कवियों के लिए भावाभिव्यक्ति के नए नए ढंग पूर्णतः और सरलता से सुलभ नहीं थे। दूसरे वे भारत की स्थानीय विशेषताओं और अपनी प्रकृति जन्य मनःस्थिति को फ़ारसी कविता में अभिव्यक्त करना अनुकूल नहीं पाते थे, इसलिए स्वभावतः वे अन्दर ही अन्दर किसी ऐसी चीज़ के खोजी थे जिसके माध्यम से वे स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता के साथ अपनी प्रतिभा को सबके समक्ष रख सकते। जिस समय उन्होंने दक्खिनी उर्दू का अध्ययन किया तो वह उन्हें अपने बहुत निकट की वस्तु प्रतीत हुई। उन्हें यह भी भान हुआ कि दक्खिनी उर्दू के माध्यम से उनकी समस्त साहित्यिक आवश्यकताएँ भी पूरी हो सकती हैं। उन्होंने शनैः शनैः फ़ारसी को छोड़ना आरम्भ किया तो दूसरी ओर वे दक्खिनी उर्दू की ओर उन्मुख होते गए और कुछ समय पश्चात् वे फ़ारसी के प्रति उदासीन से ही होते गए। उस समय "सौदा" या "मीर" भी यदि फ़ारसी में रचना करते तो उन्हें भी हेय दृष्टि से ही देखा जाता।

उस काल में जो दक्खिनी कवि उत्तर भारत गए उनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ती ही गई। "मुसहफ़ी" के इतिहास से प्रकट होता है कि दक्खन के चौदह पन्द्रह उर्दू कवि दिल्ली गए थे। "मुसहफ़ी" के इतिहास में तीस के लगभग उत्तरी भारत के ऐसे कवियों का उल्लेख मिलता है, जो दक्खन गए थे। यदि उस काल के साहित्य के अन्य इतिहासों का भी अध्ययन किया जाए तो हमें विश्वास है कि उक्त संख्या में प्रचुर वृद्धि हो जाएगी। फिर भी इस स्थल पर इस बात का प्रकट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि उस समय में उत्तरी भारत के कवियों के विषय में साहित्य के इतिहास में जो कुछ लिखा गया है उसमें जितने अंशों का अध्ययन हमने किया है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दो सौ के लगभग ऐसे कवि मिलते हैं जो किसी न किसी रूप से दक्खिन से सम्बन्धित कहे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त दक्षिण के ऐसे लोग भी पर्याप्त संख्या में उत्तर गए, जिनकी रुचि साहित्यिक थी। वे अपने साथ बहुत-सी पुस्तकें भी ले गए। इससे जाना सकता है कि दक्खनी साहित्य उत्तर में कितनी शीघ्रता से लोकप्रिय हुआ। ये प्रमाण भी प्राप्त होते हैं कि भारत और यूरोप के पुस्तकालयों में जो पाण्डुलिपियाँ हैं, उनके लिपिकार उत्तरी भारत के थे और उन्होंने मुहम्मद शाह के प्रारम्भिक काल तक लिपि करने का कार्य पूरा कर लिया था। प्राचीन इतिहास से यह भी पता चलता है कि दक्खनी कविता का उस समय सामान्यतः अच्छा आदर होता था। वली ने तीन बार दिल्ली की प्रमाण पूर्ण यात्रा की थी। दिल्ली के कवि वली की कविता पद्धति पर कविता करना गौरव की बात समझते थे। यद्यपि उत्तर के उस काल के कवियों का क़लाम साधारणतः नहीं मिलता, तब भी लन्दन के इण्डिया आफ़िस में प्राप्त सामग्री से इस बात की पुष्टि होती है कि अपनी एक पुस्तक की भूमिका में हातिम ने वली का उल्लेख किया है और लिखा है कि उन्हीं की शैली पर मैं भी लिखता हूँ और वली के आचार्यत्व का अनुसरण करता हूँ। हातिम द्वारा लिखी गई बहुत-सी ग़ज़लें ऐसी भी हैं जो वली की शैली के अनुसरण पर ही लिखी गई हैं। कुछ शेरों में वली को सम्बोधित भी किया गया है।

प्रतीत होता है कि शुरू-शुरू में उत्तर के फ़ारसी कवियों ने उर्दू का विरोध-सा किया था। उस समय एक अन्य इतिहास में "तज़किरे वेजिगर" में वली

विषय में लिखा है : "वास्तव में हिन्दी के मैदान में जिसने घोड़ा दौड़ाए, वही था और वस्तुतः जो व्यक्ति साहित्य में पुनर्जागरण लाया, वही था।" उच्च-कोटि के कवि 'हातिम', 'आबरु', 'फुग़ाँ' आदि वली की भाषा और शैली का अनुसरण करते हुए प्रयोग करने लगे थे :

"गुजराती या हिन्दी काव्य-संग्रह मुहम्मद शाह के काल में दिल्ली पहुँचा तो उसका भी अनुसरण किया।" (अनुवाद)

'मुसहफी' ने अपने साहित्य के इतिहास में स्वयं हातिम का कथन उनके विषय में लिखा। इससे प्रतीत होता है कि वली का काव्य दिल्ली में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था।

हातिम का कथन है कि :

"एक दिन इस फ़क़ीर से बयान किया कि सन् २ 'फ़िरदौस आरामगाह' में वली का दीवान शाहजहांबाद में आया और इसके शेर हर छोटे-बड़े की ज़बान पर चढ़ गए। दो तीन आदमियों के साथ जिसमें से 'नाजी', 'मजमून', 'ममनून', 'आबरू' हैं। हिन्दी कविता की नींव इहाम (दो अर्थ) पर रखी गई। और सूक्ष्म भावों और विषय के निरूपण की सराहना की गई।" (अनुवाद)

वली के अतिरिक्त जिन दक्खनियों ने दिल्ली में प्रसिद्धता प्राप्त की उनमें फ़कीरुल्ला 'आज़ाद', 'फ़िराकी' भी शामिल थे। मीर अमन अपने इतिहास में लिखते हैं : "समझना चाहिए कि रेख़्ता पहले दक्खनी भाषा थी।" (अनुवाद)

सारांश है कि उत्तर के लेखकों ने शीघ्र ही फ़ारसी काव्य को छोड़ दिया और दक्खनी का अनुसरण किया।

वहाँ के कवियों ने फारसी छोड़ कर और उनकी गज़लों के अनुकरण में गज़लें लिखीं और यथासम्भव इस बात की कोशिश की कि दक्खनी भाषा और शैली में कविता करें। केवल यही नहीं, अपितु जो आदमी भी दक्खनी के विरुद्ध लिखता, उसकी निन्दा की जाती और उसकी कविता निम्न स्तर की समझी जाती थी।

दक्खन के प्रभाव के पश्चात् जिन हिन्दू और मुसलमान कवियों ने फ़ारसी छोड़ कर दक्खनी में कविता प्रारम्भ की उनकी संख्या काफ़ी है। उनका नाम साहित्य के इतिहास में उल्लेखनीय है।

किन्तु दिल्ली के कवियों की यह प्रवृत्ति अधिक दिनों तक न रही। दक्खनी भी फ़ारसी के समान उनकी अपनी मातृभाषा न थी। इसमें भी अपने विचारों को प्रकट करने में उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। अब उन्होंने इस बात की कोशिश की कि अपनी बोलचाल की मातृभाषा में फ़ारसी के अंश मिला कर कविता शुरू की। यद्यपि पहले अनेक लोगों ने इसका विरोध भी किया लेकिन यह प्रवृत्ति सफल रही! शीघ्र ही उर्दू ए मोअल्ला की भाषा में काव्य आरम्भ हुआ। इसका सूत्रपात मिर्ज़ा जान जाना 'मज़हर' ने किया और इसका विकास 'आतिश' 'नासिख़' के काल तक होता रहा।

इस भाषागत परिवर्तन को कुछ लोगों ने पसन्द नहीं किया। मगर यह शैली बराबार उन्नति करती रही।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि दक्खनी भाषा के शीघ्र प्रचलन के बाद उसकी प्रतिक्रिया भी तीव्रता से हुई। 'मीर', 'सौदा', 'क़ायम' जैसे महान् कवि इसी भाषा में लिखने लगे।

रफ़अत मंज़िल, ख़ैरताबाद
हैदराबाद दक्षिण

—(डा०) सैयद मुहीउद्दीन क़ादरी 'ज़ोर'

"........हाथ को पाँच उंगलियों में इसलिए विभक्त किया गया जिससे कि वह अपने कार्य को सुगमता से कर सके। इसी प्रकार मानव को मनुष्यों के रूप में इसलिए विभक्त किया गया कि वह अपने कार्य को सुचारू रूप से सम्पन्न कर सके।"

—एमर्सन

हैदराबाद में पुरातत्त्व-शास्त्र

पुरातत्व-शास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं। इनमें एक आधारभूत शाखा है जिससे हमें इस बात का ज्ञान होता है कि सभ्यता का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ। यह एक ऐसा विषय है जो कि अनिवार्यतः अनाज के पौधों और उनकी खेती से सम्बन्ध रखता है। एकौलोजी या अनाज के पौधों (मुख्यतः इस प्रकार के Cercals जैसे कि गेहूँ, चावल और ज्वार) से हमें पता चलता है कि मनुष्य के प्रारंभिक घर और प्रारम्भिक सभ्यता का चाहे वह आर्य हो या आर्यों के पूर्व की पता लगता है। भोजन की स्थिरतापूर्वक प्राप्ति सभ्यता के विकास का एक आवश्यक अंग है। इन अनाज के दानों के बिना मानवीय उन्नति की से संभावना नहीं हो सकती थी। कौम० विविलोव और अन्य रूसी वैज्ञानिकों के विचारों के अनुसार गेहूँ सबसे पूर्व अफ़गानिस्तान से आया। ऐसा प्रतीत होता है कि चावल सबसे पूर्व दक्षिण में प्राचीन नदियों, गोदावरी, कृष्णा और साथ की नदियों के किनारों पर उत्पन्न हुआ। पुरातत्व-शास्त्री अभी तक इस बात का पता नहीं लगा सके हैं कि जवार सबसे पूर्व कहाँ उत्पन्न हुई।

पुरानी मट्टी से ऐसे पौधों या वनस्पतियों को प्रमाणों के साथ प्राप्त करना जो कि प्रारम्भिक मानव के समय विद्यमान थे एक उन मुख्य समस्याओं में से है जिन्हें कि हैदराबाद में एक पुरातत्व शास्त्री को हल करना है। इसके लिए बहुत-सी मिट्टियों को लेकर उनका विश्लेषण करना, पौधों और वनस्पतियों के बीजों को प्राप्त करना और पहचानना, अन्न के उत्पादक मुख्य तत्वों का और विश्व के इतिहास के होलोसीन और प्लीस्टोसीन युगों में पराग के विश्लेषण के द्वारा दूर और विदेशी ऋतुओं की अवस्थाओं का परिज्ञान परम आवश्यक है। इसकी परम आवश्यकता का इस बात से अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि यूरोप में जहाँ कि पाषाण युग की संस्कृतियों की प्रचुरता है, पुरातत्व की खुदाइयों में पराग का विश्लेषण एक अनिवार्य रूप से किया जाने वाला प्रतिदिन का कार्य है। हैदराबाद में यदि अन्वेषण किया जाएगा तो यहाँ ऐसे पत्थर के उपकरणों वाले स्थलों का पता लग सकेगा, जिनकी तुलना कर्नूल की गुफाओं से की जा सकेगी।

किसी भी प्रशिक्षित पुरातन शास्त्री के लिए पराग के विश्लेषण की विधि कुछ कठिन नहीं है और इसका संक्षेप से विवरण इस प्रकार है :

"पराग को स्वल्प मात्रा में लीजिए और इस पर सोडियम या पोटाशियम, हाइड्रोक्साइड या कोई पृथक् करने वाली वस्तु डालिए। इससे बहुत-कुछ चेतन तत्व दूर हो जाएगा और एकमात्र पराग रह जाएगा जो कि बहुत अधिक प्रतिरोधक होता है। केन्द्र से प्रवाहित धातुमय-तत्व के भारी कणों को हलके पराग से पृथक् करने में प्रायः उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके पश्चात् पराग को अनुवीक्षण यन्त्र के नीचे रखा जाता है और कणों की प्रत्येक क़िस्म या प्रकार को गिना जाता है और प्रतिशत पुनरावर्तन का हिसाब लगाया जाता है।"

पराग के विश्लेषण की सहायता से वृक्षों की बनावट या जंगल की वनस्पंतियों में परिवर्तन का अच्छी तरह पता लगाया जा सकता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के नमूनों के पूरी हिस्सों का थोड़े-थोड़े अरसे के पश्चात् अनुसन्धान करना अत्यन्त आवश्यक है।

इंग्लैण्ड, यूरोप और अमरीका में अनेक मानचित्रों में इस प्रकार के अनुसन्धान के परिणामों को प्रकाशित किया गया है। इस विषय में हमें अभी अपने कार्य को आरम्भ करना है।

मिट्टी और कंकरों के जो अभी रामायनिक और भौतिक विश्लेषण किए गए हैं, उनसे पुरातत्व-शास्त्रियों को ऋतु की उन साधारण अवस्थाओं का परिज्ञान होता है जिनमें कि पुरानी मिट्टी विद्यमान थी। ये साधारण अवस्थाएँ इस प्रकार की थीं जो कि उस समय के मानव के समकालीन थीं। यूरोप में डा. एफ़. ई. ज्यूनेर ने इस प्रकार की विश्लेषणात्मक टेकनिक को विकसित किया है और इस प्रकार की सामग्री को एकत्रित किया और परखा है जिससे कि प्राचीनतम समय से लेकर अपेक्षाकृत आधुनिकतम समय तक की मनुष्य की अवस्थाओं और काल का पता चलता है।

डा. ज्यूनेर यांत्रिक विश्लेषण के द्वारा रेत, चिकनी मट्टी, ईंटों की मट्टी और अन्य प्रकार की मट्टी के स्तर और वज़न का निर्धारण करते हैं। सामग्री के कुछ अंश को पानी में डाल दिया जाता है; इसमें जो मोटे और भारी कण उनसे जल्दी नीचे बैठ जाते हैं जो कि पतले और हलके होते हैं। बरफ़ में हवा के द्वारा डाल दिए गए मिट्टी के कणों और इसी प्रकार नदी की रेत के कणों के तुलनात्मक परीक्षणों से यह ज्ञात होता है कि ६०-६७ प्रतिशत वायु के द्वारा उड़ाए हुए मिट्टी के कण ०.०७-०.०१ एम एम और इससे भी अधिक बारीक़ होते हैं जब कि पानी में पड़े हुए ६६ प्रतिशत मिट्टी के कण उतने ही बारीक़ होते हैं। इसी प्रकार की समान विधियों के द्वारा यह बात निर्धारित की जा सकती है कि प्राप्य मिट्टी पर बाद की अवस्थाओं का प्रभाव पड़ा है। जब भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की मट्टी के कणों का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है तब हमें मट्टी के काल-क्रम प्रभाव का पता लग जाता है। दो क्षेत्रों में इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न समयों पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनसे दोनों की कुछ समकालीन अवस्था का परिज्ञान हो जाता है।

यांत्रिक विश्लेषणों के समान कंकरों का विश्लेषण भी है। यह तो साधारण रूप से ज्ञात ही है कि मनुष्य की कहानी की प्रारंभिक अवस्थाएँ प्रारंभिक प्राचीन वर्षासम्बन्धी जलवायु के प्रबल प्रमाणों से अन्तर्निहित या आबद्ध हैं जिन्हें कि कई प्रकार से भिन्नाकृति में किया जा सकता है। इन जलवायु सम्बन्धी भेदों या उपभेदों की सूची रेतीले टीलों या नदियों के पास के तल से प्राप्त होती है। एक ही नदी के भिन्न भिन्न रेतीले टीलों के नमूनों के विश्लेषण से अनेक महत्वपूर्ण बातों का परिज्ञान होता है। कई प्रकार की छाननियों में इन कंकरों को छाना जाता है और परिमाण के अनुसार कणों को स्तरित कर लिया जाता है। कंकरों के प्रत्येक स्तर को उन शिलाओं और खनिज तत्वों के भेदों के अनुसार चुन लिया जाता है। साधारणतया परिणाम को प्रतिशत के अंकों में प्रस्तुत किया जाता है। इन अंकों से इन बातों पर प्रकाश पड़ता है :

(१) ढालू क्षेत्र में परिवर्तन और उस परिवर्तन से सम्बन्धित समय।

(२) घटनाओं के क्रम के सम्बन्ध में ज्वालामुखी के फटने की घटनाओं की तारीख़।

(३) हिमीकरण से सम्बन्धित समय जिसने नदी को आक्रान्त या स्पर्श किया। इसका पता उन पत्थरों से लगता है जो कि विदेशी शिलाओं के होते हैं।

(४) कुछ नदियों में कंकर भिन्न प्रकार के होते हैं। इसके कंकरों में एक प्रकार की वक्रता होती है जिससे कि भिन्न स्तर के तत्वों की पारस्परिक पुनरावृत्ति का पता चलता है। जब कि कंकर इकट्ठे हो जाते हैं उस समय जलवायु का वक्रता के आकार पर प्रभाव पड़ता है। जो कि पत्थर फ़ैल्सपर के समान कठोर और कुछ प्रतिरोधक होते हैं वे छोटे स्तर में रह जाते हैं जब कि गीली जलवायु में ये नष्ट हो जाते हैं।

यदि हम गोदावरी, कृष्णा और उनकी सहनदियों के उच्च किनारों का अध्ययन करें तो हम जलवायु के परिणाम का विस्तृत रूप से पता लगा सकते हैं। इसके साथ ही हमें (अनुकूल परिस्थितियों में) उनसे निकट रूप से सम्बन्धित पृथ्वी में गड़ा हुआ मानवीय उपकरणों का भी परिज्ञान हो सकता है। इसकी मट्टी के विश्लेषण से तुलना की जा सकती है। इससे हमें जहाँ सामूहिक रूप में जलवायुगत अवस्थाओं का परिज्ञान हो सकता है वहाँ पर्याप्त सामग्री के एकत्रित कर हम एक विशेष क्षेत्र की मानवीय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पुरातत्व-शास्त्र की इस शाखा को साधारणतया भू-काल शास्त्र कहा जाता है। भिन्न भिन्न परिणामों के अध्ययन से हम सम्बन्धित काल का निर्धारण कर सकते हैं। सत्य तो यह है कि जब तक इस दिशा में गम्भीरतापूर्वक कार्य न किया जाय तब तक हैदराबाद में पुरातत्व शास्त्र का ठीक तरह अध्ययन नहीं किया जा सकता।

अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि यूरोप में जो परिणाम निकाले जाते हैं भारतवर्ष में बिना किसी छान-बीन के उन्हें सर्वांश में स्वीकार कर लिया जाता है और इस प्रकार प्रागैतिहासिक समय के विषय में अवैज्ञानिक और शिथिल बातें की जाती हैं। यह सत्य है कि भारतवर्ष और यूरोप में महान् नदियों और भौगोलिक क्षेत्रों और एक दूसरे से मिलते हुए उद्योगों में इस प्रकार की एक समान बातें पाई जाती हैं जिनके आधार पर यूरोपियन पुरातत्व-शास्त्री उसी प्रकार के काल-क्रम

का निर्धारण कर देते हैं। परन्तु दोनों में कई महान् भेद हैं। भारतवर्ष में हिम की सामग्री नहीं है जो कि उप-ध्रुवगत स्थित यूरोप में है। हमारे पास वर्षा प्रचुर-मात्रा में है। इसकी आफ्रिका के वर्षा-सामग्री के साथ और यूरोप के हिमकण और अन्तर्हिम के साथ विश्लेषणात्मक तुलना की जानी चाहिए। अन्ततः मनुष्य जाति का मूल इस उप-महाद्वीप में लगभग एक लाख से ऊपर वर्षों तक फैला हुआ है और जब तक हम इसका यथोचित वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन न करें तब तक प्रागैतिहासिक काल का अनुसन्धान यथार्थ नहीं कहा जा सकता।

डाइरेक्टर, पुरातत्व-विभाग,
हैदराबाद

—डॉ० श्रीनिवासाचार्य

लॉर्ड बीवरब्रुक

लॉर्ड बीवरब्रुक ने समाचार पत्रों के द्वारा करोड़ों रुपया कमाया है। वह कनाडा के "डेली एक्सप्रेस" आदि अनेक पत्रों का अधिपति है। उसकी कहानी आधुनिक पत्रकारिता की सफलता और असफलता की आकर्षक कहानियों में से एक है। जब उसने समाचार पत्र का कार्य प्रारम्भ किया उस समय उसकी आयु २६ वर्ष की थी। उसका नाम मैक्स ऐटकन था। उसके पास एक पैसा नहीं था। उसकी आयु अभी तीस वर्ष की भी नहीं होने पाई थी कि वह कनाडा में लखपति हो गया। ब्रिटेन में वह प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व पहुँचा और उसने वहाँ समाचार पत्रों का निर्माण करने और वहाँ के राजनीति के क्षेत्र में सत्ता प्राप्त करने में अपनी समस्त शक्ति लगा दी।

लॉर्ड बीवरब्रुक को फ़्लीट स्ट्रीट का "बीवर" कहा जाता है। समाचार-पत्रों के क्षेत्र में उसने अपने उद्देश्य को कभी नहीं छुपाया। उसने प्रेस कमीशन के सामने बयान देते हुए कहा था: "मैं अपने पत्रों को एकमात्र प्रोपगैण्डा की दृष्टि से चलाता हूँ—अन्य किसी उद्देश्य से नहीं।" बीवर जिस विषय में निर्णय कर लेता है उसके पत्र उसके विषय में प्रोपगैण्डा करते हैं। इस समय "डेली एक्सप्रेस" की बिक्री प्रतिदिन ४० लाख है। इसकी बिक्री एकमात्र "डेली मिरर" से कुछ कम है। "डेली मिरर" की बिक्री इस समय प्रतिदिन ६० लाख प्रतियों की है। बीवर ब्रुक की सफलता का कारण यह है कि एक तो उसने निम्न मध्य वर्ग के लोगों को अपनाया है—दूसरा वह ऐसे योग्य व्यक्तियों को जिनमें पत्रकारिता की प्रतिभा है—अच्छी तनख़ाहें देकर रख लेता है और उनकी योग्यता और प्रतिभा का अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करता है।

प्रोपगैण्डा करने के बीवर के अनेक तरीक़े हैं। उसे राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल करने में अनेक बार सफलता प्राप्त हुई परन्तु वह ब्रिटेन की राजनैतिक सत्ता को हथियाने में सदा असफल रहा है। वह न तो कभी प्रधान मन्त्री बन सका है और न कभी किसी कैबिनट का मिनिस्टर। उसके मित्र श्री बोनर ला ने उसके सम्बन्ध में कहा था: "वह एक अजीब क़िस्म का आदमी है।" श्रीयुत स्टैनले बाल्डविन ने उसके विषय में कहा था: "वह नहीं चाहता कि बीवरब्रुक ब्रिटिश संसद् का कभी सदस्य बने। उसे कैबिनट में लेने का तो प्रश्न ही नहीं है।"

अजन्ता के चित्र

एक चौथाई शताब्दी हुई है, जब कि सिन्ध में कुछ खुदाइयाँ की गई थीं। इनके बारे में विशेषज्ञों के भिन्न-भिन्न मत हैं कि वह शुद्ध भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्धित है या उनमें पश्चिमी एशियाई देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का भी समावेश है। यह समस्या तब तक हल नहीं हो सकती, जब तक कि उन खुदाइयों में से प्राप्त वस्तुओं एवं अवशेषों का सही पता न लग जाए! सिन्ध की सभ्यता ढ़ाई हज़ार वर्ष ईसा पूर्व की मानी गई है। इस युग के पश्चात् भारतीय सभ्यता के सम्बन्ध में इतिहासकारों के सिवाय वेदों और शास्त्रों के और कोई विश्वसनीय सूत्र नहीं मिलता। कुछ शास्त्रियों ने "पार्शा" की कुछ पुस्तकों में आए कुछ वाक्यों पर इनकी ऐतिहासिक स्थिरता स्थापित की है। छठी और पाँचवीं सदी ई. पू. बौद्ध के जीवन काल का युग था। इस छोटे से लेख में बौद्ध धर्म पर प्रकाश न डाल कर अजन्ता के चित्रों की चर्चा की जाएगी और चूँकि उन चित्रों का बौद्ध धर्म से गहरा सम्बन्ध है इसलिए यह कह देना अधिक उचित है कि मानव के आवागमन की समस्या उस सत्य की खोज करने वाले महामानव के लिए काफ़ी उलझन बनी हुई थी और बौद्ध धर्म का निर्वाण सिद्धान्त इसी पर आधारित हुआ। यदि बौद्ध मत की शिक्षाओं को सही मान लिया जाए तो शाक्य मुनि के जीवन काल में ही बिहार से वर्तमान गोरखपुर तक के सभी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, राजे महाराजे और सभी वर्गों के नेताओं ने इस मत को मान लिया था। महाराजा अशोक ने ईसा पूर्व तीसरी सदी में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। इस सम्राट् ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को विश्वव्यापी बनाने की बहुत कोशिश की और भारत के विभिन्न प्रान्तों में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजा। अशोक की धार्मिक राजाज्ञाओं को वास्तव में धर्म लेख कहते थे। अब तक भारत के दूर-दूर के शहरों यहाँ तक कि दक्षिणी भारत में भी ये धर्म लेख प्राप्त होते हैं और अब भी यह धर्म लेख उत्तरी और मध्य भारत के स्तम्भों पर खुदे हुए हैं जिनकी शैली और बेल-बूटों पर पश्चिमी एशियाई कारीगरी का प्रभाव दीखता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि पंजाब के उत्तर पश्चिम और उसके साथी प्रदेशों में छठी ई. पू. ईरानी राज्य स्थापित हो गया था और इसके पश्चात् भी इस प्रदेश में ईरानी नस्ल और पश्चिमी एशियाई देशों के लोग आबाद थे जिनमें बहुत से ऊँचे दर्जे के शिल्पी थे और जब तीसरी सदी ईसा पूर्व या बाद में बौद्ध धर्म का बोल-बाला हुआ इन विदेशी लोगों ने बौद्ध धर्म की मानवता और विस्तृत विचारों से प्रभावित होकर इसे स्वीकार कर लिया। सारनाथ के स्तम्भ की आकृति और शेरों की मूर्तियाँ, असीरिया की शिल्प कला के नमूने से बेहद मिलती है।

नक्काशी के नमूने जो तीसरी सदी ई. पू. थे या उसके बाद के लगभग सदियों के हों, उत्तरीय भारत में अब तक नहीं प्राप्त हुए हैं और न पश्चिमी एशियाई देशों में इनका अस्तित्व सिद्ध हो सका है। अलबत्ता मिश्र में पहाड़ को तराश कर मक़बरों को बनाने की प्रथा काफ़ी समय से थी और इन मक़बरों में नक्काशी के नमूने भी दीवारों पर हैं। दक्षिण और पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेशों में जो शानदार समाधियाँ और मठ हैं, वे पहाड़ तराश कर ही बनाए गए हैं। इनको निर्माण कला के लिहाज़ से मिश्र से प्रभावित कहा जा सकता है लेकिन जब नक्शों और सजावट को देखा जाता है तो इनकी मिस्री समाधियों और मठों से कोई समानता नहीं दीखती। नक्काशी में ज़मीन आसमान का अन्तर है। मिस्री नक्काशी रेखाओं पर आधारित है। इन रेखाओं के अलावा शरीरों की मोटाई या लम्बाई को दिखाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। अजन्ता के चित्रों में इसका विशेष ध्यान रखा गया है। पुराने से पुराने नमूनों में भी लम्बाई चौड़ाई के साथ भारीपन भी दिखाया गया है। अजन्ता के चित्रों के प्रारंभिक नमूने हमें गुफ़ा नंबर १० की दीवारों पर दिखाई पड़ते हैं। यह गुफ़ा पूजा करने का एक स्थान है और इसके निर्माण शैली बहाजा, कारला, वेडसा और कन्दाना के मठों से बेहद मिलती-जुलती है। ये मठ दूसरी सदी

ईसा पूर्व के बने हुए माने जाते हैं।

मैं अब संक्षिप्त तौर से उन तस्वीरों की चर्चा करता हूँ जो गुफ़ा नम्बर १० की बाँई दीवार पर है। इस दीवार पर एक ब्राह्मी लेख भी खुदा है। तस्वीरें वक़्त मौसम और इन्सानी लापरवाही से काफ़ी मिट गई हैं। फिर भी बहुत से चिन्ह और बेल-बूटे शेष हैं। शुरू में किसी राजा के जुलूस के सिपाही दीखते हैं यह सब हथियार बन्द हैं और आधी अस्तीनों के कोट या कुर्ते पहने हुए हैं। नीचे का हिस्सा नष्ट हो गया है। हथियारों में बर्छे-कमान और तीर-फर्से स्पष्ट दीखते हैं। इन सिपाहियों के बाल लम्बे हैं। जिनको पतले टपकों या फ़ीतों से लपेट कर कुण्डलों की तरह सर पर जमा दिया गया है। बालों को इस प्रकार लपेटना हिन्दुस्तान के पुराने निवासियों की विशेषता थी। क्योंकि वह भरहुत और सांची के स्तूपों और पश्चिमी हिन्द के पहाड़ में अंकित पूजा के स्थानों में जो ई. पू. के युग के हैं सबमें बालों का ढंग यही है। कुछ के सरों पर साँप का एक फ़न या सात फ़न दिखाए गए हैं। इसका शायद मक़सद यह था कि ये लोग नाग वंश के थे या ये किसी ज़माने में नाग की पूजा करते थे और वह रिवाज इनकी सजावट में बौद्ध धर्म के क़बूल करने के बाद भी बाक़ी रहा। इन लोगों के नाक-नक़्शे आर्यों जैसे नहीं है। अजन्ता की गुफ़ा नम्बर नौ और दस में ईसा पूर्व के चित्र हैं, उनका अंकन औरंगाबाद और महाराष्ट्र के समीप है। चेहरा लगभग गोल, आँखें छोटी लेकिन चमकती हुई, नाक छोटी लेकिन चपटी नहीं है, ओंठ रस भरे न पतले न मोटे। ठोड़ी जैसी कि गोल चहरे पर होनी चाहिए।

इन चित्रों से मालूम होता है कि बौद्ध धर्म में उस समय आदिवासी लोगों की संख्या भी पर्याप्त थी। इस दृश्य के बाद एक अन्य दृश्य है, जिसमें राजा अपने प्रासाद की स्त्रियों के साथ पीपल के वृक्ष के सम्मुख खड़ा है। इस वृक्ष पर बहुत-सी ध्वजाएँ फहरा रही हैं। वृक्ष वही है, जिस वृक्ष के नीचे तथागत को बोध प्राप्त हुआ था, इस वृक्ष के दूसरी ओर धर्म परायण गायिकाएँ हैं, इनमें कुछ के हाथों में वाद्य-सामग्री है, कुछ तालियाँ बजा रही हैं। इनमें कुछ का नृत्य आधुनिक लगता है। राज प्रासाद की महिलाओं में संगीत बजाने वालियों और नर्तकियों के वस्त्रों में कोई भेद नहीं है। शरीर का ऊपरी भाग नग्न है और नीचे का भाग वस्त्रों से ढका हुआ है और शरीरों पर आभूषणों की अधिकता है। बनावट से आभूषण सोने के प्रतीत होते हैं। दक्षिण में इस युग में सोने की अधिकता थी। आभूषणों में मोती भी दिखाई देते हैं। स्त्रियों के हाथों में चपटी चूड़ियों के जोड़े हैं, जो हाथी दाँत या शंख की होंगी। जैसे कि अभी भी दक्षिण की आदिवासी स्त्रियों में इनका प्रयोग है। ऐसी चूड़ियाँ मस्की और पाटन की खुदाई में भी मिली हैं। इन चित्रों में एक और विशेषता है कि गायिकाएँ बेंत के सुन्दर मूढ़ों पर बैठी हुई हैं। प्रतीत होता है कि उनकी श्रेणी किसी प्रकार कम नहीं हैं। कला के अनुसार इस चित्र की विशेषता यह है कि इस काल में शरीर का मोटा, पतला और भारीपन दिखाने की अच्छी कला थी और यह भी ज्ञान था कि किस भाव को किस प्रकार और किस रंग में दिखाया जाए। यह तस्वीरें चूँकि मिट गई हैं इसलिए यह मालूम करना किसी सीमा तक कठिन हो गया है कि चित्रकार ने किस विशेष भावना को प्रदर्शित करने का प्रयास किया होगा। रंगों में गेरू, हरा, पहाड़ी, मिट्टी, काजल का कालापन और चूने की सफ़ेदी नज़र आती है। होठों और आँख के कोरों पर एक प्रकार चटकदार लाल रंग है जो संभवतः किसी और रंग से मिला कर बनाया गया होगा। लाजवर्दी रंग जो अजन्ता की बाद की तस्वीरों में दिखाई पड़ता है इनमें नहीं है। तस्वीर में दूर एक वृक्ष है लेकिन पार्श्व के दृश्य की सुन्दरता का विचार जितना कि बाद की तस्वीरों में नज़र आता है उस समय तक शायद पैदा न हुआ था। प्रकाश और अन्धेरे को दिखाने का भी अच्छा प्रबन्ध नहीं था जो बाद के चित्र में है। फिर भी यह तस्वीरें कला की दृष्टि से श्रेष्ठ आंकी जा सकती हैं दकन और पश्चिमी घाटों की गुफ़ाओं की संगतराशी की कुशलता को देख कर यह विचार आता है कि कला दो हज़ार वर्ष के निरन्तर प्रयासों के पश्चात् निखर पाई होगी। इन विचारों के आधारों पर दकन के कला का युग सिन्ध की संस्कृति और सभ्यता के युग तक पहुँच जाता है लेकिन समानता साबित करने के लिए सबसे अधिक जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि सिन्ध की कारीगरी के युग की खोज की आवश्यकता है और उसके पश्चात् दकन के पुरातन चिह्नों की जिनमें सोने की

पुरानी खानें भी शामिल हैं। "हट्टी" में ऐसे चिह्न हैं जिनसे प्रतीत होता है कि पुराने ज़माने में सोना छः सौ फ़ीट गहराई तक निकाला गया था। बिना मशीनों के इतनी गहराई पर काम करना और बिना अन्य आवश्यक वस्तुओं के इतना नीचे पहुँचना सदियों के अनुभवों के बाद संभव हुआ होगा। यूनानी एवं रोमी इतिहासकारों की रचनाओं से भी सोने का पश्चिमी एशियाई देशों में जाना प्रमाणित होता है। यह भी कह देना ज़रूरी है कि सोना व्यापार और सभ्यता की प्रगति में हमेशा सहयोगी रहा है। दखन के पुरातत्वों से यह बात भी स्पष्ट है कि इसी से हज़ारों वर्ष पहले दखन और दक्षिणी हिन्द में एशियाई पश्चिमी देशों की विभिन्न जातियां आकर बसीं जिनमें सीथियाई भी आए। ये लोग सिन्ध की पश्चिमी किनारों पर बस गए। सीथियाई जिन्हें अरब में सहबस्तान लिखा है, सबस्तान का अपभ्रंश है यानी "स्कन की बस्ती"। दखन इन जातियों का वतन (देश) बन गया था। संस्कृत साहित्य में इन्हीं को शाक्य कहा गया है। दकन के उत्तरीय भाग की आबादी में इसी नस्ल का खून मिला हुआ है और अजन्ता के चित्रों में इसी का प्रभाव है।

बाहरी बहस को छोड़ कर अब मैं पूजा के स्थान चिह्न नम्बर १० की एक और चित्र का ज़िक्र करता हूँ। ये इस मठ की दाहिनी ओर की दीवार पर खुदी हुई है। इसमें बुद्ध के हाथी की सूरत में जन्म लेने की कथा है। यह हाथी बड़ा है इसके छः दाँत हैं जिसके कारण इसे छः दन्ता भी कहा जाने लगा है। एक कथा है, हाथी की दो बीवियाँ (पत्नियाँ) थीं एक पत्नी ईर्षा से जल घुल कर मर गई और मरने से पहले यह प्रण किया कि यदि अगले जन्म में वह बनारस के राजा की रानी हुई तो अपने पति को सौत रखने का मज़ा चखाऊँगी। संयोगवश ऐसा ही हुआ। वह काशी के राजा की पत्नी बनी और एक दिन रूठ कर बैठ गई और जब तक कि राजा छः दाँत वाले हाथी के दाँत उखड़वा कर न मँगवा देगा तब तक वह खाना नहीं खाएगी। उसने प्रतिज्ञा कर ली और राजा के शिकारी ऐसा हाथी खोजने चल दिए। कहानी लम्बी है बहरे-हाल शिकारी जब छै दाँत वाले हाथी के दाँत तोड़ कर लाया तो उसने खाना खाया। और इस प्रकार उसने अपने पति से बदला लिया लेकिन उसे इस अत्याचार पर दुःख भी हुआ और वह मर भी गई। यह चित्र खिंची रेखाओं के अनुसार तीसरी सदी का लगता है। यानी पहले चित्र से केवल पाँच सौ वर्ष बाद का है। इतने समय में कला ने बहुत उन्नति कर ली थी। चित्रकार ने हाथी के मनोवेगों और आदतों को भी दिखाने की कोशिश की है। और यह सब दृश्य ऐसे जीवित हैं कि आदमी के सामने चलते फिरते से नज़र आते हैं। इसके अतिरिक्त एक बड़े वृक्ष की छाया में छः दाँत वाला हाथी अपनी रानियों के साथ चित्र कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इन चित्रों के अतिरिक्त अन्तिम चित्र में तो चित्रकार काल्पनिक मनोविज्ञान से भी काम लिया है। छः दाँत देख कर रानी बेहोश हो जाती है और राजा ने उसे संभालने के लिए एक हाथ रानी की कमर के पीछे कर लिया है और एक दासी उसके तलुवे सहला रही है तो एक पंखा झल रही है और एक औषधि लिए पास खड़ी है यह चित्र भी बहुत सुन्दर हैं।

तीसरी सदी के अन्त में उत्तरी दखन में आन्ध्र वंश के राजाओं का पतन हुआ और इनका स्थान बकाटक वंश के राजाओं ने ले लिया जो पांचवीं सदी के पहले चतुर्थ चरण तक राज्य करते रहे। इन राजाओं की शादियों का सम्बन्ध उत्तर के गुप्त राजाओं से रहा और इस प्रकार गुप्त युग की ललित कला का प्रभाव दखन पर पड़ा। इस युग की सबसे सुन्दर तस्वीरें चार बड़े मठों में हैं जो गुफा नम्बर १ और २ गुफा नम्बर १६ और १७ के नाम से प्रसिद्ध है। इन मठों की गुफा नम्बर १ और २ कहना उचित नहीं पर फिर भी क्रम से यही ठीक जंचता है। एक चित्र में तो बकाटक वंश की वंशावली अंकित है जिसके आधार पर विशेषज्ञों ने पांचवीं सदी का आखिरी चतुर्थ चरण माना है।

इन चित्रों में भी कथाएँ चित्रित हैं। उदाहरणार्थ एक चित्र है जो नन्द की पत्नी की है लेकिन साधारण लोग इसे "महेन्द्रस राजकुमारी" कहते हैं। नन्द बोधियार का भाई था और परिवर्तन के बाद बुद्ध कपिलवस्तु वापस आए तो उन्होंने नन्द से पूछा कि वह जग त्याग करने तैयार हैं या नहीं। नन्द ने इस ओर अपनी सहमति दिखाई लेकिन उसे अपना राजपाट और उससे भी अधिक अपनी प्रेयसी को छोड़ने का बड़ा दुःख हुआ और घुल-घुल कर कांटे-सा सूख गया। प्रेयसी को भी नन्द के इस त्याग का बड़ा दुःख हुआ।

और दास जब नन्द का मुकुट ले कर उसके सामने आए जो नन्द ने छोड़ दिया था तो वह उसे देख कर बेहोश हो गए। यह कथा वास्तव में अलौकिक है पर फिर भी इसमें मानवीय भावनाओं का वह जादू भर दिया है जो आज तक जीवित है। रानी बेहोश पड़ी है नीचे का शरीर तख़्त के नीचे ढलक आया है—दासियों में से एक रानी की कमर पकड़े खड़ी हुई है। ताकि वह ज़मीन पर न गिर पड़े। इटली में स्त्रियों को लेटे हुए अच्छी तरह से दिखाया गया है। ऐसी तसवीरें वीनस में हैं किन्तु उनमें सौन्दर्य को नंगा और अश्लील दिखाया है। अजन्ता के चित्र में नन्द की पत्नी को एक चुस्त चोली, फंसा हुआ पायजामा जो घुटनों तक था, पहनाया है। इनसे सौन्दर्य स्पष्ट होते हुए भी ढका हुआ है। इनमें प्रकाश को दिखाने के लिए हलके रंगों का भी प्रयोग किया गया है और ये चित्र अद्वितीय हैं।

अजन्ता में ललित कला को विभिन्न प्रकारों में प्रस्तुत किया गया है। कहीं खड़ी हुई प्रतिमाएँ नज़र को खींच लेती हैं तो कहीं बैठी हुई और कहीं लेटी हुई। लेकिन इनको चित्र में विभिन्नताओं और ऐसी कल्पनाओं के साथ पेश किया गया है कि उनके गौरव और स्तर में वृद्धि ही होती है। बहुधा माँ की ममता और पत्नी का प्रेम दिखाया है। गुफा नम्बर १६-१७ बुद्ध के गृह त्याग के २५ वर्ष बाद की बनी हुई तसवीर है, बुद्ध अपना राज्य छोड़ कर वैरागी बन गए हैं और स्वयं अपने ही घर पर भीख मांगने आते हैं। बौद्ध का आत्मिक एवं अलौकिक बड़प्पन दिखाने के लिए साधारण आदम क़द से ऊँची आकृति बनाई है जो गेरुवा वस्त्र धारण किए हुए है। एक हाथ में कमण्डलु है। और श्रीमुख पर सन्तोष की कांति है। और जो प्रेम अनुराग उन्हें खींच लाया है उसका कोई प्रभाव दीखता नहीं है। सामने एक खूबसूरत स्त्री अपने बच्चे को लिए खड़ी है। बच्चा और माँ दोनों बौद्ध को देख रहे हैं। माँ में प्रेम है और बच्चे में आश्चर्य और अनुराग। स्त्री यशोधरा भगवान् तथागत की पत्नी है और बच्चा उनका पुत्र राहुल। कथा के अनुसार उस चित्र में पत्नी यशोधरा अपने पति से कह रही है—जब राहुल पैदा हुआ था तब तुमने राज-पाट और दुनिया को छोड़ा था आज तुम्हारे राज्य की कीर्ति पहले से हज़ार दर्जा ज़्यादा है। इस चित्र में यशोधरा के खड़े होने का ढंग और सुन्दर केशों की वेणी की सजावट और आभूषणों का सजाना चित्रकार की कल्पना का सजीव नमूना है। मिस्टर बैनियन और हैवेल दोनों की राय है कि धार्मिक उच्चतर और मानवीय प्रेम को जिस प्रभावात्मक ढंग से इस चित्र में प्रस्तुत किया गया है दुनिया की किसी और तस्वीर ऐसी नहीं है।' अजन्ता की पांचवीं सदी के चित्रों के नमूनों के सम्बन्ध में इन दो प्रसिद्ध चित्रकारों की सम्मतियाँ कुछ कम साधारण नहीं हैं। यह चित्र साधारणतया माँ और बालक के नाम से प्रसिद्ध है।

बौद्ध मत की शिक्षा में चूँकि समस्त विश्व में समानता स्थापित करने की कोशिश की गई है इसलिए स्वयं भगवान् तथागत अपने पहले जन्मों में विभिन्न सूरतों में दिखाए गए हैं। कभी हिरन के रूप में, तो कभी हंस के रूप में, कभी नाग के रूप में। लेकिन सब में सहानुभूति और सेवा की ओर बड़ा संकेत दिखाया गया है। मठ और चिन्ह नम्बर १७ में इस प्रकार की बहुत सी कहानियाँ चित्रित हैं। राजकीय शानो-शौक़त को आध्यात्मिक और अलौकिक प्रकाश के सामने धूमिल और हीन प्रमाणित करने के लिए महाजन, राजकुमार और स्वयं भगवान् के संसार त्याग की कथा चित्रित की गई है। ये पाँचवीं सदी के सर्वोत्तम चित्र माने जाते हैं। इसमें चित्रकार ने बौद्ध के यौवन काल को दिखाया है। ऊँचा क़द, चौड़ा सीना, भरा बदन, कुन्दन जैसा दमकता हुआ रंग एक पवित्र जीवन को बताते हैं। शानदार मुकुट, मूर्तियों की कंठी और हार और जड़ाऊ दस्तबन्द राजसी ठाठ को स्पष्ट करता है। अजन्ता की तसवीरों में राजों और राजकुमारों के ऊपरी शरीर को नंगा रखा गया है जब कि उनके नौकर पूरी आस्तीन के अंगरखे पहने नज़र आते हैं। धोती रेशमी पट्टेदार है। जो शायद पाटन के किसी कारख़ाने में बनी हुई होंगी। रेशमी फूलदार कपड़ों के विभिन्न नमूने हमें अजन्ता की तस्वीरों में ही खूब मिलते हैं जो दकन की कपड़ा उद्योग की प्रगति का प्रतीक है।

मैं बुद्ध की तस्वीरों का ज़िक्र कर रहा था। जिनमें ऊपरी सुन्दरता और राजसी ठाठ के अतिरिक्त आत्मिक शान्ति एवं प्रेम है। जो उनके सन्तोष जनक श्री मुख पर झलकती है। पास ही उनकी पत्नी यशोधरा उदास खड़ी है। यशोधरा का सौन्दर्य एक माँ का ह हैं। क्योंकि राहुल पैदा हो चुका था। रंग काला है

बौद्ध मत में काले गोरे रंग में भेद नहीं था। सब एक ईश्वर की ही देन थी और शारीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य पर आधारित थे। इस चित्र में कुछ का नाक नक़्शा आर्यों जैसा है। चौथी और पाँचवीं सदी की अजन्ता की तसवीरों में आर्य लोग भी दीखते हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि उन्हें आज भी काशी और प्रयाग के पण्डे और उड़ीसा और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों से मिलाया जा सकता है। इन तस्वीरों में ईरानी और सीथियाई नस्ल के लोग भी दीखते हैं। इसलिए इन चित्रों में यशोधरा के पीछे एक सहेली ईरानी लगती है जो पाजामा पहने हुए है। इस चित्र में शाही शान दिखाने के लिए नौकर भी हैं लेकिन इनसे अधिक सुन्दर इसका पार्श्व दृश्य है जहाँ मोर, बन्दर, शेर और बनवासी इन्सान भी प्रसन्नता में दिखाए गए हैं। इस खुशी से यह बात दिखाई गई है कि भगवान् का त्याग आनन्द और कल्याण के लिए है इसलिए प्रसन्नता का दृश्य है। चितेरे ने इस चित्र में अपनी श्रेष्ठ कल्पना प्रस्तुत की है। प्रत्येक वस्तु में उसका अपना रंग मिलता है।

छठी सदी में वकाटक वंश का प्रभाव उत्तरीय दकन से जाता रहा और इनके स्थान पर चालुक्य वंश के राजाओं ने गद्दी सम्भाली जिनका सिंहासन बादामी था और अब बीजापुर में है। चालुक्य राजाओं के काल में ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा और इन्होंने बौद्ध मत के ढंग पर ही मन्दिर बनवाए और वैसी ही तसवीरें दीवारों पर बनवाई और खुदवाई गई जो एलौरा के चित्रों से मिलती हैं।

मालूम होता है कि छठी सदी के अन्त में कलाकारों को ऐसी विषमताओं का सामना करना पड़ा कि वह अपनी कला के प्रति उदासीन हो गए। यह कला लंका, अफ़गानिस्तान आदि से मिलती है। आठवीं शताब्दी में बौद्ध मत और शिल्पी कला दोनों भारत से चले गए। तेरहवीं और चौदहवीं सदी में गुजराती शैली की तसवीरें हमें पुस्तकों में मिलती हैं जो अजन्ता शैली से बिलकुल भिन्न हैं।

अजन्ता की तसवीरों में हमको भारत की जनता और सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का अन्दाज़ा लगता है। कल्पना और भावना की सुन्दर कलाकृतियाँ हमें अजन्ता से बढ़ कर कहीं नहीं मिल सकती। जैसा कि साँड़ों की लड़ाई, मेंढ़ों की लड़ाई, साँप का तमाशा, पुष्पों के गुच्छे व बेलें—और घराटों के नमूने और रहन-सहन के तरीके व कपड़े वगैरा।

सभी चित्रों से समकालीन सामाजिक जीवन का पता लगता है। हो सकता है कि यूनान तथा पश्चिमी एशिया के कलाकार भी अजन्ता की तरह उसी प्रगति शिखर पर पहुँचे हों पर अजन्ता की मौलिकता और श्रेष्ठता पर कोई नहीं पहुँचता और यह कहने में कोई हर्ज नहीं कि इस कला का दकन में जन्म हुआ।

युगों के चक्र और धार्मिक विषमताओं के कारण अजन्ता की तसवीरें काफ़ी समय तक संसार से छिपी वा दबी पड़ी रहीं और तसवीरों को काफ़ी क्षति पहुँची। मगर यदि हैदराबाद शासन का व्यापक एवं कलाप्रेमी दृष्टिकोण न होता तो राष्ट्र के गौरवशील कलाकृतियों के दर्शन शायद कुछ दिन और न होते।

ओरेंज ग्रूव, सोमाजीगुड़ा
हैदराबाद दक्षिण

—(डा.) **गुलाम यज़दानी**

……हमको विनम्र होना चाहिए। हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि हम अपूर्ण हैं और हमारी शक्तियाँ सीमित हैं। हम विश्व के समस्त प्रश्नों को अपने ही तरीकों और ढंग पर हल नहीं कर सकते। हमें केवल अपने मित्रों से नहीं शत्रुओं से भी समझौता करने की आवश्यकता को अनुभव करना चाहिए। हमें हर समय सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए। हमें सुनना भी पड़ेगा और सुनाना भी पड़ेगा। हमें सीखना भी पड़ेगा और सिखाना भी पड़ेगा।……

'एक लेख से'

—एडलाई स्टीवन्सन

एक हास्य व्यंगपूर्ण नाटक

गीत की खोज

(समवेत गान)

करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !
टूटी है जीवन-सितार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !
काली घटाएँ, छाया अंधेरा
बिजली लगाती है पल पल पै फेरा
सहमा है सब संसार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !
करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !
साँसों की बाती, तेल नहीं बाक़ी
प्राणों के दीपक पै चोटें हवा की
झोंके हैं जैसे कटार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !
करती है धरती पुकार
गीत मेरा, गीत मेरा खो गया !

[गीत समाप्त होता है ।]

कवि : कहो सेठ ! कैसा लगा ?

सेठ : (व्यंग्य से) कहो सेठ कैसा लगा ! मैं कहता हूँ, तुम तीन हफ़्ते से मुझे उल्टा सीधा समझाते रहे, और आखिर में लिख कर लाए भी तो थे ?

कवि : क्यों, इसमें क्या खराबी है ?

सेठ : पूछते हो, क्या खराबी है ? मैं कहता हूँ इसमें है ही क्या ?—आख़िर यह तुमने लिखा क्या है ?

कवि : आपने कहा था न कि एक थीम सौंग लिख लाना ?

सेठ : तो क्या यह थीम सौंग है ?

कवि : और नहीं तो क्या है सेठ ?

सेठ : यह थीम सौंग नहीं है, यह वाहियात सौंग है, समझे !—मैं कहता हूँ, तुमसे कुछ नहीं होने का।

कवि : क्यों ?

सेठ : पूछते हो क्यों ? तुम बुद्धू हो, यों।

कवि : देखो सेठ, मुझे बुद्धू मत कहो !

सेठ : क्यों न कहूँ ?

कवि : इसलिए कि मुझे अपनी आलोचना सुनना गवारा नहीं, चाहे वह सच्ची ही क्यो न हो !

सेठ : और मुझे अपनी फ़िल्म चौपट नहीं करनी है चाहे कम्पनी ही क्यों न फेल हो जाए !

कवि : लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि आपको यह सौंग पसन्द क्यों नहीं आया ! देखिए न, एक भी भद्दी बात नहीं है, एक भी संस्कृत का शब्द नहीं है, बड़ी चलती ट्यून है, और कहीं-कहीं तो मतलब भी बिलकुल साफ़ है। अब आप ही बताइए, थीम सौंग में और क्या चाहिए ?

सेठ : चाहिए मेरा सर ! तुमने कभी थीम सौंग लिखा हो, तब तो समझो ! तुम्हें इतनी बार समझाया कि थीम सौंग वह कहलाता है, वह कहलाता है, जो...

कवि : पूरी फ़िल्म में दो तीन बार गाया जाए।

सेठ : बिलकुल ! अब यह दो-तीन बार कैसे गाया जाएगा ?

कवि : क्यों, यह तो बहुत आसान है। एक बार शुरू में गवा दीजिए, एक बार आख़िर में, और एक बार कहीं बीच में।

सेठ : अरे भाई, यह तो मैं भी समझता हूँ, पर शुरू में इसे गाएगा कौन ?

कवि : अब यह तो कहानी देख कर ही बताया जा सकता है।

सेठ : फिर वही फिजूल की बात ? मैं कहता हूँ, मैंने तुम से कितनी बार कहा कि थीम सौंग वह कहलाता है, वह कहलाता है...

कवि : जो हर कहानी में फ़िट हो जाए !

सेठ : बिलकुल। अब बताओ, यह कैसे फ़िट होगा ?

कवि : आप करना चाहेंगे तो ज़रूर हो जाएगा।

सेठ : कैसे हो जाएगा ?

कवि : जैसे आप चाहें। कोई मुश्किल काम तो

है नहीं।

सेठ : मैं कहता हूँ, अगर मुश्किल काम नहीं है, तो ज़रा करके बताओ।

कवि : अभी लीजिए। हाँ, तो कहानी क्या है? ...ओः! आइ एम सॉरी...माफ़ कीजिएगा, चमड़े की ज़ुबान, ज़रा फिसल गई...हाँ तो, यों समझिए कि अगर हिस्टौरिकल फ़िल्म है तो, क़िले में बन्द बाग़ियों का गिरोह शुरू में यह थीम सौंग गाता है।

सेठ : लेकिन मैं हिस्टौरिकल फ़िल्म नहीं बनाना चाहता, समझे।

कवि : कोई मुज़ायका नहीं। अगर माइथौलोजिकल फ़िल्म है तो मन्दिर की आरती के बाद भक्तगण यह थीम सौंग गाते हैं।

सेठ : मैं कहता हूँ, फ़िज़ूल की बात मत करो। माइथौलोजिकल फ़िल्म से मेरी बिलवेड को सख़्त नफ़रत है!

कवि : ओः! आइ ऐम सो सॉरी...क्षमा कीजिए... आइ मीन...माफ़ फरमाइए.. हाँ, अगर सोशल फ़िल्म है तो...

सेठ : तो?

कवि : तो भी कोई परवा नहीं। अगर सोशल फ़िल्म है तो सिनेमा हॉल पर टिकटों के लिए दस आने वाली लाइन से यह थीम सौंग गवा दीजिए!

सेठ : फ़ायदा?

कवि : फ़ायदा यह कि शुरू में थीम सौंग को इन्ट्रोड्यूस करने की जो बात है, वह पूरी हो जाएगी।

सेठ : और अगर कोई पूछेगा कि इनसे थीम सौंग क्यों गवाया, तो क्या जवाब दूँगा?

कवि : बहुत सीधा जवाब है!

सेठ : क्या जवाब है?

कवि : यही कि अगर इनसे न गवाता तो किससे गवाता?...बोलिए, इसके बाद कोई कुछ कह पाएगी?... सिवाय मेरे!

सेठ : तुम भी क्या कह सकते हो?

कवि : मैं तो खैर, बहुत कुछ कह सकता हूँ।

सेठ : मसलन?

कवि : मसलन यह कि अनाथालय के बच्चों से गवाया होता!

सेठ : (उछल कर) वाह, वाह, शाबाश! यह है आइडिया! वाक़ई, यह तो ग़ज़ब का थीम सौंग है।... और तीसरी बार गवाने के लिए क्या करेंगे, जानते हो?

कवि : जी, आप जना दीजिए!

सेठ : मैं कहता हूँ, तीसरी बार के लिए हिरोइन से गवा देंगे।

कवि : पर यह फ़िट कैसे होगा? यह तो 'धरती की पुकार' है न!

सेठ : तभी तो कहता हूँ, तुम बुद्धू हो!—अरे! इतना भी नहीं जानते? हिरोइन का नाम धरती रख देंगे। बस, पिक्चर कम्प्लीट!...वाह, वाह, भाई, क्या थीम सौंग लिखा है तुमने! मान गए।

कवि : थैंक्यू...थैंक्यू...मैं जानता था, आप इसे पसन्द करेंगे। शुक्रिया...तो फिर दूसरा गाना...

सेठ : दूसरा गाना, मैंने कहा था न कि फ़ीमेल सोलो होना चाहिए, हिरोइन के वास्ते?

कवि : भला मैं भूल सकता हूँ!...लीजिए, वह भी हाज़िर है!

सेठ : एक मिनिट रुको! (घण्टी बजाता है। एक चपरासी आकर सलाम करता है) अरे देखो! ज़रा मिस जुही को तो बुलाओ! (चपरासी गया) तुम्हें मालूम है, मैं मिस जुही को इस फ़िल्म में लीडिंग रोल दे रहा हूँ।

कवि : वाह, तब तो मज़ा आ जाएगा!

[बड़ी शान और तेज़ी से मिस जुही आती है।]

जुही : कहिए सेठ क्या बात है?

सेठ : कुछ नहीं, कुछ नहीं, ज़रा दो मिनट का काम है! प्रोडक्शन नम्बर ट्वैन्टी-थ्री, जिसमें तुम हिरोइन का काम करोगी, उसका यह एक गीत लिख कर लाए हैं। ज़रा तुम भी सुन लो...

जुही : (घृणा और व्यंग्य से) ये?

कवि : जी हाँ, खाकसार ने ही लिखा है।...तो हाज़िर है......

[फ़ीमेल सोलो]

तुम सपनों में आए क्यों?
आँखों में समाए क्यों?
बोलो, पिया! बोलो...

मुझे प्रीत का ज्ञान न था
मन में कुछ अरमान न था

तुमने नैन मिलाए क्यों ?
जी के तार बजाए क्यों ?
बोलो, पिया ! बोलो...

मुझे धूप का सोच न था
जलने का संकोच न था
बादल बन कर छाए क्यों ?
रस के कण बरसाए क्यों ?
बोलो, पिया ! बोलो...

फूल रही थी फुलवारी
मैं थी धुन में मतवारी
फूल देख मुस्काए क्यों ?
तुमने हाथ बढ़ाए क्यों ?
बोलो, पिया ! बोलो...

सेठ : कहो डार्लिंग ! कैसा लगा ?

जुही : सिली...नौनसेन्स...मैं कहती हूँ, यह भी कोई गीत है, जिसका सिर न पैर...

कवि : जी नहीं, यह तो आप गलत फ़रमाती हैं, क्योंकि इसका सिर भी है और पैर भी। देखिए न, पहली लाइन सिर है, और यह आखिरी लाइन पैर है और...

जुही : बकवास मत करो।...तुम हमारा मज़ाक उड़ाते हो ?...हम यह गाना नहीं गाएँगी !

सेठ : लेकिन डार्लिंग ! आखिर वजह भी तो बताओ ! तुम चाहो तो इसमें कुछ रद्दो बदल कर दिया जाए ?

जुही : रद्दो बदल से काम नहीं चलेगा। देखिए न, इसमें थ्रुआउट एक ऐसी टोन हैं, मानो मैं भीख माँग रही हूँ। बड़ा इन्फीरियोरिटी कम्प्लैक्स है इस गाने में।

सेठ : लेकिन यह बात तो सिचुएशन पर डिपैन्ड करती है। अगर इस गाने की टोन इस तरह की है, तो हम कहानी में भी ऐसी सिचुएशन लाएँगे कि यह फ़िट हो जाए !

जुही : कैसी सुचुएशन ?

सेठ : यही कि...मान लो...आइ मीन, जस्ट सपोज़...कि हिरोइन जो है वह विधवा माँ की ग़रीब लड़की है, और उसे हाल ही में एक मिडिल स्कूल में नौकरी मिली है। तब तो ठीक रहेगा ?

जुही : और यह गाना विधवा माँ गाती है ?

सेठ : व्हाट ! ओः डार्लिंग ! तुम समझती क्यों नहीं ?

कवि : मैं बताऊँ ?

सेठ : कहो !

कवि : हीरो को बुलाइए, वही इन्हें समझा सकता है।

जुही : नौनसेन्स ! सेठ जी, इन से कहिए : अपनी ज़ुबान पर लगाम रक्खें। मैं इस तरह का मज़ाक बिलकुल पसन्द नहीं करती !

कवि : किस तरह का करती हैं, अगर मालूम हो जाए तो...

जुही : शटप !

सेठ : मैं कहता हूँ, यह क्या गड़बड़ घोटाला है ? ए पोएट ! ज़रा तमीज़ से पेश आओ।...डार्लिंग ! तुम भी ज़रा एक बार फिर सोचो, मुझे तो यह गीत अच्छा लगा। इसकी ट्यून बड़ी पौपूलर होगी। आखिर और कोई वजह ?

जुही : जो सिचुएशन आप बता रहे हैं, वह सिचुएशन भी मुझे पसन्द नहीं !

कवि : अगर इजाज़त हो तो मैं कुछ अर्ज़ करूँ !

सेठ : हाँ, हाँ...

कवि : इसके लिए आइडियल सिचुएशन तो यह रहेगी कि यह गीत हिरोइन की बजाए हीरो ही गाए, और हीरो को पोएट बना दिया जाए।

सेठ : कमाल की बात करते हो ! अरे ! यह फीमेल सोलो है या मेल सोलो है ?

कवि : जी, बात यह है कि यह तो सोलो है। अब ज़रूरत के मुताबिक यह फ़ीमेल सोलो भी बन सकता है, और मेल सोलो भी। वैसे, फ़ीमेल सोलो ज्यादा जँचता, पर जब इनकी मर्ज़ी नहीं, तो मेल सोलो ही सही।

सेठ : यह सही की भी खूब रही ! भले आदमी, गीत की पहली लाइन है—तुम सपने में आए क्यों ?—इसका मेल सोलो कैसे बनेगा ? और अगर इसे यों कर दें : तुम सपनों में आई क्यों ?...तो फिर बाक़ी सारी लाइनें बदलनी पड़ेंगी।

कवि : जी नहीं, कुछ नहीं बदलना पड़ेगा। ऐसा का ऐसा ही मेल सोलो हो जाएगा। कविता

इस तरह भी चल जाता है। और दो-एक फ़िल्म में भी ऐसा गीत गाया जा चुका है।

सेठ : गाया जा चुका है? तब तो यह पुरानी ट्रिक हो गई। मैंने तुम से कहा था न, मैं सारी चीज़ें एकदम नई चाहता हूँ!

कवि : जी नहीं, गीत तो एकदम नया है, रात को ही लिखा है मैंने, लेकिन हाँ, कहने का ढंग ज़रा पुराना है। और यह निहायत ज़रूरी चीज़ है। क्योंकि अगर कुछ भी पुरानापन न रहे तो आपके पुराने देखने वाले हैं, उनके टेस्ट का क्या होगा?

सेठ : हाँ, यह तो तुम ठीक कहते हो!...तो डार्लिंग, अब तो कोई ऑब्जैक्शन नहीं।

जुही : जब यह मेल सोलो है तो फिर मुझसे पूछने की क्या ज़रूरत, हीरो को बुलाइए!

सेठ : लेकिन हीरो तो अभी प्रोडक्शन नम्बर एट्टीन में बिज़ी है।...यह तो बड़ी मुश्किल है।...अब क्या हो?

कवि : यह तो...

सेठ : डार्लिंग, मैं तो कहता हूँ तुम एक बार और सोच कर देख लो। मेरी राय में तो यह गीत बहुत ही खूब है!

जुही : जी नहीं, रहने भी दीजिए! हर लाइन में क्यों, क्यों, क्यों—सवालों के मारे नाक में दम, मानो एक्ज़ामिनेशन हौल का गीत हो!...नहीं सेठ जी, मैं यह गाता नहीं गा सकती।

कवि : (मिस जुही से धीरे) देवी जी क्यों मेरा नुकसान करने पर तुली हुई हैं? बड़ी मुश्किल से तो एक गीत सेठ जी को पसन्द आया है। और कुछ नहीं तो मेरे लिए ही मंज़ूर कर लीजिए।

जुही : (पैर पटक कर) नो, नो, नो! जो चीज़ मुझे पसन्द नहीं है, वह मैं हर्गिज़ पसन्द नहीं कर सकती। मैं यह गाना नहीं गाऊँगी।

कवि : लेकिन आपको थोड़े ही गाना होगा। गाना तो प्लेबैक सिंगर गाएगी!

जुही : ओ यू नौनसैन्स, सेठ जी, मैं अपनी तौहीन बिलकुल बर्दाश्त नहीं कर सकती। आइ कान्ट स्टैण्ड इट, आइ ऐम गोइङ्ग......(खटाखट खटाखट चल देती है।)

सेठ : सुनो तो डार्लिंग, सुनो तो.. भई, मैं कहता हूँ, यह तुम कर क्या रहे हो? गीत लिखते हो, या मेरी फिल्म चौपट करने पर तुले हो! अब दो दिन मिस जुही का मुँह टेढ़ा रहेगा।

कवि : इसमें मेरा कोई कुसूर नहीं।

सेठ : सरासर तुम्हारा कुसूर है। तुम्हीं ने तो...

कवि : जी नहीं, मैं चाहे कुछ कहता या न कहता मिस जुही को नाराज़ होना था, सो वह हो गई। मेरा तो अन्दाज़ है, उनको कोई दूसरा औफ़र मिला है।

सेठ : तो क्या तुम समझते हो, मैं ऐसी छोकरियों की परवा करता हूँ, एक मिस जुही जाएगी, पचास आएँगी......

कवि : लेकिन मेरा गीत तो सोलो है। वी नीड ओन्ली वन! हमें तो सिर्फ एक की ज़रूरत है!

सेठ : अरे! वह तो चुटकी बजाते मिल जाएगी। ...हाँ, तो यह गीत एकदम फर्स्ट रेट! पास!!...अब वह डुएट? यानी डुएट की बात आप एकदम भूल गए?

कवि : जी नहीं, डुएट तो बल्कि मैंने इससे भी पहले लिखा था। वह तो मैं फ़िल्म के औॅर्डर से ही गीत सुना रहा था। लीजिए, डुएट सुनिए। वह चीज़ लिखी है कि हिन्दुस्तान को सर पर उठा लेगी।

सेठ : सुनाओ!...

[हीरो मिस्टर नाथ का प्रवेश]

सेठ : अरे हलो मिस्टर नाथ! क्या शूटिंग ख़त्म हो गई?

नाथ : जी नहीं, खत्म क्या शुरू भी नहीं हुई। जिस पुल पर खड़े होकर मुझे खुदकशी के लिए कूदना था, वह पुल ही टूट गया। अभी रिपेयर हो रहा है!

सेठ : कोई परवाह नहीं। तब तक तुम यह डुएट सुनो ज़रा! प्रोडक्शन नम्बर ट्वैन्टी थ्री का है जिसमें तुम्हें हीरो बनना है। हाँ, भाई, हो जाए!

कवि : अभी लीजिए!

[डुएट]

हिरोइन : उड़ जाओ मेरी कोयल! तू दूर कहीं जा
साजन की खबर ला
हीरो : उड़ जा ओ मेरे भौंरे! तू दूर कहीं जा
सजनी की खबर ला
हिरोइन : बेदरदी से जा कहना, क्या हमने बिगाड़ा है

दिल लेके जो हमारा, दो टूक यों फाड़ा है
कहना कि यह तो कह दो क्या है मेरी खता
साजन की खबर ला

हीरो : प्यारी से जा कहना मजबूर हुए हैं हम
दिल चूर हुआ जब से यों दूर हुए हैं हम
उम्मीद के सहारे कब तक जिएँ बता
सजनी की खबर ला

सेठ : वाह, वाह, क्या कोयल उड़ाई है! क्या भौंरा छोड़ा है!! मान गए दोस्त, तुम सचमुच पोएट हो!

कवि : थैंक्यू! थैंक्यू!!

नाथ : लेकिन सेठजी! आइ ऐम सौरी, मेरा मतलब है, आइ बैग टु डिफ़र, यानी मैं इसको निहायत लीचड़ और दो कौड़ी का गाना मानता हूँ!

कवि : क्या तीन कौड़ी का भी नहीं!

नाथ : यू मिस्टर पोएट! मेरे मुँह मत लगना समझे! तुम्हें मालूम है, मैंने प्रोडक्शन नम्बर एटीन में विलेन की कैसी दुर्गति की है?

कवि : मैंने कहा श्रीमान् जी, ज़रा होश की दवा कीजिए! वह दुर्गति तो फोटोग्राफ़र ने की है। आपका उसमें क्या कमाल है!

सेठ : मैं कहता हूँ, तुम्हारी यह क्या आदत है कि असली बात छोड़ कर साइड प्लौट में उलझ जाते हो। (खाँस कर) हाँ, मिस्टर नाथ! क्या मैं आपका औब्जैक्शन जान सकता हूँ?

नाथ : देखिए सेट जी, फिल्मों के मामले में पब्लिक का टेस्ट बड़ी तेज़ी से रियालिज़्म की ओर जा रहा है। और यह गीत रियालिज़्म के खिलाफ़ है!

कवि : किस तरह?

नाथ : इस तरह, कि खबर लाने ले जाने के तार-चिट्ठी टेलीफोन-रेडियो जैसे तरीक़े मौजूद होने पर भी बेचारी कोयल और भौंरे को जोतना अगेन्स्ट औल इन्टैलैक्च्युल डीसैन्सी यानी दिमागी शराफ़त के खिलाफ़ है!

कवि : वही बात हुई न कि वही बात! अरे साहब! कुछ मौक़े पर भी तो गौर फ़रमाया होता!

नाथ : यानी, इस गीत का कोई मौक़ा भी है?

कवि : नहीं तो बेमौक़े गीत क्या कभी अच्छा लगता है?

नाथ : तो वह मौक़ा भी सुना डालिए!

कवि : जी, वह मौक़ा यह है कि हिरोइन तो ससुराल में है, और हीरो......

सेठ : और हीरो?

कवि : हीरो जेल में।

नाथ : जेल में? ऐब्सर्ड! मैं जेल में क्यों?

कवि : अरे साहब सचमुच की जेल में नहीं, फ़िल्मी जेल में!

नाथ : जी नहीं, जेल कैसी भी हो, आखिर जेल है। और मुझे जेल से सख़्त नफ़रत है। इसीलिए मैंने अपना पोलिटिकल कैरियर छोड़ा। सेठ जी, यह गीत बदलवा दीजिए।

सेठ : हद हो गई मिस्टर नाथ! इस तरह से तो मेरा सारा कारोबार चौपट हो जाएगा। हिरोइन को फ़ीमेल सोलो पसन्द नहीं, आपको डुऐट पसन्द नहीं। आखिर फिल्म में गीत होंगे भी या नहीं?

नाथ : मैं सोचता हूँ, बिना गीतों के ही फ़िल्म बन सकती है?

सेठ : आपको हुआ क्या है! भला बिना गीतों के स्टोरी कहाँ से आएगी, और बिना स्टोरी के फ़िल्म कैसे बनेगी?

कवि : यही तो यह नहीं समझते। गीतों पर ही तो सारा महल खड़ा होता है। यानी यों समझिए कि गीत एक तरह से वे दरवाज़े हैं जिनमें होकर स्टोरी फ़िल्म के अन्दर आती है। इसीलिए तो गीतों पर इतना ज़ोर है और इसीलिए गीतों की इतनी तलाश है!

नाथ : तो आप करते रहिए तलाश मेरे पास वक़्त नहीं, मैं चला! [भड़भड़ा कर जाता!]

सेठ : अरे सुनिए तो मिस्टर नाथ! मिस्टर! लो, यह भी गए!...लेकिन भई, एक बात मिस्टर नाथ पते की कह गए। पब्लिक का टेस्ट तो ज़रूर बदल रहा है! इधर कई पिक्चर फ्लौप हो चुकी हैं। मैं तो सोचता हूँ, तुम अपने गीतों में थोड़ा-सा रियलिज़्म लगा लो, तो अच्छा ही रहेगा!

कवि : लेकिन यह कैसे हो सकता है?

सेठ : क्यों नहीं हो सकता?

कवि : इसलिए कि रियल्टी और गीत का मेल होना मुश्किल है! आपही बताइए, आपने रीयल लाइ

में किसी को गाते देखा है ? सो भी डुएट और कोरस ?

सेठ : क्यों, तमाम लोग गाते हैं !

कवि : जैसे ?

सेठ : जैसे ! जैसे मेरा धोबी ही गाता है !

कवि : तो फिर कहिए तो फ़िल्म में एक धोबियों का गीत भी रख दूँ।

सेठ : लेकिन यह तो बहुत पहले फ़िल्म में आ चुका है।

कवि : अच्छा मान लीजिए, म्यूज़िक स्कूल में गीत की रिहर्सल दिखाई जाए ?

सेठ : कई बार हो चुका है !

कवि : यूनिवर्सिटी के जलसे में कोरस ?

सेठ : पिट चुका है !

कवि : चैरिटी शो में डान्स ?

सेठ : यह भी हो चुका।

कवि : अच्छा, शादी में औरतों का गीत ?

सेठ : बहुत पुराना ख़याल है !

कवि : ऊँटों का काफ़िला गाता हुआ जा रहा है ?

सेठ : लेकिन मैं कहानी हिन्दुस्तान की चाहता हूँ।

कवि : मकान बनाते हुए मज़दूर गा रहे हैं ?

सेठ : बहुत बार गा चुके हैं।

कवि : तो फिर आप ही बताइए, मैं कहाँ से गीत लाऊँ ?

सेठ : कोई नई बात सोचो !

कवि : नई बात तो मिस्टर नाथ बता ही रहे थे, आपको जँची ही नहीं !

सेठ : क्या ?

कवि : यही कि बिना गीतों के ही फ़िल्म बन सकती है।

सेठ : वाह, ऐसा कभी हुआ है आज तक ?

कवि : इसीलिए तो नई बात है !

सेठ : बेकार की बात मत करो ! तुम्हें मालूम है, मैंने मिस फ़ातिमा को पाँच साल का कौन्ट्रैक्ट दिया है प्लेबैक का। फ़िल्म में गीत न हुए तो उसका क्या होगा ?

कवि : सो तो मेरा भी क्या होगा ?

सेठ : बिलकुल ठीक।

कवि : तो फिर ?

सेठ : तो फिर क्या, कोई नया, फड़कता हुआ, रियालिस्टिक गीत लिखो !

कवि : यह तो उलझन है। आज की लाइफ़ में रियल्टी और गीत दोनों एक साथ नहीं मिलते !

सेठ : ज़रा मेहनत करो, ज़रा तलाश करो। खोजने से सब मिलता है। ऐसा गीत भी मिलेगा।

कवि : यानी अब गीत लिखने की बजाय, गीत की खोज करूँ।

सेठ : हर्ज क्या है !

कवि : (सोचता है) गीत की खोज !...गीत की खोज ! (लपक कर) वो मारा !

सेठ : क्या हुआ ?

कवि : गीत मिल गया सेठ। जैसा गीत चाहते थे, बिलकुल वैसा...गीत का गीत और रौयल्टी की रौयल्टी। लीजिए सुनिए......

[सहगान]

जीवन की राह में गीत कहाँ है !
गीत कहाँ है !
आओ मन ! वहाँ चलें गीत जहाँ है !
गीत जहाँ है !
गीत नहीं है तो फिर जिन्दगी है सूनी
दर्द की अंधेरी यह रात हुई दूनी
चुप न रहो, बात करो
रात का प्रभात करो
गीत भी मिलेगा वहीं प्रीत जहाँ है
प्रीत जहाँ है !

[स्वर लोप]

आकाशवाणी,
इलाहाबाद.

—भारतभूषण अग्रवाल

छोटे-से दीपक के प्रकाश को मन्द करने के लिए विश्व का समस्त अन्धकार पर्याप्त नहीं है।

—सीसिल रोबर्ट्स

उपनिषद् में भाषाविज्ञान के बीज

वैदिक-साहित्य का विस्तार शब्द (व्याकरण) शास्त्र है। वेद काल में इस शास्त्र की उत्पत्ति विभिन्न व्याकरणों के कारण 'ऐन्द्र व्याकरण' के रूप में हुई। पातंजल महाभाष्य के पस्पशाह्निक में लिखा है : सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा वह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्शब्दस्य प्रयोगविषयः' अर्थात् पृथ्वी के सात द्वीपों और तीन लोकों में शब्द का विस्तार है। चार वेद उनके छः अंग और उपनिषद्, भिन्न-भिन्न शाखाएँ, सौ यजुर्वेद की शाखाएँ इक्कीस शाखाओं वाला ऋग्वेद और नौ शाखाओं वाला अथर्ववेद, वाकोवाक्य (व्याकरण) इतिहास, पुराण और वैद्यक—इतना बड़ा शब्द-प्रयोग का क्षेत्र है। इसी आह्निक में यह भी लिखा है कि "बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दपारायणं प्रोवाच" अर्थात् बृहस्पति ने दिव्य वर्ष सहस्रकाल तक अपने शिष्य इन्द्र के लिए एक-एक शब्द का शुद्ध रूप बताते हुए शब्द पारायण का व्याख्यान किया। तैत्तरीय संहिता में लिखा है कि देवताओं ने इन्द्र से प्रार्थना की : "वाचं व्याकुरु" वाक् का व्याकरण करो।

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में विद्याओं के विस्तार की परम्परा पाई जाती है। ऋक्तन्त्र[1] में लिखा है कि "प्रारम्भ में ब्रह्मा ने बृहस्पति को, बृहस्पति ने इन्द्र को और इन्द्र ने भारद्वाज को शब्दशास्त्र की शिक्षा दी तथा भारद्वाज से अन्य ऋषियों को यह शास्त्र प्राप्त हुआ।"

उपनिषद् काल में भिन्न-भिन्न मत रखने वाले आचार्यों ने अपने-अपने व्याकरण बनाए। प्रातिशाख्य निरुक्त और पाणिनि की अष्टाध्यायी में तत्कालीन ६५ के लगभग व्याकरणाचार्यों के नाम मिलते हैं। इन्हीं आचार्यों के मतों को लेकर व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। उपनिषद् कालीन वैयाकरण ऋषियों की नामावली इस प्रकार है :

आग्निवेश्य (तै०), आग्निवेश्यायन (तै०), आग्रायण (नि०), आत्रेय (तै०), आन्यतरेय (ऋ० च०), आपिशलि (पा०), आह्वरकाः (तै०), उख्य (तै०), उत्तमोत्तरीयाः (तै०), उदीच्याः (पा०), औदुम्बराय (नि०), औदव्रजि (ऋक्तन्त्र), औपमन्यव (नि०), कात्थक्य (नि०), काश्यप (य० पा०), कौण्डिन्य (तै०), औपशिवि (य०), और्णनाभ (नि०), काण्डमायन (तै०), काण्व (य०), कौत्स (नि०), कौहलीपुत्र (तै), कौष्टु (नि०), गार्ग्य (ऋ० प० नि०), गालव (नि० पा०), गौतम (तै०) चर्मशिरस् (नि०), चाक्रवर्मणः (पा०), जातुकर्ण्य (प०), तैटीक (नि०), तैत्तरीयकाः (तै०), दाल्भ्य (प०), नैगि (ऋक्तन्त्र), पांचालाः (ऋ०), बाभ्रव्य (क्रमकृत्), भारद्वाज (नै० पा०), माण्डूके (ऋ०), माशंकीय (तै०), मीमांसकाः (तै०), याज्ञ (ऋ), वाडभीकार (तै०) वात्स (तै०) वात्स्य (तै०), वार्ष्यायणि (नि०), वाल्मीकि (तै०), वेदमित्र (ऋ०), व्याडि (ऋ०); शतवलाक्ष मौद्गल्य (नि०), शाकटायन (ऋ० प० च० नि० पा०), शाकपूणि (नि०), शाकला (ऋ०), शाकल्य (ऋ० य० पा०), शाकल्य पि (स्थविर), शांखायन (तै०) शैत्यायन (तै०), शौनक (ऋ० य० पा०), सांकृत्य (तै०), सेनक (पा०), स्थौल ष्ठीवि (नि०), स्फोटायन (पा०) और हारीत (तै०)

शब्दशास्त्र और उसके प्रवक्ताओं के भेद : उपनिषद् काल से पहले वैदिक शब्दों का 'प्रातिशाख्य' तथा 'कातन्त्र' ये दो भेद शब्दशास्त्र के रहे। इन्हीं भेदों का विकास आपिशलि, पाणिनीय आदि व्याकरणों के रूप में परवर्ती काल में हुआ।

उपनिषद् काल में दो प्रकार के व्याकरण-प्रवक्ता थे। एक तो प्रातिशाख्य के प्रवक्ता और दूसरे सामान्य व्याकरण शास्त्र के प्रवक्ता।

उस समय ऋक् प्रातिशाख्य के प्रवक्ता शौनक वाजसनेय प्रातिशाख्य के कात्यायन, तैत्तरीय प्रातिशाख्य के तैत्तरीयः, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य के मैत्रायणीय

१—१४

आश्वालायन प्रातिशाख्य के आश्वलायन, वाष्कलन प्रातिशाख्य के वाष्कल और चारायण प्रातिशाख्य वाष्कल और चारायण प्रातिशाख्य के प्रवक्ता चारायण ऋषि थे। उसी समय कुछ ऐसे भी व्याकरण थे, जिनकी गणना प्रातिशाख्यों में नहीं की जाती थी; किन्तु छन्द (वेद) से सम्बन्धित होने पर उनका सम्बन्ध वेद और उसकी शाखाओं के साथ है। इस प्रकार के छन्दो व्याकरणों में शाकटायन का 'ऋक्तन्त्र' औद्व्रजि का 'सामतन्त्र', आपिशलि का 'अक्षरतन्त्र', शौनक का 'अथर्व चतुरध्यायी' और कात्यायन का 'प्रतिज्ञा सूत्र है।

संगीत शास्त्र और शब्द शास्त्र : वाक्यपदीपकार का कथन है कि वाक् से समस्त विश्व और भुवन उत्पन्न हुए। वाक् से अमृत एवं मर्त्य संसार का प्रादुर्भाव हुआ।

> "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाग्य इत
> स सर्वममृतं यच्च मर्त्यमिति श्रुतिः"

तथा 'शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।' —अनादि परम्परा जानने वाले ऋषियों का कहना है कि 'संसार शब्द का परिणाम है।'

उपनिषदों तथा दर्शन शास्त्रों में 'नाद' की बहुत बड़ी महिमा गाई गई है। उनकी दृष्टि में विचार शक्ति का वाहन-वाणी है। शब्द के बिना विचार की कोई सत्ता नहीं। दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त करने के लिए जीव शब्द को 'वर्णरूप शब्द' एवं 'गीत रूप शब्द' इन दो भागों में बाँटा है। दोनों का आधार एक ही है, केवल प्रयोग के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दार्शनिकों के मत से भाषा और संगीत एक ही विद्या के दो अंश है।

प्राचीन शब्दतत्त्व वेत्ताओं का कहना है कि 'स्पन्दन रूप शब्द और स्पन्दन रूप वस्तु का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसीलिए प्रत्येक वर्ण अर्थवान् होता है।' (अर्थवन्तो वर्णाः, पतञ्जलि) और हर अर्थ के लिए एक शब्द होता है। (एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽर्थाः, पतञ्जलि)। नियमानुसार यदि शब्दोच्चारण में अशुद्धि हो जाए तो वह शब्द अनर्थ उत्पन्न करने वाला हो जाता है। इसी प्रकार स्वर-श्रुति भी अपना स्वाभाविक अर्थ रखती है, जिससे रस की उत्पत्ति होती है। स्वर की अशुद्धि हो जाने पर संगीत अपभ्रष्ट हो जाता है।

वर्णों और स्वरों के स्वाभाविक अर्थ के मूल कारण 'मन्त्र' और 'राग' हैं। जैसे, शब्द ज्ञान मोक्ष प्रदायक माना जाता है, उसी प्रकार संगीत का तत्वबोध भी मोक्षप्रद कहा गया है।

> "वीणावादन तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः
> तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्षमार्गं स गच्छति"
>
> —याज्ञवल्क्य स्मृति

गान्धर्व शास्त्र के मत से संगीत के स्वरों का आधार मध्यमा वाक् है। इसी का समर्थन ऐतरेय भी करता है—'तं मध्यमया वाचा शंसत्यात्मानमेव तत्संकुरुते।' संगीत शास्त्र का उद्गम सामवेद-गान्धर्ववेद माना जाता है, किन्तु साम का यह भाग अब मिलता नहीं। उपनिषद् काल के 'कोहल', 'मातंग', 'नन्दिकेश्वर' आदि ऋषियों के बनाए हुए कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

जिस प्रकार व्याकरण में 'अ', 'इ', 'उ' 'ऋ' और 'लृ'—ये पाँच स्वर प्रमुख हैं, उसी प्रकार संगीत के स्वरों में पाँच ही स्वर प्रधान हैं। वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र कहे जाते हैं। गान्धर्व गान में इन्हें मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज और धैवत नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार व्याकरण में 'ए' और 'औ' गौण स्वर माने गए हैं उसी प्रकार संगीत में भी 'पंचम' और 'निषाद' स्वर गौण हैं। परन्तु शैव गान में 'धैवत' और 'निषाद' गौण हैं। संगीत के मुख्य और गौण—इन सात स्वरों के अतिरिक्त 'काकली' और 'अन्तर स्वर' ये दो मिश्रित स्वर हैं। इनके अतिरिक्त तीन और स्वरों के एक-एक विकृत स्वर हैं। इस प्रकार सब मिला कर बारह स्वर हैं। व्याकरण और संगीत के स्वरों के अर्थों की एकरूपता 'कोहल' और 'मातंग' आदि आचार्यों के ग्रन्थों में पाई जाती है।

कोहल के मतानुसार संगीत नाद के ६६ भिन्न रूप होते हैं, जिन्हें श्रुति कहते हैं। उनमें बाईस प्रधान हैं :

> "द्वाविंशति केचिदुदाहरन्ति
> श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः
> षट् षष्ठिभिन्नाः खलु केचिदासा
> मानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति"
>
> —कोहल

इसी प्रकार व्याकरण-शास्त्र में भी भिन्ननाद रूप ३६ व्यंजन पाणिनीय शिक्षा ने स्वीकार किए हैं, जिसमें

३३ साधारण प्रयोग में आते हैं।

दार्शनिकों का मत है कि 'शिव के डमरू से निकले हुए अइउण्, ऋलृक् आदि जो चौदह माहेश्वर सूत्रों का रहस्य जान लेने से सर्वप्रपंच का रहस्य खुल जाता है। भाषा और उसके स्वरों का रहस्य छान्दोग्य, ऐतरेय आदि उपनिषदों में उद्घाटित हुआ है। 'रुद्रडमरूद्भव सूत्र विवरण' में संगीत के स्वरों और भाषा के स्वरों का सम्बन्ध बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से दिखाया गया है। जैसे, 'अइउण् सरिगाः स्मृताः', सप्तैव ते स्वराः प्रोक्तास्तेषु ऋलृनपुंसकौ', 'एओङापौ', धनिऔच्' अर्थात् 'अ' का रूप आधारभूत स्वर षड्ज है। इसके बिना किसी स्वर की सत्ता नहीं है। उपनिषदों में भी 'अकारो वै सर्ववाक्' 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म', 'अक्षराणामकारोऽस्मि' आदि कह कर अकार को निर्गुण ब्रह्म माना गया है।

इसी प्रकार उपनिषदों ने 'ऋलृक्' को ब्रह्म और माया का स्वरूप माना है। 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिंगलम्' कह कर 'ऋ' को ऋत (परमेश्वर) माना गया है। अध्यात्म के क्षेत्र उपनिषद् साहित्य में 'एओङ्' को ज्ञान और विज्ञान माना गया है। इकार शक्ति (माया) है, उसमें अकार (ब्रह्म) प्रवेश करता है। इसी प्रकार अकार और उकार मिल कर 'ओ' बनता है। अकार ब्रह्म है और उकार उससे उत्पन्न प्रपंच है। ओकार निर्गुण-सगुण के मिलन का प्रतीक है।

'ऐऔच्' को उपनिषदों में विश्व का दिव्य रूप माना गया है 'ए' में अकार मिल जाने से 'ऐ' बनता है। एकार ज्ञान है, उसका सम्बन्ध अकार ब्रह्म से है। 'ओ' में अकार का मिला हुआ रूप 'औ' परमात्म तत्त्व की व्यापकता का द्योतक है।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि शब्द शास्त्र और संगीत शस्त्र दोनों का मूल स्रोत उपनिषद् है। इसी प्रसंग में उपनिषदों में भाषा विज्ञान के तत्त्वों पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

उपनिषदों में भाषाविज्ञान के तत्त्व : उपनिषदों में जहाँ गूढ़ आध्यात्मिक विचारों का विवेचन किया गया है, वहाँ वाक् (भाषाविज्ञान, अक्षरविज्ञान) पर भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। विभिन्न उपनिषदों की विचार-शैली विभिन्न होने के कारण भाषाविज्ञान पर कहीं एकत्र सामग्री नहीं मिलती, फिर भी अनुशीलन के अनेक सूत्र बिखरे हुए हैं। जिनके आधार पर इस विषय में क्रमबद्ध गवेषणा की जा सकती है। प्रत्येक उपनिषद् में 'वाक्' पर किया गया विचार मिलता है। अध्यात्मपरक उपनिषदों ने भौतिक जीवन की उपेक्षा कभी नहीं की है। उपनिषद्कारों की दृष्टि में 'वाक्' केवल जिह्वा का विचार मात्र नहीं, बल्कि वह आध्यात्मिक सम्पत्ति है, उपयोगिता मानव के भौतिक जीवन के लिए निरंतर आवश्यक है। उपनिषदों का 'वाक्-स्वरूप' भाषाविज्ञान का एक ऐसा ओजस्वी बीज है, जिसे यदि हृदय और मस्तिष्क से उद्भूत बुद्धिजल से सींच कर बढ़ाया जाए तो वह महान् न्यग्रोध बन कर भाषा और साहित्य को अपनी अक्षय सुखद छाया देता रहेगा।

वाक् (वाणी-भाषा) का जो स्वरूप हमें वेदों में मिलता है, उसकी रहस्यानुभूति उपनिषदों में पयस्विनी बन कर प्रवाहित हुई है। 'यः कश्च शब्दः वागेव सः' कह कर बृहदारण्यक वाक् का स्वरूप बताता है कि जिस किसी भी शब्द को 'वाक्' कहते हैं। वाक् और जिह्वा के सम्बन्ध की ओर संकेत करता हुआ तैत्तरीय उपनिषद् करता है—'वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्।' उपनिषद्कार ने जिह्वा-व्यापार को निरर्थक न मान कर उसके अन्तस् में छिपी हुई प्राणशक्ति और मनःशक्ति का पता लगाया है और उन्हीं की इस खोज का विस्तार परवर्तीकाल के साहित्य में बीज, बिन्दु और नाद आदि के रूप में हुआ है। वाक् को लोकजीवन का अद्वितीय सहायक मानता हुआ बृहदारण्यक उपनिषद्[२] कहता है—वाक् ही पुरुष का सहायक है। वही प्रकाशक है। यदि वाक् की सृष्टि न हुई होती तो धर्म-अधर्म, सत्य-मिथ्या, और साधु-असाधु आदि का विवेक-जानकारी न हो पाती। 'वाक्' की उपासना पर बल देते हुए छान्दोग्य[३] कहता है—चारों वेदों का ज्ञान वाक् से ही होता है। इतिहास, पुराण और समस्त विद्याएँ वाक् से ही जानी जाती हैं उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, और अनुव्याख्यान वाक् के ही विषय हैं। जो कुछ उपयोग की वस्तुएँ हैं, उनका ज्ञान वाक् से ही होता है। इस लोक का, परलोक का और समस्त भूतों का ज्ञान वाक् से ही होता है।

वाक् और विचार की एकता को बताते हुए ऐतरेय

---

[२]. ४।३।५ [३]. ७।२

उपनिषद् कहती है : ‘वाङ् में मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे प्रतिष्ठितम् ।’ इस प्रकार उपनिषद् काल का आध्यात्मिक कवि ‘वाक्’ के कला सौन्दर्य को भी भली भाँति पहचानता है, उसका साक्षात्कार करता है और बोल उठता है—‘वाच ऋग् रसः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः’[४] अर्थात् वाक् सौन्दर्य से भरी हुई कविता है, उसमें लय, नाद, सौन्दर्य और समरसता है । साम का उद्गीथ (प्रणव) वाक् ही है । तात्पर्य यह कि यही वाक् जब छन्दोमयी साड़ी पहन लेती है तो चमकने और इठलाने लगती है । इसका नाम भी बदल जाता है और यह छन्द, कविता, श्लोक तथा ऋक् आदि नाम से पुकारी जाने लगती है ।

वाक् को साधारण असाधारण से परे मान कर उपनिषद्कारों ने उसे सूक्ष्म, अनन्त, नित्य और समस्त विश्व की विस्तारिका बताया है :

“स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्
वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे”[५]

उपनिषद्कारों ने वाक् का आदि स्रोत उसका समस्त वैभव ॐ को ही माना है । भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ वही ओंकार है और इन सबसे परे भी वही ओंकार है ।[६] बृहदारण्यक उपनिद् स्पष्ट घोषित करती है—‘वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म ।’[७]

‘सर्वं ब्रह्ममयं जगत्’ कह कर उपनिषदों ने जिस प्रकार अपने सिद्धान्त का दृढ़ निश्चय व्यक्त किया है, उसी प्रकार उन्होंने वाक् को भी ब्रह्म मान कर समस्त चराचर जगत् को उसी का विकार और विकास माना है । उपनिषदों की इस निश्चयता पर भाषा-विस्तार का सिद्धान्त स्थिर है । इसीलिए संस्कृत की धातुओं और प्रत्ययों का सम्यक् ज्ञान रख कर नवीन शब्दों की रचना कर भाषा का विस्तार आसानी से किया जा सकता है । प्राचीन आचार्यों ने इसी पद्धति से ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन आदि के हज़ारों शब्दों का निर्माण किया है। धात्वर्थ के सहारे एक ही शब्द के भिन्न अर्थ विभिन्न प्रसंगों में किए गए हैं । शब्द-संयम की विधि आज तक किसी देश के भाषा-शास्त्री के दिमाग में नहीं आई, लेकिन हज़ारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने गहन-मनन कर इसे विकसित किया है ।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,
इलाहाबाद—३

—रूपनारायण शास्त्री

तेलुगु कहावतें

मुंजेति कंकणमुनकु अद्दमेंदुकु ?
हाथ कंगन को आरसी क्या ?

उभय भ्रष्टत्वं उपरि सन्यासमू
धोबी का गधा घर का न घाट का

दरिद्रनि पेंड्लिकि वडगंड्ल वान
सिर मुड़ाते ही ओले पड गए

चेप्पुनदि ओकटि, चेयुनदि वेरोकटि
हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और

पिल्लिकि एलुक साक्ष्यमु
चोर का गवाह गिरहकट

३/२२९ इन्नीसपेटा, राजमहेन्द्री **—जिड्डु लक्ष्मी नरसम्मा देवी**

---

[४] छा० १।१।२ [५] बृहदा० [६] मा० १।१ [७] ४।१।२

जंगम कथाओं की परम्परा

आन्ध्र प्रदेश के जनपदों में जंगम कथाओं का विशिष्ट स्थान है। तेलुगु जनपद जंगम कथाओं को बहुत पसन्द करते हैं। जंगम कथाओं में आन्ध्र प्रजा का हृदय स्पंदित है। इन कथाओं को सुन कर लोग पुलकित हो जाते हैं। वे कथाओं में तल्लीन हो, जीवन की मधुर कल्पनाओं का आस्वादन करते हैं। जंगम कथाओं में ही आन्ध्र जनपदीय संस्कृति की अपनी स्पष्ट छाप अंकित रहा करती है।

जंगम कथाओं को 'जंगम' नामक एक जाति वाले कहा या सुना करते हैं। इसलिए ये कथाएँ 'जंगम कथाएँ, कहलाती हैं। जंगम जातिवाले 'देवर' या 'जंगम देवर' कहलाते हैं। इसलिए जंगम कथाओं को 'देवर कथाएँ' भी कहते हैं। जंगम वीरशैव धर्म के प्रचार के समय ११५० ई० में विद्यमान थे। उस समय शैव धर्म का प्राबल्य था। जंगम कथाओं में एक कथा 'कांभोजराजु कथा' थी। यह कथा जंगम लोगों में ही प्रचलित थी।

जंगम कथाएँ दो प्रकार की होती हैं। (१) उपज्ञा कथाएँ—जो कवि की स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर लम्बी गेय कथाओं में लिखी गई हैं। (२) पौराणिक कथाएँ—ये किसी एक वीरगाथा पर अवलम्बित रहती हैं। श्री कामेश्वरराव के मतानुसार पहली तरह की कथाएँ जंगम कथाएँ कहलाती हैं और दूसरी तरह की 'जंगम चरित कथाएँ' कहलाती हैं। जंगम चरित कथाएँ इतिहास-प्रधान होती हैं। परन्तु इन दोनों का यह भेद केवल व्यावहारिक है। अन्तःरूप से दूर का अन्तर थोड़ा है। जंगम कथाएँ जैसे—कांभोजराजु कथा, पेद्द बोब्बिलि कथा, कामम्मा कथा आदि स्वतन्त्र कथाएँ हैं, जो समकालीन या जनपद परक इतिवृत्त पर आधारित हैं किन्तु जंगमचरित्र कथाएँ किसी पुराण कथा पर निर्भर होती हैं। (२) जंगम कथाओं की रचना किसी एक छन्द और निश्चितता पर अवलम्बित नहीं होती है। कवि की कल्पना और प्रतिभा के अनुरूप वे निर्मित होती हैं। पर जंगमचरित कथाएँ 'रगड' छन्द पर अवलम्बित रहती हैं। (३) जंगम कथाएँ आदि से अन्त तक एक ही लक्षण पर चलती हैं। कहीं जंगम कथाएँ अति प्राचीन एवं कहीं जंगमचरित्र कथाएँ अर्वाचीन मालूम पड़ती है। काम्भोजराज कथा ईसा से पूर्व की है। इन कथाओं के द्वारा भाषावैज्ञानिकों को भी उचित सामग्री मिलती है। क्योंकि इन प्राचीन कथाओं की भाषा बहुत प्राचीन है। साथ ही सामाजिक आचार-व्यवहार, राजकीय नियम, लौकिक वेशभूषा आदि का परिचय भी इन कथाओं में पर्याप्त परिलक्षित होता है। मगर प्रबन्धों की तरह इन कथाओं में कविस्तुति, पोषकस्तुति आदि का आभास नहीं मिलता। इन कथाओं में पूर्वापार रचनाओं की योजना भी नहीं होती। कुछ दो-एक कथाओं में पूर्व रचनाओं का आभास मिलता है। कहीं-कहीं इन कथाओं में केवल कथक की प्रार्थना जोड़ दी जाती है।

जंगम कथाओं में कम्भोजराजु कथा ईसवी सदी की पूर्व की कथा है। आन्ध्रों के आने के पहले तेलुगु देश में काम्भोजों का वास रहा होगा। नल्लतंगाल कथा भी बहुत प्राचीन गाथा है। मधुरा यह कथा शासन करनेवाले पांड्यों (७०० ई०) की गाथा है। चिन्नम्मा कथा बारहवीं शताब्दी से पहले की है। पलनाडु की कथा ११९० ई० में हुई। विचित्र बात यह है कि इन कथाओं पर रामायण, महाभारत आदि कथाओं का कोई विशेष प्रभाव नहीं है। आन्ध्र में बौद्ध और जैन मतों का जो अवशिष्ट रूप था, उसका कुछ आभास इसमें भी मिलता है। चालुक्य राजाओं के समय में देशी साहित्य की वृद्धि हुई। ११५० ई० में बसवेश्वर ने वीरशैव धर्म की स्थापना की थी। पण्डित मल्लिकार्जुन वीरशैव धर्म के मन्त्रदाता थे। सोमनाथ कवि ने उसे परिपक्व किया। वीरशैव धर्म की भाँति वीरवैष्णव धर्म की भी वृद्धि हुई।

जंगम कथाओं की अपनी एक विशिष्ट परम्परा हुआ करती है। पर नल्लतंगाल कथा में राजाओं के घरेलू विषयों की चर्चा की गई है। बालनागम्मा कथा की कल्पना अत्युच्च है। इस कथा में हास्य रस का पुट भी है। इस परम्परा का अपना एक ही दोष है। वह यह कि कल्पना की उड़ान में कथा अतिशयोक्ति तक पहुँच जाती है।

कथा का प्रारम्भ नायक या नयिका से होता है। ये कथाएँ वीर प्रधान होती हैं। 'काम्भोजराजु कथा' में 'चेराबन्दीराजा' प्रधान पात्र बनता है। चिन्नम्मा कथा में चिन्नम्मा प्रधान नायिका है। सन्यासम्मा कथा में सन्यासम्मा ही सारी कथा चलाती है। नल्लतंगाल में नल्लतंगाल ही प्रधान नायिका रहती है। इस प्रकार कथाएँ एक प्रधान-पात्र की होती हैं। ऐतिहासिक कथाओं में भी जैसे देसिंगुराजु, भोजराजु, तिम्मराजु आदि में राजकुमार देशभ्रमण करने जाते हैं। वे शादी भी नहीं करते। वे युद्धवीर बन कर कार्यसाधन के लिए अपना जीवन समर्पित करते हैं। नायक का जीवन अद्भुत और आकर्षण का होता है। काम्भोजराजा के कोई सन्तान न थी। ईश्वर की कृपा से कुमार का जन्म हुआ। नल्लतंगाल, चिन्नम्म भगवान् की वरद कृतियाँ थीं। एक नायक का बाल्य अद्भुत रहस्यों से भरा होता है। चेराबन्दीराजु बारह वर्ष पर्यन्त विद्याध्ययन करता रहता है। देसिंगुराजु बारहजारी नामक देवताश्व को अपने वश में कर लेता था। वे सब अक्षर, बारहखड़ी, गिनती, बाल रामायण, अमर के गजेन्द्रमोक्ष, रुक्मिणी कल्याण, भारत, भागवत, भरतशास्त्र वेद आदि बारह बरसों की छोटी उम्र में ही पढ़ा करते थे। वे व्यायाम और अस्त्र शस्त्रादि की शिक्षा भी ग्रहण किया करते थे।

इन नायकों का सम्बन्ध देवताओं से अधिक है। इसलिए वे जो कुछ चाहते थे वह दैवी शक्ति से प्राप्त हो जाता था। 'बंगारु तिम्मराजु' देवताओं से बातचीत करता था। देसिंगराजु, श्रीरंगनाथ से भेंट करके संभाषण जारी करता था।

जंगम कथाओं में नायक बहुधा दक्षिण नायक होता है। कुल-वर्ग के नियमों से परे रह, नायक जातियों की स्त्रियों से शादी कर लेता था। उत्सवों के समय त्रिमूर्तियों और तीन करोड़ देवता भाग लेते थे। काम्भोजराजु कथा मे पार्वती रानियों की हत्या देती है। माणिक्याल देवी को ईश्वर ब्राह्मण देश में आ, मार्ग बताता है। काटमराजु कथा में विष्णु प्रधान रहा। कुछ कथाओं में देवता भी भाग लिया करते थे। चिन्नम्मा को 'महिलेटि स्वामी', तिम्माराजु को वेंकटेश्वर स्वामी और सहायक रहते थे। कामम्म, बालसन्यासम्मा योग शक्ति से विभूषित रही है।

प्राचीन कथाओं में सात समुद्रों की पार करने का वर्णन भी है। कुछ कीलाश्व या पक्षियों की सहायता से पार किया करते थे। मार्ग में नाग सर्प भी दीख पड़ता था। आन्ध्र नाग जातिवाले हैं। उन सर्पों को मारना केवल अनार्यों को अपने वश में कर लेना ही था। आर्यान्ध्र और अनार्यान्ध्रों का जो संघर्षण रहा वह इसी तरह शायद स्पष्ट हो रहा होगा। नागंभट्ट ही अर्वाचीन कथाओं में नागसर्पों का भाग अपनाता था। कथा में महत्वाकांक्षी लोग द्रोह करने की चिन्ता भी करते थे। बोगं (वेश्या) रंगसानी, नाम से एक वेश्या भी कथा में चलती थी। पर वह कुलवती और दयावती रही। कुछ कथाओं में वह कामुक रहा करती थी कुछ समय कथा में छोटे पात्र आते थे और अपना काम पूरा कर विलीन हो जाते थे। बालनागम्मा की कथा में बावर्धिराज घर छोड़ते वक्त तुलसी पौधे को बोता था और प्रार्थना करता था कि घर द्वार की रक्षा अच्छी तरह हो। इसी तरह जंगम कथाओं में पात्रों की बहुलता एवं विविधता दृष्टिगोचर होती है। कथा में मानव, अमानव, जड़, चेतन आदि का प्रवेश हुआ करता है।

कथा का नायक साधारणतया वरदपुत्र या वरदपुत्री होता था। उसकी जन्म गाथा भी विचित्र और अद्भुत मालूम पड़ती है। वह दक्षिण नायक बनता है। समुद्रयान और देशाटन करने लगता है। बीच में नागेन्द्र से मिलता है, नागंभट्टु की सहायता मिलती है। माणिक्यम्मा, ब्रह्मन्ना, रंगसानि का प्रवेश रहता है। कोई न-कोई बीच में मिला करते हैं। ग्वाला भी सलाह देता है। मुनीश्वर तापसी के रूप में या गुरु के रूप में दर्शन देता है। देवताओं और मन्त्र शक्तियों को अपने वश में करने की शक्ति पाते हैं। प्रधान पात्र की मृत्यु भी होती है और दैव शक्ति या पत्नी की प्रार्थना से वह पुनर्जीवित बनता है। जंगम कथाओं में कीलाश्व की प्रधानता विचित्र-सी मालूम पड़ती है। यही नहीं, आन्ध्र जनपद गीतों में सात संख्या की प्रचुरता अधिकाधिक दीख पड़ती है। सात राजकुमार, सात मण्डल, सात पहर, सात पग, सातों भाई-बहन, सात सीढ़ियों का महल, सातों घर-द्वार आदि जंगम कथाओं में बार-बार आया करते हैं। सात एक गुह्य संख्या है। प्राचीन कथाओं में बारह की संख्या उल्लिखित रही है। बारह

घटवाले हाथी, बारह सम्प्रदाय, बारह सिरवाले साँप, बारह वीर, बारह व्रतकल्प आदि भी जंगम कथाओं में जोड़े गए हैं।

जंगम कथाएँ दुःखात्मक रहती हैं। प्रधान पात्र अनेक कष्टों का सामना कर सफलता प्राप्त करता है। कुछ कथाएँ कष्ट परम्पराओं से पूर्ण हैं और मरण की ओर अग्रसर हो, दुःखात्मक बन जाती हैं। परन्तु नायक और नायिका अन्त में सुख का अनुभव करती है। विवाह के द्वारा, पट्टाभिषेक के द्वारा, अमृत के द्वारा, पुनर्जन्म के द्वारा कथा सुखान्त ही बनती है।

जंगम कथाएँ आदर्श व्यक्तियों के आधार पर लिखी गई हैं। भारतीय आत्मा के लिए, धर्म ही श्रेय है; न्याय ही आदर्श है। इसी धर्म और न्याय को अक्षुण्ण रखने के लिए भारतीय वीर अपनी वीरता, त्यागशीलता और धर्मपरता के बल पर प्राणों तक बलिदान करने में नहीं हिचकते। इसलिए कथा आद्यंत गम्भीर हुआ करती है। कथाएँ वीर रस प्रधान, अद्भुत रस प्रधान, करुण और रौद्र रस प्रधान होती हैं। कहीं-कहीं हास्य का पुट भी व्यंजित रहता है। इन कथाओं में देशभक्ति आदि राष्ट्रीय परम्परा की अच्छी झलक मिलती है। ये कथाएँ धार्मिक भी होती हैं। कुछ वैष्णव धर्म से, कुछ शैव धर्म से अनुपोषित रहती हैं। वीर वैष्णव शैव धर्मों का संघर्ष भी विदित होता है। इन कथाओं का केवल उद्देश्य यही कि धार्मिक प्रवृत्ति का अवलंबन करने के लिए न लिंगविवक्षता की जरूरत होती है और न मानव मानवेतर की। यही आन्ध्र देश की दार्शनिक पृष्ठभूमि है। यही नहीं, इन कथाओं में उत्तर और दक्षिण का संतुलन भी है। नायक का काशी को जाना, या काशी से किसी मुनीश्वर का पधारना आदि भारतीय आत्मा की अखण्डता की सूचना देने वाली घटनाएँ हैं।

जंगम कथाओं की शैली सरल और भाषा सुगम होती है। प्राचीन कथाएँ होने के नाते भाषा-शास्त्री के लिए ये रचनाएँ उपयोगी सिद्ध होती हैं। छन्दों की विविधताएँ एवं सुरुचि जनपदीय हृदयों को गहरी चोट पहुँचाती हैं। कुछ समय पदों और चरणों की पुनरावृत्ति श्रोताओं को उत्कंठित बनाती हैं। कहीं-कहीं प्रकृति वर्णन में तल्लीन हो, श्रोता कमनीय स्वप्नलोक में विचरण करने लगता है।

जंगम कथाओं को गाने वाले हरेक प्रान्त में रहते हैं। जंगम कथाओं को सुना कर गुज़र करना ही इनका पेशा है। जंगम, जक्क, बवनी आदि जाति वाले तंबूरा, रंजा, हथकड़ियाँ आदि लेकर गीत गाते, नृत्य करते, प्रेक्षकों को तन्मय बनाते हैं। स्त्रियाँ वल्ल की, चक्की, काहल, वंशम्, डक्का, हुडुक्क, झल्लरी आदि वाद्य विशेषों को लेकर गाने वाला जमाना ही गया। इन ग़रीबों के मुख-प्रतिमुख आज तक इन जनपद गीतों की रक्षा होती आई है। अभी गीतों के संकलन और परिष्करण की ज़रूरत लोक-जीवन-प्रेमियों पर निर्भर करती है।

लायला कालेज, गुनाडाला,
विजयवाड़ा

—के. राजशेषगिरि राव

श्रीयुत लुई ब्रूमफ़ील्ड अमरीका के प्रसिद्ध उपन्यासकारों में से एक हैं। पिछले दिनों उनका देहावसान हो गया। ब्रूमफ़ील्ड ने एक उपन्यास लिखा है जिसका नाम है "दि रेन्स केम"। वे भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिए आए थे। जब वे बड़ौदा पहुँचे उस समय विश्वामित्री नदी में भयानक बाढ़ आई हुई थी। इस भयंकर बाढ़ के कारण उन्हें कई दिनों तक बड़ौदा में ही रुक जाना पड़ा। अपने बड़ौदा निवास के दिनों में ही उन्होंने अपने उपन्यास "दि रेन्स केम" की रूप-रेखा तैयार कर ली। इसी उपन्यास ने उन्हें विश्व का एक प्रसिद्ध उपन्यासकार बना दिया। यह उपन्यास बड़ौदा की विश्वामित्री नदी की पृष्ठभूमि में बनाया गया है।

'निर्मला'

प्रेमचन्द के नारी पात्र

निर्मला के जीवन की करुण कहानी वर्तमान सामंती प्रथा पर चुभता हुआ व्यंग है । एक महाशय ने निर्मला के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है : "स्त्री को प्यार की लक्ष्मी, पुरुष की अर्धांगिनी समझनेवाली सामन्ती व्यवस्था ने निर्मला को उसके घर की चहार दीवारी में दम घोंट कर मार दिया ।"

प्रेमचन्द ने प्रचलित सामाजिक कुप्रथाओं को समाज के कोढ़ के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करके हिन्दू शिक्षित वर्ग को सोचने के लिए बाध्य किया ।

'सेवासदन' में उठाई गई दहेज की कुप्रथा के दुष्परिणाम यहाँ नारी को दूसरी परिस्थिति में डाल देते हैं। दहेज न देने ही के कारण सुमन का विवाह गजाधर जैसे क्रोधी, गरीब एवं अविवेकी पुरुष के साथ होता है तो पन्द्रह वर्ष की निर्मला का विवाह मुँह में झुर्रियाँ पड़े एक बुड्ढे के साथ । जब निर्मला के पिता जीवित थे, तब निर्मला का विवाह रईस घराने में बाबू भालचन्द्र के यहाँ होना निश्चित हुआ था । किन्तु निर्मला के पिता की मृत्योपरान्त भारी दहेज पाने की लालसा अपूर्ण रह जाने के भय से भालचन्द्र विवाह सम्बन्ध तोड़ देते हैं ।

भारतीय हिन्दुओं की सामाजिक मान्यताओं के अनुसार लड़की का विवाह आवश्यक माना गया । अच्छा घर और वर मिले या न मिले; लड़की को किसी भी प्रकार पार लगाने की सी थोथी भावना समाज में पाई जाती है । अच्छा घर धन के अनुपात में मिलता था । जैसे लड़की के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं, कोई महत्व नहीं । इस कुप्रथा से व्यथित हो, निर्मला की माँ कल्याणी का हृदय समस्त माताओं की वेदना भर चीत्कार कर उठता है। वह कहती है—"वह रूपवती है, गुणशीला है, चतुर है, कुलीन है तो हुआ करे, दहेज हो, तो सारे दोष गुण हैं। प्राणी का कोई मूल्य नहीं, केवल दहेज का मूल्य है ।" और उसे विवश हो एक दुहाजू वकील साहब के साथ विवाह पक्का करना पड़ता है । इन महाशय के पहली पत्नी से तीन पुत्र थे । सबसे बड़े पुत्र मंसाराम की उम्र तो निर्मला के ही बराबर थी । उसका मन गवाही नहीं देता । यदि माँ के पास पैसा होता तो कभी भी किसी भी प्रकार ऐसा अनमेल विवाह न करती । यह उसकी आर्थिक विषमता और सामाजिक परवशता थी । वह दूसरे सुन्दर, समवयस्क और सुशील लड़के पर मोहित है किन्तु उस लड़के को पाने के लिए दहेज की आवश्यकता है । वह पण्डित जी से अपने मन की दबी व्यथा कहती है—"पसन्द तो मुझे भी यही है, महाराज ! पर रुपए किसके घर से आए? कौन देनेवाले हैं ? है कोई ऐसा दानी ? खानेवाले तो खा पीकर चम्पत हुए । अब किसी की सूरत भी नहीं दिखाई देती, बल्कि और मुझसे बुरा मानते हैं—"हमें निकाल दिया । जो बात अपने वश के बाहर है । उसके लिए हाथ ही क्यों फैलाएँ । सन्तान किसको प्यारी नहीं होती ? कौन उसे सुखी नहीं देखना चाहता; पर जब अपना काबू भी हो । आप ईश्वर का नाम लेकर वकील साहब को टीका कर आइए । आयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है । पैंतीस साल का आदमी बुड्ढा नहीं कहलाता । अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है तो जहाँ जाएँगी, सुखी रहेगी; दुख भोगना है , तो जहाँ जाएगी, दुख भोगेगी । हमारी निर्मला को बच्चों से प्रेम है । उनके बच्चों को अपना समझेगी । आप शुभ मुहूर्त देख कर टीका कर आएँ ।"

कल्याणी जानती है कि निर्मला ऐसे पति को पा कर प्रसन्न न रह सकेगी इसलिए बच्चों के लालन-पालन की बात चला कर उसका जीवन-कर्तव्य निश्चित करती सी प्रतीत होती हैं । आग में झोंक कर भी भाग्य की दुहाई देना सामाजिक परवशता नहीं तो और क्या है ।

पत्नी रूप में निर्मला का कर्तव्य है कि वह पति को प्रसन्न रखे, उसके सुख का ध्यान रखे और उससे प्रेम करे । वह हर प्रकार से पति को प्रसन्न रखने की चेष्टा कर सकती थी, किन्तु प्रेम पर उसका वश नहीं, वह नहीं कर सकती । उम्र की असमानता के कारण दाम्पत्य जीवन में प्रेम का अभाव होना अत्यन्त स्वाभाविक है । प्रेम तो समान उम्र वालों में ही हो सकता है । कम उम्र वाला व्यक्ति अधिक उम्र वाले व्यक्ति का

सम्मान कर सकता है, प्रेम नहीं । यही बात निर्मला के जीवन में घटित होती है लेखक स्वयं ही निर्मला के मनोभावों एवं कार्यों का चित्रण इस प्रकार करता है : "लेकिन निर्मला को न जाने क्यों तोताराम के पास बैठने और हँसने बोलने में संकोच होता था । इसका कदाचित् यह कारण था कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर, देह चुरा कर निकलती थी; अब उसकी अवस्था का एक आदमी उसका पति था । वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं सम्मान की वस्तु समझती थी । उनसे भागती फिरती, उनको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी ।"

सेवासदन की सुमन और निर्मला एक ही मध्यवर्गीय समाज से आने पर भी दोनों की व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताएँ, उनके स्वभाव भिन्न हैं इसलिए दोनों के परिणाम दो दिशाओं में दृष्टिगोचर होते हैं । निर्मला के चरित्र में प्रारम्भ से ही गाम्भीर्य है, धैर्य है और है कठिनाइयों को सहने की असीम शक्ति । यही कारण है कि उसने सुमन की भाँति नैतिक बन्धनों को तोड़ने का साहस नहीं है । वह काम वासना से अतृप्त एवं असंतोषी जीवन लेकर भी पारिवारिक सम्बन्धों को बनाए चलती है । इसमें नारी का मूक करुण क्रंदन ही है, विद्रोह की भावना नहीं ।

निर्मला के तन में यौवन था । यौवनोचित सभी उपकरणों को वह ग्रहण कर सकती थी, उसे बनाव सिंगार भी बुरा नहीं लगता था किन्तु अपने पति तोताराम को वह इन सब का उपभोक्ता नहीं मान सकती थी । यद्यपि वकील साहब दम्पत्ति विज्ञान में कुशल थे । उम्र की असमानता के कारण उन्हें इस बात की भी शंका थी कि निर्मला जैसी सुन्दर युवती एक बुड्ढे को प्रेम नहीं कर सकती इसलिए वह अपने प्रेम प्रदर्शन में कोई कसर नहीं रखते थे । "लेकिन निर्मला को इन बातों से घृणा होती थी । वही बातें, जिन्हें किसी युवक के मुँह से सुन कर उसका हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जाता वकील साहब के मुँह से निकल कर उसके हृदय पर शर के समान आघात करती थीं । उनमें रस न था, उल्लास न था, उन्माद न था, हृदय न था, केवल बनावट थी, धोखा था, और था शुष्क नीरस शब्दाडम्बर ।"

अवस्था का भेद मिटाना उसके वश की बात न थी । वह बनाव सिंगार पति के प्रेमाधिक्य के वशीभूत हो नहीं करती थी, पति पर दया भाव रख कर करना पड़ता था । वह अनचाहा शृंगार उसकी दबी वासनाओं को और भी तीव्र कर देता था जो कि स्वाभाविक है । "निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौन्दर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था । उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला सी उठती । मन में आता इस घर में आग लगा दूँ । अपनी माता पर क्रोध आता; पर सबसे अधिक क्रोध बेचारे निरपराध तोताराम पर आता । वह सदैव इस बात से जला करती थी । बांका सवार बूढ़े लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा, चाहे उसे पैदल ही क्यों न चलना पड़े । निर्मला की दशा उसी बांके सवार की थी ।"

यहाँ निर्मला की उन्माद और यौवन भरे उल्लास के विकास के लिए स्थान न था । हाँ वह प्रेम से शून्य, कर्तव्य भावना से प्रेरित हो गृहस्थनी बन सकती थी, उसमें उसको संतोष भी होता था । वह पति को इसी योग्य समझती थी । "गृहस्थी के सम्बन्ध में उनसे खूब बातें करती । इन्हीं बातों के लायक वह उनको समझती थी । ज्यों ही कोई विनोद की बात उनके मुँह से निकल जाती उसका मुँह मलीन हो जाता था ।"

नारी को यदि पति का प्रेम न मिले तो उसका प्रणय की ओर से निराश तृषित जीवन घर व्यवस्था और बच्चों के लालन पालन में लग जाता है । अपने असंतोषी जीवन को वह इन दोनों में संलग्न रख कर भूलने की चेष्टा करती है । बच्चों के साथ हँसने बोलने में उसकी मातृ कल्पना तृप्त होती थी । किन्तु सौतेली माँ होने के कारण उसे बच्चों के भी सीधे, सरल स्वाभाविक स्नेह की उपलब्धि नहीं होती । समाज मुख्यतः परिवार की स्त्रियाँ पूर्वाग्रह के कारण सौतेली माँ को बच्चों की शत्रु माने बैठी रहती हैं जिसके कारण सौतेली माँ और बच्चों में स्वाभाविक प्रेम चाहने पर भी होने नहीं पाता । द्वेष के बीज दोनों के हृदय में परवश बोए जाते हैं । निर्मला के लिए भी लेखक इसी सामाजिक पूर्वाग्रह की बात इन शब्दों में करते हैं : "सम्भव था कि बच्चों के साथ हँसने, खेलने से

अपनी दशा को थोड़ी देर के लिए भूल जाती, कुछ मन हरा हो जाता, लेकिन रुक्मिणी देवी लड़के को उसके पास फटकने भी नहीं देती, मानो वह कोई पिशाचिनी है, जो उन्हें निगल जाएगी।"

सब ओर से निराश हो उसका झुकाव स्वाभाविक रूप में अपने हमसिन मंसाराम की ओर होता है। यह सत्य है कि निर्मला के चेतन मन में मंसाराम के प्रति कुवासना की छाया भी नहीं थी, अचेतन मन में जो कुछ भी रहा हो; किन्तु बुड्ढे पति अति शंकाशील स्वभाव के होते हैं। तोताराम मंसाराम को निर्मला की छाया से दूर रखना चाहते थे; इसलिए वे अपने पुत्र मंसाराम का होस्टेल में प्रबन्ध करते हैं। यहाँ भी पुरुष की शंकाशील प्रवृत्ति पर कोई संदेह नहीं करता। निर्मला की ननद रुक्मिणी यहाँ तक कि स्वयं मंसाराम भी निर्मला को ही दोषी समझता है। पति के मान के लिए वह अपनी परिस्थिति साफ़ नहीं करती। स्वयं घुटती चली जाती है। यदि निर्मला तोताराम के शंका की बात कह देती तो तोताराम की शंकाशील प्रवृत्ति के उद्घाटन के साथ-साथ निर्मला की सामाजिक स्थिति में कुछ कटुता आ जाती हैं, नारी होने मात्र के कारण व्यर्थ में ही उसके चरित्र पर कलंक का धब्बा लगे बिना नहीं रहता और इसीलिए निर्मला मानसिक यातना सहती रहती है। निर्मला जिस व्यक्ति को आराम पहुँचाना चाहती, जिससे मिल कर हृदय के दुःख को थोड़ी देर के लिए भूल जाना चाहती, समाज उसी से दूर रहने के लिए बाध्य करता और जिससे घृणा करती थी उससे प्रेम करने का आदेश देता था। निर्मला ने पति के अविश्वास और सन्देह को मिटाने के लिए जीवन का सत्व लगा दिया। नारी पति का विश्वास पाना चाहती है। 'कर्तव्य की वेदी पर उसने अपना जीवन और अपनी सारी कामनाएँ होम कर दी थी। हृदय रोता रहता था; पर मुख पर हँसी का रंग भरना पड़ता था। निर्मला मंसाराम और तोताराम के प्रेम और कर्तव्य के बीच अपने को समेटे रही। उसके मन में मंसाराम के प्रति आकर्षण तीव्र रूप में था यद्यपि वासना की दृष्टि से उसने कभी नहीं देखा। माँ बेटे का जो सामाजिक सम्बन्ध है उसके नाते सोच भी नहीं सकती थी किन्तु अचेतन मन में हो सकता है कुछ भाव रहे हों। किन्तु अचेतन मन की बात बहुत ही सूक्ष्म रूप में थी। मंसाराम के जीवित रहने तक उसका उसको आभास भी न था। मंसाराम की मृत्योपरान्त वह अपनी भावनाओं का विश्लेषण करती है। अपनी प्रिय सगी बहन कृष्णा के साथ बातचीत में उसका हृदय अधिक खुला है। वह कहती है : "पर न जाने क्यों उसे अपने पास देख कर मेरा हृदय फूला न समाता था, इसलिए मैंने पढ़ने का स्वांग रचा। नहीं तो वह घर में आता ही नहीं था। यह मैं जानती हूँ कि अगर उसके मन में पाप होता तो मैं उसके लिए सब कुछ कर सकती थी।" और आगे कहती है : 'हाँ, यह बात सुनने में बुरी मालूम होती है और है भी बुरी, लेकिन मनुष्य की प्रवृत्ति को तो कोई नहीं बदल सकता।" यह सब कहने पर भी यह सत्य है कि निर्मला के मन में मंसाराम के प्रति सबल कलुषित प्रेम न था जिसके लिए वह स्वयं ही कोई योजना बनाती या प्रस्ताव करती। वह प्रेम करती थी और वह प्रेम स्नेह के रूप में ही प्रदर्शित करती।

उम्र को ध्यान रखते हुए निर्मला का आकर्षण मंसाराम के प्रति अत्यन्त स्वाभाविक था; किन्तु परम्परागत सामाजिक मान्यताओं के विपरीत होने के कारण एक अपराध का भाव उसमें बराबर निहित रहता है। इसलिए उसने कभी भी अपनी परिस्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं की और न व्यवहार ही स्वाभाविक रूप में हो पाया। इसका एक यह भी कारण है कि वह जिस सामाजिक वातावरण में पली थी, उसमें उसके मानसिक विकास की सम्भावना न थी। प्रेमचन्द ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यह सामन्तवादी समाज नारी की व्यक्तिगत उन्नति का तनिक भी ध्यान दिए बिना जीवन पर्यन्त किस प्रकार उसके जीवन से खिलवाड़ करता रहता है।

इस प्रकार अधिक उम्र के दुहाजू के साथ एक यौवना नारी का विवाह होने पर चारों ओर से उसके ऊपर अत्याचार होने लगते हैं। उम्र की असमानता के कारण वह पति को प्रेम नहीं कर सकती, उसका जीवन असंतोषी रहता है, काम वासना अतृप्त रहती हैं। यह तो व्यक्तिगत कारण हुआ। इसके अतिरिक्त पति अपने मन में अपने को अयोग्य समझने के कारण विभिन्न प्रकार के बाह्य उपकरणों द्वारा पत्नी को प्रसन्न करना चाहता है जिसके कारण परिवार के व्यक्ति पति को पत्नी का गुलाम समझ बैठते हैं और उस नारी की

और अधिक आलोचना करने लगते हैं। तीसरी बात है पहली माँ के बच्चों को सौतेली माँ के प्रति समाज इस प्रकार की कुशिक्षा देता है जैसे वह उसकी माँ रूप में नहीं, शत्रु रूप में आई हो। नई माँ का स्वाभाविक स्नेह भी शंका की दृष्टि से देखा जाता है। अतः समाज का पूर्वाग्रह सौतेली माँ और बच्चों के सम्बन्धों में अस्वाभाविकता का समावेश कर देता है। चौथा बूढ़े पति की शंकाशील प्रवृत्ति के कारण पत्नी को मानसिक यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इन सभी सामाजिक विडम्बनाओं से पीड़ित निर्मला का चरित्र निर्मित है। यह करुण कहानी निर्मला की नहीं, समूचे मध्यवर्गीय नारी की रुदन भरी गाथा है।

नारी यदि शिक्षित हो, उसमें जीवन को परखने की परख और स्वस्थ दाम्पत्य प्रेम का अनुभव हो तो वह गरीबी के अत्यधिक भीषण दिन भी सरलता से काट दे सकती है किन्तु इन सब के अभाव में उसका समस्त ध्यान अर्थ पर ही केन्द्रित हो जाता है। यही कारण है कि घर बिक जाने, वकील साहब के चले जाने और समस्त गहने चोरी हो जाने के पश्चात् वह अपना मानसिक संतुलन नहीं रख पाती और वह मधुर-भाषिणी स्त्री से कर्कशा बन जाती है। 'अब उसकी गणना कर्कशाओं में की जाती थी' एक-एक पैसे को दाँतों से पकड़ती। वह अपने सुख के लिए पैसा इकट्ठा करना नहीं चाहती थी, उसको चिन्ता है अपनी पुत्री के विवाह की जो अभी दुधमुँही ही है। उसके हृदय के किसी कोने में यह भय समाया हुआ है कि कहीं रुपए के अभाव में उसकी पुत्री की दुर्गति मेरी जैसी ही न हो तभी तो वह चिन्ताग्रस्त हो, कहती है : "जवानों की ज़िन्दगी का तो भरोसा ही नहीं, बूढ़ों की ज़िन्दगी का क्या ठिकाना ? बच्ची के विवाह के लिए वह किसके सामने हाथ फैलाती ?"

'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचन्द ने मुख्यतः दहेज समस्या को ही उठाया है। उसी से नाना प्रकार की सामाजिक एवं मानसिक विषमताएँ उत्पन्न होती हैं और अन्त में सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित निर्मला सिसकती-सिसकती प्राणत्याग कर देती है किन्तु मरने के पहले वह अपने जीवन का समस्त अनुभव बटोर कर अपनी ननद को सावधान कर जाती है—"बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती बचे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी, केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ। चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कुपात्र के पल्ले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे मेरी विनति है।"

१८ बी. टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

—(श्रीमती) विन्दु अग्रवाल

साँप और संगीत

मैं जब दस वर्ष का था, तभी से मुझे संगीत की रचना का शौक़ है। मुझे साँपों को भी रखने का शौक़ है। बहुत-से लोग यह समझते हैं कि संगीत से साँप मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं और उसके लय का उन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह बात सर्वथा भ्रमपूर्ण है। साँप बिलकुल बहरे होते हैं। उन पर संगीत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर क्या कारण है कि साँप संगीत की लय पर नृत्य करने लगते हैं ? मैंने साँपों का सूक्ष्मता और गम्भीरता से अध्ययन किया है। बात यह है कि साँप सँपेरे की बीन की गति से आन्दोलित हो जाते हैं।

—डौनाल्ड

जार्ज ग्रियर्सन की स्मृति

भाषा इतिहास की तालिका में ७ मार्च वह अविस्मरणीय दिवस है, जिस दिन इस क्षेत्र का एक बहुत बड़ा विद्वान् पृथ्वी से उठ गया था। प्रत्येक भाषा, साहित्य और इन्हीं से संलग्न विज्ञान के प्रेमियों के लिए ही नहीं अपितु समस्त साक्षर समाज के लिए यह दिवस दुःख के साथ उस पल को स्मरण करने के लिए अपना महत्त्व रखता है जब जार्ज ग्रियर्सन ने अपने भौतिक शरीर से विदा ली थी।

जार्ज ग्रियर्सन भारतीय भाषाओं के महान् पंडित और अपने क्षेत्र के उच्चतम विद्वान् घोषित हो चुके हैं। इनकी आस्था से शताब्दी पहले से लेकर अब तक कोई भी भाषा-विज्ञान का पंडित उनकी श्रेणी से आगे पहुँचा हुआ नहीं दिखाई देता।

सन् १९४१ में जब कैम्बरले से उनकी मृत्यु का समाचार भारत के विद्वानों को मिला तो उस लड़ाई के युग में जब श्वेत जाति के प्रति एक स्वाभाविक घृणात्मक वातावरण था, तब भी ग्रियसर्न के लिए सभी ने शोक और खेद प्रगट किया। जाति और राष्ट्रीयता अन्य वस्तु है और विद्वत्ता अन्य। गुण के पारखी गुणों पर ही नतमस्तक होते हैं। ३० वर्ष तक अविरल रूप से एक ही लगन और लक्ष्य पर जो मनुष्य अपना जीवन व्यतीत कर दे, उससे बढ़ कर कर्मठ और कौन होगा?

'लिंगुइस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया' के अट्ठारह भाग जिनमें प्रत्येक ४०० पृष्ठों के लगभग कलेवरित हैं, हैं, जार्ज ग्रियर्सन की भारत को सबसे बड़ी देन है। आयरलैण्ड में जन्म लेने वाले व्यक्ति को भारत में अंग्रेज़ी शासन की सेवार्थ एडीशनल कमिश्नर के रूप में पटना भेजा गया था किन्तु धन्य है पटना की भूमि जिसके सांस्कृतिक प्रभाव ने नालन्दा के प्राकृतिक संस्कार से मिश्रित हो ग्रियर्सन पर इतना आधिपत्य जमाया कि वह भोजपुरी और संस्कृत के अध्ययन संगम में डूब शासक से साधक बन बैठे। सन् १८९६ में जार्ज ग्रियर्सन सर्व प्रथम भारत आए। केवल दो वर्ष के बाद ही १८९८ में भारत सरकार ने उन्हें भारत की भाषाओं और बोलियों की विशद सूची बनाने का कार्य सौंपा। वे २० भारतीय क्लर्कों को लेकर शिमले में इस कार्य के पूर्णार्थ जा टिके। कुछ दिन वे वहाँ कार्य करते रहे किन्तु फिर उन्हें शासन की छेड़छाड़ और दायित्व असहनीय हो गया। उन्होंने पेन्शन ले ली। उन्हें इस कार्य में रुचि थी किन्तु वे उसे स्वतन्त्र रूप से करना चाहते थे अतः उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर लन्दन से २९ मील दूर कैम्बरले के शान्त वातावरण के बीच अपना अध्ययन कक्ष बनाया और यहीं वे अपने कार्य में अन्तिम समय तक जुटे रहे। उन्हें भाषाओं के विषय में अधिक से अधिक जानने का नशा सा हो गया था और इसीलिए वे अपने पुस्तकालय के मोटे-मोटे ग्रन्थों के बीच कभी-कभी आधी रात तक बैठे रह जाते थे।

भारतीय भाषाओं में उन्हें तीन भाषाएँ अधिक प्रिय थीं। प्रथम संस्कृत, द्वितीय भोजपुरी और तृतीय हिन्दी। इसके बाद बंगला और फिर तेलुगु भाषा का स्थान आता था। ग्रियर्सन की खोजों और अनुसंधानानुसार भारत में (जो उस समय विभाजित नहीं था) ५४४ बोलियाँ और १७९ भाषाएँ प्रचलित हैं। आज के भारतीय भाषा-वैज्ञानिक २२५ बोलियाँ और २४ भाषाएँ निर्धारित करते हैं किन्तु फिर भी भाषाओं के क्षेत्र में इतना सूक्ष्म अध्ययन एवं श्रेणीकरण उनकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक तो है ही। एतदर्थ जार्ज ग्रियर्सन ने जो व्यक्तित्व प्रस्तुत किया है वह सहज सुलभ नहीं।

उनकी लगन और निस्वार्थ सेवा का ज्वलंत उदाहरण हमें तब मिलता है जब लन्दन-स्कूल-आफ़-ओरिएण्टल स्टडीज के डाइरेक्टर प्रोफ़ेसर टर्नर उनके निवास स्थान पर उनकी ५० वीं वर्षगांठ पर उन्हें बधाई देने जाते हैं और वे अपने पुस्तकालय में जमे हुए ही अपनी सेविका से कहते हैं कि टर्नर साहब को अन्दर ही बुला लो। टर्नर साहब जब पुस्तकालय में प्रवेश करते हैं तो देखते हैं कि ग्रियर्सन के चारों ओर खुली हुई पुस्तकें रक्खी हैं और वे एक ग्रन्थ में अपनी पूर्ण दक्षता से तल्लीन हैं। डाइरेक्टर महोदय एक ओर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठ गए। इसी क्षण ग्रियर्सन साहब

ने मुस्कराते हुए जब अपनी दृष्टि उधर फेरी तो टर्नर साहब ने उनके एक ग्रन्थ को भेंट करते हुए उनको उनकी स्वर्ण जयन्ती की बधाई दी। बधाई के साथ ही उन्होंने जब साश्चर्य यह कहा कि आप आज भी इतने व्यस्त हैं! तो ग्रियर्सन साहब ने उत्तर दिया: "क्षमा कीजिए, मुझे इतना अवकाश ही कहाँ है जो वर्षगांठ मनाऊँ।" यह थी लगन उस कर्मयोगी की।

आज वे संसार में नहीं किन्तु उनकी कीर्ति व्याप रही है। उन्हें विश्व के कई विश्वविद्यालयों सम्मानित उपाधियाँ मिलीं। वे अनेक वर्षों तक एशियाटिक सोसाइटी के अध्यक्ष रहे और आज उनका एक विशिष्ट स्थान समस्त विद्वत् क्षेत्र में है। ऐसे महान् कर्मयोगी के प्रति आज अपने श्रद्धा के समर्पित करते हैं।

—कैलाश

६५ चक,
इलाहाबाद

कन्नड़ की कहावतें

विद्ये इल्लदव हद्दिगिंत कडे
विद्याहीन मनुष्य चील से भी बदतर है

कै केसरादरे बाइ मोसरु
परिश्रम का फल मीठा होता है

माडिद्दुराणो महाराय
जैसी करनी वैसी भरनी

ताइगिंत बंधुविल्ल उप्पिगिंत रुचिल्ल
माता से बढ़ कर बन्धु नहीं, नमक से बढ़ कर रुचिकर वस्तु नहीं

आळागि दुडि अरसागि उराणु
सेवक बन कर काम कर, राजा बन कर उपभोग कर

शक्तिगिंत युक्ति मेलु
शक्ति से युक्ति ही श्रेष्ठ है

अति आशे गति गेडिसितु
अति आशा का फल बुरा होता है

नालिगे वळ्ळेयदिद्दरे नाडेल्ल वळ्ळेयदु
यदि हमारी जीभ में संयम हो तो उस से देश की भलाई होगी

अटवल्लवनिगे रोगविल्ल मातु बल्लवनिगे जगळविल्ल
संयमित भोजन से रोग नहीं, संयमित संवाद से झगड़ा नहीं

हैदराबाद सोमन गौड़

शेत्रुजी के किनारे

यह कथा कृष्ण की भूमि काठियावाड़ के एक सुप्रसिद्ध प्राचीन लोक-गीत पर आधारित है जिसे काठियावाड़ की अहीर आदि जातियाँ आनन्दविभोर होकर गाती हैं। इस लोक-गीत के १६ दोहों को लेकर सौराष्ट्र के प्रसिद्ध साहित्यकार स्व० झेवरचन्द मेघाणी ने इसकी रचना की है। यह रचना जन्मभूमि कार्यालय बम्बई से प्रकाशित 'मेघाणी-स्मृति-ग्रन्थ' में गुजराती भाषा में प्रकाशित हुई है जिसका रूपान्तर यत्किंचित् परिवर्तन के साथ यहाँ दिया जा रहा है। बम्बई के राम नारायण रुइया कालेज के गुजराती मण्डल के विद्यार्थियों द्वारा मण्डल के वार्षिक अधिवेशन पर यह कथा अभी हाल में 'आलणदे' नामक नृत्यनाटिका के रूप में प्रस्तुत की गई थी।

वर कन्या की इच्छा के विरुद्ध माता-पिता की स्वेच्छा से विवाह करने की सामन्तवादी प्रथा के खिलाफ़ काठियावाड़ की साधारण जनता के लोक-गीत पर आधारित यह कथा अत्यन्त प्रेरणादायक है। अन्य देशों की लोक-कथाओं में स्त्रीपुरुष के निर्बाध प्रेम का चित्रण करने वाला साहित्य उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए ल्याङ् शान् पो और च पिङ् थाय् चीन का एक प्रसिद्ध नाट्य है जो ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी की एक वास्तविक जनकथा पर आधारित है। चू यिङ् थाय् अठारह वर्ष की एक लड़की एक लड़के के वेश में रह कर हैंगचो के स्कूल में विद्याध्ययन करती है। वह ल्याङ् शान् पो नामक अपने सहपाठी के साथ तीन वर्ष तक उसका भाई बन कर रहती है। तीन वर्ष बाद वह अपने घर लौटती है किन्तु लौटने से पहले अपनी लड़की होने का भेद अपने अध्यापक की स्त्री से बता देती है। और साथ ही ल्याङ् शान् पो के प्रति अपना प्रेम अभिव्यक्त करती है। चू यिङ् थाय् के वापिस लौट जाने पर ल्याङ् शान् पो को जब इस बात का पता लगता है तो वह बहुत निराश होता है। वह अपनी प्रेमिका के घर पहुँचता है, लेकिन उसकी शादी किसी दूसरे व्यक्ति से हो जाती है। ल्याङ् निराश होकर प्राण त्याग देता है। इस समय चू यिङ् थाय् डोली में बैठ कर अपने पति के घर जाते समय रास्ते में अपने प्रेमी की क़ब्र के पास पहुँचती है। क़ब्र फट पड़ती है और वह उसमें समा जाती है। उसके बाद दोनों तितलियाँ बन कर आकाश में उड़ने लगते हैं। उपर्युक्त भारतीय लोक कथा की विशेषता यह है कि अपनी विवाहिता स्त्री के विचार-स्वातन्त्र्य की क़द्र करता हुआ स्त्री का दृढ़ और उदार मना पति उसे उसके सच्चे प्रेमी को सौंप देता है। इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र कम मिलेंगे।]

शेत्रुजी नदी के किनारे बारह महीने हरियाली रहती। यहाँ की ऊँची हरी-हरी घास आठों प्रहर हवा में झोंके खाती। नदी के दोनों किनारों की भैंसें पर्वत के शिखर को तोड़ देने वाले अपने सिरों को हिला कर और अपनी पूँछें ऊपर उठा कर दोनों किनारों पर घास चरतीं।

दोनों किनारों पर चबूतरों के घोंसलों के समान झोंपड़ियाँ पड़ी हुई थीं। सुबह शाम भैंसों के थनों में से दूध दुहने और छाछ बिलाने का शब्द सुनाई दिया करता। दूध बिलोती हुई अहीरनियों के शरीर में से रूप छटा छलक पड़ती।

पहर दिन चढ़े इन झोंपड़ियों में से अपनी अपनी भैंसें लेकर देवका और आलणदें निकलते। दोनों की उम्र दस-बारह वर्ष की होगी। देवका खुले सिर है, उसके सिर पर एक बालिश लम्बे बाल हैं और अलणदे का गुँथे हुए बालों का केशपाश रंगीन ओढ़नी के ढँका हुआ है। दोनों के हाथों में लकड़ी है। दोनों इमली की ऊँची ऊँची डालियों पर से लकड़ी द्वारा इमली तोड़ते और बाँट-बाँट कर खाते। घास के मैदान में दोनों बन्दरों के समान क्रीड़ा करते। ओलकोलाम्बो खेलते हुए अलणदे देवरा को पकड़ लेती, यद्यपि अनेक बार देवरा जान-बूझ कर अपने आपको पकड़ा देता। आलणदे को पकड़ने की अपेक्षा उसके हाथ से स्वयं पकड़े जाने में देवरा को अधिक आनन्द आता। आलणदे खीझ कर कहती :

"इसमें क्या है ? ऐसे खेल में क्या रक्खा है। तू तो भागता ही नहीं ?"

"यदि भागने लगूँ तो फिर सुबह से शाम तक मेरा दाव ही न उतरे ?"

आलणदे और देवरा नदी तट पर बैठ कर कल-कल शब्द करते हुए शीतल और निर्मल जल में अपने पैर डाल देते। आलणदे कहती :

"देख देवरा ! मेरे पैर कितने सफ़ेद हैं ?"

"इसमें क्या हुआ ? कोढ़ियों के पैर इससे भी सफ़ेद होते हैं।"

ग्रीष्म ऋतु की दुपहरी में इमली और बड़ की छाया में नदी की लहरों का आनन्द लेते हुए देवरा की आँखें झपक जातीं। भैंस के शरीर का तकिया लगा कर वह लेट जाता और आलणदे अकेली खड़ी हुई भैंसों की रखवाली करती। वह कभी पंखों से देवरा के बालों को सजाती, और कभी उसके फैंटे में बँधी हुई बाजरे की रोटी मछलियों को डाल कर, उसे अपने हाथ की रोटी बना कर खिलाती। रोटी खाता-खाता देवरा कहता :

"हे आलणदे ! मेरी माँ विचारी बुढ़िया हो गई है, इसलिए अब वह तेरी जैसी रोटी नहीं बना सकती।"

"तो फिर मैं तुझे हर दिन रोटी बना कर खिलाऊँगी।"

"कितने दिन ? देख जो कहती है उसे पूरा करना।"

"हाँ, समझ गई। तो यह ले" यह कह कर आलणदे देवरा को अंगूठा दिखा कर चली जाती।

संध्या समय देवरा अपने पशुओं को हाँक कर घर ले जाता, किन्तु जान-बूझ कर वह एकाध कटड़ा छोड़ जाता। आलणदे उसे उसके घर ले जाती और कहती :

"ऐ देवरा ! तू हर दिन अपना कटड़ा भूल जाता है, तेरा ध्यान कहाँ रहता है ? तू अतीर (आयर) का बालक होकर इतना भुलक्कड़ कहाँ से हो गया ? यह ले यदि अब से तू ने भूल की तो याद रख उसे मैं अपने कपड़े के साथ ले जाऊँगी।"

देवरा की विधवा माँ इस लड़की को निर्निमेष नेत्रों से देखती रहती और उसे खड़ी रख कर उसका जेब सफ़ेद तिलों से भर देती। "ले बहिन आलणदे ! तू, यहाँ रोज़ कटड़ा हाँक कर लाती है, उसका यह मेहनताना।

देवरा तुरन्त ही बोल उठा :

'माँ, तुम हर रोज़ इसकी जेब तिलों से भर देती हो, इस तरह तो इसकी आदत ही पड़ जाएगी। फिर यह रोज़ रोज़ अपनी देहली पर आ खड़ी होगी।'

आलणदे हँस कर अपने घर चली जाती। बुढ़िया अपने पड़ौसियों के घर जाकर कहती—

'देखो तो कैसी जोड़ मिली है। यदि ऐसी लड़की, मेरे घर आ जाए तो मेरी जन्म-जन्म की भूख मिट जाए।'

परन्तु बुढ़िया ! तू इतनी पगली क्यों है ? कहाँ हरसूर अहीर की झोंपड़ी और कहाँ तेरा घर ?'

बालपन बीत गया और आलणदे के अंग पर जवानी का रंग चढ़ आया। सिर के चोट के स्थान पर अब चूँदड़ी ओढ़ी जाने लगी। भैंस चराना उसने बन्द कर दिया। सुबह-शाम सिर पर पीतल की कलसी रख कर वह नदी पर पानी भरने आने लगी। उस समय दोनों की आँखें चार होतीं। परन्तु दोनों की आँखों की पलकें झप जातीं और उनके मुख से बोल नहीं निकलते। देवरा नदी तट पर उदास मन से बैठा रहता।

देवरा को आशा थी कि आलणदे का पिता राज़ी हो जाएगा। इसी समय हरसूर और उसकी पत्नी में बातें हो रही थीं :

"नहीं मुझे अपनी इकलौती लड़की को इस बुढ़िया की गुलामी करने के लिए, पशु के समान नहीं निकाल देना है। माँ-बाप के घर में इसने खूब खाया-पिया, मजा-मौज की और अब उसे एक रंक के घर में जाकर चीथड़े पहनने पड़ेंगे ?"

"अरी अहीरन ! दोनों में बचपन की प्रीत है। क्या वह लड़की को दुखी होने देगा ? और फिर क्या हम दहेज न देंगे ?"

"हम उसे सोने से मढ़ देंगे फिर भी वह उतार लेगा। उसके साँड जैसी दो लड़कियाँ हैं। ये दोनों ननदें हमारी लड़की के सब गहने-कपड़े उतार लेंगी। और मुझे तो किसी अच्छे घराने में लड़की देना है। और हमें चिन्ता क्या है ? जगह-जगह के अहीर देखने आ रहे हैं।"

"लेकिन लड़की का मन..."

"यह तो नासमझी कही जाती है दो दिन आँसू बहाएगी, फिर वैभव देख कर सब कुछ भूल जाएगी।"

"तो ठीक है" यह कह कर आलणदें का पिता अन्दर चला गया।

बंदूकें छूटने की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी। ढोल-ढपड़े बजने लगे। शहनाई का मधुर स्वर सुनाई देने लगा। परदेशी अहीर की बारात बाजे-गाजे के साथ आ चढ़ी। मौड़ बाँधे हुए तलवारधारी वरराजा ने ससुर की ऊँची देहली पर खड़े होकर तोरण के पत्ते तोड़े। उसका बखान होने लगा, और लड़कियाँ अन्दर जाकर आलणदे से कहने लगीं :

“बहन ! ऐसा कोई अहीर कभी गाँव में विवाह करने नहीं आया। तू बड़ी भाग्यशाली है !”

रांदल देवी के अखण्ड जलते हुए दीपक के सामने चाँदी-सोने के आभूषणों से लदी हुई आलणदे के नेत्रों से आँसू टपक रहे थे। रांदल देवी की मुस्कराती हुई मूर्ति के समक्ष हाथ जोड़ कर आलणदे मन ही मन बोली : “हे माँ ! तू सूरज दादा की रानी होकर क्या मेरी इस तरह फ़जीहत करेगी ? क्या मैं कसाई को बेचे जाने वाली गाय के समान बेच दी जाऊँगी ?”

मण्डप के नीचे गाँव गाँव के अहीर एकत्रित हुए थे। वरराजा ढोलरा दसों उँगलियों में अंगूठी पहने आसन पर बैठा था। सबने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण किए थे। केवल देवरा के शरीर पर ही स्वच्छ वस्त्र न थे और न उसके मुख पर तेज ही था। मालूम होता था वह अपना मान ही खो बैठा है। दरवाज़ा खोल कर आलणदे पीछे से देखने लगी। देवरा नीचे मुँह किए जाता हुआ दिखाई पड़ा। उसने कहा :

“यहाँ आने वाला अहीर सुन्दर है। परन्तु हे देवरा ! मैं इन नादान रूप से प्रसन्न नहीं हूँ। तू मेरे मण्डप के नीचे क्यों नहीं आता ?”

“अब तो घूमने-फिरने के दिन गए आलणदे ! जलते हुए को और क्यों जलाती हो ? अब मुझे भूल जाओ और जिसके साथ दाना-पानी लिखा है, उसके साथ फेरे फेर लो, कसार खाओ और संसार जमाओ।”

“अरे देवरा ! तू मुझे क्यों ताने मार रहा है ? बोल, बोलता क्यों नहीं ? है तुझ में हिम्मत ? है तेरी छाती में ताक़त ? तू कहे तो अभी इस कंगन को तोड़ कर चली आऊँ ?”

देवरा ने सिर धुन लिया।

“देवरा ! जैसे कोई चोर किसी दूसरे के पशु को ले जाकर किसी को सस्ते दामों में बेच देता है, उसी प्रकार तू भी आज मुझे पशु तुल्य समझ कर दूसरे के हवाले कर रहा है ?”

वर घोड़ा पहुँच गया। फेरों का समय हो गया परन्तु आलणदे का शरीर स्थिर नहीं था।

वर-कन्या कसार खाने बैठे, परन्तु कन्या को वह विष समान लग रहा था।

“शेत्रुजी के किनारे जल की मछलियों के साथ मैंने जिसके लिए मीठी रोटी बनाने का वादा किया, उसको छोड़ कर आज मैं कसार खाने बैठी हूँ ? क्या अहीरनी के वचन का बस यही मूल्य है ?”

विदा का समय आ पहुँचा। नई साड़ी का घूँघट करके आलणदे अन्दर खड़ी व्याकुल चित्र से सोचने लगी :

“क्या करूँ ? क्या जीभ मरोड़ कर मर जाऊँ ? क्या यह गाँठ छुड़ा कर वृन्दावन चली जाऊँ ?”

इस समय देवरा आकर खड़ा हो गया।

“आलणदे ! अब तो बात बिगड़ गई है। जो था सब खो बैठा हूँ। बचपन से सुरक्षित रक्खा रतन आज हाथ से निकल गया है। फिर अब किसका डर ? सिधारो आलणदे ! मुझे अब भूल जाना।’

‘देवरा ! अब तो जो होना था हो गया। कभी मेरी बीमारी देखने के लिए वैद्य के वेश में दवाइयों की कोथली लेकर आना। हे स्वजन। यदि तू कहे तो तेरे लिए मैं पालकी भेज दूँ। हे आषाढ़ के मेघ समान पिया ! अपना मेघाडम्बर करके प्रीति का नीर बरसाने आना।’

आलणदे रथ में सवार हुई। पहिये को नारियल के जल से सींचा और रथ शेत्रूजी के किनारे दौड़ने लग।

नदी तट पर वृक्ष खड़े हुए हैं। अपने बालम का स्मरण करती हुई आलणदे रथ में बैठी हुई चली जा रही है।

“आहा ! देवरा यहाँ रोज़ सवेरे आकर दातौन करता था और मैं ताज़ा दुहा हुआ झागों वाला दूध उसे पिलाती थी। अरे ! मैं अवतार पाने की अपेक्षा यदि नदी किनारे वन का वृक्ष बन जाती तो कितना सुख होता ! रोज़ मेरा प्रीतम मेरी डाल तोड़ कर दातौन करता और मैं मौन भाव से वृक्ष के रूप में उसका दशन करती। मेरी डालें झूम-झूम कर उसे पंखा करतीं और अपनी छाया से मैं उसकी गरमी दूर करती !”

दुपहर हो गई। वैशाख की लू चलने लगी। बरातियों को भूख लगी। कलेवा करने के लिए नदी-किनारे गाड़ियाँ छोड़ दी गईं। सब ने भोजन किया। उसके बाद सब बराती नदी के गड्ढे के पानी को उलीचने लगे परन्तु स्वच्छ पानी कहीं दिखाई दिया। बरातियों ने शर्त लगी जिसे अदना वर प्रिय होगा, उसी के हाथ से स्वच्छ जल निकलेगा। अपने सुन्दर हाथों से सब गड्ढे का पानी उलीचने लगीं, किन्तु किसी के प्रियतम की साक्षी पूरी न हुई। उनमें से दो-चार कहने लगीं :

"बहू लाड़ली को रथ से उतारो। वह नव-विवाहिता है। देखें उसे अपने वर के लिए कितना प्रेम है?"

अश्रु टपकाती हुई आलणदे रथ से नीचे उतरी और मन में कहने लगीं :

"हे विधाता! जिन दिशा में मेरा प्रियतम देवरा खड़ा हो उस उस दिशा में से स्वच्छ जल की धार बहने लगे।"

यह कह कर यों ही आलणदे ने एक चुल्लू भर कर गड्ढे का पानी उलीचा उसमें से स्वच्छ जल की धार बहने लगी और थोड़े ही देर में उस निर्जल जल में काली, पीली, नीली और सफ़ेद कंकड़ियाँ चमकने लगीं।

सारी बरात ने कहा :

"वाह रे वर-वधू का प्रेम! ढोलरा कितना भाग्यशाली है"

वर का स्वागत किया गया। उसे अनेक क्रीड़ाएँ कराई गईं। गुलाल मला गया। लेकिन आलणदे का शरीर ढोलरा के हाथ के गुलाल की चोट कैसे सहन करे? गुलाल की यह मुट्ठी उसे जलते हुए अंगारे के समान मालूम दी।

ढोलरा उमंग के साथ अपनी कोठरी की ओर बढ़ा आ रहा है। कोठरी की दीवालें दीपक के तेज से देदीप्यमान हो रही हैं। 'मेरी पग ध्वनि की ओर कान लगाए अहीरन आतुर मन से दरवाजे पर खड़ी होगी'—यह सोचता सोचता ढोलरा ज्यों ही अन्दर दाखिल हुआ, तो उसके पैर आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हट गए। 'इस सुसज्जित घर में उसे कौन सा कष्ट हो सकता है? हँसकर स्वागत करने के बदले वह उदासमन होकर क्यों बैठी है? संभव है उसे पीहर की याद आ रही हो! हो सकता है कि मैं उसे पसन्द न होऊँ!' यह सोच कर वह अपनी नव-विवाहिता को रिझाने का प्रयत्न करने लगा :

"चल आलणदे! तेरी चोटी गूँथ दूँ, तेरे सिर में सुगंधित तेल डाल दूँ। आ, अपने मन का बोझ उतार दे।" इतना कह कर ढोलरा ज्यों ही उसकी ओर बढ़ने लगा, शिकारी को देख कर हरिणी की भाँति, वह वहाँ से दूर खिसक कर बैठ गई।

"यह क्या?"

"तुम्हारा मतलब?"

"हे अहीर! इस चोटी में तो दूसरे के हाथ का डोरा गुँथ चुका है, इसमें गाँठ बँध चुकी है। अब तू दूर ही रहना। सांसारिक सम्बन्ध के नाते मैं तेरी विवाहिता अवश्य हूँ, और जब तक मैं जिन्दा रहूँगी तेरे घर में रहती हुई तेरी गुलामी बजाऊँगी, किन्तु अपने पारस्परिक सम्बन्ध को तू राम-राम ही समझना!"

ढोलरा समझ गया। फिर सोचने लगा कि थोड़ी देर रोए-धोएगी, फिर पुरानी प्रीत को भूल कर नए स्नेह में बँध जाएगी। कहने लगा :

"आलणदे! मोह में मत पड़। जल्दी मत कर। इस भाँति क्या सारा जन्म बीतने वाला है? हम तो अहीर जाति के हैं, इसलिए पुरानी बात भूल जाने में कोई दोष नहीं है। आओ, चौपड़ खेलें।"

"ढोलरा! तू अहीर (आयर) जैसे खानदान में पैदा होकर भी क्यों चींथड़ों को फाड़ रहा है? तुझे खबर नहीं मेरा हृदय और दाहिना हाथ देवरा ने जीत लिए हैं।"

"कोई बात नहीं आलणदे! तेरा मन चक्कर खा रहा है। आज की रात तू शयन कर। आकुलता कम होगी। ला, तेरे लिए चारपाई बिछा दूँ, तू आराम से सो जा। मैं तेरी मर्यादा नष्ट नहीं करूँगा।"

यह कह कर ढोलरा ने चारपाई डाल दी और उस पर मुलायम गद्दी बिछा दी। किन्तु वह तो आलणदे को गोखरुओं की शय्या मालूम दे रही थी। सोचने लगी :

"मैं कैसे सोऊँ? मेरी दोनों पलकें जुदी हैं। देवरा के दर्शन किए बिना ये जुड़ नहीं सकतीं। जिस दिन मैं उसे देखूँगी, उसी दिन सो सकूँगी, नहीं तो जीवन भर

जागना ही जागना है ।''[१]

मना मना कर ढोलरा की जीभ थक गई । सुहाग रात में अपनी विवाहिता वधू का ऐसा अनादर देख कर ढोलरा मन में व्याकुल हो उठा । उसके रोंगटे खड़े हो गए। शरीर थर थर करने लगा और होठ काँपने लगे । क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं ।

''अरे स्त्री की जात मुझे इतना परेशान कर सकती है ? विवाह के बाद भी वह पर-पुरुष का नाम नहीं छोड़ती ? यदि ऐसी ही बात थी तो मुझे पहले से ही क्यों न सचेत कर दिया ? मेरी फ़ज़ीहत क्यों की ? अब क्या बलात्कार करूँ ? चोटी पकड़ कर बाहर निकाल दूँ ? या फिर यहीं पर टुकड़े-टुकड़े कर दूँ ?''

ढोलरा का सारा शरीर काँप उठा। धग धग करते हुए शब्द होठों पर आकर रह गए ।

''नहीं, नहीं, इसमें इसका क्या दोष ? जन्म के साथी पर से उसका मन कैसे हट सकता है ? जो कुल मर्यादा को लेकर ज़िन्दगी भर मेरा घर झाड़ने बुहारने के लिए तैयार है, वह मारने योग्य है या पूजने योग्य ? स्वार्थ ने मुझे अपना मान भुला दिया है ।''

हृदय में उच्छलित विष का पान कर ढोलरा बाहर आया और बिस्तर बिछा कर सो गया । आलणदे ने सारी रात जागरण किया ।

आलणदे सब के साथ घर का काम काज करने लगी । वह टोकरी भर-भर कर गोबर के कण्डे पाथती और अपनी ननदों के साथ छाछ बिलोने का काम करती । सासू जी सुबह उठ कर बहूरानी को धूल-मिट्टी की हालत में देखती ।

''अरे बेटा ! कहीं आते ही झाड़ू-बुहारु का काम किया जाता है ? झाड़ू रख दे । ये तो बेटा तेरे खाने-पीने और खेलने-कूदने के दिन हैं ।''

''नहीं फुई ! मुझे काम बिना अच्छा नहीं लगता । पाँच दिन पहले या पाँच दिन पीछे काम तो करना ही है ।''

जहाँ बहू के हाथ लगते वहाँ मानो मोती बरसने लगते । सासू और ननद अपने ओठों पर उँगली रख कर उसे टुकुर टुकुर देखतीं और कहतीं कि बहू कितनी चतुर है ।

किन्तु बीच-बीच में बहू झाड़ू-बुहारु और छाछ बिलोने का काम करती रहती । कोई उसे बुलाता तो सुनती नहीं । आँखें उसकी न जाने क्यों फटी-फटी-सी रहतीं । किसी का ध्यान इस तरफ़ न जाता ।

भोजन तैयार हो गया है । सासू ने जूही के फूल के समान नरम-नरम चावल बनाए हैं । ''बहू बेटा ! थक गई होगी, आ बैठ कर गरम-गरम चावल खा ले ।''

चावलों में पतेली भर कर घी छोड़ा और शक्कर डाली । परन्तु खाए कौन ? बहू तो बैठी-बैठी गा रही है :

''अरे मैं गरम भोजन कैसे करूँ ? मेरे हृदय में देवरा सो रहा है, उसका कोमल शरीर कहीं झुलस न जाए ?''[२]

इस प्रकार अपने प्रिय की वियोगिनी एक ओर खाती-पीती नहीं और दूसरी ओर कुलधर्म की रक्षा में ज़रा भी नहीं चूकती । दिन के दिन बीतते गए। अपने अन्तरंग के उत्पात को शान्त करने के लिए उसने बहुत मन्थन किया, लेकिन उसका चित्त संभ्रम प्रकट ही होता गया । वह सिर पर कलसी रख कर अपनी सखियों के साथ कुँए पर पानी भरने जाती । सब सखियाँ आठ-आठ हंडे पानी भर कर लौट जातीं जब कि आलणदे एक भी कलसी नहीं भर पाती । वह पानी में देवरा की परछाईं देखती हुई खड़ी रहती और रस्सी उसके हाथ में रहती । इस तरह सारा दिन बीत जाता और आलणदे घर लौट आती । सासू जी के ताने सुन कर वह उत्तर देती :

''हे बाई जी ! रस्सी चालीस हाथ लम्बी थी, फिर भी वह पानी तक नहीं पहुँच सकी । मेरा सारा दिन देवरा की बाट देखते-देखते बीत गया ।''[३]

---

[१] ''किम सोऊँ सजणा ! मुं सूतेय सख नहि, पांपणनां परियाण माल्या वण मांगे नहि ।''

[२] ऊना : फल फलतांय, भोजनियाँ भावे नहि,
हेतु : हैयामांय, दाझे सूतल देवरो ।

तुलना करो : प्रीतम, तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि
हियडा भीतर प्रिय बसइ, दाझणती डरपाइ ।
—(ढोला-मारू रा दोहा–१६०)

गहरी साँस लेकर सासू कुढ़ कर कहती :

"अरे ! यह चोरी किया हुआ पशु यहाँ कहाँ से आ गया ? यह तो पागल हो गई मालूम होती है ! यह मेरे कुल को डुबाने वाली है !"

× × ×

संध्या का समय है। देवरा अपने घर के चौंतरे पर बैठा है। बुढ़िया आकर पूछती है :

"आज अच्छी ज्वर की खिचड़ी बना रही हूँ, अच्छी लगेगी ?"

"माँ मुझे भूख नहीं है।"

"भूख क्यों नहीं बेटा ! तू आधी रोटी लेकर जंगल में गया था, क्या इसमें पेट भर गया ?"

"नहीं माँ ! आजकल पेट ठीक नहीं रहता।"

"बेटा ! बीती हुई बात को जिन्दगी भर याद नहीं करते रहते, अब उसे छोड़ दे।"

"नहीं माँ ! यह बात नहीं"—यह कहते कहते देवरा का गला भर आया।

"अच्छी बात है, खिचड़ी बना लेना। आज सब साथ बैठ कर खाएँगे।"

× × ×

किसी ने बाहर से आकर पूछा :

"क्या देवरा अहीर का यही घर है ?"

अपना नाम सुन कर देवरा तुरन्त ही घर की देहली पर दौड़ा आया और किसी परदेशी पाहुने को देख कर, परिचय न होने पर भी, उसका स्वागत करते हुए कहा :

"आओ भाई ! यही घर रामधनी का है।"

गाड़ीवान अपनी गाड़ी से नीचे उतरा। बाँधे हाथ मिला कर दोनों मिलें। बैलों के जोत खोल दिए। उनकी झूल उतार दी और उनके खाने के लिए हरी-हरी घास डाल दी। उसके बाद गाड़ी का परदा ऊँचा उठा कर गाड़ी में से एक युवती नीचे उतरी। गाड़ीवान चौंतरे पर आकर बुढ़िया से कहने लगा :

"माँ ! हमारी यह बहन स्वीकार करो ?"

आश्चर्य चकित बुढ़िया बाहर आकर पूछने लगी :

"यह बहन कौन ? किसको स्वीकार करूँ ? यह गाड़ीवान कहाँ का रहने वाला है ? कुछ समझ में नहीं आता।"

गाड़ीवान ने अपने साथ की स्त्री को लक्ष्य करके कहा :

"बहन ! सासू जी के पाँव पड़।"

युवती ने बुढ़िया के चरणों में सिर रख दिया। देवरा की दोनों बहनें मेहमान को घर के अन्दर लिवा ले गई। देवरा ढोलरा के पास आ कर उसे आश्चर्य से देखने लगा।

"पहचानते हो ?"

"थोड़ा-थोड़ा। मालूम होता है हाल ही में कहीं देखा है।"

"मेरा नाम ढोलरा है। तेरी वस्तु मैं चोरी करके ले गया था। उसे वापस देने आया हूँ।"

"क्या कहा ?"

"तेरा जीवन—तेरी परिणीता।"

"मेरी परिणीता ?"

"हाँ बाप ! तेरी परिणीता। हृदय के प्रेम के कारण इसका विवाह तेरे साथ हुआ है, मैं तो इसे भूल से ले गया था !"

२८, शिवाजी पार्क,
बम्बई—२८

—(डॉ.) जगदीशचन्द्र जैन

जो लोग सच्चे नेता होते हैं वे अत्यन्त साधारण होते हैं परन्तु उनका निश्चय असाधारण होता है।

हमें दूसरों की गलतियों से सीखना चाहिए। हमारी आयु इतनी लम्बी नहीं है कि हम स्वयं सब गलतियाँ कर सकें।

उर्दू-साहित्य में उपन्यास की परम्परा

उर्दू-साहित्य में अन्य भाषाओं की भाँति गद्य का विकास काव्य के बहुत बाद में हुआ। जब प्रथम-प्रथम गद्य की रचना आरम्भ हुई, तब से उसमें अनुवाद की बहुलता रही। यहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है, उसका आरम्भ बहुत बाद में हुआ। उर्दू में सबसे पूर्व 'दास्तान' के रूप में कथा का प्रचलन आरम्भ हुआ। अनेक समीक्षक दक्खनी भाषा में लिखी हुई "सबरस" को (जो गोलकुण्डा के प्रसिद्ध कवि और गद्यकार मुल्ला वजही की लिखी हुई है।) प्रथम स्थान देते हैं। यह कृति १६३४ ई. में लिखी गई। बहुत काल तक इसके सम्बन्ध में यह धारणा रही कि यह मौलिक पुस्तक है। किन्तु बाद के शोध से यह ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक फ़ारसी की एक पुस्तक का रूपान्तर है। इस पुस्तक के पात्र मानवीय स्वभावों और उसके अन्य प्रसंगों की पृष्ठभूमि पर आधारित है। वह व्यक्ति के जीवन का चित्र इसी माध्यम में चित्रित करते हैं और पुस्तक का निष्कर्ष यह है कि मानव की सद्वृत्तियाँ विकृतियों पर सदा विजय प्राप्त करती हैं। वजही के पश्चात् कुछ लोग सैय्यद इंशाअल्ला खाँ की पुस्तक "रानी केतकी और कुँवर उदय भानु की कहानी" को उपन्यास का प्रथम चरण समझते हैं। पर उपन्यास के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसका रूप भिन्न है। वास्तव में यह कहानी है। इसकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण इंशाअल्लाखाँ की भाषा की सरलता, मधुरता और बोधगम्यता है। इसके पश्चात् फ़ोर्ट विलियम कालेज की ओर से कुछ लेखकों को नियत किया गया कि वे फ़ारसी से उर्दू में बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद करें। यहीं पर फ़ारसी की एक प्रसिद्ध पुस्तक "नौ तर्ज़े मुरस्सा" जो सम्भवतः तहसीन की लिखी हुई है, अनुवाद की गई। कुछ लोगों की धारणा है कि यह पुस्तक अमीर खुसरो की थी। इसका अनुवाद दिल्ली के मीरअम्मन ने 'बाग़ो बहार' के नाम से सन् १८०१ में किया गया था। इस पुस्तक के पात्र भी प्रचलित कथाओं की भाँति काल्पनिक और अवास्तविक है। मीर अम्मन की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह इन पत्रों के द्वारा भी मानवीय हृदय और भावनाओं का अच्छा परिचय देते हैं और कहीं-कहीं वे मूल फ़ारसी पुस्तक से भी आगे बढ़ जाते हैं। साथ ही अपने उनकी परम्पराओं विचारों और संस्कृति का आभास मिलता है। यही कारण है कि आज इस पुस्तक का स्थान समग्र उर्दू साहित्य में अक्षुण्ण है। भाषा के दृष्टिकोण से यह पुस्तक बड़ी महत्वपूर्ण है। इन्हीं के काल के एक अन्य मिर्ज़ा रज्जबअली बेग 'सुरुर' की एक गाथा मिलती है, जिसका नाम "फ़साना अज़ायब" है। इनकी मृत्यु १८६७ ई. में हुई। इस पुस्तक की रचना मीर अम्मन की "बाग़ो बहार" की प्रतिस्पर्धा में हुई थी। "फ़सानाए अजायब" की भाषा में कृत्रिमता अत्यधिक है। इसके पात्र भी मानव जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। फिर भी यह पुस्तक उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुई क्यों कि उन दिनों लोग काल्पनिक कथाओं में गहरी अभिरुचि रखते थे।

इस पुस्तक के बाद उर्दू-गद्य में गाथा का विकास तेज़ी से हुआ। इस साहित्य का स्रोत देवमालाओं की कथाओं पर आधारित प्रतीत होता है अथवा ऐतिहासिक विषयों पर। इसका आधार धर्म अथवा सुधार की भावना है। इसी कारण इस साहित्य के पात्र सामान्य पुरुष और नारी के प्रकृतिजन्य गुण और अवगुणों से मुक्त न होकर वे केवल सत्पात्र अथवा कुपात्र ही होते हैं। कथाओं की श्रृंखला परस्पर प्रवाहित ही रहती है। इन कथाओं के नायक घोर संघर्ष में पड़ कर भी कम से कम अन्त में सदा विजयी होते हैं। इस साहित्य का क्रम मुग़ल राज्य की समाप्ति तक चलता रहा। पुस्तकें ही नहीं; बल्कि गाथाओं को कहने का प्रचलन भी था। सम्पन्न व्यक्ति अपने घरों पर भी ऐसे कथावाचकों को रखते थे, जो कहानी कहकर उनका मनोरंजन करते रहें। हमारे कुछ समय पूर्व तक इन कथाओं का प्रचलन उपलब्ध होता है। इन कथाओं का वास्तविक सूत्र प्राचीन कहानियों की प्रच्छन्नता में है या परिवर्द्धित रूप में सन्निहित है।

लेकिन तथ्य यह है कि उर्दू उपन्यास का मूल आरम्भ डा० नज़ीर अहमद से होता है। डा० सर

नज़ीर सैयद अहमद के समकालीन थे और अपने समय के पाँच प्रसिद्ध गद्यकारों में से थे। वे अरबी-फ़ारसी के विद्वान् थे। उनका अंग्रेज़ी का ज्ञान भी अच्छा था। धार्मिक विचारों के होने पर भी वे स्वभाव से अत्यन्त विनोदप्रिय थे। उनका उपन्यासकार बन जाना एक अनायास की घटना ही माना गया है। उन्हें अपने बालकों के लिए ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता थी, जो शिक्षण के साथ-साथ उनमें अध्ययन के लिए अभिरुचि का विकास भी कर सके। जब उन्हें इस ढंग की पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो सकीं तो उन्होंने स्वयं कहानी के प्रकार की कुछ पुस्तकें लिखीं। डा० नज़ीर अहमद कुछ पृष्ठ नियमित रूप से नित्य-प्रति लिखा करते थे और जब उन्होंने लिखना समाप्त किया तो उन्हें यह बात भी ज्ञात हुई कि उनकी रचनाएँ अनायास ही साहित्यिक स्तर पर आ गई हैं। इसी प्रकार वे अपनी रचनाओं के प्रकाशन के पश्चात् पुरस्कृत और सम्मानित भी किए गए।

डा० नज़ीर अहमद के उपन्यासों की पृष्ठभूमि दिल्ली के वातावरण पर आधारित है। उनकी शैली इतनी रोचक और विचित्र है कि किसी भी आयु का कोई भी व्यक्ति इन्हें पढ़ता है तो विस्मित और विमुग्ध रह जाता है और बार बार पढ़ जाने पर भी उनसे मन ऊबता नहीं है। उनकी कहानियों का सारा वातावरण कुछ ऐसा आकर्षणयुक्त है कि शुरू करके समाप्त किए बिना नहीं छोड़ा जाता। उनकी विषयवस्तु और पात्र हमारे जीवन से गहरी समानता रखते हैं और हमसे अभिन्न प्रतीत होते हैं। उस काल में तो लोग उनके उपन्यासों की विषयवस्तु और पात्रों को यथार्थ मानने लग जाते थे और जब वे पाठक दिल्ली आते थे तो उपन्यासों में वर्णित पात्रों और स्थानों की खोज करने लग जाते थे। इन उपन्यासों में रोचकता, मधुरता, सरलता, और आदर्श का बड़ा योग है। डा० नज़ीर का शब्द और मुहावरों का ज्ञान बड़ा विशाल था। उनके उपन्यासों में कहीं-कहीं उपदेशात्मकता भी परिलक्षित होती है। कतिपय स्थानों पर उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से सद्वृत्तियों और कुवृत्तियों को सामने रखा है और कहीं-कहीं उन्होंने अत्यधिक आदर्शवादिता को भी लक्ष्य बनाया है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जो पात्र उन्होंने जीवन की विकृतियों की रूप में प्रस्तुत किए वे ही न केवल सामान्य जीवन से अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं, अपितु सामान्य व्यक्ति उन्हीं की ओर अत्यधिक आकर्षित भी हुए और इसके विपरीत जो पात्र उन्होंने आदर्श के रूप में रक्खे वे बहुत लोकप्रिय नहीं हो सके और सामान्यतः अपरिचित से लगते हैं। उनका सबसे उल्लेखनीय पात्र मिर्ज़ा ज़ाहिरदार बेग है। इसके माध्यम से मानव-जीवन की सारी विकृतियों पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इस पात्र का मनोविश्लेषण तक बड़ा सूक्ष्म और वास्तविक है। मिर्ज़ा ज़ाहिरदार बेग का नाम लेते ही उसका पूरा चित्र स्वतः साकार हो जाता है। डा० नज़ीर अहमद के उपन्यास का केवल यही एक पात्र उन्हें उर्दू-उपन्यास में अमर बना देने के लिए पर्याप्त है। उनके उपन्यासों की सफलता की पृष्ठभूमि में युग की परिवर्तित बौद्धिक और सामाजिक चेतना का बड़ा स्थान है। और अन्ततः यही बौद्धिक और सामाजिक चेतना उनके उपन्यासों का लक्ष्य भी बनती है। इनके अनन्तर इन्हीं के अनुसरण पर अनेक लेखकों ने बहुत से उपन्यास लिखे किन्तु वे नज़ीर अहमद की कोटि में नहीं आ सके। डा० नज़ीर अहमद के समस्त साहित्यिक कृतित्व में नवीनता और प्राचीनता का अद्भुत सामंजस्य है। उनके उपन्यासों में उस काल का सम्पूर्ण और वास्तविक प्रतिबिम्ब मिलता है।

उनके समय में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हो चुकी थी। लोगों की स्वतन्त्रता सम्बन्धी उत्कट भावनाओं को साहित्यकारों ने व्यंग के माध्यम में व्यक्त किया। उस समय लखनऊ से "अवध पंच" नामक उर्दू-पत्र का प्रकाशन होता था और उसके लेखकों में रतननाथ दर 'सरशार' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रतननाथ दर 'सरशार' काश्मीरी ब्राह्मण थे। उनका आवास लखनऊ में कई पीढ़ियों से था। उनकी रचनाओं में गम्भीर विषय को भी हास्य और व्यंग में कहने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। उन्होंने कई कहानियाँ, निबन्ध और उपन्यास लिखे। उनकी समस्त रचनाओं में "फ़सानाए आज़ाद" सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसका प्रकाशन "अवध अख़बार" में धारावाहिक रूप में हुआ और बाद में इसका प्रकाशन चार खण्डों की पुस्तक में हुआ। साहित्यिक दृष्टि से यह पुस्तक उपन्यास और कथा के मध्य की कड़ी है। इस पुस्तक का एकमात्र पात्र "आज़ाद" है। केवल इसी के माध्यम से पुस्तक में लखनऊ के समस्त तत्कालीन वातावरण और समाज को बड़ी सजीवता से

रोचकता से रखा गया है । इसमें लखनऊ के प्रामादीय जीवन, बेगमाती भाषा (बोली-ठोली) नवाबों की बैठकें, मुहर्रम के जुलूस, ऐशबाग़ के मेले, मदारी का तमाशा, बटेरों की लड़ाइयाँ आदि लखनऊ का सारा जीवन उपलब्ध होता है । पुस्तक की शैली और भाषा हास्य और व्यंग में इतनी ओतप्रोत है कि कोई भी पाठक स्थान-स्थान पर हँसता और खिल-खिलाता रह जाता है । इस विशाल पुस्तक में आकर्षण इतना अदम्य है कि पाठक इसे समाप्त करके भी समाप्ति नहीं चाहता । इस पुस्तक के अनुसरण में अन्य लेखकों ने भी लिखने के प्रयास किए किन्तु उन्हें 'सरशार' जैसी सरसता और सिद्धहस्तता प्राप्त नहीं हो सकी । इस पुस्तक का समस्त उर्दू साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है । यह पुस्तक सरशार की पारदर्शी प्रतिभा का एक अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है । उनका निधन अत्यल्प आयु में ही हो गया ।

सरशार के काल में ही अब्दुल हलीम "सरर" का नाम ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण उल्लेखनीय है । उनके उपन्यासों की संख्या विशाल हैं, किन्तु उनके सारे उपन्यासों की वर्ण्य वस्तु, भाषा, कथानक, शैली आदि में इतनी अधिक एकरूपता है कि उनका कोई विशेष महत्व प्रतीत नहीं होता । ऐतिहासिक उपन्यासों में सिद्धान्ततः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु उसमें ये उपन्यास असफल ही रहे हैं । इनका एक उपन्यास "फिरदोस-ए-बरी" विशेष उल्लेखनीय है । उनकी भाषा में प्रवाह और सरसता अत्यधिक अनुभव होती है ।

समय के परिवर्तन के साथ मानवीय दृष्टिकोण का परिवर्तन भी स्वतः ही हो जाता है । मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' ने युग की प्रवृत्तियों के अनुसार ही लिखा । वे केवल साहित्यिक ही नहीं थे, अपितु अनेक कलाओं के भी महान् ज्ञाता थे । पर वे उपन्यासकार के नाम से अविस्मरणीय हैं । उसका उपन्यास "उमराव जानअदा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है । अब तक के उर्दू-साहित्यकार साहित्य में वेश्या प्रवृत्ति जैसे तत्वों को लाना औचित्य पूर्ण नहीं मानते थे । उन्होंने इस उपन्यास में एक वेश्या की आत्मकथा को बड़ी सहजता, सशक्तता और मार्मिकता से वर्णित किया है । इस उपन्यास का क्षेत्र लखनऊ है । उर्दू-साहित्य में सर्वप्रथम वेश्या के पात्र को उन्होंने ही रक्खा । यद्यपि उस समय के सामन्ती समाज में वेश्या का स्थान था, किन्तु उसकी चर्चा साहित्य में बड़ी आलोच्य और अशिष्ट समझी जाती थी । 'रुसवा' की विशेषता मानव-जीवन की विकृतियों से गहरी सहानुभूति रखने हैं । वे निम्न कोटि के व्यक्तियों में भी अभिरुचि रखते थे । उनका कथन था कि जीवन के सौन्दर्य की प्यास केवल हम में ही नहीं, सारे समाज में भी है, वे समाज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके । किन्तु 'उमराव जानअदा' का मनोविश्लेषण तत्व बड़ा विशद, गहन और सूक्ष्म है । उसमें बड़ी मार्मिकता और संवेदनशीलता है ।

ज्यों-ज्यों भारत की राजनीति और जनता में संघर्ष तीव्र होता गया, वैसे-वैसे परिवार और समाज के जीवन में नई-नई समस्याएँ बढ़ती ही गईं । हमारे लेखक और कलाकार इस परिवर्तन काल की भावनाओं को समझ रहे थे । और अपनी अपनी बुद्धि और शक्ति से उसका समाधान करने का प्रयास यथाशक्य कर रहे थे । अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से लोग अंग्रेज़ी साहित्य और संस्कृति के निकट आ रहे थे और लोगों की भावना यह भी बन चुकी थी कि बिना अंग्रेज़ों के अनुकरण किए हम सभ्य और सुसंस्कृत नहीं हो सकते । दूसरी ओर कुछ लोगों की धारणा ऐसी भी थी कि जब तक हम अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा को सुरक्षित नहीं रखेंगे तब तक अपना व्यक्तित्व और अस्तित्व भी कुछ न बन सकेगा । व्यक्ति और समाज की इन भिन्न-भिन्न धारणाओं के परस्पर संघर्ष ने उपन्यास को विकसित किया ।

इस प्रकार प्रेमचन्द जैसे लेखकों के लिए भूमि तैयार हो रही थी । और जहाँ तक भाषा और शैली का सम्बन्ध था, लोगों का दृष्टिकोण विविधता का था । इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भाषा और शैली भी भिन्न-भिन्न रूपों और मार्गों में विकसित हो रही थी । ऐसे उपन्यासकारों में राशदुल ख़ैरी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उनका मुख्य विषय तत्कालीन स्त्री समाज का चित्रण और उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए उनका समाधान करना था । उनके उपन्यासों में संवेदना के भावों का चित्र बड़ा गहरा और मार्मिक है । राशदुल ख़ैरी ने स्त्रियों को लिखने पढ़ने की प्रेरणा दी । १९३६ ई. में उनकी मृत्यु हुई । किन्तु उनकी मृत्यु के पहले ही नारी-समाज में अच्छी जागृति उत्पन्न हो चुकी

थी। इन्हीं दिनों एक नाम साहित्याकाश में विशेष रूप में दैदीप्यमान हो उठा वह नाम है प्रेमचन्द। प्रेमचन्द ने उपन्यास का सारा आधार, रूप, शैली सब कुछ परिवर्तित कर डाला। प्रेमचन्द उर्दू-साहित्य में लघु-कथाओं के उन्नायक होने के साथ, उपन्यास साहित्य के भी वे मार्गदर्शक हैं। आज तक साहित्य मनोरंजन के लिए होता था या किसी विशेष ध्येय को लेकर लिखा जाता था। उसकी सारी पृष्ठभूमि को प्रेमचन्द ने परिवर्तित कर डाला और उसे एक सामाजिक दिशा प्रदान की। उन्होंने विविध व्यक्ति और विविध जीवन को प्रत्येक दृष्टिकोण से देखा, उसका चित्रण किया और उसे एक समाधान देने का भी प्रयास किया। उन्होंने साहित्य की दृष्टि को व्यापक बनाया और इस मान्यता का सूत्रपात किया कि साहित्य केवल बड़ी और महत्व की घटनाओं के लिए ही नहीं है, जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को भी उसमें स्थान दिया जाना चाहिए। वे अपने समय की गति, दिशा और परिवर्तनों से पूरी तरह परिचित थे और उनमें गहरी अभिरुचि रखते थे। भारत की परिस्थितियों के तीव्र परिवर्तन की बौद्धिक और सामाजिक पृष्ठ भूमि को अनुभव करते थे। इसीलिए लगभग ४०० कहानी और चौदह उपन्यास लिखने के अनन्तर उनकी लेखनी सतत सृजनशील ही नहीं रही, अपितु उनकी लेखनी उत्तरोत्तर प्रखर और प्रशस्त भी होती गई। जैसे जैसे उनकी आयु, अध्ययन और अनुभव बढता गया, वैसे वैसे उनके साहित्य में प्रौढ़ता और गहनता आती गई। पर वे अपने पाठकों और समाज के दृष्टिकोणों का भी पूरा विचार रखते थे। और अपनी त्रुटियों को बड़ी सरलता से स्वीकार कर लेते थे। उनकी विचार दृष्टि जहाँ प्रगतिशील थी, वहाँ गहन और प्रतिभाशाली थी। वे समाज से कभी विमुख नहीं रहे। और अपने व्यक्तित्व और जीवन के प्रति कर्तव्य और समस्याओं के प्रति वे सदा सजग रहे। उनके उपन्यासों को समझने के लिए उनके निजी जीवन, परिवार और पृष्ठभूमि और उनके तत्कालीन जीवन के इतिहास को भी समझना आवश्यक है। वे एक परतन्त्र राष्ट्र में स्वतन्त्र रहने की उत्कट कामना लेकर जन्मे थे। उनकी विशेषता मुख्यतः इस बात में थी कि वे साधारण से साधारण व्यक्ति के मनोविश्लेषण को भी निजत्व के साथ समझ सकते थे। वे अपने साहित्य में बुराई का विरोध करते थे, पर बुरे व्यक्ति के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति थी और बुराई और बुरे व्यक्ति के प्रति उनका दृष्टिकोण निराशा और कुण्ठा का नहीं था। उनका दृष्टिकोण सामान्य व्यक्ति और जीवन के प्रति बड़ा व्यापक और सहानुभूतिपूर्ण और प्रखर था। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को अपने मन और समाज के साथ इतनी निकटता, सबलता, और सहजता से प्रस्तुत किया कि उस काल के ही नहीं, आज के साहित्यिक भी उन्हें अपना अग्रगण्य मानते हैं। उनका जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण सीमित अथवा विशिष्ट नहीं था, अपितु वे जीवन को प्रत्येक दृष्टिकोण से देखते थे।

आधुनिक काल में प्रगति के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। शायद यही कारण था कि लखनऊ में प्रगतिशील लेखकों ने प्रेमचन्द को अपना नेता माना। उर्दू में प्रगतिवाद सज्जाद ज़हीर और उनके साथियों द्वारा आया, इनसे पूर्व भी कुछ लोग हमारी प्रचलित रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे, जिनमें नियाज़ फ़तेहपुरी और काज़ी अब्दुल गफ्फ़ार विशेष उल्लेखनीय है। नियाज़ १८८७ ई० में पैदा हुए और साहित्य में अपनी नास्तिकता के कारण नवयुवकों में बड़े प्रिय हो गए थे। इनका एक लघु उपन्यास "शहाब की सरगुजस्त" कला के दृष्टिकोण से उतना महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु इसने लेखकों के पूरे दृष्टिकोण को एक नया मोड़ दिया। इसी से इसका विशेष महत्व है। वे निबन्ध और समीक्षा के श्रेष्ठ लेखक थे। यदि उनके समय में किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है तो वह पुस्तक "लैला के ख़तूत" है। काज़ी साहब १८८८ में पैदा हुए और गत जनवरी' ५६ में उनकी मृत्यु हो गई। काज़ी साहब की साहित्यिक प्रतिभा बहुमुखी थी। "लैला के ख़तूत" की पृष्ठभूमि युगचेतना की एक शक्तिशाली प्रतीक है। इस उपन्यास के अतिरिक्त उनका अन्य कोई उपन्यास इतना उत्कृष्ट नहीं बन सका। सज्जाद ज़हीर एक लघु उपन्यास द्वारा अपने ध्येय की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने धर्म और समाज के प्रति विरोधाभासात्मक दृष्टिकोण लेकर एक लघु उपन्यास "लन्दन की एक रात" लिखा। इस उपन्यास में मानव जीवन को व्यापक रूप से परिवर्तित कर डालने की प्रेरणा मिलती है। इस उपन्यास के लिखने के बाद सज्जाद ज़हीर राजनीति में आ गए। किन्तु उनकी पुस्तक ने लोगों को बड़े स्तर पर प्रभावित किया। किशनचन्दर,

इस्मत चुग़ताई कुर्रतुल ऐन हैदर, ए० हमीद आजकल के उल्लेखनीय लेखक हैं। किशनचन्दर का महत्व उसकी भाषा के कारण विशेष रूप में है। उसकी भाषा में चित्रण, भाव का उभार अधिक है और काश्मीर का अंकन उसमें इतनी सजीवता और सहजता से किया गया है कि काश्मीर उसके साहित्य में अमर हो गया है। इस्मत चुग़ताई, उर्दू-साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ हास्यकार अज़ीम बेग चुग़ताई की बहन है। इनकी भाषा में चापल्य विशेष रूप में है। 'टेढ़ी लकीर' नामक इनका उपन्यास प्रसिद्ध है। इन्होंने छात्राओं के जीवन का चित्रण अधिक किया है।

कुर्रतुल ऐन हैदर अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा में पली है। कहना चाहिए कि वे अंग्रेज़ी में सोचती हैं, उर्दू में लिखती हैं। उनकी शैली अस्त-व्यस्त होते हुए भी प्रिय हुई है। उनके उपन्यास "मेरे भी सनमख़ाने" और "शफ़ी नए ग़मे दिल" अधिक प्रसिद्ध है। हमीद कृशनचन्दर से प्रभावित है किन्तु उनकी एक विशेषता है कि उन्होंने पर्यटनात्मक उपन्यासों का सृजन पटुता और सुन्दरता से किया है। इनका उपन्यास "फ़ील और कमल" बड़ा लोकप्रिय है। और संभावना है कि, हमीद के साहित्य में अभी और भी प्रौढ़ता और सजीवता प्राप्त होगी।

यदि हम-उर्दू उपन्यास की समस्त परम्परा पर एक विहंगम दृष्टि डालें और विवेचनात्मक दृष्टिकोण तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण से उस पर अनुशीलन करें तो हमें इस बात का अनुभव तीव्रता से होगा कि उर्दू उपन्यास अभी न केवल अपनी आरंभिक अवस्था में ही है, उसमें शैली, भाषा, विषय, भावों आदि की भूमि पर विभिन्न प्रकार से प्रयोग निरंतर चल रहे हैं। कहना यों चाहिए कि उर्दू-उपन्यासों को अभी सैद्धान्तिक विशदता और स्थिर एवं व्यापक सम्यक् दृष्टि की निरन्तर अपेक्षा है। उर्दू लघु-कथा और उर्दू-उपन्यास को तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाए तो साहित्य का प्रथम अंग न केवल सुस्थिर ही हो गया है, अन्य भारतीय लघु-कथा साहित्य की तुलना में स्पृहणीय बन गया है। सूत्र रूप में उर्दू उपन्यास की परम्परा दीर्घकालीन होने पर भी स्फुट रही है, तथा असंदिग्धतः ही अभी भी उसकी स्थिति प्रयोग और प्रारम्भ की है।

लेक्चरार, उर्दू, महिला-महाविद्यालय,
हैदराबाद दक्षिण

—ज़ीनत साजिदा

अमीर होने का नुस्ख़ा

पिछली शताब्दी के मध्य में हंगरी में एक कवि हुए हैं जिनका नाम सैंडूर पैटोफ़ी था। उनकी आर्थिक अवस्था बहुत ख़राब थी। कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती थी कि उनकी जेब में एक पैसा नहीं रहता था।

एक बार उन्हें टिसज़ा नदी के पार जाना था। नाविक को देने के लिए उनकी जेब में कसम खाने को भी एक पाई नहीं थी। उन्होंने नाविक से बड़े विनय से कहा : "नाविक! भगवान् के नाम पर मुझे मुफ़्त पार ले चलो। पार पहुँचने के पश्चात् मैं तुम्हें राज़ में एक ऐसा नुस्ख़ा बतलाऊँगा जिससे कि तुम अमीर हो जाओगे।" कुछ तर्क-वितर्क के पश्चात् नाविक मान गया और उसने अन्य यात्रियों के साथ उन्हें नाव द्वारा बिना कुछ भाड़ा लिए नदी के पार पहुँचा दिया।

पार पहुँचने के पश्चात् उन्होंने गोपनीयता के साथ नाविक के कान में चुपके से कहा : "भद्र पुरुष! मेरी तुमको सलाह यह है कि तुम आगे से कभी मुझे या किसी अन्य यात्री को नाव के द्वारा मुफ़्त नदी के पार मत ले जाओ। यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम अपने जीवन के अन्त तक ऐसे ही निर्धन बने रहोगे।"

—'न्यू हंगरी' से

गिरगिट

तीन दिन से नीलम देख रही है कि उसका पति गोपेश कुछ अनमान-सा रहा आता है। गोपेश का मन उचटा-उचटा सा दीखता है। किसी चिन्ता में डूबा-सा और किसी उलझन में उलझा-सा वह रहा आता है। मानो किसी अज्ञात-सी अन्तर्ज्वाला में वह झुलस रहा हो। नीलम से वह कोई बात नहीं करता। बच्चों से भी वह दूर-दूर ही बना रहता है। दफ़्तर में काम करने वह अवश्य जाता है, उसे जाना पड़ता है। दफ़्तर न जाएगा, तो उसका और उसके परिवार का पेट कैसे भरेगा? लेकिन घर में गोपेश जिस प्रकार गुमसुम-चुप-चुप रहा आता है, दफ़्तर में भी क्या ऐसा ही रहता होगा? नीलम के मन में यह प्रश्न इन तीन दिनों में जाने कितनी बार उठा है, लेकिन गोपेश को छेड़ने का साहस वह नहीं बटोर सकी। दफ़्तर में गोपेश चाहे जैसा रहता हो, इससे नीलम को मतलब नहीं। वह तो इतना-भर जानती है कि गोपेश का अन्तस्तल किसी गहन अवसाद से आजकल अभिभूत है।

दो दिन तक नीलम अपने मन में उठनेवाले प्रश्नों को संयमपूर्वक दबाये रही। एक बार इसी बीच में नीलम ने उसे तनिक छेड़ने की चेष्टा भी की थी। लेकिन कड़ी फटकार सुन कर वह फिर चुप हो गई थी।

दो दिन तक नीलम अपने मन में उठनेवाले प्रश्नों को संयमपूर्वक दबाए रही। एक बार इसी बीच में नीलम ने उसे तनिक छेड़ने की चेष्टा भी की थी। लेकिन कड़ी फटकार सुन कर वह फिर चुप हो गई थी।

आज सबेरे चाय पीते समय गोपेश ने देखा कि उसकी पत्नी नीलम की आँखों से टपाटप आँसू झर रहे हैं। गोपेश को अपने आप पर गहरी खीझ हो उठी। एक क्षण के लिए मानो किसी ने उसे ज़ोरों से झकझोर दिया। उसके अन्तर्मन ने स्वीकार किया कि वह अपने परिवार पर नीलम और बच्चों पर शायद अन्याय कर रहा है। हाँ, अन्याय ही कहना चाहिए। घर के बाहर जो घटनाएँ घट जाती हैं और तज्जन्य झुँझलाहट से हमारा दिल और दिमाग़ यदि विषाक्त हो उठता है, तो हुआ करे; लेकिन परिवार के व्यक्तियों को इस झुँझलाहट का शिकार बना बैठना अन्याय नहीं, तो क्या है?

लेकिन गोपेश भावुक है। भावुकता में वह इतना बह जाता है कि यह सब सोचने-विचारने का विवेक वह खो बैठता है। यह खोया विवेक तभी लौटता है, जब भावुकता की गतिशील धारा किसी अप्रत्याशित-सी चट्टान से जा टकराती और छिन्न-भिन्न हो जाती है। दो दिन तक अपने आप में उलझने और खीझने के बाद आज चाय पीते समय, नीलम की आँखों से टपकते आँसुओं ने ऐसी ही कठोर चट्टान का काम किया है। इस चट्टान से टकरा कर गोपेश की भावुकता छिन्न भिन्न हो उठी है। उसका विवेक अब लौट रहा है। कहा उसने नीलम, तुम "शायद अब तक मुझे समझ नहीं सकीं।"

स्वामी की आँखों में झलक उठे अश्रु-कण देख, नीलम को यह समझते देर न लगी कि किसी गहरी और अप्रत्याशित चोट की पीड़ा से ही वह इतना अभिभूत हैं—इतने उलझे और खोये-से दीखते हैं। ऐसी मनोदशा में यदि गोपेश बात-बात में आज-कल खीझ उठता और गरज उठता है—कड़ी फटकार सुना बैठता है, तो यह स्वाभाविक ही है। संयत वाणी में कहा नीलम ने—"सोलह-सत्रह साल के विवाहित जीवन में भी क्या अब तक कुछ समझना बाक़ी रह जाएगा! लेकिन तुम्हें जब इस प्रकार व्यथित देखती हूँ, तो उस व्यथा को दूर करने के लिए ही मैं तुम्हें बरबस छेड़ बैठती हूँ।"

"यही तो एक ऐसी गलती है जो तुम बराबर किया करती हो, नीलम!" गोपेश ने सम्भवतः कैफ़ियत देते हुए अपनी रानी को आश्वस्त करना चाहा—"मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि जब मैं अपने-आप में उलझा रहता हूँ, तब तुम मुझसे कुछ न कहा करो। मैं जानता हूँ कि मेरी मानसिक पीड़ा कम करने के लिए ही तुम ऐसा करती हो, लेकिन मैं अपने मन पर नियन्त्रण जो नहीं कर पाता और इस सबका दुष्परि

णाम तुम्हें ही भोगना पड़ता है। कभी-कभी सोचता हूँ कि इस जीवन में अगणित बार मैंने तुम्हें अकारण ही दुःखी किया है। अपनी पीड़ाओं से छटपटा कर तुम्हें भी पीड़ित किया है, लेकिन यह सब मेरे मन की अनियन्त्रित दशा में ही हुआ है। मानसिक पीड़ा के ज्वार पर तिरते समय किसी की अच्छी बात भी तो मैं सुनना नहीं चाहता—सुन नहीं पाता।"

"और, मैं इसीलिए तुम्हें ऐसे क्षणों में छेड़ बैठती हूँ कि सम्भव है मुझ पर गरज-बरस कर ही तुम अपनी मानसिक पीड़ा से छुटकारा पा सको।" और पान के बीड़े तैयार करने लगी नीलम।

"नारी वास्तव में त्याग और सहनशीलता की प्रतिमा होती है, नीलम!" गोपेश ने नीलम की बात से आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव करते हुए कहा—"तुम जैसी पत्नी पा कर किसे सुख न होगा? लेकिन मुझ जैसा भावुक पति तुम्हें चाहे जब दुःखी करता रहता है। स्वभाव की बात जो ठहरी! चालीस के निकट पहुँच रहा हूँ। अब इस स्वभाव को बदल भी तो नहीं सकता।"

"स्वभाव बदलने की आवश्यकता ही क्या है?" नीलम ने पान के दो बीड़े गोपेश को देते हुए कहा—"मैं तो आदी हो चुकी हूँ इस सबकी।" फिर, एक क्षण रुक कर नीलम ने लक्ष्य-भेद करते हुए पूछा—"यह तो बताओ, इस बार तुम्हें इतना मानसिक कष्ट किस दुष्ट ने पहुँचाया है?"

"जिसे हम बड़ा शालीन और बुज़ुर्ग समझते थे।" गोपेश ने पान के बीड़े चबाते हुए कहा—"उस चोटी वाले गोकुल पंडित को तो तुम जानती हो न, जो हमारे यहाँ सत्यनारायण की कथा बाँचने आया था।"

"हाँ हाँ, जानती क्यों नहीं हूँ!" नीलम ने कहा—"इस मुहल्ले में घर-घर का पंडित वही है न! सारा मुहल्ला जानता है उसे। सुनते हैं, बड़ा ज्ञानी-ध्यानी है वह पंडित, लेकिन इस पंडित ने तुम्हें कष्ट पहुँचाया है, यह सचमुच आश्चर्यजनक है। क्या हुआ आख़िर?"

"पण्डित ने तो नहीं, लेकिन उसके आचरण ने मुझे कष्ट पहुँचाया है, नीलम! गोपेश ने कहा—ऊपर से ज्ञानी-ध्यानी दीखने वाला यह पण्डित कितना मक्कार है, यह जान कर तुम दाँतों तले अंगुली दबा लोगी।"

"तो यह कहो कि रंगा सियार है यह गोकुल पण्डित?"

"रंगा सियार!" गोपेश ने दोहराया, फिर कहा "सचमुच यह पण्डित रंगा सियार है।"

"कुछ तो मैंने भी पड़ोस की सहेलियों से इसकी मक्कारी सुन ली है।" नीलम ने कहा "सुनते हैं बड़ा घाघ है यह पण्डित। नित्य गंगा नहाने जाता है, घण्टों पूजा-पाठ करता है और यजमानों से कभी अकड़ता नहीं। जिसने जो दिया चुपचाप ले लिया। लेकिन एक दुर्गुण उसके स्वभाव में है। दूसरों की निन्दा, चुग़लखोरी और बुराई किए बिना उसे खाया अन्न नहीं पच सकता। कितने ही लोगों को वह अपनी इसी आदत का शिकार बना कर आपस में लड़ा चुका है। लेकिन यह तो बताओ कि उसने क्या कष्ट दिया और क्यों दिया?"

"तुम फिर भूल रही हो नीलम!" गोपेश ने अपनी पत्नी से इस पण्डित की इतनी सारी विशेषताएँ सुन कर कहा पण्डित ने नहीं उसके कृत्यों ने मुझे पीड़ा पहुँचाई है।

"किसी की फ़रेबी और मक्कारी से तुम नाहक दुःखी होते हो?" नीलम ने कहा: "सारा मुहल्ला जानता है कि गोकुल पण्डित शैतान है। एक-दूसरे को लड़ाना ही उस कलयुगी नारद का काम है, फिर उसके कृत्यों से तुम क्यों परेशान होते हो?"

"बात ही ऐसी है, नीलम।' गोपेश ने अब शायद वास्तविक कहानी सुनाते हुए कहा: "डॉक्टर रमेश से हमारा कितना घरोबा है। उनकी लड़की बुलबुल को भी तुम जानती हो। कालेज में पढ़ रही है वह। बुलबुल को संस्कृत पढ़ाने के लिए डाक्टर रत्नेश ने किसी बुज़ुर्ग विद्वान् का नाम मुझ से पूछा था। मैंने इसी गोकुल पंडित का नाम बतला दिया था, और इसे वहाँ बुलबुल को एक घण्टा नित्य पढ़ाने का काम भी दिला दिया था। पच्चीस रुपए दे रहे थे डाक्टर इस पंडित को। लेकिन..." कहते-कहते गोपेश रुक गया।

"लेकिन क्या हुआ?" नीलम ने आश्चर्य से भर कर कहा—"कोई अनपेक्षित काण्ड..."

"नहीं नहीं!" गोपेश ने बीच में ही नीलम को टोकते हुए कहा—"ऐसी कोई बात नहीं हुई, जो डाक्टर रत्नेश अथवा बुलबुल के लिए अप्रिय कही जा सके।

लेकिन जो कुछ हुआ है, वह गोकुल पंडित को रंगा सियार सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।"

"अरे, आज तुम इस प्रकार पहेली क्यों बुझा रहे हो?" नीलम ने कहा—"आखिर बतलाते क्यों नहीं कि बात है क्या?"

"तुम बीच-बीच में प्रश्न ही ऐसे कर बैठती हो कि वास्तविक बात सामने ही नहीं आने पाती। अच्छा, अब सुनाता हूँ वह कहानी, जिसके कारण मुझे मानसिक चोट पहुँची है। परसों जब मैं दफ्तर से लौट रहा था, घराटाघर के निकट, चौराहे से सटे हुए मैदान में गोकुल पंडित तीन ग्रामीणों के साथ खड़े बातचीत कर रहे थे। मुझे देखते ही पंडित ने अपने पास बुला लिया। इच्छा न रहते हुए भी मुझे उनके पास जाना पड़ा।

"मैंने निकट जाकर देखा, तीन हट्टे-कट्टे ग्रामीणों के बीच खड़े गोकुल पंडित वैसे ही दयनीय दीख रहे थे, जैसे कोई भीरु मानव यमदूतों से घिर जाने पर दीखता है। लेकिन मुझे अपने पास देख, पंडित की मुद्रा पर अचानक ही प्रसन्नता की एक क्षीण रेखा भी बनती मिटती दीख पड़ी। मेरी समझ में न आया कि डूबते को जिस प्रकार तिनके का सहारा भी बड़ा प्रतीत होता है, उसी तरह इस पंडित को मेरी उपस्थिति से क्या लाभ हुआ। मैंने पूछा—"कहिए पंडित जी, सब कुशल मंगल है न!"

"क्या कहूँ, गोपेश बाबू!" गोकुल पंडित ने एक हाथ से अपनी चोटी को तनिक खड़ी करते हुए कहा—"आप बड़े मौके से आ पहुँचे। तनिक इन लोगों की ज़बरदस्ती तो देखिए, कहते हैं मैं बड़ा पापी हूँ।"

पंडित अपनी बात पूरी कह भी नहीं सका कि उन तीन ग्रामीणों में से एक ने गोकुल पंडित का एक हाथ अपने दोनों हाथों से कस कर दबाते हुए कहा—"पंडित, तुम अपनी हरकत से अब तक बाज़ नहीं आ रहे हो! मैं तो इन बाबू साहब को जानता नहीं, लेकिन ये भी जब तुम्हारी हरकत सुनेंगे, तो तुम्हें सौ गालियाँ देंगे।"

"मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मामला क्या है। मैंने उस ग्रामीण की लाल-लाल आँखों से इतना अनुमान अवश्य कर लिया कि मामला संगीन है। इसीलिए मैंने उस ग्रामीण से कहा—"क्या बात है, भैया! इन पंडित से कोई ग़लती हो गई क्या?"

"मेरी यह बात सुनते ही उस ग्रामीण की लाल-लाल आँखों में भी एक सन्तोष की छाया झलक उठी। उसे शायद यह विश्वास हो गया कि मैं किसी अन्याय का समर्थन कदापि न कर सकूँगा। कदाचित् इसीलिए उसने मेरी ओर मुख़ातिब होते हुए कहा—"बाबू साहब ग़लती तो अनजाने होती है! जान-बूझ कर की जाने वाली हरकत को ग़लती कौन कहेगा? मैं पूछता हूँ कि यह पंडित साठ के आस-पास पहुँच चुका है, फिर भी किसी विधवा को पथभ्रष्ट करने और उसे अपने साथ भगा लाने में उसे लज्जा नहीं आती? गिरगिट कहीं का!"

मैं यह सुनते ही स्तब्ध रह गया। अभी एक सप्ताह भी नहीं बीता कि एक दिन गोकुल पण्डित को घिरे देख कर और ग्रामीण से उक्त बात सुन कर मुझे सारा रहस्य समझते देर न लगी। मैं अपनी कोई जिज्ञासा शान्त करने के लिए कुछ और पूछूँ कि इसी बीच में गोकुल पण्डित नम्रता से बोल उठे "आप मेरी भी कोई बात सुनेंगे या अपनी ही बके जाएँगे?

"सुन ली तुम्हारी बात।" दूसरा ग्रामीण कह उठा: "अरे, तुम यही कहोगे न कि वह विधवा नाबालिग़ नहीं है। राज़ी-खुशी से वह तुम्हारे साथ भाग आई है, अथवा यह कि पुलिस में इस सब की रिपोर्ट भी बाक़ायदे दर्ज करा चुके हो?

"फिर वही बात!" गोकुल पण्डित ने नम्रता की मूर्ति बनते हुए कहा: "आप अपनी बात के आगे मेरी कुछ सुनना ही नहीं चाहते। जब उस विधवा ने ग़रीबी का दुखड़ा रोया, तो मैंने कह दिया कि तुम ब्राह्मणी हो, मेरे लिए कम-से-कम रोटियाँ पका कर के तो दे ही सकती हो। मैं ठहरा बूढ़ा और अकेला। चार घरों में पाठ भी करना पड़ता है। नित्य ही देर-अबेर होती है। तुम चाहो तो मेरे साथ शहर चल सकती हो। मैं तुम्हें खाना कपड़ा दिया करूँगा और तुम्हारी मात साल की जो लड़की है उसका विवाह भी कहीं अच्छे घर में कर दूँगा। आखिर इस दुनिया में मेरा है ही कौन! जो कुछ थोड़ा-बहुत कमा सका हूँ, तुम्हारी लड़की को ही दे डालूँगा। उस विधवा ने भी दूसरों की चक्की पीसने और मेहनत मज़दूरी करने से मेरे साथ रहना ठीक समझा और चली आई। अब बताइए, इसमें मेरा क्या दोष है?" और गोकुल पण्डित ने मेरी ओर आशापू

दृष्टि से देखा।

"दोष" दूसरे ग्रामीण ने कड़क कर कहा—"तुम्हारा दोष यही है कि तुम चुपचाप उसे अपने साथ भगा ले आए। सोचा होगा, हम गाँववाले शहर में तुम्हारा पता-ठिकाना भी शायद न खोज सकेंगे। लेकिन कैसा पकड़ा तुम्हें बीच शहर में। फिर एक क्षण रुक कर कहा उसने "भले मानुष, तुम जानते हो कि यह विधवा हमारे कुटुम्ब की है। हम लोगों से इस मामले में कुछ पूछताछ कभी करने की तुमने जरूरत न समझी? तुमने हमारी नाक काट ली। हमें कहीं का न रहने दिया। फिर मेरी तरफ़ मुखातिब होकर वह ग्रामीण कहने लगा: "बाबू साहब, आप ही कहिए कि विधवा-विवाह भी तो कर सकता था यह पण्डित! उसकी लड़की का ब्याह करेंगे, उसे खाना-कपड़ा देंगे। बड़े धर्मात्मा हैं न?"

मैं कुछ कहूँ कि इसके पहले ही तीसरे ग्रामीण ने पण्डित की लम्बी खड़ी चोटी पकड़ कर चार-पाँच मुक्के तमाचे रसीद करते हुए कहा "मक्कार कहीं का रंगा सियार। दुनिया को धोखा देना चाहता है। जो हुआ है उसे तो अब मिटाया नहीं जा सकता। लेकिन अब तुम्हें हम लोगों के साथ आज ही हमारे गाँव चलना होगा। उस विधवा को भी साथ लेकर। गाँव में चल कर तुम्हें उसके साथ खुले आम विधवा विवाह-करना पड़ेगा। हम लोगों के रहते, तुम हमारे कुटुम्ब की किसी विधवा को इस प्रकार चुपचाप अपने घर में नहीं रख सकते।"

"अरे, गोकुल पण्डित को वे लोग हाथ पकड़ कर उसके घर की तरफ़ ले गए। मैं मूर्ति की तरह खड़ा रहा। यद्यपि गोकुल पण्डित ने मुझे इसी आशा से पुकारा होगा कि मैं उसका पक्ष समर्थन करूँगा। लेकिन उसका छल देख कर मैं स्तब्ध रह गया। मैं उनके बीच में कुछ न बोला। पंडित को शिकायत होगी कि ग्रामीण उस पर गरजते-बरसते रहे लेकिन मैंने कोई बीच-बचाव न किया।"

"तुमने और उन ग्रामीणों ने ठीक ही किया।" नीलम ने सारी कहानी सुन कर कहा—"ऐसे धूर्तों और मक्कारों को यही सज़ा मिलनी चाहिए। लेकिन इस घटना से तुम इतने अभिभूत क्यों हो उठे कि तीन दिन से इतने उचटे उचटे और खोए खोए से रहे? अरे, उस विधवा का तो उद्धार ही हुआ न? विधवा-विवाह हो जाने पर दुनिया उसे लांछित तो न कर सकेगी।"

"अरे, तुम इतना भी नहीं समझतीं नीलम, कि गोकुल पंडित के इस कृत्य से डाक्टर रत्नेश की दृष्टि में मैं कितना गिर जाऊँगा। वह क्या कहेंगे यह सब सुन कर? यही न कि बुलबुल को संस्कृत पढ़ाने के लिए पण्डित को नियुक्त कराया वह कैसा लम्पट और रंगा सियार निकला। गोकुल पंडित की चरित्रहीनता का यह ख़ासा प्रमाण जो है। खूसट कहीं का।"

उसकी इस हरकत पर मुझे इसीलिए पीड़ा हो रही है कि एक परिचित मित्र डाक्टर रत्नेश की पुत्री बुलबुल के लिए मैंने जिसे संस्कृत पढ़ाने के लिए नियुक्त कराया, वह इतना लम्पट निकला। समझ में नहीं आता कि डाक्टर रत्नेश से भेंट होने पर किन शब्दों में कैफ़ियत दूँगा उन्हें?"

"कैफ़ियत देने की तो कोई बात ही नहीं।" नीलम ने कहा: "जाकर उन्हें साफ़ साफ़ कह दो कि जिस गोकुल पण्डित को मैंने बुजुर्ग, शालीन और धर्मात्मा समझा था, वह रंगा सियार, मक्कार और चरित्रहीन निकल गया। वह अपने समाज को और परिचितों को धोखा देकर किसी विधवा को अपने ऐशो आराम के लिए दूर देश से भगा कर ले आया है। अब उसे डाक्टर रत्नेश अपने घर में कभी भूल कर न फटकने दें, उसकी छाया से भी बुलबुल को दूर रक्खें।

"ठीक कहती हो नीलम" गोपेश ने कहा: "अभी बिगड़ा ही क्या है। विधवा विवाह करके अब तक गोकुल पण्डित लौटा भी तो नहीं है। मैं अभी जाकर डाक्टर रत्नेश को उसकी हरकत सुनाए देता हूँ। दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति के सदाचारी होने की आशा हम क्यों करें?" और गोपेश अपने कपड़े पहन कर तत्काल चला गया।

६४, कर्नलगंज,
इलाहाबाद

—देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

कला-चर्चा

कला की व्यावहारिकी शिक्षा : एक दृष्टिकोण

व्यक्ति की सभ्यता का स्तर अर्थ-समाज-शास्त्र के अतिरिक्त सौन्दर्यपरक भावनाओं से भी जाना जाता है। सौन्दर्यपरक प्रवृत्ति और अभिरुचि सृजनात्मक कला में सन्निहित है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाए तो भारत का अतीत अपनी सौन्दर्य-प्रवृत्तियों में गौरवपूर्ण रहा है। भारतीय स्थापत्यकला और चित्रकला का इतिहास लगभग पाँच हज़ार वर्ष प्राचीन है। अतीत में भारत की चित्रकला पूर्ण विकसित और समृद्ध थी; उस समय कला की शैलियाँ विविध और समुन्नत थीं। भारतीय इतिहास के मध्य काल में स्थापत्य कला का कार्य असाधारण रहा है। किन्तु ललित कला की यह गौरवपूर्ण परम्परा क्रमबद्ध ही रही हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता और ललित कला के क्षेत्र में यह क्रमहीनता हमें आज भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है—हमारा अभिप्राय है कि हमने अपनी गौरवपूर्ण कला परम्पराओं को समुचित रूप में संरक्षण नहीं दिया और उन्हें नष्ट हो जाने दिया। किन्तु इस सम्बन्ध में एक तथ्य प्रत्यक्ष और उल्लेख्य है और वह यह कि आधुनिक काल में हमने अनेक उत्कृष्ट कला-सम्बन्धी और सांस्कृतिक कार्यों को विकसित किया है; यह कोई साधारण बात नहीं है। हमारी इस नई गतिविधि ने हम पर असाधारण प्रभाव डाला है और हमें कला के क्षेत्र में सम्यक् दृष्टि से क्या-कुछ करना चाहिए, नई गतिविधि इस ओर भी व्यापक रूप में हमें निर्देश करती है।

सन् १९४९ ई. में भारतीय शिक्षा मन्त्रालय के तत्वावधान में आयोजित कलकत्ता कला परिषद् ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया था :

"इस परिषद् की धारणा है कि सामान्य जनता की सौन्दर्य और कला के प्रति अभिरुचि का ह्रास तीव्र-गति से होता जा रहा है और कला का यह व्यापक ह्रास विचारणीय है। कला की परम्परागत पद्धति का समावेश सामान्य शिक्षा में किया जाना चाहिए।"

हम देखते हैं कि देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पुनरुत्थान की ओर तो बड़े स्तर पर ध्यान दिया गया, मगर कला-प्रवृत्तियों के विकास के लिए नगण्य से ही प्रयास किए गए। बंगाल स्कूल के कलाकारों ने कला की प्राचीन परम्पराओं को पुनर्जागृत किया; यह अप्रत्याशित-सी बात है कि हमारे कलाकार पश्चिमीय शैलियों से अधिक प्रभावित हुए। अभी हाल ही हैदराबाद की पन्द्रहवीं अखिल भारतीय ललित कला प्रदर्शिनी का अनावरण करते हुए डा० गुलाम यज़दानी ने कहा था : "उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता तथा अन्य प्रदेशों में कला के विद्यालयों की स्थापना यूरोपीय कलाकारों के संरक्षणत्व में हुई थीं; इस प्रकार भारतीय कला पर पश्चिमीय वातावरण और पद्धति का प्रभाव स्वभावतः अधिक पड़ा। भारतीय कला का सौन्दर्य आन्तरिक अनुभूतियों और भावनाओं की अभिव्यक्ति में निहित है; बाह्याडम्बर उसमें नहीं है।"

इस क्षेत्र का अध्ययन बहुत-कुछ लगन और उदारता चाहता है; परम्परागत और एकेडेमिक दोनों प्रकार की शिक्षा उपलब्ध होनी चाहिए; इस प्रकार कोई व्यक्ति सक्षम कलाकार बन सकता है।

इस समय हम आर्थिक और सामाजिक क्रांतियों के दौर में हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी नए-नए प्रयोगों और पद्धतियों को अपनाने की ओर व्यापक रूप में ध्यान दिया जा रहा है और कला की शिक्षा पर भी समय की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव पड़ रहा है; उसमें भी अवसर और जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन किए गए हैं। कला की शिक्षा को आज राष्ट्रीय सेवा के एक माध्यम के रूप में भी स्वीकार किया गया है। भविष्य में कला की शिक्षा क्या और किस प्रकार की हो, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है।

यदि कला की आधुनिक शिक्षा का आधार हमारी प्राचीन पद्धति पर आश्रित हो तो निःसन्देह

मूलभूत रूप में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। प्राचीन काल में कला के छात्र अपने सुविज्ञ गुरु के पास दीर्घावधि तक शिक्षा ग्रहण किया करते थे और शिक्षा की समाप्ति पर उन्हीं के सान्निध्य में पर्याप्त समय तक कार्य किया करते थे। शिक्षा की यह प्राचीन पद्धति ठोस है और हमारी आज की आवश्यकताओं का सम्भवतः एकमात्र मार्ग है; इस प्रकार तो हम बहुत-कुछ श्रेयस्कर कार्य कर सकेंगे। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि कला की सम्पूर्ण शिक्षा पूर्ण नियंत्रित और अनुशासित भी हो—अभिप्राय है कि हमारी शिक्षा का उद्देश्य हमारी भावनाओं से सादृश्य रखता हो; यह स्मरणीय है कि "बिना किसी नियंत्रण के कला महान् नहीं बन सकती और नियंत्रण बिना समर्पण के सम्पन्न नहीं हो सकता।"

संभवतः यह कहा जाए तो असत्य नहीं होगा कि प्रत्येक व्यक्ति में कला की सामान्य भावनाएँ आन्तरिक रूप में सन्निहित होती हैं; यदि व्यक्ति के बाल्यकाल से ही उसमें कला की अभिरुचि को प्रोत्साहित किया जावे तो बड़ा लाभकर सिद्ध होगा। कला की शिक्षा आरम्भ से ही होनी चाहिए। कला की शिक्षा को संपूर्ण और प्रभावकारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य शिक्षा में उसका स्थान समुचित रूप में हो और यह स्थान आरम्भिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालयीन श्रेणियों तक रहना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा सृजनात्मक प्रवृत्तियों को बड़ा बल प्रदान करेगी और छात्रों को परिपक्व बना सकती है। स्व० डाक्टर टैगोर का कथन था: "चित्रकला एक ईर्ष्यालु महिला के समान है, या तो वह पूर्णाधिकार चाहती है और या फिर कुछ नहीं।" उनके इस निष्कर्ष को कला की शिक्षा के लिए व्यापक रूप से लागू किया जा सकता है। कला की व्यावहारिक शिक्षा में चौखटे का काम विशेष महत्व का है। केवल मात्र कला का माध्यम ही आजीविका प्रदान नहीं कर सकता यह एक वास्तविक तथ्य है।

कला की व्यावहारिक शिक्षा के लिए कलाकारों को शैक्षणिक सुविधाएँ भी उपलब्ध होनी चाहिए ता कि वह सौन्दर्य का भावाङ्कन निश्चिन्त होकर, सहज और निर्दोष रूप से करे; तब प्रत्येक कलाकार एक परिपक्व कलाकार के रूप में तैयार होगा तथा सौन्दर्य का सही-सही मूल्यांकन भी उसके द्वारा हो सकेगा। जहाँ तक कला के विद्यालयों में व्यावहारिक शिक्षा का प्रश्न है, उसके लिए निम्न सुझाव विचारणीय हैं :

प्रतिभाशाली कलाकारों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी भावनाओं और कल्पना का उपयोग उपयोगिता की दृष्टि पर करें। इस प्रकार के कलाकारों को अपनी सृजनशील प्रवृत्तियों को निरन्तर विकसित और क्रियाशील रखना चाहिए। यह तथ्य है कि ललित कला का अध्ययन रटने की दृष्टि से एक अत्यन्त दुष्कर काम है। इस क्षेत्र में तो यह आवश्यक है कि दीर्घावधि तक अभ्यास और साधना की जाए। एक कलाकार बनने के लिए बड़े त्याग की आवश्यकता है; परिश्रम करते-करते दिन, मास और वर्ष निकल जाते हैं, तब कहीं कलाकार बन पाते हैं, कलाकार के लिए यह भी आवश्यक है कि वह कला का कार्य व्यवसाय की वृत्ति को अपने मन में गौण रूप में ही रख कर करें।

कलाकृतियों को बड़े स्तर पर जनता में रुचिकर सिद्ध होना चाहिए। उनकी अभिव्यक्ति सरल और इतनी मार्मिक हो कि सामान्य व्यक्ति पर भी प्रभाव पड़े बिना न रह सके।

कला की लोकप्रियता किन उपकरणों में है, यह कह सकना बड़ा विवादास्पद है। जहाँ तक मूल्यांकन का प्रश्न है, वह विशाल ज्ञान और अनुभव पर ही आधारित होना चाहिए। कला की समालोचना रचनात्मक ही होनी चाहिए, विघटनात्मक नहीं। कला की व्यावहारिक शिक्षा का प्रश्न नवीन शिक्षा पद्धति के लिए बहुत विचारणीय है। कला की नई-नई गतिविधियों के अनुरूप ही कला की शिक्षा में भी परिवर्तन सम्मिलित किये जाने चाहिए। इस प्रकार कला को एक सम्यक्-दृष्टि भी मिलेगी जो सम्भवतः बहुत उपयोगी है।

—विश्वनाथ मुखर्जी

प्रिंसीपल
कला-महाविद्यालय, हैदराबाद

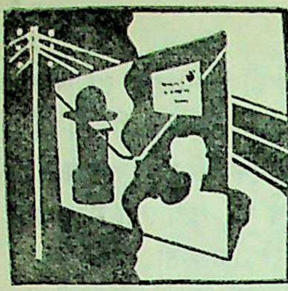

चिट्ठी-पत्री

(१)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

वैसे तो गत ३-४ वर्षों से मैं 'अजन्ता' का नियमित पाठक रहा हूँ। किन्तु गए दिनों रुग्ण-शय्या पर पड़े-पड़े मैंने 'अजन्ता' के समस्त पुराने अंकों को मनन-पूर्वक पढ़ा। 'अजन्ता' के सामग्री-चयन, साज-सज्जा एवं सम्पादन सभी में एक परिष्कार की झलक मिलती है। उसकी ये विशिष्टताएँ इसलिए और भी अधिक गौरव की अधिकारिणी हैं कि उसका प्रकाशन एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र से होता है। 'अजन्ता' के कलेवर को जहाँ वयोवृद्ध एवं तपोनिष्ठ साहित्यकारों की रचनाएँ सुशोभित करती हैं, वहाँ नवोदित प्रतिभाओं की लेखनी से प्रसूत कला-कृतियाँ भी उसके अन्तरंग को सँवारती हैं। 'अजन्ता' के माध्यम से साहित्य के विभिन्न अंग-उपांगों को निरन्तर सम्बल मिलता रहा है। और यही कारण है कि हिन्दी के पत्रकारिता-जगत् में इसने अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व बना लिया है। मैं 'अजन्ता' की सर्वांगीण सफलता की कामना करता हूँ।

साप्ताहिक 'अमर-ज्योति'
जयपुर

—मनोहर प्रभाकर

(२)

'अजन्ता' मेरे साहित्यिक जीवन का पाथेय बन गई है। सच कहता हूँ, अब तो लिखने के बजाए मुझे पढ़ने और चिन्तन करने में ही अधिक आनन्द और सन्तोष का अनुभव होता है।

'अजन्ता' के विविध स्तम्भों में प्रकाशित लेख-सामग्री सुरुचि-संवर्द्धन के साथ जीवन के हर पहलू को निखारती है। सांस्कृतिक चेतना का विकास करना 'अजन्ता' की लेख-सामग्री की विशेषता है।

यद्यपि मैं प्रारम्भ से ही अध्यात्मवादी साहित्य का विद्यार्थी रहा हूँ; फिर भी मेरी जिन्दगी का दर्शन 'अजन्ता' ने मुझे दिया है, इसमें सन्देह नहीं। विश्वनाथ मुखर्जी की कलाकृतियाँ हृदय में अमिट भावों की अमिट रेखाएँ खींचती हैं। पिछले कई अंकों में ऐसी कहानियाँ पढ़ने को मिली हैं, जिन्होंने एकांगी जीवन के विस्तार की सीमारेखा बन कर यथार्थवादी तत्वों का उद्घाटन किया है।

प्रति मास सम्पादकीय विचारधारा और नीर-क्षीर स्तम्भों की चिन्तनधाराएँ निःसन्देह बुद्धि और हृदय को मर्मस्पर्शी प्रेरणा दिया करती हैं। सम्पादन-कला और मुद्रण-कला की दृष्टि से 'अजन्ता' को मैं सर्वश्रेष्ठ पत्रिका समझता हूँ। मेरी बधाइयाँ स्वीकार करें।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,
इलाहाबाद

—रूपनारायण

(३)

पिछले कई अंक देखे। 'अजन्ता' हिन्दी-साहित्य के इने-गिने पत्रों में अपना स्थान रखता है। मार्च अंक में 'हमारी चिन्तना शक्ति' गम्भीर लेख है।

राजभवन, वल्लभभाई पटेल रोड
बम्बई—४

—शी

(४)

'अजन्ता' फरवरी का अंक मिला। अनुगृहीत हूँ।

जब मैं आल इण्डिया रेडियो नई दिल्ली का नियमित कलाकार था तब इसका अवतरणांक भी मिला था। आज यह पत्र अपने सफल जीवन के आठवें बसन्त रूप-विभा निमज्जिनी कलाओं द्वारा पाठकों के मन को रहा है। इस में यौवन का ओज, सौन्दर्य का उभार और लोक रुचि का पुष्कल समावेश है।

पत्र को इतनी उपयोगिताओं से आगे लाने सम्पादक महोदय का भगीरथ परिश्रम चिर अभिनन्

नीय है।

'अजन्ता' के रजत कलेवर में निष्पाप सौन्दर्य है। गठन में कला, अन्तर्गुम्फित विषयों में मंगलमयी संस्कृति का समावेश तथा बाहर-भीतर विज्ञान की दर्शनीय अरुणिमा है। भारतीय पत्र जगत् में इसका अपना स्थान विशेष है।

परम्परागत अन्ध-विश्वासों, पंगुल मर्यादाओं किम्वा दलगत संकीर्णताओं से 'अजन्ता' सुरक्षित रखी गई है। और यही बात इसे उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जा रही है। इसकी सादगी इसका परम आकर्षण है।

'अजन्ता' में कविता और लेखों का चयन हृदय के सत्य के निकट बैठ कर किया जाता है। सम्पादकीय विचारधारा सर्वग्राही है। इससे पता चलता है कि विद्वान् सम्पादक मण्डल को कला से प्रेम, संस्कृति से अनुराग, सत्य से लगाव, लोक शिक्षा और नैतिकता का अधिक ध्यान है। वह भारत के पिछड़े गौरव को आगे लाने में दृढ़ प्रतिज्ञ है। अपनी सहयोगिनी उच्च स्तरीय पत्रिकाओं की न्यूनताओं की पूर्णता का 'अजन्ता' पत्रिका विशेष ध्यान रख रही है।

"विभाजन या पुनर्गठन" शीर्षक टिप्पणी में संपादक महोदय ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे प्रतिष्ठापन्न हैं। तीन ज़कार के साथ चौथे ज़कार [ज़र, ज़मीन और ज़न के साथ ज़बान] का योग नई चेतना का परिचायक है। ज़बान का सार्वभौमिक एवं सार्वमांगलिक होना आवश्यक है। वैदिक संस्कृति में "ओं वाक् वाक्" दो बार कह कर वाणी की पवित्रता एवं शक्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

मराठी लोक गीत 'पवाड़े और लावनियां' मराठों के शौर्य का परिचय देती हैं। वे जन जीवन के पतन से उठ कर अभ्युदय की ओर ले जाने की लोरियाँ हैं।

प्राणवन्त और माधुर्यमयी कविताएँ चाहे प्रतीची के क्रोड में बैठ कर रची जाएँ चाहे प्राची के, वे ही हैं जो शरीर के अचेतन भाग में भी सजगता ले आवें।

'अजन्ता' का विद्वान् सम्पादक मण्डल आज एक अनुकरणीय कार्य कर रहा है और वह यह कि वर्ग वाद अथवा संस्थाओं से दूर प्रतिभा को अन्दर से ढूँढ कर बाहर प्रकाशन में ला रहा है जिसके लिए हिन्दी जगत् उसका एक दिन तो आभार स्वीकार करेगा ही।

अन्त में मैं 'अजन्ता' के परिवार, लेखक एवं हितैषियों के प्रति मंगल भाव प्रकट करते हुए संपादक मण्डल को बधाई देता हूँ।

नरेन्द्रनगर,
टिहरी-गढ़वाल

—कमल साहित्यालंकार

(५)

'अजन्ता' के फरवरी अंक के आलोचनात्मक लेखों में मुझे सबसे सारगर्भित लेख सौमित्र द्वारा लिखित 'हिन्दी कविता की नई विचारदृष्टि' लगा। इधर पत्र-पत्रिकाओं में नई कविता की वस्तु और अभिव्यंजना शैली को लेकर काफ़ी चर्चा हो रही है। हिन्दी कविता में वस्तुनिष्ठ विचारदृष्टि और व्यक्तिनिष्ठ विचारदृष्टि अलग-अलग नुक्तों पर दिखाई देती हैं। दोनों ही कविता को नहीं रहने देती सिर्फ़ नवीनता का आग्रह दुराग्रह मात्र है। उसमें काव्यरस एवं अनुभूति का होना नितान्त आवश्यक है।

कर्तारसिंह दुग्गल की 'ऊपर की मंज़िल' रचना मन को छूती है व्यक्ति की भावना का उतार-चढ़ाव बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। कमलेश्वर की 'अस्तित्व की माँग' कहानी अच्छी है।

विश्वनाथ मुखर्जी द्वारा लिखित 'इन्द्रनाथ' स्वर्गीय शरच्चन्द्र का एक मनोरंजक संस्मरण अत्यन्त रोचक है। ऐसी सामग्री यदि और दे सकें तो अच्छा होगा।

मार्च के अंक में वंशीधर विद्यालंकार की "छोटी-सी बूँद" कविता अच्छी लगी।

साहित्य के विकास के साथ-साथ समीक्षा-पद्धति का रूप भी बदलता जाता है और बदलना चाहिए, समीक्षा को सम्यक् दृष्टि की सदैव अपेक्षा रहती है—इस प्रश्न को उठाकर ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर का 'हिन्दी समीक्षा की परम्परा' लेख पठनीय है।

'अजन्ता' हिन्दी भाषा के साहित्य के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य पर भी ध्यान देता है उसका यह कार्य सराहनीय है।

१८ बी. टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

—बिन्दु अग्रवाल

(६)

'अजन्ता' बराबर मिलती आ रही है, इसके लिए धन्यवाद। फरवरी तथा मार्च के दो अंक मेरे सम्मुख

है। हिन्दी में कविताएँ सबसे अधिक लिखी और छापी जाती हैं। हर पत्रिका में पाँच सात कविताओं का होना प्रायः निश्चित है। पर यदि मैं कहूँ उनमें से अधिकांश अधकचरी, जर्जर बालू के ढेर की तरह होती हैं तो अतिशयोक्ति न होगी। इन अंकों में प्रकाशित कविताओं में से एक भी मेरे मन के स्तर को नहीं छू सकी है। लगता है जैसे सभी कवि सम्मेलन Cult को लेकर लिखी गई हैं—अतिरंजित वासनाओं एवं पलायनवाद से अनुप्राणित। एक दो को छोड़ शेष सब लचर, एकांगी, कुण्ठित और पुनरावृत्ति के दोष से युक्त हैं, Artificial line से मुखरित। कविता एक पवित्र जीवित आत्मनिष्ठ वस्तु है, जिसमें आत्मसंवेदन, अनुभूति चिन्तन के बिना प्रभाव की गुंजाइश नहीं। यों हिन्दी में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, अज्ञेयवाद आदि की भरमार है पर ईमानदार कवि एक भी नहीं। सभी किसी न किसी खेमे के अनुयायी हैं। इसीलिए मौलिक चिन्तन और सहज अभिव्यक्ति की कमी है। हर कवि अपने साथ एक वाद लेकर चलता है। हिन्दी के एक कवि एवं प्रसिद्ध गीतकार, मरघटवाद के प्रणेता है, यह मजाक नहीं तो और क्या है! मेरा अनुरोध है आप अपनी पत्रिका में, केवल उन्हीं कविताओं को स्थान दें जिनमें कुछ विस्तार, आत्मचिन्तन, स्थायित्व हो। विश्व-साहित्य की कुछ अच्छी कविताओं के अनुवाद भी दिए जाने चाहिएँ।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के लेख में नवीनता तो कुछ नहीं है। दूसरे लेख महत्व के हैं, विशेषतया दक्षिण भारत के साहित्य की रूपरेखा के विषय में। आज हमें अन्तर-प्रान्तीय साहित्य, उसके मूलस्रोतों के सामञ्जस्य, उसके आदान-प्रदान की कितनी आवश्यकता है, यह दुहराने की बात नहीं। इस विषय में और अधिक ठोस कदम उठाने चाहिए।

एक सुझाव और है। नीग्रो, स्पेनिश, दक्षिण अमरीकी साहित्य के बारे में भी लेख लिखवाए जाने चाहिएँ। 'कला-चर्चा' के स्तम्भ में विदेशी चित्रकारों, उनकी प्रवृत्तियों के विषय में भी यदा कदा कुछ दिया जा सकता है।

आपके सम्पादकीय निष्पक्ष ठोस और विचारपूर्ण होते हैं। उसमें सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रश्नों पर भी लिखा जाना चाहिए, केवल हिन्दी या राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर ही नहीं।

अन्त में मुझे उस दिन की प्रतीक्षा है जब हिन्दी की पत्रिकाएँ लाखों की संख्या में प्रसारित होंगी और उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थान मिल सकेगा—सरकारी कृपा से नहीं, हम सभी पाठकों, साहित्यकारों के अनवरत परिश्रम से, सहयोग से।

पुरुषोत्तमनगर,
इलाहाबाद

—जगदीशचन्द्र

(७)

कहा है "जस जस भीगे कामरी तस तस भारी होय।" 'अजन्ता' को प्रौढ़ता प्राप्त होती जा रही है इसमें सन्देह नहीं। मार्च अंक में "छोटी-सी एक बूंद" कविता में गहन दार्शनिक तत्व को सुगमता से सँजोया गया है जिसे इस तरह सँजोना असाध्य तो नहीं पर कठिन अवश्य है। सात्विक साहित्य के सम्बन्ध में पूज्य चतुर्वेदी जी ने एक नया प्रश्न हिन्दी प्रकाशकों और लेखकों के लिए रखा है, जो विचारणीय होने के साथ ही साथ हमारे साहित्य के आज की आवश्यकता पर पूरा प्रकाश डालता है। हम भी आशा करते हैं कि इस ओर कम से कम आप की पत्रिका में अवश्य ही कुछ कार्य होगा। कमल जोशी की कहानी भी विशेष ज़ोरदार नहीं रही है। विमला बांठिया का नाटक संवेदनशील होने के साथ ही साथ रोचक भी है उसमें सट्टे खेलने वालों के घर का चित्रण सुन्दर किया गया है और पात्रों के चरित्र का चित्रण भी उभरा है। 'सामयिक' स्तम्भ में "औसतन अंग्रेज़" अच्छी चीज़ है। 'क्या हिन्दी विदेशी भाषा है?' सम्पादकीय में इस प्रश्न पर जो उदाहरण दिए गए हैं और मत प्रकट किए गए हैं वह पूर्ण रूप से ठीक हैं। सुदूर दक्षिण की ही यह दशा नहीं है, उत्तर भारत में भी सरकारी कार्यालयों में तो यह दशा और भी शोचनीय हो गई है। यहाँ प्रान्तीय तथा केन्द्रीय दोनों ही सरकारों ने हर विभाग में हिन्दी विभाग खोल रखा है जिसका काम हिन्दी में प्राप्त प्रश्नों का उत्तर हिन्दी में देना, तथा विभाग के कार्य को हिन्दी में करना होता है। परन्तु खेद है कि सरकारी बड़े अफ़सर हिन्दी में लिखे पत्रों पर हस्ताक्षर करते हुए घबड़ाते हैं। वहाँ जो पत्र हिन्दी में प्राप्त होते हैं हिन्दी विभाग उनका अनुवाद अंग्रेज़ी में करता है तब वह

देशीय बड़े साहबों के समक्ष जाता है और अंग्रेज़ी में जवाब दे दिए जाते हैं। मेरी समझ में समय, धन का इस तरह हिन्दी के नाम पर अपव्यय--क्यों किया जा रहा है, बहुत से कर्मचारी जो अच्छी तरह हिन्दी में काम करते हैं उनको कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और उनसे हर बार हिन्दी के अंग्रेज़ी अनुवाद माँगे जाते हैं। बेचारे हिन्दी में काम करें और दोहरी मेहनत भी करें। अच्छा होता हिन्दी को इस छोछलेपन से बचाने की भी चेष्टा की जाती।

५२१, अहियापुर,
इलाहाबाद

—प्रेमकपूर 'कंचन'

(८)

'अजन्ता' का मार्च अंक मिला। इधर मैंने सात आठ मास से 'अजन्ता' नियमित रूप से पढ़ना प्रारम्भ कर दिया है। उसकी अन्य रचनाओं के अतिरिक्त सम्पादकीय और नीर-क्षीर ने मुझे विशेष प्रभावित किया है। मैं देखता हूँ कि लोग सम्पादकीय के नाम पर या तो दो चार प्रमुख घटनाओं की चर्चा करके रह जाते हैं या अपने गुट का प्रचार करते हैं। इसी प्रकार नवीन पुस्तकों की आलोचना के स्तम्भ में साधारण-सा परिचय और ढेर-सा आशीर्वाद भरा रहता है। आपके निर्लिप्त 'सम्पादकीय' और निष्पक्ष 'नीर-क्षीर' को पढ़ कर ज्ञात होता है, आचार्य 'द्विवेदी' जी की परम्परा को जीवन-दान देने वालों का सर्वथा अभाव नहीं है।

मार्च के अंक में श्री बालस्वरूप 'राही' और देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के गीत मुझे बहुत अच्छे लगे। 'राही' जी में भावनाओं के हिस्टीरिक उन्माद के साथ-साथ शब्दों का भी तीखापन है। सम्भवतः इसका कारण उनकी उठती हुई जवानी है। श्री 'इन्द्र' की भावनाओं में गम्भीरता है किन्तु शैली में शिथिलता आ गई है। वैसे उनकी कविता हृदय पर स्थायी प्रभाव डालती है। सबसे साधारण लगा कुमारी श्यामा श्रीवास्तव का गीत। आश्चर्य कि उसे 'अजन्ता' में स्थान कैसे मिल गया?

निबन्धों में श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर का 'हिन्दी समीक्षा की परम्परा' और डा० एम. अब्दुल मुईद खान का 'अरबी भाषा तथा साहित्य' बहुत सुन्दर और पठनीय हैं। डा० खान यदि कहीं कहीं उद्धरण और देते तो लेख को चार-चाँद लग जाते; यद्यपि इस प्रकार उसका आकार अधिक बढ़ जाने की सम्भावना थी। 'जिगर मुरादाबादी' : एक झलक, जिसके लेखक श्री बलवीर सहाय हैं, हिन्दू-उर्दू सौहार्द की ओर बढ़ाया गया सुन्दर क़दम है।

कमल जोशी की कहानी 'सभापति' की अपेक्षा विमला बांठिया के एकांकी 'सिक्के के दोनों ओर' में मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता कहीं अधिक है। साहित्य सेवा की आकाशी वृत्ति के सहारे नौकरी छोड़ देने की भूल करने वाले बाल-बच्चेदार साहित्यिक बिरले ही मिलेंगे किन्तु अपना पैसा देकर जुआ खिलाने वालों और हार जाने पर कड़ा तकाज़ा करने वालों की संख्या कम नहीं है।

कृष्णा कालेज, अतरौली
अलीगढ़

—गंगासहाय 'प्रेमी'

(९)

आपकी कविता (मार्च) और श्री राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के पत्र दोनों के विरोध ने मुझे आपको पत्र लिखने की प्रेरणा दी। आपकी कविता को मैं हर कसौटी से एक सुन्दर कविता पाता हूँ लेकिन श्री चतुर्वेदी जी छन्द और पिंगल को ही कविता एकमात्र कविता की कसौटी मानते हैं सचमुच इन रीतिकालीन काव्य-प्रेमियों के चंगुल से (यद्यपि ये लोग केवल विद्यालयों में ही 'सुरक्षित' रह गए हैं) कविता के स्वच्छन्द प्रवाह को निकालना शिवजी के जटाजूट से गंगा को बाहर निकालने से कम नहीं है। इन्द्रजी की कविता से साहिर लुधयानवी की वह कविता याद आ जाती है : "तुम्हें उदास-सी पाता हूँ मैं कई दिन से, न जाने कौन से सदमें उठा रही हो तुम।" काश, 'अजन्ता' के लेखों की तरह ही कविता और कहानियाँ भी कुछ दे पातीं—कम से कम पाठक को आज के साहित्यिक धरातल पर ही रखतीं। यह 'अजन्ता' के लेखों और अन्य रचनाओं में बीस वर्ष का अन्तराल क्यों चलता है? फिर मैं मानता हूँ कि 'अजन्ता' हिन्दी के उन पत्रों में से है जिनमें सम्पादकीय श्रम और व्यक्तित्व बोलता है। उसमें सचमुच पढ़ने योग्य मिलता है।

६७ वीं डायमण्ड हार्बर रोड,
कलकत्ता

—राजेन्द्र यादव

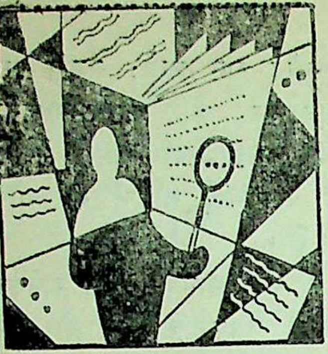

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ।]

महात्मा गान्धी

प्रकाशक : पब्लिकेशन्स डिवीजन,
सूचना व प्रसार मन्त्रालय
भारत सरकार, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

मूल्य : दस रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में महात्मा गान्धी के जीवन को चित्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक महान् पुरुष के जीवन को लिखने के बहुत-से तरीक़े हैं और उनमें से एक उसे "कालक्रमानुसार" चित्रावली के रूप में प्रस्तुत करना भी है। पुस्तक में चित्रों को इतने बड़े रूप में प्रस्तुत किया गया है कि ऐसा अनुभव होता है कि हम उनके साक्षात् संपर्क में आ रहे हों। महात्मा गान्धी आधुनिक विश्व के महान् निर्माताओं में से भी एक हैं। धीरे-धीरे विश्व के महान् विचारक इस बात को अनुभव करते जा रहे हैं कि यदि आधुनिक विश्व संगठित हो कर जीवित रहना चाहता है तो उसे महात्मा गान्धी द्वारा दिखाए गए मार्ग पर चलने के सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है। महात्मा गान्धी ने विभिन्न राष्ट्रों, जातियों और मनुष्य-मनुष्य में कितनी सद्भावना और मैत्री को एक महान् शक्ति के रूप में उपत्न करने का प्रयत्न किया। इस पुस्तक में महात्मा गान्धी के जीवन के चित्रों को प्रारम्भ से अन्त तक देखने से उनके जीवन की कहानी की एक हलकी-सी रूपरेखा सामने आ जाती है। यदि इस चित्रावली में महात्मा गान्धी के दक्षिण आफ्रिका के असहयोग आन्दोलन के कुछ चित्रों को सम्मिलित कर लिया जाता तो उनके दक्षिण आफ्रिका के शान्तिपूर्ण संघर्ष की भी एक झलक प्राप्त हो जाती; यद्यपि दक्षिण आफ्रिका के कुछ चित्रों को इसमें सम्मिलित किया गया है। न जाने कितने कलाकार महात्मा गान्धी के महान् जीवन को अपनी कला में प्रदर्शित कर अपने जीवन को धन्य बनाएँगे! पुस्तक के एक-एक चित्र को बार-बार देखने की इच्छा होती है। कितना महान् और त्यागमय जीवन और फिर कितना सरल, सीधा और साधारण! भारत सरकार ने इस पुस्तक को महात्मा गान्धी की स्मृति में 'एक अर्घ्य के रूप में प्रकाशित किया है।' पुस्तक के प्रारम्भ में डा० राजेन्द्रप्रसाद की भूमिका, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' द्वारा लिखित "गान्धी-दर्शन" और एक हिन्दी की कविता दी गई है। पुस्तक के अन्त में चित्रों के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणियाँ दे दी गई हैं जिससे चित्रों के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त होती है। अच्छा होता कि इस चित्रावली में उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र भी दे दिया जाता। आधुनिक युग में समस्त विश्व को भारतवर्ष की सबसे बड़ी देन महात्मा गान्धी हैं। भारतवर्ष कितना महान् है—उसकी एक झलक महात्मा गान्धी के जीवन से प्राप्त होती है। इस चित्रावली को देखने से जीवन में महान् प्रेरणा प्राप्त होती है; आँखों में आँसू भर आते हैं और हृदय एक ऐसी उच्चता का अनुभव करता है जो हिमालय से भी अधिक उच्च है और ऐसी विशालता को अनुभव करता है जो कि समस्त विश्व से भी अधिक विशाल है। हम इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए भारत-सरकार को बधाई देते हैं।

भारत (१९५५ वार्षिक संदर्भ ग्रन्थ)

प्रकाशक : पब्लिकेशन डिवीज़न,
सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार,
ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

मूल्य : चार रुपया आठ आना

यह पुस्तक मुख्यतया एक संदर्भ पुस्तक है जि आधुनिक भारतवर्ष के सम्बन्ध में अनेक आवश्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। हम समझते हैं कि प्रस्तुत पुस्

६६५६

में भारतवर्ष के इतिहास आदि के अध्यायों को इसमें जोड़ने की आवश्यकता नहीं थी—क्योंकि इस सम्बन्ध में जिन अध्यायों को जोड़ा गया है उनका उपयोग संदर्भ के रूप में नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक में भारतवर्ष के सम्बन्ध में एकमात्र उन्हीं सूचनाओं को संगृहीत और संकलित किया जाना चाहिए जो सरकारी तौर पर सर्वथा प्रामाणिक हों। भारतवर्ष के इतिहास सम्बन्धी अध्यायों को जोड़ने से उसका यह परिणाम हो सकता है कि उस पर भी 'भारत सरकार' की प्रामाणिकता की छाप लग जाए—यद्यपि उसमें अनेक बातें ऐसी हैं जो विवादात्मक हैं और जिन्हें प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक में 'वैदिक सभ्यता' और 'आर्यों के उदय' के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया है उससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। "हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध' में भी कई इस तरह की बातों का उल्लेख किया गया है जो कि न केवल अनावश्यक हैं अपितु अत्यधिक विवादास्पद हैं। प्रस्तुत संदर्भ-पुस्तक में इतिहास के अध्याय को जोड़ने से पुस्तक की उपादेयता किसी भी प्रकार नहीं बढ़ी है। इस अध्याय को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसे एक विशेष दृष्टिकोण से लिखा गया है। इस प्रकार के अध्यायों को जोड़ने से भारत सरकार कई भ्रमात्मक और विवादात्मक बातों को प्रामाणिक बना कर प्रचारित करने का साधन बनती है जो कि उचित नहीं है।

भाषाओं की तालिका में हिन्दी और उर्दू को अलग स्थान देने के पश्चात हिन्दुस्तानी को एक पृथक् स्थान दिया गया है और इसके लिए टिप्पणी दी गई है: "संविधान में चौदह भाषाएँ स्वीकार की गई हैं। कुछ लोगों ने अपनी मातृभाषा हिन्दी अथवा उर्दू की बजाय हिन्दुस्तानी लिखना पसन्द किया। इसलिए जन-गणना में चौदह के स्थान पर १५ भाषाओं का उल्लेख हुआ है।" प्रश्न यह है कि क्या यह भाषा हिन्दी और उर्दू से पृथक् है जो कि इसका हिन्दी और उर्दू से पृथक् उल्लेख किया गया है। संविधान में ही जब इस भाषा का उल्लेख नहीं है तब उसका भारत सरकार द्वारा प्रसारित संदर्भ-ग्रन्थ में प्रदर्शित किए जाने का यही अर्थ होता है कि इस पुस्तक के प्रसारक 'हिन्दुस्तानी' को हिन्दी और उर्दू से पृथक् मान्यता प्रदान करते हैं। प्रस्तुत संदर्भ-पुस्तक की निरसंदेह परम आवश्यकता है परंतु अभी इसे जिस प्रकार सावधानी और प्रामाणिकता से तैयार किया जाना चाहिए—हमें दुःख है कि इस पुस्तक को उस प्रामाणिकता और सावधानी से तैयार नहीं किया गया है।

मेघदूत (मेघदूत का राजस्थानी पद्य में अनुवाद)
लेखक : नारायणसिंह भाटी
प्रकाशक : पीथल प्रकाशन, कचहरी रोड,
जोधपुर
मूल्य : ढाई रुपया

यह प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक में पहले श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'मेघदूत' पर कविता और भावार्थ प्रकाशित किया गया है। इसके पश्चात् 'मेघदूत के महत्व पर प्रकाश डालने वाला एक लेख प्रकाशित किया गया है। भारतीय और विश्व के साहित्य में "मेघदूत" का अपना ही विशिष्ट स्थान है। यदि कालिदास अपने जीवन में एकमात्र "मेघदूत" ही लिखते तो भी वे संस्कृत और भारतवर्ष के सबसे महान् कवि समझे जाते। यह प्रसन्नता की बात है कि इस महान् रचना का श्रीयुत नारायणसिंह भाटी ने राजस्थानी कविता में अनुवाद किया है जिससे राजस्थान की साधारण जनता इस महान् काव्य के आनन्द को प्राप्त कर सके। राजस्थानी अनुवाद के साथ हिन्दी में पद्यों का भावार्थ दे दिया गया है और अन्त में "मेघदूत" में प्रयुक्त राजस्थानी के शब्दों का अर्थ दे दिया गया है जिससे कि पुस्तक की उपादेयता बढ़ गई है। किसी भी काव्य का अनुवाद करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है और श्री नारायणसिंह भाटी ने यह अनुवाद करके राजस्थानी साहित्य की अनुपम सेवा की है। अनुवाद की भाषा में बल और प्रवाह है और वह मूल के भावों के साथ-साथ चलता है।

हैदराबाद —**वंशीधर विद्यालंकार**

पत्थर की आँख
लेखक : कमल जोशी
प्रकाशक : रश्मि ११८/बी. चित्तरंजन ऐवेन्यू,
कलकत्ता—७
मूल्य : तीन रुपया

इधर नवोदित कहानीकारों में कमल जोशी का

नाम कहानियों के अभिनव सौष्ठव और शिल्प के कारण विशेष लोकप्रिय हो चला था; हठात् ही अभी कतिपय प्रमुख पत्रिकाओं में उनके सम्बन्ध में जो चर्चाएँ हुई हैं, और इन चर्चाओं में जो स्पष्टास्पष्ट तथ्य सबके सामने आए हैं; वे अनुपेक्षणीय और पर्याप्त चिन्त्य हैं; किन्तु श्री जोशी सबके उत्तर में जब केवल यही कह पाते हैं : "...मेरी कहानियों की लोकप्रियता से ईर्ष्यान्वित हो, इधर कुछ लोगों ने मेरे सम्बन्ध में बहुत ओछा और भित्तिहीन प्रचार किया है..." तो गुत्थियाँ और उलझ जाती हैं। प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक में ही बहुत-कुछ ऐसा मिल जाता है कि उल्लिखित चर्चाओं में निहित धारणाओं को अधिकाधिक बल ही मिलता है।

पुस्तक की अन्तिम कहानी 'पत्थर की आँख' (जिस पर पुस्तक का नामकरण भी हुआ है और संभवतः लेखक की दृष्टि में यह इस कहानी-संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी भी हो) 'टाइमलेस स्टोरीज़ फ़ार टूडे एण्ड टूमारो' कहानी संग्रह में प्रकाशित एक अंग्रेज़ी लेखक जान कीअर क्रास की 'दी ग्लास आई' कहानी का सूक्ष्म-संक्षिप्त रूपान्तर-मात्र है : ऐसा सहसा कोई भी कह सकता है। इतना अद्भुत साम्य वस्तुतः विलक्षण बात है और इससे संदिग्धता स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

पुस्तक में अन्य कहानियाँ हैं : 'बाहर-भीतर', 'उजाला या अँधेरा', 'खिड़की', 'चश्मा', 'तीन रातें', 'विवाह : एक प्रयोग', 'मृत्यु का रहस्य', 'छाया-चित्र' और 'इतिहास'—इनमें अधिक तो स्कैच-मात्र ही प्रतीत होती हैं; सामान्यतः सभी कहानियों का वर्ण्य-तत्व, वातावरण और पृष्ठभूमि अयाचित-सी लगती है—अभिप्राय है कि इस संग्रह की कहानियों का वर्ण्य-तत्त्व और वातावरण भारतीय प्रतीत नहीं होता। संभवतः 'उजाला या अँधेरा' कहानी हमारे वातावरण का कुछ आभास दे जाती है; किन्तु उसमें प्रतिफलित लगभग सभी पात्र अतिरेकयुक्त अवश्य लगते हैं। विशेषकर इस कहानी का एक पात्र—लम्बी-लम्बी जुल्फ़ों वाला व्यक्ति—कुछ का कुछ लगता है तथा इस कहानी में जिस सामाजिक पृष्ठभूमि को रक्खा गया है, उसमें पुरुष-पक्ष को प्रयास कर-करके केवल विषाक्त ही बनाया गया है—वेश्या-जीवन के चित्र अवश्य सकरुण और सहज बन गए हैं। 'बाहर-भीतर', 'खिड़की', 'चश्मा', 'तीन रातें' 'विवाह : एक प्रयोग', 'मृत्यु का रहस्य' आदि अन्य कहानियों में हमें अपनी जीवन-दृष्टि कहीं नहीं मिलती : वर्ण्य विषयों की पृष्ठभूमि पश्चिमी कहानियों पर अधिकाधिक आश्रित प्रतीत होती हैं—उनमें न हमारी संस्कृति का कोई चिन्ह मिलता है, न हमारा सामाजिक वातावरण और जीवन। 'विवाह : एक प्रयोग' कहानी का इतिवृत्त चेखव की 'डार्लिंग' से कितना मिलता है; 'विवाह : एक प्रयोग' तथा 'डार्लिंग' में जो अन्तर है, स्पष्ट है; कहने मात्र का है; 'डार्लिंग' की 'ओलेंका' का चित्र अनायास ही सामने आता है। 'विवाह : एक प्रयोग' और 'डार्लिंग' के मध्य साम्य सुस्पष्ट और संक्षिप्त-सा है; किन्तु 'विवाह : एक प्रयोग' का प्रवाह उकताने वाला लगा—अत्यन्त साधारण।

श्री कमल जोशी की अन्य कहानियों की भाँति इन कहानियों में भी शैली और भाषा की स्वच्छता और चित्रात्मकता पारदर्शी है, हमें अनाकर्षित नहीं छोड़ती। इस आधार पर श्री जोशी से हमारी अपेक्षाएँ बहुत-कुछ हैं किन्तु उनकी कहानियों की वर्ण्य-वस्तु अवश्य विवादास्पद और विचारणीय है।

वर्षान्त के बादल

रचयिता : अंचल
प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : तीन रुपया

पुस्तक में ९२ पृष्ठ हैं और ५४ कविताएँ। अंचल जी की अन्य रचनाओं की भाँति इन कविताओं में भी अनुभूति-प्रवणता और सहज रागात्मकता है; इन कविताओं में विरह-चित्र बड़ी सजीवता और अत्यधिकता से अंकित हैं—अलस उच्छ्वास सतरंगी चित्रों में अभि-व्यंजित हैं। अन्तिम कविता 'वर्षान्त के बादल' में कितनी सहज चित्रात्मकता है :

"जा रहे वर्षान्त के बादल
किस महावन को चले
अब न रुकते अब न रुकते ये गगनचारी
नींद आँखों में बसी गति में शिथिलता
किस गुफा में लीन होंगे
सान्ध्य-विहगों से थके डैने लिए भारी
साथ इनके जा रहा
अगणित विरहिणी विरहियों का दाह
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई...

जा रहे आलोक-पथ से मन्द गति
वर्षान्त के बादल......''

पुस्तक में वर्षा और बादल सम्बन्धी सभी गीत—'वर्षागीत', 'ओ नभ में मँडराते बादल 'बेबरसे मत जा', 'बँटवारा', 'ओ रे जाने वाले बादल', 'आज बरसते बादल दिन काटे न कटे', 'वर्षान्त के बादल' शेष कविताओं और गीतों से अधिक शिल्पयुक्त और सुरम्य हैं; दो एक कविताओं में तो अनुभूतियों अथवा भावनाओं का उतना सरल-सहज प्रवाह नहीं दीखता—सप्रयास अधिक लगती हैं। 'कालिदास' शीर्षक कविता में निःसन्देह शाब्दिकता ही अधिक है—सहज प्रवाह अत्यधिक कम। 'आज मैं कुछ अनमनी हूँ' शीर्षक कविता अपनी अनुभूतियों में बड़ी गहरी और मार्मिक है :

"आज मैं कुछ अनमनी हूँ
शून्य में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सी अनमनी हूँ
अर्धजाग्रत बीन की सिमटी झनक-सी अनमनी हूँ

× × ×

खा रही जो अपने को वही हीरक कनी हूँ
डूबते पिछले पहर की चाँदनी सी अनमनी हूँ
आज मैं कुछ अनमनी हूँ"

और 'माँझी' कैसी प्रखर अनुभूतियों और आवेग सँजोए हुए है :

"माँझी ! जल कर छोर न आता
अब भी तट आँखों से ओझल माँझी !
जल का छोर न आता
माँझी ! जल का छोर न आता
बीत गया पूरा दिन चलते ओझल
कूल कहाँ ले जाता
माँझी जल का छोर न आता"

'वर्षान्त के बादल' कविता संग्रह की कविताओं का 'अंचल' की भाँति ही अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, जिसमें आकर्षण है, आवेग है, अनुभूति है; इन कविताओं को हिन्दी में स्थायी समादर प्राप्त होगा : हमारी हार्दिक कामना है।

राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त
लेखक : श्री गोरखसाथ सिंह
प्रकाशक : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्
सम्मेलन भवन, पटना—३
मूल्य : एक रुपया; सजिल्द डेढ़ रुपया।

'राजकीय व्यय प्रबन्ध के सिद्धान्त' पुस्तक के लेखक श्री गौरखनाथ सिंह भारतीय रिज़र्व बैंक के सेण्ट्रल बोर्ड आफ़ डायरेक्टर्स के सदस्य हैं और उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र की उपाधि डबल प्रथम श्रेणी में प्राप्त की है। इस प्रकार अपनी शिक्षा-योग्यता और कार्यक्षेत्र के दृष्टिकोण से उनका अपने विषय पर अधिकार असंदिग्ध है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् हिन्दी के जिन विशिष्ट अभावों की पूर्ति कर रही है, इस पुस्तक का प्रकाशन उसकी एक शृङ्खला है। इस प्रकार के प्रकाशनों का महत्व चिरस्थायी और क्षेत्र व्यापक रूप में उपयोगी है। सन् १९५३ में परिषद् ने अर्थशास्त्र विषय पर प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के भाषण पटना कालेज में आयोजित किए थे; इन्हीं भाषणों को क्रम से संकलित कर के इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया है।

अर्थशास्त्र का विषय गहन, गम्भीर और जटिल होने के साथ ही शुष्क भी है; किन्तु राष्ट्रीय जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भी। लेखक के अनुसार जनतांत्रिक देशों में देश की आय का प्रायः चालीस प्रतिशत 'कर' के रूप में राज्याधिकारियों के हाथों से व्यय होता है. ऐसी स्थिति में जब कि सब प्रकार के राज्यों में नागरिकों के श्रम और पूंजी द्वारा उपार्जित धन थातीदारों के द्वारा खर्च होता है तब प्रत्येक नागरिक का यह राजधर्म-सा हो जाता है कि राजकीय व्यय के शासन के सिद्धान्त को समझे। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय को आठ अध्यायों के अनुक्रम में संक्षिप्ततः अधिक से अधिक समझाया गया है। विषय से सम्बन्धित सभी आवश्यक बातों का निर्देश किया गया है। "राजकीय व्यय के अध्ययन की आवश्यकताएँ और कठिनाइयाँ" 'व्यय का शासन', 'बजट निर्माण और आय-व्यय का संकलन', 'व्यय सम्बन्धी असाधारण स्थितियाँ' 'बजट तथा आय-व्यय पर जनता के प्रतिनिधियों के नियन्त्रण की यथार्थता', 'अर्थ की प्रणाली और आकार नियन्त्रण' 'अंकेक्षण' आदि प्रकरणों में संक्षिप्त रूप से सब कुछ पूर्ण प्रामाणिकता से प्रस्तुत किया गया है।

पुस्तक का विषय विश्लेषणात्मक और सैद्धान्तिक

हैं; किन्तु लेखक ने उसे रुचिकर विवरणात्मक रूप दे दिया है। पुस्तक हम सब के लिए उपादेय और अभिनन्दनीय है।

कुरान और धार्मिक मतभेद

(मौलाना आज़ाद लिखित 'तर्जुमानुल कुरान'
के एक अध्याय का हिन्दी-अनुवाद)
अनुवादक : सय्यद जहूरल हुसेन हाशमी भागलपुरी
भूमिका लेखक : डा० राजेन्द्रप्रसाद
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
पुस्तक विक्रेता, काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : दो रुपए

प्रस्तुत पुस्तक को 'तर्जुमानुल कुरान का हिन्दी अनुवाद' कहा गया है; परन्तु अच्छा होता कि उस अध्याय का नाम भी यहाँ बता दिया जाता। पुस्तक का ध्येय हिन्दु-मुस्लिम धार्मिक मतभेदों में समन्वयात्मक वातावरण निर्माण करना है; तब पुस्तक को कुछ और ही प्रकार का होना चाहिए था; किन्तु उसमें जो सामग्री दी गई है, वह पर्याप्त उदार है। इस पुस्तक को पढ़ने से कुरान की नैष्ठिक मानवता का पता चलता है; अनुवाद बोधगम्य और परिष्कृत है।

कला की परख

लेखक : के. के. जसवानी कला-प्राध्यापक
सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट आफ एजूकेशन
दिल्ली यूनिवर्सिटी, दिल्ली—८
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : चार रुपए

कला का क्षेत्र और प्रभाव गौण या आन्तरिक धरातल तक सीमित न होकर हममें प्रत्येक के बाह्य जीवन में भी है—हमारे आवास, वेशभूषा, अलंकार आदि-आदि में। मगर लेखक पुस्तक के द्वारा हमें कला और उसके शिक्षण के लिए व्यापक सौन्दर्य बोध से भी परिचित कराना चाहता है। इस प्रयास में 'कला क्या है?', 'कला के सिद्धान्त', 'रेखा', 'रंग', 'कला शिक्षण क्या है', 'विन्यास', 'शिक्षण का एक उदाहरण' 'कला का अन्य विषयों से सम्बन्ध', 'कला के उपकरण और उनका उपयोग', 'कला भवन', 'भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास' शीर्षकों में हमें उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है; किन्तु पुस्तक छात्रों के लिए ही लिखी गई स्पष्ट प्रतीत होती है। तब उसे अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी कहा जा सकता है। कला का मनोनीत अथवा तात्त्विक विवेचन भी सरल शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता तो उसका बाल प्रतिभाओं पर मनोनुकूल प्रभाव पड़ सकता था। 'भारतीय कला का संक्षिप्त इतिहास' प्रकरण कई स्थलों पर निःसन्देह भ्रामक ही नहीं, अपूर्ण भी है। हिन्दी में कला-सम्बन्धी प्रायः सभी पुस्तकें अभावयुक्त और त्रुटिपूर्ण स्थिति में प्राप्त हैं, किन्तु इस पुस्तक में स्तर के चित्र और पाठ्य सामग्री प्रस्तुत की गई है। छात्रों के अतिरिक्त सामान्य जिज्ञासु भी इससे लाभ उठा सकता है और पुस्तक उसमें भी सौन्दर्यबोध जागृत कर सकती है।

खाद और पेड़ पौधों का पोषण

लेखक : मथुरादास पुरुषोत्तम
प्रकाशक : अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी
मूल्य : एक रुपया

पुस्तक वैसे तो नई तालीम की शिक्षण-योजना के अन्तर्गत लिखी गई प्रतीत होती है, किन्तु इसमें जो कुछ सामग्री है, उसे व्यापक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है और कहा जा सकता है कि इतने कम मूल्य पर, इतनी अच्छी वैज्ञानिक, सरल और अपने विषय की लगभग प्रत्येक बात को छूने वाली सामग्री देने वाली हिन्दी में इस प्रकार की कृति दुर्लभ है—कृषि हमारे देश की आधार भित्ति है—"जो आदमी सही तरीक़े से खुराक पाता है वह ठीक-ठीक मोटा हो सकता है। जो पशु ठीक से दाना पाता है, वह खूब काम और दूध दे सकता है। जो ज़मीन पर्याप्त मात्रा में खाद पाती है वह दाना-चारा भर-भर कर तौल से दे सकती है......हम कुछ एक की जगह चार पैदा कर सके हैं; बल्कि एक की जगह दस दक्षिण भारत के एक किसान ने अन्न से ... साल पहले पैदा किया और कृषि पंडित की उपाधि के साथ पाँच हज़ार रुपए का नक़द इनाम भारत सरकार से प्राप्त किया।" इस पुस्तक में उपज के संरक्षण और वृद्धि के लिए जो-जो उपक्रम प्रस्तुत किए गए हैं,

अत्यन्त सरल और आडम्बररहित हैं। गरीब किसान अनपढ़ और निरक्षर किसान भी इन्हें अपना सकते हैं—पुस्तक देश की अन्न-समस्या का एक सहज, सरल और वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करती है।

रश्मिहास

लेखक : आनन्दवर्धन रामचन्द्र रत्नपारखी विद्यालंकार।
प्रकाशिका : सौभाग्यवती इन्दुलेखा।
प्राप्ति स्थान : सी. २३०, विनयनगर,
नई दिल्ली।
मूल्य : दो रुपए बारह आना।

'रश्मिहास' में सन् १९४१ से १९५० तक लिखी गई कविताओं का संकलन है। 'विहग' नाम से एक अन्य कविता-संकलन भी श्री रत्नपारखी का प्रकाशित हो चुका है। कवि ने 'दो शब्द' में लिखा है : "दुःख मेरे जीवन में आया अवश्य है।......वह मुझे दुःखवत् प्रतीत नहीं होता......कदाचित् इसी हेतु मुझे दुःख से एक प्रकार की अद्भुत-सी प्रीति हो गई है......" और संभवतः यही कारण है कि 'विहग' की भांति 'रश्मिहास' की कविताओं में भी प्रायः सर्वत्र करुणा प्रवाहित है; किन्तु उसमें रागात्मकता, माधुर्य, आश्वस्तता की कुछ ऐसी सहज-सरल छलछलाहट है कि काव्य-सूत्रों की दृष्टि से इस संकलन का प्रकाशन साहित्यिक और सामाजिक मूल्याङ्कन पर भले ही अपरिपक्व और औचित्य रहित ठहरे; किन्तु स्वयं कवि ने अपने जीवन में इन भावाभिव्यक्तियों से शान्तता और आश्वस्तता ग्रहण की है : इस दृष्टि से तो इन कविताओं का अपना एक व्यक्तित्व है; किन्तु हम अपेक्षा करते हैं कि कवि इतना सरल, इतना निस्पृह और सहज न रह कर भविष्य में काव्य के सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों और दायित्वों को भी ग्रहण करेगा। कवि के हृदय में भावुकता है परन्तु उसके पर्यवेक्षण में विस्तृति और अनुभूति में तीव्रता की अपेक्षाकृत कमी है। उसकी कविताएँ थोड़ी-सी ऊपर उपर उठा कर रह जाती हैं।

शिक्षण विचार

लेखक : विनोबा
प्रकाशक : अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी
मूल्य : सवा रुपया

आचार्य श्री विनोबा राष्ट्र के तपोनिष्ठ सन्त हैं, उनका जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व समग्रतः राष्ट्र-सेवा में रचनात्मक रूप से समर्पित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनके शिक्षण सम्बन्धी प्रायः सभी विचारों को संकलित किया गया है; यों पूज्य विनोबा जी का सारा जीवन ही शिक्षणमय रहा है और है—उन्होंने अपना आत्म-शिक्षण भी स्वयं ही किया है—इसलिए स्वतः ही इस पुस्तक में जो विचार उनके द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं उनमें स्वाभाविक रूप से अनुभवों और अनुभूतियों का भी समावेश हो गया है; इससे शिक्षण सम्बन्धी विचार अधिकाधिक शुद्ध, विशद, उच्च और रचनात्मक ही बने हैं; उनमें हमारी संस्कृति और हमारी समस्याओं का मूलभूत समाधान भी समाविष्ट है। अध्यात्म, परिवार, राष्ट्र, 'पूर्णात पूर्णभू,' नई तालीम सम्बन्धी सभी विषयों की शिक्षा प्रणाली पर विनोबा जी ने सूक्ष्म और रचनात्मक रूप से विचार किया है। राष्ट्र का संकल्प है कि दस वर्ष के अन्दर सारे देश में नवीन शिक्षण का कार्य आरम्भ हो जाए। ऐसे निर्माणकारी समय में यह पुस्तक निस्सन्देह बड़ा मार्गदर्शन कर सकेगी।

गधे (बालोपयोगी प्रहसन)

लेखक : हबीब तनवीर
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य : सवा रुपया

'गधे' दो अंकों का एक बालोपयोगी नाटक है। यह नाटक दिल्ली में एलिज़ाबेथ गौवा स्कूल के बच्चों के द्वारा सफलतापूर्वक अभिनीत भी हो चुका है। इस नाटक में श्री हबीब तनवीर ने बच्चों की रुचि और जिज्ञासा का सर्वत्र सूक्ष्मता से ध्यान रक्खा है; पुस्तक की भूमिका में उन्होंने नाट्यसूत्रों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप में जो कहा है, वह न केवल बच्चों के नाटकों के लिए, बल्कि सभी प्रकार के नाटकों के लिए भी बड़ा उपयोगी है और नाटक के अन्त में नाटक का वर्ण्य-तत्व 'खेल की कहानी' शीर्षक में पृथक् रूप से देकर तो श्री तनवीर ने एक नई परम्परा का सूत्रपात करके बहुत स्तुत्य काम किया है।

हैदराबाद दक्षिण —ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

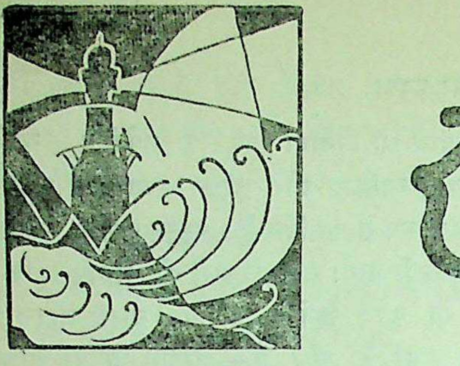

सामयिक

॥

अमरीकी नीग्रो कविता

मद्रास के अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र "स्वतन्त्र" में श्रीमती एस. विजयलक्ष्मी का "अमरीकी नीग्रो कविता" पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"नीग्रो को प्रकृति की ओर से नृत्य और संगीत का उपहार मिला है। उसकी संस्कृति लोक-गीतों से परिपूर्ण है। एक आयरिश व्यक्ति के समान "वह दुःख में सुख का और आँसुओं में हँसी को अनुभव करता है।" नीग्रो की यह स्पिरिट हमें अमरीकी नीग्रो की कविता में पूर्णतया प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। प्रारम्भिक नीग्रो साहित्य में हमें मुख्यतया दासता के विरुद्ध प्रचार-कार्य की मुख्यता दिखलाई पड़ती है। दासता के विरुद्ध जन-मत को जागृत करने के लिए भाषण दिए जाते थे, पैम्फलेट और कविताएँ लिखी जाती थीं। ४ जुलाई, १८५२ को न्यूयार्क में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जा रहा था। फ्रेडरिक डौगलस को इसमें भाषण देने के लिए निमंत्रित किया गया। उसने अपने भाषण में कहा : "साथी-नागरिको ! मुझे यह पूछने की धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए कि, मेरा या उनका जिनका कि मैं प्रतिनिधि हूँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से क्या वास्ता है ? क्या राजनैतिक स्वतन्त्रता और स्वाभाविक न्याय आदि के उसूलों का जिनका कि स्वतन्त्रता की घोषणा में ऐलान किया गया है—हमें प्रदान किए जाएँगे ?...एक अमरीकी गुलाम के लिए ४थी जुलाई का क्या तात्पर्य है ? मैं कहता हूँ कि वर्ष में इस दिन उसे और दिनों की अपेक्षा यह अधिक अनुभव होता है कि उसके साथ क्या अन्याय किया जा रहा है और उस पर क्या ज़बर्दस्त जुल्म ढाया जा रहा है ?"

उनके गीत का तराना यही था :

"हे स्वतन्त्रता, हे स्वतन्त्रता, हे स्वतन्त्रता,
इससे पूर्व कि मैं दास बनूँ
मैं क़ब्र में गड़ जाऊँगा
मैं अपने प्रभु के घर जाऊँगा
और स्वतन्त्र हो जाऊँगा"

पौल लारेन्स डनबर (१८७२-१९०६) प्रथम महान् नीग्रो कवि है जो कि सौन्दर्य और संगीत में नीग्रो-जीवन को अनुभव करता है। वह लिफ़्ट का आपरेटर था और वह लिफ़्ट के ऊपर-नीचे जाने के समय कविता लिखा करता था। अमरीकी लोग उसे एक और महान् योग्य कवि मानते हैं। उसकी कविता "वी वेअर दि मॉस्क्स" (हम नक़ाबों को पहनते हैं) से उसका नीग्रो लोगों के प्रति प्रेम और भावना का पता चलता है।

"टूटे हुए और रुधिरार्द्र हृदयों से
हम मुसकाते हैं
हम मुसकराते हैं—परन्तु हे महान् यीशू!
हमारी व्यथित आत्माओं की करुण पुकार
उठ कर तुम तक पहुँचती है
परन्तु यह विश्व कुछ और ही समझता है
वह समझता है कि हम........"

जब अन्त में नीग्रो को स्वतन्त्र किया गया तो उसे एकदम एक नए ही आर्थिक वातावरण में डाल दिया गया। एक ओर तो वह पैसों और ज्ञान से शून्य और विवश था और दूसरी ओर उस पर इस प्रकार की ज़िम्मेदारी डाल दी गई थी जिसका उसे कुछ भान तक न था। परन्तु इन अतिप्राकृतिक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी उसके पैर नहीं डगमगाए। उसे काम करने की आदत थी—जल्दी ही उसने अपने कार्य को संभाल लिया। उसकी आश्चर्यजनक उन्नति को देखने से इस बात का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि उस

अपने कार्य में कितनी अधिक सफलता प्राप्त हुई। उसकी यह कहानी 'अरब की रातें' पुस्तक जैसी विस्मयपूर्ण कहानी प्रतीत होती है। वह जहाँ अत्यधिक ग़रीब था—वहाँ वह लाखों रुपयों की सम्पत्ति पर टैक्स देने लगा। जहाँ वह ९८ प्रतिशत अशिक्षित था वहाँ ८० प्रतिशत शिक्षित हो गया। वह जहाँ टूटी-फूटी झोंपड़ियों में रहता था वहाँ आलीशान मकानों में रहने लगा।

परन्तु ज्यों ही विश्वयुद्ध समाप्त हुआ नीग्रो लोगों से कहा गया: "अपना यूनिफ़ार्म उतार दो—तुम उसी स्थान पर चले जाओ और रहो जहाँ कि तुम युद्ध से पूर्व रहते थे। तुम उसी तरह कार्य करो जैसे कि एक नीग्रो को करना चाहिए; तुम्हें उसी तरह व्यवहार करना होगा जैसा कि एक नीग्रो के लिए उचित है और तुमको उसी तरह शिक्षा प्राप्त करनी पड़ेगी—जैसी कि प्रथम विश्व-युद्ध से पहले नीग्रो लोगों को दी जाती रही है। अपने दिमाग़ में से स्वतन्त्रता के सब विचारों को निकाल दो और कभी मत सोचो कि तुम्हें एक गोरे आदमी के साथ बराबरी का दर्जा प्राप्त हो सकता है।" इस व्यवहार से नीग्रो लोगों की आँखें खुल गईं। जब गोरे लोग नीग्रो लोगों के जीवन और सम्पत्ति पर आक्रमण करने लगे—वे भी इसका प्रत्युत्तर हत्याओं और आक्रमण के द्वारा देने लगे। ऐसे समय नीग्रो कवि अपनी जनता में प्रतिरोध और उठ कर खड़े होने की भावना को उत्पन्न करने लगे। श्रीयुत क्लाउड मीके की कविता "यदि हमें मरना ही है" नीग्रो लोगों का "युद्ध-गीत" बन गई। इस कविता में देश-भक्ति और साहस की कुछ ऐसी भावनाएँ हैं कि जिनके कारण यह कविता विश्व की श्रेष्ठ कविताओं में से एक समझी जाती है:

"यदि हमें मरना ही है—तो हमें
सुअरों की मौत नहीं मरना चाहिए
जिन्हें गन्दे स्थानों पर घेर कर मारा जाता है
यदि हमें मरना ही है—तो साथियो!
आओ हम वीरों की शानदार मौत मरें
हमारी संख्या कितनी अधिक है
आओ—इस विश्व के सम्मुख सिद्ध कर दें
कि हम वीर हैं
क्या हुआ—यदि हमारे सम्मुख एकमात्र मृत्यु
का ही द्वार खुला हुआ है"

कवि नीग्रो लोगों की काली सुन्दरता की प्रशंसा कर उनमें जातीय अभिमान के भावों को जागृत करने लगे:

"उसके केश कैसे घुंघरीले और पतले हैं
उसकी आँखों में कैसी नटखटपने की चमक है
वह ऊँचा है; छरहरा है, लचकीला है, कोमल है
प्रसन्न, निश्चिन्त, सुन्दर और उमंगों से पूर्ण
उभरे हुए डौले, फुर्तीले पग
पूर्ण रूप से सफलता
सफलता और सम्मान! कान्तिपूर्ण काले नवयुवक"

और एक अन्य कविता "प्रतिमा नहीं" में:

"वह नहीं जानती
अपनी सुन्दरता
वह समझती है कि उसके काले शरीर की
कोई शान नहीं है
यदि वह नृत्य कर सकती
नग्न होकर
तालों के वृक्ष के नीचे
और नदी में अपनी प्रतिभा को देख सकती
तो उसे अपने विषय में कुछ मालूम हो सकता
परन्तु बाज़ारों में
ताल के वृक्ष नहीं है
और तश्तरियों के पानी में
प्रतिमा को नहीं देखा जा सकता"

यदि नीग्रो कवि ने विरोधपूर्ण भावना की कविता को अधिक लिखा है तो इसका कारण एक महान् नीग्रो नेता ड्यू बोरस के शब्दों में यह है: "नीग्रो लोगों को सदा अपनी समस्याओं पर विचार करना पड़ता है। उनको इसी के लिए जीना है और इसी के लिए संघर्ष करना है। उनको अपने समस्त अस्तित्व को अपने जीवन के प्रश्नों के अन्दर अनुभव करना है और अन्य समस्त वस्तुओं को इन्हीं के प्रकाश या अन्धकार में विवृत करना पड़ता है। नीग्रो कवि को अब नया नीग्रो के नाम से कहा जाता है। उसकी मानसिक अवस्था में अब सर्वथा परिवर्तन हो गया है। उसके साथ जिस प्रकार व्यवहार किया जाता रहा है वह उसके लिए एकमात्र अपने को दोषी नहीं

ठहराता। उसकी विचारधारा में यह आधारिक परिवर्तन "मैं अकेला नहीं" कविता में चरम रूप में अभिलक्षित होता है :

"एक व्यक्ति के रूप में नहीं
परन्तु अपनी समस्त जाति के प्रतीक के रूप में
मुझे अपने सिर को ऊँचा उठा कर और
बिलकुल सीधा होकर चलना चाहिए
मेरा चिन्तन बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए
और मुझे अपने ही शब्दों में
अपने विचारों को अभिव्यक्त करना चाहिए
क्योंकि मेरे कन्धों पर जो बोझ है
वह बहुत भारी है
और मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता"

नया नीग्रो कवि अपने विस्तृत सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को हल करने में लगा हुआ है, कुछ एक ने तो अपने आपको दलितों के साथ एक कर लिया है। इन कवियों ने अपने आपको समस्त विश्व के दलितों के साथ एक कर लिया है। इन दलितों में गोरे भी हैं और काले भी हैं। वे इनमें किसी प्रकार का कोई भेद नहीं करते। समस्त संसार में जहाँ भी मनुष्य के साथ अन्याय और अत्याचार हो रहा है वे उसके साथ अपनी एकात्म्यता स्थापित कर लेते हैं। वे इस अत्याचार के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते हैं। श्रीयुत लैंगस्टन हयूज़ अपनी एक कविता "अमरीका फिर अमरीका हो" में लिखता है :

"मैं एक ग़रीब गोरा हूँ, मूर्ख
और सर्वथा उपेक्षित
मैं एक नीग्रो हूँ जिसने कि अपने गले में
गुलामी का तौक़ पहना हुआ हूँ
मैं लाल रंग का मनुष्य हूँ जिसे कि
अपनी भूमि से खदेड़ दिया गया है
मैं वह व्यक्ति हूँ जो कि अन्य देश से
यहाँ रहने के लिए आया है
और उन्हीं आशाओं से चिपटा हुआ
जिन्हें कि वह ढूँढ रहा है
मुझे संसार में अभी तक वही पुरानी
और सड़ी हुई योजना दिखाई देती है
कि कुत्ता कुत्ते को काटता है और
बलवान् निर्बल को कुचल देता है"

आधुनिक नीग्रो कवियों में काउण्टी कलेन, लैंगस्टन हयूज़, फ्रैंक मार्शल डेविस और वेरिंग कुनेह कुछ थोड़े-से वे कवि हैं जिनकी अमरीकी साहित्य को देन महान् और वास्तविक है। उनकी कविता में भविष्य के प्रति आस्था और विश्वास झलकता है :

"हमारे सम्मुख आनेवाला कल है
जो कि ऐसा ही उज्वल है
जैसा कि दीपक
और पिछला कल तो वह रात है
जो गुज़र चुकी है
और जिसका सूर्य अस्त हो चुका है"

उनकी कविता सरल और सीधी है। उनमें किसी प्रकार की जातीय भावना नहीं है। उनकी अनेक कविताएँ ऐसे मधुर गीत हैं जिनकी तुलना अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ कवियों के गीतों से की जा सकती है।

लैंगस्टन हयूज़ कहता है : "अमरीका मेरे लिए कभी अमरीका नहीं था परन्तु मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि वह समय आएगा जब कि अमरीका मेरा अमरीका होगा।" मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि देर अबेर में नीग्रो लोगों को अमरीकी नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त होंगे। अन्य कई नवीन नीग्रो कवियों का भी यही विश्वास है। विषम परिस्थितियों में भी उनका परमात्मा में अटल विश्वास रहा है :

"यही कारण है कि जहाँ अन्य खामोश रहते हैं
वह गा सकता है
जहाँ दूसरे आह भरते हैं
वह हँस सकता है
जहाँ दूसरे रुदन करते हैं
वह मुसकरा सकता है
जहाँ दूसरे मर जाते हैं
वह जीवित रहता है"

II

बिहार में दक्षिण भारतीयों का ग्राम

मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र 'हिन्दु' साप्ताहिक के मेगज़ीन विभाग में श्रीयुत वी. एस. पद्मनाभन का एक लेख "बिहार में दक्षिण-भारतीयों का ग्राम" प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"बिहार राज्य में मानभूमि के मुख्य स्थान पुरुलिया से ३० मील दूर एक ग्राम है जो इस बात को प्रदर्शित करता है कि भाषा और रीति-रिवाज़ों की भिन्नता लोगों के पारस्परिक मेल-जोल में रुकावटें नहीं उत्पन्न कर सकती। इस ग्राम का नाम गडीबेरो है। यह एक छोटी-सी पहाड़ी की उपत्यका में बसा हुआ है। इस ग्राम में ३०० दक्षिण भारतीयों के घर हैं जो कि यहाँ ३०० वर्ष से ऊपर समय से निवास कर रहे हैं। उनका बंगालियों से बड़ा मधुर सम्बन्ध है। यह इलाक़ा यद्यपि है तो बिहार में परन्तु यहाँ अधिकतया बंगाली ही रहते हैं।

इस ग्राम का इतिहास १६ वीं शताब्दी में प्रारम्भ होता है। उस समय एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में आने की सुविधा नहीं थी। कहा जाता है कि सन् १५६० में एक आचारवान् वैष्णव ब्राह्मण मद्रास के अम्बसमुद्रम् नामक स्थान से उत्तर भारत में तीर्थ-यात्रा के लिए आया। वह विशिष्टाद्वैत को मानता था और शास्त्रों का महान् पंडित था। लौटते हुए उसकी पंचकोट के राजा से भेंट हुई। वह पटचेट पहाड़ों के निकट मानभूमि का एक बड़ा ज़मींदार था। राजा उसकी विद्वत्ता से बहुत प्रभावित हुआ और उसने श्री रामानुज के धर्म में दीक्षित होने की इच्छा अभिव्यक्त की और उनसे वहीं रह जाने के लिए आग्रह किया। उस वैष्णव ब्राह्मण ने इसे स्वीकार न किया परन्तु जब वह वापस अपने घर पहुँच गया तो उसने अपने भाई रंगराज को वहाँ भेज दिया। रंगराज भी शास्त्रों का पारंगत विद्वान् था। राजा ने उसे अपना गुरु बना कर उससे विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। उसने बीरो ग्राम को उनका निवास-क्षेत्र बनाया और वहाँ उसने अपने कुलदेवता श्रीकेशव की प्रतिष्ठा की। राजा ने रंगराज को प्रतिदिन की सेवा के लिए ६० ग्राम दान में दिए। राजगुरु को इन ग्रामों का सेबैत (ट्रस्टी) बनाया। अन्य ज़िलों के ज़मींदारों ने भी ऐसा ही किया और वे सब राजगुरु के शिष्य हो गए। उन्होंने उन्हें बहुत-सा रुपया दिया और बहुत-से ग्राम बेरो देवत्तर संपत्ति को प्रदान कर दिए। यह सम्पत्ति आनुवंशिक कर दी गई और इस सेबैत के कई उत्तराधिकारी हुए। इसका उत्तराधिकारी इस समय राजा गुरु तिरुमलाई जगन्नाथ आचार्य गोस्वामी हैं। ज़िले के अधिकांश बंगाली उनके शिष्य हैं और अब तक भी उनका बहुत आदर किया जाता है।

यहाँ अम्बसमुद्रम् से पहले एकमात्र एक परिवार आया था परन्तु अब वहाँ यहाँ से आए हुए ३५ परिवार रहते हैं। ये सब दक्षिण भारतीय वैष्णव हैं और अधिकांश में किसी-न-किसी रूप में एक दूसरे से संबद्ध हैं। इनके पूर्वज मद्रास के विभिन्न भागों से यहाँ आकर रहने लग गए थे। कुछ घर तिन्निवेल्ली ज़िले से और कुछ चिंगलपेट से और कुछ आन्ध्र देश से आए थे। इनमें से अधिकांश के पास ज़मीनें हैं। ग्राम में एक हाई स्कूल है। यहाँ कई ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं जो कि बिहार सरकार में उच्च पद पर हैं। इनमें से अनेक शिक्षा-विभाग में उच्च पदों पर हैं।

यद्यपि ये लोग दक्षिणीय रंग-ढंग पर ही अब तक अपना जीवन व्यतीत करते हैं तो भी उन्होंने अनेक बङ्गाली रीति-रिवाज़ों को अपना लिया है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि उन्हें यहाँ रहते हुए ३०० वर्ष हो चुके हैं। अभी तक ये लोग अपनी पोशाक दक्षिणी ढंग की ही पहनते हैं और स्त्रिएँ नौ गज़ की साड़ियाँ पहनती हैं। यह सब कुछ होते हुए भी इनमें जो अविवाहित नवयुवक हैं वे बङ्गालियों की तरह पंचकच्छम् पहनते हैं। अब इन सब लोगों की भाषा बंगाली हो गई है। ये घर में और बाहर दोनों जगह बंगाली बोलते हैं परन्तु इनमें से कुछ एक जिनका सम्बन्ध अपने पूर्वजों के स्थान से बना हुआ है, तमिल जानते हैं। ये लोग एक ओर जहाँ 'अवनी अवित्तम' तमिल नव वर्ष का दिन आदि दक्षिणी त्योहार मनाते हैं वहाँ दुर्गा पूजा और काली-पूजा आदि बंगाली त्योहार भी मनाते हैं। इन दिनों में वे नए कपड़े पहनते हैं परन्तु अपने धार्मिक अनुष्ठान नहीं करते। जैसा कि बंगाली प्रथा है वे उत्सवों के समय यात्राओं (नृत्य समारोह) का आयोजन करते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि ये लोग दीपावली उस तरह नहीं मनाते जैसे कि वह दक्षिण भारत में मनाई जाती है। वे इसे बंगालियों की तरह मनाते हैं।

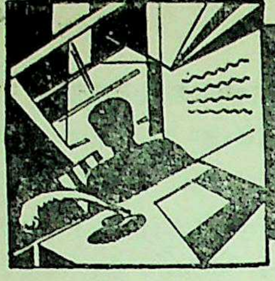

सम्पादकीय

अंग्रेज़ी अनिवार्य और हिन्दी वैकल्पिक

मद्रास प्रशासन ने अपने राज्य के स्कूलों और कालेजों में भाषाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी जो नीति उद्घोषित की है उसके अनुसार तमिल को प्रथम अनिवार्य भाषा, अंग्रेज़ी को द्वितीय अनिवार्य भाषा और हिन्दी को तृतीय वैकल्पिक भाषा निर्धारित किया गया है। इस निर्णय के लिए जिन युक्तियों को दिया गया है वे एक तो परस्पर विरोधी हैं और दूसरा उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दी को वैकल्पिक भाषा के रूप में भी जो स्थान दिया गया है वह उदात्त राष्ट्रीय भावनाओं के आधार पर नहीं। अंग्रेज़ी की अनिवार्यता के लिए जो युक्तियाँ दी गई हैं यदि उन्हें सत्य मान लिया जाए तो तमिल को अनिवार्य बनाने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस घोषणा पत्र को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि यदि यह संभव हो सकता तो मद्रास राज्य के प्रशासक एकमात्र अंग्रेज़ी को ही एक अनिवार्य भाषा निर्धारित करते—तमिल को भी जो अनिवार्य भाषा घोषित किया गया है वह भी अवस्थाओं से बाधित होकर ही। जो युक्तियाँ एक भाषा को अनिवार्य बनाने के लिए ठीक समझी गई हैं वे ही युक्तियाँ दूसरी भाषा का अध्ययन करने के लिए ठीक नहीं समझी गईं।

अंग्रेज़ी और हिन्दी के सम्बन्ध में इस घोषणा-पत्र में कहा गया है: "अंग्रेज़ी समस्त स्कूलों और कालेजों में वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षण का माध्यम रही है और हिन्दी वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षण के माध्यम का स्थान ग्रहण नहीं कर सकती, दूसरे आधुनिक रचनात्मक विचारों तक अंग्रेज़ी की सीधी पहुँच है और हिन्दी की नहीं। हिन्दी की शिक्षा इसलिए भी मद्रास राज्य में अनिवार्य नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसा करने पर इस भाषा में उचित स्तर तक योग्यता प्राप्त किए बिना विद्यार्थी कालेजों में या उन व्यवसायों में जिनमें कालेजों तक की शिक्षा की योग्यता अनिवार्य है, प्रवेश नहीं प्राप्त कर सकेंगे।' इसके साथ ही हिन्दी के सम्बन्ध में इस घोषणा में यह कहा गया है: "यदि हिन्दी को मद्रास के स्कूलों और कालेजों में अनिवार्य कर दिया जाएगा तो इससे हिन्दी के प्रसार और प्रचार के उद्देश्य को पूरा करने में बाधा ही पहुँचेगी क्योंकि इससे यहाँ के लोग यह समझेंगे कि हमारे ऊपर हिन्दी सीखने का बोझ जबर्दस्ती लादा गया है और इस प्रकार उनमें हिन्दी के प्रति द्वेष की भावना फैलेगी।" प्रश्न यह है कि "हिन्दी को वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षण का माध्यम बनाने में जिन कमियों को अनुभव किया जाता है वे सब कमियाँ तमिल में भी है परन्तु इन्हीं कमियों के होते हुए भी राज्य के द्वारा तमिल को अनिवार्य निर्धारित कर दिया गया है। तमिल भी अब तक स्कूलों और कालेजों में व्यावसायिक और वैज्ञानिक शिक्षण का माध्यम नहीं रही और उसकी भी "आधुनिक रचनात्मक विचारों तक सीधी पहुँच नहीं है" परन्तु यदि इन सब कमियों के बावजूद भी तमिल को इसलिए अनिवार्य निर्धारित किया गया है क्योंकि तमिल मद्रास राज्य की अधिकांश में क्षेत्रीय भाषा है तो हिन्दी के अध्ययन को समस्त भारत की सरकारी भाषा या राष्ट्रीय भाषा के आधार पर क्यों अनिवार्य नहीं निर्धारित किया जा सकता? हिन्दी के अध्ययन को अनिवार्य करने का यह तात्पर्य तो नहीं है कि वह मद्रास राज्य में वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षण का माध्यम बन जाएगी। हिन्दी का अध्ययन एकमात्र भाषा के ज्ञान तक ही सीमित किया जा सकता है और उसे उतनी हद तक ही अनिवार्य बनाया जा सकता है। परन्तु मद्रास के प्रशासक यह समझते हैं कि यदि ऐसा किया गया तो "लोग यह समझेंगे कि उनके ऊपर हिन्दी सीखने का बोझ जबर्दस्ती लादा जा रहा है और इस प्रकार उनमें हिन्दी के प्रति द्वेष की भावना फैलेगी।" अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में लोग यह अनुभव क्यों नहीं करते कि उसको सीखने का बोझ उन पर जबर्दस्ती लादा जा रहा है! यदि अंग्रेज़ी अब तक "माध्यम" रही है—तो क्या इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसे हमारे देश पर जबरदस्ती नहीं लादा गया

है परन्तु जिन्हें अंग्रेज़ी का बोझ बहुत वर्षों से उठाने का अभ्यास हो गया है—उन्हें सम्भवतः यह अनुभव नहीं होता कि यह बोझ भी ज़बर्दस्ती लादा गया है और यदि इस बोझ को उठाने से लोगों में किसी प्रकार की द्वेष-भावना उत्पन्न नहीं हुई तो हमें यह समझ में नहीं आता कि वह हिन्दी के प्रति ही क्यों उत्पन्न हो जाएगी। हाँ, यदि वह द्वेष-भावना पहले से ही मौजूद हो तो दूसरी बात है। अंग्रेज़ों के प्रभुत्व के ज़माने में शिक्षा का क्षेत्र अत्यधिक सीमित था और उस समय भी कितने व्यक्ति थे जो अंग्रेज़ी में पूर्ण निपुणता प्राप्त कर सकते थे—परन्तु अब जब कि शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है और सर्वसाधारण के लिए शिक्षा को अनिवार्य किया जा रहा है, तब विद्यार्थियों के लिए अंग्रेज़ी को अनिवार्य बनाने का क्या अर्थ हो सकता है? क्या अधिकांश जनता को "वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षण" अंग्रेज़ी के द्वारा मद्रास राज्य में प्रदान किया जा सकता है और यदि किया जाएगा तो क्या इससे तमिल के पूर्ण विकास में रुकावटें उत्पन्न नहीं होंगी? जब मद्रास राज्य में समस्त शिक्षा का माध्यम तमिल हो जाएगी—तब मद्रास राज्य की समस्त जनता के लिए अंग्रेज़ी को अनिवार्य रूप से अध्ययन करने की क्या आवश्यकता रह जाएगी? ऐसी अवस्था में अंग्रेज़ी के अध्ययन को सुगमता से ऐच्छिक बनाया जा सकता है।

यह बात बिलकुल निश्चित है कि मद्रास राज्य में हिन्दी को वैकल्पिक बनाने के बावजूद भी मद्रास राज्य की अधिकांश जनता हिन्दी को अनिवार्य रूप से ही पढ़ेगी और जब अधिकांश जनता ऐच्छिक होते हुए भी हिन्दी को अनिवार्य रूप से पढ़ेगी तब उसे वैकल्पिक रखने की जो युक्तियाँ दी गई हैं वे कहाँ तक सत्य सिद्ध हो सकेंगी? हम समझते हैं कि यदि मद्रास राज्य के प्रशासक हिन्दी के प्रति जागरूक नहीं हैं तो उसके प्रति मद्रास राज्य की जनता अवश्य जागरूक है। मद्रास राज्य की भाषा-सम्बन्धी नीति की घोषणा में सबसे अधिक जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह थी तमिल और हिन्दी को निकट लाने का प्रयत्न करना—इन दोनों में पारस्परिक सम्बन्धों को मधुर बनाने का प्रयत्न करना—और इन दोनों में अभिन्नता स्थापित करना—परन्तु इस ओर मद्रास राज्य के प्रशासकों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है। हमें यह देख कर दुःख होता है कि हिन्दी के प्रति मद्रास के विधायकों और प्रशासकों का जो उत्तरदायित्व और कर्तव्य है वे उसके प्रति प्रबुद्ध नहीं हैं। अंग्रेज़ों के शासन के अतीत काल से निकल कर समस्त भारतवर्ष अपनी समस्त शक्ति के साथ जिस ओर अग्रसर हो रहा है उस नवीन-वर्तमान और उज्ज्वल-भविष्य की ओर उनकी आँखें अभी आकृष्ट ही नहीं हुई हैं। भारतवर्ष में भाषाओं की समस्या अंग्रेज़ी को अनिवार्य बनाने या हिन्दी को ऐच्छिक बनाने से हल नहीं हो सकती। यह समस्या भारतीय भाषाओं और हिन्दी को समुचित स्थान देने से ही हल की जा सकती हैं। भाषाओं का प्रश्न एकमात्र राजनैतिक प्रश्न ही नहीं है। इसके साथ भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का प्रश्न आन्तरिक रूप से जुड़ा हुआ है।

अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकाओं पर टैक्स

कैनाडा ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए अमरीकी पत्र-पत्रिकाओं पर टैक्स लगा दिया है। इस विषय में अमरीका का साप्ताहिक 'टाइम' लिखता है : "कैनाडा ऐसा राष्ट्र है जिसे अपने स्वतन्त्र व्यापार और स्वतन्त्र अभ्युद्योग पर अभिमान रहा है। एकाएक कैनाडा ने अपने इस मार्ग का परित्याग कर दिया है। बिना किसी चेतावनी के कैनाडा की सरकार ने अमरीकी विदेशी मेगज़ीनों के कैनाडी संस्करणों पर २० प्रतिशत टैक्स लगा दिया है। कैनाडा के वित्त-मन्त्री श्रीयुत वाल्टर हैरिस ने अपने भाषण में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यह टैक्स इसलिए नहीं लगाया गया है कि इससे कैनाडा की आय में वृद्धि होगी। यह टैक्स एकमात्र इसीलिए लगाया गया है कि जिससे कैनाडा अमरीकी पत्रों के प्रचार पर प्रतिबन्ध लग सके और जिससे कैनाडा की जनता में कैनाडा के पत्रों की अधिकतर मांग बढ़े। कैनाडा की जनता में कैनाडा के पत्रों का अधिकतर प्रचार हो।..." वित्त मन्त्री ने विदेशी मेगज़ीनों पर २० प्रतिशत टैक्स का प्रस्ताव करते हुए अपने बजट-भाषण में कहा : "...हमको कैनाडा की पत्रिकाओं को संरक्षण प्रदान करना होगा। कैनाडा की पत्रिकाएँ जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रही हैं।... हमारे राष्ट्रीय जीवन के निर्माण के लिए आवश्यक है कि पत्रिकाएँ कैनाडी लोगों द्वारा कैनाडी लोगों के लिए और कैनाडा के लोगों के विषय में हों ...हम कभी ऐसे

समय की कल्पना नहीं कर सकते जब कि हमारे देश कैनाडा की एक भी अपनी पत्रिका नहीं होगी।...'' इसका परिणाम यह हुआ है कि कई अमरीकी पत्र अपने कैनाडी संस्करणों के प्रकाशनों को स्थगित कर रहे हैं।

हमारे देश में पत्र-पत्रिकाओं को भारतीय या राज्यों के प्रशासन के द्वारा किसी भी प्रकार का विशेष संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता और यही कारण है कि उनका प्रसार अधिक नहीं हो पाता। वे किसी भी प्रकार जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रही हैं। हिन्दी हो या अन्य भारतीय भाषाएँ उन्हें अंग्रेज़ी के स्वदेशी और विदेशी पत्रों के सम्मुख अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। हमारा विश्वास है कि जब तक हिन्दी या भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं का हमारे देश की जनता में अधिकाधिक प्रसार नहीं होगा तब तक हमारे देश के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण नहीं हो सकेगा। भारतीय भाषाओं में दैनिक पत्रों की तो अब कुछ खपत होने लगी है परन्तु यदि उनकी भी अंग्रेज़ी पत्रों के प्रसार के साथ तुलना की जाए तो उनकी स्थिति कुछ विशेष महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती। परन्तु मासिक पत्र-पत्रिकाओं की खपत सर्वथा सन्तोषप्रद नहीं है। हमारे देश में अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकाओं का जो इतना अधिक प्रचलन है उसका कारण यह नहीं है कि इस देश की शिक्षित जनता अपनी भाषाओं से अंग्रेज़ी को अधिक समझती है परन्तु उसका कारण यह है कि भारतीय प्रशासन के द्वारा इन्हीं पत्र-पत्रिकाओं को अधिक संरक्षण प्राप्त होता है और इन्हें ही प्रशासन द्वारा प्रत्येक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जब जब इस बात पर विचार किया जाता है कि देशी भाषाओं में पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार क्यों अधिक नहीं होता तब तब अधिकतर उनकी भाषा आदि के सम्बन्ध में आलोचना की जाती है। कहा जाता है कि उनकी भाषा क्लिष्ट है और या इसी प्रकार की अन्य दलीलें दे दी जाती हैं। जब तक हमारे देश का प्रशासक वर्ग अंग्रेज़ी और विदेशी पत्रों को अधिक महत्व प्रदान करता है और भारतीय भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं को तरजीह नहीं देता तब तक साधारण जनता में भी उनके प्रति उत्साह और अभिरुचि जागृत नहीं हो सकती। "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" श्रेष्ठ व्यक्ति जिस प्रकार का आचरण करते हैं इतर मनुष्य भी वैसा ही आचरण करते हैं। यदि हमारे देश की पत्र-पत्रिकाओं के प्रति प्रशासकों और उच्च वर्गीय जनता के हृदयों में आकर्षण हो तो उन्हें इन पत्र-पत्रिकाओं के में विशेष दिलचस्पी उत्पन्न हो जाएगी और इससे जहाँ इन पत्र-पत्रिकाओं का स्तर ऊँचा होगा वहाँ राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में भी वे अग्रसर हो सकेंगी। जब तक हमारे देश की भाषाओं की अपनी पत्र-पत्रिकाओं का निर्माण नहीं होता तब तक वे भारतीय जीवन के अभ्युत्थान और निर्माण में विशेष सहायक सिद्ध नहीं हो सकतीं। यह सत्य है कि कोई भी पत्र-पत्रिका एकमात्र प्रशासन के संरक्षण पर ही निर्भर नहीं हो सकती तो भी यदि कैनाडा जैसे समुन्नत राष्ट्रों को अपनी पत्र-पत्रिकाओं को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक प्रतीत होता है तो हमारे देश में जहाँ एक ओर निरक्षरता अधिक मात्रा में है और दूसरी ओर शिक्षित वर्ग अपनी देशी भाषाओं की पत्रिकाओं के प्रति उदासीन हैं, वहाँ इनकी कितनी अधिक आवश्यकता है इसे आसानी से समझा जा सकता है।

जब किसी देश में विदेशी वस्तुएँ अधिक प्रचलित हो जाती हैं और देशी-उद्योगों का जीवित रहना कठिन हो जाता है तब एक राष्ट्र के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि देशी वस्तुओं को उनके प्रचार और प्रसार के लिए संरक्षण प्रदान किया जाए और विदेशी वस्तुओं पर टैक्स लगाया जाए। हमें तो वह समय दिखाई दे रहा है जब कि भारतीय प्रशासन को अंग्रेज़ी की पत्र-पत्रिकाओं पर टैक्स लगाना आवश्यक हो जाएगा क्योंकि इस प्रकार का टैक्स लगाए बिना देशी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं के लिए अपने अस्तित्व को कायम रखना कठिन है। यह टैक्स इसलिए नहीं लगाना पड़ेगा कि राष्ट्र की आय में वृद्धि हो-परन्तु इसलिए कि भारतीय भाषाओं का संरक्षण हो सके और उनका इस प्रकार पूर्ण विकास हो सके कि वे राष्ट्रीय जीवन के निर्माण और विकास के साधन बन सकें। संभव है कि अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं पर टैक्स लगाने की बात बहुत-से लोगों को रुचिकर न प्रतीत हो और वे शायद इसे हास्यास्पद भी समझें परन्तु परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय प्रशासन के लिए एक-न-एक दिन ऐसा करना आवश्यक हो जाएगा।

आइए ! मिलिए !!

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्ख़े बड़ी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल, हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

अजन्ता

रजिस्टर्ड नं. H. ५९१ Regd. No. H. 5

अजन्ता

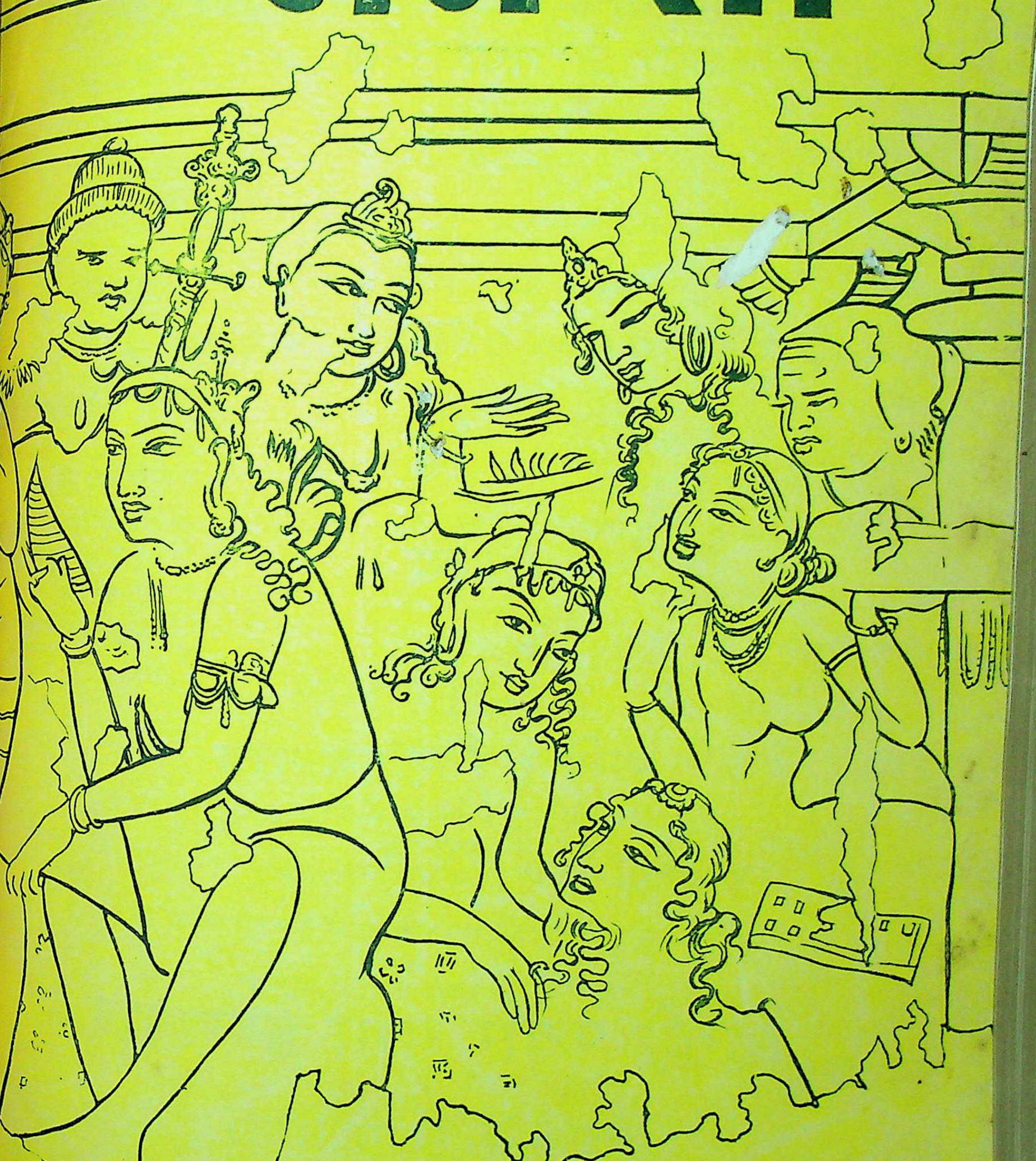

वर्ष ८

मई १९५६

अंक ५

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
सा
हि
त्य
की
प्राप्ति के लिए एक मात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

नामपल्ली रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हि

टेलिफोन नं. ५४५०

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४

तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७

:::

सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है
या
कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात

हैदराबाद-द. से मँगाइए।

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक-हिन्दी-साहित्य
के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

अभिजात

: सम्पादक :

हरिमोन : रवीन्द्र भ्रमर

●

प्रथम भाग

- साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

मूल्य दो रुपए मात्र

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

: व्यवस्थापक :

८. गुर्टू छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. ● एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२

वसुधा

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक

रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता

पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी
की साहित्यिक डायरी।
अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।
नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृ

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक ७

पत्र व्यवहार का पता

वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३२६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३२३

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी-मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक………

आपका-स्वास्थ्य

………के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए— वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, 'आपका स्वास्थ्य', बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।॥)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

प्रधान सम्पादक : श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल

सम्पादक : श्री हर्षदेव मालवीय

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≈)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

हिन्दी साहित्य में स्पृहणीय वृद्धि

कहानी-विशेषांक

प्रतिभा

का

आगामी जुलाई १९५६ को प्रकाशित हो
रहा है हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों
एवं अन्य भाषाओं की महान् कहानियों
का अमूल्य संग्रह।

मूल्य : एक रुपया

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड
वर्धा—रोड, नागपुर—१

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

उच्चकोटि की साहित्यिक एवं शिक्षाप्रद रचनाओं के
साथ ही साथ राष्ट्रद्रोही फिल्मों के विरुद्ध खुला
युद्ध छेड़ने वाला भारत का प्रथम पत्र

सचित्र मासिक

ऊषा

- बम्बई, आन्ध्र, भोपाल, मध्यभारत एवं मध्यप्रदेश राज्य सरकार के शिक्षा विभागों द्वारा स्वीकृत
- जिसके सुरुचिपूर्ण साहित्य की सभी प्रशंसा करते हैं।
- कालेज लायब्रेरियों तथा सार्वजनिक वाचनालयों में जिसे पढ़ने के लिए लोग झूम जाते हैं।
- स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ चरित्र निर्माण के लिए प्रोत्साहन देना ही जिसका मुख्य उद्देश्य है।

वार्षिक सदस्यता शुल्क ४)

नमूने की प्रति के लिए छः आने के टिकट भेजें

व्यवस्थापक : **भोज प्रकाशन धार [म. भा.]**

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द**, वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशियारपुर—पंजाब

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुरा नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्र है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई क जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लि है। संकलन कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्त रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग ते के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य : चार रुपए।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-गद्य सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के विस्तृत टिप्पणी ओर विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पु आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ सख्या लगभग २ डेमी साइज़। मूल्य : छः रुपए।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन का मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य : ३) रुपए।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकल प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हि के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अं हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य : पौने दो रुपए।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। रंगमंच के उपयुक्त है।

व्यवस्थापक : **पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्र**

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तक प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. **बालपद** : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ** : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ। लेखक—श्री रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १** : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ** : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी** : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकाँकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०८०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल** : अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २** : लेखिका श्री विमला लूथरा। ०-६-०

प्रेस में :

१. दक्खिनी का व्याकरण	श्रीराम शर्मा
२. दक्खिनी का इतिहास	श्रीराम शर्मा
३. रहीम का अप्रकाशित काव्य: दम्पति विलास	
४. पञ्चामृत (मराठी)	
५. मराठी साहित्य का इतिहास	
६. शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़ (अंग्रेज़ी)	वंशीधर विद्यालंकार

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी., नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर,
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है
इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का
अतएव संग्रहणीय होता है।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

वार्षिक मूल्य ८) अर्धवार्षिक ४)
[सरकारी विज्ञापनों के लिए स्वीकृत]

साप्ताहिक सेनानी

इसे गाँव गाँव घर घर में लोग इसलिए पढ़ते हैं कि :
* 'सेनानी' राजस्थान का एक विश्वस्त पत्र है।
* 'सेनानी' दलगत राजनीति से ऊँचा रहना जानता है।
* 'सेनानी' नेताओं की भड़ौती से नहीं अपनी कलम से जीवित है।
* 'सेनानी' ठोस विचारों और विश्वस्त समाचारों का पत्र है।
* 'सेनानी' राजस्थान की समस्याओं पर गहराई विचार करता है।
* 'सेनानी' का कलेवर भरती के लेखों से भरा नहीं होता।
* 'सेनानी' रास्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र है।

अपने 'सेनानी' के ग्राहक बनिए।
अपने मित्रों को 'सेनानी' के ग्राहक बनाइए :

व्यवस्थापक, साप्ताहित 'सेनानी'
सेनानी कार्यालय' बीकानेर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ मई १९५६ अङ्क ५

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी
फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

मधुमयी वेदना
—आरसीप्रसाद सिंह १
दुपहरिया की पुकार
—वीरेन्द्रकुमार जैन ३
तुम न आयीं !
—विनोद रस्तोगी ५
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले
—कुमारी मधु ७
कवि
—हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय
अनु० : वंशीधर विद्यालंकार ८
दिग्दिगन्त-गामी बौद्ध धर्म
—श्याम विमल शास्त्री ९
साहित्य-सृजन और साहित्यकार
—देवेन्द्र इस्सर १३
तीन नवीनतम उपन्यास : तीन नई धाराएँ
—हरिप्रसाद त्रिपाठी २२
हिन्देशियाई साहित्य के गत पच्चीस वर्ष : एक सिंहावलोकन
—जेम्स. एस. होम्स
रूपान्तर : शरद् देवड़ा २८
संघमित्रा
— संतराम ३१
शोर और संगीत
—कर्तारसिंह 'दुग्गल' ३३
कादिरयार कृत राजा रिसालू
—घनश्याम सेठी ४५
सपने की सचाई
—कोडवटिंगटि कुटुंबराव
अनु : बालशौरि रेड्डी ५४
तेलुगु लोक-गीत
—डी. मंजुलता ६०
सपने और धूप
—कु० लक्ष्मी मेहरोत्रा ६१
कला-चर्चा : कला रस की प्रेरणा
—नन्दलाल बसु
अनु० : भगवानदास पुरोहित
कला-समाचार ६४
चिट्ठी-पत्री
अजन्ता के सम्बन्ध में : मंजुला; कृष्णा सक्सेना; कैलाश कल्पित; श्रीकृष्ण शर्मा; रवीन्द्र भ्रमर; ओंकारनाथ शर्मा; प्रकाश-कुमार; डी. मंजुलता । ६६
नीर-क्षीर
साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश, जिन खोजा तिन पाइयाँ, कहानी कुसुम : वंशीधर विद्यालंकार; भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ, चोली-दामन, क़सम कुरान की (एकांकी नाटक), फूल बच्चा और ज़िन्दगी, विनायकराव अभिनन्दन ग्रन्थ, प्राणगीत, हमारे सहयोगी, निकष-२ : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर । ७०
सामयिक
ब्रिटेन में छः भाषाएँ; भगवान् बुद्ध की मानसिक चिकित्सा में देन; तेलुगु ओपेरा ७६
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार ८०
चित्र :
दूर कहीं दीपक जलता है; चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

एक प्रति का मूल्य : १६
वार्षिक मूल्य : ६)

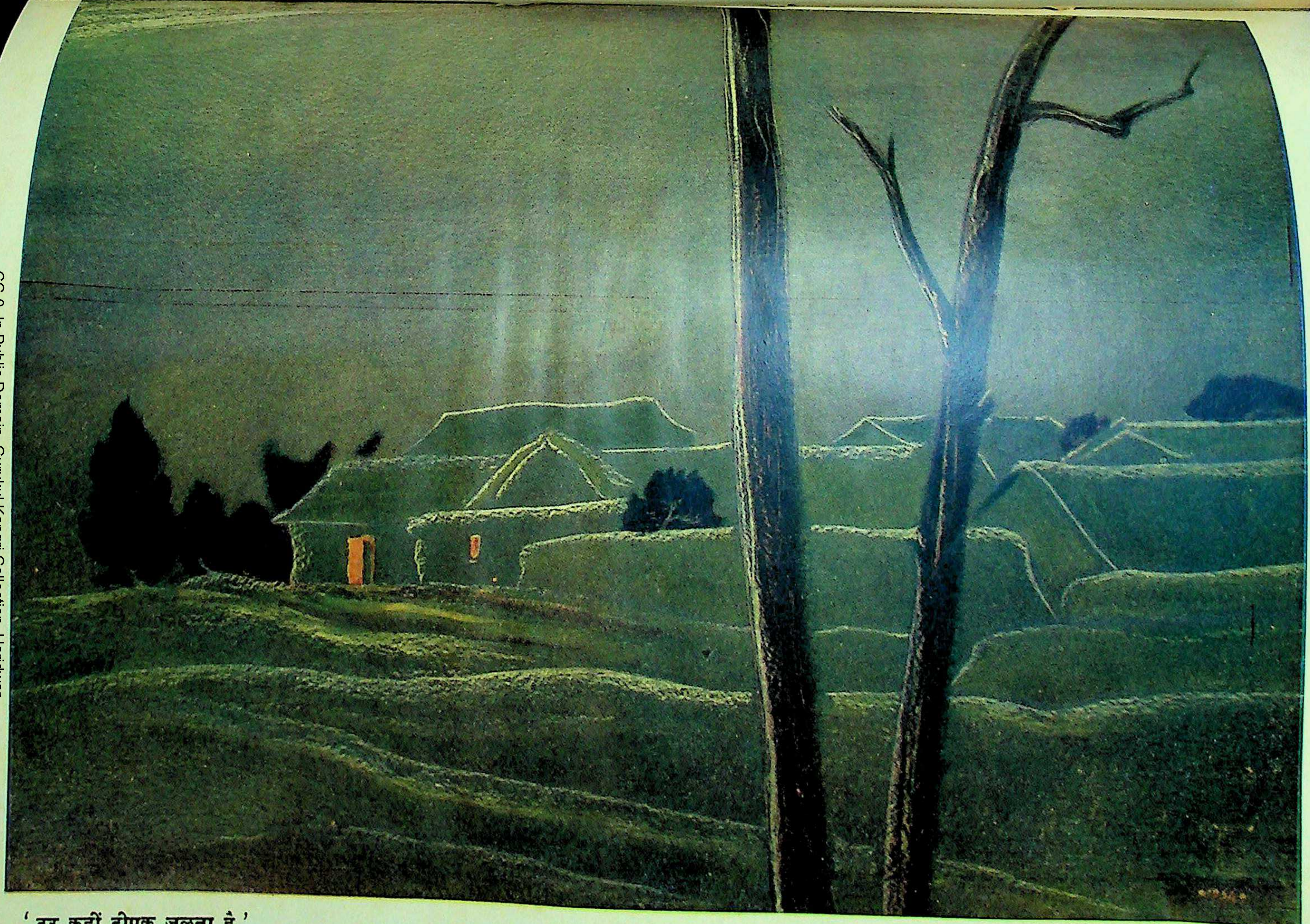

‘ दूर कहीं दीपक जलता है ’ अजन्ता चित्रकार : श्री विश्वनाथ मुखर्जी

अजन्ता

वर्ष ८ अङ्क ५

मधुमयी वेदना

मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है!
अकल्पित कल्पना भी तब
सहज साकार होती है!
कभी की कामना कोई
कभी का राग है कोई!
मधुप के मर्म में जलती
कुसुम की आग है कोई!
हृदय की प्रीति जीवन में
नहीं दो बार होती है!
मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है!
न आते हैं बुलाने से
हटाने से न जाते हैं!
भला यह क्या बनावट है
खड़े हैं, मुसकुराते है!
न मेरी जीत होती है
न उनकी हार होती है।

मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है !
उठाया भी नहीं जाता,
किसी का फूल-सा बन्धन !
भुलाई भी नहीं जाती
प्रणय की एक वह चितवन !
विवादी दो सुरों की यों
सदा तकरार होती है !
मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है !
नहीं कुछ था, न कुछ भी है
असम्भव प्रेम के पथ पर !
शिला भी तैर जाती
एक दृग संकेत से सागर !
कमल की पंखड़ी भी तो
कहीं तलवार होती है !
मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है !
चले हैं डाल शशिमुख पर
अमा का एक तम घूँघट !
किसी भी ओर से मिलती
न कोई पाँव की आहट !
मिलन के क्षण अपरिचय की
खड़ी दीवार होती है !
मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है !
लता यह कल्पना की है
नयन के अश्रु पर पलती !
सुरभि ले चाँदनी की छवि—
लहर के पंख पर चलती !
सफल यों गीत-फूलों की
फ़सल तैयार होती है !
मधुर है वेदना भी जब
कि सीमा पार होती है !

—आरसीप्रसाद सिं

तारामण्डल, राजेन्द्र पथ
पटना—१

१९५६

दुपहरिया की पुकार

फागुन की उन्मन, उन्मादिनी दोपहरी,
प्राणों को बींधती नीरवता फैली है
जन-रव के कोलाहल की रेखा भी
यहाँ आते-आते डूब चली है
पके हुए गेहुँओं का निर्जन खेत दूर तक फैला है
उस किनारे जामों के पीले-हरे बाग हैं

भूमि को छूते हुए पेड़ों पर
काँप रही है शून्यता दुपहरिया की :
नीचे उनके घनी सीली छाँह में
खूब हरी-हरी सब्ज़ी लहलहा रही है
कुँए के धारे पर कोई नहीं है !

पास ही दो-चार बबूलों की ओट—, वहाँ
मिट्टी का घर है :
आधे भाग पर उसके छाए हैं टिन—आधे पर खपरैल
खपरैल पर फैली है कुम्हड़े की बेल
निर्जन आँगन में दीख रहा है खुला दरवाज़ा—
जिसमें से झाँक रहा घर के भीतर का अँधियारा
जी में उठ रहा है : क्या वहाँ नहीं है कोई ?

...पर वह खुला दरवाजा : वह भीतर का अन्धकार ?
मेरे प्राणों में वही चिरकाल का प्रश्न-दीप जल उठा :
'ओ अन्धकार, तुम कौन हो—कौन हो ?'

...कि सहसा काँटों की बाड़ की ओर से निकल आई
वह पीली ओढ़नी...!

पलक मारते में वह
उस दरवाज़े के अन्धियारे में लीन हो गई !
फिर घर का आँगन सूना था
पर जाने कैसी नव चेतना की व्याकुलता
वहाँ बिखर-बिखर गई

गेहूँ के पीले खेत में से हलकी-सी हवा सरर-सरर बह गई
जाम के बागों में चिर कलियाँ
'चिरिर-चिरिर' बोल चुप हो गईं
बबूल की विरल डालों में वन-टिटहरियाँ
'टीर-टीर कीर-कीर' कर उस गहन
अबोले को भंग कर गईं

पर उस मिट्टी के घर का आँगन सूना ही है :
और वह दरवाज़ा खुला है—
वहाँ सब स्तब्ध, मौन, निश्चल है।

पर उस घर के झाँकते अँधेरे में से
यह कौन-सी जन्मान्तर-वाहिनी पुकार
मेरे अन्तर के अतल ससेदरों को
आकुल ऊर्मिल किए दे रही है—
आज इस फागुन की सूनी दुपहरिया में !

गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड,
विलेपारले, बम्बई-२४

—वीरेन्द्रकुमार

१९५६ .

तुम न आयीं !

तुम न आयीं,
तुम न आयीं !

आ गई गोधूलि बेला
और पनघट पर लगा सौन्दर्य-मेला,
मैं अकेला;
हैं धुएँ से पूर्ण राहें;
और सूनी हो गयीं सब चरागाहें;
रुक गए दिन के थके-हारे बटोही;
पंछियों ने नीड़ की ध्वनियाँ जगायीं !
तुम न आयीं !!

आ गए उद्भ्रान्त तारे;
और सपनों की परी ने पर पसारे;
स्वप्न आए,
और पलकों में सभी की सब समाए;
पर न मेरे इन दृगों में तुम समायीं !
तुम न आयीं !!

दृष्टि मेरी है डगर पर,
कान आहट पर लगे हैं,

और मैं अपलक दृगों से—
देखता हूँ राह, सुन्दर !
ले नयन में नीर—
मन में पीर लेकर !
अश्रु आए—
तुम न आयीं !!

हो गई तर आँसुओं से घास—
रोई रात इतनी,
हो गए तर आँसुओं से गाल मेरे
क्या प्रतीक्षा के क्षणों का मूल्य—
भी अब चुक सकेगा मोतियों से ?

उषा आयी लाज का दामन उड़ाती
और ढुलकाती हुई मदिरा-कलश से—
मस्त लाली !
किरण आयी,
और कलियाँ मुसकरायीं !
तुम न आयीं !
तुम न आयीं !!

—विनोद रस्तोगी

७/१४०, स्वरूप नगर,
कानपुर,

अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

धरा पर लुटाया नहीं प्यार अब तक
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

समय की तृषित आत्मा के अधर पर अभी तो सुधा बूँद बनना मुझे है,
अभी तो किसी झोपड़ी की अमा में मधुर चाँदनी सी उतरना मुझे है
किसी नव कली को उठा धूल में से बनाया नहीं देव शृंगार अब तक,
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

हुई मौन आँसू भरा गीत गाकर उसी आँख में अब सपन तो बसा लूँ,
बिना प्यार के चल रहा जो अकेला ज़रा उस पथिक की थकन तो मिटा लूँ,
किसी की लुटी-सी, बुझी ज़िन्दगी में बुलाया नहीं दीप त्यौहार अब तक
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

चलेंगे बहुत इस कंटीली डगर पर ज़रा बीन कर शूल पथ साफ़ कर लूँ,
बहुत कुछ किया है, बहुत कुछ सहा है ज़रा माफ़ हो लूँ, ज़रा माफ़ कर लूँ,
किसी की बहकती नज़र को बदल कर दिखाया न रंगीन संसार अब तक,
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

अभी खेत, खलिहान, चौपाल, पनघट नदी के किनारे ज़रा घूम लूँ मैं
उमड़ती घुमड़ती बरसती घटा में ज़रा भीग लूँ मैं ज़रा झूम लूँ मैं
उमर घट रही है, सफ़र बढ़ रहा है उठी पर हृदय से न झंकार अब तक
अरे मौत अपना क़दम तू हटा ले

निकल देह के पींजरे से किसी दिन कहीं प्राण-पंछी करेगा बसेरा,
कभी प्रात होगा, कभी दिन ढलेगा कभी फिर हँसेगा सुनहरा सबेरा
चलूँ साथ कैसे, लगी पैंठ है पर न पूरा हुआ साँस व्यापार अब तक
अरे मौत अपना कदम तू हटा ले

८४ बड़ा बाजार, चन्दौसी
(उत्तर प्रदेश)

—कुमारी मधु

कवि

मैं कवि, अपनी लेखनी को
अपने ही रक्त में डुबो कर
समस्त मनुष्यों के लिए लिखता हूँ
मेरा प्रत्येक गीत
जीवन से थके-हारों को
ऐसे लोगों को जिनके लिए जीवन
नीरस हो चुका है
नया रक्त और नवीन जीवन-रस प्रदान करता है

मैं अपने हृदय के रुधिर के द्वारा
ऐसे गीतों का प्रणयन करता हूँ
जो कि धरती से लेकर तारों भरे आकाश तक व्याप्त हो जाते हैं

मेरी कविता की प्रत्येक पंक्ति
देव और मनुष्य के भेद को दूर कर देती है

मैं इस लिए नहीं लिखता
क्योंकि मैं लिख सकता हूँ
मैं इसलिए लिखता हूँ
क्योंकि लिखना मेरा धर्म है
मेरा जन्म सृष्टि के प्रारम्भ के साथ हुआ था
मैं मिट्टी के कणों में से फूलों को विकसित करता हूँ
युगों तक लोग मेरी वाणी को बोलते रहेंगे
मेरे शब्दों में ध्रुव सत्य है
स्रष्टा मनुष्य से बड़ा और कौन-सा भगवान् है !

— हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्या
अनु० : वंशीधर विद्याल

४५१, हिमायत नगर,
हैदराबाद दक्षिण

दिग्दिगन्त-गामी बौद्ध धर्म

"भारत हमारी जाति के लोगों की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की माता थी। वह हमारे दर्शन की माता है, अरबों के द्वारा वह हमारे गणित शास्त्र के अधिकांश की माता है। बुद्ध के द्वारा वह ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की माता है। गाँव सम्प्रदायों के द्वारा वह स्वायत्त-शासन तथा प्रजातन्त्र की माता है। भारत माता अनेक रूपों और प्रथाओं में हम सब की माता है।"

भारतीयता ने पश्चिम पर क्या प्रभाव डाला, इसका प्रमाण उपरिलिखित स्थल में एक अमरीकी दार्शनिक विल डुरांट द्वारा लिखित उदार विचार हैं। भले ही वैदिक काल से भारतीय संस्कृति का प्रभाव फैलने लगा था परन्तु इन पंक्तियों में हम बौद्ध-धर्म के विश्वव्यापी होने की चर्चा करेंगे। बुद्ध की २५००वीं जयन्ती भारत एवं सारे सुदूर दक्षिण पूर्व के देश श्रीलंका में मनाया जा रहा है, जहाँ उसने पश्चिम के ईसाई धर्म को अपने सिद्धान्तों से प्रभावित किया वहाँ वह सुदूरपूर्व के सारे देशों में और नेपाल, तिब्बत, चीन और दक्षिण में लंका एवं मध्य-एशिया में भी फैल गया। 'सूची-कटाह' न्याय के अनुसार पहले हम पश्चिम पर बुद्ध प्रभाव की चर्चा करते हैं।

बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक अथवा शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का जन्म कपिलवस्तु (नैपाल) के लुम्बिनी उद्यान में लंका की परम्परानुसार ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व हुआ था। इसी के अनुसार ही ८० वर्ष की आयु तक जीवित रह कर कुशिनानगर (कसिया) में इनकी मृत्यु हुई।

इनका विवाह यशोधरा से हुआ था जिससे एक पुत्र हुआ। इसी समय सिद्धार्थ को सांसारिक दुःखपूर्ण दृश्यों ने विरक्त कर दिया और वह २९ वर्ष की आयु में घर छोड़ वन की ओर चल पड़े। कई गुरुओं के पास रह कर भी वे जीवन रहस्य को न समझ सके, अत्यन्त कठोर तपस्याएँ कीं तो भी आत्म-शान्ति न मिली। फिर एक बार बुद्ध गया में एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे इन्हें बोध प्राप्त हुआ। इसी से उस वृक्ष को बोधि-वृक्ष कहा जाता है। उस समय इनकी आयु ३५ वर्ष थी। प्रबुद्ध होकर बनारस के निकट हिरण उद्यान (सारनाथ) में आपने प्रथम धार्मिक उपदेश किया। यहीं से बुद्ध का फैलाव शुरू होता है। उनके शिष्यों ने इस उपदेश को जहाँ तहाँ फैलाना शुरू किया। फिर इसे राजकीय संरक्षण भी मिल गया। उस समय का ब्राह्मणवाद अथवा रूढ़िवाद जो कर्मकाण्डों और यज्ञ में पशुबलि पर विश्वास करता था और जहाँ आचार गिरने लगा था, बुद्ध के सरल और सदाचारी उपदेशों के आगे डगमगा गया। इस सरल मध्यम मार्ग की ओर संत्रस्त लोग झुकने लगे।

बौद्ध धर्म भारत की कला की विभिन्न शाखाओं पर छाने लगा। अहिंसा तो हिन्दू धर्म का अंग बन गई। और हिन्दुओं ने अनीश्वरवादी बुद्ध को ईश्वर का अवतार मान लिया।

बुद्ध के उपदेशों ने राजनीतिक वातावरण में वह प्रभाव पैदा किया कि प्रजातन्त्र प्रणाली व्यापक होती गई। उस समय जिस-जिस देश से व्यापारिक सम्बन्ध बनता गया वहाँ-वहाँ बौद्ध धर्म प्रविष्ट होता गया।

भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल मौर्य काल में प्रभुत्व पर था। वह कुशान काल में दो अंगों में—हीनयान और महायान में विभक्त हो गया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का प्रसार भारत में शंकराचार्य आदि के खण्डनों और विदेशियों के भारत में प्रवेश पाने के कारण कम पड़ गया, परन्तु विदेशों में फैलने लगा। बौद्ध धर्म विदेशियों का आश्रय बना जो कि धर्महीन थे। यह ठीक है कि पश्चिम में ईसाई धर्म था, तो भी उसमें कई त्रुटियाँ थीं। ईसाई धर्म ने बौद्ध धर्म की कई बातें अपने में जोड़ लीं। बौद्धों की रीतियाँ, पूजापाठ की विधियाँ ले ली गईं। भ्रातृत्व का कठोर अनुशासन, घंटे बजाना, गुलाब के फूलों का उपयोग, ये भी बुद्ध धर्म की देन है। इस समय तिब्बत में भी बौद्ध धर्म घर कर चुका था। उसके बाद सन् १८४२ में अबे हक नामक कैथोलिक यात्री ने तिब्बत की यात्रा में जो बौद्ध प्रभावित तिब्बती उत्सव देखे तो उनका कैथोलिक उत्सवों से सामंजस्य देख, वह साश्चर्य हो उठा। उसने अपने यात्रा वर्णन में लिखा है : बौद्ध मठाधीशों की छड़ी, टोपी, वस्त्र

हमारे (ईसाई) पादरियों के समान हैं। ईश्वरीय वेदी की चौकी भजन मन्त्र, पांच जंजीरों का धूपदान, अपने भक्तों के सिर पर हाथ फैला कर लामाओं का आशीष देने का तरीक़ा, माला, बौद्ध भिक्षुओं का हमारे पादरियों के समान अविवाहित जीवन बिताना, संसार से अलग रहना, ऋषि, पूजा, जुलूस, प्रार्थनाओं के निश्चित संग्रह आदि कई बातें हमारे ईसाई धर्म की सी हैं।"

"सरमन आन दी माउण्ट" में दिया गया ईसा का अहिंसा सन्देश और ईसाई गिरजाघरों एवं बौद्ध चैत्यों में सामंजस्य तथा ईसाई धर्म में महात्मा बुद्ध को 'जोसेफ़ात' नामक ऋषि के रूप में लिया जाना और उनकी पूजा करना स्पष्ट ही ईसाई धर्म पर बुद्ध का प्रभावद्योतन करते हैं।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के नए धर्म और बौद्ध धर्म में निकट सामंजस्य है।

इसी तरह रूस के सिलवेन वेली, एडुअर्ड शैवर्न्स, माइनेर सेशर बाट्स्की तथा इटली के तुकी, रीस डेविड्स, औल्डेबर्ग आदि प्रसिद्ध यूरोपीय लेखक और विद्वान् बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए।

आज भी पश्चिम के विद्वान् बौद्ध धर्म में श्रद्धा रखते हैं और बौद्ध दर्शन के अनुसन्धान में व्यस्त रहना अपना गौरव समझते हैं। अपराध रूप में कई विरोधी भी हैं, पर यह बात तो बुद्ध भूमि भारत में भी है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसा बाद द्वितीय शताब्दी तक बौद्ध धर्म ने भारत में धारा प्रवाह विस्तार पाया और इसका नेतृत्व महायान ने द्वितीय शताब्दी के लगभग किया। प्रथम भाग हीनयान बौद्ध धर्म के प्रारंभिक स्वरूप को बनाए रखता है। हीनयानी उस बुद्ध को महापुरुष मानते हैं, जिसने नानाविध योनियाँ पार कर अन्त में संबोधि और निर्वाण प्राप्त किया।

महायानी बुद्ध को लोकोत्तर पुरुष और गौतमबुद्ध को केवल अवतार मानते हैं। महायान बुद्ध-धर्म का उत्तर विकास है, इसमें भक्ति तत्व की प्रधानता आती है। महायान ने लोक-धारणाओं को ग्रहण किया।

इसके अतिरिक्त तृतीय भाग भी हुआ जो वज्रयान कहलाता है। इसमें तान्त्रिक भावना का समावेश है। इसमें सिद्धि महत्वपूर्ण है। अतः पन्थ-प्रवर्तक सिद्ध कहाते हैं। इनमें प्रसिद्ध सिद्ध ८४ हैं, सिद्धों में ब्राह्मणेतर व्यक्ति और स्त्रियाँ भी हैं।

हीनयान लंका, स्याम, बर्मा आदि तक ही सीमित रहा, किन्तु महायान मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व (चीन-जापान आदि) में फैला। अतएव हीनयान को 'दक्षिणी बौद्ध धर्म' और महायान को 'उत्तरी बौद्ध धर्म' कहा गया है।

मध्य एशिया में : मौर्यकाल के बाद से मध्य-एशिया से भारत का व्यापार बहुत होता था। यह व्यापार उस पर्वतीय मार्ग से सम्बन्धित था जो काबुल से बलख की घाटी तक गया हुआ था। पश्चिम से पूर्व को जाने वाली एक सड़क भी इस मार्ग में हिन्दूकुश के उत्तर से गुजरती हुई आकर मिलती थी। इन मार्गों से बौद्ध धर्म का भी निर्यात हुआ, इस बात का प्रमाण कुछ वर्ष पूर्व मध्य एशिया में पाए गए वे खण्डहर हैं जो तत्कालीन बौद्ध मठों को प्रगट करते हैं। ये गोबी के रेगिस्तान में दब गए थे।

रोम साम्राज्य के समय सिकन्दरिया (मिस्र) बड़ा केन्द्र था जहाँ से भारतीय संस्कृति और व्यापार का आदान-प्रदान पश्चिम को हुआ।

सुदूर पूर्व एवं दक्षिण पूर्व में : भारत पर विदेशियों के प्रवेश एवं स्थानीय ब्राह्मणवाद द्वारा उठाए विरोध स्वरूप बौद्ध धर्म का रूप बदल गया। वह हिन्दू धर्म के प्रभाव में आता गया। बुद्ध को भगवान् मान लिया गया। भक्ति तत्व की प्रधानता होती गई। सुदूर-पूर्व को सन्यास की कम और भक्ति की अधिक आवश्यकता थी, अतः इसने दूसरे रूप को, जिसे महायान कहते हैं, शीघ्र अपना लिया।

किन्तु जब बौद्ध धर्म अपनी आरंभिक अवस्था में था तब यह सर्व प्रथम भारत से बाहर लंका में गया। अशोक के समय से ही बौद्ध धर्म लंका में पहुँचा और वह लंका का मुख्य धर्म हो गया। लंका ने इसकी उत्साह, निष्ठा एवं पवित्रता से रक्षा की। लंका से ही संसार को बौद्ध धर्म की कथाएँ ज्ञात हुईं। पाली में लिखित लंका के बौद्ध इतिहास दीपवंश और महावंश बहुत प्रसिद्ध हैं। बोधि वृक्ष का एक अंश भी वहाँ जो गया से वहाँ ले जाया गया था। बुद्ध की अस्थियाँ भी लंका ले जाई गई थीं। लंका में वे शिला लेख भी जिन पर अशोक की ब्राह्मी लिपि में बौद्ध भिक्षुओं को दिए गए धार्मिक दानों का विवरण लिखा है।

पाली जातकों में उल्लेख है कि ईसा पूर्व ५ वीं शताब्दी में भारतीयों द्वारा पूर्व की ओर स्वर्ग-द्वीप के लिए जल यात्राएँ की गईं। सम्भवतः यह स्वर्ग-द्वीप बर्मा, जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी द्वीप रहे होंगे। बौद्ध-धर्म की पौराणिक कथाओं में यह बात स्पष्ट होती है कि 'सौन' और 'उत्तर' नामक दो सांस्कृतिक मण्डल बर्मा को भेजे गए।

दक्षिणी बर्मा में पाए गए ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के भग्नावशेष इस बात को सिद्ध करते हैं कि सबसे पहले निचले बर्मा (दक्षिण में) बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, और इससे यह भी सिद्ध होता है कि बौद्ध-भिक्षु स्थल-मार्ग से उत्तरी-बर्मा न जाकर जल-मार्ग से दक्षिणी-बर्मा पहुँचे। बाद में उत्तरी-बर्मा के राजा अनावृत ने दक्षिणी-बर्मा को विजय किया और वह वहाँ से बौद्ध सिद्धान्तों, ग्रन्थों, भिक्षुओं, भाषा और कला-कौशल को अपने राज्य में ले आया। मन्दिरों के धातु निर्मित घण्टे, घड़ियाल, बौद्ध पौराणिक कथाओं के सुनहले और काले रोगन के चित्र, बड़े-बड़े पगोडा तथा सोते-मुस्कराते बुद्ध की प्रतिमाओं से बौद्ध-धर्म की तत्स्थानीय प्रधानता लक्षित होती है। अब बर्मा की ९० प्रतिशत जनता बौद्ध-धर्मावलम्बी है। बर्मी इतिहास में ११वीं, १२वीं, १३वीं शताब्दियाँ महत्वपूर्ण हैं। इसी काल में बौद्ध-धर्म और साहित्य की उन्नति बहुत हुई। बर्मा तो बिहारों और स्तूपों का देश है। मध्य-बर्मा की १६ वर्गमील भूमि केवल पगोडाओं से भरी है। बर्मी भाषा में धर्म स्थान के लिए प्रयुक्त 'पगोड़ा' शब्द सिंहली 'दगोबा' का बर्मी रूपान्तर है। दगोबा शब्द पाली धातु 'गब्ध' (संस्कृत धुातु 'गर्भ') का विकृत रूप है। प्रत्येक पगोड़ा के अन्दर बुद्ध या उनके शिष्य-प्रशिष्य के अवशेष हैं। बर्मा में प्रत्येक मनुष्य को कम से कम तीन दिन के लिए प्रव्रज्या लेकर भिक्षु बनना पड़ता है। स्याम में यह प्रथा है। मांडले में संगमरमर के पत्थर पर सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक लिखा हुआ है जो बौद्ध-धर्म के प्रति निष्ठा का द्योतक है।

मलाया में तो अनेक भारतीय बसे। यहाँ ब्राह्मण धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों का प्रचार हुआ और दोनों फैले। मलाया से स्याम की जुड़ती हुई सीमा पर मन्दिर, स्तूप और बुद्ध मूर्तियाँ हैं।

थाईलैण्ड (स्याम) और हिन्द-चीन में हिन्दू धर्म की अपेक्षा बुद्ध-धर्म कम प्रसारित हुआ। स्याम में कुछ बौद्ध मन्दिर बनवाए गए थे। कम्बोडिया के राजा हिन्दू और बौद्ध-धर्म दोनों के अनुयायी थे। कम्बोडिया के जंगलों और पर्वतों में पुरातन भग्नावशेष मिले हैं उनमें एक मन्दिर महायान बौद्ध देवता 'प्रज्ञापरिमिता' का है इसका नाम 'ता प्राह्म' है।

इण्डोनेशिया में मुख्यतः जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली में भारतीय उपनिवेश बसे थे। इन्हें सुवर्ण द्वीप कहा गया है। किन्तु बौद्ध-धर्म केवल जावा में ही प्रसृत हुआ। जावा में सबसे सुन्दर स्मारक बौद्ध स्मारक पाया जाता है। यह जावा के केद्रू समतल भूमि में स्थित बोरोबुडर का प्रसिद्ध स्तूप है।

बोरोबुडर एक पर्वत का ऊपरी भाग है, इसको काट-काट कर ९ बड़े चबूतरे बनाए गए थे। इन चबूतरों पर बने कटघरों के बाहरी भागों पर ऐसे अनेक ताक हैं जहाँ ध्यानस्थ बुद्ध की ५ मूर्तियाँ हैं। ऐसी मूर्तियों की संख्या ४३२ है, अन्य बरामदों में ऐसी ही बुद्ध प्रतिमाएँ हैं। यहीं १५०० शिल्प पट्टिकाएँ हैं, इन पर महायान बौद्ध ग्रन्थों की कथाएँ लिखित हैं। इन कथाओं में बुद्ध के विभिन्न अवतारों के जीवन चरित्र, युवावस्था में की गई साधना की कथा तथा बुद्ध की यात्राओं का वर्णन भी अंकित है।

मध्य-एशिया के राज्यों में से खोटान राज्य द्वारा ही बौद्ध-धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। खोटान मध्य-एशिया दक्षिणी राज्य था। फ़ाहियान ने खोटान मूर्ति-यात्राओं का वर्णन किया है। उसने वहीं २५० फुट ऊँचे सोने चाँदी के जड़े एक मठ के होने का भी उल्लेख किया है, जिसके निर्माण में ८० वर्ष लगे थे। किन्तु मंगोल लोगों ने यहाँ बुद्ध-धर्म को वैसे नष्ट कर डाला जैसे भारत में। किन्तु चीन, तिब्बत और सुदूर पूर्व में यह सुरक्षित रहा और कई परिवर्तनों को प्राप्त होता रहा।

भारत के उत्तर में, नेपाल में, अशोक ने बौद्ध-धर्म चलाया था। संसार की बर्फ़ीली छत तिब्बत बौद्ध-धर्म से प्रभावित होने वाला अन्तिम देश है। सातवीं शती में तिब्बत के राजा स्ट्रांगचान गेम्बो ने नेपाल की बौद्ध राजकुमारी से विवाह किया, तो इससे बौद्ध-धर्म का प्रवेश तिब्बत में हो चला। इस राजा की चीनी और नेपाली रानियाँ बुद्ध की मूर्तियाँ अपने साथ ले गई थीं। तिब्बत के निजी धार्मिक विश्वास भूतविद्या, टोना,

टोटका आदि बुद्ध-धर्म में मिल गए। इसके अतिरिक्त सातवीं शती में तिब्बत में बुद्ध-धर्म को ले जाने का श्रेय पद्मसम्भव को भी है जिसने नालन्दा में शिक्षा पाकर बौद्ध महायन मत का प्रसार तिब्बत में जाकर किया।

नौवीं शती में सन्त रक्षिता ने पुनः तिब्बती बौद्ध-धर्म को नया रूप दिया। १३ वीं शती में मंगोलों में भी बौद्ध-धर्म फैल गया। इस तरह से तिब्बत की भाषा, लिपि, साहित्य, कला आदि हर क्षेत्र पर भारत से गया बौद्ध-धर्म छा गया।

ईस्वी सन् ६० में चीनी सम्राट मिंग-ती-सा ने भारत में एक प्रतिनिधि मण्डल भेजा था जो कि बौद्ध-धर्म सम्बन्धी सूचनाएँ संग्रह करने आया था। यहीं से भारत-चीन में सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ा। चीन में पहुँचने वाले प्रथम भारतीय भिक्षु कश्यप मातंग और धर्मराक्षस थे। चीन में 'तांग' शासन की चार शतियों का समय बौद्ध-धर्म के विकास का समय था। भारतीय बौद्ध-धर्म चीन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गया।

ईस्वी सन ४०५ में चीन से फाहियान आया और ४११ तक रहा। सन् ६३० में चीन से ह्वेनसांग आया और यह १५ वर्ष तक भारत में रहा। इन्होंने भारत में अत्यन्त उन्नत दशा में बौद्ध-धर्म को पाया, और उसके प्रभाव का सुन्दर विवरण अपने यात्रा वर्णनों में किया। ६८५ में आइसिंग भी भारत आया था पर उस समय भारत की स्थिति बिगड़ चुकी थी।

ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग मध्य में बौद्ध-धर्म चीन से कोरिया पहुँचा और वहाँ से वह जापान में पहुँचा छठी शताब्दी में।

इस तरह कला, साहित्य, धर्म, आचार, व्यवहार किसी न किसी रूप में बुद्ध-धर्म का सूर्य प्रत्येक दिशा में प्रकाशमान हुआ। भारत से प्राप्त सामान्य सांस्कृतिक सम्पत्ति के प्रति जागरूकता में कम-से-कम सम्पूर्ण एशिया एक है। इससे यह धारणा बलवती होती जा रही है कि पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ाने का एक-शील नेहरू-आविष्कृत जिन पाँच-शीलों में है, ऐसा पंचशील-सिद्धान्त अवश्य ही शान्ति-प्रिय देशों और मानवता को एक संगठन में ला सकता है। हमें आशा करनी चाहिए कि बुद्ध की इस २५००वीं जयन्ती के शुभ-मुहूर्त पर सभी बुद्ध धर्मावलम्बी राष्ट्र तो कम-से-कम सांस्कृतिक एकता का नारा बुलन्द करके शेष युद्ध-प्रिय राष्ट्रों के फौजी संगठन को बेकार सिद्ध कर देंगे और अपना आध्यात्मिक संदेश उन तक पहुँचा देंगे।

विमलकुटीर, I-B/२२,
लाजपतनगर, नई दिल्ली

—श्याम विमल शास्त्री

चर्चिल "माइक" पर

"मुझ से पूछा गया कि चर्चिल जब 'माइक' पर बोलते हैं, तो उन्हें क्यों इतनी सफलता प्राप्त होती है?" मैंने उत्तर दिया : "बात यह है कि चर्चिल ब्रौडकास्टिंग के सब नियमों को तोड़ देते हैं।" वे वहाँ अपनी आवाज़ को गिरा देते हैं, जहाँ उन्हें उसे उठाना चाहिए था; वे विराम की सब स्वीकृत प्रणालियों में परिवर्तन कर देते हैं और उनके बोलने में स्पष्टता नहीं होती। यह सब कुछ होते हुए भी एक भाषणकर्ता के रूप में उनके पास कुछ ऐसी शक्ति है और वे जनता की नाड़ी को ऐसा पहचानते हैं कि पिछले युद्ध के दिनों में लाखों व्यक्ति उनके भाषण का एक-एक शब्द बड़े आनन्द और तन्मयता के साथ श्रवण किया करते थे।

—रिचर्ड डिम्बलवी

साहित्य-सृजन और साहित्यकार

साहित्य की प्रकृति, उसका प्रयोजन एवं मूल्यांकन एक दूसरे से सदा इस प्रकार सम्बद्ध रहे हैं कि उन्हें पृथक् पृथक् खण्डों में नहीं विभक्त किया जा सकता। इनके अस्तित्व की शर्त इनका अविभाज्य पारस्परिक सम्बन्ध है। किसी भी वस्तु के मूल्यांकन के लिए उसकी प्रकृति एवं उसके प्रयोजन का जानना आवश्यक होता है। उस वस्तु की प्रकृति एवं उसके प्रयोजन का निर्धारण होता है। उसकी प्रकृति का यह आग्रह है कि उसका निश्चित उद्देश्य उपलब्ध हो जाए, जिसके लिए उसका अस्तित्व हुआ है, या उसका सृजन हुआ है। प्रत्येक वस्तु की पूर्णता उसके विशिष्ट प्रयोग में है, जिसको कि उस वस्तु की प्रकृति ने जन्म दिया है। अतः जब मूल्यांकन की कसौटी का प्रश्न उठता है तो हमें इन बातों का चिन्तन करना अनिवार्य है कि उस वस्तु की प्रकृति क्या है? उस प्रकृति से क्या प्रयोजन संबद्ध है और इस प्रयोजन की पूर्ति कैसे हो सकती है। इसके उपरान्त हम व्यावहारिक रूप में किसी कला कृति का मूल्यांकन कर सकते हैं। साहित्य एवं कला की प्रकृति, उसके प्रयोजन और उसके मूल्यांकन के परिमाप में मतभेद रहा है, अतः उसके मूल्यांकन की आलोचना की कला में विभिन्न दृष्टिकोण प्रयुक्त होते रहे हैं। सिद्धान्तों के इसी संघर्ष से साहित्यिक विवाद की दिशाएँ परिवर्तित होती रही हैं तथा साहित्य में विभिन्न प्रयोग होते रहे हैं, जिनसे सृजनात्मक तथा आलोचनात्मक साहित्य की उन्नति के नित्य नूतन मार्ग खुलते रहे हैं।

जब हम इन सिद्धान्तों का मनन करते हैं तो सबसे पूर्व कला को कला के स्तर पर ही परखने का सिद्धान्त सम्मुख उपस्थित होता है। "कला कला के लिए" का सिद्धान्त साहित्य में किसी विशिष्ट उद्देश्य के अस्तित्व तथा उसकी पूर्ति के विरुद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी उपयोगिता नहीं, अपितु उसके सौन्दर्यात्मक तथा कलात्मक तत्व हैं। अतएव कलाकृति को किसी नैतिक अथवा उपयोगात्मक दृष्टिकोण से नहीं, अपितु सौन्दर्यानुभूति के प्रकाश में परखना चाहिए। साहित्य का संपूर्ण उद्देश्य साहित्य ही है, अर्थात् कलात्मकता अथवा सौन्दर्यानुभूति को गम्भीरता एवं विशालता प्रदान करके उसे प्रभाव की उसी गम्भीरता तथा विशालता से व्यक्त कला की संपूर्णता है। इस सम्बन्ध में "कला कला के लिए" के प्रसिद्ध समर्थक ए. सी. ब्रैडले के विचार विचारणीय हैं।

"कविता कविता के लिए" का सिद्धान्त इस अनुभव के विषय में हमें क्या बताता है? जैसा कि मैं समझता हूँ, इसका अभिप्राय यह हो सकता है, प्रथम यह कि अनुभव स्वयं अपने आप में उद्देश्य है। यह इस योग्य है कि अपनी विशिष्टता के कारण ही प्राह्य है। इसका अपना आन्तरिक मूल्य है। दूसरे, इसका कवित्व मूल्य ही केवल इसकी आन्तरिक विशिष्टता है, (अर्थात्) सभ्यता अथवा धर्म के वाहन के रूप में, क्योंकि यह प्रशिक्षण का कार्य करता है। भावों को कोमल बनाता है। किसी श्रेयस्कर उद्देश्य को आगे बढ़ाता है, अथवा कवि के लिए ख्याति, धन तथा स्वान्तःसुख देता है। यहाँ तक तो बात यथार्थ है। बेशक इन बातों के लिए भी काव्य का मान किया जाए, परन्तु इसकी दूरस्थ विशिष्टता प्रत्यक्ष रूप में इसकी कवित्व विशिष्टता का निर्धारण एक सन्तोषजनक काल्पनिक अनुभव के रूप में नहीं करती और न ही कर सकती है। इसका मूल्यांकन पूर्णतया आन्तरिक (विशिष्टता से) होना चाहिए। कवि की सृजनात्मक प्रक्रिया में अथवा पाठक की अनुभव की क्रिया में दूरस्थ उद्देश्यों का विचार उसके कवित्व मूल्य को कम कर देता है। इसका कारण यह है कि यह (कसौटी) कवित्व को उसके वातावरण से पृथक् करके उसकी प्रकृति के परिवर्तन का हेतु बनती है, क्योंकि कवित्व की प्रकृति न तो वास्तविक संसार का अंग बनती है और न ही उसकी नक़्ल (इमीटेशन) जैसा कि इस शब्द का हम साधारणतया तात्पर्य लेते हैं) अपितु यह अपने में ही एक संसार है, स्वतन्त्र, संपूर्ण तथा स्वाधीन।

ब्रेडले के इस सिद्धान्त पर पर्याप्त वाद-विवाद की गुंजाइश है। क्या कला अपने आप में स्वयं उद्देश्य है? क्या इसका कोई उपयोगात्मक पक्ष नहीं? क्या सभ्यता

संस्कृति, धर्म एवं शिक्षा का स्तर वही है जो ख्याति तथा धन है? क्योंकि ब्रेडले ने इन सब को एक ही सतह पर ला खड़ा किया है; यद्यपि साहित्य, सभ्यता और संस्कृति की उन्नति का उद्देश्य अपने अन्दर लिए होता है। क्या कला की महत्ता उसके कलात्मक पक्ष से ही पैदा होती है, या उसके लिए कला के अतिरिक्त किसी दूसरे पक्ष की भी आवश्यकता पड़ती है। क्या कवित्व किसी दूरस्थ मूल्य का सम्मिश्रण कर के कवित्व-मूल्य को कम कर देता है? क्या कवित्व मूल्य की कमी में दूरस्थ उद्देश्य के सम्मिश्रण के बजाय कवि की अपनी कलात्मक प्रतिभा और सृजनात्मक शक्ति कहीं अधिक उत्तरदायी नहीं होती और सुकवि की कला में यह दूरस्थ उद्देश्य उसकी कला को चिरन्तनता और गौरव नहीं प्रदान करता? क्या कला वास्तविक जगत् का अंश नहीं है? क्या यह जीवन से प्रभावित नहीं होती और जीवन को प्रभावित नहीं करती? क्या जीवन के अतिरिक्त कला का कोई पृथक् साम्राज्य संभव है जो अपने आप में सम्पूर्ण और पूरा हो। विशुद्ध कला-वाद आलोचना में तो किसी सीमा तक प्रयोजनीय हों तो हों परन्तु कला-सृजन में इसका अस्तित्व संभव नहीं, जब तक कि साहित्यकार स्वयं कोई देशकालातीत वास्तविकता न बन जाए। कला में जीवनीय तत्वों का संमिश्रण है और जीवन मूल्य का रुझान अनिवार्य है। साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी भी यही है। साहित्य का मूल्यांकन, कलात्मक एवं उपयोगात्मक पक्षों के समन्वय से ही हो सकता है.

क्रोचे के विचार में मानसिक प्रक्रिया को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। १. धारणा-निर्मात्री-क्रिया २. मूर्तकरण की क्रिया। कला का सृजन इस दूसरी क्रिया अर्थात् मूर्तकरण की क्रिया से संबद्ध है। मूर्तकरण की क्रिया मानस की प्रथम क्रिया है। मानस जो प्रतिबिंब ग्रहण करता है, उसके आधार पर मूर्तीकरण की क्रिया संपूर्णता को प्राप्त होती है। मूर्त या मूर्तकरण परम्परा की मानसिक रचना तो सौन्दर्य है जो कि दृश्यमान वस्तु के तत्व को ग्रहण कर लेती है। सौन्दर्य का सम्बन्ध उस बाह्य रूप से नहीं, जिसमें कि वह प्रकट होता है, अपितु आन्तरिक मूर्त से है। कलात्मक प्रक्रिया की यह विशिष्टता है कि कलाकार बाह्य संसार से असंपृक्त, अपनी अनुभूतियों की व्यंजना के लिए संपूर्ण मूर्त की रचना करता है जो कि उसकी सहज-प्रज्ञा से क्रियाशील होती है। सहज प्रज्ञा पूर्ण दृष्टि, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण कल्पना है। सौन्दर्य की सृजनात्मक क्रिया उसके बाह्य रूप में नहीं, अपि तु उसकी आन्तरिक मूर्तकरण की क्रिया में है। जहाँ तक कला की बाह्य अभिव्यंजना का सम्बन्ध है, उसका आधार यान्त्रिक टेकनीक और दस्तकारी है। क्रोचे ने अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है:

"कला सदा कल्पना से जन्म लेती है। आन्तरिक मूर्त इसका एकमात्र भण्डार है। वह वस्तुओं का वर्गीकरण नहीं करती, उन्हें वास्तविक या काल्पनिक स्वीकार नहीं करती, उनकी विशिष्टता को निर्धारित नहीं करती, उनकी परिभाषा नहीं करती; अपि तु उनकी अनुभूति और अभिव्यंजना करती है, इसके सिवा कुछ नहीं। जब हम किसी सुन्दर कलाकृति से रस लेते हैं, तो हम सदा अपनी सहज प्रज्ञा की ही अभिव्यंजना करते हैं। यह मेरी अपनी ही सहज-प्रज्ञा है कि शेक्सपीयर का अध्ययन करते हुए मैं हैमलेट या ओथैलो की मूर्ति बना लेता हूँ।"

इस प्रकार क्रोचे ने कल्पना, सहज-प्रज्ञा, मूर्तकरण तथा कला-सृजन को एक ही क्रिया स्वीकार किया है। क्रोचे ने इस विचार को असमीचीन कहा है कि एक कलाकार और साधारण जन में मूर्त को बाह्य रूप में व्यक्त करने की टेकनीक का ही अन्तर है। वास्तव में यह अन्तर मूर्त को बाह्य रूप में व्यक्त करने का नहीं, अपि तु जो मूर्त किसी वस्तु की व्यंजना करता है, उसकी आन्तरिक रचना का है। कला का सृजन कलाकार के मस्तिष्क में ही हो जाता है, उसकी बाह्य अभिव्यंजना और इस अभिव्यंजना का बाह्य रूप कलात्मक क्रिया नहीं। इस सम्बन्ध में क्रोचे ने लिखा है:

"जब हम आन्तरिक शब्द पर पूर्ण अधिकार प्रा कर लेते हैं, जब हम स्पष्ट और साफ़ तौर पर किसी मूर्त या मूर्ति का ग्रहण करते हैं, जब हम किसी सं के सांगीत्य को उपलब्ध करते हैं—अभिव्यंजना जन्म लेती है, और यह सम्पूर्ण है, इसके आगे कुछ आ श्यकता नहीं रह जाती। यदि उस समय हम अ मुँह खोलते हैं, बोलते हैं या गाते हैं...तो हम ऊँ ध्वनि में वही कुछ कहते हैं, जो हम अपने अन्तर पहले ही कह चुके हैं, ऊँचे स्वर में गाते हैं, जो कि

१६५६

पहले ही अपने अन्तस् में गा चुके हैं। यदि हमारा हाथ पियानों पर पड़ता है यदि हम पेन्सिल या छैनी लेते हैं, तो ऐसी क्रियाएँ इच्छा प्रेरित हैं। (उनका सम्बन्ध व्यावहारिक क्रिया से है, न कि सौन्दर्यात्मक क्रिया से) और तब हम जो कुछ कर रहे हैं, वह महती चेष्टाओं में वही कुछ है जो कुछ हम पहले ही संक्षिप्त और द्रुत रूप में कर चुके हैं।"

इस सारे विवाद से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कला विशुद्ध रूप में आन्तरिक एवं व्यक्तिगत क्रिया है और यह क्रिया अपने आपमें संपूर्ण है, इसलिए कला का मूल्यांकन उसकी सत्यता अथवा उसकी उपयोगिकता से नहीं किया जा सकता। कला सत्य की व्याख्या अथवा जीवन की आलोचना करने के कारण नहीं, अपि तु कला होने के नाते ही उत्कृष्ट है। अनातोले फ्रान्स के शब्दों में "हम लोग कभी नहीं जान सकेंगे कि कोई वस्तु क्यों सुन्दर है, कोई भी कभी मुझे ठीक मार्ग नहीं बता सकता, जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं सौन्दर्य के लिए अपनी अनुभूति का अनुसरण करता हूं। क्या मनुष्य को इससे बढ़ कर कोई पथ प्रदर्शक मिल सका है। यदि मुझे सौन्दर्य और सत्य में से एक को चुनना पडे तो मैं बिना किसी हिचकिचाहट के सौन्दर्य को चुन लूंगा। संसार में सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई सत्यता नहीं।"

क्रोचे और उसके समान विचार वाले कलाकार इस बात पर विश्वास रखते हैं कि जब भी कोई मनुष्य मूर्तकरण करता है तो वह कलाकार है, चाहे उसकी बाह्य अभिव्यंजना हो या न हो। सोचविचार से बहुत पहले कला जन्म ले चुकती है। क्योंकि धारणा के मुकाबले में कल्पना को प्रधानता है अतएव कलात्मक क्रिया या मूर्तकरण की क्रिया तार्किक एवं बौद्धिक क्रिया से पूर्व ही अभिव्यक्त हो जाती है। कलाकार जो सौन्दर्य सृजन करता है और द्रष्टा जो विचार करता है उनमें अभिव्यंजित मूर्त ही सौन्दर्य रहस्य है। कला सहज-प्रज्ञा और कल्पना से जन्म लेती है और आन्तरिक मूर्त की अभिव्यंजना कला की प्रक्रिया है। इन चारों में मूर्त एवं सौन्दर्य दोनों अभिव्यंजना हैं और सहज-प्रज्ञा या अभिव्यंजना ही कला है।

क्रोचे ने कला के प्रयोजन पर जो विचार प्रस्तुत किए हैं, उनसे कई प्रश्न उठते हैं। मानस की रचना किन तत्वों से हुई है ? इनकी पारस्परिक क्रिया क्या है ? क्या कला केवल मूर्तकरण की क्रिया से संबद्ध है ? पैपिनी के शब्दों में क्रोचे का समस्त सौन्दर्य ढांचा कला के मिथ्या नाम ढूँढने के अतिरिक्त कुछ नहीं। संक्षेप में और स्पष्टतया सूत्र यह है :

कला-सहजप्रज्ञा, अभिव्यंजना, अनुभूति, कल्पना, मनोकल्पना, प्रगीतात्मकता, सौन्दर्य।

यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि क्या प्रत्येक वह मनुष्य जो मूर्तकरण की क्रिया करता है, कलाकार है ? क्या कलात्मक क्रिया केवल मूर्तकरण तक ही सीमित है ? उसे बाह्य रूप प्रदान करने में नहीं ? यह कैसे ज्ञात हो कि कलाकार के मस्तिष्क में क्या क्रिया हो रही है और क्या वह उसे उसी मूर्तकरण के अनुसार व्यक्त करने में सफल हुआ है या नहीं। जब कलाकार अपनी कोई कृति प्रस्तुत करता है तो क्या उसके लिए सौन्दर्य के अतिरिक्त या विषयगत या उपयोगिता की कसौटी निर्धारण करना ठीक नहीं ? जब कीट्स यह कहता है कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य और सौन्दर्य आनन्द का चिरन्तन स्रोत है, तो क्या इससे यही तात्पर्य लिया जा सकता है, जो अनातोल फ्रान्स का है या "कला कला के लिए" सिद्धान्त में अचेतन रूप से सत्य, सौन्दर्य और सुख अनुभूति का समन्वय हो जाता है और इस प्रकार कला का उपयोगी पक्ष भी सम्मुख आ जाता है। और या सत्यता में सौन्दर्य नहीं है। इस स्थान पर टी. एस. इलियट का यह कथन स्मरण रहे :

"साहित्य की साहित्यिकता को हमें सौन्दर्य की कसौटी से जाँचना चाहिए, परन्तु उसकी महत्ता के लिए सौन्दर्य के अतिरिक्त भी कोई कसौटी होती है। किसी कविता में जीवन का दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए जो कि सुगठित और प्रौढ़ हो और वास्तविक अनुभव पर आधारित हो"—सुगठित, सौन्दर्यात्मक और तार्किक कसौटी है और प्रौढ़ता, मनोवैज्ञानिक।

एल. ए. रीड ने भी उसी विचार का समर्थन किया है :

"महत्ता, कला के विषयगत पक्ष से उत्पन्न होती है। साधारणतया कला की महत्ता इस पर आधारित है कि वह किस सीमा तक जीवन के महान् मूल्यों की अभिव्यक्ति करती है।"

इससे यह अभिप्राय नहीं कि साहित्य को किसी विशिष्ट सिद्धान्त के प्रचार का साधन बनाया जा सकता है, अपितु यह कि कलाकृति में किसी न किसी उद्देश्य या मूल्य का सम्मिश्रण अनिवार्य है। कांट के शब्दों में इस उद्देश्यता को बिना किसी उद्देश्य के होना चाहिए अर्थात् साहित्य का उद्देश्य किसी बाह्य क्रिया को चेष्टा में लाना नहीं, अपितु उसे मनुष्य के मानसिक स्तर पर प्रकट करना है।

साहित्य के इस विशुद्ध सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण के विरुद्ध उपयोगितावाद साहित्य की उद्देश्यता पर बल देता है। टालस्टाय, रिचर्ड और मार्क्सवादी आलोचक काडवैल और प्लेखनोव अपने मतभेदों के बावजूद मूलतः इस सिद्धान्तों के समर्थक हैं। इनके विचार में साहित्य का एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रयोजन है, इस लिए साहित्य में सामाजिक उद्देश्य और मूल्यों का होना आवश्यक है।

टालस्टाय साहित्य को मानव समाज के विकास का एक भरपूर और उपयोगी साधन स्वीकार करता है। वह साहित्य को केवल सौन्दर्यानुभूति या सुखानुभूति का अस्त्र नहीं मानता, अपितु मानव जाति का कल्याणकारी मानता है साहित्य का मूलतत्व भाव है, क्योंकि साहित्य मानवतावाद और विश्वबन्धुत्व के प्रचार का साधन है, इसलिए उसे ऐसे भावों की अभिव्यक्ति करनी चाहिए जो इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहायक सिद्ध हो। साहित्यकार के सामाजिक उत्तरदायित्व के कारण टालस्टाय साहित्य की उपयोगिता पर विश्वास रखता है और जनता और धर्म को उदात्त भावों का मूल स्रोत समझता है। टालस्टाय के विचार में जनता के भाव ही सच्चे होते हैं और धर्म के द्वारा साहित्य में मानवता और विश्वबन्धुत्व के तत्व सम्मिलित होते हैं। हमें साहित्य के द्वारा केवल यही व्यक्त नहीं करना कि 'क्या है' अपितु यह भी कि 'क्या होना चाहिए'। इस दृष्टिकोण से साहित्य उपयोगी भी है और आदर्शवादी भी। साहित्य का मूल्यांकन उसकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही किया जाएगा। टालस्टाय ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"आर्ट अर्थात् हमारे युग के आर्ट को विशुद्ध अर्थों में कैथोलिक अर्थात् विश्वजनीन होना चाहिए। परिणामतः समस्त मानव जाति को एक सम्बन्ध में सम्बन्धित करना चाहिए। अनुमति के दो पक्ष हैं जो समस्त मानव को एक संबन्ध में बाँधते हैं। पहला पक्ष जो मनुष्य को परमपिता के पुत्र के रिश्ते में और विश्वबन्धुत्व के ज्ञान से पैदा होता है और दूसरा पक्ष उन साधारण, परन्तु महत्वपूर्ण अनुभूतियों का है, जो बिना किसी अपवाद के सभी मनुष्यों में समान होते हैं। उदाहरणतः हर्ष, आत्मा की नम्रता और मानसिक शान्ति इत्यादि। अनुभूति के केवल ये ही दो प्रकार हैं, जो हमारे युग के साहित्य का विषय बन सकते हैं और जो कि अपने विषय के अनुसार उपयोगी हैं……मानव जाति का बन्धुत्व केवल धर्म से ही हो सकता है।……कला का प्रयोजन हिंसा को समाप्त करना है और यह कार्य केवल कला ही कर सकती है।

साहित्य इससे उद्देश्य को किस तरह पूर्ण कर सकता है, टालस्टाय ने इस सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किए हैं :

"अपने अन्तःकरण में इस अनुभूति को जागृत करना, जो कि उसने पहले अनुभव की है और अपने अन्दर जागृत करने के पश्चात् उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि दूसरे भी उससे वही प्रभाव ग्रहण करें। कला की विषयवस्तु का मूल्यांकन युग की धार्मिक चेतना जीवन के अर्थ को उच्च स्तर पर समझने का नाम है और इसी से मनुष्य का सम्बन्ध परमात्मा के साथ और दूसरे मनुष्यों के साथ स्थिर होता है।"

रिचर्ड्स भी 'कला कला के लिए' के विरुद्ध कला को स्वयं साध्य, निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं मानता, अपितु उसकी उपयोगिता पर बल देता है, क्योंकि साहित्य अनुभवों की अभिव्यक्ति का साधन है और इन अनुभवों में मूल्यों का सम्मिश्रण होता है। जिसके कारण पाठक पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। रिचर्ड्स के साहित्य-चिन्तन को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। मूल्यात्मक और कलात्मक। मूल्य का सम्बन्ध विषय से है। और कला का रूप से या अभिव्यक्ति से। रिचर्ड्स के विचार में वह भाग जो किसी अनुभव के मूल्य को स्पष्ट करता है, आलोचनात्मक भाग है और जो किसी वस्तु को वर्णन करता है वह उसका शैली-पक्ष है। साहित्य का आलोचनात्मक पक्ष या भाव-पक्ष मनोविज्ञान से उत्पन्न होता है, इसलिए मूल्यों को स्पष्ट करने के लिए किसी विशिष्ट नैतिकता

आध्यात्मिक (मैटाफ़िज़िकल) सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं। रिचर्ड्स ने साहित्य में भाव-पक्ष को अधिक महत्व दिया है, परन्तु उसके विचार में यदि कला-पक्ष भी उच्च हो तो भाव-पक्ष अधिक महान्, सशक्त और प्रभावशाली हो जाता है। साहित्य का प्रयोजन यही है कि भाव-पक्ष और कला-पक्ष में संतुलन क़ायम किया जाए। रिचर्ड्स मूल्य की व्याख्या प्रवृत्ति और निवृत्ति के दृष्टिकोण से करता है, जो समस्त मानवीय प्रवृत्तियों को धारण करती हैं। प्रवृत्ति पदार्थों की ओर आकर्षित होती है और निवृत्ति उनसे दूर हटती है। इसलिए प्रत्येक वह पदार्थ मूल्यवान् है, जिसके द्वारा प्रवृत्ति परिपूर्ण होती है, क्योंकि सभी प्रवृत्तियों की पूर्ति सम्भव नहीं। अतएव वह पदार्थ मूल्यवान् है जो अधिक महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के दमन किए बिना किसी प्रवृत्ति की पूर्ति करे। प्रवृत्तियों के जिस संगठन से मानवीय सम्भावनाओं का कम से कम भाग कुंठित हो, मूल्यवान् है। इसलिए रिचर्ड्स के विचार में जो साहित्यकार मूल्यों की सापेक्षता को समझता है, वह अधिक सन्तुलित साहित्य रचना कर सकता है और उसके साथ ही मनुष्य के मन की विशृंखल अवस्था को दूर करके संतुलित स्थिति में ले आता है, क्योंकि बिना किसी संगठन के मूल्य समाप्त हो जाता है। विशृंखल अवस्था में महत्वपूर्ण और अमहत्वपूर्ण प्रत्येक प्रवृत्ति परिपूर्ति से दूर हो जाती है। रिचर्ड्स साहित्य को सार्वजनिक वस्तु इसलिए मानता है कि सामान्य-जीवन की सामान्य कामनाएँ ही कलात्मक मृन्य की, साधिका रह जाती हैं। रिचर्ड्स के सिद्धान्त को 'मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद' इसलिए कहते हैं कि उसने इस उपयोगिता को मनोवैज्ञानिक भूमिका पर सिद्ध किया है।

साहित्य की उपयोगिता पर कार्ल मार्क्स के अनुयायियों ने सबसे अधिक बल दिया है। मार्क्स के विचारों ने साहित्यिक आलोचना को एक नवीन और वैज्ञानिक दृष्टि से देखने के लिए अग्रसर किया है। मार्क्सवादी आलोचकों में काडविल और प्लेखनोफ़ को श्रेष्ठ सम्मान प्राप्त है। मार्क्सवादी आलोचकों के सिद्धान्त के अनुसार साहित्य समाज की समस्त जीवन व्यवस्था की भांति उस समय के आर्थिक स्तर पर आधारित है। जैसे-जैसे मनुष्य उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करता है, नए सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है, तो इस परिवर्तन की प्रक्रिया में स्वयं भी परिवर्तित हो जाता है। उसके विचारों और उन विचारों से उत्पन्न पदार्थों में परिवर्तन प्रकट होते हैं, परन्तु जब नैतिकता, राजनीति और समाज-शास्त्र इत्यादि जन्म ले चुकते हैं, तो वह तनिक स्वतन्त्र रूप में विकसित होने लगता है। वे अपने सिद्धान्त-गति की प्रणाली बना लेते हैं, वह नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं और पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस क्रिया में साहित्य और कला भी सम्मिलित हैं। परन्तु उनकी वास्तविक प्रेरणा आर्थिक ही होती है। आर्थिक व्यवस्था साहित्य को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करती, अपितु वह पहले समाज के ऊपर के ढाँचे अर्थात् राजनीति, धर्म, समाज-शास्त्र तथा दर्शन में परिवर्तन लाती है और फिर उनकी पारस्परिक क्रिया से साहित्य भी प्रभावित होता है। एंजल्स ने सचेत किया है कि आर्थिक-व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करती।

चेतना और साहित्य कलाकार के पृथक् अस्तित्व का प्रतिबिम्ब नहीं। कला उनके समस्त सामाजिक सम्बन्धों के सामूहिक अस्तित्व का प्रतिबिम्ब है। साहित्यकार संसार और उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विशिष्ट सिद्धान्त विरासत में पाता है, क्योंकि जिस वर्ग में वह पैदा होता है, उसका चिन्तन उसके अनुकूल होता है और यदि साहित्यकार के सरपरस्त भी उसी वर्ग से सम्बन्ध रखते हों, तो उसे अपने सिद्धान्त में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु वह अपने वर्ग के विरुद्ध भी साहित्य रचना कर सकता है और यह उस समय संभव है, जब कि वह अपने अनुभवों के प्रकाश में एक ईमानदार कलाकार के कर्तव्य का पालन करना अनिवार्य समझता है। यह उसी दशा में संभव है, जब कि उसे यथार्थ या वास्तविकता का ज्ञान हो और वह इस वास्तविकता में परिवर्तन लाना चाहता हो। इसीलिए वह क्रान्तिकारी साहित्यकार होता है।

सृजनात्मक क्रिया सचेतन होती है, परन्तु कलाकृति में कलाकार सचेतनापूर्वक अथवा अचेतनापूर्वक अपनी विचारधारा को प्रकट करता है। विचारधारा के इसी व्यक्तीकरण के कारण कला कलाकार की सामाजिक और नैतिक क्रिया मानी जाती है। व्यापकता और सत्यता के साथ जीवन की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्नों की कसौटी से साहित्य का मूल्यांकन किया जा

सकता है। साहित्य के इस भौतिकवादी सिद्धान्त को प्रस्तुत करने के उपरान्त मार्क्सवादी आलोचक साहित्यकार के लिए साहित्य-सृजन की क्रिया और उनके तत्वों के लिए कुछ सिद्धान्त स्थित करते हैं, जो कि उनके विचार में साहित्य की उपयोगिता में सहायक सिद्ध होते हैं। उनके निकट साहित्यकार को ''सामाजिक यथार्थवाद'' पर अमल करना चाहिए। गोर्की के कथनानुसार :

''यथार्थ के संपूर्ण अस्तित्व से मौलिक धारणा को पृथक् करके उसका मूर्तवाद में अन्तर्भाव करने को यथार्थवाद कहते हैं, परन्तु जो धारणा पृथक् की गई है। उसमें हम रुचिकर और संभाव्य तत्व सम्मिलित कर दें तो हम रोमांटिसिज़्म की ओर आकर्षित होते हैं, जो यथार्थ के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में सहायक है और यह प्रवृत्ति व्यावहारिक रूप में संसार में परिवर्तन लाती है।''

मार्क्सवादी आलोचक साहित्य और आलोचना में द्वन्द्वात्मक पद्धति कार्यान्वित समझते हैं। साहित्य के भी दो पक्ष हैं, वाह्य (वस्तुगत) और आन्तरिक (भावगत) और दोनों पक्ष ऊपरी तौर पर परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। साहित्यकार का काम इन दोनों पत्रों में सन्तुलित समन्वय स्थापना करना है। साहित्य का वस्तुगत रूप क्रियात्मक और उद्देश्यात्मक होता है और भावगत रूप काल्पनिक एवं सौन्दर्यात्मक। साहित्य काल्पनिक सत्ता है जो विशेष काल के आर्थिक ढाँचे पर अवलम्बित होती है। इस तरह साहित्य अपने युग की सामूहिक चेतना और सार्वजनीन धारणा का प्रतिनिधित्व करता है। मार्क्सवादी आलोचकों के विचार में आर्थिक व्यवस्था न केवल साहित्य के विषय वस्तु और उसके मूल्यों को ही निर्धारित करती है बल्कि उसकी टेकनीक और उसके रूप को भी। उनके विचार में कलाकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नारा भी भ्रम है। इस सिद्धान्त के प्रकाश में साहित्य के मूल्याकन की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि वह किस सीमा तक अपने युग की सामाजिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया, वर्ग संघर्ष और जनता की आकांक्षाओं का सत्यता से प्रतिनिधित्व करता है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण की विवेचना से कई प्रश्न लेते हैं। क्या मार्क्सवाद स्थिर और अपरिवर्तनशील सिद्धान्त है? क्या साहित्य एवं कला पर इसे यांत्रिक रीति से लागू किया जा सकता है? क्या यह जीवन और विशेषतया साहित्य पर संपूर्णतया घटित होता है? क्या कला को केवल असाहित्यिक, राजनैतिक कसौटी पर परखा जा सकता है? क्या इस कसौटी से साहित्य राजनीतिक एवं प्रोपेगैंडे का अस्त्र नहीं बन जाता? मार्क्सवाद सृजनात्मक क्रिया का विश्लेषण कैसे करता है? क्या सृजन की तन्मयता के बिना साहित्य-रचना सम्भव है? क्या सामाजिक परिस्थिति और बाह्य जीवन परिवर्तन से साहित्य प्रत्यक्षतया प्रभावित होता है? कला से सौन्दर्यात्मक तत्व का मूल स्रोत क्या है? सिद्धान्त और मूल्य में क्या अन्तर है? साहित्य के तत्वों में कौन-सी वस्तु अधिक महत्वपूर्ण है? क्या केवल भौतिक उन्नति ही साहित्यकार की बौद्धिक स्वतन्त्रता का कारण बनती है? व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की प्रकृति क्या है। क्या मार्क्सवाद चिरन्तन एवं संपूर्ण है? मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन और उसके परिवर्तन का क्या रहस्य है और उसका क्या महत्व है? क्या मनुष्य को भी यन्त्रों की तरह बदला जा सकता है? श्रेणिक साहित्य के क्या तत्व हैं? वर्ग-संघर्ष जन्य सामाजिक यथार्थवाद किस तरह देशकालातीत यथार्थवाद से अधिक महत्वपूर्ण है।

साहित्य के वस्तुगत (बाह्य) और उपयोगितावादी विश्लेषण के विपरीत फ्रायड, युंग और एडलर ने मनोविश्लेषण की महत्ता को स्पष्ट किया है। इन मनोवैज्ञानिकों में पारस्परिक मतभेद विद्यमान है। परन्तु उनके विश्लेषण का केन्द्र अवचेतन है और वे अवचेतन को साहित्य-सृजन का मूलस्रोत मानते हैं। फ्रायड के विचार में मनुष्य की दबाई हुई वासनाएँ जो मुख्यतः यौन सम्बन्धी होती हैं और अवचेतन में शरण लेती हैं—(क्योंकि उनकी चेतना पाप-अनुभूति की पीड़ा को जन्म देती है और सामाजिक व्यवस्था उनकी अभिव्यक्ति में बाधा सिद्ध होती हैं) और छद्मवेष धारण कर लेती हैं। मनुष्य साहित्य इस छद्मवेष का परिणाम स्वरूप हैं। मनुष्य इन वासनाओं को सदा दबा कर ही नहीं रखता अपितु उनका उदात्तीकरण करता है और उससे उच्च स्तर पर एक विषय के साथ सम्बन्धित कर देता है। भाव या मूलभूत प्रवृत्ति किसी ऐसी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाती है जो समाज के मूल्यों के अनुकूल होती है और

इसी कारण उसे श्रेष्ठ समझा जाता है। साहित्य और कला इसी उदात्तीकरण से जन्म लेते हैं, परन्तु उदात्तीकरण की इस क्रिया में उनका रूप बदल जाता है और वह सामाजिक तौर पर ग्राह्य हो जाता है। इस प्रकार साहित्यकार को मानसिक परितोष की उपलब्धि होती है। यह साहित्यकार की अपनी कलात्मक प्रतिभा पर निर्भर है कि वह किस सीमा तक इस छद्मवेशों में सफल हो सकता है। परन्तु मूलतः साहित्य, कला, स्वप्न, दिवास्वप्न, मनोव्याधि में कोई अन्तर नहीं। इनके रचनात्मक तत्व समान हैं। इन सबका जन्म तिरस्कृत वासनाओं के कारण है। इसी छद्मवेश से ही सौन्दर्य-सृजन होता है। पाठक जब साहित्य से सुखानुभूति प्राप्त करता है तो उसका कारण भी यही है कि उसकी वासनाएँ भी दमित होती हैं और वे अचेतन के कारावास में परिपूर्ति के लिए विह्वल छटपटाती रही हैं। इस दृष्टिकोण से साहित्य-सृजन और साहित्य-अध्ययन दोनों ही दमित वासनाओं की परिपूर्ति का साधन हैं। इस क्रिया को भावाभिव्यक्ति कहते हैं और इसका उल्लेख अरस्तु ने भी ट्रेजेडी से आनन्द लेने के सम्बन्ध में किया है। एडमंड बर्गलर के विचार में साहित्यकार कभी भी निर्मल नहीं हो सकता। कलाकार का व्यक्तित्व कभी प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। कलाकार आत्म-पीड़क होता है, इसलिए वह जान बूझ कर ऐसे कार्य चुनता है जिनसे पर्याप्त अर्थ की प्राप्ति न हो सके। वह अपनी सृजनात्मक क्रिया से अपने आपको पागल होने से बचाए रखता है। परन्तु इसके साथ ही अपनी पूर्ण चिकित्सा भी नहीं होने देता। क्योंकि दोनों परिस्थितियों में उसकी सृजनात्मक क्रिया समाप्त हो जाती है। इसलिए वह इस आत्मपीड़क परिस्थिति में लीन रहता है क्योंकि यह तृप्ति आंशिक एवं अस्थायी होती है, अतएव कलाकार निरन्तर साहित्य-सृजन में संलग्न रहता है। फ्रायड ने साहित्यकार की मानसिक स्थिति वर्णन करते हुए कहा है कि वह सम्मान, शक्ति तथा रमणीप्रेम के लिए तड़पता रहता है और वह इस रहस्य को जानता है कि अपने दिवास्वप्न को किस प्रकार फैला दे, जिससे कि उसका व्यक्तिगत पक्ष, जिनमें दूसरे लोगों की रुचि नहीं है, समाप्त हो जाए और वह उससे आनन्द प्राप्त कर सकें।

यूँग ने मनुष्य को विभिन्न प्रकारों में विभक्त किया है। उसके विचार में साहित्यकार और कलाकार में दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। साधारण मनुष्य होने के नाते वह अपना जीवन सुख शान्ति से व्यतीत करना चाहता है और दूसरी ओर उसकी सृजनात्मक लगन उसे प्रेरित करती है। जीवन की आवश्यकताओं और सृजन की लगन के इस संघर्ष से साहित्यकार बेचैन रहता है और उसे उस समय तक शान्ति नहीं, मिलती जब तक कि वह इस संघर्ष को समाप्त नहीं कर देता या एक प्रवृत्ति की, दूसरी पर प्रधानता क़ायम नहीं कर देता। साहित्यकार अपने जीवन की आवश्यकताओं को सृजनात्मक लगन के अधीन कर देता है, जिसके कारण वह सदा खेदखिन्न और आपत्तियों से घिरा रहता है। युंग ने सामयिक अवचेतन को सृजनात्मक क्रिया का चिन्तन मूलस्रोत माना है। युंग इस सामूहिक अवचेतन को डस्टबिन नहीं समझता, अपितु मनुष्य की चेतनात्मक, सृजनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का मूल स्रोत मानता है। सामूहिक अवचेतन किसी व्यक्ति विशेष के अवचेतन की अपेक्षा एक विशेष धरातल पर समस्त मानवजाति का अवचेतन है। इसलिए हम जितना सामूहिक अवचेतन में गहरा जाते हैं, उतना हमारा साहित्य गाम्भीर्य प्राप्त करता है। ईलियट ने इस सम्बन्ध में लिखा है :

"कलाकार अपने समसामयिक से पुरातन, साथ ही अधिक सभ्य भी होता है। सभ्य मनुष्यों में तर्कपूर्ण प्रवृत्ति कायम रहती है, जो केवल कवि को या उसके द्वारा उपलब्ध होती है। किसी साहित्यिक कृति की व्यापकता का अनुमान सामूहिक अवचेतन की अनुकूलता से ही किया जा सकता है और इसी से हम कला का मूल्यांकन कर सकते हैं।"

एडलर ने साहित्य और कला को ही भाव की क्षतिपूर्ति का साधन माना है, जिसके द्वारा साहित्यकार को सन्तोष लाभ होता है। साहित्यकार शारीरिक या मानसिक हीनता (काल्पनिक या वास्तविक) के विवरण के लिए अवचेतन रूप में किसी ऐसी क्रिया को अपनाता है, जिससे उसके इस भाव पर एक ऐसा भाव अधिकार जमा लेता है जो उसके हीनभाव की क्षतिपूर्ति कर देता है। साहित्य और कला भी इसी प्रकार की एक क्रिया है। यह क्षतिपूर्ति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की हो सकती है। इस क्षतिपूर्ति के दो पक्ष हैं सत्ता-

आकांक्षा महत्वाकांक्षा। साहित्यकार का यह प्रयत्न उसे सामाजिक उद्देश्य की ओर ले आता है जिसके कारण साहित्यकार विश्व बन्धुत्व के मूल्य को अपना लेता है और इस प्रकार कलासृजन मिथ्या अहंमूलकता को दबा कर सामाजिक रूप में उपयोगी उद्देश्य को पालने में प्रयत्नशील रहता है। एडलर ने इस सिद्धान्त से साहित्य की उपयोगिता पर बल दिया है। साहित्यकार अपनी रचना के द्वारा दूसरे मनुष्यों के हृदय पर अधिकार जमा लेता है और इस तरह उसके हीनभाव की क्षतिपूर्ति और सत्ता-आकांक्षा को परितोष मिलता है। एडलर के दृष्टिकोण से साहित्य एवं कला में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जब कि साहित्यकार या कलाकार अपनी शारीरिक या मानसिक हीनता के कारण महानता को पहुँच गया है। इस तरह कला, हीनभाव की पीड़ा को दूर करके उसे उच्चतर स्तर पर ले आती है। एडलर ने चेतन और अवचेतन के अन्तर को कृत्रिम मानते हुए कहा है कि जिस वस्तु या विचार के सम्बन्ध में हम चेतना प्राप्त करना चाहते हैं, कर सकते हैं। इस विधि से हीनभाव महत्वकांक्षा में परिवर्तित हो जाता है। दूसरी बात जिस पर एडलर ने जोर दिया है, यह है कि यौन प्रवृत्ति की अपेक्षा सत्ता-आकांक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्तनुसार न केवल हमें क्रियात्मक क्रिया का ज्ञान प्राप्त होता है, अपितु कला की कसौटी भी बदल जाती है, अर्थात् किस प्रकार साहित्यकार अपने निजी जीवन के अभाव को उपयोगिता में परिवर्तित करके सामाजिक उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है।

फ्रायड उक्त 'यौन प्रवृत्ति' यूंग के 'सामूहिक अवचेतन' और एडलर के 'हीनभाव' ने साहित्य और कला में कई प्रवृत्तियों को जन्म दिया है, जिनमें अतियथार्थवाद अस्तित्ववाद प्रतीकवाद और अस्पष्टतावाद प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में लिप्सा का सिद्धान्त अर्थात् सामान्य भाव से आन्तरिक अभिव्यंजन भी पर्याप्त प्रसिद्ध है, परन्तु कई बार प्राकृतिक दृश्यों में साहित्यकार बाह्य रूप में अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। इसी तरह भावों की परम्परा में केवल परंपरा ही नहीं, अपितु उसकी मूलभूत एकता को समझना भी आवश्यक है। साहित्य इसी लिए "विविधता में एकता" को प्रस्तुत करने की क्रिया माना गया है। कुछ मनोवैज्ञानिक साहित्य को भी क्रीड़ा शैली मानते हैं, जिससे कि साहित्यकार एवं पाठक के संचित भावों का उद्घाटन हो जाता है, जो कि यथार्थ से पलायन और भाव स्रवण है। परन्तु साहित्य केवल भाव-स्रवण का साधन ही नहीं, अपि तु उसको एक उच्चतर स्तर पर एकता में संगठित करके उन्हें उपयोगी एवं सौन्दर्यात्मक रूप में प्रस्तुत करना है।

मनोविज्ञान में अवचेतन के महत्व से इनकार करना सम्भव नहीं। परन्तु उसे कुछ मानसिक रोगों तक सीमित कर देना मानस के आंशिक और विकृत चित्र को प्रस्तुत करने के तुल्य है। मानव को विभिन्न खण्डों में विभक्त करके उसके किसी एक अंश से सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने से ग़लत निष्कर्ष निकलते हैं। न केवल यही कि मानव जीवन का सामूहित अस्तित्व मनन योग्य है, अपितु उसके सामाजिक पक्षों का परिमाप भी आवश्यक है। इसी लिए प्रायः कहा जाता है कि फ्रायड के सिद्धान्तों की जड़ जमाने के लिए मार्क्सवाद और समाज-शास्त्र की आवश्यकता है, क्योंकि कई मानसिक परिस्थितियाँ मानस की आन्तरिक दशाओं से स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं और उन पर मनुष्य के अवचेतन का प्रभाव बिलकुल नहीं होता या बहुत कम होता है। यह बात भी आवश्यक है कि अवचेतन के यथार्थ का सम्बन्ध दूसरी वास्तविकताओं से भी स्थापित किया जाना चाहिए। और उनकी पारस्परिक क्रिया की भी व्याख्या की जानी चाहिए। साहित्यकार आंशिक वास्तविकता और वह भी केवल मानस की एक सीमित क्रिया की वास्तविकता को प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि वह सम्पूर्ण जीवन से प्रभावित होता है और उसके सम्बन्ध में अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को कार्यान्वित करता है। उसकी सृजनात्मक क्रिया सचेतन चेष्टा का परिणाम होती है। चाहे उसकी प्रेरणा अवचेतन से ही क्यों न हुई हो। दिवास्वप्न और कलाकृति में अन्तर है। स्वप्न केवल स्वप्न के ही स्तर पर समाप्त हो जाता है, परन्तु साहित्यकार साहित्य सृजन में उसे बाह्य रूप प्रदान करता है, अतएव कला के मूल्यांकन की कसौटी में इसका चिन्तन आवश्यक है।

उपर्युक्त विभिन्न सिद्धान्तों के प्रकाश में यह कहना अनुचित न होगा कि यह सिद्धान्त साहित्य और कला की आंशिक सत्यता को प्रस्तुत कहते हैं। कला के

प्रतिभा केवल बुद्धि, जीवन-दर्शन या अनुभव (व्यक्तिगत और सामाजिक) और सहजप्रज्ञा से चेष्टा में नहीं आती, अपितु सत्य की चेतना के लिए इन तीनों तत्वों का समन्वय अनिवार्य है। आलोचना का उद्देश्य उन मूल्यों की रचना में भाग लेना है जो अपने अतीत की परम्परा में वर्तमान की आत्मा को अपने भीतर संचित करके भविष्य की ओर संकेत करना है। इन मूल्यों में सामाजिक क्रिया और वैयक्तिकता मिलकर पहले से उत्कृष्टतर समाज के निर्माण के लिए प्रेरणा देते हैं। साहित्य में यथार्थ और आदर्श का संगम होना चाहिए जिसके कारण साहित्य में युग-चेतना होते हुए भी देश कालातीत होने की शक्ति विद्यमान रहती है। साहित्य के सौन्दर्य पक्ष के साथ उपयोगिता पक्ष भी सम्बद्ध है। सौन्दर्य पक्ष के कारण ही कलाकार के व्यक्तित्व और प्रतिभा की परख की जा सकती है। इसके साथ ही हमें परम्परा, प्रगति और व्यक्तित्व की समस्या पर भी विचार करना चाहिए।

इस विवाद के प्रकाश में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि कला 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का संतुलित समन्वय है। साहित्य से हम इसीलिए प्रभावित और प्रेरित होते हैं कि उसके अध्ययन से हम अपनी चेतना और अपने भावों के साधारण स्तर से ऊपर उठ जाते हैं।

साहित्य की प्रकृति, उसके प्रयोजन और उसके मूल्यांकन की यही कसौटी है।

एच-३१५ न्यू राजेन्द्र नगर,
नई दिल्ली

—देवेन्द्र इस्सर

जानवरों की चाल

अफ़रीका का चीता ४५ मील प्रति घण्टा की चाल से चल सकता है। एक हरिण ५० मील प्रति घण्टा की चाल से चल सकता है। शिकारी कुत्ते ४० मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से भाग सकते हैं। खरगोश जब डर जाते हैं तब ३२ मील प्रति घण्टा के वेग से दौड़ सकते हैं। घोड़े ४० मील प्रति घण्टा से दौड़ सकते हैं। हाथी क्रोध में २५ मील प्रति घण्टा तक जा सकता है वैसे हाथी की औसतन चाल २ मील प्रति घण्टा है।

सबसे तेज़ उड़ने वाला पक्षी ईगल है। यह १५० मील प्रति घण्टा के वेग से उड़ता है। श्येन १०० मील प्रति घण्टा की चाल से उड़ सकता है। रेस के कबूतर ६० मील प्रति घण्टा से उड़ सकते हैं जब कि मौसम अच्छा हो। जंगली बत्तखें जो कुछ भारी होती हैं ६० मील प्रति घण्टा की चाल से उड़ सकती हैं।

कुछ मछलियाँ भी बहुत तेज चलती हैं। मैकरील नामक मत्स्य ६० मील प्रति घण्टा की चाल से चलता है। उड़ने वाली मछली हवा में छलांग मार कर ३५ मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से उड़ती है। सालमन मछली औसतन ७ मील प्रति घण्टा की चाल से चलती है।

साँप बहुत तेज़ चलते हैं। वे दौड़ते हुए मनुष्य को पकड़ सकते हैं। कई साँप तो घोड़े की चाल से दौड़ सकते हैं। एक दक्षिणी अमरीका का कीड़ा जिसका नाम "सेफ़ीनीमिया" है बहुत तेज़ चलता है। इसकी चाल ४५० मील प्रति घण्टा आँकी गई है।

एक लेख से

"इलस्ट्रेटेड वीकली आफ़ इंडिया"

तीन नवीनतम उपन्यास : तीन नई धाराएँ

आलोच्य विषय में प्रवेश करने के पूर्व इन नवीनतम कृतियों और उनके लेखकों का नाम स्पष्ट कर देना उचित होगा । एक है 'जहाज़ का पंछी' लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी । दूसरा है, 'काले फूल का पौदा' लेखक, डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल । तीसरा है, 'बड़ी बड़ी आँखें' लेखक श्री उपेन्द्रनाथ अश्क । ये तीनों रचनाएँ मान्य लेखकों की ही नहीं वरन् हिन्दी-जगत् की भी आधुनिकतम कला-कृतियाँ हैं । केवल इसलिए नहीं कि ये पुस्तकें अभी कुछ ही मास पूर्व प्रकाशित हुई हैं, बल्कि इनका महत्त्व कई दृष्टियों से है । विशेष रूप से कथा के शिल्प विधि और बदलते हुए युग के नए मूल्यों के प्रति लेखकों की जागरूकता तथा गौण रूप से विचार तथा भावों का संयम भाषा में निखार एवं चरित्र-चित्रण आदि । स्मरण रखना होगा कि प्रस्तुत रचनाओं के एक-डेढ़ वर्ष पूर्व भी इन लेखकों के तीन उपन्यास प्रकाशित हुए थे । क्रम से वे थे, 'जिप्सी', 'बया का घोंसला और साँप' तथा 'गर्म राख' । इन तीन कथाकारों की तीन रचनाओं के परिचयात्मक अध्ययन का यह एक अतिरिक्त कारण है ।

किसी उपन्यास का मूल्यांकन अनेक मापदण्डों के आधार से किया जा सकता है । कथानक, चरित्र-चित्रण, रचना-सौष्ठव, कला-शिल्प, भाषा-शैली, सशक्त-संवाद, मनोवैज्ञानिक-निरीक्षण आदि ऐसे सुनिश्चित दृष्टि बिन्दु हैं जिनके माध्यम से हम किसी गल्प-कृति का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सकते हैं । फिर भी किसी रचना की सफलता इन विभिन्न औपन्यासिक तथ्यों को स्वतन्त्र सत्ता मान कर, उन्हें काट छाँट कर अलग अलग सजाने में नहीं है । सत्य यह है कि, ये अनेक तत्व एक ही इकाई का निर्माण करते हैं । उनका अनुपात संतुलित होना चाहिए । वे परस्पर सापेक्ष्य है । स्वतन्त्र रूप से उनका कोई भी महत्व नहीं है । किन्तु मोटे तौर पर किसी रचना की समीक्षा करते समय हमारे सामने दो सहज प्रश्न आते हैं :

१. लेखक क्या कहना चाहता है ?

२. वह जो कुछ कहता है, किस ढंग से कहता है

इन दो प्रश्न रेखाओं के इर्द-गिर्द विभिन्न दृष्टि विन्दुओं से हमारी प्रस्तुत समीक्षा चलेगी । प्रथम प्रश्न का उत्तर, यानी लेखक जो कुछ कह रहा है, रचना का भाव पक्ष होगा । दूसरे प्रश्न का उत्तर होगा, अपनी बात कहने के लिए कलाकार कौन सा माध्यम तथा उस माध्यम के अनुरूप कितने सशक्त शिल्प विधान का निर्माण करता है और इस उत्तर में ही रचना का कला-पक्ष निहित है । किसी भी सफल कला-कृति के लिए ये दोनों ही तत्व समान रूप से महत्वपूर्ण है । दोनों का संतुलन आवश्यक है क्योंकि संतुलन में ही स्वाभाविकता है। और इस युग के लेखक का सबसे बड़ा आग्रह स्वाभाविकता पर ही है ।

शिल्प-विधान : सर्व प्रथम तीनों कृतियों के शिल्प विधान का एक संक्षिप्त परिचय देकर फिर उन पर अलग अलग विचार किया जाएगा । "जहाज़ का पंछी" जोशी जी का ५५२ पृष्ठों का एक बृहद्काय उपन्यास है । सम्पूर्ण कथा स्वयं नायक द्वारा ही वर्णित है । प्रेमचन्द्र और उनके बाद भी अधिकतर लेखकों ने वर्णनात्मक शैली को ही अपनाया था । लेखक एक तीसरे व्यक्ति की हैसियत से संपूर्ण कथा कह जाता था । किन्तु पात्रों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए यह शैली सशक्त माध्यम नहीं सिद्ध हो पाती थी । दूसरे कथानक में अधिक से अधिक स्वाभाविकता लाने के लिए भी वर्णनात्मक शैली उतनी उपयुक्त नहीं थी । पाठक और कथा के पात्रों के बीच लेखक का व्यक्तित्व बरबस उभर ही आता था । यह स्थिति पात्रों के साथ पाठक का तादात्म्य होने में गतिरोध उत्पन्न करती थी इसी लिए आज के कतिपय लेखकों ने किसी पात्र के माध्यम से ही कहानी कहने के शिल्प को अपनाया । 'बड़ी बड़ी आँखें' में भी सम्पूर्ण कथानक नायक द्वारा ही कहलवाया गया है यह अश्क जी का २३७ पृष्ठों का 'सितारों के खेल' 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' के बाद चौथा लघु उपन्यास है ।

'काले फूल का पौदा' डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'कसक', 'धरती की आँखें' और 'बया का घोंसला और साँप' के बाद चौथा उपन्यास है । डॉ० लाल ने

१६५६

प्रस्तुत कृति में एक तीसरे ही कथाशिल्प का प्रयोग किया है। यह पुराने वर्णनात्मक कथानक एवं प्रथम पुरुष में कही जानेवाली शैली के बीच का शिल्प प्रधान है। सिद्धान्त के क्षेत्र में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का मेल कराने वाला प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद भले ही आज मान्य न हो, किन्तु शिल्पकला के प्रांगण में प्रथम पुरुष में कहे जानेवाली एवं वर्णनात्मक शैली का मिश्रित शिल्पविधान निश्चित रूप से उपयोगी और समीचीन है। कारण यह कि किसी गल्प कृति की सफलता के लिए स्वाभाविकता तथा सूक्ष्म मनोविज्ञान का उद्घाटन तो अनिवार्य है ही, इतिवृत्तात्मक वर्णन भी इस दृष्टि से कम आवश्यक नहीं है। अतः शिल्प विधान की दृष्टि से सफल कलाकृति के निर्माण के निमित्त सन्तुलित अनुपात में दोनों शैलियों का संयोग आवश्यक है। अलग-अलग दोनों मध्यम स्वतः संपूर्ण नहीं हैं। इस दृष्टि से डॉ० लाल का शिल्प विधान की दिशा में यह प्रयोग सर्वथा सराहनीय है।

तीनों रचनाएँ अपनी अपनी दिशा में, गति और दृष्टि में एक दूसरे से स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष हैं। संवेदना, कथावस्तु, देश, काल, तथा पात्रों के चुनाव और चित्रण में भी तीनों लेखक एक दूसरे से कट कर अलग-अलग चलते हैं। प्रथम उपन्यास का घटनास्थल कलकत्ता है। दूसरे के पात्र बनारस और लखनऊ से सम्बन्धित हैं। तीसरे के पात्रों का कार्य-क्षेत्र पंजाब है। 'जहाज का पंछी' पूरे समाज को एक विहंगम दृष्टि से देखता है उसमें उच्च वर्ग के पूंजीपतियों का भी चित्रण है। निम्न वर्ग के धोबी, नाई तथा कोयले के दूकानदार का भी और ऐसे लोगों का भी चित्रण है जिनका किसी वर्ग में स्थान ही नहीं जैसे वेश्याएँ, गुण्डे, चोर और पेशेवर डाकू आदि। इनके अलावा समाज की आर्थिक विषमता, अज्ञान, पुलिस की ज़्यादती, क़ानून का अन्यापन आदि विषयों पर भी लेखक ने स्थान स्थान पर अपना मत-विस्तार से प्रकट किया है। उपन्यास का नायक समाज के इन सभी अंगों के निकट संपर्क में आता है और उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता चलता है।

'काले फूल का पौधा' है तो एक दम्पति की कहानी, किन्तु इसका भाव-क्षेत्र सीमित नहीं। पारिवारिक जीवन के माध्यम से उसमें समाज के बदलते हुए मूल्यों को देखने का बड़ा ही सुन्दर प्रयास है। सुलझी हुई समवेदना और कथानक कलापूर्ण शिल्प विधान के माध्यम से इस प्रकार मँज कर पाठक के सामने आते हैं कि उसे पढ़ने के लिए प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। पूरे साज बाज के साथ जैसे मादक स्वर में भावपूर्ण रागिनी का एक पद गा दिया गया हो। इस उपन्यास का सुगठित कलापक्ष अपनी विशिष्ट दिशा का निर्देशन करने में पूर्ण सफल है।

'बड़ी बड़ी आँखें' आदर्श और यथार्थ के संघर्ष की कथा है। ऊँचे ऊँचे सपनों को सत्य का रूप देने के लिए जिन व्यवहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनका दिग्दर्शन इसमें किया गया है। इस उपन्यास के पात्र तो सभी शहरी हैं किन्तु शहर में कोई नहीं रहता। शहर से दूर देवनगर में जाकर सभी लोग रहते हैं। देवनगर न तो पूर्णरूपेण शहर ही है और न गाँव ही, समाज की गतिविधि से निरपेक्ष लोगों की वह एक मण्डली सी है जो अपने आदर्शात्मक दृष्टिकोण से समाज का निर्माण करना चाहते हैं। इस दृष्टि से यह उपन्यास भी उपरोक्त दो कृतियों से नितान्त भिन्न है और एक निश्चित दिशा में उसकी अपनी विशेषताएँ हैं।

'जहाज़ की पंछी' उपन्यास एक विस्तृत धरातल पर पूँजीवादी व्यवस्था में तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' का विशद चित्रण करता है। उपन्यास जैसी उदात्त भाव-भूमि पर खड़ा है, उसी के अनुसार उसके कथानक और पात्रों का भी निर्माण हुआ है। कथा का प्रारम्भ करते ही जो विद्रूप यथार्थ हमारे समक्ष आता है उसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, भूख और बेकारी का एक भयावह करुण चित्र एक व्यक्ति के माध्यम से उभरता है और धीरे-धीरे उसकी व्यापकता पूरे समाज पर छा जाती है। समाज ने जिन लोगों को चोर, बदमाश, आवारा और चरित्रहीन कह कर निर्ममता से अलग फेंक दिया है, उनके दुःख दर्द को उपन्यास का नायक अपना दुःख दर्द मानता है क्योंकि वह स्वयं भुक्त-भोगी है। जहाँ तक कथानक यथार्थ के धरातल पर चलता है, वहाँ तक तो उपन्यास बहुत ठीक और स्वाभाविक ढंग का है, बीच में बहुत से अस्वाभाविक प्रसंग भी आए हैं, किन्तु वे कथा के प्रवाह में कोई व्यवधान नहीं उत्पन्न करते। किन्तु जब कहानी

का नायक अप्रत्याशित रूप से एक लखपति तरुणी के घर रसोइया की हैसियत से नियुक्त होकर सहसा उस घर का 'स्वामी' और 'रायसाहब' बना दिया जाता है, तब पाठक उस नायक को ही शंका की दृष्टि से देखने को बाध्य हो जाता है। कथानक का मनोवैज्ञानिक विकास ही अवरुद्ध हो जाता है पाठक नायक के साथ भावनात्मक तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता।

उपन्यास के बीच में बहुत सी छोटी छोटी घटनाओं का विधान किया गया है जिनका विन्यास अत्यन्त मार्मिक और प्रभावपूर्ण है। अन्तर्कथाओं के रूप में ये घटनाएँ उपन्यास की प्रभविष्णुता में चार चाँद लगा देती है। इनमें अधिकांश का प्रभाव करुण और दुःखद ही है किन्तु कुछ ऐसी भी घटनाएँ हैं जिन्हें पढ़ कर पाठक को एक बार ज़ोर की हँसी आ जाती है, किन्तु क्षणिक हँसी के बाद मन पर घना विषाद छा जाता है। वर्तमान व्यवस्था के प्रति नई चेतना का विद्रोह पात्रों के माध्यम से जगह जगह मुखरित होता दिखाई देता है। एक जगह पर नायक सोचता है... 'एक ओर असभ्य, चोर और अशिष्ट डाकुओं और दूसरी ओर सभ्य, चोर और शिष्ट डाकुओं के बीच केवल तरीक़ों का अन्तर हो सकता है। लूट की उपयोगिता और नैतिकता के सम्बन्ध में दोनों के सिद्धान्तों में कोई मूलभूत विरोध नहीं हो सकता' इन उद्‌गारों से स्पष्ट है कि पूँजीवाद समाज की खोखली नैतिकता में लेखक का विश्वास नहीं है। वह उसे धनपतियों के शोषण का एक परिष्कृत रूप मात्र मानता है इन पंक्तियों को पढ़ कर 'शा' के 'मैन ऐण्ड सुपरमैन' के दो पात्रों की बात याद आती है, जिसमें एक पात्र कहता है : 'मैं एक डाकू हूँ और धनिकों को लूट कर जिन्दा रहता हूँ, तब दूसरा पात्र कहता है : 'तब आओ हाथ मिलाएँ मैं एक सभ्य आदमी हूँ और मैं ग़रीबों को लूट कर जिन्दा रहता हूँ।"

समाज से निष्कासित तथा हर प्रकार से परिस्थिति प्रताडित वेश्या जीवन के करुणतम यथार्थ का चित्रण करने में लेखक पूर्ण सफल है। इस तिरस्कृत समुदाय के प्रति सहानुभूति उभारने का इतना सशक्त और सफल प्रयास हिन्दी की किसी अन्य रचना में शायद ही मिले। कथा के नायक का विश्वास है कि 'जीवन में सामूहिक क्रान्ति ही इस सामूहिक कोढ़ को दूर कर सकती है।' किन्तु वह 'व्यवहारिक उपायों से और यथार्थ के प्रति पूरा ध्यान रख कर' किए गए व्यक्तिगत प्रयत्नों की उपयोगिता में भी विश्वास रखता है और ऐसी ही वैयक्तिक और छोटे पैमाने पर इन दलितों के उद्धार की पीड़ामय साध वह अपने मन में संजोए हुए है और अन्त में उसके जीवन की यह सबसे बड़ी साध पूरी भी होती है।

संपूर्ण उपन्यास को पढ़ने के बाद नार्वे के उपन्यासकार 'हैम्पसन नट' की प्रसिद्ध रचना : 'हंगर' की स्मृति ताज़ी हो उठती है। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि 'हंगर' आदि से अन्त तक यथार्थ की चट्टानी भाव भूमि पर टिका रहता है किन्तु 'जहाज़ का पंछी' यथार्थ की ठोकरें खाते खाते सहसा अपने मनोराज्य के नीले समुद्र में चलते हुए काल्पनिक जहाज़ पर पुनः जा बैठता है। फिर करता भी क्या? पंछी जो ठहरा। किन्तु 'हंगर' में सामूहिक भावना की कमी है और 'जहाज़ का पंछी' व्यापक पैमाने पर पूरे समाज को देखता है।

इस उपन्यास में कतिपय त्रुटियाँ और दोष भी हैं जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कहीं कहीं पर बड़ी ही क्लिष्ट भाषा का प्रयोग है जो एकदम अस्वाभाविक लगता है जैसे "अपनी तत्कालीन विवश परिस्थिति के ग़लत मूल्यांकन से उत्पन्न सामाजिक अत्याचार के कारण खरोंचे गए नासूर की कटीली अनुभूति को मैं नहीं उभारना चाहता था।" फ़ोटोग्रैफ़िक यथार्थवाद अपनी जगह पर ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यक लम्बे वर्णन रसात्मकता का गला घोंट देते हैं। ऐसे वर्णन इस उपन्यास में बहुत आए हैं। जिनसे पाठक का जी ऊबने लगता है। इसी प्रकार जिस बात को लेखक संकेत मात्र से कह सकता है उसके लिए निष्कर्ष निकालना, लम्बे लम्बे उपदेश और व्याख्यान देने लगना ठीक नहीं। इससे कथन का प्रभाव ही नष्ट हो जाता है। ऐसे स्थल भी प्रस्तुत कृति में बहुत आए हैं। लगातार चार पांच पृष्ठ के व्याख्यान कई जगह कथानक के सरल और सरस प्रवाह में बहुत बड़ा व्यवधान उत्पन्न करते हैं जो कलात्मक दृष्टि से सर्वथा अवाञ्छनीय है। उपन्यास के कई स्थलों पर पात्रों के परस्पर वार्तालाप लेख जैसे लगते हैं। रांची में कथा के नायक और 'स्वामी' के की बातचीत कुछ ऐसी ही है। 'भारतीय संस्कृति' 'अ

राष्ट्रीय राजनीति', 'आणविक शस्त्रीकरण' 'विश्वशान्ति' आदि विषयों पर स्वामी जी की बातें लेख जैसी नीरस और जी उबाने वाली लगती है।

काले फूल का पौधा : यह एक युवा दम्पति की कहानी है किन्तु समाज निरपेक्ष नहीं समाज सापेक्ष वैवाहिक जीवन की जिस भाव भूमि पर इसकी संवेदना टिकी हुई है उसमें नए और पुराने का बड़ा ही व्यापक संघर्ष दिखाया गया है। एक ओर युग-फैशन की पुतली 'चित्रा' है दूसरी ओर आदर्श आर्य कन्या का प्रतिरूप 'गीता' है। एक विवाह को 'सोशल कान्ट्रैक्ट' से अधिक कुछ नहीं समझती और दूसरी विवाह को दो आत्माओं के एकाकार होने का माध्यम मानती है। एक के लिए विवाह मुक्त-भोग की एक सुरक्षित व्यवस्था मात्र है और दूसरे के लिए पत्नी माँ ही बनने का साधन है। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' कालिदास का वैवाहिक आदर्श गीता का लक्ष्य है किन्तु ये दोनों हमारे विगत और वर्तमान के दो छोर है। दोनों में से किसी एक को संपूर्ण रूप से छोड़ना या अपनाना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। दोनों का समन्वय आवश्यक है और 'काले फूल का पौधा' चित्रा की गति और गीता की गहराई का सुन्दर सामञ्जस्य उपस्थित करता है। गीता माँ बनती है और चित्रा ? वह माँ नहीं होगी। वह लड़की से पत्नी बन गई यही क्या कम है।

कलापक्ष का विवेचन करते समय जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि प्रथम पुरुष तथा वर्णनात्मक शैली के संतुलित समन्वय द्वारा लेखक ने बड़े ही प्रभावशाली शिल्प विधान का निर्माण किया है। इसी तरह भाव पक्ष में भी हम देखते हैं कि कथानक की मूल संवेदना के परस्पर दो विरोधी तत्वों का बड़ा संतुलित आदान प्रदान हुआ है। उपन्यास में बहुमुखी विस्तार भले ही न हो किन्तु उसमें गहराई की कमी नहीं है। वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित बदलती हुई निष्ठाओं और मूल्यों के प्रति लेखक की जागरूकता देख कर लगता है कि प्रस्तुत उपन्यास की संवेदना भी वह अपने अन्तर में बहुत दिनों से पका रहा था। क्योंकि जो कुछ वह कहना चाहता है उसमें कहाँ कोई भटकन नहीं है। पूरे कथानक की रूपरेखा हस्तामलक जैसी हर जगह उसके 'मित्र' में रही है इसी कारण कला का निखार और भावों की व्यापकता दोनों ही इस कृति में उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

'काले फूल का पौधा' एक रूपक है और इस रूपक का एक प्रतीकात्मक संकेत है। 'गमला समाज है इसकी प्यासी मिट्टी औरत है इसमें डाला हुआ पानी पुरुष है'। स्पष्ट है मिट्टी और पानी का मिलना वैवाहिक जीवन की ओर ही संकेत करते हैं। गमले की ऐसी मिट्टी में यदि तुलसी का बिरवा भी लग जाए तो कहना ही क्या! 'काले फूल का पौधा' अर्थात् तुलसी का बिरवा प्राचीन और नवीन वैवाहिक आदर्शों के संतुलित सामञ्जस्य का प्रतीक है, चूँकि चित्रा, गीता की गृहस्थी उसकी मान्यताओं और आदर्शों के समक्ष घुटने टेक देती है इसीलिए यह कहना कि इस उपन्यास में प्राचीन के प्रति आग्रह है, गलत होगा। चित्रा का जीवन दर्शन युग-फैशन का विष है। यही विष उसके पत्नीत्व के शृंगार और स्त्रीत्व को मृतक बना देता है। तब उसे भयंकर पश्चात्ताप होता है। एक स्थान पर चित्रा देवन से कहती है, 'हर औरत को बेबी पसन्द आएँगे।' इस एक ही वाक्य से उसका मातृत्व कितने सशक्त स्वर में बोल उठता है।

चित्रा ही नहीं सभी तथाकथित आधुनिकताओं के प्रति इस उपन्यास में तीखा व्यंग्य है। बर्थ-कन्ट्रोल की हिमायती लेडी डाक्टर मिसेज पाल का यह चित्रण देखिए : "प्रायः पचास साल की उम्र थी पर स्वभाव कुमारियों का सा था। हँसती न थी सिर्फ मुस्कराती थीं...तभी रोहू मछली की तरह छोटा सा मुँह रह गया था...संसार की कोई ऐसी लिपस्टिक न थी जो उनके ओंठों पर न फैल जाती हो। तंग आकर तीन वर्षों से पान खाने लगीं थीं" और पान खाने का इतिहास भी कम रोचक नहीं। वे कहतीं हैं, "जिस दिन कोर्ट में हमारा डाइवोर्स हुआ था उसी दिन से मैं पान खाने लगी हूँ।"

इतना सब होते हुए भी इस उपन्यास को पढ़ने में पाठक को प्रयास नहीं करना पड़ता। कथा का सरल और स्वाभाविक प्रवाह अपनी कलात्मक आकर्षण से उन्हें अपने साथ बहा ले जाता है। कहीं भी सिद्धान्त-बघारने या किसी घटना अथवा दृश्य को आवश्यकता से अधिक तूल देने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। लेखक अपनी कृति की औपन्यासिकता को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त ही सजग तथा सावधान है। उपदेश देने का

प्रयास लेखक ने कहीं भी नहीं किया है जो थोड़े बहुत हैं भी उन्हें व्यञ्जना और संकेत द्वारा; और कहीं पात्रों के स्वाभाविक वार्तालाप द्वारा कहलवाया गया है। उपदेशों के सम्बन्ध में देवन एक जगह कहता है: "उपदेश...ऊँची बातें अपनी जगह हैं, जीवन से बहुत ऊपर उठे हुए। जीवन नीचे है, उसके अनुभव और भी नीचे, गर्त में। विचारों में जीवन सर्वत्र महान् है पर अपने अनुभवों में वह उतना ही छोटा, निम्न और कुरूप है। इसलिए मुझे छोटापन, निम्नता और कुरूपता प्रिय है क्योंकि हमें यही जिलाते हैं।" मेरा अपना विचार है कि देवन के ये उद्गार स्वयं लेखक के अनुभव जनित विश्वास हैं। ये पंक्तियाँ मुँह-मुँह बोल रही हैं कि लेखक का यथार्थ के प्रति कितना आग्रह है।

किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास पढ़ लेने के बाद लगता है कि उपन्यास की नायिका में आवश्यकता से अधिक अल्हड़पन और भावुकता है। किन्तु इस दोष को चार छः स्थानों पर अंगुली रख कर दिखाना कठिन है। केवल दो एक स्थान पर ही उसका इस प्रकार का स्वभाव उभर उठा है। इसी प्रकार बचपन में गीता का, शकुन जिया के चेहरे पर चेचक के दाग देख अपने चेहरे पर भी वैसे ही दाग बनवाने तथा अपनी माता को माँग में सिन्दूर डालते देख अपनी माँग में भी सिन्दूर भरने का दुराग्रह किस मनोवैज्ञानिक चित्रण की भूमिका है यह समझ में नहीं आता।

संक्षेप में 'काले फूल का पौधा' अपने कला पक्ष में जितना प्रौढ़, सन्तुलित और परिमार्जित है उतना ही वह अपने भाव पक्ष में यथार्थ के धरातल पर टिका हुआ मनोरम और मंगलमय है। अपनी दिशा में यह एक सफल मौलिक प्रयत्न है।

बड़ी बड़ी आँखें एक ऐसे विधुर आदर्शवादी पंजाबी युवक की कहानी है जिसका अन्तर्मन अपनी पत्नी की मृत्यु से बहुत ही दुःखी और अस्तव्यस्त हो गया है अधिक तो अपनी चित्त की शान्ति के लिए और कुछ अपने आदर्शात्मक भावनाओं की तृप्ति के लिए वह देवनगर जाता है।

देवनगर न तो शहर है, न कस्बा और न गाँव। गाँवों के बीच वह बसा अवश्य है किन्तु वहाँ के लगभग सभी निवासी अथवा सदस्य शहरी हैं। सभी आदर्शवादी क़िस्म के हैं और अपने अन्तर्मन की बड़ी बड़ी आँखों से बड़े बड़े सपने देखते रहते हैं। देवनगर को नगर या परिवार न कह कर यदि एक संस्था कहें तो उचित होगा। इस संस्था के सर्वेसर्वा देवा जी हैं। वे लेखक, व्यवहार में बहुत ही सुलझे हुए और दूरदर्शी व्यक्ति हैं वे बहुत अच्छे लेखक और वक्ता भी हैं। देवनगर से देवा जी के ही संपादकत्व में 'देववाणी' नामक एक पत्रिका भी निकलती है। देवनगर के सदस्य देव सैनिक नाम से अभिहित किए जाते हैं। इस टेक्नीकल शब्दावली का स्पष्टीकरण की आवश्यकता इसलिए कि देवनगर हमारा देखा-सुना जाना-पहचाना क़स्बा नहीं है। यह आदर्शवाद की एक काल्पनिक संभावना मात्र है।

'देववाणी' के प्रभावपूर्ण लेखकों को पढ़ कर देवनगर के आदर्श वातावरण में हृदय के शान्ति की कामना लेकर तथा देवा जी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक दिव्य भावना से अभिभूत हो कर कथा का विधुर नायक जिसे देवनगर के लोग 'संगीत जी' कहते हैं वहाँ आता है यहाँ पर देवा जी की षोडश वर्षीय कन्या वीणा संगीत जी के प्रति आकर्षित होने लगती है विशेष कर उनके गाए हुए करुण रस के एक पंजाबी लोकगीत से वह बहुत प्रभावित है। संगीत जी का मादक स्वर, उनका मधुर व्यवहार और उनकी सरस आकृति से उस षोडशी के निष्कलुष हृदय को दिन प्रति दिन अपनी ओर खींचते जाते हैं। संगीत जी कम से कम अपने व्यवहारों से बहुत हद तक वीणा के प्रति तटस्थ रहते हैं फिर भी उसके प्रति किंचित् भी उपेक्षा का भाव उनके मन में नहीं है। वीणा की ओर से ही स्नेह प्रदर्शन का सक्रिय प्रयत्न चलता है किन्तु वीणा का एक दूसरा प्रेमी देव-सैनिक तीरथराम यह नहीं चाहता कि वीणा किसी अन्य व्यक्ति से स्नेह करे। वह संगीत जी के पीछे हाथ धो कर पड़ जाता है। जब कभी किसी बहाने वीणा संगीत जी से दो बातें करने का अवसर ढूँढ निकालती उसी समय उसके पीछे तीरथ राम भयंकर छाया की भाँति वहाँ आ धमकता है।

संगीत जी की ओर अपनी सहज भावनाओं से आकर्षित वाणी का चित्रण इतने लुभावने और सूक्ष्म कलात्मक ढंग से हुआ है कि कालिदास की 'तन्वी श्यामा, चकितहरिणीप्रेक्षणा, विरह विधुरा' यक्षिणी की याद बरबस जाग उठती है। उसके अमुखर

कलाप अनजाने ही बहुत कुछ कहलाते हैं जो स्मृति के रूप में पाठक की चेतना पर टीस उत्पन्न करते हैं ।

कुछ ही समय बाद संगीत जी के सामने धीरे धीरे देवनगर के तथा-कथित आदर्शों की पोल खुलने लगती है। अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए देवा जी जिन व्यावहारिक उपायों का प्रयोग करते हैं उनसे संगीत जी अपने को कई जगह असहमत पाते हैं। उन्हें यह भी पता चलता है कि देववाणी में निकले देवा जी के लेख मौलिक नहीं होते। इसी तरह क्रमशः एक के बाद एक घटनाएँ घटती हैं जिनके प्रकाश में संगीत जी देवनगर और देवा जी के आलोचक बन जाते हैं और देवनगर में ही ऐसे कई लोग हैं जो देवा जी और उनकी धर्मपत्नी के तीव्र विरोधी हैं। मधुवार साहब ऐसे लोगों के नेता थे। देवनगर की राजनीति में देवा जी की राजनीति का बहुत जबर्दस्त हाथ रहता है। एक तो अपनी प्रभुता के कारण दूसरे कुछ स्वभाव की बेबसी से वे चाहती थीं कि सभी देवसैनिक उनकी खुशामद करें जो उन्हें सलाम नहीं करते थे उन्हें कम से कम इतनी सुविधाएँ नहीं प्राप्त हो पाती थीं जो उनके सलाम-साधकों को प्राप्त थीं। देवा जी की भी मनोवृत्ति लगभग वैसी ही है किन्तु सलाम लेने का तरीका उनका कुछ भिन्न है। जो देवसैनिक अपने अभिमान वश हर बार मिलते ही उन्हें अभिवादन नहीं करता था उसके सामने वे स्वयं पहले ही हाथ जोड़ देते थे। चार छः बार ऐसा होने पर वह देवसैनिक लाचार होकर उनको पहले ही अभिवादन करने लगता था।

अन्त में इस प्रकार गुटबन्दी, घुटन और विरोध के वातावरण से ऊब कर संगीत जी शहर लौट आते हैं किन्तु वीणा का आग्रह भरा स्नेह, उसका कुंकुम कोमल कमनीय दुलार भरा व्यक्तित्व तथा पनियारी आँखों में तैरती हुई करुणा उनके लिए अमृत पाथेय बन जाते हैं। उपन्यास में जगह जगह प्राकृतिक वर्णन आए हैं, जो पाठक के सामने एक तसवीर सी खड़ी कर देते हैं। 'गिरती दीवारें' में भी ऐसे मनोरम वर्णनों की कमी नहीं। कई स्थलों पर ऐसे काव्यमय वर्णन आए हैं जिन्हें पढ़ कर गद्य काव्य सा आनन्द आता है। इसीलिए महाकवि पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त ने इसे गीति उपन्यास कह कर अभिहित किया है। इस लघु उपन्यास में जो अन्तर्कथाएँ आई हैं उसमें से कइयों के घटनाविन्यास की मार्मिकता हृदय और मानस पर लीक खींच देती है।

किन्तु कथा के नायक संगीत जी के कतिपय व्यवहारों में स्त्रैणता आ गई है। विशेष रूप से उस स्थल पर जहाँ वे शीशे के सामने खड़े हो जाते हैं और अपनी वही गहरी भूरी भूरी आँखें, पतले पतले ओंठ, गोरा रंग, ज़रा ज़रा से धँसे कल्ले, आदि को मुक्त दृष्टि से देखने लगते हैं। अपने ही रूप पर वह फ़िदा हो जाते हैं। वर्णन यदि प्रथम पुरुष में न होकर किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा या फिर लेखक द्वारा ही किया जाता तो यह सब कुछ न चल सकता था किन्तु जब संगीत जी शीशे के सामने खड़े होकर स्वयं अपना ही नखशिख वर्णन करने लगते हैं तो पाठक को उनके स्वभाव में जनानेपन का आभास मिलता है। इसी प्रकार कई ऐसे प्रसंग आए हैं जहाँ नायक द्वारा किया गया वर्णन अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने का प्रयास-सा मालूम होता है।

लेखक ने बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। प्रस्तुत रचना में विशेष अर्थध्वनि को सुरक्षित रखने के लिए उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का साग्रह प्रयोग किया गया है। किन्तु इस आग्रह में कहीं कहीं उर्दू और फ़ारसी से बड़े ही क्लिष्ट शब्दों का भी व्यवहार हुआ है। जो उर्दू से अनभिज्ञ साधारण हिन्दी पाठक की समझ को चुनौती सी देते हैं जैसे 'नमूदार हुए, लहीम शहीम देह, तारीख से तारीख' इत्यादि।

एक निश्चित दिशा में अपनी विशेषताओं को लिए हुए 'बड़ी बड़ी आँखें' एक सफल रचना है।

१, तुलारामबाग, लक्ष्मीभवन,
जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद

—हरिप्रसाद त्रिपाठी

अच्छा काम करो और उसे समुद्र में फेंक दो। वह कभी नहीं डूबेगा।

हिन्देशियाई साहित्य के गत पच्चीस वर्ष : एक सिंहावलोकन

साहित्य की धारा के मार्ग में दो-चार छोटे-मोटे रोड़ों के आ जाने पर ही पाश्चात्य-साहित्य-मनीषी अपने पीछे चार शताब्दियों के आधुनिक साहित्य की समृद्ध परम्परा के बावजूद जब गतिरोध की आवाज़ें बुलन्द करने लगते हैं, तब एशियाई साहित्यों के लिए क्या कहा जाए जिनके रास्ते में तो गतिरोध ही गतिरोध है, एक-आध रोड़ा नहीं समूची चट्टान ही खड़ी है। फिर हिन्देशिया का साहित्य इसका अपवाद कैसे हो, जो केवल मात्र गत पच्चीस वर्षों की ही आधुनिक साहित्यिक परम्परा का दावा कर सकता है।

हिन्देशिया के साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १९२८ से माना जा सकता है. सर्वप्रथम इसी समय हिन्देशियाई साहित्य तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुछ जागरूक शक्तियों का उदय होता है, जो धीरे-धीरे लोगों की विचार-सरणी को रूढ़ि के जटाजूट से निकाल कर आधुनिकता के उन्मुक्त और विस्तृत क्षेत्र में लाने का भगीरथ-प्रयास करती दिखाई देती है। इन शक्तियों में युवक-सभा का महत्व अन्यतम है। इसने जनता में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया तथा स्वभाषा के महत्व को दर्शाते हुए हिन्देशियाई भाषा को देश की राष्ट्रभाषा घोषित किया। डच-भाषा के अंधभक्त तथा स्वभाषा को तुच्छता की दृष्टि से देखने वाले सभ्य और शिक्षित समाज को प्रथम बार हिन्देशियाई भाषा में लिखना अपमानजनक नहीं जान पड़ा।

सन् १९२८ से अब तक की इस लघु अवधि में हिन्देशियाई साहित्य ने कम उतार-चढ़ाव नहीं देखे। यह साहित्य-धारा अब तक चार महत्वपूर्ण मोड़ ले चुकी है। सन् १९२८ को हम आधुनिक हिन्देशियाई साहित्य की पहली मोड़ कह सकते हैं।

१९२८ के हिन्देशियाई साहित्य की परिस्थितियाँ आश्चर्य जनक रूप से हिन्दी-साहित्य के भारतेन्दु-युग से मिलती-जुलती हैं। वहाँ भी उस समय ऐसे लेखकों का एक दल तैयार हो चुका था जो तत्कालीन साहित्य को प्राचीन रूढ़ि की श्रृंखलाओं से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध थे। सुलतान तक़दीर अलीजहबान, सानुसी पाने, अमीर हमज़ा और आरमीज़ीन पाने इस दल के प्रमुख लेखकों में से हैं। सन् १९३३ में इस दल ने हिन्देशियाई भाषा की सर्वप्रथम पत्रिका 'पुदजंगा बारू' का प्रकाशन शुरू किया और तभी से यह दल भी 'पुदजंगा बारू' के नाम से विख्यात हो गया। १९३३ से जापानी आक्रमण के पूर्व १९४१ तक हिन्देशिया की इस 'सरस्वती' ने ही लोगों की चित्तवृत्ति का प्रदर्शन और संचालन किया। 'पुदजंगा बारू' को इस काल के हिन्देशियाई सांस्कृतिक धरातल का केन्द्रीय मंच कह सकते हैं, जहाँ से हिन्देशियाई भाषा, साहित्य और संस्कृति पर महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए गए।

'पुदजंग बारू' दल के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक सुलतान तक़दीर अलीजहबाना ही हिन्देशियाई साहित्य में आधुनिक युग के सूत्रधार हैं। युद्ध से पूर्व के साहित्य को गढ़ने वाले कुशल हाथ निश्चित रूप से इन्हीं के हैं। रूढ़ियों में जकड़े तत्कालीन समाज की गतिहीनता के तक़दीर साहब बड़े विरोधी थे और वे पाश्चात्य गत्यात्मकता के हार्दिक समर्थक, जिसकी चाबी वे पाश्चात्य व्यक्तिवादी प्रवृत्ति को मानते थे। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को वे राष्ट्रीय उन्नयन के पथ का काँटा समझते थे, कदाचित् इसीलिए उन्होंने डच उपन्यास 'टेक टाइगर्स' के आदर्श पर केवल समस्या-प्रधान उपन्यासों की ही रचना की और शॉ के नाटक-पात्रों के ही समान अपने उपन्यासों के चरित्रों को अपने विचारों का वाहक बनाया। हिन्देशियाई जीवन इस समय संक्रान्ति काल की अग्नि-परीक्षा से गुज़र रहा था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, पद पद पर, परंपरागत धारणाओं और आती हुई नई पाश्चात्य प्रवृत्तियों में संघर्ष जारी था। शिक्षा, रूढ़िवादी विवाह और स्वच्छन्द प्रेम, नारी स्वातन्त्र्य आदि नाना समस्याएँ तत्कालीन मस्तिष्कों को मथ डालती थी। फिर एक आधुनिक साहित्यकार भला प्राचीन भारतीय ऋषियों के समान इन भौतिक हलचलों से वीतराग कैसे रह सकता था? तक़दीर साहब ने इन्हीं समस्याओं पर अपने उपन्यासों में गहराई से विचार किया है। "लज़ार टरकेम्बेंग" इन सब

विशेषताओं को लिए हुए उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।

आरमीजीन पाने के अतिरिक्त इस युग के अन्य उपन्यासकार तक़दीर साहब के असफल अनुकरण में ही व्यस्त रहे। हाँ, पाने के "बेलेंगु" [शृंखलाएँ] नामक उपन्यास की रचना सन् १९४० में की, जिसमें लेखक ने एक दम्पति का, उसके अतीत की अवांछनीय घटनाओं को लेकर, मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है और दिखाया है कि किस प्रकार वे बीते हुए को भुला कर वर्तमान को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस युग की केवल यही एक कृति है, जो तत्कालीन किसी भी अच्छे यूरोपीय अथवा अमरीकी उपन्यास के समकक्ष रखी जा सकती है।

इस काल की कविता का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यात्मक रूप चतुर्दश-पदी था। इसकी प्रेरणा उन्हें डच के रोमांस-काव्य से प्राप्त हुई। परंपरागत प्रतीकों के स्थान पर यूरोप के स्वच्छन्दता युग के प्रतीक-विधान को अपनाया गया, सस्ती और काव्य के गुणों से हीन चतुर्दश-पदियां हज़ारों-लाखों की संख्या में लिखी गईं। "पुदजंगा बारू" पत्रिका के पन्ने इनसे पाट दिए गए।

युद्ध-पूर्व की कविता के इस कबाड़खाने में केवल अमीर हमज़ा ही एक ऐसे कवि हैं, जिनमें काव्य की चिरन्तनता के दर्शन होते हैं। आपकी कविताएँ "जैंजी सुंजी" के नाम से सन् १९३७ में प्रकाशित हुईं। इस युग के अस्त व्यस्त झाड़-झंखाड़ में केवल यही कुछ पुष्प दृष्टिगोचर होते हैं। युद्ध-पूर्व की काव्य-परम्परा के आप ही एकमात्र और आखिरी सेनानी हैं।

गद्य के समान पद्य में भी आरपीजीन पाने ही ने परम्परा की इस रोमैन्टिक बाँसुरी के विरुद्ध आधुनिकता के पांचजन्य का जयघोष किया। अमीर हमज़ा से नीची श्रेणी का कवि होते हुए भी नई पौध पर आरमीजीन पाने का प्रभाव अधिक पड़ा। आप सच्चे अर्थ में आधुनिक कवि हैं। चुस्त और व्यंगात्मक भाषा तथा कभी-कभी मुक्त छन्द में लिखी हुई उनकी कविता में तत्कालीन काव्य की कोमलता और मसृणता का अभाव था। अतः प्रारम्भ में उनको पाठकों की उपेक्षा और समीक्षकों के तीक्ष्ण प्रहारों का शिकार होना पड़ा, किन्तु युद्धोपरान्त की नई पौध ने पाने को ही नई कविता के प्रवर्तक के रूप में सम्मानित किया।

हिन्देशियाई-साहित्य धारा का दूसरा मोड़ सन् १९४२ के जापानी आक्रमण से प्रारम्भ होती है। जापानी शासन की अवधि में "पुदजंगा बारू" पत्रिका की अन्त्येष्टि-क्रिया कर डाली गई और इस दल के अधिकांश लेखकों ने लिखना बन्द कर दिया। जापानी पंजे के कठोर नियन्त्रण ने तत्कालीन साहित्य को मृतवत बना डाला।

हाँ, भाषा की दृष्टि से जापानी विजय को बहुत महत्त्व दिया जाना चाहिए। डच भाषा को राजकीय सिंहासन से बाइज़्ज़त उतार दिया गया, और चूँकि तत्काल जापानी भाषा को सरकारी कुर्सी पर बैठाना संभव नहीं था, अतः इस परिवर्तन काल तक के लिए हिन्देशियाई भाषा को ही वह सम्मान मजबूरन देना पड़ा। शैक्षणिक संस्थाओं और समस्त सरकारी कार्यों में हिन्देशियाई भाषा का उपयोग किया जाने लगा और इस प्रकार सन् १९२८ में युवक-सभा के प्रयत्नों से जिस आन्दोलन को केवल सैद्धान्तिक सफलता प्राप्त हुई थी, वह अब प्रथम बार व्यावहारिक रूप में भी सफल हुआ।

१९४२ से १९५५ के स्वातन्त्र्य-घोषणा-दिवस के दरमियान हिन्देशियाई, साहित्य की दशा अत्यन्त शोचनीय रही। इस अवधि में उबा देने वाले, घोर प्रचारात्मक साहित्य की रचना होती रही। सन् १९४५ के बाद अचानक ही पावस के प्रथम मेघों की तरह कई प्रतिभाशाली लेखक साहित्यिक मंच पर दिखाई दिए। इनमें कैरिल अनवर (१९४२-१९४७) और ईद्रुस (१९२१) सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। यहीं से तीसरा मोड़ मान सकते हैं।

कैरिल अनवर पर डच और जर्मन अभिव्यंजनावादियों, रिल्के तथा अन्य विभिन्न यूरोपीय लेखकों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्देशियाई साहित्य के सर्वप्रथम लेखक कैरिल अनवर ही हैं, जिन्होंने इन विभिन्न पाश्चात्य पद्धतियों और टेकनीक को आत्मसात् करने का सफल प्रयास किया। ये परम्परा के कट्टर विरोधी थे। इनका काव्य मखमली मसृणता से हीन एक ज़ोरदार व्यक्तित्व की अनावरण, अनलंकृत अभिव्यक्ति है। इनकी कविताओं का संग्रह मृत्यु के उपरान्त १९४९ में "देरु जम्पर देबु" के नाम से प्रकाशित हुआ।

ईद्रुस एहरेनबर्ग और हेमिंग्वे से प्रभावित अवश्य थे किन्तु उनके मानस पर अधिक गहरा प्रभाव पड़ा

अपने चारों ओर फैले हुए जापानी बूटों के नीचे पिसते हिन्देशिया के सामान्य जीवन का। यही जीवन उनके साहित्य का धरातल बना। सन् १९४६ में उनका 'जोरेत-जोरेत दिबावा ताना' प्रकाशित हुआ जिसमें लघु स्केचों के माध्यम से छोटे-छोटे, चुभते, व्यंगात्मक वाक्यों में तत्कालीन पीड़ित जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति की गई थी।

सन् १९४५ में इन दो महारथियों के इर्द-गिर्द अनेक नए तरुण लेखकों का एक समूह एकत्रित हो गया था जिसे 'अंगातन ४५' (पैंतालीस की पौध) का नाम दिया गया है और ये क्रान्तिकारी मानवता के उपासक थे। 'सब कुछ एकदम नया हो' इनका 'मोटो' था। अपने 'मैनीफैस्टो' में इन्होंने घोषणा की कि "संकीर्णता की ओर ले जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति का हम विरोध करेंगे।...हम अपनी खोजों में मौलिक भले ही न हों, पर हमने मानवता को खोज लिया है।"

इस पैंतालीस की पौध ने इलियट और स्टेनबेक जैसे आधुनिक लेखकों का नए दृष्टिकोण से अध्ययन, मूल्यांकन और हिन्देशियाई भाषा में अनुवाद किया। नए कवि और कहानीकार तैयार हो रहे थे। इस पैंतालीस की पौध का सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक प्रमोद्य अनन्त टोर (१९२५) है। टोर के उपन्यासों में 'कैलवर्गा गेरिल्जा' और 'परबर्नन' (१९५०) विशेष उल्लेखनीय हैं। टोर ने 'आफ़ माइस एण्ड मेन' का हिन्देशियाई भाषा में अनुवाद भी किया।

साहित्य में सदैव क्रिया और प्रतिक्रिया का द्वन्द्व चलता आया है। पैंतालीस की पौध भला प्रतिक्रिया की इस सर्वव्यापी पहुँच से कैसे बच सकती थी। उस पर तीन विभिन्न दिशाओं से प्रहार किए जा रहे हैं। पुदजंगा बारू दल के लेखक पैंतालीस के इस आन्दोलन को अपना ही एक अभिन्न अंग घोषित कर इसके अस्तित्व को ही अपने में आत्मसात् कर लेने के लिए आतुर हैं। मुस्लिम स्कूल के परम्परावादी लेखक इसकी धार्मिक उपेक्षा से नाराज़ हैं। तीसरे हैं मार्क्सवादी जो इसके व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण को नापसन्द करते हैं और इस पौध के लेखकों को क्रान्ति-विरोधी होने का दोषी ठहराते हैं। पैंतालीस की पौध के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया ही चौथा मोड़ है।

हालांकि इस नई प्रतिक्रिया के सेनानियों ने अभी तक किसी महान् कृति की रचना नहीं की है, किन्तु फिर भी उनकी प्रतिक्रिया नितान्त आधारहीन नहीं कही जा सकती। वस्तुतः १९४९ में सत्ता के हस्तांतरण के बाद से यह पौध निष्क्रिय और गतिहीन हो चली थी।

नए लेखक कुछ महत्वपूर्ण चीज़ अभी तक दे नहीं पाए हैं और पुराने निष्क्रिय हो चले हैं, यही वह स्थिति है जो साहित्य में गतिरोध के प्रश्न के रूप में वर्तमान हिन्देशियाई लेखकों में चर्चा का विषय बनी हुई है।

क्या यह गतिरोध वास्तविक है? क्या हिन्देशियाई साहित्य का भविष्य अंधकारमय है?—आदि कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। बात यह है कि फ़िलहाल हिन्देशिया के अधिकांश प्रमुख लेखक और प्रतिभाशाली तरुण विद्यार्थी अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में अध्ययन में संलग्न हैं। भावी हिन्देशियाई साहित्य इन्हीं की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। अतः गतिरोध की यह स्थिति रात्रि के उस चौथे प्रहर की तरह है जिसके पूर्वी क्षितिज में प्रभात की अरुणिमा शीघ्र ही फैलने वाली हो।

मूल : जेम्स. एस. होम्स
संक्षिप्त रूपान्तर :—शरद देवड़ा

४१ ए, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट,
कलकत्ता

क्या तुम अनुभव का लक्षण बतला सकते हो?

हाँ।

अनुभव, वह वस्तु है जो कि सब कुछ गँवा देने के पश्चात अवशिष्ट रह जाती है।

'इंग्लिश डाइजेस्ट' से

संघमित्रा

महानुभाव महाराज अशोक का नाम जगत्प्रसिद्ध है। अशोक ने राजपद पाने के आठ वर्ष पीछे कलिङ्ग देश पर चढ़ाई की। कलिङ्गराज अशोक के निकट पराजित हुआ। इस युद्ध में कलिङ्ग देश के एक लाख से भी अधिक लोगों के प्राण गए। डेढ़ लाख बन्दी हुए। युद्ध के उपरान्त इस देश में भयानक दुर्भिक्ष और महामारी फैल गई। इससे भी कई सहस्र लोगों का प्राणनाश हुआ। कलिङ्ग देश एक बार श्मशान बन गया।

इस युद्ध से अशोक के मन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। किसी देश को जीतने में इतने मनुष्य मरते हैं, इतने लोगों का सर्वनाश हो जाता है, राज्य लोभ के लिए पृथ्वी पर इतनी अशान्ति की आग जलानी पड़ती है, इस ध्रुव सत्य का अशोक ने मन-प्राण से अनुभव किया। उसने प्रतिज्ञा की कि जीवन में अब मैं कभी भी और युद्ध नहीं करूँगा। अशोक ने अपने जीवन के शेष मुहूर्त तक इस प्रतिज्ञा का पालन किया।

उस समय उपगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध बौद्ध संन्यासी था। उससे बौद्ध धर्म के विविध उपदेश सुन कर राजा अशोक बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया। बौद्ध धर्म की दीक्षा लाभ कर लेने पर उसने राजधानी में एक बौद्ध महासभा स्थापित की और अफ्रीका महादेश के नाना स्थानों में बौद्ध-प्रचारक भेजे। इस बार अस्त्र-शस्त्रों के स्थान में उनके प्रेरित अनुचरगण धर्म की विजय-वार्ता उठाए पृथ्वी विजय के लिए बाहर निकले। यहाँ तक कि समदर्शी अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र और कन्या संघमित्रा तक को सिंहल द्वीप में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भेज दिया।

संघमित्रा के जन्म का इतिहास है। पिता बिन्दुसार के राजत्व काल में अशोक उज्जयिनी के शासनकर्त्ता के रूप में वहाँ वास किया करता था। उस समय उसने पिता से अज्ञात रूप में वहाँ की देवी नाम की श्रेष्ठिकन्या विवाह कर लिया। यह बात बिन्दुसार पाटलिपुत्र में रहने के कारण कुछ न जान सका। इस पत्नी के गर्भ से महेन्द्र और संघमित्रा का जन्म हुआ। पिता की मृत्यु पर अशोक जब सम्राट् बना, तब इस पुत्र और इस कन्या ने कुछ दिन उपरान्त अपनी मातासहित पाटलिपुत्र में आगमन किया।

अशोक ने पुत्र और कन्या को बौद्ध धर्म विषयक विविध नीतियथाओं की शिक्षा दिलाई। संघमित्रा ने समस्त बौद्ध गाथाओं का ज्ञानलाभ कर लिया। संघमित्रा बौद्ध धर्मसम्बन्धी अभिज्ञता लाभ करने के साथ-साथ संसार से भी में सम्पूर्णतः उदासीन हो गई। राजकन्या होने पर भी उसे कोई गर्व न था, कोई विलास न था। क्या वसन-भूषण में, क्या साज-सज्जा में सभी विषयों में उसमें त्याग और संयम था। राजकन्या होने पर भी संघमित्रा भिक्षुणियों के साथ मिलती थी। महेन्द्र और संघमित्रा दोनों ने सर्वसाधारण की श्रद्धा और प्रीति लाभ की थी।

संघमित्रा इसी प्रकार धर्मालोचना करते-करते सम्पूर्ण भाव से धर्मानुरागिणी हो गई। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए दस कोटि सुवर्ण मुद्रा व्यय कर चौरासी सहस्र बौद्ध विहार निर्माण कराए। जिस दिन उन्होंने जान लिया कि उनका संकल्पित चौरासी सहस्र विहार का निर्माण कार्य समाप्त हो गया, उसी दिन उन्होंने राज्य में घोषणा कर दी कि हमारे राज्य में महादानोत्सव सम्पन्न किया जाएगा।

राजा ने दानसभा का विराट् आयोजन किया। दानयज्ञ बड़े समारोह के साथ सम्पादित हुआ। भिक्षु और भिक्षुणीगण सम्राट् के प्रति प्रसन्न होकर उनको आशीर्वाद देने लगे। सम्राट् अशोक ज्ञानवृद्ध और महातापस भिक्षु और भिक्षुणियों से पूछने लगे—"कहिए मैं किस प्रकार का दान करूँ जिससे मैं बौद्ध धर्मावलम्बियों में श्रेष्ठ दानशील समझा जा सकूँ?"

भिक्षु-संघ का प्रधान नेता महास्थविर तिष्य बोला : "जिसने पुत्र या कन्या को धर्म के लिए उत्सर्ग कर दिया है, वही बौद्ध धर्म का प्रधान एवं प्राकृत पोषक है।"

उस महास्थल में संघमित्रा और महेन्द्र उपस्थित थे। सम्राट् ने महास्थविर से कहा कि ऐसा ही हो। मैं अपने पुत्र महेन्द्र एवं संघमित्रा को बौद्ध धर्म के लिए

उत्सर्ग करता हूँ। इस पर सहस्र-सहस्र नर-नारियों के कण्ठ से ध्वनित हो उठा :

"बुद्धं शरणं गच्छामि
धर्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि"

महाराज अशोक की इस अपूर्व दानशीलता पर सबने मुग्ध हो शत शत साधुवाद करते हुए प्रस्थान किया।

बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने को उपसम्पदा कहते हैं। संघमित्रा ने यह उपसम्पदा ग्रहण कर ली। संघमित्रा ने राजप्रासाद का परित्याग कर दिया और मठ में जाकर वास करने लगी। उसकी धर्मनिष्ठा, इन्द्रिय-संयम, धर्मोपदेश एवं महान् आदर्श से बहुत से धनी व्यक्तियों की कन्याएँ भी उसका पदानुसरण करने लगीं। अन्त में महास्थविर तिष्य के उपदेश से संघमित्रा ने भ्राता महेन्द्र सहित बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सिंहल को गमन किया।

उनके असाधारण शक्ति के प्रभाव से सिंहल के प्रत्येक नगर और ग्राम में बौद्ध-विहार प्रतिष्ठित हो गये। सिंहल राज्य में सर्वत्र धर्म का स्रोत प्रवाहित हो उठा। सिंहल राजकुमारी अनुला और उसकी पाँच सौ सहचरियों ने संघमित्रा के आदर्श से बौद्ध धर्म की दीक्षा लाभ की और भिक्षुणीव्रत ग्रहण कर राजप्रासाद परित्याग-पूर्वक महामेघ नामक उद्यान में जाकर वास करने लगीं। अनुला के आदर्श से सिंहल की संभ्रान्त वंशीय महिलाएँ भी दल की दल आकर बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गईं। इस प्रकार संघमित्रा के चेष्टा-यत्न एवं अनुला की सहायता से सिंहल-भिक्षुणी-संघ संगठित हो गया। सिंहल में बौद्ध धर्म प्रतिष्ठित हो जाने पर सिंहल के अधिपति ने भी बौद्ध धर्म का अवलम्बन किया। सिंहल नृपति अशोक के आदर्श का अनुसरण कर अपने राज्य में धर्म-नीति और सुशिक्षा प्रदान के लिए व्याकुल हो उठा।

एक दिन सिंहल-नृपति और उनकी कन्या दोनों संघमित्रा से कहने लगे : "देवि, जिस बोधिवृक्ष की शान्त शीतल छाया के नीचे भगवान् बुद्ध ने दिव्य ज्ञान-लाभ किया था और मुक्ति प्राप्त की थी, आप यदि सिंहल में लाकर उसी पवित्र वृक्ष की एक शाखा का आरोपण करने की व्यवस्था करें, तो इससे इस देश का परम कल्याण साधित होगा।" संघमित्रा के भारतवर्ष से बोधिवृक्ष की एक शाखा सिंहल में ले आने पर, उसे बड़े उत्सव के साथ सिंहल में रोपित किया गया।

एक समय भारत की महिलाओं ने केवल ज्ञान लाभ कर अपनी ही आदर्श ऊँचा किया हो सो बात नहीं, पृथ्वी पर सर्वत्र उनका वही आदर्श अनुसृत हो, इसके लिए भी वे प्राणपण से चेष्टा कर गई हैं। संघमित्रा के आदर्श और त्याग की तुलना एक प्रकार से जगत् के इतिहास में और कहीं नहीं मिलती।

राजा अशोक ने जब पुत्र और कन्या को सिंहल भेजा था, तब देवताओं का प्रिय तिष्य सिंहल का नृपति था। तिष्य ने बौद्ध धर्म की दीक्षा लाभ कर अनुराधापुर के समीप महिन्ताली पर्वत के शिखर देश पर एक बौद्ध मठ निर्माण किया। इस निर्जन सुन्दर पर्वतीय आश्रम में महेन्द्र ने कई वर्ष वास किया था। महामहिमामयी संघमित्रा का ७९ वर्ष की आयु में सिंहल में देहान्त हो गया।

देवताओं का प्रिय तिष्य बीस वर्ष राज करने के पश्चात् परलोक गमन कर गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहल में भयानक राष्ट्रविप्लव उपस्थित हुआ। किन्तु महेन्द्र और संघमित्रा ने वहाँ धर्म का जो बीज बोया था, उसके फल से बौद्ध धर्म, सब प्रकार की प्रतिकूलता होते हुए भी, दिन पर दिन प्रसार लाभ करता रहा। एक शताब्दी के उपरान्त सिंहल से ही बौद्ध धर्म ने सुमात्रा, यवद्वीप और अनेक निकटवर्ती नाना स्थानों में विस्तार लाभ किया।

कोई राजकुमारी धर्म के लिए भिक्षुणीव्रत ग्रहण करे, धर्म-नीति और धर्म-शिक्षा में जीवनयापन करे और द्वार-द्वार घूम कर धर्म प्रचार करे यह केवल भारतीय महिला की अवस्था में ही सम्भव है। संघमित्रा का नाम जगत् के इतिहास में सुवर्ण अक्षरों में लिपिबद्ध हो गया है, उसका नाम कोई कभी भी नहीं भूल सकता।

—सन्ता

पुरानी बसी,
होशियारपुर (पंजाब)

शोर और संगीत

प्रथम अंक

पात्र

[जिस क्रम से वे नाटक में आते हैं]

मोहिनी
शान्ता
कान्ता
कमला
भिखारी (केवल स्वर)
विमला
रजनी
माला
मुन्नी
छाया
प्रेम
पिता
डाक्टर
माता
कुछ बच्चे
नीला

स्थान : एक कोठी का बरामदा ।

[मोहिनी को नई दिल्ली की इस कोठी में ब्याह कर आए तीन साल हो गए हैं। तीन साल से मोहिनी प्रायः कोठी के इस पिछले बरामदे में आकर अकेली बैठ जाती है, विशेषकर सुबह सो कर उठने के बाद। फिर जैसे-जैसे दिन निकलता है कोठी के बाक़ी हिस्से में बच्चों का शोर बढ़ना शुरू हो जाता है। यह शोर बढ़ता बढ़ता इतना बढ़ जाता है कि हर रोज़ अपने कानों में उँगलियाँ देकर वह दाएँ हाथ के अपने कमरे में चली जाती है और दरवाज़ा बन्द कर लेती है।

ये बच्चे मोहिनी के नहीं, मोहिनी की सास के हैं, मोहिनी की सास के; जिसे दसवाँ बच्चा हुए अभी कुछ दिन ही हुए हैं।

सामने दीवार पर, खेल रहे दो अति सुन्दर बच्चों की, एक तसवीर है। कुरसी पर बैठी मोहिनी इस तसवीर को देख रही है। ये दो बच्चे जैसे बहन-भाई हों। कुरसी के पास मेज़ पर एक नवजात बच्चे का छोटा-सा स्वेटर पड़ा है।

कुरसी पर बैठी बच्चों के चित्र को देखती-देखती मोहिनी उठ कर दीवार के पास जाकर चित्र को देखने लगती है। और ऐसे काफ़ी देर तक खोई-खोई देखती रहती है। फिर मुड़ कर मेज़ पर से वह स्वेटर को उठाती है। ऊन के स्वेटर का जो हिस्सा उसके हाथ में है वही उसके हाथ में रहता है और बाक़ी नीचे जा पड़ता है। यह देख कर मोहिनी जैसे ठिठक जाती है।]

शान्ता : (मोहिनी की ननद, आयु १५ वर्ष, आते हुए) मोहिनी भाभी, इस स्वेटर को कीड़े खा गए ?

(मोहिनी चुप है, टुकर-टुकर स्वेटर को देख रही है। बाएँ हाथ के कमरे में से आई शान्ता सामने दरवाज़े में से बिना उत्तर पाए चली जाती है।)

कान्ता : (मोहिनी की ननद, आयु १३ वर्ष, आते हुए) भाभी इस स्वेटर को क्या हुआ है ? अन्दर पड़े पड़े कीड़े खा गए ?

(मोहिनी अभी भी चुप है। उसकी आँखों से आँसू छलक आते हैं और कान्ता भी शान्ता की तरह बिना कोई उत्तर पाए चली जाती है।)

कमला : (मोहिनी की ननद, आयु ११ वर्ष, तेज़ तेज़ आते हुए) भाभी, भाभी। (स्वेटर को देखते हुए जैसे उसे पहली बात भूल जाती है) हैं ! इस स्वेटर को कीड़े खा गए ? हाय कितना छोटा-सा, कितना प्यारा-सा स्वेटर है।

(फिर पहली दोनों बहनों की तरह मोहिनी को उदास, रुआंसी देख कर वह भी सामने दरवाज़े में से धीरे से चली जाती है।)

मोहिनी : (स्वगत) स्वेटर को कीड़े खा गए। अन्दर पड़े-पड़े स्वेटर को कीड़े खा गए। कैसे कुलबुल कुलबुल कर रहे हैं, कीड़े...(यों लगता है जैसे कोई कीड़ा मोहिनी की उंगली को छू जाता है और वह घबरा कर हाथ को झटकती है और स्वेटर का बाकी हिस्सा भी नीचे जा पड़ता है। मोहिनी फिर दीवार के साथ लग कर खड़ी हो जाती है।)

भिखारी : (बाहर सड़क से केवल आवाज़) हे बच्चोंवालो, मेरे छोटे छोटे मासूम हैं। भगवान् के वास्ते एक रोटी का सवाल है।

भिखारिन : (बाहर सड़क से केवल आवाज़) : है

बाबा, हम रात के भूखे हैं। मेरे छोटे छोटे बच्चे भूखे हैं। हे बच्चो वालो।

भिखारी बच्चे : (मिल कर) हम भूखे हैं बाबा। हम नंगे हैं बाबा। एक रोटी का सवाल है बाबा। भगवान् के नाम पर बाबा।

(भिखारियों की आवाज़ धीरे धीरे दूर हो जाती है।)

मोहिनी : (आँखों में आँसू लिए अपने विचारों में खोई सुनती रहती है।)

विमला : (मोहिनी की ननद, आयु ६ वर्ष, आते हुए) भाभी कौन-से, स्वेटर को कीड़े खा गए हैं?

मोहिनी : (अब भी चुप है)

रजनी, माला, मुन्नी : (आयु ७, ५, ३, वर्ष, आते हुए) भाभी! भाभी!! किस स्वेटर को कीड़े खा गए हैं?

(बच्चे स्वेटर को देख रहे होते हैं कि मोहिनी आँखों में आँसू लिए अपने कमरे में चली जाती है)

आया : (आवाज़ देते हुए आती है) विमला, रजनी, माला, मुन्नी, चलो मेज़ पर चाय लग गई है।

(बच्चे जिस तरह दौड़ते हुए आए थे, उसी तरह हँसते हँसते दौड़ते हुए चले जाते हैं, केवल विमला रह जाती है।)

विमला : आया, भाभी की स्वेटर को कीड़े खा गए हैं।

आया : हाय, बेचारी लड़की ने उस साल लुक छिप कर बनाया था। कैसे कुलबुल कर रहे हैं कीड़े।

(खाने के कमरे में से बच्चों का शोर आ रहा है। आया जिस दरवाज़े में से आई थी, उसी दरवाज़े में से चली जाती है। आया के पेट में बच्चा है। ऐसे लगता है कि उसके दिन पूरे हो चुके हैं। आया से ठीक चला तक नहीं जाता।)

विमला : (मोहिनी का दरवाज़ा खटखटाते हुए) भाभी, मैं अन्दर आ सकती हूँ?

प्रेम : (सामने से आता है, उसके हाथ में अखबार है) क्यों, क्या बात है बिम्बो?

विमला : भैया, भाभी के स्वेटर को कीड़े खा गए।

प्रेम : (देख कर) ओहो, यह तो बहुत बुरी बात हुई। अच्छा तुम नौकर को जा कर कहो चाय की एक प्याली मुझे दे जाए।

विमला : अच्छा भैया। (जाती है)

प्रेम : (आवाज़ देते हुए) मोहिनी।

मोहिनी : (आती हुई) आपका अख़बार आ गया। अब आप गुसलखाने हो आएँ।

प्रेम : आज अख़बार देर से आया है। जब तक अख़बार न आ जाए, मेरी तो नींद नहीं खुलती।

मोहिनी : कल से मैं आपके सिरहाने पुराना अख़बार रख दिया करूँगी।

प्रेम : ऊँहूँ, नया अख़बार का ताज़ापन, नए छपे अख़बार की धीमी धीमी ख़ुशबू, जैसे शराब का स्वादिष्ट कड़वापन हो। ताज़े अख़बार को देखते ही मेरी नींद खुल जाती है। सारा आलस्य दूर हो जाता है।

मोहिनी : ठीक है। ख़बरें तो आप रेडियो पर भी रात को सुन लेते हैं।

प्रेम : हाँ, सच, यह तू क्या बनाती रही है। मोहिनी, तू कितना प्यारा गाया करती थी। तुझे तो सब कुछ भूल गया। यह तू क्या अपना समय नष्ट करती रही है।

मोहिनी : जो कुछ बनाया था, उसे तो कीड़े खा गए।

प्रेम : तू कितनी पगली है। यह स्वेटर......

(और फिर दोनों एक दूसरे की आँखों में देखते हैं और देर तक देखते रहते हैं।)

मोहिनी : मैंने सोचा था माता जी को दे दूँगी।

प्रेम : हाँ, नई बेबी के काम आ जाता।

मोहिनी : जिस वर्ष मुन्नी हुई थी उसी वर्ष मैंने यह स्वेटर बनाया है।

प्रेम : (छेड़ते हुए) और फिर तुम्हें यह स्वेटर इतना अच्छा लगा कि तुमने चुपके से इसे अन्दर रख लिया। अपने मुन्ने......

मोहिनी : प्रेम।

प्रेम : इसमें शर्म की कौनसी बात है। ह चिड़िया अपने घोंसले को संवारती है, बनाती है, इ पहले कि उसमें से फूलों की सी ख़ुशबू आनी शु हो जाए।

मोहिनी : और कई चिड़िया ऐसी भी होती जिनके घोंसले तो बन जाते हैं......

प्रेम : और उनको घोंसलों का सूनापन खाने को दौड़ता है। उनका जी चाहता है, उनका जी चाहता है कपड़े फाड़ कर कहीं निकल जाएँ।

मोहिनी : आज बाहर घास पर फिर ओस पड़ी है।

प्रेम : और किसी का जी चाहता है, नंगे पाँव ओस की धुली घास रौंद जाए।

मोहिनी : घास पर पड़ी ओस को देख कर मेरे पाँव वैसे जलने लगते हैं.

प्रेम : यों लगता है, ख़रगोश जैसे फिर व्यायी है। सामने आँगन में कितने सारे बच्चे उछल कूद रहे हैं।

मोहिनी : दस बच्चे इसने दिए हैं। इस बार कुल-कुल कर रहे हैं कीड़ों की तरह। मैंने कल देखा, और मेरे सिर में दर्द होना शुरू हो गया।

प्रेम : हाँ, आजकल तुम्हारे सिर दर्द का क्या हाल है?

मोहिनी : जिस दिन से माता जी अस्पताल गई हैं, दौरा तो नहीं पड़ा। हाँ, कल ख़रगोश के बच्चों को देख कर चक्कर आने शुरू हो गए।

प्रेम : तो फिर मेरा अनुमान ठीक है। माँ जी का बढ़ा हुआ पेट देख कर ही तेरा सिर दर्द शुरू हो जाता था।

प्रेम : अभी अभी तो तुम कह रही थीं कि हलका-हलका दर्द है।

मोहिनी : पेट तो आया का भी बढ़ा हुआ है, और हमेशा बढ़ा ही रहता है।

प्रेम : उसकी और बात है। आया के बच्चों का शोर तो तुम्हें नहीं सुनना पड़ता। और फिर आया बच्चा पैदा करने के लिए बच्चा थोड़े ही जनती है। वह तो बच्चा जनती है ताकि चार पैसे कमा सके।

(खाने के कमरे में बच्चों का शोर ऊँचा हो जाता है।)

मोहिनी : मैं तो हैरान ही होती रहती हूँ, कैसे कोई माँ अपने बच्चे के मुँह से छीन कर अपना दूध किसी और को पिला सकती है।

प्रेम : उसके लिए यह रोज़ी का साधन है। हमारे घर में यह पाँचवाँ बच्चा होगा, जिसे वह दूध पिलाएगी।

मोहिनी : मैं तो सोचती हूँ, पहले पति के मरने के बाद उसने जल्दी-जल्दी ब्याह भी इसीलिए किया था कि अगर कहीं उसका दूध न हुआ तो उसकी नौकरी छूट जाएगी।

प्रेम : यह तरीक़ा अच्छा है। उधर माता जी को दूध की आवश्यकता होती है, इधर आया का दूध तैयार हो जाता है।

मोहिनी : इस बार ज़रा पिछड़ गई है।

प्रेम : दूध के लिए ही तो इसका इतना ख़याल रखा जाता है। अच्छे से अच्छा खाने के लिए इसे मिलता है। दूध, बादाम और फल, धोबी के धुले हुए कपड़े, नहाने के लिए गरम पानी।

मोहिनी : पर अपनी कोख के जाए को वह गोद नहीं उठा सकती। अपने बच्चे को माँ के होठों से चूम नहीं सकती।

प्रेम : नौकरी आख़िर नौकरी है। इसको इसी की तो तनख़ाह मिलती है।

मोहिनी : खाने के कमरे में बच्चों का शोर कितना बढ़ गया है।

प्रेम : कौन इनसे माथापच्ची करे।

मोहिनी : मैं सोचती हूँ हर साल, हर दूसरे साल बच्चे पैदा करते किसी का पेट नहीं फट जाता।

प्रेम : जब मैं पैदा हुआ था मां जी का पेट चाक करना पड़ा था। पेट को काट कर मुझे निकाला गया।

मोहिनी : अच्छा।

प्रेम : पहला बच्चा होने के कारण पूरा एक दिन एक रात मां जी तड़पती रहीं और फिर भी जब मैं न हुआ तो पेट का आपरेशन करना पड़ा।

मोहिनी : और फिर उमा की बार?

प्रेम : (छेड़ते हुए) उमा तो लड़की थी। लड़कियों को कौन रोक सकता है। लड़कियाँ तो दौड़ती भागती आती हैं।

मोहिनी : और उसके बाद आती ही गईं, आती ही गईं। बरसाती नदी में बाढ़ की तरह। हर साल, हर दूसरे साल।

प्रेम : दर असल मां जी को मेरे बाद एक और बेटे की इच्छा थी, और इसी तलाश में आठ बेटियाँ आ गईं। एक के बाद एक आती रहीं और हर बार उन्हें जैसे पक्का विश्वास होता था कि अगली बार

अवश्य बेटा होगा ।

मोहिनी : क्या एक बेटा काफ़ी नहीं ?

प्रेम : (व्यंग से) बाप की जायदाद को बरबाद करने के लिए बेटा आवश्यक समझा जाता है और जितने बेटे अधिक हों, बरबादी उतनी जल्दी होती है । बेटियाँ तो अपने अपने घर चली जाती हैं ।

मोहिनी : जैसे उमा चली गई है । इस शोर से तो उसका छुटकारा हो गया ।

(बाहर बच्चों का शोर और बढ़ जाता है)

प्रेम : कहाँ ? स्त्री जहाँ जाती है उसका शोर उसके साथ जाता है जब चाहे वह मेला लगा सकती है ।

मोहिनी : क्या मतलब है आपका ?

प्रेम : मेरा मतलब है उमा को स्वयं बच्चा होने वाला है । चाहे हो भी गया हो, मैंने तुम्हें जान बूझ कर बताया नहीं था । मैंने सोचा तू मज़ाक करेगी ।

मोहिनी : अभी कल तो उसका ब्याह हुआ है ।

प्रेम : हमारी तरफ़ पहला बच्चा हमेशा मैके में होता है । पर हमारे तो पहले ही...

मोहिनी : पालना रुक गया था ।

प्रेम : मुझे इतनी लज्जा आई, इतनी लज्जा आई, मैंने उसके पत्र का उत्तर तक नहीं दिया ।

मोहिनी : मां जी को तो इसका पता होगा ।

प्रेम : हाँ, मैंने पत्र उनको दे दिया था ।

मोहिनी : उमा बेचारी क्या सोचती होगी ।

प्रेम : अब नई बेबी के होने का तार मैंने दिया है, और उमा समझ गई होगी, मैंने क्यों उसके पत्र का उत्तर नहीं दिया था ।

(बच्चों का शोर और बढ़ता जाता है ।)

मोहिनी : हाय, यह बच्चों का शोर, मेरा तो सिर फटने लगा है ।

आया : (आते हुए) साहब, चाय ।

(आया चाय मेज़ पर रखती है । मोहिनी एक प्याला तैयार करके प्रेम को देती है ।)

प्रेम : आया, यह बच्चों ने क्या हुल्लड़ मचा रक्खा है ?

आया : खा रहे हैं, खेल रहे हैं, बातें कर रहे हैं, हँस रहे हैं...

प्रेम : तुम उनको जाकर समझाओ, आया । बीवी को सिर दर्द हो रहा है ।

आया : (जाते हुए) बीवी के सिर दर्द का तो कोई इलाज होना चाहिए । (चली जाती है ।)

मोहिनी : बच्चों का इस तरह शोर सुन कर पहले मेरे मुँह का स्वाद फीका फीका होता है । फिर मेरा दिल कच्चा होने लगता है । फिर मुझे चक्कर आने शुरू होते हैं । चक्करों के साथ हलका हलका दर्द शुरू हो जाता है । जैसे जैसे शोर बढ़ता है, चक्कर तेज़ होते जाते हैं । चक्कर जैसे जैसे तेज़ होते जाते हैं, सिर दर्द और ज़्यादा बढ़ता जाता है । मुझे यों लगता है जैसे मेरे शरीर पर चींटियाँ चल रही हैं ।

(बच्चों का शोर और बढ़ जाता है)

प्रेम : (ऊँचे स्वर में) रजनी, माली, मुन्नी, विमला, कमला, कान्ता, शान्ता, यह शोर बन्द होगा कि नहीं ?

(बच्चों का शोर एकदम बन्द हो जाता है)

मोहिनी : और जब शोर इस तरह एकदम बन्द हो जाता है तो मुझे लगता है जैसे मैं किसी कुएँ में डूबती जा रही हूँ ।

प्रेम : जब बच्चों का शोर होता है तुझे चक्कर आने लगते हैं । जब शोर नहीं होता तो तेरा दिल डूबने लगता है ।

मोहिनी : यही तो मुसीबत है........।

कमला : (तेज़ तेज़ आती है) भैया, भैया, आया को सख़्त पेट दर्द हो रहा है । वह तो रसोई में ही लेट गई है । शान्ता बहन ने कहा कि उसे अस्पताल ले जाना होगा ।

प्रेम : अच्छा मोहिनी, मैं अभी आता हूँ । (जाता है)

कमला : भाभी, आपको क्या हुआ है । आपको सिर दर्द है ?

मोहिनी : हाँ कमला, मुझे सख़्त सिर दर्द है । मेरा सिर जैसे फटने लगा हो ।

कमला : लाओ भाभी, मैं तुम्हारा सिर दबा दूँ ।

(मोहिनी की कुर्सी के पास खड़ी हो कर कमला उसका सिर दबाती है । साथ साथ बातें भी किए जा रही हैं)

मोहिनी : धीरे धीरे कमला । हाय, कैसी टीसें उठ रही हैं ।

कमला : भैया शायद आया को मोटर में डाल कर ले गए हैं । अच्छी भली वह टोस्ट सेंक रही थी ।

मैं स्वयं रसोई घर में थी। खड़े खड़े उसको दर्द हुआ। वह बैठ गई और फिर वहीं की वहीं लेट गई।

मोहिनी : हाय, मुझे चक्कर आ रहे हैं।

कमला : भैया आया को छोड़ कर शायद मां जी को ले आएँगे। पिता जी तो कभी के गए हुए हैं।

मोहिनी : हाय, मुझे सख़्त चक्कर आ रहे हैं।

(मोहिनी आँखें बन्द किए कुर्सी की पीठ पर अपने सिर को गिरा देती है।)

कमला : भाभी, यह बेबी जो आई है मैंने इसका नाम चुहिया रखा है। छोटा-सा सिर, तिनके जैसी टांगे, एक आँख इधर देखती है एक आँख उधर देखती है। बाक़ी बच्चे अस्पताल में लाल-लाल, गोल-गोल, गोरे-गोरे, जैसे मक्खन के पेड़े हों, और यह हमारी बेबी जैसे काली जोंक हो।

(बगल के कमरे में बच्चों का शोर फिर बढ़ जाता है)

मोहिनी : हाय, मुझे सख़्त चक्कर आ रही है।

कमला : कितना शोर कर रहे हैं ये लोग। मैं जाकर इन्हें कहती हूँ।

(कमला जल्दी जल्दी चली जाती है। मोहिनी वैसी ही आँखें बन्द किए कुर्सी की पीठ पर सिर रखे पड़ी है। बगल के कमरे में कमला बच्चों को चुप करा रही है और इस तरह शोर और ज़्यादा हो जाता है।)

मोहिनी : (पागलों की तरह कुर्सी से उठ कर बोलना शुरू कर देती है) मारे जा रहे हैं, मारे जा रहे हैं। नोच-नोच कर मेरा माँस खा रहे हैं। मेरा दम घुट रहा है। मेरी छाती पर क्यों बैठते हो। हाय मैं कैसी दबी जा रही हूँ। मेरी टाँगों को क्यों जकड़ लिया है। मेरी बाँहों को क्यों पकड़ लिया है। मुझे प्यास लगी हुई है और सब घड़े ख़ाली पड़े हुए हैं। यह पानी कौन पी जाता है, जब देखो घड़े ख़ाली, जब देखो बरतन ख़ाली। मैं तो सस्सी हूँ। सुनसान जंगल में मेरा मुन्ना खो गया है। चला गया है बहुत दूर। 'होत' पकड़ कर ले गए हैं उसे। यह 'होत' निगोड़े क्यों किसी का मुन्नू छीन लेते हैं। सब सस्सियाँ जलती हैं, सब सस्सियाँ बुझती हैं। जैसे भट्टी में पड़ा हुआ कोई दाना हो। ऊपर से खिलखिला कर हँसती हैं। अन्दर गीले उपले की तरह सुलगती रहती हैं। कोयल कैसे कूक रही है। विरह में जली कोयल कूक रही है, बोल रही है। अमराई को बौर आ गया है।

(गाना शुरू कर देती है)

“घूँघट में गोरी जले.........
... ...
आज तुम हो चांदनी हैं...
... ...
इस पार प्रिय मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा...”

(जब मोहिनी इस तरह गा रही होती है, तो शान्ता एक दरवाज़े से आकर आश्चर्य चकित उसे देखने लग जाती है। मोहिनी की उस ओर पीठ है। गाते-गाते मोहिनी एकदम चुप हो जाती है।)

शान्ता : (सहमी हुई) भाभी, भाभी।

मोहिनी : ठण्डी चाय, ठण्डी चाय। मेरी चाय ठण्डी हो गई है। बादलों में से एक बूँद नहीं फूटती। आँखों में आँसू बहते रहते हैं। आँसू गरम हैं, चाय ठण्डी है। ठण्डी चाय, ठण्डी चाय।

(पागलपन में मोहिनी चाय के बरतनों को ज़मीन पर पटक देती है और फिर चीखती हुई दौड़ कर अपने कमरे में चली जाती है। अन्दर से कमरा बन्द कर लेती है।)

शान्ता : भाभी, मोहिनी भाभी।

कान्ता : (आती हुई) क्या हुआ?

कमला : (आती हुई) क्या हुआ शान्ता बहन?

बाकी बच्चे : (आते हुए) क्या हो गया है?

कमला : ये बरतन किसने तोड़े हैं?

शान्ता : तुम सब चली जाओ यहाँ से। भाभी की तबीयत ठीक नहीं है।

कमला : पर ये चाय के बरतन कैसे टूट गये।

शान्ता : (दरवाज़े को खटखटाते हुए) मोहिनी भाभी, दरवाज़ा खोल।

कमला : भाभी शायद सिर दर्द ज़्यादा हो गया है।

रजनी : भाभी तो रो रही हैं।

शान्ता : कमला तुम पीछे की ओर से देखो। शायद गुसलख़ाने वाला दरवाज़ा खुला हो।

कमला : (जाते हुए) वह तो अभी बन्द ही होगा। (जाती है)।

शान्ता : मोहिनी भाभी दरवाज़ा खोल दो।

बाक़ी बच्चे : दरवाज़ा खोल दो, मोहिनी भाभी।

शान्ता : मै कहती हूँ, तुम चली क्यों नहीं जाती यहाँ से। भाभी की तबीयत ठीक नहीं।

कमला : (आते हुए) गुसलख़ाने वाला दरवाज़ा बन्द है।

शान्ता : मोहिनी भाभी दरवाज़ा खोल दो।

(फिर ज़ोर ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाती है ताकि चिटखनी खुल जाए)

बाक़ी बच्चे : मोहिनी भाभी।

पिता : (आते हुए) क्यों, यह क्या हो रहा है ?

शान्ता : मोहिनी भाभी पहले इस बरामदे में खड़ी अपने आपसे बातें करती रहीं। फिर उन्होंने चाय के बरतन उठा कर फ़र्श पर पटक दिए और फिर रोती-चिल्लाती हुई अपने कमरे में दौड़ गईं और अन्दर से उन्होंने चिटख़नी लगा ली।

पिता : कान्ता, तुम दौड़ कर बाहर डाक्टर चाचा को ठहराओ। तेरी माँ को उतार कहीं वह चले न जाएँ।

कान्ता : (तेज जाते हुए) अच्छा पिता जी (चली जाती है)।

पिता : (बच्चो को) तुम भी यहाँ से जाओ। क्या शोर तुम लोगों ने यहाँ मचा रक्खा है ?

(शान्ता के अलावा सब बच्चे चले जाते हैं।)

शान्ता : रोती जा रही हैं, रोती जा रही है मोहिनी भाभी।

पिता : (दरवाज़ा खटखटाते हुए) मोहिनी बेटी, दरवाज़ा खोल दो, देखो तेरी माता जी आई हैं।

शान्ता : भाभी, दरवाज़ा खोल दो।

डाक्टर : (आते हुए) क्यों, क्या बात है ?

पिता : मोहिनी ने अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर लिया है। रोती जा रही है, रोती जा रही है और दरवाज़ा नहीं खोलती।

शान्ता : पहले उन्होंने ये बरतन तोड़े। उससे पहले अपने आप से बातें करती रहीं और फिर घबरा कर चिल्लाती हुई अन्दर अपने कमरे में दौड़ गईं।

डाक्टर : शान्ता, तुम जाओ माता जी को तुम्हारी आवश्यकता है।

शान्ता : अच्छा डाक्टर साहब।

(शान्ता जाती है)

डाक्टर : मैंने कई बार सोचा है आपको कहूँ। इस लड़की की आँखों में मुझे एक विचित्र वीरानगी दिखाई देती आ रही है। पिछले कुछ महीने से।

पिता : इसका कारण ?

डाक्टर : कारण तो शायद मैं इतनी जल्दी न बता सकूँ, पर मैं सोचता हूँ कि इस लड़की को अब बच्चा हो जाना चाहिए। इस तरह इसका दिल बहला रहेगा।

पिता : अगर दिल ही बहलाना है तो घर में बच्चों की तो कमी नहीं !

डाक्टर : मोहिनी, दरवाज़ा खोल दो। (दरवाज़ा खटखटाता है।)

पिता : (दरवाज़ा खटखटाते हुए) मोहिनी बेटी, दरवाज़ा खोल दो।

डाक्टर : प्रेम कहाँ है ?

पिता : वह शायद बाहर सैर को कहीं निकल गया है।

डाक्टर : (फिर दरवाज़ा खटखटाते हुए) मोहिनी बेटी, दरवाज़ा खोल दो।

पिता : दरवाज़ा खोल दो, मोहिनी बेटी !

माता : (आती हुई) क्या हुआ है मोहिनी को ? हाय मुझ से तो चला भी नहीं जाता। चार क़दम नहीं चली कि चक्कर आने शुरू हो गए।

(कुर्सी पर बैठ जाती है)

डाक्टर : मोहिनी, दरवाज़ा खोल दो।

पिता : दरवाज़ा खोल दे बेटी, डाक्टर साहब आए हैं।

माता : मोहिनी बेटी, दरवाज़ा क्यों तुमने बन्द कर लिया है। देखो तो नहीं बेबी घर आई है।

पिता : अब तो रोने की आवाज़ भी नहीं आ रही है।

डाक्टर : और कोई रास्ता नहीं अन्दर जाने का !

पिता : नहीं।

डाक्टर : मैं तो सोचता हूँ दरवाज़ा तोड़ना पड़ेगा। लड़की की मानसिक स्थिति ठीक नहीं हैं। मुझे डर है वह कहीं कुछ कर न बैठे।

पिता : (घबरा कर) मोहिनी बेटी, दरवाज़ा खोल दो।

(इस प्रकार पिता और डाक्टर दरवाज़ा खटखटा रहे होते हैं कि मोहिनी अन्दर से दरवाज़ा खोल देती है।)

डाक्टर : आप बाहर ही ठहरें ।

(डाक्टर अन्दर जाता है)

पिता : पता नहीं लड़की को क्या हो गया है ।

माता : मैं तो सोचती हूँ इस पर कोई साया पड़ गई है । अच्छी भली कल अस्पताल आई थी । कितनी देर मेरे साथ बातें करती रही । नई बेबी का इन्तज़ार करती रही । पर नर्स चुड़ैल ने उसे समय से पहले भेजा ही नहीं ।

पिता : डाक्टर का ख़याल है, इस लड़की के अब बच्चा हो जाना चाहिए ।

माता : होना तो चाहिए । मैं स्वयं सोचती हूँ, इसके बच्चा हो जाना चाहिए ।

शान्ता : (आती हुई) माता जी आपका पलंग बिछ गया है, आप चल कर लेटिए ।

पिता : हाँ, तुम चल कर लेटो । यहाँ कहाँ आ कर तुमने आसन जमा लिया है ।

माता : जाती हूँ । मैंने सोचा लड़की से मिल आऊँ । (प्रस्थान)

शान्ता : भैया तो आया को लेकर अस्पताल गए हैं ।

पिता : यह भी अच्छा हुआ । नई बेबी के लिए दूध की बड़ी तकलीफ़ थी । तेरी माँ से बस बातें, जितनी मर्ज़ी हो करवा लो । अब इसके अन्दर कुछ नहीं रहा ।

शान्ता : माता जी ने तो किसी बच्चे को अपना दूध नहीं पिलाया ।

पिता : पहले तो हमेशा दूध वाली आया घर होती थी ।

शान्ता : मैं अन्दर जा कर भाभी को देखती हूँ ।

(शान्ता मोहिनी के कमरे में जाती है । पिता बाहर बरामदे में टहलने लगते हैं ।)

भिखारी : (बाहर सड़क से आवाज़ आती है) हे बच्चों वालो, मेरे छोटे छोटे मासूम हैं । भगवान के वास्ते एक रोटी का सवाल है ।

भिखारिन : (बाहर सड़क से केवल आवाज़) हे बाबा हम रात के भूखे हैं । मेरे छोटे छोटे बच्चे भूखे हैं । हे बच्चों वालो ।

भिखारी बच्चे : (मिल कर) हम भूखे हैं बाबा, हम नंगे हैं बाबा, एक रोटी का सवाल है बाबा, भगवान् के नाम पर बाबा ।

डाक्टर : (आते हुए) मेरी राय में इस लड़की को सन्तान होनी चाहिए, और सन्तान तब तक नहीं होगी जब तक यह इस घर में रहती है ।

पिता : आपका मतलब ?

डाक्टर : मैंने इसका पहले भी कई बार निरीक्षण किया है । इसके ख़ून की परीक्षा भी ली है । इस लड़की को कोई बीमारी नहीं । इस घर में बच्चों के शोर से यह घबराती है । शोर से घबराई हुई यह बच्चों से घबराने लगती है और उसको बच्चा नहीं होता ।

पिता : मुझे तो कुछ समझ में नहीं आया । इस लड़की के मुँह में जैसे ज़बान नहीं होती थी । कितना प्यारा गाया करती थी यह । सवेरे उठकर कई बार मैं इसे मीरा के भजन गाते सुना करता था ।

डाक्टर : यह सब कुछ ठीक है । इस लड़की की बीमारी मनोवैज्ञानिक है । जब तक माताजी के बच्चे पैदा होते रहेंगे इस लड़की को बच्चा नहीं होगा । अगर अधिक समय तक इसे यों ही प्रतीक्षा करनी पड़ी तो फिर शायद इसको कभी बच्चा हो ही नहीं ।

पिता : डाक्टर साहब आज तो उसने चाय के सब बरतन तोड़ डाले ।

डाक्टर : उसके सिर दर्द का कारण भी यही है । उसकी घबराहट का कारण भी यही है । उसके चेहरे पर जो वीरानगी छाई रहती है उसका कारण भी यही है ।

प्रेम : (आते हुए) क्यों, क्या हाल है मोहिनी का ? माता जी कह रही हैं......

डाक्टर : अब तो ठीक है । पर जैसा मैं अभी बता रहा था, इस लड़की का बड़ा ध्यान रखना होगा ।

प्रेम : अभी अभी सिर दर्द की शिकायत कर रही थी ।

कमला : (बाहर से आवाज़) पिता जी, पिता जी ।

पिता : मैं आया डाक्टर साहब । (प्रस्थान)

डाक्टर : मैं सोचता हूँ कि प्रेम, तुम लोगों को अलग घर लेकर रहना चाहिए ।

प्रेम : अलग घर कहाँ मिलते हैं डाक्टर । पर हां कुछ दिनों में पिताजी रिटायर होने वाले हैं । उसके बाद शायद वे गांव चले जाएँ ।

डाक्टर : मोहिनी एक फूल की तरह है । इस घर में बच्चों के शोर को सुन कर वह अपनी पतियों को

समेट लेती है। जैसे कोई किसी कमरे के कुल झरोखे बन्द कर दे और इस तरह उसका दिल और उसका दिमाग़ जैसे मसले जाते हैं।

प्रेम : जिस घर में से यह आई है वहां केवल यह थी और इसका एक छोटा भाई था, बस।

डाक्टर : मेरी राय तो यह है कि किसी बहाने लड़की को यहाँ से निकाल लिया जाए। इसे किसी शान्त स्थिर स्थान पर रहना चाहिए। किसी पहाड़ की गोदी में, किसी झील के किनारे जहाँ भीड़, शोर और दौड़ धूप बिलकुल न हो।

प्रेम : यह तो विचार करने की बात है।

डाक्टर : हाँ इस पर अवश्य विचार करो।

प्रेम : बहुत अच्छा डाक्टर।

डाक्टर : अच्छा अब मैं जाता हूँ। कुछ समय में आकर मैं इसे टीका लगा जाऊँगा।

प्रेम : बहुत बहुत धन्यवाद।

(डाक्टर का प्रस्थान)

शान्ता : (मोहिनी के कमरे में से आती हुई) भाभी सो गई हैं। मैंने सोचा बच्चों को जाकर समझा दूँ कहीं शोर करते इधर न आ जाएँ।

प्रेम : हाँ, अब तो पड़ोसियों के बच्चे भी आ गए दिखाई देते हैं। शायद नई बेबी को देखने आये हैं।

शान्ता : (नाक चढ़ाते हुए) नई बेबी तो देखो जैसे जोंक हो। एक आँख इधर, एक आँख उधर। मैं तो नहीं सोचती यह बचेगी।

मोहिनी : (पागलों की तरह बिखरे बाल, कमरे में से आती है) कौन कहता है यह नहीं बचेगी, मेरी बेबी मर जाएगी? हाय, मेरी बेबी मर जाएगी।

(छलछल आँसू रोने लगती है)

प्रेम : मोहिनी, मोहिनी!

शान्ता : मोहिनी भाभी।

मोहिनी : ऊपर से फूल बरसते हैं। कोई उन्हें रास्ते में ही लपक कर झपट लेता है। मेरा पल्लू खाली का खाली है।

शान्ता : मोहिनी भाभी!

मोहिनी : आओ शान्ता, मैं तुम्हें प्यार करूँ (मोहिनी शान्ता के मुँह पर चुंबन देती है) यह प्यार एक माँ का है अपने बच्चे के लिए। (फिर एक और चुंबन देती है। यह प्यार......

प्रेम : मोहिनी!

मोहिनी : (शान्ता को अपने आलिंगन में लेते हुए) मैं अब तुम्हें नहीं जाने दूँगी। अब जो तुम मेरे हाथ आ गई हो, अब मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी।

प्रेम : (शान्ता को छुड़ाते हुए) शान्ता, तुम जा कर डाक्टर को टेलीफ़ोन करो। (शान्ता का प्रस्थान)

मोहिनी : चली गई। इसे जाना था, यह चली जाएगी और सब टुकुर–टुकुर देखते रह जाएँगे।

प्रेम : मोहिनी तुम क्या बातें कर रही हो?

मोहिनी : सबेरे आज मैंने शीशे में देखा, मैं तो इतनी बड़ी हो गई हूँ जैसे कोई दो बच्चों की माँ हूँ।

प्रेम : मोहिनी!

मोहिनी : बालों को कंघी करते-करते आज मुझे सफ़ेद बाल नज़र आया और मैंने उसे चोटी में छिपा लिया। आकाश में चाँद, गोद में बच्चा और सफ़ेद बाल इन्हें लाख छिपाओ, कभी नहीं छिप सकते।

प्रेम : मोहिनी, चलो अन्दर।

मोहिनी : मुझे दबा-दबा कर क्यों रखते हो। मुझे घुट-घुट कर क्यों रखते हो। मुझे दिल की एक बात करनी है। कोई मुझे मेरे मन की नहीं कहने देता। मैं एक लहर हूँ। एक लहर जो ओस की एक बूँद के लिए प्यासी है। ओस की एक बूँद जो किनारे पर घास की पत्ती पर पड़ी है।

प्रेम : मोहिनी, मोहिनी, तुझे क्या हो रहा है!

मोहिनी : (मुँह पर उँगली रखते हुए) फिर शोर? मैं इस शोर से ऊब गई हूँ। मोटरों का शोर, ताँगों का शोर, साइकिलों का शोर, पैदल चलने वालों की चप्पलों का पट-पट शोर, भिखमंगे फ़क़ीरों का शोर, खोमचे वालों का शोर? मुँडेर पर बैठी चीलों का शोर, चिड़ियों का शोर, कौवों का शोर और शोर बच्चों का हँस रहे, खेल रहे, खा रहे, माँग रहे, रुष्ट हो रहे, रो रहे, लड़ रहे। और फिर काली घटाएँ छा जाती हैं। और छलछल पानी पड़ने लगता है। मेरे आँसुओं की तरह अविचिल बहता जाता है।

(मोहिनी की आँखों में आँसू छलक आते हैं)

प्रेम : मोहिनी, तुझे यह क्या हो रहा है! चलो, अन्दर चल कर आराम करो।

मोहिनी : रात हो, धूप अन्धेरा हो, कुल दुनिया सो चुकी हो और कोई एक अकेला बच्चा रोने लग जाए

अपनी मां की छाती पर सिर मार-मार कर उसके स्तनों को ढूँढ़ने लग जाए।

प्रे : मैं कहता हूँ, मोहिनी, तुम अन्दर चलोगी कि नहीं ?

मोहिनी : अच्छा तो अब मुझे डाँटा भी जा रहा है। 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे' प्रेम, अगर मैंने लिपस्टिक लगाई हुई होती तो भी मुझे तुम इस प्रकार डाँटते।

प्रेम : मोहिनी तुम बोलती जाओगी, बोलती जाओगी ?

मोहिनी : पर मैं अपने दिल की बात किसी को नहीं बताऊँगी। डाक्टर लाख कहें मैं अपने दिल का भेद किसी को नहीं दूँगी। किसी को नहीं। मुझे तो अब पता चला है एक रहस्य सीने में रख कर कोई इस प्रकार स्वतन्त्र होने जाता है।

प्रेम : मोहिनी, मोहिनी।

मोहिनी : हाय, मैं क्या पागलों की तरह बातें कर रही हूँ। ऊपर से दोपहर हो रही है और मैंने अभी अपने बाल भी नहीं संवारे। कोई आएगा तो क्या कहेगा।

(दौड़कर अन्दर कमरे में चली जाती है। प्रेम आश्चर्यचकित उसे देख रहा होता है कि डाक्टर आता है।)

डाक्टर : मुझे शान्ता ने टेलीफ़ोन पर बताया है। मैं टीका लगा देता हूँ शायद कुछ फ़र्क पड़ जाए।

प्रेम : उसको तो बिलकुल होश नहीं डाक्टर।

डाक्टर : टीका के बाद उसको नींद आ जाएगी।

माता : (आती हुई) इस लड़की को क्या हुआ है ?

डाक्टर : आप आराम करें, मैं इसे टीका लगाए देता हूँ।

(डाक्टर और प्रेम अन्दर जाते हैं। माँ बाहर कुर्सी पर बैठ जाती है।)

पिता : (आते हुए) डाक्टर साहब फिर आए हैं ? क्यों, लड़की की तबीयत तो ठीक है ?

माता : पता नहीं क्या हुआ है इसे। ये जो इकलौती होती हैं इन्हें कुछ न कुछ हुआ ही रहता है।

पिता : टूटे हुए यह बरतन भी अभी तक किसी ने नहीं उठाए।

माता : सवेरे से हुल्लड़ मचा हुआ है इस घर में। हाय घर मुझे तो चक्कर आ रहे हैं।

पिता : मैंने तुझे कहा, तुम जा कर आराम करो। अभी दस दिन हुए नहीं, तुम, तो ऐसे फिरने लग गई। हो जैसे......

माता : हाय, तो मुझे क्या हो गया है। जैसे पहले कभी बच्चा नहीं हुआ अब तक। मुझे ज़रा यह कमजोरी है। दो चार दिन खाऊँगी पीऊँगी तो ठीक हो जाऊँगी। अस्पतालों में तो बुरा हाल है। डाक्टर चाहे अपने घर का हो पर कौन किस की परवाह करता है।

पिता : ये टूटे हुए बरतन तो एक ओर कर दूँ।

(चीनी के बिखरे हुए टुकड़ों को चुन कर एक ओर रखता है)

माता : जब मैं इसकी आयु की थी तीसरी बच्चा मेरे पेट में था। आजकल की ये लड़कियाँ, छुई मुई की तरह तो इनके शरीर हैं। ज़ुकाम जैसी इन्हें बीमारियाँ होती हैं। मेरी माँ खेतों में काम कर रही थी जब मैं पैदा हुई। साथ की स्त्रियों ने ही उसे सँभाला और डेढ़ मील चल कर वह शाम को घर आई। मुझे उसी ने गोद में उठाकर लाया।

पिता : (टूटे बरतन उठाते हुए स्वेटर के टुकड़े को वह देखता है) यह स्वेटर किसी का फटा हुआ है ?

माता : लाओ ज़रा देखूँ तो।

पिता : किसी बच्ची की होगी। इनको समझाओ यों लड़की के कमरे की ओर आ कर कूड़ा न किया करें।

माता : (स्वेटर को देखते हुए) यह तो बिलकुल नहीं है। अन्दर पड़े-पड़े कट गई है। अभी कल मोहिनी जब अस्पताल आई तो कह रही थी, नई बेबी के लिए मेरे पास एक स्वेटर है।

पिता : कीड़े खा गए हैं इसे।

माता : (मुस्कराते हुए) लड़की बेचारी ने अपने लिए शायद बनाया था।

पिता : तुम भी तो शादी के बाद छोटे-छोटे कपड़े छिप-छिप कर बनाया करती थी।

माता : हमारा समय और था। हमें तो एक दूसरे से बात करने लिए भी सात-सात दिन प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। लाख बहाने बनाने पड़ते थे। आजकल तो इधर लड़के लड़की का ब्याह उधर उन्हें अलग कमरा चाहिए।

पिता : लड़की के बनाए स्वेटर को कीड़े खा गए हैं, यह शगुन अच्छा नहीं।

माता : शगुन बुरा होगा तो मेरे लिए। उसने तो स्वेटर मुझे देने का निश्चय किया था।

पिता : तेरे लिए अपसगुन बुरा क्या और अच्छा क्या!

माता : क्यों? आप ऐसा क्यों कहते हैं?

पिता : मेरा मतलब है, हम तो अब देख चुके हैं जो हमें देखना था। अब तो बच्चों के हँसने-खेलने का समय है। उन्हीं के लिए ही अच्छे शगुन और उन्हीं के लिए ही बुरे शगुन।

माता : कभी एक लड़का हमारे यहाँ और हो जाता।

पिता : एक और लड़के की तलाश में लड़कियाँ तो आ चुकीं।

माता : तो फिर क्या हुआ। बच्चे तो भगवान् की देन होते हैं। भाग्यवान् होते हैं माँ बाप, जिनके आँगन में बच्चे खेलते हैं।

पिता : डाक्टर कहता है प्रेम की पत्नी को तब तक बच्चा नहीं होगा, जब तक वह इस घर में रहेगी।

माता : क्या मतलब?

पिता : डाक्टर का ख़याल है, इस घर में बच्चों का इतना शोर है कि लड़की हर समय घबराई सी रहती है। अन्दर ही अन्दर उसे बच्चा पैदा करने से डर लगता है।

माता : बेकार बातें हैं, डाक्टरों का तो आजकल दिमाग़ ख़राब हो गया है।

पिता : पिछले समय की बातें और थीं।

माता : हमारे घर सात भाई और छः बहनें थीं। मैं तो सोचती हूँ, अगर एक मुन्ना और हो जाता।

पिता : अब न हुआ न सही भगवान् की जैसी इच्छा।

माता : परमात्मा मेरे प्रेम को चिरंजीव रखे। युग-युग जिए मेरा बेटा। पर इकलौता बेटा है तो ख़तरे वाली बात।

पिता : कोई बात भगवान् पर भी छोड़नी चाहिए। सब बातों का मनुष्य स्वयं ही दायित्व नहीं ले लेता। बहुत अपनी बुद्धि लड़ाओ, तो कई बार उलटी पड़ जाती है।

माता : बुद्धि की इसमें कौनसी बात है। कौन-सी माँ है, जो नहीं चाहती कि उसके आँगन में बेटों का जोड़ा हो?

पिता : और बेटियाँ?

माता : बेटी तो एक भी अधिक है।

मुन्नी : (बिसूरती हुई आती है) माता जी, माता जी।

माता : क्या हो गया है कोई बात भी तो करो।

मुन्नी : (होंठ लटकाए हुए) माता जी, माता जी।

माता : कोई बात भी तो कर मौत न हो तो।

मुन्नी : माता जी, मुझे नींद आ रही है।

माता : इस समय नींद कहाँ? सीधी कहो, लाड़ करवाने का जी कर रहा है।

मुन्नी : माता जी!

माता : आजा मेरी गोदी में। (माँ मुन्नी को अपने गोद में ले लेती है।)

शान्ता : अब तू नई बेबी को गोद में लिया करेगी या इसको?

माता : क्यों बेकार बातें कहते हो। और चार दिन में आया अस्पताल से आ जाएगी और नई बेबी को संभाल लेगी। मेरी मुन्नी को ज़रा लाड़ आया...

(प्यार भरी दृष्टि से गोद में बैठी मुन्नी को देखती है।)

माला : (दौड़ती हुई आती है) माता जी, माता जी, देखो, रजनी मुझे मारती है।

रजनी : (हाँफती हुई जाती है इसने मेरी चोटी क्यों खींची है। मैं भी इसकी चोटी खींचूंगी।

(माला माँ की कुर्सी की एक ओर हो जाती है। रजनी दूसरी ओर से उसे पकड़ने का प्रयत्न कर रही है।)

पिता : क्यों शोर करती हो चुड़ैल। अन्दर तुम्हारी भाभी की तबीयत ठीक नहीं।

रजनी : इसने मेरी चोंटी क्यों खींची है।

माला : तुमने पहले मुझे चुहिया क्यों कहा था।

रजनी : तू चुहिया नहीं, तेरी शक्ल चुहिया जैसी है।

(दोनों बहनें लड़े जा रही हैं)

विमला : (आती हुई) माता जी, माता जी मु... एक अगड़ा का दसवाँ चूज़ा भी निकल आया है। कितने प्यारे ... गन्दा नहीं किया मेरी लाड़ो ने।

१९५६

बच्चे दिए हैं इसने ।

कमला : (आती हुई) माता जी, माता जी ।

पिता : क्या मता जी माता जी लगाए हुए हो । अन्दर लड़की की तबीयत ठीक नहीं है ।

कमला : (आवाज़ को नीचा करते हुए) माता जी, शान्ता बहन फिर टेलीफ़ोन लेकर बैठी हुई है, कितने समय से । खुसर खुसर बातें किए जा रही हैं ।

विमला : माता जी, कल मैंने देखा वह टेलीफ़ोन में किसी को प्यार कर रही थी !

कान्ता : (आती हुई) माता जी, यह बकती है । चुड़ैल नहीं तो । शान्ता बहन की सहेली का टेलीफ़ोन था ।

विमला : नहीं, मैंने खुद सुना था टेलीफ़ोन में किसी लड़के की आवाज़ थी । (नक़ल करते हुए) "शान्ता बी-बी हैं ।"

माता : चुप चुड़ैल कहीं की । तू बहुत नटखट हो गई है ।

(मां विमला के मुँह पर एक चांटा दे मारती है, और वह रोना आरंभ कर देती है)

शान्ता : (आती हुई) इसे किसने मारा है ।

माता : तू किसे टेलीफ़ोन कर रही थीं ? मैंने कहा, अगर तुम्हें बहुत टेलीफ़ोन करने हों तो उनको कह कर मिलाया करें । आजकल हर टेलीफ़ोन की दुअन्नी लगती है ।

शान्ता : मां जी मैंने थोड़े ही टेलीफ़ोन किया था ।

(पिता टाल कर बाहर चला जाता है ।)

माता: तो फिर किसका टेलीफ़ोन था ?

शान्ता : (झूठ बोलते हुए) वह तो...वह तो मेरी सहेली का टेलीफ़ोन था ।

विमला : क्यों झूठ बोल रही हो शान्ता बहन । मैंने खुद टेलीफ़ोन पर सुना था । (नकल करते हुए) 'शान्ता बीबी हैं' ।

शान्ता : (एक और चाँटा विमला को मारते हुए) चुप करोगी कि नहीं । बहुत बातें मिलाना इसे आ गया है ।

विमला : (चिल्लाते हुए) उसी का टेलीफ़ोन था, उसी का टेलीफ़ोन था । वह कालेज वाला लड़का, जो पहले यहाँ आया करता था । जिस पर माता जी एक बार नाराज़ भी हुई थीं ।

शान्ता : झूठी है, झूठी है, यह मरी ।

(इस प्रकार एक शोर मच जाता है । विमला रो रही है । शान्ता और कमला उसे डाँट रही हैं । रजनी माला की चोटी खींचने के प्रयत्न में हैं और माला बच रही है । जैसे ही बाक़ी बहनें पास आती हैं, मुन्नी और भी माँ की छाती के साथ चिपटती जाती है)

प्रेम : (कमरे में से बाहर झाँकते हुए) क्या मुसीबत है । तुम लोग उधर क्यों नहीं जाकर बैठतीं । शान्ता, तुम इन्हें कुछ समय के लिए उधर ही रखो ।

(शान्ता बच्चों को लेकर जाती है)

पिता : (आते हुए) प्रेम क्या कह रहा था ?

माता : बच्चों पर नाराज़ हो रहा था । बच्चे रहते हैं तो शोर होता ही है ।

पिता : पर इन्हें जो अलग कमरा दिया गया है तो अलग कमरे में रहने भी देना चाहिए ।

माता : परिवार में भी कभी ऐसे बँटवारे हुए हैं ।

डाक्टर : (आते हुए) आप फिर यहाँ आकर बैठ गईं ? आप कमजोर हैं अभी आपको आराम करना चाहिए ।

माता : मैं तो लड़की को पूछने आई थी ।

डाक्टर : लड़की की हालत तो ठीक नहीं । मैंने टीका लगा कर उसे सुला दिया है । देखो, शायद शाम तक कोई फ़र्क पड़े ।

माता : पर डाक्टर साहब !

डाक्टर : शोर यहाँ बिलकुल नहीं होना चाहिए । रोगी को पूरे आराम की ज़रूरत है ।

पिता : आप शाम को फिर तो आएंगे ?

डाक्टर : हाँ, मैं देखने अवश्य आऊँगा । लड़की की हालत कोई अच्छी नहीं है ।

पिता : हमारे में से कोई अन्दर जा सकता है ?

डाक्टर : (जाते हुए) एक-दो आदमी बेशक कमरे में रहें पर अधिक बिलकुल नहीं । माता जी, आपको तो जाकर लेटना चाहिए ।

(डाक्टर से बातें करते-करते पिता उसके साथ बाहर चला जाता है ।)

माता : (स्वागत) खाक होती हैं आजकल की लड़कियाँ । अभी कोई बच्चा नहीं हुआ । जब माँ बनेगी तो इसका क्या हाल होगा । "जो लड़की बी. ए. पास है ।" बी. ए. पास को हमें सिर मारना है । तीन

साल ब्याह को हो गए, अभी तक कोख नहीं हरी हुई।

पिता : (आते हुए) लड़की की हालत चिन्ताजनक है। डाक्टर कह रहा था कि शाम वह एक और डाक्टर को लाएगा निरीक्षण के लिए।

माता : हाय भगवान्, इस लड़की को क्या हो गया है।

पिता : डाक्टर कहता था शोर नहीं होना चाहिए। इस घर में बच्चों का शोर बहुत होता है।

माता : अब बच्चों को कहीं बाहर थोड़े ही निकाल देना है। ये आजकल की लड़कियाँ जभी तो मैं कहती हूँ......।

पिता : (खीजते हुए) क्या तुम कहती हो?

माता : जभी तो मैं कहती हूँ......

पिता : (क्रोध में) कि एक बेटा और होना चाहिए।

आकाशवाणी,
हैदराबाद दक्षिण

(क्रोध में भरा हुआ पिता रोगी के कमरे में चला जाता है। उसकी पत्नी आश्चर्यचकित उसकी ओर देख रही होती है कि बाहर से भिखारियों की आवाज़ आनी आरम्भ हो जाती है।)

भिखारी : (बाहर सड़क से आवाज़ आती है) हे बच्चो वालो, मेरे छोटे छोटे मासूम हैं, भगवान् के वास्ते एक रोटी का सवाल है।

भिखारिन : (बाहर सड़क से केवल आवाज़) हे बाबा हम रात के भूखे हैं। मेरे छोटे छोटे बच्चे भूखे हैं, हे बच्चो वालो।

भिखारी बच्चे : (सिसककर) हम भूखे हैं बाबा, हम नंगे हैं बाबा, एक रोटी का सवाल है बाबा, भगवान् के नाम पर बाबा।

(ये आवाज़ें आ रही होती हैं कि पर्दा गिरता है)§

—कर्तारसिंह 'दुग्गल'

मराठी कहावतें

(१) अग अग म्हशी मला कां नेशी

एक मनुष्य अपनी पत्नी से नाराज़ हो गया और घर से निकल कर चला गया। कुछ समय के पश्चात् उसको भूख लगी और उसे घर वापस लौटने में संकोच अनुभव होने लगा। उसी समय एक भैंस उसके घर की ओर जा रही थी। उसने उस भैंस की पूंछ पकड़ ली। जब वह घर के पास पहुँची तो वह ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगा : "भैंस री, भैंस! तू मुझे क्यों घर की ओर खींच कर ले जा रही है।"

(२) बेकार बृहस्पति

ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति जो किसी काम का न हो

—ललिता देवी

हैदराबाद

---

§ शेष दो दृश्य आगामी अङ्कों में।

कादिरयार कृत राजा रिसालू

पूरण को गए एक वर्ष से ऊपर हो चुका था। ज्यों-ज्यों जनन की घड़ी निकट आ रही थी त्यों-त्यों रानी लोनां की घबराहट बढ़ रही थी। पूरण के वह शब्द, जो उसने रानी को वर देते हुए कहे थे, उसके कानों में गूँज रहे थे। पूरण ने कहा था—रानी लोनां! देख, मैं राजकुमार पूरण हूँ, जिसे तुमने बरबाद किया पर ईश्वर ने बचा लिया। मैं तुम्हारी ग़लती क्षमा कर चुका हूँ किन्तु उसे भूला नहीं। तुम्हारे घर एक वीर और सदाचारी पुत्र जन्म लेगा लेकिन वह तुझे इतने ही आँसू रुलाएगा, जितने मेरी माँ को मेरे लिए बहाने पड़े हैं। यह ले चावल का एक दाना, तू भी खा ले, ईश्वर अपनी दया से शीघ्र मेरे पिता के वीरान महलों में खुशी की घड़ी लाएगा—परन्तु रानी लोनां! वह खुशी तुम्हारे लिए नहीं होगी, जिस प्रकार तुमने मुझे अपनी माँ की आँखों से दूर किया वैसे ही वह भी तुम्हारे आँखों से ओझल हो जाएगा। मैंने अपराध क्षमा किया है पर उसे भुलाया नहीं।"

ज्योतिषियों ने आने वाले बच्चे के सम्बन्ध में जब यह समाचार राजा के पास भेजा तो सारा व्यतीत उसकी आँखों के सामने से गुज़र गया। उनकी राय थी कि बच्चा सचमुच एक विशाल राज्य का शासक बनेगा किन्तु शर्त यह है कि पिता और माता बारह वर्ष तक उसका मुँह न देखें। यदि इस अवधि के गुज़रने से पहले ही रानी लोनां अथवा महाराज सलवान उसे देख लेंगे तो तत्काल ही मृत्यु को प्राप्त होंगे। इसलिए जन्म लेते ही बालक को तहखाने में पहुँचा दिया जाए और बारह वर्ष तक उसे प्रकाश न दिखलाया जाए। जब यह अवधि गुज़र जाए तो वह बाहर आए, नदी में स्नान करे, नए वस्त्र धारण करे और तब राजा के पास जाए। बच्चे का नाम रिसालू होगा और उसका यश और कीर्ति इतनी फैलेगी कि देवताओं तक को उससे प्रतिस्पर्धा होगी।

शिशु को आँखें खोलने से पूर्व ही माँ की गोदी से छीन लिया गया। उसी दिन शाही घोड़ी ने भी एक घोड़ी को जन्म दिया, उसे भी रिसालू के साथ तहखाने में भेज दिया गया। फिर एक तलवार, नेज़ा और एक ढाल भी उसी अन्धेरे-महल में पहुँचा दी गई ताकि जब बारह वर्ष के पश्चात् बालक बारह साल तक इसी घोड़ी पर सवार हो और उक्त अस्त्रों से लैस हो।

बालक उस अन्धेरी कोठरी में रहा और गुरु उसे वहीं वह शिक्षा देते रहे जो एक राजा को मिलनी चाहिए।

इसी प्रकार ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए। बालक घोड़ी से बातें कर-कर के तंग आ चुका था और संसार देखने की इच्छा उसके हृदय में हिलोरें ले रही थी। जब बाहर की आवाज़ें इस तहखाने में सुनाई पड़तीं तो रिसालू बेताब हो जाता।

एक दिन उसने कहा, "जहाँ से यह आवाज़ें आती हैं मैं वह स्थान अवश्य देखूँगा।"

दास दासियों ने कहा कि अभी एक वर्ष शुभ मुहूर्त नहीं। किन्तु उसने एक न मानी और वह अपनी घोड़ी पर सवार हुआ, और अस्त्रों से लैस होकर, सब को अपने रास्ते से हटाता बाहर निकल आया। नदी के किनारे पहुँच कर उसने स्नान किया और नए वस्त्र पहन लिए। तदुपरान्त वह बाँका वीर घोड़ी पर चढ़ कर सियालकोट की ओर चल पड़ा। नगर के समीप वह एक कुँआ देख कर कुछ देर सुस्ताने के लिए रुक गया। वहाँ पनिहारियाँ मटकियों में जल भर रही थीं। जब वह मटकियाँ सिरों पर उठा कर मटक-मटक कर लहराती हुई घरों की ओर चलने लगीं तो राजकुमार ने पत्थरों से निशाना बना-बना कर सारी मटकियाँ तोड़ डालीं। चीखती चिल्लाती, पानी में भीगी वह स्त्रियाँ राजमहल पहुँचीं और राजा के पास जा कर फ़रियादी हुईं। रिसालू के महल से निकल भागने की सूचना उसे मिल चुकी थी। पर उसे ज्योतिषियों की वह बात भी याद थी कि यदि बारह वर्ष से पूर्व तुम ने राजकुमार को देखा तो मर जाओगे। उसे यह साहस भी न हुआ कि कुछ सैनिकों को भेज कर रिसालू को पकड़वा दे। उसने उन स्त्रियों से कहा कि भविष्य में लोहे और पीतल की मटकियाँ व्यवहार में लाएँ और मटकियों की व्यवस्था सरकारी कोष से कर दी।

रिसालू ने जब देखा कि पनिहारियाँ अब लोहे

और पीतल के घड़ों में जल भरती हैं तो मन ही मन हँसा। उसने अपना धनुष निकाला और बाण पर बाण चला कर धातु के मटको को इस प्रकार चकनाचूर कर दिया जैसे वह मिट्टी के बने हुए हों।

इतना कुछ होने पर भी सलवस ने उसे न बुलाया तब दुःखी और क्रुद्ध हो, वह अपनी जवानी और बल के नशे में चूर सीधा राजमहल में पहुँचा। दरबार में जब उसके आने की सूचना राजा को मिली तो वह थर-थर काँपने लगा और उसने अपनी आँखें कस कर मींच लीं। रिसालू ने आ कर काँपते हुए, अन्धे बन कर बैठे हुए पिता को प्रणाम किया। परन्तु जब कोई उत्तर न पाया, तब तैश खाकर उसने पिता से कहा "मैं तुम्हें प्रणाम करने आया था, मेरा कदापि यह अभिप्राय नहीं था कि मेरे आने से तुम्हें दुःख पहुँचे। मुझे तुम्हारे इस वैभव और राज्य में कोई आकर्षण नहीं दीखता। मैं इनसे कहीं श्रेष्ठ पुरस्कार पाने के लिए संसार में आया हूँ।"

रानी लोनाँ ने रोते-रोते उत्तर-स्वरूप कहा: "विश्वास करो, यद्यपि मैं रो रही हूँ पर मैं तुम्हारी माँ हूँ। जा संसार पर राज्य कर किन्तु पूरण के समान अपने हृदय को शुद्ध और निष्पाप रखे।"

रिसालू का ढ़ाढ़स बंधा। उसने अपनी घोड़ी को साथ लिया और अपने दो मित्रों के साथ, जिन में से एक बढ़ई का और एक सुनार का लड़का था, भाग्य आज़माने निकल पड़ा। रानी लोनाँ उन्हें झरोखे से झाँकती रही, यहाँ तक कि वह अदृश्य हो गए और क्षितिज पर धूल-गुबार की एक बदली ही शेष रह गई। तब उसने अपने सिर को हाथों में थाम लिया और विलाप करती हुई बोली—

"मेरे बेटे!
तू कभी मेरी आँखों की ज्योति न बना।
तेरी अवशेष अब धूल की यह बदली रह गई है
इसे बहुत बड़ा बवंडर बना दे
जिस से सूर्य की किरणें बाहर न आ सकें
और दिवस रात्रि में परिणत हो जाए
क्योंकि जिस माँ का लाल इसकी दृष्टि से दूर हो
उस का स्नेह
इस गुबार और धूल की बदली बन कर रह जाता है।"

× × ×

साथियों को रात जंगल में आ पड़ी। भयानक स्थल था और रात अमावस की, इसलिए पहरा बैठाने की बात मान ली गई। यह निश्चित हुआ कि रात की पहली घड़ी में बढ़ई पहरा दे, दूसरी में सुनार और तीसरी में रिसालू।

सुनार ने अपने राजकुमार मित्र के लिए साफ़ सुथरी घास का एक बिस्तर लगा दिया, और यह सोच कर कि राजकुमार को इस शय्या पर कष्ट होगा, उसने राजकुमार का साहस बंधाने के लिए कहा:

"मख़मली शय्या के अभ्यस्त राजकुमार
आज तू घास पर सो रहा है
किन्तु दिनों के इस फेर पर
वीर पुरुष हताश नहीं हुआ करते"

बढ़ई का पहरा था। दोनों मित्र सोते हुए थे कि एक झाड़ी से एक अजगर ने मुँह निकाला और शय्या की ओर बढ़ने लगा।

बढ़ई ने पूछा: "तुम इस ओर क्यों आ रहे हो?"

अजगर ने उत्तर स्वरूप ज़ोर से एक फुँकार मारी जिससे बड़े-बड़े वृक्ष काँपने लगे। उसने कहा, "मैं बारह वर्ग मील में फैली प्रत्येक वस्तु नष्ट कर चुका हूँ, तुम्हें यहाँ आने का साहस कैसे हुआ?"

यह कह कर उसने बढ़ई पर आक्रमण कर दिया। बढ़ई ने बड़ी वीरता से अजगर का सामना किया और उसके टुकड़े-टुकड़े करके उन टुकड़ों को ढ़ाल के नीचे छिपा दिया। जब उसके सोने की बारी आई तो उसने अपने साथियों को इस विषय में कुछ नहीं बतलाया। उसका विचार था कहीं राजकुमार डर कर हिम्मत न तोड़ बैठे।

जब पहरा देने के लिए राजा रिसालू की बारी आई तो झाड़ों में से एक भयंकर बला निकली। पर राजा रिसालू ने साहस से काम लेकर उससे पूछा, "तुम कौन हो और यहाँ क्यों आई हो?"

बला ने कहा, "मैंने इस सारे प्रदेश को श्मशान बना दिया है, और यह स्थल मेरा निवास स्थान है। तुम्हें यहाँ आने का साहस क्यों हुआ?"

यह सुन कर रिसालू ने अपना धनुष बान निकाला और एक तीर ठीक निशाने पर बैठाया। बला चीत्कार करती हुई एक गुफ़ा में जा छिपी, पर रिसालू ने उसका

१६५६

पीछा किया। गुफा में भयंकर युद्ध के पश्चात् बला की मृत्यु हुई और रिसालू चैन से पहरा देने लगा।

भोर हुई तो सब मित्र जागे। बढ़ई ने बड़े गर्व के साथ अपनी वीरता का प्रमाण दिखलाया।

रिसालू ने कहा, "यह तो छोटा-सा साँप है। आओ देखो, मैंने रात किस भयंकर बला को ठिकाने लगाया है।"

उसके मित्रों ने वह बला देखी तो उनके छक्के छूट गए। भय के मारे दोनों के प्राण काँपने लगे। घुटने टेक कर उन्होंने कहा, "वीर रिसालू, तुम एक राजकुमार और वीर पुरुष हो। तुम हर प्रकार की बलाओं और विपत्तियों का सामना करते हो। हम ठहरे साधारण लोग। यदि हम तुम्हारे साथ रहे तो किसी न किसी दिन व्यर्थ में अपनी जान गंवाएँगे। तुम्हारे लिए ये वस्तुएँ साधारण हैं परन्तु हमारे लिए साक्षात् यमराज के समान हैं। हमें बिदा दो।"

दया और घृणा भरी दृष्टि से रिसालू ने अपने मित्रों की ओर देखा और यह कहते हुए उन्हें जाने की अनुमति दे दी :

"तोरियाँ सदा नहीं फलतीं,
वसंत सदा नहीं रहती
जोवन सदा नहीं रहता
सदा के लिए किसी वस्तु का भी निर्माण नहीं हुआ
न राजे सदा रहते हैं
न उनका राज्य
न उनका ऐश-व-आराम"

रिसालू के साथी छूट गए और वह अकेला अपनी मंजिल की ओर चल पड़ा।

कुछ समय उपरान्त शहर नीलाब में पहुँचा (अटक के दक्षिण में, सिन्ध के किनारे अवस्थित वर्तमान नीलाब प्रदेश)।

नगर में प्रवेश करते ही उसने देखा कि एक वृद्धा आटा गूँथती जाती है और रोती जाती है।

रिसालू ने पूछा "माँ तू रोती क्यों है?"

वृद्धा ने बड़े उदासीन भाव से कहा, "तू क्यों पूछता है, तुझे इससे क्या लाभ होगा?"

रिसालू ने कहा, "यदि तू सच्ची-सच्ची बात मुझे बतला दे तो हम दोनों में एक का लाभ तो अवश्य ही हो जाए।"

बुढ़िया ने रोते-रोते कहा, "मेरे सात बेटे थे किन्तु अब केवल एक ही जीवित बचा है, शेष छः बेटों को एक भयानक राक्षस ने खा लिया है, जो रोज इस नगर में आता है और हम में से एक सजीला नवयुवक, एक भैंस और रोटियों की एक टोकरी ले जाता है। आज पुनः उसके पेट की ज्वाला शान्त करने का दायित्व मुझ पर आ पड़ा है। आज मेरे प्यारे, सबसे छोटे और सब से सुन्दर और लाडले बेटे की मृत्यु का दिन है। इसी लिए मैं रो रही हूँ।"

रिसालू का दिल भर आया। उसने कहा :

"भोली माता मत रो
तू अश्रु न बहा
मैं तेरे बेटे के बजाए
स्वयं राक्षस की भूख मिटाऊँगा।"

परन्तु उस स्त्री को विश्वास न हुआ। उसने कहा, "भोले युवक बातें तो तुम बहुत अच्छी करते हो। परन्तु कौन है जो दूसरे के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा दे।"

रिसालू मुसकराया। अपनी घोड़ी से उतर कर वह बुढ़िया के पास इस प्रकार जा बैठा, जैसे वह उसी का पुत्र है। उसने कहा, "माँ तू निश्चित रह। मैं शपथ खा कर कहता हूँ कि तेरे बेटे पर आँच न आने दूँगा।"

इतने में नगर के बड़े बूढ़ों की वह मण्डली आ गई जिन पर राक्षस का भोजन उस तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व था। उन्हें देख कर बुढ़िया फिर फूट फूट कर रोने लगी वह बोली :

"पगड़ी वाले, ढाल वाले
नीली घोड़ी वाले राजकुमार
वह जो दूर से आ रहे हैं
उन्होंने ही मेरे जीवन की सारी कमाई
मुझ से छीनी है।"

चमचमाते हुए अस्त्रों से लैस रिसालू ने उससे कहा, "शहर के मुखियो! आज इस बुढ़िया के बेटे के स्थान पर मैं राक्षस की बलि बन कर जाऊँगा।" वह घोड़ी पर सवार हुआ, भैंस और रोटियों की टोकरी साथ ली और भैंस से बोला, "मुझे राक्षस तक पहुँचने के

छोटे से छोटे रास्ते पर ले चलो।"

जब वह राक्षस के घर के निकट पहुँचा, तो उसने एक छोटे राक्षस को देखा। राक्षस ने भी रिसालू को देखा तो उसके मुँह में पानी भर आया। कहने लगा—आज तो मज़े हो गए। घोड़ी फ़ालतू है। क्यों न दूसरों के आने से पहले इस पर हाथ साफ़ कर लिया जाए—यह सोच कर उसने घोड़ी की बाग पकड़नी चाही पर रिसालू ने तेज़ नेज़े की धार से एक बार किया, राक्षस का हाथ बिंध गया और वह भयभीत होकर भाग निकला।

रास्ते में उसको अपनी बहन दृष्टिगोचर हुई। चिल्लाते हुए रामदास ने कहा: "बहन भागो, आख़िर रिसालू आ ही पहुँचा। देखो! उसके नेज़े के एक साधारण से वार ने मुझे बेकार कर दिया।

दोनों भागने लगे और पुकार-पुकार कर अन्य राक्षसों को सम्बोधन करने बोले:

"भाइयो! दौड़ो, भागो, वहीं जा छिपो
एक ऐसी आग दहकी है
जो हमारे सिरों पर जलेगी
हमारा अन्त आ पहुँचा
जहाँ कहीं सुख मिल सके
वहीं पहुँचने का शीघ्र कोई उपाय करो।"

पर जिधर राक्षसों का दल मुड़ता, उधर ही रिसालू की चमकती हुई तलवार उन्हें दृष्टिगोचर होती। वह पुकार कर कहता: "आओ मैं ही रिसालू हूँ, राक्षसों का शत्रु। मैदान में आओ, आओ! मैं ही हूँ सलवान् पुत्र रिसालू।"

एक राक्षस ने उसे डराने का प्रयत्न करते हुए कहा: "मैं तेरे जैसे कई रिसालुओं को गाजर-मूली के समान खा चुका हूँ। जब असली राजा रिसालू आएगा तो उसके घोड़े की बालों में हम सब के सब बँध जाएँगे और उसकी तलवार हमें काट-काट कर टुकड़े कर देगी।

यह सुन कर रिसालू ने घोड़ी की मुहार छोड़ दी और तलवार धरती पर फेंक दी। तत्काल ही सब के सब राक्षस उसमें जकड़े गए और तलवार ने उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

इस पर भी सात राक्षस बच रहे। उन्होंने रिसालू से कहा: "हम तुमसे नहीं डरते, क्योंकि तू वास्तव में रिसालू नहीं है। जब असली रिसालू आएगा तो वह एक तीर से लोहे की सात मोटी चादरों को चीर कर रख देगा।"

राक्षसों ने सात मोटे-मोटे तवे, एक दूसरे के पीछे रखे और स्वयं अन्तिम तवे के पीछे जा छिपे। रिसालू ने एक तीर फेंका जिसने सातों तवों को चीर कर सातों राक्षसों का वध कर दिया।

पर उन राक्षसों की बहन आँधी के समान चलती हुई गंगगढ़ के पर्वतों की एक गुफ़ा में जा छिपी। गुफ़ा बड़ी गहरी थी और उसमें गुम अन्धेरा था। तब रिसालू ने अपनी एक मूर्ति बनाई और उसके हाथ में बिल्कुल अपने जैसी तलवार थमा दी ताकि राक्षसी को कभी बाहर आने का साहस न हो और वह अन्दर ही अन्दर भूखी मर जाए।

इस प्रकार रिसालू ने राक्षसों का अन्त किया।

× × ×

कुछ समयापुरान्त रिसालू भलों को बचाता और बुरों को उनके दुष्कर्मों के फल चखाता ऊदी नगर पहुँचा (यह स्थान रावलपिण्डी या हज़ारा में सिन्धु नदी के तट पर किसी जगह रहा होगा)। जब वह रानी मुंदरा के महल के पास पहुँचा, जिसकी सुन्दरता के चर्चे समस्त संसार में फैले हुए थे तो उसने देखा कि झरोखे के नीचे एक साधु धूनी रमाए बैठा है।

रिसालू के पूछने पर जोगी ने बतलाया कि वह बाईस वर्ष से मुन्दरा के दर्शनों की आस लगाए बैठा है किन्तु अभी तक असफल रहा है।

रिसालू ने कहा, "मुझे भी अपना शिष्य बना लो, मैं भी प्रतीक्षा करूँगा।"

जोगी ने उसके कान छेद कर उसमें मुंदरियाँ डाल दीं। गुरु-शिष्य ने अपने चमकते हुए अस्त्र उतार और लंगोटी कस कर रानी की प्रतीक्षा में धूनी रमा दी।

रात्रि के समय गुरु जाता। चार घरों से खाने के लिए जो कुछ मिलता, आधा रिसालू को खिला दे और आधा खुद खा लेता। रिसालू को अपने शरी और मन पर पूरा नियन्त्रण था, और उसने कई-कई दिन भूखे रह कर काटे थे इसलिए उसे तो इस व्यवस्था में कोई कष्ट न हुआ परन्तु जब जोगी का भोजन आ हो गया तो उसे बड़ा कष्ट हुआ।

आख़िर तंग आ कर जोगी ने रिसालू से कहा

"रिसालू, तुम्हें शिष्य मैंने इसलिए बनाया था कि तुम माँग कर भिक्षा लाया करोगे और मुझे खिलाओगे किन्तु हो यह रहा है कि तुम्हें खिलाने के लिए मुझे भूखा रहना पड़ता है।"

रिसालू ने हँस कर कहा, "तुमने मुझे कभी भिक्षा माँगने के लिए नहीं कहा। बिना गुरु की आज्ञा के, चेला कैसे कुछ माँग सकता है?"

जोगी ने कहा, "ठीक है तो आज से तुम रोज इतनी भिक्षा लाया करो जिससे हम दोनों का पेट भर सके।"

रिसालू ने उठ कर मुंदरा की ड्योढ़ी खटखटाई और कहा :

"मैं तेरे द्वार पर आकर अलख पुकारता हूँ
मैं ईश्वर का नाम लेता हूँ
रानी! तेरा नाम सुन कर बड़ी दूर से आया हूँ
यदि तू दानी है
तो जोगी की झोली भर दे"

रिसालू की आवाज़ की लोच रानी के हृदय में डूब गई। उसने एक दासी के हाथ भिक्षा भिजवाई। जब दासी द्वार पर आई और रिसालू का दमकता हुआ सौन्दर्य देखा तो अचेत होकर वहीं गिर गई और भिक्षा धरती पर बिखर गई।

रिसालू ने एक बार फिर अलख पुकारा।

एक बार फिर रानी को अपने अन्तर में गुदगुदी का सा आभास हुआ। उसने भिक्षा का एक और थाल भेजा। किन्तु उसका भी यह परिणाम हुआ। फिर वह स्वयं उठी, और रिसालू के पास जाकर, भोजन के स्थान पर हीरे और मोती उसकी झोली में डाल दिए और उससे पूछा :

"तुम ने कब कान छिदवाए
तुम ने कब से भस्म मली
तुम कब से जोगी हुए
तुम क्या चाहते हो
तुम्हारे हृदय में किस के प्यार का वास लगा है
कितनी रानियों से भिक्षा माँग चुके हो
मुझ से क्या माँगते हो"

रिसालू ने जोगियों के समान आँखें झुकाए हुए कहा :

"मैंने कल ही मुँदरियाँ पहनीं
मैंने कल ही भस्म मली
मैंने कल ही जोग धारा
मैंने कल ही तीर खाया
मैंने कहीं से कुछ नहीं माँगा
मैं तुम्हारे ही द्वार पर आया हूँ"

जब रिसालू झोली में हीरे मोती भर कर जोगी के पास पहुँचा तो वह बहुत हैरान हुआ। उसने कहा यह सब लौटा दो और भोजन माँग कर लाओ।

रिसालू ने फिर पुकारा :

"मैं तेरे द्वार पर आकर अलख पुकारता हूँ
मैं ईश्वर का नाम लेता हूँ
रानी! तेरा नाम सुन कर
बहुत दूर से चल कर आया हूँ
तू जोगी की झोली भर"

अप्सराओं को शरमाती हुई वह सुन्दर और अलबेली नारी पहले से अपना दिल लुटा बैठी थी। वह मस्त मोरनी के समान इठलाती हुई झरोके में आ कर बोली :

"तेरे तरकश का मुँह
मोतियों के तीरों से जड़ा हुआ है
और कमान में लाल जड़े हुए हैं
तेरे शरीर पर राख मली है
यह कटीली आँखें और यह नक़्शा
तू वही भिक्षा माँग
जो तेरा जी चाहता है"

रिसालू व्यंग्य से मुस्कुराया और बोला

"मेरा तरकश मोतियों से जड़ित है
मेरी कमान में लाल हैं
मैं नहीं चाहता कि—
यह लाल और मोती बेच दूँ
तू अपने मोती लौटा ले
और हमें पका हुआ भोजन दे"

रानी जोगी को रुष्ट नहीं करना चाहती थी। उसने दी हुई भिक्षा लौटा ली और मिठाई से भरी थाली देते हुए कहा :

"तुम किस नगरी से आए हो
तुम्हारा देश कौन सा है
किस राजा के बेटे हो
तुम्हारा नाम क्या है"
रिसालू ने उत्तर दिया :
स्यालकोट हमारी नगरी है
वही हमारा देश है
मैं राजा सलवान का पुत्र हूँ
अप्सराओं से भी सुन्दर लोनाँ मेरी माँ है
मैंने शरीर पर राख मली है
क्योंकि तुझे देखने का चाव था
अब देख लिया है
मेरा नाम रिसालू है"

रानी उसे पुकारती रही। परन्तु वह चला गया। मिठाई जोगी को देकर उसने अपना घोड़ा संभाला और राजा सिरकप (सिर काटने वाला) से चौसर खेलने चला।

सुकोमल और सुन्दर रानी उसकी प्रतीक्षा करती रही परन्तु व्यर्थ। एक दिन वह बड़े जोगी के पास पहुँची और रिसालू का पता पूछा। जोगी यह देख कर बड़े ताव में आया कि वह तो बाईस वर्ष तक कभी भूखा और कभी प्यासा उसके द्वार पर बैठा रहा, कभी उसका हाल तो रानी ने पूछा नहीं। और अब रिसालू के लिए वही आ खड़ी हुई है। उसने जल-भुन कर कहा, "मेरे शिष्य का पता पूछती हो? मैं भूखा था, और उसे भिक्षा न मिली थी इसलिए मैंने उसी को खा लिया।"

रानी चिल्लाई, "राक्षस तुझे हीरे-मोती और मिष्टान्न नहीं भेजे थे। तुम्हें उनसे सन्तोष न हुआ था, जो सुन्दरता का भक्षण करने बैठ गए?"

जोगी बोला, "मैं यह सब नहीं जानता। मैं तो यह जानता हूँ कि मुझे भूख लगी थी और मैंने उसे भून कर खा लिया। बड़ा स्वादिष्ट माँस था।"

रानी ने चीख़ कर रोते हुए कहा, "तो लो मुझे भी खा लो।" यह कह कर रानी ने जलती हुई धूनी में छलांग लगा दी और कुछ क्षणों में जल कर सती हो गई।

उधर रिसालू को रास्ते में तूफ़ान ने आ घेरा। बियाबान और निर्जन स्थल था, कहीं कोई आश्रय न मिला। अन्ततः एक मरघट के समीप जा पड़ा। देखा कि पास ही सिर-विहीन एक शव पड़ा है। उसने कहा :

"बिना सिर के यह शव
न किसी ने इसे दफ़नाया है
न जलाया है
पता नहीं इसे किन दुष्कर्मों का दण्ड मिला है
यदि भगवान् इसे जीवित कर दे
तो यह हम से बातें करे
पश्चिम से एक बदली उठी
और ज़ोर का झक्कड़ साथ लाई
आख़िर तुझ से ऐसा कौन सा पाप हुआ
जो क़ब्र भी तुझे आश्रय न दे सकी"

इस पर शव बोल पड़ा :

"हम भी कभी तुम्हारी तरह संसार में विचरते थे
राजा की पगड़ी पहन कर,
हम भी अकड़ अकड़ कर चलते थे
हम भी दूसरों को नचाते और—
बड़े-बड़े योद्धाओं को भगाते थे
पर अब गुनाहों का बोझ इतना बढ़ गया है
कि क़ब्र की मिट्टी भी उसे सहन नहीं कर सकती"

राजा रिसालू शव से बातें करता रहा और इस प्रकार वह भयानक और डरावनी रात गुज़र गई। भोर हुई तो रिसालू ने कहा, "अब मुझे जाना है?"

"किधर?" शव ने पूछा।

रिसालू ने कहा कि वह राजा सिरकप से चौसर खेलने जा रहा है।

शव ने कहा "यह विचार छोड़ दो। मैं राजा सिरकप का भाई हूँ, मुझे उसकी चालों का ज्ञान है। वह प्रातःकाल भोजन से पहले केवल मनोरंजन के लिए ही दो-चार व्यक्तियों की गरदनें काट देता है। एक दिन जब और कोई व्यक्ति हाथ न आया तो उसने मेरी गरदन ही काट दी। मुझे विश्वास है वह तुम्हें भी जीवित न छोड़ेगा। पर यदि तुम्हें जाना भी है तो मरघट से कुछ

हड्डियाँ ले जाओ और अपना पांसा इन्हीं से बनाओ। जब इस पांसे से खेलोगे तो सिरकप के पांसे का जादू समाप्त हो जाएगा नहीं तो वही जीतता रहेगा।"

रिसालू ने हड्डियों के पांसे बना कर जेब में डाले और चल पड़ा।

रास्ते में उसने देखा एक जंगल को आग लगी हुई है।

अग्नि की लपटों में से एक आवाज़ आई, "ऐ बटोही! ईश्वर के लिए मुझे बचा लो।"

रिसालू ने इधर-उधर देखा तो मालूम हुआ कि एक झींगुर जाले में फँस सा गया है। उसने उसे आग से बाहर निकाल लिया। झींगुर ने रिसालू की इस नेकी पर प्रसन्न होकर उसे अपना एक बाल निकाल कर दिया और कहा, "इसे अपने पास रखो और जब कोई कष्ट हो तो इसे आग में डाल देना। मैं तुम्हारी सहायता के लिए आ जाऊँगा।"

जब वह राजा सिरकप के बाग़ में पहुँचा तो सत्तर बालाएँ उसके स्वागतार्थ भेजी गईं। सुन्दर, अलबेली, अल्हड़, पट-खट और बे-बाक ललनाएँ, जिनके अधरों पर यौवन की मुसकान खेल रही थी। यह सब राजा सिरकप की कन्याएँ थीं। सबसे छोटी लड़की ने जब यह देखा कि नीली घोड़ी पर सवार यह बाँका, सजीला और हँसमुख नवयुवक मृत्यु के मुँह में जा रहा है तो उसे बहुत दया आई। उसने कहा:

"नीले घोड़े वाले राजा
नेज़ा झुका कर आ
आगे राजा सिरकप आ रहा है
यदि तू अपनी भलाई चाहता है
तो यहीं से लौट जा"

रिसालू मुसकुराया और बड़े आत्मविश्वास से बोला—

"मैं बड़ी दूर से विजय की पताका
फहराता आया हूँ
मैं सिरकप का सिर काट कर
उसके चार टुकड़े करूँगा
फिर तुम मेरी दुलहन बनोगी
और मैं तुम्हारा दूल्हा"

रिसालू का यह वीरतापूर्ण उत्तर सुन कर वह उस के प्रेम-जाल में बन्ध गई।

शेष सब बहनें यह देख कर मारे द्वेष के जल-भुन गईं। बोलीं, "वीर सैनिक! इतनी जल्दी न कर। यदि तुम हमारी बहन से विवाह करोगे तो फिर तुम हमारे जीजा हुए और छोटे जीजा! इसलिए तुम्हें हमारी एक इच्छा पूरी करनी होगी।"

रिसालू ने कहा: लावण्यमयी सालियो! अपनी इच्छा कहो। मैं अवश्य पूर्ण करूँगा।"

सालियों ने एक मन कंगनी में एक मन रेत मिला दी और राजा रिसालू से कहा कि सब रेत और कंगनी अलग-अलग कर दो तो जाने।

रिसालू ने सोच कर झींगुर का बाल जलाया। उसी समय असंख्य झींगुर आ गए जिनमें वह नन्हा झींगुर था, जिसकी जान रिसालू ने बचाई थी।

रिसालू ने कहा, "कंगनी और रेत अलग-अलग कर दो।"

झींगुर बोला, "बस इतना सा काम? यदि मुझे पता होता कि काम इतना थोड़ा है तो मैं इतनी सेना न एकत्रित करता।"

घण्टों में यह असम्भव कार्य समाप्त हो गया।

लड़कियों ने तब उसे एक और आज़माइश में डाल दिया। उन्होंने कहा, "हमें बारी-बारी झूला झुलाओ यहाँ तक कि हम सब थक जाएँ।"

रिसालू हँस पड़ा। बोला, "मेरी दुल्हन समेत तुम सत्तर लड़कियाँ यहाँ हो और मैं झूला झुलाते-झुलाते ही सारा जीवन व्यतीत करना पसन्द नहीं करता। यदि मैं सबको बारी-बारी झुला भी दूँ तो पहली लड़की ताज़ा दम होकर फिर आ जाएगी। यदि तुम सचमुच पेंग झूलना चाहती हो तो सत्तरह की सत्तरह लड़कियाँ एक ही झूले में बैठ जाएँ तो मैं सबको एक साथ ही झुला दूँगा।

चुनांचे सत्तर की सत्तर लड़कियाँ असंख्य सुरीले और झनझनाते हुए अट्टहासों के शोर में झूले पर चढ़ बैठीं। रिसालू ने झूले के मोटे-मोटे रस्सों को अपनी कमान के साथ बाँधा और फिर पूरी शक्ति से छोड़ दिया। कमान बिजली की तेज़ी के साथ सत्तर ललनाओं का बोझ उठाए आकाश की ओर बढ़ा और जब लौटा तो रिसालू ने तलवार के एक भरपूर हाथ से

झूले का रस्सा काट दिया। सबकी सब मालियाँ, दुलहन सहित भूमि पर औंधे मुँह गिर पड़ीं और किसी को भी पुनः पींग पर चढ़ने की इच्छा नहीं हुई।

अब रिसालू आगे बढ़ा। सामने सत्तर ढोल पड़े थे। शर्त यह थी कि जिसे राजा सिरकप से चौसर खेलनी हो वह बारी बारी सब ढोलों पर चोट करे। रिसालू ने ऐसे ज़ोर की चोटें लगाईं कि सारे ढोल फट गए। फिर इतने ही घड़ियाल सामने थे, रिसालू ने उस ज़ोर से घण्टे बजाए कि यह सब टुकड़े-टुकड़े हो गए।

यह देख कर सबसे छोटी राजकुमारी भाग कर पिता के पास पहुँची और कहा :

"यहाँ एक राजकुमार आया है
वह प्रत्येक वस्तु को काटता चला जा रहा है
उसने पींग की डोरियाँ काट कर
हम सब को गिरा दिया
उसने ढोल भी तोड़ दिए और घड़ियाल भी
राजा ! वह तुम्हारा भी वध कर देगा और—
मुझे यहाँ से ले जाएगा"

राजा सिरकप ने बड़ी घृणा के साथ मुँह सिकोड़ कर उत्तर दिया :

"राजकुमारी तू एक असाधारण और
महान् राजा के पास
एक छोटी-सी शिकायत ले कर आई है
जब मैं बाहर जाऊँगा
तो मेरी वीरता और बल के डर से
उसकी ढाल नाचेगी
मैं कल भोजन तभी करूँगा
कि पहले उसका सिर धड़ से अलग कर दूँ।"

कहने को तो वह यह कह गया पर वास्तव में डर के मारे राजा के प्राण सूख रहे थे क्योंकि उसने भी राजा रिसालू की वीरता की गाथाएँ सुन रखी थीं। उसने रिसालू के पास अनेकानेक स्वादिष्ट पकवान और मिठाइयों से भरे थाल भिजवाए। किन्तु इन सब में विष मिला हुआ था।

जब गुलाम राजा की सौगातें लेकर रिसालू के पास पहुँचे तो उसने अकड़ कर कहा : "जाओ अपने राजा से कह दो, मैं उसका मित्र नहीं हूँ बल्कि घोर शत्रु हूँ, उसका नमक मैं नहीं खा सकता।" यह कहते हुए उसने मिठाई के थाल नीचे गिरा दिए, जिसे एक कुत्ते ने चखा और तुरन्त मर गया।

क्रोध के मारे काँप कर रिसालू ने कहा : "विश्वासघात करने वाले कायरो ! जाओ और अपने राजा से कह दो कि इस ढंग से दगा कर के मेरे निकट शत्रु को भी मारना नामर्दी है।"

शाम हुई तो रिसालू सिरकप के पास चौसर खेलने के लिए चला। वह ईंटों के एक भट्टे के पास से गुज़रा तो एक बिल्ली बड़ी परेशानी में "म्याँऊ-म्याँऊ" करती हुई इधर से उधर आ जा रही थी। रिसालू को देख कर बिल्ली ने कहा : 'हे राजकुमार ! मेरे बलूंगड़े एक कच्चे बरतन में पड़े हैं और भट्टे में अभी अभी आग जलाई गई है मेरे बच्चे जल कर मर जाएँगे, जिन्हें बचाओ ईश्वर तुम्हें नेकी का सिला देगा।"

वह कुम्हार के पास गया और सारा भट्टा खरीद लिया और एक बरतन में से बिल्ली के बच्चे निकाल कर उसके हवाले कर दिए। बिल्ली ने एक बच्चा रिसालू की जेब में डाल दिया और कहा : "विपत्ति में यह तुम्हारा साथ देगा।"

अभी दोनों खेलने भी नहीं बैठे थे कि सिरकप ने बाज़ी निश्चित कर दी। उसने कहा कि यदि मैं हारूँ तो मेरा राज्य तुम्हारे हवाले। दूसरी बार हारूँ तो सारी दौलत तुम्हारे हवाले और तीसरी बार हारूँ तो मेरा शरीर तुम्हारे हवाले।

रिसालू ने कहा : "यदि मैं पहली बाज़ी हारूँ तो मेरे अस्त्र शस्त्र तुम्हारे हो जाएँगे। दूसरी बाज़ी हारूं तो घोड़ा तुम्हारा हो जाएगा और तीसरी बाज़ी भी हार जाऊँ तो तुम मेरा सिर धड़ से अलग कर देना।

पहले राजा रिसालू को करनी पड़ी। वह शव की बात भूल गया था इसलिए राजा के दिए हुए पाँसे से ही खेलने लगा। फिर सिरकप ने अपना चूहा "ढोला राजा" छोड़ दिया, उसने तख्ते पर चढ़ कर टुकड़े उलटा दिए। रिसालू पहली बाज़ी हार गया और उसे अपने चमकते हुए अस्त्र-शस्त्रों से वंचित हो जाना पड़ा। दूसरी बाज़ी लगी तो "ढोल राजा" ने फिर गड़-बड़ कर दी। और रिसालू अपनी घोड़ी भी हार गया। यह देख कर घोड़ी अपने स्वामी से कहने लगी :

"ऐ मेरे प्रियतम

मेरे माँ-बाप समुद्र के जीव थे
तुम्हारे पिता ने बहुत सा
सोना दे कर उन्हें खरीदा
आओ अब, जब कि मैं पराई हो गई हूँ
मेरी पीठ पर अन्तिम बार बैठ जाओ
मैं तुम्हें हज़ारों मील दूर ले जाऊँगी
मैं इतना तेज़ दौड़ूँगी कि उड़ते हुए
पंछी भी मुझे नहीं देख पाएँगे
राजा! यदि तुझे चौसर ही खेलनी है तो
तू अपनी जेब पर हाथ रख"

यह सुन कर राजा सिरकप का माथा ठनका। उसने सेवकों से कहा कि घोड़ी को तुरन्त वहाँ से हटा दिया जाए यह अपने स्वामी को सलाह देती है। जब गुलाम उसे ले जाने लगे तो अपने पुराने सेवक और साथी की जुदाई पर रिसालू की आँखों में आँसू आ गए।

अब रिसालू को सब कुछ स्मरण हो आया; फिर उसे बिल्ली के बलूँगड़े की बात भी याद आई। उसका हौसला बढ़ा। उसने बड़ी निडरता से कहा, "अभी मेरा घोड़ा और शस्त्र यहीं रहने दो। जब मेरा सिर गे तो इन्हें भी ले जाना।"

अब सिरकप घबराया। उसने आज्ञा दी की महल की समस्त सुन्दरियाँ अपने सर्वश्रेष्ठ वस्त्रों में सज-धज कर एकत्रित हो जाएँ। उसका विचार था शायद इसी प्रकार रिसालू का ध्यान खेल से हट जाए। पर रिसालू ने किसी की ओर आँख उठा कर भी न देखा और जेब से हड्डियों के बनाए हुए मोहरे निकाले और सिरकप से कहा, "अब मेरे मोहरों की बारी है।"

रिसालू का बलूँगड़ा जेब से निकल कर उस खिड़की पर जा बैठा जहाँ से 'ढोल राजा' आता था।

दोनों खेलने लगे। महल की स्त्रियों ने घेरा डाल लिया। बलूँगड़े ने खिड़की पर बैठ कर 'ढोल राजा' के लिए एक समस्या पैदा कर दी थी। अब सिरकप ने ना था। उसने पहले राज्य खोया, फिर कोष और फिर सिर की बाज़ी भी हार दी।

इतने में एक दासी ने आ कर कहा कि महारानी ने अभी-अभी एक कन्या को जन्म दिया है। सिरकप अपने दुर्भाग्य पर पहले ही जला हुआ था, उसने कहा, "जाओ उसे मार डालो, उसने एक मनहूस घड़ी में जन्म लिया है। वह मेरे लिए मृत्यु बन कर आई है।"

रिसालू ने उठ कर कहा, "नहीं राजा! ऐसा मत कहो। इस निर्बोध बालिका ने कोई अपराध नहीं किया। बच्ची मुझे दे दो, मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊँगा और यदि तुम यह प्रण कर लो कि भविष्य में सिर की बाज़ी न कभी खुद लगाओगे और न लगवाओगे तो मैं तुम्हें क्षमा कर दूँगा।"

सिरकप ने शपथ ग्रहण करने के पश्चात आम के वृक्ष की एक शाखा ली, बच्ची और शाखा को सोने की एक थाली में रखा और रिसालू के सामने ले गया।

जब रिसालू थाली में बच्ची और शाखा लेकर सिरकप के महल से निकला तो उसे कुछ कैदी मिले। उन्होंने कहा :

"अन्य राजे महाराजे तो मुर्गाबियों के समान हैं
किन्तु तू तो वीर है
हम शृंखलाओं में जकड़े हुए हैं
हमें स्वतन्त्र कर
तू चिरायु हो"

रिसालू ने सिरकप से कह कर उन्हें मुक्ति दिलाई। फिर वह 'मूर्ति' की पहाड़ियों में गया और बच्ची को पहाड़ियों के नीचे, भू गर्भ में स्थित एक महल में लिटा दिया। और द्वार पर आम की एक शाखा लगा कर कहा :

"बारह वर्ष के पश्चात् आम का यह वृक्ष फल लाएगा
उस समय मैं लौटूँगा
और तुझ से ब्याह करूँगा"

× × ×

बारह वर्ष के पश्चात् आम के वृक्ष में फल लगे और रिसालू ने उस लड़की से ब्याह करके उसका नाम "कोकला" रखा।

—घनश्याम सेठी

ब्रदर्स, अमीराकदल
नगर (काश्मीर)

सपने की सच्चाई

किसी के द्वारा जगाने का अनुभव कर जोगाराव बिस्तर पर से उठ बैठा। सारा वातावरण सुनसान है। सावधानी से देखने पर केवल लीला के साँस लेने की ध्वनि सुनाई दे रही है। निचले हाल की घड़ी ने तीन की घण्टी बजाई।

जोगाराव अपने सपने का स्मरण करते पुनः बिस्तर पर लुढ़क गया। फिर से निद्रा आने की संभावना उसे प्रतीत नहीं हुई।

उसके सपने में कोई विशेषता नहीं है। न मालूम क्यों दस वर्ष के पूर्व की घटनाएँ पुनः स्वप्न में दिखाई दी हैं। कठिनाइयों से भरे वे दिन, वह झोंपड़ी, चार पाई, और काग़ज़ हरिकेन लालटेन। उस समय वह लीला से अपरिचित था। लीला का नाम भी उस समय न जानता था। तो भी इस स्वप्न में वह दिखाई दी। जोगाराव ने इस स्वप्न में उस झोंपड़ी, टूटी-फूटी चारपाई, हरीकेन, लालटेन और लीला को बड़े प्रेम से देखा था। स्वप्न को देखते समय उसका मन कैसा निर्मल था!

अपनी ग़रीबी में जोगाराव पत्र-पत्रिकाओं में लेख और कहानियाँ भेजा करता था। उसके आलोचनात्मक लेखों की प्रशंसा करने वाले पाठक भी थे। लेखक और समीक्षक के रूप में जोगाराव ने थोड़ी-सी ख्याति प्राप्त की थी। उन दिनों अपनी किसी कहानी के लिए पारिश्रमिक के रूप में पाँच रुपए पत्र-पुष्प प्राप्त होते तो उसे कैसा आनन्द प्राप्त होता? वे पैसे जोगाराव के हाथों में जादू का खेल दिखाते! प्रतिदिन चार आने पैसों से अपना पेट कैसे भरें? कई महीनों तक वही 'फ़ीट' चलता रहा। वही स्वयं भोजन बनाता, इसमें प्याज़, मिर्च, नमक और तेल मिला कर कुछ खाता, फिर मठ्ठे में नमक और नींबू मिला गले में उतारता तो उसे अत्यन्त आनन्द होता। कम पैसों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अन्वेषण में ही वास्तविक आनन्द है। जोगाराव इस आनन्द से परिचित था। परन्तु उसे पहचान नहीं पाया।

जोगाराव और लीला के शहर में आने के उपरान्त उन्हें कई दिनों तक अच्छा भोजन उपलब्ध नहीं हुआ। चार इड्ली, साम्बर, आधा कप काफ़ी पीते तो अपने वित्ते के परिमाण के पेट भर जाते। रात को कैरियर में पाँच आने का भोजन मँगा कर दोनों अपना पेट भरते।

लीला को सिनेतारिका बनाने का स्वप्न यथार्थ होने पर भी, अपनी दूसरी कामना की पूर्ति की कल्पना जोगाराव ने कम की थी। दोनों स्वप्न साकार हुए। सत्य निकले। लेकिन जोगाराव को इस रात्रि के समय आनन्द की प्राप्ति क्यों नहीं है? इस बात की वह आत्म-परीक्षा करने लगा।

जोगाराव को इस समय दुखी बनाने वाली जो स्थिति है, उसका "व्यथा" जैसा बड़ा भाव भी निकाला नहीं जा सकता है और लिवर की गड़बड़ी जैसा छोटा अर्थ भी। इस असंतृप्ति का कारण लीला को माना जाए तो जोगाराव के सामने कई मार्ग हैं। लेकिन उन मार्गों का अन्वेषण कर जोगाराव आत्म-वंचना नहीं कर सकता है। लीला और उसके बीच का जो सम्बन्ध है, वह पिछले तीन चार सालों में बहुत कुछ बदल गया है। यह सत्य होते हुए भी लीला को दोष देना निरर्थक है। क्योंकि गत आठ वर्षों से लीला कई प्रकार से ऋणी बना हुआ हैं।

लीला किसी व्यक्ति की पत्नी नहीं। वह वेश्या परिवार की है। उसके माता-पिता जीवित हैं। लेकिन उसके पिता ने लीला के साथ पिता-जैसा व्यवहार नहीं किया। १२ वर्ष के पूरा होने के पहले ही उसने लीला को बाज़ार में रखा। उसमें मानसिक वांछानाओं (भौतिक इन्द्रियानुभूति कामना) के उत्पन्न होने के पूर्व ही घृणित पुरुषों के प्रति द्वेष करना मात्र उद्भव होने के कारण वह पुरुषों के प्रति द्वेष करना मात्र जानती है। पुरुषों की मित्रता से वह अनभिज्ञ है। इस अभाव की पूर्ति जोगाराव ने की। उसके द्वारा लीला ने स्त्रीत्व परिपूर्णत्व को प्राप्त हुआ। लीला ने जोगाराव के प्रभाव को पूर्ण रूप से स्वीकार ही नहीं किया, आप ही उसे इस बात का गर्व भी हुआ, मानो विश्व का एक श्रे पुरुष उसका अपना हो गया है। उसके ऊपर विश्वा रख कर उसके साथ नरक तक को जाने का निश्च

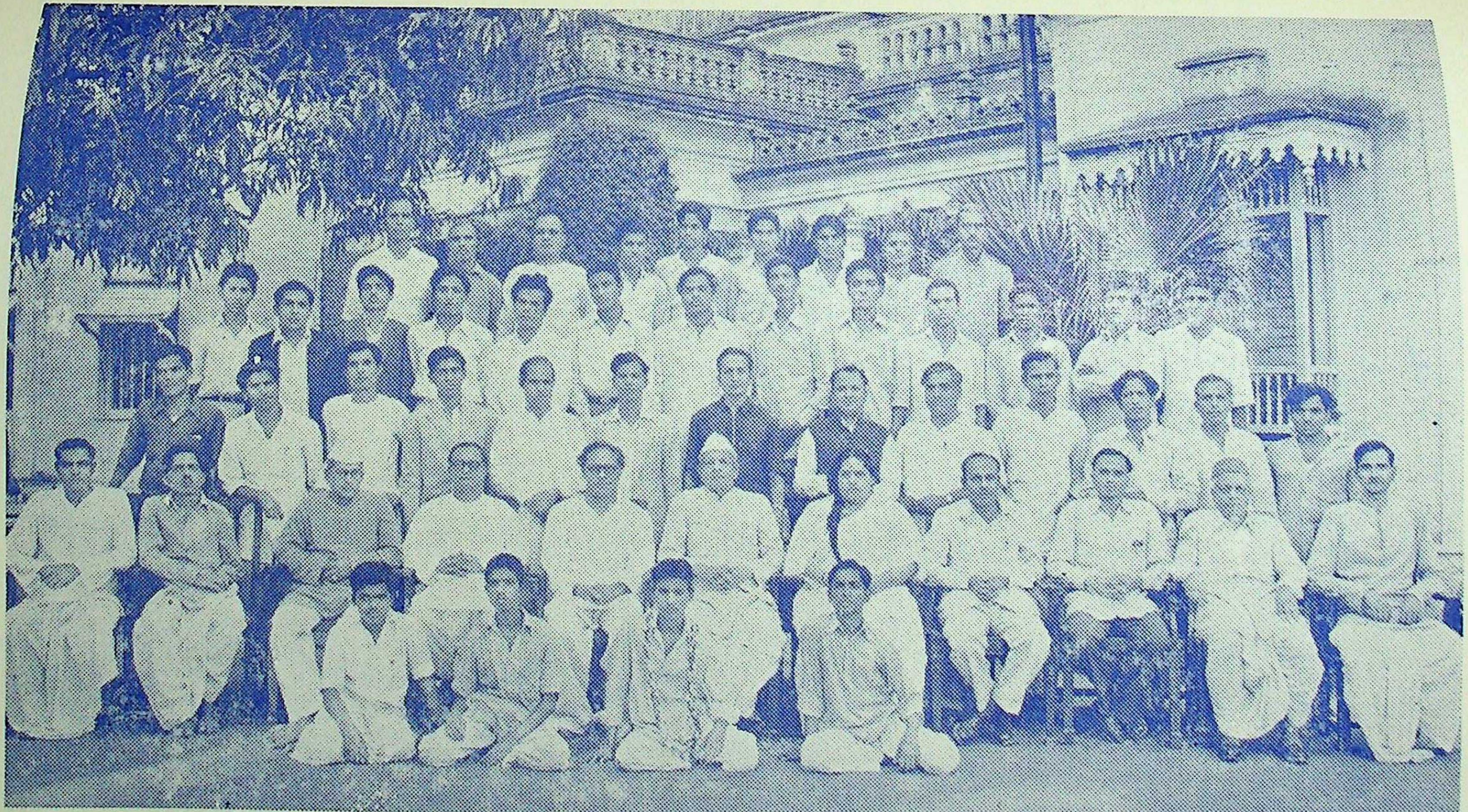

हिन्दी प्रचार सभा द्वारा संचालित 'हिन्दी-प्रेस' का षष्ठ वार्षिकोत्सव विगत मास (मार्च २१, १९५६) समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। उक्त अवसर पर लिए गए इस समूह-चित्र में हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष, पदाधिकारी, प्रेस और सभा के कार्यकर्त्तागण।

१९५६

किया। इतना होते हुए भी लीला कभी जोगाराव के हाथ का खिलौना नहीं बनी। वह उसका प्रतिबिंब तो है ही नहीं। लीला को अपना प्रतिबिंब बनाने का प्रयत्न भी जोगाराव ने कभी नहीं किया।

लीला को सिनेमा में अभिनय करने का अवसर प्राप्त हुआ तो वह केवल जोगाराव के प्रयत्न के कारण ही। उसने लीला के प्रति पूर्ण विश्वास का परिचय दिया। किसी न किसी तरह लीला को अभिनेत्री ही बनाने की वेदना जोगाराव के मन में न होती तो वह सफल न हुआ होता! लेकिन उसके मन में जो अटल विश्वास था कि लीला आज नहीं तो कल अवश्य एक प्रसिद्ध सिने-तारिका बन जाएगी। जोगाराव लीला को साथ में लिए सिने-निर्माताओं के पीछे दौड़ा नहीं, और ना ही उसने निर्माताओं के पास जाकर अनुनय-विनय के साथ गिड़-गिड़ाया। निर्माताओं ने लीला के प्रति विश्वास प्रकट न किया तो जोगाराव ने उनकी निन्दा नहीं की। उसके मन में यह धारणा थी कि उसे निर्माताओं के पास ले जाने पर निर्माताओं का ही नुक़सान होगा। यही अभिप्राय एक दो निर्माताओं में भी पैदा हुआ। पहले लीला को एक दो छोटे रोल मिले।

जोगाराव ने लीला को सब प्रकार की स्वतन्त्रता दे रखी है। उसने लीला को इस योग्य बनाया कि वह समाज द्वारा मनुष्यों पर लगाए जाने वाले निर्बन्ध को लीला को आंख मूँद कर या अनिवार्य रूप से अनुसरण करना न पड़े। स्वभाव से ही लीला विहंग जैसी है, जोगाराव ने उसे स्वतन्त्रता प्राप्त विहंग बनाया।

निर्माता शिकारी जैसे होते हैं। वे जल्दबाज़ी में बन्दूक दाग़ कर चिड़िया को हाथ से जाने नहीं देते! लीला सस्ते में मिलेगी। यदि वे अधिक उत्सुकता दिखाएँगे तो उसकी दर भी बढ़ सकती है। इसलिए वे सहस्त्रों आँखें खोले जाल लिए फँसाने के ताक़ में बैठे रहें। इस बीच में कोई दूसरे निर्माता लीला को बुक करने आया। उसकी ‘तारिका’ ने अधिकाधिक रुपए ऐंठने के विचार से टालम-टोल करना शुरू किया। कन्ट्राक्ट फ़ारम पर हस्ताक्षर करते समय पूर्व निर्णय को ठुकरा कर बड़ी मोटी रक़म की माँग की। इससे पहले उस तारिका से तीन कन्ट्राक्ट फ़ारम पर हस्ताक्षर के प्रसंग आए थे। उससे तंग आकर निर्माता मोटरकार पर दौड़े-दौड़े लीला के पास गए और कहा : “यह परसों मेरे द्वारा प्रारम्भ किए जाने वाले पिक्चर में हीरोइन पात्र का कन्ट्राक्ट है। इस पर केवल संख्या मात्र नहीं दी गई है। कहो, तुम कितना चाहती हो? मुझे पसन्द आया तो मैं तुम्हारी माँग के अनुसार संख्या दूँगा। नहीं, तो पिक्चर लेना ही बन्द कर दूँगा।”

कन्ट्राक्ट फ़ारम लेकर जोगाराव ने लीला के हाथ में दिया और स्थल निर्देश कर हस्ताक्षर करने को कहा।

निर्माता ने पूछा : “संख्या ?”

“आप अपने निर्णय के अनुसार दीजिए। नुक़सान होने पर हमें रुपए देने की ज़रूरत नहीं। आप हमारे यहाँ आए हैं। हम आपके यहाँ नहीं गए हैं। कोई भी अतिथियों से मोल-भाव नहीं करता।”

व्यापारी में मानवता ने सिर उठाया। छः हज़ार से शुरू कर आठ हज़ार तक का निर्णय रखने वाले निर्माता ने दस हज़ार की संख्या दी। और बोले : “मैं जो रक़म देना चाहता था, उससे दो हज़ार अधिक लिखा है। मुझे इस समाचार के जानने के बाद कि लीला मन लगा कर काम करेगी तो धैर्य हुआ कि दो हज़ार रुपए आखिर किसी न किसी तरह मुझे प्राप्त हो जाएँगे।”

निर्माता ने छुट्टी ली। ताक़ में बैठे दो अन्य निर्माताओं ने उस निर्माता को गालियाँ दी और उन लोगों ने भी दस-दस हज़ार के कन्ट्रक्ट लिखाए। इसके बाद वे कई दिनों तक अपनी मूर्खता पर आश्चर्य करते रहें।

इसके बाद लीला की उन्नति से जोगाराव का सम्बन्ध न रहा। इस वर्ष उसने छः कन्ट्रक्टों पर दस्तख़त किया है। एक एक तीस हज़ार रुपए का है। पिछले साल ही एक लाख रुपए लगा कर यह भवन खड़ा करवाया है। इसमें जोगाराव का कोई हाथ नहीं है। इन दो-तीन सालों में बोलपट पर उसके सौन्दर्य का खूब विकास हुआ। उसके अभिनय ने बड़ी प्रतिभा प्राप्त की। लेकिन उसकी उन्नति में हाथ देने वाले मेकपमैन, फ़ोटोग्राफ़र, दर्शक, प्ले बैक-गायक, सिनेरिया लेखक इत्यादि हैं। इसमें जोगाराव का हाथ बिलकुल नहीं है।

सिनेमा संसार में अपने पैर मजबूती के साथ जमाने के बाद लीला कई विषयों में पहले की अपेक्षा पीछे रह गई। उसने भगवान् वेंकटेश्वर स्वामी की (बालाजी) मनौतियाँ पूरी कीं। अभिषेक कराया। पिछले दो-तीन सालों से दो-तीन ज्योतिषियों का पोषण कर रही है। इन सब के अलावा अपनी उन्नति में योग देने वालों की कृतज्ञता और अपने उन्नति में बाधा उपस्थित करने वालों पर विजय भी वह अपने शरीर से ही प्राप्त कर रही है।

लीला को देख जलने वाले और उसके पतन की कामना रखने वाले भी उस पर दूषित प्रचार कर रहे हैं। उसे डरा-धमका कर भी जो लोग रुपए उससे ऐंठ नहीं पा रहे हैं, वे पत्र-पत्रिकाओं में उसकी निन्दा करने लगे हैं। लीला इन सब परिस्थितियों से घबरा गई लेकिन जोगाराव ने उस समय भी धीरज बाँधा :

"तुम्हारे पेशे में तुम्हारी अपख्याति बाधा उपस्थित नहीं कर सकेगी। तुम्हारे पति के नाम पर जब तक मैं रहूँगा, तब तक कोई भी तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। जो पत्थर फेंकेगा, वही घायल होगा।"

लीला ने कृतज्ञता और घायल आत्माभिमान के साथ आँसू गिराते जोगाराव के साथ गाढ़ालिंगन किया।

उसे पर्दे पर देखने मात्र से लाखों प्रेक्षकों को परवशता प्राप्त होती है। लेकिन उसका आलिंगन भी जोगाराव को विचलित नहीं कर सका। एक समय लीला को जो लावण्य और सुन्दरता प्राप्त थी वह अब नहीं है। उसके सौन्दर्य को नियमित क्रमविहीन निद्राहार वाला अभिनय तथा प्रेमविहीन काम तृप्ति नष्ट कर रही है। उसका सहज सौन्दर्य क्रमशः घटता जा रहा है, पर कृत्रिम सौन्दर्य दिन-प्रतिदिन प्रकर्षमान होता जा रहा है।

दो मास पूर्व लीला के सिनेमा क्षेत्रों में एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया है। उसके साथ कुछ और लोगों ने मिल कर एक पिक्चर तैयार करने का निश्चय किया है। जोगाराव को यह कतई पसन्द नहीं है। लेकिन इससे लीला के निरुत्साह होने के लक्षण देख जोगाराव ने मना नहीं किया। इस चित्र का निर्वहन अनुभवी और अधिक लोगों का होने के कारण चित्र निर्माण के पूर्व ही लीला के बीस हजार रुपए खर्च हो गए, लीला को पता नहीं। जोगाराव को इस मामले में दखल देना पसन्द नहीं। वह स्वयं कहानीकार होते हुए भी उसकी अंतिम कहानी के प्रकाशित हुए पाँच छः वर्ष पूरे हो गए हैं। लीला के अभिनय करने वाले चित्रों की कहानियों पर ध्यान ही नहीं देता।

जोगाराव लीला के व्यवहारों में किसी दृष्टि से भी हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं करता। उसने लीला के मित्रों और उसके सैर-सपाटों की कभी आलोचना नहीं की। यह भी कभी नहीं पूछा—"कहाँ गई थी? कहाँ से आ रही हो?" इस विषय में लीला के प्रति द्वेष भी उसके मन में नहीं था। क्योंकि लीला ने अपने हृदय को किसी दूसरे को सौंपा नहीं।

जोगाराव पर लीला का अब भी स्नेहभाव है। पर लीला से जोगाराव केवल उसकी कमाई की कामना मात्र रखता है। उसके लिए आवश्यक स्नेह देने के लिए भी अब लीला के पास समय नहीं है। वह इस समय कला की उपासना भी नहीं कर रही है। इस समय अभिनय करना लीला के लिए कला नहीं, केवल पेशा नहीं, बल्कि वह उसका व्यापार-मात्र है। वह इस समय चित्र निर्माण में वितरकों (डिस्ट्रिब्यूटर) द्वारा कान्ट्राक्ट लेना, अन्य नर-नारियों द्वारा काम करा कर स्वलाभ-सिद्धि में लगी हुई हैं।

इसमें जोगाराव को जिज्ञासा पैदा करने वाली बात कोई नहीं है। सेठ-साहूकारों से मिलने वह अन्य स्थलों पर भी हो आया करती है। वह अपने समस्त प्रयत्नों के बारे में जोगाराव को सुनाती है। लेकिन वह उसकी सलाह की प्रतीक्षा नहीं करती। तब वह क्यों सुनाती है, जोगाराव के समझ में नहीं आता।

जोगाराव लीला के धन का गुलाम नहीं बना है। यदि वह ऐसा बन जाता तो कोई झंझट नहीं थी। लेकिन आनन्द की प्राप्ति के लिए जीवन से लड़ना है तो लीला के लिए एक समस्या पैदा करनी होगी। लीला को इस स्थिति में ला खड़ा करने का हक़ उसे है कि नहीं, जोगाराव निर्णय नहीं कर सका। लीला को उसने ही सिने तारिका बनाया। अब लीला उसके आशय की पूर्ति कर रही है। लेकिन वह फल प्राप्त कर रही है, वे जोगाराव के लिए प्रत्याशित नहीं। उसमें लीला का कोई दोष नहीं। वातावरण ही कुछ ऐसा बना हुआ है। वह लीला को छोड़ अपने पैरों पर खड़े हो जीवन में प्रवेश करना है तो उसका ठीक समय लीला के पतन के बाद

ही। लेकिन उस हालत में लीला को त्यागना कहाँ तक न्याय-संगत है।

घड़ी में पाँच बजते सुन कर जोगाराव बिस्तर पर से उठ बैठा। पता नहीं क्यों, उसे अचानक बचपन की एक घटना स्मरण हो आई। चारपाई के सामने दर्पण में अपनी आकृति को देखते ही अपने बड़े भाई का स्मरण हो आया। वह कई साल पूर्व चार महीने तक चारपाई पर पड़ा रहा। तन्दुरुस्ती के ठीक होने पर उसे फिर से चलना सीखना पड़ा। वास्तव में वह भी ऐसी दशा में नहीं है? लीला की कमाई पर जीवन बिताना छोड़ कर अपने पैरों पर खड़े रहने का प्रयत्न करने पर वह गिर न जाएगा? अवश्य गिर जाएगा।

जोगाराव लीला के पलंग के पास जा कर उस पर बैठा और उसने लीला के शरीर पर हाथ रखा।

लीला ने करवट बदली। लेकिन वह उठी नहीं।

"लीला! एय्!"

"ऊँ जगाओ मत। निद्रा पूरी नहीं हुई है।"

"मैं गाँव जा रहा हूँ।"

"कहाँ? किस गाँव में?" आँखें मूँद कर निद्रा में ही लीला ने पूछा।

"कहीं? किसी गाँव में!"

"क्यों?" लीला ने जबरदस्ती आँखें खोल कर पूछा।

"कुछ विशेष नहीं। थोड़े दिन तक घूमने की इच्छा है।" लीला उठ बैठी। लेकिन थोड़ी देर तक चुप रही।

"कब जा रहे हो?"

"आज ही।"

"कहाँ?" फिर से पूछा।

"कुछ पता नहीं। अभी तक निश्चय नहीं किया।"

"कुछ सूझता नहीं क्या? है न? ओह!"

"हाँ!"

"फिर कब आओगे?"

"जब इच्छा होगी।"

लीला का मुँह विवर्ण हो गया। तब जा करके उसे होश आया। कल्पित उत्साह का अभिनय करते हुए कहा:

"एक काम करेंगे। ज़रा फ़ुरसत होते ही दोनों जाएँगे।"

"तुम्हें कभी फ़ुरसत नहीं मिलेगी! तुम्हें हाथ भर काम है। मैं ही बेकार आदमी हूँ!"

लीला ने मुँह सिकोड़ कर कहा: "क्या अपमान लगता है?"

"मुझे स्वयं मालूम नहीं। लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं बेकार पड़ा हुआ हूँ।"

"वहाँ जाकर करेंगे क्या?"

"अभी तक सोचा नहीं।"

"मेरे बारे में क्या सोचा है?"

"तुम्हें किस बात की कमी है?"

"यह अपख्याति उठाऊँ कि तुमने मुझे त्याग दिया है?"

जोगाराव ने हँस दिया और कहा: "तो तुम्हीं कहो कि तुमने ही मुझे छोड़ दिया है।"

"क्या कोई मुझसे आकर पूछेगा?"

"तो जाने दो, मैं ही कहूँगा।"

थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे।

"अचानक मेरे ऊपर तुम्हें इतना क्रोध ही क्यों हुआ?"

"क्रोध? कभी नहीं हुआ। मैंने कभी तुम्हें कुछ नहीं कहा। तुमने मेरी जो भलाई की, वह दूसरा कौन करेगा?"

"तो फिर जाना ही क्यों?"

"तुमने कुछ किया, इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ।"

"क्यों नहीं करते? कोई न कोई काम करने को मैंने कई बार कहा था। तुम्हारा न करना क्या मेरा ही दोष है?"

"लीला! तुम अपने विषय को छोड़, दूसरे पर क्यों नहीं सोचती? करने को अच्छा काम भी तो हो? तब न?"

"अब भी वह झंझट रहेगी। फिर अकारण ही वहाँ पर जाकर तकलीफ़ क्यों उठाते हो?"

जोगाराव ने पुनः हँस दिया और कहा: "यदि मैं कुछ न कर सकूँगा तो पुनः नहीं आ सकता हूँ क्या? तुम रोकोगी भी नहीं न?"

यह बात लीला के मन में चुभ गई। उसे क्रोध भी हुआ। और उसने कहा: "तुम्हीं ये सब बातें करते

से संबन्धित विषयों का वह स्मरण करने लगी। गत दो तीन वर्षों की घटनाएँ याद नहीं आईं, बल्कि कई सालों की घटनाएँ ताज़ी होने लगीं।

लीला ने अपने जीवन में अकेले जोगाराव से ही सच्चा प्रेम किया था। क्रमशः वह नाम और प्रतिष्ठा पर हुआ और जोगाराव का प्रेम लुप्तप्राय हो गया यह नग्न सत्य है कि दो प्रेमों के बीच में लुप्त होने वाले प्रेम का मूल्य अधिक है। गुज़रे हुए दिनों में लीला को जो आनन्द प्राप्त हुआ था वह आज के दिनों में नहीं।

यदि उस दिन की रात को उसे अकेले ही घर पर सोना पड़ता तो इसे कितनी व्यथा होती! पर उस रात को शूटिंग थी, वह बेकार हो गई। दूसरे दिन अस्वस्थता का बहाना कर घर पर ही रह गई। प्रातःकाल तीन बजे घर लौटी, बिना मेकप आदि धोए चारपाई पर पड़े पड़े रोई और सो गई।

दूसरे दिन वह घर पर ही रही। टेलीफ़ोन करने वालों तथा घर पर आए हुए लोगों को कहलवाया कि वह घर पर नहीं है। जोगाराव को भूलना ही उसका उद्देश्य है तो उसने बड़ी भूल की है।

तीसरे दिन जब वह शूटिंग में गई तो सबने जोगाराव के बारे में पूछा। उसने गाँव का बहाना किया। उस दिन भी सारी शूटिंग व्यर्थ गई। सारे शहर में यह समाचार बेतार की तार की तरह फैल गया कि जोगाराव लीला को छोड़ कर चले गए हैं। लीला कहती रही कि वह काम से बाहर गए हैं, जल्दी ही आ जाएँगे।

जोगाराव के गए १५ दिन हो गए हैं। दिन प्रतिदिन जोगाराव के लौटने की आशा एक ओर बढ़ रही है तो दूसरी ओर उसके वापस न लौटने की निराशा भी बढ़ती जा रही है। लीला के बहुत-कुछ दिमाग़ लड़ाने पर भी उसे कुछ नहीं सूझा कि वह कैसे रहते हैं? क्या करते हैं? और रुपए कहाँ से मिलते हैं?

इस विश्व में अपराध की कल्पना कर, बिना किसी के द्वारा दण्डित हुए सज़ा भोगने वाले हैं। दण्ड के अनुभव की कल्पना कर सज़ा का पता न पा अपराध की कल्पना करने वाले भी हैं। लीला ने निश्चय किया कि उसने जोगाराव के प्रति कोई बड़ा अपराध किया है। उसका निश्चय दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता गया। हो! मैं तो तुम्हें यहीं पर रह जाने को कह रही हूँ न!"

"आज तक हममें कभी झगड़ा नहीं हुआ। आज भी नहीं होना चाहिए। दोस्तों के रूप में रहें। वैसे ही रहेंगे?"

थोड़ी देर तक सोच कर लीला ने कहा: "दूसरी कोई मिल गई क्या?"

"अभी तक नहीं। तुम्हारे प्राप्त होने के बाद दूसरी कोई मेरा मुँह देख नहीं सकती। सिने-तारिकाओं के पति कैसे चरित्रवान् होते हैं, तुम्हें मालूम नहीं?"

ओंठ काटते लीला ने कहा: "यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता।"

जोगाराव के सामने वह दूसरे लोगों से कब कैसा व्यवहार करना जानती थी। लेकिन अब जोगाराव के विरुद्ध बोलने में वह कुछ का कुछ जवाब दे रही है।

"मैं अपने बारे में सोचूँ तो अपने पर ही मुझे घृणा होती है। इन सात-आठ वर्षों में मैं नालायक बन गया हूँ। इसलिए अब तुझे ही सोचना है।"

"ओह! अभी साढ़े पाँच बज गए हैं। मैं अभी आई।" कहती लीला चली गई। जोगाराव को आत्म-चिन्तन-मनन करने का अवसर मिला। उसके मन में पहले केवल यह भावना पैदा हुई थी कहीं न कहीं अवश्य जाना चाहिए। लेकिन उस भावना को एक रूप देने के अभिप्राय से ही जोगाराव ने लीला को बातों में घसीटा। इस संभाषण के बाद उसने पूर्ण रूप से जाने का निश्चय किया। वापस लौटकर लीला ने देखा: "जोगाराव नहीं हैं। कहीं चले गए हैं। उसका मनीबेग कोट-बेब में ही है। उसे भी बिना लिए वह चले गए हैं।

अपनी वेदना को रोक न सकने के कारण लीला रो पड़ी। किसी ने भी उसका ऐसा अपमान नहीं किया था। उसने अपने मन से प्रश्न किया: "मैंने किया ही क्या है? मेरे द्वारा कौन-सा अपराध हुआ है! मुझे इस प्रकार की सज़ा क्यों दी है?" लेकिन इन प्रश्नों का समाधान कौन करें?

जहाँ भी देखे जोगाराव का स्मरण दिलाने वाली चीज़ें पड़ी हुई हैं! विशेषता और विचित्रता यह है कि यह बिछुड़न लीला को बहुत पुरानी मालूम होने लगी और वह आज उसे पहचान सकी है। मृत व्यक्ति के बारे में जैसा स्मरण किया जाता है, उसी भाँति अपने जीवन

लीला ने कई काम किए थे। उनमें प्रायः सबके जोगाराव ने क्षमा कर दिया था। तो भी वे अब मह

अपराध बन कर लीला को पीड़ित करने लगे।

जोगाराव से उसे कई बातें कहनी थीं। उसके जाते समय उसके उपकार की कृतज्ञता लीला ने प्रकट नहीं की। बल्कि जोगाराव ने ही लीला के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। उसने केवल अपने बारे में ही सोचा है। जोगाराव के सम्बन्ध में कभी नहीं सोचा है। इस बात का स्मरण जोगाराव ने दो बार दिलाया था। लेकिन लीला ने ध्यान ही नहीं दिया।

एक दिन लीला कोई पत्रिका उलट रही थी। उसमें जोगाराव का नाम दिखाई दिया। "प्रत्यक्ष नरक" नाम से जोगाराव ने कोई कहानी प्रकाशित की थी। उसके नाम की ओर अनेक बार देखा। वह विश्वास नहीं कर सकी कि वही है। उसे मालूम है कि वह कहानी जोगाराव ने ही लिखी है। इस नाम की ओर देखते समय उसे मालूम हुआ कि जोगाराव समक्ष खड़े होकर उसकी निन्दा कर रहे हैं। कहानी पढ़ने की कई बार कोशिश की, लेकिन आँखों के सामने अक्षर धुँधले से दीखने लगे। और वह समाचार भी दिमाग़ में बैठता नहीं था। विचारों का प्रवाह जारी रहा।

कहानी समाप्त करके वह बहुत देर तक इस भाँति शून्य दृष्टि से अस्पष्ट विचारों में डूबी रही। इतने में टेलीफ़ोन के घण्टी की आवाज आई तो उसका ध्यान भङ्ग हुआ।

टेलीफ़ोन करने वाले ने पूछा : "जोगाराव ?"

लीला ने तुरन्त जवाब दिया : "घर पर नहीं हैं जी !" उसे इस बात का ध्यान न रहा कि नौकर आकर टेलीफ़ोन उठा लेगा।

"कौन बोल रहे हैं जी ? इधर जोगाराव ने कहानियाँ नहीं लिखी थीं, इस बार बहुत ही सुन्दर कहानी लिखी है। उन्हें बधाई दे रहा हूँ। उनसे कहिएगा।"

उस आदमी ने अपना नाम तक नहीं बताय। और टेलीफोन रख दिया। लोग बड़े होशियार मालूम होते हैं !

टेलीफोन के रखते ही लीला के मन में एक विचार आया डाइरेक्टरी में से उस पत्रिका कार्यालय के नम्बर देख लिया। उसने पूछा—"कृपा करके अपनी पत्रिका के कहानीकार जोगाराव का पता बता सकते हैं ?"

कार्यालय वालों ने बड़े सन्तोष के साथ पता बता दिया। और पूछा—"कहानी कैसी है जी ?"

"बहुत ही भद्दी है।" कह कर लीला ने टेलीफोन रख दिया........

झोंपड़ी में टूटी फूटी चारपाई पर लेटे सिरहाने की ओर हरीकोन लालटेन की रोशनी में पढ़ने वाले जोगाराव आहट पाकर चौंक कर उठ बैठे और उस आगन्तुक को देख कर कहा—"ओ, तुम हो ?"

इस झोंपड़ी में लीला ने प्रथम बार पैर रखा था।

"मेरा स्वप्न ! मेरा स्वप्न !!" कहा जोगाराव ने उद्रेक के साथ !

वह बोल क्या रह है, लीला की समझ में नहीं आया। वह आश्चर्य चकित हो जोगाराव की ओर उसी प्रकार खड़ी रही।.........।

द्वारा : डा० बशीरेड्डी
कर्नूल

— कोडवटिंगटि कुटुंबराव
—अनु० : बालशौरि रेड्डी

नक़्शा बनाना

इस समय नक़्शे बनाना एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य बन गया है। यह समस्त विश्व की सर्वमान्य भाषा है। अब भौगोलिक और राजनैतिक नक़्शों के अतिरिक्त समुद्र की तह आदि के भी नक़्शे बनाए जाते हैं। एटलस को सब अपने पास रखना चाहते हैं। विश्व का पहला नक़्शा १५०० में बनाया गया था। नए विश्व का पहला नक़्शा १५०६ में प्रकाशित किया गया था। यह नक़्शा ब्रिटिश म्यूजियम में विद्यमान है।

'एक लेख से'

तेलुगु लोक-गीत

भारत की अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य की भाँति तेलुगु लोक-साहित्य का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। गाँव वालों के रहन-सहन, सोचने आदि के ढंग इन लोक-गीतों में बड़े ही सहज रूप में अंकित किए गए हैं। सामाजिक व्यवस्था और जन संस्कृति के कई विषय इन गीतों में हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ समय पूर्व तक आन्ध्र के गाँवों में, एक विस्तृत पैमाने पर चावल की कुटाई होती थी, और अब भी होती है, पर मिलों के प्रादुर्भाव के कारण कुटाई का काम कुछ धीमा पड़ गया है।

हर गाँव में कुटाई का काम करने के लिए खास तौर से छै-सात औरतों की एक टोली बनती है और इस टोली में केवल औरतें ही रहती हैं, मर्द नहीं। जब मूसल-मुंगरी लेकर धान-कुटाई का काम आरम्भ हो जाता है तो थकान दूर कर अपने काम में तल्लीनता लाने के लिए कोई महिला गीत शुरू करती है।

इन गीतों में तरह तरह की बातें आ जाती हैं। मर्दों को उलाहना भी दिया जाता है और कभी उनकी निष्ठुरता का भी वर्णन किया जाता है। और कहीं-कहीं तो इन गीतों में शृंगार रस का पुट भी मिला रहता है; जिसे घर की मालकिन और बहु बेटियाँ भी बड़े कौतूहल से सुनती हैं। कभी-कभी तो ये गीत घर के मर्द भी, दीवार की ओट में या कमरे के अन्दर छुप करके सुनने लगते हैं। यदि कभी कोई पुरुष जान-बूझ करके कुटाई के स्थान पर आ भी जाए, तो भी महिलाएँ संकोच नहीं करतीं। मुसकरा देती हैं, और गीत अलापती जाती हैं।

बहुत से ऐसे प्रसंग भी हैं जो जवान लड़कियों को कुछ बुरा-भला इन गीतों में कहा जाता है। जैसा कि : "हे सुन्दरी! तू पुरुष की तरफ़ ऐसे क्या देखती है? लाज शरम तो कुछ कर! इतनी बेहया न बन री!" आगे यह भी कहा जाता है : "तुझ से तो कहा गया था कि घर में रह; पेड़-पौधों का ख़याल कर! पर तू अपने प्रियतम से मिलने चली। इधर घर के आँगन के पेड़-पौधों को जानवरों ने खा लिया। कभी ऐसा न होने दे सुन्दरी!"

तेलुगु लोक-गीत प्रस्तुत कर रही हूँ; जो धान कूटते समय औरतें आज भी आन्ध्र के गाँवों में गाती दिखाई देती हैं :

"ऊरि सुंदर चेनु वेय बोकन्न,
ऊळोनि विय्यमु चेय बोकन्न
ऊरि मुंदर चेनु काकुल्ल पालु,
ऊळोनि विय्यम्मु कय्याल पालु
अंड लेनि ऊर नुंड दोषम्मु,
आश मालिनवारि नडुग दोषम्मु
चेड्डवारितो चेलिमि चेय दोषम्मु,
अन्य पुरुषुल तोड़ नरुग दोषम्मु
वाडिना पुवुल्लो वासन्लू गलवा?
ओ तात! ई मनुमु वद्दय्या नाकु
प्रेम लेनि मगनि पेंड्लाडितेनु,
कापरालन्नियुनु कडगंड्ल पाले"

अनुवाद :

"गाँव के समीप खेत न लगाना भाई
गाँव में शादी ब्याह न करना भाई
गाँव के समीप का खेत कौओं के आधीन ही समझो
अपने गाँव का रिश्ता-नाता झगड़े का ही
रूप धारण करेगा
जहाँ कोई सहारा न हो वहाँ रहना ठीक नहीं है
लालची व्यक्तियों से कुछ पूछना अच्छा नहीं है
अन्य पुरुषों का संपर्क ठीक नहीं है
मुरझाए हुए फूलों में भी खुशबू होती है?
दादा! यह रिश्ता मुझे पसन्द नहीं है
प्रेमहीन पति के साथ विवाह करने से
परिवार के परिवार मुसीबतों में फँस जाएँगे"

—डी. मंड

१३, राजाबादर स्ट्रीट
मद्रास—१७

सपने और धूप

छत पर से, चौक चली जाने वाली चौड़ी लम्बी सड़क का, बड़ा अच्छा दृश्य मिलता था। मैं देखती रही...दूर—कुछ अस्पष्ट से दिखने वाले रिक्शे—जो तेज़ी के साथ मेरे घर के सामने पहुँचते, तो क्षण मात्र उनमें बैठी मूर्तियों के धुँधले आकार स्पष्ट होते और फिर एक सर्र—ट्रिन-ट्रिन...और रिक्शे आगे बढ़ जाते। ईंट-पत्थर, कूड़े से लदी ट्रकें—जिनके ड्राइवर कुछ इतनी लापरवाही से ट्रक चलाते होते कि कभी-कभी तो मुझे लगता...'अपने बाएँ' की सीमा रेखा पर चलने वाले पदाति या साइकिल सवार, अभी टक्कर खाकर गिर जाएँगे...पर मेरा अनुमान कच्चा निकलता और घर्र घर्र करती ट्रकें पेट्रोल की तीखी बदबू और ढेरों धुआँ धूल छोड़ती निकल जातीं और किसी को हलकी-सी ठेस तक न लगती। सिर पर अंगौछे की गिड़री बना कर खोंमचे रक्खे चाट वाले, फलवाले, मिठाई वाले—जिनकी सधी मँजी आवाज़ें भीड़ के शोर में डूब जातीं। चुटीले, रिबन और पेटी कोट की बेलों की बन्दनवार से सजी, चलती फिरती दूकान लिए, 'कंघी, तेल, साबुन, बरतन, कपड़ा' की आवाज़ लगा कर एक छोटी सुई से लेकर नकली हीरे का हार तक बेचने वाला बिसाती निकल जाता। फुल स्पीड से आती हुई मोटरों, बसों का रास्ता काट कर सड़क के इस पार से उस पार आने जाने का खेल खेलने वाले साहसी लड़के, कंधे पर धोती के पल्ले को सम्हालती हुई—झिझक के साथ कभी दाएँ, कभी बाएँ, कभी ठीक नाक की सीध में दृष्टि डालती लड़कियाँ और उनके पीछे मस्ती में सीटी बजाते, दिल के अरमानों को दो एक शब्दों में भरते हुए नौजवान लड़के... ताँगे...मोटरें...साइकिलें...रिक्शे...भड़ भड़...ट्रिन ट्रिन ...घर्र-घर्र...फट्-फट्...हिट्-हिट्...बचना जी...जिया चुराए लिए जाए...बम्बइया केले...नागपुरी संतरे... शरबती मोसम्बी...मुलायम चटपटे...कंघी, तेल...

मैं सुनती रही और देखती रही। लगा जैसे सुबह से मेरे मन को घेर रखनेवाली उदासी और पीड़ा इस अपार कोलाहल में खो जाने को बाध्य हो गई हो। यह कोलाहल—जिसमें दुनिया का यथार्थ है, व्यक्ति का यथार्थ है; जिसमें न जाने कितनी दिशाओं से आ आकर ध्वनियाँ डूब जाती हैं...मैं सोच ही रही थी कि अचानक दृष्टि को एक सुन्दर नौजवान ने बाँध लिया। दूर... अपनी चमचमाती हुई, शायद नई खरीदी हुई साइकिल पर, वह चला आ रहा था—बाएँ हाथ से साइकिल का हैंडल सम्हाले और दूसरे से शायद 'माउथ-आरगन' बजाते क्योंकि उसकी मीठी मीठी झटके से एक एक कर ऊँची होनेवाली आवाज़ मेरे कानों में आ रही थी। जिस हाथ से वह हैंडल पकड़े था उसमें रंग बिरंगे फूलों का एक गुच्छा भी था। वह कुछ और नज़दीक हुआ तो मैंने देखा, उसके कपड़े अच्छी हैसियत वाले व्यक्ति के से थे—हरी कॉडराय पैंट और सफ़ेद कमीज़ जिसके आगे के बटन खुले थे और बाहें यों ही लापरवाही से मोड़ ली गई थीं। मैंने थोड़ा और प्रयास किया तो लगा, पीछे कैरियर पर कुछ डिब्बे से रक्खे थे और आगे की टोकरी में पता नहीं क्या था पर वह भरी थी ऊपर तक! उसकी लापरवाही, मस्ती, बेफ़िक्री से साइकिल के पैडलों पर पैर मारना, हाथ का झटका देकर बाजे को इधर-उधर करना, 'माउथ-आरगन' की मीठी-मीठी धुन सब कुछ न जाने क्यों, कुछ देर अपनी ओर खींचे रहा। और इससे पहले कि मैं उसका चेहरा स्पष्ट देखती और उसके बाजे की ध्वनि एकाएक तेज़ होकर मेरे घर के आगे से निकल जाती—मैंने सुनी एक चीख़, असमय ब्रेक का दबाव पाकर चीं-चूँ करके झटके से रुकने वाली मोटर की आवाज़ और कई ऊँची आवाज़ें......एक क़ीमती साड़ी सड़क के किनारे वाली नाली के कीचड़ में पड़ी दिखाई दे रही थी, उसी के पास सड़क के ऊपर पड़ा था लाल रंग का एक खुला डिब्बा जिसके अन्दर का नीला मख़मल साफ़ दिखाई देता था...टीन की पटरी, खिलौनेवाली रेलगाड़ी के डिब्बे, और काठ के कुछ छोटे छोटे रंगीन चौकोर टुकड़े, जिनमें से किसी किसी पर अंग्रेज़ी के बड़े बड़े अक्षर दिख रहे थे...बीच सड़क पर कुछ और वैसी ही बहुमूल्य साड़ियाँ एक औंधे हुए डब्बे के आसपास फैली थीं और उनके ऊपर कुछ चम्मच नए गिलास...कटोरियाँ बिखरी पड़ीं थीं... सड़क के इस ओर

मेरे घर के ठीक नीचे पीतल की दो मूर्तियों का एक जोड़ा...एक बड़ा काठ का घोड़ा और रेल का छोटा इंजन......और भी न जाने कितनी चीजें अस्त-व्यस्त, औंधी—चित्त, टूटी-फूटी...बीच सड़क पर गिरी पड़ी थीं...एकाएक मैं कुछ न समझ सकी। दूर...जहाँ चलती सड़क जैसे घेरा डाल कर रुक गई थी—पड़ी थी एक चमचमाती साइकिल ..तब मुझे लगा—कुछ समझ में आया और देखा—भीड़ के घेरे में मेरे विचारों का वही नायक पड़ा था। खून से लथपथ, सिर बाईं ओर को लटका हुआ, और कन्धे पर कोण बनाता हुआ पूरी लम्बाई घेर कर पड़ा हुआ हाथ। दूसरा हाथ, शरीर के साथ लगकर सीधा पड़ा था। पास खड़ी थी कूड़े से भरी एक ट्रक ! तो, यह दुर्घटना...। मुझे एक क्षण इतना विचित्र सा लगा कि मैंने दोनों हाथों से आँखें मूँद ली। ठीक मेरी छत के नीचे इतनी बड़ी तबाही हो गई है...मुझे न जाने कैसा कैसा लगने लगा।... मस्त, लापरवाह युवक...चमचमाती सायकिल...'माउथ आरगन' की धुन—सब मिल कर मेरे दिमाग में ठक्-ठक् जैसे कुछ पीटने लगे।...न जाने किस किस के लिए बेचारा ये सारी चीजें ले जा रहा होगा...कितने अरमान उसके हृदय को गुदगुदा रहे होंगे...शायद उसकी चाँद से मुखड़े वाली एक पत्नी होगी, जिसने घर से चलते समय मीठी मुस्कान में अमृत घोलते हुए कहा होगा, 'देखो, भूलना नहीं'...नहीं, शायद इसने ही चलते समय उसका हाथ पकड़ कर, मुँह ऊँचा करके पूछा होगा, 'और, तुम्हारे लिए ?'...'कुछ नहीं... जाओ'...शरमा कर उसकी पत्नी ने कहा होगा। ये साड़ियाँ—इतनी क़ीमती, सुन्दर—इसने उसी चाँद के लिए ख़रीदी होंगी, और सोने की चूड़ियाँ भी—जो शायद उस नीले मखमल वाले लाल डब्बे में सजी होंगी...न जाने कितनी देर वह 'सबसे अच्छी' के लिए घूमता फिरा होगा...शहर की सारी दूकानें छान कर इसने बूढ़ी माँ के लिए राधाकृष्ण या सीताराम की यह मूर्ति ख़रीदी होगी...सारे समय उसे याद आ रहे होंगे झुर्रीदार हाथ जिनको जोड़ कर माँ ने शायद उसकी नौकरी के लिए अपने भगवान् को लाख लाख धन्यवाद दिया होगा और गहरी धँसी आँखों में हर्ष के आँसू भरकर, गद्गद कण्ठ से कहा होगा, 'बेटा ! मूर्ति का जोड़ा लाना न भूलियो।' और शायद किसी खुशी के आवेग में, माँ की धार्मिक अवस्था को चुनौती देते भूल कर उसने खुश होकर कहा होगा, 'अच्छा माँ!' खिलौने !...शायद उनका एक गोलमटोल प्यारा सा बच्चा होगा—खूब बातूनी, मसख़रा, शैतान ! जब उसका पिता चलने को तैयार हो गया होगा तो पिता की गर्दन को, अपनी गोल गोल गोरी बाहों से, घेर कर एक बार फिर आँखें चमकाकर, उसने याद दिलाई होंगी, 'और पापा ! हमारी धुक-धुक, घोड़ा, बाजा, साइकिल, मोटर और, और...कुछ छोड़ मत आना, अच्छा !' शायद 'अच्छा' कहते समय उसकी गरदन एक ओर थोड़ी झुकी होगी, हाथ छाती पर रक्खा हुआ होगा और आँखों में यह सब कुछ पा जाने की खुशी होगी...शायद उसके पिता ने अतिशय प्यार से उसे चूम लिया होगा और फिर टाटा...टाटा...। शायद वे नए नए आए होंगे, इस शहर में और रोजमर्रा की थोड़ी चीज़ों के अतिरिक्त और कुछ अपने साथ नहीं ला सके होंगे...या शायद वह अभी अभी कोई अच्छी नौकरी पा गया होगा और पहले किसी साधारण परिवार का रहा होगा...तभी ये बरतन, ये साइकिल... सब ख़रीदनी पड़ी होंगी। या शायद उसके घर में आज कोई ख़ुशी की बात हुई होगी...नया बच्चा हुआ होगा... या बच्चा अपने दर्जे में अव्वल आया होगा...या कुछ और...! पर अब सब कुछ कितना बदल जाएगा... दुःखद !

मुझे बहुत बुरा बुरा लगा। इस अचानक टक्कर पर बड़ी खीझ आई। हमेशा से मेरा यही विचार था कि ये ड्राइवर नशे में धुत ट्रकें चलाते हैं, अन्धों की तरह; और सड़क पर उनके इंजन के सामने पड़नेवाली किसी चीज़ का कोई ठिकाना नहीं, कब चकनाचूर हो जाए...

दोनों हाथों पर ज़ोर देकर, थोड़ा आगे को झुकते हुए मैंने फिर नीचे झाँका। बड़ी सी दाढ़ी वाला एक बुड्ढा हाथ हिला हिलाकर ज़ोर ज़ोर से कह रहा था, 'सत्यानाश कर दिया बेचारे का। न जाने कौन होगा,' बुड्ढे के दूसरी ओर से किसी ने कहा, 'अन्धे थे क्या! इतना बड़ा आदमी नहीं सूझता था...'...'तुम्हारे बाप की सड़क है ?' 'हत्यारा'...बुड्ढे की आवाज़ फ़िर सुनाई दी, "ख़बरदार जो किसी ने एक चीज़ को भी हाथ लगाया'...इस 'ख़बरदार' पर, कुछ गंदे लड़के, जो खिलौनों को छू रहे थे, सहम कर पीछे हट गए।

कमीज़ और कालिख के धब्बों से भरी सफ़ेद पैंट पहने जो व्यक्ति मोटर के इंजन से टेक लेकर खड़ा था, वही शायद इस ट्रक का ड्राइवर था, क्योंकि उसका सिर और आँखें नीचे झुकी थीं, हथेलियों को आपस में गूँथे हुए दोनों हाथ ठुड्डी से टिके थे...और मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं! शायद वह सोच रहा होगा, "पता नहीं किस मनहूस का मुँह देख कर चले थे जो यह मुसीबत सिर आ गई।'...पर उसकी दयनीय मुद्रा पर तरस न खा कर कुछ मनचले उसकी अक़्ल ठिकाने लगाने पर तुले हुए थे; चिल्ला चिल्ला कर गालियाँ देते, ताव में आ कर उसका मुँह तोड़ डालने की धमकी देते और जब वह कुछ न कहता, तो हाथ उठा कर...। पर बुड्ढा रोक देता, 'अरे कम अक्लो! उसकी नहीं; इस ग़रीब की चिन्ता करो जो बीच सड़क पर खून से भरा पड़ा है'। और मुह फेर कर बुड्ढा उसकी ओर झुका नहीं कि लड़कों ने खिलौने छूने शुरु कर दिए। ठीक मेरे सामने सड़क के किनारे नाली में जो साड़ी जा छिटकी थी उस पर, एक अधेड़ सज्जन की निगाह बार बार टिक जाती थी।... बुड्ढा उसके शरीर पर झुका रहा; फिर घुटने टिकाकर सड़क का सहारा ले वह बैठ गया। खून से लथपथ मुँह उठा कर पैरों पर रखा; हृदय पर हाथ रख कर अन्दाज़ लगाया; थोड़ा हिलाया-डुलाया और कुछ अफ़सोस से गिरी हुई आवाज़ में बोला, 'ख़तम'। भीड़ में जैसे फिर उत्तेजना आ गई। शोर गुल, कोलाहल, गालियों के बीच कुछ सुनाई नहीं पड़ता था;—लेकिन दूसरे ही क्षण एकदम मौत सा सन्नाटा छा गया ट्रक के पीछे से कुछ पुलिसवाले और एक रोबीला सा व्यक्ति, घेरे में आ गए थे।

"भीड़ क्यों लगा रक्खी है? कोई तमाशा है?" रोबीले व्यक्ति ने, जो शायद पुलिस का कोई बड़ा अधिकारी था, आते ही लोगों को डाँटा। पर कोई हिला तक नहीं, जैसे उसकी बात पर ध्यान देने से अधिक आवश्यक था इस घटना का परिणाम जानना। एक सिपाही पीछे चला गया था—शायद लारी का नम्बर नोट करने। इतनी देर वह रोबीला अफ़सर सड़क पर पड़े युवक को गौर से देखता रहा। अचानक उसके मुँह पर कुछ आश्चर्य सा झलका; उसने ज़रा झुक कर युवक का मुँह सीधा किया और निर्जीव गर्दन का हाथ की टेक देकर उसे सीधा रखते हुए ज़रा और गौर से देखा। गर्दन को उसी तरह हाथ पर सम्हाले, दूसरे हाथ से उसने जेब से एक काग़ज़ सा निकाला—कई बार युवक और काग़ज़ को पारी पारी से देखता रहा। और फिर आश्चर्य के स्थान पर, उसके चेहरे पर हर्ष उभर आया। उसने गर्दन छोड़ दी, रुमाल से हाथ पोंछ कर पासवाले सिपाही से कहा, "देखो।" सिपाही, जो बराबर अफ़सर के साथ युवक को देख रहा था, तपाक से बोला, "वही है हुज़ूर!"

"ओह!" क्रुद्ध स्वर में अफ़सर ने कहा, "इस बदमाश के पीछे हम हफ़्तों से परेशान थे।"

"हुज़ूर! आज भी सुबह से तीन दुकानदार रपट लिखा गए हैं।" सिपाही कुछ डरकर बोला।

"अरे, दो तीन क्या? यहाँ के सारे दुकानदारों को हैरत में डाल रक्खा था इस चोर ने।" अफ़सर के स्वर में खिसियाहट सी थी, "और अब यह मिला भी तो इस तरह! ख़ैर......"

मैं आगे नहीं सुन सकी। लगा जैसे अभी चक्कर खा कर नीचे गिर जाऊँगी।

१७-बी० मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—कु० लक्ष्मी मेहरोत्रा

अपटन सिनक्लेअर ने १४ वर्ष की आयु से लिखना प्रारम्भ किया था। इस समय उसकी आयु ७७ वर्ष की है और इस आयु में में भी वह लिख वह रहा है। एक गणनाशास्त्री के हिसाब के अनुसार उसकी ७३२ पुस्तकों का ३० भिन्न देशों में ४७ भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

—'टाइम' से

कला-चर्चा

कला-रस की प्रेरणा

चित्रकला मेरा अत्यन्त प्रिय विषय है। इसलिए तो शिल्पी मात्र से ही मैं प्यार करता हूँ। उनके चित्र देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है एवं अपने को धन्य समझता हूँ। चित्र-समालोचक तो मैं हूँ नहीं, मन के आनन्द को व्यक्त करने के लिए चित्र बनाता हूँ। सुख और दुःख के सागर को मंथन कर जो आनन्दरूप अमृत उठता है उसका अर्घ्यदान ही वस्तुतः शिल्पी या कलाकार का काम है। नवीन शिल्पी या कलाकारों को कुछ फ़ायदा हो सके यह सोच कर अपनी अभिज्ञता से यहाँ कुछ कह रहा हूँ।

शिल्पमात्र की सृष्टि 'खेल' और मन के किसी ख़याल से शुरू होती है। परन्तु यह देखने की चीज़ है कि असंयत, अहंकारी, स्वार्थान्ध, संकीर्ण मन और समदर्शी सदानन्द रस और छन्द से भरपूर परमार्जित रुचि के मन में बहुत अन्तर होता है। आधुनिक शिल्पी प्रकृति से जो नवीन प्रेरणा ले रहे हैं वह बहुत ही प्राणवान् और प्रशंसनीय कही जाएगी। लेकिन आयु की वृद्धि के साथ-साथ दुनिया दैनन्दिन घात-प्रतिघात तथा दुनियादारी में जब मानव मन क्लिष्ट और कठोर एवं सर्व संदिग्ध हो उठता है, उस समय पुनः उस मन को नवीन और सरल बनाना होगा। भीत और त्रस्त मन को निर्भीक करना होगा। कठिन और कठोर मन को सरस बना कर आनन्द के छन्द में छन्दोमय कर लेना पड़ेगा। यही तो हमारी साधना का पथ है। द्रष्टा, हमदर्दी रसिक शिल्पी के प्रति आन्तरिक श्रद्धा और प्रेमभाव रखना होगा। गुणी और सिद्धहस्त शिल्पी की सृजन कला को सामने रख कर अपनी कला में नैपुण्य दिखाना होगा। केवल उनके बाह्य अनुकरण से नहीं परन्तु अपनी चिन्ता और बुद्धि से विश्लेषण कर, उनकी कृतियों के प्रति श्रद्धा और प्रेमभाव से बरत कर उनके भाव में भावुक, उनके गुण में गुणी और उनकी महत्ता में महान् बनना पड़ेगा।

शिल्प-सृष्टि का मूलमन्त्र और 'टेकनीक' (शैली नैपुण्य) सीखने का रहस्य प्रकृति के रूप और गुण में आन्तरिक श्रद्धा, प्रेम, निष्काम आकर्षण और एकात्म बोध में है। यह होने पर सृजन और टेकनीक शिक्षा का काम अति सरल हो जाएगा। ठीक कब चित्र बन गया पता भी न चलेगा। दूसरी तरफ़ यांत्रिक हो, कला के उस्ताद बनने के लोभ में अधिक मेहनत करने पर भी प्रयास व्यर्थ होगा। अन्त में निराश होना पड़ेगा। शिल्पी समाज में आदर तो मिलेगा ही नहीं, उपरान्त रस की अनुभूति के अभाव में अन्तर्हृदय कठिन हो जावेगा और अन्त में आनन्द से भी वंचित होना पड़ेगा। दोनों तरफ से ही हाथ धोना पड़ेगा। धोखे से लोगों की आँखों में धूल दे झूठा यश लाभ करना कितनी बड़ी दीनता है सोचना चाहिए!

आज़ादी और मौलिकता को अर्जन करने के लिए अहं केन्द्रित चंचल मन के अनिच्छाकृत दासत्व से हमें क्रमशः मुक्त होना पड़ेगा। 'टेकनीक' का मास्टर बनना पड़ेगा। इसके उपरान्त आवेग, प्रेम और भाव को बहाना ही तो हमारी सृष्टि का मूल आधार है। इसके अलावा भावावेग को परिचालित करने के लिए ममत्व शून्य उपयोगी शक्ति एवं टेकनीक की सहायता से सृजन करने की निरहंकार कला स्वायत्त कर लेनी होगी। शिल्पी या कलाकार ही तो आवेग एवं 'टेकनीक' को चलाता है; परन्तु जब टेकनीक एवं आवेग शिल्पी को चलाने लगे तो समझिए गड़बड़ है। यहाँ एक और बात स्मरण रखनी चाहिए। कुछ आधुनिक लोग केवल परीक्षण 'टेकनीक' एवं नाना प्रकार के कौशल के प्रदर्शन में ही कला की सार्थकता समझते हैं। अब शिल्पी या कलाकार रस की प्रेरणा से वेगवान् है। मन के भाव प्रकाश करने के लिए विह्वल हो उठा हो; जब आगे की तरह रास्ता टटोलता हो, तब इस तरह की परीक्षा सार्थक हो सकती है। परन्तु जहाँ न प्रेरणा है न

कोई वक्तव्य वहाँ केवल मात्र परीक्षा के लिए। परीक्षा—करुण और कष्टदायक हो उठती है। 'टेकनीक' की आवश्यकता तो है ही। वस्तुतः देह और प्राण का जो सम्बन्ध है—टेकनीक एवं रस की प्रेरणा का भी वही सम्बन्ध है। प्राण के विना देह का मूल्य नहीं; देह के विना प्राण का प्रकाश संभव नहीं। (यहाँ प्रेरणा का अर्थ है—किसी विशेष वस्तु या गुण के प्रति निष्काम आकर्षण। इस आकर्षण से शिल्पी के मन में जब एक अभूतपूर्व वेदना उठती है एवं वह वेदना जब किसी एक रूप का अवलम्बन कर किसी विशेष रस के माध्यम से आनन्द में उद्वेलित हो उठती है तब शिल्प का सृजन होता है।) परन्तु यहाँ हमें सतर्क रहना चाहिए। केवल हाथ की चतुराई एवं यांत्रिक विन्यास से प्रतारणा कर भाव के राज्य में चोरी कर शिल्प सृष्टि का चकमा दिखाना सही कला से अनेक दूर हो जाना है। साधारण मन में यह सब कौतूहल जगा सकते हैं; या चकमा लग सकता है परन्तु कला के रसिक के पास इसकी कोई क़दर नहीं।

चीन वासियों का कहना है कि 'टेकनिक' एवं प्रेरणा ही सब कुछ है। कोई अगर कहे कि टेकनिक की कोई आवश्यकता नहीं; वह कुछ नहीं है; या कहे कि रस में 'इन्स्परेशन' की आवश्यकता नहीं; वह कुछ नहीं है—तो ऐसा कहना गलत होगा।

प्रेरणा और आंगिक विन्यास सार्थक सृष्टि में अविच्छिन्न अंग हैं; चित्र-कला के रस के अक्षय निर्झर हैं।

बोलपुर, बीरभूम
प. बंगाल

नन्दलाल बसु
—अनु० : भगवानदास पुरोहित

(२)

कला-समाचार

हैदराबाद कला-परिषद् के तत्वावधान में ब्रिटिश फ़िल्म इंस्टीयूट की कुमारी मेरी सेटन ने एक भाषण किया। भाषण का आयोजन बाग़े आम स्थित अजन्ता पैविलियन में किया गया था; और इस आयोजन की अध्यक्षता में हैदराबाद के शिक्षा सचिव श्री पी. सेतु माधवराव कर रहे थे।

कुमारी सेटन भारत के शिक्षा मन्त्रालय के निमन्त्रण पर देश के भ्रमणार्थ पधारी हैं; उन्होंने भाषण में बताया कि उन्होंने देश के मुख्य-मुख्य नगरों को देखा है, और उन्होंने 'मैजिक कैनवास' नामक बहुत ही दिलचस्प फ़िल्म बड़े स्तर पर एकत्रित जनता में प्रदर्शित की। इस भाषण आयोजन में हैदराबाद-कला परिषद् के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त के अतिरिक्त संभ्रान्त व्यक्तियों की अच्छी उपस्थिति थी; कला-परिषद् के मन्त्री श्री विश्वनाथ मुखर्जी ने कुमारी सेटन का परिचय उपस्थित लोगों को दिया।

श्री पी. सेतु माधवराव ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि फ़िल्मों का सामाजिक महत्व और दायित्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। उन्होंने अपने भाषण के क्रम में ज़ोरदार शब्दों में यह भी माँग की कि अजन्ता एलौरा के भित्ति चित्रों का पुनरुद्धार बहुविध होना चाहिए; आज जब कि २५०० वीं बुद्ध जयन्ती के आयोजन हो रहे हैं।

× × ×

हैदराबाद-कला-परिषद् के तत्वावधान में अभी हाल ही अन्तर्राष्ट्रीय बाल-कला प्रदर्शिनी का एक आयोजन औद्योगिक प्रदर्शिनी के मैदान में किया गया था; वस्तुतः यह प्रदर्शिनी शंकर्स वीकली द्वारा इससे पूर्व नई दिल्ली में भी आयोजित हो चुकी थी, हैदराबाद में इस प्रदर्शिनी का अनावरण राज्य के जन-कार्य मन्त्री डा० जी. एस. मेलकोटे ने किया। लगभग २६ देशों के बच्चों द्वारा बनाए गए ६०० से ऊपर चित्रों को लोगों ने बड़ी रुचि के साथ देखा। डा० मेलकोटे ने उद्घाटन भाषण के अवसर पर भाषण करते हुए बताया कि बाल बुद्धि में सृजनात्मक प्रतिभा अन्तर्हित होती है, उन्होंने यह भी कहा कि विश्व बन्धुत्व की दृष्टि से बालकों की प्रतिभा का व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन और उसे प्रोत्साहन बड़ा उपादेय सिद्ध हो सकता है।

हैदराबाद कला परिषद् के मन्त्री श्री विश्वनाथ मुखर्जी ने इस अवसर पर प्रदर्शिनी के सम्बन्ध में परिचयात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया।

हैदराबाद कला परिषद् के आमन्त्रण पर लब्धप्रतिष्ठ चित्रकार श्री एन. सी भट्टाचार्य हैदराबाद की १५ वीं अखिल-भारतीय कला प्रदर्शिनी में पधारे। परिषद् के तत्वाविधान में सोवियत रूस और अन्य यूरोपीय देशों के कला सम्बन्धी अनुभवों और विवरणों को अजन्ता पैविलियन में प्रस्तुत किए गए। जिन्हें कि क्रमशः 'अजन्ता' के आगामी अंकों में प्रकाशित किया जाएगा।

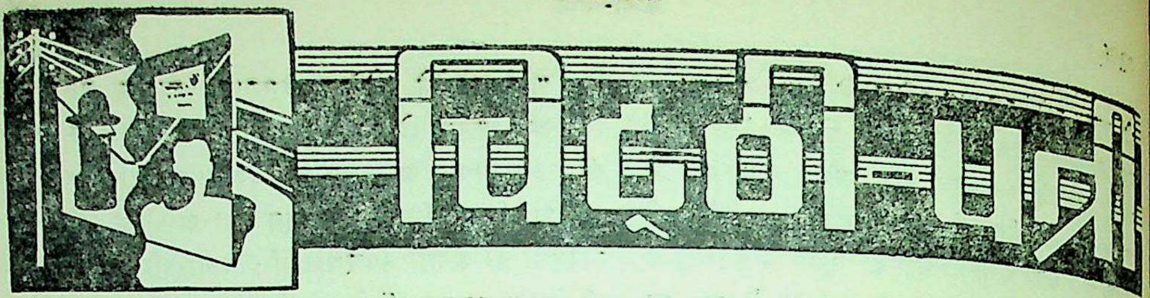

चिट्ठी-पत्री

अजन्ता के सम्बन्ध में

(१)

अकस्मात् वाचनालय में जाने पर दृष्टि 'अजन्ता' मासिक पर पड़ी। केवल पाँच अंक देखने को मिले। आसमान से गिरे जैसा प्रतीत हुआ। इतनी सुन्दर हिन्दी पत्रिका को देख कर मुझे अपने अब तक के विचारों में परिवर्तन करना पड़ा, मैं तो यह समझे हुई थी कि मराठी और बंगाली में ही इस प्रकार का साहित्य है हिन्दी में नहीं। दक्षिण प्रदेश हैदराबाद जैसे नगर में इस प्रकार की सर्वांग सुन्दर पत्रिका निकल रही है! आश्चर्य हुआ। मेरा यद्यपि हिन्दी साहित्य में कोई स्थान नहीं है, किन्तु फिर भी मैं 'अजन्ता' के संपादन पर मुग्ध हूँ। और मैं मुक्तकण्ठ से इसके लेखों के चुनाव और क्रम तथा स्तम्भों की प्रशंसा करती हूँ। चिट्ठी पत्री, नीर-क्षीर और सम्पादकीय इसमें विशेष स्थान रखते हैं। कविताओं के लिए संम्भवतः आठ पृष्ठ छोड़ दिए गए हैं। यह कवियों के लिए अवसर प्रदान किया गया है। लेखक तथा कवि सदा बदलते रहते हैं और नए-नए होते हैं, यह 'अजन्ता' की एक अन्य विशेषता है।

सम्पादकीय इतना सुलझा हुआ होता है कि एक बार पढ़ने पर मन को तृप्ति नहीं होती। पुनः पुनः पढ़ने के लिए मन करता है। श्यामा श्रीवास्तव और वंशीधर विद्यालंकार की कविताएं अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। अप्रैल के अंक में पंत जी की कविता के सामने जो कविता विद्यालंकार जी की दी गई है वह वस्तुतः अद्वितीय है। जनवरी ५६ में 'चिड़िया खाना' फ़रवरी में लोक-गीत, पवाड़े और लावणियाँ, मार्च ५६ में अनुवाद 'विचित्र प्रेम' अत्यन्त ही सफल कविताएँ, लेख और कहानियाँ हैं। श्री भटनागर जी की समीक्षा निरपेक्ष और निर्लिप्त है, प्रतीत होता है कि वे हृदय की बात को शब्दों में उँडेल देते हैं।

मैं आपके पत्र की सदा समृद्धि चाहती हूँ।

गिरगाँव बैंक,
बम्बई

—मंजुला

(२)

'अजन्ता' का प्रत्येक अंक मेरे नियमित अध्ययन के अंग बन चुका है। मुझे इसमें जीवन के प्रति, साहित्य के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण बनाने की क्षमता और प्रेरणा मिलती है। विशुद्ध हिन्दी-साहित्य की पोषिका इस पत्रिका की सबसे बड़ी विशेषता इसकी उदार और संश्लिष्ट-वृत्ति है। किसी भी भाषा के रत्नों से यह हिन्दी को सजाने में कुशल है।

मार्च के अंक में श्यामा श्रीवास्तव और उमाकान्त राय के गीतों के टेकनीक, भाव प्रवणता और जीवन का सूक्ष्म दर्शन प्रशस्त कहा जा सकता है। 'छोटी सी बूँद' शीर्षक गीत में जो जीवन दर्शन है, जो आध्यात्मिक संकेत है, उसे पवित्र और प्रेरक मानती हूँ।

'हमारी चिन्तना शक्ति' शीर्षक लेख अनुभूति और मौलिकता के आधार पर लिखा गया है। इसकी भाषा ओजपूर्ण तथा भाव दार्शनिक है। "सात्विक साहित्य की आवश्यकता" पर बनारसीदास चतुर्वेदी जी का जो पत्र छपा है, उसमें जीवन और साहित्य के निर्माण सूत्र हैं, यह सुझाव नितान्त श्रेयस्कर और समीचीन है।

'अजन्ता' के प्रत्येक अंक के सम्पादकीय दृष्टिकोण में नीर-क्षीर विवेक रहता है। इस अंक के सम्पादकीय अग्रलेख में आग्रह नहीं बल्कि स्वस्थ, संतुलित और रचनात्मक दृष्टि एवं बुद्धि का वैभव है। ऐसे सर्वांग, सुन्दर मासिक साहित्य के प्रकाशन की सफलता पर मेरी बधाई स्वीकार करें।

२०४, बहादुर गंज
प्रयाग

—कृष्णा सक्सेना

(३)

'अजन्ता' प्राप्त हुई। वस्तु का गुण जब उसकी आस्था के साथ ही निहित है तो फिर यह कहना कि गंगा की किस लहर में अधिक पावनता है और किसमें नहीं, कठिन ही है। 'अजन्ता' की साहित्य-गङ्गा में

नहीं कर पुण्य का भागी तो बन रहा हूँ किन्तु यह लिखने में असमर्थ हूँ कि अमुक लहर ने मुझे पाप-विमोचित किया। गंगा तो भागीरथी है, उसका स्वरूप विकृत नहीं हो सकता। 'अजन्ता' साहित्य कला में अपने मूल की द्योतक है।

अप्रैल के अंक में 'नीर-क्षीर' के अन्तर्गत, पुस्तक समालोचना विशेष आकर्षण रखती है। कमल जोशी की पुस्तक 'पत्थर की आँख' का मूल्यांकन जिस रूप में किया गया वह श्लाघ्य है। कहानी की कला का मूल्य केवल इतने में ही नहीं किया जा सकता कि वह सुन्दर रूप से या विशेष माध्यम से प्रकाशित होकर आई है, वस्तुतः उसमें स्थायित्व एवं अनुभूति कितनी है, यह विशेष रूप से देखने की चीज़ है। जोशी जी की कहानी 'सभापति' जो 'अजन्ता' में प्रकाशित हुई थी उसमें साहित्य-सेवा के चक्कर में दिवाकर का नौकरी का छोड़ देना एक कच्ची अनुभूति का प्रदर्शन है। फिर भी इतना अवश्य कहूँगा कि कमल जोशी के लिखने का ढंग आकर्षक है, भले ही उनके पास गहन चिन्तन और पुष्ट भावों का अभाव हो। मैंने कुछ एक अन्य कहानियाँ भी कमल जोशी जी की पढ़ी हैं जिसमें नगर की रंगीन दुनिया में विचरण मात्र ही किया गया है वहाँ से उसके तल पर पैठने का प्रयास नहीं के बराबर है।

'वर्षान्त के बादल' की समीक्षा पढ़ कर पुस्तक को खरीद लेने की इच्छा हो गई। सचमुच 'अंचल' जी की लेखनी अभी भादों के बादलों सी रससिक्त है।

'भारत' (१९५५ वार्षिक संदर्भ ग्रन्थ) के देखने और पढ़ने का अवसर मुझे भी मिला है। मैं तो उससे बिलकुल असंतुष्ट हुआ। श्रीयुत वंशीधर जी ने जो इतिहास के अध्यायों के विषय में कहा है वह सोलह आने सही है। 'हिन्दु-मुस्लिम सम्बन्ध' की चर्चा बिलकुल अनावश्यक प्रतीत होती है, वस्तुतः ये विषय अब कुछ महत्व रखता ही नहीं। पुस्तक में सबसे अधिक आपत्ति जनक बात हिन्दुस्तानी जैसी अस्तित्व हीन भाषा को महत्व देने की है। समझ में नहीं आता भारत सरकार इस मरे चूहे को आज भी पालने का क्यों मोह रखती है! मैं तो भारत सरकार के प्रसार और सूचना विभाग से प्रकाशित पुस्तकों का मूल्य ही देख कर दंग रह जाता हूँ। १/१० प्रतिशत जनता में भी इतने अधिक मूल्यों की पुस्तकें खरीदने की सामर्थ्य नहीं है।

श्री जगदीश चन्द्र के पत्र में बहुत से विचारों से मैं सहमत हूँ किन्तु उनका यह कहना कि "...हिन्दी में ईमानदार कवि एक भी नहीं' प्रत्यक्ष ही उनकी अपनी ईमानदारी का विस्फोट है। मैं जानना चाहता हूँ कि उन्होंने इधर के कितने कविता संग्रहों को आद्योपांत पढ़ा है। क्या उन्होंने जानकी वल्लभ शास्त्री, शिवमंगल सिंह 'सुमन', अंचल, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र के नवीन काव्य-संग्रहों का अवलोकन मात्र भी किया है? 'ईमानदार कवि एक भी नहीं..." क्या जगदीश जी ने पन्त की नई पुस्तक 'अतिमा' देखी है, ठा० गोपालशरण सिंह के 'विश्व-गीत' को पढ़ा है, डा० रामकुमार वर्मा के महाकाव्य 'एकलव्य' का एकांश भी सुना है? यदि इतना सब जानकर भी वे यह लिखते हैं कि 'हिन्दी में ईमानदार कवि एक भी नहीं' तो मैं यह उनकी धृष्टता ही कहूँगा और यदि उन्होंने बिना कुछ जाने समझे ही ऐसा लिखा है तो यह उनकी अनधिकार चेष्टा है।

अप्रैल के अङ्क में प्रकाशित अन्य सामग्री के विषय में भी कुछ कहने की इच्छा है। श्रीहरि की बीस पंक्तियाँ अच्छी लगीं। जितेन्द्रकुमार की कविता 'देखो, रूप तुम्हारा ही है मेरे श्वासों के दर्पण में' बहुत बढ़िया है: सत्येन्द्र श्रीवास्तव की कविता 'प्रतिष्ठापन' के भाव बहुत ही उच्च कोटि के दिखाई दिए। कविता में सचमुच अन्तर की वाणी बोल रही है। शान्ति मेहरोत्रा की कविता उन्हीं की भाँति स्वस्थ दिखाई देती है। पन्त जी की कविता में कोई नवीनता नहीं है। वंशीधर जी की कृति 'प्रेम का अर्थ' को कविता कहने में मैं असमर्थ हूँ, वैसे 'छोटी सी बूँद' के समान ही यह भी एक पुष्ट 'गद्य-काव्य' है। गद्य काव्य की शैली साहित्य में एक अलग वस्तु बन चुकी है, इसलिए ऐसी रचनाओं को भी यदि हम उस श्रेणी में न रखेंगे तो फिर और किसे हम गद्य-काव्य कहेंगे।

भगवतशरण उपाध्याय का लेख 'कालिदास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' श्रेष्ठतम है। 'अजन्ता के चित्र' और 'हैदराबाद में पुरातत्त्व-शास्त्र' नामक लेख खोजपूर्ण और शोधयुक्त दृष्टिगत होते हैं। 'गीत की खोज' पढ़ने में मजा आ गया। बिन्दु अग्रवाल का समीक्षात्मक लेख 'निर्मला' सुन्दर है। 'शैत्रुंजी के किनारे' वाली कहानी

लोक-साहित्य में अवश्य ही अपना महत्त्व रखती है। 'उर्दू साहित्य में उपन्यास की परम्परा' उर्दू के साहित्य से उपयोगी जानकारी प्रदान करता है। 'गिरगिट' कहानी की भूमिका कोई भी नवीनता नहीं रखती। पुरानी समस्याएँ पुराने ही ढंग से प्रस्तुत करना 'मस्त' जी जैसे कहानीकार से अपेक्षित नहीं है। 'कला-चर्चा' और 'सामयिक' के अन्तर्गत दोनों ही लेख पठनीय हैं। 'अमरीकी नीग्रो कविता' पढ़ने से उनके जीवन और अमरीकी समाज का यथार्थ वातावरण प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ा। सचमुच कविता हृदय को छूती है। ऐसी चीजें बराबर 'अजन्ता' में देते रहें। सम्पादकीय में 'अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं पर टैक्स' के सम्बन्ध में जो टिप्पणी लिखी गई है वह महत्वपूर्ण है। सरकार को सचमुच विदेशी पत्रों का प्रसार भारत में कम करने के लिए कुछ अंकुश रखना चाहिए। हमारे अपने देश के लेखक, पत्र और पत्रकार तो जीवित रहने के लिए संघर्ष करते हुए भी स्वस्थ वातावरण नहीं पा रहे हैं और विदेश के पत्र लाखों की संख्या में यहाँ बिक कर सभी प्रकार से विदेशी प्रभुत्व जमा रहे हैं। प्रत्येक वर्ष लाखों रुपए विदेश के पत्र भारतीय पाठकों से बटोर ले जाते हैं। सचमुच हमें इस ओर जागरूक होना चाहिए। ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए मैं 'अजन्ता' के आदरणीय सम्पादक महोदय को शतशः बधाई देना चाहता हूँ।

६५ चक,
इलाहाबाद

—कैलाश कल्पित

(४)

'अजन्ता' हिन्दी की ख्यातिलब्ध तथा सर्व सम्मानित पत्रिका है। इसका हर अङ्क आरम्भ से अब तक एक के बाद एक विकास के सोपान बनता चला आ रहा है। विकास के इस विस्तीर्ण पथ पर चलते हुए 'अजन्ता' ने कितनी नवोदित प्रतिभाओं की लेखनी से हिन्दी-संसार का साक्षात्कार कराया है, यह किसी से छिपा नहीं है। इसने जहाँ हिन्दी को एक ओर सामग्री चयन एवं सम्पादित मार्दव दिया है, वहाँ एक ठोस तथा निष्पक्ष विचार-धारा भी दी है।

'अजन्ता' के अप्रैल अङ्क में सात कविताएँ, नौ लेख, दो कथाएं, एक हास्य-व्यंगपूर्ण नाटक तथा कला-चर्चा, चिट्ठी-पत्री, नीरक्षीर, सामयिक और सम्पादकीय आदि स्तम्भ हैं।

श्री पन्त जी की 'मनोमय' कविता के अन्तराल में प्रौढ़ दार्शनिकता है, जो उनके सर्वथा अनुरूप है। मनोभावों का सुन्दर तथा सम्यक् चित्रण हुआ है—'तुम हँसते हँसते घृणा बन गए मन में।' इस कविता में उनकी मंगलमयी कामनाएँ स्तुत्य हैं! श्री वंशीधर विद्यालंकार की 'प्रेम का अर्थ' में सूक्ष्म तथा मौलिक विचारणा है। श्रीहरि की 'बीस पंक्तियाँ' तथा श्री रवीन्द्र भ्रमर की 'गीतों की पुकार' अच्छी हैं शान्ति मेहरोत्रा का गीत साधारण है। सत्येन्द्र श्रीवास्तव की 'प्रतिष्ठापन' में अठारहवीं पंक्ति में गतिरोध-सा है। Free verse में भी लय तथा गति का होना तो आवश्यक है। यदि श्री जितेन्द्रकुमार की रचनाओं में विषय का वैविध्य आ जाए तो अच्छा है। वैसे उनका गीत सुन्दर है।

श्री भगवतशरण उपाध्याय का 'कालिदास की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि' तथा श्री रूपनारायण शास्त्री का 'उपनिषद् में भाषा विज्ञान के बीज' लेख विशेष महत्व के हैं। डा० श्री नरसिमाचार्य का 'हैदराबाद में पुरातत्व शास्त्र' लेख विचारोत्तेजक है। अन्य लेख भी अच्छे हैं।......अन्तर्प्रान्तीय साहित्य की जितनी जानकारी हमें 'अजन्ता' देती है, उतनी अन्य कोई पत्रिका नहीं। फिर भी आवश्यकता है इस ओर और ठोस कदम उठाने की।

काठियावाड़ के प्रसिद्ध लोकगीत पर आधारित 'शेत्रुंजी के किनारे' में आलणदे और देवरा के प्रेम तथा आलणदे के उदारमना पति ढोलरा के त्याग का जिक्र है। ऐसे उदाहरण कम ही हैं कि किसी पति ने अपनी विवाहिता पत्नी को उसके विचार-स्वातन्त्र्य की कद्र करते हुए उसके सच्चे प्रेमी को सौंप दिया हो। कथा अत्यन्त प्रेरणा-दायक है। श्री भारतभूषण अग्रवाल का 'गीत का खोज' एक रोचक नाटक है। श्री देवीदयाल चतुर्वेदी मस्त की 'गिरगिट' कहानी साधारणतया अच्छी है। पात्रों का चरित्र-चित्रण उभर आया है—विशेषतया गोपेश का भावुक तथा अव्यावहारिक व्यक्ति के रूप में। आरम्भ में गोपेश और नीलम का मनोविश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म तथा वास्तविक है। किन्तु ग्रामीण पात्र साधारण जीवन से दूर चले गए हैं और अपरिचित-से लगते हैं।

'अजन्ता' के 'नीर-क्षीर' तथा 'सम्पादकीय' स्तम्भ

की अपनी विशेषता है। श्री कमल जोशी द्वारा लिखित 'पत्थर की आँख' की निष्पक्ष आलोचना के लिए श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर बधाई के पात्र हैं।

पृष्ठ अट्ठावन पर कम्पोज़ की ग़लती से एक पैरा दुबारा छप गया है। अन्यत्र भी कहीं-कहीं प्रूफ़ की भूलें रह गई हैं। भविष्य में इन पर ध्यान देना चाहिए।

सांस्कृतिक चेतना का विकास करनेवाली इस पत्रिका के बहिरङ्ग में सादगी है किन्तु इसके मनोहारी अन्तरङ्ग में सौन्दर्य तथा लेख-रुचि का परिष्कार है। इसकी सामग्री किसी वर्ग-विशेष से सम्बन्धित नहीं है। सम्पादन की योग्यता के ही कारण 'अजन्ता' का हिन्दी जगत् में अपना एक विशिष्ट स्थान है।

ग्राम—सिलपुरी,
पो० रायसेन (भोपाल) —श्रीकृष्ण शर्मा

[हमें दुःख है कि प्रूफ़ देखने की असावधानी से पृष्ठ अट्ठावन पर एक पैरा दुबारा छप गया है। इस ओर एक अन्य महोदय ने भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। हमें प्रसन्नता है कि इस प्रकार की ग़लतियाँ विशिष्ट पाठकों की दृष्टि से नहीं बच पातीं। हम स्वयं चाहते हैं कि प्रूफ़ और इस प्रकार की अन्य अशुद्धियाँ न हों किन्तु विवशता है—सं.]

(५)

...श्री वंशीधर जी की रचना पढ़ कर 'प्रेम का अर्थ' समझने में सुविधा हुई। कथ्य गम्भीर अस्तु मननीय है।

'पत्थर की आँख' की समीक्षा भी पढ़ी। बधाई! यह सच है कि इस पुस्तक का लेखक हमारे लिए अपरिचित नहीं है, लेकिन मैं सहमत हूँ आपसे कि संकलन की एकाधिक "कहानियों में हमें अपनी जीवन दृष्टि कहीं नहीं मिलती।" "उनकी...वर्ण्य वस्तु विवादास्पद और विचारणीय है।" इधर 'कल्पना', 'ज्ञानोदय', और 'निकष—२' में छपे हुए कुछ पत्रों के आधार पर आपका मत और भी ज़ोरदार मालूम पड़ता है।

[illegible] ग्रन्थालय, बनारस
—रवीन्द्र भ्रमर

(६)

'अजन्ता' का अप्रैल अङ्क मिला। श्री सुमित्रानन्दन पन्त की 'मनोमय' और श्री वंशीधर विद्यालंकार की 'प्रेम का अर्थ' कविताएँ विशेष प्रिय रहीं। अन्य सामग्री का चयन भी सुरुचिप्रियता और उपयोगिता के आधार पर किया जाता है।

इधर हिन्दी के कतिपय प्रमुख मासिकों में एक स्तम्भ इस आशय का भी दृष्टिगोचर होने लगा है, जिसके अन्तर्गत हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक मासिक पत्रिकाओं की सामग्री आदि की समीक्षा—गुणदोष-विवेचनाएँ रहती हैं। मैं इस पत्र द्वारा निवेदन करना चाहूँगा कि इस प्रकार की जो पत्रिका-समीक्षा देखने में आई हैं, उनमें सन्तुलन और निरपेक्षता का अभाव अत्यधिक है; इस प्रकार की समीक्षा-पद्धति का न तो कोई आधार प्रतीत होता है न उपादेयता। सृजनात्मक सूत्रों की दृष्टि से श्लाघ्य यही है कि ऐसी समीक्षा पद्धति को आरम्भ करने वाली पत्रिकाएँ प्रत्येक मास में प्रतिमान स्थापित करने वाले स्पृहणीय साहित्य को उद्धृत कर दिया करें। अन्यथा इस प्रकार की समीक्षा से विशेष उपकार होने की सम्भावना नहीं है।

नई सड़क दिल्ली —**ओंकारनाथ शर्मा**

(७)

'अजन्ता' कला और साहित्य से परिपूर्ण पत्रिका है। इस पत्रिका से उदीयमान कवि, लेखक बहुत ही लाभान्वित हो रहे हैं। हमें इसके सम्पादकीय स्तम्भ से उलझी एवं सुलझी हुई सामग्री मिल रही है। अप्रैल के अंक में 'प्रेम का अर्थ' कविता ने इधर हमें बहुत ही प्रभावित किया।

जहीराबाद **प्रकाशकुमार**

(८)

'पत्थर की आँख' की आपकी आलोचना आद्योपान्त पढ़ी। अच्छी लगी। आपने लिखा है कि 'विवाह-एक प्रयोग' और 'डार्लिंग' में कुछ साम्यता है। यह तो नई बात है। चूँकि मैंने अंग्रेज़ी का उतना अध्ययन नहीं किया है, अतः कमल जोशी की रचनाओं को ऐसी तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ना संभव नहीं हुआ। यह सब काम तो आप जैसे लेखकों के ऊपर निर्भर है। फिर भी इधर उनकी कहानी 'पत्थर की आँख' को लेकर जो चर्चा चल पड़ी है, उसको देखते हुए मुझे तो यही कहना है कि एक लेखक के पीछे इतना हो हल्ला-मचाना ठीक नहीं है। यह तो एक तरह से उन्हें टार्चर करने जैसा है।

१३, राजबादर स्ट्रीट,
मद्रास—१७ — **डी. मंजुलता**

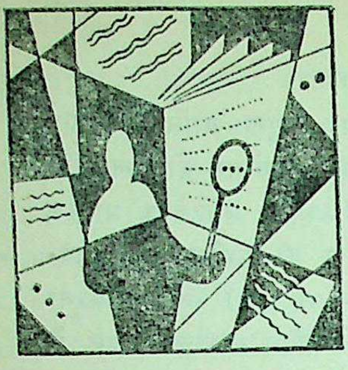

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

साहित्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश

लेखक : राजेन्द्र द्विवेदी
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : आठ रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों को एकत्रित करने और उनकी संक्षेप में व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार के प्रामाणिक कोश की जिसमें कि साहित्य सम्बन्धी प्रचलित पारिभाषिक शब्दों की प्रामाणिक व्याख्या प्राप्त हो, साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं अपितु अन्य साधारण व्यक्तियों के लिए भी परम आवश्यकता है। इस पुस्तक में साहित्य-शास्त्र के अनेक प्राचीन और नवीन पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है और उनके तात्पर्यों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। ये तात्पर्य कहीं तो अत्यन्त संक्षिप्त लिखे गए हैं और कहीं उनका अर्थ ऐसी भाषा में लिख दिया गया है जो कि अस्पष्ट है और कुछ ऐसी भाषा में लिखा गया है जो कि स्वयं पारिभाषिक शब्दों से पूर्ण है। जहाँ तात्पर्य को कुछ विस्तार से दिया गया है वहाँ उनमें एक कोशकार की न तो पटुता दृष्टिगोचर होती है और न प्रामाणिकता। 'कोश' में सबसे बड़ी वस्तु पद्धति होती है और प्रस्तुत कोश के लेखक की इस कोश को प्रस्तुत करने में कोई विशेष पद्धति नहीं है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक को लिखने में प्रचुर परिश्रम किया गया है और लेखक इस कार्य के उत्तरदायित्व को अनुभव करता है परन्तु फिर भी इस प्रकार के कोश को तैयार करने में एक तो जिन साधनों की आवश्यकता है वह उसके पास नहीं है और दूसरा विषय की विविधता के कारण उसके लिए प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का ऐसे शब्दों में लक्षण और विवेचन सम्भव नहीं है जो कि शास्त्रीय होते हुए सरल तथा सुबोध हो। फिर भी हम समझते हैं कि साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थियों और प्रेमियों का इससे उपकार होगा और यह कोश उस आधार को प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध हो सकेगा जिससे कि इस विषय के अन्य प्रामाणिक और विस्तृत कोश तैयार किए जा सकेंगे। लेखक ने निस्सन्देह एक महान् अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है और इसके लिए उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

कई शब्द ऐसे हैं जिनका तात्पर्य प्राचीन साहित्य के आचार्यों की दृष्टियों से और है और इस समय के आचार्यों की दृष्टि से इसमें कुछ परिवर्तन और विस्तार हो गया है। एक शब्द को उदाहरण के लिए लीजिए : चित्रकाव्य : इसका तात्पर्य लिखा गया है : "चमत्कार को प्रधानता देनेवाला काव्य। यह मम्मट का अधम काव्य है। शब्द के चमत्कार के पीछे पढ़ने वाला शब्द-चित्र और अर्थ के पीछे पढ़ने वाला अर्थ-चित्र का उदाहरण होगा।" यहाँ "पीछे पड़ने वाला" शब्द उपयुक्त नहीं प्रतीत होते वहाँ "चित्रकाव्य" शब्द के जो अर्थ श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में किए हैं उनकी ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है। श्री रामचन्द्र शुक्ल "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृ. २४ में लिखते हैं : "शार्ङ्गधर पद्धति में बहुत से शाबर मन्त्र और भाषा-चित्र-काव्य दिए गए हैं जिनमें बीच-बीच में देश भाषा के वाक्य आए हैं।" उदाहरण में उन्होंने एक ऐसा श्लोक दिया है जिसमें अपभ्रंश, संस्कृत और देशभाषा के वाक्य मिले हुए हैं। "बादल छाइ खेह पसरी निःश्राण शब्दः खरः"। स्पष्ट है कि श्री रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार के काव्य को जिनमें भाषा में अनेक भाषाओं के वाक्यों का मेल हो—'भा

चित्र-काव्य' कहते हैं। इस प्रकार की काव्य रचना के नमूने अमीर ख़ुसरो, रहीम खानखाना और अन्य कई कवियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। यह सत्य है कि संस्कृत के अलंकार शास्त्रियों ने चित्र-काव्य की न तो इस प्रकार की व्याख्या ही की है और न उसके भेदों में 'भाषा-चित्र-काव्य' को सम्मिलित किया है परन्तु श्रीयुत रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार के काव्य को भाषा-चित्र-काव्य के नाम से कहा है। हमें प्रस्तुत कोश में "रेख़ता" शब्द नहीं प्राप्त होता—यद्यपि कबीर ने "रेखते" लिखे हैं और रहीम खानखाना ने भी अपने "मदनाष्टक" के एक श्लोक में लिखा है: "गावता रेखता था।" इसी प्रकार कई अन्य शब्दों के विषय में कहा जा सकता है। संस्कृत के साहित्य के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या ऐसे शब्दों में नहीं की गई है जो कि सरल और सुबोध हो। उदाहरण के लिए आप 'संधि' (पृ. २६८) को लीजिए। इसका तात्पर्य लिखा गया है: "नाटक में कार्य अर्थ-प्रकृति की पाँच अवस्थाओं... के आधार पर किए गए कथानक के यथाक्रम पाँच विभाग"। यह तात्पर्य जिस भाषा में लिखा गया है वह पारिभाषिक शब्दों से पूर्ण है। तात्पर्य ऐसी भाषा में समझाया जाना चाहिए जो कि सरल और सुबोध हो। कहीं-कहीं तात्पर्य को इतना विस्तृत किया गया है कि वहाँ एक निबन्ध-सा बन गया है। वहाँ कोशकार अपनी सीमाओं में नहीं रह सका है और अपनी मर्यादा का पालन नहीं कर सका है। उदाहरण के लिए "छायावाद" शब्द का तात्पर्य और वाद को स्पष्ट करते हुए लेखक ने लिखा है: "नए नए अप्रस्तुतों की लम्बी सूची, लाक्षणिक प्रतीकों की मधुर योजना, पुराने साम्यमूलक अलंकारों के साथ विशेषण-विपर्यय आदि नए अलंकारों के विधान और मुक्तक छन्दों की कल्पना ने छायावाद के कलापक्ष में चार चाँद लगा दिए हैं," यहाँ एक कोश में "छायावाद" की वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी उसे "चार-चाँद" लगाने की नहीं। फिर भी लेखक ने साहित्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों को एकत्रित कर जो एक कोश के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है—हम इसके लिए लेखक को साधुवाद दिए बिना नहीं रह सकते। आशा है कि लेखक इस कोश के अगले संस्करणों में इसको और अधिक विकसित और समुन्नत करने का प्रयत्न करेगा।

जिन खोजा तिन पाइयाँ

लेखक : अयोध्या प्रसाद गोयलीय
प्रकाशक : मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गा कुण्ड रोड, बनारस
मूल्य : ढाई रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक में जहाँ लेखक ने अपने जीवन की कुछ घटनाओं को चुटकलों और लतीफ़ों के रूप में लिखा है वहाँ कुछ दूसरों से सुने प्रचलित लतीफ़ों और चुटकलों को भी संगृहीत किया है। जिन लोगों को हक़ीर और साधारण समझा जाता है उनमें भी कितना गौरव होता है—यह इस पुस्तक के लेखक के जीवन के अनुभूत कुछ लतीफ़ों से ज्ञात होता है। कुछ लतीफ़े जैसे गम्भीर हैं—भाषा वैसी गम्भीर नहीं रह सकी है फिर भी इन लतीफ़ों को पढ़ने में दिल लगता है और कई लतीफ़ों से जहाँ विस्मय होता है वहाँ चित्त को प्रसन्नता भी होती है। ये लतीफ़े सरल और बोलचाल की भाषा में लिखे गए हैं और प्रति दिन के जीवन की घटनाओं से लिए गए हैं। ये लतीफ़े एकमात्र मनोरंजक ही नहीं है—इनको पढ़ने से जीवन की छोटी छोटी घटनाओं को ध्यानपूर्वक देखने, पढ़ने और मनन करने की अभिरुचि भी जागृत होती है। इनमें से कई चुटकुले साधारण हैं—वे एक घटनामात्र प्रतीत होते हैं परन्तु कुछ चुटकुले और लतीफ़े ऐसे हैं जो छोटे होते हुए भी मानव जीवन की महानता को प्रदर्शित करते हैं।

कहानी कुसुम

सम्पादक : रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'
रजिस्ट्रार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
प्रकाशक : शिक्षा पुस्तक भवन, कचहरी रोड, इलाहाबाद
मूल्य : एक रुपया बारह आने

प्रस्तुत पुस्तक में १३ कहानियों का संग्रह किया गया है। इनमें से कुछ कहानियाँ तो ऐसी हैं जो हिन्दी की कहानियों के प्रायः समस्त संग्रहों में दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु इनमें कुछ नवीन कहानीकारों की कहानियों को भी संगृहीत किया गया है। भूमिका में कहानी के इतिहास, विशेषता और महत्व पर प्रकाश डाला गया है। कहानी के प्रारम्भ में कथाकार का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और अन्त में विद्यार्थियों के लिए नमूने के

तौर पर कुछ प्रश्न भी दिए गए हैं। यह कथा-संग्रह विद्यार्थियों के लिए किया गया है और इस दृष्टि से इसे प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। संग्रहों में इस बात को भूमिका में स्पष्ट किया जाना चाहिए कि कहानियों का संग्रह किस दृष्टिकोण से किया गया है। ये संग्रह जहाँ शैलियों की, कहानी की घटनाओं और भाषा की विविधता की दृष्टि से किए जाने चाहिएँ—वहाँ उन कहानियों की कुछ स्पष्ट अपनी विशेषता भी होनी चाहिए। कहानी-संग्रह एकमात्र विद्यार्थियों की दृष्टि से ही नहीं साहित्य की दृष्टि से भी किए जाने चाहिएँ।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ

लेखक : परशुराम चतुर्वेदी
प्रकाशक : साहित्य भवन लिमीटेड, इलाहाबाद
मूल्य : पौने चार रुपया।

साहित्य संस्कृति की आधार भूमि है, फिर भारतीय साहित्य तो सांस्कृतिक अभिप्रेरणाओं पर ही समूलतः आधारित है; भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सन्तों का योग बहुत अधिक और आधारगत रहा है; और प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री परशुराम चतुर्वेदी भारतीय सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इस पुस्तक को तेरह विषय-क्रमों में विभाजित किया गया है—"भारतीय साहित्य में भक्ति धारा,' 'भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ,' 'भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योग,' 'भारतीय सन्तों का सांस्कृतिक योग,' 'संतों का निर्वैर धर्म' 'सिक्ख धर्म का सांस्कृतिक विकास', 'संत काव्य में वीर रस', 'संत साहित्य और जैन हिन्दी कवि', 'हिन्दी संत साहित्य' आदि-आदि विषय-क्रम भारतीय सन्त साहित्य का सम्यक् दृष्टि-सूत्रों पर विशद विहंगावलोकन करते हैं; यों कहना चाहिए कि भारतीय संत-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि ही इस पुस्तक का अन्तर्हित-विषय है अतः 'संस्कृति' के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या लेखक द्वारा दिया जाना अपेक्षित था; एक बात और—लेखक की मान्यता के अनुसार भारतीय संत साहित्य कबीर और उसके काल से आरम्भ होता है। किन्तु कबीर और उनके पूर्व के काल में सन्त संस्कृति के कुछ तो बीज कहीं सन्निहित होंगे : संस्कृत साहित्य में भी संत-संस्कृति की कुछ तो पृष्ठभूमि रही होगी; इस सब का विहंगावलोकन हमें कहीं भी नहीं मिलता!

'भारतीय संस्कृति में भक्ति धारा', 'भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ', 'भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योग', 'भारतीय संतों का सांस्कृतिक योग' चार विषय-क्रम पुस्तक की पृष्ठभूमि को अधिक संश्लिष्ट बनाते हैं; 'सन्तों का निर्वैर धर्म.' विषय-क्रम सामान्य भारतीय संस्कृति और लोक जीवन में ओतप्रोत सन्त-प्रवृत्तियों का अति सूक्ष्म और विशद पर्यालोचन है—'विदेशों में राम कथा', 'विदेशों में वैष्णव धर्म', 'विदेशों में बौद्ध धर्म' प्रकरण भी भारतीय संस्कृति की सहज सत्ता और शाश्वतता का गहन आभास देते हैं।

पुस्तक सन्त-संस्कृति का शुद्ध साहित्य की पृष्ठभूमि पर सम्यक् और गम्भीर अनुशीलन तो है ही, क्योंकि सन्त-संस्कृति ही भारतीय लोक संस्कृति की मुख्य पृष्ठभूमि है—इस प्रकार पुस्तक अन्तर्हित भारतीय संस्कृति का व्यापक, सूक्ष्म और संतुलित मूल्याङ्कन भी बन गई है।

चोली-दामन

लेखक : कर्तारसिंह दुग्गल
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली
मूल्य : साढ़े तीन रुपए

'चोली-दामन' श्री दुग्गल का हिन्दी में प्रथम उपन्यास है, वह मूलतः पंजाबी के गणनीय साहित्यकारों में से हैं; किन्तु इधर बहुत शीघ्र ही उन्होंने हिन्दी कथा और नाट्य साहित्य में भी एक विशिष्ट स्थान बना लिया है : उनकी भाषा और शैली दोनों ही सहज-सरल, सप्राण और सौष्ठवशाली हैं।

उपन्यास का वर्ण्य इतिवृत्तात्मक है; घटनाएँ, पात्र, वातावरण और भूमि हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवों और वैमनस्य से आक्रान्त-संत्रस्त पंजाब है : पोठोहार पंजाब का एक ग्राम है; उसमें हिन्दू, सिख और मुसलमान सब सौहार्द्र के साथ रहते हैं; सोहणेशाह उस गाँव का वृद्ध ज़मींदार है, राजवर्णी उसकी प्रिय पुत्री है और मतभराई उसकी सहेली —वह मुसलमान है, उसका पिता अल्लादित्ता सोहणेशाह के प्रिय मित्रों में है पर 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' के साथ हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवों

की जो ज्वाला भड़की, वह इतनी भीषण और व्यापक थी कि उसमें पोठोहार ग्राम, सोहखोशाह, गाजकर्णी तथा अन्य हिन्दू-सिख-मुसलमान ही नहीं समस्त पंजाब के गाँव के गाँव, उनकी संस्कृति, सभ्यता, भावना, निवासी बुरी तरह आक्रान्त हुए......प्रस्तुत उपन्यास के कथातत्त्व में हिन्दू-मुसलमानों के उपद्रवों, और उपद्रवों के बाद की घोर परिस्थितियों का मर्मस्पर्शी चित्रण है, और उसमें यथातथ्यता तथा चित्रात्मकता तो इतनी है कि पात्र, दृश्य और वातावरण ज्वलन्त होकर हृदय को झकझोर डालते हैं; उपन्यास में उपदेशात्मकता अथवा कृत्रिमता कहीं भी परिलक्षित नहीं होती; उसमें सर्वत्र मार्मिक सहज भावाभिव्यञ्जना और सशक्त चित्रात्मकता है : इस प्रकार अपनी कोटि के कथा साहित्य में इसका स्थान अक्षुरण ही नहीं बन जाता; विशिष्ट और ऊँचा भी बन जाता है।

क़सम कुरान की (एकांकी नाटक)

लेखक : विनोद रस्तोगी
प्रकाशक : अशोक प्रकाशन लखनऊ
मूल्य : तीन रुपए

श्री विनोद रस्तोगी ने जिस तीव्र गति, प्रचुर मात्रा और साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों में हमें जो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं; उनमें उपन्यास, कहानी, कविता और नाटक—सब कुछ है। प्रस्तुत संग्रह में उनके ग्यारह एकांकी संगृहीत हैं—'जावली-विजय', 'क़सम कुरान की', 'काला दाग़', 'रत्ना की आग' एकांकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हैं और शेष आठ एकांकी 'लूपहोल', 'पाप का पुण्य', 'प्यार और पैसा', 'सोना और मिट्टी', 'रथ के पहिये', 'पैसा, लड़की और जन सेवा', 'मंगल, मानव और मशीन' सामाजिक अथवा वस्तु-जगत् की पृष्ठभूमि पर आधारित है। ऐतिहासिक एकांकियों में 'जावली विजय' अत्यधिक अतिरंजित प्रभाव छोड़ता है, पर एक अन्य ऐतिहासिक एकांकी 'काला दाग़' अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है; 'रत्ना की आग' में निरुपण-दृष्टि संश्लिष्ट है; अन्य एकांकियों में 'लूपहोल' बहुत प्रिय लगा और हम इसे पुस्तक के सब एकांकियों में श्रेष्ठ मानते हैं। 'पाप का पुण्य' में सुरेश की अन्तिम गति-विधि बहुत अधिक नाटकीय बना दी है और अंतिम एकांकी 'मंगल, मानव और मशीन' अधिक गहरा, सूक्ष्म और प्रखर होना चाहिए था।

समग्रतः पुस्तक का एकांकी-संग्रह समाज, इतिहास और देश-काल की विभिन्न प्रवृत्तियों और पृष्ठभूमियों को सहजता, सप्राणता से हमारे समक्ष रखता है। श्री विनोद रस्तोगी ने हिन्दी एकांकी साहित्य में इस पुस्तक के द्वारा सुरुचिकर अभिवृद्धि की है। हम उनका हृदय से अभिनन्दन करते हैं।

फूल, बच्चा और ज़िन्दगी

लेखक : देवेन्द्र इस्सर
प्रकाशक : जीवनसिंह एम. ए.
साहित्य संगम, क्लाक टावर
लुधियाना
मूल्य : तीन रुपए।

इधर जिन नवोदित कहानीकारों ने अच्छी ख्याति और मान्यता प्राप्त की है, उनमें श्री देवेन्द्र इस्सर का नाम भी है। उनका यह कहानी संग्रह उन्हीं के शब्दों में : "कुछ नैतिक यंत्रणाएँ होती हैं, कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व होता है और इसके अतिरिक्त बहुत कुछ होता है, जो लेखक के अपने व्यक्तित्व पर निर्भर होता है। बस इन सब में अनायास एक सम्बन्ध स्थापित होता है, सब कड़िया इस 'मिसिंग लिंक' की प्रतीक्षा में होती हैं और जब यह लिंक मिल जाता है तो कहानी जन्म लेती और हम लिखे बिना नहीं रह सकते।... इसमें कलात्मक निपुणता अभ्यास की बात है।..." कहानी की बात कहते-कहते इस्सर जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं।......"साहित्य रचना में कुछ और ही पीना पड़ता है, जिसे लोग जिगर का खून कहते हैं। हम में से कितने जिगर का खून पी सकते हैं यह मैं नहीं जान सकता। लेकिन यह अवश्य जानता हूँ कि इसके बिना महान् रचना संभव नहीं।......" इसमें सत्यता है परन्तु......।

इस पुस्तक में श्री इस्सर की सोलह कहानियाँ संगृहीत हैं। जब कि श्री इस्सर ने 'अपनी बात' शीर्षक अपने निवेदन में इन्हें दस कहा है। संगृहीत कहानियों का क्रम है : 'अनार का पेड़', 'जीवन, मृत्यु और शून्य', 'आनन्दा', 'जेब कतरे', 'बाज़ाब्ता कार्रवाई', 'रोने की आवाज़', 'सिनिक काफ़ी', 'आग', 'ब्लैक मैजिक', 'कोई भी एक आदमी', 'मारग्रेट', 'शाम की

परछाईं', 'चाँदनी रात की व्यथा', 'जेल', 'मकान की तलाश', 'फूल, बच्चा और जिन्दगी'—प्रायः सभी कहानियों का चित्रण प्रच्छन्न तथा उड़ता-उड़ता सा ही प्रतीत हुआ। सर्वत्र कृत्रिमता और सप्रयासता पाई जाती है। द्वितीय कहानी 'जीवन, मृत्यु और शून्य' में तो कृत्रिमता और प्रच्छन्नता अत्यधिकता से छाई हुई है। श्री इस्मर की गिनती प्रगतिशील कहानीकारों में की जाती है। तब इन कहानियों में स्वस्थ जीवन दृष्टि के प्रति जो तीक्ष्णता और कुण्ठा है, समझ में आती है मगर अभी सामान्य हिन्दी पाठक इस कोटि और शैली की कहानियों को न तो ग्राह्य बना सकेगा और न इस प्रकार की कहानियाँ उसे सुरुचिकर ही प्रतीत हो सकेंगी। इन कहानियों में सहजता और चित्रात्मकता का अधिक अभाव है। पुस्तक में प्रूफ की गलतियाँ और अस्वच्छ मुद्रण बड़ा खटकता है।

विनायकराव अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक मण्डल : वंशीधर विद्यालंकार, लक्ष्मीनारायण गुप्त, नरेन्द्र, गोपालराव अपसिंगीकर, कृष्णदत्त, खण्डेराव, ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर
प्रकाशक : विनायकराव षष्ठिवर्षोत्सव समिति, आर्य प्रतिनिधि सभा, हैदराबाद प्रदेश, सुलतान बाज़ार हैदराबाद दक्षिण,
मूल्य : दस रुपए

"कुछ मास पूर्व हैदराबाद की अनेक प्रमुख संस्थाओं और प्रतिष्ठित नागरिकों ने अपनी एक सम्मिलित सभा में यह निर्णय किया कि षष्ठि-पूर्ति के शुभ अवसर पर उनकी ओर से माननीय श्री विनायकराव जी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जाए।" और यह अभिनन्दन ग्रन्थ इसी के परिणामस्वरूप तैयार किया गया है। उनके विषय में श्रीयुत के० एम० मुंशी राज्यपाल, उत्तर प्रदेश ने समुचित ही लिखा है : "वे (माननीय श्रीयुत विनायकराव) अनेक वर्षों से लगातार साधारण जनता की सेवा कर रहे हैं। उनकी षष्ठिपूर्ति मना कर आप उनका जो सम्मान कर रहे हैं वह उचित ही है।" ६०० पृष्ठों से अधिक इस विशाल ग्रन्थ में जहाँ श्री विनायकराव जी के जीवन के अनेक पहलुओं को प्रस्तुत किया गया है वहाँ इसमें कला, साहित्य और संस्कृति तथा हैदराबाद और भारतवर्ष के धार्मिक और राजनैतिक आन्दोलनों के सम्बन्ध में भी अनेक सुन्दर और प्रामाणिक लेखों को प्रकाशित किया गया है। श्रीयुत विनायकराव विद्यालंकार के पूज्य पिता स्वर्गीय जस्टिस श्री केशवराव ने हैदराबाद राज्य में अनेक सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को प्रारम्भ किया था और उनके सुपुत्र श्री विनायकराव ने उनके इन सब कार्यों को उत्तराधिकार के रूप में लेकर आगे बढ़ाया और विपरीत परिस्थितियों में भी सफलता प्राप्त की। उनकी इन महान् सेवाओं के उपलक्ष में यह स्वाभाविक ही था कि उनके प्रति अपनी निष्ठा और कृतज्ञता अभिव्यक्त करने के लिए जनता उन्हें षष्ठि-पूर्ति के शुभ अवसर पर सम्मानित करे। हैदराबाद आर्य-प्रतिनिधि सभा की ओर से उन्हें इस अवसर पर ४२,००० की थैली भेंट की गई। 'अभिनन्दन-ग्रन्थ-समिति' में जहाँ हैदराबाद राज्य के मुख्य मन्त्री और राज्य के अनेक सचिव और मन्त्री सदस्य थे—वहाँ राज्य के अनेक प्रतिष्ठित नागरिक भी इसके सदस्य थे। यह अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हें एक विशाल सभा में ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक श्री पं० वंशीधर विद्यालंकार द्वारा समर्पित किया गया। यह प्रथम अभिनन्दन ग्रन्थ है जो कि हैदराबाद राज्य की जनता और प्रतिष्ठित नागरिकों की ओर से माननीय श्रीयुत विनायकराव को समर्पित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री विनायकराव जी का जीवन-दर्शन संतुलित और अतिरेकरहित रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ सात विषय-क्रमों में विभाजित है—शुभ-सन्देश और पत्र; पारिवारिक जीवन, संस्मरण और रेखाचित्र राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन; इत साहित्य और संस्कृति; वेद, दर्शन और अध्यात्म; विवि और 'काव्य मालिका'। 'काव्य-मालिका' में सरोजि नायडू, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बच्च सुमित्रानन्दन पन्त श्रीयुत वंशीधर विद्यालंकार इ सुकवियों की कविताओं को प्रकाशित किया गया है। राजनैतिक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भाग में श्री दे माधवराव पगड़ी का 'हैदराबाद और सन् १८५७ का स्वतन्त्रता' संग्राम तथा श्री सत्यकेतु विद्यालंकार का 'एशिया के नवजागरण में भारत का स्थान' लेख ब और उच्च कोटि के हैं; इसी भाग में श्री अम्बिका

बाजपेयी का 'आर्य समाज की आवश्यकता' लेख संक्षेप में मार्गदर्शनात्मक है। प्रस्तुत ग्रन्थ का सबसे बड़ा और उल्लेख्य भाग 'कला, साहित्य और संस्कृति' है। कला के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त का 'हैदराबाद राज्य की कलानिधि', श्री विश्वनाथ मुखर्जी का 'भारत की आधुनिक चित्रकला', गुलाम याज़दानी का 'अजन्ता के चित्र और ख़्वाजा मुहम्मद', अहमद का 'चित्रकला : मध्यकाल' लेख सुरुचिपूर्ण और सुन्दर हैं। साहित्य में हिन्दी को ही लक्ष्य न बना कर, दक्षिण की अन्य भाषाओं तथा उर्दू और अरबी के सम्बन्ध में भी जो सामग्री प्रस्तुत की गई है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय और उदात्त दृष्टिकोण की परिचायिका है। इस ग्रन्थ में अन्य बहुत से लेख गम्भीर और मनन करने योग्य हैं। सामग्री की विविधता, व्यापकता और सुरुचिप्रियता वस्तुतः अत्यधिक श्लाघ्य है। ग्रन्थ की साजसज्जा और चित्रात्मकता तो हिन्दी के अन्य अभिनन्दन ग्रन्थों की तुलना में अत्यधिक स्पृहणीय और नयनाभिराम दर्शनीयता प्रस्तुत करती है। समग्र-दृष्टि से इस ग्रन्थ का मान तो स्वतः स्थापित है; केवल इस कारण ही नहीं कि यह सुदूर अहिन्दी प्रदेश से प्रकाशित हुआ है अपितु प्रस्तुत ग्रन्थ को उसके सुसम्पादित और सुसज्जित कलेवर की दृष्टि से हमें उसे हिन्दी के श्रेष्ठ अभिनन्दन ग्रन्थों में बहुत ऊँचे स्थान पर मानने को बाध्य होना पड़ता है। सम्पादक मण्डल और आयोजकों को ऐसे सर्वांग, सुन्दर और स्पृहणीय प्रकाशन के लिए सतत बधाइयाँ।

प्राणगीत

रचयिता : नीरज
प्रकाशक : अ० जै० कौशिक,
जैमिनी प्रकाशन
कमरा नं० १२१, माधो भवन,
११६-३-१ हरिसन रोड, कलकत्ता
मूल्य : दो रुपए

'प्राणगीत' पुस्तक में श्री नीरज की स्वरचित बयालीस कविताएँ तथा गीत और स्व० महर्षि अरविन्द की सात कविताओं का रूपान्तर है। 'दृष्टिकोण' के नीचे अपने निवेदन में श्री नीरज ने कहा है : "वह क्षण जो कण्ठ को, स्वर और अधरों को वाणी दे जाता है, कुछ ऐसा अचिन्त्यज अनुपम और अनमोल है कि पकड़ में ही नहीं आता।" बात गहरी और सूक्ष्म तत्व की है। 'प्राणगीत' की कविताओं में प्रवाह और सरलता है, सरसता और मर्मस्पर्शिता भी। कवि की अनुभूतियाँ जागतिक और आवेगात्मक अधिक हैं।

प्यार विषयक कविताएँ अब बोझल और पुनः पुनः दोहराई हुई भावाभिव्यक्तियों पर ही आधारित प्रतीत होती हैं। इस पुस्तक की कविताओं की मुख्य विशेषता तो यह है कि यह सस्वर कविता पाठ करने के लिए सुगेय हैं।

हमारे सहयोगी

निकष-२ (हिन्दी के श्रेष्ठ नवलेखन का अर्द्धवार्षिक संकलन)

सम्पादक : धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा
प्रकाशक : साहित्य सहयोग के तत्वावधान में,
साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : तीन रुपए

'निकष' का दूसरा अंक हमारे सामने है। पहले से कुछ भिन्न, अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित, विभिन्न अभिनव प्रयोगों और प्रवृत्तियों के आकर्षणों-विकर्षणों से युक्त और जो हो 'निकष' के द्वारा हमें हिन्दी के नवलेखन की श्रेष्ठ उन्मेषित प्रतिभाओं से परिचय पाने का अवसर अनायास ही उपलब्ध हुआ है; और हम अनेक पुष्ट आधारों से इस बात को भी कह सकते हैं कि हिन्दी का नवलेखन कहीं अधिक प्रतिभाशाली, प्रयोगशील और स्पृहणीय प्रतिभा से युक्त है।

इस 'निकष' में हिन्दी के लगभग साठ श्रेष्ठ नवलेखकों की रचनाओं का संकलन है। रचनाओं में ग्राम-कथा, कहानियाँ, नाटक, निबन्ध, कविता, उपन्यास, (अंश) रेखाचित्र, पत्र, व्यंग्यकृतियाँ, शब्दचित्र, कलाकृतियाँ, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा-विवरण आदि आदि प्रयासों में विशद और व्यापक साहित्य-सामग्री उपलब्ध की गई है। श्री भारती सम्यक् दृष्टि पर ऐसे व्यापक प्रयास के लिए अभिनन्दनीय हैं।

हैदराबाद-दक्षिण —ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

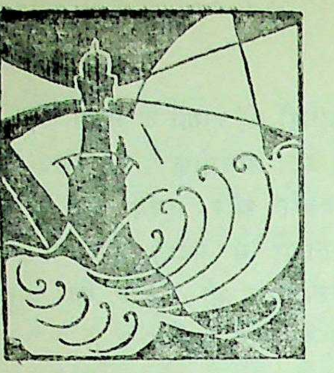

सामयिक

॥

ब्रिटेन में छः भाषाएँ

साधारणतया यह समझा जाता है कि ब्रिटेन में एकमात्र अंग्रेज़ी भाषा ही बोली जाती है। ब्रिटेन में छः भाषाएँ बोली जाती हैं। इन छः भाषाओं के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के पत्र 'इंग्लिश डाइजेस्ट' में श्रीयुत कैनरिक हिकमन का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"ब्रिटेन में छः भाषाएँ बोली जाती हैं। इन्हें किसी प्रकार उपभाषा नहीं कहा जा सकता। इन भाषाओं के नाम निम्न प्रकार हैं : इंग्लिश, वैल्श, गैलिक, मैक्स, कौर्निश और नौर्मन फ्रेञ्च। ये भाषाएँ एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

अंग्रेज़ी के पश्चात् वैल्श सबसे अधिक बोली जाती है। कैल्टिक भाषाओं में यह सबसे अधिक प्राणवान् है। उत्तरीय वेल्स में स्कूल के पांच विद्यार्थियों में से चार अपनी मातृभाषा बोलते हैं परन्तु बहुत से व्यक्ति अपने प्रतिदिन के कार्य के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं।

इसके पश्चात् जो भाषा आती है वह है गैलिक। इस भाषा की ओर अभिरुचि बढ़ रही है। लैटिन में निर्वासित' स्काटलैण्ड के पर्वत प्रदेशीयों के लिए गैलिक भाषा की कक्षाएँ खोली गई हैं। बहुत से लेखक इस भाषा में अपनी पुस्तकें लिख रहे हैं। बी. बी. सी. गैलिक और वैल्श दोनों भाषाओं में नियमित रूप से प्रोग्रामों को प्रसारित करता रहता है। गैलिक भाषा अधिकांश रूप में रौस, क्रोमर्टी इनवर्नैस-शायर और आरगिल में बोली जाती है। जब कि उन लोगों की संख्या जो एकमात्र गैलिक बोलते हैं पिछले तीस या चालीस वर्षों से लगातार घटती जा रही है, द्विभाषी स्काट लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। पश्चिम द्वीपों और स्काटलैण्ड के पर्वतीय प्रदेशों के गिरजाघरों और पूजागृहों में भजन, प्रार्थना आदि गैलिक भाषा में होते हैं परन्तु शहरों में इसका प्रचलन नहीं है।

दो सौ वर्ष हुए आइल आफ़ मैन में लोगों की प्रतिदिन की भाषा मैक्स थी। अभी कुछ दिन पहले तक गिरजा-घरों में प्रार्थना आदि में इसका व्यवहार होता था परन्तु अब कुछ सौ व्यक्ति ही इस भाषा को बोल सकते हैं और वे सब द्विभाषी हैं। मैक्स भाषा में प्रबल स्कैण्डिनेविया का लहजा है और इसके कुछ शब्द अति सुन्दर हैं। आइल आफ़ मैन में विधानों आदि की घोषणा मैक्स और अंग्रेज़ी दोनों में की जाती है। जो व्यक्ति कौर्नवाल में जाएगा उसे कौर्नवाल लहजा सुनने को मिलेगा। अब पुरानी कौर्निश भाषा का प्रयोग नहीं होता—इसका प्रयोग अब स्थानों के नामों में ही होता है। अभी एक कौर्निश प्राचीनता प्रेमी ने २० वर्ष लगा कर 'कौर्निश-इंग्लिश शब्दकोश' तैयार किया है। प्रतिवर्ष कौर्निश भाषा में लिखे हुए निबन्धों और कविताओं पर पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं। कौर्नवाल का कवि कहलाना बड़ा सम्मान समझा जाता है। नार्मन-फ्रेंच जो आधुनिक फ्रेंच से पूर्व प्रचलित थी—इंग्लैण्ड की पहले सरकारी भाषा थी। अब यह भाषा चैनल के द्वीपों के ग्रामों में बोली जाती है परन्तु साधारणतया अंग्रेज़ी का व्यवहार होता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ये पुरानी भाषाएँ अभी तक चल रही हैं। इनकी जड़ें बहुत गहरी हैं और कोई उस समय की कल्पना नहीं कर सकता कि जब समस्त ब्रिटेन में एकमात्र अंग्रेज़ी ही बोली जाएगी।"

॥

भगवान् बुद्ध की मानसिक चिकित्सा में देन

बनारस के प्रसिद्ध मानसिक रोग चिकित्सक श्रीयुत लालजी राम शुक्ल ने बुद्ध जयन्ती के अवसर पर निम्न लेख 'अजन्ता' के लिए भेजा है। इसे सामयिक के स्तम्भों में प्रकाशित किया जा रहा है :

भगवान् बुद्ध संसार के एक महान् ज्ञानी, साधक, समाज सेवक और राष्ट्र निर्माता थे। इस तथ्य को संसार के सभी लोग जानते हैं परन्तु वे कुशल मानसोपचारक भी थे इसे कोई विरला ही विद्वान् जानता है। ऐसे तो संसार के सभी महात्मा अनेक प्रकार के दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताते हैं। वे उन्हें सभी प्रकार के पीड़ाओं से बचाते हैं चाहे वे शारीरिक हों अथवा मानसिक। परन्तु भगवान् बुद्ध ने रोगी मनुष्यों की सेवा करना अपने अनुयायियों का एक विशेष कर्तव्य बताया। भगवान् बुद्ध ने बताया कि जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है। भगवान् बुद्ध के इस वाक्य ने कितने सहृदय व्यक्तियों को मानव सेवा की ओर मोड़ा है यह कौन बता सकता है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में भारी असंतोष रहा करता था, मैं तर्कवादी व्यक्ति हूँ। अतएव किसी प्रकार के मत-मतान्तर और वाद मुझे संतोष नहीं देते। मैंने अपने कालेज के शिक्षक प्रो० रोनाल्ड निक्सन के मुँह से सुना कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सिनेट हाल में रखी हुई बुद्ध भगवान् की मूर्ति ने उनके मन में यह प्रेरणा उत्पन्न की कि वे भारतवर्ष जाएँ और वहाँ बौद्ध धर्म का अध्ययन करके उस भाव को प्राप्त करें जिस भाव को सिनेट हाल में रखी हुई मूर्ति अपनी शान्त मुद्रा द्वारा व्यक्त करती है। प्रो० निक्सन पहली जर्मन लड़ाई में वायुयान के आफ़िसर थे और लड़ाई में उन्होंने अनेक प्रकार के ध्वंसकारी कार्य किए थे। इससे उत्पन्न हुई अन्तर्ज्वाला को जब पश्चिम का कोई धर्म शान्त न कर सका तब उन्होंने भगवान् बुद्ध की शान्त मुद्रा की शरण ली। प्रो० निक्सन से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं भी उस महात्मा की शिक्षा का आत्म-साक्षात्कार करूँ जिसकी मूर्ति देख कर मेरे शिक्षक के जीवन में इतना परिवर्तन हुआ।

जब मैं सारनाथ में रह रहा था उसी समय वहाँ के चिकित्सालय का निर्माण भी हो रहा था। चिकित्सालय के दरवाज़े पर लिखा है, "जो रोगियों की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है" भगवान् बुद्ध के इस वाक्य ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया। स्वामी विवेकानन्द ने भी रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना इसी भाव को लेकर की थी, कि रोगी की सेवा परमात्मा की सेवा है। परन्तु मन में विचार आया कि मैं तो शिक्षक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक हूँ। मेरा चिकित्सा से क्या सम्बन्ध? इसका उत्तर भगवान् बुद्ध के उस चित्र से मिला जिसमें भगवान् किसी कोढ़ी का ज़ख्म अपने हाथ से धो रहे हैं। मैंने सोचा कि मैं रोगियों के लिए यदि कुछ नहीं कर सकता तो इतना तो अवश्य ही कर सकता हूँ कि अपनी वाणी से और अपनी शारीरिक सेवा से उनको अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करके संतोष प्रदान करूँ। वास्तव में भगवान् बुद्ध ने इसे धर्म अभ्यास की प्राथमिक आवश्यकता बताई है। उनका कथन है, जिस प्रकार माता अपने एकलौते बच्चे को प्यार करती है उसी प्रकार तू संसार के सभी प्राणियों को प्यार कर।

मानसोपचार का सारभूत सिद्धान्त भगवान् बुद्ध के उपर्युक्त वाक्य में बताया गया है। प्रत्येक मनुष्य प्रेम का भूखा होता है। बच्चे को पिता-माता का दुलार चाहिए, स्त्री को पुरुष का और पुरुष को स्त्री का प्यार चाहिए, मित्र को मित्र का स्नेह चाहिए, समाज सेवक को जनता की उदार भावना चाहिए। इनके अभाव में सभी का जीवन कटु हो जाता है। इस कटुता के कारण ही मनुष्य एक ओर अपराधी और दूसरी ओर रोगी बनता है। हृदय से दुःखी मनुष्य अपने दुःख को अपने तक ही सीमित नहीं रखता, उसका वितरण समाज में भी कर देता है। अपराधी दूसरों को त्रास देकर, रोगी दूसरों को परेशान करके दुःख का प्रसार करते हैं। इनके अन्त करने के लिए जो हम उपचार करते हैं वह रोग को और भी बढ़ाते हैं। अपराध का निराकरण दण्ड द्वारा करने की चेष्टा करना अग्नि में आहुति डालना है। इसी तरह रोग का निराकरण औषधियों द्वारा करना उसका जीवन काल बढ़ाना है। ये दयनात्मक उपाय थोड़ी दूर तक काम के होते हैं, परन्तु इनके द्वारा रोग की जड़ नहीं नष्ट होती। अपराधी अथवा रोगी समाज का स्नेह चाहता है और यदि प्रारम्भ से ही उसे उचित स्नेह समाज का और स्वजनों का मिलता तो वह रोगी ही न बनता। वह ठीक तभी हो सकता है जब कि उसे अनुभवी व्यक्ति का उचित स्नेह मिले।

आधुनिक मनोविज्ञान ने भगवान् बुद्ध द्वारा बताई गई उपर्युक्त औषधि को मानसिक रोगों के विनाश का सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है। भगवान् बुद्ध ने इसे मैत्री

भावना का अभ्यास कहा है। संसार के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक इसी अभ्यास के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का सफल उपचार कर रहे हैं। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपनी मैत्री भावनायुत शान्त मुद्रा के द्वारा अंगुलिमाल जैसे डाकू का हृदय परिवर्तन करके उसे अर्हत में परिवर्तित कर दिया इसी प्रकार डा० होमरलेन ने एक नरघातक पागल को सम्पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से बना दिया। उसने रिफारमेटरी के अनेक उद्दण्ड और अपराधी बालकों को इसी प्रेम मन्त्र के द्वारा समाज का उपयोगी नागरिक बनाया।

मैत्रीभावना के चमत्कार का एक उदाहरण जो हमारे मित्र श्री जगदीश काश्यप के जीवन में हुआ उल्लेखनीय है। जब काश्यप जी पिनांग में वहाँ के बौद्धों के समक्ष धार्मिकप्रवचन एक हाल में करते थे उस समय एक बहुत दिन की बीमार महिला एक स्ट्रेचर पर डाल कर हाल में लाई गई। भिक्षु जी जिस आसन पर बैठते थे उसी के सामने चबूतरे पर उस महिला को लिटा दिया गया। यह महिला चल फिर नहीं सकती थी। प्रवचन के बाद भिक्षु जी ने सभी उपस्थित व्यक्तियों से महिला के आरोग्य लाभ के लिए मैत्री भावना का अभ्यास करने को कहा : जब सभा समाप्त हुई तो वह महिला दूसरे लोगों के साथ ही उठ कर चलने लगी। वह अपना रोग भूल गई और अपनी गाड़ी में जा कर बैठ गई। स्वयं भिक्षु जी इस चमत्कारिक घटना को देख कर आश्चर्यचकित हो गए परन्तु सामूहिक मैत्रीभावना में कितना बल है इसका ध्यान आने पर उन्हें विस्मय नहीं हुआ।

आज संसार में धर्म अनेक प्रकार के स्वार्थों का का आवरण बन गया है। वह मनुष्य के राग द्वेष की भावनाओं को छिपाता है। यही कारण है कि धर्म की मानसोपचार में महत्ता नहीं रह गई है। परन्तु भगवान् बुद्ध ने धर्म का सार भाग स्नेह बताया है। दूसरों के प्रति किया गया स्नेह मनुष्य में मानसिक एकीकरण लाता है। वह उसकी आन्तरिक शान्ति को बढ़ाता है। भारतवर्ष के मनोवैज्ञानिकों और मानसिक चिकित्सकों ने भगवान् बुद्ध की बताई हुई मैत्री भावना की उपयोगिता को भली प्रकार से नहीं समझा है। रोगी से कराया गया मैत्री भावना का अभ्यास रोगी में मानसिक एकीकरण उत्पन्न करता है और वह मानसिक विभाजन के कारण उत्पन्न रोग की निर्मूल करता है। मैत्रीभावना का अभ्यास चिकित्सक को भी उसी प्रकार लाभकारी है; इससे उसके मन में निहित अपार मानसिक शक्ति का ज्ञान होता है। वह दूसरे मनुष्यों के हृदय पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और वह अपनी अनेक निम्न कोटि की इच्छाओं से मुक्त हो जाता है जिनके दमित रहने के कारण उसका मन बेचैन रहता है।

आज भारतवर्ष में इस नई दिशा में प्रयोग होने की बड़ी आवश्यकता है। संसार के सबसे बड़े सेवक वैद्य और डाक्टर और मानसोपचारक लोग होते हैं। परन्तु मैत्री भावना के अभाव में इनका कार्य बड़ा थोथा हो जाता है। पैसे की दृष्टि से की गई सेवा रोगी व्यक्ति का पूरा लाभ नहीं करती। रोगी के लिए न केवल शारीरिक उपचार चाहिए वरन् उसमें मानसिक परिवर्तन की भी आवश्यकता होती है। रोगी में अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ दमित अवस्था में रहती हैं। वह अपने आप से घृणा करता है और संसार के प्रति निराश रहता है। जब तक रोगी की इस मनोदशा को परिवर्तित नहीं किया जाता, रोग समूल नष्ट नहीं होता। इस मनोदशा को वही व्यक्ति परिवर्तित कर सकता है जो सहृदय साधु स्वभाव वाला और त्यागी हो।

भगवान् बुद्ध ने समाधि-लाभ के लिए जिस प्रकार मैत्री भावना के अभ्यास को अत्यन्त उपयोगी बतलाया है उसी प्रकार आनापानसती के अभ्यास को भी बहुत ही उपयोगी बताया है। आनापानसती का निष्ठापूर्वक अभ्यास करते-करते साधक समाधिस्थ हो जाता है। समाधि लाभ का अर्थ सम्पूर्ण मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति है। आनापानसती का अभ्यास करते समय अनेक प्रकार की दमित वासनाएँ विभिन्न प्रकार के वितर्कों के रूप में अर्थात् बाध्य विचार कल्पनाओं के रूप में चेतना के समक्ष आती है। चेतना के सामने आने पर उनका बल घट जाता है। मानसोपचार के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य की दबी हुई इच्छाएँ जो उसके अचेतन मन में उपस्थित रहती हैं। चेतना के स्तर पर आएँ। दबी वासनाएँ ही अनेक प्रकार के रोगों की जन्मदात्री हैं। इनको चेतना पर लाने के लिए ही आधुनिक काल के मानसोपचारक मनोविश्लेषण की प्रक्रिया का सहारा लेते हैं। आनापानसती का अभ्यास इन दबी

वासनाओं को सहज में ही चेतना के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। आनापानसती के अभ्यास से जो मानसिक शिथिलीकरण होता है वह दूसरे प्रकार से नहीं होता। आनापानसती के द्वारा मनुष्य आत्म सम्मोहन की अवस्था में आ जाता है और कभी-कभी वह अपने शरीर की किसी भी प्रकार की वेदना से मुक्त हो जाता है।

आधुनिक काल के मानसिक चिकित्सा के एक महान् विशेषज्ञ डा० विलियम ब्राउन का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति अपने ढीले अंग करके बिस्तर पर लेट कर सांस के आने जाने पर ध्यान दे और इस अभ्यास को करते-करते वह सो जाए तो वह अनिद्रा, अकारण भय और चिन्ता बाध्य विचार तथा अनेक प्रकार के ऐसे ही मानसिक रोगों से सरलता से मुक्त हो जाता है। इसके द्वारा वह चित की एकाग्रता, स्मरण शक्ति और आत्म विश्वास को बढ़ा सकता है। डा० विलियम ब्राउन ने इसका प्रयोग पिछली लड़ाई में मानसिक रोगों द्वारा ग्रस्त अनेक सिपाहियों पर किया और वे लाभान्वित हुए।

आज से दस वर्ष पूर्व मेरा एक छात्र अनिद्रा की बीमारी से पीड़ित था। इस छात्र को मैं अपने मित्र जगदीश काश्यप जी के यहाँ ले गया। काश्यप जी ने इस छात्र को एक आरामकुर्सी पर बिठा दिया और स्वयं एक पत्थर पर बैठ कर उसे आनापानसती का अभ्यास करने को कहा: वे स्वयं भी इस अभ्यास को पत्थर पर बैठ कर करने लगे। थोड़ी देर में रोगी को नींद आ गई। फिर उसे आदेश दिया कि वह इस अभ्यास को नित्य प्रति सोते समय करे। इस छात्र का अनिद्रा का रोग इस प्रकार सब समय के लिए जाता रहा। तब से आज तक लेखक ने अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों की चिकित्सा इसी आनापानसती के अभ्यास के द्वारा की है।

हमने ऊपर भगवान् बुद्ध के बताए हुए केवल दो ही अंगों की महत्ता मानसोपचार में बताई है। वास्तव में भगवान् का बताया हुआ सम्पूर्ण धर्म मानसोपचार ही है। मानव-जीवन की सबसे बड़ी व्याधि तृष्णा है। तृष्णा—ज्ञात और अज्ञात दो तरह से मानव जीवन में वर्तमान रहती है। ज्ञात तृष्णा संसार में अनेक प्रकार के झगड़े, अपराध और व्यभिचार को उत्पन्न करती है और अज्ञात तृष्णा मानसिक रोगों को। संसार के तपस्वी लोग ज्ञात तृष्णा का निराकरण करने की चेष्टा करते हैं परन्तु इससे वह मनुष्य के अचेतन मन में चली जाती है और वह मानसिक रोगों की उत्पत्ति करती है। भगवान् बुद्ध एक कुशल मनोवैज्ञानिक थे। अतएव उन्होंने मध्यम मार्ग को बता कर ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार की तृष्णाओं के निराकरण का सुगम मार्ग बताया। यही सफल मानसोपचार है।

॥

तेलुगु ओपेरा

सत्रवीं और अठारवीं शताब्दी में तंजोर में मराठा राजा श्रीयुत शाह जी महाराजा ने तेलुगु में नाट्य-संगीत की एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम "पल्लकी सेवा प्रबन्धम्" है। इसके सम्बन्ध में निम्न विवरण मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र 'हिन्दु' में से दिया जा रहा है:

"......शाह जी तंजोर में दूसरा मराठा राजा था। उसने १६८४ से १७१० तक राज्य किया। वह न केवल मराठी और संस्कृत का पंडित था अपितु वह तेलुगु और हिन्दी में भी निष्णात् था। उसने तेलुगु में एक गेय नाटक की रचना की है जिसका नाम है "पल्लकी सेवा प्रबन्धम्"। उस समय तेलुगु और संगीत में कुछ ऐसा निकट सम्बन्ध था कि यह आश्चर्य की बात नहीं है कि एक मराठा राजा ने तेलुगु में संगीतमय पदों की रचना की। इस पुस्तक की तेलुगु सर्वथा निर्दोष है और यह एक उच्च और ललित साहित्यिक रचना है, जिसकी तुलना तेलुगु के किसी चोटी के कवि की रचना से की जा सकती है। इन पदों का संगीत अत्यन्य सरल है और अपने विषय के अनुकूल है। 'प्रबन्धम्' की भावनाएँ मृदु और कोमल हैं और विचार सुसंस्कृत; वर्णन आकर्षक और विशद। इस 'प्रबन्ध' को 'गेय नाटक' कहा जाता है। मंदिरों में जो भजन-कीर्तन होता था—यह 'संगीत नाटक' भी उसका एक अंग था। अनेक अभिनेता और गायक मिल कर इन 'संगीत नाटकों' का अभिनव करते थे। ये नाटक प्रति शुक्रवार या विशेष उत्सवों के अवसरों पर खेले जाते थे। महाराजा शाह जी ने इसके लिए भूमि का दान दिया था और कहा था कि ये नाटक 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ खेले जाएँगे परन्तु कुछ दशकों से इन नाटकों का खेलना बन्द हो गया है। पता नहीं इसका क्या कारण है? हो सकता है कि या तो इसके उत्तराधिकारी न रहे हों या इस संगीत और अभिनय से उनका सम्बन्ध टूट गया हो। इसमें २३ कथा-गीत हैं जिन्हें कि "डारुस" कहा' जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक पद्य हैं।"...

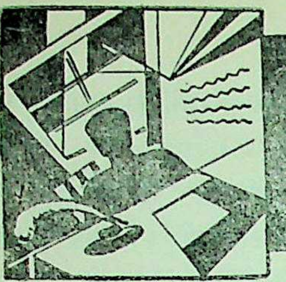

सम्पादकीय

विज्ञान और भारतीय भाषाएँ

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के विकास में हमारे देश के वैज्ञानिक न केवल किसी प्रकार का सहयोग नहीं दे रहे हैं अपितु वे इसके मार्ग में अनेक प्रकार की रुकावटें और अवरोध भी उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे इसके लिए देश की भाषा सम्बन्धी विषम परिस्थति से भी लाभ उठाने के लिए पूर्ण रूप से तैयार हैं। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश के विज्ञानशास्त्री हिन्दी ही नहीं, अपितु किसी भी भारतीय भाषा को विज्ञान और उद्योग आदि के शिक्षण की दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी नहीं समझते। इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली के अभाव और अन्य न्यूनताओं और असुविधाओं के कारण भारतीय भाषाओं में विज्ञान और उद्योग आदि के शिक्षण की उचित क्षमता नहीं है परन्तु प्रश्न इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। यदि हमारे देश में अंग्रेज़ी की शिक्षा को अनिवार्य भी कर दिया जाए तो भी विज्ञान आदि को पढ़ाने के लिए अंग्रेज़ी को शिक्षण का माध्यम कब तक बनाया जा सकेगा? एक-न-एक दिन भारतीय भाषाओं में उस क्षमता को उत्पन्न करना ही पड़ेगा कि जिससे उनके द्वारा देश में प्रत्येक प्रकार की उच्च शिक्षा और विज्ञान आदि का शिक्षण प्रदान किया जा सके। यदि ऐसा नहीं होगा तो हमारे देश में न केवल हमारी भाषाओं का अपितु विज्ञान का भी यथोचित रूप से विकास नहीं हो सकेगा।

अभी पिछले दिनों कलकत्ता में इंडियन साइन्स एसोसिएशन ने भाषा आयोग के सम्मुख अपना आवेदन प्रस्तुत किया। इस एसोसिएशन के जनरल सेक्रेटरी श्रीयुत डा० यू० पी० बसु ने इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य दिया है जो कि निम्न प्रकार है: "भाषा का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसका विचार समस्त भारतीय स्तर पर किया जाना जाना चाहिए। इस एसोसिएशन की ओर से समस्त देश में जो सम्मति अभिव्यक्त की गई है वह यह है कि हमें अंग्रेज़ी भाषा को भारतीय संस्कृति का एक अंग स्वीकार कर लेना चाहिए और अंग्रेज़ी का पूर्ण रूप से लाभ उठाते हुए प्रयोग करना चाहिए। हम समझते हैं कि जहाँ तक वैज्ञानिक शिक्षा का सम्बन्ध है, अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाए बग़ैर हमारा कार्य चल ही नहीं सकता।...हमें अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हुए किसी प्रकार की निम्नता या हीनता का अनुभव नहीं करना चाहिए; क्योंकि इस समय अंग्रेज़ी एकमात्र अंग्रेज़ों और अमरीकियों की ही भाषा नहीं रह गई है, अंग्रेज़ी तो इस समय विश्व की सभ्यता और संस्कृति की भाषा है। वह वैज्ञानिक और अन्य मानवशास्त्रीय विचारों को अभिव्यक्त करने का सबसे श्रेष्ठ साधन है जिसे कि मनुष्य विकसित कर सका है। विज्ञान के क्षेत्र में तो भारतीय भाषाएँ अंग्रेज़ी से मीलों पीछे हैं। हमें आधुनिक विज्ञान की विरासत अंग्रेज़ों से ही प्राप्त हुई है इसलिए हमें पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान के साधन अंग्रेज़ी के प्रयोग में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि अंग्रेज़ी भी हमें विज्ञान के साथ उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। हिन्दी में न तो प्रारम्भिक और न उच्च वैज्ञानिक साहित्य है। इसलिए यदि हम भारतीय विज्ञान में उच्च स्तरों को क़ायम रखना चाहते हैं तो हमें एकमात्र अंग्रेज़ी पर ही निर्भर करना होगा। यदि इस क्षेत्र में अंग्रेज़ी के स्थान में हिन्दी का शनैः शनैः प्रागतिक प्रवेश किया जाएगा तो इसका हमारे देश में औद्योगिक और वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान आदि पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और इससे उनका विकास रुक जाएगा। इसके अतिरिक्त भाषावाद के संकट को रोकने के लिए भी अंग्रेज़ी का प्रयोग अनिवार्य है।......"

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति हमारे देश के वैज्ञानिकों का इससे बड़ा और कौनसा अवैज्ञानिक दृष्टिकोण हो सकता है? हम अंग्रेज़ी भाषा की महानता से इनकार नहीं करते परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि जहाँ तक वैज्ञानिक शिक्षण का सम्बन्ध है हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को इस क्षेत्र से सर्वथा और सदा के लिए निर्वासित कर दिया जाए और किसी प्रकार इन भाषाओं को इसके लिए अवसर ही प्रदान न किया जाए,

अधिकांश भारतीय जनता को विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करनी है तो क्या वह अंग्रेज़ी के ही द्वारा प्रदान की जा सकती है ? अंग्रेज़ी में भी तो यह क्षमता एक दिन में ही उत्पन्न नहीं हो गई। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में भी इस क्षमता को उत्पन्न करने में समय लगेगा परन्तु यदि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को इस क्षेत्र में प्रवेश का अनुमति पत्र ही नहीं दिया जाएगा तो यह क्या अपने ही देश में विज्ञान और अपनी ही भाषाओं के साथ अन्याय करना नहीं होगा ?

विज्ञान की उन्नति का प्रश्न एकमात्र हमारे देश का ही प्रश्न हो ऐसी बात नहीं है; बहुत से नए और पिछड़े हुए देश अपनी भाषाओं द्वारा विज्ञान में न केवल शिक्षण प्रदान कर रहे हैं अपितु हर प्रकार का अनुसन्धान भी कर रहे हैं और वे वैज्ञानिक क्षेत्र में पूर्णतया प्रगति कर रहे हैं तो क्या कारण है कि हमारा ही देश यदि अपनी भाषाओं में वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान प्रारम्भ करेगा तो उन्नति रुक जाएगी। अंग्रेज़ी में होने के कारण आज हमारे देश के कितने लोग विज्ञान की पुस्तकों को पढ़ सकते हैं या विज्ञान का लाभ उठा सकते हैं ? यदि हम यह चाहते हैं कि विज्ञान का लाभ हमारे देश की अधिकांश जनता तक पहुँचे तो हमें भारत की समस्त भाषाओं के लिए विज्ञान के द्वारों को पूर्ण रूप से खोलना पड़ेगा।

जब हम इंडियन साइन्स एसोसिएशन के जनरल सेक्रेटरी महोदय का उपर्युक्त वक्तव्य पढ़ रहे थे उसी समय हमने 'पीपल्स चाइना।'के फरवरी '५६ के अंक में 'चीन में वैज्ञानिक प्रकाशन' टिप्पणी पढ़ी। हमें उसे पढ़ कर आश्चर्य हुआ कि चीन में चीनी भाषा के द्वारा किस प्रकार वैज्ञानिक शिक्षा को विस्तृत और समुन्नत किया जा रहा है। पारिभाषिक शब्दावली आदि की जो कठिनाइयाँ हमारे देश में हैं वे ही चीन में भी है। चीन में वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान का कार्य किस प्रकार हो रहा है उसका कुछ पता हमें उक्त पत्र में इस टिप्पणी के निम्न विवरण से प्राप्त हो सकेगा :

"......पिछले ६ वर्षों में चीन में साइन्स एकादमी के साइन्स पब्लिशिंग हाउस ने वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन को अत्यधिक उन्नत किया है। इसकी ओर से ७२ वैज्ञानिक पत्र प्रकाशित किए जा रहे हैं जिनमें चीनियों के मौलिक अनुसन्धान के लेख भी प्रकाशित होते हैं। १६ ऐसे पत्र प्रकाशित होते हैं जिनमें विदेशों के वैज्ञानिकों के लेखों के सार और अनुसन्धानपूर्ण लेखों के अनुवाद प्रकाशित होते हैं। १२ पत्र इस प्रकार के प्रकाशित किए जाते हैं जिनसे विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वालों की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। ...ये पत्र-पत्रिकाएँ तो विज्ञान सम्बन्धी कार्य का एक अंश हैं। इस पब्लिशिंग हाउस की ओर से १८५ वैज्ञानिक पुस्तकों को प्रकाशित किया गया है जिनकी ७ लाख प्रतियाँ छापी गई हैं।...इसकी ओर से अन्य विदेशी लेखकों की विज्ञान की महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। अनुवाद की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ३८१ है।...यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि चीनी भाषा में इन भाषाओं के अनुवाद और वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान की प्रगति के लिए सबसे अधिक आवश्यकता चीनी भाषा में पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की है। साइन्स एकादमी के प्रकाशकों ने चीन में ऐसे कोशों को प्रकाशित किया है जिनमें विदेशी पारिभाषिक शब्दों के साथ चीनी पारिभाषिक शब्द दिए गए हैं। इन कोशों के कारण विज्ञान के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार में एकरूपता और सुगमता उत्पन्न हो गई है। इन प्रयत्नों के कारण चीन में प्रति वर्ष विज्ञान के प्रकाशनों की संख्या लगातार बढ़ती चली जा रही है। इससे जहाँ विज्ञान की पुस्तकों की खपत बढ़ रही है वहाँ विज्ञान की पत्र-पत्रिकाओं की खपत भी बढ़ती जा रही है। इससे पहले तो यह अवस्था थी कि चीन में एक प्रकाशक अत्यन्त कठिनता से एक भी विज्ञान की पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं होता था परन्तु अब अवस्थाओं में भेद पड़ गया है। इस समय विज्ञान के प्रकाशनों की इतनी माँग बढ़ गई है कि उसकी पूर्ति करने में कठिनाई हो रही है।...विज्ञान की पुस्तकों के अनुवाद की विशेष रूप से व्यवस्था की जा रही है।...इसके साथ साथ चीनी वैज्ञानिक अपनी प्राचीन वैज्ञानिक पुस्तकों का सम्पादन और प्रकाशन भी कर रहे हैं।......"

यदि चीन में ६ वर्षों में वैज्ञानिक पुस्तकों का प्रकाशन इतनी प्रगति कर सकता है तो हमारे देश में भारतीय भाषाओं में वह क्यों प्रगति नहीं कर सकता ? अन्ततः अंग्रेज़ी में लिखी वैज्ञानिक पुस्तकों की हमारे देश में कितनी खपत हो सकती है ? यदि विज्ञान की पुस्तकों को भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाएगा तो कोई

कारण नहीं है कि हमारे देश में उनकी खपत विस्तृत रूप से न होने लग जाए। अभी तो उन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन ही प्राप्त नहीं है। भारतीय भाषाओं में विज्ञान पर वांछित रूप में पुस्तकें प्रकाशित नहीं होती और वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी कुछ विशेष उत्साहजनक नहीं है। क्या ही अच्छा हो कि यदि हमारे देश में विज्ञान की इस प्रकार की परिषदें स्थापित हों जो भारतीय भाषाओं में विज्ञान को गति और प्रगति प्रदान करें। हम अंग्रेज़ी में विज्ञान के अध्ययन और अनुसन्धान के विरोधी नहीं हैं परन्तु अब यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है कि विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं की उपेक्षा की जा सके। हमारे देश में भाषावाद को अंग्रेज़ी के द्वारा नहीं दबाया जा सकता। भाषावाद का तात्पर्य यही है कि जहाँ तक उचित और सम्भव हो भारत की प्रत्येक भाषा को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान किया जाए। यह अत्यन्त दुःख की बात है कि हमारे देश के वैज्ञानिक लोगों और वैज्ञानिक संस्थाएँ विज्ञान के भारतीय भाषाओं में किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं प्रदान करतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अंग्रेज़ी और विज्ञान को अभिन्न समझती हैं। भारतीय भाषाएँ विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेज़ी से आज "मीलों पिछड़ी हुई" अवश्य हैं परन्तु यही कारण तो नहीं हो सकता कि उन्हें आगे बढ़ने का अवसर ही प्रदान न किया जाए।

इस प्रकरण में हम हिब्रू यूनिवर्सिटी का भी उल्लेख करना चाहते हैं। यह इज़राइल यूनिवर्सिटी १९२५ में स्थापित हुई थी। ३१ वर्षों में इस विश्वविद्यालय में विज्ञान का शिक्षण और अनुसन्धान ने हिब्रू में जो प्रगति की है वह आश्चर्यजनक है इज़राइल के प्रशासन ने इस यूनिवर्सिटी के विषय में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है उससे यह ज्ञात होता है: हिब्रू यूनिवर्सिटी की स्थापना जहाँ ज्ञान के प्रसार और विस्तार के लिए की गई है वहाँ इसका उद्देश्य यहूदियों के राष्ट्रीय गृह और इज़राइल देश का विकास भी है। यह विकास चिकित्सा, विज्ञान, रसायन, उद्योग और कृषि आदि में अनुसन्धान के द्वारा किया जा रहा है।... इज़राइल में हिब्रू को वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान के योग्य बनाया जा रहा है और स्वल्प काल में ही वहाँ हिब्रू ने विज्ञान के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है तो क्या कारण है कि हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ इस क्षेत्र में प्रगति न कर सकें!

जब कि अन्य देश अपनी अपनी भाषाओं में वैज्ञानिक शिक्षण और अनुसन्धान कर रहे हैं तो क्या हमारे देश में ही विज्ञान का शिक्षण और अनुसन्धान एकमात्र अंग्रेज़ी में इस कारण किया जाएगा क्योंकि "अंग्रेज़ी हमें विज्ञान के साथ अंग्रेज़ों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई है।" हम यह नहीं कहते कि अंग्रेज़ी में यह शिक्षण और अनुसन्धान समाप्त हो जाना चाहिए परन्तु अब एकमात्र अंग्रेज़ी के द्वारा इस कार्य को करना विज्ञान और देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो सकता। भारतवर्ष की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि इस देश में विज्ञान का प्रसार और विस्तार हो और वह अंग्रेज़ी के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। वह एकमात्र भारतीय भाषाओं के द्वारा ही संभव हो सकता है। यदि भारतवर्ष के वैज्ञानिक भारतीय भाषाओं की ओर विज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रकार उदासीन रहेंगे तो वे कैसे आशा कर सकते हैं कि भविष्य में भी हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाएँ विज्ञान के शिक्षण और अनुसन्धान के लिए सक्षम और योग्य बन सकेंगी। उनका 'अंग्रेज़ी से पिछड़ा होना' इस बात की दलील नहीं होनी चाहिए कि उनकी ओर किसी प्रकार कुछ ध्यान ही न दिया जाए—परन्तु यह इस बात की दलील होनी चाहिए कि इस क्षेत्र में उन्हें कितना अधिक कार्य करना है। जब तक भारत के वैज्ञानिक विद्वान् भारतीय भाषाओं को विज्ञान की दृष्टि से पूर्णतया विकसित नहीं करते तब तक वे अपने देश में विज्ञान को समुन्नत और विस्तृत नहीं कर सकते।

यह सत्य है कि हमारे देश को आधुनिक यन्त्र और विज्ञान अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी के द्वारा प्राप्त हुआ है परन्तु विज्ञान को 'अंग्रेज़ों या अंग्रेज़ी का उत्तराधिकार' कहना विज्ञान और उसके क्षेत्र को सीमित करना होगा। समस्त राष्ट्र की उन्नति देश की भाषाओं की उन्नति के बिना नहीं हो सकती और क्या यह सम्भव है कि यदि इन भाषाओं को विश्व के वैज्ञानिक साहित्य का पूर्ण रूप से उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होगा—तो ये भाषाएँ विकसित और समुन्नत कहलाने की कभी अधिकारिणी हो सकेंगी? जिस प्रकार हमारे देश में राष्ट्रीय वैज्ञानिक परीक्षण शालाओं का निर्माण किया जा रहा है उसी प्रकार भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का संगठित और व्यापक रूप में निर्माण किया जाना चाहिए।

आइए! मिलिए!

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्ख़े बड़ी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल, हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द

अजन्ता

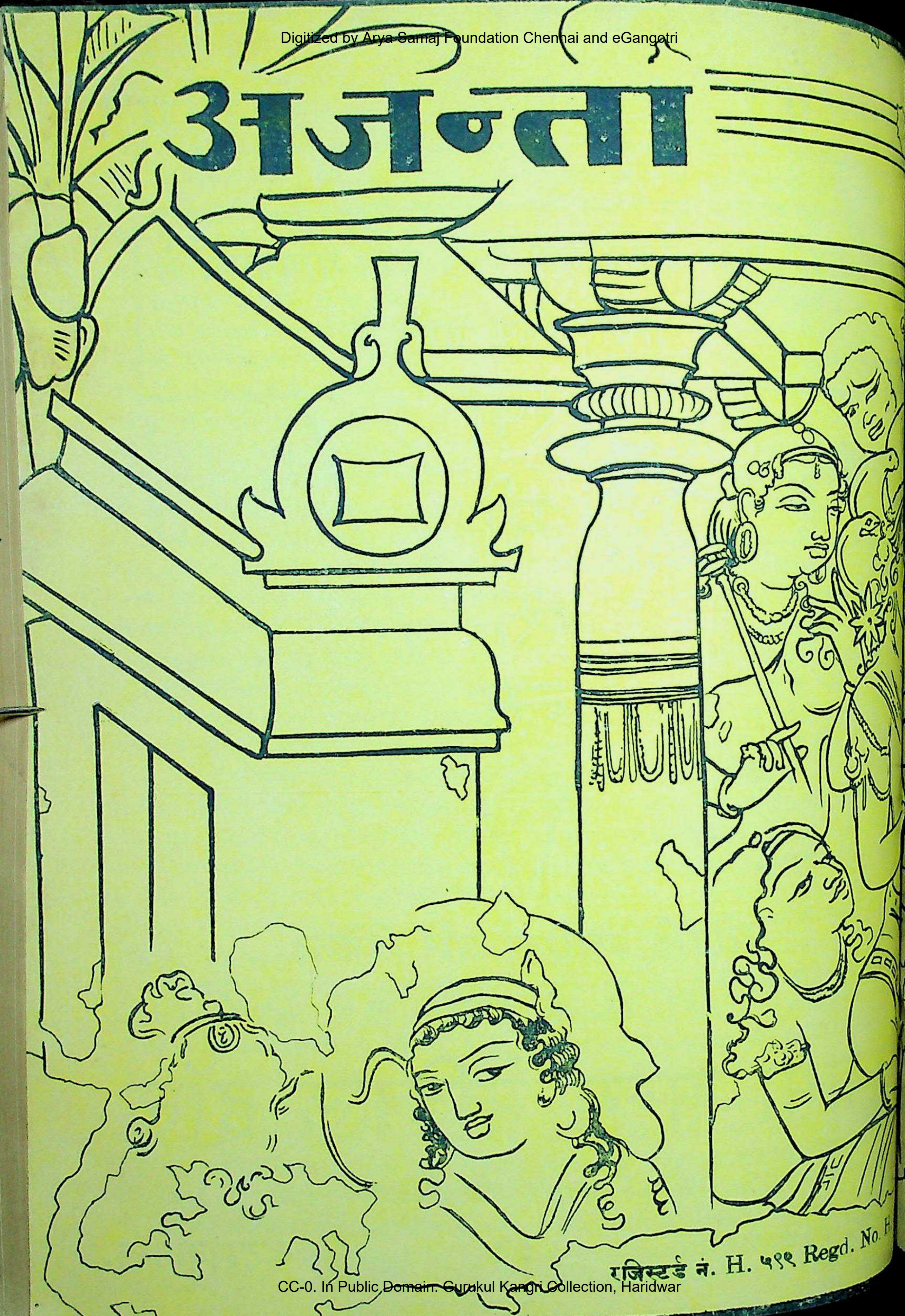

रजिस्टर्ड नं. H. ५११ Regd. No. H

अजन्ता

11-8-56

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

वर्ष ८ जुलाई १९५६ अंक ७

हिन्दी के उत्तमोत्तम
तथा उच्च
श्रेणी
के
साहित्य
की
प्राप्ति के लिए एक मात्र
स्थान

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

नामपल्ली रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हिन्दी
टेलिफोन नं. ५४५०

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: *HUICOL* Telephone: *5579*

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात
(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है
या
कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात

हैदराबाद-द. से मँगाइए।

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक-हिन्दी-साहित्य
के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

अभिजात

: सम्पादक :
हरिमोहन : रवीन्द्र भ्रमर

●

प्रथम भाग

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्केच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

मूल्य दो रुपए मात्र

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत,
शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-
पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२

वसुधा

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक
रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी।
अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।
नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६ तार का पता : **लीवेरेक्स**

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : **लीवेरेक्स**

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं ।

आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए ।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी-मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक………

आपका-स्वास्थ्य

………के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : **यशदेव शल्य**

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार

के निबन्ध

सुन्दर काग़ज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट

(पेप्सू)

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द**, वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन

(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय

(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण

(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण

(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन ।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त ।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, ‘विश्व-ज्योति’

साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

साहित्यकार संघ, लखनऊ घोषणा करता है

नई कहानी संकलन

(अर्द्ध वार्षिक)

वार्षिक मूल्य ४) ❀ एक प्रति २।)

संपादक

प्रतापनारायण टण्डन : गोपालकृष्ण सारंग

शीघ्र ही प्रकाशित होगा ।

‘नई कहानी संकलन’ का प्रकाशन हिन्दी कहानी साहित्य में एक घटना होगी ।

विशेष विवरण के लिए लिखें :

साहित्य संघ, पो० बॉ० ३, लखनऊ

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

‘साहित्यकार’

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र

श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेश के लिए ‘साहित्यकार’ के पाठक बन जाएँगे !

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

सितम्बर में बुद्ध जयन्ती विशेषांक प्रकाशित हो रहा है ।

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय

साहित्यकार-संसद,

५८ रसूलाबाद, इलाहाबाद—२

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य : चार रुपए।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य : छः रुपए।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य : ३) रुपए।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहाानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य : पौने दो रुपए।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. **बालपद** : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ** : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक श्री—रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १** : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ** : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी** : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकाँकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल** : अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २** : लेखिका श्री विमला लूथरा। ०-६-०

प्रेस में :

१. **दक्खिनी का व्याकरण**	श्रीराम शर्मा
२. **दक्खिनी का इतिहास**	श्रीराम शर्मा
३. **रहीम का अप्रकाशित काव्यः दम्पति विलास**	
४. **पञ्चामृत** (मराठी)	
५. **मराठी साहित्य का इतिहास**	
६. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी)	वंशीधर विद्यालंकार

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है
इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का
अतएव संग्रहणीय होता है।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

वार्षिक मूल्य ८) अर्धवार्षिक ४)
[सरकारी विज्ञापनों के लिए स्वीकृत]
साप्ताहिक सेनानी
इसे गाँव गाँव घर घर में लोग इसलिए पढ़ते हैं कि :
* 'सेनानी' राजस्थान का एक विश्वस्त पत्र है।
* 'सेनानी' दलगत राजनीति से ऊँचा रहना जानता है।
* 'सेनानी' नेताओं की भड़ौती से नहीं अपनी कलम से जीवित है।
* 'सेनानी' ठोस विचारों और विश्वस्त समाचारों का पत्र है।
* 'सेनानी' राजस्थान की समस्याओं पर गहराई विचार करता है।
* 'सेनानी' का कलेवर भरती के लेखों से भरा नहीं होता।
* 'सेनानी' रास्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र है।
अपने 'सेनानी' के ग्राहक बनिए।
अपने मित्रों को 'सेनानी' के ग्राहक बनाइए :
व्यवस्थापक, साप्ताहित 'सेनानी'
सेनानी कार्यालय' बीकानेर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ जुलाई १९५६ अङ्क ७

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

तार : हिन्दी

फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

दो गीत
वीरेन्द्रकुमार सिंह १
घिरने लगी बदरिया
नन्दकिशोर राय २
गीत
नटवरलाल स्नेही ३
चार मुक्तक
प्रकाश दीक्षित ४
बर्बर लोगों की प्रतीक्षा
—सी. वी. कवफी
अनु : धर्मवीर भारती ५
पावस गीत
देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ७
चलना हो तो...
शान्ति मेहरोत्रा ८
शरतचन्द्र
मन्मथनाथ गुप्त ६
साहित्यकार और जीविका
रावी १३
कालिदास के नाटक
भगवतशरण उपाध्याय १८
राष्ट्रीय काव्य के प्रकार और उसके आलम्बन
व्रजभूषण पाण्डेय २७
हँसनी—सी-गल
—एण्टन चैखव
अनु : राजेन्द्र यादव ३४
तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों का विकास-क्रम
हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' ४५
सन्त-साहित्य के अध्ययन में श्री परशुराम चतुर्वेदी का योग
जयराम मिश्र ५३
अधूरी मौत
कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा ५६
कला-चर्चा ६२
मेरी यूरोप यात्रा के अनुभव और संस्मरण : एन. सी. भट्टाचार्य
चिट्ठी-पत्री ६४
वीरेन्द्रकुमार जैन, कीर्तिनारायण, महेन्द्रकुमार 'मुकुल', शिवशंकर वरिष्ठ, विमलादेवी, नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, लक्ष्मी मेहरोत्रा, सुशीला शर्मा, नन्दकिशोर राय, मुरली मनोहरप्रसाद सिंह, व्रजकिशोर नारायण, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'
नीर-क्षीर ७०
लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या : वंशीधर विद्यालंकार; चील और चट्टान, दीया जला दीया बुझा, कापालिक, रक्तगंगा, आलोचना के सिद्धान्त, टूटते बन्धन (उपन्यास), सन्त विनोबा की आनन्द यात्रा, सर्वोदय के आधार, प्रणय-पत्रिका, विद्यापति के देश में, हिन्दु धार्मिक कथाओं में भौतिक अर्थ, दूसरी पंचवर्षीय योजना, जगजीवनराम अभिनन्द ग्रन्थ, वसुधा—ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर
सामयिक ७६
वाल्टर डि ला मेअर : शब्दों का देवता, कथाकली ऊभायट्टम (मूक अभिनय), दिमागी कार्य का मूल्य
सम्पादकीय ८०
अंग्रेजी और आत्म-निर्भरता : वंशीधर विद्यालंकार; साहित्य, संस्कृति और प्रशासकीय योजनाएँ : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर।

चित्र

वायु पथ : चित्रकार, ए. एस. जगन्नाथ
[illegible]

अजन्ता
जुलाई १९५६

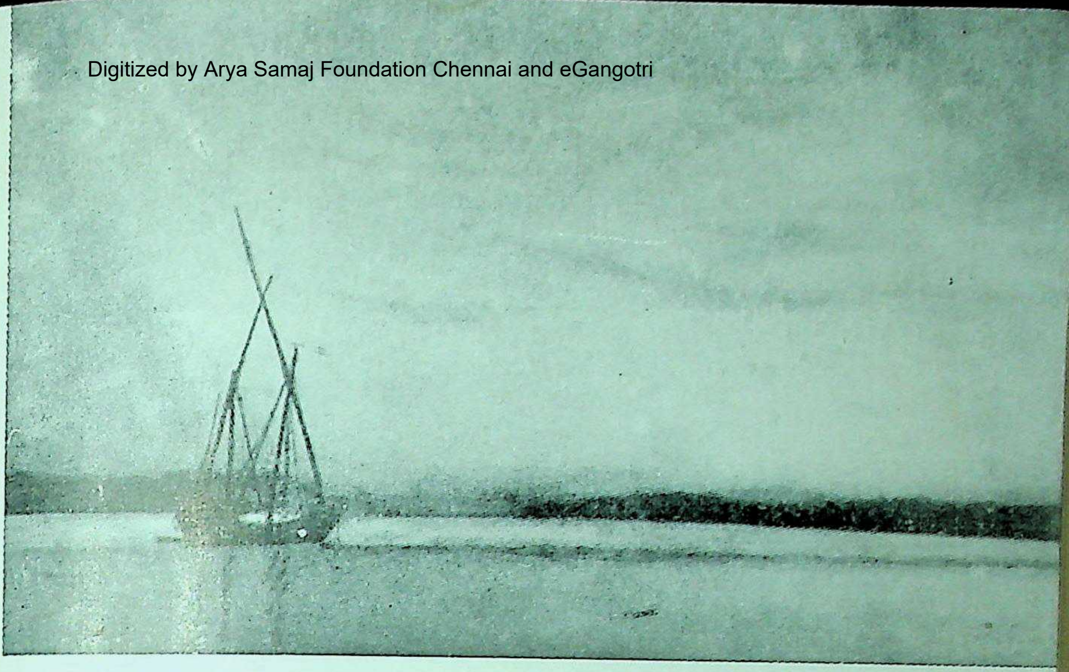

गर्त
चित्रकार : डा. जी. थामस

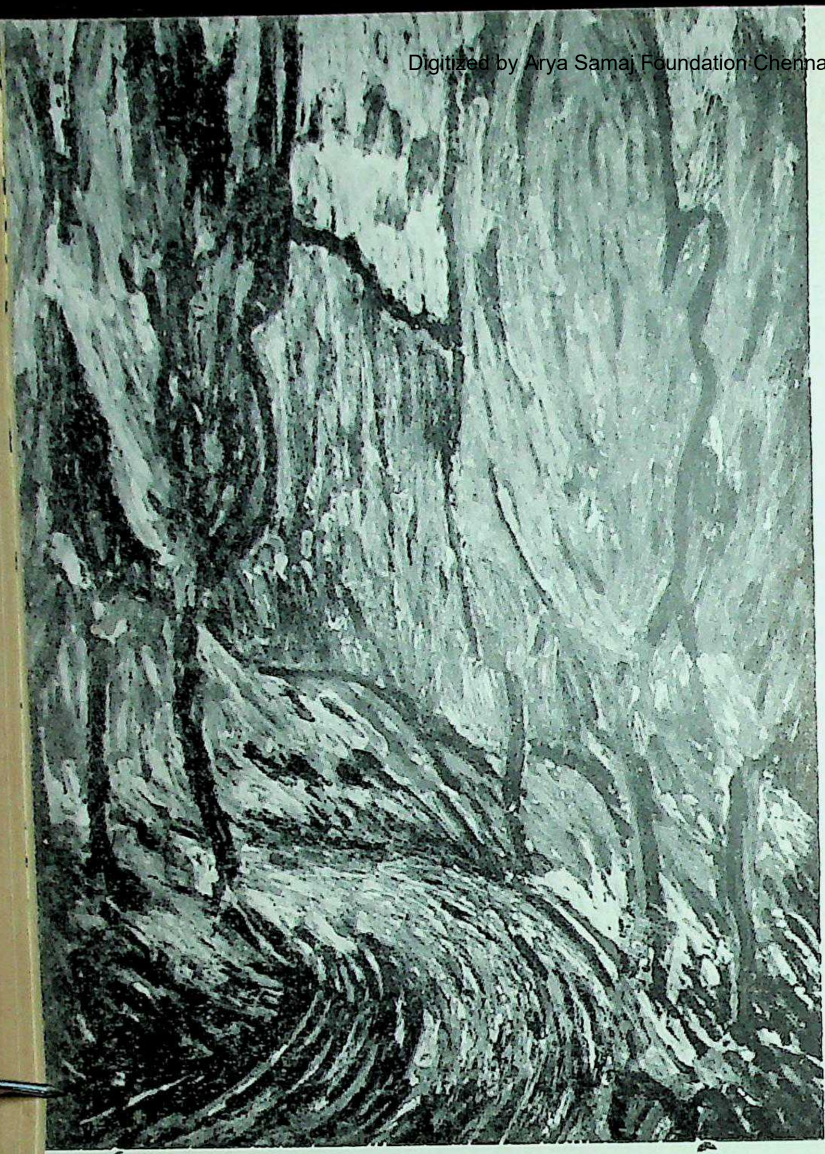

वायु पथ
चित्रकार : ए. एस. जगन्नाथन

वर्ष ८

अजन्ता

अङ्क ७

दो गीत

—१—

कब तुमने मुझको पहचाना ?
रो रो कर ही जाना मैंने
इस जग में कुछ गाना !
सुख-दुख की बीती बातों में
पतन सफलता संघातों में
सीख रहा जीवन के उलझे
तारों को सुलझाना !
कब तुमने मुझको पहचाना ?

—२—

फिर भी आगे पैर बढ़ाऊँ !
लक्ष्य दूर, पथ अगम, शिथिल तन
पर न तनिक सकुचाऊँ !
धूप छाँह का खेल चिरन्तन
उलझा है जिसमें जग-जीवन
सौ-सौ बार मिटा अपने को
मैं फिर नव बन जाऊँ !
फिर भी आगे पैर बढ़ाऊँ !

१३७ विद्या विहार,
भोपाल

—वीरेन्द्रकुमार सिंह

घिरने लगी बदरिया

रटने लगा पपीहा वन में घिरने लगी बदरिया।

इन्द्र धनुष के फूल दिशाओं
ने गूँथे अलकों में
मुस्कानों के जुगनू चमके
रजनी की पलकों में
चन्दा पर भी जादू टोना करने लगी बिजुरिया।
सपनों सी गीले नभ-दृग में घिरने लगी बदरिया।

खेतों की मेड़ों पर बूँदों
के मंजीर खनकते
धरती की सोंधी सुगन्ध में
अंखुओं के शिशु जगते
दूर चरागाहों में वंशी बोने लगी कजरिया।
गगन-ताल में कमल-पत्र सी तिरने लगी बदरिया।

प्रकृति सुन्दरी के गीतों में
बहक चली पुरवाई
सुधि के पाल तने प्रिय-सपनों
की नैया बलखाई
मेघ-दूत को देख विकल बौराने लगी गुजरिया।
प्यासे अम्बर की अलकों में घिरने लगी बदरिया।

—नन्दकिशोर राय

हिन्दू विश्वविद्यालय,
बनारस

गीत

चाहे मुझ से नहीं किसी को प्यार है,
सब के मन को प्यारा मेरा गीत है

जिसमें जड़ता का चैतन्य प्रसुप्त है,
प्यारी लगती नहीं किसी को धूल है,
मेघों के अभिमंत्रित जल के स्पर्श से
खिलता है जो, प्यारा सब को फूल है।
लवणाकर से निकले अमृत समान ही,
कविता मेरे मानस का नवनीत है,
सब के मन को प्यारा मेरा गीत है

जिसमें उजड़े हुए हृदय की पीर है,
प्यारा पतझड़ का किसको विश्वास है?
पाया तरु ने प्यार जभी ऋतुराज का,
पाया पन्थी ने शीतल विश्वास है।
शिला-शिला टकरायी कोमल भावना,
तब ही जग में गंगा हुई पुनीत है,
सब के मन को प्यारा मेरा गीत है

जो काला है, जो कठोर, निष्प्राण है,
उसी लोह के तारों में झंकार है,
काजल के पानी से खिंची लकीर में
भरा सुरों की वाणी का श्रृंगार है।
धन के जल का पतन, धरा का प्राण है,
यही हार मेरे जीवन की जीत है,
सब के मन को प्यारा मेरा गीत है

—नटवरलाल 'स्नेही'

पर्णकुटी प्रकाशन,
नागदा जं० (म. भा.)

चार मुक्तक

(१)

पसीने से मैंने ये जो तसवीर बनाई है,
मेरी ज़िन्दगी भर की इतनी सी कमाई है,
क्या कह सकता था, जब वे ही खुद कहने लगे—
तसवीर कहाँ ? यह तो एक सस्ती सी रुबाई है

(२)

सुरमई इस साँझ में किसी की याद आई है,
ज़िन्दगी की कशपकश से एक रहनुमाई है,
मेरी कश्ती की क़िस्मत का क्या कहना भाई—
वो घटाओं से घिरी साँझ थी, यह रात छाई है

(३)

हवा में बस अभी अभी तो उभार आया है,
बहुत दिनों बाद का अब करार आया है,
दिल भरा भरा है, आँख पर फिर भी असर नहीं—
वह दास्ताँ ऐसी, कि हमें भी प्यार आया है

(४)

इन आँखों में जाने कितने ही सागर उमड़े हैं,
इन गीतों से जाने कितने ही बादल उजड़े हैं,
ओ साथी ! क्यों हो यह आँसू से भरी बिदाई—
अलग अलग इन राहों पर तो कितने बिछुड़े हैं

—प्रकाश दीक्षित

प्रेमभवन, माधवगंज,
लश्कर (म० भा०)

बर्बर लोगों की प्रतीक्षा

चौराहे पर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?
आज बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे।
सिनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती ?
सदस्य हाथ पर हाथ धरे क्यों बैठे हैं :
कोई कानून क्यों नहीं बनाते ?
आज बर्बर लोग नगर में
प्रवेश करेंगे।

इतने तड़के से हमारा सम्राट् क्यों जाग गया है
नगर द्वार के पास सिंहासन डलवा कर
मुकुट लगा कर
गम्भीरतापूर्वक क्यों बैठ गया है ?

आज बर्बर हमारे नगर में प्रवेश करेंगे
सम्राट् उनका इस्तक़बाल करेगा
उन्हें अभिनन्दन पत्र देगा
उपहार देगा।

हमारे दीवान और मन्त्री
अपने मख़मली लबादे और दरबारी क़लगियों से
सजे सजाए लैस क्यों खड़े हैं ?
भाव जटित बाजूबन्द और पन्नें की जगमगाती अँगूठियाँ
सोने चाँदी की मूँठों वाले राजदण्ड उनके हाथ में क्यों हैं ?

बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे
और ऐसी चीज़ों से

उनकी आँखों में
चकाचौंध होने लगती है

हमारे प्रगल्भ वक्ता आज चुप क्यों हैं ?
भाषण क्यों नहीं देते ! अपना दृष्टिकोण क्यों नहीं प्रस्तुत करते
बर्बर लोग आ रहे हैं
वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते !

यह हलचल कैसी ?
यह गड़बड़ी कैसी ?
(लोगों के मुँह क्यों लटक गए हैं
खिन्न, उदास !)
सड़कें और चौराहें कैसे खाली होने लगे
सब चुपचाप अपने घर कैसे लौट रहे हैं ?

क्योंकि रात आ गई है और बर्बर लोग
नहीं आए ! सीमान्त से आकर
एलचियों ने कहा है
कि बर्बर विजेताओं का तो
अब पता निशान नहीं मिलता !

हाय ! अब हम क्या करेंगे
बर्बर लोग कम से कम एक समाधान
तो प्रस्तुत करते थे !
(चाहे वह कैसा हो !)

—सी. बी. कवफ़ी
—अनु० : धर्मवीर भारती

२३, हैमिल्टन रोड,
इलाहाबाद

पावस गीत

यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !

संध्या की गोदी में सोई धरती निखरी-निखरी !
ज्योत्स्ना तारों के खम्भों औ' तरु शिखरों पर बिखरी !!
जाग उठी नयनों में निंदिया सुन कर दादुर-रोर !
निस्वरता को मुखरित करते कूक-कूक कर मोर !!
मन्द मन्द बहती अलसित पुरवैया ज्योत्स्ना स्नात !
यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !!

और दिनों से अधिक आज है दूरी मुझको खलती !
बढ़ती जाती व्यथा कि जैसे-जैसे रजनी ढलती !!
अभी थमा है मेघों की रिमझिम का गीला राग !
अभी हँसी मेरी विरहिन पीड़ा का विधुर सुहाग !!
प्यासे लोचन तुम्हें खोजते ओ ! मेरे अज्ञात !
यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !!

परियों के पंखों-से लगते कारे भूरे बादल !
छू जाते मन को बनकर तेरी पलकों का काजल !!
अम्बर में मुस्काता है तुम जैसा सुन्दर चाँद !
जिसे निरख कर मुझे तुम्हारी आती बरबस याद !!
रह रह सुधि आ जाते प्राण ! तुम्हारे दृग जल जात !
यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !!

यौवन की अप्सरियों ने डाले गीतों के झूले !
होड़ कर रहीं कौन नीम की डाली पहले छू ले !!
अब न सुनाई पड़ती पपीहरा की तृषित पुकार !
गूँज रही कानों में आ आ क्वारी मेघ मल्हार !!
तुमको भी तो ध्यान हमारा आता होगा स्यात !
यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !!

मेरे प्राणों को बाँधे हैं आज तुम्हारी कारा !
तुमसे मेरा पथ आलोकित ओ ! मेरी दृग तारा !!
दूर दूर तक सिर के ऊपर फैला है आकाश !
तिरती नीरवता के आँगन में मन्थर वातास !!
मैं तुमसे हूँ दूर कि जैसे निशि से स्वर्ण प्रभात !
यह सावन के प्रथम दिवस की भीगी भीगी रात !!

५१, न्यू ईदगाह कॉलोनी वैस्ट,
आगरा, (उत्तर प्रदेश)

—देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

चलना हो तो......

युग कहता है चलना हो तो बढ़े चलो, यदि पीछे रह जाओगे, मिट जाओगे!

चन्दा को रुकने का है अवकाश नहीं
धरणी को रुकने का है अभ्यास नहीं
उषा उदय के पथ पर खड़ी हुई कहती, चलो तभी संध्या तक मंजिल पाओगे!
युग कहता है चलना हो तो बढ़े चलो, यदि पीछे रह जाओगे, मिट जाओगे!

पथ की दृढ़ता लक्ष्य स्वयं पा जाती है
संकल्पों के पास सिद्धि भी आती है
स्थिरता तो है स्वप्न, हटोगे पीछे ही, कहीं न यदि तुम आगे चरण बढ़ाओगे!
युग कहता है चलना हो तो बढ़े चलो, यदि पीछे रह जाओगे, मिट जाओगे!

कोई साध, असाध नहीं है जीवन में,
वैसे कुछ निर्बोध नहीं है जीवन में,
फूलों के स्वामी बन पाओगे तब ही जब शूलों से निर्भयता अपनाओगे!
युग कहता है चलना हो तो बढ़े चलो, यदि पीछे रह जाओगे, मिट जाओगे!

चलने वाली हवा न दूषित हो पाती,
चल-श्वासों में जीवन-जय की है थाती,
शाश्वत गीत ही मानव जीवन का क्रम है, यदि यति चाही तुमने, मृतक कहाओगे!
युग कहता है चलना हो तो बढ़े चलो, यदि पीछे रह जाओगे, मिट जाओगे!

२०/ए, जवाहरलाल नेहरू रोड,
टैगोर टाउन, इलाहाबाद

—श्रीमती शान्ति मेहरोत्रा

शरतचन्द्र

जिस समय रवीन्द्रनाथ बंगला के साहित्य गगन में अत्यधिक प्रकाशमान थे, उन्हीं दिनों शरतचन्द्र का एकाएक आविर्भाव हुआ। बहुत से साहित्यकार ऐसे होते हैं, जो धीरे-धीरे चमक कर बाद को मध्याह्न सूर्य की तरह चमकते हैं, पर शरतचन्द्र जिस समय चमके, उस समय एकदम से मध्याह्न सूर्य की ही तरह चमके। बात यह है कि वे प्रारम्भ में बिलकुल आत्मज्ञान सम्पन्न कलाकार नहीं थे, और एकलव्य की तरह अपने गुरुओं से भी दूर नीरव साधना कर रहे थे।

१८७६ के १५ सितम्बर को बंगाल के हुगली जिले के एक छोटे से गाँव देवानन्दपुर में शरतचन्द्र का जन्म हुआ। उनके पिता मोतीलाल चट्टोपाध्याय साहित्य और कला के अनुरागी थे। उन्होंने चित्रकारी की, उपन्यास भी लिखा, किन्तु कभी भी किसी रचना को पूरा नहीं कर पाए। कुछ दूर तक जाकर वे अपनी रचना को असम्पूर्ण छोड़ कर आगे बढ़ जाते थे और दूसरा काम उठा लेते थे। इसी प्रकार वे कल्पना-विलासी जीव थे। उनकी कोई रचना कभी पूरी नहीं हुई।

शरतबाबू उनकी नौ सन्तानों में एक थे। घर में बच्चों का ठीक-ठीक शासन नहीं होता था यानी कभी जब बालक शरत पढ़ाई लिखाई छोड़ कर इधर-उधर चल देते थे, तो कोई विशेष शोर नहीं मचाता था, पर जब वे लौट कर आते थे, तो खूब मार पड़ती थी और वे पढ़ने के लिए भेजे जाते थे। इस प्रकार वे बार-बार भागते और बार-बार पढ़ने के लिए भेजे जाते थे। ऐसे बालक के लिए भविष्य में साहित्य जगत् के शीर्ष स्थान में पहुँचने की कल्पना नहीं की जा सकती थी, पर जीवन में ओत प्रोत जिस तरह के साहित्य की शरतबाबू ने बाद को चल कर रचना की, उसके रचयिता होने के लिए कदाचित् इसी प्रकार का जीवन होना आवश्यक था। 'देवदास' और 'श्रीकान्त' के लेखक के लिए ग्राम-जीवन की पूरी जानकारी ही नहीं, अनुभूतिपूर्ण व्यावहारिक जानकारी आवश्यक है। 'देवदास' की पार्वती और 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी कपोल कल्पित चरित्र नहीं हैं। ऐसे ही बहुत से चरित्रों की चाभी उनके बचपन के जीवन में मिल सकती है।

उन्होंने अपने बचपन के सम्बन्ध में जो थोड़े बहुत संस्मरण लिखे हैं, उनसे इस प्रकार की बहुत सी बातों पर रोशनी पड़ती है।

किसी प्रकार वे १८ साल की उम्र में एण्ट्रेंस की परीक्षा में पास हो गए। इन्हीं दिनों वे 'वासा' (घर) नाम से एक उपन्यास लिख डाला, परन्तु यह रचना उनके मन के मुताबिक न होने के कारण, उन्होंने उसे फाड़ कर फेंक दिया। उनके पिता मोतीबाबू तो किसी रचना को प्रस्तुत करते-करते ही बीच में निराश होकर छोड़ देते थे, किन्तु पुत्र ने रचना समाप्त तो कर ली। इस प्रकार शरत ने अपनी कई रचनाएँ फाड़ डालीं। बहुत से लोग यह जो समझते हैं कि शरतबाबू एकाएक परिपूर्ण तथा परिपक्व प्रतिभा के अधिकारी होकर साहित्य क्षेत्र में आए, वे बहुत गलती पर हैं। इसी प्रकार उनकी नीरव साधना चलती रही। उन्होंने रवीन्द्र साहित्य के साथ साथ थैकरे, डिकेन्स आदि उपन्यासकारों का अध्ययन किया। हेनरी वुड के प्रसिद्ध उपन्यास 'ईस्टलीन' के आधार पर उन्होंने 'अभियान' नाम से एक उपन्यास लिखा था, साथ ही उन्होंने मेरी कारेली के 'माईटी ऐटम' पुस्तक का बंगला अनुवाद किया, पर उन्हें कभी छपने नहीं दिया।

बात यह है कि यह सब उनकी साधना के सोपान थे, उनका ढिंढोरा पीटने से क्या लाभ? वे इस प्रकार लिखते जाते थे, पर साथ ही राजू नामक अपने एक मित्र के साथ बीच-बीच में कई-कई दिन गायब भी रहते थे।

वे लगन के बड़े पक्के थे। इसका एक उदाहरण यह दिया जाता है कि उन्होंने अपने एक साथी से कहा कि आज रात को मेरे पास कोई पढ़ने के लिए न आना। जब सवेरा हुआ और उनके साथी उनसे पढ़ने के लिए पहुँचे, तो वे बोले : "हमने तो तुम लोगों से अभी कहा था कि कोई मेरे पास आज मत आना, फिर तुम लोग क्यों आए?"

तब लोगों ने उनसे कहा कि महाराज, रात खत्म

हो गई और सवेरा हो गया। इस पर उन्होंने जंगला खोला, तब उन्हें पता कि पढ़ते-लिखते रात बीत गई है। प्रकार हम देख सकते हैं कि जीवन के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ वे मध्य रात्रि का तेल जलाने में भी अग्रगराय थे। भाषा की साधना तो उन्होंने पुस्तकों से ही की।

रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उन पर बहुत अधिक पड़ा। लिखने की साधना उन्होंने बराबर जारी रखी। यह बात नहीं, जीवन-संग्राम की थपेड़ों के कारण वे बीच ही में कालेज की पढ़ाई छोड़ने के लिए बाध्य हुए। उन्होंने बंकिम ग्रन्थावली का पारायण किया। इस सम्बन्ध में पारायण शब्द इच्छापूर्वक प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा : "बंकिम को मैंने इतनी बार पढ़ा कि पुस्तक जैसे कराठस्थ हो गई।"

इसी प्रकार वे जब वर्मा चले गए, तो उनके साथ कवीन्द्र की कुछ पुस्तकें काव्य और कथा-साहित्य था। इन पुस्तकों को भी उन्होंने बार-बार पढ़ा। उन पुस्तकों को पढ़ते जाते थे और उन पर विचार करते जाते थे। इसी के साथ-साथ वे अंग्रेज़ी साहित्य का भी अध्ययन करते जाते थे। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार से उन्होंने कौन-सी पुस्तक लिखी और कैसे-कैसे लिखी।

वर्मा में रहते समय बंगचन्द्र दे नामक एक व्यक्ति के संसर्ग में पड़ गए। यह आदमी विद्वान् था, पर साथ ही शराबी और उच्छृंखल था। इन दिनों शरतचन्द्र ने भी बहुत उच्छृंखल जीवन बिताया। शरतचन्द्र इन दिनों ३० रुपए मासिक के क्लार्क थे और वे मेस में रहते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने 'चरित्रहीन' लिखा, जिसमें मेस जीवन का वर्णन है, साथ ही मेस की नौकरानी से प्रेम की कहानी है।

साहित्य-जगत् में शरतबाबू का प्रवेश बड़े अजीब ढंग से हुआ। शरतचन्द्र जब वर्मा से भारत में आए थे, तो वे अपनी कुछ रचनाओं को भारत में एक मित्र के पास छोड़ गए थे। इस मित्र के कोई और मित्र थे। शरतबाबू को बिना बताए १९०७ में 'बड़ी दीदी' का धारावाहिक प्रकाशन शुरू हो गया। दो-एक किश्त निकलते ही लोगों में सनसनी पैदा हो गई और लोग यह कहने लगे कि शायद रवीन्द्रबाबू नाम बदल कर लिख रहे हैं। यह खबर कवीन्द्र तक पहुँची। कवीन्द्र ने उन किश्तों को पढ़ा, तो पढ़ कर उनकी प्रशंसा की और यह साफ़ कह दिया कि मैं इनका लेखक नहीं हूँ।

शरतबाबू को इसकी खबर साढ़े पाँच साल बाद मिली कि उनकी कोई रचना प्रकाशित हुई है। बात यह है कि छापनेवालों ने शरतबाबू को अंक भी नहीं भेजा था। पर इसके बाद भी उन्हें अपना 'चरित्रहीन' छपाने में बड़ी दिक्कत हुई। 'भारतवर्ष' मासिक पत्र के सम्पादक द्विजेन्द्रलाल राय ने इसे यह कह कर छापने से इनकार कर दिया कि यह सदाचार के विरुद्ध पड़ता है। सबसे आश्चर्य यह है कि द्विजेन्द्रबाबू ने ऐसा किया था।

जो कुछ भी हो अब उनकी गाड़ी चल निकली और एक के बाद एक 'पंडित मोशाय', 'बैकुंठेर विल', 'मेज दीदी', 'दर्प चूर्ण', 'पल्ली समाज', 'श्रीकान्त', 'अरक्षणीया', 'निष्कृति', 'मामलार फल', 'गृहदाह', 'शेष प्रश्न' आदि निकलते चले गए। उन्होंने बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन को लेकर 'पथेर दावी' उपन्यास लिखा! यह पुस्तक पहले 'बंगवाणी' मासिक पत्र में प्रकाशित हुई थी। जब यह पुस्तक धारावाहिक रूप में निकल रही थी, तभी इस पर सरकार की क्रोध-दृष्टि पड़ चुकी थी। पुस्तकाकार छपने पर एक महीने में तीन हज़ार का संस्करण तीन महीने में समाप्त हो गया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने इस पुस्तक को ज़ब्त कर लिया।

जो कुछ पहले लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो चुका कि शरतबाबू अपने लिखने का उपकरण जीवन से लेते थे, विशेषकर उन्होंने अपने जीवन से बहुत-सी बातें लीं। वे स्वयं एक यशस्वी आवारागर्द थे। 'चरित्रहीन' का सतीश, 'श्रीकान्त' का श्रीकान्त, 'पल्ली समाज' का रमेश, 'देवदास' का देवदास पक्के आवारागर्द हैं। इसी प्रकार 'बड़ी दीदी' का सुरेन्द्र, 'दत्ता' का नरेन्द्र, 'गृहदाह' के सुरेश और माहिम आवारागर्द नहीं तो उनका रुझान आवारागर्दी की ओर है। 'पथेर दावी' का डाक्टर एक क्रान्तिकारी है, पर एक क्रान्तिकारी इसके सिवा क्या है कि उसकी आवारागर्दी क्रान्ति को लाने के लिए है। इसका विस्तृत विवरण मैंने अपनी पुस्तक 'शरतचन्द्र : एक अध्ययन' में दिया है।

यह सभी मानते हैं कि शरतचन्द्र के पुरुष पात्रों से उनके उपन्यासों की नायिकाएँ हृदय पर अधिक प्रभाव डालने वाली हैं। शरतचन्द्र की जनप्रियता

केवल उनकी कलात्मक रचना अथवा नपे-तुले शब्दों या जीवन से ओत-प्रोत घटनावलियों के कारण नहीं है, बल्कि उनके उपन्वासों में नारी को जो हमेशा के परम्परागत बन्धनों से मुक्ति मिली, वह सबसे बड़ी बात है। भारतीय नारियाँ धर्म, गतानुगतिकता तथा पैसे के संयुक्त मोर्चे के कारण युगों से पिसी जा रही थीं। अब उनकी रचनाओं में उन्हें मुक्ति मिली। जैसा कि मैंने अपनी उस पुस्तक में लिखा है: "युग-युगान्तर के उनकी पैरों की भारी बेड़ियाँ जैसे झनझना कर टूट गईं। उन्होंने भी जाना कि जीवन में उनका भी कुछ भाग है, जो सर्वदा गौण ही हो ऐसा नहीं। शरतचन्द्र की पुस्तकों में वारनारियों का चरित्र भी सहानुभूति पूर्वक चित्रित है। हमें उनको देख कर ऐसा मालूम होता है कि वे भी मनुष्य योनि की सदस्या हैं, उनमें भी वैसा ही धड़कता हुआ दिल है, जो किसी से निकृष्ट नहीं।"

अभी डा० कैलाशनाथ काटजू ने शरतचन्द्र पर एक लेख लिखते हुए कहा है: "मेरा अनुमान है कि शरतबाबू ने अपनी कला का परिचय अपने नारी पात्रों में ही किया। उनके नारी पात्र अपनी विशिष्टता लिए जैसे एक के बाद एक हमारे मनश्चक्षु के आगे घूम जाते हैं और उनमें से कौन अधिक श्रेष्ठ है, इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक नारी पात्र अपने स्थान पर एकदम अद्भुत है। इनमें से सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक आकर्षक कौन है, यह हर पाठक अपनी रुचि और भावना के अनुसार ही तय कर सकता है। बहुत कुछ यह आदमी के अपने स्वभाव पर भी निर्भर करता है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो १९४१ में 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी से प्रथम साक्षात्कार होने पर ही अपना दिल उसे दे बैठा हूँ। यह एक तरह से पहली दृष्टि में प्रेम होने की सी बात है और मुझे यह कहने में गर्व है कि इस बात को आज १५ वर्ष बीत चुके हैं, फिर भी जैसे राजलक्ष्मी मुझे अपना बन्दी बनाए हुए है।" (नया समाज, फरवरी १९५६)

डा० काटजू कोई साहित्य के विद्वान् रूप से प्रसिद्ध नहीं है, पर वे एक बहुत ही अपने ढंग के प्रतिभाशाली व्यक्ति है, इसलिए उनकी प्रतिक्रिया को हम उच्च शिक्षित वर्ग की प्रतिक्रिया मान सकते हैं। केवल उच्च शिक्षित ही नहीं किसी प्रकार पढ़-लिख लेने वाला प्रत्येक भारतीय शरतबाबू के उपन्यासों को पसन्द करता है। शायद यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सारे भारत में शरतबाबू की पुस्तकों का जितना प्रचार हुआ, उतना रविबाबू की पुस्तकों का भी नहीं हुआ। पर जब हम इससे आगे बढ़ते हैं यानी विश्व साहित्य में देखते हैं, तो रविबाबू के साहित्य का प्रसार शरत-साहित्य से कहीं अधिक हुआ। क्या इसका कारण केवल यही है कि रविबाबू को अंग्रेज़ी में अनुवाद करने वालों का अधिक सहयोग मिला या इसका कारण यह है कि शरतबाबू में भारतीय तत्व बहुत अधिक है?

उपन्यासकार के रूप में शरतबाबू रविबाबू से श्रेष्ठ रहे है, इसमें कोई सन्देह की गुंजाइश नहीं है, पर शरत बाबू में हम एक कमी भी देखते हैं। मैं फिर अपनी पुस्तक से उद्धृत करूँगा: "जिस ग़रीबी के कारण शरत बाबू एफ० ए० की परीक्षा में नहीं बैठ पाए, जिस ग़रीबी के कारण उन्होंने एक तरह से अपने भाई तथा बहनों को रिश्तेदारों में बाँट-सा दिया तथा जिस ग़रीबी में वे बराबर गोता खाते हुए इधर से उधर धक्के खाते फिरे, उसकी तथा मध्यवित्त श्रेणी की सबसे बड़ी समस्या बेकारी का उनके उपन्यासों में कहीं पता नहीं। 'बड़ी दीदी', 'दत्ता', 'देवदास', 'पल्ली समाज', 'गृहदाह', 'ब्राह्मण की लड़की', 'शेष प्रश्न' कहीं भी कोई बेकारी से पीड़ित नजर नहीं आता। 'पल्ली समाज' में ग़रीबी का कुछ चित्रण अवश्य है, पर ग़रीबी के अनिवार्य नतीजे के रूप में ग्रामवासियों के दुर्गुणों को जैसे एक दूसरे में ईर्ष्या, बेईमानी, झूठी गवाही तथा कुसंस्कार पर ज़ोर न दे कर शरतबाबू ने इनको मुख्यतः अशिक्षा के मत्थे मढ़ा है, जो सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है।"

इस कमी के अतिरिक्त शरतबाबू ने समसामयिक मध्यवित्त समाज का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। शरतचन्द्र बहुत अंशों में एक क्रान्तिकारी थे, पर उनके क्रान्तिकारित्व में भी अपरिवर्तनवादिता का भी पुट बहुत गहरा है। 'चरित्रहीन' ही उपन्यास को लिया जाय, उसमें सतीश और सावित्री में परस्पर गहरा प्रेम होते हुए भी उनका मिलन नहीं होता। सतीश तो सरोजिनी से मिला दिया जाता है, पर सावित्री का क्या होता है? शरतबाबू अपने इस आदर्शवाद को बहुत अच्छी तरह छिपा लेते हैं और यह दिखलाया गया है कि

सावित्री ने जान-बूझ कर सतीश को सरोजिनी के हाथों सौंप दिया। इससे सावित्री का चरित्र जिस गौरवमय रंग में रंगा जा कर पाठक के सामने आता है, वह अनोखा है, पर साथ ही यह एक दक़ियानूसी गौरव है, प्रेम की विजय होकर भी नहीं होती या यों कहा जा सकता है कि उसकी विजय का धोखा होता है, क्योंकि प्रेम की विजय केवल अफ़लातूनी सतह पर होती है।

यही बात 'देवदास' की पार्वती के साथ, बल्कि पार्वती और देवदास दोनों के साथ होती है। आजन्म प्रेम का क्या नतीजा दिखाया गया है? यही न कि दोनों का मिलन नहीं होता और वह इस कारण कि जिस किसी तरह भी हो, पार्वती का विवाह एक दूसरे व्यक्ति से हो चुका है। यहाँ प्रेम का तकाज़ा तो यह है कि पार्वती अपने विवाहित पति को छोड़ देती या तलाक़ दे देती और हृदय के पति के साथ विवाह कर लेती। पर जैसा कि मैंने पहले लिखा था—"यदि शरतबाबू अपने उद्भावनशील मस्तिष्क से कोई तरीक़ा निकाल कर पार्वती को देवदास के निकट पहुँचा देते, तो वे हिन्दू विवाह की भयानक ट्रेजेडी को अपनी कला के मुकुर में कैसे दिखला पाते। इसीलिए उन्होंने पार्वती और देवदास के प्रेम को वहीं पहुँचा दिया है, जहाँ पहुँचाने से घर-घर में होने वाली हिन्दू विवाह की ट्रेजेडी को बिलकुल मूर्त पर पाते।" इस प्रकार हम एक अजीब परिस्थिति में पहुँचते हैं, वह यह कि पार्वती और देवदास का मिलन न कराने पर ही यानी प्रेम की जय न कराने पर ही प्रेम की जय के लिए सबसे बड़ा मुकदमा बन कर तैयार होता है। इस प्रकार हम हैं और नहीं भी इस विरोधाभास पूर्ण मत पर उनके मत के सम्बन्ध में पहुँचते हैं।

उनके उपसंहार बिलकुल आदर्शवादी हैं, प्रेम की जो पराकाष्ठा होनी चाहिए, वहाँ तक वे पाठक को पहुँचा देते हैं, पर उसे इस भोंडेपन से विजय में परिणत नहीं कराते कि असली मुकदमा ही बिगड़ जाए। 'देवदास' में तलाक के लिए एक उचित मुकदमा प्रस्तुत होता है। 'चरित्रहीन' विधवा-विवाह के लिए एक तर्क पेश करता है, यद्यपि वह उसमें सरोजिनी के बीच में आ जाने के कारण अच्छी तरह उभर नहीं पाया। 'पल्ली समाज' में विधवा-विवाह का तर्क 'चरित्रहीन' से कहीं साफ़ है।

क्या कारण है कि शरतबाबू अपने युग की सबसे बड़ी समस्या ग़रीबी, शोषण, बेकारी की ओर उतना नहीं झुके? उसका कारण यह है कि उन्हें नर और नारी के प्रेम में समाज के शासन दण्ड की निर्दय मूर्ति दिखाई पड़ी। यह तो कलाकार की बात है, उसे सबसे अधिक कौन सी बात क्षुब्ध करती है। रहा यह कि पराधीनता की ज्वाला का अनुभव वे कर चुके थे, इसी का नतीजा यह था कि उन्होंने 'पथ के दावेदार' नामक उपन्यास लिखा। जैसा कि बताया जा चुका, यह उपन्यास ज़ब्त भी हो गया था। महेश आदि कुछ कहानियाँ भी उन्होंने लिखी थीं, जिनमें शोषण का प्रश्न बहुत उभर कर सामने आया है।

—मन्मथनाथ गुप्त

पब्लिकेशन्स डिविजन,
ओल्ड सेक्रेट्रिएट, दिल्ली

चेकोस्लोवाकिया में भारतीय साहित्य

चेकोस्लोवाकिया में भारतीय साहित्य का बड़ा आदर है। वहाँ अनेक भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं जो कि वहाँ के लोगों में अत्यन्त लोकप्रिय हुए हैं। 'बेतालपचीसी' की चेक अनुवाद की तीन हज़ार से अधिक प्रतियाँ केवल चार घंटों में बिक गईं। एक विख्यात चेक व्याकरण और भाषाशास्त्री ने चेक भाषा में हिन्दी शब्दशास्त्र पर एक थीसिस लिखी है जिसमें उन्होंने भारतीय शब्दशास्त्री श्रीयुत डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या से अपना मतभेद प्रकट किया है। कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का चेक अनुवाद शीघ्र प्रकाशित हो रहा है। चेक विश्वविद्यालयों में प्राच्य साहित्य का अध्ययन करने वालों के लिए संस्कृत का अध्ययन आवश्यक है।

—यशपाल

लखनऊ

साहित्यकार और जीविका

साहित्य-जगत् से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की दुनिया में एक नया, छोटा-सा दुबला-पतला प्रश्न दीखने लगा है। उस दुनिया के बहुत-से महत्वपूर्ण और भारी भरकम प्रश्नों के बीच वह सचमुच अभी एक साधारण, स्वल्पकाय और स्वल्प सामर्थ्य वाला प्रश्न दीखता है, किन्तु उसकी इस दीखने वाली स्वल्पता का कारण उसके सामर्थ्य और गुरुता के अभाव में नहीं, उसकी अल्पवयस्कता में ही है। यह अभी एक नवजात छोटी आयु का ही प्रश्न है और मैं देख सकता हूं कि समय के साथ कलेवर में द्रुत गति से बढ़ कर यह शीघ्र ही एक सबल और महत्वपूर्ण प्रश्न के रूप में साहित्य जगत् के सम्मुख आ रहा है। यह प्रश्न है साहित्यकार अपनी जीविका का उपार्जन कहाँ से करें; अपने साहित्य सृजन द्वारा ही या उससे भिन्न किसी अन्य काम या व्यवसाय के द्वारा।

बढ़े हुए आर्थिक संघर्ष के इन वर्षों में हमारे साहित्यकार के तन-मन पर यह छोटा-सा दुबला-पतला प्रश्न कभी अभी अपने नखों से एक पतली, किन्तु तीखी खरोंच लगा जाता है। बात यह नहीं कि साहित्यकार की आर्थिक संकीर्णता और तत्सम्बन्धी संघर्ष पहले से निश्चित रूप में बढ़ ही गए हैं, किन्तु यह अवश्य है कि उसके मन में जीविकोपार्जन के साधन के सम्बन्ध में द्विविधा और आन्तरिक द्वन्द्व की चुभन अब चुभने लगी है, और वह इस नए प्रश्न की ही देन है। मैं समझता हूं कि इस प्रश्न का अधिक व्यापक और अधिक सीधा सम्बन्ध साहित्यकार की जीविका से नहीं स्वयं साहित्य से है।

आज से तीन वर्ष पहले भारतीय साहित्यकार के सम्मुख यह प्रश्न नहीं था। अपनी सामाजिक, जातिगत और पारिवारिक परम्परा के अनुसार जीविकोपार्जन का जो क्षेत्र उसे सुलभतम रूप में मिल जाता था उसे ही वह निर्द्वन्द्व मन से स्वीकार करता था और उसी के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ अपनी रुचि और क्षमता के अनुरूप साहित्य का सृजन करता था। अतएव व्यापार, वाणिज्य, कृषि, नौकरी, चिकित्सा अध्ययन आदि विविध प्रकार के क्षेत्रों से हमें अपने साहित्यकार प्राप्त होते थे; और उन्हीं में अनेक चिर स्मरणीय महारथियों के नाम गिनाये जा सकते हैं। उन्होंने व्यक्ति और परिस्थिति की आवश्यकता के अनुरूप समर्थतम प्रेरणा दी। भाषा और साहित्य के परिमार्जन एवं समृद्धि में ही नहीं समाज-मानव की जातीय, राष्ट्रीय और नैतिक जागृति में भी उन्होंने असाधारण योग दिया और उनकी कृतियों को अलग रख कर हम अपनी आज की राजनीतिक स्वतन्त्रता की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। यह सब उन्होंने किया, और प्रायः अत्यन्त संकीर्ण और संघर्षमयी आर्थिक परिस्थितियों में जीवन निर्वाह करते हुए किया। उनके सामने यह प्रश्न—केवल अपने साहित्यिक सृजन को ही जीविकोपार्जन का साधन बनाने का प्रश्न—नहीं उठा। उन इने गिने अपवादों की बात छोड़ दीजिए जो अपने अर्थ-लाभ के साधनों से सन्यास लेकर साहित्य-देवता के सेवा-कुण्ड में कूद पड़े और जिनके जीवन-क्षेत्र की चिन्ता समाज को स्वयं करनी पड़ी। किन्तु आज कह सकते हैं, हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता के आविर्भाव के समय से, प्रत्यक्ष रूप में यह प्रश्न हमारे साहित्यकार के सम्मुख उत्पन्न हो गया है। गर्भ से बाहर, साहित्यिक समाज के प्राङ्गण में इस प्रश्न के जन्म की तिथि का निर्धारण आवश्यक हो तो भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के दिन को ही इस प्रश्न का जन्म-दिन कहा जा सकता है। इस प्रकार सात वर्ष का यह नन्हा-सा बाल-प्रश्न आज हमारे सामने है और अधिकांश साहित्यिक जनों का ध्यान अभी इस पर न गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

किन्तु, जैसा मैंने अभी कहा, इस प्रश्न का सम्बन्ध साहित्यकार के जीवन निर्वाह से उतना नहीं जितना साहित्य और साहित्य के सृजन से है; और इसी लिए यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। राजनीतिक स्वतन्त्रता से पहले दूसरी प्रवृत्तियों की भाँति हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी संघर्ष-प्रधान योजनाओं में लगी हुई थीं और अब स्वतन्त्रता के पश्चात् वे निश्चित रूप

से निर्माण-प्रधान योजनाओं की ओर प्रवृत्त हुई हैं—भले ही यह नया परिवर्तन अभी कितना भी अलक्ष्य हो! वृहत्तर कार्य करने की घंटी अब बजी है, निर्माण की आवश्यकता आज सबसे अधिक और उग्र है। और इस निर्माण का पहला क्षेत्र शिक्षा एवं साहित्य का ही क्षेत्र है, इसके पक्ष में युक्तियाँ देने की आवश्यकता नहीं है। देश में साक्षरता की वृद्धि हुई है। स्कूलों, कालेजों के द्वारा शिक्षित वर्ग की जन-संख्या में जो वृद्धि हुई है उसकें अनुपात से उनके अनुकूल जीविका के साधनों की वृद्धि नहीं हुई। परिणाम स्वरूप शिक्षित वर्ग में विशेष रूप से व्यवसायहीनता बढ़ी है। जिस कार्यालय से दस व्यक्तियों की जीविका चल सकती है उसकी ओर पचास व्यक्ति टकटकी लगाए चल रहे हैं। फलतः प्रयत्न, प्रतियोगिता और इसके लिए एक नए प्रकार के परिश्रम का विभाग उस वर्ग के लिए और खुल गया है, जिसका सुफल उनमें से अधिकांश के लिए अत्यन्त दुर्लभ ही सिद्ध होता है। कुछ वर्ष पहले पैतृक या व्यक्तिगत उपार्जनों द्वारा प्राप्त जीविका के क्षेत्रों में जो लोग जमे हुए थे वे बहुत कुछ निश्चिन्त थे; किन्तु आज की प्रतियोगिता ने उन्हें भी आतंकित कर दिया है; अपनी जमी हुई रोज़ी के भी किसी सबलतर प्रतियोगी द्वारा छीने जाने का भय उन्हें लगा रहता है। जीविका के सम्बन्ध में एक स्पष्ट या अर्द्ध स्पष्ट भय सारे समाज में व्याप्त हो गया है, और इसका एक अत्यन्त कटु-रस परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक किए जाने वाले कार्य का आन्तरिक रसकर्ता के लिए सूख गया है और कुछ सिक्कों की प्राप्ति ही उसका एकमात्र रस या फल उसे दीखने लगा है। जीवन के सम्पूर्ण व्यवसाय का उद्देश्य अर्थोपार्जन ही रह गया है और व्यवसाय स्वयं में एक नीरस और अधिकांश स्थलों पर कष्ट-साध्य कार्य बन गया है। ऐसी परिस्थिति में कला-रस और व्यवस्था का स्रष्टा एवं व्यवसायी साहित्यकार का ही संभवतः एक ऐसा वर्ग है जो अपनी कृति में, उसके द्वारा अर्थोपार्जन से पूर्व और अर्थोपाजन के बिना भी, सुहित और सरसता का अनुभव करता है। आज की संघर्षमयी परिस्थिति में जब वह देखता है कि जीविका के द्वार उसके लिए इतने सुगम नहीं हैं कि दाहिने हाथ में अपनी लेखनी को सम्हालते हुए, बाएँ हाथ की थपकी से उन्हें खोला जा सके, तब उसके सामने वह प्रश्न एक बार झूम जाता है। अपनी लेखनी को अलग रख कर वह अपने दोनों हाथों का बल उस द्वार में प्रविष्ट होने के लिए लगाए या लेखनी को लेकर बाहर ही बैठा रहे? एक ओर अपनी लेखनी से उसे मोह है क्योंकि वह देखता है, उसमें उसके लिए रस है और समाज के लिए मंगल भी; दूसरी ओर जीवन-यापन के लिए कुछ धन की भी उसे आवश्यकता है। उसकी लेखनी उसे उतना धन नहीं दे सकती जो उसके जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वह क्या करे? अपनी लेखनी के साथ उसका मोह और नाता यदि कच्चा है तो यह प्रश्न उसे द्विविधा में नहीं रखता और इसको अनदेखा करके वह अपनी लेखनी अलग रख कर निर्द्वन्द्व मन से धनोपार्जन के किसी भी सुलभ क्षेत्र में घुस पड़ता है और अपनी साहित्यकारिता को जीवन भर के लिए नमस्कार कर लेता है। यदि वह मोह और नाता कच्चा नहीं है, किन्तु यथेष्ट पक्का भी नहीं है तो वह कुछ समझौते से काम लेता है। अपनी लेखनी को वह कान के ऊपर खोंस कर दोनों हाथों का बल जीविका द्वार के कपाट खोलने में लगाता है। इस बल-प्रयोग की झपट में उसकी लेखनी उसके कर्णासन से प्रायः एक दो बार गिरती है, किन्तु वह उसे उठा लेता है और जीविका के अपने आराधित क्षेत्र में प्रवेश पाने के पश्चात् अवसर निकाल कर अपनी लेखनी का भी यत्र-तत्र प्रयोग करता है; किन्तु बहुधा देखता है कि उसकी नोक कुछ झड़ी हुई है और वह उसे और उसके समाज को समर्थ प्रेरणा नहीं दे पाती। मैं समझता हूँ कि साहित्यकार की इस परिस्थिति को इन शब्दों में सचित्र करते हुए मैं वास्तविकता से दूर नहीं जा रहा हूँ। अब रह जाता है एक और वर्ग का साहित्यकार जो किसी भी मूल्य पर अपनी लेखनी को हाथ से अलग करने के लिए तैयार नहीं है। भोजन, वस्त्र और जीवन की आवश्यक सुविधाएँ उसे भी चाहिएँ। ऐसे साहित्यकार के सामने यह प्रश्न अधिक सन्देह और उग्र रूप में उपस्थित होता है और मैं समझता हूँ कि उसकी यह उपस्थिति एक नए और विशेष महत्वपूर्ण आविर्भाव की सूचिका है।

आज का साहित्यकार—कम से कम साहित्यिक वर्ग का एक अंश—एकान्त रूप से साहित्यकार ही होना चाहता है; वह अपना पूरा समय और शक्ति साहित्य के

सृजन में ही लगाना चाहता है और जीविकोपार्जन के लिए भी कोई दूसरा कार्य नहीं करना चाहता। वह चाहता है कि उसकी जीवन की आवश्यकताएँ उसके साहित्यिक सृजन के बदले में ही प्राप्त हों। किन्तु उसके सृजन का इतना मूल्य उसे व्यवसाय जगत् से प्राप्त नहीं होता। कृपया ध्यान रखें; मैं बात बहु संख्यक साहित्यकार वर्ग की कर रहा हूँ, कुछ थोड़े से सम्पन्न एवं सुस्थापित अपवादों की नहीं। ऐसे साहित्यकार जीवन-निर्वाह के लिए क्या करे ? मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का उत्तर बहुत सरल था : यही कि जो समझ में आ जाए और बन पड़े वही करे। किन्तु यह प्रश्न कुछ अन्य दिशाओं से जटिल बना दिया गया है। एक ओर से कहा जाता है कि साहित्यकार समाज का विशेष रूप से पूजनीय व्यक्ति है, उसका विशिष्ट सम्मान होना चाहिए, जीवन की सुविधाएँ और समृद्धियाँ उसे सब से पहले प्राप्त होनी चाहिएँ और उनके बदले उसे अपने स्वतन्त्र, स्वेच्छित साहित्य-सृजन से भिन्न किसी अन्य श्रम का स्पर्श नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर से कहा जाता है कि नहीं, साहित्यकार यदि समाज के लिए केवल मानसिक भोजन तैयार करता है तो उसके बदले उसे समाज से भी केवल मानसिक श्रद्धा और सत्कार पा कर ही सन्तुष्ट रहना चाहिए और जब तक वह उनके हाथों से उपार्जित, भौतिक आवश्यकता की स्थूल वस्तुओं के निर्माण में अपना भी हाथ न लगाए तब तक उसका कोई अधिकार नहीं कि उनके भौतिक उपार्जनों में भी अपना हिस्सा माँगे। इस सात्विक, आदर्शवादी पक्ष का कहना है कि भौतिक उत्पादनों की कमी के हस्त युग में बाध्य रूप से साहित्यकार को भी अपने हाथ से कुछ भौतिक उपार्जन का श्रम करना ही चाहिए और ऐसा किए बिना यदि वह समाज से वैसी वस्तुएँ माँगता है तो वह भी शोषण और अपहरण करता है।

इन दोनों पक्षों में से, स्वभावतया, पहले की ओर हमारे साहित्यकार का मन झुकता है किन्तु दूसरे पक्ष की ऊँची आदर्शवादिता भी उसे प्रेरित करती है और शारीरिक श्रम एवं भौतिक सृजन के लिए माँगी हुई प्रतिष्ठा की अवहेलना करने का साहस उसे नहीं होता। विपरीत दिशाओं से आने वाली इन दो प्रकारों के बीच उसकी द्विविधा एवं प्रश्न की जटिलता और भी बढ़ जाती है।

किन्तु मैं समझता हूँ कि इन दोनों ही प्रेरणाओं में कोई स्थायी महत्व का तथ्य नहीं है। पहले प्रकार की प्रवृत्ति का स्रोत हमारी उस अकर्मण्यता-जनित विकृत अहंकार की भावना में है जो कि वास्तव में हमारी हीनत्व भावना (Inferionity Complex) का ही एक विस्तार है; और दूसरी प्रेरणा उस आसनारूढ़ उपदेश-वाद से निकलती है जो अधूरे दर्शन पर खड़ा हुआ है। मेरी दृष्टि में, इस प्रश्न के सम्बन्ध में विधि और निषेध का कोई निर्देश साहित्यकार के सम्मुख न होना चाहिए। अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक प्रेरणा और परिस्थिति के अनुसार कार्य में संलग्न होकर उसी से उसे जीविकोपार्जन की भी राह निकालनी चाहिए। यदि कोई साहित्यकार अपने साहित्यिक सृजन के साथ साथ खेती या बाग़बानी करने, घण्टा दो घण्टा चर्खा चलाने, विद्यार्थियों को पढ़ाने, पत्रों को संवाद भेजने या किसी दूकान की देख-भाल करने का काम भी सुविधा और अवकाश के साथ कर सकता हैं और वैसा करने में उसकी रुचि है तो उसे वह करना ही चाहिए और उससे होने वाली आय का पूरा लाभ उठाना चाहिए। किन्तु यदि ये ही काम उसे अरुचि-पूर्वक, केवल अर्थाभाव की पूर्ति के लिए या दूसरों द्वारा प्रस्तुत उपदेशों के दबाव से करने पड़ें तो वे अनावश्यक हैं और मैं कहूँगा कि उसकी प्रगति के मार्ग के अवरोधक भी हैं। श्रम और सृजन का महत्व निर्विवाद है। किन्तु बौद्धिक श्रम और सृजन भी उतना ही सम्पूर्ण है जितना शारीरिक श्रम और सृजन। इन दोनों स्तरों के श्रम-सृजन में से किसी एक में भी जो व्यक्ति अपने आपको पूर्णतया संलग्न रख सकता है उसे अधिकार होना चाहिए कि वह अपने उसी कार्य के पारिश्रमिक-स्वरूप अपनी भौतिक और बौद्धिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ समाज से प्राप्त करे।

मुझे लगता है कि आज की परिस्थितियों का मूल्याङ्कन आम तौर पर बहुत ग़लत तरीके से किया गया है। समाज में आज अन्न और वस्त्र की तथा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादक श्रम की जो कमी दिखाई देती है वह वास्तव में इन भौतिक वस्तुओं की कमी नहीं; हमारी मानसिक चेतना की ही कमी है। हमारी मानसिक चेतना यदि यथेष्ट रूप में जागृत और व्यवस्थित हो तो वह सहज ही, स्वल्पकाल में बाह्य जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का सृजन कर सकती

है। आज जितनी आवश्यकता खेतों में अन्न की उपज बढ़ाने की है, जन-मानव के हृदय में नवीन विचारों को बोने की आवश्यकता उससे कम नहीं है, बल्कि कुछ अधिक ही है। आज कमी कर्म की नहीं, विचारों की ही है: ठीक विचारों की; क्योंकि ठीक कर्म ठीक विचार का ही एक अविभाज्य, अनिवार्य निचला सिरा है। ठीक विचार ठीक कर्म का सृजन किए बिना नहीं रह सकता और गलत विचार ही गलत कर्म या अकर्मण्यता को जन्म दे सकता है। इसीलिए आज विचारों की खेती की आवश्यकता सब से अधिक है। जीवन के दृश्य और दृश्य से कई गुना अधिक अदृश्य पार्श्वों से एक कठिन दबाव आज मानव-समाज की चेतना पर पड़ रहा हैं और इस दबाव में ही नव-निर्माण के लिए बहुमूल्य सामग्री है। साहित्यिक कलाकार ही मानव-समाज का वह वर्ग है जो इस दबाव को अपने ऊपर सब से अधिक अनुभव करता है क्योंकि उसकी मानसिक बनावट इस दबाव को अनुभव करने के लिए अधिक अनुकूल है और इस दबाव को अपनी लोकोपयोगी साहित्य-कला-कृतियों में रूपान्तरित करके वही इसका अधिक उपयोग भी कर सकता है।

आज हमारे साहित्यकार के सम्मुख आर्थिक उपार्जन के अन्य क्षेत्रों से विमुख हो कर एकान्त रूप से केवल साहित्यकार बने रहने की जो नई प्रेरणा उठने लगी है उसका रहस्य मैं मानता हूँ, मनोजगत् के उस असाधारण दबाव में ही है जो पिछले समयों में इतना अधिक नहीं था। साहित्यकार को, यदि वह इस दबाव को उतने उग्र रूप में अनुभव करता है तो इसका आदर और स्वागत करना चाहिए। उसे अपने मनोनुकूल सुविधाजनक स्थल पर बैठ कर, अपने मनोद्वार के कपाट खोल कर भावना और विचार जगत् के उन नवीन संवादों को ग्रहण करना चाहिए और उन्हें अपने शब्द-चित्रों में उतार कर जन-समाज के मंगल के लिए प्रवाहित करते रहना चाहिए। ऐसा करने के उपरान्त यदि उसके पास अन्य व्यवसाय अथवा उत्पादन के लिए समय या रुचि न बचे तो उसकी उसे चिन्ता न करनी चाहिए। जितना अधिक वह अपनी साहित्य-कला-कृति के रूप में समाज को देगा उतना ही अधिकाधिक वह ऊपर से अपने मानसिक यन्त्र द्वारा ग्रहण करेगा—क्योंकि ऊपर से आने वाले उस प्रवाह का दबाव अपरिमित है और उसका स्रोत अजस्र, अटूट है। समाज की नव-निर्माणकारी शक्तियों को आज के दिन उस साहित्यकार की सबसे बड़ी आवश्यकता है जो अनन्य रूप से विचार नामक वस्तु के ग्रहण, संस्कार और वितरण के लिए स्वयं को समर्पित कर दे। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह बहु-पठित, साधना-सिद्ध, तपोपूत या वयोवृद्ध, साहित्य जगत् का बहु परिचित साहित्यकार ही हो। अपनी कला में दक्षता की किसी भी मंज़िल पर वह हो उसके मनोद्वार के कपाटों का खुला होना ही, मैं समझता हूँ उसका सबसे अधिक आवश्यक और क्रिया-समर्थ गुण है। ऐसा साहित्यकार विचार-सम्पत्ति के आयात-निर्यात का अत्यन्त समृद्ध व्यवसायी बने बिना नहीं रहेगा; शक्ति, सौन्दर्य और सभी प्रकार के लोकोपयोगी सृजनों का वह एक असाधारण स्रष्टा या प्रेरक बन कर ही रहेगा। जब ऐसे साहित्यकार के सम्मुख लोक-मंगल के नाम पर शारीरिक श्रम द्वारा कुछ भौतिक सृजन का, या अपने जीविकोपार्जन के लिए कुछ दूसरा धन्धा करने का परामर्श आग्रहपूर्ण शब्दों में रक्खा जाता है तो मैं उसे अपना एक बड़ा सामाजिक दुर्भाग्य मानता हूँ। वह कोई दूसरा व्यवसाय क्यों करें? क्या उसका अपना व्यवसाय ही ऐसा नहीं है जिसकी गहराइयों में अधिकाधिक उतर कर, अधिकाधिक संलग्न होकर वह और भी अधिक लोकोपयोगी सृजन कर सकता है? इस दिशा में हमारे दुर्भाग्य का वृहत्तर भाग यही है कि बहुत ही कम साहित्यकार एकाग्र एवं एकत्र रूप से साहित्य की आराधना में लगे होते हैं और फलस्वरूप, कारण जगत् में एकत्र समाज के नव-निर्माणकारी भावों और विचारों को मनुष्य की व्यवहारिक चेतना तक उतरने के लिए बहुत ही कम मार्ग मिल पाते हैं। निस्सन्देह साहित्यकार ही उन भावों और विचारों का वाहक, मार्ग-दाता है और समाज के नव-निर्माण के लिए आवश्यक है कि ऐसे साहित्यकारों का एक यथेष्ट-संख्यक वर्ग अनन्य रूप से इस आयात-निर्यात के लिए अपने आपको प्रस्तुत करे। जब तक साहित्यकारों का एक ऐसा यथेष्ट संख्यक वर्ग उपलब्ध न होगा, समाज के रोगोपचार और कायाकल्प के लिए अनिवार्य रूप में आवश्यक शल्यास्त्रों और औषधियों का निर्माण नहीं हो सकेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि सम्पूर्ण रूप से साहित्य सेवा में संलग्न

और उसी से जीविकोपार्जन करने वाले साहित्यकार की माँग उसकी जीविका की माँग नहीं, समर्थ साहित्य की ही एक अनिवार्य माँग है—साहित्यकार की जीविका का नहीं, यह स्वयं साहित्य का प्रश्न है।

किन्तु यह सब मान लेंने पर एक अन्तिम, विकट प्रश्न सामने उठ खड़ा होता है। साहित्ककार का साहित्यिक सृजन उसकी जीविका का पर्याप्त साधन कैसे बने? हमारे देश की पढ़ी-लिखी जनता कुछ तो निर्धन है, और निर्धन से भी अधिक पठन-पाठन के सम्बन्ध में रुचिहीन है। साहित्य का उसे व्यसन नहीं। ऐसी स्थिति में वह साहित्यकार की कृतियों को उस सीमा तक खरीदने के लिए तैयार नहीं है कि जिससे साहित्यकार की जीविका चल निकले। निस्संदेह यह एक विकट, भीमकाय प्रश्न है; लेकिन इसका उत्तर भी जागरूक साहित्यकार ही खोज कर और फिर गढ़ कर प्रस्तुत कर सकता है। जिह्वा और उदर से सम्बन्ध रखने वाले अरुचि, और मन्दाग्नि के रोगों की भाँति यह साहित्यिक रुचिहीनता और अनध्याय की समस्याएँ भी हैं। जीवन की अन्य समस्याओं की भाँति इस साहित्यिक अरुचि और अनध्याय की समस्या पर भी साहित्यकार को ही प्रकाश डालना पड़ेगा; और निस्संदेह आज की परिस्थिति में वह एक अग्रगामी दल का विशेष अभिनंदनीय साहित्यकार होगा जो जन-रुचि को जीवन प्रगति की इस अत्यावश्यक पहली दिशा में जागृत करने की व्यवहार-सुलभ प्रेरणा देगा। देश में जन-मानस में यदि नव-निर्माण का संस्कार करना है तो उसके लिए सबसे पहली आवश्यकता यही है कि जनता को नवीन विचारों को ग्रहण करने या कम से कम पुरानी अहितकर रूढ़ियों एवं संकीर्णताओं से मुक्त होने के हेतु कुछ सुनने-सोचने के लिए तैयार किया जाए। इसके लिए आवश्यक परिस्थितियों और वातावरण का सृजन जनता और शासकीय व्यवस्था के सहयोग से सुलभ हो सकता है।

जिस प्रश्न को लेकर मैंने अपने ये विचार आपके सामने रक्खे हैं उसे मैंने आज से सात वर्ष पहले अपनी जीविका के प्रश्न के रूप में ही सुना था। मुझे परम संतोष है कि मैंने उसका उत्तर देने में साहस और सावधानी से काम लिया। मैंने देखा कि यह प्रश्न वास्तव में जीविका का प्रश्न नहीं, स्वयं साहित्य-देवता का आह्वान है। यह आह्वान आज हमारे नवजागृत देश के साहित्याकाश में अधिकाधिक मुखरित होकर गूँज रहा है। साहित्य का देवता समाज की सूखी क्यारियों को अपने नए पानी से प्लावित करने के लिए उमड़ आया है। उससे लेकर समाज को देने के लिए देने के लिए बहुत कुछ है। प्रत्येक साहित्यकार तो इस आह्वान को सुन सकता है, इसे स्वीकार करने का अधिकारी है। बड़े-छोटे, प्रौढ़ायु, अल्पायु, अति समर्थ-अल्प समर्थ और सुप्रसिद्ध-अप्रसिद्ध का भेदभाव इसमें नहीं है। साहित्य के देवता को उन सब की आवश्यकता है जो उसके आह्वान का उत्तर दे सके। वह उन सब का यथावत् उपयोग करने में समर्थ है। उस आह्वान को स्वीकार करने के पश्चात् मैंने अपनी अल्प-पात्रता और अल्प-सामर्थ्य का नई और अप्रत्याशित दिशाओं में उपयोग होते देखा है। यह आह्वान अपने प्रत्येक स्वयं-सेवक को उसकी अज्ञात सीमाओं तक सक्रिय बनाने की क्षमता रखता है। साहित्य-देवता का यह आह्वान आज आन्तरिक और बाह्य अनेक दिशाओं से साहित्यकार को पुकार रहा है। व्यावहारिक धरातल पर हृदय परिवर्तन यज्ञ के प्रणेता संत विनोबा भावे के मुख से हम इसे सुन रहे हैं। और सब से अधिक समर्थ अपने हृदय के भीतर से ही एक नई प्रवृत्ति, नई आकांक्षा और नई एकाग्रता के रूप में हम उसे सुन रहे हैं। साहित्यकार के मन में एकाग्र रूप से साहित्यकार बन रहने की कामना जो प्राय: जीविका के प्रस्तुत प्रश्न का आवरण ओढ़ कर प्रकट होती है, उसके अन्तर से आनेवाली उस पुकार की ही प्रतिध्वनि है। उस पुकार की अवहेलना समाज की प्रगति के लिए अत्यन्त घातक होगी; और इसीलिए आज साहित्यकारों को एक स्वयं-सम्पूर्ण, सम्भ्रान्त, स्वतन्त्र एवं समर्थ व्यवसाय बनाने की आवश्यकता अनिवार्य है।

—रावी

कैलाश, पो० सिकन्दरा,
आगरा

कालिदास के नाटक

कालिदास ने काव्य और नाटक दोनों समान रूप से लिखे हैं। संसार में उनके 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की जितनी ख्याति हुई उतनी उनके किसी अन्य रचना की नहीं। यूरोप में अनेक लोग ऐसे हैं जिनको कालिदास का नाम याद नहीं रह पाता पर 'शाकुन्तल' का रहता है। महाकवि के नाटकों में तो मर्म का जीवन और भी स्वाभाविक रीति से खुल पड़ा है।

सृजनशील कल्पना की समृद्धि सुकुमार भावों की अभिव्यंजना, जीवन का सहज निरावरण इन नाटकों के वैभव हैं। सारे आवेग इनमें प्रदर्शित होते हैं पर सीमा कोई नहीं लाँघता। भावों में ग़ज़ब की सुकुमारता है पर दुर्बलता उनमें कहीं नहीं। रसों का इनमें अद्भुत प्रतिपादन हुआ है। प्रकृति कहीं मानवता से विलग नहीं हो पाती। पात्र प्रकृति से सर्वत्र सर्वदा घने सम्बन्ध से बँधे रहते हैं। तरु, लता, कुसुम, मृग हंस, कोकिल, मृग के बीच पात्र जैसे उनका संबोधन करते हुए चलते हुए घूमते हैं।

महाकवि के तीन नाटक माने हुए हैं। 'मालकाग्निमात्र', 'विक्रमोर्वशी' और 'अभिज्ञानशाकुन्तला'। इनमें पहली उसकी प्रारंभिक कृति है। निश्चय ही यह भावों और शैली की प्रांजलता में शेष दोनों की ऊँचाई तक नहीं उठ सका है परन्तु इसकी अपनी विशेषताएँ हैं जिनकी चर्चा हम नीचे करेंगे।

१. मालविकाग्निमित्र : यह पाँच अंकों में लिखा नाटक है। 'शाकुन्तल' या विक्रमोर्वशी की भाँति इसकी कथा दूर के महामाल या स्वर्गलोक के पात्रों से सम्बन्ध नहीं रखती। इतिहास की कथा नाटक की कहानी है, निकट के इतिहास की ही। दृश्य राजप्रासाद के हैं। विदिशा नगरी के जिसे नाटक देखने वाले कवि के जीवन काल में भले प्रकार जानते होंगे।

मौर्य वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को मार कर उसका पुरोहित और सेनापति पुष्यमित्र शुंग मगध की गद्दी पर बैठा था और भारत में उसने पहला ब्राह्मण राजवंश स्थापित किया था। नाटक का नायक उसी का पुत्र अग्निमित्र है, अधेड़ और दो-तीन नारियों वाला। पिता सम्राट् है दूर पाटलिपुत्र में पर पुत्र कुल के मूल स्थान विदिशा को केन्द्र बना साम्राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी प्रान्तों पर शासन करता है। बाद में अग्निमित्र ही पिता के मरने पर साम्राज्य का स्वामी भी हुआ था। अभी वह उसका प्रतिनिधि शासक है यद्यपि उसकी उपाधि 'राजा' है और अपनी सीमा में उसे प्रायः स्वतन्त्र शासन के सभी अधिकार प्राप्त है वह युद्ध और सन्धि तक इच्छानुसार कर सकता है। कथानक दूसरी सदी ईसवी पूर्व के इतिहास से सम्बन्ध रखता है और उसके दृश्य विदिशा के राजमहल में रखे गए हैं। नाटक का नायक राजा अग्निमित्र और नायिका मालविका विदर्भराज की भगिनी है। उसमें उनके प्रेम की कहानी है। मालविका को उसकी असाधारण सुन्दरता के कारण अपने पति का स्वभाव जान कर रानी, जिसकी संरक्षा में वह रहती है, राजा की आँखों से दूर ही दूर रखती है। राजा का मालविका से मिलने के अनेक प्रयत्न अन्तःपुर के छोटे मोटे षड्यन्त्रों का रूप धारण कर लेते हैं। हरम रखनेवाले राजाओं से सर्वथा भिन्न आचरण से इस राजा का होता है। यद्यपि इस सुन्दरी के लिए राजा जितना ही प्रयास करता है रानी उतना ही उसमें विघ्न डालती है पर इससे राजा किसी प्रकार का निरंकुश व्यवहार नहीं करता, रानियों के प्रति उसका नित्य का ललित सम्मान युक्त व्यवहार बना रहता है। पीछे जब पता चलता है कि रानी की अनुचरी होते हुए भी मालविका वस्तुतः जन्म से राजकुमारी है और अभाग्य के उदय से उसने विदिशा के राजमहल में शरण लिया है तब दोनों के सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं पड़ती और अग्निवर्ण का मालविका से विवाह हो जाता है। मालविकाग्निमित्र का विदूषक कालिदास के सभी विदूषकों से अधिक कार्य कुशल और धूर्त है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशी के विदूषकों से कहीं अधिक कौशल का वह धनी है और उसका कार्य उनकी तरह केवल भोंड़े और शिथिल आहार सम्बन्धी परिहास कर राजा को प्रसन्न करना नहीं है बल्कि नायक का वह सही माने में सखा है और उसके षड्यन्त्र बड़ी

कार्य निपुणता से वह सम्पादित करता है। वस्तुतः राज प्रासाद की सारी षड्यन्त्र परम्परा उसी के केन्द्र से चलती है, उसी को उंगली से उसके सारे सूत बँधे हैं।

'मालविकाग्निमित्र' का कथानक अंक-विभाजन के अनुसार इस प्रकार है। पहले अंक में राजा विदर्भराज की धृष्टता पर नीति-शास्त्र के अनुसार उसे दण्ड देने के लिए सेना भेजता है और चित्रशाला में मालविका का सुन्दरतम चित्र देख कर चित्रगत पात्र के तद्वत् सौन्दर्य में सन्देह करता है। दूसरे अंक में विदूषक की चतुराई की सहायता से राजकीय संगीत, अभिनय आदि के दो आचार्यों—गणदास और हरदत्त में संघर्ष छिड़ जाता है। कौन अधिकतर कुशल है यह जानने के लिए गणदास और हरदत्त के शिष्यों के नृत्य-प्रदर्शन करना निश्चित होता है। उस सम्बन्ध में संगीत अभिनय के ऊपर शास्त्रीय कथोपकथन आचार्यों में होते हैं और उसके प्रदर्शन के निमित्त मालविका भावप्रदर्शन के लिए रंगमंच पर आती है, रानी धारिणी, परिव्राजिका, राजा आदि अभिनय देखते हैं। राजा अब कहता है कि चित्रकार ने तो चित्र में मालविका के सौन्दर्य के साथ न्याय ही नहीं किया, वह तो उससे कहीं अधिक सुन्दर है। चित्रकार तो वस्तुतः चित्र बनाते समय शिथिल समाधि हो गया है। उसके बाद अगले अंकों में मालविका को प्राप्त करने के षड्यन्त्र चलते हैं। तीसरे अंक में मालविका सखियों सहित बगीचे में अशोक दोहद (नूपुर पहने पैर से अशोक की जड़ छूकर उसे पुष्पित करना) करते आती है। राजा भी विदूषक के साथ वहीं है। राजा और प्रेयसी अलग-अलग अपना विरह वर्णन करते हैं। तभी राजा की दूसरी रानी इरावती पिए हुए आती है और इस भ्रम से कि दोनों प्रेमी वहाँ मिलते रहे हैं मान करती है और मालविका को दण्ड देने का निश्चय करती है, राजा उसे समझाता है। मालविका सखी के साथ कारागार में डाल दी जाती है। अगले अंक में विदूषक बड़ी चालाकी से साँप काटने के बहाने रानी की सर्प-चिह्नित अंगूठी लेकर और सन्तरियों को दिखा कर मालविका को छुड़ा कर प्रमदवन (नजर बाग) में लाता है। राजा और मालविका वहाँ मिलते हैं। अन्तिम पाँचवें अंक में सेनापति (सम्राट् पुष्यमित्र के [illegible]) का पत्र आता है जिससे मालूम होता है कि अग्निमित्र और धारिणी के पुत्र वसुमित्र अपने अश्वमेध दीक्षित पितामह पुष्यमित्र के अश्व की रक्षा करता सिन्धुनद तक जा पहुँचा था और वहाँ उसने ग्रीकों को हरा कर देश से बाहर कर दिया। पहले तो रानी बहुत घबड़ाती है कि उसके ज़रा से लड़के को कितना खतरे का कार्य सौंपा गया है पर उसके विजय की बात सुन कर प्रसन्न होती है। उधर मालविका की बात भी खुलती है कि वह विदर्भ की राजकन्या है, राह में डाकुओं ने लूट लिया था। विजय की प्रसन्नता में रानी अग्निमित्र का मालविका से विवाह करा देती है। विदर्भ को उसके राजा दोनों भाइयों में बाँट कर अग्निमित्र वहाँ की राजनीति भी सम्हाल देता है। कथानक समाप्त हो जाता है।

इस नाटक में दो बातें विशेष महत्व की हैं। एक तो यह कि, जैसा अन्यत्र लिखा जा चुका है, कवि ने भास आदि प्रसिद्ध नाटककारों की तुलना में अपना नाटक अधिक समर्थ मान कर समीक्षकों को चुनौती देता है कि प्राचीन-अर्वाचीन के आधार पर नाटक को न जाँच उसके गुण-दोषों से उसे जाँचें। दूसरे इस नाटक का इतिहास-पक्ष बड़ा सबल है। भारतीय इतिहास के एक प्रसंग पर इसके यवन (ग्रीक) सम्बन्धी उल्लेख से बड़ा प्रकाश पड़ा है। शुंगों का साम्राज्य सीमा प्रान्त के सिन्धु नद तक फैला हुआ था, पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया जिसके अश्व की रक्षा करता उसके पोते वसुमित्र ने ग्रीकों को देश से बाहर निकाल दिया आदि इस नाटक से जाने गए। पुष्यमित्र के अश्वमेध की बात तो उनके अभिलेख से भी ज्ञात थी पर 'मालविकाग्निमित्र' से उसकी पुष्टि हो गई है। (विशेष ऐतिहासिक महत्व के लिए देखिए मेरा 'कालिदास का भारत' परिशिष्ट २)।

२. विक्रमोर्वशी : 'विक्रमोर्वशी' और 'शाकुन्तल' संस्कृत नाटक-क्षेत्र के सर्वोत्तम रोमांटिक उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशी पाँच अंकों का त्रोटक है। 'त्रोटक' पाँच, सात, आठ या नौ अंकों का होना चाहिए और उसमें घटनाएँ पार्थिव और स्वर्गीय दोनों होनी चाहिएँ। 'विक्रमोर्वशी' का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है :

चन्द्रवंश का राजा ऐल पुरूरवा अप्सराओं से यह सुन कर कि उनकी सखी त्रिलोक सुन्दरी उर्वशी को असुर उठा ले गए हैं, जाता है और असुरों को परास्त कर उर्वशी को छीन लेता है। फिर उसे अपने रथ में

बिठा कर राजधानी लाता है। राजा और उर्वशी दोनों एक दूसरे के प्रति अति मात्रा में अनुरक्त होते हैं। पर उर्वशी देवनारी है, इन्द्र के लोक में विचरने वाली उसकी प्रधान अप्सरा है और उसका कर्तव्य इन्द्र के साहचर्य में है। इन्द्र का सन्देश आने पर उसे स्वर्ग जाना पड़ता है और प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। पहले अंक की कथा समाप्त हो जाती है।

दूसरे अंक में राजा अतीव प्रेम विह्वल हो अपने प्रमदवन में घूमता है। उसका विचारण पग-पग पर उसकी विरहाकुल स्थिति को व्यक्त करता है। तभी उर्वशी थोड़ी देर के लिए प्रमदवन में सहसा आ जाती है। पुरूरवा की अपनी रानी भी है। उर्वशी अपने पत्र में राजा के प्रति अपना प्रेमोन्माद प्रकाशित करती है और वह पत्र रानी के हाथ में पड़ जाता है। रानी अप्रसन्न हो कर मान कर बैठती है और राजा के लाख मनाने पर भी नहीं मानती।

तीसरे अंक में भी उस मान की सविस्तार कथा चलती है और राजा रानी को मना कर प्रसन्न करता है। उसका मान व्रत का मनोहर रूप मधुर गेय श्लोक में इस प्रकार कवि ने व्यक्त किया है :

"सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा
पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना
मयि प्रसन्ना वपुषेव लक्ष्यते"

राजा कहता है कि "श्वेत वसन और सुहाग की रक्षा पात्र के लिए इने गिने आभूषण पहने, अलकों में पावन दूब के अंकुर धारण किए शरीर से व्रत समाप्त कर अभिमान छोड़ कर विराजती रानी मुझ से प्रसन्न दीखती है।" राजा रानी के निकट पहुँच कर उससे भी कहता है :

"अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम्
प्रसादमाकांक्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते"

"कल्याणि, इस कठिन (मान) व्रत से मृणाल (कमलतन्तु) कोमल अपने तन को अकारण गलाती हो। इस अपने प्रणयी दास को जो तुम्हारी प्रसन्नता की कामना करता है (स्वयं प्रसन्न होकर) क्यों नहीं प्रसन्न करती।" शब्दों में बड़ी सुकुमार माधुरी भरी है। जभी तो रानी उत्तर में कहती भी है—'इस व्रत का ही तो यह प्रभाव है कि आर्य ऐसा कहते हैं।'

इसी बीच एक और घटना घट चुकी है। इन्द्र-लोक में 'लक्ष्मी स्वयंवर' नाटक होता है जिसमें उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय करती है। उसका मन अन्यत्र है, अपने प्रणयी पुरूरवा में लगा है। सो अभिनय के बीच जब जब उससे पूछा जाता है कि उसका हृदय किससे आसक्त है तब वह पुरुषोत्तम विष्णु का नाम लेने के बजाय पुरूरवा का नाम ले लेती है। परिणामस्वरूप नाटक बिगड़ जाने से उसके निदेशक भरत को बड़ा क्रोध आता है और वह उसे शाप दे देते हैं। परन्तु इन्द्र उर्वशी को क्षमा कर उसे पुरूरवा के पास भेज देता है। उसका मृत्युलोक में रहना वह तब तक स्वीकार करता है जब तक उससे पुरूरवा को पुत्र न मिल जाय।

चौथे अंक में श्लोकों में बड़ी गेयता है। दोनों प्रेमी कैलास पर्वत की उपत्यका में विचर रहे हैं। उर्वशी सहसा कुमार-कानन में प्रवेश कर जाती है। देव कुमार के उद्यान नारियों का प्रवेश वर्जित था। भरत मुनि का शाप फल जाता है और उर्वशी तत्काल लता बन जाती है। राजा विषाद के वशीभूत हो उसे सर्वत्र खोजता है। वाल्मीकि के राम की भाँति वह पक्षियों-पशुओं, पर्वतों तक से उर्वशी को पूछता है और अन्त में नेपथ्य वाणी सुन कर वह संगम-मणि प्राप्त करता है जिसके प्रसाद से उसकी उर्वशी उसे फिर मिलती है। उस संगम-मणि को लेते हुए राजा ने अत्यन्त सरल भाषा में मधुर वक्तव्य किया है :

"तया वियुक्तस्य निमग्नमध्यया
भविष्यसि त्वं यदि संगमाय मे
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः
शिखामणिं बलमिवेन्दुमीश्वरः"

यदि उर्वशी से वियुक्त मेरा उससे तुम फिर संयोग करा दो तो मैं तुम्हें शिव के भालचन्द्र की भाँति अपने मस्तक पर धारण करूँगा। तभी जब राजा निकट की लता को हृदय से भेंटता है। वह उर्वशी बन जाती है और वह देखता है कि उसकी प्रिया उसके अंक में बैठी है। इसके बाद कई वर्ष बीत जाने पर पाँचवें अंक की

कथा रंगमंच पर अभिनीत होती है। उर्वशी के पुरूरवा से आयु नाम का एक पुत्र हुआ है जिसे उर्वशी ने चुपचाप ऋषि के आश्रम में रख दिया। आश्रम के विरुद्ध एक आचरण से बालक को नगर में रहने योग्य समझ मुनि उसे पिता के समीप भेज देते हैं। अब इन्द्र की व्यवस्था के अनुसार उर्वशी को देवलोक लौट जाना चाहिए। पर दैत्यों का संहार करने से पुरूरवा से प्रसन्न होकर देवराज उर्वशी को पुरूरवा को ही सौंप देता है और उर्वशी मृत्यु लोक में ही राजा के साथ रहने लगती है। नाटक समाप्त हो जाता है।

विक्रमोर्वशी का कथानक ऋग्वेद के उर्वशी और पुरूरवा-संवाद से लिया गया है, परन्तु कालिदास ने प्राचीन कथा में काफ़ी परिवर्तन कर दिया है। उसके चौथे अंक में कुछ अपभ्रंश के गेय छन्द हैं जिनके राग भी उनके साथ ही मिलते हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि सम्भवतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. अभिज्ञान शाकुन्तल : अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास की अत्यन्त प्रौढ़ कृति और संस्कृत साहित्य का सुन्दरतम रत्न है। युग प्रवर्तक जर्मन कवि गेटे इसका अनुवाद पढ़ कर दीवाना हो गया था। उसने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उनके 'फ़ास्ट' पर भी इस नाटक का प्रभाव पड़ा।

'शाकुन्तल' की कथा महाभारत के प्रथम पर्व से ली गई है। पर उसमें भी, विशेष कर उसके नायक के चरित्र चित्रण में, उसने पर्याप्त अन्तर डाल दिया है। यह सात अंकों में समाप्त होने वाला 'नाटक' है। नाटक पाँच से दस अंकों तक का होना चाहिए। उसकी कथा प्रचीन इतिहास या पुराण-प्रसिद्ध होनी चाहिए, नायक उदात्त होना चाहिए और उदात्त, उन्नत भावों का भली प्रकार प्रस्फुरण होना चाहिए। 'शाकुन्तल' उस दिशा में अनुपम आदर्श प्रस्तुत करता है। संक्षेप में उसकी कथा इस प्रकार है :

नाटक अत्यन्त शान्त प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। नटी के गायन के पश्चात् हस्तिनापुर का पुरुवंशी राजा दुष्यन्त रथ पर चढ़ा, आखेट करने आता है। रथ छोड़ वह आश्रम में प्रवेश करता है। महर्षि कण्व नहीं है पर अतिथियों के सत्कार का भार उनकी पालिता (विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की) कन्या शकुन्तला के ऊपर है। शकुन्तला को देखते ही राजा उस पर आसक्त हो जाता है। घर पर उसकी कई रानियाँ हैं पर इस रूप की चोट वह सह नहीं सकता। शकुन्तला भी उसे देख कर उस पर मुग्ध हो जाती है। पहला अंक समाप्त हो जाता है।

दूसरे अंक में राजा का विदूषक मित्र माढव्य अपनी खिन्नता प्रगट करता है। राजा के प्रणय अहेर के मारे वह परेशान है। जंगल का जीवन उसे पसन्द नहीं है जहाँ बन-बन पशुओं के पीछे भागना पड़ता है और तीसरे पहर कहीं शूल पर भुना हुआ सुअर का मांस खाने को मिलता है। वह हस्तिनापुर लौट जाना चाहता है।

तीसरे अंक में शकुन्तला प्रणयताप से विह्वल है। कुंज में पुष्पशय्या पर पड़ी है जहाँ सखियाँ विविध साधनों और उपचारों से उसके ताप का मान घटाने और शीतलता प्रदान करने का प्रयत्न करती है। राजा वहाँ जाकर अपना भी प्रणय प्रगट करता है और शकुन्तला के साथ गंधर्व विवाह करता है। फिर उसे अपनी अंगूठी दे आश्रम को कुछ काल बाद आदमी भेज कर बुलावा लेने का आश्वासन दे हस्तिनापुर चला जाता है। इधर शकुन्तला का विरह उसे विह्वल कर देता है और वह अपनी सुधबुध खो बैठती है।

उसी स्थिति में चौथे अंक का विष्कम्भक आरंभ होता है। सुधबुध खोई स्थिति में ही दुर्वासा आते हैं और शकुन्तला को सब कुछ से, उनके आतिथ्य से भी, विरत और उदासीन देख अपना अपमान समझ उसे शाप दे देते हैं कि उसका प्रिय उसे नहीं पहचानेगा। सखियों के अनुनय-विनय से अन्त में अपना शाप नरम करते हुए ऋषि कहता है कि राजा की दी हुई अंगूठी दिखाने पर राजा उसे फिर पहचानने लगेगा। कण्व लौट कर जब शकुन्तला और राजा दुष्यन्त के गन्धर्व-विवाह की बात सुनते हैं तो प्रसन्न होते हैं। राजा की ओर से किसी के न आने पर वे स्वयं गौतमी और ऋषि कुमार शारद्वत और शार्ङ्गरव के साथ शकुन्तला को हस्तिनापुर भेज देते हैं। उस समय की विदा बड़ी हृदयग्राहिणी है। शकुन्तला अपनी सखियों प्रियंवदा और अनुसूया से, शुक-सारिका और मृगों से, तरुलताओं तक से, पिता और सभी आश्रमवासियों से करुण हो विदा लेती है। वस्तुतः यह विदा का दृश्य अत्यन्त मार्मिक है। उस अवसर पर गृहस्थ के सिर से कन्या का

भार उतरने और पिता के उससे बिछुड़ने की अवस्था दोनों का अपूर्व वर्णन हुआ है। इसी से चौथे अंक की महिमा समीक्षकों और काव्य-मर्मज्ञों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है।

पाँचवाँ सर्ग भी अत्यन्त करुण है पर दूसरे रूप में ऋषिकुमार जब हस्तिनापुर शकुन्तला को लेकर दरबार में पहुँचते हैं तब राजा दुर्वासा के शाप के कारण किसी प्रकार उसे नहीं पहचान पाता और बड़ी शिष्टता से कह देता है कि जिस गर्भवती नारी को हम नहीं जानते उसे घर में रखने में हमें आपत्ति है। इस पर ऋषि कुमार और गौतमी शकुन्तला को वहीं छोड़ कर चले जाते हैं। पुरोहित अपने यहाँ उसे प्रसवोत्पत्ति तक रखने को तैयार है पर शकुन्तला अभिमान पूर्वक उसे त्याग कर बाहर निकल जाती है और उसकी माँ उसे मारीचि के आश्रम में पहुँचा देती है।

इसके बाद विष्कम्भक में सिपाही उस धीवर को लेकर राजा के पास जाते हैं जिसके पास राजा के नाम से अंकित अंगूठी है। इसी अंगूठी के खोजने के कारण यह सब उपद्रव हुआ था क्योंकि ऋषिकुमारों के कहने पर शकुन्तला पहचान के लिए राजा को उसकी अंगूठी नहीं दिखा सकी थी। राह में ही नदी में स्नान करते समय वह जल में गिर गई थी और उसे एक मछली ने निगल लिया था। वही मछली धीवर के जाल में फँस गई थी। और अंगूठी उसे मिल गई थी। राजा को अंगूठी देखते ही सारा पूर्व वृत्तान्त याद आ गया। आगे के दो अंकों में उसके उसी विरह जनित अवसाद का मर्मस्पर्शी वर्णन है। तभी इन्द्र का सारथी उसे दैत्यों को हराने के लिए देवराज के बुलाने पर रथ लिए आता है। सातवें अंक में राजा दैत्यों को परास्त कर जब आकाश मार्ग से लौटता है तब हेमकूट पर उतर कर मरीचि के आश्रम में जाता है और वहाँ मलिनवसना-व्रत किए हुए शकुन्तला को देखता है। उसका पुत्र भरत भी वहीं अनेक प्रकार के खेल करता है। राजा अपना अपराध स्वीकार करता है और दोनों का सम्मिलन हो जाता है।

"अभिज्ञान शाकुन्तल" का एक नैतिक रहस्य भी है। उस दृष्टि से दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों दोषी हैं और दोनों का दण्ड समाप्त हो चुकने पर उनको शान्ति मिलती है और नाटक का उद्देश्य पूरा होता है। कालिदास के छः ग्रन्थों में बीसों स्थलों पर राजा को वर्ण और आश्रम धर्मों का 'गोप्ता' (रक्षक) कहा गया है। वह 'वर्णाश्रमाणां रक्षिता' है, वर्णाश्रमों के रक्षण-कर्म में अनवरत 'जागरूक' है। वर्णाश्रम धर्म की सीमा का जब कोई पात्र उल्लंघन करता है तब-तब महाकवि की क्षुब्ध लेखनी उस पर आग उगलने लगती है, चाहे ऐसा पात्र राजा अथवा 'तपस्विसुत' ही क्यों न हो। कालिदास के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मान कर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण करने वाला व्यक्ति वह पापी है जो नियत द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था का विरोध करता है। शासन और सामाजिक व्यवस्था मनुष्यों ने कैसे प्राप्त की थी? एक मत होकर सारे देवताओं ने ब्रह्मा से एक ऐसा व्यक्ति माँगा जो शासन और दंडनीति द्वारा समाज का नियन्त्रण कर सके, उसमें होने वाले अपचार के कारणों को दण्ड की आग में जला सके। फलस्वरूप मनु मिले जिन्होंने मानव जाति को सर्व प्रथम समाज और शासन की व्यवस्था दी। उस व्यवस्था को, जिसकी मनुष्यों ने स्वयं याचना की थी, भंग करना युवकों के लिए अत्यन्त गर्हित था। जो ऐसा करने का साहस करेगा वह कितना साहसिक होगा? उसका दमन आवश्यक है। ऐसी ही व्यवस्था भंजकों के दमनार्थ जब राजधर्म का सृजन हुआ है तब राजा वर्णाश्रम के अन्वीक्षण में सतत जागरूक क्यों न हो? इसी कारण जब-जब वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा हुई है तब-तब कालिदास ने राजा को उसके रक्षण-धर्म की याद दिलाई है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' उसी रक्षण धर्म का एक सर्वांगपूर्ण उदाहरण है। समूचा नाटक एक स्रोत जिसके पूर्वभाग का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म की क्षति से और उत्तर भाग का उसके दण्ड से है। उसकी उद्देश्यपरकता यह सिद्ध करने में है कि समाज की व्यवस्था तोड़ने वाला चाहे समर्थ राजा चाहे तपस्वी ऋषि की सुकुमारी कन्या ही क्यों न हो, उस पर दण्ड विधान का चक्र निश्चय प्रवृत्त होगा क्योंकि वह चक्र व्यक्तित्व की अपेक्षा नहीं करता, सब पर समान रूप से चलता है।

दुष्यन्त मृगया करता हुआ कण्वाश्रम में पहुँचता है। कुलपति नहीं है। परन्तु आश्रम के आधार की रक्षा के लिए अनेक तपस्वी हैं, और ऋषिकन्या शकुन्तला अतिथि सत्कार के लिए विशेष प्रकार से

नियुक्त है। अतिथि का आचरण करने वाला दुष्यन्त इस कन्या द्वारा की गई पूजा सभी प्रकार से स्वीकार करता है। अर्घ्यादि प्रदान करने के साथ ही आश्रम-वासिनी सरला कन्या अपना सर्वस्व अर्पण कर बैठती है। प्रेम का संचार पहले दुष्यन्त के हृदय में ही होता है और उसकी वृत्ति चोर की सी हो जाती है। साधारण ग्राम्य रूप उसके प्रेम का नहीं दीखता, बल्कि लुका-छुपा नागरी प्रेम का प्रत्यक्षीकरण होता है। ग्राम्य प्रेम खरा और निश्छल होता है, नागर प्रच्छन्न और मिश्रित। ग्राम्य प्रेम का अन्त प्राजापत्य विवाह में होता है, नागर का प्रायः गन्धर्व में। नागर प्रेम से ओतप्रोत दुष्यन्त शकुन्तला के शरीर गठन की कमनीयता को चोर की भांति छिप कर वृक्ष की ओट से देखता है। शकुन्तला भी जब दुष्यन्त को देखती है, उसी की हो जाती है। दोष किसका है? दुष्यन्त का या शकुन्तला का? क्या यह दोष है भी? मनुष्य जहाँ होते हैं वहीं उनकी दुर्बलताएँ भी होती है। फिर भी परम्परा के अनुसार तपोभूमि विराग का स्थल है, केलि का कानन नहीं। सांसारिक सुखों का आस्वादन समाप्त कर चुकने पर मनुष्य वहाँ जाता है। यह आश्रम वह स्थल है जहाँ यम, दम, नियमादि का पालन होता है। यदि वहाँ भी सांसारिक इन्द्रिय लोलुपता घर कर ले, तब आश्रम का उद्देश्य नष्ट हो गया। इसी कारण 'वेतस निकुंज' के गांधर्व प्रेम के अनन्तर अनुसूया घबड़ा उठती है—आश्रम के नियमों पर वरुण की भांति दृष्टि रखने वाले कुलपति कण्व के आने पर यह अनाचार की बात कैसे कही जाएगी? इस पाप की जघन्यता स्वयं शकुन्तला क्या नहीं समझती? व्यवहार मात्र को देख-देख आज इस व्यवहार के युग में भी जब बिना सावधान किए ब्राह्मण का पाँच वर्ष का बालक यह जानता है कि जूठे हाथों घड़ा नहीं छूना चाहिए, बिना पाँव धोए चौके में नहीं जाना चाहिए, तब क्या तपोधनी कण्व की कन्या आचारयुत आश्रम में आजन्म रह कर भी, नित्य-प्रति सम्पादित होने वाले क्रिया प्रबन्धादिकों को देख कर भी, उचित अनुचित नहीं समझती? वह कला जानती है, प्रणय की पीड़ा। पहचानती है, अनुकूल आकर्षण की प्रेरणा से उसे सात्विक खेद और रोमांच हो आते हैं, खुले दरबार में शास्त्रों में अकुण्ठित बुद्धि रखने वाले अप्रतिरथ सम्राट् की वह उसके अनौचित्य पर भर्त्सना कर सकती है, फिर उसे क्या इतना भी बोध नहीं कि गान्धर्व विवाह आश्रम की भूमि के उपयुक्त नहीं? इतना होने पर भी उसने अनाचार पर कमर कसी। अपना तो सर्वस्व उसने दे ही डाला, प्रधान कर्तव्य भी वह भूल गई। पिता कण्व ने उसे अतिथि-सेवा में नियुक्त किया था परन्तु प्रेम-वारुणी का पान कर वह अपनी सुध-बुध इस तरह खो बैठी कि उसे अपने धर्म का ज्ञान न रह गया। जब शरीरधारी ब्रह्मचर्य मानो दुर्वासा के रूप में आश्रम में उपस्थित होता है, तब भी वह सुप्त है। अतिथि सत्कार वह भूल गई है। दुर्वासा के आगमन के समय शकुन्तला दुष्यन्त के विरह में तप रही है। उसे अन्य किसी विषय का ध्यान नहीं। परम तेजस्वी रुद्ररूप दुर्वासा के पधारने का उसे किंचित मात्र भी ध्यान नहीं। 'कुमार सम्भव' में उमा भी शिव को पति रूप में पाने के लिए तपश्चरण करती है। कवि उसका वर्णन करता है—

> ''मृणालिकापेलवमेवमादिभि
> व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयस्यहर्निशम्
> तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं
> तपस्विनां दूरमधश्चकार सा''

उसमें दुर्वासा की भाँति ब्रह्मचर्य शिव के रूप में ब्राह्मण का वेश धारण कर उमा के समक्ष जाता है। उमा की यही परीक्षा है पर वह उसमें पूर्णतया सफल होती है। उसके 'स्फुरत्प्रभा-मण्डल' में कोई विकार नहीं होता। कठिन तपस्या के पश्चात् भी वह अपने को भुलाती नहीं, अपने आश्रम को पहचानती है। पर वही ब्रह्मचर्य जब शकुन्तला के पास जाता है तब वह उसे नहीं पहचान पाती। पार्वती तो पति ही की चिन्ता में थी, उसे प्यार का व्यवहारज्ञान था। यदि कहीं उसका पतन हुआ होता तो वह क्षम्य होता, क्योंकि उसने तो जान बूझ कर उस मार्ग में पग रखा था। परन्तु शकुन्तला में तो वह रूप कभी जाना ही न था। सदा आश्रम में रहने वाली कन्या का अपने पद की रक्षा न करते हुए आश्रम वृत्ति के विरुद्ध आचरण क्योंकर क्षम्य हो सकता था? यदि शकुन्तला ने मर्यादा का उल्लंघन न किया होता तो बहुत संभव था कि परीक्षक ब्रह्मचर्य दुर्वासा का रूप छोड़ दुष्यन्त बन जाता। परन्तु वहाँ तो स्वयं ब्रह्मचर्य को आश्चर्य हो रहा था। युगान्त तक कण्व

सरीखे महात्मा द्वारा दीक्षिता कन्या भी अपचार का एक झोंका न सह सके, कैसे अनर्थ की बात है ? ब्रह्मचर्य बारह वर्ष से अधिक काल तक उस कन्या का उस पुनीत आश्रम में शरीर और चरित्र का गठन काल रहा था परन्तु दुष्यन्त के दर्शन मात्र ने उसके शरीर में यह कौन-सी बिजली दौड़ा दी जिससे उस क्षणिक सम्बन्धी दुष्यन्त के सम्मुख इस चिर परिचित ब्रह्मचर्य को भी शकुन्तला ने ठुकरा दिया ? ब्रह्मचर्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी, दुर्वासा का रुद्र रूप व्यक्त हो पुकार उठा :

> "आः अतिथिपरिभाविनि,
> विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
> तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
> स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपिसन्—
> कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥"

ब्रह्मचर्य का प्रमाणतः धीरज छूट गया था। जहाँ शकुन्तला को आश्रम की निवासिनी होने के कारण ब्रह्मचर्य को सदा आश्रय देना चाहिए था, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा तो दूर रही उसके स्वयं आकर उपस्थित होने पर भी वह उसकी उपेक्षा करती है। चिल्ला कर वह कहता है कि मेरा धन तप है, मैं तपोभूमि का धन हूँ, तुम मेरे राज्य की प्रजा हो, तुम्हें बराबर मेरी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मेरे ही भीतर अपनी स्थिति रखने की तुमने दीक्षा ली है, सो स्वयं तो तुम मेरी प्रतिष्ठा क्या रखोगी मेरे स्वयं आ कर उपस्थित होने पर भी (उपस्थित अपि न वेत्सि !) मेरा तिरस्कार करती हो। मैं स्वयं उपस्थित हो कर तुम्हें अपनी सत्ता का बोध कराता हूँ, फिर भी तुम अपनी अवस्था पर अपने कृत्य पर आश्चर्य नहीं करती। इसलिए जिसकी चिन्ता में तुम इस समय रत हो वह स्मरण कराने पर भी तुम को नहीं पहचानेगा, जैसे तुम मुझे नहीं पहचान रही हो। पर शकुन्तला ने सोचा—वह क्या चीज़ है ? मैंने जहाँ अब गुंठन हटा अपना यह नयनाभिराम भुवनमोहन रूप दिखाया, लुभ जाएगा, चुंबक-सा खिंच आएगा। परन्तु यह क्या ? वहाँ तो वह व्यवस्थापक के रूप में 'धर्मासन' से तिरस्कार पूर्वक निर्घोष कर उठा—

भोस्तपोधनाः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामि। तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्वलक्षणां प्रत्यात्मनं क्षेत्रिणमाशंकमानः प्रतिपत्स्ये।

नारी का अपमान इससे अधिक और क्या हो सकता है, इससे बड़ा उसको दंड क्या है कि वह खुले दरबार में व्यवहार "आसन" घर बैठे राजा-पति द्वारा तिरस्कृत हो। 'अभिव्यक्तसत्वलक्षणा' होती हुई भी, उसकी ओर इंगित करती हुई भी वह ठुकरा दी जाए। शकुन्तला इस दुःख से जर्जर हो उठती है, फिर जब तप से तप कर वह शुद्ध होती है तब कहीं दुष्यन्त उसे प्राप्त होता है। तप से तपने के लिए वह कण्व के आश्रम में नहीं जा सकती क्योंकि वह जीवन का पूर्वकाण्ड है, ब्रह्मचर्य का। उसका उत्तर काण्ड तो मरीचि के आश्रम में काश्यप के आलोचनात्मक नेत्रों के नीचे है। वह वानप्रस्थाश्रम है जहाँ के प्रशान्त वातावरण में शकुन्तला का पुत्र ही अकेला शैशव के शब्दों का उच्चारण करता है। वहाँ वास करती हुई शकुन्तला से उसका उपहास करता हुआ वानप्रस्थ नित्य पूछता होगा—"अप्रौढ़े तेरा गार्हस्थ्य कहाँ है ?" गार्हस्थ्य तो शकुन्तला ने खो दिया था। ब्रह्मचर्य व्रत-भंजन के साथ ही उसका भी नाश हो चुका था। फिर वह उसे क्यों कर सुखी कर सकता ? ब्रह्मचर्य का सहज और स्वाभाविक अन्त गार्हस्थ्य में होता है, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ में और वानप्रस्थ का सन्यास में। जिसकी नींव ही बिगड़ जाए उसके अगले आश्रमों की अट्टालिका भला किस पर खड़ी हो ? इस आश्रम में नित्य शकुन्तला को ग्लानि होती होगी। काश्यप नित्य उसे पतिव्रत का उपदेश करते हैं। एक-एक उपदेश देह धारण कर जैसे शकुन्तला से पूछता होगा—"तेरा पति कहाँ है ? यह तेरा पुत्र कैसा ? तू स्वीकृता है या परित्यक्ता ?" उसका दण्ड कितना भीषण है, कोई शकुन्तला से पूछे।

राजसभा में औरों के साथ स्वयं शकुन्तला भी राजा को धिक्कारती है, उससे झगड़ती है पर एक बार भी यह नहीं कहती कि जिस दोष को व्यवस्थापक और परिपालक राजा होकर तुमने स्वयं किया उसका दण्ड तुम मुझे किस अधिकार से दे सकते हो ? कालिदास साधारण कवि नहीं है। दुष्यन्त राजा आज है, जब वह शकुन्तला को व्यवस्था तोड़ने के अपराध में दण्डित कर रहा है। चाहे वह उसकी प्रेयसी ही क्यों न हो। जिस समय स्वयं दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम में व्यवस्था भंग की थी उस समय वह राजा नहीं था, साधारण

प्रेमी मात्र था। कम से कम शकुन्तला उसे साधारण 'तपोवन धर्म की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष' (राज्ञः परिग्रहोऽयमिति राजपुरुषं मामवगच्छथ) मात्र ही जान कर स्वीकार करती है। इसलिए उसे क्या अधिकार है जो वह चुनौतीपूर्वक राजा से कह सके कि स्वयं राजा (जो 'वर्णाश्रमाणां' रक्षिता है) होकर तुमने वही अनर्थ किया तब एक ही पाप के भागी दोनों में से एक दण्ड घोषित करे, और दूसरा उसे भोगे यह कैसा न्याय है? पर नहीं, दुष्यन्त अब प्रेमी नहीं है। वह केवल राजा है, और कुछ नहीं। वह उस आसन पर शासन की बागडोर धारण किए दण्ड निग्रह के अर्थ बैठा है जिसे कालिदास ने कहीं 'धर्मासन' कहीं 'कार्यासन' कहीं 'व्यवहारासन' कहा है। उस आसन के साथी न्याय और दण्ड है, पत्नी और प्रेयसी नहीं। शकुन्तला का दण्ड हो चुका।

अब दुष्यन्त, उसका दण्ड और भी कठोर है। यद्यपि वह साधारण नागरिक की हैसियत से प्रेम करता है और अपने उत्तरदायित्व को कम करने के लिए अपने को साधारण राजपुरुष घोषित करता है, परन्तु नियति का नियामक उसे पहचानता है। व्यवस्था दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ने तोड़ी है, दोनों ने समान अपराध किया है, दण्ड दोनों को मिलेगा। शकुन्तला को मिल चुका, पर दुष्यन्त को दण्ड दे कौन? उससे बड़ा कौन है? मनुष्य तो उसे दण्ड दे नहीं सकता, क्योंकि राजा 'सर्वातिरिक्तसार' विशेष व्यक्ति है, 'सर्वतेजोमय' है, पृथ्वी के सारे तत्त्वों को लेख की भांति आक्रान्त कर स्वयं उन पर शासन करता है—

"सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥रघु० ११४॥

वह देवताओं का अंश है। जब दिलीप की रानी सुदक्षिणा गर्भ धारण करती है तब उसके गर्भ में सारे लोकपाल प्रवेश करते हैं—

"नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः॥रघु०, २७५॥

सो इन्द्रादि देवताओं के अंशरूप, अथर्ववेद और ऐतरेय ब्राह्मण के मन्त्रों से अभिषिक्त, शासन-शपथ के धनी कालिदास के इस राजा को भला मानव रूप में कौन दण्ड दे सकता है? उसे स्वयं वही दण्ड देगा। नियति स्वयं उस पर अपना शासन-चक्र रखेगी। उसके शरीर में देवताओं का निवास है: सब मिल कर उसे दण्ड देंगे।

छठे अंक के आरम्भ में नागरिक शकुन्तला को दी हुई अंगूठी दुष्यन्त के पास ले जाता है। राजा के नेत्र अंगूठी देख कर भर आते हैं। यदि कोई साधारण कलाकार होता तो राजा को विक्षिप्त बना देता। परन्तु कालिदास का राजा अपने गहरे दुःख की स्मृति में भी राजधर्म का सम्पादन करता है, और अन्यत्र कुछ समय बाद जब प्रथम बार उसका कण्ठ खुलता है, तब उसकी दीनदशा का बोध कराने वाली उस करुणा वाणी का सृजन होता है जो कभी किसी प्रायश्चित्ती ने न कही होगी:

"प्रथमं सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं संप्रति विबुद्धम्।"

अभागे हृदय, जब मृगनयनी प्रिया ने पहले आकर बार-बार जगाया तब तो तुम सोते रहे और जब यह एकान्तिक दुःख ठुकरा रहा है तब (उसकी गहराई समझने के लिए) जग उठे हो।"

दण्ड का आरंभ हो चुका है। इसकी कठोरता और निर्ममता यदि किसी को देखनी हो तो वह छह और सातवें अंकों में दुष्यन्त को देखे। वहाँ उसके दंड और प्रायश्चित्त का सूक्ष्म दर्शन हो सकता है। उसका हृदय दुःखातिरेक से जाग उठा है, वही जो प्रिय की कोमल स्मृति के आघातों तक से नहीं जागा था। दुर्वासा के रूप में ब्रह्मचर्य ने भी यही कहा था—तुम स्वयं मेरी मर्यादा क्या रखोगी, मद्यपी की नाईं आचरण करती हो, मुझ स्वयं आए हुए को देख कर भी औचित्य नहीं पालती, इसलिए बार-बार स्मरण कराने पर भी तुम्हारा प्रेमी तुम्हें नहीं पहचानेगा शकुन्तला के पक्ष में तो यह शाप पूरा उतरा, परन्तु क्या दुष्यन्त के पक्ष में भी सत्य सिद्ध हुआ? हाँ, उसे शकुन्तला ने बार-बार याद दिलाया—"चेतो, पहचानो मुझे, बेबस, निकुंज वाली को, कितने अवसाद का स्थल है कि प्रेयसी अपना संकेत स्थलों तक को बता देती है परन्तु दुष्यन्य महोदय फिर भी नहीं जागते। दुष्यन्त की ओर से आश्रम की व्यवस्था कहाँ रक्षित हुई थी? उसने यद्यपि अपने

को राजा न ही बताया पर आश्रमों की रक्षा में नियुक्त राजपुरुष तो बताया ही था। ऐसी अवस्था में भी उसने कौन-सा कम पाप किया ? अब वह क्या करे ? दुःखावेग निरन्तर बढ़ता जाता है और उसकी पराकाष्ठा तब होती है जब वह इन्द्रलोक से लौट कर मरीचि के आश्रम में जाता है और वहाँ अपने तनय सर्वदमन को गोद में लेता है। माँ के आने पर बालक उससे पूछता है—"माँ, भला यह कौन है ?" दुःख की भारी परित्यक्ता पत्नी, समाज की व्यवस्था का उल्लंघन और उसके भयंकर दण्ड का स्मरण कर पुत्र से कहती है—"ते भागधेयानि पृच्छ"—तू अपने भाग्य से पूछ ! बेटा अपने भाग्य से क्या पूछे ? उसका भाग्य कहाँ है ? किसने उसका सृजन किया ? उसके इस भाग्य का, जिसके फलस्वरूप उसका पिता व्यवहारसन से—न्याय की कुर्सी से—न्यायालय में चिल्ला कर कहते हैं—तुम मेरे नहीं हो, उस भाग्य का स्रष्टा कौन है ? शकुन्तला और दुष्यन्त का अपावन प्रेम। वह प्रेम जिसने ऋषि प्रणीत पवित्र अनुशासन की उपेक्षा करके आश्रम की व्यवस्था को भंग किया। 'ते भागधेयानि पृच्छ' की अभिज्ञान शाकुन्तल की कुंजी है जिससे इस रहस्य की पेटी के भेद का परदा हटता है। सारे दुःखों को समेट कर शकुन्तला ने इस वाक्य का उच्चारण किया है। कालिदास की कला ने उस व्यंग्य में अकथनीय मार्मिक चोट भर दी है। एक बार दुष्यन्त की सारी शक्ति क्षीण हो गई, शक्ति जो दुर्जन्य असुरों का अभी-अभी संहार कर विजयिनी हुई थी। उसके लिए स्थिति अब असह्य हो उठती है। आश्रम में प्रवेश करते ही उसने शकुन्तला को विरहव्रत धारण किए देखा था और उसे बड़ी ग्लानि हुई थी। क्या वेश था तब शकुन्तला का, और क्या बीती थी दुष्यन्त पर—

"वसने परिधूसरे वसना
नियतक्षाममुखी धृतैकवेणिः
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला
मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति

"धूलभरे (मैले) वसन पहने हुए हैं, एक वेणी धारण किए हुए हैं, नियम की परुषता से (मण्डन के साधनों के अभाव में) रूखे मुख वाली हो गई है। और वह शुद्ध स्वभाव वाली मुझ अत्यन्त निठुर का विरहव्रत धारण किए हुए हैं।" यह श्लोक प्रायः उसी स्थिति को व्यक्त करता है जिसे मानिनी रानी को देख कर राजा पुरूरवा का वक्तव्य (जिसे अन्यत्र उद्धृत कर आए हैं) व्यक्त करता है यद्यपि एक इनमें अत्यन्त दुःख अन्याय के परिणाम स्वरूप है दूसरी ईर्ष्या से प्रसूता विक्रमोर्वशी की रानी को फिर भी विश्वास था, जैसा उसने राजा से उत्तर में कहा भी, कि उसी मान-व्रत का यह परिणाम था कि राजा उससे वैसा पिघल कर बोला निःसन्देह इस शकुन्तला के व्रत और नियम परुषता का ही यह परिणाम था कि दुष्यन्त के मुँह से यह अतीव करुण—वसने परिधूसरे वसालां के श्लोक निकला। और जब अपनी सारी व्यथा और व्यंग्य संघात रूप में एकत्र कर शकुन्तला पुत्र के 'यह कौन है ?' प्रश्न के उत्तर में कह उठती हैं—ते भागधे यानि पृच्छ ! (अपने भाग्य से पूछ !)—तब तो सचमुच दुष्यन्त के पावों तले जमीन सरक जाती है। वह शकुन्तला के चरणों पर गिर जाता है। वह उसे उठा कर गले से लगा लेती है। दोनों ओर से आँसुओं की धाराएँ निकल कर प्रायश्चित्त रूप में उनके पापों के ऊपर बह जाती हैं। इस दण्ड रूप भट्टी में जल कर जब उनका पाप भस्म हो जाता है, तब पुत्र रूपी राग उत्पन्न हो कर उनके हृदयों के घावों को दोनों ओर बैठ कर भर देता है। शकुन्तला और दुष्यन्त अपना गार्हस्थ्य को जो सारे आश्रमों का आधार है, नए सिरे से प्रतिष्ठित करते हैं।

यह है शकुन्तला की नैतिक उद्देश्यपरक नाट्यता, अत्यन्त करुण, निष्ठाजन्य, अभिराम, जिसमें शिव और सुन्दर समान रूप से व्यवस्थित हैं। संसार की कोई कृति इतनी मधुर इतनी सुकुमार और इतनी शालीन नहीं।

—भगवतशरण उपाध्याय

थार्नहिल रोड
इलाहाबाद

विश्व में एक भी ऐसा चतुर मनुष्य नहीं है जिसने कभी-न-कभी यह अनुभव न किया हो कि वह मूर्ख है और कोई ऐसा बड़ा आदमी नहीं है जिसने यह अनुभव न कि वह छोटा है।

—जे. के. चेस्टरटन

राष्ट्रीय काव्य के प्रकार और उसके आलम्बन

राष्ट्र शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है। इसमें एक भूभाग पर निवास करने वाली समस्त जनता की भावनाओं और विचारों की प्रतीक संस्कृति तथा और भी जो चीजें वहाँ हैं, सभी सम्मिलित होती हैं। देश में जो कुछ भी अच्छी या खराब चीजें होती हैं सभी राष्ट्रीय संपत्ति हैं और उन सबसे राष्ट्र के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। किसी देश की सभी इकाइयों की समष्टि ही राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप है किन्तु कुछ व्यापक तथा अनिवार्य तत्व ही राष्ट्र के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करते हैं। इसमें धर्म, संस्कृति, भाषा जनता, तथा भूमि एवं राजनीतिक विचार प्रमुख हैं। भौगोलिक स्थिति का भी अपना महत्व है। और इस कारण राष्ट्र का प्राकृतिक स्वरूप भी महत्व की चीज होती है। इन सब का राष्ट्र के स्वरूप निर्धारण में समान महत्व है। और जहाँ इन सब का समान महत्व स्वीकार किया जाता है, वहाँ राष्ट्रीयता का सम्यक्, स्वस्थ तथा पूर्ण विकास सम्भव हो जाता है। युग-विशेष में किसी एक इकाई के अधिक प्रभावशाली हो जाने के कारण राष्ट्रीयता के बाह्य स्वरूप में या उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर हो जाता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहता। उसमें परिवर्तन या विकास अवश्यम्भावी है। उदाहरण के लिए यदि किसी देश में, किसी युग विशेष में धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बलवती है, तो उस समय उस देश की राष्ट्रीयता धार्मिक परिधान में दिखलाई देगी। धर्म का संरक्षण एवं संवर्द्धन ही उस देश की राष्ट्रीयता हो जाती है। यद्यपि कोई-कोई प्रवृत्ति अधिक बलवती और विकृत होकर राष्ट्रीयता के मूल स्वरूप को भी विकृत कर देती है; किन्तु यह सच है कि सर्वदा सभी प्रवृत्तियों का सन्तुलन नहीं बन पाता परिस्थितियों एवं युगप्रभाव के कारण किसी प्रवृत्ति की ओर जनता का विशेष झुकाव हो ही जाता है। यह दूसरी बात है कि किसी इकाई का प्रभाव राष्ट्रीयता के मूल स्वरूप को अधिक विकृत करता है और किसी का कम। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता सदा एक ही स्वरूप में गृहीत नहीं होती, उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। राष्ट्रीयता के इस परिवर्तन या विकास-क्रम का प्रभाव काव्य पर पड़ना स्वाभाविक है क्योंकि जिस समय उसका जो स्वरूप रहेगा काव्य उसकी ही अभिव्यक्ति करेगा। काव्य राष्ट्रीयता के दायरे से आगे नहीं जा सकता। राष्ट्रीयता का स्वरूप जनता की एक भावना विशेष के रूप में ही गृहीत होता है और काव्य उस भावना की अभिव्यक्ति का ही स्वस्थ रूप है। इसलिए राष्ट्रीय काव्य समय समय पर अपना स्वर बदलते रहते हैं। नीचे की पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उपर्युक्त दृष्टिकोण से राष्ट्रीय काव्य कितने प्रकार के हो सकते हैं और वे किस प्रकार राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति करते हैं।

राष्ट्रीय काव्य के दो भेद : उस समय राष्ट्रीय भावनाएँ और मुखर हो उठती हैं, जब राष्ट्र पर कोई संकट आता है। राष्ट्र के जिस अंग पर संकट उपस्थित होता है, तत्सम्बन्धी भावना का अधिक प्रभाव फैल जाता है। कभी कभी इसका उलटा भी होता है। जब दमन की चक्की में उक्त अंग अच्छी तरह पीस दिया जाता है तो उसका प्रभाव क्षीण हो जाना स्वाभाविक है। भारत के ऊपर जब राजनीतिक संकट उपस्थित हुआ, तो कुछ दिनों तक जनता में राजनीतिक चेतना वर्तमान रही। बाद में चल कर यह विकृत हो गई। यहाँ के राजे-महाराजों में एक क्षुद्र सीमा तक राजनीतिक चेतना अवशेष रह गई और जब वे पूरी तरह कुचल दिए गए तो जनता की राजनीतिक भावनाएँ मन्द पड़ गईं। किन्तु प्रतिक्रिया स्वरूप इसकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक संकट उपस्थित हुआ, इसलिए जनता की एतद् सम्बन्धी भावनाएँ प्रबल हुईं; जनता की राष्ट्रीय जागृति के एकांगी हो जाने का कारण पूर्ण रीति से राजनीतिक परतन्त्रता का सम्पन्न हो जाना ही है। हिन्दी का भक्ति काल धार्मिक भावना की जागृति के फलस्वरूप ही है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कोई भी चेतना पूर्णतः मर नहीं जाती। ऐसा होना तो राष्ट्र का मरण है और ऐसी स्थिति में वह पुनः उठ नहीं सकता। कम से कम

भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ। भक्तिकाल में भी जनता की राजनीतिक भावनाएँ भीतर ही भीतर सुलग रही थीं। यही कारण है कि देश में कहीं न कहीं राजनीतिक जागृति संकुचित पैमाने पर ही सही दिखलाई दे रही थी। जनता की भावनाओं के सच्चे प्रतिनिधि तुलसीदास ने "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं" के रूप में इसकी अभिव्यक्ति की है। राणा प्रताप और बाद में शिवाजी की कारगुजारियाँ इस चेतना की ही ओर संकेत करती हैं। इधर राष्ट्रीय आन्दोलन का जो रूप बना, उसके विकास क्रम का अध्ययन करने से यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि जब राष्ट्रीयता के समूचे स्वरूप पर धीरे-धीरे संकट बढ़ता गया तो जनता की राष्ट्रीय भावनाएँ भी सभी रूपों में ऊपर आने लगीं। फलस्वरूप बीसवीं सदी के द्वितीय दशक के आते-आते भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरम विकास पर पहुँच गया। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संकट के समय में राष्ट्रीय भावनाएँ संघटित होकर संकट को दूर करने की प्रेरणा देती है। ऐसे समय का राष्ट्रीय काव्य विशेष महत्व रखता है। जिस समय राष्ट्र पर कोई संकट नहीं रहता, उस समय राष्ट्रीय भावनाओं में ज्वार नहीं आता। वह शान्त सागर की तरह अगाध और गम्भीर होती है। पूर्णतः उसका मन्द हो जाना तो राष्ट्र की मृत्यु है। इसलिए वह मन्द तो नहीं ही पड़ती किन्तु उसकी अभिव्यक्ति निर्माणात्मक एवं गरिमा की ओर रहती है। इस समय का राष्ट्रीय काव्य आनन्द के गीतों एवं राष्ट्रीय वैभव का चित्रण करने में अधिक सजग रहता है। इस प्रकार राष्ट्रीय काव्य के मूलतः दो भाग हो जाते हैं। पहले में संकटग्रस्त राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति और प्रेरणा होती है तथा दूसरे में स्वतन्त्र निर्माणोन्मुख राष्ट्रीयता की झलक होती है। दोनों प्रकार के काव्यों के स्वरूप में बहुत अन्तर है।

उपर्युक्त दोनों पक्षों के राष्ट्रीय काव्य का सम्बन्ध कुछ-कुछ शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्ष की तरह होता है। जैसे पूर्ण श्रृङ्गार रस का परिपाक वियोग पक्ष में भी सम्भव है तथा वहीं हमें प्रेम की विविध गहन अनुभूतियों का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार संकट-कालीन राष्ट्रीय काव्य की भी दशा होती है। उसमें राष्ट्रीयता के विविध भाव बहुत ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं। बात यह है कि संकट काल में जनता की समस्त भावनाएँ राष्ट्रीयता के रंग में रंग जाती हैं। फल यह होता है कि कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं बचता जिसमें राष्ट्रीय भावनाएँ उत्फुल्ल न हो उठती हों। इसलिए इस समय का राष्ट्रीय काव्य अनेक आलम्बनों के माध्यम से राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति करता है। ऐसे ही समय में किसी देश का राष्ट्रीय काव्य पूर्ण राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हो जाता है। दैवात् हिन्दी साहित्य का सारा जीवन राष्ट्रीय संकट के समय में ही बीता है, इसलिए इसमें राष्ट्रीय काव्य की एक लम्बी और गौरवमय परम्परा स्थापित हुई है। इस निबन्ध में हम हिन्दी साहित्य के राष्ट्रीय काव्य को दृष्टिपथ में रख कर राष्ट्रीय काव्य के विविध रूपों का विश्लेषण करेंगे।

देशभक्ति और राष्ट्रीयता : यहाँ एक बात का और स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इधर राष्ट्रीयता की जो परिभाषा बनी है, उससे लोगों में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि राष्ट्रीयता मानव की नूतन भावना है। और इसी आधार पर इसे देशभक्ति से सर्वथा पृथक माना जाने लगा है। यद्यपि इस मान्यता वाले भी यह स्वीकार करते हैं कि देशभक्ति राष्ट्रीयता का आधार है; इसके साथ ही उनका यह भी कहना है कि देशभक्ति ही राष्ट्रीयता नहीं है। इनके विचार में राष्ट्रीयता देशभक्ति से कहीं अधिक व्यापक है। किन्तु इस प्रकार की धारणा दृष्टिकोण भेद के कारण ही बनी है। वस्तुतः देशभक्ति और राष्ट्रीयता में कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर है भी तो कुछ-कुछ उसी प्रकार का जैसा ज्ञान और भक्ति में। मेरी समझ से दोनों ही पूर्ण हैं और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। जैसे देशभक्ति के बिना राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार राष्ट्रीयता के बिना देशभक्ति भी विडम्बना मात्र ही है! दोनों की अनुभूति में अन्तर है। देशभक्ति, भक्ति होने के कारण रागात्मक होती है और राष्ट्रीयता में अनुराग उतना तीव्र नहीं होता, जितना तत्सम्बन्धी चेतना और विचार। राष्ट्रीयता के जिस अंश में रागात्मिकता दिखलाई देती है, उसे देशभक्ति से ही अनुप्राणित समझना चाहिए। राष्ट्रीयता और, देशभक्ति के आधार पर ही निर्मित होती है। और इसका सम्पूर्ण विकास देशभक्ति के अन्दर ही सम्पन्न होता है। इसलिए यह कहना कि "यह सम्भव है कि देशभक्त राष्ट्रवादी न भी हों"—बिलकुल ग़लत है।

जो देशभक्त है, वह अवश्य ही राष्ट्रवादी हैं। क्योंकि देश के प्रति यदि सच्ची भक्ति है, तो देश से सम्बन्धित सभी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा और भक्ति होगी। इष्टदेव की सवारी, सेवक तथा पार्श्वदाता भी भक्त के पूज्य हो जाते हैं। यह कल्पना कि देश के प्रति उत्कट भक्ति रखते हुए भी कोई उसकी संस्कृति अथवा जनता के प्रति अनुराग न रखेगा, भ्रममूलक है। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता का समस्त ताना-बाना देशभक्ति के दायरे में ही रहता है। उसके बाहर राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नीचे की पंक्तियों में यह बात और स्पष्ट हो जाएगी।

देश के प्रति उत्कृष्ट भक्ति की भावना भूमि पर आधारित है। भारत भूमि पर आधारित है। भारत में तो भूमि की पूजा सनातन से चला आ रही है। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" का महत्व भारत की निजी विशेषता है। इस प्रकार भूमि में देवरूप अथवा चेतन रूप आरोप करके भक्त उसकी अर्चना करता है तथा यशोगान गाता है और उसके अतुलनीय वैभव में अपने को लीन कर देता है। भक्त की यह तल्लीनता देश के कण-कण में व्याप्त हो जाती है पण्डित रामनरेश त्रिपाठी का एक पद देखें :

"जिनके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है
जिसमें प्रकृति विकास रूप ऋतुक्रम उत्तम है
जीवजन्तु फलफूल शक्य अद्भुत अनुपम है
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है"

उपर्युक्त पद में कवि ने देश के समस्त वैभव को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। कवि की भावनाएँ यहाँ राष्ट्रीयता की समस्त परिधि को छू रहीं हैं। इससे कुछ और आगे बढ़कर, भूमि को ही आधार मान कर मैथिलीशरण गुप्त जिस सगुण सर्वेश की मूर्ति की कल्पना करते हैं, वह भक्त का इष्टदेव बनने की पूर्ण क्षमता रखती है :

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है
नदियाँ प्रेम प्रवाह सूर्य-तारे मण्डल हैं
वन्दी विविध विहंग शेषफन सिंहासन है
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की
है मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की"

इस प्रकार माता, देव अथवा अन्य प्रतीकों के रूप में देश का जो चित्रण होता है, वह देशभक्ति की ही अभिव्यक्ति है। तथाकथित राष्ट्रीयता इस देशभक्ति के यहाँ पानी भरती है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी देश की राष्ट्रीय भावना तभी पूर्ण विकसित मानी जा सकती है, जब उसमें ऐसे वीरों का उदय होता है, जो देश के ऊपर मर मिटने के लिए तैयार होते हैं। यह मर मिटने का दृढ़ संकल्प विना उत्कट अनुराग के सम्भव ही नहीं है। कैसा भी उच्च विवेक या विचार क्यों न हो, जब तक उसमें उत्कट अनुराग न हो, वह प्रेरणादायक नहीं हो सकता। देश के लिए मर मिटने की भावना जिस उत्कट अनुराग के द्वारा दृढ़ होती है, वह भक्ति ही है। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्रीयता का जन्म देशभक्ति के आधार पर होता है और उसका पूर्ण विकास भी देशभक्ति के रूप में ही प्रतिफलित होता है। राष्ट्र के कण-कण के प्रति सजग रह कर उसके समस्त विकास की कामना राष्ट्रीयता है और राष्ट्र को देश के कण-कण के प्रति अहेतुक अनुराग देशभक्ति है।

राष्ट्रीय काव्य के प्रकार : राष्ट्रीय काव्य की व्यापकता और विविधता को देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि उसका वर्गीकरण किया जा सके। वस्तुतः राष्ट्र के प्रति राष्ट्रप्रेमियों के भाव सीमित और वर्गीकृत नहीं हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय काव्य की धारा को हम कहीं से काट नहीं सकते। वह अविभाज्य है। जैसे इष्टदेव के प्रति समान भक्ति रखते हुए भी दो भक्तों का आत्म-निवेदन या उनकी तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ एक-सी नहीं होतीं, उसी प्रकार राष्ट्र-प्रेमी की धारा में निमग्न रहने वाला प्रत्येक जन अलग-अलग अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। इस आधार पर उनकी अभिव्यक्ति भी अलग-अलग हो जाती है। और, इसी आधार पर हम राष्ट्रीय काव्य के कई प्रकारों की कल्पना कर सकते हैं। उदाहरण के लिए अतीत का गान, वर्तमान का चिन्तन, प्राकृतिक दृश्यों में अनुराग, यहाँ की जन-शक्ति का

उद्घाटन, राजनीतिक समस्याओं का विवेचन, सांस्कृतिक तथा धार्मिक महत्ता का स्मरण आदि। इन समस्त प्रकारों को हम मूलतः दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहले में वे अनुभूतियाँ आएँगी जो राष्ट्र के सांस्कृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखती हैं। इसमें राष्ट्र का भौतिक तत्त्व तो उपेक्षित नहीं रहता; किन्तु वह राष्ट्र के सांस्कृतिक तत्त्वों में घुल-मिल अवश्य जाता है। दूसरे में शुद्ध भौतिक तत्त्वों की अनुभूतियाँ आती हैं। इसी में राष्ट्र की भौतिक शक्ति, सम्पत्ति तथा जनशक्ति का भी दिग्दर्शन होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय काव्य की मुख्यतः दो धारा हो जाती है। यहाँ क्रमशः इन दोनों धाराओं पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सांस्कृतिक धारा : भारतीय राष्ट्रीय काव्य का झुकाव इसी धारा की ओर विशेष रूप से रहा है। इसका कारण यह है कि भारत मुख्यतः सांस्कृतिक देश है। यहाँ की भावनाएँ संस्कृति को जितना महत्व देती है, उतना और किसी तत्त्व को नहीं। भारत की सांस्कृतिक महत्ता विश्व में सुविख्यात है। इसलिए राष्ट्रीयता पर भी इसका रंग चढ़ जाना स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि यहाँ की संस्कृति में धर्म कृत्य के समान प्रतिष्ठित है। इसीलिए इन दोनों को पृथक् करना यहाँ सम्भव नहीं होता। इस अभिन्नता के कारण ही यहाँ संस्कृति और धर्म दोनों अभिन्न माने जाते हैं। यद्यपि ऐसा है नहीं। किन्तु यह तो सच है कि यहाँ की संस्कृति सदा धर्म से ही अनुप्राणित होती रही हैं। इसका प्रभाव राष्ट्रीयता पर भी पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँ की राष्ट्रीयता भी धर्म के साथ एकाकार हो गई है। यद्यपि इससे बदलती हुई दुनिया में भारत को कुछ घाटा भी उठाना पड़ा है; किन्तु इसका फल यह हुआ है कि राष्ट्रीयता की जड़ बड़ी गहराई तक पहुँची है। हिन्दी-काल के आते-आते यद्यपि राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक पहलू धार्मिक परिधान को पर्याप्त बदल देता है, तथापि उसका मूल उपजीव धर्म ही बना रहा है। इसे एक प्रकार से हम अपनी राष्ट्रीय-भावना का विकास कह सकते हैं, जैसा कि उसका स्वभाव ही है। इस प्रकार राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पहलू का क्षेत्र बड़ा व्यापक हो जाता है। इसकी व्यापकता इसलिए और बढ़ जाती है, क्योंकि यह भारतीय जनमानस के अत्यन्त अनुकूल पड़ने के कारण बहुत ही स्वाभाविक रीति से उसमें समा जाती है। हमारे यहाँ वृक्षों की, नदियों की तथा पर्वतों और पशुओं की भी पूजा होती है। इस प्रकार की धार्मिक प्रवृत्ति मूढ़ता या अन्धविश्वास नहीं है। इसकी जड़ में भारत की राष्ट्रीय मनोवृत्ति निवास करती है। राष्ट्रीयता में राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्ति के प्रति जो स्नेह या ममत्व दिखलाई देता है, धार्मिकता में इन सबकी पूजा उससे नितान्त भिन्न है तथापि यह उसी का धार्मिक संस्करण है। इस भावना ने विशाल भारत की जनता में जिस ऐक्य की प्रतिष्ठा की है उसे प्रान्तीयता अथवा भाषा-विभेद भी विचलित नहीं कर सके हैं। कुछ लोगों की यह धारणा है कि राष्ट्रीयता में जनता के ऐक्य की प्रतिष्ठा बाद में हुई है। ऐसे लोगों को भारत की धार्मिक प्रवृत्ति में समाई हुई राष्ट्रीयता का अवलोकन करना चाहिए। देश के कोने-कोने में तीर्थ स्थानों, पवित्र भूमियों और मठ-मन्दिरों की स्थापना करके यहाँ के जन-जन में देश के प्रति जो सुदृढ़ भावना स्थापित की गई है, वह जन-ऐक्य को सम्पादित करने में बड़ी सफल सिद्ध हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि भारत ने मूल राष्ट्रीयता में सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन की पूर्ण प्रतिष्ठा करके उसे अजर-अमर बना दिया दिया है। इसलिए राष्ट्रीयता का एक पहलू देश की समस्त प्रवृत्तियों की आधार शिलाएँ धर्म, संस्कृति और सभ्यता का मार्मिक उद्घोष करती हैं। ऐसी ही भावना से ओत-प्रोत कवि का एक पद देखेंगे—

"ईसा मुहम्मद आदि का जग में न था तब भी पता
कब की हमारी सभ्यता है कौन सकता है बता?
संसार में जो कुछ जहाँ फैला प्रकाश विकास है
इस जाति की ही ज्योति का उसमें प्रधानाभास है
देखो हमारा विश्व में कोई नहीं उपमान था
नरदेव थे इस और भारत देवलोक समान था"

उक्त पद में कवि भारत को देवलोक के समान घोषित करते हुए उसके कारणों पर जो प्रकाश डाला है, उसक समर्थन मनु का यह पद भी करता है :

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन पृथिव्यां सर्वमानवा"

सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की अनुभूति जितनी गहरी होती है, प्रभाव तथा विस्तार में भी वह उतनी ही महत्वशालिनी होती है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय राष्ट्रीय कवियों ने प्राचीन भारत के सांस्कृतिक महत्व का जो कीर्तन किया है वह केवल इतिहास का स्मरण मात्र नहीं है। उज्ज्वल अतीत का चिन्तन वर्तमान हीनावस्था को देखने के लिए जो दृष्टि देता है वह मंगलकारिणी तथा प्रगति में योग देनेवाली सिद्ध होती है। वर्तमान का पर्यवेक्षण और उसके द्वारा अतीत का चिन्तन स्मरण एक ऐसी टीस उत्पन्न करता है, जिससे देश की उज्ज्वल गरिमा का दृढ़ संकल्प उदित होता है। पिछले खेवे के राष्ट्रीय कवियों ने अतीत गान में देश की धार्मिक और दार्शनिक स्थिति तथा उसकी महत्ता और गरिमा का ऐसे मनोहारी चित्र उपस्थित किया है जो जनमन के प्रेरणा देने के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। कवि की भावनाओं के साथ ही जन-मन की भावनाएँ भी आलोडित हो उठी हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अतीत का गान और वर्तमान का चिन्तन दोनों ही एक दूसरे के बिना अधूरे रहते हैं। प्रभाव की दृष्टि से तो इनका एकाकीपन नितान्त महत्वहीन होता है। यदि हमें अपने अतीत का तनिक भी ज्ञान न हो तो वर्तमान को हम कैसे नापें-जोखें। वस्तुतः हमारा वर्तमान कैसा यही दशा अतीत की भी होती है। यदि वर्तमान अवस्था का सम्यक् ज्ञान हमें न हो तो हम अतीत से कुछ प्रेरणा ले ही नहीं सकते। और अतीत की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि उससे प्रेरणा, शिक्षा तथा अनुभव प्राप्त करके हम अपने वर्तमान को बनाते हैं। और इस प्रकार अपने भविष्य का पथ प्रशस्त करते है। इसलिए अतीत और वर्तमान दोनों का सम्बन्ध परस्पर आधारित हैं। यही कारण है कि परतन्त्रता काल में अनेक कवियों ने देश की वर्तमान हीनावस्था और अतीत की उज्ज्वल कीर्ति का गान साथ-साथ किया है। ऐसी रचनाओं का प्रभाव बहुत ही स्थायी पड़ता है। बात यह है कि इससे राष्ट्राभिमानी के स्वाभिमान पर सीधी चोट पहुँचती है। प्राचीन का गौरवमय स्मरण प्रेरणा के साथ ही साथ शक्ति भी देता है। जिससे जनमानस वर्तमान को बल देने के लिए आकुल हो उठता है। जनमानस की इस आकुलता ने ही भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को संचालित किया है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का एक मार्मिक अनुताप देखें :

> "जगत ने जिसके पद थे छुए
> सकल देश ऋणी जिसके हुए
> ललित लाभ कला सब थी जहाँ
> अब हरे वह भारत है कहाँ ?"

प्रस्तुत पद में अतीत का स्मरण और उसके माध्यम से वर्तमान का अवलोकन ऐसी मार्मिक चोट करता है कि अपने देश की अवस्था पर हम तिलमिला उठते हैं। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अतीत और वर्तमान में जो भेद भारत में उपस्थित हुआ है वह अन्यत्र संभव नहीं हुआ। एक बार भारत विश्व का सिरमौर बन कर फिर इतना नीचे गिर गया कि उसका भविष्य अन्धकाराच्छन्न हो गया। हम क्या थे ? क्या हो गए और क्या होंगे ? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना बहुत कठिन हो गया था। जो कुछ उत्तर मिलता भी था, उससे मर्मान्तिक वेदना अन्यत्र होती थी। 'भारत-भारती' में कवि इन परिस्थितियों का चित्रण करते हुए जिस कलंक की बात कहता है, वह किस राष्ट्र प्रेमी को न झनझना देगी :

> "संसार रूप शरीर में जो प्राण रूप प्रसिद्ध था
> सब सिद्धियों में तो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था
> हा हन्त ! जीते जी वही अब हो रहा क्रियमाण है
> अब लोकरूप मयंक में भारत कलंक समान है"

प्रकृति के माध्यम से : यों तो साहित्य में प्रकृति चित्रण अनेक प्रकार से किया जाता है। किन्तु राष्ट्रीय-भावनाओं से प्रेरित होकर देश के प्राकृतिक वैभव का चित्रण राष्ट्र का एक मनोहारी चित्र उपस्थित करता है। ऊपर धार्मिक प्रवृत्ति में प्रकृति पूजा की जिस प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है, यह चित्रण उसी प्रवृत्ति का ही राष्ट्रीय रूप है। इसमें कवि राट्र के प्राकृतिक वैभव का चिन्तन करके उसके प्रति जनमानस में एक अपूर्व अनुराग की सृष्टि करता है। कहीं-कहीं अतीत और वर्तमान का चित्रण प्रकृति के ही माध्यम से किया गया है। ऐसे स्थलों पर व्यंजना के द्वारा राष्ट्रीय परिस्थिति की ऐसी गहरी अनुभूति होती है कि मानव और प्रकृति की

अभिन्नता में समूचा राष्ट्र समा जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पद देखें :

"उत्तुङ्ग कुञ्जर घटा सुख से अन्हाई
कीन्हें जहाँ जलविहार सदैव आई
हा हन्त ! वाहि सरयूतट पै घनेरे,
बूड़े बराह खर आदि घिरे सबेरे"

बात यह है कि प्रकृति मानव की सहचरी है। मानव की भावनाएँ प्रकृति को भी अपने रंग में रंगी देखती हैं। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, शोक-मोह इत्यादि में प्रकृति पूरा-पूरा मानव का साथ देती है। तो फिर जब देश दुःखी है, परतन्त्र है और देश की जनता अत्याचारों से पीड़ित, हीन-दीन, मलीन बनी हुई है तो प्रकृति में हर्षोल्लास अथवा उमंग कहाँ से आ सकती है? इसीलिए प्रकृत्ति के दोनों पक्षों का चित्रण करके कवि और अतीत को स्पष्ट करता है। वह जानता और देखता है कि प्रकृति का अधिकांश वैभव मानव के सहचर से ही प्रकाश में आता है। इसलिए उसे ऐसा लगता है कि देश की भौतिक सम्पत्ति के साथ ही साथ उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति भी लुट गई है। हीन-दीन मानव के साथ यहाँ के पशु-पक्षी भी विषयग्रस्त हो गए हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति के माध्यम से कवि राष्ट्रीय अवस्था का ऐसा मार्मिक चित्र उपस्थित करता है, जिससे कायर और आलसियों के हृदय में भी साहस और कर्मठता का संचार होता है। दूसरी ओर इससे उस आततायी पर भी एक मार्मिक चोट पहुँचती है, जिसने देश की ऐसी अवस्था कर दी है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रकृति-चित्रण के ऐसे प्रसंगों में राष्ट्रीयता का रूप देशभक्ति से प्रभावित होता है। इसलिए इसमें अनुभूति गहरी और स्थायी होती है।

वस्तुतः प्रकृति-प्रेम देश-प्रेम का एक अंग है। श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं में देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम का बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। उनका प्रत्येक, मिलन और स्वप्न इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए देखा जा सकता है। इनमें के प्रधान नायक जहाँ एक ओर राष्ट्र के प्रति उत्कट अनुराग रखते हैं, वहीं वे ऊँचे दर्जे के प्रकृति-प्रेमी भी हैं। लगता है कि कवि यह मानता है कि "राष्ट्र-प्रेमी को प्रकृति-प्रेमी होना ही चाहिए। जब तक देश की प्रकृति हृदय में नहीं बस जाती, उसके वैभव में जब तक हम लीन नहीं हो जाते, तब तक देश-प्रेम एक विडम्बना मात्र ही प्रतीत होता है।" इसीलिए त्रिपाठी जी ने प्रकृति-चित्रण के माध्यम से अतीत और वर्तमान का समन्वय राष्ट्र प्रेमी को प्रकृति-प्रेमी बना कर आदर्श देश-भक्ति की स्थापना की है। इस प्रकार कवि प्रकृति प्रेम के साँचे में राष्ट्रीयता को सँवारता है। राष्ट्रीय काव्य में प्रकृति का इस प्रकार का उपयोग पहले उपयोग से अधिक महत्व रखता है। इसमें प्रकृति के मूल स्वरूप का उद्घाटन होता है। इसीलिए देश के प्रति हृदय में आत्मीय-भाव की जागृति होती है। प्रकृति के प्रेम में विभोर रहने वाला, जंगलों की सहज सुषमा का निर्निमेष पान करने वाला पथिक साधु के उपदेश से मर्माहत होकर :

"फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी
कहा—अहा ! कैसी सुन्दर है, जन्म भूमि यह मेरी
भक्ति प्रेम श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया
रोम-रोम में सेवाव्रत का परमानन्द समाया"
(पथिक ३।५)

कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ प्रकृति को ही एकमात्र आधार मान कर राष्ट्रीयता पल्लवित होती है, वहाँ कोमल भावों के साथ ही साथ दृढ़ता, सेवाव्रत तथा त्याग बलिदान की भी स्थापना हो जाती है।

भौतिक धारा : सांस्कृतिक धारा का वेग तीव्र नहीं होता है। भौतिक धारा का वेग तीव्र होता है। इसमें राष्ट्र की उन भौतिक सम्पत्तियों तथा तत्त्वों के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिनसे उसका स्थूल रूप से प्रतिक्षण सम्बन्ध रहता है। भारतेन्दु ने "भारत-दुर्दशा" में ऐसी ही राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति विशेष रूप से की है। इसमें राष्ट्र की अर्थ-नीति, राजनीति और शासन-व्यवस्था का आलम्बन लिया जाता है। यही कारण है कि इसका प्रभाव जल्दी फैलता है। इस धारा ने राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रबल बल देने में विशेष योग दिया है। इसमें जागरण के गीत, प्रयाणगीत तथा वीररस से पूर्ण कविताएँ आती हैं। इस धारा की अपनी और भी कई विशेषताएँ हैं। जब कोई देश परतन्त्र हो जाता है और जन-जीवन से

राजनीतिक चेतना लुप्त हो जाती है, तो स्वतन्त्रता प्राप्ति की कामना रहते हुए भी देश की जनता में स्वत्व प्राप्त करने का साहस नहीं दिखलाई देता। ऐसे समय में देश की चेतना में राजनीतिक स्वर फूँकना इसी धारा का काम है। इसमें सिद्धान्त के ऊपर अधिक बल नहीं दिया जाता, बल्कि कर्त्तव्य और साहस का पाठ पढ़ाया जाता है। भूली हुई, खोई हुई शक्ति का स्मरण कराया जाता है। कभी-कभी इस धारा के स्वर में जब सांस्कृतिक धारा का कोई स्वर मिल जाता है तो वह और भी प्रभावकारी हो जाता है। राष्ट्रीय युद्ध की एक तैयारी देखें :

"लेकर कर्म-कृपाण ज्ञान की शान चढ़ाओ
बल-विद्या विज्ञान झिलम उर पर झलकाओ
स्वाभिमान के साथ समर में सम्मुख आओ
चलो बला की चाल कला कौशल दिखलाओ
दिन पर दिन उन्नति करो विघ्नों का संहार हो
शब्द गगन भेदी उठे ऐसा जय जय कार हो"

भौतिक धारा में जनता को संगठित करने की अपूर्ण क्षमता है। बात यह है कि इसमें समष्टि के हित के ऊपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भारत में जन-संगठन की समस्या एक टेढ़ी खीर थी। विभिन्न धर्मों और जातियों में ऐक्य की स्थापना कोई सरल काम नहीं था, राष्ट्रीय नेताओं की आवाज़ के साथ राष्ट्रीय कवियों ने जो मन्त्र जनता को दिया, उस पर शहीदों की असंख्य टोली का निर्माण हुआ, जिसमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी सम्मिलित थे। अत्याचारी शासन के प्रति जैसी घृणा और उसे उखाड़ फेंकने के लिए जिस उद्दाम भावना का सृजन इन कवियों ने किया, वह हिन्दी के राष्ट्रीय साहित्य में अपने ढंग की अकेली चीज़ है। विघ्न-बाधाओं तथा जेल-यातना एवं फाँसी आदि घृणित अत्याचारों को जनता फूल की तरह समझने लगी। फल यह हुआ कि शासन की नींव हिल गई। कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्रीय युद्ध को प्रोत्साहन तथा बल देने के लिए ऐसे ढंग के गीतों तथा भावनाओं का निर्माण हुआ, जहाँ बेड़ियाँ शृंगार बन गईं और मृत्यु वरदान हो गई। ऐसी कविताएँ हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक हैं। इस सम्बन्ध का एक पद देकर हम इस निबन्ध को समाप्त करते हैं।

"मैं बूढ़ा हूँ दिन थोड़े हैं, चल बसने की अब बारी है
जब तक भारत स्वाधीन न हो तब तक न मरूँ तैयारी है
मजबूत कलेजों को लेकर इस न्याय दुर्ग पर चढ़े चलो
माता के प्राण पुकार रहे, संगठन करो बस बढ़े चलो
वह धन लाओ जीवन लाओ आओ आओ दृढ़ डोर लगे
प्यारा स्वराज्य कुछ दूर नहीं बस तीस कोटि का जोर लगे"

—व्रजभूषण पाण्डेय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद

अर्थशास्त्र कभी मेरी समझ में नहीं आया। न तो मैं रुपए को समझ सकता हूँ और न उसके चक्कर को और न ही मेरे दिल में उसको समझने के लिए किसी प्रकार की उत्सुकता है।

× × ×

एक फूल को अपने हाथ में लीजिए। जीवन का सारा रहस्य आपकी समझ में आ जाएगा। यदि हम फूल के समान प्राकृतिक जीवन व्यतीत करें तो हम उसके समान ही सुन्दर हो सकते हैं।

—सी. राजगोपालाचारी

हँसनी—सी-गल

पात्र

इरीन निकोलायेना आर्कदीना	(श्रीमती त्रैपलेव) एक अभिनेत्री
कान्स्तान्तिन ग्राविलोविच त्रेपलेव	(उसका लड़का) एक नवयुवक
प्योत्र निकोलायेविच सोरिन	(उसका भाई)
मीना मिरवायलोव्मा ज़ेरेशन्या	एक धनी ज़मींदार की युवती बालिका
इल्या अफ़्नास्येविच शार्मयेव	एक पेंशन याफ़्ता लेफ्टीनेएट सोरिन का कारिन्दा
पोलिना अन्द्रेव्ना	कारिन्दा की पत्नी
माशा	(उसकी पुत्री)
बोरिस अलैक्ज़ीविच त्रिगोरिन	लेखक
येव्गेनी सर्जीएविच् दोर्न	डाक्टर
सिमियन सिमोनोविच मैद्वीद्वैंको	स्कूल मास्टर
याकोव	मज़दूर

पहला अंक

रसोइया और महरी

घटनास्थल, सोरिन का घर और बाग़। (तीसरे और चौथे अंक के बीच में दो वर्ष का अन्तराल)

[सोरिन की ज़मींदारी में बग़ीचे का एक हिस्सा। चौड़ी रविश दर्शकों की ओर से पीछे दूर झील तक गई है। व्यक्तिगत रूप से शौक़िया नाटक दिखाने के लिए बनाए गए एक भद्दे-से स्टेज ने रविश का रास्ता रोक कर झील को छिपा लिया है। स्टेज के दाहिनी और बाईं ओर झाड़ियाँ हैं। सामने कुछ कुर्सियाँ और एक छोटी मेज़।

सूरज अभी छिपा है। याकोव और अन्य मज़दूर उस स्टेज पर पर्दे के पीछे काम कर रहे हैं। धरती कूटने और खाँसने की आवाज़ें। माशा और मैद्वीद्वैंकों घूम कर वापस आते हैं। बाईं ओर से प्रवेश]

मैद्वीद्वैंकों : यह तुम हमेशा काले कपड़े क्यों पहने रहती हो ?

माशा : मुझे तो ज़िन्दगी भर रोना है। मैं दुःखी हूँ।

मैद्वीद्वैंको : लेकिन क्यों ? (विचार मुद्रा में) बात मेरी समझ में नहीं आती...स्वास्थ्य तुम्हारा अच्छा है। बाप तुम्हारा बहुत रईस न सही, फिर भी खाता-पीता है। तुम्हारी ज़िन्दगी से तो मेरी ज़िन्दगी काफ़ी कठिन है। महीने में मुझे सिर्फ तेईस रूबल मिलते हैं। और उसमें से भी पेंशन के लिए कुछ न कुछ कट जाता है, मगर फिर भी मैं तो ये काले कपड़े नहीं पहनता।

माशा : पैसा ही तो सब कुछ नहीं होता। सुखी तो ग़रीब भी हो सकता है।

मैद्वीद्वैंको : हाँ, सैद्धान्तिक रूप से। लेकिन उसका असली रूप यह है कि मेरी दो बहनें हैं, माँ और छोटा भाई है, मैं हूँ—और तनख़्वाह मेरी सिर्फ़ तेईस रूबल हैं हमें खाने को चाहिए, पीने को चाहिए—चाहिए न! फिर आदमी को चाय और चीनी की भी ज़रूरत पड़ती है, तम्बाकू भी चाहिए ही।—अब आप खींचतान कीजिए और घसीटिए...

माशा : (उस स्टेज के चारों ओर देख कर) खेल शुरू ही होने वाला है।

मैद्वीद्वैंको : हाँ, ज़रेशन्या अभिनय करेगी। नाटक कान्स्तान्तिन गाब्रिलिच का है। उन दोनों में आपस में भी बड़ा प्यार है और आज उन दोनों की आत्माएँ कला को साकार करने में एक हो जाएँगी। लेकिन तुम्हारा और मेरा हृदय दोनों एक हो सकें ऐसी कोई जगह नहीं है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। इतना बेचैन

१६५६

रहता हूँ कि घर पर मुझ से रहा ही नहीं जाता । रोज़ चार मील इधर से और चार मील उधर से चलना पड़ता है, लेकिन तुम्हारी तरफ़ से उपेक्षा के सिवा कभी कुछ नहीं मिलता । ठीक है, मैं सब समझता हूँ । साधन मेरे पास कुछ हैं नहीं, बहुत बड़ा परिवार है...ऐसे आदमी से कौन भला शादी करना चाहेगा जिसके पास खाने तक को न हो ?

माशा : ऊँह, क्या बकता है ! (चुटकी मार कर सुंघनी चढ़ाती है) तुम्हारा प्यार मेरे दिल को छूता है, लेकिन बस, मैं इसके बदले में प्यार नहीं दे सकती... (सुंघनी की सब्बी उसकी तरफ़ बढ़ा कर) सुंघनी तो लो......

मेद्वीद्वैन्को : मेरी इच्छा नहीं है ।

(चुप्पी)

माशा : कैसी उमस है । आज रात को ज़रूर आँधी पानी आएगा ।...तुम या तो हमेशा सिद्धान्त बघारते रहते हो या बस फिर पैसे को रोते हो...... तुम समझते हो कि गरीबी से बढ़ कर और दुर्भाग्य नहीं है लेकिन मेरे लिए चिथड़ों में घूमना......भीख हज़ार गुनाह बेहतर है......बजाय इसके कि......ख़ैर तुम उस सबको नहीं समझ सकते...

(दाहिनी ओर से त्रेपलव और सोरिन आते हैं ।)

सोरिन : (अपनी बेंत पर झुक कर) भाई मेरे गाँव में मुझे खुद अच्छा नहीं लगता । और बिलकुल साफ़ है कि मैं इसका अभ्यस्त भी नहीं हो पाऊँगा । अब कल रात को ही मैं दस बजे सोया और आज सुबह नौ बजे उठा तो ऐसा लग रहा था जैसे इतना ज़्यादा सोने से मेरा भेजा खोपड़ी में जम गया है । (हंसता है) खाने के बाद ऐसा हुआ कि मैं भूल से फिर सो गया और अब ऐसी थकान है जैसे चूर-चूर हो गया हूँ, लगता है जैसे वाक़ई मैंने रात भर बुरे-बुरे सपने देखे हों...

त्रेपलेव : जी हाँ, आपको तो शहर में ही रहना चाहिए (माशा और मेद्वीद्वेन्को को देखते हुए) भाई, जब खेल शुरू होगा तो तुम लोगों को बुलवा लेंगे—लेकिन इस समय यहाँ तुम्हारी ज़रूरत नहीं है । चाहो तो जा सकते हो ।

सोरिन : (माशा से) मार्या इलिनिश्ना, ज़रा अपने बापू से कुत्ते की जंजीर खोलने को कहती जाओगी ? भोंके जा रहा है । पिछली रात को बहन फिर नहीं सो सकी...

माशा : बापू से आप खुद ही कह दीजिए । बुरा न मानिए, मैं उधर नहीं जा रही (मेद्वीद्वेंको से) आओ चलें ।

मेद्वीद्वेंको : (त्रेपलेव से) तो शुरू होने से पहले किसी को भेज कर हमें बुलवा लेंगे न ?

(माशा और मेद्वीद्वेंको जाते हैं)

सोरिन : यानी कुत्ता फिर रात भर भौंकता रहे । अच्छा मज़ाक है । कैसी बात है कि मैं जिस तरह चाहता हूँ गाँव में कभी रह ही नहीं पाया । पिछले दिनों में महीने भर की छुट्टी लेकर यहाँ आराम करने या और कामों से आया करता था । लेकिन ज़रा ज़रा-सी बातों को लेकर ये लोग मुझे इतना तंग कर डालते थे कि दो दिन बाद ही यहाँ से भाग जाने तड़पने लगता (हंसता है) इस जगह से पीछा छूटने पर मुझे हमेशा खुशी हुई...लेकिन अब तो मैं रिटायर्ड लोगों में हूँ,

---

१ प्रस्तुत अनुवाद में लेखकने चैखव की अधिकारिणी अनुवादिका कॉन्स्टैंस गार्नेट के अंग्रेजी अनुवाद के अतिरिक्त एलिसावेला फैन के अनुवाद से भी सहायता ली है ।

२ लेखक यह मानता है कि 'सीगल' का किसी भी प्रकार अनुवाद 'हंसिनी' नहीं किया जा सकता किन्तु हिन्दी में 'सीगल' के लिए कोई शब्द ही नहीं मिल सका दूसरे, नाटक में केवल एक ऐसे पक्षी की आवश्यकता थी जो झील या समुद्र के किनारों पर रहता हो । वैसे भी सीगल में जो एक उन्मुक्त, रोमांटिक भावनात्मक स्पर्श है, साथ ही जिस कोमल प्रतीक के रूपमें उसका उपयोग किया गया उसे काफ़ी दूर तक हंसिनी में निभाया जा सका है, ऐसा लेखक को लगा ।

३ तत्कालीन रूसी समाज में विदाई और स्वागत के अवसरों पर आपस में चूमने का रिवाज किसी न किसी रूप में यूरोप के सभी देशों में है । उसे ज्यों का त्यों रहने दिया गया है ।

४ चैखव के जीवन के कुछ स्मरणीय क्षण इस नाटक में आए हैं, फुटनोट में उनकी ओर संकेत किया गया है ।

और सच बात तो यह है कि जाऊँ भी तो कहाँ ? चाहूँ या न चाहूँ मुझे तो यहीं मरना है ।

याकोव : (त्रेपलेव से) कांस्तन्तिन गावरिलिच हम लोग नहाने धोने जा रहे हैं ।

त्रेपलेव : अच्छा ठीक है । लेकिन दस मिनट से ज़्यादह मत लगाना (घड़ी देख कर) जल्दी शुरू हो जाएगा ।

याकोव : अच्छा सरकार ।

त्रेपलेव : (उस स्टेज के इधर उधर) तो यह है हमारा स्टेज ! पर्दा पहला विंग, फिर दूसरा, और इसके बाद खुली जगह । किसी तरह का कोई दृश्य नहीं—बस क्षितिज का खुला नज़ारा । जैसे ही चाँद निकला कि लोग ठीक साढ़े आठ बजे पर्दा उठा देंगे ।

सोरिन : वाह, बहुत सुन्दर !

त्रेपलेव : अगर नीना ने देर कर दी तो सारा मज़ा मारा जाएगा । अब तक उसे आ जाना चाहिए था । उसका बाप और सौतेली माँ उस पर बड़ी कड़ी नज़र रखते हैं—इसलिए उसका घर से निकलना जेल से भाग आने जैसा ही मुश्किल है । (माशा की नैकटाई सीधी करता है) आपकी दाढ़ी और बाल बहुत बेतरतीब हो गए हैं । यह या तो छँटने चाहिए या कुछ और......

सोरिन : (दाढ़ी सुलझाते हुए) यह मेरे जीवन की सबसे बड़ी कमज़ोरी है । अपनी जवानी के दिनों में भी मैं ऐसा दिखाई देता था जैसे चोरी छिपे पीता होऊँ या कुछ और ऐसे ही काम करता होऊं । औरतों ने मुझे कभी पसन्द नहीं किया । (बैठते हुए) आज तुम्हारी माँ का मिज़ाज कैसे बिगड़ा ?

त्रेपलेव : कैसे क्या ? क्योंकि वह ऊब रही है । (उसकी बगल में बैठ कर) वह कुढ़ती है कि क्यों उसकी जगह नीना इस खेल में अभिनय कर रही है इसीलिए वह मेरे विरुद्ध हो गई है, इस खेल के खेले जाने के खिलाफ़ है । मेरे नाटक को वे जानती तक नहीं है, लेकिन उससे नफरत करती है ।

सोरिन : (हँसता है) बहुत अच्छे ।

त्रेपलेव : उन्हें इसी बात की तकलीफ़ है कि इस छोटे से स्टेज पर वह नहीं बल्कि नीना ही दिग्विजय होने जा रही है । (घड़ी देखते हुए) अम्मा एक मनोवैज्ञानिक पहेली हैं । और इसमें तो शक़ ही नहीं है कि वे बहुत प्रतिभावान् हैं, विदुषी हैं—किसी भी किताब को पढ़ कर रोने लगती हैं, निक्रासोव की लाइनों की लाइनें उन्हें ज़बानी याद हैं; देवी की तरह बीमारों की सेवा करती हैं, लेकिन उनके सामने कभी ड्यूज़[1] की तारीफ़ कर देखिए !—ओफ़् ओह !—गज़ब हो जाएगा । तारीफ़ अगर आपको किसी की करनी है तो उनकी, अगर किसी के बारे में लिखना है तो उनके, अन्धा-धुन्ध उनकी प्रशंसा किए जाइए—"कैम्त्या के साथ एक माहिला" या "जीवन के फेन" में उनके अद्भुत अभिनय पर उल्लास से उछल पड़िए । लेकिन यहाँ गाँव में तो उनको उस तरह का नशा नहीं मिलता न, इसलिए वह उकताती हैं और झुंझलाती हैं । हम सब तो उनके दुश्मन हैं—सारी बुराई की जड़ हम ही हैं । अन्धविश्वासी वे इतनी हैं कि तीन मोमबत्ती जलाने या तेरह की संख्या तक से ही डरती हैं । रुपए को दाँत से पकड़ती हैं । मुझे अच्छी तरह पता है कि ओडेसा की एक बैंक में इनके नाम से सत्तर हज़ार रुबल जमा हैं, लेकिन आप उनसे एक पैसा तो माँग देखिए, फूट-फूट कर रोने लगेंगी ।

सोरिन : यह सिर्फ़ तुम्हारा ख़याल है कि तुम्हारी माँ को तुम्हारा नाटक पसन्द नहीं है । बस इतनी-सी बात पर इतने बौखला रहे हो । मन को शान्त करो । तुम्हारी माँ तुम्हें बहुत ही प्यार करती है ।

त्रेपलेव : (एक-एक करके एक फूल की पत्तियों को नोचते हुए) प्यार करती हैं...नहीं नहीं प्यार करती...प्यार करती है...नहीं प्यार करती...करती है...नहीं करती...(हँसता है) सुनिए, वे मुझे प्यार नहीं करतीं । हालांकि मुझे यह सब सोचना नहीं चाहिए । लेकिन चूँकि वे ज़िन्दा रहना चाहती हैं, प्यार करना चाहती हैं, हल्के-छपे ब्लाउज़, कपड़े पहना चाहती हैं—और मैं पच्चीस का हो गया हूँ । यानी मैं हमेशा उन्हें याद दिलाता रहता हूँ कि वे अब नवयुवती नहीं रहीं । जब मैं यहाँ नहीं होता तो वे बत्तीस की होती हैं लेकिन मेरे आते ही तेतालीस की हो जाती है । इसीलिए उन्हें मुझ से नफ़रत है । अच्छा, वह यह भी जानती है कि

---

[1] दुखान्त अभिनय करने वाली विश्व-प्रसिद्ध इटैलियन अभिनेत्री ।

थियेटर में मुझे कोई आस्था नहीं है। उन्हें रंगमंच पसन्द है—वे कल्पना करती हैं कि मानवता के लिए कुछ कर रही हैं—कला की पवित्र आराधना में लगी हैं। जब कि मेरे ख़याल से आजकल के ये रंगमंच, परम्पराओं और रूढ़ियों के जड़ पालन के सिवा कुछ है ही नहीं! जब पर्दा उठते ही, तीन दीवारों वाले कमरे की नक़ली रोशनियां—यह बड़े-बड़े 'प्रतिभाशाली' यह 'महान् कला के सेवक', आपको दिखाते हैं, कैसे लोग खाते हैं, शराबें पीते हैं, चलते-फिरते हैं—कपड़े पहनते हैं, जब बिलकुल निरर्थक, तुच्छ वाक्यों और चित्रों से ये लोग अर्थ और उपदेश निकालने की कोशिश करते हैं, ऐसे-ऐसे भोंडे अर्थ कि हर चलता फिरता आदमी जिन्हें जानता है, घर में रोज़ प्रयोग में आते हैं—और जब हजारों बार घुमाव-फिराव से यही-यही चीज़ें पेश की जाती हैं तो उठ कर भाग जाने को मन करता है—जैसे इसी तरह की गन्दगी से ऊब कर मोपांसा 'एफ़िल टावर' छोड़ कर भाग खड़ा हुआ था।

सोरिन : रंगमंच के बिना काम भी तो नहीं चलता न।

त्रेपलेव : अब हमें नए तरीक़ों की ज़रूरत है—कोई नया ढंग। अगर वह नहीं मिलता तो अच्छा हो? हम कुछ न करें (घड़ी देख कर) मुझे अम्मा से बहुत-बहुत प्यार है, लेकिन वे अपने उसी खोखले ढंग से रहना चाहती हैं। हमेशा इस साहित्यिक व्यक्ति के साथ चिपकी रहती है—उनका नाम हमेशा अख़बारों में उछाला जाता है—और यही सब मुझे चुभता है। कभी-कभी एक मानव सुलभ आत्माभिमान मुझे दुःखी कर देता है कि काश, मेरी माँ एक प्रसिद्ध अभिनेत्री न होकर साधारण औरत होती तो मैं कितना खुश होता। मामा, मेरी स्थिति से ज्यादा दुखी और निराशाजनक किसकी स्थिति होगी? अम्मा से मिलने वाले आते हैं—बड़े-बड़े लोग, लेखक और कलाकार—उन सब के बीच में बस मैं ही ऐसा होता हूँ जो कुछ भी नहीं होता। मैं चूँकि उनका बेटा हूँ इसलिए मुझे भी सह लिया जाता है। और मैं हूँ कौन? हूँ ही क्या? थर्ड ईयर से मैंने यूनिवर्सिटी छोड़ दी, सम्पादकों की भाषा में "उस कारण से जिसमें हमारा कोई वश नहीं था", मुझ में कोई प्रतिभा नहीं, अपना एक पैसा नहीं, मेरे पासपोर्ट पर लिखा है कि मैं कीव का रहने वाला कारीगर हूँ। आप जानते हैं, मेरे पिताजी भी 'कीव' के रहने वाले कारीगर थे, लेकिन वे भी बहुत बड़े अभिनेता थे। सो जब भी कभी अम्मा की बैठक में ये कलाकार और लेखक लोग दया दृष्टि से मुझे देखते हैं, तो मुझे हमेशा लगता है जैसे मेरी तुच्छता और हीनता को नाप रहे हों। मैं उनके विचारों को पढ़ता हूँ और अपमान की आग से जल उठता हूँ......

सोरिन : अच्छा छोड़ो। एक बात ज़रा बताओ। यह साहित्यिक किस तरह का आदमी है? उसका कुछ पता ही नहीं चलता। कभी कुछ बोलता ही नहीं।

त्रेपलेव : बड़ा विद्वान्, बहुत खुश-मिजाज़ और कुछ-कुछ उदास सा। आदमी बहुत ही अच्छा है। अभी मुश्किल से चालीस का भी नहीं होगा, लेकिन खूब प्रसिद्ध हो चुका है। जीवन में इसने काफ़ी देखा-सहा है। जहाँ तक लिखने की बात है...क्या कहना चाहिए...? उसके लिखने में कला है, आकर्षण है लेकिन...जोला और तोल्सतोय पढ़ चुकने के बाद त्रिगोरिन को पढ़ने को मन नहीं करता......

सोरिन : अच्छा है। बेटा, मुझे लेखक लोग पसन्द हैं। कभी वक़्त था जब मेरे मन में सिर्फ़ दो ही प्रबल इच्छाएँ थीं, एक तो मैं शादी करना चाहता था, दूसरे लेखक होना चाहता था। लेकिन दोनों में से एक भी पूरी नहीं हो पाई। सचमुच छोटा-सा लेखक होना भी बड़ी बात है।

त्रेपलेव : (सुनते हुए) किसी के पैरों की आवाज़ सुनाई दे रही है...(मामा को बाँहों में भर कर) अम्मा के बिना मैं रह ही नहीं सकता...उनकी पग ध्वनि तक बड़ी प्यारी है...मैं पूरी तरह खुश हूँ...(नीना ज़रेच्न्या के प्रवेश के साथ ही उससे मिलने लपकता है)...मेरी मोहिनी...मेरी स्वप्न...

नीना : (घबराकर) मुझे देर तो नहीं हो गई? ...निश्चय ही अभी देर नहीं हुई।

त्रेपलेव : (उसके हाथ चूम कर)....ना....ना...ना...

नीना : मुझे दिन भर बड़ी बेचैनी रही। मैं तो ऐसी डर गई थी कि बस,...डर यही था कि पिता जी मुझे आने से न रोक दें...लेकिन वे सौतेली माँ के साथ अभी कहीं गए हैं। आसमान पर लाली छाई थी...चाँद निकलने लगा था और मैं घोड़ा दौड़ाए

चली आ रही थी (हंसती है) लेकिन अब सचमुच में खुश हूँ (जोश से सोरिन से हाथ मिलाती है)

सोरिन : (हँसते हुए) तुम्हारी आँखों से तो लगता जैसे रोती रही हो। छिः छिः यह अच्छी बात नहीं है।

नीना : उँह, कुछ भी तो नहीं...देखिए न कैसी हांफ रही हूँ। आध घण्टे में ही मुझे लौटना है। ज़रा जल्दी कीजिए ज़्यादा देर में बिलकुल नहीं ठहर सकती। भगवान् के नाम पर मुझे देर मत कराइए। पिता जी को नहीं मालूम कि मैं यहाँ हूँ।

त्रेपलेव : शुरू करने का समय तो हो ही गया, हमें जाकर औरों को बुला लाना चाहिए।

सोरिन : मैं अभी इसी वक़्त चला जा रहा हूँ (दाहिनी ओर गाता हुआ चला जाता है "चले दो सिपहिया..." फिर चारों ओर देखता है) एक बार जब मैं ऐसे ही गा रहा था तो एक सरपंच बोला—"सरकार आपकी आवाज़ तो बड़ी अच्छी है।" फिर कुछ देर सोच कर उसने यह और बढ़ा दिया—"बस ज़रा सुरीली नहीं है। (चारों ओर देखता है)

नीना : पिता जी और उनकी वह महारानी मुझे आने ही नहीं देते थे। कहते हैं यह जगह ज़रा 'महान्' लोगों की है...उन्हें डर है कि मैं अभिनय करूँगी... लेकिन मेरा मन तो हंसिनी की तरह इस झील में डुबकियाँ लगाने को कर रहा है...मेरे दिल में तो तुम समाए हो...(चारों ओर देखती है)

त्रेपलेव : हम लोग अकेले ही हैं।

नीना : मुझे लगता है वहाँ कोई है।

त्रेपलेव : कोई भी तो नहीं है।

(एक दूसरे को चूमते हैं)

नीना : यह कौनसा पेड़ है ?

त्रेपलेव : साल का पेड़ है।

नीना : चारों ओर इतना अंधेरा क्यों हो गया है ?

त्रेपलेव : साँझ का वक़्त है। हर चीज पर कालिमा छा रही है। मेरा कहना मानो जल्दी मत जाओ।

नीना : जाना तो है ही।

त्रेपलेव : अच्छा, नीना अगर मैं तुम्हारे साथ चलूँ तो ? तुम्हारी खिड़की को देखते हुए रात भर बग़ीचे में खड़ा रहूँगा।

नीना : तुम यह कर ही नहीं सकते। चौकीदार देख लेगा। ट्रेसर भी तुम्हें पहचानता नहीं है। वह भी भोंकेगा।

त्रेपलेव : मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।

नीना : चु......प।

त्रेपलेव : (किसी के पैरों की आवाज सुन कर) कौन है ? याकोव तुम हो क्या ?

याकोव : (नेपथ्य से) हाँ सरकार।

त्रेपलेव : अपनी-अपनी जगह पहुँच जाओ। खेल शुरू करने का समय हो गया है। देखना चाँद निकल आया है क्या ?

याकोव : जी हाँ, सरकार।

त्रेपलेव : मैथिलेटेड स्प्रिट है न तुम्हारे पास ? गन्धक भी होगी न ? जब लाल-लाल आँखें दिखाई दें तभी गन्धक की गन्ध होनी चाहिए। (नीना से) तुम जाओ। सब तैयार है। घबरा तो नहीं रही ?

नीना : हाँ, घबराहट तो बुरी तरह हो रही है। तुम्हारे माँ की तो कोई बात नहीं उनसे मैं नहीं डरती। लेकिन त्रिगोरिन... उनके सामने अभिनय करने में बड़ी झिझक और शर्म लगती है......इतने बड़े लेखक ! नौजवान हैं क्या ?

त्रेपलेव : हाँ।

नीना : उसकी कहानियाँ कितनी ऊँचे दर्जे की होती हैं।

त्रेपलेव : (निर्जीव स्वर से) मुझे नहीं मालूम मैंने पढ़ी नहीं है।

नीना : तुम्हारे खेल में अभिनय करना बड़ा मुश्किल है। उसमें कोई सजीव पात्र है ही नहीं।

त्रेपलेव : जीते-जागते सजीव पात्र ? जीवन जैसा है या उसे जैसा होना चाहिए, उसका वैसा ही चित्रण तो नहीं कर देना। बल्कि जो इन सपनों में देखते हैं वह दिखाना है।

नीना : तुम्हारे खेल में घटनाएँ भी तो नहीं हैं—भाषण ही भाषण हैं। फिर मेरा विचार है कि नाटक में प्रेम भी होना ही चाहिए। (दोनों नेपथ्य की ओर चले जाते हैं)

(पोलिना अन्द्रेव्ना और दोर्न का प्रवेश)

पोलिना : यहाँ ओस पड़ रही है। जाकर अपने पाँ-बन्द पहन आओ।

दोर्न : मुझे तो गर्मी लग रही है।

पोलिना : तुम अपनी ज़रा भी फ़िक्र नहीं करते। यह हठधर्मी है। तुम खुद डाक्टर हो और खुद जानते हो कि यह सीली हवा तुम्हारे लिए अच्छी नहीं है। तुम्हें तो बस मुझे दुख देना है। कल शाम को जान बूझ कर तुम बाहर बरामदे में बैठ रहे थे।

दोर्न : (गुनगुनाता है) "मत कहो जवानी गई बीत..."

पोलिना : तुम इरीना निकोलायेव्ना से ही बातों में ऐसे डूबे थे...कि ठण्ड का ध्यान ही नहीं था...मानो, तुम उसकी ओर आकर्षित थे......

दोर्न : मेरी उम्र पचपन साल की है।

पोलिना : बकवास! आदमी के लिए यह कोई बहुत उम्र थोड़े ही है। अपनी उम्र के हिसाब से तुम काफ़ी जवान दिखाई देते हो, और औरतों के लिए तो अब भी आकर्षक हो......

दोर्न : अच्छा हूँ तो? तुम्हें क्या है?

पोलिना : तुम सबके सब पुरुष एक एक्ट्रेस के तलुए चाटने में लगे हो।

दोर्न : (गुन-गुनाते हुए) "मैं खड़ा हूँ मुग्ध तेरे सामने फिर"—अगर व्यापारियों वगैरह की अपेक्षा कलाकारों का समाज में अधिक आदर है या उनके साथ दूसरी तरह का व्यवहार होता है तो वह उनके गुण के कारण। यही तो आदर्शवाद है।

पोलिना : औरतें हमेशा तुम्हें प्यार करती रहीं, अपने को तुम पर निछावर करती रहीं—यह भी आदर्शवादी है?

दोर्न : (कन्धे उचका कर) हाँ, यह बात तो है, मेरे प्रति औरतों का व्यवहार ज्यादातर सद्भावनापूर्ण रहा है। लेकिन खास तौर से वे मुझ में जो चीज़ प्यार करती थीं वह है एक कुशल डाक्टर। तुम्हें याद है, दस-पन्द्रह साल पहले पूरे ज़िले में मैं ही प्रसव कराने में सबसे कुशल डाक्टर था। तब भी मैं तो हमेशा ही ईमानदार रहा।

पोलिना : (उसका हाथ पकड़ कर) प्रियतम!

दोर्न : चुप...लोग आ रहे हैं।

(सोरिन की बांह में बांह डाले हुए आर्कदीना, त्रिगोरिन, शार्मदेव, मैद्वीद्वैंको और माशा का प्रवेश)

शार्मयेव : सन् १८७३ में पोल्तावा के मेले पर इन्होंने क्या कमाल का अभिनय किया था। बस मज़ा आ गया। उस दिन तो इनका अभिनय ग़जब का था। अच्छा बहन जी वह मज़ाकिया ऐक्टर पावेल सिम्योनिच चादिन आजकल कहाँ है? उसने रास्पियेव का पार्ट तो सादोव्स्की से भी इतना अच्छा किया था कि उसकी कोई नक़ली भी बहन जी, मैं सच कहता हूँ नहीं कर सकता। आजकल है कहाँ वह?

आर्कदीना : तुम मुझसे हमेशा गढे मुर्दों के बारे बारे में ही पूछती हो। मुझे क्या मालूम, कहाँ है?

(बैठती है)

शार्मदेव : (गहरी साँस लेकर) पाश्वना चादिन! वैसे ऐक्टर अब हैं ही नहीं। हरीना निकोलायेवा रंगमंच तो अब रसातल में पहुँच गया है। पुराने ज़माने में कैसे कैसे बड़े बेंलूत के पेड़ थे—अब तो ठूँठों के सिवा कुछ दीखता ही नहीं।

दोर्न : यह बात तो सच है कि आजकल प्रतिभाशाली ऐक्टर कम हैं, फिर भी अभिनय सामान्य स्तर पहले से बहुत ऊँचा है यह मानना पड़ेगा।

शार्मदेव : मैं आपकी बात नहीं मान सकता। मगर फिर भी यह तो अपनी अपनी रुचि की बात है। क्यों बेकार ही इस पर खींच तान की जाए।

(त्रेपलेव उस स्टेज के पीछे से आता है)

आर्कदीना : (बेटे से) बेटा, कब शुरू हो रहा है?

त्रेपलेव : बस एक मिनट! ज़रा-सा धीरज रख लो।

आर्कदीना : (हैमलेट में से बोलती है) ओ! हैमलेट, अब अधिक मत बोल, तू मेरी निगाहों को मेरी अपनी ही आत्मा में, उसे जँचने को मोड़े दे रहा है और वहाँ मुझे ऐसे काले दाग और धब्बे दिखाई दे रहे हैं जो कभी भी अपनी छाप नहीं मिटने देंगे।

त्रेपलेव : (हैमलेट से ही) मुझे अपने दिल को मरोड़ लेने दो, ताकि मैं देखूँ कि क्या वह सचमुच ही किसी मुलायम तत्व का बना है।

(उस स्टेज के पीछे से एक तुरही बजती है)

त्रेपलेव : देवियो और सज्जनों, अब हम खेल शुरू कर रहे हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप ध्यान से देखें, (रुक कर) अब मैं शुरू करता हूँ (छड़ी से ठोक कर ज़ोर से बोलना शुरू करता है) हे रात के समय, इस झील पर मँडराने वाली पुराने देवताओं की छायाओं,

हमें लोरियाँ सुनाओ कि हम सो जाएँ और आज से दो लाख साल का समय पार करके सपने में जागें... ।

सोरिन : दो लाख साल बाद तो कुछ होगा ही नहीं ।

त्रेपलेव : तो उसे कुछ नहीं को ही इन लोगों को दिखाने दीजिए ।

आर्कदीना : अच्छी बात है, देखें। हम लोग सोए जाते हैं ।

(पर्दा उठता है । झील का दृश्य खुलता है । चाँद क्षितिज से उठ चुका है । उसकी परछाईं पानी पर झिलमिला रही है । बिलकुल सफ़ेद कपड़े पहने नीना ज़रेश्न्या एक बड़े-से पत्थर पर बैठी है ।)

नीना : आदमी, शेर, चीलें और तीतर, बारहसिंघे, बतखें, मकड़े पानी में चुप-चुप तैरनेवाली मछलियाँ तारों जैसी मछलियाँ, आँखों से न दिखाई देने वाले छोटे-छोटे कीड़े-मकौड़े सारे प्राणी, सारे जीव, सारे चेतन अपने दुखों का चक्र पूरा करके समाप्त हो चुके हैं,...हजारों साल से धरती ने किसी जीवित प्राणी को अपनी गोद में जन्म नहीं दिया है...और यह बेचारा चाँद अपने प्रकाश-दीप को जलाए रखने का उद्देश्य भूल चुका है । घास के मैदानों में अब बगुले एक चीख मार कर चौंकते हुए जाग नहीं पड़ते...और नींबू के पेड़ों पर भौंरों की भनभनाहट गूँजना बन्द हो गई । सब कुछ शान्त....जड़...शीत-स्तब्ध....! शून्य....सुनसान... सन्नाटा !......भीषण.....भयानक......आतंकोत्पादक । (रुक कर) जीवित प्राणियों के शरीर धूल में मिल कर न जाने कब के खो चुके हैं और उस मूल-तत्व ने सभी को चट्टानों, पानी और बादलों के रूप में बदल दिया है—सिर्फ़ उनकी आत्माएँ एक दूसरे में घुल कर समा गई हैं—और मैं ही वह विश्वात्मा हूँ...मैं...महान् सिकन्दर की आत्मा मेरे भीतर है...सीज़र, शेक्सपियर और नेपोलियन की आत्माएँ भी मुझ में समाई हुई हैं...छोटी-से-छोटी जोंक तक की आत्मा भी मुझ में हैं...मेरे भीतर ही मानव के प्राण और अन्य जीवों की आत्माएँ घुल-मिल कर एक हो गई हैं...मुझे सब... सब...सब कुछ याद है और हर छोटा से छोटा जीवन मेरे भीतर पुनर्जीवित हो उठा है...

(सन्नाटे की आत्मा का प्रवेश)

आर्कदीना : (धीरे से) यह तो कुछ 'पतनशीलों' जैसी बातें हैं ।

त्रेपलेव : (झिड़कते प्रार्थना के स्वर में) अम्मा ।

नीना : मैं बिलकुल अकेली हूँ । दो सौ साल में एक बार बोलने के लिए मेरे होंठ फड़कते हैं । और मेरी आवाज़ शून्य अन्तरिक्ष में बिजली-सी भटकती रहती है । उसे सुनने वाला कोई नहीं है । ओ मुर्दा छायाओ, तुम भी तो उसे नहीं सुन पातीं...दिन की रोशनी फूटने से पहले पथराई दल-दल तुम्हें जन्म देती है और पौ फटने तक तुम इधर से उधर भटकती रहती हो । भावहीन, इच्छारहित और जीवन के स्पन्दनों से दूर । शाश्वत-भूतों का स्वामी 'पाप' खुद डरता है कि कहीं तुम में फिर से जीवन न जाग उठे और वह चट्टानों की तरह, बहते पानी की तरह अणुओं को तुम्हारे भीतर भी उँडेलता रहता है और तुम हमेशा, अनवरत रूप से बदलती रहती हो...क्योंकि उस अखिल ब्रह्माण्ड में आत्मा को छोड़ कर कुछ भी स्थायी और नित्य नहीं है...(रुक कर) कुएँ में पड़े क़ैदी की तरह मुझे नहीं मालूम मैं कहाँ हूँ और आगे क्या होने वाला है । मैं इसके सिवा कुछ नहीं जानती कि भौतिक-शक्तियों के स्वामी 'पाप' के साथ होने वाले इस क्रूर और निरन्तर संघर्ष में अन्तिम विजय मेरी ही है । उसके बाद जड़ चेतन मधुर संगीत की तरह एकात्म और एक लय हो जाएँगे...तब धरती पर विश्वेच्छा का अवतरण होगा... लेकिन यह सब धीरे...धीर होगा...लम्बे लम्बे हज़ारों सालों के बाद...जब चाँद....लुब्धक तारा...धरती सभी कुछ ज़र्रे-ज़र्रे में बिखर जाएँगे...तब तक यह... महाभारत...आतंक...(चुप्पी । दो लाल-लाल चमकदार धब्बे झील की पृष्ठभूमि में उभरते हैं) अब मेरा भयानक शत्रु 'पाप' आ रहा है...मुझे उसकी लाल-लाल चमकती भयंकर आँखें दीख रही हैं...

आर्कदीना : गन्धक की बदबू-सी आ रही है। क्या यह चीज़ भी जरूरी थी...

त्रेपलेव : जी हाँ !

आर्कदीना : (हँस कर) अच्छा तो यह रंग-मंच का प्रभाव पैदा करने को है ।

त्रेपलेव : अम्मा !

नीना : बिना मनुष्य के अस्तित्व के 'पाप' अपने आप से उकता चुका है ।

पोलिना : (दोर्न से) तुमने अपना टोप उतार

लिया है। पहन लो न, ठण्ड लग जाएगी—

आर्कदीना : डाक्टर साहब ने शाश्वत-भूतों के स्वामी 'पाप' के स्वागत में टोप उतार लिया है।

त्रेपलेव : (भड़क कर चीखते हुए) बस बहुत हो चुका! खेल ख़त्म किया जाता है। पर्दा गिराओ!

आर्कदीना : इतना नाराज़ होने की क्या बात है?

त्रेपलेव : बस, बस, बहुत हो चुका! पर्दा गिरा दो! आने दो पर्दे को नीचे! (पैर पटक कर) पर्दा। (पर्दा गिरता है) मुझे माफ़ कीजिए भाइयो, मैं इस सत्य को बिलकुल ही भूल गया था कि सिर्फ़ कुछ चुने हुए लोग ही नाटक लिख सकते हैं, और कुछ चुने हुए ही अभिनय कर सकते हैं। मैंने उनकी बपौती को हथियाने की कोशिश की...मैं...मैं......

(कुछ और कहने की कोशिश करता है लेकिन सिर्फ़ हाथों को झटक कर बायीं ओर चला जाता है।)

आर्कदीना : इसे हो क्या गया?

सोरिन : इरीना बहन, तुम्हें बच्चों के आत्मसम्मान का भी ध्यान रखना चाहिए।

आर्कदीना : मैंने उसे कहा क्या था?

सोरिन : तुमने उसकी भावनाओं को चोट पहुँचाई है!

आर्कदीना : उसने मुझ से पहले ही कहा था कि यह प्रहसन है, इसलिए मैंने उसके खेल को प्रहसन ही समझा!

सोरिन : फिर भी......

आर्कदीना : तो अब पता लगा कि उसने एक महान् कृति को जन्म दिया है! यह सारा नाटक मनोरंजन के लिए नहीं रचा गया. हमारे चारों ओर यह गन्धक की बदबू परिहास के लिए नहीं बल्कि हमें मंच का प्रभाव सिखाने के लिए फैलाई गई है! हमें वह लिखना और अभिनय करना सिखाना चाहता था! यह ज़्यादती है। तुम कुछ कहो दादा, लेकिन मुझे लेकर हमेशा यह बाज़ी, हमेशा यह तानाकशी—इससे किसी भी आदमी का धीरज टूट सकता है। यह लड़का बड़ा ही घमण्डी और सनकी है।

सोरिन : उसने तो तुम्हारा मन ही बहलाना चाहा था।

आर्कदीना : सचमुच? फिर उसने कोई साधारण सा खेल क्यों नहीं चुना – क्यों हमें पतनशील लोगों की पागलपने की बकवास सुनवाता रहा? मज़ाक के लिए मैं बकवास भी सुनने को तैयार हूँ, लेकिन नाम तो हम उसे "कला का नया दृष्टिकोण", "नए कला रूप" जैसे देते हैं। मेरे ख़याल से नए कला रूपों से तो इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है—उलटे विकृत मानसिक स्थिति का प्रदर्शन है।

गोत्रिरिन : हर आदमी अपनी पसन्द और सामर्थ्य के अनुसार ही तो लिख पाता है।

आर्कदीना : अरे, उसका जो मन हो और जो वह लिख सके सो लिखे—बस मुझे शान्ति से रहने दे।

दोर्न : जुपीटर[2] तुम तो नाराज़ हो गए।

आर्कदीना : जुपीटर नहीं, मैं औरत हूँ (सिगरेट जलाती है) नाराज़ मैं नहीं हूँ, फिर भी झुँझलाने की तो बात ही है कि एक नौजवान इस बुरी तरह अपना वक़्त बरबाद करे। मैं उसकी भावनाओं को चोट पहुँचाना नहीं चाहती थी......

मेद्वीद्वेंकों : यह देखते हुए भी कि चेतना भौतिक अणुओं के मिश्रण से ही बनी है, जड़ को चेतन से अलग कर डालने का कोई अधिकार नहीं है (जोश में त्रिगोरिन से) लेकिन देखिए, किसी को इस विषय पर नाटक लिख कर अभिनय करना चाहिए कि हम बेचारे अध्यापक कैसे जीते हैं। हम लोगों की ज़िन्दगी बहुत ही कठोर है।

आर्कदीना : यह सब तो ठीक है। फिर भी क्यों न हम नाटकों और अणुओं के अलावा किसी और विषय पर बातें करें। कैसी सुहावनी सन्ध्या है! आप लोग सुनते हैं न, कोई गा रहा है (सुनती है) कैसा सुरीला है।

पोलिना : गीत झील के उस पार से आ रहा है।

(चुप्पी)

आर्कदीना : (त्रिगोरिन से) यहाँ बैठो, मेरे पास। दस-पन्द्रह साल पहले इस झील पर हर रात ही संगीत और गाने के स्वर लहराया करते थे! झील के किनारों पर छः झोंपड़ियाँ हैं। मुझे याद है यहाँ हर समय हँसी, कोलाहल, कहकहे, चीखें और प्रेम के किस्से ही

---

[2] रोम का सर्वश्रेष्ठ देवता : इन्द्र।

छाए रहते थे...और उन दिनों उन छहों घरानों के आराध्य कृष्ण-कन्हैया—(Jeune Premier) हमारे मित्र (दोर्न की ओर इशारा करके) डा० येव्गेनी सर्जाए-विच ही थे। मन-मोहन तो यह अब भी तो वह अब भी हैं, लेकिन उन दिनों की तो कुछ पूछिए ही मत। पर मेरी आत्मा मुझे अब कोंच रही है। बेचारे बच्चे की भावनाओं को मैंने कष्ट क्यों पहुँचाया...? मुझे बड़ी चिन्ता है (पुकारती है) कोस्त्या, बेटा कोस्त्या!

माशा : मैं जाकर देखती हूँ कहाँ है?

आर्कदीना : ज़रा चली जाना बेटी।

माशा : (बायीं ओर जाते हुए) अरे ओ कोन्स्तान्तिन गाव्रिलिच! ओ ऽऽ!

(चली जाती है)

नीना : (उस स्टेज के पीछे से आते हुए) अब खेल तो होगा ही नहीं। इसलिए मैं निकली आती हूँ, नमस्कार!

(आर्कदीना और पोलिना के हाथ अभिवादन के लिए चूमती है)

सोरिन : शाबास! शाबास!

आर्कदीना : शाबास! हमें तुम्हारा अभिनय बहुत ही पसन्द आया। ऐसा सौन्दर्य, ऐसा मधुर स्वर, तुम कहाँ गाँव में पड़ी हो। यह ग़लती है। प्रतिभा तो तुम में है ही। सुन रही हो? तुम्हें रंगमंच को अपना लेना चाहिए......

नीना : आह यही तो मेरा एकमात्र स्वप्न है! (सोच्छ्वास) लेकिन यह अभी सच नहीं होगा।

आर्कदीना : कौन कह सकता है। अच्छा आओ, तुम्हारा परिचय करा दूँ। आप हैं बोरिस अलेक्सीविच त्रिगोरिन!

नीना : सचमुच, मुझे बहुत ही ख़ुशी हुई (एकदम विह्वल-सी होकर) मैं हमेशा आपकी चीज़ें पढ़ती हूँ।

आर्कदीना : (उसे अपने पास बैठाते हुए) बिटिया, शरमाओ मत। ये बहुत बड़े आदमी हैं, लेकिन बड़े ही सीधे सरल-हृदय। देखो न, यह तो खुद ही शरमा रहे है।

दोर्न : मेरा ख़याल है कि पर्दे को उठा ही दिया जाए। बड़ी घुटन हैं।

शर्मयेव : (पुकारता है) याकोव, पर्दा उठा देना, भैया?

त्रिगोरिन : समझ में तो मेरी ज़रा भी नहीं आया, लेकिन अच्छा बहुत लगा! तुमने बहुत ही सधा अभिनय किया। दृश्यावली भी बहुत ही सुन्दर थी (थोड़ी देर चुप रह कर) इस झील में तो मछलियाँ भी बहुत होंगी......

नीना : जी हाँ।

त्रिगोरिना : मुझे मछलियाँ पकड़ने का बड़ा शौक़ है। सन्ध्या को नदी के किनारे बैठ कर धारा के बहाव को ताकते रहने से अधिक आनन्द मुझे किसी वस्तु में नहीं आता।

नीना : लेकिन मैं सोचती हूँ जिसने एक बार रचना करने का आनन्द जान लिया है उसके लिए तो कोई दूसरा आनन्द है ही नहीं......

आर्कदीना : (हँस कर) ऐसे मत कहो। जब लोग इससे प्रशंसा भरी वाणी में अच्छी-अच्छी बातें करते हैं तो यह बेचारे चित हो जाते हैं।

शार्मयेव : मुझे याद है, मॉस्को आर्ट थिएटर में एक बार प्रसिद्ध गायिका सित्वा ने पंचम का 'सा' उठाया। मज़ा देखिए, वहीं गैलरी में हमारे चर्च की संगीत मण्डली का पंचम स्वर गाने वाला भी बैठा था। आप हमारे आश्चर्य का अन्दाज़ा लगाइए जब हमने अचानक गैलरी से सुना—"शाबाश सित्वा" पूरे के सातों सुरों का सरगम एक ही बार में (गला भींच कर पंचम स्वर में) "शाबास सित्वा" सारे दर्शक स्तब्ध रह गए। (कुछ देर चुप्पी)

दोर्न : सन्नाटे की आत्मा हमारे ऊपर छा गई है।

नीना : अब मेरे जाने का समय हो गया है। अच्छा नमस्कार!

आर्कदीना : अरे चल कहाँ दी? इतनी जल्दी कैसे? भई हम तो नहीं जाने देंगे......

नीना : पिता जी मेरी राह देख रहे होंगे...

आकदीना : सचमुच कैसे व्यक्ति हैं...(उसका चुम्बन लेकर) अच्छा, तब तो कोई चारा ही नहीं है। मुझे बड़ा दुःख है,...तुम्हें जाने देने में मुझे अच्छा नहीं लग रहा...

नीना : आप मानिये, जाते हुए मुझे भी दु लग रहा है।

आर्कदीना : मुन्नी, किसी को तुम्हारे साथ तक पहुँचाने भेज दें...

नीना : अरे नहीं...नहीं...

सोरिन : (नीना से खुशामद के स्वर में) रुक ही जाओ न !

नीना : प्योत्र निकोलायेविच, मैं रुक नहीं सकती।

सोरिन : एक घण्टा और रुक जाओ। इसमें क्या बात है ?

नीना : (एक मिनट सोच कर आँखों में आँसू भरे हुए) मैं रुक नहीं सकती। (हाथ मिलाती है और तेज़ी से चली जाती है)

आर्कदीना : सचमुच बड़ी अभागी लड़की है बिचारी ! लोग कहते हैं, दूसरी माँ ने सारी अपनी अथाह जायदाद इसके बाप के नाम कर दी—एक-एक पाई। लड़की को एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिली। अब बाप ने सब कुछ दूसरी बीवी के नाम कर दिया है। बदक़िस्मती......

दोर्न : हाँ, इसका भोंदू-सा बाप बड़ा बड़ा बदमाश आदमी है। उसको तो गाली देना ही सब से बड़ा सत्कार है।

सोरिन : (अपने ठिठुरे हुए हाथ मलते हुए) अब चला जाय। ठण्ड हो रही है। मेरे पैरों में दर्द होने लगा है।

आर्कदीना : बिलकुल लड़की जैसे हो गए हैं। तुमसे चला थोड़े ही जाएगा। आओ, दादा, चलें।

(बाँह थामती है)

शार्मदेव : (अपनी पत्नी की ओर बाँह बढ़ा कर) श्रीमती जी...

सोरिन : मुझे लगता है कि कुत्ता फिर भौंक रहा है (शार्मदेव से) इल्या असनासिच, ज़रा मेहरबानी करके उसकी ज़ंजीर खोलने को तो कह दो...

शार्मदेव : यह तो नहीं हो सकता प्योत्र निकोलायेविच, डर है कि कहीं खलिहान में चोर-वोर न घुस जाए (अपने हाथ चलते मेद्वीदैंकी से) हाँ तो उसने सरगम के सातों स्वर एक ही साथ सुना डाले "शाबास सिल्वा !" खुद कोई अच्छा गायक नहीं था—बस चर्च की संगीत मण्डली का एक मामूली-सा आदमी था।

मेद्वीदैंको : संगीत-मंडली के आदमी को कितना मिलता होगा महीने ?

(दोर्न के सिवा सब चले जाते हैं)

दोर्न : (स्वगत) मैं नहीं जानता हो सकता है मेरी समझ में ही न आ सका है, या हो सकता है मेरा दिमाग ही साथ न दे रहा हो, लेकिन नाटक मुझे तो पसन्द आया...उसमें था कुछ जब वह लड़की सन्नाटे और एकान्त के बारे में बोल रही थी और जब 'पाप' की आँखें दिखाई दे रही थी तो मैं तो ऐसे भावावेश में आ गया कि मेरे तो हाथ काँपने लगे थे...बिलकुल अछूता सीधा-सादा ढंग...मुझे लगता है वह आ रहा है...मुझ से जो भी बन पड़ेगी उसकी तारीफ़ करूँगा......

त्रेपलेव : (प्रवेश करते हुए) सब लोग चले गए...

दोर्न : मैं हूँ !

त्रेपलेव : माशेंका मुझे पूरे बाग़ में खोजती फिर रही है। बड़ी दुष्ट है।

दोर्न : कान्स्तान्तिन गाव्रिलिच, मुझे तो तुम्हारा खेल बहुत ही पसन्द आया। एकदम अद्भुत चीज़ थी। हालांकि मैंने उसका अन्त नहीं सुना लेकिन इतने का ही मेरे ऊपर बहुत गहरा असर पड़ा है। तुम प्रतिभाशाली आदमी हो...लगे रहो !

(त्रेपलेव आवेश से उसका हाथ दबाता है और अचानक बाँहों में भर लेता है।)

दोर्न—छिः कैसे पागल आदमी हो। रोने लगे। मेरा मतलब यह थोड़े ही था। तुमने अपना विषय निराकार भावों की दुनिया से लिया है और होना भी यही चाहिए। किसी भी महान् कलाकृति का कोई न कोई सन्देह होना चाहिए। कृति की श्रेष्ठता के लिए उसमें गम्भीरता होनी चाहिए। क्यों, ऐसे सुस्त क्यों हो रहे हो ?

त्रेपलेव : तो आपकी यह सलाह है कि मैं लगा रहूँ ?

दोर्न : हाँ...हाँ, लेकिन सिर्फ़ महत्वपूर्ण और स्थायी ही चीज़ें लिखते जाओ जानते हो, मुझे जीवन के तरह-तरह के अनुभव हैं और मैंने सभी का आनन्द लिया है। अब मन में कोई इच्छा नहीं है। फिर भी अगर कहीं उस आध्यात्मिक ऊँचाई तक पहुँच पाना मेरे भाग्य में होता जिसे कलाकार रचना करते समय छू लेता है तो मेरा विश्वास है मैं ज़रूर ही शारीरिक अस्तित्व और उसके साथ लगे इधर-उधर के पुल्लों से घृणा करने लगता इन सारी सांसारिक झंझटों को जितना बन पड़ता पीछे छोड़ जाता।

त्रेपलेव : माफ़ कीजिए बीच में एक बात इस वक़्त नीना कहाँ होगी... ?

दोर्न : एक बात और भी। हर कला-कृति में एक साफ़-सुथरा निश्चित विचार होना चाहिए। आपके लिखने का उद्देश्य क्या है, यह आपको साफ़ पता हो। क्योंकि अगर आप बिना किसी निश्चित लक्ष्य के इस रंग-बिरंगे रास्ते पर जिधर मन हुआ चलते चले गए तो भटक जाएँगे और आपकी प्रतिभा आपको ले डूबेगी।

त्रेपलेव : (अधीरता से) नीना कहां है ?

दोर्न : वह तो घर चली गई।

त्रेपलेव : (हताश-सा) अब क्या करूँ...मैं तो उससे मिलना चाहता हूँ...मुझे उससे मिलना ही है... मैं जरूर जाऊँगा।

(माशा का प्रवेश)

दोर्न : (त्रेपलेव से बेटा ज़रा धीरज रखो।

त्रेपलेव : अब तो कुछ हो......मैं तो जा ही रहा हूँ...

माशा : भीतर चलो कान्स्तान्तिन गाव्रिलिच, ने बुलाया है। वे बड़ी चिन्तित हैं...

त्रेपलेव : उनसे कह दो मैं चला गया...और मैं तुम से...तुम से प्रार्थना करता हूँ मुझे तंग मत करो... मुझे अकेला छोड़ दो। मेरे पीछे मत पड़ो...

दोर्न : चलो...चलो आओ बेट, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए...अच्छी बात नहीं है...

त्रेपलेव : (गीले स्वर में) नमस्कार डाक्टर साहब...शुक्रिया...।

(चला जाता है)

दोर्न : (गहरी साँस लेकर) नौजवान लोग हैं। अपनी मन की ही करेंगे।

माशा : लोगों को जब कुछ और कहने को नहीं मिलता तो कहते हैं "नौजवान लोग हैं, नौजवान लोग हैं।"

(चुटकी भर कर सुँघनी चढ़ाती है)

दोर्न : (उसकी सुँघनी की डिबिया ले कर झाड़ी में फेंकते हुए) यह बद्तमीज़ी है। (कुछ देर चुप रह कर) मुझे लगता है भीतर वे लोग पियानो बजा रहे हैं। आओ भीतर ही चलें।

माशा : ज़रा रुकिए न।

दोर्न : क्या बात है ?

माशा : मैं बार-बार आप से कह रही हूँ...मेरा आपसे बातें करने को बड़ा मन कर रहा है...(आवेश में आते हुए) बापू से मुझे विशेष लगाव नहीं है, लेकिन आपके लिए मन में बड़ी श्रद्धा है। पता नहीं कैसे यह मेरे दिल में जम गया है कि आप मेरे हृदय के बहुत ही निकट हैं...मुझे बचाइए...या तो बचा लीजिए। नहीं तो मैं कुछ बेवकूफ़ी कर डालूँगी...मैं अपनी ज़िन्दगी के साथ कोई खिलवाड़ कर डालूँगी उसका सत्यानाश कर लूंगी...अब मुझसे नहीं सहा जाता...

दोर्न : यह सब क्या है ? किससे तुम्हें बचा लूँ?

माशा : मैं बड़ी दुःखी हूँ! कोई भी...तो नहीं जानता मैं कितनी दुखी हूँ...(उसकी छाती पर अपना सिर रख कर धीरे से) मैं त्रेपलेव से प्यार करती हूँ..

दोर्न : सब लोग कैसे पागल हो गए हैं। कैसे पागल...प्यार का कितना ढेर लग गया है...यह सब इस झील का जादू है (स्निग्ध स्वर में) लेकिन बिटिया, मैं क्या करूँ ? क्या ?...क्या...क्या...।×

(पर्दा गिरता है)

ले० : एण्टन चैख़व
अनु० : राजेन्द्र यादव

कलकत्ता

अन्तःकरण की आवाज़ इतनी नाज़ुक होती है कि इसको दबा देना अत्यन्त सुगम है—परन्तु वह इतनी स्पष्ट होती है कि यह असम्भव है कि उसको सुनने में किसी प्रकार की भूल हो सके।

× शेष दो दृश्य आगामी अंक में

तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों का विकास-क्रम

यहाँ हम तेलुगु कुछ ऐसे मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों का विवरण दे रहे हैं जिनकी कथावस्तु आन्ध्रों के इतिहास पर निर्भर है।

हिमबिन्दु : श्री अडिवि बापिराजु ने (सन् १८६५ १९५२) हिमविन्दु की रचना की। इसकी कथावस्तु आंध्र शातवाहन युग से ली गई है। इतिहास के अनुसार शातवाहन आन्ध्र राजा थे और ब्राह्मण थे। उनका राजत्व काल ईसा से पूर्व २२४ से लेकर २२५ ई० प० तक चला था। वे अत्यन्त विस्तृत साम्राज्य के अधिनेता थे। उनके शासन काल में आन्ध्र देश में ब्राह्मण और बौद्धधर्मों की प्रधानता थी। इन दोनों में परस्पर संघर्ष भी कम नहीं था।

चारुगुप्त वैश्य ब्राह्मण कुटुंबकुल में पैदा हुआ था। उन दिनों जातियों में परस्पर आदान प्रदान तथा विवाह आदि का प्रबन्ध रहता था। ज़ाति भेद की कठिनाई नहीं थी। सुवर्णश्री एक कुशल शिल्पी था। स्थौलतिष्य ब्राह्मण धर्म के अधिनेता थे। वे चाहते थे कि राजा श्रीमुख का मन बौद्ध धर्म से फिर जाए। पर उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। श्रीमुख का दूसरा पुत्र मंजुश्री अपहृत हुआ। ब्राह्मणों का उद्देश्य यह था कि वे उसे ब्राह्मण धर्म में शिक्षा-दीक्षा दिला कर ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार करें। इस उपन्यास के पात्रों में विषकन्या (चन्द्रबाला) का एक प्रमुख स्थान है। चन्द्रबाला स्थौलतिष्य की पौत्री थी। स्थौलतिष्य ने उसे अपने मन्त्रों के बल से विषकन्या बना दिया। और उसका प्रयोग युवराज श्रीकृष्ण पर किया। इस उपन्यास में दो महान् आदर्शों की साधना दिखाई गई है। श्रीमुख चाहते थे कि राज्य की सीमा बढ़ाई जाए तथा बौद्ध-ब्राह्मण धर्मों में सामञ्जस्य की स्थापना हो। ये दोनों आदर्श फलीभूत हुए। साथ ही आनुषंगिक रूप में तीन प्रणय गाथाएँ सफल हुईं—श्रीकृष्ण और विषकन्या का, समवर्ती और नागबन्धुनिका का तथा सुवर्णश्री और हिमविन्दु का कल्याण सम्पन्न हुआ। लेखक महाशय ने अपनी बहुज्ञता का परिचय विभिन्न सन्निवेशों में दिया है। स्वभावतः वे आनन्दवादी रचयिता थे अतः उनकी रचनाएँ मंगलान्त ही होती थीं।

"गोनगन्नारेड्डी" भी श्री अडिवि बापिराजु द्वारा लिखी गई है। इसमें काकतीय राजाओं के राजत्वकाल का सुन्दर वर्णन हुआ है। काकतीयों ने तेलुगु प्रान्त पर सन् १०३०-१३२३ ई० तक राज्य किया था। इस वंश में रुद्रमाम्बिका (सन् १२६२-१२६६ ई०) का राजत्वकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। 'गोनगन्नारेड्डी' उन्हीं के राज्य में एक प्रतिभावान् माण्डलिक महाप्रभु था। इसी समय पर आधारित हो इस उदन्यास की रचना चली। इसमें 'गोनगन्नारेड्डी' की वीरता का कुशल वर्णन पाया जाता है। 'हिमबिन्दु' और 'गोनगन्नारेड्डी' के रचयिता स्वर्गीय श्री अडिवि बापिराजु केवल ऐतिहासिक उपन्यासकार ही नहीं थे, परन्तु एक सफल कवि और अत्यन्त प्रसिद्ध चित्रकार थे। उनके गीत लोगों में बहुत ही प्रचलित हैं। आपने 'नरायणराव' नामक सामाजिक उपन्यास पर आन्ध्र विश्व-कला परिषद् का पुरस्कार भी पाया था।

"नारायण भट्टु" के रचयिता श्री नोरिनरसिंह शास्त्री को तेलुगु के आधुनिक साहित्यकारों में सम्मान पूर्ण स्थान मिला है। 'साहित्य समिति' के कार्य सचिव के रूप में तेलुगु साहित्य की आपकी सेवाएँ सुप्रसिद्ध हैं। गीतिकार और नाटिकाकार श्री शास्त्री जी ने अपनी लेखनी के द्वारा उपन्यास कला को भी सँवारा है।

'नारायण भट्टु' की कथावस्तु केवल इतिहास से नहीं अपितु साहित्य से भी महत्वपूर्ण सम्बन्ध रखती है अतः आधुनिक ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका एक विशिष्ट स्थान है।

इस उपन्यास का इतिवृत्त आन्ध्र इतिहास में पूर्वी चालुक्यों के राजत्व काल से सम्बन्धित है, विशेषतः राज राजनरेन्द्र के राजत्व काल से। राज राजनरेन्द्र ने सन् १०२२ से १०६३ तक राजमहेन्द्रवर (गोदावरी नदी के किनारे बसा हुआ है) को राजधानी बना कर राज्य किया था। उनकी माता चोल राजाओं की कन्या कुंदवांबा देवी थी। पिता विमलादित्य थे।

यह एक आकस्मिक, आश्चर्यजनक एवं रोमांच

कारी घटना है कि संस्कृत के महान् कवि, पोषक और साहित्यकारों के आश्रयदाता राजा भोजराज राजराज नरेन्द्र के समकालीन थे। भोजराज का राजत्वकाल सन् १०१९-५६ ई० तक माना जाता है। परन्तु राजराज नरेंद्र ने तेलुगु के लिए भोजराज से भी बढ़ कर सेवा इस दृष्टि से की थी कि उनसे पहले तेलुगु में कोई लिखित प्रामाणिक साहित्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। एक लिखित महाकाव्य का अवतरण कराने का सारा श्रेय श्री राजराज नरेन्द्र को मिला। इनके आस्थान में विद्वान् श्री नन्नय्या भट्टु थे। नन्नय्या भट्टु तेलुगु की साहित्य—गंगा प्रवाहित करने वाले प्रथम भगीरथ थे। 'महाभारत' की रचना इन्होंने राजराज नरेंद्र की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के द्वारा की।

'नारायण भट्टु' की बहु भाषाभिज्ञता के प्रमाण में निम्न लिखित श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं।

"यः संस्कृत कर्णाट प्रकृत पैशाचिरांध्र भाषासु
कविराज शेखर इति प्रथितः सुकवित्व विभवेन
कवीन् मनीषालवदुर्विदग्धान् मनोहराभि र्निजसूक्तिभिर्यः
कुर्वन्नगर्वान् पटुभिर्विभर्ति कवीभवज्रांकुश नाम सार्थम्"

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि नारायण भट्टु संस्कृत, कर्णाट, प्राकृत, बैशाली तथा आन्ध्र भाषाओं में अपनी कविता के विभव से 'कविराज शेखर' करके प्रसिद्ध थे तथा कुकवियों का गर्व मोचन करने के कारण 'कवीभवज्रांकुश' विरुद से विभूषित थे। ऐसे उत्तम नायक का वरण करके श्री नोरिनरसिंह शास्त्री जी ने अपने उपन्यास को महत्वपूर्ण बनाया। लेखन शैली आपकी रोचक एवं सरल है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में साधारणतया लेखक को असिधाराव्रत निभाना पड़ता है। वह न एकदम इतिहास का गला घोंट सकता है, न कल्पना विहंग के स्वर्णिम पंखों को तोड़ सकता है। जहाँ वह इतिहास का अधिक ध्यान रखने की तत्परता दिखाता है, खतरा यह है कि उसकी रचना उपन्यास न होकर ऐतिहासिक तथ्यों के शुष्क कथनों से भर जाती है। यदि वह केवल कल्पना पर ज़ोर दे तो ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति वह अन्याय करता है। हम कह सकते हैं कि श्री शास्त्री जी ने इन दोनों का कर्तव्य पालन सुचारु रूप से किया है। शास्त्री जी एक मनस्वी और तपस्वी साहित्यिक हैं। अतः उनकी कल्पना को तभी सान्त्वना मिली जब उन्होंने तेलुगु के आदि कवि नन्नय्या और नारायण भट्टु को प्राचीन मुनिद्वय नर और नारायण के रूप में, द्वापर के अर्जुन और कृष्ण के रूप में तथा कलिकाल के नन्नय्या भट्टु और नारायण भट्टु के रूप में देखा था। अतः उनके मतानुसार नन्नय्या भट्टु और नारायण भट्टु केवल ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व रखने वाले महान् व्यक्ति ही नहीं थे परन्तु 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' वाली भगवान् की वाणी चरितार्थ करने वाले दैवी पुरुष भी थे। लेखक की यह भावना उपन्यास को वास्तविक धरातल से उठा कर आदि दैविक भूमि पर पहुँचा देती है जो प्रायः एक ऐतिहासिक उपन्यास के लिए उचित नहीं होती। परन्तु ऐसी भावनाएँ और धारणाएँ भारतीय संस्कृति और सम्प्रदाय के विरुद्ध हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता।

नरसिंह शास्त्री जी का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास "रुद्रमादेवी" है। इसमें काकतीय महासाम्राज्ञी रुद्राम्बा (सन् १२६२-१२९६ ई० तक) का इतिवृत्त लिया गया है। फलतः उपन्यास ओज गुण से भरा हुआ है। गणपतिदेवी की इकलौती पुत्रिका रुद्राम्बा ने बचपन में ही पुरुषों की भाँति अश्वारोहण, खड्ग विद्या, धनुर्विद्या आदि पुरुषोचित विद्याओं में अत्यन्त कुशलता प्राप्त कर ली थी। रुद्राम्बा का विवाह चालुक्य वीरभद्र से सम्पन्न हुआ। गणपतिदेव के अनंतर रुद्राम्बा राजगद्दी पर बैठी और बड़ी सफलता के साथ देश को शत्रु राजाओं की आक्रमणकारी दृष्टियों से बचाया ही नहीं प्रजा का अनुरागपूर्ण पालन भी किया। शास्त्री जी की रचना इस उपन्यास में अत्यन्त सफल है। शास्त्री जी का जन्म गुंटूर में सन् १९०० ई० में हुआ। आजकल रेपल्ले में वकील का पेशा कर रहे हैं। वकालत की अपेक्षा उनकी अभिरुचि साहित्य में अधिक है। आपने देवी भागवत का अत्यन्त सफल पद्यानुवाद भी किया है।

धर्मचक्रमु : इस ऐतिहासिक उपन्यास के रचयिता आधुनिक तेलुगु कवियों में अग्रगण्य कवि सम्राट् श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का जन्म १८९५ में हुआ है। इस उपन्यास का इतिवृत्त शातवाहन वंश के अनंतर आन्ध्र प्रान्त पर राज करने वाले इक्ष्वाकु वंशी राजाओं से सम्बन्धित है। इस वंश के मौलिभूत सम्राट् के वीरपुरुष दत्त इस उपन्यास के नायक हैं।

इस उपन्यास में वीर पुरुषदत्त की बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा और इस श्रद्धा के पीछे उसके मन में

करने वाली अवज्ञ चेतना का वर्णन ऐसे कुशल ढंग से किया गया है कि कृति बहुत विलक्षण बन पड़ी है। इस उपन्यास के अनुसार इतिवृत्त निम्न प्रकार है। शान्तमूल और माठर देवी के कोई सन्तान नहीं थी। गोमुख शातकर्णी (वीर पुरुष) के द्वारा एक क्षत्रिय कन्या से वीर पुरुषदत्त का जन्म हुआ है। शान्तमूल की बहन शान्त श्री के द्वारा ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि वीर पुरुषदत्त माठरी देवी की निजी सन्तान घोषित किया गया है। इस प्रकार इक्ष्वाकु राजाओं की परम्परा चलती रही। परन्तु गोमुखशातकर्णी ब्राह्मण थे और मालिन्दी क्षत्रिय कन्या थी। इनकी सन्तान वीर पुरुषदत्त में इसी हेतु ब्राह्मणों के प्रति अज्ञात रूप से घृणा पैदा हुई। इसी घृणा के फलस्वरूप वे बौद्ध धर्मावलम्बी हुए और उनके राजत्व काल में बौद्ध धर्म को चार चाँद लगे। उनकी पत्नियों में मट्टि देवी, पट्ट माहिषी थी अन्य पत्नियों के नाम क्रमशः शान्ति थी, बापि श्री, रुद्रधारा, और पष्टि श्री थे।

कालिन्दी अपनी सन्तान वीर पुरुषदत्त पर अत्यन्त आसक्त थी फिर भी विधि का विकट खेल था कि वह यथार्थ वृत्तान्त का उद्घाटन नहीं कर सकती थीं। आखिर को जब वीर पुरुषदत्त पर सारा सत्य प्रगट होता है तो वह विस्मित रह जाता है। इस उपन्यास में सबसे मार्मिक तथा विचारोत्तेजक सन्निवेश वह है जहाँ बौद्ध धर्म क गुरु भदन्ताचार्य राजा वीर पुरुषदत्त, तथा कालिन्दी एकत्र समाविष्ट होते हैं। तब महाराजा के समक्ष भदन्ताचार्य और कालिन्दी (जो बौद्ध सन्यासिनी के वेष में थी) में बौद्ध धर्म पर चर्चा चलती है। कालिन्दी अपनी प्रखर प्रतिमा के बल पर भदन्ताचार्य को नीचा दिखाती है। इससे वीर पुरुषदत्त के मन से भी बौद्ध धर्म का व्यामोह हट जाता है। परन्तु तब तक उन्होंने राज्य भर में बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था, ब्राह्मणों पर अत्याचार किया था। इस अवसर पर लेखक ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की छानबीन करके उनकी पारस्परिक तुलना में जो तर्क-वितर्क की कुशलता दिखाई है, वह अत्यन्त स्तुत्य है।

इस उपन्यास में कालिन्दी का आत्मत्यागपूर्ण (क्योंकि इसी ने अपनी सन्तान को राजमहल में राज्य की रक्षा के लिए पहुँचाया) उदात्त चरित्र का उज्ज्वल चित्रण, वीर पुरुषदत्त की अज्ञात मानसिक वेदना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कोडबलि (वीर पुरुषदत्त की स्त्री सन्तान) का विभिन्न व्यक्तित्व जो एकदम असैत्रैणिक था, अत्यन्त आकर्षक हैं। सारे उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक वायुमण्डल का अद्भुत निर्वाह हुआ है। इस वायुमण्डल के परिपोषण के लिए लेखक ने प्राकृत भाषा का उचित प्रयोग किया है। इस प्रकार उपन्यास अत्यन्त सफल, भावोत्तेजक और विलक्षणप्रतिभापूर्ण बन पड़ा है।

बद्दन्ना सेनानी : यह भी श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का लिखा हुआ ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी कथावस्तु वेलनाटि चोल राजाओं के राजत्व काल की है। (सन् ११०८ से १२०६ ई० तक) वीरशैव और वैदिक धर्मों में प्रबल संघर्ष चल रहा था। विजयवाटिका पर करखाल भैरव का अधिकार था। करखाल भैरव अपनी भुजशक्ति और तलवार की करामात विजयवाटिका की पूर्वी दिशाएँ ये भी दिखाना चाहते थे। इस दृष्टि से वे हजारों वीरशैवों के साथ निकल पड़े। करवाल भैरव को बद्दन्ना सेनानी की तलवार से लोहा लेना पड़ा। वह उसके हाथों मारा गया। उस समय से बद्दन्ना का यशः परिमल वेलनाडु, (गुण्टूर जिला) वेगिनाडु (पश्चिम गोदावरी जिला) आदि प्रान्तों में खूब विस्तृत होने लगा। बद्दन्ना जन्म से अंत्यज थे फिर भी उनमें मेधाशक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि अपने देश से (वेलनाडु) शत्रुओं को निर्मूल करना चाहते थे। इस दृष्टि से सारे प्रान्त के गांव-गांव में जाकर गुप्त रीति से सेना इकट्ठी करता था। वेंगिनाडु के त्रिपुरान्तक से उसने मैत्री कर ली। बद्दन्ना की सरल विनयपूर्णशीलता इसमें है कि वह समय-समय पर अपने को राज्याधिकार करने में अंत्यज होने के कारण अयोग्य समझता था। श्रम उठा कर फल को सहर्ष दूसरे के हाथों में सौंप देने की एक अद्भुत कला थी।

जहाँ बद्दन्ना का देशभक्तिपूर्ण कवित्व इतना महान् था वहाँ दूसरी ओर उनके वैयक्तिक जीवन में एक कटु तिक्त मधुर घटना घटी जिससे वह और भी महान् बनता है। उसकी शस्त्रविद्या की गर्विणी उससे वयोधिक एक चतुर्थज युवती थी। सामयिक कट्टारता के अनुसार उन दोनों में विवाह की बात दूर रही, प्रेम का उदय भी मना था परन्तु अनहोनी होकर घटी। एक बार बद्दन्ना की बीमारी में युवती सुश्रूषा कर रही थी। तब दोनों के

हृदयगत भाव व्यक्त हुए। चाहे समाज उचित कहे या अनुचित उन दोनों में प्रणय की गांठ पड़ी हुई थी।

बद्दन्ना की सेना ने जब देश भर से शत्रु सेनाओं को मार भगाया था, तब बद्दन्ना के प्रति कृतज्ञतापूर्ण अंजलि अर्पित करने के बजाए देश उन प्रेमी-प्रेमिका का न्याय विचार करने लगा। बद्दन्ना केवल दिल से यही चाहता था कि देश के आदमियों में उसके प्रति कम से कम कुछ कृतज्ञता का भाव तो रह जाए। मगर जब उसने देखा कि बात उलटी निकली तो उसका हृदय इतना भग्न हो गया कि जीवन के प्रति उसके मन में कोई मोह नहीं रह गया। वह पंचों के निर्णाय का पालन करने के लिए प्रस्तुत था। नम्बय्या (जो सर्व सेनाधिपति था) और बद्दन्ना में द्वन्द-युद्ध चला था। नम्बय्या के हाथ से तलवार उड़ा दी गई थी। बद्दना यदि चाहता तो नम्बय्या का काम तमाम कर देता परन्तु वह केवल अपनी तलवार का जौहर भर दिखाना चाहता था। आखिरकार उसने कहा, "हम अन्त्यज मिट्टी के पले हुए जीव हैं। हमारे हाथों तुम्हारा निधन शोभा नहीं देता" बद्दन्ना स्वयं अपनी मौत का आह्वान करके खड़ा रह गया। तब उसकी वीरगति हुई। बद्दन्ना की प्रेयसी बादम्मा इस प्रकार रो पड़ी, "वह व्यभिचारी नहीं है और न मैं जारिणी। हम दोनों का प्रेम ज्ञानातीत है।" बादम्मा के प्राण भी निकल गए।

इस उपन्यास में बद्दन्ना का चरित्र-चित्रण इतनी खूबी के साथ किया गया है कि वह किसी पौराणिक वीर से कम नहीं है। त्यागशील प्रवृत्ति, अधिकार लोभ की विमुखता तथा प्रेम की प्रगाढ़ शीलता उसे एकदम पार्थिवता से उठा कर चरित्र की दिव्य भूमि पर पहुँचा देती है। बद्दन्ना तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में निस्संदेह एक महोज्ज्वल अमर-वीर है। उसका व्यक्तित्व सदा के लिए सहृदय पाठकों के हृदय-फलकों पर अमिट रहेगा।

तंजाऊरु पतनमु : कुमारी मल्लादि वसुन्धरा का यह ऐतिहासिक उपन्यास अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस पर रचयित्री को आन्ध्र विश्व कला-परिषद् ने एक हजार रुपयों का पुरस्कार दिया है। यह पुरस्कार कुमारी ने उपन्यास रचना की प्रतियोगिता में पाया है। उपन्यास की कथावस्तु तंजाऊर प्रदेश पर राज करने वाले विजय-राघव नायक के राजत्वकाल से ली गई है। कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निम्न प्रकार है :

विजयनगर साम्राज्य की उच्च दशा में ही सुदूर दक्षिण में इस साम्राज्य के दो सामंत राज्य तंजाऊर तथा मदुरा में स्थापित हुए। अच्युत रायुलु के शासन काल में तंजाऊर पर शासन करने के लिए एक समर्थ वीरपुरुष को भेजने की आवश्यकता उपस्थित हुई। अच्युत रायुलु की धर्म पत्नी वरदाम्बिका थी। वरदाम्बिका की बहन मूर्तम्मा का विवाह एक सामान्य दण्ड-नायक चेवप्पा नायक से सम्पन्न हुआ। तंजाऊर की राजनैतिक परिस्थितियों को सम्भालने के लिए अच्युत रायुलु ने चेवप्पा नायक को भेजा था। चेवप्पा नायक ने सन् १५३५ ई० से १५६१ ई० तक बड़ी कुशलता से शासन चलाया। उनके अनन्तर अच्युत नायक तंजाऊर के शासक हुए। तंजाऊर के ये नायक राजा सदा विजयनगर के राजाओं के प्रति राजभक्ति दिखाते थे और कर भी चुका देते थे। अच्युत नायक (१५६१-१६१४) के अनन्तर रघुनाथ नायक गद्दी पर आरूढ़ हुए। रघुनाथ नायक (१६१४-१६३३ ई०) का राजत्व-काल तंजाऊर के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता है। रघुनाथ नायक की विशेषता इस बात में है कि वे केवल तलवार के ही नहीं क़लम के भी अत्यन्त धनी थे। संस्कृत के पारंगत विद्वान् थे। तेलुगु आदि दक्षिण भाषाओं के कवियों का पालन पोषण उनके दरबार में हुआ था। कलाओं के पोषण में वे द्वितीय श्रीकृष्ण देवराय समझे जाने लगे थे। केवल साहित्य में ही नहीं संगीत में भी उनका पांडित्य प्रकाण्ड था।

'संगीत सुधा' नामक संस्कृत लक्षणग्रन्थ उन्हीं का लिखा हुआ माना जाता है।[1] साहित्य रत्नाकर, अलंकार रत्नाकर, रघुनाथ भूपालीय आदि संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता यज्ञनारायण दीक्षित (गोविन्द दीक्षित के पुत्र) इनके लिए शिष्य थे। राम भद्राम्बा इनके आस्थान की विदुषी कवयित्री थीं जिन्होंने 'रघुनाथाभ्युयम्' नामक संस्कृत काव्य का प्रणयन किया है। स्वयं रघुनाथ नायक ने तेलुगु भाषा में 'रघुनाथ रामायणमु' लिखी थी। कहने का मतलब यह है कि रघुनाथ नायक की

---

[1] कुछ समालोचकों के अनुसार 'संगीत सुधा' के रचयिता रघुनाथ नायक के मन्त्री गोविन्द दीक्षित थे।

करने वाली अवज्ञ चेतना का वर्णन ऐसे कुशल ढंग से किया गया है कि कृति बहुत विलक्षण बन पड़ी है। इस उपन्यास के अनुसार इतिवृत्त निम्न प्रकार है। शान्तमूल और माठर देवी के कोई सन्तान नहीं थी। गोमुख शातकर्णी (वीर पुरुष) के द्वारा एक क्षत्रिय कन्या से वीर पुरुषदत्त का जन्म हुआ है। शान्तमूल की बहन शान्त श्री के द्वारा ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि वीर पुरुषदत्त माठरी देवी की निजी सन्तान घोषित किया गया है। इस प्रकार इक्ष्वाकु राजाओं की परम्परा चलती रही। परन्तु गोमुखशातकर्णी ब्राह्मण थे और मालिन्दी क्षत्रिय कन्या थी। इनकी सन्तान वीर पुरुषदत्त में इसी हेतु ब्राह्मणों के प्रति अज्ञात रूप से घृणा पैदा हुई। इसी घृणा के फलस्वरूप वे बौद्ध धर्मावलम्बी हुए और उनके राजत्व काल में बौद्ध धर्म को चार चाँद लगे। उनकी पत्नियों में मट्टि देवी, पट्ट माहिषी थी अन्य पत्नियों के नाम क्रमशः शान्ति थी, बापि श्री, रुद्रधारा, और षष्टि श्री थे।

कालिन्दी अपनी सन्तान वीर पुरुषदत्त पर अत्यन्त आसक्त थी फिर भी विधि का विकट खेल था कि वह यथार्थ वृत्तान्त का उद्घाटन नहीं कर सकती थीं। आखिर को जब वीर पुरुषदत्त पर सारा सत्य प्रगट होता है तो वह विस्मित रह जाता है। इस उपन्यास में सबसे मार्मिक तथा विचारोत्तेजक सन्निवेश वह है जहाँ बौद्ध धर्म क गुरु भदन्ताचार्य राजा वीर पुरुषदत्त, तथा कालिन्दी एकत्र समाविष्ट होते हैं। तब महाराजा के समक्ष भदन्ताचार्य और कालिन्दी (जो बौद्ध सन्यासिनी के वेष में थी) में बौद्ध धर्म पर चर्चा चलती है। कालिन्दी अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर भदन्ताचार्य को नीचा दिखाती है। इससे वीर पुरुषदत्त के मन से भी बौद्ध धर्म का व्यामोह हट जाता है। परन्तु तब तक उन्होंने राज्य भर में बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था, ब्राह्मणों पर अत्याचार किया था। इस अवसर पर लेखक ने बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की छानबीन करके उनकी पारस्परिक तुलना में जो तर्क-वितर्क की कुशलता दिखाई है, वह अत्यन्त स्तुत्य है।

इस उपन्यास में कालिन्दी का आत्मत्यागपूर्ण (क्योंकि इसी ने अपनी सन्तान को राजमहल में राज्य की रक्षा के लिए पहुँचाया) उदात्त चरित्र का उज्ज्वल चित्रण, वीर पुरुषदत्त की अज्ञात मानसिक वेदना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और कोडबलि (वीर पुरुषदत्त की स्त्री सन्तान) का विभिन्न व्यक्तित्व जो एकदम अस्त्रैणिक था, अत्यन्त आकर्षक हैं। सारे उपन्यास में तत्कालीन धार्मिक वायुमण्डल का अद्भुत निर्वाह हुआ है। इस वायुमण्डल के परिपोषण के लिए लेखक ने प्राकृत भाषा का उचित प्रयोग किया है। इस प्रकार उपन्यास अत्यन्त सफल, भावोत्तेजक और विलक्षण-प्रतिभापूर्ण बन पड़ा है।

बद्दन्ना सेनानी : यह भी श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का लिखा हुआ ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी कथावस्तु वेलनाटि चोल राजाओं के राजत्व काल की है। (सन् ११०८ से १२०६ ई० तक) वीरशैव और वैदिक धर्मों में प्रबल संघर्ष चल रहा था। विजयवाटिका पर करखाल भैरव का अधिकार था। करखाल भैरव अपनी भुजशक्ति और तलवार की करामात विजयवाटिका की पूर्वी दिशाएँ ये भी दिखाना चाहते थे। इस दृष्टि से वे हजारों वीरशैवों के साथ निकल पड़े। करवाल भैरव को बद्दन्ना सेनानी की तलवार से लोहा लेना पड़ा। वह उसके हाथों मारा गया। उस समय से बद्दन्ना का यशः परिमल वेलनाडू, (गुण्टूर जिला) वेंगिनाडू (पश्चिम गोदावरी जिला) आदि प्रान्तों में खूब विस्तृत होने लगा। बद्दन्ना जन्म से अंत्यज थे फिर भी उनमें मेधाशक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि अपने देश से (वेलनाडु) शत्रुओं को निर्मूल करना चाहते थे। इस दृष्टि से सारे प्रान्त के गांव-गांव में जाकर गुप्त रीति से सेना इकट्ठी करता था। वेंगिनाडू के त्रिपुरान्तक से उसने मैत्री कर ली। बद्दन्ना की सरल विनयपूर्णशीलता इसमें है कि वह समय-समय पर अपने को राज्याधिकार करने में अंत्यज होने के कारण अयोग्य समझता था। श्रम उठा कर फल को सहर्ष दूसरे के हाथों में सौंप देने की एक अद्भुत कला थी।

जहाँ बद्दन्ना का देशभक्तिपूर्ण कवित्व इतना महान् था वहाँ दूसरी ओर उनके वैयक्तिक जीवन में एक कटु तिक्त मधुर घटना घटी जिससे वह और भी महान् बनता है। उसकी शस्त्रविद्या की गर्विणी उससे वयोधिक एक चतुर्थज युवती थी। सामयिक कट्टारता के अनुसार उन दोनों में विवाह की बात दूर रही, प्रेम का उदय भी मना था परन्तु अनहोनी होकर घटी। एक बार बद्दन्ना की बीमारी में युवती सुश्रुषा कर रही थी। तब दोनों के

हृदयगत भाव व्यक्त हुए। चाहे समाज उचित कहे या अनुचित उन दोनों में प्रणय की गांठ पड़ी हुई थी।

बद्दन्ना की सेना ने जब देश भर से शत्रु सेनाओं को मार भगाया था, तब बद्दन्ना के प्रति कृतज्ञतापूर्ण अंजलि अर्पित करने के बजाए देश उन प्रेमी-प्रेमिका का न्याय विचार करने लगा। बद्दन्ना केवल दिल से यही चाहता था कि देश के आदमियों में उसके प्रति कम से कम कुछ कृतज्ञता का भाव तो रह जाए। मगर जब उसने देखा कि बात उलटी निकली तो उसका हृदय इतना भग्न हो गया कि जीवन के प्रति उसके मन में कोई मोह नहीं रह गया। वह पंचों के निर्णय का पालन करने के लिए प्रस्तुत था। नम्बय्या (जो सर्व सेनाधिपति था) और बद्दन्ना में द्वन्द-युद्ध चला था। नम्बय्या के हाथ से तलवार उड़ा दी गई थी। बद्दना यदि चाहता तो नम्बय्या का काम तमाम कर देता परन्तु वह केवल अपनी तलवार का जौहर भर दिखाना चाहता था। आखिरकार उसने कहा, "हम अन्त्यज मिट्टी के पले हुए जीव हैं। हमारे हाथों तुम्हारा निधन शोभा नहीं देता" बद्दन्ना स्वयं अपनी मौत का आह्वान करके खड़ा रह गया। तब उसकी वीरगति हुई। बद्दन्ना की प्रेयसी बादम्मा इस प्रकार रो पड़ी, "वह व्यभिचारी नहीं है और न मैं जारिणी। हम दोनों का प्रेम ज्ञानातीत है।" बादम्मा के प्राण भी निकल गए।

इस उपन्यास में बद्दन्ना का चरित्र-चित्रण इतनी खूबी के साथ किया गया है कि वह किसी पौराणिक वीर से कम नहीं है। त्यागशील प्रवृत्ति, अधिकार लोभ की विमुखता तथा प्रेम की प्रगाढ़ शीलता उसे एकदम पार्थिवता से उठा कर चरित्र की दिव्य भूमि पर पहुँचा देती है। बद्दन्ना तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में निस्संदेह एक महोज्ज्वल अमर-वीर है। उसका व्यक्तित्व सदा के लिए सहृदय पाठकों के हृदय-फलकों पर अमिट रहेगा।

तंजाऊरु पतनमु : कुमारी मल्लादि वसुन्धरा का यह ऐतिहासिक उपन्यास अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस पर रचयित्री को आन्ध्र विश्व कला-परिषद् ने एक हज़ार रुपयों का पुरस्कार दिया है। यह पुरस्कार कुमारी ने उपन्यास रचना की प्रतियोगिता में पाया है। उपन्यास की कथावस्तु तंजाऊर प्रदेश पर राज करने वाले विजय-राघव नायक के राजत्वकाल से ली गई है। कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निम्न प्रकार है :

विजयनगर साम्राज्य की उच्च दशा में ही सुदूर दक्षिण में इस साम्राज्य के दो सामंत राज्य तंजाऊर तथा मदुरा में स्थापित हुए। अच्युत रायुलु के शासन काल में तंजाऊर पर शासन करने के लिए एक समर्थ वीरपुरुष को भेजने की आवश्यकता उपस्थित हुई। अच्युत रायुलु की धर्म पत्नी वरदाम्बिका थी। वरदाम्बिका की बहन मूर्तम्मा का विवाह एक सामान्य दण्ड-नायक चेवप्पा नायक से सम्पन्न हुआ। तंजाऊर की राजनैतिक परिस्थितियों को सम्भालने के लिए अच्युत रायुलु ने चेवप्पा नायक को भेजा था। चेवप्पा नायक ने सन् १५३५ ई० से १५६१ ई० तक बड़ी कुशलता से शासन चलाया। उनके अनन्तर अच्युत नायक तंजाऊर के शासक हुए। तंजाऊर के ये नायक राजा सदा विजयनगर के राजाओं के प्रति राजभक्ति दिखाते थे और कर भी चुका देते थे। अच्युत नायक (१५६१-१६१४) के अनन्तर रघुनाथ नायक गद्दी पर आरूढ़ हुए। रघुनाथ नायक (१६१४-१६३३ ई०) का राजत्व-काल तंजाऊर के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता है। रघुनाथ नायक की विशेषता इस बात में है कि वे केवल तलवार के ही नहीं क़लम के भी अत्यन्त धनी थे। संस्कृत के पारंगत विद्वान थे। तेलुगु आदि दक्षिण भाषाओं के कवियों का पालन पोषण उनके दरबार में हुआ था। कलाओं के पोषण में वे द्वितीय श्रीकृष्ण देवराय समझे जाने लगे थे। केवल साहित्य में ही नहीं संगीत में भी उनका पांडित्य प्रकाण्ड था।

'संगीत सुधा' नामक संस्कृत लक्षणग्रन्थ उन्हीं का लिखा हुआ माना जाता है।[1] साहित्य रत्नाकर, अलंकार रत्नाकर, रघुनाथ भूपालीय आदि संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता यज्ञनारायण दीक्षित (गोविन्द दीक्षित के पुत्र) इनके आस्थान की इनके लिए शिष्य थे। राम भद्राम्बा इनके आस्थान की विदुषी कवयित्री थीं जिन्होंने 'रघुनाथाभ्युयम्' नामक संस्कृत काव्य का प्रणयन किया है। स्वयं रघुनाथ नायक ने तेलुगु भाषा में 'रघुनाथ रामायणमु' लिखी थी। कहने का मतलब यह है कि रघुनाथ नायक की

---

[1] कुछ समालोचकों के अनुसार 'संगीत सुधा' के रचयिता रघुनाथ नायक के मन्त्री गोविन्द दीक्षित थे।

सभा अनेक कवि और कवयित्रियों से, पारदर्शी पण्डितों से विभूति थी। वहाँ दिन रात सरस्वती नूपुरों की झुनझुनाहट मुखरित होती थी।

रघुनाथ नायक के अनन्तर उनके पुत्र श्री विजयराघव नायक सिंहासन पर बैठे। कला मर्मज्ञता, काव्य पिपासा आदि गुणों में अवश्य वे रघुनाथ नायक के योग्य पुत्र थे परन्तु राजनीति कुशलता में और वीरता में रघुनाथ नायक के अयोग्य पुत्र थे। पिता की कलात्मक तृष्णा का विजृम्भण तो पुत्र में पाया जाता है परन्तु उनकी शूरता, कार्यदक्षता, राजनीतिज्ञता आदि राज धर्म के लक्षण विजयराघव नामक (१६३३-१६७३ ई.) में एकदम नदारद थे। फलतः शासन की बागडोर शिथिल हो गई।

उपन्यास की रचयित्री मल्लादि वसुन्धरा ने इतिवृत्त को ऐसा निभाया कि उसमें इतिहास, कला और धर्म की त्रिवेणी का संगम हो गया है। धर्म की भावना अन्तर्वाहिनी सरस्वती के रूप में उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक परिव्याप्त है। विजयराघव की धर्मपत्नी राजगोपालांबिका थी। राजगोपालाम्बिका से राजा के मन्नारु नामक राजकुमार पैदा हुआ था। बाद को वि० रा० नायक का मन राजगोपालांबिका से हट कर रंगाजम्मा नामक एक कवयित्री पर संलग्न हुआ।

रंगाजम्मा कोई काल्पनिक स्त्री न होकर, उस जमाने की सबसे सम्मान्य विदुषी तथा कवयित्री थीं। उन्होंने 'उषा परिणयमु' नामक प्रबन्ध काव्य तथा 'मन्नारुदास विलासमु' नामक यक्षगान का प्रणयन किया था। राजा ने उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो उनको कनकाभिषेक से पुरस्कृत किया था। राजा की विषय लोलुप चित्तवृत्ति से पट्टमहिषी राजगोपालाम्बिका तथा उनके पुत्र मन्नारु का मन चिढ़ा हुआ था। यहाँ तक कि राजा ने राजगोपालाम्बिका के महल में जाना भी छोड़ दिया था। मन्नारु की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध पेद्दिदासु नामक एक वैष्णव भक्त के साथ हुआ था। पेद्दिदासु उस काल के अनुकूल स्वभाव रखने वाले एक योग्य और स्वतन्त्र प्रिय व्यक्ति थे। वे अच्छे पंडित थे फिर भी उनकी पंडिताई ने भक्ति-भावना के सामने विनय का ऐसा स्वरूप ग्रहण कर लिया था कि स्वयं पेद्दिदासु को भी अपने पाण्डित्य का स्मरण तक नहीं रहता था। ऐसे योग्य पुरुष के सदाचार और शील का प्रभाव राजकुमार मन्नारु पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? फलतः वह अपने पिता की शील निन्दा इधर उधर करने लगा। रायस वेंकन्ना इस उपन्यास का एक अद्भुत षड्यन्त्र पूर्ण व्यक्ति है। वह इधर की उधर पहुँचाने में और झूठी कल्पनाओं का आविष्कार करने में बेजोड़ था। फलतः राजा का मन पट्टमहिषी और भी फिर गया। नौबत यहाँ तक आ गई कि राजा ने मन्नारु को कैद कर दिया। अपने लाड़ले पुत्र के कैद होने पर राजगोपालाम्बिका में सोई हुई क्षत्रियता जाग पड़ी। फुफकारती हुई नागिन की भाँति प्रतिक्रिया का उपाय सोचने लगी। उसका विश्वास था कि राजा की इन सारी करतूतों के पीछे रंगाजम्मा की मन्त्रणा थी! परन्तु वह सच नहीं है। यह तो सच है कि राजा रंगाजम्मा के पीछे लट्टू थे, उसकी कविता पर रीझ जाते थे, उसके हाव-भाव विलासों पर जान तक न्योछावर कर देते थे परन्तु यह धारणा कि राजा के मन को उसीने इस महिषी से हटाया, एकदम असत्य है। रंगाजम्मा के मतानुसार यदि पुरुष अपनी पत्नी से बहक जाता है तो उसका पूरा दोष स्त्री का है। जिस स्त्री के पास अपने पति को मोहित करने वाली कला कुशलता नहीं है, उसको दूसरी स्त्रियों की निन्दा करने से क्या लाभ है। निम्न छन्द में बड़ी अवहेलना के साथ वह ऐसी कलाविहीन स्त्रियोंकी भर्त्सना करती है :

''ए वनितल् ममुन्दलप नेमिपनो तमराडुवारुगा
रो वलपिंचु नेर्पेरुगरो ? तम कौगिटिलौनगुंडगा
रावदियेमिरा ? विजयराघवयंचिलु दूरि बल्मिमै
तीवर कत्ते नै पेनगि तीसुक वच्चिति नो तलोदरी''

''दूसरी स्त्रियों को हमारी बात के छेड़ने की क्या आवश्यकता है। क्या वे स्त्रियाँ नहीं हैं? प्रेम करके प्रेम पाने की कला वे नहीं जानतीं? क्या हम यह अनुरोध करके कि हे विजयराघव? तुम क्यों नहीं 'आते' बलात्कार से विजयराघव को दूसरी स्त्रियों के घर से पकड़ लाईं हैं? बताओ? इससे स्पष्ट है कि रंगाजम्मा अपने सुख की चिन्ता रखने वाली नायिका अवश्य है परन्तु दूसरों के सुख में बाधा डालने वाली कुप्रवृत्ति उसमें नहीं थी। फिर भी राजगोपालांबिका की प्रतिक्रिया की भावना यों ही नहीं बुझने वाली थी। रंगाजम्मा के [illegible] करने पर मालूम पड़ा

कि वह पेनुगोंड में रघुनाथ नायक की उपपत्नी से पैदा हुई। यह सारा वृत्तान्त विजयराघव नायक को मालूम कराया गया था। विजयराघव के मन में आत्म धिक्कार की ऐसी भावना जागृत हो गई थी कि इस भगिनी संगम के महापाप से बचने का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ा। आत्म-हत्या के अलावा इसका प्रायश्चित्त ही क्या है। परन्तु वह चाहता था कि राजगोपालांबिका को अवमानित करे। परन्तु उनकी दशा यहां तक पहुँच गई थी कि रानी के विरुद्ध वे उँगली भी नहीं हिला सकते। आख़िर उनके मन में यह भावना पैदा हुई थी कि पेद्दिदास को अपमानित करना तथा रानी को अपमानित करना दोनों एक ही हैं। इस दृष्टि से एक दिन एक सभा चलाई गई। पेद्दिदास कभी राजा के स्तोत्र में गाने वाले नहीं थे। उनकी सारी भक्ति राजगोपालस्वामी के चरणों में अंकित थी।

वे राजा के आज्ञानुसार सभा में चले। वहाँ रसवाद पर शास्त्रार्थ चला। दूसरे दिन गधे के गले में हार डाला गया। उसके माथे पर वैष्णव 'तिरुचूर्ण' लगाया गया था और सारे शहर में उसका उत्सव मनाया गया था। लोगों में यह प्रकट किया गया कि राजा के द्वारा यह श्रीमान् पेद्दिदास जी का सम्मान है।

इतिहास से यह स्पष्ट है कि तंजाऊर का पतन विजयराघव नायक के राजत्व काल में प्रारम्भ हुआ। चेंगमलदास (विजयराघव नायक एक दूसरा पुत्र) सिंहासन पर थोड़े समय तक बैठे परन्तु तंजाऊर की राज्य श्री का अन्त विजयराघव नायक के हाथों से ही हुआ। कुशल लेखिका ने राज्य के इस पतन के जो कारण उपस्थित किए हैं, वे अवश्य ध्यान देने योग्य हैं। धर्म की च्युति के साथ साथ राज्य के अस्तंगत होने में कोई अस्वाभाविकता नहीं है, ख़ास करके हिन्दू इस धारणा पर प्रबल विश्वास रखते हैं कि विश्व का परिचालन ही धर्म पर स्थित है। भगिनी रंगाजम्मा के साथ राजा का संगम (चाहे वह अज्ञात ही क्यों न हो) धर्म के इतना प्रतिकूल था कि उस एक दोष से ही यदि साम्राज्य की नींव हिल गई हो तो आश्चर्य नहीं है। पेद्दिदास जैसे महान् भक्त को अवमानित करके राजा ने अपने दोष के गौरव को और भी बढ़ाया था। रचयित्री के अनुसार तंजाऊर के पतन के मूल में सब से भयंकर कारण ये दो ही थे।

इस उपन्यास के द्वारा हमें यह बात स्पष्ट होती है कि राज्य के परिपालन में राजा को कठोर भी होना चाहिए केवल कुसुम कोमल होने से काम नहीं चल सकता। 'राजानुमतो धर्मः'—ऐसे धर्म के विरुद्ध राजा को अग्रसर नहीं होना चाहिए। अनुचित कला-प्रियता और सौन्दर्य पिपासा कितनी भयंकर है, इसका इस उपन्यास में आभास प्राप्त होता है। दक्षिण देश में, बुझते आन्ध्र साम्राज्य की अन्तिम टिमटिमाहट में सुनाई देने वाली रंगाजम्मा की मधुर कविता गान तथा चन्द्ररेखा के चलित नूपुरों का रुन-झुन अवश्य ही मनोमोहक है।

"सप्तपर्णी" में कुमारी मल्लादि वसुन्धरा ने काकतीय वंश के राजा प्रताप रुद्र द्वितीय के राजत्व काल का इतिवृत्त लिया है। इस रचना पर भी वसुन्धरा को आन्ध्र विश्व-कला परिषद् की ओर से एक सहस्र रुपए का पुरस्कार मिला है। उपन्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निम्न प्रकार है :

प्रतापरुद्र (१२६६-१३२३ ई०) रुद्राम्बिका के दौहित्र थे। रुद्रमा अथवा रुद्राम्बा को कोई पुरुष संतान न होने से उन्होंने प्रतापरुद्र को गोद में लिया और वे ही रुद्रमा अनन्तर सिंहासनारूढ़ हुए थे। प्रतापरुद्र में कलाप्रिय भावुकता तो अत्यन्त थी, परन्तु राज्य की सुव्यवस्था करने में वे समर्थ नहीं थे। उनके राजत्व काल में मुसलमानों की कई चढ़ाइयाँ वरंगल पर हुई थीं। यह तो सच है कि कई बार मुसलमानी फ़ौज से प्रतापरुद्र की सेना ने लोहा लिया, फिर भी काकतीय सेनापतियों में पारस्परिक प्रज्वलित जातिगत द्वेष के कारण सन् १३२२ में दिल्ली सुलतान की फौज के द्वारा काकतीय सेना हार गई। इसके अनन्तर काकतीय राज्य का सूर्य अस्तंगत हो चला। प्रतापरुद्र का ज़माना कवि पंडितों का ज़माना था। तेलुगु और संस्कृत कवियों का आदर सत्कार होता था। इन्हीं के राजत्व काल में विद्यानाथ की अमर कृति 'प्रतापरुद्र यशोभूषणम्' नामक लक्षण ग्रन्थ की रचना हुई। 'प्रतापरुद्र यशोभूषणम्' का पठन-पाठन साहित्य के विद्यार्थियों में आज भी देश भर में प्रचलित है, विशेषतः आन्ध्र प्रान्त के विद्यार्थी इसी ग्रन्थ का मुख्यतः मनन करते हैं। अतः अपने उपन्यास की कथावस्तु इस काल से लेकर वसुन्धरा ने आन्ध्रों का मन मोहित कर लिया है। साथ ही वस्तु निर्वहण इतनी कुशलता के साथ हुआ है कि जगह-जगह

पर रचयित्री पाठकों की बधाइयों के योग्य बन गई है। 'सप्तपर्णी' काकतीय राजाओं के काल में रची गई एक कलापूर्ण कृति है। उसमें सात सुनहले पत्ते लगे रहते थे। वह सुनहली कदली है।

राजा ने यह घोषणा की कि यदि कोई महाशिल्पी इसमें आठवाँ पर्ण लगावे तो हम उन्हें पुरस्कृत करेंगे। इस घोषणा के अनुसार जक्कन्ना नामक एक महाशिल्पी वरंगल आया था। परन्तु उसे राज-दर्शन ही नहीं मिले। प्रतापरुद्र मायल देवी नामक एक वारांगना पर लट्टू थे। उसके लिए उन्होंने चित्रशाला का निर्माण किया। चित्रशाला के उद्घाटन के दिन तक जक्कन्ना ओरुगल्लु (वरंगल) पहुँच गए और वहाँ की कारीगरी देखते हुए रह गए। मायल देवी और जक्कन्ना की चार आँखें हुई। परन्तु वे एक दूसरे को नहीं जानते थे। इतने में यह सम्मोहित दृश्य राजा प्रताप ने देखा। वे उलटे पाँव लौट गए और उसी दिन से मायल देवी के महल पर जाना छोड़ दिया। यह बात मायलदेवी और जक्कन्ना नहीं जानते थे। उनमें पारस्परिक ज्ञान भी नहीं था। ज्यों-ज्यों मुसलमानों को जीत मिलती जाती थी त्यों-त्यों 'सप्तपर्णी' के पत्ते एक एक करके गिरते जाते थे। इससे राजा के मन में बड़ी आशंका पैदा हुई। दूसरी ओर जक्कन्ना के प्रति उनकी प्रतिक्रिया की भावना प्रज्वलित होती गई।

राजा के दर्शन के लिए जक्कन्ना बड़ा ही आतुर था। एक दिन साहस के साथ वह राजा के उद्यान में पहुँच गया और महल की खिड़की के समक्ष बैठ गया। राजा ने ज्यों ही खिड़की से बाहर नजर दौड़ाई त्यों ही जक्कन्ना को साक्षात्कार हुआ। उसके फलस्वरूप जक्कन्ना को कारागार में बन्द होना पड़ा। बीच में श्रीधर नामक एक और शिल्पी जिसमें किसी प्रकार की कुशलता नहीं थी, राज कर्मचारियों के आश्रय के बल पर राजा का अनुग्रह पात्र बना। उसने कई बार सुनहले पत्ते बनाए परन्तु उनसे राजा का मन नहीं भरा। श्रीधर में पांडित्य की अपेक्षा चापलूसी ज़्यादा थी। इस पात्र के द्वारा रचयित्री ने यह सफलता पूर्वक दिखाया है कि—असमर्थ लोग किस प्रकार खुशामद और चापलूसी करके उन्नत पदवियों को प्राप्त कर लेते हैं और योग्य पुरुष कैसे दबाए जाते हैं।

अन्त में मुसलमानों की फ़ौज जब वरंगल पर चढ़ आई तो उसमें मायल देवी, जक्कन्ना आदि कितने ही देशभक्त वीर जंग के मैदान में कूद पड़ते हैं और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए जी-जान से लड़ते हैं। नौबत यहाँ तक आ गई कि यवन सेना वाहिनी के सामने हिन्दुओं की सेना नहीं टिक सकी। स्वयं राजा भी मैदान में उतरे और युद्ध किया। मुसलमान सेनानी की तलवार उन पर पड़ने वाली थी कि कहीं से मायल देवी और जक्कन्ना बीच में आए। उसी समय मुसलमान सरदार की आज्ञा सुनाई दी, "राजा को जान से मत मारो। जीवग्राही बन्दी बना लो।" इसी समय जक्कन्ना और राजा का पारस्परिक तथा मायल देवी और जक्कन्ना का परिचय होता है तब राजा प्रताप अत्यन्त पश्चात्तप्त होते हैं।

राजा की प्राण रक्षा करने के लिए मायल देवी और जक्कन्ना ने जब तलवार चलाई तो वे एक दूसरे के शरीर में धँस गई। वे दोनों राज-भक्ति का पाठ पढ़ा कर स्वर्ग सिधार गए।

लेखिका के मतानुसार राजा प्रतापरुद्र एक साथ तीन साम्राज्य (साम्राज्य, मायल देवी, जक्कन्ना) खो बैठे। लेखिका की यह उक्ति नितान्त हृदय बेधक है।

लेखिका में वर्णन की निपुणता जगह जगह में पाई जाती है। उसके अनुसार सप्तपर्णी का रहस्य इस प्रकार है :

सप्तर्षि मण्डल की छाया ही काकतीय राज्य की सीमा है। इसलिए दुर्ग के सप्त प्रकार हैं। राज्य में सात सरोवर हैं, सहस्र मण्डप निर्माण के सात स्तंभ हैं, सात पहाड़ हैं, गणपतिदेव के द्वारा विनिर्मित सुवर्ण कदली सप्तपर्णी है। अतः राजा प्रताप के साथ साथ सप्तर्षि मण्डल का परिभ्रमण भी समाप्त है। इसे पुनः परिभ्रमित करने की मन्त्र-शक्ति जक्कन्ना में थी। परन्तु जक्कन्ना को ऐसा अवसर ही नहीं मिला। काकतीय साम्राज्य के उत्थान और पतन के मूल में जो कल्पना की गई है वह आर्षधर्म-भावना के अनुकूल है। रचयित्री पर प्रसिद्ध कवि सम्राट् श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी की शैली, कल्पना, विचार धारा और धर्माभिमान का गहरा प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव स्वाभाविक भी इसलिए है कि लेखिका श्री सत्यनारायण जी की शिष्या हैं।

जक्कन्ना का चरित्र-चित्रण इस उपन्यास में सर्व

श्रेष्ठ है। इस से स्वयं लेखिका की बहु विषयज्ञता प्रगट होती है।

"भुवन विजयमु" के लेखक श्री धूलिपाल श्रीराममूर्ति यस.आर.आर. कालेज विजयवाडा में तेलुगु के अध्यापक हैं। आपकी इस रचनापर आन्ध्र-विश्व कला परिषद् ने एक सहस्र रुपए का पुरस्कार दिया है। 'भुवन विजयमु' की कथा वस्तु तेलुगु इतिहास का स्वर्णयुग श्रीविजय नगर साम्रज्य के सर्वश्रेष्ठ अभिनेता और भुवन प्रसिद्ध सम्राट् श्रीकृष्णदेवराय (१५०६—१५३०) की अमर जीवनी से ली गई है।

वस्तु सर्वोदात्त है, नायक सर्वश्रेष्ठ है, और रचयिता भी एक दम मौलिक प्रतिभावान् है हमारी समझ में तेलुगु के ऐतिहासिक उपन्यासों में यह सर्वश्रेष्ठ है। सभी दृष्टिकोणों से इसकी रचना मौलिक और अत्युत्तम है। महाकवि पेद्दन्ना, तिम्मन्ना, और नादेल्ल देयय्य के चरित्र-चित्रण परमोज्ज्वल है। रानी चिन्नमाम्बा के जन्म का परिमार्जन अद्भुत रीति से हुआ है।

इतिहास-क्रम से उपन्यासों की सूची

हिमबिन्दु, शालिवाहन युग (ई. पू० २२४-२२५ ई.)
धर्म चक्रम, इक्ष्वाकु वंश (२३०-३०० ई.)
नारायण भट्टु, पूर्व चालुक्य (१०२२-१०६३ ई.)
बद्दन्नासेनानी, वेलनाटियोल (११०८-१२०६)
गोनगन्नारेड्डि, काकतीय युग (११९८-१२६६)
रुद्रमदेवी, काकतीय युग (१२६२-१२९६)
सप्तपर्णी, काकतीय युग (१२९६-१३२३)
भुवन विजयमु, विजयनगर (१५०९-१५३०)
विजयनगर साम्राज्यमु, विजथ युग (१५४२-१५७०)
तंजाऊरु पतनमु, नायक युग (१६३३-१६७३)

तेलुगु में ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना बहुमुखी प्रतिभा से हुई। विश्वनाथ सत्यनारायण जी की 'कडिमि चेट्टु' कदम्ब राजाओं से सम्बद्ध है, उनकी 'स्नेहफलमु' पल्लव राजाओं से संबद्ध और उन्हीं की एक कोरा दक्षिण के सेतुपति राजाओं से सम्बन्धित है। तेलुगु के रचयिताओं ने आन्ध्रेतर इतिवृत्तों को भी ले कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है। 'भुवनविजयमु' जो हमारी समझ में सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। आशा है कि स्वतन्त्र भारत में ऐतिहासिक उपन्यासों की सर्जना अधिकाधिक उल्लास एवं प्रफुल्लता के साथ होगी। उपन्यासों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थों से सहायता ली गई है :

(१) आन्ध्रुल चरित्र संस्कृति—खण्डवल्लि लक्ष्मीरंजनम् (२) Political and cultural History of India Vol I—R. Satyanathier. (३) स्वीयचरित्रमु—कंदुकूरि वीरेशलिंगम पन्तुलु (४) आन्ध्र रचयितलु—मधुना पन्तुलु सत्यनारायण शास्त्री।

तिरुपति

—हनुमच्छास्त्री

भय नहीं आनन्द

"......मेरी छोटी लड़की हँस रही है और खुशी में मस्त होकर गा रही है : "अह, अह, अह"। मैं इसके अर्थ को बिलकुल नहीं समझ सकता परन्तु मैं अपने हृदय में अनुभव करता हूँ कि वह क्या कह रही है। वह कहना चाहती है कि प्रत्येक वस्तु...एकमात्र भय नहीं है परन्तु आनन्द है।"

—विलसन

सन्त-साहित्य के अध्ययन में श्री परशुराम चतुर्वेदी का योग

वैसे तो 'सन्त' शब्द का तात्पर्य यही है, जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष ज्ञान की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो।" अर्थात् जिसने 'सत्' रूपी परम तत्व का अनुभव कर लिया हो और जो व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठ कर उसके साथ एकाकार हो गया हो। संत के हो जाना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसकी 'ब्रह्ममयी आन्तरिक वृत्ति' और 'ब्रह्ममय बाह्य कर्म' दोनों का संमिश्रण वांछनीय है। इस प्रकार जिसकी 'रहनी' और 'करनी' के बीच अलौकिक सामंजस्य हो वही सन्त है। परन्तु 'सन्त' शब्द का आगे चल कर 'रूढ़ि' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। इस शब्द का प्रयोग केवल उन भक्तों के लिए होने लगा जो 'विट्ठल' या 'वारकरी' सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे। उसकी साधना में निर्गुण-भक्ति की प्रधानता थी। इन सन्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, एवं तुकाराम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार 'सन्त' शब्द उपर्युक्त भक्तों एवं उनकी श्रेणियों के लिए रूढ़ि-सा हो गया। कबीर आदि उत्तरी भारत के सन्तों की विचारधारा बहुत कुछ ज्ञानदेव आदि सन्तों की विचारधारा से मिलती थी। अतः कबीर आदि भक्तों की भी गणना उसी के आधार पर 'सन्तों' में ही की गई। इनमें से प्रातः अधिकांश सन्तों ने 'सन्त' शब्द की व्याख्या अपने ढंग से की है। उन्होंने सन्तों की 'रहनी' और 'करनी' के बीच भी समन्वय करने की चेष्टा की है। साधना में भेद का होना अनिवार्य है; किसी में ज्ञान की प्रधानता है, किसी में उपासन की और किसी में कर्मकाण्ड एवं आचरण की। अतएव किसी की दृष्टि में ज्ञान की प्रक्रियाएँ ही सन्त के लक्षण हैं, और किसी की दृष्टि में आदर्श उपासक ही सन्त है, और किसी की राय में शुद्ध आचारवान् एवं कर्मकाण्ड ही वास्तविक सन्त है। परन्तु इन सबों ने एक स्वर से अपने मत को 'सन्त मत' की संज्ञा दी है।

दक्षिण भारत के सन्तों ने अपने विचारों को सुसंगठित रूप देने के लिए संस्कृत-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों में ज्ञानदेव और एकनाथ के नाम प्रसिद्ध हैं। ज्ञानदेव की श्रीमद्भगवद्गीता पर लिखी हुई 'ज्ञानेश्वरी-टीका' साधु सम्प्रदाय में अत्यधिक प्रसिद्ध है। उत्तरी भारत के संत-गण, कुछ को छोड़ कर, अधिकांश साधारण लिखे-पढ़े थे। इन लोगों ने अपने भावों को साधारण भाषा द्वारा ही अभिव्यंजित किया। इनकी रचनाएँ स्वतन्त्र और मौलिक हैं। इन सन्तों ने अधिकतर फुटकल पदों की रचना की, जो इनकी 'बानियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ सन्तों ने साखी, रमैनी, कवित्त, सवैया जैसे विविध छन्दों में भी अपने उपदेश व्यक्त किए हैं। एकाध ने प्रबन्ध ग्रन्थ भी लिखने की चेष्टा की थी, किन्तु उनकी रचना में शैथिल्य है।

हिन्दी-साहित्य में सन्त मत के अध्ययन की परम्परा पहले-पहल व्यक्ति-परक दृष्टि से प्रारम्भ हुई। इसका श्रेय सर्वप्रथम डा० रामकुमार वर्मा जी को है। उन्होंने अपने ग्रन्थ "कबीर का रहस्यवाद" में कबीर के रहस्यवाद की व्याख्या की। सर्व प्रथम उन्होंने स्वतन्त्र रूप से रहस्यवाद की व्याख्या की। तत्पश्चात् इसकी विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन किया। रहस्यवाद में "अद्वैतवाद" और "सूफ़ीमत" का क्या प्रभाव पड़ा, इसकी भी समीक्षा डा० वर्मा महोदय ने की है। फिर इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है। "आध्यात्मिक विवाह", "आनन्द", "गुरु" "हठयोग" शीर्षक पृथक्-पृथक् अध्यायों में उन्होंने कबीर के रहस्यवाद को विविध दृष्टिकोणों से समझाने की चेष्टा की है। साथ ही यह भी बतलाने की चेष्टा की है "सूफ़ीमत" और कबीर में क्या साम्य और वैषम्य है।

सन्तों को एक वर्ग विशेष में गिनते हुए उसके सामूहिक अध्ययन की ओर हिन्दी-साहित्य में सबसे पहले डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल प्रवृत्त हुए। सं. १९९० विक्रमीय में इन्हें "दि निर्गुन स्कूल आव हिन्दी पोइट्री" शीर्षक थीसिस के आधार पर डी० लिट्० की उपाधि हुई। इस थीसिस में डा० बड़थ्वाल ने हिन्दी के सन्त कवियों की बानियों का अध्ययन कर उसकी बाह्य विभिन्नताओं में समन्वय एवं समानता के आधार ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने इनके उपदेशों की दार्शनिक

पृष्ठभूमि की खोज की और उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की भी सूक्ष्म विवेचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस सन्तों की मुख्य देन पर भी प्रकाश डाला। जो कुछ उपलब्ध सामग्री थी उसके आधार पर उनकी जीवनी भी संक्षेप में लिखी। डा० बड़थ्वाल ने अपने निबन्ध में सन्तों के भाव-पक्ष अथवा उनकी कविता में के मुख्य विषय को ही समझाने की चेष्टा की है। भाषा पक्ष पर उनकी दृष्टि गौण रही है। उन्होंने सन्तों द्वारा रची हुई कविताओं को वास्तविक कविता की कोटि में नहीं माना है। उन कविताओं को भावाभिव्यक्ति का एक साधन मात्र माना है।

सन्तों की दार्शनिक विचार धारा का उल्लेख करते हुए डा० बड़थ्वाल ने उनमें पाई जाने वाली तीन धाराओं का उल्लेख किया है। उनके नाम वेदान्ती शैली के अनुसार रक्खे गए हैं और वे निम्नलिखित हैं: (१) अद्वैत (२) भेदाभेद (३) विशिष्टाद्वैत।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर उन्होंने कबीर, दादू, सुन्दरदास जगजीवनदास, भीखा एवं मलूक को 'अद्वैत वादी' की संज्ञा दी है। गुरु नानक एवं उनके अनुयायियों को 'भेदाभेदी' बतलाया है। शिवदयाल, प्राणनाथ, दरियाद्वय, दीनदरवेश, बुल्लेशाह आदि को 'विशिष्टाद्वैतवादी' की कोटि में रक्खा है। प्रमुख सन्तों तथा उनके नाम पर प्रचलित होने वाले पन्थों की विचारधाराओं में डा० बड़थ्वाल कोई विशेष अन्तर नहीं मानते हैं। उन्होंने संतों का जीवन-वृत्त भी शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देने की चेष्टा की है। इसी कारण उनमें पूर्णता नहीं है। बहुत से सन्तों का जीवन-वृत्त देने में उन्होंने अनुमान से ही काम लिया है। किसी-किसी स्थल पर प्राप्त सामग्रियों का उल्लेख मात्र कर दिया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि डा० बड़थ्वाल जी ने इन सन्तों की विचारधाराओं और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं पर अधिक ध्यान दिया है। सन्तों के समुजाय के स्वरूप और उसके विकास पर उनकी गौण दृष्टि थी।

डा० बड़थ्वाल का यह कार्य सन्त साहित्य के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उनसे निबन्ध के प्रकाश में आ जाने से 'संत-साहित्य' के गम्भीर अध्ययन का अर्थ कदाचित् सबसे पहले डा० बड़थ्वाल ही ने किया जिसके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य के खोजियों को बहुत बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई।

संत मत के अध्ययन में तीसरा महत्वपूर्ण अध्ययन डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'कबीर' में कबीर, उनके साहित्य तथा दार्शनिक विचारों की आलोचना की है। ग्रन्थ की प्रतावना में लेखक ने जुहाला जाति के सम्बम्ध में विद्वत्तापूर्ण खोज की है। तत्पश्चात् कबीर के प्रामाणिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में अपना विपना विचार प्रकट किए हैं। दूसरे अध्याय में 'अवधूत' शब्द की व्याख्या की गई है। 'वज्रयानी', 'तांत्रिक', 'गौरवपन्थी' अवधूतों का वर्णन किया है। अवधूत के सम्बन्ध में कबीरदास की विचारधारा का उल्लेख करके, उसकी अवधूत-कोटि निश्चित की है। तीसरे में नाथ पंथियों के सिद्धान्त और कबीरदास के बीच साम्य और वैषम्य दिखलाए गए हैं। चौथे अध्याय में हठयोग विषयक आवश्यक बातें—महाकुरडलिनी, षट्चक्र, सहस्रार, सुरति, कमल, नाड़ियों, नाद-बिन्दु, कुरडलिनी के जागरण के उपाय, काया साधना, षट्कर्म सिद्धासन, खेचरी मुद्रा—बतलाई गई है। पांचवें अध्याय में निरंजन शब्द की तुलनात्मक व्याख्या की गई है। छठें अध्याय ने निरंजन के समान अन्य मनोरंजक शब्दों—शून्य, सहजवाद, बिन्दु, खसम, धरती आदि के ऐतिहासिक विकास का निरूपण किया है। सातवें अध्याय में योगपरक रूपक औव उलटवासियों की व्यापक और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गई है। आठवें अध्याय में ब्रह्म और माया विषयक आवश्यक बातों का समाधान किया गया है। नवें अध्याय में "निर्गुण राम" की व्याख्या की गई है। इसी अध्याय में यह भी बतलाया गया है। 'निर्गुण' से कबीर का वास्तविक तात्पर्य क्या है तथा उनके अनुभवैकगम्य भगवान् के तात्पर्य को भी स्पष्ट किया गया है। दसवें अध्याय में पौराणिक मत की आचार बहुलता, हठयोगियों के बाह्याचारों को विस्तार के साथ बतलाया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि बाह्याचारों, के खंडन की सुदीर्घ परम्परा सदैव से चली आ रही थी। कबीरदास जी ने "एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद" का अलौकिक समन्वय करके रूढ़ियों और बाह्याचारों की परम्पराओं को बेदरदी से काटा। भक्ति और सच्चे गुरु पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। ग्यारवें अध्याय में डा० द्विवेदी ने यह बतलाया है कि कबीर के अनुसार ब्रह्म जिज्ञासा ही भक्ति है।

शरण गति और आत्म समर्पण भाव, तन्मयता तथा व्याकुलता तथा अनन्यपरायण, विश्वास और एकान्त-निष्ठा इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। कबीरदास जी इस भक्ति साधना में रामानन्द जी से कहाँ तक प्रभावित हुए इसकी भी समीक्षा की गई है। बारहवें अध्याय में कबीर-दास के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। उनकी अक्खड़ता, स्वाभावित फक्कड़पन, घर फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही, अपने आप पर अखण्ड विश्वास, युगावतार की शक्ति और विश्वास कबीर के व्यक्तित्व की असाधारण विशेषताएँ हैं। तेरहवें अध्याय में भारतीय धर्म-साधना कबीर का स्थान निर्धारित किया गया है। चौदवें अध्याय में भगवत् प्रेम के आदर्श निरूपित किए गए हैं। पन्द्रहवें अध्याय में रूप और अरूप, सीमा और असीम की व्याख्या करके यह बतलाया गया है कि कबीर के अनुसार 'रामतत्व' सर्वोपरि है। यह अनुमान के बाहर का अनन्त देश है। इस देश में समस्त व्यवहार निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। तत्पश्चात् "उपसंहार" में कबीर की वाणी के विविध रूपों में उपयोग बतलाए गए हैं। उन्हें "भाषा का बादशाह" और "अद्वितीय व्यक्ति" कहा गया है। उन्हें 'सर्व धर्म-समन्वयकार' की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार द्विवेदी जी का "कबीर" ग्रन्थ व्यक्ति परक है। इस ग्रन्थ के सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि पर लेखक की पैनी दृष्टि सदैव रही है। यही कारण है कि कबीर के सिद्धान्तों को समझने के लिए इससे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में कोई भी नहीं है।

सन्तों के परम्परागत अध्ययन में श्री परशुराम जी चतुर्वेदी का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने अध्ययन में अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण रक्खा है। सांस्कृतिक दृष्टि के साथ उन्होंने अपने अध्ययन में भारतीय दर्शन की विचार परम्परा को अपने सम्मुख रक्ला। इसके साथ ही उनकी दृष्टि इतिहास पर भी रही है। उन्होंने सन्त-साहित्य की समस्त उपलब्ध सामग्री का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रयोग किया और कालक्रम के अनुसार उसे सुसंघटित रूप प्रदान किया। मेरी ऐसी धारणा है कि यदि चतुर्वेदी जी को सन्त-साहित्य का प्रथम इतिहासकार कहा जाए तो अनुपयुक्त न होगा। अब हम संक्षेप में उनकी देन का मूल्यांकन करेंगे।

चतुर्वेदी जी की सन्त-साहित्य विषयक देन का उनके चार ग्रन्थों के आधार पर विचार किया जाएगा। वे निम्न लिखित हैं।

१ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा
२ सन्त-काव्य : संग्रह
३ भारतीय-साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ
४ कबीर साहित्य की परख

"उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा" में विद्वान् लेखक ने उस सन्त परम्परा से परिचित कराने का प्रयास किया है, जो कबीर साहब के साथ उत्तरी भारत में आरम्भ हुई थी और जिसकी रचनाएँ हिन्दी में उपलब्ध है। "उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा" में लेखक ने अपने वक्तव्य में सन्त-परम्परा के सम्बन्ध में अपने विचार इस भाँति स्पष्ट किया है—"सन्त-परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाने वाले सन्तों का चुनाव करते समय सबसे अधिक ध्यान स्वभावतः उन लोगों की ओर ही दिया गया है, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना था अथवा जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों और साधनाओं को किसी न किसी प्रकार अपनाया था। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे लोगों को स्थान देना पड़ गया है जो सूफ़ियों, सगुणोपासकों, नाथ-पंथियों और अन्य ऐसे सम्प्रदायकों के साथ संबद्ध रहते हुए भी संत-परम्परा में गिने जाते आए हैं और जो अपने संत मतानुकूल सिद्धान्तों वाली रचनाओं के आधार पर भी उक्त सन्तों के अत्यन्त निकटवर्ती समझे जा सकते हैं।"

"उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा" ७७८ पृष्ठों का वृहत्-कार्य ग्रन्थ है। इसमें सात अध्याय है। प्रथम अभ्यास में सबसे पहले लेखक ने 'सन्त' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया है। तत्पश्चात् दक्षिण और उत्तर के सन्तों का संक्षिप्त इतिहास बतलाया है। इसी अध्याय में भारतीय साधना के प्रारंभिक विकास की सुन्दर और संक्षिप्त रूपरेखा लेखक ने प्रस्तुत की है। वैदिक साधनाओं, गीतोक्त साधना, पौराणिक भक्ति, योग साधना एवं ज्ञानवाद, तान्त्रिक पद्धति, गौतम बुद्ध का मार्ग, महायान और हीनमान, मन्त्रयान तथा वज्रयान का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है तत्पश्चात् सुधारवादी साम्प्रदायिक रूपों की चर्चा की गई है। इस सम्प्रदायों में (१) स्मार्त सम्प्रदाय (२) सहजयान

सम्प्रदाय (३) जैन सम्प्रदाय (४) नाथ योगी सम्प्रदाय (५) सूफ़ी सम्प्रदाय तथा (६) भक्तों के विविध सम्प्रदाय है। इस भक्त सम्प्रदायों में आलवार भक्त, वैष्णव आचार्य भक्त, काश्मीरी शैव, वारकरी निर्गुणोपासक, सहजिया वैष्णव प्रमुख हैं। इसी भूमिका भाग में ही कबीर साहब के पूर्वकालीन सन्तों जयदेव, सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन का जीवन वृत्त और रचनाओं का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में कबीर के समय की परिस्थितियों पर विचार करके यह बतलाया गया है कि उनका कबीर पर क्या प्रभाव पड़ा। तत्पश्चात् उनके जीवन-वृत्त का वर्णन है, जिसमें उनके जन्मस्थान, मृत्युस्थान, समय, जाति, माता-पिता, शिक्षा-दीक्षा, देश-भ्रमण, परिवार, व्यवसाय, वेषभूषा, रहन-सहन और रचनाओं आदि का समावेश है। इस अध्ययन के अन्त में कबीर साहब के मत का निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय में कबीर साहब के सम-सामयिक सन्तों के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला गया है। इन सन्तों में स्वामी रामानन्द तथा उनके शिष्य सेन नाई, पीपा जी, रविदास अथवा रैदास जी, कमाल, धन्ना भगत प्रमुख है। चतुर्थ, और पंचम और षष्ठ अध्यायों में विविध पन्थ-निर्माण के सूत्रपात की कहानी बतलाई गई है। इन पन्थों में से कबीर-पन्त, नानक-पन्थ और सिक्ख-धर्म, साध-सम्प्रदाय, लाल-पन्थ दादू-पन्थ, निरंजनी सम्प्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, दरिया-पन्थ, शिवनारायणी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, गरीब-पन्थ, पानप-पन्थ, रामसनेही सम्प्रदाय प्रमुख हैं। सप्तम अध्याय में आधुनिक सन्तों और उनके सम्प्रदायों के सम्बन्ध में लेखक ने बतलाया है। इनमें से साहिब पन्थ, नागी-सम्प्रदाय, राधा-स्वामी सत्संग का जिक्र किया है।

आधुनिक युग के फुटकल सन्तों में स्वामी रामतीर्थ और महात्मा गान्धी के नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार विद्वान् लेखक ने कबीर के पूर्ववर्ती सन्तों से लेकर महात्मा गान्धी तक की जीवनी की रूप रेखा दी है। इन सन्तों के असाधारण व्यक्तित्व का तथा उनमें से कुछ के द्वारा निर्मित सम्प्रदाय अथवा पन्थ में क्या-क्या विशेषताएँ है, इसका अत्यन्त बारीकी से निरूपण किया है। दार्शनिक परम्पराओं एवं इतिहास का लेखक ने अद्भुत समन्वय किया है। इसी से प्रभावित होकर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस ग्रन्थ को "सन्त-साहित्य का विश्व कोश" की संज्ञा दी है।

श्री चतुर्वेदी जी का दूसरा ग्रन्थ "सन्त-काव्य" है। इस ग्रन्थ में उन्होंने सन्त-परम्परा के सुदीर्घ काल को कतिपय विशेषताओं के साथ चार युगों में विभाजित किया है और उसी के अनुसार उनकी रचनाओं का समुचित मूल्यांकन किया है। चतुर्वेदी जी ने इस ग्रन्थ में प्रत्येक सन्त की मौलिक विशेषताओं की ओर संकेत किया है और उन्होंने यह भी बतलाया है कि किस प्रकार विभिन्न सन्त अपने अपने समय की विशेषताओं के परिचायक है। चतुर्वेदी जी का काल-विभाजन इस प्रकार है :

१. प्रारंभिक युग—(सं. १२००-१५५०) जयदेव से लेकर धन्ना भगत तक।
२. मध्ययुग—(पूर्वार्द्ध सं. १५५०-१७००) जंभनाथ से लेकर मलूकदास तक।
३. मध्ययुग—(उत्तरार्द्ध सं. १७००-१८५०) बाबालाल से लेकर रामचरण तक।
४. आधुनिक युग—(सं. १८५०—) रामरहदास से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक।

श्री चतुर्वेदी जी ने प्रत्येक युग की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया है और उस युग की विशेषताओं का उल्लेख किया है। युग विशेष की शैलियों द्वारा किस प्रकार सन्त-कालीन शैली भी प्रभावित हुई, इसकी भी समीक्षा की गई है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में विद्वान् लेखक ने १२६ पृष्ठ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है। इस भूमिका में लेखक ने संक्षेप में सन्त-साहित्य के वर्ण्य-विषय की व्याख्या की है। "सन्तों की रचनाओं के प्रधान विषय सत् और परमतत्वरूपी राम के स्वरूप का दिग्दर्शन, उसके प्रति प्रकट किए विविध प्रकार के उद्गार, आत्मनिवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्त्विक जीवन का महत्त्व तथा उसके लिए दिए गए उपदेश आदि कहे जा सकते हैं। उन्होंने सांसारिक बातों में मोहासक्त लोगों का भी वर्णन किया है और उसके साम्प्रदायिक एवं भेदभावों की आलोचना की है। उन्होंने आदर्श सन्त को सत् का प्रतीक माना है और अपने पथ-प्रदर्शक सद्गुरु को भी वही महत्व प्रदान किया है। अपने

रचनाओं में ये सर्वत्र उनके सद्‌गुणों एवं आदर्शों की ओर ही ध्यान देते हैं। उनके भौतिक जीवन की प्रायः कोई भी चर्चा नहीं किया करते। यही कारण है कि हमें बहुत कुछ प्रयत्न करने पर यह विदित नहीं हो पाता कि वे कौन और कहाँ के थे।"

इस ग्रन्थ की भूमिका में जो सबसे आकर्षक वस्तु है, वह है काव्य की दृष्टि से इस साहित्य का मूल्यांकन। लेखक ने बड़े परिश्रम से इस साहित्य के श्रृंगार रस (संयोग और वियोग दोनों ही), वीर रस, वीभत्स रस, अद्‌भुत रस की पंक्तियों का उद्धरण दिया है। शान्त रस की व्यापकता तो सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

सन्तों की अलंकार योजना पर भी चतुर्वेदी जी ने विचार किया है। सन्तों की रचनाओं में दोनों प्रकार के अलंकार मिलते हैं—(क) अर्थालंकार (ख) शब्दालंकार। अर्थालंकार में से सन्तों की रचनाओं में से रूपक, विभावना, अन्योक्ति, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता, एकावली, काव्यलिंग, उपमा, अनन्योपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, विचित्र, विषम, व्यतिरेक, कारणमाला, क्रम, परिणाम, भेदकातिशयोक्ति, लोकोक्ति अलंकारों का प्रयोग किए हैं। चतुर्वेदी जी ने उदाहरण के लिए पर्याप्त पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। शब्दालंकार सन्तों की रचनाओं में छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, यमक, वीप्सा आदि अलंकार मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उलटबासियों पर भी लेखक ने विचार किया है। सन्तों की संगीत-प्रियता, छन्द तथा भाषा की भी समीक्षा लेखक ने की है। इसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य निरूपण की दृष्टि से श्री चतुर्वेदी जी का प्रयास अत्यन्त श्लाघनीय है। सन्त-काव्य संग्रह-ग्रन्थ की दृष्टि अत्यन्त उपयोगी है। इस दिशा में यह प्रथम प्रयास विशेष महत्वपूर्ण है।

"कबीर साहित्य की परख" संत साहित्य के अध्ययन में चतुर्वेदी जी की अन्य कृति है। कबीर-साहित्य का अध्ययन पहले केवल धार्मिक दृष्टि से ही किया जाता था किन्तु इसे अब शुद्धि साहित्यिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाने लगा है। यह अब साम्प्रदायिक दायरे की सीमा को पार कर चुका है। इस साहित्य के अनेक अंग अब वैज्ञानिक अनुशीलन के लक्ष्य बन चुके है। कहना न होगा कि कि इस ग्रन्थ में चतुर्वेदी जी कबीर साहित्य को विभिन्न दृष्टिकोणों से परखने की चेष्टा की है। अतः कबीर के अध्ययन में चतुर्वेदी जी का अध्ययन सर्वथा मौलिक है, क्योंकि अभी तक कबीर के दार्शनिक एवं धार्मिक दृष्टि से ही अध्ययन करने की परम्परा थी। यदि इस दिशा में कुछ कार्य हुआ भी, तो इतने व्यापक दृष्टिकोण और गहरे अध्ययन से नहीं।

चतुर्वेदी जी ने अध्ययन की सुविधा के लिए इस ग्रन्थ को पाँच खण्डों में विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट अंश पृथक् है। प्रथम खण्ड में सबसे 'सन्तकाव्य की परम्परा' का उल्लेख मिलता है। इसमें बतलाया गया है कि सन्त-काव्य का प्रारम्भ पहले बानियों अथवा पदों एवं साखियों के ही रूपों में हुआ था, किन्तु वह पीछे अन्य प्रकार से भी छन्दोबद्ध हो कर दीख पड़ा, किन्तु उसकी मौलिक विशेषताएँ अक्षुण्ण रहीं। उसका प्रमुख उद्देश्य आत्म-प्रकाशन ही रहा। अपनी कथन-शैली में उन्होंने पिंगल, भाषा, व्याकरण, रस, अलंकारादि सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा भी की। यह परम्परा आज तक ज्यों की त्यों है। सन्त कवियों में कबीर साहब, गुरु नानक, रैदास, दादू, रज्जब, सुन्दरदास, धरणीदास, तेगबहादुर, पलटू तथा स्वामी रामतीर्थ जैसे कुछ प्रतिभावान् भी पुरुष हुए, जिनकी रचनाओं में उत्कृष्ट काव्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस परम्परा का एक अस्पष्ट रूप कबीर साहब के पहले से भी विद्यमान था। जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, साधना, सिद्ध और नाथ पंथी कवियों के रूप में यह परम्परा पहले भी थी। आगे चल कर सिद्धों और गोरखनाथ आदि की रचनाओं तथा कबीर की वाणी में समानता दिखा कर इस बात को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। इसी खण्ड में आगे चल कर चतुर्वेदी जी ने बतलाया है कि उनके समय में अनेक मत प्रचलित थे, जिसका जिक्र "दादू" आदि कवियों की रचनाओं में भी मिल जाता है :

> "जोगी जंगम सेवड़े, बोध, संन्यासी, सेष।
> षट दरसन दादू राम बिन, सबै कपट के भेख॥"

कबीर साहब, ने अपनी रचनाओं में ऐसे वेशधारियों की काफ़ी चर्चा की है। दार्शनिक सिद्धान्त के अन्तर्गत सर्वप्रथम परमतत्व की व्याख्या की गई है। कबीर साहब ने इस तत्व को तत्, परमतत्, अनूप तत्, निज तत्, आप, सबद परमपद, निज पद, अभैपद, सहज, सुनि, अति ग्यान, अनहद, उनमन, गगन, सीव,

ब्रह्म आदि की संज्ञा दी है। किन्तु, वास्तव में, उन्हें इनमें से किसी भी नाम अथवा उसके किसी पर्याय से भी तृप्ति नहीं होती जान पड़ती। लेखक ने कबीर के शब्दों को उद्धृत कर इस 'परम तत्व' की सुन्दर व्याख्या की है। परम तत्व अथवा 'परमात्म तत्व' के पश्चात् कबीर साहब के अनुसार जीव-तत्व की व्याख्या लेखक ने विस्तार से की है। सारांश यह कि जीव को उन्होंने बतलाया है कि "हरि में पिंड और इस पिंड में ही हरि है।" इसी प्रकार माया तत्व की भी विवेचना हुई है। कबीर साहब के सामाजिक सिद्धान्त में सामाजिक स्थिति, परोपकार के महत्व, साम्य, आर्थिक व्यवस्था का सांगोपांग निरूपण मिलता है। उनकी साधना में आत्म-विचार, भाव-भगति, नाम-स्मरण एवं सुरति-योग, सहज-शील का अभ्यास प्रमुख है। यही उपर्युक्त चार साधन कबीर साहब के जीवन के प्रमुख अभ्यास रहे हैं। इसी खण्ड के अन्त में कबीर के अलौकिक समन्वय-वाद की भी विवेचना की है।

इस ग्रन्थ के चौथे खण्ड में कबीर के रहस्यवाद, सौन्दर्य-भावना, प्रतीक योजना एवं उलटबांसियों का पृथक्-पृथक् विद्वत्तापूर्ण विवेचन मिलता है। पंचम खण्ड में कबीर साहित्य में काव्य-प्रचार एवं छन्द-योयना, उनकी भाषा एवं रचनाशैली और उनके साहित्य के कुछ परम्परागत परिभाषिक शब्दों की मीमांसा की गई है।

परिशिष्ट में कबीर साहब-एक परिचय, कबीर का जीवन-काल, और कबीर-साहित्य और संगीत, कबीर साहब की उपलब्ध रचनाओं की संख्या तथा नामानुक्रमणी जोड़ कर इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ा दी गई है।

इस प्रकार इतिहास, सिद्धान्त और साधाना, तथा काव्य-सौन्दर्य आदि की दृष्टि से यह ग्रन्थ निश्चय ही सन्त-साहित्य का अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ।

चतुर्वेदी जी ने "भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ" नामक पुस्तक के फुटकर लेखों में सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। "भारतीय सन्तों का सांस्कृतिक योग" नामक निबन्ध में यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि सन्तों ने भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया। भारतीयों के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद को उन्होंने सर्व साधारण के जीवन में घटा कर उसकी वास्तविक उपयोगिता सिद्ध कर दी। इसी के आधार पर धर्म एवं सम्प्रदायगत भेदभाव तथा जातिगत विषमताओं की निस्सारता, सिद्ध की गई। इसी से विश्व-बन्धुत्व की भावना को बल प्राप्त हुआ। सन्तों की कड़ी आलोचना के फलस्वरूप 'कथनी' और 'करनी' में समन्वय स्थापित हुआ। लोक भाषा के माध्यम द्वारा उन्होंने गूढ़ सत्यों का प्रतिपादन किया, यह उनकी महान् देन थी।

"हिन्दी सन्त-साहित्य" वाले निबन्ध में विभिन्न सन्तों के निजी अनुभव, सादगी, सदाचार, त्याग, निर्भीकता, हृदय की सच्चाई और विश्व प्रेम आदि की ओर संकेत किया गया है। "सन्त-साहित्य और जैन हिन्दी कवि" नामक निबन्ध में जैन तथा सन्त-साहित्य पाए जाने वाले साम्य भावों, विचारों और भाषा के ऊपर दृष्टि डाली गई है। "भोजपुरी के सन्त-कवि" तथा सन्त-कवियों की "भोजपुरी रचनाएँ" नामक निबन्धों के शीर्षक से ही प्रतिपादित विषय का आभास मिल जाता है। "सन्त-कव्य में वीर-रस" के निबन्ध में सन्त-साहित्य के वीर-रस की पंक्तियों एकत्र करके वीर-रस का साक्षात् दृश्य हमारे समाने प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार "सन्तों का निर्वैर धर्म" नाम निबन्ध में उनके विश्व-बन्धुत्व तथा अहिंसा भावना की प्रशंसा की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाता है, कि श्री परशुराम जी चतुर्वेदी का सन्त-साहित्य के सम्बन्ध में अगाध अध्ययन है। उन्होंने उस अध्ययन को विविध रूपों—ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, काव्य-सौदर्न्य में हमारे सामने रखा है। "लेखक में भावक की व्यापक दृष्टि, सामयिक सूझ, व्यावहारिक व्याख्या, वैज्ञानिक विवेचन और गम्भीर अध्ययन द्रष्टव्य हैं।" उनके अध्ययन ने सन्त-साहित्य के विविध पहलुओं को हमारे समाने प्रस्तुत किया है। इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि उनकी कृतियों से बहुत से सन्त-साहित्य के खोजियों को नवीन प्रेरणा, शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त हुई है।

२५५, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद

—जयराम मिश्र

अधूरी मौत

काफ़ी रात गए, काकी थाली के पास पानी का गिलास रख कर बैठने चलीं तो ध्यान आया, दरवाजा खुला ही पड़ा है। उसे बन्द करने को दोनों पल्ले जो पकड़े तो क्षणभर को वे ठिठक गईं, बाहर कोई खड़ा था। 'इतनी रात गए कौन हो सकता है' उन्होंने सोचा और बाहर झाँक कर पूछा, "कौन है रे?"

"मैं...मैं हूँ" एक भयभीत सी आवाज़ बाहर से आई।

"अरे रजुआ! यहाँ खड़ा है सर्दी में?" काकी ने आश्चर्य से पूछा, "और कुछ पहने भी तो नहीं है!" लड़का अपनी फटी बनियन की दोनों पट्टियों को मुट्ठी में जकड़े, काँपता हुआ खड़ा रहा। लालटेन के धीमे प्रकाश में उसकी मुख मुद्रा बड़ी दयनीय लग रही थी। भय और आशंका के भाव चेहरे पर झलक रहे थे। ऐसा लगता था, वह कुछ कहना चाहता है।

"तो अन्दर आ ना! बात क्या है?" काकी ने अधिकार के स्वर में कहा और हाथ पकड़ कर उसे अन्दर खीच लिया। अब लड़का सहम कर बोला, "बहुत भूख लगी है।"

"चल मेरे साथ।" काकी वैसे ही हाथ पकड़े रसोई की ओर ले जाती हुई बड़बड़ाई, "जाने कब से सीत खा रहा होगा, आवाज़ तक नहीं दी।...ले, बैठ जा।" अपनी थाली उसकी ओर खिसका कर उन्होंने आदेश दिया और वहीं चटाई डाल कर बैठ गईं। लड़के ने भयभीत आँखों से उनकी ओर देखा और जल्दी-जल्दी खाने लगा। काकी ममता भरे सन्तोष के साथ उसे देखती और फिर विचारों में खो जातीं।...

दिन हो या आधी रात उनके दरवाज़े से कोई भूखा लौट कर नहीं जाता था। दिन में दो बार, वे स्वयं अपने हाथ से परस कर, प्रेमपूर्वक बच्चों को खिलाती थीं। नियम से मिलने वाले इस अकारण भोज का नाम बच्चों ने 'अचानक का भोज' रख छोड़ा था। पर इस भोज में ऊँचे घरों के सम्पन्न बच्चे कभी नहीं दिखाई देते थे। ग़रीब, विमाता द्वारा सताए गए या फिर भूख की सज़ा से छटपटाने वाले बच्चे ही अधिकतर इसमें आते। काकी का हृदय उनके लिए सदा उत्सुक रहता। धूल-मिट्टी से सने बच्चों को वे ललक कर गोद में उठा लेतीं, उनके साथ बच्चा बन कर कई तरह के खेल खेलतीं और थोड़ी देर के लिए उनके चारों ओर स्वर्ग का-सा सुख बिखर जाता।

उनके परिवार की छोटी-सी कहानी इतनी दर्द भरी है कि अब भी गाँव में दो तीन की जमघट में जब उसकी चर्चा छिड़ जाती है, तो लोगों की आँखें गीली हो जाती हैं। सबसे बड़ा सन्तोष उन सबको यह होता है कि काकी की दिमाग़ जिस नई दिशा को मुड़ गया है, वह केवल उनके ही लिए नहीं, गाँव के भोले-भाले ग़रीब बच्चों के लिए भी एक वरदान सिद्ध हुई है। उन्हें लगता रहा है कि केवल एक बच्चे को खो कर काकी समुद्र की तरह अमापनीय हो गई है; धरती की तरह क्षमाशील और आकाश की तरह उदारमना! यह अलग बात है कि अभी तक कुछ लोगों का मत यही है कि राकेश के डूब कर मर जाने के बाद उस बच्चे की आत्मा काकी के चारों ओर भटकती थी और यह हमारे नामी ओझा धनीराम जी का ही अद्भुत प्रभाव है कि अब वे उसका नाम तक अपनी ज़बान पर नहीं लातीं। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि रमचरना की माई ने काकी पर, अपने रमचरना की आई उतारने के लिए मन्त्र छोड़ा था, उसी से उनका दिमाग़, बीच में, चल गया था। पर समझने वाले समझते हैं कि काकी के स्वभाव का परिवर्तन मानवीय मिट्टी से पैदा हुआ था—दैवी शक्ति का कोई हाथ उसमें नहीं था।

पर अपनी सारी विभिन्न धारणाओं के बावजूद राकेश की मृत्यु के समय होनेवाले काकी के असह्य दुःख के प्रति वे एकमत हैं। उन्हें वे क्षण भुलाए नहीं भूलते जब काकी अपने एकमात्र पुत्र राकेश का शव देख कर, जड़-सी जहाँ की तहाँ खड़ी रह गई थीं और फिर आँधी की तरह झपट कर अपनी दोनों बाहों में उन्होंने उसे मींच लिया था। गोद के बालक की तरह अपने दाहिने कंधे पर लगा कर, उसकी भीगी पीठ पर एक के ऊपर एक हथेली रख कर उन्होंने आँखें मूँद ली थीं, जैसे वह

उन्हें वर्षों बाद मिला हो। उसके गीले कपड़े के पानी से उनका आँचल भीग गया था। गाल से राकेश के निर्जीव, बर्फ़ से ठंडे गाल सटा कर वे जैसे डूब गई थीं ममता के सागर में। और फिर उतावलेपन से उन्होंने झटका दे कर राकेश कीर्दन को अपनी हथेलियों की गद्दी पर ले लिया था और वात्सल्य की वह दृष्टि उसके चेहरे पर गड़ा दी थी; उँगलियाँ घुँघराले गीले बालों में आपसे आप डोलने लगी थीं। आसपास कौन खड़े हैं, क्यों? इन सबकी चेतना काकी को नहीं थी। वे बुदबुदा रही थीं, "मेरी बच्चे...कितनी देर से आया है...भूखा गया था...कितनी देर से......"

पर लोग देख रहे थे कि उनकी दृष्टि में कोई चीज़ बदल रही थी। हाथ ढीले पड़ रहे थे। और जब सहदेव ने बढ़ कर राकेश को सम्हालने की कोशिश की तो उनकी आँखों में एक आग्नेय भाव उतर आया था; वे कड़क कर बोली थीं, "क्या है? कौन है?" अब जैसे उन्हें अपने चारों ओर खड़े अनेक लोगों का आभास हुआ था, "तुम सब यहाँ क्या कर रहे हो?...इस थके हुए बच्चे से क्या चाहते हो! देखते नहीं, वह भूखा सो गया है?...जाओ..., अब वह कहीं नहीं जाएगा...कहीं नहीं...।"

उनका सारा शरीर काँप रहा था। राकेश को सहदेव ने ले लिया था। काकी ने अपनी गीली साड़ी देखी; भीड़ को देखा, और फिर सहदेव की गोद में लेटे राकेश को—। और इस बार राकेश को देखते ही एक भयावनी चीख़ उनके मुँह से निकली और वे निर्जीव-सी गिर पड़ीं।

राकेश के पिता, घर से सैंकड़ों मील दूर, 'ड्यूटी' पर गए थे। आगे का सारा काम गाँव वालों ने ही किया था। उनके पास संन्तोष करने, धैर्य धरने की क्षमता थी पर नन्हा वीरेन्, जिसके साथ राकेश नहाने गया था, किसी भी तरह अपने रोक नहीं पाता था। जिसे देखता उसी से रो रो कर कहता, "मेरा बहुत अच्छा दोस्त था। बहुत ही अच्छा। उस दिन नहाने को बुलाने गया, तो बहुत भूखा होने पर भी, और काकी के बार बार रोकने पर भी उसने मेरी बात नहीं टाली। फ़ौरन मेरे साथ आ गया था वह बहुत अच्छा था।" इन्हीं बातों को वह पचासों तरह से हेरफेर कर कहता और रोता।

काकी तो महीनों अपने अर्धचैतन्य की गहराइयों में भटकती रहीं। उनकी आँखों में अविश्वास और दैन्य का एक ऐसा भाव जम गया था कि कोई उसमें झाँकने की हिम्मत ही नहीं कर सकता था। पति को तो वे पहचानती तक नहीं थी। बच्चों को देखती तो घृणा से मुँह फ़ेर लेतीं; नाक भौं चढ़ाती और इतनी तीखी नज़रों से घूर कर देखती कि वे सहम कर रह जाते। अन्धकार की जो छाया, उनके आसपास बराबर डोलती थी, उसे जीत कर आशा की एक किरण अक्सर उनकी आँखों में मुस्करा देती थी—तब, जब वह अपने रसोई घर में बैठी होती थीं—दोनों घुटने सटे हुए, दाहिने हाथ की कोहिनी उस पर टिकी हुई, और हथेली माथे पर। सजग, उत्सुक वे बैठी होती। चारों ओर बरतन फैले होते—सुन्दर छोटी-सी थाली, उन्हीं नहीं प्यालियाँ, प्यारा-सा गिलास। वे उन्हें उठा कर थाली में सजातीं, फिर निकल देती और स्वयं से ही बड़बड़ाती होती, "...जाने कब आएगा...भूख भूख चिल्ला रहा था...तैरने में सब भूल गया...अभी तक नहीं आया...उन्हें,...जाने कब आएगा........."

और जब उनकी आँखें सामने लगी सीकचों वाली खिड़की की ओर उठतीं तो उनकी गहराइयों में अनन्त प्रतीक्षा की भाव दिखाई देता। वे प्यार से सीकचों को पकड़ कर खड़ी हो जातीं और मुग्ध दृष्टि से बाहर देखती हुई कहती, "बेटा! जल्दी आना...खाना रक्खे रहूँगी...अच्छा...देर न लगाना..." थोड़ी देर उनकी दृष्टि शून्य में भटकती, फिर उसमें मुग्धता की जगह निराशा झाँकने लगती और वे घूम कर बरतनों को देखतीं—आकर ज्यों की त्यों बैठ जातीं। लगता जैसे फिर उनके हृदय में प्रतीक्षा छटपटाने लगी है।

गाँव वालों को विश्वास हो गया था कि अब काकी का दिमाग़ ठीक नहीं होगा। वे जानते थे, काकी अपने दुःख को अतीत से सींचती हैं पर इसका कोई इलाज उन्हें नहीं सूझता था। काकी, आग्रह पूर्ण करुणा के साथ राकेश की छोटी छोटी बातें उन्हें सुनाने बैठ जातीं तो वे सहानुभूति के दो शब्द तक न कह पाते।

"उन दिन शैतानी करने के कारण स्कूल में उसे सज़ा मिली थी" बहुत ही निर्दोष मुद्रा में काकी कहतीं "पूरी शाम मैं दरवाज़े पर खड़ी उसकी राह देखती रही। पर जब वह लौटा तो मैंने उसे दो थप्पड़ मारे थे"

उनकी आँखों में पानी आ जाता और ऐसा लगता कि वह अपने बिछुड़े हुए उस छोटे साथी को पाने के लिए विकल हो उठी हैं।

राकेश के छोटे-छोटे जूते, बार-बार सम्हाल कर उठाती धरती हुई वे कहतीं, "उस दिन, थके होने पर भी, उससे गिन कर पच्चीस बार जूते उठवाए रखवाए थे...पूरे पच्चीस बार..." और उनकी आँखें आश्चर्य से अपने श्रोताओं का मुँह खोजतीं, माथे पर दो तीन लकीरें उभर आतीं और होंठ के कोने कुछ फड़क कर सिकुड़ने लगते, जैसे वे अभी फूट फूट कर रो देंगी...

एक दिन भिखमंगी रधिया की छोटी लड़की ने गाँव भर में यह ख़बर आग की तरह फैला दी कि आज काकी ने अपने हाथ से उसे भरपेट खाना खिलाया है। वीरेन उसकी हामी भरने को साथ रहा।

"जब वह औरत मिठाई ख़रीद चुकी और पैसे दे रही थी" वह सब को बात सुनाना इसी ढंग से आरंभ करता, "तो यह कमबख़्त वहीं खड़ी उसकी मिठाई घूर रही थी" इतना बता कर वह किंचित् क्रोध से एक बार रधिया की छोटी लड़की को देखता और कहता, "औरत चली गई तब भी यह वैसे ही घूरती रही, घूरती रही, पास खड़ी काकी से भी नहीं डरी। और मैं तो छिप कर देख रहा था कि काकी की आँखें इसी पर गड़ी हैं।... ऐसी अजीब है यह..." वह अपनी कहानी को बड़े ही गर्व से आगे बढ़ाता,... "कि जब काकी ने पास जाकर इसका हाथ छू लिया तो रो दी और बोली—बड़ी भूख लगी है माँ!—आप मानेंगे नहीं..." वह आँखें फैला कर, हाथ नचा कर बोला, "...मैं तो वहीं से डर के मारे काँप उठा था। पर काकी इसे पकड़ कर ले गई घर और..." फिर वह आने वाले आकस्मिक अन्त के लिए श्रोताओं को तैयार करते हुए कहता,... "अपने हाथ से, अपने सामने बड़ा थाल परोस कर इसे खिलाया है।"

वीरेन की गवाही पूरी होते ही रधिया की लड़की संकोच से सिर झुका कर फटे फ्रॉक को मुट्ठी में दबाती हुई बताती,

"काकी बहुत खुश लगती थी। कहती थी, तुम सबको रोज़ खिलाऊँगी। आज तो बहुत से बच्चे उसके घर जाएँगे...।"

उस दिन गाँव वालों को सन्तोष हुआ था कि अब काकी की चेतना लौट आई है और अकेली नहीं, संतोष, ममता और धैर्य लेकर।...

...लड़का खा चुका था। काकी की ध्यान टूटा।

"पेट भर गया न?" "उन्होंने पूछा और कुछ लेगा?"

"नहीं" लड़के ने सिर हिलाकर जताया।

"ले यह चटाई" काकी उठ कर कोने में खड़ी चटाई उठा कर लाई, "और यहीं पड़ रह। अब इतनी रात में कहाँ जाएगा...।"

लड़का कृतज्ञ दृष्टि से उन्हें देखता रहा। काकी ने उसे कम्बल दिया, फिर बरतन उठाए; नल पर रक्खे और लालटेन उठाकर अपने कमरे की ओर चल दीं। धोती बदली, खूँटी पर गंदी धोती टाँगी तो निगाह पास वाली खूँटी पर लापरवाही से पड़ी एक नीली कमीज़ पर पड़ गई...इसे वह अपने हाथों से टाँग गया है...नीला रंग उसे कितना पसन्द था...कहता था,...माँ मुझे भी नीला रंग दे...कपड़े यों ही फेंक देने पर उसे कितना डाँटती थी,...पर...इसे ऐसे टाँग कर तो वह लौटा ही नहीं...नहीं लौटा,...अब किसे धमकाना, कैसा फटकारना...उनका हृदय भर आया। राकेश के डूबने के बाद से इसी तरह टंगी हुई कमीज़ को वे जब जब देखती उनकी आँखों में एक सपना डोलने लगता था; वे सोचतीं...वह आएगा, इसे उठाकर पहन लेगा...।

काकी ने धोती टाँगी। लालटेन उठा कर खिड़की पर रख दी। उसका मद्धिम प्रकाश दाहिनी ओर रक्खे बड़े बक्स पर फैल गया।। काकी उस पर झुक गई। उनकी आँखों में वात्सल्य, हिलोरें लेने लगा।

उसी का प्यारा हाथ है; इसी से वह कलम पकड़ता था, इसी से कपड़े पहनता था, इसी से मेरे गले को घेर लेता था, इसी से खाना खाता था...आगे वे नहीं सोच सकीं। उन्हें विचित्र सी घुटन लगने लगी। उन्होंने हाथ बढ़ा कर लालटेन की बत्ती नीची कर दी और आँचल के एक हलके झोंके से उसे बढ़ा दिया।

१८ बी. मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा

कला-चर्चा

मेरी यूरोप यात्रा के अनुभव और संस्मरण

[विगत दिनों भारतीय कलाकारों के एक शिष्टमण्डल में श्री एन. सी. भट्टाचार्य ने सोवियत रूस आदि देशों का दौरा किया था; उन्होंने अपनी इस यात्रा के अनुभवों और संस्मरणों को विगत जनवरी ६, १६५६ को हैदराबाद स्थित अजन्ता पैविलियन में पढ़ा था। श्री भट्टाचार्य के उक्त संस्मरणों को हम संक्षेप में दे रहे हैं।—**विश्वनाथ मुखर्जी**]

आज से दस वर्ष पूर्व भारत के विभिन्न भागों में से कई उत्साही नवयुवक कलाकार दिल्ली में एकत्रित हुए। हमने उस संस्था में कार्य करना प्रारम्भ किया जो दस वर्ष उत्तम कार्य करने के पश्चात् मृतप्राय हो गई थी। सबने निःस्वार्थ भाव से, भक्ति और प्रेरणा के साथ कार्य आरम्भ किया। कुछ ही वर्षों में देश भर में उसने कला की धूम मचा दी। इसने अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किए। आप समझ गए होंगे कि मेरा संकेत अखिल भारतीय ललित-कला एवं शिल्प अकादमी से है।

इस संस्था के निमन्त्रण पर रूस की कला अकादमी ने १६५२ में यहाँ पर चित्र एवं मूर्ति कला का प्रदर्शन किया। और उन्हीं के न्योते पर अगले वर्ष हम चित्र एवं मूर्तिकला की वस्तुओं का संग्रह कर रूस के लिए रवाना हो गए।

सर्व प्रथम हमारा हवाई जहाज़ अफ़गानिस्तान (काबुल) में ठहरा। हमारे सम्मान में वहाँ एक समारोह का आयोजन हुआ। पड़ोसी अफ़गानिस्तान की समस्त कला का आधार आर्य सभ्यता से है। शास्त्रीय-संगीत मूल रूप से हमारे राग-रागनियों से मिलता है। पश्तो में रचित जयजयवन्ती और अफ़गान उस्तादों को गाते हमने सुना। अफ़गानों का कहना है कि वेदों और रामायण की रचना अफ़गानिस्तान में हुई थी। यह कहाँ तक सत्य है, इतिहासकार ही इसका निर्णय कर सकते हैं।

तत्पश्चात् रूस प्रजातन्त्र उजबेक की राजधानी ताशकन्द पर हमने पग रखा। यहाँ पर बुखारा और समरकन्द के प्राचीन नमूने पर बने सुन्दर और विशाल नाटक गृह, वाचनालय, म्यूज़ियम, कलाशालाओं एवं अन्य शैक्षणिक संस्थाएँ हैं। उजबेक और भारत में अब भी बहुत समानता है। वहाँ की वस्तुओं में और भाषा के कुछ शब्दों में समानता देख कर हम आश्चर्य चकित हो गए।

ताशकन्द से हम मास्को पहुँच गए। यहाँ पर बड़ी-बड़ी मधुशालाएँ, कला भवन और पार्क हैं। कोई भी यात्री इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। 'खुदोशनिक' कला के एकादमी हाल में भारतीय कला प्रदर्शनी का उद्घाटन हुआ। इस बार प्रदर्शनी देखने वालों की संख्या ने पहले के सब रिकार्ड तोड़ दिए। लगभग पैंसठ हज़ार व्यक्ति मास्को से, पचानवें हज़ार कीव से और एक लाख पचास हज़ार व्यक्ति लेनिनग्राड से कला प्रदर्शनी को देखने आए थे। वे भारतीय कला और जीवन का मान करते और समझते थे ऐसा उनकी वार्ताओं से ज्ञात होता था। रूसियों ने हमें बहुत सराहा। बहुत से चित्र और कृतियाँ हाथों हाथ बिक गई। हाँ, मैं मानता हूँ वे आधुनिक कला की स्पष्टतया आलोचना करते थे।

ऐसी कला को केवल आनन्द के लिए ही नहीं समझते थे उनका विचार है कला अभिव्यक्ति का शक्तिशाली माध्यम है जिसके द्वारा लोगों को शिक्षा दी जा सकती है। वे कला को जनता का मानते हैं। "जनता का और कलाकार को सबसे बड़ी उपाधि "जनता का कलाकार" ही दी जाती है। जब तक कला में अधिकांश जनता को उद्वेलित करने की शक्ति नहीं होती, सरकार उसे मान्यता नहीं देती। मेरे साथ कला एकादमी के अध्यक्ष ऐलमजैरण्डर गेवीज़ीमेज़ थे उन्होंने बताया कि वे लोग पिकासो की बहुत क़द्र करते हैं। वे विश्वशांति के उपासक हैं। मैं नहीं समझता उनकी कृतियों को कोई

१९५६

समझता है। वे बच्चों द्वारा निर्मित चित्रों की भाँति हैं। इससे नेताओं का आधुनिक कला के प्रति दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण हो जाता है।

सोवियत शासन-कला के विकास के लिए कलाकारों को जो सहायता प्रदान करता है, वह अत्यन्त सराहनीय है। शासन प्रतिवर्ष अच्छे मूल्य पर कला-वस्तुएँ खरीद लेता है। अस्पताल, होटल, स्टेशन तथा अन्य संस्थाओं और स्थानों में कला के दर्शनीय नमूने देखने को मिलते हैं। विश्व भर में नहीं तो, यूरोप में सबसे सुन्दर भूमिगत (Underground) स्टेशन यहीं पर है। ये स्टेशन शिल्पकारों, चित्रकारों एवं मूर्ति-कारों की उत्कृष्ट कृतियों से सुशोभित हैं। स्टेशन परियों की कहानियों में स्वप्न-देश के वर्णन के से लगते हैं।

गोर्की-पार्क रूस में सबसे लम्बा पार्क है। इसमें से एक सुन्दर नहर प्रवाहित होती है। नहर के दोनों ओर मिनर्वा और अपोलो जैसी प्रसिद्ध मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर संध्या के समय अवकाश विताने बूढ़े, बच्चे, जवान सभी आते हैं।

ट्रिटीकन रूस में एक असाधारण कला शाला है; छात्र और छात्राएँ यहाँ अध्ययनार्थ आते हैं; उनकी रुचि कला की ओर बढ़ती है। वे देश में कला की भावनाओं का प्रसार करते हैं। अवकाश के दिनों में दफ़्तर के लोग यहाँ आकर कला का रसास्वादन करते हैं।

हमारे लिए सभी कुछ देख सकना इतने अल्प समय में प्रायः असम्भव था। दाविन्सी द्वारा निर्मित प्रसिद्ध वेनका और लाल कुमारियों की सजीव, सुन्दर मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार राकेल की दो कथाएँ हैं। जार्ज, टिंटीरेटो, टीटन, रेम्बरान्ट जैसे कलाकारों का भी हम यहाँ अवलोकन कर सकते हैं। डच और स्पेन की कला यहाँ पर है। यहाँ आधुनिक कलाकृतियों का एक अलग कमरा है। वहाँ जाने के लिए विशेष आज्ञा लेनी पड़ती है। यहाँ पर प्रसिद्ध पिकासो और मेटिस जैसे जर्मन चित्रकारों के चित्र हैं।

रूस की शिक्षा पद्धति वस्तुतः सराहने योग्य और बहुत अंशों में अनुकरणीय है। बच्चों की रुचि और योग्यता को देखकर उन्हें यथानुकूल पूर्ण अवसर दिया जाता है। वे शिशु विहार और छोटी पाठशालाओं में कला, संगीत और विभिन्न प्रकार के खेलों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते हैं। वहाँ के नवयुवक मार्गदर्शक स्थल (Pioneer Places) संस्थाओं में अपने सामाजिक जीवन को पुष्ट बनाते हैं और वहाँ वे अपनी रचनात्मक कार्यों के प्रति उत्सुकता और रुचि को पूरा करते हैं।

पोलैण्ड की सरकार के अनुरोध पर वहाँ पर भी भारतीय प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। वहाँ पर इसका हार्दिक स्वागत किया गया। भारतीय प्रदर्शनी पोलैण्ड में बहुत लोकप्रिय रही। वारसा में भी एक भारतीय प्रदर्शनी आयोजित की गई थी। दोनों स्थानों में ३२ हज़ार से ऊपर लोग देखने आए थे।

गत महायुद्ध ने पोलैण्ड को बड़ी भयानकता से ध्वस्त कर डाला। मगर अब पूरे देश का पुनर्निर्माण कार्य आरंभ हो गया है और पोलैण्ड की जनता भी रूस की भाँति सामाजिक सत्ता के सिद्धान्तों का अनुसरण करती है। सैनिक और औद्योगिक महत्व की वस्तुओं का कोई प्रदर्शन न करना पोलैण्ड की शान्तिप्रियता का द्योतक है। मगर पोलैण्ड चित्र और मूर्तिकला, शास्त्रीय और लोक नृत्य, संगीत के फलने-फूलने का पूर्ण अवसर प्रदान करता है।

इसके पश्चात् कोलन, पश्चिमी जर्मनी आदि में हमारी प्रदर्शनी को स्थान मिला। कहा जाता है कि जर्मन लोग बड़े परिश्रमी और बुद्धिमान् होते हैं। कोलन में हम एक ओर नष्टभ्रष्ट देखते हैं तो दूसरी ओर नवनिर्मित शिल्पकला को देखते हैं।

जर्मनी की प्रतिभा और कला का आभास हमें उसकी कला में मिलता है। मैंने वहाँ पर आधुनिक कलाकारों की एक प्रदर्शिनी देखी। जर्मनी की आजकल की कला और आडम्बरयुक्त कला की भागदौड़ से निर्लिप्त है। वहाँ के मूर्तिकारों एवं चित्रकारों में नया समन्वय और नया सम्पर्क देखने को मिलता है। वे इस उक्ति में विश्वास रखते हैं कि "संयम के बिना कला नहीं और त्याग नहीं तो संयम भी नहीं।"

संक्षेप में कला शिक्षा, संस्कृति और समाज से संबन्धित है। यदि हम जीवन को सौन्दर्य-पूर्ण, गतिशील, लोमहर्षक और जीने योग्य बनाना चाहते हैं, शिक्षा का सौन्दर्य रूप देखना चाहते हैं और सौन्दर्य पूर्ण सभ्यता में निवास करना चाहते हैं तो हमें असंख्य-असंख्य भावनाशील कलाकारों की आवश्यकता है।

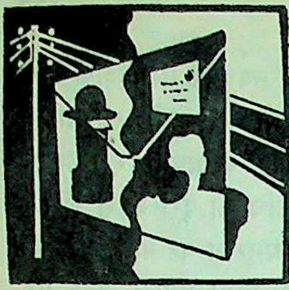

चिट्ठी-पत्री

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(१)

......एक बार वैयक्तिक रूप से आपको 'अजन्ता' के इतने सुन्दर सम्पादन के लिए बधाई देना चाहता हूँ। उसकी लेखन-सामग्री का वैविध्य और वैलक्षण्य समस्त हिन्दी में अनोखा है।

'धर्मयुग'
फोर्ट, बम्बई —वीरेन्द्रकुमार जैन

(२)

......जून अंक की कविताओं में कोई विशेष आकर्षण नहीं है। यों 'भारती' का अनुवाद और 'मधु' तथा 'भटनागर' की कविता मुझे काफ़ी अच्छी लगी।

श्रीयुत आनन्दनारायण शर्मा का कहानी पर निबन्ध (छोटी कहानी स्वरूप और सीमाएँ) बहुत ही वैज्ञानिक एवं खोजपूर्ण है। 'अजन्ता' की श्रीवृद्धि में इस निबन्ध का महत्वपूर्ण योग है। 'रात्रि : एक चित्र' वस्तुतः एक जीवन्त कहानी है। श्रीमती सविता बधाई की पात्र हैं। 'एमिल की डायरी' पढ़ कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। और भी इसमें बहुत सारे सराहनीय निबन्ध हैं।

शोकहरा, बरौनी
(बिहार) —कीर्तिनारायण मिश्र

(३)

'अजन्ता' का जून अंक प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

कहानी के टेकनिक एक नहीं अनेक हैं। जो जिस रूप में लिखता है वही उसका टेकनिक है। यह मेरा अपना विचार है। मैंने 'अजन्ता' के जून अंक में बहन सविता देवी का 'रात्रि : एक चित्र' नाम का एक चित्र पढ़ा। चित्र बहुत पसन्द आया। प्रस्तुत चित्र का टेकनिक आंग्ल-साहित्य के सटायरों से बहुत मिलता जुलता है, चिन्तनशील लेखिका ने अपने इस चित्र में मानव हृदय की गहराइयों तक पहुँच कर जिन तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया है वह नितान्त ही मौलिक और विशेषतः कलापूर्ण हैं। लेखिका ने इस एक ही चित्र में स्त्री और पुरुष के जो विभिन्न रूपों का अंकन कर दिखाया है, बड़ी प्रसन्नता होती है।

परन्तु देखा जाए तो वे स्त्री और पुरुष के हृदय की अपनी कमजोरियों के विभिन्न रूप हैं, जो कि अनुकूल परिस्थितियों में फलित होती हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में स्वयं ही मुरझा जाती है। जैसा कि 'शुभा' के चित्र की अन्तिम झलक हमारे कथन की पुष्टि करती है।

लेखिका का भविष्य उज्ज्वल है। लेखिका में सफल कहानीकार की प्रतिभा विद्यमान है। लेखिका अपने टेकनिक पर लिखे, मेरा उनको यही एक नम्र सुझाव है, बस।

दानाओली,
लश्कर, ग्वालियर, —महेन्द्रकुमार "मुकुल"

(४)

'अजन्ता' का जून अंक भेजने के लिए धन्यवाद। समयाभाव के कारण पूर्णरूपेण अंक का अध्ययन न कर सका किन्तु जो भी पाठ्य सामग्री दृष्टि से गुजरी वह वस्तुतः माँ भारती के भण्डार की अमूल्य थाती है। कविताओं के चयन में 'अजन्ता' का अपना विशेष दृष्टिकोण सराहनीय है। कई लेखों में इतिवृत्तात्मक शैली का बाहुल्य होने के कारण नीरसता आ गई है। थोड़ा सा ध्यान देने पर इस विषय में सुधार की पर्याप्त सम्भावना हो सकती है।

इस अंक की कहानी 'रात्रि : एक चित्र' टेकनिक के दृष्टिकोण से हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था', से टक्कर लेने की क्षमता रखती है। यद्यपि कहानी का उद्देश्य अपने आप में स्पष्ट नहीं है किन्तु मानव हृदय की स्वाभाविक दुर्बलताओं का चित्र उतारने में लेखिका की कलम ने सतर्कता से कार्य लिया है।

अन्त में, मैं यही चाहूँगा कि 'अजन्ता' हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्रतिनिधित्व करनेवाली सच्ची अजन्ता बन जाए !

विट्ठलवाड़ी, रानाड़े रोड,
दादर, बम्बई—२८

—**शिवशंकर वशिष्ठ**

(५)

'अजन्ता' के मई और जून अंकों में दुग्गल जी का 'शोर और संगीत' पढ़ने को मिला। मई के प्रकाशित भाग को पढ़ कर तो ऐसा लगा कि संसार में बच्चे और गर्भवतियों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। समझ में नहीं आता कि इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य को किस ओर ले जाएँगी। उक्त रचना में भाषा भी कभी कभी इतनी घरेलू हो जाती है कि 'अजन्ता' के लिए भद्दी लगती है। मनोविज्ञान के जिस पहलू को दिखा कर लेखक जनता को जिस चीज़ को दिखाना चाहता है वह लेखक ने इतने (दुग्गल जी क्षमा करें) फूहड़पने से दिखाई है कि वह साहित्यिक स्तर से नीचे उतर जाती है।

जून अङ्क में 'रात्रि : एक चित्र' कहानी बेशक आधुनिक कहानी-साहित्य की श्रेष्ठ रचना है।

कविताओं के लिए इसलिए कुछ नहीं कहना है कि वह हमेशा सुन्दर रहती हैं और उनका चयन और डिस्प्ले बहुत ही अच्छा होता है। एक बात और भी कहनी है कि 'नीर-क्षीर' में नीरज के 'प्राण गीत' की आलोचना में कवि के प्रति ठीक ठीक न्याय नहीं हो पाया है। आलोचक महोदय या तो स्वयं कवि नहीं हैं या यदि कवि है तो—पता नहीं क्यों वे 'नीरज' को पसन्द नहीं करते—उक्त संग्रह में "तुम न करना मेरी याद तुम्हारा आँगन गीला हो जाएगा" और 'युद्ध नहीं होगा' श्रेष्ठ रचनाएँ हैं जिनके बारे में आलोचक बिलकुल मौन रहे।

वैसे 'अजन्ता' अच्छा निकल रहा है। मैं उसकी शुभ कामना करती हूँ।

द्वारा गोविन्द प्रसाद,
मुहल्ला नितगंजा, फ़रुखाबाद

—**विमला देवी**

(६)

'अजन्ता' कई दिनों से नियमित पढ़ता आ रहा हूँ। निस्संदेह हिन्दी की जो गिनी चुनी पत्रिकाएँ निकल रही हैं, 'अजन्ता' उनमें अपना एक विशेष स्थान रखती है। वास्तव में पत्रिका की सफलता में इस बात में मानता हूँ कि उसमें लिखने के लिए लेखक का हृदय तड़प उठे !

जून के अंक में सर्वश्री जितेन्द्रकुमार, कुमारी मधु और महेन्द्र भटनागर की कविताएँ बड़ी मधुर लगीं। पिछले दिनों हिन्दी की एक मान्य पत्रिका ने 'अजन्ता' की कविताओं पर यह प्रहार किया था कि इसमें पुरानी धारा की कविताएँ छपती हैं; किन्तु मुझे हर्ष है कि आप किसी वाद विशेष में न पड़ कर काव्य की हत्या होने से कम से कम 'अजन्ता' को तो मुक्त रखे हुए हैं।

इधर हिन्दी में तो प्रयोगवाद के नाम पर बड़ी ही सड़ी गली कविताएँ हिन्दी की कई कोटि की पत्रिकाएँ छाप रही हैं।

जून अंक के सभी लेख उच्च कोटि के एवं गम्भीर हैं। सुश्री सविता देवी की कहानी "रात्रि : एक चित्र" ने तो मुझे बहुत ही नवीन प्रेरणा एवं शैली का जीता जागता परिचय कराया। कृपया उन तक मेरी बधाई पहुँचा दें।

जुमेराती,
भोपाल

—**नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी**

(७)

'अजन्ता' के कई अंक मेरे सामने हैं। इनमें प्रकाशित रचनाओं के पढ़ने से हमें हिन्दी साहित्य की नवीन, पुरानी सभी किस्मों की धाराओं से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता है। निश्चित ही 'अजन्ता' की देन आज के इस बदलते हुए युग में जब अनेकों मान्यताएँ टूट रही हैं और नई मर्यादाओं की स्थापना हो रही है—महत्वपूर्ण है। सच पूछिए तो पत्र पत्रिकाएँ ही ऐसे संक्रान्तिकाल में दिशा संकेत सा करती हैं। 'अजन्ता' का योग इस समय साहित्य के उत्थान में कितना और कैसा है—यह इसकी कुछ रचनाओं को देखने से सहज ही पता चलता है। यों तो इधर दर्जनों पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं और उनमें से कई जो साहित्य के लिए स्थायी सामग्री प्रस्तुत करने में सहायक हैं—'अजन्ता' का नाम उसमें विशेष रूप से लिया जा सकता है।

कविताओं में इस बार महेन्द्र भटनागर के दो चित्रों में पहला चित्र कुछ अच्छा बन पड़ा है, दूसरे चित्र की अन्तिम पंक्तियों में कविता का प्रभाव कम हो गया है। विलियम कार्लो विलियम्स की कविता का अनुवाद जिसे धर्मवीर 'भारती' ने प्रस्तुत किया है, निश्चित ही इस अंक का एक सफल चित्र है।

'अजन्ता' में कविताओं के प्रति और सावधानी बरतने की जरूरत हैं, ऐसा मुझे लगता है। आज जितने ढंग की और नई रुचियों की कविताएँ हिन्दी में लिखी जा रही हैं, 'अजन्ता' के पाठक, वैसी रचनाओं को पढ़ने में चूक रहे हैं। इसमें गीत ही ज़्यादा छपते हैं।

'अजन्ता' में इस मास प्रकाशित कई गद्य कृतियाँ महत्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से और शिक्षाक्रम में संस्कृत का स्थान हो इस पर इन्द्र विद्या वाचस्पति ने जिस स्वतन्त्र ढंग से अपने विचार प्रकट किए निश्चित ही उस पर सोचना चाहिए—क्योंकि संस्कृत साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। भारतीय भाषाओं के परिचय की दृष्टि से हनुमच्छास्त्री 'अयाचित' का "तेलुगु के साहित्यिक उपन्यास" लेख सुन्दर बन पड़ा है।

इसी अंक में 'छोटी कहानी : स्वरूप और सीमाएँ' लेख इस मास की एक विशिष्ट कृति है। भिन्न भिन्न कहानीकारों के विचार प्रस्तुत करते हुए आनन्द नारायण शर्मा ने साहित्य के एक बहुत ही आवश्यक अंग पर प्रकाश डाला है।

गद्यकृतियों में 'एमिल की डायरी' तथा सविता देवी की कहानी 'रात्रि : एक चित्र' भी पठनीय है। एमिल की डायरी के कुछ अंश पढ़ कर उसे अधिक से अधिक पढ़ने की लालसा जाग उठी है। जहाँ एक ओर एमिल ने अपने दार्शनिक विचारों को अंकित किया है वहीं अपने हलके हलके दृश्यों से मनुष्य के मंगलमय जीवन की कामनाएँ की हैं—

कलाचर्चा में चित्रकार रैफ़ेल पर लिखा हुआ भाऊ समर्थ का निबन्ध भी पठनीय है। यदि रैफ़ेल के एक दो चित्र यहाँ दे दिए गए होते तो निबन्ध में और जान आती। सम्पादकीय लेख 'भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन और पारस्परिक तुलना' एक महत्वपूर्ण और सामयिक निबन्ध है। आज देश में भाषाओं के नाम पर काफ़ी कुछ उलट पुलट हो रहा है।

किसी भी पत्रिका में अगर इतनी अधिक पढ़ने की सामग्री मिल जाए और पाठकों को पसन्द आए—तो मेरे विचार से उस पत्रिका का योग साहित्य के लिए महत्वपूर्ण है। एक बार मैं अपनी ओर से फिर 'अजन्ता' के कलाकारों को बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ, 'अजन्ता' ऐसे ही हमेशा पाठकों के लिए, सुन्दर नया, और शक्तिशाली साहित्य प्रस्तुत करती रहेगी।

श्रीवास्तव-बिल्डिंग,
गिरगांव, बम्बई—४

—सत्येन्द्र श्रीवास्तव

(८)

इधर कुछ महीनों से 'अजन्ता' नियमित रूप से पढ़ रही हूँ। निश्चय ही हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में इसका गौरवपूर्ण स्थान है। गम्भीर, सारगर्भित लेख, अन्तर्प्रान्तीय साहित्य का परिचय, मननीय सम्पादकीय तथा नीर-क्षीर के निष्पक्ष स्तम्भ—इसकी विशेषताएँ हैं। प्रत्येक अंक में लोक-साहित्य सम्बन्धी कुछ-न-कुछ सामग्री देकर भी आप स्तुत्य कार्य कर रहे हैं।

मई अंक में श्री देवेन्द्र इस्सर के लेख "साहित्य सृजन और साहित्यकार" में भिन्न-भिन्न विचारकों के साहित्य-सृजन सम्बन्धी मतों को उद्धृत करते हुए उनकी जो व्याख्या की गई है, उसमें लेखक का श्रम तथा विस्तृन अध्ययन दिखाई देता है। यह सत्य है कि रचना में किसी एकांगी पक्ष को महत्व देकर ही महानता नहीं लाई जा सकती। उसके लिए समन्वय की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

जून अंक में प्रकाशित श्री आनन्दनारायण शर्मा का लेख, "छोटी कहानी : स्वरूप और सीमाएँ" भी महत्वपूर्ण है। विशेष कारणों से हिन्दी-साहित्य के गद्यात्मक अंश में कहानियों और लघुकथाओं का लेखन पठन दोनों ही आजकल काफ़ी प्रिय हो रहे हैं अतः ऐसे आलोचनात्मक लेखों की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। इसी अंक में श्री धर्मवीर भारती का विलियम कार्लो विलियम्स की कविता का अनुवाद, "राह पर पड़े एक घायल कुत्ते को" सुन्दर है। कविता में जो भाव अंकित है वह कटु किन्तु सत्य है।

कविताएँ, 'अजन्ता' में उच्चकोटि की होती हैं, कहने की आवश्यकता नहीं हैं किन्तु निबन्धों के सम्बन्ध में मैं भी श्री बालस्वरूप 'राही' जी से सहमत हूँ कि इन

लेख साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही न रख कर एकाध साधारण पाठकों के लिए भी दें तो अधिक अच्छा है।

अहिन्दी भाषी प्रान्त से निकलने वाली इस उपयोगी तथा रोचक पत्रिका की निरन्तर प्रगति के लिए मेरी शुभ कामनाएँ स्वीकार करें।

१७-बी., मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—लक्ष्मी मेहरोत्रा

(९)

'अजन्ता' मुझे बहुत पसन्द आई। आकर्षण की वस्तु है उसमें भिन्न-भिन्न विषयों का सुन्दर समावेश। उसमें सभी कुछ है जैसे कविता, कहानी, सामयिक साहित्य और आलोचना। प्रस्तुत अंक में "छोटी कहानी : स्वरूप और सीमाएँ" एक उत्तम लेख है। साहित्य के अध्ययन करने वालों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। दुग्गल जी द्वारा लिखित "शोर और संगीत" मर्मस्पर्शी चित्रण है। "रात्रि : एक चित्र" भी सुन्दर बन पड़ी है। सामयिक में भी बहुत कुछ है। पठन सामग्री का इतना सुन्दर चयन आजकल मासिकों में देखने में नहीं आता। इसके लिए आपको बहुत बहुत धन्यवाद! 'अजन्ता' पढ़ कर मुझे बहुत प्रसन्नता और सन्तोष हुआ। अहिन्दी प्रान्त से प्रकाशित होने वाली पत्रिका का स्तर इतना उच्च होगा, यह मेरी कल्पना के परे था। काश! 'अजन्ता' से अन्य हिन्दी मासिक कुछ प्रेरणा पा सकते।

अन्त में यही कहना चाहती हूँ कि 'अजन्ता' इसी तरह उज्जवल नक्षत्र बन आलोक बिखेरती रहे। गलतियों के लिए क्षमा करें। और पत्रोत्तर देने का कष्ट अवश्य करें।

रामदास पेठ,
अकोला (म. प्र.)

—सुशीला शर्मा

(१०)

'अजन्ता' का जून अंक मिला। विश्वास करें—पूरे मन से देखा गया। कई रचनाएँ ऐसी चीखी चुभती और सादगी भरी है कि पढ़ते ही मन में बस गई। पहले कविताओं को ही लेना उचित होगा क्योंकि पत्रिका में पहला स्थान इन्हीं का है।

हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में अपना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली हैदराबाद की दो पत्रिकाएँ हैं—'अजन्ता' और 'कल्पना'। किन्तु 'कल्पना' में प्रकाशित कविताओं को देख कर जितनी गहरी निराशा हुई थी 'अजन्ता' की कविताएँ पढ़ कर उतनी ही आशा और आनन्द। किसी भी साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण किसी वाद-विशेष के आधार पर जब सामग्री का चयन करने लगते हैं तो साहित्य का सौन्दर्य कैसे विकृत हो जाता है, कला के प्राण तत्व की किस प्रकार हत्या हो जाती है यह 'कल्पना' कविताओं को देखते ही स्पष्ट हो जाता है।

नवीनता और मौलिकता का मूल कवियों के शिर पर चढ़ कर कविता की जो दुर्दशा करा रहा है एवं कुछ प्रमुख पत्र पत्रिकाएँ नए युग की नई निर्माण चेतना का सरस प्रबुद्ध प्रतिनिधि बनने के लिए उन्हें जो प्रोत्साहन देती जा रही हैं। उन्हें देखते हुए लग रहा है कि निकट भविष्य में गद्यगीतों की बाढ़ में कविता का स्वरूप ही विलीन हो जाएगा। ऐसे संक्रान्त युग में 'अजन्ता' कविता को बाह्य और आन्तरिक दोनों रूपों की जिस रूप में रक्षा कर रही है वह प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

महेन्द्र भटनागर के दोनों चित्र अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं। समाज की जलती हुई विषमताओं की अभिव्यंजना अत्यन्त कलात्मक रूप में उभारी गई है। नए कवि इन चित्रों को देखें—उनसे मेरा आग्रह है। जितेन्द्रकुमार का मानवतावादी कवि अपनेपन की लघु सीमा से उद्धार पाने को विकल है। कुमारी मधु की कविता के प्रगीत तत्व एवं श्रीवास्तव जी के स्वस्थ प्रयोग मन को सहज ही मोह लेते हैं। कुमारी 'उर्मि दीपशिखा' का स्नेहिल मन किसी अभाव का अनुभव करके तरल हो उठा है। कोई कवि के अभाव में, उसकी विरह-पीड़ा में करहे—मेरी यह कामना है।

अन्य रचनाओं में सबसे अधिक आकर्षक है सविता देवी भटनागर की कहानी 'रात्रि : एक चित्र' कहानी का प्राण है—उसका शिल्प; जिसे मैं कहानी का सर्वश्रेष्ठ गुण मानता हूँ। आज की हिन्दी कहानियों की सबमें बड़ी विशेषता है कि उन्हें मन लगा कर पढ़ना पड़ता है। कुतूहल तत्व का ढीलापन मन को थामने में सर्वथा असमर्थ रहता है। किसी किसी कहानी को समझने के लिए दुबारा पढ़ना पड़ता है तो किसी कहानी

का पहला पैरा पढ़ते ही सारी कहानी खुल जाती है किन्तु यह कहानी इन दोनों आधुनिक गुणों से मुक्त है। कहानी की रोचकता अन्तिम पंक्तियों तक मन को पकड़े रहती है और जिस रूप में कहानी का अन्त होता है उसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती थी।

निबन्धों का चयन भी काफ़ी ईमानदारी और परिश्रम से किया गया है। प्रायः सभी निबन्ध उपयोगी हैं। व्रजकिशोरनारायण जी का निबन्ध 'विशेषज्ञता' तो कहानी जैसा रोचक है। आनन्द नारायण शर्मा जी का लेख 'छोटी कहानी स्वरूप और सीमाएँ' काफ़ी अच्छा बन पड़ा है। अगरचन्द नाहटा जी ने चेतन विजय की कृतियों पर प्रकाश डाल कर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।

अहिन्दी भाषी प्रान्तो में ऐसे अनेक हिन्दी कवि हैं जिनकी रचनाएँ विस्मृत के घने कुहासे में छिपती जा रही है। नाहटा जी को इस कार्य को और आगे बढ़ाना चाहिए। सांस्कृतिक निबन्ध भी अपने ढंग के ही हैं।

सम्पादकीय टिप्पणी में 'साहित्य प्रोत्साहन और पुरस्कार' में व्यक्त किए गए विचारों से मैं पूर्णरूपेण सहमत हूँ। आशा है इधर हिन्दी साहित्य के महारथियों का ध्यान अवश्य आकृष्ट होगा।

भविष्य में आप वादविशेष को दलगत गुटबन्दियों से दूर रह 'अजन्ता' को अधिकाधिक स्वस्थ और सुरुचिपूर्ण सामग्री से सजाते रहेंगे ऐसी आशा है। पत्रिका की प्रगति के लिए मेरी शुभ कामनाएँ स्वीकार करें।

अमेठी राजभवन; लंका
हिन्दू वि० वि०, बनारस —नन्दकिशोर राय

(११)

जून, ५६ की 'अजन्ता देख कर प्रसन्नता हुई। अन्य अंकों की परम्परा में यह अंक भी अपने हठ-व्यक्तित्व का जयघोष करता है।

अंक के आकर्षण मुख्यतः पाँच हैं :

(१) महेन्द्र भटनागर के दो चित्र।
(२) सुश्री सविता भटनागर की कहानी।
(३) विजयगोविन्द द्विवेदी का 'मध्य भारत की संस्कृतिक पृष्ठ-भूमि पर गवेषणापूर्ण निबन्ध।
(४) लघु कहानी पर आनन्द नारायण शर्मा का समीक्षात्मक निबन्ध।
(५) सम्पादकीय टिप्पणी और कला-चर्चा।

पाठक के पैसे की अदायगी में ये आकर्षण के पाँच आयाम ही कामयाब होते हैं।

महेन्द्र जी की कविताओं में जीवन-चित्रों के वैविध्य और छवि-संकेत करुणा और रस-संवेदना उभारते चलते हैं। सबसे बड़ी खुशी है सुश्री सविता भटनागर की कहानी पर; जिसमें लेखिका ने अन्धेरे में अगजग को लेकर डूबने और उगने वाली शिथिलता और चेतना की नई सिक्तों को कुरेद दिया है। प्रत्येक पंक्ति जीवन के सजीव अंकन के रस से डबडब हो उठी है। सविता जी मेरी बधाई स्वीकारें।

विजयगोविन्द द्विवेदी के इस निबन्ध में लेखक के प्रौढ़ मस्तिष्क की चेतना अध्ययन-पूर्ण दिखाई पड़ती है। निबन्ध गाम्भीर्य के नाम पर सरल-सहज आवर्तों के सहारे नहीं चलता वरन सांस्कृतिक दृष्टिबोध के प्रसार को अतीव निपुणता से अपने में सजोकर आगे खिसकता चला है।

आनन्दनारायण शर्मा के निबन्ध में भी प्रांजल भाषा अपनी निखरी हुई मूल्य-चेतना को सहेज कर बेकाबू हो उठी है।

सम्पादकीय के पुष्ट और सधे हुए गद्य के लिए सम्पादक महोदय मेरी बधाई स्वीकारें।

अब एक बात की ओर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि आप 'अजन्ता' जैसे ऊँचे स्तर के पत्र में अन्यत्र प्रकाशित रचनाएँ क्यों छापते हैं!

जितेन्द्रकुमार के प्रायः सभी गीत 'स्वर के दीप' नामक कविता-संग्रह में प्रकाशित हैं, जिसका रिव्यू भी 'अजन्ता' में निकल चुका है। अगर प्रकाशित रचनाओं को नहीं छापें तो अच्छा हो। पाठक नई रचनाओं की माँग करता है, न कि छपी-छपाई हुई चीज़ें।

बरौनी डेवढ़ी
मुंगेर, बिहार —मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह

(१२)

जून मास का अंक मिला। हार्दिक धन्यवाद। यह अंक, अन्य अंकों की तरह ही तगड़ा है।

"जून का अङ्क अपनी मान्य सामग्रियों से और सुरुचिपूर्ण रूप-सज्जा से पूर्णतया सालंकृत है। दूसरा चित्र 'अनुतापी कृषी' भावमुद्रा और शिल्पनिर्माण दोनों

के स्पर्शी तत्वों से एक विद्युत-संचारी वातावरण उत्पन्न करता है।

इस अंक की सबसे उत्कृष्ट और चिर-स्मरणीय कृति है—'रात्रि : एक चित्र' जिसकी लेखिका सविता देवी हैं। बहुत दिनों के बाद भाषा, भाव, टेकनीक और वातावरण से परिपूर्ण एक कहानी पढ़ने को मिली। हिन्दी में इस कोटि की बहुत कम कहानियाँ लिखी गई हैं। मैं नहीं जानता की सविता जी ने पहले भी कुछ लिखा है या नहीं किन्तु यह कहानी एक भविष्यवाणी कर रही है, जो स्वयं ही भविष्य में प्रकट होकर कुछ कह जाएगी। उन्हें मेरा हार्दिक साधुवाद दीजिए। हाँ 'रात्रि : एक चित्र' की जगह 'रात्रि : एक दिवास्वप्न' शीर्षक होता तो अधिक मौजूँ होता।

जितेन्द्रकुमार का गीत, वीरेन्द्रमोहन का लेख, घनश्याम सेठी का रोचक निबन्ध और अनिलकुमार की 'एमिल की डायरी' नामक रचनाएँ भी मैंने बड़े प्रेम से पढ़ी हैं। सामयिक और सम्पादकीय की सभी टिप्पणियाँ जोरदार और प्रौढ़ हैं। 'अजन्ता' द्वारा आप हिन्दी पत्रिका साहित्य की जो सेवा कर रहे हैं, वह ऐतिहासिक व महत्वपूर्ण है। मेरी शतशः बधाई लीजिए।

सम्पादक 'जनजीवन'
देवेन्द्रनाथ रोड,
पटना—४

—**व्रजकिशोर 'नारायण'**

(१२)

'अजन्ता' का जून अङ्क देखा। गत अंकों की तरह इस अंक की कविताओं का स्तर भी पर्याप्त स्वस्थ, उत्कृष्ट और स्पृहणीय रहा। पता नहीं मित्रवर श्री राजेन्द्र यादव को इन कविताओं में बीस वर्ष का अन्तराल कहाँ और किस प्रकार दिखाई पड़ता है? यद्यपि श्री जितेन्द्रकुमार की कविताओं से हमें बराबर यह शिकायत बनी रही है कि उनमें विषय वैविध्य का अभाव रहा है, बार-बार एक ही टैकनीक से कविताएँ लिखते रहने पर एक ओर तो रससिद्धता निसर्गतः आती ही है किन्तु प्रत्येक गीत की रहस्यात्मक प्रीति ललित भावनाएँ भी पुनरुक्ति के कारण अधिक प्रीतिकर नहीं हो पातीं और फलतः कवि की रचनाओं से पाठक पूर्ण आश्वस्त नहीं हो पाता। श्री महेन्द्र भटनागर की कला में पर्याप्त निखार आ चुका है। उनके प्रस्तुत अंक में प्रकाशित 'दो चित्र' काफ़ी सुन्दर बन पड़े हैं। भटनागर जी अपनी इस दैनंदिन काव्य प्रगति के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें। कुमारी मधु का गीत अभिव्यक्ति की सहज मर्मस्पर्शीता का प्रतीक है। इस उदीयमान कवयित्री से हमें बहुत आशाएँ हैं। 'भारती' का विलियम कार्लो विलियम्स की रचना का अनुवाद तो सुन्दर है किन्तु इस अनुवाद से हमें वही शिकायत है जो प्रायः अतुकान्त मुक्तछन्द में लिखने वाले अधिकांश कवियों की अधिकांश कविताओं से रही है। मुक्तछन्द हिन्दी के लिए एक महत्वपूर्ण देन है किन्तु उसमें लय और संगीत का भी अपना एक विशेष तथा अनिवार्य स्थान है। संगीत कविता की आत्मा है, उसे कविता के अंचल से पृथक् नहीं किया जा सकता। हाँ मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि कविता मात्र संगीत ही बन कर रह जाए। दरअसल कविता उस सद्यः विकसित जलज-कली के समान है जिसे संगीत की मुग्ध जलराशि में रह कर भी उससे अपनी भिन्न सत्ता बनानी पड़ती है। 'प्रात में' श्री सत्येन्द्र श्रीवास्तव की अपनी ढंग की निराली कविता है। अन्तिम गीत कुमारी उर्मि 'दीपशिखा' का है। इस उदीयमान कवयित्री का आशापूर्ण भविष्य भी मनोगत अनुभूतियों के सरल-सहज कथात्मक अभिव्यंजन से स्पष्ट दीख पड़ता है।

मेरा यह व्यक्तिगत एवं विनम्र आग्रह है कि 'अजन्ता' का विद्वान् एवं भावप्रवण सम्पादक मण्डल आगे से कविताओं के विषय में और भी जागरूक होकर हमारे नवीन काव्य-शिल्प के आग्रही पाठकों एवं समीक्षकों की शिकायत को दूर करने का सफल प्रयास करे; साथ ही उपर्युक्त पाठकों एवं समीक्षकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि आज से बीस वर्ष पूर्व की कविता, जिसे स्पष्टतः पन्त, निराला, प्रसाद और महादेवी की कविता का युग कहा जा सकता है, आज भी हिन्दी कविता के स्थान में अपना स्मरणीय तथा कुछ अंशों में अनुकरणीय स्थान रखती है। आज की नवीनतम काव्य विधाएँ भी सम्पूर्णतः दोषमुक्त नहीं कही जा सकतीं। वस्तुतः दोनों के समन्वय से एक नवीन शैली के प्रयोग की आवश्यकता है।

५१, न्यू ईदगाह कॉलोनी वैस्ट,
आगरा

—**देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'**

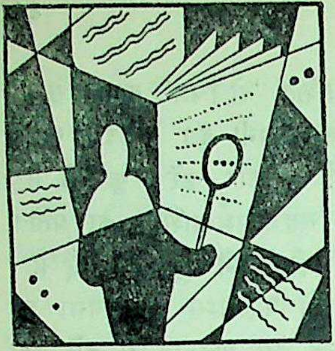

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या
लेखक : श्रीकृष्णदास
प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड इलहाबाद
मूल्य : चार रुपए

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक के विचारों के अनुसार लोकगीतों का अध्ययन अब तक "रसों की दृष्टि से ऋतुओं के अनुसार विभाजन करके, तीज त्यौहारों, पूजा-उत्सवों विभिन्न संस्कारों के आधार पर किया गया हैं, परन्तु इनका अध्ययन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक कि इनकी व्याख्या सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से नहीं की जाती।" अपने इन विचारों के अनुसार उन्होंने कुछ लोकगीतों की व्याख्या जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के आधार पर करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में लेखक के दो ही निबन्ध हैं—शेष पुस्तक में तो कुछ लोकगीतों का संग्रह किया गया है और तीन परिशिष्ट दिए गए हैं। पहले परिशिष्ट में श्रीयुत वाई. एम. शोकोलव का एक निबन्ध दिया गया है : "लोकवार्ता का अध्ययन" दूसरे में 'लोक-संस्कृति समाज : योजना का प्रारूप' दिया गया है। इस योजना को बिलकुल सरसरी तौर पर लिखा गया है। तीसरे परिशिष्ट में लोक-साहित्य पर प्रकाशित पुस्तकों की एक सूची दी गई है। लोक-गीतों का अध्ययन करते हुए लेखक ने जिन गीतों का उल्लेख किया है, उन गीतों से लोक-जीवन के कई प्रकार के चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। लोकगीत ही क्यों किसी प्रकार का भी गीत क्यों न हो उसका सम्बन्ध जीवन से ही होता है। जिस साहित्य का सम्बन्ध जीवन से नहीं है वह साहित्य तो एकमात्र विनोद का साधन हो सकता है। इस अध्ययन में कई ऐसे गीतों की व्याख्या की गई है जो अत्यन्त मधुर और मर्मस्पर्शी हैं परन्तु उनका अध्ययन एक तो अत्यन्त संक्षिप्त है और दूसरा उदाहरण भी थोड़े से ही दिए गए हैं—यद्यपि जो उदाहरण दिए गए हैं वे हृदयस्पर्शी हैं। यदि लेखक सामाजिक और राजनैतिक जीवन को प्रदर्शित करने वाले एक ही विषय के कई गीतों को या भिन्न भिन्न प्रान्तों के उसी प्रकार के एक ही विषय के लोकगीतों को एक जगह प्रस्तुत कर देते तो उनका अध्ययन अधिक पूर्ण होता। एक ही स्थान पर जीवन के भिन्न क्षेत्रों के उदाहरणों से विविधता तो है परन्तु विषय का प्रतिपादन जिस वैज्ञानिक ढंग से होना चाहिए था—वह यथोचित रीति से नहीं हो पाया है। पुस्तक में लोक साहित्य के महत्व को प्रदर्शित करने के लिए जितने उद्धरण दिए गए हैं—उनकी विशेष आवश्यकता नहीं थी। लोकगीत का विषय अब ऐसा नहीं रहा है जिसके महत्व को अनुभव न किया जाता हो। लोकगीत लोक जीवन के समान ही महत्वपूर्ण हैं और उनके गम्भीर और वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की आवश्यकता है। राम, सीता और इसी प्रकार के अन्य ऐतिहासिक चरित्र और प्रतिदिन के जीवन में प्रयुक्त होने वाले कई शब्द लोकगीतों में किस प्रकार नए अर्थों को विकसित करते चले गए हैं और चारों ओर की नई नई कहानियों को और इतिवृत्तों को अपने अन्दर आत्मसात् करते चले गए हैं—और वे एकमात्र ऐतिहासिक या दिव्य चरित्र न रह कर ग्राम या लोक जीवन के प्रतीक बन गए हैं—उसके सम्बन्ध में पर्याप्त अनुसन्धान और अनुशीलन की आवश्यकता है। लेखक ने सीता के सम्बन्ध में कुछ लिखने का प्रयत्न किया है परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। आशा है कि लेखक की प्रस्तुत पुस्तक लोकगीतों के गम्भीर और वैज्ञानिक अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए प्रेरक और सहायक हो सकेगी।

—वंशीधर विद्यालंकार

हैदराबाद द.

चील और चट्टान (उपन्यास)
लेखक : कर्तारसिंह दुग्गल
प्रकाशक : साहनी प्रकाशन ५७, ऐस्प्लेनेड रोड
दिल्ली—६
मूल्य : चार रुपये

इस उपन्यास के 'दो शब्द' में श्री विष्णु प्रभाकर ने लिखा है : "हृदय का सूक्ष्म से सूक्ष्म मूर्त्त भाव वस्तु का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग लेखक की दृष्टि में विशद होकर उभरा है...फिर भी हो सकता है कि हिन्दी का पाठक पढ़ते-पढ़ते उतावला हो उठे पर इस शैली का अपना स्थान है..." प्रस्तुत उपन्यास पढ़ कर हिन्दी का ही क्या, कोई भी पाठक स्तम्भित और क्षुब्ध रह जाएगा।

उपन्यास का वर्ण्य क्या है, 'बोझिल-बोझिल', 'कीचड़', 'दुर्गन्ध-सुगन्ध', 'चीर-पड़', 'कपूत', 'हम भूखे हैं' या ऐसे-वैसे ही कुछ अन्य शीर्षक! जो हो, प्रस्तुत उपन्यास न चील है, न चट्टान, (अभिप्राय है कुछ भी तो अस्तित्व नहीं) पर 'कीचड़' की 'बाढ़' में 'बोझिल-बोझिल', 'दुर्गन्ध-सुगन्ध', 'चीर-पड़', या 'कुढ़नी' होकर ही रह जाता है—किसी भी पढ़ने वाले को सहसा यही प्रतीत होगा। 'बोझिल-बोझिल' शीर्षक में एक 'गर्भवती पात्रा भागभरी' है; दुग्गल जी के अनुसार "उसका जी चाहा कि उसके पेट में जो कुछ भी है, उसे उगल दे...खेतों की मेड़ों पर बिखरा सरसों का साग (मेड़ पर सरसों का साग लगाया ही नहीं जाता; मेड़ तो पगडण्डी सरीखी सीमा-रेखा होती है) उसे यों दिखाई दिया, जैसे किसी कंकाल की हड्डियाँ छिटक कर बिखर गई हों।" गर्भवती स्त्री के कैसे-कैसे दृश्य हैं—सरसों का साग भागभरी को कंकाल की हड्डियों-सरीखा दिखता है यह समझ में नहीं आता कि लेखक ने 'सरसों के साग' का किस उर्वर (?) कल्पना के आधार पर 'कंकाल की हड्डियों' से उपमा दी है।

'तेली मोहल्ला' शीर्षक एक अंकन में ज़मींदार के सबसे बहादुर कारिन्दे 'जुम्मा' का एक चित्र यों है : "हर पुरुष के पीछे तेलिनें थीं...जुम्मा बहुत सुन्दर युवक था। जिधर से गुज़र जाता, तेलिनों का फिर दिन भर काम में जी न लगता...प्रत्येक नौजवान तेलिन के स्वप्नों में जुम्मा होता, नौजवान तेलिन के गीतों में जुम्मा होता। जुम्मे को एक बार ज्वर चढ़ा तो लड़कियाँ चुपके-चुपके रोतीं (उपन्यास-लेखक तो अभी भी रो ही रहा है) और मिलकर उसके लिए दुआएँ मांगती...हर लड़की जुम्मे पर जान दे रही होती, उसकी प्रत्येक दृष्टि और प्रत्येक हँसी को प्रत्येक लड़की अपने लिए समझती और छलक-छलक पड़ती।" और इन्हीं लड़कियों का जुम्मे से इश्क़ का एक पहलू लीजिए : "एक दिन पाँच-सात अल्हड़ जवान लड़कियों ने सलाह की और जब दोपहर को जुम्मा उनकी ड्यौढ़ी के आगे से निकल रहा था, तो वे उसे घेर कर, बलपूर्वक भीतर खींच कर ले आईं और ऊपर से उन्होंने दरवाज़े को संकल ('साँकल' सही है) लगाई।...दो लड़कियों ने उसके मुँह पर कपड़ा बाँध दिया और शेष लड़कियों ने उसे जी भर कर छेड़ा, उसे तंग किया (क्या छेड़ा, क्या तंग किया—उपन्यास-लेखक यह और बताता)...एक उठी और उसने उसके सँवारे हुए केशों को उलझा दिया, दूसरी आई उसने उसके गालों को चुटकियाँ भर के उन्हें ज़ोर से खींचा (क्या वाहियात पात्राएँ हैं) उसके गाल लाल-सुर्ख हो गए...आख़िर एक ने उसके बाल सुलझाने आरम्भ किए, दूसरी उसके गले में बाहें डाल कर उसके पास बैठ गई...सब मिल कर उसके सामने गाने लगीं, गाते-गाते उन्होंने नाचना आरम्भ कर दिया, नाचते-नाचते वे लोट पोट हो रही थीं, जुम्मा हक्काबक्का बैठा रहा..."जुम्मा बहादुर भी क्या ख़ूब चट्टान हैं और उपन्यास-लेखक की ये चीलें, उफ़! ग़ज़ब ही है।

'चील और चट्टान' शैली की दृष्टि से (जैसा कि इसके बारे में श्री विष्णु प्रभाकर ने कहा है) वर्णनात्मक और चित्रमय तो अवश्य है; किन्तु इतिवृत्तात्मक कहीं भी नहीं; कोई कथानक ही नहीं है—केवल ऐसे-वैसे वर्णन ही वर्णन हैं। उसमें भी संगति, ग्राह्यता या दक्षता नहीं; उनमें केवल ऐसी अतिमानिता और अतिलोभता परिव्याप्त है, जिसमें अधोगति और अतिक्रम का तारतम्य सर्वत्र है, जिसप्रकार चील कुत्सित होती है, चट्टान चट्टान होती है। 'चील और चट्टान' में एक विशिष्ट शैली को अपनाने का प्रयास-भर किया गया है-बस—श्री. क. मा. मुन्शी के उपन्यास 'पृथ्वीवल्लभ' की-सी शैली का भ्रम होता है, पर वह भ्रम-ही-भ्रम है—'पृथ्वीवल्लभ' की शैली अत्यन्त विकसित, प्रोज्ज्वल, प्रवाहमयी, है, फिर भी विशिष्ट है। उसके एक-एक परिच्छेद में एक-एक प्रकरण की समाप्ति कहानी सी लगती है, पर

'पृथ्वीवल्लभ' की प्रोज्वलता, तारतम्यता, प्रसादमयता पूर्ण औत्सुक्ययुक्त रहती हैं। 'चील और चट्टान' कुछ का-कुछ और न कुछ-सा होकर रह गया है। तारतम्य नहीं, कथानक नहीं, हडबडाया-हडबडाया-सा सारा उपन्यास चलता है। पृष्ठभूमि में ज़मींदार को जिस रूप में और शोषितों को जिस रूप में रक्खा गया है, वह भी कृत्रिम और यों त्यों करके लिखा गया स्पष्ट प्रतीत होता है। 'चीरपड़', 'कुट्टनी', 'भुरा' आदि शीर्षकों में वर्णित प्रसंग उपन्यास-लेखक की अजीबो-ग़रीब मनःस्थिति का आभास स्वतः ही दे देते हैं।

अन्ततः निवेदन है श्री दुग्गल की भाषा के सम्बन्ध में: प्रस्तुत उपन्यास की भाषा इस प्रकार की है जिसे न तो मुहावरे आदि की दृष्टि से और न नैतिक दृष्टि से उपयुक्त कहा जा सकता है। इस प्रकार की भाषा को गँवार से गँवार व्यक्ति भी बोलने में संकोच करेगा।

दीया जला दीया बुझा (मौलिक उपन्यास)
लेखक : यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'
प्रकाशक : रामपुरिया प्रकाशन ३ उडबर्न रोड,
कलकत्ता—२०
मूल्य : साढ़े तीन रुपया

श्री यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र' यद्यपि हमारे लिए नितान्त नए लेखक नहीं है, उनके अनेक उपन्यास हम देख चुके हैं—'दीया जला दीया बुझा' सामान्य कोटि का उपन्यास है—कम से कम शैली और कला की दृष्टि से समग्रतः सामान्य कोटि में आता है और उसका इतिवृत्त भी घिसापिटा है। इतिवृत्त राजस्थान के सामन्तवाद को इंगित करता है, जो हमें तो नही रुचता, नहीं जँचता। आज साहित्य की अपेक्षा कुछ और है—अभिनव-अभिनव प्रयोग, शैली, कला तथा विषय-वस्तु में चिरन्तनता, व्यापकता एवं उत्कृष्टता। 'दीया जला दीया बुझा' सामान्यतः हिन्दी-पाठकों में ग्राहिता पा सकता है, पर हिन्दी पाठकों का जो स्तर, शिक्षा और रुचि है, वह तो बहुत स्पष्ट है। हमें साहित्य में स्तरीय भावनाओं का समादर करना चाहिए।

कापालिक (उपन्यास)
लेखक : जे. सी. गुप्त
प्रकाशक : जयन्त कुशवाहा, चिनगारी प्रकाशन,
बनारस
मूल्य : पन्द्रह आने

'कापालिक' के प्रकाशक हिन्दी के उन प्रकाशकों में से हैं; जो व्यवसाय-रूप में प्रति मास या अन्य किसी निश्चित अवधि में कुछ-न-कुछ नियमित रूप से प्रकाशित किया करते हैं। और यह साहित्य पूर्णतः हल्का, अमर्यादित, तड़क-भड़क वाला तथा हिन्दी पाठकों की सामान्य कोटि को मनोरंजन भर की तृप्ति देने का प्रयास मात्र होता है और प्रकाशकों का सीधा-सीधा व्यवसाय। इन प्रवृत्तियों को हम साहित्य के लिए सर्वथा निन्द्य मानते हैं; स्पष्टतः इन्हीं प्रवृत्तियों ने हिन्दी-पाठक के साहित्य संस्कारों को संभ्रमित कर रक्खा है। इस प्रकार का लेखन-प्रकाशन न साहित्य है, न सृजन। शुद्ध साहित्य के लिए केवल हीन और विघातक तत्त्व भी इसमें हैं।

रक्तगंगा (उपन्यास)
लेखक : गोविंद सिंह
प्रकाशन : नागिन साहसिक उपन्यास माला,
बनारस
मूल्य : पन्द्रह आना

उपरोक्त 'कापालिक' के प्रकाशक के अनुरूप ही 'रक्तगंगा' के प्रकाशक हैं। शायद एक ही प्रकाशक हों, कुछ कहने भर के हेरफेर के साथ। जो 'कापालिक' के प्रसंग में कहा गया है, वही हम 'रक्तगंगा' के प्रसंग में भी निवेदन करना चाहेंगे।

आलोचना के सिद्धान्त
लेखक : व्यौहार राजेन्द्रसिंह
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स,
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : चार रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में आलोचना के विभिन्न अंगों, प्रसंगों और प्रकरणों को स्पर्श करते हुए तेरह निबन्ध संगृहीत हैं। पुस्तक को दो भागों में विभाजित किया गया है—प्रथम भाग में आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष; द्वितीय भाग में आलोचना का आविर्भाव और उन्नयन समाविष्ट किया गया है। यद्यपि दोनों भागों में पूर्व और पश्चिम के विद्वान् साहित्य-समीक्षकों के विषय परिष्कृत रूप में संकलित किए गए हैं, किन्तु चूँकि पुस्तक हिन्दी समीक्षा को इंगित करती है; कम-से-कम इसीलिए ही

हिन्दी-समीक्षकों के विचारों को न दे सकने की भावना हमें अखरी। स्थान-स्थान पर पश्चिम के साहित्य-समीक्षकों के विचार ही भरे पड़े हैं, उनकी औचित्यता तो हम स्वीकार कर सकते हैं; मगर पृष्ठभूमि में अभी भी जो मनोवृत्ति इस प्रकार अनायास ही निर्दिष्ट होती है, वह हमें अग्राह्य है।

पुस्तक पर्याप्त मनन, अध्यवसाय और अध्ययन के परिपार्श्व में लिखी गई है; हम उसका स्वागत करते हैं।

टूटते बन्धन (उपन्यास)
लेखक : हर्षनाथ
प्रकाशक : ऊषा प्रकाशन, ३५ मछुआ बाजार स्ट्रीट,
कलकत्ता—७
मूल्य : तीन रुपया

'टूटते बन्धन' श्री हर्षनाथ का सम्भवतः प्रथम उपन्यास है। इसमें लेखक ने निम्नस्तरीय ग्रामीण जीवन के उपेक्षित वर्ग का वर्णन किया है; वर्णन सहज, सजीव और सशक्त है किन्तु कथानक में न कोई नवीनता है, न उत्कृष्टता और न अन्य कोई शैलीगत विशेषता—ग्रामीण जीवन निःसन्देह चित्रमय हो उठा है। पुस्तक के एक-एक वाक्य में बल्कि किसी-किसी वाक्य में दो-तीन बार सी 'जैसे', 'जैसे', 'जैसे' की भरमार क्षोभित कर देती है, उबा देती है बुरी तरह- —पुस्तक में सर्वत्र 'जैसे', 'जैसे' परिव्याप्त है। अनुमान लगाया जाए तो हम कह सकते हैं कि 'जैसे' शब्द की प्रयुक्ति ने ही पुस्तक के एक-चौथाई के लगभग कलेवर को घेर लिया है—प्रस्तुत उपन्यास ग्रामीण जीवन को चित्रमयता से उपस्थित कर सकने के लिए पठनीय है।

सन्त विनोबा की आनन्द यात्रा
लेखक : सुरेश राम भाई
प्रकाशक : अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी
मूल्य : डेढ़ रुपया

भूमिदान के लिए सन्त श्री विनोबा की बिहार पदयात्रा का रोचक, सजीव और कल्याणकर वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में है। अपनी बिहार की पद-यात्रा में विनोबा जी ने स्थान-स्थान पर आयोजित सभाओं में जो कुछ कहा, उन सभाओं में और पदयात्राओं में जो-जो प्रसंग घटे—सबको यथासाध्य सरल, हृदयग्राही और रुचिकर रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

सर्वोदय के आधार
लेखक : सन्त विनोबा
प्रकाशक : अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन,
राजघाट काशी
मूल्य : चार आना

इस पुस्तक में श्री विनोबा के उन विचारों को संकलित किया गया है, जो उन्होंने गत १६ दिसम्बर '५५ से १९ दिसम्बर '५५ तक बेजवाड़ा की प्रार्थना सभा में प्रकट किए थे; रचनात्मक कार्य में रुचि रखने वाले प्रत्येक राष्ट्र-कर्मी के लिए पुस्तक पठनीय और उपादेय है।

प्रणय-पत्रिका
कवि : बच्चन
प्रकाशक : सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
मूल्य : ढाई रुपया

श्री बच्चन का नाम आधुनिक हिन्दी-कवियों में लोकप्रियता की दृष्टि से संभवतः सबसे अधिक स्पृहा का विषय है; इसकी पृष्ठ भूमि में बच्चन की स्फूर्तिमयी सप्राणता और दृश्य के तार-तार को सार्थ कर सकनेवाली सन्निकटता-सहजता है : उनकी अनुभूति, अभिव्यंजना और शिल्प-सब- कुछ चिर स्फूर्तिमय है। 'प्रणय-पत्रिका' में कुल उनसठ गीत संगृहीत हैं—इनमें सभी हम सबको रागात्मकता और सरसता में डुबोदेने वाले हैं—

"क्या गाऊँ, जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ

× × ×

भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी
क्षण-भंगुर होता है जग में
यह रागों का नाता
सुखी वही है जो बीती को
चलता है बिसराता
और दुःखी है पूर्ति ढूँढ़ता
जो अपनी साधों की
रह जाती हैं जो उर के बीच अधूरी

× × ×

गूँजे गा तेरे कानों में
मेरा गीत नशीला
भूलेगा मेरी आँखों में
तेरा रूप सजीला

× × ×

झुरमुट में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी

दिन डूबा, दिन के साथ जगत
का कोलाहल डूबा
कुछ मतलब रखता है अब तो
मेरा भी मंसूबा
तारे मेरे मन की गलियों
में दीप जलाते हैं
मेरे भावों में रंग भरता गोधूलि अँधेरा भी
झुरमुट में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी

मीठी सुधियों की घड़ियाँ
कितनी छोटी होती हैं,
शबनम कितने सपनों की
सब रंगीनी धोती है
ऊषा कितने होठों की लाली
हर ले जाती है,
धुँधली करता कितने नयनों की ज्योति सवेरा भी
किरणों में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी"

कवि का अभिभूत समर्पण-भाव देखिए :—

"नयन तुम्हारे चरणकमल में
अर्ध्य चढ़ा फिर फिर भर आते हैं
कब प्रसन्न, अवसन्न हुए कब
है कोई जिसने यह जाना ?
नहीं तुम्हारी मुख मुद्रा ने
सीखा इसका भेद बताना
ज्ञात मुझे, पर, अब तक मेरी
पूर्ण नहीं पूजा हो पाई
नयन तुम्हारे चरण कमल में
अर्घ्य चढ़ा भर भर आते हैं"

एक हृत्तल में छलछलाती अभिव्यक्ति और देखिए :

"तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद
स्वर्ण चाँदी के कटोरों
में भरा था झलमलाता नीर,
मैं झुका सहसा पिपासाकुल
मगर फिर हो गया गम्भीर—
भेद पानी और पानी,
प्यास औ' प्यास में भी भेद,
तुम बुझाओ प्यास मेरी,
या जलाए फिर तुम्हारी याद।"

'प्रणय-पत्रिका' में चिरआकांक्षित, चिरतरुण कवि बच्चन की सभी कविताएँ, सभी गीत अनुभूतियों में बहुत प्रखर, अभिव्यक्तियों से अभिभूत और रागात्मकता के मोहक स्वप्नों से अभिषिक्त हैं।

विद्यापति के देश में

सम्पादक मण्डल : आचार्य श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र,
प्राध्यापक पंडित श्री सुरेन्द्र झा 'सुमन',
पण्डित श्री चन्द्रनाथ मिश्र 'अमर'
प्रकाशक : विद्यापति गोष्ठी, लहेरिया सराय,
दरभंगा, विहार
मूल्य : तीन रुपए

प्रस्तुत पुस्तक अप्रसिद्ध और बहुत अंशों में नवीन कवियों की रचनाओं का संग्रह है; इस प्रकार इसमें विविधता तो स्पष्ट ही है; साथ ही इसके द्वारा नवीन-नवीन प्रतिभाओं को प्रोत्साहन भी उपलब्ध होता है। वस्तुतः जनपदीय सहयोग के आधार पर, विद्यापति गोष्ठी द्वारा इस प्रकार के प्रकाशन का कार्य स्तुत्य और अनुकरणीय है। इस संग्रह की कविताओं में कुछ तो इतनी प्रौढ़ और परिपक्व बन पड़ी हैं कि उनका यथेष्ट समादर होना चाहिए; जब कि अधिकांश में रचनाएँ अपरिपक्व और भावुकता भरी हैं; प्रारंभिक हैं, मगर प्रोत्साहन और प्रेरणा की दृष्टि से ऐसा प्रकाशन अभिनन्दनीय ही है।

अ-पूर्व बंगाल (मराठी से अनूदित)

लेखक : भार्गवराम विट्ठल वरेरकर
अनुवादक : र. श. केलकर, एम. ए.
प्रकाशक : आत्माराम एण्ड सन्स, प्रकाशक तथा पुस्तक
विक्रेता काश्मीरी गेट दिल्ली—६
मूल्य : सवा रुपया

वर्तमान समय में मराठी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं, भारत के नाट्य-क्षेत्रों में भी मामा वरेरकर का नाम यथेष्ट ख्यातिलब्ध है : प्रस्तुत नाटक भारत-विभाजन के

समय नौआखाली क्षेत्र में घटी वीभत्स और करुण घटनाओं के आधार पर है; नाटक में हिन्दु-नारी की असहाय अवस्था का चित्र विशेषतः मार्मिक और सशक्त है; विविध संघर्षों का अंकन संतुलन तथा क्षमता के साथ किया गया है; नाटक चार अंकों का है, पर चारों अंकों में जो तारतम्यता और प्रवाहमयता है; वह वस्तुतः नाटक में विशेष सप्राणता का समावेश करती है। सबसे बड़ी विशेषता है नाटक की अभिनेयता; जैसा कि प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है, मराठी रंगमंच पर खेले गए सामाजिक नाटकों में महाराष्ट्र के बाहर का वातावरण सम्भवतः लिया ही नहीं गया; फिर इस नाटक का वातावरण और इतिवृत्त न केवल महाराष्ट्र से सर्वथा पृथक् है, साथ ही विशिष्ट होने के कारण दुरूह भी है; किन्तु नाटक का अभिनय-गुण फिर भी विशेष सराहनीय है। सम्भवतः इसलिए और भी कि मूल नाटक का अभिनय भारतीय विद्या-भवन में पुस्तक रूप में आने से पूर्व ही हो चुका है।

हिन्दु धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ

लेखक : श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह
प्रकाशक : विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–३
मूल्य : सवा दो रुपए; सजिल्द तीन रुपए

हमारे राष्ट्र की संस्कृति में धार्मिक कथाओं का अपना सांस्कृतिक महत्व है; प्रस्तुत पुस्तक में धार्मिक कथाओं की लौकिक व्याख्याओं का स्पष्टीकरण प्रामाणिकता और अध्ययन-मनन पूर्वक देने का यथासाध्य प्रयास किया गया है। पुस्तक में संगृहीत सामग्री विहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा आयोजित व्याख्यान माला का एक भाषण है। पुस्तक के लेखक श्री शिवपूजन सहाय के अनुसार "सम्भवतः वे ही बिहार के सर्व प्रथम आइ. सी. एस. हैं, जिन्होंने साहित्य-सेवा की परम्परा प्रवर्तित करने का श्रेय प्राप्त किया है।" पुस्तक स्वाध्याय शील पाठकों के लिए निःसन्देह एक नवीन और उपादेय विषय प्रस्तुत करती है।

दूसरी पंचवर्षीय योजना (प्रारम्भिक रूपरेखा)

प्रस्तुतकर्ता : योजना आयोग
प्रकाशक : पब्लिकेशन्स डिवीजन, सूचना और प्रसार
मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली
मूल्य : एक रुपया

प्रस्तुत पुस्तक एक सरकारी प्रकाशन है, इसमें शासकीय स्तर पर तथ्यों, आँकड़ों आदि के साथ द्वितीय पंचवर्षीय योजना की व्यवस्था, रूप और परिणति आदि पर प्रकाश डाला गया है।

जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक मण्डल : बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव, अमरनाथ विद्यालंकार, रामसुभग सिंह, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, चन्द्रावती लखनपाल, शचीरानी गुर्टू, लक्ष्मीदास श्रीकान्त, सदाशिवप्रसाद, प्रभाकर माचवे, इन्द्रनारायण गुर्टू
प्रकाशक : जगजीवनराम अभिनन्दन ग्रन्थ समिति,
नई दिल्ली
मूल्य : बारह रुपए

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ भी, अन्य अभिनन्दन ग्रन्थों की भाँति भारत के परिवहन मन्त्री श्री जगजीवनराम की राष्ट्र, स्वतन्त्रता और समाज की उत्कट और सतत सेवाओं के प्रति अपनी अभिनन्दनमयी भावनाओं को व्यक्त करने के उद्देश्य को परिलक्षित करता है। सामग्री स्फुट है, किन्तु है ठोस और स्तरीय—क्रमबद्धता उसमें कहीं नहीं है; फिर भी पठनीयता और उपादेयता उसमें है : चित्रादि भी आडम्बर रहित मगर अपने ध्येय में परिनिष्ठित हैं।

वसुधा (साहित्यिक सांस्कृतिक मासिक)

सम्पादक : राजेश्वर गुरु, हरिशङ्कर पारसाई
प्रकाशक : वसुधा कार्यालय, जबलपुर, म. प्र.
मूल्य : एक प्रति दस आने, वार्षिक सात रुपए।

'वसुधा' नागपुर से सद्यः प्रकाशित एक सांस्कृतिक-साहित्यिक मासिक है—हमें यह देख कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि 'वसुधा' का सम्पादन परिष्कृत रुचि और सामयिक भावना के अनुरूप है; 'वसुधा' द्वारा नवोदित प्रतिभाओं को समुचित प्रोत्साहन और प्रश्रय देने की उद्घोषणा का हम स्वागत करते हैं; 'वसुधा' के दीर्घ और स्वस्थ जीवन के लिए हमारी हार्दिक कामनाएँ उसके साथ हैं।

हैदराबाद-दक्षिण —ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

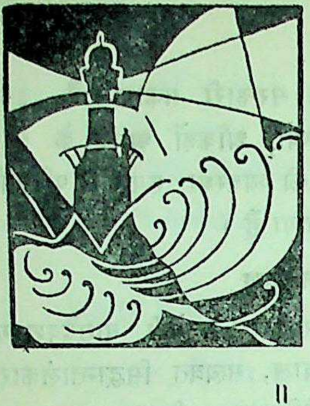

सामयिक

॥

वाल्टर डि ला मेअर : शब्दों का देवता

लन्दन के 'डेली टेलीग्राफ़'' में अंग्रेज़ी के आधुनिक प्रसिद्ध कवि वाल्टर डि ला मेअर के सम्बन्ध में श्रीयुत केनेथ यंग का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

''वाल्टर डि ला मेअर का २२ जून १९५६ को देहावसान हो गया। उनके सम्बन्ध में अभी कुछ लिख सकना असम्भव है। यदि उनकी मृत्यु आज से २० वर्ष पूर्व हो जाती तो वे कवि के रूप में इतनी प्रसिद्धि को न प्राप्त कर सकते क्योंकि वे उन कवियों में से नहीं थे जिनके विरोध में श्री. डब्ल्यू. वी. वीट्स ने यह चेतावनी दी थी :

> ''बच कर रहो
> इस प्रकार के कवियों से
> जो कि आजकल धड़ाधड़ बनते चले जा रहे हैं
> जिनकी कविता
> सिर से पैर तक
> सर्वथा आकृति विहीन है''

वाल्टर डि ला मेअर उन कवियों में से नहीं थे। उनके विचारों को स्पष्टतया समझा जा सकता था। उन्होंने अपने विचारों को और भावनाओं को सुन्दर आकृति प्रदान की है। उन्होंने इसके लिए सदा प्रयत्न किया। इसे वे विशदता के लिए ''शब्दों का देवता'' कहते थे। उनकी अनेक कविताएँ अमर हो चुकी हैं।

उनके दृष्टिकोण में कभी परिवर्तन नहीं हुआ। पहले वे गीति-काव्य लिखते थे—फिर विचारपूर्ण कविताएँ लिखने लगे परन्तु उनकी कविताओं में किसी प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं है। उनकी दृष्टि विशाल, गहरी और सूक्ष्म थी। उसमें सुन्दर और असुन्दर, अच्छाई और बुराई दोनों का समावेश था। वे जानते थे कि जीवन जितना आनन्दपूर्ण है उतना ही वह भयप्रद भी है।

वे प्रतिदिन के परिवर्तनशील संसार से अमरत्व और शाश्वतिकता को अधिक वास्तविक समझते हैं। वे प्रारम्भ से विश्व की नश्वरता से परिचित थे इसलिए इसकी सुन्दरता उनके हृदय को और भी अधिक प्रिय हो गई थी :

> ''उन समस्त वस्तुओं पर
> जिन्हें कि तुम सुन्दर समझते हो
> अच्छी तरह अन्तिम दृष्टि डाल लो
> कहीं ऐसा न हो
> कि ऐसी रात आ जाए कि फिर तुम
> उन्हें देख ही न सको''

वे प्रत्येक वस्तु के नियम में साइन्स के निर्णय को ही अन्तिम नहीं समझते। वे लिखते हैं :

> ''.........................
> घास क्यों इतना शीतल है ?
> वह क्यों इतना ताजा और हरा है ?
> आकाश क्यों इतना नीला है ?
> वह क्यों इतना गहरा है ?
> नासमझ लोगो !
> क्या तुम इसका उत्तर,
> एकमात्र रसायन-शास्त्र से ही माँगोगे ?''

डि ला मेअर अपनी कविताओं में 'साधारण'—अत्यन्त साधारण वस्तुओं के तात्पर्य को समझने का प्रयत्न करते हैं। डि ला मेअर की कविताओं की आलोचना करते हुए श्रीयुत फोरेस्ट रीड ने लिखा था: ''उसकी कविता में अदृश्य जगत् जितना अधिक दृष्टिगोचर होता है उतना वह सम्भवतः ब्लेक को छोड़ कर किसी अन्य अंग्रेज़ कवि की कविता में नहीं।'' डि ला मेअर जहाँ भौतिक विश्व के विषय में लिखते हैं वहाँ वे

एक आध्यात्मिक कवि भी हैं। विश्व की पहेली पर विचार करते हुए वे लिखते हैं : "विश्व का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ? हम कहाँ से आते हैं और कहाँ जाएँगे? हम स्वयं अपने विषय में कुछ भी तो नहीं जानते और हम में से कितने व्यक्ति हैं जो कि इसे कुछ भी समझने का प्रयत्न करते हैं?"

डि ला मेअर की कविता पर कई कवियों की कविता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ब्लेक, डोने, मारवेल, औरेलिअन, टाउनशेण्ड और थौमस हार्डी आदि का प्रभाव उनकी कविता पर स्पष्टतया अभिलक्षित होता है। डि ला मेअर की प्रतिभा शनैः शनैः उन्हें गीतिकाव्य से हटा कर कटु व्यंग्यात्मक कविता की ओर ले गई। डि ला मेअर की समस्त कविता को हम प्रथम श्रेणी का तो नहीं कह सकते। वह ऐसी नहीं है जो कि उन्हें अंग्रेजी कविता के इतिहास में सर्वोच्च स्थान दिला सकेगी। मैं उन्हें हार्डी, यीट्स और इलियट के पश्चात् २० वीं सदी के अंग्रेज़ी के कवियों में सबसे उच्च स्थान देने के लिए तैयार हूँ।

डि ला मेअर एक महान् कवि हैं और इस कारण जो कुछ थोड़ी-सी कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं उन पर किसी का ध्यान ही आकर्षित नहीं होता। उन्होंने आलोचना भी लिखी है जो कि पर्याप्त मात्रा में है। इस आलोचना से ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि कितनी विशाल थी। उन्होंने अपनी आत्मकथा कभी नहीं लिखी और न उनके कुछ विशेष साहित्यिक मित्र थे परन्तु जो लोग उनसे मिले हैं वे कहते हैं कि वे बड़े ज़िन्दादिल आदमी थे। कुमारी वी. सैरविले बेस्ट ने उनके ८० वें जन्म दिन पर आकाशवाणी से उनके विषय में एक वार्ता को प्रसारित किया था जिसमें उन्होंने कहा था : "संसार में पक्षियों को देखने के आनन्द से लेकर आत्मा की अमरता तक कोई विषय ऐसा नहीं था जिस पर मैंने उनसे वार्तालाप न किया हो।" उन्होंने अपने जीवन के वृत्तान्त किसी को नहीं सुनाए। उनकी प्रतिभा और आत्मा सच्चे रूप में उनकी कविता और उनके मधुर संगीत में विद्यमान है :

"पता नहीं जंगल कितने पुराने हैं
और कलियाँ, जो कि
शाखाओं में खिल रही हैं
कौन बता सकता है कि उनके
सौन्दर्य की कथा कितनी पुरानी है
ओह! यह कोई मनुष्य नहीं जानता
न जाने कितनी शताब्दियों से
गुलाब खिलते चले आ रहे हैं
........................."

॥

कथाकली : ऊमायट्टम (मूक अभिनय)

श्रीयुत गुरु कुंचु कुरुप कथाकली नृत्य के आचार्य हैं। अभी उन्हें पिछले दिनों राष्ट्रपति के द्वारा इस सम्बन्ध में पुरस्कार प्राप्त हुआ है। मद्रास के अंग्रेजी पत्र 'हिन्दु' के मेगज़ीन विभाग में श्रीयुत वी. माधवन नायर ने अपने एक लेख में कथाकली के सम्बन्ध में उनके विचारों का उल्लेख किया है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"......कला की दृष्टि से कथाकली का उच्च स्थान है। इस समय केरल में और केरल के बाहर इस प्रकार के विचार प्रचलित हैं कि कथाकली एकमात्र केरल की ही कला है। यह सत्य है कि कथाकली की उत्पत्ति केरल में हुई परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस पर समस्त भारतवर्ष का अधिकार नहीं है। इसका महत्व समस्त भारतवर्षीय है। जिस प्रकार शंकराचार्य केरल के थे परन्तु केरल को ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष को उन पर अभिमान है उसी प्रकार कथाकली पर एकमात्र केरल को ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष को अभिमान होना चाहिए। कुछ इस प्रकार के नृत्य प्रदर्शित किए जाते हैं जिन्हें कथाकली समझ लिया जाता है। इन नृत्यों को वे लोग ही कथाकली समझते हैं जिन्होंने कथाकली के नृत्य को मूल रूप में एक बार भी नहीं देखा है। ये नृत्य देखने वालों को चाहे कितने ही आकर्षक प्रतीत क्यों न हों उन्हें प्राचीन कथाकली नृत्य नहीं समझ लेना चाहिए। कथाकली की कुछ ऐसी कठोर परम्पराएँ हैं और जब तक उन परम्पराओं का पूर्ण रूप से पालन न किया जाए कथाकली के नृत्य का अभिनय नहीं किया जा सकता।

जो लोग उत्तर या अन्य प्रान्तों से आते हैं उन्हें कथाकली की टेकनीक को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। कथाकली के टेकनीक को जानने वाले न तो हिन्दी जानते हैं और न अंग्रेज़ी। उन्हें तो

एकमात्र मलयालम भाषा आती है और उत्तर या अन्य प्रान्त वालों को मलयालम भाषा नहीं आती। कथाकली के विषय में जितनी मौलिक पुस्तकें हैं वे सब मलयाली भाषा में है। आवश्यकता इस बात की है कि ये समस्त पुस्तकें हिन्दी और अंग्रेज़ी में भी सुलभ हो सकें।

बहुत-से लोगों की यह धारणा है कि कथाकली नृत्य बिलकुल सरल है परन्तु यह बात ठीक नहीं है। कथाकली को एकमात्र नृत्य कहना पर्याप्त नहीं है क्योंकि उसमें कुछ और इस प्रकार के तत्व हैं जो कि नृत्य में नहीं होते। केरल से बाहर बहुत कम लोग यह जानते हैं कि केरल में कथाकली पर बड़ा विस्तृत साहित्य है। इसमें हस्त-मुद्राएँ और भावों का चित्रण किया जाता है और यह सुगम नहीं होता। कथाकली के अभिनय को समझने के लिए इस बात को समझने की परम आवश्यकता है।

साधारणतया कथाकली के विषय में कहा जाता है कि यह "ऊमायाट्टम" या मूक-प्रदर्शन है परन्तु क्या मूक रह कर विचारों और भावों को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। मौन की भाषा बड़ी प्रभावपूर्ण होती है। यह सत्य है कि कथाकली मूक-प्रदर्शन है क्योंकि कथाकली के अभिनेता मुख से कथाकली के समस्त नृत्य में जो कि रात्रि पर्यन्त होता है—एक भी शब्द मुख से नहीं बोलते। बिना एक शब्द बोले कथाकली के अभिनेता अत्यन्त चमत्कृत रूप से भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। क्या यह पर्याप्त नहीं है? भारतवर्ष के एक सबसे बड़े कलाकार ने कथाकली नृत्य को देख कर कहा था: 'अपने जीवन में मैंने पहली बार ऐसी कला को देखा है कि जिसमें उंगलियाँ प्रवाहमयी भाषा में बोलती हैं।" अन्ततः बोलने की आवश्यकता ही क्या है? एक मनुष्य अन्ततः दूसरों तक अपने विचारों या भावनाओं को ही तो पहुँचाना चाहता है? प्राणियों में एकमात्र मनुष्य ही तो भाषा के द्वारा बोलता है। अन्य प्राणी भी तो अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं। और आख़िर वे यह अभिव्यक्ति किस प्रकार करते हैं? वे इस अभिव्यक्ति को भाषा के माध्यम द्वारा नहीं किसी अन्य माध्यम के द्वारा करते हैं। कुछ वर्ष हुए मैंने दो हंसों को आपस में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए देखा। मैं मूक भाषा में उस अभिव्यक्ति को देख कर दंग रह गया। आप इस बात की कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति कमर सीधी करके खड़ा है; उसके हाथ नीचे लटक रहे हैं; उसके मुख पर किसी प्रकार का भाव-प्रदर्शन नहीं है और उसकी वाणी में किसी प्रकार का उतार-चढ़ाव नहीं है जिससे प्रेम या द्वेष का पता लग सके। परिणाम यह होता है कि इसमें किसी प्रकार का भाव-प्रकाशन नहीं होता। इससे पता लगता है कि भाव-प्रकाशन में इंगितों का बड़ा महत्व है। इंगितों या इशारों द्वारा वे बातें कही जा सकती हैं जिन्हें कि भाषा द्वारा किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। कथाकली में प्रचुर संख्या में भाव-प्रकाशन करनेवाली मुद्राएँ होती हैं जो कि भाषा से भी अधिक प्रभावशाली होती हैं। इसलिए कथाकली को एकमात्र मूक-प्रदर्शन कहना सरासर ग़लत है। यह एक अत्यन्त अद्भुत भावाभिव्यंजक मूक-प्रदर्शन है। फिर इंगितों की वाणी तो समस्त विश्व की वाणी होती है। यदि आप मलयाली, तमिल, अंग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा में बोलें तो उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो कि इन भाषाओं को जानते हैं। अन्य लोग तो इसे बिलकुल समझ ही नहीं सकते। कथाकली की वाणी इंगितों और मुद्राओं की वाणी है। इस वाणी को समस्त मानव समझ सकते हैं।"

॥

दिमाग़ी कार्य का मूल्य

जो प्रतिभाशाली व्यक्ति दिमाग़ से अत्यधिक कार्य करते हैं उन्हें इसका क्या मूल्य चुकाना पड़ता है इसको उदाहरणों के साथ श्रीयुत सुभाष रेले ने अपने एक लेख में प्रदर्शित किया है। यह लेख मद्रास के अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र 'स्वतन्त्र' में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है:

"...जो लोग अपने मस्तिष्क से अत्यधिक कार्य लेते हैं, उन्हें कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक सर वाल्टर स्काट के जीवन की कहानी अत्यन्त करुणाजनक है। उन्होंने अपनी पुस्तकों को अत्यन्त शीघ्रता से लिखा था। उन्होंने ७४ उपन्यास, २१ कविता की पुस्तकें और ७० पुस्तकें इतिहास और जीवन चरित्र की लिखी थीं। उनके पेट में सख़्त दर्द था। उन्होंने 'रौब राय' उपन्यास लगातार उसी दर्द में लिखा। उन्होंने 'आइवनहो' और 'दि लिजेण्ड आफ मौंट रोज़' अफ़ीम की पीनक में लिखा था। उसके पश्चात् उन्हें लीवर की

शिकायत, दिल की धड़कन की बीमारी, हिस्टीरिया और नींद न आने की बीमारी हो गई थी। उनके डाक्टरों ने उन्हें सलाह दी कि वे पूर्ण रूप से आराम करें परन्तु उन्होंने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया और अन्त में उनकी मृत्यु हो गई। बौन बैक एक डच चित्रकार थे। अपनी आयु के विषय में उन्होंने कहा था : “आज मेरी आयु ४६ वर्ष की मत समझिए परन्तु इससे दुगनी समझिए क्योंकि मैं दिन और रात जीवित रहा हूँ।”

प्रतिभाशाली व्यक्ति जिस समय कोई महत्वपूर्ण रचना करते हैं उस समय उनको कुछ-न-कुछ महान् कष्ट होता है। ड्राइडन जब लिखता था तो उसका सारा शरीर काँपता था और रूसो को तो बुखार चढ़ जाता था। बायरन ने जब अपनी श्रेष्ठ कविताएँ लिखी हैं तब वह किसी-न-किसी बीमारी से ग्रस्त था। गेटे ने लिखा है कि जब जब भी उसने कोई महान् साहित्यिक कृति की रचना की, उसके अन्त में वह बीमार हो जाता था। लूथर जब कार्य करता था उसके सिर में भयंकर दर्द प्रारम्भ हो जाता था। उसने लिखा है : “जब मैं कार्य करना प्रारम्भ करता हूँ मेरा सिर चक्कर खाने लग जाता है। मैं तरह तरह की आवाज़ें सुनता हूँ और यदि मैं अपना कार्य बन्द न कर दूँ तो मैं बेहोश हो जाता हूँ।”

दिमाग़ के काम करनेवालों का पेट प्रायः खराब हो जाता है। उन्हें अजीर्ण की शिकायत हो जाती है। कवि कूपर को पेट के कारण अत्यन्त कष्ट रहता था। कारलाइल दिमाग़ से बहुत अधिक काम लेता था। जब से उसने अध्ययन प्रारम्भ किया तब से जीवन के अन्त तक उसे अजीर्ण की शिकायत बनी रही।

दिमाग़ से अत्यधिक कार्य करनेवालों को नींद न आने की भी बीमारी प्रायः हो जाती है। बोचावे कठोर अध्ययन के पश्चात् ६ सप्ताह तक अपनी आँखें बन्द नहीं कर सका था। बायरन को प्रायः नींद नहीं आती थी और जब उसने अपनी कविताएँ लिखीं तब वह बहुत उदास रहता था। जान हंटर कभी अपने जीवन में चार घण्टों से अधिक नहीं सो सका। गोल्डस्मिथ को अपने कार्यकाल के अन्त में बिलकुल नींद नहीं आती थी। चौसर नींद न आने के कारण उदास रहता था। गैलीलिओ पर नींद न आने के कारण सदा मुर्दनी छाई रहती थी।

कई महान् हास्यरस के लेखक बहुत उदास रहते थे। मोलियर, जौनसन, स्विफ़्ट, बायरन और बीथोवन सदा उदास रहते थे। यद्यपि जौनसन की आयु लम्बी थी तब भी उसे अपने जीवन में एक भी ऐसे दिन का स्मरण नहीं था जब कि उसके शरीर में दर्द न रहा हो। ब्लेक, गेटे और स्वीडनबर्ग को विचित्र भ्रान्तियाँ होती थीं। जौन लीच को जो कि “पंच” के कलाकार थे सदा नींद न आने की बीमारी रही। वे ज़रा से शोर पर तिलमिला उठते थे। उन्होंने अपने जीवन में कभी आराम नहीं किया। काम करते हुए ही उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के दिन उनका अन्तिम चित्र “पंच” में प्रकाशित हुआ था।” चाहे यह बात कितनी ही अप्रिय क्यों न प्रतीत हो तो भी बिलकुल सत्य है कि जो लोग दिमाग़ी काम करते हैं उनकी आयु छोटी होती है। उदाहरण के लिए—हेलर एक दिमाग़ी कार्यकर्ता था। वह सदा अपने पुस्तकालय में रहता था। अपना भोजन वहीं करता था और वह वहीं पर सोता था। कभी कभी तो वह महीनों वहाँ से बाहर नहीं निकलता था। बिचट की आयु कुल ३१ वर्ष की हुई। वह इतना अधिक अध्ययन करता था कि बीमार पड़ गया और—शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। ब्लेसे पैस्कल दिमाग़ से इतना अधिक काम लेता था कि वह उदास रहने लगा और इसका परिणाम यह हुआ कि ३० वर्ष में ही उसकी मृत्यु हो गई। जौन गेट बचपन से जीवन के अन्तिम क्षणों तक दिमाग़ी काम करता रहा। वह अपने पत्र के सम्पादन का कार्य कर रहा था जब कि एकाएक उसे पक्षाघात की बीमारी हो गई। जब तक वह कलम को पकड़ सका उसने लिखने का काम नहीं छोड़ा। कवि पैट्रार्च की मृत्यु भी छोटी-सी आयु में हो गई। वह अत्यधिक अध्ययन करता था। वह बीमार हो गया और उसने अपनी बीमारी के सम्बन्ध में बिशप को कहा : बिशप को मालूम हुआ कि वह इसलिए बीमार है क्योंकि वह अधिक पढ़ता है। बिशप ने उससे कहा कि वह अपने पुस्तकालय की चाबियाँ उसे दे दे। पैट्रार्च ने बड़ी कठिनाई से तीन दिन के लिए पुस्तकालय की चाबियों को देना स्वीकार कर लिया परन्तु एक दिन भी नहीं बीता था कि कवि पैट्रार्च बिशप के पास गया और अत्यधिक दीनता से गिड़गिड़ा कर कहने लगा : “मेरे पुस्तकालय की चाबियाँ मुझे वापस दे दो—नहीं तो यहीं तुम्हारे क़दमों में मेरे प्राण निकल जाएँगे।”

सम्पादकीय

अंग्रेज़ी और आत्म-निर्भरता

पिछले महीने हैदराबाद में हिन्दी-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद ने अपने भाषण में कहा : "...अब जब कि भारतवर्ष स्वतन्त्र हो चुका है, कोई आत्म-सम्मान रखने वाला भारतवासी अंग्रेज़ी को भारतवर्ष में आजकल की स्थिति में रहने के लिए अपना मत नहीं दे सकता—भारतवर्ष की संविधान सभा ने हिन्दी को राज्य-भाषा सर्व-सम्मति से चुना है।...जब तक हम अपने राज्य-शासन और समस्त भारतीय स्तर पर अन्य कार्यों के लिए एक विदेशी भाषा पर निर्भर रहेंगे—तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो चुके हैं..." इस भाषण की उपर्युक्त पंक्तियों के उत्तर में श्रीयुत पी. कोदण्डराव ने जो कि सर्वेंएट्स आफ़ आल इंडिया सोसाइटी के एक पुराने और माननीय सदस्य हैं—मद्रास के अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र "स्वतन्त्र" में अपना एक पत्र प्रकाशित किया है। वे इस पत्र में लिखते हैं : "...यह दुर्भाग्य की बात है कि राष्ट्रपति ने अपने भाषण में उन भारतवासियों के आत्म-सम्मान के प्रति प्रश्न उठाया है जो कि हिन्दी से अंग्रेज़ी को अधिक पसन्द करते हैं और जो कि हिन्दी के समान अंग्रेज़ी को "भारतीय" समझते हैं और उसे भारतवर्ष की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए असम्मान जनक नहीं समझते। श्रीयुत राजगोपालाचारी ने एक बार अंग्रेज़ी को उन भाषाओं में से एक कहा था जिन्हें कि हमें "देवी सरस्वती ने वरदान के रूप में प्रदान किया है" और इस बात की वकालत की थी कि हमें अंग्रेज़ी को नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि अंग्रेज़ी इस समय जहाँ आधुनिक विज्ञान, आधुनिक राजनीति और आधुनिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में विज्ञता प्राप्त करने की भाषा है वहाँ उसका महत्व समस्त विश्व की भाषा के रूप में भी है। अनेक आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतवासियों के यही विचार हैं।...इस बात पर प्रश्न उठाया जा सकता है कि अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है और हिन्दी "भारतीय" भाषा परन्तु राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में यह कहना कहाँ तक उचित है ? एक ब्रिटिश राष्ट्र का निवासी भारत में "विदेशी" है परन्तु अंग्रेज़ी भाषा किसी अन्य भाषा या ज्ञान की वस्तु की तरह ब्रिटिश या किसी अन्य राष्ट्र की नहीं हो सकती क्योंकि उसकी न तो कोई जाति है, न धर्म और न सेक्स। यदि अंग्रेज़ी ब्रिटिश राष्ट्र की न होती तो न तो कोई अमरीकी इसे बोलता और न कोई भारतीय। और यदि इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाए कि अंग्रेज़ी विदेशी भाषा है तो क्या इस बात की आवश्यकता है कि इसका परित्याग कर दिया जाए जब कि हम "विदेशी" विज्ञान और यन्त्र-विद्या की आवश्यकता को अपने देश के लिए गहराई से अनुभव कर रहे हैं और इसके लिए विदेशियों को भारतवर्ष में निमन्त्रित कर रहे हैं और भारतवासियों को विदेशों में भेज रहे हैं।...फिर हिन्दी उतनी ही "विदेशी" है जितनी कि अंग्रेज़ी। यदि हिन्दी इसलिए "भारतीय" है क्योंकि यह कुछ भारतीयों की मातृभाषा है तो ऐंग्लो-इंडियन और कई अन्य भारतीयों की अंग्रेज़ी भी मातृभाषा है। क्या यह उनका अपमान नहीं है कि उन्हें कहा जाए कि अंग्रेज़ी उनकी मातृभाषा नहीं है और विदेशी है और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए असम्मान जनक है। दक्षिण भारत में हिन्दी अधिकांश भारतीयों की मातृभाषा नहीं है और इसलिए उनके लिए यह अंग्रेज़ी की तरह एक विदेशी भाषा है और हिन्दी अंग्रेज़ी के समान उपयोगी नहीं।...यदि हिन्दी को भारतवर्ष की संविधान सभा ने सर्व-सम्मति से भारतवर्ष की राजभाषा चुना तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण था या इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता ?...इसमें परिवर्तन किया जा सकता है...फिर संविधान जनता के लिए है जनता संविधान के लिए नहीं। हमें अंग्रेज़ी को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए जिसके कि वह सर्वथा योग्य है।"

अंग्रेज़ी की "सर्वांगपूर्णता" को देख कर क्या एक भारतीय के हृदय में यह भावना उत्पन्न नहीं हो सकती

कि यदि हिन्दी और भारतवर्ष की भाषाएँ भी इतनी ही 'सर्वांगपूर्ण' होतीं तो कितना अच्छा होता और क्या इससे उसके हृदय को ठेस लगनी स्वाभाविक नहीं है? और यदि आज भारतवर्ष "अंग्रेज़ी की सर्वांगपूर्णता" के कारण उसी पर पूर्ण रूप से आश्रित बना रहे तो हिन्दी या भारतीय भाषाओं में सर्वांगपूर्ण विकास किस प्रकार सम्भव हो सकेगा? अंग्रेज़ी की 'सर्वांगपूर्णता' और श्रेष्ठता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि भारतवर्ष की अपनी कोई राज्यभाषा न हो और उसका पूर्ण रूप से विकास न किया जाए और यदि उसका विकास पूर्ण रूप से न हो सके तो क्या यह भारतीयों के लिए असम्मान जनक बात नहीं है? जब कि भारतवर्ष अन्य समस्त क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से आत्म-निर्भर और विकसित होने का प्रयत्न कर रहा है तो क्यों उसे हिन्दी और अपने देश की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर नहीं होना चाहिए और क्यों उनके विकास के लिए पूर्ण रूप से प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए? हमारे राष्ट्रपति का इस सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा उचित ही है कि जब तक हमारी राज्य भाषा अपने देश में उचित सम्मान-पूर्ण स्थान प्राप्त नहीं करती तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा देश पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया है।

श्रीयुत कोदण्डराव ने अंग्रेज़ी को "भारतीय" भाषा सिद्ध करने के लिए और हिन्दी को "विदेशी" भाषा सिद्ध करने के लिए जो युक्तिजाल विछाया है वे एक कुशल वकील की तरह चाहे कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हों—युक्तियों को पढ़ने से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वे किसी न किसी प्रकार अंग्रेज़ी को "भारतीय" और हिन्दी को "विदेशी" भाषा सिद्ध करना चाहते हैं। उनकी इन समस्त युक्तियों से भी हिन्दी "विदेशी" भाषा सिद्ध नहीं हो सकती और न अंग्रेज़ी "भारतीय" भाषा सिद्ध हो सकती है। श्रीयुत कोदण्डराव अंग्रेज़ी और आधुनिक ज्ञान और विज्ञान को एक ही वस्तु समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान आदि हमें अंग्रेज़ी के द्वारा प्राप्त हुआ है और हो रहा है परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि भारतवर्ष को यह ज्ञान-विज्ञान सदा अंग्रेज़ी के द्वारा ही प्राप्त होता रहना चाहिए? यदि यह मान लिया जाए तो इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि अंग्रेज़ी पर पूर्ण रूप से आश्रित हुए बिना हमारे देश का कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इस बात को स्वीकार किया जा सकता है कि आज इस प्रकार की अवस्था हो परन्तु यह स्वीकृति स्वयं इस बात को प्रदर्शित करती है कि हमारा देश अभी आश्रित है और वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं हो पाया है। श्रीयुत राष्ट्रपति ने जो शब्द कहे हैं वे किसी भी प्रकार अंग्रेज़ी की मर्यादा को कम करने के लिए नहीं कहे गए हैं परन्तु अपने देश की आत्म-निर्भरता और विकास की दृष्टि से कहे गए हैं। क्या श्रीयुत कोदण्डराव यह चाहते हैं कि भारतवर्ष अन्य समस्त दृष्टियों से अपने पैर पर खड़ा हो जाए परन्तु भाषा की दृष्टि से वह अपने पैरों पर न खड़ा हो और अंग्रेज़ी का सहारा लेकर खड़ा रहे। भारतवर्ष जैसे विशाल देश के लिए यह सम्भव नहीं है और जब तक वह अंग्रेज़ी का सहारा लेकर खड़ा रहेगा तब तक न तो वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकेगा और न अपना पूर्ण रूप से विकास ही कर सकेगा।

साहित्य, संस्कृति और प्रशासकीय योजनाएँ

राष्ट्र की स्वाधीनता के अनन्तर केन्द्र और राज्य प्रशासनों की शक्ति प्रमुखतः पुनर्निर्माण-आन्दोलन में लग गई—प्रथम पंचवर्षीय योजना और अब द्वितीय पंचवर्षीय योजना एवं योजना-आयोग की रूपरेखाएँ हमारे समक्ष हैं। संक्षेपतः इस पुनर्निर्माण-आन्दोलन में राष्ट्र की अनेक आधारभूत समस्याओं को लिया गया है; कुछ समस्याएँ हैं जिनका देश की दुःखित-उत्पीड़ित जनता की समृद्धि-सन्तुष्टि से सीधा सम्बन्ध है, कुछ समस्याएँ प्रशासनिक क्षेत्रों की प्रशस्तता तथा पुष्टिकरण से सम्बद्ध हैं तो कुछ सामाजिक, शैक्षणिक तथा भूमि-सम्बन्धी आन्दोलनों से अनुभावित। केन्द्रीय-प्रशासन की अपनी पंचवर्षीय योजना, राज्य-प्रशासनों की अपनी-अपनी पंचवर्षीय योजनाएँ, धुँआधार प्रचार, आन्दोलन, ढेर-ढेर सारा साहित्य और कार्य की परिणति के रूप में क्या-कुछ देखने में आता है—प्रथम पंचवर्षीय योजना की परिसमाप्ति से बहुत-कुछ स्पष्ट हो चुका है और चल रही द्वितीय पंचवर्षीय योजना की परिणति भी ऐसी ही कुछ नहीं होगी—निश्चित रूप में कैसे अस्वीकार किया जा सकता है! इसकी पृष्ठभूमि में कारण अनेक हो सकते हैं, स्वयं योजना और उसके प्रारूपों का राष्ट्र की आधारभूत समस्याओं से बहुत पृथक् और ऊपर ही ऊपर होना भी एक कारण हो सकता है (क्योंकि हमारा विशाल देश बहुत रूढ़िग्रस्त है, अशिक्षित है, और यहाँ उत्पीड़न,

अभाव और दरिद्रता का भयङ्कर अभिशाप सर्वत्र छाया हुआ है और यह स्थिति अब की नहीं, सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही है; केवल कुछ वर्षों में और इस प्रकार की शासकीय मशीनरी द्वारा इतना-कुछ कैसे हो सकता है ?) मगर यह एक सबसे अपरिहार्य तथ्य है कि राष्ट्र की बौद्धिक चेतना प्रसुप्त है, रूढ़िग्रस्त है, राष्ट्र की मनोभावनाएँ चिरदासता के कारण दुनिया से बहुत पीछे हैं और प्रशासन तथा योजनाओं का वरिष्ठ अधिकारी वर्ग भी स्वयं इसका शिकार है स्वभावतः ही, स्वतः ही—उसमें कार्य और ध्येय के प्रति समुचित निष्ठा, जागरूकता, उत्कटता और स्फूर्ति तक का व्यापक अभाव है—जो कार्य कृशकाय विनोबा ने किया और कर रहे हैं; उस स्थायित्व और पृष्ठभूमि पर न प्रथम पंचवर्षीय योजना ही कुछ कर सकी और अन्य योजनाएँ भी वैसा-कुछ कर सकेंगी; इसमें हमें तो पूरा-पूरा सन्देह है। हमारा देश संस्कृति, संस्कारों और भावनाओं का देश है; जब कि ये प्रशासकीय योजनाएँ घोर भौतिकतावादी हैं—यह ठीक है कि आज का विश्व यथार्थतः भौतिकतावादी है और हम भी उससे पृथक् रहकर जीवित नहीं रह सकते; किन्तु (इसी के लिए ही नहीं) किसी भी संसिद्धि के लिए हमें भारत की मूलभूत भावनाओं और संस्कारों को माध्यम बनाकर, उन्हें पूर्ण प्रश्रय देते हुए चलना ही होगा—मगर देश की पुनर्निर्माण योजनाओं के समस्त प्रारूप और आयोजनों में ऐसी भावनाएँ हमें कहीं नहीं दीखतीं; इतना ही नहीं, देश के शैक्षणिक प्रयोजनों के लिए तक अत्यन्त क्षोभकारक स्थिति है।

विशेषतः चिरदासता के कारण भारत की सांस्कृतिक चेतना घोर रूप में ध्वस्त हो चुकी है एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि कुण्ठित, विच्छिन्न, प्रच्छन्न-सी है। साहित्य ज़हाँ देश के बौद्धिक संस्कारों को जागृत और समुन्नत कर सकता है, वहाँ देश के उद्योगीकरण और कृषि को विज्ञानसम्मत बनाने में हमारे साहित्य को बहुत बड़ा भाग लेना है और संभवतः हमारा साहित्य ही देश के पुनर्निर्माण-आन्दोलन का सबसे सहज, सबसे सशक्त सबसे ठोस माध्यम हो सकता है। तर्क ठीक है कि साहित्य का आधार पूर्वनिश्चित-लिखित संयोजनाएँ नहीं रही हैं, न रहेंगी और रहना भी संगतियुक्त नहीं कहा जा सकता—साहित्य की समुन्नति का आधार तो संस्कार जन्य है; स्वतः सृजन पर अवलम्बित है और उसका श्रेयस् भी उतना लोकपरक (अथवा भौतिकतावादी) नहीं होता, जितना संस्कृतिपरक (या बुद्धिपरक); पर, हम निवेदन कर चुके हैं कि भारत की मनोभावनाएँ आधारभूत रूप में संस्कृतिपरक हैं; भौतिकतावादी नहीं और हमारे साहित्य पर जो घोर असंस्कार-सा, अभिशाप-सा व्यापक रूप में परिलक्षित होता है उसके निराकरण के लिए साहित्यिक क्षेत्र को, साहित्य-कार्य को बाध्यतः योजनाबद्ध, संकल्पबद्ध होकर चलना ही चाहिए; आर्थिक अथवा शैक्षणिक दुरवस्था तो भारतीय साहित्य के लिए बहुत स्थूल, एक बाह्य समस्या है (यों आर्थिक और शैक्षणिक दुरवस्था का निराकरण संभवतः सबसे आवश्यक, सबसे अपरिहार्य है); साहित्य-सम्बन्धी सभी गतिविधियों, सभी क्षेत्रों को योजना-आयोग, केन्द्रीय और राज्यीय प्रशासन पंचवर्षीय योजनाओं के अन्य अंगों की भाँति एक अंग के रूप में स्वीकार करें और साहित्य की समुन्नति के लिए कृतसंकल्प हों—यह कार्य दुरुह अवश्य है। भारत में अनेक भाषाएँ हैं, उनका अपना-अपना साहित्य है पर, साहित्य के लिए सुनियोजित विकास-योजना पर साहित्य के सर्वसामान्य रूपों की समुन्नति को तो नियोजित किया जा सकता है। साहित्य का एक अंग शिक्षा है। शिक्षा के लिए योजना-आयोग द्वारा प्रस्तुत प्रारूप अत्यन्त अभावपूर्ण और क्षोभकारक है। साहित्य के विकास की इस योजना के अन्य सामान्य विषय हो सकते हैं—प्रकाशन, अर्थ, जनरुचि का निर्माण, मांग और उसकी पूर्ति; पाठ्य-पुस्तकों के व्यापक भ्रष्टाचार का दृढ़ता से निराकरण और उनका सम्यक् राष्ट्रीय आधार पर स्थापन; पुस्तकालयों की समुन्नति और पर्याप्तता आदि तथा अखिल भारतीय स्तर पर ऐसे साहित्य की सृष्टि को प्रोत्साहन जो सांस्कृतिक और राष्ट्रीय ऐक्य बोध और पारस्परिक प्रेम की आधारशिला भी हो; वह सामयिक विज्ञान और चिन्तन का पूर्ण प्रतिबिम्ब भी हो और व्यवस्था कुछ इसप्रकार की भी हो कि यदि एक भारतीय भाषा में कुछ नए, मौलिक, उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि हो तो वह अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में भी यथाशीघ्र ही उपलब्ध हो जाए।

चिरदासता के अनन्तर राष्ट्र के पुनर्निर्माण की इस सद्यःबेला में साहित्य और संस्कृति का अन्ततः महत्वपूर्ण और विशिष्ट योग हो सकता है।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

अजन्ता

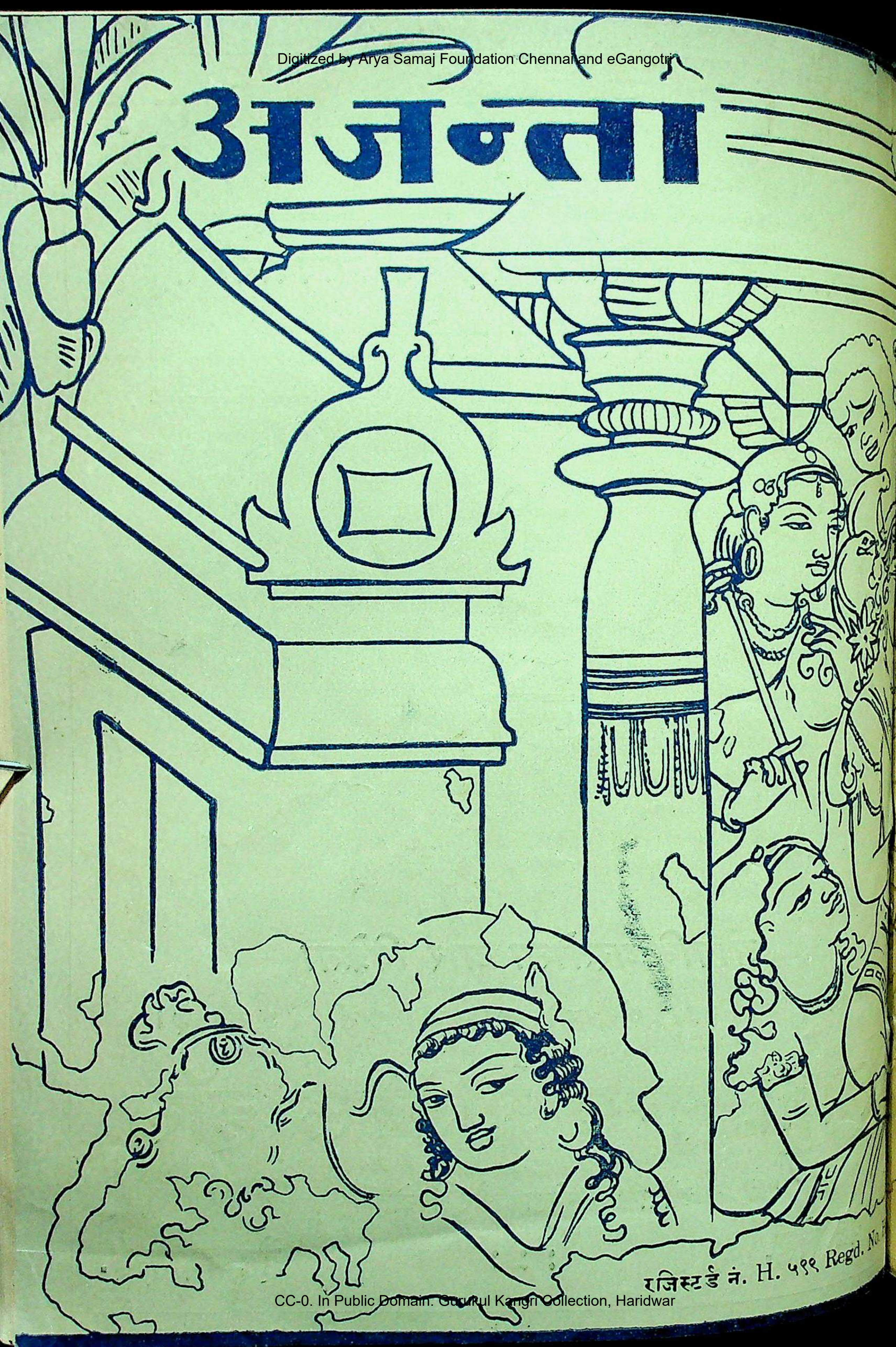

रजिस्टर्ड नं. H. ५९९ Regd. No

अजन्ता

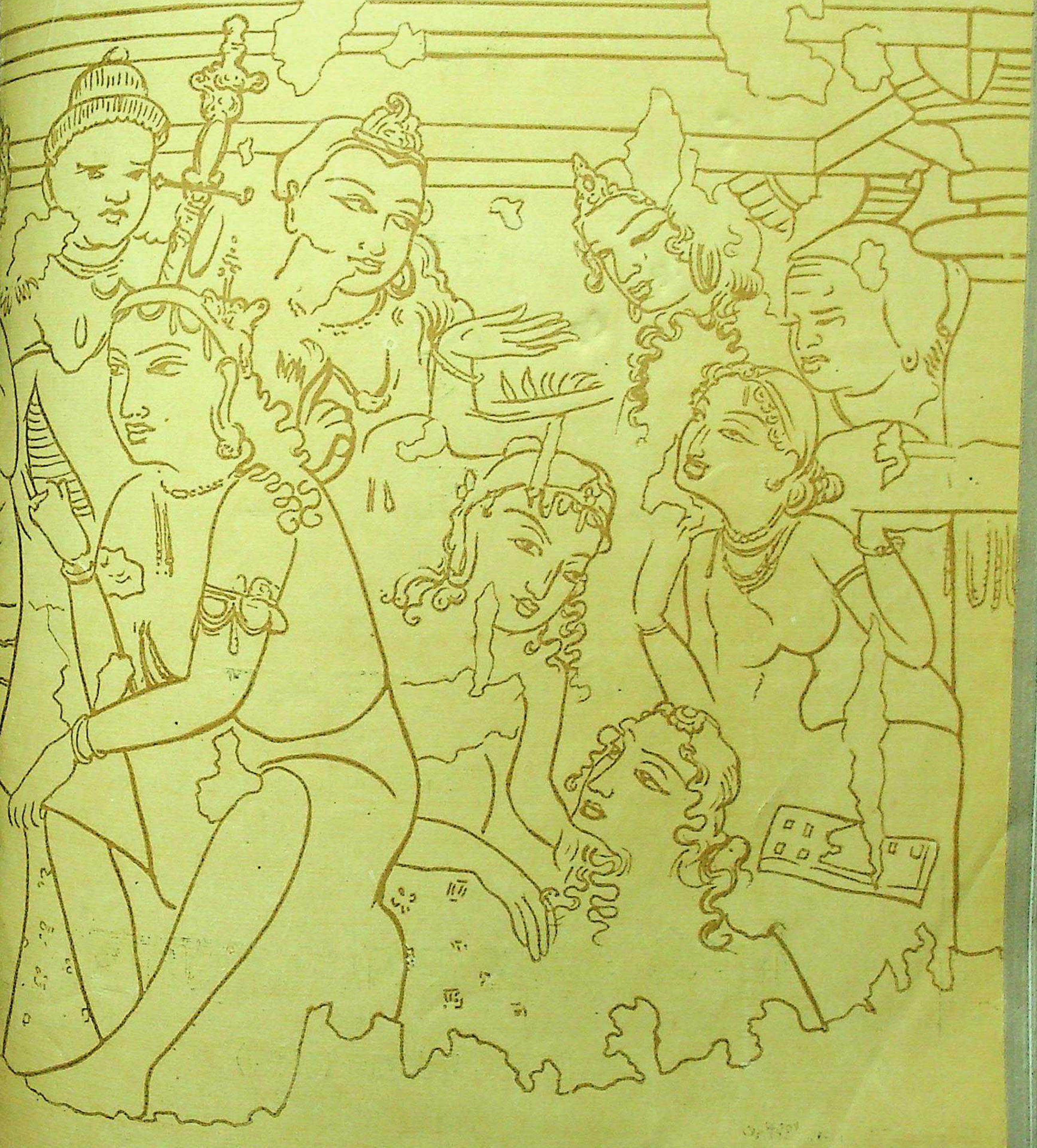

वर्ष ९ सितम्बर १९५८ अंक ८

हिन्दी के उत्तमोत्तम

तथा उच्च

श्रेणी

के

सा

हि

त्य

की

प्राप्ति के लिए एक मात्र

स्थान

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

नामपल्ली रोड, हैदराबाद (दक्षिण)

तार : हिन्दी

टेलिफोन नं. ५४५०

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है
या
कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात
हैदराबाद-द. से मँगाइए।

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक-हिन्दी-साहित्य

के

रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

अभिजात

: सम्पादक :

हरिमोहन : रवीन्द्र भ्रमर

●

प्रथम भाग

- साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

मूल्य दो रुपए मात्र

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

: व्यवस्थापक :

८, गुर्ड छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२ वसुधा

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक

रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता

पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी

पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी

श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।

प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी।

अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।

नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता

वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,

जबलपुर (म० प्र०)

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी-मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ

एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक........

आपका-स्वास्थ्य

.........**के ग्राहक नहीं बने हैं ?**

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।||)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

''सफल जीवन'' प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय कॉंग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : **यशदेव शल्य**

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार के निबन्ध

सुन्दर काग़ज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

सहित्यकार संघ, लखनऊ घोषणा करता है

नई कहानी संकलन

(अर्द्ध वार्षिक)

वार्षिक मूल्य ४) ❀ एक प्रति २।)

संपादक

प्रतापनारायण टण्डन : गोपालकृष्ण सारंग

शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

'नई कहानी संकलन' का प्रकाशन हिन्दी कहानी साहित्य में एक घटना होगी।

विशेष विवरण के लिए लिखें :

साहित्य संघ, पो० बॉ० ३, लखनऊ

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेश के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !
* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!
* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

सितम्बर में बुद्ध जयन्ती विशेषांक प्रकाशित हो रहा है।

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय

साहित्यकार-संसद,
५८ रसूलाबाद, इलाहाबाद—२

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य : चार रुपए।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य : छः रुपए।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य : ३) रुपए।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन आं हुआ है। कौन [illegible], पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य : पौने दो रुपए।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। ना रंगमंच के उपयुक्त है।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचा

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. **बालपद** : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ** : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक श्री—रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १** : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ** : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी** : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकाँकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए.। ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल** : अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २** : लेखिका श्री विमला लूथरा। ०-६-०

प्रेस में :

१. **दक्खिनी का व्याकरण**	श्रीराम शर्मा
२. **दक्खिनी का इतिहास**	श्रीराम शर्मा
३. **रहीम का अप्रकाशित काव्यः दम्पति विलास**	
४. **पञ्चामृत** (मराठी)	
५. **मराठी साहित्य का इतिहास**	
६. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी)	वंशीधर विद्यालंकार

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श-समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

युग-चेतना
[हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका]

वार्षिक मूल्य ८ रुपए * एक प्रति १२ आने

प्रधान सम्पादक :
डा. देवराज एम. ए. डी. फिल.

सम्पादक :
कमलापति मिश्र, डा. प्रेमशंकर, प्रतापनारायण टंडन

जनवरी ५५ से प्रतिमास प्रकाशित हो रहा है
इसका प्रत्येक अंक स्थायी साहित्य की कोटि का
अतएव संग्रहणीय होता है।

"युग-चेतना" कार्यालय, चौक
लखनऊ

वार्षिक मूल्य ८) अर्धवार्षिक ४)
[सरकारी विज्ञापनों के लिए स्वीकृत]

साप्ताहिक सेनानी

इसे गाँव गाँव घर घर में लोग इसलिए पढ़ते हैं कि:
* 'सेनानी' राजस्थान का एक विश्वस्त पत्र है।
* 'सेनानी' दलगत राजनीति से ऊँचा रहना जानता है।
* 'सेनानी' नेताओं की भड़ौती से नहीं अपनी कलम से जीवित है।
* 'सेनानी' ठोस विचारों और विश्वस्त समाचारों का पत्र है।
* 'सेनानी' राजस्थान की समस्याओं पर गहराई विचार करता है।
* 'सेनानी' का कलेवर भरती के लेखों से भरा नहीं होता।
* 'सेनानी' रास्थान का सर्वाधिक लोकप्रिय पत्र है।

अपने 'सेनानी' के ग्राहक बनिए।
अपने मित्रों को 'सेनानी' के ग्राहक बनाइए:

व्यवस्थापक, साप्ताहित 'सेनानी'
सेनानी कार्यालय' बीकानेर

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८

सितम्बर १९५६

अङ्क ९

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी
फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और
मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

दर्द उतना ही मुझे दो
बालस्वरूप भटनागर 'राही' १

स्याही-कागज़
बालकृष्ण राव ३

गीत-वितान
जानकीवल्लभ शास्त्री ४

वन्य फूल
—सरोजिनी नायडू
अनु : वंशीधर विद्यालंकार ५

लड़ाई का बूढ़ा घोड़ा
—हो चिङ्ग
अनु : सुशीला रानी ६

दूर बहाओ मांझी
जगदीशचन्द्र ७

गीत
रमा सिंह ८

अरबी साहित्य में पुनर्जारण : बीसवीं सदी
—ताहा हुसेन
रूपांतर : शरद् देवड़ा ९

स्वेज नहर की समस्या
सत्यदेव विद्यालंकार १२

प्रगतिशील कविता : जीवन-संवेदना
मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह १८

बौद्ध न्याय का पिता—आचार्य दिङ्नाग
वाचस्पति गैरोला २१

भूपति की एक अप्रकाशित रचना
राजकिशोर पाण्डेय २४

हँसनी—सी-गल
—एरटन चैखव
अनु : राजेन्द्र यादव २७

व्यक्ति और समाज
यशदेव शल्य ३५

प्राचीन अभिसारिकाओं की अभिसरण कला
व्रजभूषण पाठक ४४

राजपूत चित्रकला के श्रावण-भूला चित्र
महेन्द्रनाथ सिंह ४७

भाषा की समस्या
वंशीधर विद्यालंकार ४९

कन्नड़ साहित्य की रूपरेखा
एन. रंगनाथ ५३

स्वर्गीय श्रीयुत बन्सीलाल व्यास
नरेन्द्र, एम. एल. ए. ५५

अवतार
ज़ीनत साजिदा ५८

कला-चर्चा : कला का विहंगम तत्त्व-निरूपण
ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

चिट्ठी-पत्री
'अजन्ता' के सम्बन्ध में : निर्मला जैन, सन्तोष कुमार, कुमारी शकुन वर्मा, राधाकृष्ण इंदाणी, शैलकुमारी चोपड़ा, व्रजकिशोर नारायण । ६५

नीर-क्षीर
कौटिल्य अर्थशास्त्र : वंशीधर विद्यालंकार; कौड़ियों का नाच, शंकर-विजय, राधाकृष्ण, महर्षि महिमा (पद्य में), प्राचीन शिक्षण विधियाँ और हरबार्ट की पंचपदी-शिक्षण विधि, साहित्यकार (बुद्ध अंक), सुप्रभात (मासिक पत्र) : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर । ६८

सामयिक
शब्दों का जगत्, चीन में कालिदास, गोकक जल प्रपात, आगरे का ताजमहल

सम्पादकीय
भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य : वंशीधर विद्यालंकार; हिन्दुस्तानी फिल्म : जलता हुआ सवाल : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ७८

चित्र : (१) खेत का रक्षक, (२) नागफणि, (३) शिलीभूत; चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी
(४) श्री विश्वनाथ मुखर्जी अपने कला कक्ष में

वार्षिक मूल्य : ९)
एक प्रति का मूल्य : १) रु.

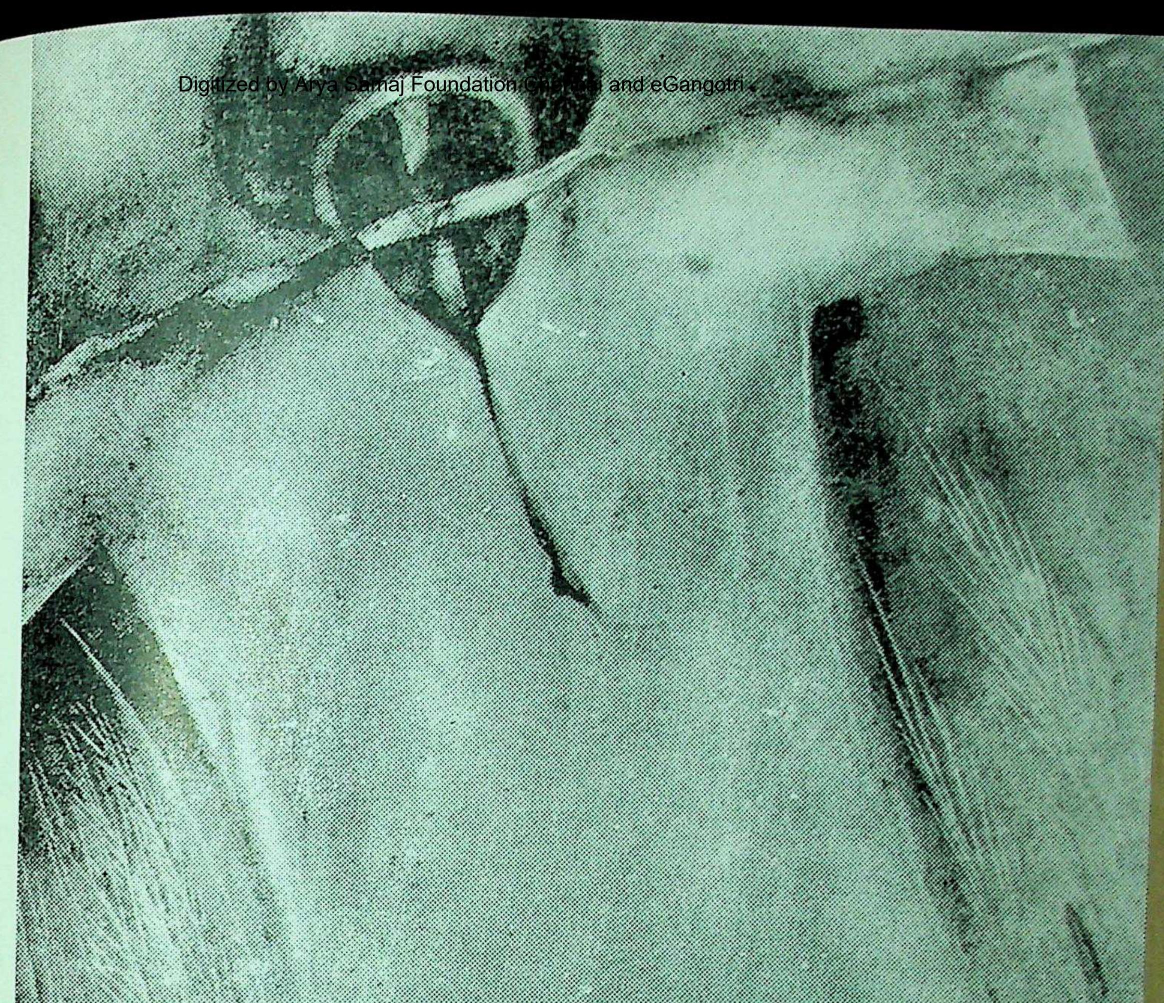

खेत का रक्षक
चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

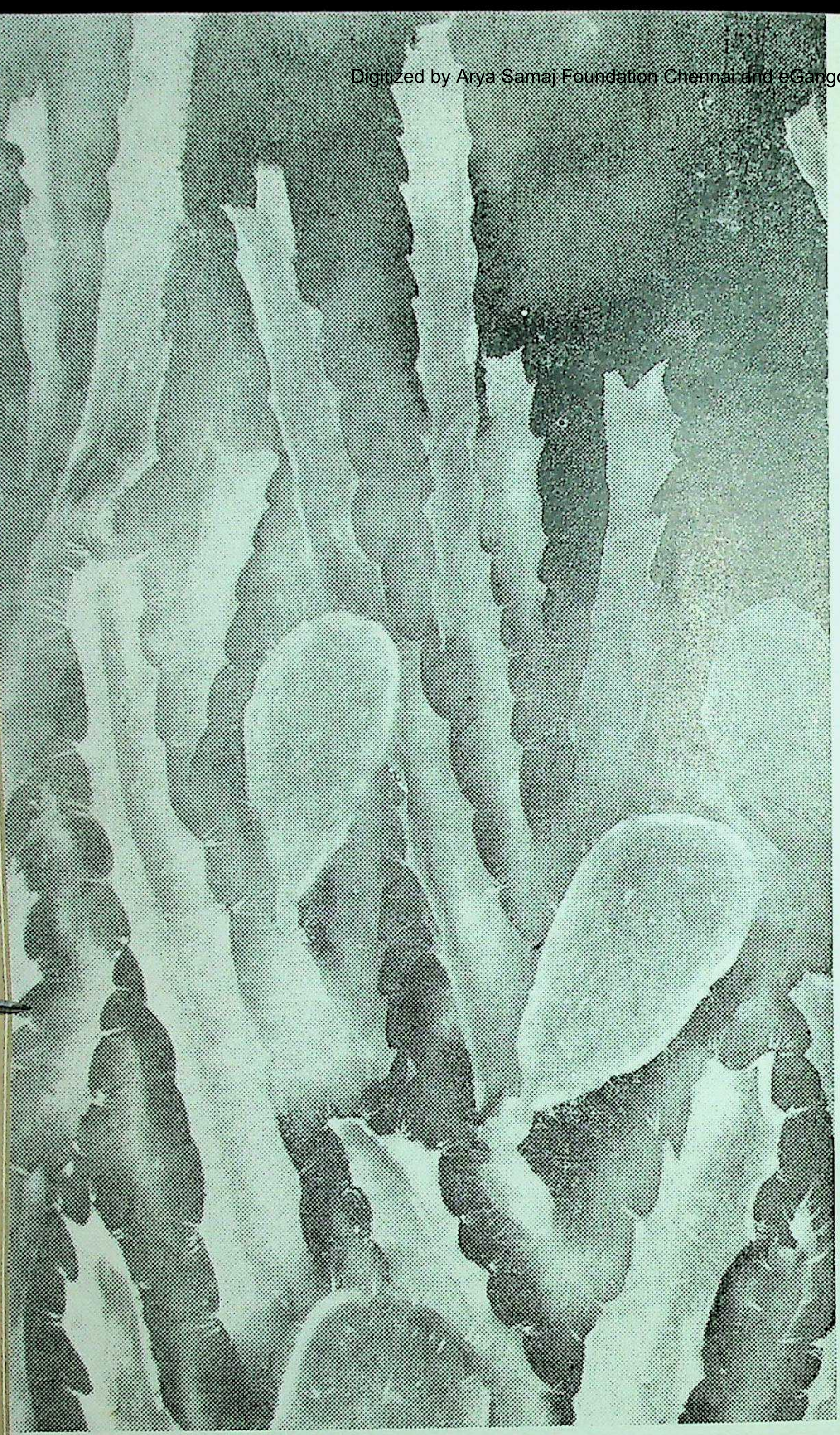

ाफणि

त्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

वर्ष ८ **अजन्ता** अङ्क ९

दर्द उतना ही मुझे दो

दर्द उतना ही मुझे दो,
गीत बन जाए तड़प हर साँस सहसा !

हूँ नहीं कायर, दिखा दूँ पीठ जो मैं
वेदना को, दर्द से आँखें चुराऊँ
है इजाज़त—देखना मत शक़्ल मेरी
फिर कभी तुम, मैं अगर आँसू बहाऊँ;
आदमी हूँ, चोट खाना जानता हूँ,
और सीना भी बहुत मेरा बड़ा है;

है न कुछ मुझको शिकायत
रूठ जो मुझ से गया मृदु-हास सहसा !

मानता हूँ, प्यार से पीड़ा बड़ी है,
और जिसको भी कभी इसने छुआ है—

धूल से सोना बना वह, भूल है यह
सोचना भी ग़म किसी की बददुआ है;

दर्द ऐसा भी मगर किस काम का है
जो कमर ही तोड़ डाले आदमी की ?

यों गिरे बिजली मचल कर
राख बन जाए मधुर मधुमास सहसा !

दर्द देना है तुम्हें ? दो, पर न इतना
आँख पथराएँ, अधर पर मौन छाए
यों लगे, दिल ही नहीं है वक्ष में—
है एक पत्थर, प्राण में जड़ता समाए—

इस तरह, तूफ़ान जैसे एक कोई
तोड़ जाता है कलाई हर लहर की !

जी रहा हूँ, साँस लेता हूँ
न ढह जाए कहीं विश्वास सहसा !

प्राण का मेहमान होना ही पड़ेगा
एक को तो, हो रुदन या मुस्कराहट;
है मुझे मंज़ूर दोनों : चाहता हूँ—
मैं नहीं पर, एक ऐसी छटपटाहट—

शून्यता ही हो महज़ जिसकी कहानी;
ज़िन्दगी है चेतना, जड़ता नहीं है—

चाहता हूँ मैं नहीं मन
जाय बन आकाश का आवास सहसा !
दर्द उतना ही मुझे दो,
गीत बन जाएँ तड़प हर साँस सहसा !!

तिमारपुर,
दिल्ली

—बालस्वरूप भटनागर 'राही'

स्याही—काग़ज़

स्याही, कागज़
इनसे ही थी आशंका,
धोखा दिया इन्हीं दोनों ने,
इनकी आयु न जानकार से छिपी रह सकी
जिस कौशल से लिपि, हस्ताक्षर मृतक धनी के
बना लिए थे हमने,
यदि वैसे ही,
उसी सफलता से ही,
सम्भव होता
इन दोनों की आयु बढ़ाना,
तो साहस कैसे कर पाता
जानकार
निश्चय के स्वर में
यह कहने का :
'जाली है यह दानपत्र' ?

अधिकारी हम लोक-दृष्टि में हो न सके थे
उस वैभव के,
किन्तु हमारे
कैतव से हो गई रुष्ट प्रेतात्मा उस दिन
जिस दिन विफल, पराजित हम घर लौटे
न्यायालय से;
शप्त हुए हम उसके द्वारा,
हुए हमारे हस्ताक्षर उसके जैसे ही,
लिपि उसके ही हस्तलेख का अनुकृति है अब—

अब नवीनता, मौलिकता का
हम प्रमाण देंगे
दिखला कर
जानकार को
स्याही, कागज़

—बालकृष्ण राव

गीत-वितान

काँचनार के फूल-फूल में
तेरा क्या खोया है ?
शबनम क्या, तू पंखड़ियों में
छुप-छुप कर रोया है !

बेला-वन में खिली चाँदनी
बैजन्ती में धूप,
प्रात चुआ पड़ता था तेरा
हर सिंगार में रूप

मैं क्या जानूँ, गई रात तू
तनिक नहीं सोया है !
काँचनार में अरे बावरे,
तेरा क्या खोया है ?

मेरी तो कुछ बात और
जो छान रहा उद्यान
यहीं कहीं फूलों, पातों में
बसते मेरे गान !

भेद यहीं खुलता, मैंने—
प्राणों में क्या गोया है ?
काँचनार में, हर सिंगार में
क्या पाया-खोया है !

दिन में कमल, कुमुद रजनी में
तू विभोर निशि-भोर,
ऐसा और ठौर क्या होगा,
मिलें जहाँ दो छोर !

तूने धरती का सूखा मुख
नभ-जल से धोया है !
काँचनार का कंचन तन लख—
तू खोया-खोया है ?

चतुर्भुज स्थान,
मुजफ़्फ़रपुर

—जानकीवल्लभ शास्त्री

वन्य फूल

प्रसन्नता से चमकते हुए फूलो !
लोग कहते हैं कि तुम हो तो फूल
पर हो जंगली,
तुम्हें देख कर मुझे तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है
कि तुम कोई नए तारे हो
जो अचानक टूट कर धरती पर गिर पड़े हो

या फिर
किसी अप्सरा के महलों के तुम जगमगाते सोने के
प्रदीप हो
या फिर
तुम अप्सराओं की मदिरा के सुवर्ण पात्र हो

या फिर
तुम वसन्त के पैरों के नूपुर हो

या फिर
तुम वे चमकते आँसू हो
जो कि किसी सुन्दरी ने
अपने यौवन की स्मृति में बहाए हैं

इस सायंकाल में
मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम
मेरे पुराने स्वप्नों की कोई चमकीली स्मृति हो

—सरोजिनी नायडू
अनु : वंशीधर विद्यालंकार

एक चीनी कविता

लड़ाई का बूढ़ा घोड़ा

सैकड़ों लड़ाइयों के अनुभव का
बोझ लिए,
शक्तियाँ समाप्त
और ओज—उत्साह शान्त,
झुका शीश,
हड्डियों का ढाँचा भी पुराना हुआ,

किन्तु,
वे चढ़ाइयाँ—लड़ाइयाँ न भूलीं अभी,
वर्षों सीमान्तों की सड़कों पर घूमना
मन्द-मन्द,
सधे क़दम,
आँधी तूफ़ानों में
दूर, दूर, दूर,
सीमान्तों के पार भी—
और अब कहानी खत्म हो गई,
साज उन गीतों का टूट गया

किन्तु,
उसे अब भी सुनाई दिया करती हैं
धीर वीर सैनिकों की टूटी आवाजें, जिन्हें
पीठ पर बिठाए हुए
वर्षों तक ढोया है
और वह प्रसन्नता से
अब भी हिन-हिनाता है

—हो चि

अनु : सुशीला रा

१४, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश)

दूर बहाओ मांझी

तट पर की नौका को तट से मांझी
दूर बहाओ, दूर बहाओ
गिरे काँपते मस्तूलों को, और चढ़ाओ, और चढ़ाओ
दूर क्षितिज से लहरों से आलिंगन हो भरपूर कि जिससे
और तुम्हारी पतवारों में तूफ़ानों के प्रति हो मौन समर्पण
महासिन्धु में लय होने को, डाड़ चलाओ, डाड़ चलाओ
तट पर की नौका को, तट से मांझी
दूर बहाओ, दूर बहाओ
गिरे काँपते मस्तूलों को, और चढ़ाओ, और चढ़ाओ
तट सूने रह जाएँगे, रह जाएँ
और किसी को मौन प्रतीक्षा होगी, पहली सच है
फिर भी मांझी अन्धकार में दूर तुम्हें जाना है
अन्धकार की उस रेखा तक छोर जहाँ पर छोर न होगा
सोचो मांझी, सोचो मांझी
अरे सोचना क्या, मस्ती से हाथ बढ़ाओ, पाल उठाओ
तट पर की नौका को तट से मांझी
दूर बहाओ, दूर बहाओ
गिरे काँपते मस्तूलों को, और चढ़ाओ, और चढ़ाओ
प्राची में सूरज के उगने की बेला निश्चित है
कब पतझड़ आएगा, यह निश्चित है,
आँधी भी आने से पहले कह जाती है
पर मांझी कब तक आएगा, यह कुछ ठीक नहीं है
उसे विदा दो, उसे विदा दो
नाविक तुम भी हाथ जोड़ कर सबसे आज विदा लो
सबका आशीर्वाद तुम्हारे साथ रहेगा
पूर्व मिलन के, आलिंगन के, मधु स्वप्नों के
बीते दिवसों के बारे में व्याकुल होने से भी क्या है
एक हाथ, दो हाथ और फिर सागर होगा
सागर में संसार तुम्हारा जीवन होगा और मरण भी
अधिक न ठहरो, अधिक न ठहरो, नए मार्ग की ओर अकेले
तट पर की नौका को तट से मांझी
दूर बहाओ, दूर बहाओ
गिरे काँपते मस्तूलों को, और चढ़ाओ, और चढ़ाओ

—जगदीशचन्द्र

६—ए, पुरुषोत्तम नगर,
इलाहाबाद

गीत

दुनिया में इतनी चहल पहल, फिर भी मन भारी है

हर सुबह सुनहरे पानी से
कन कन को नहलाती
हर शाम उदासी मन आँखों
में सिमट सिमट जाती
मन डूब डूब उतराता कैसी यह लाचारी है
दुनिया में इतनी चहल पहल, फिर भी मन भारी है

नदियों का सारा वेग, सिन्धु—
को भरा पुरा करता
सोने की डोरी से मेघों
के घट सूरज भरता
गहराई खुद पाताल, किन्तु सारा रस खारी है
दुनिया में इतनी चहल पहल, फिर भी मन भारी है

पंखों में भरती थकन, दृष्टि
तब धूमिल सी होती
अम्बर छूने को साध मौन
हो नीड़ों में सोती
रुक रुक कर चलते रहने की होती तैयारी है
दुनिया में इतनी चहल पहल, फिर भी मन भारी है

—रमा सिं

सिंहलाज,
इलाहाबाद

अरबी साहित्य में पुनर्जागरण : बीसवीं सदी

वर्तमान अधोगति के मलबे के नीचे दबे पड़े गरिमामय अतीत की ओर लालसा और गर्वपूर्ण दृष्टि से देखने के दोषियों में भारत के समान अरब भी करार दिया जा सकता है। दोनों ही देश महान् सांस्कृतिक परम्परा के जन्मदाता हैं। भारत के समान प्राचीन अरबी-साहित्य के कोष में भी न जाने कितने रत्न अभी तक विद्वानों की खोज और अध्ययन की परीक्षा में अछूते पड़े हैं।

आश्चर्य होता है, जब हम इस महान् साहित्य-परम्परा और कुरान के प्रणेता अरब को बीसवीं शताब्दी के पूर्व पूरे एक सहस्र वर्षों तक गफ़लत और निष्क्रियता की चादर ओढ़े पाते हैं। ऐसा लगता है कि पूर्वजों द्वारा कमाया हुआ अपरिमेय धन तिजोरी के अंधेरे घरों में बन्द किए किसी कंजूस की तरह केवल उसकी स्मृति के नशे की झोंक में ही यह झूमता-औंघता रहा है। वैसे विद्वानों ने अरबी साहित्य की इस सहस्रवर्षीय कुम्भकर्णी नींद के कई युक्तिसंगत कारण दिए हैं।

उनमें से पहला यह है कि प्राचीन साहित्य की गरिमा से पराभूत अरब कभी सुदूर अतीत में निर्मित साहित्यिक नियमों, रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध जाने की बात लम्बी अवधि तक सोचने का साहस नहीं कर सके। उन्हीं रूढ़ियों के प्रतिबन्धों में जकड़े रहना उन्होंने स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया और जो कुछ पहले लिखा जा चुका था, उसी के अनुकरण में अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझते रहे। दूसरा कारण तुर्कों के फ़ौलादी पंजों का कसाव था जिसके कारण सदियों तक अरब वासी दूसरे प्रगतिशील देशों के सम्पर्क से वंचित रहे। कुरान की आयतों की अरबी भाषा की पवित्रता का प्रश्न भी परिवर्तन और नवीन उद्भावनाओं के पथ में चट्टान का कार्य कर रहा था।

उपर्युक्त कतिपय कारण हैं जो अरबी-साहित्य की इस सहस्रवर्षीय गतिहीनता के लिए पेश किए जाते है। कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक अरबी भाषा और साहित्य की दशा टी० बी० के 'फ़ोर्थ स्टेज' पर पहुँचे हुए रोगी के समान हो चुकी थी। जड़ता और रूढ़ि की इस कारा से निकल कर आधुनिकता के स्वतन्त्र और उन्मुक्त वातावरण में जाना ही अरबी साहित्य का पुनर्जागरण (Renaissance) कहलाता है।

वैसे तो परिवर्तन के चिन्ह बीसवीं सदी के प्रारंभ में ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं, किन्तु इस घोर नींद में गाफ़िल दैत्य को झकझोर कर पूरी तरह उठा देने का श्रेय प्रथम महायुद्ध को दिया जा सकता है। इस युद्ध में अरबी देशों को तुर्कों द्वारा जकड़ी हुई गुलामी की शृंखलाओं से छुटकारा पाने का एक सुनहला अवसर दिखाई दिया और वे अंग्रेज़ों की सहायता के लिए रणक्षेत्र में कूद पड़े। किन्तु युद्ध के बाद अंग्रेज़ों द्वारा वायदे पूरे न किए जाने पर मिस्र के उदाहरण पर अन्य अरबी देश भी आज़ादी की लड़ाई में जुट गए। सन् १९१८ से प्रारंभ होने वाला यह दीर्घ संग्राम केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही सीमित था, वरन् यह सभी रूढ़िवादी धारणाओं के विरुद्ध जिहाद था। धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक क्षेत्रों में तो इसने उथल-पुथल ही मचा दी।

विचारों की इस लड़ाई को आगे बढ़ाने में मिस्र के सन् १९२३ में पास हुए संविधान का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसने अन्य कई महत्वपूर्ण अधिकारों के साथ विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी घोषित की। किन्तु शासक लोग इस संविधान की उपेक्षा का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते थे। फलतः बुद्धिजीवी और अधिकारी वर्ग के बीच संघर्ष का होना स्वाभाविक था। लेखकों ने राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं की परंपरागत धारणाओं पर करारी चोट करनी आरम्भ की। इस सिलसिले में सन् १९२५ में प्रकाशित अली अब्दुल राज़िक की पुस्तक "इस्लाम और शक्ति के सिद्धान्त' अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। इसने खलीफ़ाओं के परंपरागत दैवी अधिकारों पर प्रश्न वाचक चिह्न लगा दिया। राज़िक ने साहसपूर्वक यह बताया कि शासन के संचालन के लिए खलीफ़ा शाही का होना आवश्यक नहीं, वरन् उसका भी एक सामाजिक पहलू

होता है। जनता अपनी सुविधाओं की दृष्टि से किसी भी प्रकार का शासन क़ायम कर सकती है। राजनीति और धर्म को इस प्रकार अलग कर देना तत्कालीन रूढ़िवादी मान्यताओं पर एक ज़बर्दस्त प्रहार था, जिसने विचारों के जगत् में तहलका मचा दिया।

सन् १९२६ में ताहा हुसेन ने "इस्लाम-पूर्व का काव्य" नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके धर्म सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव भी राज़िक की पुस्तक के समान ही व्यापक और गहरा पड़ा।

उपर्युक्त तीन प्रेरक शक्तियों ने मिलकर लोगों के सोचने की दिशा को ही बदल दिया और वे प्रस्तुत समस्याओं और प्रश्नों पर एक नए दृष्टिकोण से विचार करने लगे।

विचारों के इस फटते ज्वालामुखी के क्रोड़ में साहित्य भला कैसे निरपेक्ष रह सकता था? परम्परा और प्रगति में यह संघर्ष वहाँ भी पूरे ज़ोर-शोर से चालू था। परम्परावादी अरबी को एक पाक ज़बान के रूप में ही रखना चाहते थे, किसी भी प्रकार का परिवर्तन उन्हें असह्य था। दूसरी ओर नया खून अरबी को भी अन्य जीवित भाषाओं में एक मानने का आग्रह करता था। वह चाहता था कि तत्कालीन साहित्य रूढ़ि की श्रृंखलाओं में जकड़ी अरबी में न लिखा जा कर आम जनता की रोज़मर्रा की बोलचाल की भाषा में लिखा जाए। यह संघर्ष सन् १९३० तक चलता रहा और मुस्तफ़ा उल्राफिल और अहमद उल् सिकन्दरी जैसे दिग्गजों और उनके चेलों के अथक प्रयत्नों के बावजूद पुरातनवादियों की जीत न हो सकी। अब्बास अल् अक्काद, अब्राहम अल मजनी, हुसेन हेकल, सालामा मूसा और ताहा हुसेन जैसे नवीनता के समर्थकों को ही जनता का अनुमोदन मिला। धीरे-धीरे पुरातनवादी भी अपने जीर्ण-शीर्ण कपड़ों को उतार कर नए वस्त्र पहनने लगे। चॉकी जो युवावस्था में दरबारी कवि रह चुके थे, ने अपनी पुरानी टेकनीक का पूर्णतः कायाकल्प कर डाला। मुहम्मद तैमूर जैसे विद्वानों ने भी बोलचाल की भाषा (ग्रामीण बोली) में कहानियों की रचना की। स्पष्टतः ही समूचे अरबी साहित्य की धारा उस समय नया मोड़ ले रही थी।

अब तक केवल फ्रेंच और अंग्रेज़ी साहित्यों की महत्वपूर्ण कृतियों का ही अनुवाद अरबी में हुआ था, सन् १९२५ के लगभग अन्य यूरोपीय भाषाओं के महान साहित्यकारों की कृतियों के भी अनुवाद किए गए। इस प्रकार दान्ते और गेटे तथा ताल्स्ताय और दास्तायवस्की की विभिन्न विचार धाराओं ने अरबी मस्तिष्कों को भी अधिक विस्तृत और परिष्कृत किया।

सन् १९२६ में ही कैरो विश्वविद्यालय की स्थापना से वहाँ लैटिन और ग्रीक की पढ़ाई भी शुरू की गई। यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों से प्रकाण्ड विद्वान बुलाए गए। साथ ही यहाँ से भी विद्यार्थियों को यूरोप और अमेरिका में अध्ययन के लिए भेजा गया। इस प्रकार अरबी देशों के अब तक के बन्द दरवाज़े प्रगतिशील और आधुनिक विचारों के आवागमन के लिए पूरी तरह से खोल दिए गए।

१९२५ के बाद के अरबी साहित्य को इस व्यापक पृष्ठभूमि के बिना समझना सम्भव नहीं है।

इन पिछले पच्चीस वर्षों में अरबी साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की है, इसका एक प्रमाण यूरोपीय विद्वानों की इस ओर बढ़ती अभिरुचि है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक अरबी के केवल प्राचीन साहित्य को ही अध्ययन-योग्य समझा जाता था, किन्तु इधर गिब्ब जैसे विद्वानों ने आधुनिक अरबी साहित्य के मूल्यांकन का भी प्रशंसनीय कार्य किया है।

यह प्रगति गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानियाँ तथा आलोचना के क्षेत्र में विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रही है।

गद्य को एकदम आधुनिक देन तो नहीं कहा जा सकता, पर उसके विभिन्न आधुनिक अंग-उपांगों का प्रचलन प्राचीन समय में नहीं था। हालांकि गद्य की पुस्तकें प्राचीन अरबी साहित्य में भी थीं, पर वे केवल इतिहास, विज्ञान, दर्शन और आलोचना तक ही सीमित थीं, उसमें रचनात्मक साहित्य का नितान्त अभाव था। आज गद्य की लोकप्रियता बहुत कुछ अंशों में कविता की प्रगति पर भी हावी हो रही है। पत्रकार-कला, साहित्यिक निबन्ध, उपन्यास और छोटी कहानियाँ आधुनिक गद्य के ही वरदान हैं। इनकी बहुलता और लोकप्रियता सर्वथा आधुनिक है।

प्राचीन अरबवासी थियेटर के महत्व और उसकी रूपरेखा हृदयंगम करने में असमर्थ रहे थे। वे ग्रीक ट्रैजेडी और कॉमेडी के अर्थ को भी पूरी तरह नहीं

समझ सके थे। आधुनिक काल में फ्रेंच और अंग्रेज़ी नाटकों के सफ़ल अनुवाद किए गए। वैसे चॉकि ने भी एक पद्यात्मक नाटक की रचना की और उसकी परंपरा को अजीब आबजा ने अपने काव्यात्मक नाटकों द्वारा आगे बढ़ाया जो जनता द्वारा प्रशंसित भी हुए, किन्तु आधुनिक अर्थ में अरबी थिएटर के जन्मदाता तौफीकउल् हकीम हैं। इनका सर्वप्रथम नाटक "द केवर्न पीपुल" सन् १६३३ में प्रकाशित हुआ। किन्तु आज के शक्तिशाली नाटककारों में नगीबउल् रेहानी अग्रगण्य हैं, जिनमें मोलियर की प्रतिभा और सूझ-बूझ है। इनकी कॉमेडियों का व्यंग्य चुटीला और भाषा चुस्त होती है।

उपन्यास आज के अरबी साहित्य का सर्वाधिक लोकप्रिय अंग है। सर्वप्रथम सन् १६१४ के पूर्व प्रकाशित हुसैन हैकल के उपन्यास "जैनब" का नाम उल्लेखनीय है जिसमें मिस्र के ग्रामीण जीवन को चित्रित किया गया है। किन्तु 'जैनब' की परम्परा पनप नहीं सकी। इसकी अपेक्षा जनता ने पाश्चात्य उपन्यासों के अनुवादों को अधिक पसन्द किया। आज के उपन्यासकारों में मुहम्मद तैमूर सर्वश्रेष्ठ हैं जो स्पष्टतः ही मोपासाँ से प्रभावित हैं। इनके उपन्यासों में मिस्र के जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त अब्बास अल् अक्काद ने अपने उपन्यास "साराह" में प्रेम के मनोवैज्ञानिक पक्ष का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। इब्राहीम अल मजनी और ताहा हुसैन के नाम भी चोटी के उपन्यासकारों में आते हैं। ताहा हुसैन के उपन्यासों में "कारवाँ की पुकार" और "अदीब" अधिक प्रसिद्ध है।

उपन्यास की इस सर्वाधिक लोकप्रियता के बावजूद अरबी साहित्य के ये प्रतिनिधि लेखक उपन्यास सृजन में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का जागरूक उपयोग नहीं कर सके। उनका मन इस क्षेत्र में रमा नहीं। यह स्वाभाविक ही था कि आधुनिक जीवन की अनिश्चितता और साहित्यिक मूल्यों की अस्तव्यस्तता उनका अधिक ध्यान आकर्षित करती। फलतः वे आलोचना की ओर अधिक मुड़े, फिर चाहे वह साहित्यिक क्षेत्र में हो या धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक क्षेत्रों में। पूर्वी और पश्चिमी मूल्यों के इस संघर्ष काल में, संक्रांति काल के इस डाँवाडोल और अराजक वातावरण में, यही अपेक्षित भी था।

यह स्वीकार करना पड़ता है कि वर्तमान अरबी साहित्य की इस अभूतपूर्व, चतुर्दिक् प्रगति के बावजूद आधुनिक कविता प्राचीन काव्य की ऊँचाइयों को अभी नहीं पा सकी है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि आज का लेखक अभी तक आधुनिक जीवन के नवीन तत्वों को अपने समग्र रूप में आत्मसात् नहीं कर सका है। उसकी भावनाएँ और विचार आधुनिक जगत् में पूरी तौर से घुलमिल नहीं सके हैं। किन्तु यह निश्चय है कि अरबी कविता प्रगति के पथ पर सुदृढ़ कदमों से अग्रसर हो रही है। और आशा की जा सकती है कि निकट भविष्य में ही वह अपने विगत गौरव को फिर से प्राप्त कर लेगी।

—मूल : ताहा हुसैन

—संक्षिप्त रूपांतर : शरद् देवड़ा

४१ ए ताराचन्ददत्त स्ट्रीट,
कलकत्ता

सबसे महँगा

ईटन और विंचेस्टर दोनों स्कूलों की फ़ीस बहुत अधिक है। ईटन के स्कूल की फ़ीस ४१३ पाउंड प्रति वर्ष है और विंचेस्टर के स्कूल की फ़ीस ३१७ पाउंड प्रति वर्ष है। इन दोनों से भी महँगा स्कूल मिलफ़ील्ड है। इनमें ३०० लड़के पढ़ते हैं जिनमें कुछ लड़कियाँ हैं। इसमें व्यय ४३५ से ६६० पाउंड प्रति वर्ष है।

—"ईवनिंग स्टैण्डर्ड"

स्वेज़ नहर की समस्या

दोनों महायुद्धों के सूत्रपात के कारण अगस्त का महीना मानव के लिए अत्यन्त भयानक कहा जा सकता है। इस वर्ष भी इसी मास में स्वेज़ की समस्या के कारण विश्व के सिर पर महायुद्ध की घटाएँ मंडराती सी दीखने लगी इंग्लैण्ड तथा फ्रान्स और उनके उत्तर में मिस्र तथा अरब राष्ट्रों में ऐसी सैनिक हलचलें प्रारंभ हो गईं, जैसा कि महाभारत का उद्योग पर्व ही प्रारंभ हो गया हो। लन्दन के स्वेज़ सम्मेलन से आशा की गई थी कि ये घटाएँ कुछ तितर बितर हो जाएँगी। निश्चित रूप से वह तो पूरी नहीं हुई किन्तु कुछ समय के लिए घोर अनिष्ट अवश्य टल गया। यह अब भी नहीं कहा जा सकता कि मानव के भाग्यों में क्या बदा है ?

३४०० वर्ष पुराना अस्तित्व : मानव और प्रकृति के संघर्ष की कहानी बहुत पुरानी है। प्रकृति की कृपा पर निर्भर न रह कर उसने उस पर विजय पाने का जब प्रयत्न प्रारंभ किया तब उसकी सभ्यता और संस्कृति ने विकास की आँखें खोलीं और विकास व प्रगति का यह क्रम तभी से निरन्तर जारी है। इसलिए प्रकृति को बाँधने वाले नहर और बाँध भी प्रगतिशील मानव की निरन्तर विकसित होने वाली सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक कहे जा सकते हैं। स्वेज़ नहर का सदियों वर्ष पुराना इतिहास मानव की विकासशील संस्कृति के साथ जुड़ा हुआ है। पश्चिम के जो लोग पूर्व की संस्कृति को बहुत पुराना न मान कर यूरोप को ही उसके विकास का श्रेय देते हैं उनके लिए स्वेज़ की इस नहर का पुराना इतिहास एक चुनौती है। कम से कम ईसा से १५०० वर्ष पहले के समय के साथ उसका इतिहास जुड़ा हुआ है। तब मिस्र की सभ्यता का सितारा बहुत बुलन्द था और सभ्यता व संस्कृति का चारों ओर बोलबाला था। उस समय के मिस्री राजा रामसस ने इस नहर का पहली बार निर्माण करवाया था। मिस्र की प्रमुख नदी नील दक्षिण से उत्तर की ओर बहती है, अपने साथ बहुत-सा रेत बहा लाती है और वह रेत इस नहर को समय समय पर भरता रहा है। मिस्र की संस्कृति के सितारे के अस्त होने के साथ नील ने स्वेज़ को भी अपनी रेत से भर दिया।

मिस्र के बाद ईरान का सितारा बुलन्द हुआ। डैरियस जिसको दारा भी कहा जाता है ईरान का महाप्रतापी सम्राट् हुआ। उसका शासन काल ईसा से लगभग ५०० वर्ष पहले का है। मिस्र पर अधिकार कर लेने के बाद उसका ध्यान स्वेज़ नहर के पुनर्निर्माण की ओर आकर्षित हुआ। मिस्री राजाओं ने रेत से भरी हुई नहर को फिर ठीक करवाया और उसको समुद्री यातायात के लिए चालू किया। ईरान की सभ्यता का भी कालान्तर में ह्रास हो गया। तब ईसा की छठवीं सदी में हज़रत मुहम्मद साहब के प्रादुर्भाव के साथ सभ्यता का सूर्य अरब में प्रगट हुआ। उनके बाद तीसरे ख़लीफ़ा हज़रत उमर ने मिस्र पर अधिकार कर उस प्रदेश की उन्नति और प्रगति पर विचार किया तो उनके सामने इस नहर के पुनर्निर्माण का प्रश्न उपस्थित हुआ। उसको नील नदी की रेत ने फिर भर दिया था। हज़रत उमर ने उसका पुनर्निर्माण करा कर उसको चालू किया। यह भी कहा जाता है कि यूनान के टालमी (ईसा से २६० वर्ष पूर्व) राजाओं का भी ध्यान इस नहर की ओर गया था और उन्होंने भी उसकी खुदाई करवा कर उसको चालू करवाया था। इस प्रकार उसके निर्माण में मिश्र, ईरान, यूनान और अरब के उन सभी देशों का हाथ रहा है जिनमें सभ्यता और संस्कृति का प्रकाश समय समय पर फैलता रहा है।

वर्तमान निर्माण : यूरोप के देशों में सभ्यता के विकास की कहानी बहुत पुरानी नहीं है। इसीलिए स्वेज़ के वर्तमान निर्माण की कहानी भी अधिक पुरानी नहीं है। १७९२ ई० के लगभग यूरोप में फ्रांस का बोलबाला था और नेपोलियन बोनापार्ट का आतंक चारों ओर छाया हुआ था। मिश्र पर भी उसने अधिकार कर लिया था। तब उसका ध्यान स्वेज़ नहर के पुनर्निर्माण की ओर आकर्षित हुआ। उसके साथ गए हुए इंजीनियर चार्ल्स लैपरे ने नहर बनाने की सम्भावनाओं का अध्ययन किया और एक रिपोर्ट तैयार की। अंग्रेज़ उसके प्रति

द्वन्द्वी थे। उन्होंने उसके प्रयत्न सफल न होने दिए। १८५४-५५ में अंग्रेज़ों ने भी प्रयत्न किया और वे सफल न हो सके। अन्त में एक फ्रांसीसी को ही उसके पुनर्निर्माण का यश प्राप्त हुआ। इस यशस्वी फ्रांसीसी का नाम है फर्डिनेण्ड डीलेसेप्स, जो काहिरा में फ्रांसीसी राजदूत था। वहां से अवसर प्राप्त करने पर १८५४ में उसने चार्ल्स लैवर की रिपोर्ट को देखा और १८५६ में नहर बनाने का ठेका लेकर एक कम्पनी खड़ी कर ली। उसके आधे हिस्से हाथों हाथ फ्रांस में बिक गए। तब मिस्र टर्की के आधीन न था। टर्की के मिस्र स्थित वायसराय से अनुमति प्राप्त करने में कुछ समय लग गया; क्योंकि तब भी इंग्लैण्ड फ्रांस का प्रतिद्वन्द्वी था। दोनों में पूरब में अपना व्यापार और राज्य फैलाने में होड़ लगी हुई थी। इसलिए वह फ्रांस को उसके निर्माण का श्रेय प्राप्त नहीं होने देना चाहता था। अन्त में सईद पाशा से लेसेप्स ने उसके निर्माण की अनुमति प्राप्त कर ली। १८५९ में उसने खुदाई का काम शुरू किया; परन्तु उसको कदम कदम पर कठोर विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ा। सईद पाशा ने हज़ारों मज़दूर बेगार में काम करने के लिए नहर पर लगा दिए, जिनको काम के लिए केवल खाना दिया जाता था। १८६३ में उनकी मृत्यु हो गई और इस्माईल पाशा प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन हुए। उनका लेसेप्स के साथ मतभेद इतना तीव्र हो गया कि उन्होंने अपने सारे मज़दूर काम पर से हटा लिए और २० लाख डालर हरजाना भी कम्पनी को दे डाला। काम बीच में रुक गया परन्तु लेसेप्स निराश नहीं हुआ उसने फ्रांस जाकर कम्पनी के और हिस्से बेच कर आवश्यक धनराशि जमा की। उसकी कठिनाइयों का इतने से ही पता चल जाता है कि नहर के निर्माण में १,२०,००० मज़दूरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। शायद ही किसी और योजना के लिए इतना बड़ा बलिदान हुआ हो।

मिस्र और स्वेज़ नहर पर इंग्लैण्ड के डोरे : इंग्लैण्ड को वह अवसर हाथ लग गया जिसकी ताक में वह था। एक ओर उसने मिस्र पर डोरे डाले और दूसरी ओर नहर पर। कम्पनी को २० लाख डालर हरजाना देने से मिस्र की आर्थिक स्थिति बहुत कमज़ोर हो गई। उसने इस संकट में इंग्लैण्ड की ओर देखा और इंग्लैण्ड ने उसको अपने आर्थिक जाल में फंसा लिया। और अपने खज़ाने से ३९,७६,५८२ पौंड देकर कम्पनी के १,७६,६०२ हिस्से भी सन् १८५७ ई. में कम भाव में ख़रीद लिए। इनमें मिस्र के खदीव के हिस्से भी शामिल थे। अब बढ़ते बढ़ते इंग्लैण्ड के इन हिस्सों की संख्या पंजीकृत १,९६,०३४ तथा साधारण १,५७,४७० तक पहुँच गई है। कम्पनी का पंजीकरण मिस्र में हुआ है परन्तु उसका केन्द्रीय कार्यालय पेरिस में है। शुरू में पांच पांच सौ फ्रेंक के चार लाख हिस्से निकाले गए थे। २ लाख हिस्से फ्रांस के लोगों में बिक गए। ९६ हज़ार टर्की ने लिए और ८५,५०६ हिस्से मिस्र के खदीव ने लिए थे। कम्पनी के हिस्सों की संख्या इस समय ८,००,००० है। इनमें से ३,५४,२०४ हिस्से इंग्लैण्ड के पास हैं जो कि कुल हिस्सों के ४४ प्रतिशत हैं। कम्पनी के शुरू में इंग्लैण्ड का उस पर कोई हाथ न था; परन्तु बाद में हिस्से ख़रीद कर वह उसका मुख्य संचालक बन गया। इसका एक कारण यह भी है कि इंग्लैण्ड के सारे हिस्से सरकार ने राजकीय कोष में से रकम देकर खरीदे और बाकी देशों के लोगों के हिस्से व्यक्तिगत है। निहित राष्ट्रीय हित की दृष्टि से इंग्लैण्ड का स्वार्थ सर्वोपरि है।

नहर का उद्घाटन : १८६९ में नहर का वर्त्तमान कालीन निर्माण पूरा हो गया। और १६ नवम्बर को ६९ जहाज़ों के प्रवेश से उसका उद्घाटन किया गया। नहर वस्तुतः १०३ मील लम्बी २०० फुट चौड़ी और ३४ फुट गहरी है। उसमें दो बड़ी झीलें और कुछ खाड़ियाँ भी शामिल हैं। दो बड़ी झीलों में से एक का नाम तिस्मा और दूसरी का कुड़वी झील था। इन्हीं झीलों को मिला कर लाल सागर को भूमध्यसागर से मिलाया गया है। १९१४ में इसकी चौड़ाई को बढ़ा कर इतना कर दिया गया कि दो जहाज़ दोनों दिशाओं से आसानी से एक साथ आर पार हो सकते हैं। उनको इसको पार करने में लगभग १२-१३ घण्टे लगते हैं। उत्तर में पोर्ट सईद और दक्षिण में स्वेज़ नाम के बन्दरगाह हैं।

नहर का महत्व : इस नहर का महत्व आर्थिक, व्यापारिक और सामरिक सभी दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसके बन जाने से यूरोप के जहाज़ों के लिए लगभग ४००० और अमरीका के जहाज़ों के लिए न्यूयार्क से लगभग [illegible] मील का रास्ता कम हो गया; क्योंकि

उनकी अफ्रीका के नीचे गुड होप अन्तरीप का पूरा चक्कर लगा कर आना जाना पड़ता था। १९५१ में नहर के मार्ग से ११६६४ छोटे बड़े जहाज़ आर पार आए गए थे। जिन पर आठ करोड़ टन से अधिक का माल भिन्न भिन्न देशों को ले जाया गया था। १९५४ में नहर से हुई कुल आमदनी ९,२७,३०,५७४ पौंड थी और खर्च ४,३२,०८,१७१ पौंड था और बचत ४,९५,२२,४०३ पौंड थी। १९५५ में कुल आय ९,८६,८२,४४२ पौंड हुई। खर्च ५,२२,९७,५८४ पौंड हुआ। बचत ४,६३,८४,८५८ पौंड रही। कम्पनी के डायरेक्टरों में १६ फ्रांसीसी, ९ अंग्रेज़, ५ मिस्री, १ डच १ संयुक्त राष्ट्र अमरीका के हैं।

आस्वान बाँध : मिस्र को जिस आस्वान बाँध के निर्माण के लिए स्वेज़ का राष्ट्रीयकरण करना पड़ा है, वह सम्भवतः विश्व की सबसे बड़ी बाँध योजना है। उसकी लम्बाई ३ मील और ऊँचाई ३६५ फ़ीट होगी। उससे ७५० वर्ग मील की एक बड़ी झील बना कर ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जाएगी और साढ़े सात लाख किलोवाट बिजली भी पैदा की जाएगी। १९०२ में भी इस बाँध को बनाया गया था। उसकी लम्बाई केवल ३०७ फ़ीट है जो नहीं के बराबर है। आस्वान प्रदेश की आबादी २,९०,८४२ है। न केवल इस प्रदेश को किन्तु सारे ही मिस्र को इस बाँध से बड़ा लाभ मिलेगा। लम्बे रेशे की रूई पैदा करने में अमरीका के बाद मिस्र का स्थान है। इस बाँध के निर्माण से इसकी उपज में आशातीत प्रगति हो जाएगी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न मिस्र की निरन्तर बढ़ती हुई आबादी का है। मिस्र का अधिकांश भाग रेगिस्तानी होने से जितना चाहिए उतना उपजाऊ नहीं है। यह योजना उसके जीवन मरण की समस्या के साथ जुड़ी हुई है। ऐसे विशाल 'बाँध का निर्माण अकेला मिस्र अपने साधनों से नहीं कर सकता था। इसलिए उसने विदेशी सहायता से उसके निर्माण की योजना बनाई। उसका कुल खर्च १३०० मिलियन कूता गया। इसमें ९०० मिलियन का प्रबन्ध मिस्री मुद्रा में और शेष रक़म का विदेशी मुद्रा में करना था। १६ दिसम्बर १९५५ को संयुक्त राष्ट्र अमरीका और इंग्लैण्ड की सरकारों ने उसके लिए क्रमशः ५६० लाख डालर और १५० लाख पौंड की सहायता देने की घोषणा की थी। विश्व बैंक ने भी २० करोड़ पौंड की रकम उधार देने का आश्वासन दिया था। इन रकमों से विदेशी मुद्रा की प्रारंभिक आवश्यकता बहुत अंशों में पूरी हो जाती। १९ जुलाई १९५६ को अमरीका और इंग्लैण्ड दोनों एकाएक अपने वायदे से मुकर गए और विश्व बैंक ने भी कर्ज़ देने से इन्कार कर दिया। इंग्लैण्ड ने १५० लाख डालर अपने पास से नहीं देने थे मिस्र का उस पर इतना पौंड पावना निकलता था, जो कि वह उसको दे रहा था।

इन्कारी के कारण : "न्यूयार्क टाइम्स" के एक संवाददाता ने यह ठीक ही लिखा है कि अमरीका को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से अपने निश्चय को बदलना पड़ा। राष्ट्रीय कारण कांग्रेस का विरोध था। उस विरोध का कारण था इजराइल का असन्तोष और मिस्र में बड़े रेशे की रुई के उत्पादन की वृद्धि की सम्भावना। वैसे अमरीका के परराष्ट्र विभाग की ओर से यह कहा गया है कि परिस्थिति में कुछ ऐसे स्पष्ट परिवर्तन हो गए हैं, जिनके कारण बांध के निर्माण में सहायता करना सम्भव नहीं रहा है। मिस्री राजदूत डा० अहमद हुसैन तो श्री डलेस से मिल कर उनको यह सूचना देने गए थे कि मिस्र उनकी सब शर्तें स्वीकार करने के लिए तैयार हैं: परन्तु वे पचास ही मिनट बाद उनका नकारात्मक उत्तर लेकर निराश लौटे। यहूदियों को असन्तुष्ट न करने का रहस्य यह है कि एक ओर उनके राष्ट्र इजराइल के साथ अरब राष्ट्रों का युद्ध अब भी जारी है और उनका नेता है मिस्र। दूसरी ओर अमेरिका में ४० लाख यहूदी रहते हैं। आम चुनावों में उनके मतों की उपेक्षा न डेमोक्रेट कर सकते हैं और न रिपब्लिकन। ये आम चुनाव इस वर्ष के नवम्बर मास में हो रहे हैं।

नहर का राष्ट्रीयकरण : अमरीका और इंग्लैण्ड के इस व्यवहार को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र कैसे सहन कर सकता है? मिस्र के लिए यह प्रश्न उसके स्वाभिमान के अलावा उसकी आर्थिक प्रगति के साथ भी गहरा सम्बन्ध रखता है। इसलिए उसने २७ जुलाई १९५६ को नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी। उसका मुख्यतः तात्कालिक कारण केवल आर्थिक है। इस समय उसके आस्वान बान्ध के निर्माण के लिए विपुल धन चाहिए और वह सिवाय स्वेज़ नहर के

राष्ट्रीयकरण के किसी और साधन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। निस्सन्देह मिस्र की इस कार्यवाही की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया बहुत व्यापक होगी और दूर दूर तक उसका प्रभाव पड़ेगा। मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने यह बिलकुल ठीक कहा है कि स्वेज़ नहर कम्पनी शोषण करने वाली है। स्वेज़ नहर पर अपने अधिकार को क़ायम करने के साथ साथ हम आस्वान बाँध का निर्माण भी करेंगे। उससे हमें १० करोड़ पौण्ड की हर वर्ष आमदनी होगी। उन्होंने यह भी कहा कि स्वेज़ नहर कम्पनी ने एक राज्य में अपना पृथक् राज्य क़ायम किया हुआ है और वह स्थिति अब समाप्त कर दी गई है। मिस्र में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के स्वीकार किए जाने के बाद इतना अधिक लाभ कमानेवाली किसी भी विदेशी कम्पनी के अस्तित्व को सहन नहीं किया जा सकता था। कहने को कम्पनी का पंजीकरण मिस्र में हुआ है। किन्तु उसका प्रधान कार्यालय पेरिस में होने और उस पर नियन्त्रण इंग्लैण्ड का होने से उसको मिस्री कम्पनी नहीं माना जा सकता। विशुद्ध रूप में एक विदेशी कम्पनी है जो हर साल १० करोड़ पौण्ड कमा कर विदेशों को ले जाती है और मिस्र को उसमें से केवल ३० लाख पौण्ड मिलते हैं।

राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया : इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमेरीका राष्ट्रपति नासिर के इस कार्य पर अत्यन्त क्रुद्ध हैं। उन्होंने नहर के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की दुहाई देते हुए उसको अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में रखने की आवाज़ इसलिए उठाई है कि उसका निर्बाध उपयोग सब राष्ट्रों के लिए समान रूप से किया जा सके। वे इसके लिए टर्की की राजधानी इस्तम्बूल में २९ अक्तूबर १८८८ को हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और समझौते की दुहाई दे रहे हैं। इस सम्मेलन में इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, इटली, स्पेन, रूस और टर्की सम्मिलित थे। मिस्र को उस सम्मेलन में इसलिए निमन्त्रित नहीं किया गया था कि वह तब टर्की के संरक्षण में था। उस समझौते में कहा गया था कि -

(१) नहर सब देशों के जहाज़ों के लिए शान्ति और युद्ध के काल में निर्बाध रूप से खुली रहेगी और किसी भी समय इसमें कोई बाधा पैदा नहीं की जाएगी। नहर को कभी भी बन्द नहीं किया जाएगा।

(२) युद्ध के काल में टर्की के युद्ध में सम्मिलित होने पर भी नहर में और उसके आसपास तीन मील में युद्ध सम्बन्धी कोई कार्यवाही नहीं की जा सकेगी। युद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों के जहाज़ भी अविलम्ब नहर में से आर पार हो सकेंगे। अत्यन्त आवश्यकता के बिना वे पोर्ट सईद अथवा स्वेज़ में २४ घण्टे से अधिक नहीं ठहर सकेंगे। नहर में और उसके आस पास युद्ध सामग्री अथवा सेना जहाज़ पर से न तो उतारी जा सकेगी और न लादी जा सकेगी।

(३) कोई भी लड़ाकू जहाज़ नहर में लंगर नहीं डाल सकेगा और बन्दरगाहों में भी किसी राष्ट्र के दो से अधिक लड़ाकू जहाज़ नहीं ठहर सकेंगे। नहर में किसी भी प्रकार की किलेबन्दी नहीं की जा सकेगी।

(४) यह समझौता अन्य राष्ट्रों के पास भेज कर उनसे भी इसके स्वीकार करने के लिए कहा जाएगा।

इस समझौते की दुहाई देने वाले इसके आइने में अपना मुँह नहीं देखते। वे यह भी भूल जाते हैं कि पिछली पौन सदी में इतिहास कितना बदल चुका है और अब भी किस तेज़ी से बदल रहा है। यदि केवल नहर के ही इतिहास को लिया जाए तो इस समझौते का पालन न तो पहले महायुद्ध में किया गया और न दूसरे महायुद्ध में। दोनों ही महायुद्धों में मित्र राष्ट्रों विशेषतः इंग्लैण्ड ने शत्रु राष्ट्रों के लिए नहर का प्रयोग बन्द कर दिया था। टर्की में पहले महायुद्ध के अवसर पर इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह नहर पर आक्रमण कर सकता। फिर भी उसकी सेनाओं ने उस ओर बढ़ने की कोशिश की थी। १९३६ में एबीसीनिया पर इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने जब आक्रमण किया था तब ६ मई को नहर का प्रयोग उसके लिए बन्द कर दिया गया था और इंग्लैण्ड के परराष्ट्र मन्त्री ने स्वीकार किया था कि राष्ट्र संघ की स्वीकृति के बिना वैसा नहीं किया जा सकता था।

इंग्लैण्ड और मिस्र : प्रथम महायुद्ध में १८ दिसम्बर १९१४ को इंग्लैण्ड ने बलात् मिस्र को टर्की से अपने संरक्षण में ले लिया था। युद्ध के समाप्त होने के बाद उस पर जर्मनी, आस्ट्रिया के साथ की गई संधि की मुहर लगा दी गई थी और टर्की के सुलतान को मिस्र में प्राप्त सम्पूर्ण अधिकार इंग्लैण्ड ने अपने हाथ में ले लिए थे। नौसेना की संधि द्वारा टर्की ने भी उस संधि की पुष्टि कर दी थी। फरवरी १९२२ में इंग्लैण्ड ने

मिस्र को स्वतन्त्र कर दिया। १९३६ की संधि द्वारा यह स्वीकार किया गया कि स्वेज़ नहर मिस्र का अविभाज्य अंग है। परन्तु उसकी संरक्षा का भार इंग्लैण्ड ने मिस्र के सहयोग से अपनी ही हाथों में रखा। यह संधि २० वर्षों के लिए की गई थी। उसके अनुसार १९५६ में स्वतः ही इंग्लैड की सेनाओं को वहाँ से हट जाना चाहिए था। परन्तु २७ जुलाई १९५४ और १९ अक्तूबर १९५४ को नई संधियाँ की गई, जिसके अनुसार अंग्रेज़ी सेनाओं ने बीस मास में नहर को ख़ाली कर देना स्वीकार कर लिया। यद्यपि १९४७ में ही मिस्र के नगरों से अंग्रेज़ी सेनाएँ हटा दी गई थीं; फिर भी ७३,००० अंग्रेज़ी सैनिक नहर पर तैनात रखे गए थे। केवल ८,००० को छोड़ कर उन सब को इस संधि के अनुसार हटा लिया गया। जो सैनिक वहाँ रह गए थे उनका खर्च ४० लाख पौंड से कम नहीं था। वे भी २० जून १९५६ को हटा लिए गए। इस संधि में यह भी स्वीकार किया गया था कि नहर का प्रयोग सभी राष्ट्रों के लिए समान रूप से खुला रखा जाएगा और टर्की, मिस्र अथवा किसी भी अरब राष्ट्र पर हमला होने पर अंग्रेज़ सेना फिर से नहर में आ सकेगी। इस प्रकार स्वेज पर निरन्तर मिस्र का अधिकार स्वीकार करने और स्वतः वहाँ से हट जाने पर भी मिस्र के राष्ट्रीयकरण पर इतना बावेला मचाना क्या अर्थ रखता है? मिस्र ने यह स्वीकार किया है कि हिस्सेदारों को उनके हिस्सों की पूरी क़ीमत चुका दी जाएगी और नहर का उपयोग सब राष्ट्रों के लिए समान रूप से निर्बाध बना रहेगा। परन्तु इंग्लैण्ड का पाप स्वयं उसको खा रहा है। उसने स्वयं पिछले दोनों महायुद्धों में उसके उपयोग को निर्बाध नहीं रहने दिया। मिस्र ने भी १९४८ में इज़राइल के साथ अरब राष्ट्रों का युद्ध छिड़ने पर उसका निर्बाध उपयोग उसके लिए बन्द कर दिया था और इज़राइल जहाज़ों की वहाँ से गुजरते हुए तलाशी ली जाती थी। १९५१ में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने उसका विरोध किया परन्तु मिस्र ने उस पर ध्यान नहीं दिया।

स्वेज़ और पनामा : अमरीका की पनामा नहर की स्थिति भी स्वेज नहर के समान है। परन्तु उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के उस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा रहा जिसका प्रतिवादन स्वेज़ नहर के लिए किया गया है। द्वितीय महायुद्ध में अमरीका के शामिल होने पर पनामा में स्थित शत्रु देशों के सारे जहाज़ ज़ब्त कर लिए गए थे और उसमें उनका आना जाना रोक दिया गया था। जो बात अमरीका स्वयं स्वीकार नहीं कर सकता उसको मिस्र के सिर पर मढ़ा जा रहा है। पनामा नहर के लिए यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि जिस युद्ध में अमरीका शामिल होगा उसके लिए पनामा नहर की तटस्थता स्वीकार नहीं की जाएगी और अमरीका के शत्रु देशों के लिए उसका प्रयोग बन्द कर दिया जाएगा। मिस्र यदि कालान्तर में इस सिद्धान्त को स्वेज़ नहर पर लागू करता है, तो किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए?

कुछ और गम्भीर कारण : अमरीका और इंग्लैंड के अपने वायदे से मुकरने के कारण केवल इज़राइल का असंतोष और मिस्र का रूई के बाज़ार में, अमरीका का प्रतिद्वन्द्वी बनने की संभावना ही नहीं हैं, अपितु कुछ और भी कारण है, जो कि उनसे कहीं अधिक गम्भीर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शतरंज की निशान पर जो चालें बड़ी तेज़ी से चली जा रही हैं पिछले कुछ समय से अरब तथा मुस्लिम राष्ट्र उसके प्रमुख क्षेत्र बने हुए हैं। बग़दाद की सैनिक संधि से इंग्लैण्ड ने उनकी दो मार्गों में बांटकर ईराक को मिस्र के मुक़ाबल में खड़ा करने का प्रयत्न किया है। यह उल्लेखनीय है कि अमरीका और इंग्लैण्ड में जब अपने वायदे से इनकार किया तब ईराक के बादशाह फैज़ल इंग्लैण्ड पहुँचे हुए थे और जिस समय इंग्लैण्ड ने अपने निश्चय की घोषणा की, उससे कुछ ही समय पहले उनके सम्मान में इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री द्वारा एक भोज दिया गया था। कहा तो यह जाता है कि उस भोज के अवसर पर ही इस बारे में आवश्यक परामर्श किया गया था और उसके तुरन्त बाद मन्त्री मण्डल की बैठक की गई; एक प्रेस सम्मेलन में इस निश्चय की घोषणा की गई। यह स्पष्ट है कि बग़दाद संधि के राष्ट्रों को मिस्र की इतनी बड़ी सहायता किया जाना पसन्द नहीं था। दूसरी ओर इस संधि के कारण अरब राष्ट्रों को इंग्लैण्ड और अमरीका की नीयत में सन्देह हो गया। फ़िलस्तीन के विभाजन के कारण वे पहले ही बहुत असन्तुष्ट थे। उनका झुकाव रूस तथा चीन की ओर होना स्वाभाविक था। मिस्र तथा अन्य अनेक अरब राष्ट्रों ने जनवादी चीन को मान्यता देकर उसके साथ राजदूतों का विनिमय किया है। रूसी परराष्ट्र मन्त्री

श्री शेपिलोव की अरब राष्ट्रों की पिछले ही दिनों में की गई यात्रा भी सन्देह से खाली नहीं है। इज़राइल के विरोध पर जब इंग्लैंड और फ्रांस ने मिस्र तथा अरब राष्ट्रों को युद्ध सामग्री बेचने से इनकार कर दिया, तब चेकोस्लोवाकिया ने उनकी वह आवश्यकता रुई आदि कच्चा माल लेकर पूरी कर दी। ईरान के बादशाह की रूस यात्रा और रूस द्वारा ईरान की तेल कम्पनी के अपने सब हिस्सों को ईरान को दे देना भी महत्वपूर्ण घटना है। यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो के साथ कर्नल नासिर की साँठ गाँठ और भारत के साथ मिल कर पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार करना इंग्लैण्ड और अमरीका को पहले ही अखर रहा था। ये सब घटनाएँ अपनी कहानी स्वयं कह रही हैं।

सूडान के मामले में भी इंग्लैण्ड को मुँह की खानी पड़ी। पश्चिमी राष्ट्रों विशेषतः इंग्लैण्ड ने सभी देशों में न केवल भेदनीति किन्तु विभाजन की नीति से भी काम लिया है। आयर, कोरिया, जर्मनी, फिलस्तीन तथा भारत की तरह मिश्र में भी सूडान को उससे अलग करके मिस्र में विभाजन की जिस नीति से काम लिया गया था वह सर्वथा असफल रही और सूडान को मिस्र की प्रतिस्पर्धा में पाकिस्तान की तरह खड़ा नहीं किया जा सका। आशा तो यह की गई थी कि दोनों के मतभेद की खाई में आस्वान बांध की योजना डूब जाएगी। ऐसा नहीं हो सका। फ्रांस के रोष का पारा इसलिए चढ़ा हुआ है कि उत्तरी आफ्रीका में क़दम क़दम पर उसको मुँह की खानी पड़ी है। मोरक्को और ट्यूनीशिया के बाद अलजीरिया भी उसके हाथों में रहने वाला नहीं है। इन सब को मिस्र की सैनिक सहायता चाहे प्राप्त न हो, नैतिक सहायता निश्चय ही प्राप्त है और इन देशों के भागे हुए देशभक्त मिस्र में रह कर अपने यहाँ के आन्दोलनों का संचालन करते रहे हैं। इसी कारण इंग्लैण्ड और फ्रांस मिस्र की राष्ट्रीयकरण की कार्रवाई पर जामे से बाहर हो गए। इसी समय इंग्लैण्ड को साइप्रेस भी अपने हाथ से जाता दीख पड़ता है। अपने डूबते हुए वर्चस्व की भूमध्य सागर में बनाए रखने के लिए इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों की यह अन्तिम उछल कूद है।

एशिया के साथ साथ अफ्रीका भी तेज़ी से करवट बदल रहा है। पश्चिमी राष्ट्रों के लिए अफ्रीकी देशों में अपना प्रभुत्व क़ायम रखना बहुत महंगा सिद्ध हो रहा है। भारत, बर्मा, लंका, हिन्द चीन और हिन्द-एशिया की तरह अफ्रीका के देश भी अगले ही कुछ वर्षों में स्वाधीन हुए बिना न रहेंगे। बांडुग सम्मेलन में प्रकट हुआ उनका रूप विराट् रूप धारण किए बिना न रहेगा। ईरान के तेल के राष्ट्रीयकरण को असफल बनाने के लिए जैसे आकाश पाताल एक किया गया था वैसे ही अब भी करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यहाँ तक कि राजच्युत बादशाह फ़ारूक को फिर से मिस्र में लाने और राष्ट्रपति नासिर को बदनाम करने की चालें भी चली जा रही हैं। परन्तु अब तो लेने के देने पड़ रहे हैं और कर्नल नासिर सेर के बदले सवा सेर सिद्ध हो रहे हैं। जागृत राष्ट्र की प्रबुद्ध चेतना को कोई भी शक्ति दबा नहीं सकती। अरब राष्ट्रों में इंग्लैण्ड और फ्रांस की गीदड़ भभकियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बना कर इसी तथ्य को प्रकट किया है। इंग्लैण्ड, फ्रांस और अमरीका मिल कर भी इस तथ्य को दबा नहीं सकते। यह कहा गया है कि मिस्र को यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय में ले जाना चाहिए था परन्तु यह कौन नहीं जानता कि संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा सुरक्षा परिषद् की स्थिति उस कम्पनी के समान है जिसके मैनेजिंग डाइरेक्टर इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका अपनी साख खो चुके हैं और वे यह भी दिखा चुके हैं कि अपने निहित स्वार्थों के सम्मुख उनको अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय भी मान्य नहीं हो सकता। मिस्र और अरब राष्ट्र जिस नए इतिहास का निर्माण कर रहे हैं उसकी प्रक्रिया को किन्हीं भी राष्ट्रों के बहुमत के दबाव से रोका नहीं जा सकता—यह इंग्लैण्ड में हुए स्वेज नहर सम्मेलन से असंदिग्ध रूप में सामने आ गया है।

४०-ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली

—सत्यदेव विद्यालंकार

मनुष्य की शक्ति अपने सिवाय समस्त क्षेत्रों में बढ़ गई है।

—विन्स्टन चर्चिल

प्रगतिशील कविता : जीवन-संवेदना

छायावाद-युग दो महायुद्धों के बीच का काल-वृत्त है। अपनी सीमाओं के भीतर यह युग व्यक्तिवादी जीवन-चेतना की विभिन्न सीमा-रेखाओं से छिपा हुआ है। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरोध में उभरनेवाली यह काव्य-चेतना मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद से उत्प्रेरित ही नहीं, बल्कि उसी के सामाजिक परिवेश की भावाभिव्यंजना भी है। मध्यवर्गीय व्यक्ति-मन का विद्रोह, जहाँ भी सजग और सचेत होकर फूट पड़ा है, कविताओं में दृढ़ता का भास होने लगता है। लेकिन अधिकतर रचनाओं में एकाकी संघर्ष और तज्जन्य पराजय, अवसाद, कुण्ठा और निराशा को स्वर मिला है। सचाई तो यह है कि कुछेक रचनाओं को छोड़ कर छायावाद की कविता शतखंड अहंता की जागृत वाणी के रूप से दीख पड़ती है। प्रायः सभी कवियों ने मिलेजुले रागबोध के सहारे छंदों को शतमुख बनाया है, शतरव भरने का यत्न किया है। लेकिन छायावाद-युग के पीछे कोई सामाजिक कारण कार्य-रत दीख पड़ता है। द्विवेदी-युग की गतानुगतिक प्यूरिटन नैतिकता के प्रति छायावाद एक प्रकार का विद्रोहमूलक कम्बुघोष है।

छायावाद-युग के कृतित्व में जो स्वस्थ सामाजिक तत्त्व उभर रहे थे, प्रगतिवादी उन्हीं तत्त्वों का एक निश्चित दिशा में विकास है। वैयक्तिक जीवन-संघर्ष की अराजकता वादी भाव चेतना को तज कर प्रगतिवाद ने सामाजिक संघर्ष पर बल दिया। निराला और पन्त की कविताओं में जहाँ भी सामूहिक जन-संग्राम को प्रतिबिम्बित किया गया है, उसके दिशा-संकेत पाकर ही प्रगतिवाद ने अपने विकास के दौर में बाज़ी मार ली। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवाद या प्रगतिशील काव्य-साहित्य का जन्म छायावाद के पेट से हुआ। तब यह कहने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता कि छायावाद मर गया या छायावादी काव्य-परम्परा की परिपन्थी है। अपनी पूर्ववर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियों और भावाभिव्यंजना के रूप-विधानों की संचित विरासत का सहारा पाकर ही प्रगतिवाद आगे आया।

हिन्दी के समीक्षा-साहित्य में इस बात की हवा ज़ोर पर है कि प्रगतिवाद को पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा से काट कर देखना चाहिए, कि उसकी समस्त रागचेतना विदेशी उपज है। प्रगतिवाद को कम्यूनिस्ट या मार्क्सीय विचारसरणियों की काव्यात्मक अनुगूँज मानने की भी बात बहुत हो चुकी है। कुछेक विरोधी आलोचकों ने प्रगतिवाद के महत्व को गडमड करने के विचार से, उसे परम्परा विरोधी स्वस्थ जीवन तत्त्वों की विपरीत दिशा में रख कर उभारा है। कुछ लोग इस बात के पक्ष में हैं कि प्रगतिवाद भारतीय समाज की ऐतिहासिक आवश्यकताओं की उपज नहीं होने के कारण युग-वास्तव को प्रतिबिम्बित नहीं कर सका है। इन सारे वाग्जालों और थोथी दलीलों के भीतर सबसे बड़ी सचाई यह है कि प्रगतिशील काव्य-साहित्य के विरोधी आलोचकों की मति मारी गई है और अपनी कुण्ठावादी आलोचना-पद्धति के सहारे वे अपनी-अपनी तीखी गुहार प्रकट करते हैं। प्रगतिशील कविता में नई पीढ़ी की अपराजेय मानवता का जीवन-दर्प मुखर हुआ है। नई पीढ़ी की जन-चेतना को स्वर देने के लिए प्रत्येक तरुण कवि अपनी अनटूटी आस्था के बोल छंद के टप्पे पर ढालता है :

कोई चाहे या न चाहे
धूल की इस ज़िन्दगी को
फूल-सा खिलना पड़ेगा!
—केदारनाथ अग्रवाल

राह यह ज़िन्दगी की एक पल रुकना न होगा
देख सीमाहीन पथ को बीच में थकना न होगा!
—महेन्द्र भटनागर

छल का राज न चल पायेगा
जल का दिया न जल पायेगा!
—शील

प्रगतिशील रचनाओं की भाव-व्यंजना में अब काफ़ी प्रौढ़ता आ गई है। जीवन के गतिशील तत्वों को उभारने वाले रंग और रूपचित्रों की कला प्रगतिशील कवियों के हाथों निखर रही है। निर्माण, सृजन और

जन-भविष्य के सुहावने सपनों के बोल प्रगतिशील रचनाओं के कृतियों में जी रहे हैं। पिछले दो दशकों के जन-आन्दोलन की अनटूटी संघर्ष-परम्परा ने कइयों के हाथ में पड़ कर भिन्न-भिन्न छविरूप ग्रहण किए हैं। जन-भविष्य के संघर्ष-मूलक छवि-संकेतों को उरेहने की खातिर केदार अग्रवाल की गीति-रचनाओं में नया ही निखार लख पड़ता है। मूल वृत्त में भी लय-वैविध्य और नई व्यंजना-शक्ति के सहारे मानवता के पीड़ा भरे कारुणिक जीवन-रूपों का चित्र अपनी मार्मिकता में बेजोड़ है। उनका एक गीत :

"दीन की न बीन बजी, हीन की न बाँसुरी
बीन बजी बीन बजी, दीन बनी आसुरी
तीर भी अधीर और नीर भी अधीर है
कंज की कली खड़ी तड़ाग में उदास है
कोस में न गन्ध है पराग है न हास है!"

—केदारनाथ अग्रवाल

कुछ ऐसे ही; किन्तु अपनी गँवई विशेषता से युक्त चित्र डा० रामविलास शर्मा ने भी अंकित किए हैं। महाकवि निराला को लोक-समाज के कारुणिक जीवन का टाइप बना कर रामविलास ने कितनी मार्मिकता उभार दी है, जो कल-कल करती हुई आँखों में भी नहीं मिलती :

"पैरों की कठिन बिवाई, करती नहीं हुगार
आँखों में आँसू, दुख से खुलते नहीं अधर"

—डा० रामविलास शर्मा

समाजिक जीवन-संघर्ष और तद्गत सम्वेदना से ओतप्रोत चित्रों का अलबम प्रगतिशील काव्य-साहित्य में बड़ी प्रचुरता से दीख पड़ेगा। गँवई जीवन के सामाजिक पात्रों की बहुतायता के लिहाज़ से भी प्रगतिशील कविता भरीपूरी है। केदार अग्रवाल ने ग़रीब बहनों के टाइप के रूप में रनिया का चित्र दिया है :

"रनिया मेरी बड़ी बहन है
बड़ी ग़रीब है बड़ी ग़रीब !"

फिर चित्रकूट के बौड़स यात्री का भी उन्होंने बड़ा सुन्दर रेखाचित्र दिया है। नागार्जुन दुखरन झा की दैनिकी के पृष्ठ खोल कर हमारे आगे उन्हें मूर्तिमान् कर दिया है :

"घुन खाए शहतरों पर बारह खड़ी विद्या ना बाँचे
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे
इसी तरह दुखरन मास्टर गढ़ता जाता आदम के साँचे"

—नागार्जुन

इसी कदर त्रिलोचन ने भी नई प्रगतिशील कविता धारा के बहाव को नया गति-वेग देते हुए कई ग्रामीण पात्रों के चरित्र और जीवनरूप उरेह दिए हैं। अमृतराय ने त्रिलोचन के कविता-संग्रह 'धरती' पर एकदम ठीक रिमार्क दिया है : "त्रिलोचन की धरती में न जाने कि कितनी कविताएँ हैं जिनमें किसान कवि ने अपनी निगाह प्रकृति और समाज के सभी व्यापारों पर डाली है और अत्यन्त सुघड़ भाषा में पूरे छन्दनैपुण्य के साथ उन्होंने निराला की परम्परा को आगे बढ़ाया है। 'धरती' से वास्तव में धरती की सोती खुशबू निकलती है।" धरती में उसकी जो भी रचनाएँ संग्रहीत हैं, उनका युगमूल्य है। उनके इधर लिखे गए सॉनेट उद्धृत करना अच्छा होगा जिनमें संघर्षमूलक जीवन-संवेदना की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है :

"हँस कर गा कर और खेल कर पथ जीवन का
अब तक मैंने पार किया है, लेकिन मेरी
बात और है, ढंग और है मेरे मन का
उसी ओर चलता है जिधर निगाह न फेरी
दुनिया में दुखों ने कितनी आँख तरेरी
लेकिन मेरा क़दम किसी दिन कहीं न अटका
घोर घटा हो वर्षा हो तूफ़ान अंधेरी
रात हो अगर चलते-चलते भूला भटका
तो इससे मेरे संकल्पों को कुछ झटका
लगा नहीं जो गिरता-पड़ता, आगे चढ़ता
है, करता कर्तक, उसे किसका खटका
पग-पग गिन-गिन कर गुरु गिरिशृंगों पर चढ़ता
आभारी हूँ पथ के सब आघातों का
मिट्टी जिनसे वज्र हुई उन उत्पातों का !"

—त्रिलोचन

"घन गरजे जन गरजे !
बन्दी सागर को लख कातर

एक रोष से
घन गरजे जन गरजे !
क्षिति की छाती को लख जर्जर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे !

—केदारनाथ अग्रवाल

इस क़दर ढेर-सी कविताएँ पढ़ने को मिलती हैं, जिनमें आधुनिक हिन्दी कविता का निखरा हुआ रूप दीख पड़ता है ! जीवन-वैविध्य के चित्रण के लिए प्रगतिशील रचनाकारों ने लोक-समाज के विभिन्न भाव-रूपों को अपनाया। ग्रामीण प्रकृति के चित्रण में केदार अग्रवाल, त्रिलोचन, डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन, भवानी प्रसाद मिश्र आदि सिद्धहस्त हैं।

अन्त में एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। कइयों का यह विचार है कि कविता में सामयिकता के आग्रह से प्रचारात्मकता के प्रति आग्रह दीख पड़ता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। केवल वे ही कविताएँ सामयिक विषय-वस्तु को लेकर प्रचारात्मक और नारेबाज़ बन सकती हैं जिनमें संवेदनशीलता का अभाव होता है। जिस कवि की संवेदना जितनी विकसित होगी, सामयिक जीवन का तेज उतनी ही सफलता से उसके कृतित्व में उभरेगा। नागार्जुन ने एक सामयिक घटना पर आधारित कितनी अच्छी कविता लिखी है ! गोली से मरे हुए अपने पति के लिए एक नवयुवती की कारुणिक दशा का चित्र कितना संवेदनशील है :

"भीगी भीगी
सहमी सहमी
दहशत भरी निगाहों के ये दृश्य
भला मैं भूल सकूँगा ?
भूल सकूँगा सिन्दूरित सीमंत लिए उस नवयुवती की
'ईस ईस' की मुखर टीस
घुटती-सी साँसे
घायल नज़रों पर पलकों की पूरी पट्टी
गोरी ग्रीवा की कलियों में भिंचे भिंचे से प्राण !
चंई देह, काँपती कनकलता-सी !"

—नागार्जुन

बरौनी डेवढ़ी,
मुंगेर (बिहार)

—मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह

कला के लिए प्रेरणा

एक दिन प्रसिद्ध संगीतशास्त्री एक प्रसिद्ध चित्रकार मैटिसी से उसके घर पर मिलने गया। उसका घर मैडिटरेनियन के किनारे था। संगीतशास्त्री ने मैटिसी से पूछा : "तुम्हें अपनी कला में किस वस्तु से प्रेरणा प्राप्त होती है ?"

मैटिसी ने उत्तर दिया : "मैं कुछ पौधों को बोता हूँ। प्रतिदिन प्रातःकाल अपने बग़ीचे में जा कर इन पौधों को देखता रहता हूँ। उन पर धूप, छाया से किस प्रकार नए रंगों का मिश्रण होता है - यह सब कुछ मैं देखता हूँ। इससे मुझे प्रेरणा प्राप्त होती है। इसके पश्चात् मैं अपने स्टूडियो में आता हूँ और चित्र बनाता हूँ।"

यदि एक बड़े कलाकार को अपनी कला के लिए पौधों से प्रेरणा प्राप्त होती है तो जीवन की साधारण वस्तुओं से कितनी प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए।

—"यू कैन मास्टर लाईफ़" पुस्तक से

बौद्ध न्याय का पिता—आचार्य दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग की गणना बौद्ध-साहित्य के शीर्षस्थ विद्वानों की कोटि में की गई है। बौद्ध-न्याय के युगद्रष्टा होने के कारण दिङ्नाग का वर्चस्वी-व्यक्तित्व भारतीय दर्शन के क्षेत्र में और विशेषतः मध्यकालीन बौद्ध-दर्शन के निर्माताओं में अद्वितीय है। दिङ्नाग दाक्षिणात्य थे। इनका जन्म तमिल प्रदेश के कांची (कंजीवरम्) के समीप सिंहवक्र नामक ग्राम में हुआ था। तत्कालीन कांची नगरी विद्वानों की प्रसव-भूमि रही है। स्थविरवाद संप्रदाय के आचार्य धम्मपाल, माध्यमिक संप्रदाय के आचार्य चंद्रकीर्ति और योगाचार संप्रदाय के आचार्य धर्मपाल जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानों का जन्म इसी विद्वत्प्रसविनी भूमि में हुआ था। आप एक संभ्रान्त ब्राह्मण परिवार के व्यक्ति थे।

दिङ्नाग के पहले गुरु का नाम नागदत्त था, जिन्होंने इन्हें बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। कुछ दिन बाद सैद्धांतिक मतभेद हो जाने के कारण मठ का परित्याग कर दिङ्नाग उत्तर भारत में चले आये। वहाँ उन दिनों वैभाषिक मत के धुरंधर विद्वान् आचार्य वसुबंधु के पाण्डित्य की प्रबल ख्याति हो रही थी। बसुबंधु का शिष्यत्व प्राप्त करने की अभिलाषा से दिङ्नाग की असामान्य प्रतिभा को देख कर बसुबंधु बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने सहर्ष उनको अपना शिष्य बना लिया। अपने आचार्यपाद के निकट रह कर दिङ्नाग ने हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का मौलिक ज्ञान अर्जित किया। और गुरु की ख्याति के साथ-साथ शिष्य का अद्भुत व्यक्तित्व भी प्रकाश में आने लगा।

आचार्य दिङ्नाग का आविर्भाव गुप्त-काल में हुआ। यह युग बौद्ध-साहित्य का स्वर्णिम-युग कहा जाता है। बौद्ध साहित्य के चतुर्मुखी विकास और सुदूर विदेशों में उसके प्रचार–प्रसार के लिए विद्याप्रेमी तथा विद्वत्सेवी गुप्त सम्राटों ने जो महान् कार्य किए वे अमर हैं और इतिहास में उनके साथ गुप्त-साम्राज्य का यश भी अमर है। आचार्य दिङ्नाग का इतिहास-संमत स्थिति-काल चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का आरंभ है। उड़ीसा आपकी विश्रान्त-भूमि थी और वहीं के अरण्यों में निर्वाणपद प्राप्त कर वे जीवन्मुक्त भी हुए। आचार्य दिङ्नाग के जीवन सम्बन्धी विस्तृत जानकारी का विवरण डा० विद्याभूषण ने अपने इतिहास ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक" में दिया है। दिङ्नाग की शिष्य-परम्परा में धर्मकीर्ति, शांतरक्षित और कर्मशील का नाम उल्लेखनीय है। चीनी परम्परा से विदित होता है कि शंकर स्वामी भी इन्हीं के शिष्य थे। मनोरथ ने धर्मकीर्ति कृत "प्रमाणवार्तिक-वृत्ति" की टिप्पणी करते हुए इस परम्परा का समर्थन किया है।

आचार्य दिङ्नाग की कृतियाँ : आचार्य दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके वर्चस्वी व्यक्तित्व की छाया सभी कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' है। यह ग्रन्थ दिङ्नाग का ही नहीं, वरन् बौद्ध-साहित्य और उससे भी आगे बढ़ कर भारतीय दर्शन का अमर स्मारक है। यह सम्प्रति अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध न होकर एक भारतीय पंडित हेमवर्मा द्वारा अनूदित तिब्बती भाषा में उपलब्ध होता है। आचार्य दिङ्नाग की उद्भट विद्वत्ता और उर्वर मस्तिष्क का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उनके इस महान् ग्रन्थ पर आज तक अधिकारी विद्वानों द्वारा दस प्रमाणित टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं।

'प्रमाण समुच्चय-वृत्ति' आचार्य दिङ्नाग की दूसरी कृति है, जो कि उक्त ग्रन्थ की ही व्याख्या है और जिसकी उपलब्धि तिब्बतीय अनुवाद के रूप में है। 'न्याय-प्रवेश' इनका तीसरा ग्रन्थ है। कुछ समय पूर्व इसकी शंकर स्वामी विरचित बताया जाता था; किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से यह कृति दिङ्नाग की सिद्ध हो चुकी है। सौभाग्य से यह ग्रन्थ अपने मूल रूप संस्कृत में उपलब्ध है और जो गायकवाड़ा ओरिएण्टल सीरीज ग्रन्थांक ३८ में प्रो० ध्रुव द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। चौथे ग्रन्थ 'हेतुचक्र-निर्णय' को श्री दुर्गाचरण चटर्जी ने तिब्बतीय अनुवाद के आधार पर संस्कृत में पुनर्निर्मित किया। इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी निकल चुका है। इनका पाँचवाँ ग्रन्थ

'प्रमाणशास्त्र-न्याय-प्रवेश' तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में सुरक्षित है।

इन कृतियों के अतिरिक्त 'आलम्बन-परीक्षा', 'आलम्बन-परीक्षा-वृत्ति', 'त्रिकाल-परीक्षा' और 'मर्म-प्रदीपवृत्ति' आदि ग्रन्थ तिब्बतीय अनुवाद के स्वरूप में मिलते हैं। दक्षिण-भारतीय-ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'कुंदमाला' नामक उसके सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि के मतानुसार आचार्य दिङ्नाग की कृति निश्चित हुई थी; किन्तु इस सम्बन्ध में अब विद्वान् एक मत हैं कि उक्त नाटक कृति दिङ्नाग की न होकर धीरनाग की हैं, जिनका समय ११ वीं शताब्दी के लगभग था।

आचार्य दिङ्नाग का दार्शनिक दृष्टिकोण : आचार्य दिङ्नाग का दार्शनिक दृष्टिकोण समझने से पूर्व भारतीय न्याय-दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा से परिचित हो जाना आवश्यक है। ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से न्याय दर्शन के दो सम्प्रदाय हैं। अक्षपाद गौतम कृत 'न्याय सूत्र' से पहले सम्प्रदाय का आरम्भ होता है, जिसका विस्तार आगे चल कर वात्स्यायन-भाष्य करता है। यही सम्प्रदाय प्रकृत 'न्याय-दर्शन' के नाम से अभिहित है, जिसमें 'नव्य-न्याय' का भी अन्तर्भाव हो जाता है। दूसरा संप्रदाय वह है जो प्रकृत न्याय दर्शन के बावजूद भी अपनी एक पृथक् परम्परा के निर्माण में सचेष्ट हैं। जैन-न्याय और बौद्ध-न्याय इसी पृथक्-परम्परा का प्रवर्तन करते हुए हमें मिलते हैं। इस परंपरा-पार्थक्य की दृष्टि से समग्र भारतीय न्याय-दर्शन के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए इतिहासकारों ने प्राचीन-न्याय, मध्ययुगीन न्याय और नव्य-न्याय नाम से तीन श्रमिक युगों का निर्माण किया। डा० विद्याभूषण ने इन तीनों युगों की अवधि का ऐतिहासिक माप इस प्रकार दिया :

प्राचीन न्याय—६५० ई. ५० से १०० ई. तक
मध्ययुगीन न्याय—१०० ई. से १२०० ई. तक
नव्य-न्याय—६०० ई.

मध्य युगीन न्याय ही बौद्ध-न्याय के नाम से अभिहित है।

आचार्य दिङ्नाग इसी मध्ययुगीन भारतीय न्याय-दर्शन के पिता हैं। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि न्याय-दर्शन की प्राचीन परम्परा का प्रवर्तक ग्रन्थ महर्षि गौतम अक्षपाद का 'न्याय-सूत्र' है। इस महान् ग्रन्थ के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन आचार्य वात्स्यायन ने अपना विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिख कर किया। वात्स्यायन-भाष्य के बाद न्याय-दर्शन का संक्रान्ति युग आरंभ होता है। इस संक्रान्ति का मूल कारण बौद्ध-न्याय का आविर्भाव है। गौतमीय न्याय और बौद्ध की इस पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप दोनों ओर से मौलिक सिद्धान्तों का दर्शन होता है।

इस सैद्धान्तिक संघर्ष और पारस्परिक होड़ में हम पाते हैं कि आचार्य दिङ्नाग का महत्वपूर्ण भाग है। इस संघर्ष का सूत्रपात महर्षि गौतम और उनसे भी अधिक आचार्य वात्स्यायन ने विज्ञानवाद एवं शून्यवाद पर आक्षेप करके किया। दिङ्नाग ने गौतम और वात्स्यायन के प्रत्यक्ष एवं अनुमिति सम्बन्धी सिद्धान्तों का तीव्र खण्डन अपने कतिपय ग्रन्थों को लिख कर किया। उद्योतकर और कुमारिल ने दिङ्नाग के तर्कों पर घोर आपत्ति की। उद्योतकर के 'न्याय-वार्तिक' का खण्डन और दिङ्नाग के 'प्रमाण-समुच्चय' का मंडन दूसरे बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने किया। इस प्रकार इस खण्डन-मण्डन की परम्परा न्याय-दर्शन के अन्तिम आचार्य गंगेश उपाध्याय (१२ वीं श.) तक बनी रही।

बौद्ध-नैयायिकों के अनुसार व्यक्ति और जाति में, विशेष और सामान्य में तथा द्रव्य और गुण में कोई वैभिन्य नहीं है। इनमें जो कुछ भेद हम करते भी हैं वह बुद्धि कल्पित है, वास्तविक नहीं। संसार में सब कुछ पृथक्-पृथक् है। केवल किसी वस्तु के विषय में 'यह' कहा जा सकता है, उसके नाम जाति, विशेष, सामान्य और गुण की कल्पना अपनी ओर से की जाती है। इसके अतिरिक्त गौतमीय नैयायिकों के अनुसार पदार्थ अपने नाम, गुण आदि के साथ ही विभाषित होता है और उसके विशेषण-विशेष्य भाव सदा बना रहता है और सामान्य की भी स्थिति बनी रहती है। क्योंकि जो कुछ सत् है वह क्षणिक कैसे हो सकता है। उसमें एकत्व और अनेकत्व की अनुभूति सदा बनी रहती है। आचार्य दिङ्नाग शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं। वे प्रत्यक्ष या अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं; जब कि गौतमीय न्याय परम्परा शब्द के स्वतन्त्र सत्ता के प्रबल पक्षपाती है।

क्षणभंगुरवाद प्रायः सभी उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों का सिद्धान्त रहा है; किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे 'स्वातंत्रिक' विज्ञानवादी आचार्यों ने इस

विशेषरूप से प्रख्यायन किया है। दिङ्नाग के मतानुसार द्रव्य, गुण और कर्म विषयक सारा ज्ञान मिथ्या है। जब कि सभी बाह्य पदार्थ क्षणिक है तो फिर उनका ज्ञान कैसे संभव हो सकता है—'क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्।' दिङ्नाग का कहना है कि भूत-भविष्य की प्रपंचजन्य कल्पना ही हमें क्षणिक पदार्थों में स्थिरता की बुद्धि कराती है। वास्तविक वस्तु तो विज्ञान है। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग ने अपने प्रबल तर्कों द्वारा बौद्ध न्याय को सुदृढ़ बनाने में घोर परिश्रम किया।

बौद्ध-न्याय की चिरस्थायी प्रतिष्ठा करने के अतिरिक्त दिङ्नाग ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि बौद्ध-न्याय की जो विच्छिन्न अवस्था थी, उसको गतिबद्ध रूप में व्यवस्थित किया और अपने प्रामाणिक ग्रन्थों द्वारा उसके मार्ग को प्रशस्त भी किया। बौद्ध-न्याय के क्षेत्र में दिङ्नाग की सबसे बड़ी देन यह है कि एक ओर जहाँ उन्होंने ब्राह्मण तार्किकों के चुँगल से उसका उद्धार कर उसको एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व में खड़ा किया; वहाँ दूसरी ओर प्रतिपक्षियों का जमकर मुकाबला भी किया। उन्होंने स्थान-स्थान और नगर-नगर में जा जा कर अपनी विद्वत्ता के बल पर ब्राह्मण-तार्किकों को परास्त किया। नालंदा महाविहार उस समय चोटी के विद्वानों का केन्द्र था। वहाँ आकर दिङ्नाग ने सुदुर्जय नामक ब्राह्मण-तार्किक को शास्त्रार्थ में हराया और अपने प्रचण्ड पाण्डित्य से विद्वन्मण्डली को चकित कर दिया। उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी दिङ्नाग के शास्त्रार्थ हुए। गौतम और वात्स्यायन के दार्शनिक सिद्धान्तों के विपक्ष में उन्होंने बड़ी अजेय उक्तियाँ उपस्थित की। उनका तार्किक बुद्धि का विजय-घोष सारे भारत में गुंजित हुआ और वे 'तर्कपुंगव' उपनाम से कहे जाने लगे।

इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग की जीवनी, उनका कृतित्व और उनके सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के पश्चात् विदित होता है कि उन्होंने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में न्याय-शास्त्र की प्रतिष्ठा करके अपने व्यक्तित्व को अमर बना दिया। आचार्य दिङ्नाग जैसे युग विधायक मनस्वियों के कारण ही बौद्ध-न्याय ने अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व बनाया। इस दृष्टि से बौद्ध-साहित्य में आचार्य दिङ्नाग का नाम स्वर्णिम अक्षरों में उल्लिखित है।

वागीश्वरी भवन, कल्याणीदेवी,
इलाहाबाद

—वाचस्पति गैरोला

इंग्लैण्ड की सब से पुरानी सराय

इंग्लैण्ड में लगभग २० सराय हैं जिन के विषय में यह कहा जाता है कि वे बहुत पुरानी हैं। इन में से एक १२१३ ई. की है परन्तु इससे भी पूर्व की एक दो सरायों का पता चला है। कैण्टरबरी में "दि फ़ाउण्टेन" एक सराय थी। इस सराय में ११२९ ई. में एक जर्मन राजदूत आकर ठहरा था। उसने इस सराय की प्रशंसा में लिखा था: "इंग्लैण्ड की सरायें यूरोप में सर्व श्रेष्ठ हैं और इन सरायों में भी कैण्टरबरी सर्वोत्तम हैं और कैण्टरबरी की सरायों में भी "दि फाउण्टेन" सबसे अच्छी है। मैं अब इसी सराय में रहता हूँ। इस सराय में रहते हुए मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे कि मैं किसी महाराजा के महलों में निवास कर रहा हूँ।"

संभवतः इस प्रशंसा को पढ़ कर सराय के मालिक ने जर्मनी के राजदूत के पास सराय का बिल नहीं भेजा होगा।

इस रिकार्ड को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय भी सरायों में "दर्शकों के लिए पुस्तक रखी जाती थी। कैण्टरबरी की यह सराय अब नष्ट हो चुकी है..."

'दि स्फियर' के एक लेख से

भूपति की एक अप्रकाशित रचना

अब तक लोगों में यह धारणा है कि कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने अपनी रचनाएँ गेय पदों में की और उन्होंने कृष्ण के बाल्यकाल और युवा-काल की क्रीडाओं को ही अपनी रचनाओं का विषय बनाया। हैदराबाद के कुछ पुस्तकालयों में भूपति नाम के कवि की करीब ५५० पृष्ठों की एक ऐसी पुस्तक उपलब्ध हुई है, जो 'रामायण' की तरह दोहा, चौपाई, छन्दों में प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई हैं और जिसमें कृष्ण के योद्धा, राजनीतिक नेता, योगी आदि रूपों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

भूपति के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य के इतिहासकार मौन है। पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन कवियों में राज गुरुदत्तसिंह या भूपति नाम के कवि की 'शृंगार सतसई' नाम की रचना की चर्चा की है और उन्हें अमेटी का राजा बतलाया है। शुक्ल जी के अनुसार 'शृंगार सतसई' की रचना सं० १७६१ में हुई।

प्रस्तुत भूपति की एक रचना, जो दशम स्कन्ध भागवत के नाम से उपलब्ध हैं, उनके अन्तः साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि 'शृंगार सतसई' के रचयिता के समकालीन थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम लेखराज और पितामह का नाम भीखनदास था। भूपति के परपितामह कृष्णदास अपने समय के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे और कृष्ण के बड़े भक्त थे। इन बातों की चर्चा कवि ने 'दशम स्कन्ध भागवत' के प्रारम्भ में की है :

"भूपति जिन हर लीला गाई,
परम पुनीत सदा सुखदाई
ताहि बनायो कायथ जानो,
लेखराज के सुत पहिचानो
तेहि के पिता हरिहिं मन लायो,
भीखनदास नाम जिन पायो
कृष्णदास जो उनके भया,
जिनके मन में बसे कन्हैया
कृष्णदास के सब जग जाने,
जिनके मन कान्ह सो लागे
तिनके वंश जन्म घर आयो,
भगति अंस तिनको पद पायो"

भूपति के गुरू मेघश्याम थे, जो दामोदर के पुत्र और दक्षिण-भारत में तेलंगाने के निवासी थे किन्तु बाद में मथुरा में आकर उन्होंने कृष्णभक्ति का प्रचार किया :

"अब हौं गुरू की महिमा कहौं,
जिन माहीं पूरन पद लहौं
जिनके मेघ स्याम सुभ नाभा,
सुमरित सुनत होत विस्रामा
जिनके पिता भगत पद पायो,
जिन दामोदर नाम धरायो
जिनके वंस जनम उन कीन्हों,
उद्धि अंस हरि उनको दीन्हों
प्रथम तिलंग देस के बासी,
मथुरा बसि के भगति प्रकासी
हरि नागर को नाम सुनायो,
भव सागर ते पार नैंघायो
मेघ स्याम के नाम ते, सुद्ध होत सब काम
जामें आठों जाम हैं, भूपति को विस्राम"

भूपति ने सन् १७४४ में मार्गशीर्ष एकादशी, सोमवार, को दक्षिण भारत में 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध की कथा को पूरा किया। इसे उन्होंने स्वयं पुस्तक के अन्त में बतलाया हैं :

"संवत सोलह सौ भये, चारि अधिक चालीस
माग-सीर एक'दसी; सुद्धवार रजनीस
दक्खिन देस पुनित में, पूरन भयो पुरान
जो हित सों गावें सुनें, पावें पद निरवान"

दसम स्कन्ध भागवत के अतिरिक्त भूपति की और तीन रचनाएँ हैदराबाद में उपलब्ध हैं। वे हैं :

१६५६

(१) राधा माधव
(२) श्री गणेश नमः
(३) प्रथम स्कन्ध भागवत

पहली पुस्तक में राधा कृष्ण के भक्ति-सम्बन्धी पद हैं और उनके महत्व का वर्णन दिया गया है। दूसरी पुस्तक गणेश जी की वन्दना में लिखी गई है और तीसरी पुस्तक में 'श्रीमद्भागवत' के प्रथम स्कन्ध की कथा का वर्णन है।

दशम स्कन्ध 'श्रीमद्भागवत' की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ हैदराबाद में उपलब्ध हैं। दो प्रतियाँ फ़ारसी लिपि में हैं और एक देवनागरी लिपि में। सालार जंग म्यूज़ियम और आसफ़िया लाइब्रेरी की प्रतियाँ फ़ारसी लिपि में हैं। श्री आगा हैदर हसन के व्यक्तिगत पुस्तकालय में इस पुस्तक की जो प्रति उपलब्ध है, वह देवनागरी लिपि में है। सालारजंग म्यूज़ियम वाली प्रति १०८ सुन्दर चित्रों से सुसज्जित है। चित्र प्रति के बीच बीच में दिए गए हैं और कृष्ण के जीवन की विभिन्न घटनाओं से सबन्धित है।

पुस्तक का आरंभ ईश वन्दना से हुआ है :

"सुमिरों आदि निरंजन देवा,
जिनको देव न जानत भेवा
नोति रूप भगवान विधाता,
पुरुष पुरान प्रानिन को दाता
कल्प नामि नारायन स्वामी,
सब जीवन के अन्तर्यामी
अलख ईस जगदीस गुसाईं,
जल थल में व्यापक सब ठाईं
सनकादिक सुक नारद ज्ञाता,
जेहि के ध्यान धरहिं दिन राता
जाको सिव विरंचि नित ध्यावे,
ध्यानहुँ ते नहिं दरसन पावें
भेख अनेक धरे जग माहीं
ज्यूँ जल में दिनकर की छाहीं
है सब में वो सबते न्यारो,
सकल सृष्टि को सिरजन हारो
महापुरुष जो ध्यान के, कासों बरनै जाइ
सेस सहस रसनान सों, सके नहीं गुन गाइ"

उसके बाद मत्स्यावर, कच्छावतार, शूकरावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार कृष्णावतार, बुद्धावतार, और कल्कि अवतार का संक्षेप में वर्णन है और बतलाया गया है कि कृष्ण ने ही विभिन्न अवतारों में विभिन्न रूप धारण किए। तत्पश्चात् गौरी, गणेश और शारदा की वन्दना की गई है और कथा के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। कथा शुकदेव के द्वारा परीक्षित से कहलवाई गई है। परीक्षित को, निर्गुण और निर्लेप ब्रह्म ही कृष्ण के रूप में अवतार लेता है, इस सम्बन्ध में सन्देह होता है और वे शुकदेव से पूछते हैं :

"जिन्ह कहिय श्री कृस्न कुमारी
स्याम सुजान सन्त हितकारी
तासूँ कहत निरंजन देवा,
मैं कछु नहिं जानत यह भेवा
जो निर्गुण निर्लेप कहावे
कारन कौन जोनि में आवि
मोहि भयो सन्देह, कहो प्रकट समुझाइ
भूपति प्रभु के कथा को, मों मन में उपजाइ
"बल को कहत देवकी जायो,
प्रगट रोहिनी पुत्र कहायो
यह मेरो सन्देह निवारो,
अद्भुत कथा सुनाइ उघारो"

उसके बाद शुकदेव कृष्ण के अवतार लेने के कारणों, कंस के राज्य और उसके अत्याचारों, वसुदेव देवकी के विवाह और उनके प्रथम सात सन्तानों के मारे जाने और कृष्ण की उत्पत्ति का वर्णन विस्तार के साथ करते हैं। पूरी पुस्तक ६० अध्यायों में विभक्त की गई है। प्रथम ४० अध्यायों में कृष्ण के मथुरा जाने के पूर्व की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों में कृष्ण के गो-चारण और उनकी बाल-लीलाओं की अपेक्षा उनके वीर रूप के वर्णन में कवि की वृत्ति विशेष रूप से रमी है। पुतना, अघासुर, बकासुर, भूमासुर आदि शत्रुओं के वध, इन्द्र के कोप और कृष्ण के गोवर्धन उठाने आदि घटनाओं का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। ४१ वें अध्याय के बाद कृष्ण

का शौर्य अपनी सीमा पर दिखलाई पड़ता है। वे कंस का वध करते हैं, वसुदेव देवकी का बन्दीगृह में दर्शन करके उन्हें बाहर लाते हैं और उग्रसेन को गद्दी पर बैठा कर राज्य की व्यवस्था करने में कई वर्ष व्यतीत कर देते हैं। ५८ वें अध्याय में कृष्ण हस्तिनापुर जाते हुए दिखलाई पड़ते हैं और उसके बाद करीब २५ अध्यायों में निरंकुश शासकों से संघर्ष करते हुए और देश में एकछत्र शासक की स्थापना में प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं।

पुस्तक के अंतिम तीन अध्यायों में कृष्ण द्वारिकापुरी के बसाने में संलग्न और सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई पड़ते हैं। द्वारिका में कृष्ण के आने के बाद समुद्र सोलह हजार एक सौ सुन्दरी स्त्रियों और अनगिनत वेशकीमती रत्नों के साथ कृष्ण की सेवा में उपस्थित होता है और उन्हें श्रद्धा पूर्वक भेंट करता है। सभी स्त्रियों से कृष्ण को एक-एक पुत्री और दस-दस पुत्र उत्पन्न होते हैं और कृष्ण अपने जीवन के अंतिम दिन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत करते हैं।

द्वारिका के वैभव का वर्णन पुस्तक के कुछ अंतिम पृष्ठों में देखिए :

"तेहि के छबि बरनौं केहि माहीं,
सुबरन के मंदिर जेहि माहीं
तिन में बहु मनि मानिक जड़े,
ठौर ठौर मनि दीपक धरे
द्रुम अनेक सोहैं बन माहीं,
फूलहिं बहुत फलहिं मानाहिं
निर्मल जल के ताल बिसाला,
तिन में फूलें कमल रसाला
नित फूलन तें उड़त परागा,
जिनसों भौंर करत अनुरागा"
"तहाँ नारि क्रीड़ा करें, सुन्दर अति सुकुमारी
जिन्हको रूप निहारि के, लजत होंहि सुर-नारी"

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदर्श चरित्र को 'रामचरित' मानस में प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार भूपति ने अपनी इस रचना में कृष्ण के चरित्र के आदर्श रूप को लिया है। बहुत सम्भव है गोस्वामी तुलसीदास की रामायण से प्रभावित होकर भूपति ने अपनी यह रचना की हो।

कई स्थानों पर शैली रामायण से बिलकुल मिलती जुलती है। सत्ताईसवें अध्याय में वर्षाऋतु का यह वर्णन देखिए :

"कहैं परीछित सों ऋषि राई,
बरषा ऋतु आई सुखदाई
धुंध धूम रज की सब गई,
हरी भूमि ब्रज की सब भई
इन्द्र धनुष की रेख सुहाओ,
भौंह समान दृष्टि में आई
चंचल अस घनघोर सुहाई,
कामिनि ज्यों दामिनि दरसाई
दादुर मोर बोल मन हरें,
मानों विप्र बेद-धुनि करें
घन में चंद देखियत नाहीं,
ज्यों छिपि रहे बुद्धि रिस माहीं
जे बेली जल बिनु मुरझानी,
ते हुलसी द्रुम सों लपटानी"
"ज्यों ज्यों घन घोरौ महा, पवन तेज तिहि संग
त्यों त्यों उठति अनंग की, हरि बिनु अंग तरंग"

—राजकिशोर पाण्डेय

हिन्दी विभाग, निज़ाम कालेज,
हैदराबाद-दक्षिण

किसान की पहचान

एक किसान की सब से बड़ी पहचान यह है कि यदि आप उसको संसार का सब से सुन्दर दृश्य भी दिखाएँ तो वह कहेगा कि यहाँ भूमि को पानी की आवश्यकता है और यहाँ भूमि में और खाद डालनी चाहिए।

हँसनी—सी-गल

तीसरा अंक

[सोरिन के मकान का डाइनिंग-रूम। दाहिनी और बायीं ओर दरवाज़े। दवाओं की एक अलमारी। कमरे के बीचों बीच एक मेज़। एक बक्स और टोपों के डिब्बों से चलने की तैयारी का पता चलता है। त्रिगोरिन दोपहर का खाना खा रही है। माशा मेज़ के पास खड़ी है।]

माशा : चूँकि आप एक लेखक हैं इसलिए मैं आपको यह सब बता रही हूँ। शायद कहीं आपके काम आ जाए। आपसे सच कहती हूँ अगर उन्होंने अपने आपको थोड़ा भी बुरी तरह घायल कर लिया होता तो मैं एक क्षण भी ज़िन्दा नहीं रह सकती थी। फिर भी साहस मुझ में काफ़ी है। मैंने तो तय कर लिया है कि मैं उनके इस प्यार को दिल से निकाल फेंकूँगी—भीतर जड़ से उखाड़ डालूँगी।

त्रिगोरिन : कैसे ?

माशा : मैं शादी कर लूँगी—मैद्वीद्वेंको से।

त्रिगोरिन : उस स्कूल मास्टर से ?

माशा : जी हाँ।

त्रिगोरिन : मैं इसका मतलब नहीं समझ सका।

माशा : अब तो बिना किसी आशा के प्यार किए जाना...कुछ होगा इसी उम्मीद में साल पर साल बिताये जाना...लेकिन जब शादी हो जाएगी तो प्रेम-प्यार के लिए फ़ुर्सत ही नहीं मिलेगी। नई चिन्ताएँ सारी पुरानी भावनाओं के गले मरोड़ देंगी...ख़ैर जो भी हो आप देखिए, इससे कुछ परिवर्तन तो आएगा ही। एक गिलास और लेंगे ?

त्रिगोरीन : ज़्यादा तो नहीं हो जाएगा ?

माशा : अरे सब ठीक है (दो गिलास भर देती है) इस तरह मेरी ओर मत देखिए। औरतें अक्सर कितना पीती हैं आप सोच भी नहीं सकते। कुछ थोड़ी-सी ही है जो सब के सामने मेरी तरह पीती हैं, वरना ज़्यादा तो चुप-चुप ही काम चलाती है। जी हाँ, और वह भी वोद्का या ब्राण्डी (गिलासों को एक दूसरे से छुआ कर) मेरी शुभ कामनाएँ लें। आप बड़े अच्छे आदमी हैं। आपसे बिछुड़ने का मुझे बड़ा दुःख है।

(दोनों पीते हैं)

त्रिगोरिन : मेरा मन जाने को खुद ही नहीं है।

माशा : उन्हें रुकने को समझाइए न।

त्रिगोरिन : नहीं, वे अब नहीं रुकेंगी। उनके बेटे का व्यवहार उनकी ओर अच्छा नहीं है। एक तो उसने खुद अपने को गोली मार ली, दूसरे सुनते हैं वह मुझे द्वन्द्व के लिए ललकारने वाला है। और इसका कारण भी तो हो कुछ ? वह बौखलाता है, बर्राता है और कला के नए रूपों की वकालत करता है...भाई, नए पुराने सभी के लिए जगह है...इसमें झगड़ने की क्या बात है ?

माशा : हो सकता है इसमें ईर्ष्या भी हो... लेकिन मुझे ठीक से नहीं पता...

(चुप्पी। याकोव एक बक्स लेकर दाहिनी ओर से बायीं ओर को जाता है। नीना का प्रवेश। वह खिड़की के पास खड़ी हो जाती है।)

माशा : स्कूल मास्टर साहब बहुत विद्वान् तो नहीं हैं, लेकिन आदमी बेचारे बड़े भले हैं। मुझे तो बहुत ही प्यार करते हैं। मुझे उनकी माँ पर बड़ी दया आती है। ख़ैर, आपके लिए मेरी शुभ कामनाएँ हैं। मेरे बारे में मन में कोई बुरा ख़याल मत रखिए। (बड़े आवेग से हाथ मिलाती है) आपकी इस आत्मीयता के लिए मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ। अपनी किताबें मुझे ज़रूर भेजिए और देखिए, उन पर अपने हाथ से ज़रूर लिखिए। हाँ, यह मत लिख दीजिए कहीं कि—"अपनी आदरणीय मित्र को..." उस पर लिखिए सिर्फ़—"भाई को, जो किसी का नहीं है—जीवन में जिसका कोई नहीं है।" अच्छा नमस्कार।

(चली जाती हैं)

नीना : (अपनी बंधी मुट्ठी वाला हाथ उसकी ओर बढ़ा कर) दो या एक ?

त्रिगोरिन : दो।

नीना : (गहरी साँस लेकर) ग़लत ! मेरे हाथ में

सिर्फ़ एक ही मटर का दाना है। मैं अपना भाग्य देख रही थी कि मैं स्टेज-जीवन अपनाऊँगी या नहीं। काश, कोई मुझे इस बारे में कुछ बता सकता।

त्रिगोरिन : ऐसी बातों में सलाह दे पाना असम्भव है।

नीना : हम लोग बिछुड़ रहे हैं। शायद अब फिर कभी न मिल पाएँ। बिदाई की याद में मेरी ओर से यह तमग़ा भेंट स्वीकार करेंगे। मैंने इसके ऊपर आपके नाम के अक्षर खुदवाए हैं दूसरी ओर आपकी किताब का नाम है—"रातें और दिन"।

त्रिगोरिन : चीज़ तो बड़ी सुन्दर है (तमगे को चूम लेता है) बड़ी मधुर भेंट है।

नीना : कभी कभी मुझे याद कर लीजिए।

त्रिगोरिन : मैं तुम्हें जरूर याद रखूँगा...जरूर याद रखूँगा...तुम्हें याद है, उस दिन के वेश में मैं तुम्हें याद रखूँगा जब हफ़्ते भर पहले खुली धूप में तुम बड़े हल्के कपड़े पहने थी...हम लोग बातें कर रहे थे...पास ही बेंच पर सफ़ेद हँसनी पड़ी थी......

नीना : (व्यथा से) हाँ, वह हँसनी...(कुछ रुक कर) अब हम लोग ज़्यादा बातें नहीं कर सकेंगे, कोई आ रहा है। मेरी प्रार्थना है कि जाने से पहले मुझे दो मिनट का समय दें......

(बाईं ओर चली जाती है)

(उसी क्षण दाहिनी ओर से आर्कदीना, किसी पदवी लगे स्टारवाला कोट पहने सोरिन और पीछे-पीछे सामान लादे याकोव का प्रवेश)

आर्कदीना : दादा, तुम आराम से यहीं बैठो। अपनी गठिया का ध्यान करके इधर से उधर घूमना आपके लिए ठीक नहीं है। (त्रिगोरिन से) अभी कौन गया? नीना?

त्रिगोरिन : हाँ।

आर्कदीना : माफ़ कीजिए, हमने बीच में आकर विघ्न डाला। (बैठ जाती है) अब जाकर सब बाँध-बूँध पाई हूँ। थक कर चूर-चूर हो गई......

त्रिगोरिन : (उस तमगे पर पढ़ता है) 'रातें और दिन' पृष्ठ एक सौ इक्कीस, लाइन ग्यारह और बारह।

याकोव : (मेज़ पोंछ कर) आपके मछली पकड़ने की चीज़ें भी बाँध दूँ साहब?

त्रिगोरिन : हाँ, हाँ, मुझे फिर जरूरत पड़ेगी। उनके 'हुक' निकाल लेना।

याकोव : बहुत अच्छा, साब!

त्रिगोरिन : (स्वगत) पृष्ठ एक सौ इक्कीस, लाइनें ग्यारह और बारह, क्या होगा इन लाइनों में? (आर्कदीना से) यहाँ घर में मेरी किताबें हैं।

आर्कदीना : हाँ दादा के पढ़ने के कमरे में कोने वाली अलमारी में रखी हैं।

त्रिगोरिन : पृष्ठ एक सौ इक्कीस......

(जाता है)

आर्कदीना : सच दादा आप घर ही आराम करें न।

सोरिन : तुम तो चली जा रही हो...तुम्हारे बाद में यहाँ रहना मेरे लिए बड़ा मुश्किल हो जाएगा......

आर्कदीना : शहर में ऐसा क्या रक्खा है?

सोरिन : यों तो कुछ नहीं...मगर फिर भी... (हँसता है) वहाँ ज़ेमेस्त्वोहॉल का शिलान्यास होगा और भी दुनिया भर की बातें होंगी। चाहे एक दो घण्टे को ही सही—यहाँ के इस बँधे बँधाए रूखे जीवन से छूट भागने को बड़ा मन करता है। पुराने सिगरेट होल्डर की तरह इतने दिन तो अलमारी में बन्द रह लिया। एक बजे घोड़ों के लिए मैंने कह दिया है—तभी हम लोग चल पड़ेंगे।

आर्कदीना : (कुछ देर रुककर) सुनो, यहीं रहो। ऊबना मत और ठण्ड मत खाना। मेरे बेटे की देखभाल करते रहना। उसे अच्छी-अच्छी बातें समझाना (रुककर) मैं तो अब जा रही हूँ। त्रेपलेव ने को क्यों अपने गोली मार ली। शायद यह बात मुझे कभी मालूम ही न हो सकेगी। मेरा ख़याल है, इसकी ख़ास वजह ईर्ष्या ही है। त्रिगोरिन को यहाँ से जितनी जल्दी ले जाऊँ उतना ही अच्छा है।

सोरिन : मैं कह ही क्या सकता हूँ? कारण तो कुछ और भी थे। सीधी-सी तो बात है। वह नौजवान है, बुद्धिमान् है, जंगलियों के बीच में गांव में रहता है पास में न पैसा है, न कोई सम्मान, न आगे कोई भविष्य! कुछ काम ही नहीं है उसे करने को। उसे अपने निकम्मेपन से डर लगता है, शर्म लगती है। मुझे वह बहुत ही अच्छा लगता है, वह भी मुझे काफ़ी चाहता है। इस सबके बावजूद उसे लगता है जैसे घर दूसरों के भर में वही एक फ़ालतू है। भिखारी की तरह

सिर पड़ा है...बड़ी सीधी-सी तो बात है।—आख़िर उसका भी तो आत्मसम्मान है।

आर्कदीना : मेरे लिए तो वह एक बड़ी भारी चिन्ता है (सोचते हुए) उसे किसी नौकरी में भेज दें क्या?

सोरिन : (सीटी बजाने लगता है। फिर बड़ी अनिश्चयात्मकता से) मेरा ख़याल है अगर तुम कर सको तो यही सबसे अच्छा रहेगा......। उसके पास कुछ पैसा हो जाने दो। सब से पहले तो उसे भले आदमियों की तरह ओढ़ना पहनना चाहिए......ज़रा उसकी तरफ़ तो देखो...उसी फटी-पुरानी जाकेट में तीन साल से इधर-से उधर घूमता फिरता है, एक ओवर-कोट तक नहीं है। (हँस कर) ज़रा मन-बहलाव हो जाए तो इसमें भी कोई नुक़सान नहीं है...ज़रा घूमने फिरने या बाहर विदेश चला जाए...इसमें ज्यादा ख़र्चा भी नहीं है।

आर्कदीना : ख़ैर जो भी हो...कपड़ों का तो मैं शायद इन्तज़ाम कर दूँ लेकिन...जहाँ तक बाहर जाने की बात है...नहीं...अभी तो कपड़ों का भी इन्तज़ाम मैं नहीं कर सकती (दृढ़ता से) मेरे पास पैसा ही नहीं है।

(सोरिन हँसता है)

आर्कदीना : नहीं है।

सोरिन : बिलकुल ठीक है। मेरी बात का बुरा मत मानो, बहन! मैं तुम्हारा विश्वास करता हूँ, नाराज़ मत होओ...तुम बड़ी दयालु...सहृदय...औरत हो...

आर्कदीना : (रोती है) मेरे पास पैसा नहीं है।

सोरिन : अगर मेरे पास पैसा होता तो मैं निश्चय ही उसे दे देता। लेकिन क्या करूँ, है ही नहीं—एक कानी कौड़ी भी नहीं है। मेरी सारी पेंशन को वह मेरा कारिन्दा ले जाकर खेतों पर, जानवरों और शहद की मक्खियों पर झोंक देता है। पैसा बर्बाद होता है। मक्खियाँ मर जाती हैं, गाय-भैंस मर जाते हैं—वक्त पर मुझे घोड़े तक नहीं मिलते...

आर्कदीना : हाँ, मेरे पास पैसा है। लेकिन देखो न, मैं एक्ट्रेस हूँ, मेरे कपड़े ही मेरा दिवाला निकालने को काफ़ी हैं।

सोरिन : तुम बड़ी दयालु हो...बड़ी अच्छी हो...मैं तुम्हारी बड़ी इज्जत करता हूँ हाँ—हाँ...मगर...पता नहीं मुझे कैसा-कैसा लग रहा है...(लड़खड़ाता है) मेरा सिर घूम रहा है (मेज़ को पास आकर पकड़ लेता है) मुझे बेहोशी जैसी कुछ हो रही है...

आर्कदीना : (चौंक कर) पैत्रशा! (उसे सहारा देने की कोशिश करते हुए) पैत्रूशा, दादा (पुकारती है) दौड़ो! अरे कोई आओ!

(माथे पर पट्टी बाँधे त्रेपलेव और मैद्वीद्वेंको आते हैं)

आर्कदीना : दादा को बेहोशी आ गई है...

सोरिन : सब ठीक है...सब ठीक है (मुसकुराते हुए थोड़ा पानी पीता है) कोई बात नहीं...अब सब ठीक हो गया...

त्रेपलेव : (माँ से) अम्मा, डरने की कोई बात नहीं है, कोई ख़तरा नहीं। मामा को आजकल ऐसे दौरे आ जाते हैं...(मामा से) मामा आप लेट जाइए...

सोरिन : हाँ, थोड़ी देर के लिए लेटा जाता हूँ...लेकिन मैं शहर ज़रूर जाऊँगा। थोड़ी देर लेटने के बाद मैं चलने के लिए बिलकुल ठीक हो जाऊँगा...ऐसा तो होता ही रहता है...

(अपने बेंत के सहारे झुक कर चला जाता है)

मैद्वीद्वेंको : (उसे अपनी—बाँह का सहारा देकर) एक पहेली बताओ...सुबह चार पैरों पर, दो पहर में दो पर, और सन्ध्या तीन पर...

सोरिन : बिलकुल सच—और रात को पीठ के बल! तुम्हारी कृपा के लिए धन्यवाद, अब मैं खुद चला जा सकता हूँ...

मैद्विद्वेंको : अरे छोड़िए भी, तकल्लुफ़ की क्या बात है! (सोरिन के साथ चला जाता है)

आर्कदीना : मुझे दादा ने कितना घबरा दिया।

त्रेपलेव : इस गाँव में रहना उनके लिए ठीक नहीं है। वे बड़े हताश हो जाते हैं। अच्छा अम्मा, मान लो अचानक ऐसा हो जाए कि तुम्हारे हृदय में दया उमड़ पड़े और तुम उन्हें हज़ार-दो हज़ार रूबल उधार दे दो तो यह पूरे साल आराम से शहर में बिता सकते हैं।

आर्कदीना : मेरे पास पैसा ही नहीं है। मैं ऐक्ट्रेस हूँ, महाजन तो हूँ नहीं।

(चुप्पी)

त्रेपलेव : अम्मा मेरी पट्टी बदल दो। तुम बड़ी अच्छी तरह बदलती हो...

आर्कदीना : (दवाओं की आलमारी से थोड़ा आइडो फ़ॉर्म और पट्टियों का सामान निकालते हुए) डाक्टर साहब ने बड़ी देर लगा दी।

त्रेपलेव : उन्होंने दस तक यहाँ आने को कहा था, और दो पहर हो चुकी है।

आर्कदीना : बैठो (माथे की पट्टी उतारती है) कैसी पगड़ी-सी लगती है। कल कोई नया आदमी रसोई में पूछ रहा था कि तुम किस जगह के रहने वाले हो। लेकिन तुम्हारा घाव तो क़रीब-क़रीब भर आया। बस ज़रा-सा रह गया है। (उसके माथे को चूमती है) मेरे पीछे तो अब कोई ऐसा उपद्रव नहीं करोगे न ?

त्रेपलेव : नहीं माँ ! वह पता नहीं तो निराशा का कैसा एक क्षण था कि मेरा अपने पर कोई बस ही नहीं रहा। अब फिर नहीं होगा (उसके हाथ चूमता है) कैसे कुशल हाथ हैं तुम्हारे। मुझे याद है, जब मैं छोटा-सा था और तुम इम्पीरियल थियेटर में ही एक्टिंग किया करती थी, हमारे आंगन में झगड़ा हो गया था—एक धोबिन किराएदार की खूब मरम्मत हुई थी। याद है न अम्मा ? उसे बेहोशी में ही उठा लाया गया था...तुमने उसकी सेवा-परिचर्या की थी और उसके बच्चों को एक हौज में नहलाया करती थी—याद है न तुम्हें ?

आर्कदीना : मुझे तो याद नहीं है।

(नई पट्टी चढ़ाती है।)

त्रेपलेव : जिस घर में हम लोग रहते थे उसी में दो 'बैले' नाच नाचने वाली लड़कियाँ रहती थीं—वे दोनों तुम्हारे पास आकर काफ़ी पिया करती थीं...

आर्कदीना : हाँ, यह तो याद है।

त्रेपलेव : कैसी अच्छी सुशील थीं दोनों (कुछ देर रुक कर) अभी इन्हीं दिनों अम्मा, मेरे हृदय में तुम्हारे लिए वैसा ही प्यार, मधुर और सच्चा प्यार उमड़ता रहा जैसे बचपन में उमड़ा करता था। मेरा तो तुम्हारे सिवा अब कोई रहा ही नहीं। अब तुम में यही बुरी बात है, तुम उस आदमी के चक्कर में कैसे फँस गई हो ?

आर्कदीना : तुमने उसे पहचाना नहीं है, कांन्स्तान्तिन, वह बड़े ऊँचे चरित्र का आदमी है।

त्रेपलेव : और अब उसे यह बताया गया है कि मैं उसे चुनौती देने जा रहा हूँ तब उसके चरित्र की ऊँचाई ने उसे कायरता से नहीं रोका ? अब वह भागा जा रहा है। काला मुँह कर रहा है।

आर्कदीना : क्या बकते हो। मैं ही तो उससे जाने को कह रही हूँ।

त्रेपलेव : क्या ऊँचा चरित्र है। यहाँ हम और तुम उसे लेकर झगड़ रहे हैं और हो सकता है इसी वक़्त वह बैठक में या बग़ीचे में हमारी हँसी उड़ा रहा है। नीना को ओढ़ावा दे रहा हो। उसे समझा रहा है कि वह प्रतिभाशालिनी है।

आर्कदीना : मुझ से यह सब भद्दी बातें करने में तुम्हें मज़ा आता है। मेरे दिल में उस आदमी के लिए इज़्ज़त है। विनती करती हूँ मेरे सामने उसे गालियाँ मत दो......

त्रेपलेव : मगर मेरे दिल में उसके लिए कोई इज़्ज़त नहीं है। तुम मुझ से यह मनवाना चाहती हो कि वह प्रतिभाशाली है। लेकिन माफ़ करना, मैं झूठ नहीं बोलूँगा, उसकी किताबें मेरी रूह खुश्क कर देती हैं।

आर्कदीना : यही तो जलन है। ऐसे लोगों से तो कुछ बना ही नहीं है जो बहुत बनते हैं, खुद तो उसमें प्रतिभा है नहीं, लेकिन सच्चे प्रतिभाशालियों की टाँग खींचते हैं। मैं तो कहूँगी उनको इसमें ही आनन्द आता है।

त्रेपलेव : (व्यंग्य से) सच्ची प्रतिभा ! (गुस्से से) मुझ में तुम सबसे मिला कर ज्यादा प्रतिभा है। (सिर की पट्टी फाड़ फेंकता है) तुम...तुम लोगों ने अपनी सड़ी गली रूढ़ियों से कला के सारे गुरुठों को चूम डाला है, और जो कुछ तुम लोग कर सकते हो, उसके सिवा तुम्हें न कुछ सत्य लगता है न सही। बाक़ी हर चीज़ का गला घोंट कर तुम उसे कुचल डालना चाहते हो। मुझे मुझे तुम्हारी बातों में कोई विश्वास नहीं है। मुझे तुम्हारी और उसकी बातों पर रत्ती भर आस्था नहीं है।

आर्कदीना : तुम दीवालिए और पतनशील हो!

त्रेपलेव : जाओ तुम अपने उसी सुन्दर थियेटर में जाओ, और उन्हीं सड़े गले बेवक़ूफ़ी भरे खेलों में ऐक्टिंग करो।

आर्कदीना : मैं ऐसे किसी खेल में ऐक्टिंग ही नहीं करती...मेरे सामने से चला जा। तुझ से दो उल्टे सीधे दृश्य तक तो लिखे नहीं जाते। तू तो 'कीव' का बनिया भर है। दूसरों के सिर रहने वालो !

त्रेपलेव : कंजूस !

आर्कदीना : भिखमंगे !

(त्रेपलेव बैठ कर चुपचाप रोता रहता है)

आर्कदीना : क्या पिद्दी-क्या पिद्दी का शोरवा (गुस्से में इधर-उधर घूमती है) रो मत मैं कहती हूँ मत रो (रोने लगती है) चुप हो जा...(उसके माथे, गालों और सिर को चूमती है) मेरे बेटे...मुझे माफ़ कर दे...अपनी पापिनी माँ को माफ़ कर दे ! मुझे माफ़ कर दे...तू तो जानता ही है मैं कैसी बुदी हूँ......

त्रेपलेव : (उसे बांहों में भर कर) काश ! तुम जानती ! मेरा सब कुछ लुट गया । नीना मुझे प्यार नहीं करती...और अब मैं कुछ भी लिख नहीं सकता... मेरी सारी उम्मीदें बुझ गई......

आर्कदीना : यों दिल मत तोड़ो...सब ठीक हो जाएगा—अब तो वह यहाँ से सीधे जा ही रहे हैं ! वह तुम्हें फिर प्यार करने लगेगी—(आँसू पोंछ लेती है) अब बस बहुत हो चुका...हम लोगों की सुलह हो गई...

त्रेपलेव : (उसके हाथ चूम कर) अच्छा अम्मा ।

आर्कदीना : (प्यार से) उससे भी मेल कर लो । अब तो तुम द्वन्द्व नहीं चाहते न ?

त्रेपलेव : अच्छी बात है...बस अम्मा तुम मुझे उसके सामने मत पड़ने दो...उससे मिलना मेरे लिए बड़ा ही दुखदायी है...मेरी सहन-शक्ति से बाहर की बात है......

(त्रिगोरिन का प्रवेश)

देखो वह आ गया...मैं अब चलता हूँ...(जल्दी से पट्टी बाँधने का सामान अल्मारी में रख देता है) अब डाक्टर साहब ही आकर पट्टी बाँध देंगे ।

त्रिगोरिन : (एक किताब में पढ़ते हुए) पृष्ठ एक सौ इक्कीस...ये रही ग्यारहवीं और बारहवीं लाइनें... (पढ़ता है) 'अगर तुम्हें कभी मेरे प्राणों की ज़रूरत पड़े तो आना और निस्संकोच ले लेना...।"

(त्रेपलेव फ़र्श से पट्टी उठा कर चला जाता है ।)

आर्कदीना : (अपनी घड़ी देख कर) घोड़े आने ही वाले हैं...

त्रिगोरिन : (स्वागत) "अगर तुम्हें कभी मेरे प्राणों की ज़रूरत पड़े तो आना और निस्संकोच ले लेना ।"

आर्कदीना : मेरा खयाल है, तुम्हारा सामान तो बन्ध ही गया होगा ?

त्रिगोरिन : (अधीरता से) हाँ-हाँ (विचारों में डूबे हुए) उस निष्पाप आत्मा की आवाज़ क्यों मुझे छूकर इतना उदास कर गई है और जैसे कोई मेरे हृदय को निर्ममता से मरोड़े दे रहा है—"अगर तुम्हें कभी मेरे प्राणों की ज़रूरत पड़े तो आना और निःसंकोच ले लेना...।" (आर्कदीना से) और एक दिन नहीं रुक सकते हम लोग ?

(आर्कदीना सिर हिलाती है)

त्रिगोरिन : रुक जाओ न !

आर्कदीना : प्रियतम, मुझे मालूम है तुम्हें यहाँ कौन खींच रहा है ? पर अपने आपको थोड़ा संभालो । तुम पिए हुए हो —ज़रा गम्भीर होने की कोशिश करो ।

त्रिगोरिन : मैं कहता हूँ—तुम भी तो ज़रा-सी गम्भीर, समझदार और उदार बनने की कोशीश करो । सच्चे दोस्त की तरह मेरी बात पर ग़ौर करो (उसका हाथ दबा कर) तुम त्याग कर सकती हो । मेरी भलाई के लिए मुझे छोड़ दो...

आर्कदीना : (तीव्र क्रोध से) तुम ऐसे पागल हो रहे हो, उसके पीछे ?

त्रिगोरिन : मैं उसकी ओर आकर्षित हूँ । शायद वह ठीक वैसी ही है जैसी मैं समझता हूँ ।

आर्कदीना : उस गँवार लड़की से प्यार ? उफ़, तुम्हें अपना ज़रा भी ख़याल नहीं है ?

त्रिगोरिन : कभी-कभी लोग सोते हुए बोलते रहते हैं...मुझे भी ठीक वैसा ही लग रहा है । मैं बातें तुमसे कर रहा हूँ लेकिन जैसे सो रहा हूँ, और केवल उसके ही सपने देख रहा हूँ...उन मीठे मधुर सपनों ने मुझे बाँध लिया है...मुझे मुक्त कर दो...

आर्कदीना : (काँपते हुए) नहीं-नहीं । मैं एक मामूली औरत हूँ । मुझसे यह सब मत कहो । मुझे मत सताओ बोरिस, मेरा जी सूखा जा रहा है...

त्रिगोरिन : तुम अगर चाहो तो असाधारण भी बन सकती हो ! जीवन में अगर खुशी कोई चीज़ है तो वह केवल प्यार है......जवानी की उमंगों, माधुर्य और कवित्व में लहलहाता प्यार, जो आदमी को सपनों की दुनियाँ में पहुँचा देता है । मैंने ऐसा प्यार कभी जाना ही नहीं . अपनी जवानी में तो मुझे कभी फ़ुर्सत ही नहीं मिली –बस वही अभावों से लड़ना और इस सम्पादक के दफ़्तर से उस सम्पादक के दफ़्तर में चक्कर लगाना...अब वह अलौकिक प्यार आया है—खुद

मुझे बुला रहा है। उसे त्याग कर भागने में क्या बुद्धिमानी है ?

आर्कदीना : (गुस्से से) तुम पागल हो गए हो।

त्रिगोरिन : आख़िर क्यों न होऊँ ?

आर्कदीना : आज क्या तुम सबने मिल कर मुझे घोट-घोट कर मारने का ही निश्चय कर लिया है ! (रोती है।)

त्रिगोरिन : (अपनी छाती दबा कर) तुम कुछ नहीं समझती...तुम समझोगी भी नहीं...

आर्कदीना : मैं ऐसी बुड्ढी और बदसूरत हो गई हूँ कि मेरे सामने दूसरी औरत की बातें करते तुम्हें लज्जा नहीं आती ? (अपनी बाहें उसके गले में डाल कर चुम्बन लेती है) हाय, तुम कैसी पागलों सी बातें करते हो...मेरे राजा...प्रियतम.. तुम ही तो मेरे जीवन के आखिरी अध्याय हो (उसके पैरों पर झुकती है) मेरे सुख, मेरे गौरव, मेरे आनन्द (उसके पैरों को बाँहों में कस लेती है) अगर तुम एक घण्टे घर को भी मुझे छोड़ जाओगे तो मैं बचूँगी नहीं...मेरे मोहन...मेरे नाथ... मेरे स्वामी मैं पागल हो जाऊँगी......

त्रिगोरिन : कोई आ जाएगा (उसे उठने का सहारा देता है)

आर्कदीना : आने दो ..तुम्हारे लिए अपने प्रेम पर मुझे कोई लाज नहीं है (उसके हाथ चूमती है) मेरी निधि, मेरे रूठे साथी, तुम पागलपन करने जा रहे हो... लेकिन मैं नहीं करने दूँगी...मैं नहीं सह सकूँगी... (हँसती है) तुम मेरे हो...मेरे...यह माथा मेरा है, यह आँखें मेरी हैं...ये रेशमी प्यारे-प्यारे बाल भी मेरे हैं...तुम्हारा हर अंश मेरा है...तुम कितने प्रतिभावान हो, कलाकार हो, नए लेखकों में सर्वश्रेष्ठ—रूस की एकमात्र—आशा ! तुम में कितनी सचाई, सरलता, ताजगी और स्वस्थ हास्य है...एक लाइन में ही तुम आदमी या दृश्य की सारी खूबियाँ उतार देते हो—तुम्हारे चरित्र सजीव हैं...। तुम्हें पढ़ कर आदमी खिले बिना नहीं रह सकता। तुम समझते हो मैं झूठी प्रशंसा कर रही हूँ, तुम्हारी चापलूसी कर रही हूँ...लेकिन मेरी आँखों में देखो...देखो, मैं झूठ बोलती लग रही हूँ ? सुनो, सिर्फ़ मैं ही तुम्हारी सच्चे दिल से तारीफ़ कर सकती हूँ—सच सच कह सकती हूँ, मेरे जीवन धन, अनोखे प्रियतम...चलोगे न ? बोलो, हाँ ? मुझे छोड़ोगे तो नहीं ?

त्रिगोरिन : मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं है।... कभी मेरी अपनी इच्छा रही ही नहीं...दुबला-पतला मरियल, गन्दा, हमेशा मिमियाता-सा मैं—कैसे ऐसे आदमी पर कोई औरत मर सकती है ? मुझे ले चलो, मुझे यहाँ से दूर ले जाओ...लेकिन मुझे अपने पास से एक क़दम मत हटने देना।

आर्कदीना : (स्वगत) अब यह कहाँ जाएँगे (ऐसी स्वाभाविकता से जैसे कुछ हुआ ही न हो) अगर सचमुच तुम चाहते ही हो, और चलने का मन न हो तो तुम रुक जाओ—मैं अकेली खुद चली जाऊँगी, तुम बाद में आ जाना—एक हफ़्ते बाद आ जाना। आख़िर तुम्हें ऐसी जल्दी भी क्या है ?

त्रिगोरिन : नहीं—हम लोग साथ ही चलेंगे !

आर्कदीना : जैसी तुम्हारी इच्छा। साथ ही चले चलेंगे।

(चुप्पी)

(त्रिगोरिन कुछ लिखता है)

आर्कदीना : क्या लिख रहे हो ?

त्रिगोरिन : आज सुबह मैंने एक बड़ा अच्छा वाक्य सुना—"कुमारी का उपवन, शायद किसी काम आ जाए। (अंगड़ाई लेता है) तो हमें जाना है ? फिर वही रेल के डिब्बे, स्टेशन, उपहार गृह मटन चॉप—

शार्मदेव : (प्रवेश करके) मुझे बड़े अफ़सोस के साथ ख़बर देनी पड़ती है कि घोड़े तैयार हैं। बहन जी, स्टेशन चल देने का समय हो गया है। गाड़ी दो बज कर पाँच मिनट पर आ जाती है...। इरानी निकोलायेना, बस मेहरबानी करके मेरा एक काम कर दीजिए, ऐक्टर सुल्दात्सेव का क्या हुआ—यह पता लगाना न भूलिए...अब भी ज़िन्दा और स्वस्थ है क्या ? एक वक़्त था जब हम लोग साथ-साथ शराब पीते थे... वह "लुटी हुई रेल" में क्या ग़ज़ब का काम करता था, मुझे याद है उन दिनों दुःख का पार्ट करनेवाला था, इज़्म्यालोव, वह 'एलिजवेत् गार्ड थिएटर में हमेशा उसके साथ काम करता था...बहन जी, अभी इतनी जल्दी मत कीजिए...पाँच मिनट और न चलें तो भी नुक़सान नहीं हैं...हाँ तो एक बार एक मैलो-ड्रामा में वे लोग जालसाज़ों का अभिनय कर रहे थे तभी अचानक उनका भण्डाफोड़ हो गया। इज़्म्यालोव को कहना

था—"हम लोग जाल में ही फँस गए…" लेकिन कहा उसने "हम लोग ताल में ही फँस गए! (हँसता है) ताल में फँस गए! (उसके बात करने के समय याकोव सामान को लेकर व्यस्त दिखाई देता है। नौकरानी आर्कदीना को उसका टोप, कोट, छाता और दस्तानें लाकर देती है। उसे यह सब चीज़ें पहनाने में सभी मदद करते हैं। रसोइया बाईं ओर के दरवाज़े पर दिखाई देता है—और कुछ झिझक के बाद भीतर आ जाता है। पोलियन अन्द्रेयेना, फिर सोरिन और मैद्वीद्वेंको का प्रवेश।

पोलिना : (एक डलिया लाती है) रास्ते के लिए ये थोड़े से बेर हैं……बड़े मीठे हैं……रास्ते में कुछ अच्छी चीज़ खा कर शायद आपका मन प्रसन्न रहे।

आर्कदीना : पोलिना अन्द्रेयना, तुम कितनी अच्छी हो।

पोलिना : नमस्कार बहन! अगर कुछ आपके मन का न हो पाया हो तो माफ़ कीजिए..।

(रो पड़ती है)

आर्कदीना : सब कुछ बड़ा ही अच्छा रहा—बहुत ही अच्छा! मगर रोओ तो नहीं।

पोलिना : समय कैसा चुपचाप खिसक जाता है।

आर्कदीना : उसमें हमारा बस ही क्या है!

सोरिन : (भारी-सा कोट पहने हैं, शॉल पड़ा है सिर पर टोप और हाथ में छड़ी लिए हुए बाईं ओर से प्रवेश करता है। पूरा मंच पार करके) बहन, चलने का वक़्त हो गया। नहीं तो तुम्हें ही देर हो जाएगी… मैं ताँगे में जाकर बैठता हूँ। (जाता है)।

मैद्वीद्वेंको : स्टेशन तक मैं भी साथ चलूँगा… आप लोगों को विदा देने को मैं अभी वहाँ पहुँचता हूँ…(जाता है)

आर्कदीना : अच्छा सभी लोगों को मेरा नमस्कार… अगर सभी जिन्दा और चंगे रहे तो फिर अगली गर्मियों में मिलेंगे…(नौकरानी, रसोइया और याकोव उसके हाथ को चूमते हैं) मुझे भूल मत जाना (रसोइए को एक रूबल देती है) यह तुम तीनों के लिए एक रूबल है।

रसोइया : हम लोगों की ओर से बहुत बहुत शुक्रिया बीबी जी। आपका सफ़र अच्छा बीते—आपकी कृपा के हम सभी अहसानमन्द हैं।

याकोव : भगवान् आपको सुखी रखें।

शार्मयेव : आपका पत्र पाकर हमें बड़ी ही खुशी होगी। बोरिस अलैक्शीविच, प्रणाम!

आर्कदीना : त्रेपलेव कहाँ है। उससे कहो मैं जा रही हूँ। मैं उससे तो मिल लूँ। अच्छा भाई, मेरे बारे में बुरा मत सोचना (याकोव से) मैंने रसोइए को एक रूबल दे दिया है—वह तुम तीनों का है।

(सब दाहिनी ओर चले जाते हैं। मंच खाली है! नेपथ्य में लोगों को विदा देने वाला जाना-पहचाना शोरगुल! महरी मेज़ पर रखी बेरों की डलिया लेने आती है और लेकर चली जाती है।)

त्रिगोरिन : (लौट कर) अपनी छड़ी तो मैं भूल ही गया। शायद बाहर यहाँ बरामदे में छूट गई है।

(जाने लगता है कि बाईं ओर के दरवाज़े पर भीतर आती हुई नीना से मिलता है) अरे तुम यहाँ हो? सुनो हम लोग जा रहे हैं……

नीना : मेरे मन में आया कि एक बार हम लोग फिर एक दूसरे से मिल लें…(आवेश से) बोरिस अलैक्सीविच, मैंने अब पक्का इरादा कर लिया है…पाँसा फेंका गया था। मैं रंगमंच को अपना ही रही हूँ…कल मैं यहाँ से चली जाऊँगी…मैं अपने पिताजी का साथ छोड़ रही हूँ…सब कुछ छोड़े जा रही हूँ। बिल्कुल नई जिन्दगी शुरू कर रही हूँ। मैं भी मास्को ही जा रही हूँ। हमलोग वहीं मिलेंगे।

त्रिगोरिन : (इधर-उधर देख कर) 'स्लाव्यांस्की बाज़ार' में ठहरना, फौरन ही मुझे खबर देना… 'मोल्वोनोव्का, ग्रोखोलोव्स्की भवन'…मैं बहुत जल्दी में हूँ।

(चुप्पी)

नीना : सिर्फ़ एक मिनट और…

त्रिगोरीन : (बड़े दबे स्वर में) तुम कैसी सुन्दर हो……ओह, हम लोग जल्दी ही फिर मिलेंगे यह सोच कर कैसा आनन्द हो रहा है……(उसकी छाती पर सिर रख कर नीना रो पड़ती है) इन जादूभरी अद्भुत रतनारी आँखों को मैं फिर देखूँगा… यह दबी-दबी मोहक मधुरी मुस्कान……यह प्यारा

प्यारा मुखड़ा, यह स्वर्गीय पवित्रता की छाप...... मेरी प्राण......

(एक गहरा व्यस्त चुम्बन !)

पर्दा गिरता है

(तीसरे और चौथे दृश्य के बीच में दो वर्ष का अन्तराल)

कलकत्ता

[इस अंक में नीना की ओर से त्रिगोरिन को भेंट दिए जाने की घटना का जिक्र 'लिडिया एविलोव' ने अपनी प्रेम कहानी "चैखव इन माई लाइफ़" में किया है। जब लिडिया और चैखव का सम्बन्ध टूटा तो लिडिया ने चैखव को ऐसी ही भेंट दी थी और उसमें उसकी कहानी "पडौसी" की इस अर्थ की पंक्तियों की ओर संकेत था। इसके बाद चैखव शाखोलिन चले गए।]

—ले० एण्टन चैख़व
अनु० राजेन्द्र यादव

प्रेम नृत्य

प्रातः काल के ७-३० बज रहे थे। सूर्य का प्रकाश फैल रहा था। जनवरी का महीना आधा समाप्त हो चुका था। चारों ओर भूमि पर बर्फ ही बर्फ नज़र आती थी। मैंने एकाएक स्त्री-लोमडी की आवाज़ सुनी। मैं उठ कर अपने कमरे की खिड़की के पास आया और मैंने देखा कि एक स्त्री-लोमड़ी और एक पुरुष-लोमड़ी प्रेम में उछल-कूद कर रहे हैं। वे दोनों मेरे मकान से लगभग ७० गज़ की दूरी पर होंगे। लम्बी घास पर उछल-कूद करने के पश्चात् वे दोनों एक बिलकुल खुले स्थान पर आ गए। २० गज़ के घेरे में चक्कर लगाने के पश्चात् स्त्री-लोमड़ी अपने पिछले दोनों पैरों पर खड़ी हो गई। पुरुष-लोमड़ी ने भी वैसा ही किया। वे दोनों एक दूसरे के आमने-सामने खड़े थे। अब दोनों ने पूरे सन्तुलन के साथ नृत्य करना प्रारम्भ किया। उनका यह नृत्य कुछ सैकण्डों तक चलता रहा। फिर स्त्री-लोमड़ी हट गई और कुछ समय के पश्चात् वे पुनः नृत्य करने लगे वे दोनों अपनी पिछली टाँगों पर खड़े हो कर किस प्रकार नृत्य कर रहे थे यह दृश्य अद्भुत था। मैं इस नृत्य को देख कर मंत्र मुग्ध-सा रह गया।

"फ़ील्ड" के एक लेख में से

व्यक्ति और समाज

इस निबन्धों में हम समाज के स्वरूप, उसकी नैतिक मर्यादाओं तथा व्यक्ति के साथ इनके सम्बन्ध को समझाने का प्रयास करेंगे। समाज तथा उसकी नैतिकता का प्रश्न एक ओर तो समाज के प्रयोजन तथा विकास की समस्या से सम्बन्धित है और दूसरी ओर व्यक्ति की समाज में स्थिति से; इस प्रकार यह प्रश्न समाज-शास्त्र के लिए बड़े महत्व का है। प्रजातन्त्रवाद और समाजवाद या साम्यवाद अथवा एकतन्त्रवाद भी वास्तव में एक सीमा तक इसी प्रश्न के अंग हैं।

समाज शब्द की विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न परिभाषाएँ की हैं, किन्तु ये असंख्य परिभाषाएँ सामान्यतः तीन शीर्षकों के नीचे रखी जा सकती है—सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, एकात्म बहुत्व अथवा सावयय सम्बद्धता (Organic unity) का सिद्धान्त तथा सामाजिक मन अथवा सामूहिक मन का सिद्धान्त। सावयव सम्बद्धता के सिद्धन्त के मुख्य समर्थक आज रूसी समाज-शास्त्री हैं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ फ्रेंच और जर्मन समाज-शास्त्री इसके समर्थक थे। फ़ैसिस्ट जर्मनी में भी इस सिद्धान्त का ब्लुंची (Blunchi) इत्यादि ने बहुत अधिक समर्थन किया था। ये समाज-शास्त्री समाज की उपमा एक शरीर से देते हैं जिसमें असंख्य कोश (सेल) इत्यादि एक प्रक्रिया की पूर्ति के विभिन्न अवयवों के समान होते हैं। इनके अनुसार समाज शरीर के समान ही एक अविभाज्य रचना है और उसी के समान यह भी शैशव से वार्धक्य तक विकास करता है।

किन्तु समाज को शरीर से उपमित करना केवल उपमा की दृष्टि से ही गलत है प्रत्युत यथार्थ में भी भ्रान्तिजनक है। शरीर में विभिन्न स्नायुओं के द्वारा एक केन्द्र से बँधे हुए होते हैं और यह केन्द्र (मन अथवा मस्तिष्क) इन असंख्य कोशों के कार्य व्यापार का साक्ष होता है। किन्तु समाज में हम ऐसे किसी केन्द्र को नहीं देखते। जहाँ तक व्यापारिक साम्य का प्रश्न है इस दृष्टि से भी समाज में ऐसी कोई एकत्व योजना नहीं है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए आप जीता है, वह अपने कार्यों और वासनाओं का केन्द्र स्वयं ही है। इसके अतिरिक्त शरीर निर्माण में जिस प्रकार कोश एक के पश्चात् दूसरा एक सजीव प्रक्रिया के द्वारा अस्तित्व में आता है, समाज का निर्माण उस प्रकार से नहीं होता। ठीक बात यह है कि शरीर संगठन से समाज की उपमा एकदम अवैज्ञानिक और भ्रान्तिजनक है, क्योंकि इससे न केवल हम उपमा के घपले में ही उलझते हैं प्रत्युत इसलिए भी कि इस उपमा में कोई भी समान धर्म नहीं है।

यदि उपमा के फेर में न पड़ कर सावयय संबन्ध के प्रतिपादकों के अभिप्राय को समझा जाए तो सम्भवतः मधुमक्खी-समष्टि अथवा चींची-समष्टि को सावयव सम्बद्धता कहा जा सकता है।[1] जैसा कि हमने व्यष्टि और समष्टि के निबन्ध में देखा है—इन समष्टियों में व्यष्टि लगभग उसी प्रकार व्यष्टि है, जैसे हम गणित के असंकेत को व्यष्टि (इकाई) कह सकते हैं। किन्तु यह उपमा केवल इसी अर्थ में ठीक है कि प्रत्येक मक्खी छत्ते में निर्विशिष्ट होती है, जैसे 'अ' में प्रत्येक 'अ' होता है। किन्तु 'अ' में प्रत्येक 'अ' एक स्वतन्त्र इकाई है जब कि छत्ते में व्यष्टि मक्खी परस्पर समविद्ध है, वह छत्ते की आयोजना में एक अविभाज्य अंग है। सम्भवतः इसी अर्थ में सावयव सम्बद्धता के सिद्धान्त के अनुयायी समाज को आर्गेनिक युनिटी कहते हैं। सामाजिक मत सिद्धान्तानुयायी मेक्डुगल तथा हेगल इत्यादि भी इस दृष्टि से रूसी समाज-शास्त्री नोविकोफ़ तथा फ़ैसिस्ट जर्मनी के समाज शास्त्री ब्लुची से वास्तव में बहुत भिन्न नहीं है. क्योंकि वे सामाजिक मन को व्यक्ति-मनों की ऐसी रासायनिक अन्विति समझते हैं जिसमें विभिन्न गैसों के समान विभिन्न मन मिल कर एक स्वतन्त्र और व्यक्ति-मनों की मात्र समष्टि से भिन्न एक समवाय मन का सृजन करते हैं।

---

[1] विशेष के लिए देखें प्रस्तुत लेखक द्वारा 'व्यष्टि और समष्टि' निबन्ध 'प्रतीक' के फरवरी-मार्च १९५२ के अङ्क में।

समझौते का सिद्धान्त इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न व्यक्ति को समाज से सर्वथा स्वतन्त्र एक ऐसा केन्द्र मान लेता है जो अपने ही समान अन्य केन्द्रों के मण्डलों के समीप घूमता है किन्तु जो अपने मण्डल में दूसरों को प्रवेश की आज्ञा देता है और न स्वयं दूसरों के मण्डल में प्रवेश पाता है। ये मण्डल पारस्परिक सुविधा के अनुसार निश्चित रेखाओं पर केवल चक्कर काटते रहते हैं जिससे संघर्ष से बच सकें।

किन्तु समझौते के सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत करना, हमारे विचार में अन्याय है; यद्यपि बहुत से विद्वान् इसे कुछ इसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं। हम स्वयं इस सिद्धान्त के एक अत्यन्त विनम्र रूप को अपने ढंग से स्वीकार करते हैं, जो कि हमारी वर्ग-आयोजना और सामाजिक आयोजना की पिछले अध्याय की कल्पना के विरुद्ध नहीं जाता।

आज हम मनुष्य कहे जानेवाले प्राणी के समाज के उपलब्ध प्राचीन से प्राचीनतम रूप को भी इस प्रकार संगठित और एक आयोजना में विकसित पाते हैं कि उसको किसी प्रकार का समझौता-मात्र कहना कठिन हो जाता है। समझौता शब्द में जो व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र इच्छा का महत्व निहित रहता है और इससे समाज जितना ऐच्छिक संगठन जैसा हो जाता है वह बात हम इन समाजों में बिलकुल भी नहीं पाते। व्यक्ति इनमें एक निश्चित विधान के अनुसार शृंखलित है और उस विधान के वैसा होने या न होने का न तो उस पर उत्तरदायित्व है और न समाज व्यक्ति की सम्मति को बहुत मूल्य ही देता है; व्यक्ति उस आयोजना में उत्पन्न होता है और उसके दण्ड-अनुग्रह अथवा यश-अपयश के संकेतों पर अपने आपको ढालता है।[३] इसी से कुछ समाज शास्त्री तो यहाँ तक कह डालते हैं कि—

"प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों की उत्पत्ति (Offspring) है और पहले से ही निश्चित नियमों और विधानों से निर्धारित होता है। इतना ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री या पुरुष, सामाजिक सम्बन्धों में अपनी स्थिति के अनुसार एक निश्चित और नियमित अवस्था (Term) है। व्यक्ति न अपने आप में अथ है और न इति, प्रत्युत जीवन की शृंखला में मात्र एक कड़ी है। यह सामाजिक और जीव वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से सत्य है किन्तु यह व्यक्ति में सामाजिकता की जड़ों की गहराई को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

क्योंकि समाज मात्र आवश्यक परिवृत्ति से कहीं अधिक है, उस मिट्टी और जलवायु से कहीं अधिक है, जिस पर हम जीते हैं। हमारा अपनी सांस्कृतिक परंपरा के साथ सम्बन्ध बीज के अपनी मिट्टी के साथ सम्बन्ध कहीं अधिक निकट का और गम्भीर होता है। हम एक समाज में उत्पन्न होते हैं जिसकी विशेषताएँ हमारे अस्तित्व को निश्चित करती हैं और जिसके अंग समय पाकर हमारी मनःस्थिति के अंग बन जाते हैं—वे केवल बाह्य परिवृत्ति मात्र नहीं रहते हैं।[४]

संस्कृति या समाज के व्यक्ति पर इतने गम्भीर प्रभाव के दावे को स्वीकार किया जाए या नहीं, इस विषय में हमें यहाँ कोई विशेष रुचि नहीं है, किन्तु इस बात में तो संदेह नहीं ही किया जा सकता कि आज किसी भी मानव-समाज की उपलब्ध दशा ऐसा नहीं है जिसमें व्यक्ति का स्थान एक ऐच्छिक सदस्य का सा हो। किन्तु इसका कारण यही है कि आज मनुष्य कहीं भी उस रूप में नहीं है जिस रूप में वह उस समय था जब वह अभी 'मनुष्य' तक पहुँच रहा था या जब अभी उसे पहुँचते बहुत देर नहीं हुई थी। ऐसा मनुष्य भी अवश्य ही किसी न किसी प्रकार के झुण्ड में ही रहता होगा किन्तु उस झुण्ड का रूप, हमारे विचार में, अवश्य ही कुछ इसी प्रकार का रहा होगा जैसा राहुल जी की "वोलगा से गंगा" की पहली कहानी में हम पाते हैं। वास्तव में आज व्यक्ति समाज में रहने का आदी हो गया है—वह आज किसी न किसी प्रकार के कपड़े पहनता है, घर या झोपड़ियाँ बनाता है, अनाज पकाता है इत्यादि, इससे उस युग के मानव-समाज की स्थिति आज के सबसे अधिक पिछड़े हुए मानव समाज से भी बहुत अधिक भिन्न होगी।

हमारे विचार में इस 'वानर-समाज' की प्रवृत्ति लगभग वैसी ही रही होगी जैसी आज बन्दरों, हरिणों और हाथियों इत्यादि की है। इस प्रकार मानव-समाज

---

३ इसका अर्थ यह नहीं कि महान् व्यक्ति समाज पर कोई प्रभाव ही नहीं छोड़ते, वे तो युगों का निर्माण भी करते हैं, किन्तु वह बिल्कुल दूसरी बात है। 4 Macjuer & Page—Society (London 1951)

का मूल कारण ठीक से वही है जो उन पशुओं का झुण्ड में एकत्रित होने का होता है। ये झुण्ड प्रत्येक दृष्टि से अपने सदस्यों के लिए लाभदायक होते हैं क्योंकि इस में उन्हीं अपने आपको किसी भी आरोपित विधान में शृंखलित और सम्मत नहीं करना होता। झुण्ड में इस प्रकार एकत्रित होना बिलकुल भी वैचारिक नहीं है प्रत्युत एकदम प्रवृत्यात्मक (Instinctive) है। इस प्रकार मानव-समाज के निर्माण के मूल में भी वैचारिक समझौता नहीं है, प्रत्युत शुद्ध जैवी प्रवृत्ति ही है।

यह 'मनुष्य' जैवी विकास किस स्थिति में था, इसके सम्बन्ध में नृतत्वशास्त्री और जेनेटिस्ट (Genetist) अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। संभव है राबर्ट ब्रूम की खोई हुई कड़ियों की जाति (Missing links[५]) का मनुष्य अभी ऐसे ही सामाजिक स्तर पर हो, क्योंकि उस मनुष्य का मस्तिष्क अभी इतना विकसित नहीं रहा होगा कि वह भाषा का प्रयोग कर सकता जिसके लिए काफ़ी अधिक स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति की आवश्यकता है। कब 'मनुष्यों का यह झुण्ड' समाज की स्थिति में आया यह कहना अत्यन्त कठिन है, किन्तु उपलब्ध प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि अभी थोड़े ही वर्ष पहले तक, जब कि मानव-जाति का आधुनिक जैवी रूप स्थिर हो चुका था, समाज अभी काफ़ी अविकसित अवस्था में ही था, उसे झुण्ड से समाज तक संक्रमण करने की अवस्था का मध्यकाल भी कहा जा सकता है। उदाहरणतः विवाह प्रथा के प्रचलन का श्रेय उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु को दिया जाता है, इससे यह अनुमान लगाना सहज ही है कि उससे पूर्व मानव-समाज की क्या स्थिति रही होगी, क्योंकि विवाह-प्रथा समाज की रीढ़ है। पुराणों और 'महाभारत' की बहुत सी कहानियाँ भी समाज की प्रारम्भिक अवस्था को जानने में पर्याप्त उपयोगी हो सकती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जब अभी मनुष्य शारीरिक स्तर पर भाषा के एब्स्ट्रैक्ट प्रतीक प्रयुक्त करने योग्य नहीं हुआ था तब उसका झुण्ड पूर्णतः बन्दरों के झुण्ड की सी अवस्था में ही होगा और जब वह जेनम्यूटेशन इत्यादि के द्वारा इस अवस्था में भी आ गया कि वह भाषा का प्रयोग कर सकता और अपनी विचारणा (Intellect) से कार्य ले सकता, तब भी उसका झुण्ड हजारों वर्षों में समाज के अत्यन्त प्रारम्भिक रूप तक पहुँचा होगा।

किन्तु समाज का यह अविकसित रूप भी, चाहे कितनी भी अधिक अविकसित रूप की कल्पना की जाए, एक योजना से—एक समझौते से स्थिर नहीं किया गया था, इसके पीछे हज़ारों वर्षों का वह इतिहास था जिसमें से यह रूप उत्थित हुआ था। मनुष्य इसी की परिवेश में उत्पन्न होने से और इसी में बढ़ने से स्वभावतः ही इसे उसी प्रकार स्वीकार करता रहा है जैसे चिड़िया घर में उत्पन्न हुआ शेर का बच्चा अपनी कोठड़ी को स्वीकार कर लेता है।

इस प्रकार समाज उस समिति के समान नहीं है जिसकी कल्पना उसके वास्तविक अस्तित्व से पूर्व ही अस्तित्व में आ जाती है और फिर उस कल्पना के अनुसार कुछ व्यक्ति मिल कर एक निश्चित विधि से जिसको क्रियान्वित करती हैं, प्रत्युत उसी प्रकार एक जैवी प्रेरणा और अभ्यास का परिणाम है जैसे बन्दरों या हरिणों का झुण्ड होता है।

किन्तु समाज और झुण्ड में बहुत अधिक अन्तर है—झुण्ड में जहाँ उसके सदस्यों को संयुक्त करने वाली कोई वैधानिक शृंखला नहीं होती वहाँ समाज में एक निश्चित वैधानिक शृंखला होती है, उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ कर्त्तव्य होता है, कुछ अकर्त्तव्य होता है और कुछ अच्छा तथा बुरा होता है। बहुत से समाज शास्त्री समाज का मूल परिवार को मानते हैं, परिवार वास्तव में एक बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया तत्व (Factor) है भी, किन्तु पुराणों और 'महाभारत' की अत्यन्त प्राचीन कहानियों से तथा विवाह-संस्था की प्राचीन दन्त कथा से भी ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह संस्था का उद्भव सामाजिक विधान के काफ़ी देर बाद हुआ। वैसे भी

---

[५] डारविन ने आधुनिक मनुष्य के पूर्वजों की खोज करते हुए जो अस्थि-पंजर प्राप्त किए वे मनुष्य के सुन्दर पूर्वजों के थे, उन्हें मनुष्य के पूर्वजों के पंजर प्रमाणित करने के लिए बीच की कड़ियों की आवश्यकता थी जिन्हें खोजने में वैज्ञानिक व्यस्त हैं। राबर्ट ब्रूम ने उनमें से कुछ खोजी हैं और एक पुस्तक 'Finding of missing links' में अपनी तथा अन्य वैज्ञानिकों की खोजों का संक्षिप्त विवरण दिया है।

विवाह संस्था का विकास काफ़ी विकसित अवस्था में ही होना सम्भव प्रतीत होता है। इससे सामाजिक विधान की आवश्यकता पहले पहल विवाह से नहीं उत्पन्न हुई होगी, सामाजिक विधान किसी न किसी रूप में बहुत पहले से ही विकसित हो गया होगा, सम्भवतः तभी जब मनुष्य ने अपने पारिवारिक झुण्ड की सदस्य संख्या का कुछ हिसाब रखना प्रारम्भ किया होगा और जब उसने अपने परिवार के लिए एक गुफ़ा बनाई होगी। किस व्यक्ति को शिकार का कितना भाग मिले, शिकार पर जाते समय कौन व्यक्ति सबसे आगे रहे इत्यादि के कुछ नियम उसके लिए आवश्यक रहे होंगे।

किन्तु सामाजिक विधान का सम्यक् विकास तभी हुआ हो सकता है जब समाज के पास कुछ निश्चित कोष होने लगा हो, सम्भवतः सामाजिक विकास हथियारों के विकास पर बहुत निर्भर करता है। उस समय यद्यपि अभी राज्य-सत्ता का आविर्भाव नहीं हुआ था, तो भी दण्ड अनुग्रह की पूरी व्यवस्था थी और कोई भी व्यक्ति उस दण्ड से बच नहीं सकता था जो उसके असामाजिक कृत्य के लिए निश्चित किया जाता था।

सामाजिक विधान समाज के अस्तित्व के लिए एक आवश्यक शर्त है—यह हम सहज ही समझ सकते हैं, इसी से सामाजिक विधान को स्वीकार करना उन समाजों के लिए आवश्यक भी हो गया, किन्तु यह स्वीकृति किसी निश्चित योजना के अनुसार नहीं दी गई होगी प्रत्युत यह स्वीकृति स्वतः विकसित ही हुई होगी, उसी प्रकार जैसे अपने को हानि पहुँचाने वाले के प्रति क्रोध और लाभ पहुँचाने वाले के प्रति स्नेह उत्पन्न होता है। यह उपमा केवल उपमा नहीं है प्रत्युत इससे हम विधान के विकास के मूल के पास पहुँचते हैं क्योंकि यह हम सहज ही जान सकते हैं कि किसी भी सामाजिक विधान का उद्देश्य व्यक्तिगत या सामूहिक स्वार्थों को हानि से बचाना होता है, जिससे संघर्ष उत्पन्न न हो।

आज जो सभ्य (प्रिमिटिव) पूर्व-युगीन समाज व्यवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें समाज व्यक्ति के लिए कुछ ऐसी सत्ता है जिसे हम ईश्वरीय कह सकते हैं। इन समाजों के अपने अपने विशिष्ट विधान होते हैं जो व्यक्ति के लिए अनिवार्य रूप से पालनीय होते हैं, इन विधानों के साथ किसी न किसी प्रकार के अति प्राकृतिक विश्वास जुड़े रहते हैं। जैसा कि मैलिनोवस्की कहता है: "सभ्य पूर्वयुगों में ऐसी कोई जाति नहीं थी जो धर्म और जादू में विश्वास न करती हो।"६ टेलर का भी यही विचार है। पूर्वजों के प्रेतों में भय मिश्रित आस्था, देवताओं और राक्षसों में विश्वास और जादू-टोनों में निष्ठा उस समय की केवल सांस्कृतिक स्थिति को ही नहीं बताते, प्रत्युत व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को समझने में भी सहायक होते हैं। वास्तव में देवता-राक्षसों तथा जादू टोनों में विश्वास उस समय के मनुष्य के लिए पूर्वतः स्वाभाविक है क्योंकि उस समय मनुष्य ने अभी वैचारिक-विकास इतना नहीं किया था और उसमें भय-विस्मय-क्रोध और स्नेह की अनुभूति आवेगात्मक अवस्था से बहुत आगे नहीं बढ़ी थी। जेनेटिक (Genetic) विकास में मनुष्य आज भी लगभग वहीं है जहाँ आज से तीन हज़ार वर्ष पूर्व वह था किन्तु आज विचारणात्मक विकास में वह बहुत अधिक आगे है। यद्यपि आज भी हम अत्यन्त विकसित और सर्वाधिक प्रगतिशील समाजों में भी अतिकल्पना (Superstition) जादू; टोना तथा सदसद् के प्रति विश्वास प्राप्त कर सकते हैं,७ किन्तु आज यह काफ़ी कम और काफ़ी कम वर्गों में ही पाया जाता है। हमारे विचार में इसका मूल कारण बुद्धि का वह अल्प विकास है जो भय इत्यादि पशु प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने में सफल नहीं हो पाता।

समाज तथा उसके विधानों के प्रति श्रद्धा-भाव का कारण सामान्यतः अविकसित मानसिक स्थिति को कहा जा सकता है। तत्कालीन धर्म, जादू और अन्य सांस्कृतिक पत्रों के अध्ययन से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है। उन युगों में प्रत्येक घटना और वस्तु का स्रोत कोई पारलौकिक शक्ति को समझा जाता था, अतः समाज और उसके विधानों में भी पारलौकिकता का होना स्वाभाविक ही था। मैलिनोवस्की के अनुसार उस समय—पूर्व समाज व्यवस्था में परम्परानुसार प्राप्त कार्य तथा उनके प्रति समादर और पवित्रता की भावना थी। इन परम्पराओं को वे बहुत पावन समझते थे और उन्हें

---

६. Malinowsky Magic, Science & Religion (Newyark)

७. अमेरिका में व्यापारी बृहस्पति वार को कोई कॉन्ट्रैक्ट (Contract) इत्यादि नहीं करते। भारत तो काफी अविकसित समाज व्यवस्था का देश है!

श्रद्धा, निष्ठा तथा कुतूहल मिश्रितभय से देखते थे। ये पावन कृत्य विविध विधि-निषेधों तथा कर्मकाण्डों से उलझे होते थे। ऐसे कृत्य और समादृत कर्मकाण्ड तथा पूजा-पाठ इत्यादि सदैव अति प्राकृतिक शक्तियों में विश्वास से युक्त होते ही हैं, विशेषतः जादू, भूत, प्रेत, देवता और राक्षसों इत्यादि की कल्याण तथा अकल्याण कर शक्तियों से। इसी प्रकार प्रो. डर्खिम (Pof Durkhim) के अनुसार "उस समय साधारणतः समाज ऐसा प्रत्येक गुण रखता था जो निश्चित रूप से उस युग के व्यक्ति के हृदय में अपनी अति प्राकृतिकता की छाप लगा सकता—और यह केवल अपनी कठोरता और शक्ति के कारण ही था जो वह अपने सदस्यों पर प्रदर्शित करता था, क्योंकि वह अपने सदस्यों के लिए वही स्थिति अथवा महत्व रखता था जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर रखता है।" इस युग के व्यक्ति की समाज के प्रति इसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिए नृतत्वशास्त्री गॉडहैड (Godhead) शब्द का प्रयोग करते हैं। मैकीवर भी इन ससाजों की कठोरता के लिए कहते हैं—"यह प्रायः सर्व स्वीकृत सत्य है कि समय पूर्व (Primitive) समाजों में व्यक्तित्व अपेक्षाकृत बहुत कम स्पष्ट होता है और इसका कारण है उनके विधानों का लचक से रहित होना तथा सद्सद् के प्रति धार्मिक पवित्रता-अपवित्रता की भावना होना।" ऐसा न होना संभवतः समाज के लिए घातक है; जैसा कि हम आगे देखेंगे, समाज के सम्यक् और अबाध अस्तित्व के लिए अनेक विधानों में कठोरता और निष्ठुरता होनी आवश्यक है। प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था की परिचायक एक टिपिकल कहानी को हम यहाँ उद्धृत करते हैं :

"दो भाई शंख और लिखित तपस्या करने के लिए जंगल में रहते थे। एक दिन छोटा भाई लिखित अपने बड़े भाई से मिलने के लिए उसके आश्रम में गया। शंख उस समय शौचादि के लिए कहीं बाहर गया हुआ था। लिखित को भूख लगी थी इससे उसने अपने भाई के आने की प्रतीक्षा किए बिना उसके आश्रम से फल तोड़ कर खा लिए, थोड़ी देर में शंख लौटा और उसने कुशल समाचार के पश्चात् अपने भाई से कुछ खाने के लिए पूछा। लिखित ने बताया कि उसे भूख लगी थी इससे उसने पहले ही फल तोड़ कर खा लिए थे इससे उसे अब भोजन की आवश्यकता नहीं है। यह सुन कर शंख चिन्ता विकल हो अब कि उसके भाई ने कितना बड़ा चोर कर्म कर लिया है और इससे उसकी सम्पूर्ण तपस्याएँ निष्फल हो गई हैं। उसने लिखित को कहा कि उसे शीघ्र इसका प्रायश्चित्त करना चाहिए नहीं तो उसका परलोक बिगड़ जाएगा। लिखित ने भाई के इस तर्क को स्वीकार किया और दोनों भाइयों ने राजा के पास पहुँच कर लिखित के लिए दण्ड याचना की। राजा ने पहले तो ऋषि को दण्ड देने में भय का अनुभव किया किन्तु फिर शंख-लिखित के समझाने पर उसने लिखित के दोनों हाथ काट देने की आज्ञा दी। इस प्रकार लिखित का प्रायश्चित पूर्ण हुआ।' इसी प्रकार राजा हरिश्चन्द्र तथा राम का सत्यव्रत भी ऐसी ही अविकसित समाज व्यवस्था का द्योतक है। इसके विपरीत मेरे एक मित्र ने अपने पिता के एक पत्र के उत्तर में लिखा था "वह यह मानने को तैयार नहीं है कि माता पिता के प्रति पुत्र के इस लिए कुछ कर्त्तव्य हैं कि उन्होंने उसे उत्पन्न किया है, मैं केवल आप लोगों के क्षणिक मानसिक विचलन का अपने आपको परिणाम समझता हूँ" यह कहाँ तक 'उचित' है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु ये तर्क प्रणालियाँ (राम और मेरे मित्र की) सामान्यतः उन दो युगों की प्रतिनिधि हैं जिनमें एक अभी पत्थर युग से कुछ ही आगे बढ़ा था और दूसरी उस युग की जिनमें विज्ञान ने असीम उन्नति कर ली है। शंख और लिखित चोरी का कितना स्थूल अर्थ समझते थे और इस चोरी से वे क्यों भयभीत थे, ये दोनों ही बातें बड़ी रोचक और सार्थक हैं।

प्राचीन समाजों में ऐसा क्यों होता है, इस विवाद में हम यहाँ न पड़ कर पुनः व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के प्रश्न पर लौटेंगे, जिसे हम अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं। हमने समाज के उद्भव के कारणों को समझने का प्रयास करते हुए यह देखा था कि समाज का निर्माण किसी समझौते के आधार पर नहीं हुआ प्रत्युत व्यक्ति प्रवृत्ति से ही झुण्ड में एकत्रित हो गए किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति झुण्ड में किसी 'सामाजिक विधान' या योजना के कारण भी एकत्रित नहीं हुए प्रत्युत विशुद्ध रूप से अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ही एकत्रित हुए थे। इसलिए व्यक्ति समझौते की योजनानुसार समाज में एकत्रित न होकर भी स्वभावतः एक समझौते के आधार पर ही समाज में

एकत्रित हुआ कहा जाएगा। फिर समाज में जो विधान निर्मित होते हैं उनकी योजना चाहे निश्चित उद्देश्य से एकत्रित बैठ कर न बन गई हो किन्तु विधान स्पष्टतः ही व्यक्तियों का संधि-पत्र है। इस लिए समाज को व्यक्तियों का समझौता कहना समझौता शब्द के विनम्र अर्थ में अनुचित नहीं है। यह अर्थ और भी सुस्पष्ट हो जाता है जब हम अपने ढंग से सामाजिक मन के सिद्धान्त को भी समज लेते हैं।

सामाजिक मन के सिद्धान्त के समर्थकों ने जिस रूप में इस सिद्धान्त का समर्थन किया है, उससे हम सहमत नहीं हैं, यह पिछले निबन्ध से पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है किन्तु हम समाज को आयोजित कह कर जो कि व्यक्तियों का समवाय न होकर अतीत और वर्तमान के विभिन्न विचारों और स्वार्थों के तथा विधि-निषेधों के संघर्षण और रासायनिक घोल का परिणाम है—सामाजिक मन के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। हमारा यह सामाजिक मन मैक्डुगल इत्यादि के उस सामाजिक मन के समान नहीं है जो आकाश के समान प्रत्येक आँगन की दीवारों में उनके अनुसार ढल कर भी अखण्ड है और इस प्रकार अपनी सर्व व्यापकता से प्रत्येक आँगन के अवकाश को भरता है। इससे व्यक्ति मन सामाजिक मन का मात्र एक अंश रह जाता है जब कि हमारी तर्कप्रणाली से व्यक्ति मन अपनी निजी विशेषता के साथ सामाजिक मन से प्रभावित होता है और उस प्रभाव की छाया में अपनी वासनाओं को चरितार्थ करता है। समाज में ऐसे अपनी वासनाओं पर सामाजिक विधान के अनुसार नियन्त्रण रखना होता है क्योंकि समाज के लिए सब के स्वार्थों की ग्यारेंटी देना आवश्यक है; इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जाने अनजाने एक समझौते का आदर करने के लिए बाध्य है क्योंकि समाज, चाहे उसने व्यक्ति मन को प्रभावित करने के रूप में और भी अनेक प्रकार से महत्व प्राप्त कर लिया है, किन्तु वह मुख्यतः समझौता ही है।

इस प्रकार सामाजिक मन की हमारी कल्पना और मैक्डुगल की कल्पना में मौलिक अन्तर है। मैक्डुगल की सामाजिक मन की कल्पना को स्वीकार करके हम नोविकोव की सावयव सम्बद्धता की कल्पना के लगभग समीप पहुँच जाते हैं क्योंकि मैक्डुगाल का सामाजिक मन भी एक ऐसा आर्गेनिज़्म (Organism) है जो व्यक्ति-मनों की अनेकता को अपनी अखण्डता में समेटता है। वास्तव में ऐसा आर्गेनिज़्म केवल कभी कभी मनुष्यों के उस झुण्ड में पाते हैं जो किसी लोम-उत्तेजना से अभिभूत हो जाता है—जैसे महात्मा गांधी के हत्यारे पर आक्रमण के समय सम्पूर्ण झुण्ड में एक ही संक्रामक उत्तेजना व्याप्त थी इसी प्रकार किसी राजनैतिक या अन्य किसी प्रकार की उत्तेजना से व्याप्त झुण्ड भी 'एक मन' होता है। ठीक इसी प्रकार की आर्गेनिक युनिटी हम ओरियोल (Oriol) चिड़ियों के उस झुण्ड में पा सकते हैं जो बाज़ को देख कर बड़ी तीव्र गति में एक लय में चक्कर काटता है। किन्तु मनुष्यों का या ओरियोल चिड़ियों का यह उत्तेजित झुण्ड समाज नहीं होता।

इस प्रकार हम व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की जिस कल्पना पर पहुँचते हैं उसमें व्यक्ति को एकदम आत्म केन्द्रित और स्वार्थानुरक्त पाते हैं, किन्तु समाज का उद्देश्य क्या है? क्या वह भी व्यक्ति के ही समान आत्मपरक है?—इसका उत्तर देने का भी कठिन और उलझन पूर्वक कार्य है क्योंकि समाज को आत्मपरक मानने का अर्थ है एक ऐसे स्वतन्त्र सामाजिक आत्मा को भी स्वीकार कर लेना जिसका खण्डन स्पेन्सर यह कह कर करता है कि—"उसका अन्य शरीरों या आर्गेनिज़्म में मस्तिष्क के समान कोई केन्द्र नहीं है।" हम समाज को व्यक्ति-समवास से अधिक मान कर भी ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मान रहे जो अपना केन्द्र आप ही हो सकता है, समाज अपने आप में ऐसा कोई केन्द्र नहीं है। किन्तु समाज को व्यक्ति परक कर वह समस्या सुलझाने के बजाय और भी उलझ जाती है क्योंकि व्यक्ति को हम पूर्णतः आत्म परक मान रहे हैं। इससे व्यक्तियों को अनुस्थूत करनेवाली कोई भी शृंखला नहीं रहती क्योंकि व्यक्ति-परक समाज का अर्थ है पहले से ही विकेन्द्रित इकाइयों में विकेन्द्रित होना, जिन का कुछ भी अर्थ नहीं बनता।

इस लिए हमें प्रश्न को एक दूसरे रूप में प्रस्तुत करना होगा। हम अपने पिछले अध्ययन से यह जानते ही हैं कि सामाजिक विधान और नैतिकता का 'उद्देश्य' प्रत्येक व्यक्ति को सुरक्षा का आश्वासन देना है, इस लिए समाज, जो अन्ततः अपने नैतिक नियमों के कारण ही समाज है, व्यक्ति-परक ही हो सकता है, किन्तु उसकी

यह व्यक्ति-परकता एक व्यक्ति को अथवा सभी व्यक्ति-केन्द्रों को उद्देश्य न बना कर सब को सामूहिक रूप से केन्द्र बनाती है क्योंकि व्यक्ति का स्वार्थ स्वयं समझौते को पालन करने में नहीं है प्रत्युत दूसरों के इस समझौते को पालन करते रहने में है। इससे समाज की व्यक्ति-परकता विकेन्द्रीकरण न होकर केन्द्रीकरण है; इसे हम समाज की आत्म-परकता भी कह सकते हैं, क्योंकि विधान या नैतिकता जो कि समाज का उद्देश्य है, वही समाज भी है।

इस स्थापना के पश्चात् अब हम समस्या के ठीक उस बिन्दु पर पहुँच गए हैं जहाँ से खड़े होकर लक्ष्य पर ठीक सीधा निशाना लगाया जा सकता है—जब व्यक्ति का उद्देश्य उसका निजत्व है और समाज का उद्देश्य सर्वत्व तो वह कौनसा सामान्य स्वार्थ है जिस पर दोनों एक दूसरे से मिलते हैं? व्यक्ति का निजत्व यद्यपि अनिवार्य रूप से समाज के सर्वत्व का विरोधी नहीं है, जैसे व्यक्ति की आत्म रक्षा या वासना-तृप्ति दूसरों की आत्मरक्षा या वासना-तृप्ति की अनिवार्य रूप से विरोधी नहीं है, किन्तु सामाजिक नैतिकता सर्वत्र व्यक्ति की कम से कम तीन चौथाई से भी अधिक मौलिक वासनाओं को अनिवार्य रूप से सीमित करती है—उदाहरणतः मैथुन वासना, सर्वोत्तम वस्तुओं के अधिकार की वासना, शत्रुदलन की वासना तथा अधिकार या सर्वोत्तमता प्राप्ति की वासना इत्यादि। ऐसा किए बिना समाज का अस्तित्व नहीं रह सकता क्योंकि इससे सब की सुरक्षा की, सब की सीमित स्वार्थ पूर्ति की ग्यारंटी नहीं रहती इसलिए समाज की पूर्णता उसकी नैतिकता की कठोरता, अनिवार्यता और अपरिवर्तन शीलता (Rigidity) में है जब कि इसके विपरीत व्यक्ति प्रवृत्या ही इसमें बन्दी और अस्थाने (Misplaced) अनुभव करता है। समाज सदैव हरिश्चन्द्र, राम और शंख का आदर्श स्थापित करता आया है किन्तु व्यक्ति में सदैव बन्दर बैठा हुआ अपनी माँगों को दुहराता रहता है। राम या हरिश्चन्द्र ने अपनी वासनाओं को परलोक का लोभ दे दिया था, किन्तु उस व्यक्ति के लिए जिसका संसार केवल क्षितिज के इधर तक सीमित है, राम या हरिश्चन्द्र बनने में कोई आकर्षण नहीं हो सकता।

वास्तव में व्यक्ति को नैतिक बताने का श्रेय कुछ तो जिसे शैशव से निरन्तर उस प्रकार के मानसिक अभ्यास को होता है जिसे हम पिछले निबन्ध में 'व्यक्ति का अपनी वासनाओं के साथ क्रियात्मक सम्बन्ध' कह कर आए हैं, कुछ प्रशंसा और भय को मानसिक अभ्यास और प्रशंसा व्यक्ति को बहुत दूर तक संयत करने में समर्थ होते हैं किन्तु ये ही तो मौलिक प्रवृत्तियों के समान सबल होते; केवल भय – सामाजिक दण्ड या ईश्वरीय प्रकोप का भय—ही उसे सामाजिक नैतिकता का पालन उस कठोरता से करवा सकता है जिन कठोरता से शंख लिखित ने तथा राम और हरिश्चन्द्र ने किया था। इस प्रकार सामाजिक नैतिकता और व्यक्ति के अन्तरतम आत्मा में एक मौलिक विरोध है। यह विरोध किसी भी देश और किसी भी काल में समाज की 'क्रूरता' के विरुद्ध व्यक्ति के विद्रोह के प्रतीक रूप में अपने असंतोष का प्रदर्शन चोरी, व्यभिचार और हत्या इत्यादि के रूप में एक ओर तथा व्यापार, नीति (Policy) और काव्य-कलाओं इत्यादि के रूप में दूसरी ओर करता आया है। यह संघर्ष केवल नैतिक नियमों को तोड़ कर सीधे समाज की अवमानना करने के रूप में ही नहीं स्वयं व्यक्ति में अपने आप में भी चलता है—कभी तो इस रूप में कि व्यक्ति का आत्मा जब कि एक मांग करता है तो उसकी सामाजिक शिक्षा दूसरी; और कभी इस रूप में कि व्यक्ति जब कि काव्य या सिनेमा में अथवा दिवा स्वप्नों में अपनी विशेष वासनाओं को तृप्त करता है, उन्हीं का समाज में या कम से कम अपने सम्बन्धियों में निषेध भी करता है। उदाहरणतः कोई भी भारतीय अपने घर में शकुन्तला को (जो कन्या की एक पवित्र और करुण नायिका है) देखना नहीं चाहेगा।

इस प्रकार यद्यपि व्यक्ति समाज को छोड़ नहीं सकता, क्योंकि वह तब तक कपड़े के बिना, घर के बिना और साथियों से बातचीत किए बिना नहीं रह सकता जब तक कि प्रारम्भ से ही उसे वैसा रखा न गया हो, किन्तु वह कुछ तो दूसरों की असामाजिकता का लाभ उठा कर, कुछ अकेले ही झूठ, चोरी इत्यादि के रूप में और कुछ प्रयास से अधिकार तथा प्रशंसा इत्यादि प्राप्त करके सामाजिक नैतिकता को शिथिल और इस प्रकार सह्य बनाता रहता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक नैतिक नियम की कुछ आत्म-सम्मत व्याख्या भी करने का प्रयास करता है।

किन्तु समाज व्यक्ति के व्यक्तिगत मान-दण्डी को

लेकर नहीं चल सकता, यद्यपि वह अपने आप को कुछ लचकदार बनाने का प्रयास करता ही है। किन्तु यह अन्तर्विरोध कभी समाप्त नहीं हो सकता, केवल कम हो सकता है। समाज और व्यक्ति की एक ही कृत्य की दो विरोधी व्याख्याओं के प्रमाण हमारे न्यायालय हैं। सम्भवतः आत्महत्या से अधिक कोई भी न्याय 'अनैतिकता' नहीं हो सकती किन्तु न्यायालय ऐसे व्यक्ति को दोषी ठहराता है। इसी प्रकार पर-हत्या और व्यभिचार भी न्यायसंगत पाप हो सकते हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए अथवा किसी अन्य अक्षम्य शत्रुता का बदला चुकाने के लिए किसी की हत्या करता है, उस व्यक्ति का यह कृत्य किसी के भी व्यक्तिगत दृष्टिकोण से न्याय संगत है; शकुन्तला दुष्यन्त तथा हीररांझा जैसे प्रेमचार भी पूर्णतः न्याय संगत हैं किन्तु न्यायालय और समाज उन्हें कभी क्षमा नहीं कर सकते। समाज को उन्हें क्षमा करना चाहिए भी नहीं, क्योंकि व्यक्तिगत मानदण्ड समाज के अस्तित्व के लिए घातक हैं।

समाज और व्यक्ति की न्यायता के विरोधी दृष्टिकोण को और भी आगे बढ़ाया जा सकता है—मान लीजिए मैं एक झूठ बोलता हूँ जिसका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से एक ऐसा स्वार्थ है जिससे समाज का भी भला होता है अथवा केवल स्वार्थ साधन होता है किन्तु परार्थ को कोई हानि नहीं पहुँचती तो ऐसा झूठ न्याय्य और तर्कसम्मत भी है; किन्तु उस अर्थ में भी इससे परोक्ष रूप से समाज को हानि पहुँचती है क्योंकि इससे मानदण्ड व्यक्ति के हाथ में चला जाता है—अर्थात् यह निर्णय करने का अधिकार कि वह कहाँ सत्य का उपयोग करें और कहाँ असत्य का, सामाजिक-कल्याण की शर्त को तो जैसे चाहें तोड़ा मरोड़ा जा सकता है। इससे और भी बड़ी हानियों की संभावना हो सकती है। क्योंकि स्वभावतः इससे व्यक्ति को अपने संकुचित लाभ के लिए असत्य का उपयोग करने का प्रोत्साहन मिलेगा। व्यक्ति के इस मानदण्ड में बहुत से छिद्र हैं यदि वह मान यह भी हो कि 'सामाजिक कल्याण के लिए प्रयुक्त असत्य न्याय्य हैं।" अब मान लीजिए एक व्यक्ति बहुत निर्धन है और वह अपने आप को समाज की प्रगति में अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व समझा जाता है। तब वह यह तर्क कर सकता है कि "अमुक धनी किन्तु नर-पशु के धन का अपहरण उसे उन बाधाओं से मुक्त कर सकता है जिनके कारण वह सामाजिक कल्याण में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता।" अथवा अधिकारिक शब्दों में—जिनके कारण वह अपनी महत् और अन्तर्निहित शक्तियों की सम्यक् अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त नहीं कर पाता।

'महाभारत' का कृष्ण अपने झूठ का इस आधार पर समर्थन करता है कि उसने बड़े सत्य के लिए छोटे सत्य का परित्याग किया, संभव है कृष्ण का यह तर्क उस घटना विशेष में उचित नहीं हो किन्तु क्या ग्यारंटी है कि कृष्ण से सदैव लाभ नहीं उठाएगा'। सामाजिक दृष्टिकोण से यह तर्क बिलकुल ही असंगत है क्योंकि 'अच्छे-बुरे' का यह व्यक्तिगत मानदण्ड सामाजिक संगठन को शिथिल करता है।

किन्तु समाज का उतना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जितना वह हमारे उपर्युक्त विवेचन में प्रतीत होता है और उससे भी अधिक, जितना नीविकीफ़ और ब्लुंची ने बताया है। वह वास्तव में एक उत्क्रान्त होनेवाला (इमर्जेंट) गुण है। इस गुण का अपने आप में एक स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए, जैसे जलत्त्व का अस्तित्व है। किन्तु जलत्व भी अपने घटक तत्वों की भिन्नता के अनुसार दो प्रकार का होता है—हल्का और भारी जल। इस प्रकार नव्योत्क्रान्त तत्व के अस्तित्व की स्वतन्त्रता अपने आप में पूर्ण नहीं है यद्यपि वह मात्र घोल से अधिक स्वतन्त्र है। यही मात्र समयाव और समाज में अन्तर है।

मधुमक्खियों के समाज के सम्बन्ध में हमने अन्यत्र[८] विस्तार से देखा है कि उस समाज में संगठन और समाजत्व एकदम पूर्ण है, किन्तु मानव समाज में यह नव्योत्क्रान्त तत्व पूर्ण नहीं है, इसका कारण यह है कि मानव-समाज में व्यक्ति-भेद बहुत अधिक है। किन्तु समाजत्व एक स्वतन्त्रत्व है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, अतः उसकी पूर्णता का खण्डन केवल व्यक्ति के साथ संघर्ष में आने के कारण ही होता है। इस अपूर्णता से यह कभी भी अभिप्राय नहीं है कि उसे स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। वास्तव में,

---

[८] व्यष्टि और समष्टि-प्रतीक—फरवरी १९५२

यदि कहा जाए कि समाज एक सापेक्ष तत्व है तब और भी अधिक उपयुक्त होगा। व्यक्ति (त्व) स्वयं एक सापेक्ष तत्व है और उसकी पूर्ण सापेक्ष है तथा कहीं भी पूर्ण नहीं है। इन सापेक्ष तत्वों में संघर्ष यद्यपि अनिवार्य नहीं है किन्तु एक की पूर्णता दूसरे की पूर्णता के खण्डन पर निर्भर करती है। एक उतना ही अधिक पूर्ण है जितना दूसरा अपूर्ण है। मानव-समाज में दोनों ही अपूर्ण हैं और यह अपूर्णता की मात्रा में विभिन्न देशों और कालों में वैभिन्य पाया जाता है। रूस में जब कि समाज अधिक पूर्ण है, अमरीका में व्यक्ति। इसके विपरीत मधुमक्खियों में समाजपूर्ण प्राप्य है और व्यक्ति केवल नाममात्र को है।

मानव समाज में इन दो सापेक्ष अस्तित्वों में संघर्ष अमर है, यह हमारे पिछले और इस निबन्ध की व्याख्याओं से स्पष्ट है, और इस संघर्ष के कारण ही मानव-समाज अधिक गतिशील और विकास शील है। समाज व्यक्ति की 'कुचेष्टाओं' को समाप्त करने में कभी सफल नहीं हो सका और न हो सकेगा। व्यक्ति ने अपनी मौलिक वासनाओं की तथा व्यक्तिगत स्वार्थों की सुरक्षा के लिए समाज की संकुचित और कठोर दीवारों को कुरेद कुरेद कर कुछ लचकदार और कुछ खुला कर दिया है और कुछ कुचेष्टाओं का (उदाहरणतः कलाओं का) जेल के मूर्ख अधिष्ठाता को गलत अर्थ बता कर उनके लिए उससे कॉंसेशन ले लिया है। वास्तव में इससे अधिष्ठाता को स्वयं भी लाभ हुआ है, क्योंकि इससे उसके कैदियों का स्वास्थ्य ठीक रहता है।

'दार्शनिक' त्रैमासिक
पटियाला, पेप्सू कलकत्ता

—यशदेव शल्य

साहित्यकार और कर्ज़

"विश्व के महान् साहित्यकार प्रायः कर्ज में फँसे रहे हैं। कई तो कर्ज़दार रहने में प्रसन्नता अनुभव करते थे। रिचर्ड शैरीडन अंग्रेज़ी का एक प्रसिद्ध नाटककार हुआ है। उस पर बहुत कर्ज था। वह कहा करता था "मुझे प्रिन्सिपल (मूल धन) को वापस देने में कोई इंटेरेस्ट (दिलचस्पी) नहीं है और यह मेरा प्रिन्सिपल (सिद्धान्त) नहीं है कि मैं इंटेरेस्ट (व्याज) दूँ।" एलैग्ज़ैण्डर ड्यूमाज़ पर भी बहुत कर्ज़ था। वह कहा करता था : "मैंने सिवाय अपने ऋणदाताओं के अन्य किसी को रुपया देने से कभी इनकार नहीं किया।" गोल्डस्मिथ हमेशा कर्ज़ से लदा रहता था। न तो वह दूध के रुपए दे सकता था, न मकान का किराया। प्रतिदिन उसे वकीलों से धमकी के पत्र प्राप्त हुआ करते थे परन्तु वह कभी होश में नहीं आता था। कवि लार्ड बायरन की भी यही अवस्था थी। उस पर बेशुमार कर्ज़ा था। प्रतिदिन उसके यहाँ रुपया वापस लेनेवालों का जमघट लगा रहता था। क्योंकि वह लार्ड था—इसलिए वह जेल में जाने से बच गया। हर्बर्ट स्पैन्सर पर भी बहुत कर्ज़ था। सौभाग्य से वह गणित से अभिज्ञ था। रिचर्डस्टील कभी अपने कर्ज़ के बोझ को न उतार सका। उसका फ़र्नीचर बेच दिया गया तो भी वह अत्यन्त शान्त रहा। सर वाल्टर स्काट पर भी बहुत कर्ज़ था। यद्यपि उसे पक्षाघात की बीमारी हो गई तो भी अपना कर्ज़ उतारने के लिए वह लगातार लिखता रहा।

—"स्वतन्त्र" मद्रास के एक लेख से

प्राचीन अभिसारिकाओं की अभिसरण कला

प्राचीन संस्कृत-साहित्य में अभिसारिकाओं के वर्णन बहुत विस्तृत रूप में मिलते हैं। अभिसारिका उन नायिकाओं की संज्ञा थी जो किसी के बिना जाने ही अपने प्रिय के पास अभिसरण करती थीं। नायिकाओं के अष्टविध प्रकार में अभिसारिका की गणना है। संस्कृत के प्रायः समस्त काव्यों में इस तरह की नायिकाओं के साहित्यिक संकेत प्राप्त होते हैं। रसमंजरीकार आचार्य भानुदत्त मिश्र आदि नायिकाओं के भेद-प्रभेद निरूपण करने वाले आचार्यों ने 'अभिसारिका' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ध्यान में रख कर प्रिय का अभिसरण करने वाली (अभिसारयते कान्तम्) तथा स्वयं अभिसरण करने वाली (स्वयं वा अभिसरति) नायिकाओं को अभिसारिका माना है। परन्तु 'शृंगारमंजरी' के रचयिता हैदराबाद निवासी बड़े साहब अकबर ने प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं किया है। उनके दृष्टिकोण से अभिसारिका प्रिय का अभिसरण ही करती है अभिसारण नहीं। अभिसारण का का कार्य वासक-सज्जिका या तासक-सज्जा नायिका करती है।

सामान्य रूप से परकीय अभिसारिकाओं के पाँच अवान्तर भेद आचार्यों ने किए हैं : (१) ज्योत्स्नाभिसारिका (२) तमोऽभिसारिका (३) दिवाभिसारिका (४) गर्वाभिसारिका और (५) कामाभिसारिका। बड़े साहब अकबर की कल्पना के अनुसार प्रेमाभिसारिका भी एक अवान्तर भेद हो सकता है। यह प्रिय वचनों द्वारा प्रिय के प्रति अपना हार्दिक प्रेम प्रकट करती है। रसिक प्रियाकर ने प्रेमाभिसारिका की उद्भावना की है। परन्तु अन्य आचार्यों ने इस भेद को इसलिए अयुक्त मान लिया है कि समस्त अभिसारिकाएँ प्रेम के कारण ही अभिसरण करती हैं। अतः प्रेमाभिसारिका का एक पृथक् भेद उचित नहीं।

प्रस्तुत लेख में यह जानना अपेक्षित है कि प्राचीन अभिसारिकाओं के अभिसरण किस उद्देश्य से तथा कैसे होते थे। कहा गया है कि वे कामदेव द्वारा भेजी जाती हैं (केवलं मनसिजप्रहितानां)। प्रिय से मिलना मात्र उनके अभिसरण का उद्देश्य होता था (कान्तसंगमविघ्नमवापुः)। अभिसारिकाएँ केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के अनेक उपाय रचती थीं। उन्हीं उपायों को महाकवि ने छन्दोबद्ध करके सरस बनाने का प्रयत्न किया है। अभिसारिकाओं को पहले ही यह विदित रहता था कि उन्हें अमुक संकेत स्थल पर अमुक समय पहुँच जाना है (सूत्रिताभिसरणाः)। इसीलिए मार्ग के प्रदर्शक दीपक को वे बुझा देती हैं (फूत्कृतैः पथि निवारित दीपाः)। लेकिन कुछ अभिसारिकाएँ अपनी सुविधा के अनुसार दीपक नहीं बुझातीं और केवल अपनी सखी को मुख्य मार्ग पर बैठा कर दीपक लिए हुए चली जाती हैं (काऽपिमुख्य पदवी मधिरोप्य स्वां सखीं स्वकरे धारित दीपाः)।

रात में अभिसरण करने के समय अभिसारिकाएँ अन्धकार से उचित ही अपना वेश बनाती थीं, जिससे रात में भी उन्हें कोई देख न ले। उस वेष को "तिमिरोचित वेष" कहा गया है (कृततिमिरोवेषमम्बुजाक्षीं) कभी-कभी साँपों की मणियों के प्रकाश वे अपना मार्ग तय करती थीं (खणिफणमणिरश्मि दर्शिताध्वा)। प्राचीन चित्रकला में ऐसे भी अनेक चित्र उपलब्ध हैं, जिनमें अभिसारिका के चरणों में साँप लिपटे रहते हैं। ऐसे चित्रों की कल्पना के आधारभूत संकेत प्राचीन साहित्य में अवश्य मिले होंगे।

"शृङ्गारकलिका त्रिशति" में अभिसरण करती हुई अभिसारिका को धन्या और अनुरागार्द्रा भी कहा गया है। उसको धन्य होना एवं अनुराग से आर्द्र होना साहित्य के लिए महत्वपूर्ण प्रयोग है। कभी कभी अभिसारिकाओं के अन्धकार से आच्छन्न मार्ग में मादास्यारों के मुँह की आग भी मार्ग-प्रदर्शन का काम करती है (फेरु वदनानलशिखा प्रभावितपथ)। वे उसी के सहारे अभिसरण करती हैं। इसका निर्देश महाकवि कालिदास ने रघुवंश के १६ वें सर्ग में इन शब्दों में किया है।

"नदन्मुखोल्का विचिता निषाभिः
स बाह्यते राजपथः शिवाभिः"

अर्थात् रात में मादास्यार जब चिल्लाती है तब

१६५६

उनके मुँह से एक प्रकार की उल्का निकलती है । उसी के प्रकाश में वे माँस ढूँढ़ती हैं। अभिसारिकाओं के अभिसरण में यह उल्का सहायक हो जाती है ।

अभिसरण अपने प्रिय के पास होता था । वह प्रिय अभिसारिका के पति से भिन्न होता था । इसीलिए अभिसारिका लुक-छिप कर अभिसरण करती है । अभिसरण के संकेत-स्थल अधिक दूर पर नहीं होते थे । प्रायः वे समीप के किसी देव-मन्दिर में पहुँच जाती थीं (अभिसारिणी निकट देवकुले)। अभिसारिका के मन में यह भय सर्वदा बना रहता है कि उसे मार्ग में कोई दूसरा न पकड़े। वह अपने गृह द्वार तक जाकर भी लौट आती है।[1] कविवर मंख ने 'श्रीकण्ठ चरित महाकाव्य' में एक बहुत ही मधुर कल्पना की है कि अभिसारिका अपनी विदग्ध सखी के सामने समस्त आभूषणों को पहन कर तैयार हो गई पर उसने बजनेवाले आभूषण काञ्ची और नूपुर को नहीं पहना । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अभिसरण करना चाहती है ।[2] यद्यपि शुक्लाभिसारिका या ज्योत्स्नाभिसारिका चाँदनी में ही अभिसरण करते हैं। तथापि सामान्य रूप से अभिसारिकाओं को चन्द्रोदय अभीष्ट नहीं है ।

अभिसारिकाएँ प्रधान रूप से नीले वस्त्र तथा नीले कंचुक धारण करती थीं। संस्कृत के प्राचीन कवियों ने इसको अनुकूल वेश कहा है। नूपुर और काञ्ची के साथ अभिसरण करनेवाली नायिकाएँ अनेक प्रकार से उनके झंकारों को बन्द करती थीं (कृत्वा नूपुर मूकतां चरणयोः संयम्य नीवीमणीम्)। किसी कवि ने अभिसारिका द्वारा बन्द करने पर भी शब्दायमान नूपुर को "उद्दामध्वनिपण्डित" कहा है।

कहा जा चुका है कि कामदेव ही अभिसरण के काम में सहायक होता है। इस तथ्य के अनेक उदाहरण हैं। किसी कवि ने कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे अनंग, प्रिय द्वारा मन के हर लिए जाने पर शरीर में जब कँप-कँपी (वेपथु) होती रहेगी एवं मार्ग भी जब आलम्बन शून्य हो जाएगा, तब तुम अभिसारिका को प्रिय के भवन तक कैसे पहुँचा सकोगे[3]? 'कुमार संभव' के चतुर्थ सर्ग में महाकवि कालिदास ने इसी परम्परा में काम को सम्बोधित किया है कि "हे कामदेव" रात के घने अन्धकार में चलने वाली और मेघों के गर्जन से व्याकुल अभिसारिकाओं को प्रिय के भवन तक पहुँचाने में तुम्हारे अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है ।[4]

अभिसारिकाएँ अपने अभिसरण की रीतिओं को घर में ही अभ्यास कर लेती थीं (स्वभवने पन्थानमभ्यस्यति)। क्योंकि अभिसरण निःशब्द संचरण के दृढ़तर अभ्यास से ही हो सकता है। इसलिए अभ्यास काल में अपने नूपुरों को जानुभाग पर्यन्त उठा लेना (आजानूद्धृत नूपुराः) और आँखों को अपने करतल से बन्द लेना (करतलेनाच्छाद्य नेत्रे भृशम्) ही आवश्यक है। आँखों को ढँप करके चलने का अभ्यास करना इसलिए अपेक्षित है कि "रजनीतिमिरावगुण्ठित मार्ग" में सहूलियत के साथ अभिसरण किया जा सके। अभिसरण को प्राचीन काल में एक उत्सव ही समझा जाता था। इसके लिए "कान्ताभिसारोत्सव" शब्द लोक में प्रचलित था। इस उत्सव में अभिसारिका प्रधान रूप से अपने अंगों को नीले दुकूल से ढँकती थीं। (मूर्ति नीलदूलिनी)।

अनेक प्रतिबन्धों से अभिसारिका यह नहीं निश्चय कर पाती कि वह अभिसरण करे अथवा न करे। वह कभी अपने घर से निकलती है और पुनः भीतर घुस जाती है (निरसरदथ प्राविशदथ)। विलम्ब से अभिसरण करने पर मार्ग में ही चन्द्रोदय होने लगता है। इस समय अभिसारिका को बच कर निकल जाना बहुत ही कठिन हो जाता है। इसी अवस्था में किसी सखी ने अपने साथ जाती हुई अभिसारिका को इन शब्दों में समझाया है कि हे साहस करने वाली, अपने चरणों को पृथ्वी पर धीरे-धीरे रख (मन्दं निधेहि चरणौ) अन्यथा

---

[1] नैशो तमसि मृगाक्षी लक्ष्यींकृत्य प्रियाभिसृतिम् ।
चलिताऽपिदेहलिपदं दोलारूढं मुहुर्मुहुरकार्षीत् ॥
शृङ्गारकालिका त्रिशती ।

[2] रसनां च नूपुरयुंगच परा परिहृत्य भूषण युगे मुखरम् ।
कृत्वा निनायदयिताऽभिसृति प्रणयस्पृहामधिविदग्ध सखि ॥
श्रीकण्ठचरितम् ।

[3] हृदये दयितेन हृते वपुषि सवेपथुनि पथि निरालम्बे ।
अयिकथय कथमनङ्ग प्रियगृहमभिसारिकां नयसि ॥१॥

[4] रजनीतिमिरावगुठिते पुरमार्गेघनशब्दविक्लवाः ।
वसतिं प्रिय कामिनां प्रियास्त्हते प्रापयितुंक ईश्वरः ॥२॥
कुमार संभव सर्ग—४

तेरे अभिरण की आहट लोगों को मिल जाएगी। नीले वस्त्र से अपने शरीर को ढँक ले (परिधेहि वासोनीलम्) तथा चमकते हुए अपने वलयों को अंशुक के भीतर छिपा ले। क्योंकि चन्द्रमा अपनी किरणों के दाँतों से अन्धकार को काट रहा है। किसी कवि ने यह भी लिखा है कि अभिसरण करते समय अभिसारिका ने अपने चरण में लिपटे हुए सांप को भी भ्रमतः नूपुर समझ लिया।

इस प्रकार अभिसारिकाओं का एक विचित्र साहित्य संस्कृत के काव्य जगत् में उपलब्ध होता है। कविता के दृष्टिकोण से समस्त नायिकाओं में अभिसारिका को ही सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। किसी ने यह भी कहा है कि :

> "संस्कृतात्प्राकृतं मिष्टं ततोऽपभ्रंशभाषणम्
> ततः प्रियतरा वेश्या सर्वतश्चाभिसारिका"

अर्थात् संस्कृत से अधिक मधुरिमा का अनुभव प्राकृत भाषा में होता है, प्राकृत से भी प्रियतर वेश्या होती है, परन्तु इन सबसे अभिसारिका ही मधुर होती है।

ब्राह्मण विद्यालय, डालटनगंज,
पलामू

—ब्रजभूषण पाठक

तमिल कहावतें

१. पू मलर्न्दु केट्टदु, वाय विरिन्दु केट्टदु
फूल खिल कर खराब होता है, मुँह खोल कर खराब होता है

२. पेरुनांयम इरुन्द कुडुक्कै वामनै पोगुमा ?
क्या हींग रखी कटोरी में से बू चली जाती है ?

३. पोन कत्ति एन्राल कजुत्तै अरुत्तुक्कोळळ लामा ?
सोने की तलवार है तो क्या गर्दन काट लोगे ?

४. पिच्चै इट्टु केट्टवनुमिल्लै, पिल्ले पेट्र केट्टवळु मिल्लै
भीख देकर दाता का कभी नाश नहीं होता
पुत्र पैदा कर माता का कभी नाश नहीं होता

५. पणक्कारन् पिन्नुम् पत्तुप्पेर, पैत्तियक्कारन् पिन्नुम् पत्तुप्पेर
धनवान् के पीछे भी दस आदमी, पागल के पीछे भी दस आदमी

६. पनै निज़लुम निज़लो, पगैवर उरवुम उरवो
ताड़ वृक्ष की छाया क्या छाया है ?

७. तायैप्पोल पिळ्ळै, नूलैप्पोल सेलै
माँ के अनुसार पुत्र, सूत के अनुसार साड़ी

८. गुरु इल्लारकु विद्दयुमिल्ले, मुदल इल्लारकु ऊदिय मिल्लै
गुरु बिना विद्या नहीं, पूँजी बिना आय नहीं

६५४०/सी, मार्केट स्ट्रीट,
सिकन्दराबाद

—कु० वनितादेवी नटराजन

राजपूत चित्रकला के श्रावण-झूला चित्र

सावन और वसन्त भारत के मस्त महीने हैं जहाँ मनुष्य प्रकृति के साथ खुल कर खेलता है। सावन और वसन्त में झूले की प्रथा पुरानी है परन्तु सावन की असली बहार झूला ही है। धुँआधार बादलों के परदे से अनवरत फुहार झड़ती रहती है। सावन घटा की इस छटा पर मन-मयूर मस्त हो उठता है। चारों ओर हरियाली और तरी का तांता सा बँध जाता है। ताल-तलैया श्रावण के जल से लहलहा उठती हैं। प्यासी धरती हरी हो कर नए कोपलों और रंग-बिरंगे फूलों से सज उठती है। वन के समस्त पशुपक्षी इस रंगीनी में एकत्र होकर फुहार का अभिनन्दन करते हैं। मोर-चातक-पपीहों का रंग-रास अलग से चलता है। उधर आकाश के नीले परदे से चमकती-दमकती बिजली की सुनहली रेखा बादलों को चीड़ते-फाड़ते बाहर निकलने के लिए छटपटा उठती है। इधर धरती के प्राणियों का जी मचल उठता है। ऐसे सुरम्य वातावरण में रेशम की डोरी से पेड़ के तले पालना झूल रहा है। इन्हीं दृश्यों का मार्मिक अंकन राजपूत कालीन 'राजस्थानी' एवं 'कांगड़ा' चित्र शैलियों में बड़े कौशल से किया गया है। झूला चित्रों के इन अंकनों में राधा-कृष्ण की अनन्त केलि-क्रीड़ायुक्त झूले से लेकर नित्य के सामान्य जीवन सम्बन्धी झूला-चित्रों को भी समान रूप से स्थान प्राप्त है। 'झूला' उन दिनों हमारे आमोद-प्रमोद का एक प्रमुख साधन था। जब हमारा जीवन प्राकृतिक था तब कृत्रिमता का नाम भी न था। पशु-पक्षी, प्रकृति जैसे ही हमारे जीवन के एक अंग थे। प्राणी-प्राणी के प्रति हमारी व्यापक सहानुभूति थी। राजपूतकालीन श्रावण चित्रों में सामाजिक जीवन के स्थापित ये उच्च आदर्श हमारे लिए विशेष महत्व के है।

एक ओर हमें जहाँ कांगड़ा शैली के चित्रों का भावात्मक आलेखन अपनी ओर आकृष्ट करता है वहाँ दूसरी ओर राजस्थानी चित्रशैली उसके एकदम विपरीत ही अपनी अलंकारिता से हमें मुग्ध करती है। कांगड़ा शैली में सजीवता विभिन्न रंग और कोमल रेखाओं के संतुलित प्रभाव से लाई गई है परन्तु शैली में राजस्थानी रेखा-रंगों के सरलपन से आत्माभिव्यक्ति की गई है जहाँ चित्रकार ने एक नया चित्रलोक रचा है। इस शैली में चित्रकार एक सृष्टिकारक के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। वह अधिक स्वतन्त्र होकर चित्र-सृष्टि करता है। शायद वह रचना-सृष्टि के रहस्य और महत्व को ठीक-ठीक समझता है। इसी दार्शनिकता के आधार पर उसने अपनी कला को एक नए साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि राजस्थानी कला के पहिले भी अपने यहाँ कला में मण्डनात्मक वृत्ति को ही विशेष रूप से आश्रय दिया गया। किसी भी कला के लिए आलंकारिक वृत्ति बड़े महत्व की हुआ करती है, इस वृत्ति से ही चित्रकार में सृजनात्मक शक्ति का उदय होता है और उसी से वह अपनी कला में नव-निर्माण कर हमें एक नई चीज देता है। इन्हीं मूल तत्वों के आधार पर ही हम भारतीय कला के सौन्दर्य को परखने की चेष्टा करेंगे।

भारतीय चित्रकला में 'श्रावण' का चित्रण गुजराती-चित्र-शैली से प्रारम्भ होता है। यह राजपूत चित्र शैली की एक प्रारम्भिक उप चित्रशैली है। सन् १५७० के लगभग का एक इस शैली में 'श्रावण मास' का चित्रण देखिए। इसमें चित्रकार ने सरल प्रतीकों द्वारा चित्र की पृष्ठ-भूमि तैयार की है यह चित्र-संपुंजन 'कम्पोज़ीशन' हमारे सामने एक आदर्श चित्र-सृष्टि उत्पन्न करता है। रेखा-रंगों को वह आत्माभिव्यक्ति का एक साधन मात्र समझता है। सरल से सरल रेखाओं द्वारा आलंकारिक आलेखन करने में चित्रकार को पूरी सफलता मिली है। रेखाओं की गतिहीनता को आलंकारिता ने आत्मसात् कर लिया है जिससे चित्र में हमें सर्वत्र रोचकता और नवीनता ही दिखाई पड़ती है। पेड़ के नीचे, नृत्य मुद्रा में दो चंचल युवतियाँ और पेड़ की टहनियों पर फुदकती हुई चिड़ियाँ नव-वर्षा की तीव्र रसानुभूति प्राप्त करती हुई चित्रित की गई हैं। सावन की भीगी सभा मानव-मात्र तक ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी को भी समान रूप से आल्हादित कर रही है। सुसज्जित एवं अलंकृत लास्यमुद्रा में युवतियाँ पक्षियों से अठखेलियाँ कर रही हैं।

आकाश के नीले परदे पर काले बादलों से सावन का फुहार झड़ रहा है मानों प्रकृति इन सुन्दरियों को पहनाने के लिए मोती की लड़ियाँ भेंट कर रही है। यह चित्र सावन की बाहर के साथ युवतियों के छलकते प्यार की अभिव्यक्ति कराता है। इने गिने लाल, पीले-नीले, काले और सफ़ेद रंगों से चित्र अवश्य ही चित्ता, कर्षक हो उठा है।

इसी प्रकार से राजस्थानी चित्र-शैली का लगभग १६३४ का अंकित 'श्रावण मास' का चित्र केशव के 'रसिक प्रिया' के आधार पर आलिखित प्राप्त होता है। आकाश के काले-काले बादल मतवाले हाथी के समान नभ में चिग्घाड़ते चले आ रहे हैं। तूफ़ानी बादलों का आलेखन इस शैली की अपनी एक विशेषता है। 'श्रावण' का प्रारम्भ है। पति परदेश से वापस नहीं आया। नायिका प्रकोष्ट में जम कर पति की बाट जोह-रही है। वह अपनी आँखों में गर्द-गुब्बार की बरसात लिए परदेशी पति पर बरसने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रही है। द्वार स्थित उसकी दूसरी सखी भी उसी उत्सुकता से नायक की प्रतीक्षा कर रही है। इतने में नायक सामने आकर खड़ा हो जाता है। कुशल मंगल पूछना तो दूर रहा बेचारे पति को निश्चित तिथि पर उपस्थित न होने पर भर्त्सना के गरम छींटे मिल रहे हैं। क्लान्त नायक धैर्यपूर्वक नायिका के हृदयाकाश से उठी गड़गड़ाहट को सह कर मौन है क्योंकि वह समझता है कि गरजने वाले बादल बरसते नहीं। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि आकाश से ठण्डी फुहार पड़ते ही सारी परिस्थिति अनुकूल हो जाएगी।

राजस्थानी चित्र-शैली का १८ वीं शताब्दी का यह झूला चित्र देखिए। उमड़ी-घुमड़ी घटाएँ आकाश में चारों ओर छा गई हैं। ऐसा मालूम होता है कि ये कजरारे बादल अपने दल-बल से पेड़ को पानी-पानी करने पर तुले हैं। सावन की रंगीनी से लदा हुआ पेड़ मस्ती में झूम रहा है। वर्षा की आवभगत करने के लिए उसने अपनी टहनियों पर मोर, बक, चातक और पपीहे आदि को आमंत्रित कर रक्खा है। बगुले काली घटाओं पर जैसे बगुला ध्यान लगाए हैं। मोर शोर कर रहा है। पपीहा 'पी कहो' रट रहा है। सावन की इस लुभावनी घटा की छटा पर सभी आत्मविभोर हो रहे हैं। इस झीनी फुहार में, पेड़ के तने से रेशम की डोरी में, पालना झूल रहा है। हिण्डोले की युवतियाँ झूलते-झूलते प्रेमोन्मत्त हो चली हैं। बेदर्दी वायु उनके ओढ़नी, लहँगे को इस प्रकार लहरा रहा है जैसे चिन्ता-रहित चिड़िया खुले आकाश में पंख पसारे कलैया मार रही हों। युवतियों के वस्त्र फहराने से एक कलात्मक लययुक्त तुकान्त छन्द की सृष्टि हमारे हृदय में होती है—और इस चित्रालेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि झूलने की प्रक्रिया में संगीत के आरोहावरोह की भावाव्यंजना अलग से ध्वनित होती है। झुलाने वाली युवती इस चित्र में अपना एक महत्व का स्थान रखती है। वह तुकान्त छन्द की अंतिम कड़ी के समान सारगर्भित है। चित्र-संपुंजन की दृष्टि से उसका एक दूसरा उद्देश्य भी लक्षित हो रहा है झूलन-प्रक्रिया के आरोहावरोह से एक प्रकार की रोगोत्पत्ति-सी होती है। जहाँ पर झुलाने वाली युवती किसी राग के 'वादी' स्वर के समान ही चित्र में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करती है। जिसके ऊपर राग (चित्रों) की रंजकता निर्भर करती है। चित्र की शेष युवतियाँ राग के 'अनुवादी' स्वर के समान इस चित्र के विषय में वस्तु को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो रही है। चित्र का सम्पूर्ण कलेवर संगीत के स्वर, लय ताल की गतिमयता से आलेखित किया गया है। चित्र की अंकन शैली (टेकनीक) विशेष दर्शनीय है। चित्रकार प्रकृति का चित्रण अपने ढंग से करता है उसका अनुकरण नहीं करता। इस प्रकार की ऊँची भावुकता और अपूर्व कल्पना से चित्रकार आत्माभिव्यक्ति कर हमारे हृदय में अतीत के प्रति श्रद्धा और स्नेह उत्पन्न करता है। इतना सरल आलेखन भी हृदयग्राही हो सकता है यही इस चित्र की विशेषता है। इस चित्र में न प्राकृतिक पेड़-पोदों और न तो पशु-पक्षी ही और न सावन के असली बादल ही मिलेंगे। हाँ इस प्रतीकात्मक आलेखन में सावन की मस्ती अवश्य मिलेगी जो प्रकृति में असंभव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। भारतीय चित्रकला में संगीत की 'टेकनिक' से संवारा हुआ यह लेख कलापूर्ण झूला-चित्र अपना एक अनोखा स्वांग रखता है।

—महेन्द्रनाथ सिंह

श्री कला संगीत भारती,
हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

भाषा की समस्या×

मेरा हैदराबाद से सम्बन्ध गत बीस वर्षों से अधिक का है, और अब तो मैं हैदराबाद का ही हो गया हूँ; यदि मैं यह कहूँ कि हैदराबाद में मेरा अधिकतर लक्ष्य और कार्य-क्षेत्र उस्मानिया विश्वविद्यालय ही रहा है, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। निज़ाम कालेज जिसके हिन्दी-छात्र-संघ के अनुरोध पर, आज मैं आप सब लोगों के मध्य उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका हूँ, हैदराबाद राज्य के शिक्षा-क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसके आचार्य श्री डा० सैय्यद हुसेन से मेरा सम्बन्ध बहुत पुराना है उनका मेरे प्रति जो सौजन्य तथा स्नेह सदा से रहा है, वह मेरे लिए वस्तुतः आनन्द और स्पृहा का विषय है।

विविध तर्कों को सामने रखते हुए, राष्ट्र के कुछ कर्णधार बार-बार इस बात पर ज़ोर देते आ रहे हैं कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में तो मान्य है, किन्तु राष्ट्र की वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के लिए अंग्रेज़ी सर्वथा अनिवार्य है। तब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का क्या विशेष प्रयोजन रह जाता है ? कुछ समझ में नहीं आता। यह ठीक है कि विज्ञान, उद्योग आदि कुछ ऐसे विशिष्ट विषय हैं जिनका साहित्य और शब्दावली हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा की अपेक्षा अंग्रेज़ी में अधिक है, साथ ही भारत में विज्ञान और उद्योग-सम्बन्धी अभी तक की प्रगति अंग्रेज़ी के माध्यम में होती आ रही है किन्तु यह एक ऐसा तर्क है कि इस पर न तो हिन्दी को वैज्ञानिक, औद्योगिक आदि विशिष्ट विषयों के लिए अनुपयुक्त ठहराया जा सकता है और न अन्ततः यही निश्चित किया जा सकता है कि एकमात्र अंग्रेज़ी के कारण ही हमारे देश में विज्ञान आदि की शिक्षा संभव है।

भाषा में किसी देश की लोक-भावना, लोक-जीवन और अभिव्यक्ति, उसका अपनापन अन्तर्हित है। सन् १९१७ ई. में उस्मानिया-विश्वविद्यालय की स्थापना का निश्चय किया गया और इस समय इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत अनेक विषयों की शिक्षा संस्थाएँ है। विभिन्न विषयों के साहित्य तथा अन्य विषयों के साथ-साथ इंजीनियरिंग, मेडीकल तथा एग्रिकल्चर के अच्छे कालेज विश्वविद्यालय के पास हैं; किन्तु यह पहला भारतीय विश्वविद्यालय है, जिसने अंग्रेज़ी के स्थान पर उर्दू (अर्थात् एक भारतीय भाषा) को शिक्षा का माध्यम बनाया। यह बात दूसरी है कि उर्दू को जिन कारणों से शिक्षा का माध्यम बनाया गया वे राजनैतिक थे। इसका क्षेत्र सीमित था—परिणामस्वरूप सन् १९४८ ई. में उर्दू-माध्यम को समाप्त कर दिया गया और आज जैसा कि हम देखते हैं, हमारे विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित है—किन्तु यह एक तथ्य है कि उर्दू-माध्यम भारतीय विश्वविद्यालयों के इतिहास में एक महान् प्रयोग था—मैं विगत बीस वर्षों से अधिक से उस्मानिया विश्वविद्यालय की सेवा में हूँ; मगर मैंने ही नहीं, हर किसी उस व्यक्ति ने, जो उस्मानिया विश्वविद्यालय से किसी प्रकार सम्बद्ध था, यह स्पष्ट अनुभव किया है कि जिस प्रकार का उत्साह और जिस प्रकार की सहज भावना उस समय कुछ लोगों में उर्दू-माध्यम की अवधि में थी, उसका शतांश भी इस समय हमें अब दृष्टिगोचर नहीं होता—यद्यपि यह एक सामान्य-दृष्टि में आने वाला तथ्य है; किन्तु इससे मातृभाषा के प्रति लोक-भावना की अभिन्नता और अपनत्त्व का दृष्टिकोण बिना किसी कृत्रिमता के स्पष्ट हो जाता है। हम तो यह बलपूर्वक कहना चाहेंगे कि विज्ञान, कृषि आदि का समुचित विकास और राष्ट्र का सर्वाङ्गीण औद्योगीकरण तभी हो सकता है; जब कि सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम ही हमारी भारतीय भाषाएँ हो जाएँ—राष्ट्र के औद्योगीकरण का प्रश्न देश के जीवन-मरण का प्रश्न है। एक अभारतीय भाषा में शिक्षा के द्वारा ज्ञान देने की शर्त्त आखिर क्यों कर ? राष्ट्र के वास्तविक कल्याण के लिए भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाए बिना कोई दूसरा मार्ग ही नहीं। शिक्षा के सम्बन्ध में यदि हम समस्त भारतीय जनता को अपने ध्यान में

×यह भाषण अलिखित रूप में निज़ाम कालेज, हैदराबाद के हिन्दी संघ के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया।

रक्खें—एक विशिष्ट वर्ग या श्रेणी को नहीं तो हम किसी भी प्रकार भारतीय भाषाओं की अवहेलना नहीं कर सकते। भारतवर्ष की भाषाओं को शिक्षा का पूर्ण माध्यम न बनाने में बुद्धिमानी आखिर क्या है; हमारी दृढ़ धारणा है कि देश को अज्ञान और अभाव के गर्त से निकाल कर चैतन्ययुक्त और समृद्ध बनाने के लिए भारतीय भाषाओं की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि करोड़ों हाथों और मस्तिष्कों की।

कहा जाता है कि अंग्रेज़ी विश्व की इस समय सबसे महान् भाषा है। इसमें सन्देह नहीं है कि अंग्रेज़ी भाषा का शब्दकोश विश्व की सब भाषाओं से अधिक विशाल है; उसका साहित्य प्रत्येक दृष्टि से सुसंस्कृत, समुन्नत और महान् है; अंग्रेज़ी की परम्पराएँ महान् हैं—और यह भी सत्य है कि अंग्रेज़ी का अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए परन्तु अंग्रेज़ी की महानता से हमारा देश महान् नहीं बन सकता। भारतीय भाषाओं का शब्दकोश चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो, उनका साहित्य कितना ही सीमित क्यों न हो, उनमें वैज्ञानिक और यांत्रिक शब्दावली और आवश्यक साहित्य का चाहे कितना ही अभाव क्यों न हो—हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि भारतीय भाषाएँ जब तक अविकसित और अनुन्नत रहेगी तब तक हमारा देश स्वतन्त्र होकर भी अविकसित और अनुन्नत ही रहेगा। जिस प्रकार यदि किसी की आँखें कमज़ोर हों तो वह दूसरों की आँखों से नहीं देख सकता, उसे अपनी कमज़ोर आँखों से ही देखना पड़ता है, कमज़ोर टाँगें होने पर—दूसरों की टाँगों से नहीं चला जा सकता—अपनी ही टाँगों से चलना पड़ता है—उसी प्रकार हमारी भारतीय भाषाएँ चाहे कितनी भी टूटी-फूटी और अविकसित क्यों न हों—हमें उन्हीं में अपने विचारों को अभिव्यक्त करना होगा; उन्हीं को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाना पड़ेगा और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हीं का उपयोग करना पड़ेगा। यही स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। एक नदी जब चल पड़ती है तब कितने पानी को लेकर चलती है—परन्तु शक्ति उसके चलने में, गति में होती है, पानी में नहीं और जब वह चल पड़ती है तो वह धीरे-धीरे शक्तिशाली और महान् बन जाती है। यही अवस्था भाषाओं के साथ में भी है। अंग्रेज़ी की अवस्था भी कुछ दशकों के पूर्व साधारण ही थी—जैसे जैसे अंग्रेज़ जाति का विस्तार और उन्नति हुई—अंग्रेज़ी भाषा का भी विस्तार और उन्नति होती गई।

कहा जाता है कि यदि हम अंग्रेज़ी को न अपनाते तो हम अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकते थे। हम मानते हैं कि अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने में अंग्रेज़ी से हमें बहुत सहायता प्राप्त हुई परन्तु यह प्राप्ति धनात्मक होते हुए भी ऋणात्मक ही है। आज जब कि समस्त देश की जनता को सुसंगठित और एकप्राण करना है, उनके जीवन के क्षेत्रों और सीमाओं को विस्तृत और समुन्नत बनाना है, इस देश की नवीन परम्पराओं को अपनी प्राचीन परम्पराओं के साथ जोड़ कर प्रगति के पथ पर सामूहिक रूप से अग्रसर होना है—तो क्या यह कार्य अंग्रेज़ी के द्वारा सम्पन्न हो सकता है? यदि यह कार्य अंग्रेज़ी के द्वारा सम्पन्न हो सकता और अंग्रेज़ी के द्वारा हमारा देश एकप्राण बन सकता तो हमें आज अपने देश में भाषा की समस्या इतने उग्र रूप में दिखाई न देती।

पता नहीं हमें आज अंग्रेज़ी से क्यों इतना मोह हो गया है! मैं आपके सामने स्पष्ट भाषा में बोल रहा हूँ। हो सकता है कि आप मुझे भावुक समझें परन्तु मैं आपके सम्मुख अपने विचारों को वैसे ही प्रस्तुत कर रहा हूँ जैसे कि मैं उन्हें अनुभव कर रहा हूँ। अपने विचारों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से उपस्थित करने के लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। मैं आपसे कह रहा था कि अंग्रेज़ी से पता नहीं हमें क्यों इतना मोह हो गया है—और मुझे यह कहने की आज्ञा दीजिए कि यह मोह दक्षिण में तो और भी अधिक है—। मुझे इस सम्बन्ध में अंग्रेज़ी के एक महान् निबन्ध-लेखक कारलाइल के एक निबन्ध का स्मरण हो आता है। इस निबन्ध को उस समय लिखा गया था जब कि भारतवर्ष पर अंग्रेज़ों का पूर्ण रूप से आधिपत्य था। अपने इस निबन्ध में कारलाइल ने लिखा है: "यदि हमारे एक हाथ पर भारतवर्ष को रखा जाए और दूसरे पर शैक्सपियर को, तो हम भारतवर्ष को फेंक देंगे परन्तु शैक्सपियर को नहीं।" आज हमें अंग्रेज़ी से कुछ ऐसा मोह हो गया है कि यदि हमारे एक हाथ पर भारतवर्ष को रखा जाए और दूसरे हाथ पर अंग्रेज़ी को—तो हम भारतवर्ष को सम्भवतः फेंक देंगे परन्तु अंग्रेज़ी को नहीं।

हमें अंग्रेज़ी का अध्ययन अवश्य करना चाहिए परन्तु अंग्रेज़ी हमारे भारतीय जीवन का अंग नहीं बन सकती। हमें इस बात को अच्छी तरह समझ लेन

चाहिए कि जब तक हमारे देश में अंग्रेजी को यही महत्व प्राप्त रहेगा और उसका हमारे प्रतिदिन के जीवन में इसी प्रकार बोलबाला रहेगा—तब तक हम भारतीय भाषाओं की समस्या को हल नहीं कर सकेंगे। अंग्रेजों के प्रभुत्व के होते हुए जिस प्रकार हम हिन्दु-मुस्लिम और अपने राष्ट्र की अन्य राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को ठीक प्रकार हल नहीं कर सकते थे—उसी प्रकार अंग्रेजी के प्रभुत्व के होते हुए यह लगभग असम्भव है कि हम अपने देश की भाषाओं की समस्या को हल कर सकें। अंग्रेजी की चकाचौंध में आज हमारी दृष्टि अपनी भाषाओं पर पड़ती ही नहीं है और यही कारण है कि हम अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में ठीक तरह विचार नहीं कर सकते।

हमारे देश में भाषा की समस्या कोई आज की या नई समस्या नहीं है। यह समस्या बहुत पुरानी है और हमारे देश ने इसे अपने ही ढंग पर हल किया था। हमारे देश का इतिहास अंग्रेज़ों से या मुग़लों से प्रारम्भ नहीं हुआ है। सत्य तो यह है कि जब तक हमारे देश में फ़ारसी और इसी प्रकार अंग्रेज़ी का बोलबाला नहीं हुआ तब तक हमारे देश में भाषा की समस्या ही उत्पन्न नहीं हुई। आप कल्पना कीजिए कि यदि हमारे देश में फ़ारसी या अंग्रेजी न आई होती—तो क्या इस देश की कोई एक ऐसी भाषा न होती जिसमें इस समस्त देश का अधिकांश हिस्सा सामूहिक रूप से अपना कारबार चला सकता और उसमें अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त कर सकता?

हमारे देश की भाषाएँ आज की नहीं हैं—वे पुरानी हैं और उनका साहित्य भी पुराना है। क्या कारण है कि भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न भाषाओं के होते हुए भी उनका साहित्य, संस्कृति और स्वर एक ही है। भारतवर्ष की किसी भाषा के साहित्य को ले लीजिए—वह एक प्रान्तीय भाषा में होते हुए भी आन्तरिक रूप से भारतीय ही है। अन्ततः इस एकता का कारण क्या है? हमारा इतिहास इस बात को सिद्ध करता है कि हमारे देश में जहाँ प्रान्तीय या क्षेत्रीय भाषाएँ रहीं वहाँ कोई-न-कोई ऐसी भाषा भी रही जो इन भाषाओं को मिलाती रही और इनका सम्बन्ध समस्त देश से बना रहा। हमारे देश की समस्त भाषाओं का सम्बन्ध एकमात्र अपनी प्रान्तीय सीमाओं से नहीं रहा—उनके साहित्य की प्रेरणा का स्रोत समस्त भारतवर्ष रहा और यही कारण है कि उनमें साहित्यों के प्रान्तीय या क्षेत्रीय होते हुए भी उनमें समस्त भारत के हृदय की धड़कन सुनाई देती है।

मैं आज आपके सम्मुख इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तार में नहीं जा सकता क्योंकि इसके लिए समय नहीं है। परन्तु मैं कुछ तथ्य इस सम्बन्ध में आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ और वे तथ्य इस प्रकार के हैं जिनसे कि हमें इस बात का ज्ञान होता है कि हमारे देश में भाषाओं की समस्या को किस प्रकार हल किया गया था। पहले प्रान्तीय भाषाओं के साथ संस्कृत भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक परिव्याप्त रही। उसके पश्चात् पाली ने इसी कार्य को किया—फिर कुछ प्राकृतों ने और यही कारण है कि हमें भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में बौद्ध और जैन साहित्य प्राप्त होता है और इसके पश्चात् अपभ्रंश ऐसी भाषा रही जो हमारे देश के अधिकांश भाग में प्रचलित रही और आज उस भाषा और साहित्य का भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं पर इतना गहरा प्रभाव है कि वे उससे किसी प्रकार अविच्छिन्न या पृथक् नहीं हो सकतीं। आज हिन्दी भाषा का यह उत्तरदायित्व है कि वह भारतवर्ष की समस्त भाषाओं के निकटतम सम्बन्ध स्थापित करे और उन्हें एकप्राण बनाए रक्खे।

हिन्दी तो समस्त भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है—वह किसी प्रकार भारतीय भाषाओं से पृथक् नहीं हो सकती। हिन्दी इन भाषाओं का स्थान नहीं लेना चाहती—वह तो इन भाषाओं को एकसूत्र में पिरोना चाहती है और उन्हें क्षेत्रीय या प्रान्तीय न रख कर समस्त भारतवर्ष का बनाना चाहती है। प्राचीन काल में भारतीय भाषाओं के साहित्यकार क्या एक ही भाषा को जानते थे? 'साहित्यदर्पण' के लेखक श्रीयुत विश्वनाथ कविराज ने अपने सम्बन्ध में लिखा है: ''अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग''—अर्थात् वह १८ भाषाएँ जानता है। इस समय भी भारतवर्ष के अनेक शिक्षित व्यक्ति तीन या चार भाषाएँ जानते ही हैं। संस्कृत भाषा का नाटककार वही व्यक्ति हो सकता है जो कि संस्कृत के साथ शौरसेनी, महाराष्ट्री और अन्य प्राकृत भाषाओं का पण्डित हो। नाटकों में संस्कृत के साथ-साथ इन समस्त भाषाओं को एक ही रंगमंच पर लाने का क्या प्रयोजन है? क्या यह इस बात का संकेत नहीं

है कि संस्कृत ने इन समस्त भाषाओं के साथ एकात्म्यता और एकप्राणता स्थापित कर ली थी? हमारे देश में अनेक साहित्यकार हुए हैं जिन्होंने भारतवर्ष की अनेक भाषाओं में रचना की हैं। हेमचन्द्र आचार्य क्या एक ही भाषा के पंडित थे? विद्यापति ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देसी भाषा में रचना की है। वह समय अब शीघ्र ही आने वाला है जब कि भारतीय साहित्यकार अपने देश की अनेक भाषाओं का न केवल गम्भीर ज्ञान प्राप्त करेंगे अपितु उनके साहित्यकार भी होंगे और संभवतः धीरे-धीरे संस्कृत नाटक जैसी परम्परा पुनः हिन्दी में विकसितहोगी—अर्थात् इस प्रकार के नाटक लिखे जाएँगे जिनमें हिन्दी के साथ साथ भारतीय अन्य भाषाओं को भी एक ही नाटक में एक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकेगा।

आश्चर्य तो यह है कि इतनी भाषाओं के उत्तराधिकारी होते हुए भी हम आज यह समझ रहे हैं कि हमारी भाषाएँ दीन-हीन, निःशक्त और कमज़ोर हैं और उनमें वैज्ञानिक आदि विषयों को पढ़ाने की क्षमता नहीं है। हमारा देश एक महान् देश है, इसमें भाषाओं की अनेकता होना स्वाभाविक है—इसी अनेकता में हमें एकता और समस्त भारतीयता को सुरक्षित रखना है और यदि हमारा यह दृष्टिकोण रहेगा तो हम भारतीय भाषाओं की समस्या को बड़ी आसानी से सुलझा सकेंगे।

मैं निज़ाम कालेज के विद्यार्थियों से एक नम्र निवेदन करना चाहता हूँ और वह यह है कि यह सत्य है कि आज आपकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेज़ी के द्वारा हो रही है और मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेज़ी का अपना महत्व है—तो भी इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि आप अपनी भाषाओं की या हिन्दी की उपेक्षा करें। आपको अपनी भाषाओं और हिन्दी में ऐसी पूर्ण समर्थता प्राप्त करनी चाहिए कि जब देश को सँभालने का भार आप पर पड़े तो आप अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभा सकें। आपको इन भाषाओं के निर्माण और विकास के लिए अपनी समस्त शक्ति को लगाना पड़ेगा। हो सकता है कि आज के शिक्षकों और प्रशासकों की पीढ़ी अंग्रेज़ी की परम्पराओं को कुछ समय तक और प्रचलित रख सके परन्तु समय और अवस्थाएँ इतनी तेज़ी से बदल रही हैं कि हमारे देश की भाषाएँ अपना उचित स्थान प्राप्त करके रहेंगी और हमें अपनी भाषाओं में ही अपने समस्त कारबार को और शिक्षा को चलाना पड़ेगा। आशा है कि आप इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को समझेंगे और भारतीय भाषाओं और हिन्दी की मर्यादा को समझने का प्रयत्न करेंगे।

—वंशीधर विद्यालङ्कार

प्रिंसिपल, नानकराम भगवानदास
विज्ञान महाविद्यालय,
हैदराबाद-दक्षिण

चीन के चित्रों की एक प्रदर्शिनी में एक दर्शिक ने एक चित्रकार से कहा: मैं "आपका चित्र खरीदना चाहती हूँ जिसमें एक पत्रहीन शाखा पर एक पक्षी बैठा है। क्या यह सम्भव नहीं है कि आप उसमें कुछ और शाखाएँ और उन पर कुछ और पक्षी बैठा दें, क्योंकि एक पक्षी और एक शाखा से चित्र खाली खाली नज़र आता है।" कलाकार ने उत्तर दिया: "यदि मैं ऐसा कर दूँ तो पक्षी को उड़ने के लिए स्थान कहाँ रहेगा?"

कन्नड़ साहित्य की रूपरेखा

कन्नड़ साहित्य का इतिहास अन्य भाषा-साहित्य की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। कन्नड़ भाषा ने भी अन्य द्राविड भाषाओं की तरह द्राविड भाषा के मूल से उत्पन्न होकर, संस्कृत भाषा के संसर्ग से अपनी उन्नति को साधा है। कन्नड़ भाषा के अत्यन्त प्राचीन रूप का पता हमें ९ वीं शताब्दी में रचित नृपतुंग महाराज की "कवि राज मार्ग" पुस्तक से चलता है। यद्यपि ९ वीं शताब्दी के पूर्व भी कन्नड़ भाषा का साहित्य रहा होगा और यक़ीन भी कर सकते हैं कि कन्नड़ भाषा की कृतियाँ इसके पहले भी रही होंगी। परन्तु ९ वीं शताब्दी के पहले की कोई कृति कन्नड़ की मिलती नहीं हैं। डाक्टर हुल्डा ने कहा है कि दूसरी शती के एक ग्रीक नाटक में कन्नड़ के शब्द पाए गए हैं। पर उस नाटक का नाम हमें मालूम नहीं है। तब यह अनुमान बिना कोई शंका के कर सकते हैं कि कन्नड़ भाषा २,००० वर्ष से प्रचलित है। हरप्पा और मोहनजोदरो के संशोधनों के फलस्वरूप कन्नड़ ६,००० वर्ष की पुरानी ठहरती है। यह हम ठीक यकीन नहीं कर सकते। प्रमाणसिद्ध संशोधक और और विद्वानों की राय है कि कन्नड़ भाषा २,००० वर्ष पुरानी भाषा है। कुछ भी हो कन्नड़ एक सुभद्र और सुसमुन्नत भाषा है।

नीलगिरी में प्रचलित 'बडग' 'तोंद', 'कोत' आदि भाषाएँ, मैंगलूर में प्रचलित तुलु और कोंकणी और कुर्ग में प्रचलित कुर्गी, कुरुँब और इरुळ भाषाएँ हैं। यद्यपि इन भाषाओं के लिखित साहित्य बहुत ही कम संख्या में मिलते हैं।

अत्यधिक अविश्रान्त अन्वेषणों से मालूम हुआ है कि चौथी शताब्दी के आदि में 'समन्तभद्र' नामक एक कवि कन्नड़ भाषा के विद्वान् थे। इनके बाद ५ वीं या ६ ठवीं शताब्दी में 'पूज्यपाद' नामक कवि कर्नाटक में रहे थे। श्री वर्धदेव कवि ने 'चूडामणि' नामक एक ग्रन्थ की रचा जो आज अप्राप्य है। ६ ठवीं शती का एक शिला शासन 'बादामी' नामक स्थान में मिला है, जो चालुक्य राजा मंगलेश का है। इसी तरह ७ वीं और ८ वीं शताब्दियों में शिवकुमार, राजशेखर आदि कन्नड़ कवि हुए हैं। राजशेखर तो संस्कृत के कवि थे। ७ वीं शताब्दी का एक और ताम्रपत्र मिला है जो पाराञ्च्य राजा का बतलाया गया है। और उसमें कई कन्नड़ के शब्द पाए जाते हैं।

९ वीं शताब्दी का एक लक्षण ग्रन्थ—'कवि राजमार्ग' मिला है जो राजा नृपतुंग द्वारा रचित है। इसमें अनेक कन्नड़ कवियों की कृतियों के बारे में विस्तृत हैं पर वे सब के सब आज अप्राप्य है—यह तो कन्नड़ का हीन अदृष्ट ही है।

कन्नड़ साहित्य का परिचय सुगम होने के लिए उसको तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं।

कन्नड़ के आदि काल में अत्यधिक जैन कवि हुए। उनमें पम्प, रन्न, पोन्न और जन्न मुख्य हैं। इन्होंने अपने-अपने काव्य विषय तो 'रामायण', 'महाभारत' आदि ही चुने हैं; पर उनमें अपने ही ढंग के काव्य रस याने वीर रस को ही प्रधानता दी है। हिन्दी के वीरगाथा काल की कवियों की तरह ये सब राजाश्रित कवि थे और तलवार लेकर युद्धों में कूद पड़ते थे। जन्न और पम्प दोनों राजकवि के अतिरिक्त सेना के प्रधान भी रहे। जन्न का यशोधर चरिते' नामक ग्रन्थ कन्नड़ की अमूल्य काव्य-संपति है। रन्न का 'गदायुद्ध' काव्य पढ़ते ही बनता है।

ये कवि वीरगाथा काल में अपना मार्ग (जैन मत) का प्रचार भी करते थे। जन्न के 'यशोधर चरिते' काव्य ग्रन्थ में जहाँ तहाँ जैन धर्म के अहिंसा सिद्धान्त पर भी जोर दिया गया है। पम्प ने सं० ९४१ में 'आदि–पुराण' नामक महाकाव्य को लिखा। वीरगाथा काल में केवल काव्य ग्रन्थ ही नहीं, अन्य गद्यग्रन्थ भी लिखे गए। उनमें सं० ९७४ में लिखित कवि सम्राट् चामुरडराय का 'चमुरडराय पुराण' नामक ग्रन्थ श्रेष्ठतम गद्य रचना है।

वीरगाथा काल में जैन कवियों के अतिरिक्त ब्राह्मण कवि भी हुए हैं। पर बहुत ही कम! दुर्गसिंह और रुद्र भट्ट ये दोनों भी ब्राह्मण कवि इस काल के माने जाते हैं।

वीरगाथा काल की रचनाओं की शैली 'चम्पू' रही।

इसके पश्चात भक्ति काल आता है। भक्ति काल में शंकर दासमया, केशीराज, आदि कवि-रत्न ने ११ वीं शती में भक्ति-रस-प्रधान ग्रन्थ लिखे गए थे। इनके बाद १२ वीं शती में बसवेश्वर एक भक्त कवि हुए। ये ही नहीं सिद्धराज, सिद्धरामेश्वर, अक्क महादेवी (कवयित्री), चन्न बसवेश्वर, सर्वज्ञ, आदि कवियों ने भी अपने-अपने वचनामृतों के द्वारा कन्नड़ साहित्य की सेवा की। इनके अतिरिक्त कुमार पद्मरस, हरीश्वर, राघवांक, सिद्धराम आदि कवि हुए हैं। राघवांक का 'हरिश्चद्र महाकाव्य' और 'सिद्धरामचरिते' कन्नड़ की अमूल्य निधियाँ हैं।

इन सभी कवियों की रचनाओं से कन्नड़ भाषा की सरलता अत्यधिक बढ़ी और लिपि की सुन्दरता चौगुनी हो गई। इनका काल १४ वीं शती तक चलता रहा। इनके बाद ब्राह्मण कवियों का काल प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण कवियों में कुमार व्यास, लक्ष्मीश, तिरुमलाचार्य आदि मुख्य हैं। इसी समय इनके अतिरिक्त श्रीपाददास, व्यासराव आदि कवि भी हुए जिन्होंने अपनी-अपनी अमूल्य कृतियों द्वारा सामान्य जनता तक कन्नड़ साहित्य को पहुँचाया।

कुमार व्यास कवि ने अपने 'महाभक्त' महाकाव्य के द्वारा कन्नड़ भाषा के भण्डार को भरा। आज भी इनका काव्य पाठशालाओं के प्रति नित्य के पाठ्यक्रम में है और बच्चे से लेकर बूढ़े तक काव्य का रसास्वादन कर रहे हैं।

भक्ति काल की शैली काव्य के विविध अंगों में फैल गई और इसीसे कन्नड़ साहित्य सींच कर फला-फूला है। कन्नड़ साहित्य के नवीन काल का आविर्भाव मैसूर के राजा श्री चामराज ओडेयर की प्रेरणा से हुआ। कवि बसवप्पा शास्त्री मुद्दण आदि कवियों से साहित्य के विविध अंग नाटक, उपन्यास, समालोचना आदि पूरे किए गए और साहित्य में नवीनता की निर्झरिणी अपनी तरंगों के साथ बहने लगी।

आज का युग आधुनिक युग है। इस युग के कविरत्न ये हैं: दि० बी० एम० श्रीकंठय्या, के० वी० पुट्टप्पा, गोविन्द पै, मास्ती वेंकटेश अय्यंगार इत्यादि। ये सब के सब साहित्य सेवा में आज भी निरत हैं और के० वी० पुट्टप्पा जी का अमूल्य ग्रन्थ 'रामायण दर्शन' महाकाव्य जिसने अभी हाल ही में ५,००० रुपयों का पुरस्कार प्राप्त किया है—कन्नड़ की अमर कृति है।

आशा है ये सब कवि-रत्न हिन्दी भाषा के प्रति भी अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रदर्शित करेंगे।

नं-बी-३६ सीगेबेली,
बेंगलूर—२

—एन० रंगनाथ

इटली के लोगों में एक कथा प्रचलित है जिससे उनकी सहिष्णुता और दुःख में भी हास्यप्रियता का पता चलता है। यह कहानी एक राजा के विदूषक की है। विदूषक ने कुछ ऐसा बुरा कार्य किया कि उसे फाँसी की सजा हुई। विदूषक ने राजा से प्रार्थना की: "मुझे उस वृक्ष को चुनने की आज्ञा प्रदान की जाए जिस पर मुझे फाँसी पर लटकाया जाए।" राजा ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। विदूषक ने राजा के खर्च पर २० वर्ष तक दूर देशों की यात्रा उस वृक्ष को ढूँढ़ने के लिए की जिस पर उसे फाँसी पर लटकाया जाए। अन्त में उसने राजा से कहा कि उसे विश्व में एक वृक्ष भी ऐसा नहीं मिला जिसको वह अपनी फाँसी के लिए चुन सके।"

स्वर्गीय श्रीयुत बन्सीलाल व्यास

निरीह, निस्पृह समाज-सेवियों की स्मृति करुणा और मधुरता से कैसी अभिभूत होती है, यह शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। सितम्बर २, १९५६ की जड़चर्ला-महबूबनगर रेल-दुर्घटना ने हमारे सबके हृदयों को गहरे शोक से उद्वेलित कर दिया । मगर इस दुर्घटना में श्री बन्सीलाल व्यास के देहावसान ने हम सब हैदराबाद वासियों को करुणा और मधुरतामयी स्मृतियों से एकदम निःसंज्ञ-सा कर दिया । मृतावस्था में श्री व्यास जी की मुस्कान-से भरी सरल, भव्य-मुद्रा और निरीह, कर्मठ व्यक्तित्व ने मूर्तिमान् हो, हम सब को हिला दिया बड़ी विचित्रता से और जब इन पंक्तियों का लेखक कुछ सहयोगियों के साथ दुर्घटना-स्थल पर पहुँचा तो श्री व्यास जी का निस्पन्द शरीर, पूरी तरह निर्विकार, निरीह, चिर-स्वप्नों में लीन हम सबसे, इस संसार से अन्तिम विदा ले चुका था—लगा, हमने कोई महान् निधि खो दी । उस क्षत-विक्षत शरीर में भी जाने कौन सी ज्योति आलोकित थी ।

स्व० व्यास जी अपनी निरीहता और साधुता के लिए हैदराबाद नगर में विख्यात थे, यदि यह कहा जाए कि उनका-सा निरीह व्यक्तित्व, उनके समकाल में कोई नहीं था, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

स्व० व्यास जी का जन्म नवम्बर २, १८९९ ई. में हुआ । उनका बाल्य और शैशव जीवन अत्यन्त सरलता और सहजता से व्यतीत हुआ, पर उनमें उस काल में भी हास्य और माधुर्य था, मानो इन दोनों वस्तुओं का सम्बन्ध उनके जन्म से रागात्मक रूप में ही हो। व्यास जी को अपने बाल्यकाल से संगीत के प्रति विशेष प्रेम था और जैसा कि हम भी देखते हैं, व्यास जी अपने जीवन भर न केवल कोरे संगीत-प्रेमी ही रहे, उन्होंने अपने संगीत-प्रेम द्वारा सामाजिक सेवा के क्षेत्र को भी मुखरित और जागृत किया । संगीत और काव्य दोनों वैसे भी अभिन्न हैं, पर व्यास जी के लिए भी वे अभिन्न ही रहे । व्यास जी अपनी तरुणावस्था में ही इतने काव्य-प्रेमी रहे थे कि उन्हें अत्यल्प आयु में ही राजस्थान का लोक-कवि भी कहा जाने लगा । उनके द्वारा रचित "इचरज को ब्याह", "रूढ़ियों को रायतो", "श्रवणकुमार" आदि राजस्थानी भाषा के नाटक राजस्थानी समाज में अभी भी पर्याप्त लोकप्रिय हैं; व्यास जी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता, जो हम सब देखते हैं; उनका जीवन पूर्णतः अकृत्रिम तथा उनके विचारों के अनुरूप व्यवहृत था और इसे संयोग की बात कहा जाए अथवा व्यास जी के जीवन की सत्यता की प्रेरणा कि "इचरज को व्याह" नाटक को रंगमंच पर लाने के लिए उतना ही व्यय और वही सब कुछ करना पड़ा, जो एक वास्तविक विवाह में होता है । व्यास जी की गतिविधियाँ अपनी युवावस्था से ही अधिकाधिक सामाजिक और धार्मिक रहीं, जब वे युवक थे, उन्होंने द्विज धर्म प्रचारक मण्डल, जगन्नाथ ध्यान प्रचारक मण्डल, राजस्थान सुधारक सभा आदि आदि संस्थाओं में उसी कर्मठता तथा लगन से कार्य किया, जिससे कि वह अपने सारे जीवन अनुप्राणित रहें, अपने यहाँ वे राजस्थानी नाट्य रंगमंच के तो सूत्रधार ही थे और उन्होंने नाट्य रंगमंच का, समाज-सेवा के कार्य में भी उपयोग करना चाहा, किन्तु विशेष सफलता उपलब्ध न हो सकी ।

वे विगत ३९ वर्षों से ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के नैष्ठिक अनुयायी और कर्मठ प्रचारक थे । १७ सितम्बर १९४८ की पुलिस कार्यवाही से पूर्व व्यास जी ने हैदराबाद राज्य में व्यापक रूप में जनजागृति का कार्य किया । निज़ामकालीन हैदराबाद में सार्वजनिक कार्य कर सकना अत्यन्त दुष्कर और भयंकर समझा जाता था; मगर व्यास जी में कार्य और सेवा के प्रति मानो प्रकृति से ही उत्कट आस्था थी; वे बिना किसी आशंका और भय के समस्त राज्य में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य करते ही रहे । निज़ामकालीन हैदराबाद में धर्मांधता का साम्राज्य था, मगर व्यास जी ने उस समय भी बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन का कार्य किया और अपहृत महिलाओं, बालक और बालिकाओं की रक्षा में सदैव तत्पर रहे ।

कार्य कुछ हो, पर निष्ठापूर्ण हो । उसके लिए

व्यास जी अपने जीवन भर तत्पर रहे। सन् १९३२ में महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार कार्य के लिए उपवास आरम्भ किया तो व्यास जी भी अपने मित्र श्री पंडित मोहनाचार्य मेवाड़ी और श्री मुन्नालाल मिश्र, श्री मोहनलाल बलदेवा के साथ राज्य के हरिजनों में सत्यनारायण की कथा आदि करते-कराते रहें; यद्यपि सत्यनारायण की कथा का प्रतिपादन वैदिक सिद्धान्तों से नहीं होता; फिर भी देश-काल की सामयिक परिस्थितियों में यही औचित्य पूर्ण लगा और व्यास जी दस वर्ष तक इसी कार्य में लगे रहे—और इसके लिए व्यास जी को ब्राह्मण-समाज से जाति-बहिष्कृत भी होना पड़ा; मगर व्यास जी की हरिजनों के प्रति सेवा और भावना सदा अडिग रही। बहादुर यार जंग जैसे कट्टर मुस्लिम नेता ने भी उन्हें कठोर धमकियाँ दीं, पर वे तो हँस कर टाल गए और अपने कार्य में लगे ही रहे।

सन् १९३८ के आर्य-सत्याग्रह में तो मानो व्यास जी का योद्धा भाव समग्रता से जागृत हो उठा हो; इस सत्याग्रह आन्दोलन में व्यास जी ने जो योग दिया; उसका महत्व आर्य-सत्याग्रह के इतिहास में अक्षुण्ण है। यद्यपि सत्याग्रह के काल में श्री व्यास जी के पूज्य पिता श्री चतुर्भुज व्यास का देहावसान हुआ; किन्तु व्यास जी की सत्याग्रह सम्बन्धी गतिविधि में किसी भी प्रकार की शिथिलता या व्यवधान नहीं पड़ने पाया और उसके शीघ्र बाद पुलिस की कड़ी निगरानी होने के बावजूद उन्होंने २३ जून १९३९ को पन्द्रह साथियों के साथ आर्यसमाज सुलतान बाज़ार के सम्मुख आकर सत्याग्रह किया। पुलिस देखती कि देखती रह गई कि व्यास जी बाहर से किस प्रकार आ गए। उनकी गिरफ़्तारी के साथ ही उपस्थित जन-समूह में खलबली मच गई जिसके कारण पुलिस को लाठी चार्ज भी करना पड़ा। सत्याग्रह के आपराध में व्यास जी को तीन वर्ष छः मास का कारावास दण्ड दिया गया।

पुनः १९४३ ई. में व्यास जी को केवल वीर हकीकत राय का चित्र दिखाने पर गिरफ़्तार किया गया जिसमें इन्हें साढ़े छः मास का सपरिश्रम कारावास का दण्ड दिया गया था।

सन् १९४६ ई. में जब कि बंगाल, बिहार विशेषकर नौआखाली साम्प्रदायिकता की लपेटों में धधक रहा था; आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद ने दंगों से पीड़ितों की सहायता के लिए २५००० रुपए एकत्रित करके सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा और अन्य भिन्न-भिन्न रिलीफ़ सोसाइटियों को भेजा। और दंगे के समय बलपूर्वक सामूहिक धर्म परिवर्तन को रोकने के लिए सभा से श्री व्यास जी और पं. गंगाराम जी को नौआखाली भेजा गया। दोनों व्यक्तियों ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा और बंगाल आर्यन रिलीफ़ सोसाइटी तथा ठक्कर बापा के सम्मिलित सहयोग से पीड़ितों की सेवा करते रहें और बलात् धर्म-परिवर्तन को रोका। व्यास जी को नौआखाली में महात्मा गांधी के साथ मिल कर कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। नौआखाली से वापसी में महात्मा गांधी की अनुमति पर व्यास जी चार अनाथ बालकों को अपने संरक्षण में हैदराबाद लाए जो गुरुकुल घटकेश्वर में शिक्षा पा रहे हैं। महात्मा गांधी के साथ व्यास जी का प्रवास कितने ही प्रेरक और अविस्मरणीय संस्मरणों से भरा है; व्यास जी अपनी प्रातः कालीन संध्या के पश्चात् एक भजन गाया करते थे, उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं :

"ओ३म् बोल मेरी रसना घड़ी घड़ी
सकल काम तज ओ३म् नाम भज
मुख मण्डल में पड़ी पड़ी॥१॥
पल पल हमें ले जाना चाहती
मौत सिरहाने खड़ी खड़ी॥२॥"

यह भजन महात्मा गांधी को इतना प्रिय लगा कि उन्होंने अपनी प्रार्थना सभा के लिए इसे अपना लिया था।

सन् १९४७ का हैदराबाद; जब राज्य भर में रज़ाकारी अत्याचारों का विष व्याप्त था और जनता राज्य से बड़ी संख्या में निष्कासित होने लगी थी और आश्रय की खोज में अपने पड़ौसी प्रदेशों में भटकती फिरती थी। व्यास जी ने ऐसी त्रस्त जनता के बीच ही अपनी सेवाएँ जारी रखीं। शोलापुर में हैदराबाद से आने वाले लोगों की हर प्रकार से सेवा करने तथा आर्य युवकों को आन्दोलन के कार्य में भाग लेने की प्रेरणा और उन्हें यथासम्भव आर्थिक सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से आर्य सेवा समिति की स्थापना की जिसके अध्यक्ष स्वयं श्री व्यास जी तथा मन्त्री श्री मनोहरलाल जी थे। श्री व्यास जी बरार, पूना, बम्बई

आदि प्रान्तों में अपने मॅजिक लन्टर्न द्वारा प्रचार कर समिति के लिए धन एकत्रित करते और सर्वसाधारण जनता को रज़ाकारों के विरुद्ध लड़ने को प्रेरित करते।

उन दिनों प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान श्रीयुत खुशहालचन्द जी (वर्तमान महात्मा आनन्द स्वामी जी) ने आर्य सेवा समिति द्वारा होने वाले कार्यों को देख कर व्यवस्था की बड़ी ही सराहना की थी। ऐसे विषम काल में व्यास जी के सम्पर्क में जो आया, वह उन्हें कैसे भूल सकता है।

व्यास जी किस क़दर अध्यवसायी और एक ठोस संगठन कर्त्ता थे, इसका ज्वलन्त प्रमाण तो हैदराबाद में आयोजित अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन, द्वितीय अखिल भारतीय आर्योपदेशक महासम्मेलन, आर्य महा सम्मेलन आदि की सुन्दर और ठोस व्यवस्था स्वतः ही दे देती है।

हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही के पश्चात् आर्य-समाज की गतिविधियों में एक व्यापक व्यवधान और शिथिलता-सी सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी थी; आर्यसमाज के अच्छे-अच्छे कार्यकर्ता और चोटी के नेता भी राजनीतिक क्षेत्र की ओर जाने लगे, उस समय व्यास जी आर्यसमाज के कार्य के लिए और भी दृढ़प्रतिज्ञ हो गए, और उनकी कृतसंकल्पता का परिणाम है कि आर्यसमाज पूर्ववत् क्रियाशील और जीवित रह सकी। वे अपने जीवन की अन्तिम सांस तक राजनीति के क्षेत्र से सर्वथा विमुख रहे—मानो उनका सारा जीवन और कुछ नहीं; केवल समाज-सेवा था और इस बात को हैदराबाद के सभी वर्गों के लोग भलीभाँति जानते हैं कि व्यास जी की समाज सेवा कभी संकुचित या जाति विशेष तक सीमित न रही, अपितु सेवा का प्रश्न आने पर उन्होंने बिना किसी भेदभाव के खुले हृदय से सेवा की।

आर्य समाज, सुलतान बाज़ार'
हैदराबाद-दक्षिण

—नरेन्द्र, एम० एल० ए०

जापानी घर

जापान में एक सीधे-सादे मकान में मैंने चाय पी। मैंने जिस प्याले में चाय पी; वह बहुत सुन्दर था। संभवतः मकानवालों की वह सबसे महान् निधि थी। चाय पीने के पश्चात् मकान की वृद्ध महिला ने कहा: "यह प्याला एक हजार वर्ष पुराना है।" बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि वह प्याला ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। उसका मूल्य कम-से-कम ९५,००० रुपए था। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि इतने बहुमूल्य प्याले को प्रति दिन के व्यवहार में नियमपूर्वक व्यवहार में लाया जाता है।

मैंने इसके विषय में वृद्ध महिला से प्रश्न किया: "आप इस बहुमूल्य प्याले में क्यों प्रतिदिन चाय पीती हैं?"

"क्योंकि इस प्याले का निर्माण ही इसीलिए किया गया था"—वृद्ध महिला ने उत्तर दिया।

जापानी कहते हैं: "घर में ही सच्ची सुन्दरता का निवास होता है।"

—"मैं क्यों जापान को पसन्द करता हूँ।" लेख से

अवतार

ऊदी ऊदी घटाएँ झूम झूम उठी थीं। नीला आसमान धुँधला रहा था और मेरी खिड़की से हवाएँ यों आ रही थीं जैसे किसी का सन्देश लाई हों, मगर मेरी अकेली ज़िन्दगी में सन्देश कहाँ से आता, और कहाँ से आएगा? इस उदास और अकेली ज़िन्दगी के सत्ताइस साल गुज़र चुके, दिन ढले सायों की तरह लम्बे और खामोश साल। यों घर में सभी थे, लेकिन उसके बावजूद यह अकेलापन मानो मेरा साया बन कर मेरे साथ हो चुका था। बरसात की धूप की तरह कभी-कभी कुछ हलचल, कुछ खुशी, और रंगीनी की साइतें भी आई थीं। लेकिन इनकी उम्र बुलबुलों से ज़्यादा नहीं थी, बुलबुले जो यों ही पैदा होते हैं और नदी की धारा यों ही बहती रहती है।

और आज मेरा दिल अकुला रहा था। क्यों आख़िर? मेरी कल्पना की दुनिया इतनी ऊँची, इतनी अनमोल है कि उसमें कोई बहुत दिनों तक क़ायम नहीं हो सकता। कोई उसका साथ नहीं दे सकता। वह पैदा ही नहीं हुआ जो मेरा साथी है। क्या वह तूफ़ान के वक़्त के अँधेरे क्षणों से कभी न उभरेगा जो इस घाट के पत्थर को हटा सके। लाखों तूफ़ान आए और गुज़र गए। मगर लोग कहते हैं, मैं बहुत खुश्क हूँ, बद-दिमाग़ हूँ—आइना देखे बिना एक अप्सरा की तलाश में हूँ। ज़मीन पर रहते हुए आसमान से बातें करती हूँ। मैं यों ही सितारों की छाँव में बादलों के कंधे पर उड़ती रहूँगी, उड़ती रहूँगी कि एक दिन अचानक कल्पना का गुब्बारा फट जाएगा। मेरे पाँव ज़मीन को छू लेंगे, मेरी नींद टूटेगी और मैं देखूँगी कि ज़िन्दगी का दिन ढल गया, साँझ हुआ चाहती है तो फिर क्या यह कहानियों की बातें, ये शेर के ख़्वाब और कलाकार का चित्रण सब झूठी दुनिया की तसवीरें हैं। क्या यह फिर कभी नहीं मिलेंगे, ये नक़्श कभी न उभरेंगे?

और यों ही घटाएँ झूम कर उठती रहीं, यों ही आसमान धुँधलाता रहा और शाम के साये, मेरी खिड़की में स्थिर हो आए। और इन्हीं के साथ बरसात की हवाओं में घुल कर एक आवाज़ मेरे कानों में आई "नूरानी घर पर है?"

"नही" मैंने यों ही जवाब दिया।

किसी ने साइकिल दुरुस्त की और फिर कहा: "आए तो कह देना अवतार आया था।"

मैं बदलियों से नीचे झुक गई और मैंने चौंक कर देखा। मेरे सामने एक दुबला पतला-सा, लम्बा-सा आदमी खड़ा था, बालों के घूँघर हवाओं में परेशान थे। जिसके नक़्श इतने कटे हुए, तीखे और नाज़ुक थे कि मालूम होता था अभी अभी किसी चित्रकार का ख़्वाब अंगड़ाई लेकर जाग उठा है...मगर इस क़दर नज़ाकत के बावजूद वह फ़ौलाद था और उसकी तन्द्रा से भरी हुई पलकों से, बोझिल होती हुई रोशन आँखों ने मुझसे कहा, बहुत बड़ा कलाकार है। जिसकी कला अभी जन्म ले रही है, लेकिन उसे देखते हुए मुझे यों लगा कि उसकी तरह उसकी कला भी नर्म और नाज़ुक...लेकिन साथ ही जानदार भी होगी। सुनार की छोटी-सी हथौड़ी की तरह जो सोने की सख़्ती से नाज़ुक और ख़ूबसूरत नक़्श उभारती है, वह अपने क़लम की एक हरकत से कला की कोमलता और जीवन के संघर्ष को एक कर देगा।

उसने साइकिल दुरुस्त की और चला गया; ज्यों ही आँखों से ओझल हो गया; मगर नहीं...वह गया कहाँ था? वह यहीं रह गया था। उसकी आवाज़ मेरे कानों में सावन के गीत की तरह गूँज रही थी—वह अब तक यहीं तो था, जिसका मैं समुन्दर की अकेली चट्टान पर बैठी, इन्तज़ार कर रही थी, यही तो था वह......आज सत्ताइस साल बाद आया है, मूर्ख कहीं का, यह न सोचा अकेली इन्तज़ार करते-करते थक जाऊँगी। दिन ढल जाएगा, इतनी देर से आ गया है—लेकिन आ तो गया, वह आ गया न, मेरा साथी।

भाई ने पूछा "कौन आया था?"

मैंने कहा "हाँ, अवतार"

"क्या अक्ल है, तुम लोगों की, क्यों जा दिया उसे, इतना ज़रूरी काम था उसे—बड़ी मुश्किल से तो आया, ठहराया क्यों नहीं।"

मैंने हँसते हुए कहा, "ऐसे क्या लाल जड़े हैं

उसमें ?"

भाई साहब ने कहा "अरे क्या अक़्ल है तुम लोगों की, मालूम है कौन है वह ? अरे वह तो अलीजान का बहनोई है। क्या मज़े से मूँगफली का परमिट मिल जाता है। आजकल में कितना ग़रीब हूँ तुम्हें मालूम नहीं उसे तो लोग घेरते फिरते हैं। मगर वह हाथ आता नहीं। उसे अपनी किताबों और ख्वाबों से ही फुरसत नहीं। उसकी बात जान साहब बहुत मानते हैं मगर है वह खरदिमाग़—किताबों की दुनिया से हट कर उसे शायद ज़िन्दगी की कोई भी चीज़ पसन्द नहीं, अपनी बीवी भी पसन्द नहीं, जान साहब की सबसे छोटी बहन है वह। जिसकी ख़ातिर वह जीता है, अरे उसे तो अपने बच्चे तक पसन्द नहीं।"

बस मेरा दिल रेत के घरौंदे की तरह बैठ गया तो यह बहनोई है किसी का यानी किसी की बहन का पति। कैसी अजीब बात थी यह—कितनी नामाकूल और नामुमकिन-सी। भला अवतार कहीं गृहस्थी हो सकता है! वह किसी बीवी का शौहर हो सकता है, वह तो मेरा आदमी है, जिसके लिए मैं बैठी इन्तज़ार कर रही थी सपनों की परी की तरह, वह और मूँगफली का परमिट! कभी कभी भाई साहब का दिमाग़ ही चल जाता है, जब वे ऐसी बातें करते हैं तब मेरे भाई साहब अगर मुझे उनसे इतना प्यार न होता तो खुदा जाने क्या कर बैठती।

अवतार शायद उसका यों ही नाम हो। दोस्तों का ख़िताब वरना उसका नाम मैंने सुन रक्खा था। लोग कहते थे वह खूसट अलीजान, वही जो सामने पर्वत के सबसे ऊँचे, सबसे ख़ूबसूरत मकान में रह कर, फ़क़ीरी, भक्ति और ज्ञान का ढोंग रचता है। लेकिन है पक्का जल्लाद। महल और कोठियों में सदर से नहीं, चोर दरवाज़े से दाख़िल होता है। रात के अँधेरे में सियासी क़त्लनामों पर दस्तख़त करता है। दिन के उजियाले में नेतृत्व की सबसे ऊँची कुर्सी पर बैठ कर दुनिया में सिर्फ़ एक ही आदमी की बात सुनता है, और वह है उसकी छोटी बहन का पति। लेकिन जान की छोटी बहन के पति की तस्वीर मेरी आँखों में कुछ और ही थी। ऐसी ही जैसे और लोगों की, जो क़ौमी जलसों की स्टेज पर नमूने की हैसियत से आते, कठपुतलियों की तरह नाचते, और ग़ायब हो जाते। ओह! यह अवतार तो उस छोटी बहन का पति नहीं हो सकता? यह तो सिर्फ़ अवतार है। जिसमें समुन्दर की झाग चाँद की किरण, बरसाती नदी के राग, तूफ़ान की घन गरज के संयोग से जन्म लिया है।

और फिर अवतार घर आता रहा। मगर अब उस दिन की तरह बदलियों के साथ नहीं उभरा। हवाओं के साथ खिड़की से नहीं दाखिल हुआ, बल्कि भाई साहब के साथ, जैसे आया नहीं, लाया गया हो, बार-बार वह अपने घूमे हुए बालों को सजा कर परेशान करता रहा और कहता रहा—"अरे यार, अभी मुझे गंज में एक लेक्चर सुनने जाना है। किसी से मेरा मिलना ज़रूरी है यहाँ फिर आऊँगा।"

और भाई साहब ने लालच दिया, "अवतार इतनी मज़ेदार चाय पिलाऊँगा तुझे, अब बैठ भी जा।"

और वह मुझ से आकर कहने लगे—"देखो मुन्नी उसे चाय असली पिलाना और बातों में लगाए रखना।"

"खाने पीने के साथ, पढ़ना लिखना भी उसकी भूख प्यास है। बस तुम बातें किए जाओ। भाभी से चाय को कह देना। वह भला क्या, किताबों की और नज़रियों (विचार) की बातें करेंगी? मैं अभी आया, ज़रा दरख़्वास्त का मसविदा तैयार कर लूँ।"

और वह आता रहा और बार-बार आता रहा। उसकी साइकिल फाटक से बाहर सड़क पर किर्रर्र करती आ जाती और मुझे मालूम हो जाता कि अवतार आया है। उसे चाय पीने और बातें करने का बहुत शौक़ है। लोग कहते हैं, "भई, अवतार को नहीं देखा तुमने। कोई बात नहीं। यहीं कहीं भी कोई शख़्स लगातार चाय पीता और बातें करता नज़र आए तो समझो वह अवतार ही है। चाय ऐसे पीता है जैसे कोई काफ़ी हाऊस में बैठा, बरसात की शाम को मदिरा पी रहा हो और बातें ऐसी करता है, कि हर क्षण तिलिस्मी बुलबुले की तरह उभरता है, ग़ायब हो जाता है। जी चाहता है, कानों में यों ही राग उभारता रहे। चाय की घूँट यों ही दिल में आग लगाती रहे। उससे बातें किए जाओ। दुनिया भर की बातें। हँसी मज़ाक की बातें गम्भीर राजनीति की बातें। चुग़ताई के आदि से लेकर उदयशंकर तक की बातें। अजन्ता के ख़्वाब से लेकर ताज की हक़ीक़त तक की बातें। महात्मा बुद्ध की खुदफ़रामोशी से लेकर मार्क्स की खुदआगही (आत्म

ज्ञान) तक की बातें। 'इस्लामिक रिव्यू' से लेकर 'फार ए लास्टिङ्ग पीस' तक की बातें—कभी न ख़त्म न होने वाली दिलचस्प, अनोखी, पुरानी-नई, दिल मोहने वाली बातें। प्रियतमा के सौन्दर्य से लेकर प्रियतम के उत्सर्ग तक की बातें।

और जिन्हें सुन-सुन कर ऐसा महसूस करके, अपने आप में जज़्ब करके मुझे यों लगा मानो इससे बहुत दिनों की जान-पहचान हो। यह तो कोई ग़ैर आदमी है ही नहीं। अपना ही अपना है। जिसके साथ रहते रहते मुझे युग युग बीत गए हैं और यह बात किस क़द्र झूठ है कि वह अलीजान का बहनोई है, उसकी बीवी है, बच्चे हैं, और यह तो मेरा आदमी है, अभी मेरे बच्चे कहाँ हुए। मैं तो दुबली-पतली गुड़िया जैसी हूँ, मैं ही तो अवतार की जन्म जन्म की साथी हूँ; लोग मुझे और अनवर को साथ देखते हैं, तो कहते हैं कि ऐसी जोड़ी नज़र नहीं आई थी और लोग किस क़दर झूठ बोलते हैं कि वह अलीजान की बहन आयशा ख़ातून का मियां है। हुँ, ऊँ!

घर के सब लोग ही क्या, मिलने-जुलने वाले तक कहते थे कि मैं अपनी बात पर अटल हूँ, मैं अक़्ल खरी हूँ। लेकिन अवतार ने तो यह महसूस किया ही नहीं। वह करता भी कैसे। बात उसके सामने भला कैसे अटल हो सकती है। वह ख़ुद अटल रहता है और मेरी बात टल जाती है। वह बड़ी शान से अपने बालों के घूँघर सँवार कर परेशान करता हुआ हुक्म लगाता है कि यों होगा और ज्यों होना चाहिए और मेरी सोची हुई सारी बात भूल जाती है। मैं कहती हूँ कि मैं आज पिक्चर नहीं जाऊँगी, वह कहता कि फलाँ पिक्चर के टिकट ले लिए हैं, तुम्हें चलना है और मैं साथ चली जाती। मैं ही तो सोच सोच कर दावतों के बहाने निकल जाती हूँ कि वह आये और महफिल की रौनक बढ़े।

कितनी मुश्किलों से मैंने अपने आपको एक खोल में महफ़ूज़ कर लिया था, जिसके अन्दर तन्हाई ही तन्हाई थी और मैं बाहर की दुनिया से कितनी उदासीन रहती थी। मैं सिर्फ़ अपनी बात से मुहब्बत करती थी इसीलिए लोग मुझे अजीब समझते थे। मैंने सोचा था खोल में कहीं भी कोई दरार न पड़े। एक दिन अवतार ने कहा—

"भई नूरानी, बाज़ लोग कितने अजीब होते हैं, नारियल की तरह—ऊपर से झूठ ही झूठ, लेकिन अन्दर से नारियल। जिसका छिलका कितना सख़्त, खुश्क और बुरा होता है लेकिन भीतर से कितना मधुर, सफ़ेद और ठण्डा होता है।"

भाई मियाँ ने कहा "हाँ, जैसे मुन्नी" और वह मेरी तरफ़ देख कर मुस्करा दिया। वह मुस्कराहट और वह नज़र जो पूरी महफिल में सिवाय मेरे किसी ने महसूस नहीं की। वह नज़र जिसके लिए मैं हमेशा इन्तज़ार करती रही। वह कितने ही आदमियों में क्यों न बैठा हो, किसी विषय पर क्यों न बोल रहा हो, हमेशा वह नज़र ताईद के लिए इसी तरह मेरी तरफ़ आती थी और शायद इधर से भी जवाब जाता था। जैसे कह रहा हो, हम दो हैं और तुम मेरे साथ हो।

यह नज़र कभी किसी ने यह महसूस ही नहीं की, यह बिजली की कौंधे की तरह, हम दोनों के दरम्यान से गुज़र जाती थी। इसी नज़र के सहारे दिन चुपचाप गुज़रते रहे। लेकिन नहीं इनमें मध्याह्न की उदासी रही, न थकान। यही तो अब फूलों की मुस्कान बन गए थे; चमेली के फूलों की तरह हँसते-हँसते चुपचाप झलक जाते। फिर नए फूल खिल जाते—उनमें अजीब सहारा होता, हृदय की बातें होती और—छिपा हुआ प्यार होता।

और इस प्यार के सहारे मेरी कल्पना में कुछ चित्र उभरते और मेरा जी उन सब चीज़ों को चाहता जिन्हें मैं इन सत्ताइस सालों से क्षण-क्षण महसूस करती आ रही हूँ। मेरा अपना घर, मेरी फुलवारी, मेरे बच्चे और मेरा साथी। सब कुल में शान्ति और सन्तुष्टि। जब जीवन के प्रवाहों में अकेलापन नहीं होता तब मुसीबतें भी झेली जा सकती हैं; न झेल सकने की बात नहीं और मैं सोचती हूँ—एक घर होगा, पाँच कमरों का सारा सफ़ेद, सादा और बहुत ख़ूबसूरत, उसके आस-पास खुली हुई जगह होगी, जिसमें चमेली और रात की रानी के पौदे मैं अपने हाथों से लगाऊँगी और इनकी सुगन्ध जब वायुमण्डल में उभरेगी, तब सबशेड के बैडरूम में नींद कितनी सुहानी और सुन्दर होगी। खाने के कमरे में मेरे हाथ की पकी हुई तरकारियाँ, शामी कबाब, मेरे छोटे-छोटे तीन बच्चे, लोटस पाण्ड और वह चाय की मेज़, घूमने वाली मेज़ ताकि अवतार हर जगह बैठ कर चाय पी सके और बातें कर सकें—बहुत दिनों

हे मुहब्बत का उबलता चश्मा, जो हमने अपने सीने में समेट रक्खा है, तब फूट निकलेगा और अवतार को जो ठण्डक, जो तुष्टि, जो गर्मी और जो चंचलता मिलेगी, वह दुनिया में है कहाँ? हम दोनों एक दुनिया बना सकेंगे। हर रोम उसके साथ, उसके कंधे का सहारा लिए; पर कैसा कुछ होगा। उसके साथ लम्बे, सुनसान, भयानक और खतरनाक रास्तों पर यों ही मैं चलती रहूँ, चलती रहूँ तो कभी थकूँ भी नहीं—उसके साथ निशाना लगाना भी आसान होगा और निशाना बनना भी। मुझे अवतार चाहिए। मेरी नस-नस में एक नशा जाग उठता है—जैसे ख़य्याम की कोई रुबाई जन्म ले रही हो, अजन्ता का कोई नक्श उभर रहा हो या पाल राब्सन के ओठों पर कोई मधुर गीत मचल उठा हो; मगर एक साया उभरता। उससे मेरी कल्पना के चाँद को ही नहीं, सूरज को भी ग्रहण लग जाता। मुझे बच्चों की कल्पना में हमेशा रहने वाली चुड़ैल में आयशा ख़ातून याद आ जाती, जो अलीजान की बहन है; जो सामने पर्वत के सबसे ऊँचे और खूबसूरत मकान में रहती है। उसके भाई के धन ने अवतार को ख़रीदा था। उसके भाई ने अपनी बहन के लिए ही कार ख़रीदी थी। वह उससे इसी तरह प्यार करता, जिस तरह अपनी......

और यों मेरे सपनों का घरौंदा टूट फूट जाता; मेरे सीने में एक अजीब-सी दम घोंटने वाली प्रक्रिया होने लगती। तुम अब आए तो क्या आए—किस क़दर देर लगा दी तुमने। अब तुम इतने पास होकर भी इतने दूर क्यों हो? आ जाओ न!

हाँ, और मैंने देखा, वह ऐसे रहता है; जैसे उसका कोई न हो—उसी वक़्त मेरा दिल चाहा कि उसके सिर को अपने सीने से लगा लूँ, उसके बालों के घूँघरों को सुलझाऊँ, मैंने देखा, वहाँ वह क़िताबों, गर्दोगुबार, काग़ज़ के पुर्जों, चाय की टूटी प्यालियों और बिखरे हुए सिगरेट के टुकड़ों पर बैठा था—जैसे इन सबसे बिलकुल अलग-सलग, मगर फिर भी वहाँ हो और जब भाई साहब ने कहा था: "कैसे रहते हो अवतार?" तो उसने हँसते हुए उत्तर दिया था, "बस, ऐसे ही रहता हूँ, क्या कहूँ—कोई देखभाल करने वाला नहीं, मैं इस मामले में क़तई एक बड़ा-सा बच्चा हूँ।" और वह हँसने लगा था कि एकदम बातों का तूफ़ान सभी को बहा ले गया। मैंने सोचा, यह मेरी तरफ़ इशारा है—जैसे उसकी नज़रों ने कहा हो—"तुम नहीं हो न, तभी...!"

और उस दिन से मैंने अपनी सारी सहानुभूति उसे सौंप दी थी—जैसे हम दोनों में शृंखला पैदा हो गई हो; मैं उसे हर भूली बात याद दिला देती। उसको मैंने यक़ीन दिला दिया था कि तुम अकेले नहीं हो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।

लेकिन बाज़ वक़्त मुझे सब कुछ झूठ लगता। मेरा दिल आगे बढ़ने को चाहता और अपनी मजबूरी पर मुझे बेपनाह गुस्सा आता और इन आँखों में आँसू भी आते, जो कभी आँसुओं से भीगी तक नहीं।

एक दिन मुझे यों लगा, जैसे वह घर ही में हो, उसके आने की मुझे कोई ख़बर ही न थी, उसके बावजूद मैं महसूस कर रही थी कि हठात् ही मेरे क़दम भाई की लाइब्रेरी की तरफ़ उठ गए। वहाँ वह अक्सर बैठा करता था, चाय पीता, अख़बार पढ़ता या तसवीरें देखता रहता। मेरे कमरे में पहुँचने से पहले ही, पर्दा ज़रा-सा हवा से हिला। मैंने देखा कि अवतार मेज़ पर बैठा है—मेरी ज़िन्दगी का सूरज अचानक बदलियों में छिप गया। मैं ठिठक गई और मेरे दिल से एक धुँआ-सा उठा—जैसे अब सब कुछ समाप्त हो चुका हो... क़रीब ही किसी की आहट सुनाई। और मैंने कमरे में क़दम रक्खा—अवतार कह रहा था, "यह परमिट नूरानी को दे देना; अरे यह रही नूरानी!"...मैंने कुछ नहीं सुना; उधर से वह नजर आई—वह वर्क़ पारे की-सी नज़र—लेकिन मैं उसे खरी आँखों से लौटा न सकी।

और...और सपनों की माला टूट-टूट गई, सब मोती एक-एक करके बिखर गए, खो गए; क्या पता कहाँ खो गए!

आग़ापुरा,
हैदराबाद-दक्षिण

—ज़ीनत साजिदा

कला-चर्चा

कला का विहंगम तत्त्व-निरूपण

[कला के संबन्ध में निम्न विचार-विनिमय हैदराबाद के गवर्नमेंट कालेज आफ फाइन आर्ट्स के प्रिंसिपल श्री विश्वनाथ मुखर्जी से हुआ था; इसे एक वार्ता के रूप अविकल प्रकाशित किया जा रहा है]

"कला के कुछ स्वतः संस्कार होते हैं और अन्ततः वह अन्तः प्रेरित होती है; जहाँ तक उसकी अनुभूति या परिकल्पना का प्रश्न है, उसकी पृष्ठभूमि में भी अन्तः प्रेरणा है और यही कुछ है, जिससे कला सौन्दर्यशाली होते हुए भी शाश्वत और सप्राण है : कला के लिए वाह्य प्रेरणाओं का अस्तित्त्व कुछ अंशों तक ही है और वह भी अन्त में, कृतित्त्व का रूप लेते समय अन्तः-प्रेरणाओं में आत्मसात् हो चुका होता है। कला की वास्तविक पृष्ठभूमि भावों का सौन्दर्य और उसका अङ्कन है।"

मेरे एक प्रश्न के उत्तर में श्री मुखर्जी ने बताया—मुझे लग रहा था, मनोभावों का सौन्दर्य कुछ ऐसी वस्तु है, जो शब्दातीत है।

मैंने श्री मुखर्जी से एक अन्य प्रश्न किया : "यह ठीक है कि कला आन्तरिक भावों का अङ्कन है, किन्तु वे आन्तरिक भाव जब मूर्त्त रूप में अङ्कित होते हैं, तब प्रस्तुत रूप में ही क्यों अंकित होते हैं, क्या भावों का कोई दृश्य भी अन्तर्भावनाओं में समाया होता है, और जब भावों का अङ्कन किया जाता है, तब वही दृश्य-रूप अंकित होता है या अन्यथा और कुछ भी?"

"आपका प्रश्न उतना गहरा नहीं, जितना लगता है। उत्तर बहुत स्पष्ट है—जिस प्रकार एक लेखक लिखने से पूर्व या कवि कविता करने से पूर्व भावों को एक प्रच्छन्न-सूत्र के रूप में महसूस करता है, बाद में लिखते समय शब्द, वाक्य, पंक्तियाँ, पृष्ठ बनते चले जाते हैं; बहुत कुछ उसी प्रकार किसी कलाकार के अन्तःपटल पर अंकित होने वाली वस्तु के सूत्र प्रच्छन्न रूप में आभासित होते रहते हैं और चित्रण या अंकन के समय वही सूत्र स्वतः ही आकांक्षित रूप धारण कर लिया करते हैं—"

"इसी से सम्बद्ध एक प्रश्न और। कोई चित्र जब बन चुका होता है, तब वह क्या वैसा ही बनता है, जैसा कि कलाकार को आकांक्षित होता है अथवा बनने पर कुछ का कुछ हो जाता है या अधिक उत्कृष्ट हो जाता है अथवा अपरिपक्व-सा बनता है : उस स्थिति के लिए आप क्या कहना चाहते हैं?" मैंने श्री मुखर्जी से प्रश्न किया।

"कला और कलाकार के लिए यह अपरिहार्य तथ्य है कि सच्चा कलाकार स्वभावतः ही अपनी कृति को किसी नियत कल्पना के अनुसार नहीं बनाना चाहता। प्रकृति तो अपने नियमों में सर्वथा आबद्ध है; किन्तु मनुष्य स्वभाव से ही चंचल है—कलाकार के मन में जो आकांक्षित होता है, वह रचना का रूप लेते समय कुछ का कुछ हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। मन के परिनिष्ठित भावों का हूबहू चित्रण कभी भी संभव नहीं। रहा चित्रण के उत्कृष्ट होने या निर्बल पड़ जाने दा: यह तो किसी कार्य में होता ही रहता है।"

भारतीय कला के सम्बन्ध में ऐतिहासिक और वस्तुगत विकास-क्रम तथा स्वरूप सम्बन्धी मेरे एक प्रश्न के उत्तर में श्री मुखर्जी ने बताया, "पश्चिम के लोगों ने भूतकाल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सौन्दर्या-त्मक रूप की विद्वेषपूर्ण एवं सहानुभूति-शून्य आलोचना की है; मगर यह बात सौभाग्य की ही कही जानी चाहिए कि भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला-संबन्धी परि की भ्रान्त धारणाओं को दूर करने के लिए बहुत-सा काम प्रत्यक्ष रूप में हम सबके सामने था, श्री हावेल और डा० कुमारस्वामी प्रभृति के ग्रन्थों ने भी हमारे पक्ष को बड़ा प्रबल और पुष्ट बनाया है—प श्चि के एक कला-समीक्षक श्री आर्चर ने तो भारतीय कला की समस्त प्रवृत्तियों पर बड़ी तीव्रता से प्रहार किए हैं; किन्तु भारतीय कला की सृजनात्मक प्रवृत्तियों का सं

या करते हैं—"
कोई चित्र जब
बनता है, जैसा
अथवा बनने पर
उत्कृष्ट हो जाता
स्थिति के लिए
मुखर्जी से प्रश्न

यह अपरिहार्य
ही अपनी कृति
र नहीं बनाता
र्वथा आबद्ध है;
कलाकार के मन
रूप लेते समय
हीं है। मन के
भी संभव नहीं।
पड़ जाने अतः
।"

ऐतिहासिक और
ी मेरे एक प्रश्न
श्चिम के लोगों ने
ति के सौन्दर्या-
शून्य आलोचना
कही जानी चाहिए
-संबन्धी परिचय
के लिए बहुत-सा
ामने था, जि
ति के ग्रन्थों ने भी
ाया है—पश्चिम
ी भारतीय कला
प्रहार किए हैं,
ृतियों का संग्रह

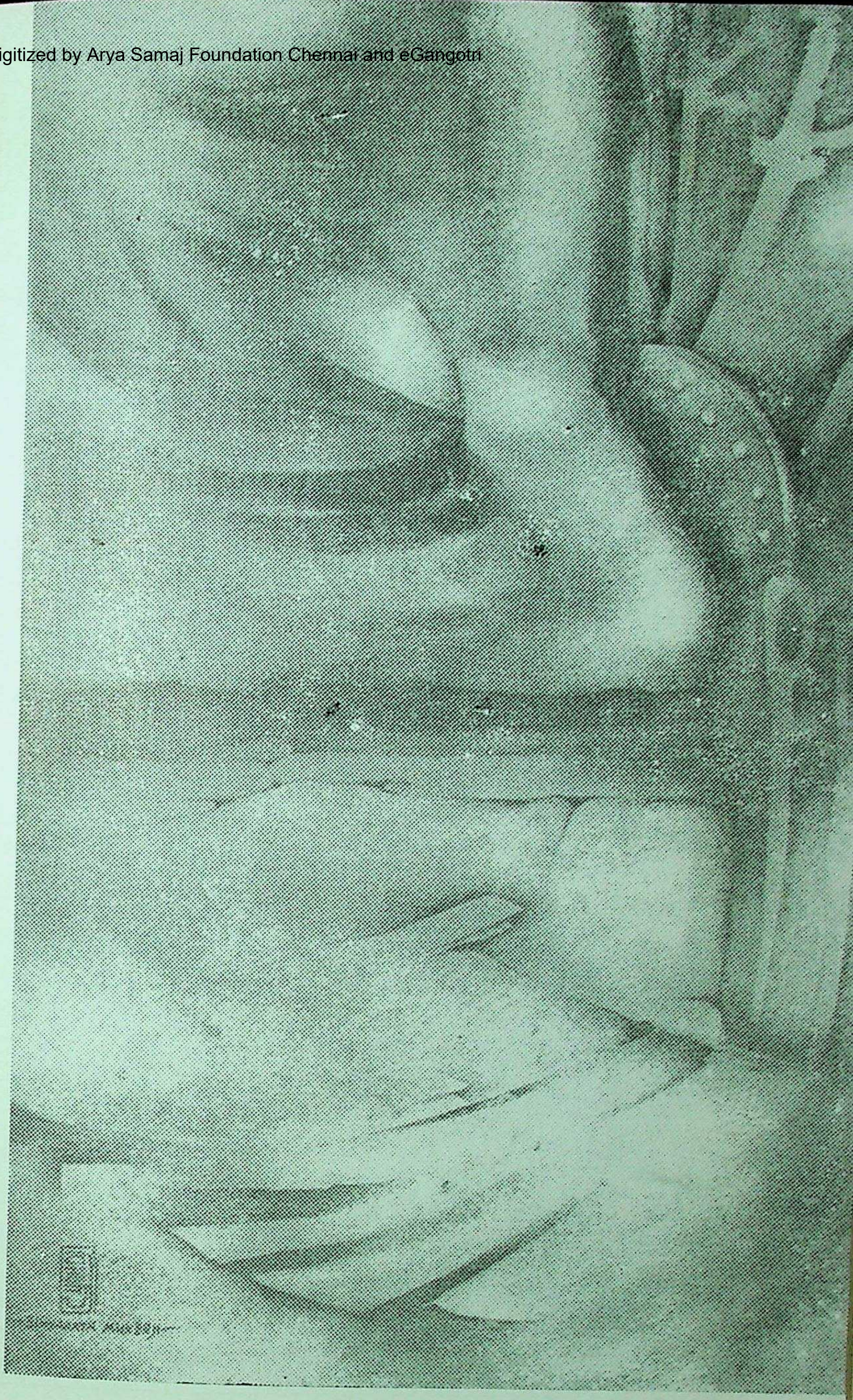

शिलीभूत
चित्रकार : विश्वनाथ मुखर्जी

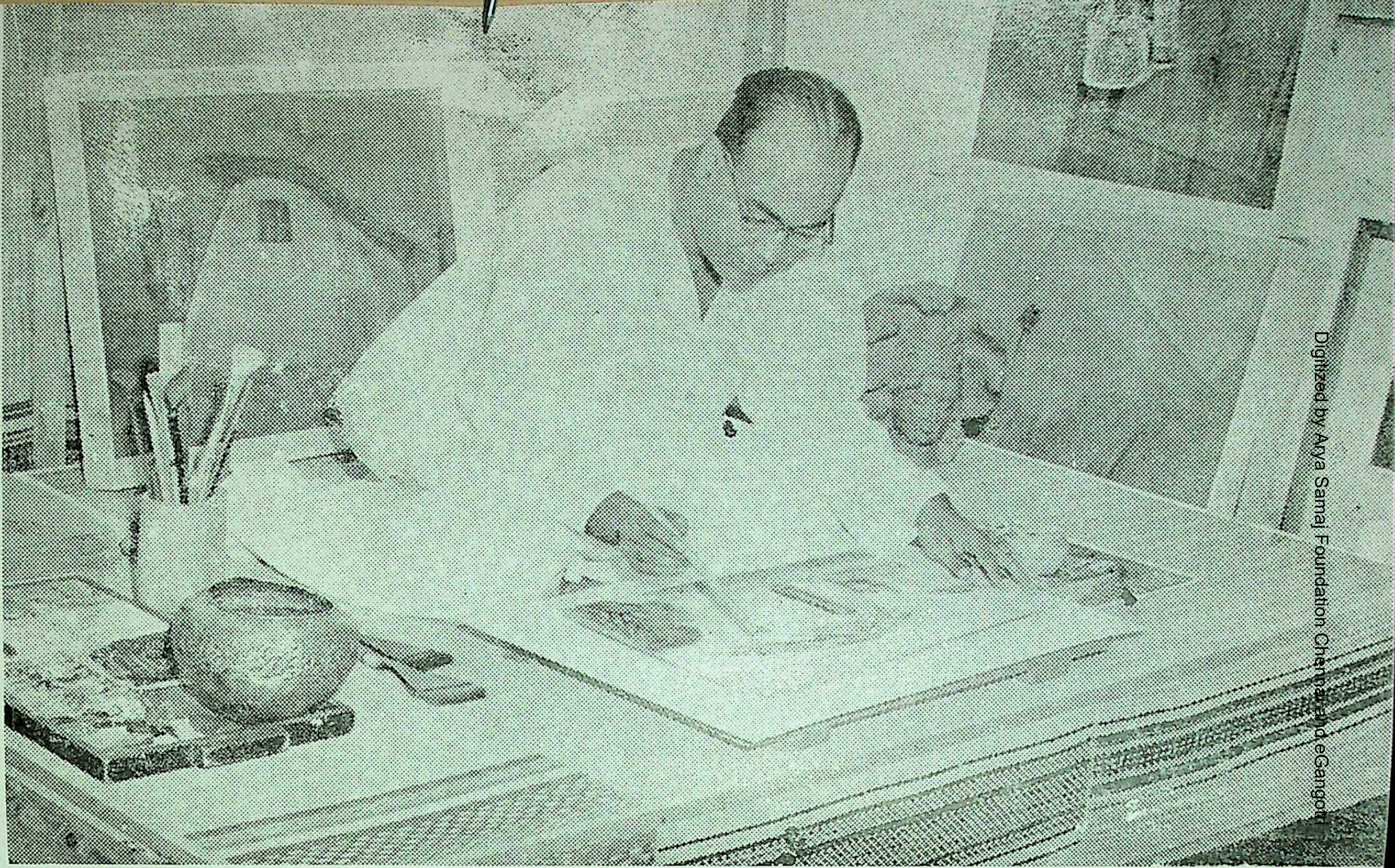

श्री विश्वनाथ मुखर्जी अपने कला कक्षमें

१६५६

आधार, संपूर्णतया सचेतन और शास्त्र-सम्मत है और वह प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक और अन्तर्ज्ञानपरक है—श्री हावेल ने भारतीय कला की इस मूल धारा का सही-सही आभास प्राप्त किया था और उन्होंने इसका तर्कसम्मत समर्थन भी किया—यह एक अत्यन्त स्पष्ट तथ्य है कि अन्तर्ज्ञान के प्रयोग में कवि और कलाकार ठीक उसी प्रकार की कार्य-प्रवृत्ति को ग्रहण नहीं करते जिस प्रकार दार्शनिक या वैज्ञानिक। लिओनार्दो दा वैंसी (Leonardo da vency) के विज्ञान सम्बन्धी अद्भुत अन्तर्ज्ञान और कला विषयक सर्जनात्मक अन्तर्ज्ञान एक ही स्रोत पर आधारित थे, मगर उनके चारों ओर की या अवान्तर बौद्धिक प्रक्रियाएँ भिन्न गुण-धर्म और भिन्न रंगरूप की थीं---स्वयं कला में भी विभिन्न अन्तर्ज्ञान होते हैं; मगर यह भी एक कटु सत्य है कि भारतीय कला के विषय पर श्री हावेल जैसे गहन दृष्टि का अभी-भी लगभग अभास-सा ही है और अधिकांश में कला की समीक्षा या तो अत्यन्त सहानुभूति पूर्ण देखने में आती है या कला-शिल्प की सराहना और कल्पना के प्रति सहानुभूति पर ही रुक जाती है और अभी भी भारतीय कला के वास्तविक और सृजनात्मक स्वरूप तथा मूल आध्यात्मिक उद्गम को समझने के प्रयास नगण्य से ही है किन्तु जिस व्यक्ति या कलाप्रिय व्यक्ति में कुछ भी भारतीय भाव या भावना है, वह उन मुख्य-मुख्य वस्तुओं का वर्णन अवश्य कर सकता है, जो उसके लिए भारतीय चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्य कला को आकर्षक बनाती हैं।”

“कृपया, इस प्रसंग को यहीं छोड़िए; अब मैं पश्चिमी और भारतीय कला के तुलनात्मक विवेचनों पर कुछ जानना चाहूँगा।”

“भारतीय मन अपनी स्वाभाविक स्थिति में यूरोप की कलाओं को वास्तविक रूप में अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से देखने समझने में लगभग वैसी ही कठिनाई अनुभव करता है; जैसी कि एक सामान्य यूरोपीय मन को भारतीय चित्रकला और भास्कर कला की भावना में प्रवेश करने में अनुभव होती है--नारी का एक भारतीय चित्र और यूनान की प्रेम की देवी के चित्र को उदाहरण के लिए ले लीजिए; विवेचना से स्पष्ट ही प्रतीत होगा कि भारतीय चित्र प्रबल आध्यात्मिक भाव से भरा होता है; वह चित्र अवर्णनीय, अव्यक्त भक्ति के वास्तविक रूप और अस्तित्व से परिपूर्ण है; मगर यूनानी कृति केवल उदात्तीकृत शारीरिक या ऐन्द्रिय रसानुभूति को ही जाग्रत कर सकती है; विवेचना की दृष्टि भारतीय कृति के अन्तर्भाव का तो आभास प्राप्त कर सकती है; दूसरी ओर यूरोप की अनेक उच्च कोटि की कृतियों का निरीक्षण करते समय मैंने स्वयं कोई अन्तर्भावजनित अथवा आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त नहीं की है—उदाहरण के लिए टिन्टोरेट्टो (Tintoretto) के कुछ अच्छे चित्रों को ही ले लीजिए—मानव की प्रतिकृतियाँ नहीं, बल्कि ‘आदम और हौवा’ (Adam and Eve) ‘अजगर का वध करते समय सेन्टजार्ज’, ‘वेनिस नगर की मन्त्री सभा के सदस्यों के सम्मुख ईसा का आविर्भाव’ आदि कृतियों को देखता हूँ तो बिना किसी आन्तरिक भावानुभूति के मैं अपने आपको स्तब्ध और विस्मित-सा अनुभव करता हूँ; पश्चिम की कला में रंग-कौशल, कल्पना की सुन्दरता तथा शक्ति तो अभिलक्षित होती है, किन्तु अन्तर्भाव के सूक्ष्म और शाश्वत सौन्दर्य की कहीं परिकल्पना तक नहीं हो पाती—अन्तर्भावों का अङ्कन कला का महत्तम स्वरूप है; भारतीय कला के महत्तम स्वरूप का सिद्धान्त अन्तर्भावों को आकार-प्रकार, रेखाएँ प्रदान करता है; भारतीय कला की पृष्ठभूमि में कला का यही महत्तम स्वरूप अन्तर्हित है और अधिक सत्य तो यह है कि भारतीय कला का भी आध्यात्मिक लक्ष्य और मूल-तत्त्व वही है, जो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का—अतएव आत्मा के अन्दर देखना ही भारतीय कलाकार की प्रकृतिजन्य प्रवृत्ति है—भारतीय स्थापत्य, चित्रकला और मूर्तिकला अपनी अन्तः प्रेरणा में भारतीय दर्शन, धर्म, योग और संस्कृति में अभिव्यंजित होती है। पश्चिम का मन रूप-से आकृष्ट और आबद्ध हो जाता है, उसी तक उसकी सीमा होती है और रूप के मोहक आकर्षण से परे नहीं जा सकता, उसके अपने आकर्षण और सौन्दर्य के लिए ही उससे प्रेम करता है; मगर भारतीय मन के लिए सौन्दर्य आत्मा की एक सृष्टि के रूप में ही अस्तित्त्व रखता है और किसी रूप में नहीं। भारतीय कला-प्रवृत्ति में प्रत्येक रेखा, आकार-प्रकार की व्यवस्था, रंग, आकृति, भंगिमा, प्रत्येक लौकिक आभास अन्तश्चेतना से अनुप्राणित होते है और भारत के अध्यात्मिक और चिन्तनशील मन की यह विशिष्ट वृत्ति इस बात को फिर अपरि-

हार्य कर देती है कि कला-कृतियों के सम्बन्ध में विचार करते समय हम उन कला कृतियों से पृथक एकदम उस सत्य के आन्तरिक भाव तक पहुँचने का भी यत्न करें; जिसे कि भारतीय मन अभिव्यंजित करता है—भारतीय मन और भारतीय कला की दृष्टि उस विराट्, असीम आत्मा एवं अध्यात्म सत्ता, महान् आत्मा की दृष्टि है, जो अपनी उपस्थिति के समुद्र में हमारे सामने अपनी जीवन्त आवृति को ले आती है।"

"आधुनिक कला की गतिविधियों को दृष्टिगत करते हुए क्या भारतीय कला प्रवृत्तियों में पश्चिमी कला प्रभाव का कुछ भी समन्वय किया जाना औचित्य पूर्ण है?"

"प्रश्न, सीमित नहीं; वह पर्याप्त व्यापक और सामयिक है—प्रथम तो मैं यही कहना चाहूँगा कि अपनी प्राचीन कला का मूल्य आंकने के लिए हमें विदेशी दृष्टिकोण से अपने आपको सर्वथा मुक्त कर लेना चाहिए, हमें अपनी भास्कर कला एवं चित्रकला को उसके अपने गहन उद्देश्य तथा उसके मूल भाव की महानता के प्रकाश में देखना होगा—ऐसा करके हम पाएँगे कि प्राचीन और मध्य-युगीन भारत की मूर्तिकला कलात्मक-भाव के अति उच्चतम भावों को अभिलक्षित करती है; भारत की मूर्तिकला अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। मध्ययुगीन और आधुनिक यूरोप ने ऐसी निपुणता, प्रचुरता और विशालता वाली कोई भी चीज नहीं रची। हाँ, परवर्ती यूरोप में बहुत-कुछ महत्वपूर्ण हुआ है; भारतीय कला ने मानव आकृति का जैसा चित्रण किया है, उसकी अपनी पद्धति और संस्कृति है; भारतीय कला-पद्धति एक पृथक् ही विशिष्टता रखती है और प्रत्येक पद्धति की कला क अपने आदर्श, अपनी परम्पराएँ और मान्यताएँ होती हैं क्योंकि सृजनशीलता के विचार और रूप अनेक होते हैं, यद्यपि अन्तिम आधार एक ही होता है। चीन और जापान के चित्रकारों का दृष्टि-क्षेत्र तथा उनकी अन्तरात्मक दृष्टि वही नहीं है जो यूरोप के कलाकारों की है—इसी प्रकार भारत की समस्त कला अपने निजी आदर्श और अपनी निजी परम्पराओं एवं पद्धतियों का ही अनुसरण करती है और कला की दृष्टि से ये बातें अपने रूप और गुण में अद्वितीय हैं; यह एक ऐसी वस्तु है, जो सृजन की अनेक शताब्दियों और युगों में बराबर ही, कुल मिला कर महान् रही है।

मैं न तो व्यक्तिगत रूप में और न सम्यक् कला-प्रवृत्तियों के उन्नयन की दृष्टि से पश्चिमी कला प्रवृत्तियों का नितान्त विरोधी हूँ। भारतीय काल की पद्धति और परम्पराएँ दोनों विशिष्ट है। डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नन्दलाल बसु, यामिनी राय प्रभृति भारतीय कलाकार भारतीय भावनाओं को पुनः जागृत करते हैं और हमारे मार्गदर्शक हैं; भारतीय कलाकारों को इनसे समुचित और सम्यक् अनुप्रेरणा प्राप्त होती है किन्तु जहाँ तक आधुनिकता का प्रश्न है ओकाकुरा, आराइमांग, पिकासो, शीजां, गोगा, वैनगाग, मोने, डिगो, फ्रैंक बैंगविन, आगस्टम जोन आदि कलाकारों का अध्ययन भी किया जाना चाहिए। जैसा कि सामान्यतः हुआ है कि अनेक उदीयमान कलाकार फ्रान्स और पश्चिमी कला पद्धति की ओर उन्मुख हैं; इस सम्बन्ध में कुछ तथ्य तो स्पष्ट है; पश्चिम विशेषतः फ्रान्स से प्रभावित कलाकार अन्तर्भावना की अभिव्यक्ति से शून्यवत् ही होते हैं और किसी भी कलाकार की कृति में निजत्व ही उसका सबसे अधिक परिचायक तत्व होता है; जो भारतीय कलाकार पश्चिम से प्रभावित हैं, उनके संस्कार और मनःस्थिति तो मूलतः भारतीय है पर वे विदेशी कला-शैलियों को समग्र रूप में ग्रहण करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न करते हैं; वस्तुतः उनकी वस्तुस्थिति बड़ी हास्यास्पद होती है। हो सकता है कि उन्हें किसी विशिष्ट वर्ग द्वारा सहानुभूति प्राप्त हो जाए किन्तु उनकी अपनी स्थिति नहीं सुधरती और न उनकी कला में कुछ स्थायित्व ही होता है; नवीनता के अनुकरण के प्रयास में ऐसे लोग अपना अहित ही कर रहे हैं। मैं आधुनिकता का बहुत अंशों में प्रतिपादन करता हूँ पर अन्धानुकरण के साथ कदापि नहीं। हाँ मेरी मान्यता यह भी है कि कला के उपकरणों, माध्यमों और कुछ विशिष्ट शैलियों आदि में नवीनता को अधिकाधिक अपनाया जाना चाहिए। कला का पृष्ठ पक्ष शुद्ध भारतीय हो, भारतीय कला-शैलियों को नवीन प्रयोगों के योग से परिमार्जित और प्रशस्त अवश्य किया जाना चाहिए।

—ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

हैदराबाद-दक्षिण

चिट्ठी-पत्री

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(१)

पिछले कई मास से 'अजन्ता' की मैं नियमित पाठिका हूँ। मैं अपने इस मत को अभिव्यक्त करने में गर्व का अनुभव करती हूँ कि 'अजन्ता' न केवल हिन्दी में अपना असाधारण स्थान रखती है बल्कि हिन्दी पत्रकारिता के लिए उसके द्वारा कई ऐसी परम्पराओं का सूत्रपात हो रहा है जो हिन्दी ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं यहाँ तक कि अंग्रेजी आदि भाषाओं के पत्रकार जगत् में अनुकरणीय तथा मौलिक स्थान रखती हैं जैसे कविताओं का निराडम्बर तथा आकर्षणयुक्त प्रकाशन। लेखकों के पते देकर तो आपने बड़ा ही सराहनीय कार्य किया है।

अब मैं 'अजन्ता' के स्तम्भों और सामग्री के सम्बन्ध में निवेदन करते हुए बताना चाहूँगी कि लेखादि सामग्री विशिष्ट और अनुशीलनात्मक रहती है। स्तम्भों में 'नीर-क्षीर' उत्तरोत्तर समुन्नत होता जा रहा है। श्री ज्ञानेन्द्र भटनागर की समीक्षाएँ बड़ी ही प्रिय लगती हैं। विशेषकर जुलाई-अंक में करतार सिंह 'दुग्गल' की 'चील और चट्टान' की समीक्षा बड़ी खरी और साहस पूर्ण है। वे बधाई के पात्र हैं। अगस्त-अंक में सम्पादकीय द्वारा श्री वंशीधर विद्यालंकार ने कई ऐसे सुझाव प्रस्तुत किए हैं जिनसे हिन्दी के सामयिक प्रश्न को योग्य मार्गदर्शन मिलता है। दूसरी सम्पादकीय टिप्पणी भटनागर जी की है जो अत्यन्त गम्भीर होने के साथ ऐसी शब्दावली में लिखी गई है, जो मेरी समझ में नहीं आती।

जुही, कानपुर
उत्तर प्रदेश

—निर्मला जैन

(२)

अगस्त '५६ का अंक पढ़ा। यों तो सभी अंक पढ़ता हूँ। लेकिन जीवन और साहित्य की विहंगम दृष्टि को दिखाने का अच्छा प्रयोग अगस्त अंक में है। साहित्यिकता की विविध दिशाओं को प्रदर्शित करने का एकमात्र साधन भारत का सच्ची मासिक 'अजन्ता' ही है।

'अजन्ता' अपनी बात, राष्ट्र की बात, बहुत विविधता और शुद्ध स्वरूप से पेश करती हैं। 'अजन्ता' में कहीं भाषासम्बन्धी गलतियाँ देखने को नहीं मिलतीं। भाषा और साहित्य का चित्रण तथा शुद्ध सन्दीपन!

इस अंक में 'आग्रह' काव्य सचमुच आग्रह से पढ़ने लायक है, और मैं एक अ-हिन्दी भाषा-भाषी अपने बन्धुओं को 'अजन्ता' पढ़ने का आग्रह करता हूँ।

इस काव्य में :

> "तुम में यदि न होता खारापन
> ....निज में ही धुनते"

लिख कर कुमारी रमा सिंह ने कमाल कर दिखाया है।

आगे चल कर 'श्री दिवाकर' की कविता "स्वप्न मेरा क्या कभी साकार होगा?" बहुत अच्छी लगी। मानव को कभी अपने पथ से न हटने का संदेश इस काव्य में दिया गया है। प्रबल झंझावातों के झोंकों के सामने भी अडिग रह कर खड़ा रहने का अमूल्य सन्देश इस काव्य में दिया गया है। श्री दिवाकर ने कहा है :

> "पन्थ दुर्गम किन्तु है संकल्प में बल
> प्रति चरण जय का सुदृढ़ आधार होगा।"

यह पंक्ति अपने हृदय पट पर सुवर्णाक्षर से लिखनी चाहिए। ऐसी कविता प्रकाशित करने की हार्दिक बधाई 'अजन्ता' को।

"बौद्ध युग और साहित्य में संगीत" नामक लेख अनुसंधानात्मक दृष्टि से बहुत अच्छा है। "भारतीय वाङ्मय में नारी का इतिहास नामक लेख की समालोचना कैसे हो सकती है? लोक-साहित्य की दृष्टि से लिखा हुआ "लोक-गीतों में समान भाव-धारा" बहुत ही रोचक और बार-बार पढ़ने लायक है।

बाकी सब लेख पढ़ने लायक और मनन करने योग्य है।

मैं तो गुजराती भाषी हूँ, फिर भी हिन्दी मासिकों में मुझे सब दृष्टि से 'अजन्ता' ही श्रेष्ठ लगती है।

हमारी गुजराती में एक कहावत है कि : "मोरनां इंडाने चितरवा न पड़े" यह कहावत 'अजन्ता' को ही लागू पड़ती है।

पुरानी पोस्टल के पास,
गढड़ा (स्वामिना) सोराष्ट्र —सन्तोष कुमार

(३)

'अजन्ता' के जुलाई और अगस्त के अंक देखे। मुझे आश्चर्य होता है कि सुदूर अ-हिन्दी भाषी प्रदेश हैदराबाद से इतनी सुन्दर और ऐसी ठोस एवं उच्चकोटि की पत्रिका का प्रकाशन होता है। यह हिन्दी के गौरवमय भविष्य का ज्वलन्त प्रतीक है कि अ-हिन्दी भाषी क्षेत्र भी इस स्तर की साहित्यिक सृजन के हमारे सामने रखने में पूर्ण समर्थ हैं। 'अजन्ता' का रूप सभी प्रकार से भव्य और सराहनीय है। मैं हिन्दी-साहित्य की एक अकिंचन छात्रा हूँ। समीक्षा मेरा प्रिय विषय है और मैंने (बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है) अभी तक हिन्दी-समीक्षा में प्रायः पक्षपात और अपरिपक्वता पाई है। पिछले कुछ महीनों से मैं निरन्तर 'अजन्ता' में प्रकाशित समीक्षा और सम्पादकीयों को बड़े ध्यान और रुचि से पढ़ती आ रही हूँ। क्योंकि हैदराबाद एक अ-हिन्दी भाषी क्षेत्र है, इस नाते वहाँ से प्रकाशित 'अजन्ता' की सम्पादकीयों में हिन्दी के विषय पर तर्क पूर्ण और गम्भीर विवेचनाएँ हिन्दी के पक्ष को बहुत प्रबल और पुष्ट बनाती हैं। इसके लिए सम्पादक जी को मैं साधुवाद प्रेषित करती हूँ।

यह मैंने पहले भी कहा है कि समीक्षा मेरा प्रिय विषय है। यहाँ मैं स्थानाभाव के कारण 'अजन्ता' के जुलाई और अगस्त अंकों की समीक्षाओं के ही सम्बन्ध में निवेदन करना चाहूँगी। जुलाई-अंक में श्री कृष्णदास की पुस्तक "लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या" पर श्री वंशीधर विद्यालंकार की समालोचना गम्भीर और विवेचना पूर्ण है। इसके आगे लगभग आठ नौ पुस्तकों की समीक्षा श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ने की है। इनमें "चील और चट्टान", "रक्तगंगा" तथा "कापालिक" पुस्तकों की समीक्षा अत्यन्त सराहनीय है तथा निर्भीकता पूर्ण है। श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर जी से मैं प्रार्थना करूँगी कि वे अपनी समीक्षाओं को इसी प्रकार परिनिष्ठित तथा सजगता से पूर्ण रखेंगे, क्योंकि साहित्य ही समाज के संस्कारों की निर्माता और प्रेरक है। इसके साथ ही मैंने अगस्त-अङ्क में यह भी देखा कि श्री ज्ञानेन्द्र भटनागर ने श्री प्रभाकर माचवे की पुस्तक 'द्वाभा' पर और डाक्टर रामविलास शर्मा की पुस्तक 'रूपतरंग' पर जो समीक्षा लिखी है वह मुझे अपील नहीं करती तथा लगता है कि श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर समीक्षा के लिए अपना सहज सन्तुलन खो बैठे हैं। इस प्रकार 'द्वाभा' तथा 'रूपतरंग' की समीक्षा मुझे तो पूर्णतः एकपक्षीय लगी है—भटनागर जी इस कटु सत्य के लिए मुझे क्षमा करें। अगस्त-अंक की पहली सम्पादकीय टिप्पणी हिन्दी के प्रश्न को हमारे सबके सामने युक्ति-युक्त आधारों पर रखती है तथा उसमें कई ऐसे उपयोगी सुझाव भी उपलब्ध होते हैं जो अ-हिन्दी भाषियों के लिए तो अत्यधिक महत्त्व रखते ही है, किन्तु हिन्दी वालों के लिए भी उनका महत्व कम नहीं है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र में भी अंग्रेज़ी के लिए पर्याप्त मोह है श्री वंशीधर जी के सुझाव हिन्दी की सामयिक आवश्यकताओं को लेकर हमारे सामने आते रहे हैं।

'अजन्ता' ऐसी सुन्दर, ऐसी सजग, और ऐसी स्तरीय पत्रिका है कि उससे हिन्दी पत्रकारिता और हिन्दी के गौरव की मर्यादा को अभिमान हो सकता है। सम्पादक जी के इस परिश्रम और साहित्यिक निष्ठा के लिए मेरी बधाई।

सूबे की गोठ, नई सड़क,
लश्कर (ग्वालियर) —कुमारी शकुन वर्मा

(४)

मैं 'अजन्ता' को पाबन्दी से पढ़ता हूँ। 'अजन्ता' राष्ट्रभाषा हिन्दी की उच्चतम पत्रिकाओं में से एक है। हम 'अजन्ता' के पूर्व रूप से परिचित हैं। आपने अल्प काल में 'अजन्ता' को साधारण स्तर से उठा कर राष्ट्र की उच्च उच्चस्तरीय साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं के समकक्ष आसीन किया है और इस राज्य तथा इस अ-हिन्दी भाषी प्रदेश के हिन्दी पत्रकारिता के गौरव को बढ़ाया है।

पूर्व की भाँति 'अजन्ता' का अगस्त-अङ्क भी कविताओं के चयन की दृष्टि से अभिनन्दनीय है। उस

हैदराबाद के कवि 'कमल' जी की सुन्दर और सरस रचना देख कर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई । आपकी एक विशेष मूल्यवान् सेवा यह भी है कि आप इस अ-हिन्दी भाषी क्षेत्र को हिन्दी साहित्य की सम्यक् गति-विधियों से तो परिचित कराते ही हैं, साथ ही दक्षिण भाषाओं के साहित्य तथा अन्य भाषाओं के साहित्य का परिचय भी प्रस्तुत करते हैं; मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल आदि के अतिरिक्त यदि आप उर्दू को भी समुचित प्रोत्साहन दें तो बड़ा श्रेयस्कर होगा, विशेषकर हैदराबाद के उर्दू कवियों को ।

सुल्तान बाज़ार, बड़ी चावड़ी,
हैदराबाद-दक्षिण

—राधाकृष्ण इंदाणी

(५)

'अजन्ता' के अगस्त '५६ के अंक की मैं आलोचना भेज रही हूँ, आशा है, आप इसे अपनी सुन्दर, सजग और सुकोमल पत्रिका में पूरा स्थान देकर अपनी जागरुकता और निष्पक्षता का परिचय देंगे ।

'अजन्ता' का अगस्त-अङ्क कविताओं की दृष्टि से पिछले सभी अंकों को पीछे छोड़ जाता है, मैं तो यह भी कहूँगी—इस अंक की सबसे उत्कृष्ट कविता है, श्री बालकृष्णराव की; नए काव्य-शिल्प और रूप की इसमें पूर्ण प्रतिष्ठा है; डा० धर्मवीर भारती द्वारा अनुदित 'मिस्र की एक आदिम जाति का गीत' (रूपर्ट ब्रुक-लिखित) हम सब को एक सशक्त काव्य-प्रेरणा प्रदान करता है; कुमारी रमा सिंह की 'आग्रह' कविता भी नए काव्य-विधानों को पुष्टता के साथ रखती है; इसमें प्रतीक विधान द्वारा भावाभिव्यक्ति विशेष संश्लिष्ट है—श्री रामदरस मिश्र की 'परदेश में' कविता इतनी सुन्दर, भाव व्यंजक और हृदय के तार-तार को छूने वाली है और कहूँगी कि ऐसी सुन्दर, चित्रयुक्त, सुकोमल परिकल्पनाओं से पूर्ण कविता हिन्दी में प्रायः कम ही पढ़ने में आती हैं; भाई मिश्र जी को मेरी बधाई पहुँचा दीजिए । हैदराबाद के श्री कमल जी की कविता किसी को भी प्रभावित न कर सकेगी और मेरे इस मत से सभी सहमत होंगे कि इस प्रकार की कविताएँ शब्दावली के किंचित् हेर फेर के साथ जाने कितनी बार पढ़ी, सुनी जा चुकी हैं; श्री दिवाकर की कविता अवश्य ही सुन्दर बन पड़ी है; श्रीमती स्वर्णलता जगदीश की कविता विशेष उल्लेखनीय न होते हुए भी इतनी बुरी नहीं है ।

गद्य-सामग्री में इस अंक की सबसे ऊँची और हृदय ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को छूने वाली कहानी ''एक बिन्दु : दो भँवर'' है; यह कहानी मुझे तो जीवन भर याद रहेगी; इसकी शैली, भाषा, कथावस्तु, अभिप्रेत सभी कुछ अत्यन्त अभिव्यंजना-पूर्ण है, श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर को बधाई बार-बार—'हिन्दी का प्रगतिवादी काव्य : एक विश्लेषण' अच्छा परिचयात्मक लेख है—मैं कहना चाहूँगी कि जहाँ भटनागर जी 'एक बिन्दु : दो भँवर' जैसी अमर कहानी पेश करते हैं, वहाँ वे समीक्षा बिलकुल घटिया दर्जे की तथा ऊँट-पटांग करते है; अगस्त-अंक में उनके द्वारा की गई 'रूप तरंग', 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' आदि पुस्तकों की समीक्षाएँ अभावपूर्ण हैं, पुस्तकों का परिचय तक ढंग से नहीं किया गया; इस कटुसत्य को कहने के लिए वे मुझे क्षमा करें कि उन्हें समयाभाव है या इस कार्य को वे इतना महत्व ही नहीं देते । श्री वंशीधर विद्यालंकार की समीक्षा विवेचनापूर्ण और गम्भीर लगी । मेरी बधाइयाँ ।

जे. ब्लाक, शोराकोठी,
सब्ज़ीमण्डी, दिल्ली

—शैलकुमारी चोपड़ा

(६)

'अजन्ता' का नवीन अंक मिला । अंक प्रत्येक प्रकार से पुष्ट, प्रौढ़ और पठनीय है । राव जी की कविता 'क्षमा न करना' कविताओं में; लेखों में 'भारतीय वाङ्मय के इतिहास में नारी' तथा 'एक बिन्दु : दो भँवर' नामक रचनाएँ अगस्त-अंक की गौरवदायिनी कृतियाँ हैं । मेरा यात्रा-लेख—'स्विट्ज़रलैण्ड की शान्त सुषमा' में एक जगह 'तश्तरी तरलों' छप गया है 'तरलों' की जगह 'तख्तों' होना चाहिए था । 'पहाड़ों से झट-झट गिरते हुए निर्झर' की जगह 'झर-झर गिरते हुए निर्झर' होना चाहिए था । 'फांडेसी' गांव का नाम 'फाडलेंसी' छप गया है जो वास्तव में 'फाउलेंसी' है ।

'जन-जीवन' सम्पादक,
बिहार सरकार,
पटना—४

—ब्रजकिशोर नारायण

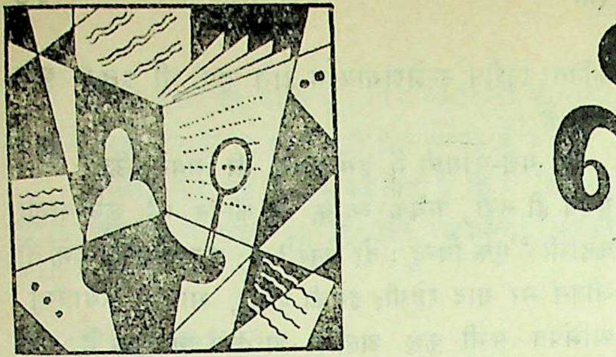

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ।]

कौटिल्य अर्थशास्त्र

अनु० : प्रो० इन्द्र एम. ए.
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली—६
मूल्य : तीन रुपये आठ आने

प्राचीन भारतवर्ष की संस्कृति, स्वरूप और गौरव को प्रदर्शित करने वाली पुस्तकों में "कौटिल्य अर्थशास्त्र" का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक को पढ़ने से भारतीय जीवन के अनेक अंगों पर गहरा प्रकाश पड़ता है। भारतीय समाज हमें आज जिस रूप में दिखाई देता है—वह सदा ही उसी रूप में नहीं रहा है। उसमें परिवर्तन होते रहे हैं और आवश्यकतानुसार परिवर्तन किसी व्यक्ति और समाज के जीवित होने के निदर्शक होते हैं। आजकल 'अर्थशास्त्र' का अर्थ—अर्थ या वित्त से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र समझा जाता है और इस शब्द का प्रयोग 'इकोनोमिक्स' के लिए किया जाता है। परन्तु जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी उस समय (३२१ ई० पू० से २९६ ई० पू०) इस शब्द का प्रयोग 'शासन-विधि' या 'शासन-विज्ञान' के अर्थ में किया जाता था। इस पुस्तक को "कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः"...कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए इस पुस्तक के रूप में 'शासन-विधि' की रचना की थी। जिसे आज 'इकोनोमिक्स' कहा जाता है, पुस्तक के अनुवादकर्ता के अनुसार "उसके लिए 'वार्ता' शब्द का प्रयोग किया गया है, यद्यपि यह शब्द पूर्णतया अर्थशास्त्र (इकोनोमिक्स) का द्योतक नहीं।" पुस्तक को पढ़ने से स्पष्ट रूप से इस बात का पता चलता है कि राजनीति में जो दाँव-पेंच इस युग में खेले जा रहे हैं—भारतवर्ष के राजनीतिज्ञ उनसे चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में भी पूर्ण रूप से परिचित थे। इतना ही नहीं युद्ध के अवसर पर कूटनीति और विष-मन्त्र द्वारा जिस प्रकार भी सम्भव हो, शत्रु का विनाश करना उचित समझा जाता था। पुस्तक में विष-प्रयोग, मन्त्र-प्रयोग आदि अध्यायों के पढ़ने से अनुभव होता है कि उस समय की परिस्थितियों और आज की परिस्थितियों में बहुत कुछ समानता है। यह सत्य है कि आज के विज्ञान के साधन उस समय से भिन्न हैं और सम्भवतः अधिक भयानक भी। परन्तु उस समय के विनाश साधनों को पढ़ने से उन साधनों की भयानकता का भी स्पष्ट रूप से अनुभव होता है। विष-प्रयोग के साधनों में जहाँ उस समय के वैज्ञानिक अनुसन्धान से परिचय प्राप्त होता है—वहाँ मन्त्र-प्रयोग कुछ कम भयानक प्रतीत नहीं होता। ये साधन भी आज के विनाश के साधनों से कई दृष्टियों से किसी भी प्रकार कम जघन्य नहीं कहा जा सकते। कौटिल्य के अनुसार राज्य व्यवस्था का उद्देश्य प्रजा का कल्याण है और इसे बड़े उदात्त रूप में कहा गया है :

> "प्रजा सुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम्
> नात्मप्रियं प्रियं राज्ञः, प्रजानां तु प्रियं प्रियम्"

प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित है। अपना प्रिय राजा का प्रिय नहीं हो सकता, प्रजा का प्रिय ही राजा का अपना प्रिय है। इस पुस्तक को पढ़ने से इस बात का कुछ आभास प्राप्त होता है कि राजनीति कैसा विकट शास्त्र है और उसमें जहाँ एक ओर यथार्थ का ध्यान रखना पड़ता है वहाँ आदर्श को भी ऊँचा रखना पड़ता है अन्यथा यथार्थ का कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

'कौटिल्य अर्थशास्त्र' को पढ़ने से भारतीय समाज की रचना की बहुत-सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। वैश्यों और शूद्रों को भी सेना में भरती किया जा सकता

था—ऐसा नहीं था कि सेनाओं में एकमात्र क्षत्रियों को ही भरती किया जाता हो। इस सम्बन्ध में पुस्तक में लिखा है : "बहुत से वीर पुरुषों से युक्त वैश्य या शूद्र की सेना हो तो उसे भी उत्तम ही समझना चाहिए।" 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के पढ़ने से हिन्दु-समाज में 'विवाह-विच्छेद' पर भी विस्तृत प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय विवाह के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी। विवाह-विच्छेद के विषय में लिखा गया है :

"नीचत्वं परदेशं वा, प्रस्थितः राजकिल्विषी
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः"

अर्थात् जो पति नीच हो, घर छोड़ कर चला गया हो, राजद्रोही हो, प्राणघाती हो, पतित या नपुंसक हो—ऐसे पति को छोड़ देना चाहिए।—इस सम्बन्ध में पर्याप्त विस्तार से लिखा गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि विवाह के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर आदर्श का ध्यान रखा जाता था—वहाँ क्रियात्मक यथार्थता की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। इस पुस्तक को पढ़ने से इस बात का भी पता चलता है कि स्त्रियों को परिव्राजिका बनने का भी अधिकार था जब कि अनेक विद्वान् यह समझते हैं कि स्त्रियों को हिन्दु-समाज में यह अधिकार नहीं था। इसके साथ साथ पुस्तक को पढ़ने से यह पता चलता है कि उस समय नियम पूर्वक नाटक रात को खेले जाते थे। पुस्तक में लिखा है : "अर्धरात्रि के समय राजमहल के समीप यदि कोई पुरुष घूमता मिले... उसे चोरी का दण्ड दिया जाए। यदि कोई पुरुष इस निषिद्ध समय में सूतिका (दाई) तथा चिकित्सक को बुलाने जा रहा हो—अथवा नाटक देख कर आ रहा हो—या नागरिक के पास कोई सूचना देने जा रहा हो—उस पर कोई दण्ड नहीं होता।" ऐसा प्रतीत होता है कौटिल्य के समय देश में सुरापान के लिए निषेध नहीं था। उस समय देश में सुरागृह और पानालय थे और "राजकीय सुरागृहों से ही मुद्रांकित सुरा" का "जो अति तीक्ष्ण" नहीं होती थी "बिकवाने का प्रबन्ध" था।

अनुवादकार ने पता नहीं क्यों, अपनी भूमिका के अन्त में कौटिल्य को "महाब्राह्मण" लिखा है। 'महाब्राह्मण' शब्द अच्छे अर्थों में नहीं प्रयुक्त होता। "...महच्छन्दो न प्रदीयते।" प्रस्तुत पुस्तक का अनुवाद लेखक ने अत्यन्त परिश्रम से किया है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उसमें विषयों का न केवल स्पष्टतया प्रतिपादन है अपितु उसकी शैली भी रोचक और आकर्षक है। प्रत्येक भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रेमी को इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिए। पुस्तक संग्रहणीय है।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

कौड़ियों का नाच (कहानी संग्रह)

लेखिका : सरूपकुमारी बख्शी
प्रकाशक : रंजना प्रकाशन,
टेलीफ़ोन एक्सचेंज रोड, लखनऊ
मूल्य : दो रुपए

'कौड़ियों का नाच' पुस्तक (कहानी-संग्रह) की लेखिका श्रीमती सरूपकुमारी बख्शी हिन्दी-कहानी के लिए नितान्त नवागता है; लगता है, इसमें संग्रहीत कहानियाँ भी पुस्तक में प्रकाशित होने से पूर्व कहीं अन्यत्र (पत्र-पत्रिकाओं में भी) प्रकाशित नहीं हुई हैं : हम नवागता लेखिका का प्रथमतः ही अभिनन्दन करते हैं।

पुस्तक में दस कहानियां है—'टूटा हुआ चिराग़', 'जंगीसिंह', 'लुटेरे का दान', 'प्लास्टिक की दुनिया', 'निराली शान', 'काश्मीरी मुहल्ला', 'तितलियों की सभा', 'फ़ैशन की घुड़दौड़', 'इन्सानियत का नक़ाब' और 'कौड़ियों का नाच'। 'कौड़ियों का नाच' कहानी के कुछ वाक्यांश लीजिए : "......यह अन्तिम रेस थी। चाँद, तारा और किसी के बाद आफ़ताब ने बड़ी शान के साथ प्रवेश किया। उसकी आँखों से किरणें-सी फूट रही थीं। उसका सिर सूर्य की तरह चमक रहा था और उसके गोल गोल लचकदार अंग बादल के सुनहरी टुकड़ों की तरह उमड़-घुमड़ घूम रहे थे। मिस्टर सिंह और सुन्दरलाल ने आफ़ताब पर दाव लगाया और वह लोग जो रईस होते हुए भी ग़रीब थे, फटे हाल थे, बेकारी का पेशा करने वाला छैला, ताश के पत्तों का चोर, रईस को हँसाने की नौकरी करने वाला जोकर, माँगे की टाई और हैट पहनने वाला एक्टर, सफ़ेदपोश गठकतरा, रंगीली तवाइफ़, शरीफ़ गुण्डा, सबके सब अपनी-अपनी हार-जीत को भूल कर सिक्कों पर टूट पड़े।"

कहानी-तत्त्व की आधुनिकतम शिल्प और शैली,

निरूपण की दृष्टि से नहीं, अपनी प्रवाहमयता, सजीवता, कथ्यता आदि अनेक गुणों से इस संग्रह की सभी कहानियाँ वैशिष्ट्यपूर्ण हैं—सोद्देश्यता और व्यंग्यमयता का इतना सूक्ष्म और समुचित सम्मिलन सर्वत्र हुआ है कि मर्माहित-सा रह जाना पड़ता है और हम जीवन-तत्व के लिए बहुत-कुछ सोचने को बाध्यतः प्रस्तुत हो ही जाते हैं; लेखिका द्वारा प्रस्तुत जीवन-विश्लेषण अत्यन्त सूक्ष्म और सशक्त है; वे स्वयं एक संभ्रान्त महिला हैं (तात्पर्य सम्पन्नता से भी है) अभिजातवर्गीय उनका परिचित समुदाय है और समाज में यही समुदाय कुछ ऐसा समुदाय होता है, जिसका निराडम्बर रूप सबसे हास्यास्पद, दयनीय, भयावह होता है—लेखिका ने सहज संवेदनशीलता के साथ इस अभिशापित जीवन-क्रम का चित्रण किया है। इस चित्रण में ऐसी व्यंग्यमयता सर्वत्र मिलती है, जिसमें जीवन को अकृत्रिम, उज्ज्वल बनाने की अन्तर्प्रेरणाएँ उपलब्ध होती हैं; जीवन के प्रति संवेदना-तत्व इन कहानियों का प्राण है—'प्लास्टिक की दुनिया' में डाली-नायिका समाज की प्रेमिका है......"उसकी आँखें सुन्दर, होटल के साइन बोर्ड की तरह चमकदार, शरीर छरहरा, अंधेरे कमरों में जाने के लिए बनी हुई सीढ़ी की तरह घुमावदार, आवाज़ सुरीली जैसे शराबखाने के काउण्टर पर सिक्कों की खनन...खनन......" ऐसे-ऐसे तीव्र, मुखर व्यंग्य हमें स्थान-स्थान पर इतनी अनायास परिस्थितियों में मिलते हैं कि इस अभिजात-वर्गीय समाज के लिए क्षोभ के स्थान पर, संवेदना ही अधिकाधिक आलोड़ित होती है; अन्य कहानियों में 'निराली शान', 'फैशन की घुड़दौड़', 'टूटा हुआ चिराग' (इस कहानी में एक लखनवी शायर का चित्र है, उसका कुछ अंश लीजिए......"पीठ कुछ झुकी हुई, ओठ पतले......दाढ़ी घनी और सुनहरी खोल के अन्दर चमकती हुई आँखें।......कभी-कभी मुझे ऐसा मालूम होता था जैसे कि यह जिस्म एक गुफ़ा है और उसके अन्दर एक जादू का चिराग है और जिसकी हल्की रोशनी पलकों की सिक्कों से छनकर उसके पिचके हुए गालों को, खुरदुरे हाथों को, सारे हड्डी के ढाँचे को आलोकित-सा कर रही थी......'काश्मीरी मुहल्ला' आदि अत्यन्त सशक्त है।

हम श्रीमती सरूपकुमारी बख़्शी का इन वैशिष्ट्यपूर्ण कहानियों के लिए पुनः अभिनन्दन करते हैं और हमारी सतत आकांक्षाएँ हैं कि हिन्दी-जगत् में इन कहानियों को व्यापक समादर प्राप्त होगा; हमारी लेखिका महोदया से यह भी आग्रहपूर्ण अपेक्षा है कि उनका कहानी-सृजन जारी रहेगा।

शंकर-विजय

कवि : लक्ष्मीनारायण शर्मा 'मुकुर'
प्रकाशक : तारामण्डल, पटना
मूल्य : एक रुपया

शंकराचार्य अपने समय के जाज्वल्यमान आध्यात्मिक नेता थे; उनका स्वर्ण-सा तारुण्य अध्यात्म-ज्योति से दीप्त था और शंकर-सा ज्योतिःपुंज तरुण अल्पवय में ही इस लोक से विलुप्त हो गया। किन्तु शंकर के ज्ञान की ज्योतिशिखा अभी भी दीप्त है, अपने तर्क और अपनी गुरुता-पूर्णता के साथ : 'शंकर-विजय' पुस्तक में इन्हीं जगद्गुरु शंकराचार्य का इतिवृत्त छन्दबद्ध प्रस्तुत किया गया है; कवि श्री 'मुकुर' जैसे 'शंकर' शब्द के व्यक्तित्व की प्रतिध्वनि से ही प्रभावित हो उठे हों :

"दक्षिण भारत की ऊषा में
राम गया था रवि-सा जलता
लेकिन उसके मध्य प्रहर में
शंकर आया सुधा उगलता—
उसने पार किया ज्यों विन्ध्या ने
निज शीश उठाया विस्मित
लख समान धर्म नगपति ने
सादर अभिनन्दा हो हर्षित"

मण्डन मिश्र की पत्नी से शास्त्रार्थ के समय का चित्र है :

"पंच पंखुड़ियाँ हो ईषत
अरुणाभ कि ज्यों मुग्धा के आनन
जिसका अग्रिम भाग छिपाए
दो थीं अंजलि-सी मन-भावन
एक लाल चौड़ी लहरायित
सबसे दूर खिली चंचल-सी
किसी सुन्दरी के वक्षस्थल से
उड़ते मोहक अंचल-सी
कामशास्त्र पर प्रश्न किया देवी ने...
उसने जोड़े हाथ कहा—मा !

१९५६,

काम‌शास्त्र का ज्ञान न मुझ को....
"कामशास्त्र की शिक्षा मा से
सन्यासी !"—देवी मुस्करायी
तेरी जय हुई यहाँ भी
तू विजयी है, मैं विजिता हूँ
तव दर्शन में तेरा जीवन
ढला न इससे परिचिता हूँ"

वस्तुतः प्रस्तुत कविता-पुस्तक न केवल मनोहर काव्य-दृश्य ही उपस्थित करती है, वह प्रगल्भता के साथ हमारे बौद्धिक धरातल को भी हमारे समक्ष रखती है; यह दर्शन-प्रधान प्रबन्ध काव्य अत्यन्त सीमित कलेवर में होते हुए भी अपने प्रोज्ज्वल काव्य-शिल्प और सौष्ठवता के कारण सर्वथा अभिनन्दनीय है ।

राधाकृष्ण (अमर कहानी, कोमल कल्पना तथा सजीव
लेखनी का अनुपम संयोग)
लेखक : राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह
प्रकाशक : आत्मराम एण्ड सन्स, प्रकाशक तथा
पुस्तक विक्रेता, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६
मूल्य : तीन रुपए

'दो शब्द' के रूप में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने पुस्तक के लेखक श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह तथा पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा है : "आभिजात्य के अनुरूप शिष्टता के साथ आस्तिकता की मिष्टता आजकल विरल ही है। उनकी विश्वासपरायणता की सरलता और भी उदार। भावुकजन अपनी भावना में ही अपने प्रभु की समीपता का अनुभव करके यथाबुद्धि उनसे आत्म-निवेदन अथवा आलाप कर सकते हैं... भगवान् हमारी भावना ही देखते हैं। भक्तों के लिए यही यथेष्ट है..." इस कथन और पुस्तक के प्रसंग और प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए यह असंदिग्धतः कहा जा सकता है कि 'राधाकृष्ण' के रूप में यह अमर काव्य-कथा देश के अध्यात्म-प्राण लोक-मानस के लिए स्तुत्य और अभिनन्दनीय ही है ।

पुस्तक को 'राधा' और 'कृष्ण' दो भागों में विभाजित किया गया है; काव्य-दृष्टि से पुस्तक नियमानुकूल छन्दोबद्ध है, भाषा परिमार्जित, ललित तथा हृदयग्राही है, पुस्तक में सर्वत्र विभिन्न रसों का परिपाक उत्कृष्ट और परिष्कृत रूप में हुआ है; कुछ उदाहरण लीजिए :

"श्यामांचल में सूर्य-रश्मियाँ
जाकर हुईं विलीन
सद्यः स्नाता, मुक्त कुंतला,
प्रेम-भाव में लीन—
....

किया प्रवेश निशा ने आ कर
सलज-षोड़शी रूप
मन्त्र-मुग्ध-सा व्योम मौन था,
लखकर रूप अनूप...
बैठी द्वार-देहरी राधा
कुछ अनमनी बनी-सी
शरदुत्फुल्ल मल्लिका जैसी
अति लावण्य घनी-सी..."

राधा के विशद और व्यथा के कितने सकरुण चित्र हैं :

"आज स्वप्न-से लगते हैं
दिन व्यतीत जीवन के
भाव हिंडोल झूलती रहती
अब केवल उस मन में
ये कदम्ब के झूले अब तो
सपने-से होते हैं"

× × ×

"जीवन-मरण डोलियों पर ही
अब झूला है मेरा...
पात-विहीन गुलाब-डाल कर
मन-फूला है मेरा...
मिलन वसन्त-प्रतीक्षा में ही
अब तक जीती आई
पर अब तो सखि, भार हुआ यह
दुर्वह, असह्य, विरह का

राधा के विरह का मिलन की स्मृतियों के साथ करुणायुक्त अभिसार देखिए :

"व्यर्थ जगी यह प्रीति हृदय की
निर्झर गिरि गह्वर का
अलिविहीन वन में क्यों फूटा
व्यर्थ कुसुम क्यों मँहका"

'राधा' के भाग में कहीं-कहीं विरहातुर राधा के मुख से जो विरहगीत कहलाए गए हैं, वे अपनी भाव व्यंजना में इतने सप्रमाण हो गये हैं कि हृदय को बारबार को झंकृत कर डालते हैं। उसका एक कुछ अंश है :

"वही जीवनाधार
जीवन की लघु तरणी के वह
सखि मेरे पतवार
आज हुई डगमग यह नौका
हँसता भूल किनारा
जाऊँ किसके पास कहो सखि
किसकी करूँ पुकार ?....
संध्या के ढलते प्रकाश में
मैंने कितनी बार
कहा—तनिक सन्देश लिए जा
ओ सनसनी बयार

राधा-भाग की अन्तिम पंक्तियों को जिस निष्कर्ष रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है, वह कितना मार्मिक है :

"अद्यावधि धरणी है गुंजित
प्रीति रीति-गानों से
जिसके प्रेम कहानी शाश्वत
है अमूल्य निधि उसकी
भक्त वृन्द हैं सदा चाहते
चरण धूल ही जिसकी"

विरहिणी राधा मानवी है, पर कृष्ण मानव शरीरधारी भगवान् हैं, कवि कृष्ण का अनन्य भक्त है... "भगवान् हमारी भावना ही देखते हैं..." के अनुसार विरहिणी राधा की भावाभिव्यक्तियाँ इतनी भावना-विभोर हो उठी हैं, लगता है राधा की इन अनुभूतियों ने कवि को भावना और भगवान् में ही पूर्णता के साथ एकाकार-सा कर दिया हो; अब आराध्य कृष्ण की भावाभिव्यक्ति लीजिए :

कान में आता वारंवार
करुण राधा का हृदयोद्गार
न था पर राधा का अभिशाप
न गोपीजन का कलुष कलाप

और हम इस बात को तीव्रता से अनुभव करते हैं कि पुस्तक का राधा-भाग बहुत-बहुत आकर्षणयुक्त है। काव्य दृष्टि से भी और भावनाओं की सुकोमल-सकरुण अभिव्यंजनाओं की दृष्टि से भी।

'राधाकृष्ण' का व्यापक समादर हो, यही हमारी अहर्निश आकांक्षाएँ हैं।

महर्षि महिमा (पद्य में)

लेखक : हरिशंकर शर्मा
प्रकाशक : शंकर-सदन, आगरा
मूल्य : एक रुपया

'महर्षि-महिमा' के लेखक श्री हरिशंकर शर्मा पुराने, परिचित और लब्धप्रतिष्ठ कवि, लेखक और पत्रकार हैं; विशेष कर आर्य-सामाजिक क्षेत्र की उन्होंने भरसक सेवाएँ की हैं और उस क्षेत्र में शर्मा जी को यथेष्ट समादर भी प्राप्त है। प्रस्तुत पुस्तक 'महर्षि-महिमा' आर्यसमाज के आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती की पवित्र जीवनी को अभिलक्षित करती है। इससे बहुत पूर्व सन् १९२९ में श्री शर्मा जी ने 'शिव संकल्प' एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी थी और उनके कथनानुसार 'शिव संकल्प' पुस्तक ही 'महर्षि महिमा' के परिवर्द्धित रूप में पाठकों के सामने है; इस पुस्तक के सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पुस्तक के लेखक शर्मा जी स्वयं आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द के नैष्ठिक अनुयायी हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि पुस्तक में भावनातिरेक और प्रवाह-मयता अधिकाधिक उपलब्ध होती है; किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व इतना प्रोज्ज्वल और महान् है कि आर्यसमाज की परिधि तक ही सीमित नहीं किया जा सकता; स्वामी जी आधुनिक भारत के न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना के उद्घोषक थे अपितु उन्होंने ही सर्वप्रथम स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्र को आह्वान किया था; उनका व्यक्तित्व और चरित्र भारतीय ही नहीं, सार्वदेशिक भी है; प्रस्तुत पुस्तक में अनुरूप छन्द, भाषा और भावना के साथ महर्षि दयानन्द सरस्वती का चरित्र-गान प्रस्तुत किया गया है; हम पुस्तक का अभिनन्दन करते हैं।

प्राचीन शिक्षण विधियाँ
और [illegible] की पंचपदी-शिक्षण विधि

१९५६

लेखक : रामखेलावन चौधरी
प्रकाशक : विद्यामंदिर, रानीकटरा,
लखनऊ
मूल्य : सवा रुपया

शिक्षा के विषयों पर जितना नया और जितना अधिक जो कुछ आ सके, वह सर्वथा अभिनन्दनीय ही है! नया और अधिक काम एक ऐसी शिक्षा परम्परा का निर्माण करता चला गया कि आज हमारी सम्पूर्ण शिक्षण-विधि में विशेष प्रगति और परिष्कार हो चुका है और साथ ही शिक्षण-विधि में अधिक से अधिक सुधार और परिष्कार की भावनाएँ भी प्रबल होती गई।

प्रस्तुत पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने के पश्चात् उपयुक्त कथन का प्रमाण मिल जाएगा कि समय-समय पर अनेक विद्वानों ने शिक्षण-विधि को उन्नतिशील बनाने के लिए जो विचार प्रकट किए हैं; हरवार्ट शिक्षा के क्षेत्र में वह व्यक्ति है, जिसने सर्वप्रथम शिक्षण विधि पर जोर दिया था—तव से आज तक अनेक शिक्षण-विधियों का जन्म हो चुका है, उन सब का विहंगम परिचय ही इस पुस्तक में उपलब्ध होता है, पुस्तक शिक्षा-सेवा के लिए अभिनन्दनीय है।

हमारे सहयोगी

साहित्यकार (बुद्ध-अंक)
सम्पादक : महादेवी, इलाचन्द्र जोशी
प्रकाशक तथा संचालक : साहित्यकार संसद्,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद—२
मूल्य : इस अंक का दो रुपए
वार्षिक मूल्य दस रुपए

साहित्यकार-संसद् प्रयाग द्वारा संचालित, प्रकाशित महादेवी-इलाचन्द्र जैसे ख्यातिलब्ध साहित्यकारों द्वारा सम्पादित 'साहित्यकार' के दूसरे वर्ष का १७ वाँ अंक हमारे समक्ष है; सामान्य-दृष्टि में 'साहित्यकार' सम्यक् और स्पृहणीय वृत्ति पर हिन्दी-साहित्यिकों के चिन्तन, अनुशीलन, परिधि, समस्याओं का सृजनात्मक प्रतिनिधित्व करता आया है—विशेषतः 'अपनी बात' सम्पादक-स्तम्भ अत्यन्त परिशीलनात्मक चिन्तन हमें प्रस्तुत करता आया है। 'साहित्यकार' का प्रस्तुत अंक बुद्ध-अंक है; इस अंक में 'अपनी बात' स्तम्भ भी सब सामग्रियों में अधिक चिन्तनशील, परिनिष्ठित लगा—इस अंक की अन्य सामग्री में राहुल सांकृत्यायन का लेख 'बुद्ध का अंतिम वर्ष' रामकुमार वर्मा लिखित 'वासवदत्ता : ऐतिहासिक रूपक', कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा का लेख 'बौद्ध दर्शन से अनुप्राणित लोक-कथाएँ और लोकनृत्य' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं; अंक चित्रों से यथेष्टतः सज्जित है। चित्रों के कटाव को कलात्मक और परिष्कृत रूप दिया जा सके तो अधिक आकर्षणीय होगा; 'साहित्यकार' के लिए हमारी सतत कामनाएँ।

सुप्रभात : (भारतीय परिवार उपयोगी
श्रेष्ठ मासिक पत्र)
सम्पादक : पृथ्वीनाथ शास्त्री एम० ए०
संचालक : नीलकमल खेतान, चन्द्रकुमार अग्रवाल
१७६, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता—७
मूल्य : एक प्रति बारह आने; वार्षिक आठ रुपए

'सुप्रभात' कलकत्ता जैसी विशाल-व्यस्त नगरी से प्रकाशित हो रहा है, एक वर्ष से अधिक से। प्रस्तुत अंक उसके द्वितीय वर्ष का द्वितीय अंक है। 'सुप्रभात' प्रारंभ से ही जिस अभिरुचि, अभिनवता और उपादेय दृष्टि लेकर सामने आया है, उसका अन्तरंग-बहिरंग, साज-सज्जा सब आरंभ से ही आकर्षणीय रहा है, कुछ इन्हीं कारणों से 'सुप्रभात' का मान सामान्य भारतीय परिवारों में स्वतः ही स्थापित हो जाता है; इस अंक में साहित्य का अनुशीलन प्रस्तुत करने वाले लेख, स्तरीय कहानियाँ, अच्छी सरस कविताएँ, (कविताओं में 'रात ढल गई' शरद् देवडा की कविता अवश्य ही उल्लेख्य है) परिचयात्मक लेख, मनोविज्ञान, अर्थ, विज्ञान, बाल मनोविज्ञान, नारी मनोविज्ञान सम्बन्धी लेख बड़े ही उपादेय बन पड़े हैं। 'सुप्रभात' में 'महिला सुप्रभात' तथा 'बाल सुप्रभात' नाम से कुछ पृष्ठ भी पृथक् किए गए हैं। मुखपृष्ठ का चित्र हठात् ही अत्यन्त नयनाभिराम और आकर्षणीय है। सामग्री-वैविध्य और रुचि-वैविध्य असंदिग्धतः सराहनीय है; ऐसे सुसम्पादित और सुसज्जित 'सुप्रभात' के लिए श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री तथा संपादक-मण्डल एवं संचालकगणों के हार्दिक साधुवाद; सफलता की महती कामनाओं के साथ।

हैदराबाद दक्षिण — **ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर**

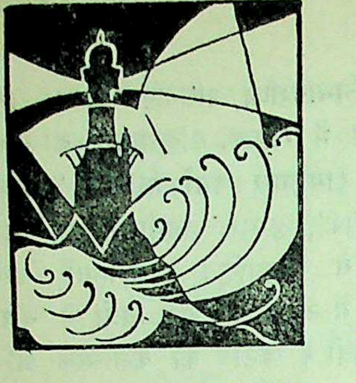

सामयिक

॥

शब्दों का जगत्

पिछले दिनों उस्मानिया यूनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर श्रीयुत प्रिन्सिपल एम. एस. दोरास्वामी ने निज़ाम कालेज में अंग्रेज़ी भाषा के सम्बन्ध में कई व्याख्यान दिए। उनमें से एक व्याख्यान का विषय "शब्दों का जगत्" था। इस व्याख्यान में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"वर्तमान यूरोप की भाषाओं में अंग्रेज़ी का शब्द-कोश सबसे अधिक विशाल है। ऐंग्लो-सैक्सन डिक्शनरी में सम्भवतः २०,००० शब्द दिए गए हैं; डा० जॉनसन की डिक्शनरी में ५०,००० शब्द और ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में ५ लाख शब्द। यदि इन शब्दों से अभ्युत्पन्न शब्दों को भी सम्मिलित कर लिया जाए तो इन शब्दों की संख्या १० लाख शब्दों तक जा पहुँचेगी।

सम्भवतः इंग्लिश भाषा ब्रिटेन की भूमि से उद्भूत भाषा नहीं है—पुरानी अंग्रेज़ी या ऐंग्लो-सैक्सन शब्द-रूप इंग्लिश भाषा के प्रारंभिक रूप हैं। आधुनिक इंग्लिश डिक्शनरी में एक चौथाई शब्द ऐंग्लो-सैक्सन हैं। जो शब्द अवशिष्ट रह गए हैं वे छोटे धातु-रूप शब्द हैं। वे अंग्रेज़ी के प्राणस्वरूप हैं।

आर्यन या इंडो-यूरोपियन भाषाओं से अंग्रेज़ी में अनेक शब्द आए हैं जैसे कि फ़ादर, मदर, ब्रदर, सिस्टर, सन, डॉटर, १ से १० तक अंक, समस्त व्यक्तिगत सर्वनाम, अनेक सबल क्रिया-पद और कई निर्बल शब्द। इसके साथ ही अनेक गुणवाची शब्द, लगभग समस्त उपसर्ग, सम्बन्धक और संयोजक अव्यय भी अंग्रेज़ी में इसी स्रोत से आए हैं। आध्यात्मिक और इसी प्रकार के अन्य शब्द गौड, सोल, जीवन और मृत्यु; साधारण शब्द : सिर, आँख, कान, हृदय, जीभ, हाथ, पैर; साधारण वृक्षों के नाम : हौर्स, काउ, शीप और अनाज के नाम : ह्वीट, बार्ले और ओट्स — वे सब शब्द पुरानी अंग्रेज़ी या ऐंग्लो-सैक्सन से आए हैं। इस सम्बन्ध में और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। अंग्रेज़ी का "आधारभूत" शब्द-कोश अब भी इंग्लिश है। यह कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ इंग्लिश में ही खाता, पीता, सोता, खेलता, बोलता, गाता, घूमता, दौड़ता, सवारी करता, कूदता और तैरता है। वह घर जिसमें कि वह रहता था उसके भवन, कुंज, कमरे, खिड़कियाँ, दरवाज़े, फ़र्श, सीढ़ियाँ और द्वार हमें इस बात का स्मरण कराते हैं कि उसकी भाषा आधारिक रूप से ट्यूटौनिक थी। उसका माँस, पेय, रोटी, मक्खन, मछली, दूध, पनीर, नमक, मिर्च, अंगूरी शराब (Wine), अनाज का मद्य (Ale) और बिअर आदि उस समय के शब्द हैं जब कि इंग्लैंड पर विजय प्राप्त नहीं की गई थी।

इंग्लिश भाषा के शब्दों में ७० प्रतिशत ऐसे शब्द हैं जो कि अन्य भाषाओं से लिए गए हैं। इनमें सबसे मुख्य लैटिन है, उसके बाद फ्रेंच और उसके पश्चात् स्कांडनेविया की भाषा। नार्मन विजय के पश्चात् ही हमें अंग्रेज़ी में डैनिश शब्द प्राप्त होते हैं। उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है—यद्यपि उनका प्रयोग प्रतिदिन के व्यवहार में होता है। अंग्रेज़ी शब्द-कोश में फ्रेंच शब्द अत्यधिक हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये फ्रेंच शब्द अंग्रेज़ी के इस प्रकार अपने बन गए हैं कि उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'अंग्रेज़ी फ्रेंच भाषा है जिसका कि उच्चारण विकृत रूप में किया जाता है।" ये शब्द संस्कृति के सम्बन्ध में हैं और विशेषतया ये शब्द कला, साहित्य, विधि (Law) और संभ्रान्त व्यक्तियों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में हैं। सैंकड़ों शब्द युद्ध, फ़ैशन और ख़ाली समय के कार्यों के सम्बन्ध में हैं। भोजन-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत से सुन्दर शब्द अंग्रेज़ी में फ्रेंच से आए हैं। फ्रेंच भाषा से अंग्रेज़ी में [illegible] १७ वीं शताब्दी और उसके बाद भी

१६५६

लिए जाते रहे हैं। इसी प्रकार लैटिन से भी अंग्रेज़ी में अनेक शब्द लिए गए हैं। इन फ्रैंच शब्दों में अधिकांश शब्द पुनरुत्थान (रिनासांस) के समय लिए गए—ये शब्द अंग्रेज़ी में १५०० ई. से प्रविष्ट हो रहे थे। इनसे अंग्रेज़ी भाषा पुष्ट और समृद्ध हुई है। ग्रीक भाषा से अंग्रेज़ी में बहुत शब्द नहीं आए—यद्यपि जो शब्द आए हैं वे किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। यह कहना किसी भी प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अंग्रेज़ी में ग्रीक शब्दों के बिना दर्शन, साहित्य, कला और विज्ञान सम्भव ही नहीं थे। हिब्रू, इटालियन, डच, जर्मन, स्पैनिश, अरबी, फ़ारसी, चीनी, जापानी और भारतीय भाषाओं से भी अंग्रेज़ी में अनेक शब्दों को लिया गया है और ये सब शब्द अंग्रेज़ी का अंश बन गए हैं। जिसे हम अंग्रेज़ी भाषा कह रहे हैं—वह अनेक भाषाओं का सम्मिश्रण है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सबसे अधिक संकर जाति अंग्रेज़ों की जाति है। राजनैतिक परिवर्तनों के बावजूद भी अंग्रेज़ी आज विश्व की सबसे महान् भाषा है। अन्त में मैं कुछ उन भारतीय शब्दों के विषय में कहना चाहता हूँ जो कि अंग्रेज़ी ने अपना लिए हैं। उदाहरण के लिए : पैन्थर, पेपर, जिंजर, सैण्डल, कैलिको, बनयन, पैजामा, मैंगो, कौड्रा, कोप्रा, पैगोडा, नबौब, ब्राह्मिन, वेद, धर्म, कर्म, माया और योग आदि शब्द भारतीय हैं जो कि अंग्रेज़ी में प्रयुक्त होते हैं। २० वीं सदी में हड़ताल, सत्याग्रह, स्वदेशी, स्वराज, आदि भारतीय शब्द अंग्रेज़ी में प्रयुक्त होने लगे। एक दिलचस्प उद्धरण है : "ऐंग्लो इंडियन लोगों के जीवन के छोटी-हाज़री, टिफिन्स, चिट्स, पंखा, बख़शीश, धोबी आदि शब्द उतने ही अंश हैं जितने कि चटनी और करी हैं।"

॥

चीन में कालिदास

"पीपल्स चाइना" में चीन में कालिदास की लोकप्रियता के सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"भारतवर्ष के प्राचीन महाकवियों में चीन में कालिदास का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। अश्वघोष जिसने कि "बुद्ध-चरित" लिखा है और भारतवर्ष के आधुनिक कवि श्रीयुत रवीन्द्रनाथ टागौर के पश्चात् कालिदास के नाम की ख्याति भारतीय महाकवियों में चीन में सबसे अधिक है। कई सौ वर्ष हुए जब चीन के लोगों को कालिदास का परिचय प्राप्त हुआ था। १३ वीं सदी में कालिदास के 'मेघदूत' का तिब्बत की भाषा में अनुवाद हुआ था। उसके पश्चात् उसका अनुवाद मंगोल भाषा में हुआ।

रेवरेण्ड मांडज़ू चीन के एक प्रसिद्ध बौद्ध कवि थे। उन्होंने सबसे पूर्व कालिदास को आधुनिक युग में चीन के लोगों से परिचित कराया। उन्होंने १९०७ में चीन के लोगों को कालिदास की "शकुन्तला" का परिचय दिया। उन्होंने "शकुन्तला" पर गेटे की प्रसिद्ध कविता का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कहा जाता है कि उन्होंने "शकुन्तला" का चीनी भाषा में अनुवाद किया था—परन्तु अब यह अनुवाद प्राप्त नहीं होता। इसके पश्चात् फ्रैंच भाषा से चीनी भाषा में कालिदास की "शकुन्तला" के तीन अनुवाद प्रकाशित हुए। इसके पश्चात् "मेघदूत" और "ऋतुसंहार" का भी चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इन अनुवादों से चीन के लोगों में कालिदास की प्रतिभा का सम्मान हुआ। चीन के साहित्यकारों में "शकुन्तला" का नाटक बहुत लोकप्रिय हुआ। प्रोफ़ेसर हसु नि-शान ने जो कि एक चीन के लेखक और विद्वान् थे और जिन्होंने संस्कृत में कुछ अनुसन्धान किया था—अपनी 'भारतीय साहित्य' पुस्तक में कालिदास के सम्बन्ध में लिखा। दुर्भाग्यवश कालिदास की कृतियों का चीनी भाषा में अनुवाद करने से पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई।

प्रो. चि ह्सीन-लिन ने सीधे संस्कृत भाषा से आधुनिक चीनी भाषा में 'शकुन्तला' का अनुवाद किया है। इसमें मूल नाटक की शैली का अनुसरण किया गया है। चिन के-मु ने-जो कि पीकिंग यूनिवर्सिटी में प्राच्य भाषाओं के प्राध्यापक हैं—'मेघदूत' का चीनी कविता में अनुवाद किया है। प्रो० वु ह्सिओ-लिंग ने 'ऋतु-संहार' का अनुवाद किया है। 'शकुन्तला' का नाटक चीन के विद्वानों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि इस नाटक और चीन के श्रेणिक नाटकों में से विषय और शैली की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है। उदाहरण के लिए चीन के नाटकों में प्रस्तावना और प्रवेशक संस्कृत के नाटकों के समान ही हैं। विदूषक के पात्र में भी बहुत कुछ समानता है। इन समानताओं को देखते हुए दोनों के तुलनात्मक अध्ययन

की आवश्यकता को चीन के विद्वानों में अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है। अभी तक के अनुसन्धान के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी और भारतीय नाटकों का संभवतः एक जैसी अवस्थाओं में विकास हुआ था परन्तु यह विकास दोनों का सर्वथा स्वतन्त्र रूप से हुआ।

अधिकांश भारतीय साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद प्राचीन काल में ही हो गया था। इनमें संस्कृत की नीति-कथाएँ भी हैं। रेव० माडजू ने बङ्गाली कवयित्री तरु दत्त की एक कविता का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया है। प्रो. ह्सु-ति-शस ने अपनी पुस्तक "भारतीय साहित्य" में ऋग्वेद से ले कर टागौर तक के साहित्य का परिचय दिया है। प्रो. चेंग चेन-तो ने अपनी "साहित्य की रूप रेखा" पुस्तक में भारतीय साहित्य को पर्याप्त स्थान दिया है। प्रो. लियू वू-चि ने चुंगकिंग में भारतीय साहित्य पर एक पैम्फलैट प्रकाशित किया है। १९२४ में श्रीयुत रवीन्द्रनाथ टागौर चीन में पधारे थे। उस समय से चीन के लोगों में भारतीय साहित्य के प्रति अनुराग की और भी अधिक वृद्धि हुई है। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ टागौर की प्रायः समस्त रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया है। उनके प्रसिद्ध नाटक "चित्रा" का पीकिंग में अभिनय किया गया था। संस्कृत की जिन अन्य पुस्तकों का चीन की भाषा में अनुवाद हुआ है उनमें भर्तृहरि के "शतकत्रय" और "महाभारत" के "सावित्री-उपाख्यान" विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं। अब तो चीन में भारतीय साहित्य के अध्ययन की ओर विद्वानों और जनता का और भी अधिक ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अब तो चीन के बहुत से दार्शनिक, इतिहासकार, भाषा शास्त्री, साहित्य और बुद्ध-धर्म के विद्यार्थी संस्कृत और पालि भाषा का अध्ययन कर रहे हैं। पीकिंग यूनिवर्सिटी में हिन्दी, उर्दू और संस्कृत की शिक्षा दी जाती है। इसी प्रकार चीन की अन्य यूनिवर्सिटियों में भी भारतीय भाषाओं की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। प्राच्य-भाषा-विभाग में भारतीय साहित्य का पाठ्य-क्रम रक्खा गया है। चीन के साहित्य-विभाग ने भी विदेशी साहित्यों के पाठ्य-क्रम को रखने का निश्चय किया है। इसमें एशिया के साहित्य का पाठ्य-क्रम भी रहेगा क्योंकि भारतीय-साहित्य एशिया के साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है......

॥

गोकक जल-प्रपात

बम्बई के साप्ताहिक अंग्रेज़ी पत्र "भारत ज्योति" में श्रीयुत पी. एन. कारेकर का "गोकक के जल-प्रपात" पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"गोकक जल-प्रपात का दृश्य—बिलकुल सीधी चट्टानों से गिरते हुए जल-प्रपातों की झाग से पूर्ण उठते हुए बादल—आँखों के सम्मुख एक ऐसा आकर्षण उपस्थित कर देते हैं कि मनुष्य मंत्र-मुग्ध-सा रह जाता है। इस दृश्य को क्या कभी भूला जा सकता है? यात्रियों के हृदय में इन प्रपातों को बार-बार देखने का आकर्षण बना रहता है। ये जल-प्रपात घाटप्रभा नदी से निःसृत होते हैं। यह नदी पश्चिम घाट से निकल कर पूर्व की ओर जाती है और मैदानों में जा कर कृष्णा नदी से मिल जाती है। नदी जब पहाड़ों की ऊँची सीधी चट्टानों से नीचे गिरती है तब वह जल-प्रपातों का रूप धारण कर लेती है। ये जल-प्रपात १५० फ़ीट की ऊँचाई से गिरते हैं और क्योंकि यह गोकक में गिरते हैं इसलिए इन प्रपातों का नाम गोकक जल प्रपात पड़ गया है। यह कर्नाटक में है। यहाँ एक शिव का मन्दिर है जो कि काले संग मग्मर में खोद कर बनाया गया है। यह मन्दिर कई शती पुराना है। हमें पता नहीं चल सका कि यह मन्दिर किस समय का बना हुआ है और इस मंदिर को किसने बनाया है।

घाटप्रभा नदी पर एक झूले का पुल है। यह पुल बहुत सुन्दर और दर्शनीय है। यह पुल घाटप्रभा नदी पर गोकक जल-प्रपातों से ज़रा ऊपर की ओर बना हुआ है। पुल की लम्बाई १७५ गज़ है और चौड़ाई फुट है। पुल पर मनुष्य झूलता हुआ-सा चलता है और एक-एक कदम संभल-संभल कर रखना पड़ता है और ऊँचाई से देखने पर नीचे अत्यन्त भय मालूम होता है। एक ओर नदी के तेज़ प्रवाह की आवाज़ से और दूसरी ओर गोकक जल-प्रपातों के गिरने की पहाड़ों से गूँजती हुई आवाज़ कानों को बहरा बना देती है और यह तुमुल ध्वनि एक विशेष प्रकार की निःस्तब्धता को उत्पन्न कर देती है।

हमने जब गोकक जल-प्रपातों को देखा—उ [illegible] जल धारा में से उछलती हुई झाग के उमड़ते हु

बादलों पर सूर्य की किरणों की चमक से और विविध रंग आभासित हो रहे थे। दृश्य अद्भुत और सुन्दर था। इस दृश्य की सुन्दरता की तुलना नहीं की जा सकती। इन जल-प्रपातों से बिजली निकाली गई है जिससे कि मिलें चलती हैं। हम इन जल-प्रपातों के और भी अधिक निकट गए। प्रपातों के पास जाने के लिए चट्टानों में सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ये सीढ़ियाँ ऊपर से नीचे बिजली घर तक बनी हुई हैं। नीचे से इस दृश्य को देख कर हृदय में भय उत्पन्न होता है—यद्यपि यह दृश्य इतना सुन्दर है कि इसे देख कर मनुष्य हज़ारों मील चलने की थकान को भी भूल जाता है। सीढ़ियों से चलना और उतरना ख़तरे से ख़ाली नहीं है क्योंकि चट्टानें एकदम ऊँची और बिलकुल सीधी हैं।

यहाँ के वातावरण और प्रदेश में प्रकृति की महान् शक्ति को देख कर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। गोकक जल-प्रपातों को देखने से इस बात का अनुभव होता है कि मनुष्य की महान् से महान् रचना से प्रकृति की रचना महान् है और उसमें विश्व का कल्याण करने की अद्भुत और विलक्षण शक्ति है।"

॥

आगरे का ताजमहल

आगरे के ताजमहल के सम्बन्ध में मद्रास के अंग्रेज़ी पत्र "हिन्दु" के साप्ताहिक मेगज़ीन-विभाग में श्रीयुत एस. सिंह का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जाता है :

"ताजमहल का निर्माण १६३१ ई. में मुमताज-महल की मृत्यु के एक वर्ष के पश्चात् हुआ। यद्यपि इस विषय में ठीक तारीख़ों का पता नहीं है कुछ लेखक यह कहते हैं कि ताजमहल का निर्माण १६३८ में पूर्ण हुआ। कहा जाता है कि इसके निर्माण में ५२ लाख रुपए से लेकर ६ करोड़ रुपए तक ख़र्च हुआ। इसके निर्माण के लिए २० हज़ार कारीगरों को नियुक्त किया गया था। ये कारीगर मध्य एशिया और देश के अनेक भागों से लाए गए थे। जहाँ ताजमहल बनाया गया है, वहीं उसी के पास इन कारीगरों का उपनिवेश था जिसका नाम मुमताजाबाद था। यह ताज के प्रवेशद्वार के सम्मुख था और अब इसे ताजगंज कहा जाता है।

एक स्पेनिश मौंक १६४१ में आगरा आया था। इसका नाम मनरीक था। उसने लिखा है कि उसे इस प्रकार की सूचना प्राप्त हुई थी कि ताजमहल का डिज़ाइन शाहजहाँ ने जेरोनिओ वेरोनिओ नामक इटालियन से तैयार करवाया था—परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। उस समय के अन्य लेखकों के रिकार्डों से ज्ञात होता है कि ताजमहल का निर्माण मकरामत ख़ान के अधीक्षण में हुआ था।

ताजमहल का डिज़ाइन एक इटालियन ने बनाया यह तथ्य फ़ादर मनरीक के कथन पर आधारित है। इस बात को हमें स्मरण रखना चाहिए कि फ़ादर मनरीक १६४१ में आगरा में था और इसलिए उसे यह सूचना सीधे वेरोनिओ से प्राप्त नहीं हो सकती थी। वेरोनिओ की मृत्यु अगस्त २, १६४० को लाहौर में हुई थी।

ताजमहल को बनाने के पश्चात् शाहजहाँ ने काले संगमरमर में यमुना के दूसरे किनारे पर एक दूसरे ताज का बनाने का विचार किया। उसमें उसके मृत शरीर को दफ़नाया जाता। इन दोनों मकबरों को मिलाने के लिए शाहजहाँ ने यमुना पर एक पुल को बनाने का विचार किया था। भी इसे वह संगमरमर का बनाना चाहता था। वह इस पुल को इसलिए बनाना चाहता था कि मृत्यु के बाद भी वह और मुमताज मिल कर रह सकें। श्वेत ताजमहल पूर्ण हो जाने पर उसने काले ताजमहल को बनाने के लिए कारीगरों को आदेश दिया। काले ताजमहल को बनाने का ख़र्च कम-से-कम १६ करोड़ रुपया होता जब कि सफ़ेद ताजमहाल को बनाने का ख़र्च इतना नहीं हुआ था। कहा जाता है कि सफ़ेद ताजमहल को बनाते समय ही उस्ताद ईसा को काले संगमरमर की कमी पड़ गई थी और उसे रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा श्वेत संगमरमर को काले रंग का बनाना पड़ा था।

उन्हीं दिनों शाहजहाँ के बेटों में राजगद्दी के लिए लड़ाई चल पड़ी और इस कारण काले ताजमहाल का निर्माण न हो सका। जनवरी २२, १६६० में आगरा क़िले में शाहजहाँ को क़ैदी बना कर रखा गया। वह अपनी बेटी शाहज़ादी जहानआरा के कन्धे पर हाथ रक्खे यमुना के दूसरे किनारे पर से ताज को देखता रहता था। आज यमुना के इधर के किनारे पर जो लाल पत्थर के प्लेटफ़ार्म का आधार दिखाई देता है इसी पर दूसरे मकबरे का निर्माण किया जाना था।"

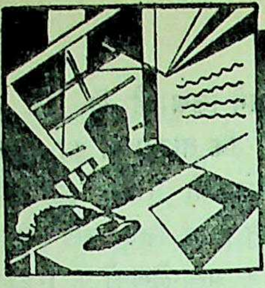

सम्पादकीय

भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य

भारतीय भाषाओं का विकास तब तक सर्वांगीण नहीं हो सकता जब तक कि उनमें वैज्ञानिक और यांत्रिक साहित्य का विकास और विस्तार नहीं होता। भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक और यांत्रिक साहित्य किस प्रकार प्रगति कर रहा है—इस विषय में प्रामाणिक विवरण प्राप्त करना कठिन है। क्या यह संभव नहीं है कि प्रान्तीय और केन्द्रीय प्रशासनों की ओर से प्रतिवर्ष इस प्रकार के विवरण तथा सूचनाएँ प्रकाशित हों जिनसे कि प्रामाणिक रूप से भारतीय भाषाओं में विज्ञान आदि के साहित्य की स्थिति का परिचय प्राप्त हो सके। संभवतः इस ओर भारतीय और केन्द्रीय प्रशासनों का ध्यान इसलिए कुछ विशेष रूप से आकर्षित नहीं हो रहा है क्योंकि हमारे देश के विज्ञान आदि विषय के प्राध्यापकों, वैज्ञानिकों और शिक्षा-शास्त्रियों की सामान्य रूप से यह धारणा है कि भारतीय भाषाएँ विज्ञान आदि के लिए उपयुक्त नहीं हैं। कहा जाता है कि विज्ञान, यन्त्र-विद्या आदि हमारे देश में पश्चिम से आए हैं; इन विद्याओं की पारिभाषिक शब्दावली हमारी भाषाओं में नहीं है और न इस प्रकार की पुस्तकें हैं जिन्हें कि पाठ्य-क्रम में रखा जा सके। यदि भारतीय भाषाओं में विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाएगी तो न तो इन विषयों का अध्ययन हमारे विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में ठीक ढंग से किया जा सकेगा और न हम विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के साथ क़दम उठा कर चल सकेंगे। परिणाम यह होगा कि हमारा देश वैज्ञानिक प्रगति ही नहीं कर सकेगा। इन, और इसी प्रकार के कारणों से हमारे देश के प्रशासक, वैज्ञानिक और शिक्षा-शास्त्री भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक और यान्त्रिक साहित्य के उत्पत्यर्थ उदासीन हैं। जब शिक्षा-शास्त्रियों, वैज्ञानिकों और विज्ञान और यन्त्र-विद्या के अध्यापकों और प्राध्यापकों में विज्ञान और यन्त्र-विद्या आदि के लिए भारतीय भाषाओं के प्रति कुछ विशेष आकर्षण नहीं है तब हमारे देश के विद्यार्थियों में भारतीय भाषाओं के द्वारा विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन की रुचि किस प्रकार जागृत हो सकती है?

पिछले दिनों पूना विश्व-विद्यालय ने इस सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है। इस विज्ञप्ति को पढ़ कर भारतीय भाषाओं में विज्ञान आदि के साहित्य की स्थिति बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है। यह विज्ञप्ति निम्न प्रकार है: "पूना विश्व-विद्यालय ने पिछले शिक्षा-सत्र में मराठी को शिक्षा का माध्यम बनाने का जो निश्चय किया था उसका विश्व-विद्यालय से सम्बद्ध कालेजों ने कुछ विशेष स्वागत नहीं किया है।...पाठ्य पुस्तकों का अभाव और विज्ञान के छात्रों का अंग्रेज़ी को माध्यम के रूप में पसन्द करना—ये दो इस योजना को क्रियात्मक रूप में परिणत करने में मुख्य बाधाएँ हैं। पूना विश्व-विद्यालय ने इस योजना को क्रियात्मक रूप में परिणत करने के लिए ३५,००० रुपए की रक़म स्वीकार की थी, किन्तु एक भी अध्यापक इस अनुदान से लाभ उठा कर मराठी में पाठ्यपुस्तकों को लिखने के आगे लिए नहीं आया। स्वयं विश्वविद्यालयों ने भी अनेक लेखकों को पाठ्य-पुस्तकों को लिखने के लिए नियुक्त किया था। एक पुस्तक प्रकाशित भी हो गई और अगले कुछ महीनों में तीन पुस्तकें और तैयार हो जाएँगी। सब मिला कर मराठी में पुस्तकें लिखने के लिए दिए गए प्रोत्साहन का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।"

हमारे देश की भाषाओं में चाहे कितना ही ऊँचा साहित्य क्यों न उत्पन्न हो जाए—जब तक उनमें वैज्ञानिक साहित्य पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होगा तब तक इन भाषाओं का न तो यथार्थ रूप से विकास हो सकेगा और न इन्हें सर्वांगीण रूप से उन्नत ही कहा सकेगा क्योंकि आज विश्व में उन्नति का अर्थ विज्ञान है। यदि हमारे देश की भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का अभाव रहेगा तो ये भाषाएँ न केवल अन्य क्षेत्रों में भी यथार्थ रूप से प्रगति नहीं कर सकेंगी अपितु विश्व की भाषाओं में उनको कुछ विशेष महत्व न प्राप्त हो सकेगा। इतना ही नहीं—हमारे देश में विज्ञान और यन्त्र-विद्या आदि को लोकप्रिय बनाने के लिए भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का

१९५९

विस्तृत रूप से किया जाना चाहिए। विज्ञान की शिक्षा को देश-व्यापी बनाने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य अधिक से अधिक प्राप्त हो। यदि हम भारतवर्ष की अधिकांश जनता को विज्ञान की ओर आकर्षित करना चाहते हैं तो हम भारतीय भाषाओं में इस विषयों के साहित्य-सृजन के प्रति कैसे उदासीन रह सकते हैं? सत्य तो यह है कि हमारे देश में विज्ञान और यन्त्रविद्या आदि की उन्नति यथार्थ रूप में उसी दिन हो सकेगी जिस दिन हमारे देश की भाषाएँ वैज्ञानिक साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना सकेंगी। जब हमारे देश में साहित्यिक पुस्तकों की ही अभी कुछ विशेष खपत नहीं होती तो वैज्ञानिक साहित्य की खपत की क्या आशा की जा सकती है?

अभी पिछले दिनों हमने एक लेख पढ़ा जिसका शीर्षक था: "रूस इतना बलवान् कैसे बन गया?" इस लेख में प्रदर्शित किया गया है: "अमरीका का एक सीनेटर विलियम बेएटन मास्को गया। उसने मास्को की एक पुस्तक की दुकान में देखा कि १५ और १६ वर्ष के नवयुवक भौतिकी, इंजीनियरिंग और रसायन की पुस्तकों को धड़ाधड़ खरीद रहे हैं।...जब रूस में पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया गया, उस समय टैकनिकल लोग मिलते ही नहीं थे। सब बड़े-बड़े प्रोजेक्टों को अमरीकी और अन्य विदेशियों को सुपुर्द करना पड़ा।...परन्तु शीघ्र ही सोवियत शिक्षा की समस्त मशीन ने पूर्ण बल से इंजीनियरों, वैज्ञानिकों और टेकनिकल लोगों को धड़ाधड़ उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया।...आज अवस्था यह है कि सोवियत रूस में विज्ञान की शिक्षा जितनी पूर्णता के साथ दी जा रही है उतनी पूर्णता के साथ अधिकांश पश्चिमी देशों में नहीं दी जाती।..."

रूस में यह सब इसीलिए सम्भव हो सका है क्योंकि रूस में वैज्ञानिक साहित्य रूसी भाषा में अधिकाधिक उत्पन्न किया गया है अन्यथा रूस में इतने शीघ्र वैज्ञानिक और यांत्रिक उन्नति नहीं हो सकती थी। जापान और इस समय चीन में भी वैज्ञानिक शिक्षा वहाँ की भाषाओं द्वारा दी जा रही है। वैज्ञानिक उन्नति को हमारे देश में जहाँ देश की अनेक योजनाओं और प्रोजेक्टों से मापा जा सकेगा वहाँ इस बात से भी मापा जाएगा कि हमारे देश की भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य की स्थिति कितनी उन्नत है।

हिन्दुस्तानी फिल्म : जलता हुआ सवाल

हम साहित्य के कलाकार तथाकथित सिने-कला, सिने-कलाकारिता और सिने-कलाकारों के खिलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करते हैं।

हमें इस समय लिओ टॉलस्टॉय की 'क्राउटसर सौनाटा' नामक पुस्तक की एकाएक याद हो आती है; 'क्राउटसर सौनाटा' में यह दिखलाया गया है कि संगीत की मधुर-मोहिनी शक्ति से एक कुलवधू को किस प्रकार पथभ्रष्ट किया जाता है। टॉलस्टॉय का सूत्र-रूप में कथन है कि संगीत जैसे शक्तिशाली माध्यम को चाहें जिस प्रकार चाहें जिस आवारा के हाथ छोड़ देना नितान्त गलत है।

फिर फिल्म का वर्ण्य-दृश्य तो बहुत रंगीन ढंग से हमारे सामने आता है—संगीत ही नहीं, गीत, नृत्य, नाट्य, सज्जा, कला, प्रकृति सभी के साथ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि फिल्म एक प्रकार से पिछले रंगमंचीय नाट्यों का ही आधुनिक रूप है; यों भी कहना चाहिए कि रंगमंचीय नाट्यों का सिनेमा के रूप में यन्त्रीकरण-सा ही हो गया है। अब रंगमंचीय नाट्यों की चर्चा या प्रचलन वस्तुतः बड़ी पंगु-सी, स्वतः अव्यवहार्य-सी बात है। यन्त्र-युग और विकास-क्रम के अनेक उपादानों के साथ आज नाट्य ने फिल्म के रूप में व्यापक और शक्तिशाली रूप धारण कर लिया है। हमारे देश में इस समय बीस लाख व्यक्ति प्रतिदिन फिल्म देखते हैं, और फ़िल्म में ऐसे-ऐसे सैकड़ों उपादानों का समावेश होता है, जो जनरुचि, जनमत को किसी भी ओर ले जाने की सहज क्षमता भी रखते हैं—कहा तो यह जा सकता है कि आज फिल्म सबसे अधिक जन-सम्पर्क रखता है—समाचार-पत्रों और रेडियो से भी अधिक; फिल्म के प्रचार और प्रसार में आश्चर्यजनक रूप में वृद्धि हुई। कुछ आंकड़े हैं: सन् १९२७ में ३५० सिनेमा घर थे, सन् १९३१ में ४०० हो गए, सन् १९३९ में यह संख्या १५०० हो गई, सन् १९४५ में २०९० तक और अब लगभग ४०००। फिल्म-जांच-कमेटी का अनुमान है कि इस व्यवसाय में कार्य करने वाले लोगों का वेतन या पारिश्रमिक अत्यधिक होने पर भी निर्माताओं को प्रतिवर्ष २५ करोड़ रुपए से भी अधिक आय होती है। यह तो है केवल आंकड़ों की अनुमानित आय; असली आय तो कई गुनी भी हो सकती है।

हमारे देश में फिल्म इतना उन्नतिशील, व्यापक और शक्तिशाली होने के बावजूद; जहाँ तक उसकी कला और वक्तव्य-वस्तु का सम्बन्ध है; वह तो पहले से ही उन्नत नहीं थी; पर इधर उसकी अवनति बहुत तीव्रता और निम्न स्तर पर होती जा रही है—फ़िल्म के सम्बन्ध में आज वस्तुस्थिति अत्यन्त भयंकर एवं सांघतिक बनती जा रही है। कहने में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं कि फिल्म का व्यवसाय नितान्त अर्थसर्वस्व-व्यवसाय होकर रह गया है; साथ ही विलासिता, धींगा-धींगी, भौंड़ेपन का वहाँ एकाधिपत्य-सा है—फिल्म औद्योगिक तो जनता की जेबें कतर कर अपनी जेबें भरते हैं और फिल्म-कला जनता के लिए अफ़ीम ही बनती जा रही है।

फिल्म-कला का प्राण है अभिनय और अभिनय के परिपार्श्व में नृत्य, गान, घटनाओं का योग, कथानक, संवाद, वाद्य आदि—अभिनय शुद्धतः अनुकृतिमूलक वस्तु है। व्यक्ति के कार्यों, स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। नाटक स्वयं मूर्त्त अनुकृति है समाज या व्यक्ति की। नाटक में साहित्य के संपूर्ण तत्व समाज से प्रतिबिम्बित होते हैं और यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि नाटक का क्षेत्र समाज है, विस्तृत समाज; जिसमें 'आचाराडाल ब्राह्मण' सभी आ जाते हैं, एक प्रकार से नाटक साहित्य में 'सद्यः फल प्रसूति' है, एक नाट्यानुकृति है—मनुष्य में जो राग-द्वेष, इच्छा, राग-अनुराग, दया, करुणा आदि है उन्हीं का नाट्य।

सबसे मजे की और सबसे क्षोभ की बात तो यह है कि फ़िल्म की हर गतिविधि और हर उपादान को 'कला' के नाम से अभिषिक्त किया जाता है, अभिनेताओं को तारक और अभिनेत्रियों को तारिकाएँ कहा जाता है, जाने क्या-क्या स्वर्णजाल, स्वप्नजाल ताने बाने जाते हैं—'नाट्यशास्त्र' के आचार्य भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र पर विस्तृत विवेचना की है; उनके अनुसार नाट्य-पात्रों में समाज के वे अंग भी हैं जिन्हें समाज हीन और नीच मानता है; जैसे नट, विट, शैलूष, किरात आदि—स्पष्ट है कि अपठित, मूर्ख अनुकरणप्रिय नटों के द्वारा साहित्य के इस अंग को पुष्ट किया जाता रहा है और यह भी प्रकट है कि आज तक नाटक करने वालों का समाज में कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं रहा है परन्तु आज की स्थिति तो एकदम कुछ और ही है; कहना चाहिए कि आज की सिने-कला और सिने-कलाकार हमारे सामान्य जन-जीवन में व्यापक और शक्ति-शाली स्थान रखते हैं, फिर भी उनका अस्तित्व इतना पंगु, इतना हीन, ऐसा भंगुर है कि सब कुछ होते हुए भी; कुछ नहीं है और कुछ नहीं ही; नहीं, जो है वह समाज के संस्कारों को भौंडेपन और असंस्कारों की ओर ही उत्तेजित करता है—'शिनशिनाकी बुबलाबू' 'श्रीमती चार सौ बीस', 'छूमन्तर' 'आवारा', 'पाकेटमार', 'पासिंग शो', 'तीसमारखाँ' आदि फिल्मों के नामों की ध्वनि में ही क्या-खूब कला की सुगन्ध आती है—जो हो; आज की फिल्म-कला अर्थ-सर्वस्व-मनोवृत्ति पर आधारित सीधा-साधा भौंडापन ही है।

फिल्म-जाँच-कमेटी और शासकीय स्तर के प्रयासों से अपेक्षित सुधार स्वतः ही संभव नहीं—निवेदन तो है अन्ततः फिल्म निर्माताओं और फिल्म कलाकारों से—अभी की रंगीनियाँ और फिल्मकारिता केवल नग्न कुत्सितता और नैतिक हीनता से ही अभिशप्त हैं; यह कहना सर्वथा मूर्खतापूर्ण, साथ ही धूर्त्तता से भी भरा हुआ है कि जनता सस्ते फिल्मों को पसन्द करती है। हमारी जनता है कैसी ? कितनी अशिक्षित ? कैसी भावुक-प्राण-सी; उसके कोई संस्कार नहीं, उसकी रुचि में कोई स्थिर सन्तुलन नहीं, फिर भी 'देवदास', 'विद्यापति' जैसे उच्चकोटि के फिल्मों की याद अभी भी सर्वत्र छाई हुई है; 'दो बीघा ज़मीन' जैसे गम्भीर फिल्म की भारी सफलता आखिर कुछ तो इंगित करती है—जनता में तो अशिक्षा, असंस्कार हैं किन्तु हम क्या उसे यों ही रहने दें ? इतना ही नहीं अश्लीलता और असंस्कारों को बढ़ा चढ़ा कर प्रोहत्सान दें। आज स्वतन्त्रता की इस सद्यःवेला में फिल्म जैसे व्यापक जन सम्पर्क वाले क्षेत्र को राष्ट्र के बौद्धिक और प्रोद्योगिक निर्माण में अपरिहार्यतः योग देना ही चाहिए—फिल्म-निर्माता और फिल्म-कलाकार यदि अर्थ-सर्वस्व की नीति से कुछ भी ऊपर नहीं उठते तो न केवल सरकार को, साथ ही समस्त साहित्यिक क्षेत्रों और कला-क्षेत्रों को भी फिल्म-क्षेत्र की इस अर्थ-सर्वस्व कला का डटकर विरोध करना ही चाहिए—स्वतन्त्रता एक बड़ा दायित्व है, और हमें इसकी परिपुष्टता के लिए अभी अहर्निश संघर्ष करने हैं—फिल्म-कलाकारिता के नाम पर जनता को पलायनवादी अफ़ीम दिया जाना एक राष्ट्रीय अपराध है; आज के चित्रों से हमारा राष्ट्रीय चरित्र पतित और कलुषित होता है। हमें अत्यन्त निस्पृह और आ[illegible] होकर सब-कुछ सोचना है।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : मणिकलाल कोल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है द

अजन्ता

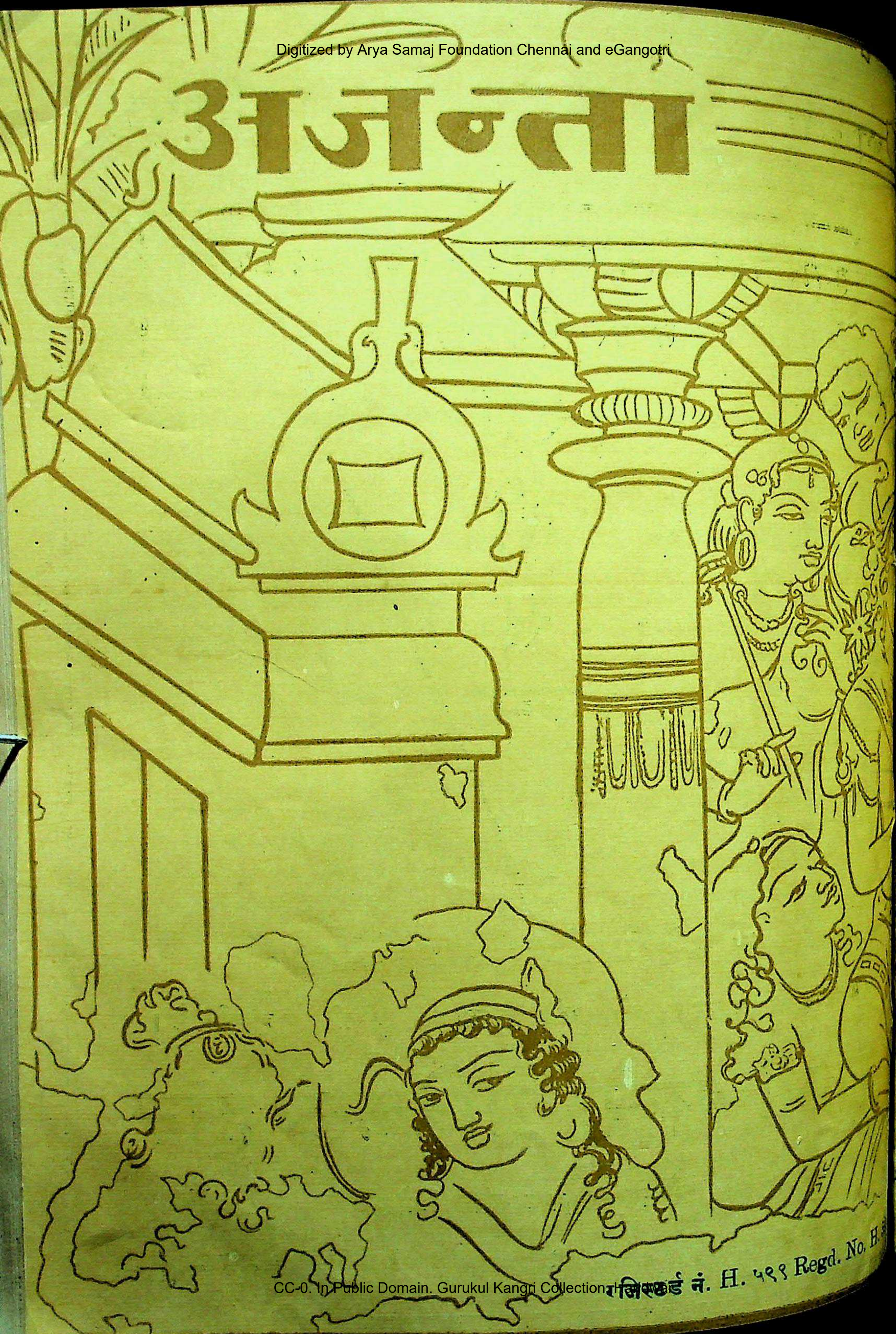

रजिस्टर्ड नं. H. ५९१ Regd. No. H.

अजन्ता

वर्ष ८ अक्तूबर १९५६ अंक १०

राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि के लिए

उत्तर प्रदेश शासन का अभिनव प्रकाशन प्रयास

जिसके अन्तर्गत

हिन्दी वाङ्मय के विविध अंग-उपांगों पर प्रायः तीन सौ मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन एवं विश्व के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद की पंचवर्षीय योजना। इस योजना में देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों एवं विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त है।

—: अब तक प्रकाशित ग्रन्थ :—

	विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या	मूल्य
१	भारतीय ज्योतिष का इतिहास	डा० गोरख प्रसाद	२७२	४ रु०
२	तत्वज्ञान	डा० दीवान चन्द	२०५	४ रु०
३	हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	डा० विभूति भूषण दत्त तथा डा० अवधेश नारायण सिंह	२३८	३ रु०
४	अरिस्तू की राजनीति (मूल ग्रीक से अनुवाद)	श्री भोलानाथ शर्मा	६४७	८ रु०
५	उत्तर प्रदेश में बौद्ध-धर्म का विकास	डा० नलिनाक्ष दत्त तथा श्री कृष्णदत्त बाजपेयी	३३८	६ रु०

अत्यन्त स्वच्छ छपाई, कपड़े की जिल्द और आकर्षक आवरण इन ग्रन्थों की अपनी विशेषता है। डिमाई आठपेजी आकार में छपे ये नयनाभिराम ग्रन्थ किसी भी पुस्तक-कक्ष की शोभा बढ़ाएँगे।

—: प्राप्तिस्थान :—

उत्तर प्रदेश प्रकाशन

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

FIRE! ACCIDENT! MARINE!

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED
Sponsord by
THE GOVT. OF HYDERABAD.
Post Box No. 164.
ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: **HUICOL** Telephone: **5579**

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात
(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है
या
कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात
पो० ज़िन्दा तिलस्मात
हैदराबाद-द. से मँगाइए।

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३५६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

फोन नं. ५८१

सिद्धान्त

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक

हिन्दी का

एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

प्रधान कार्यालय

गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय

मदन कुटीर

सुभाष मार्ग, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक-हिन्दी-साहित्य

के

रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

अभिजात

: सम्पादक :

हरिमोहन : रवीन्द्र भ्रमर

●

प्रथम भाग

- * साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- * नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- * कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

मूल्य दो रुपए मात्र

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

: व्यवस्थापक :

८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शन

हिन्दी शिक्षक

(मासिक)

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

वार्षिक मूल्य ३) रु. * एक प्रति ५) आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ

नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

फोन नं० १४२ **वसुधा**

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित

सम्पादक

रामेश्वर गुरु हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता

पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी

पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी

श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।

प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी।

अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ।

नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।

पृष्ठ संख्या ७२

एक प्रति : १० आने × वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता

वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,

जबलपुर (म० प्र०)

प्रेरणा

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक

हिन्दी-मासिक

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर कहानियाँ

एवं राजस्थानी कला और संस्कृति के परिचय के लिए

प्रेरणा

सर्वोत्तम साधन है

प्रधान सम्पादक : **देवनारायण व्यास**

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

क्या आप अब तक........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गतिविधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—
वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

६४, बेयर्ड रोड, नई देहली

मुख्य विषय

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।॥)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

आर्थिक समीक्षा

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**

सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख

आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * **एक प्रति का ≡)**

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी

७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक : यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध

सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :

अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ़्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होशयारपुर—पंजाब

सम्पदा का दीपावली विशेषांक होगा

बैंक अंक

भारत में बैंकों की प्रगति, आर्थिक विकास में बैंकों का स्थान, बैंकों का इतिहास और भविष्य तथा बैंकों के सामने आज उपस्थित समस्याओं पर विचारपूर्ण और परिचयात्मक लेख इस अंक पढ़िये। मूल्य १।) रु.।

हमारे अन्य विशेषांक

प्रथम योजना अंक	१)	भूमि सुधार अंक	१)
वस्त्र उद्योग अंक	१।)	मज़दूर अंक	१।)
अ. भा. उद्योग अंक	१।)	राष्ट्रीय विकास अंक	१।)

सातों विशेषाङ्क एक साथ रजिष्ट्री से मंगवाने पर ७।।) रु० में।

मैनेजर सम्पदा रोशन आरा, रोड,
दिल्ली—६

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक
संपादक
महादेवी :o: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेश के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

सितम्बर में बुद्ध जयन्ती विशेषांक
प्रकाशित हो रहा है।

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। इस संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्त्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य दस रुपया आठ आना।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पुराने पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी में अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य : चार रुपए।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी-गद्य की सबसे पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य : छः रुपए।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य : ३) रुपए।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकि हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य : पौने दो रुपए।

६. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है।

७. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी) : श्री वंशीधर विद्यालंकार। मूल्य : ४) रुपए।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं । अठपेजी क्राउन साइज, सचित्र छपाई । आकर्षक मुख पृष्ठ ।

१. **बालपद** : ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ । कविवर श्री वंशीधर विद्यालङ्कार । ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ** : उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक श्री—रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. । ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १** : दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक —श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. । ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ** : बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ । लेखक श्रीराम शर्मा । ०-८-०

५. **दो एकांकी** : ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकाँकी । लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. । ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल** : अजन्ता से लेकर हैदराबाद के चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा । लेखिका—श्री कमला रानी संघी । ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २** : लेखिका श्री विमला लूथरा । ०-६-०

प्रेस में :

१. **दक्खिनी का व्याकरण** श्रीराम शर्मा
२. **दक्खिनी का इतिहास** श्रीराम शर्मा
३. **रहीम का अप्रकाशित काव्यः दम्पति विलास**
४. **पञ्चामृत** (मराठी)
५. **मराठी साहित्य का इतिहास**

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है । पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए ।

सभा, नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक 'मिलाप'

आन्ध्र प्रदेश में
उत्तम से उत्तम और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ
फ़ाउण्टेन पेन
❀ माउण्ट ब्लैंक ❀ पैलिकन ❀ पार्कर ❀ शीफ़र आदि
और
अन्य श्रेष्ठ स्टेशनरी सामग्री प्राप्ति-स्थान :
डेकन पेन स्टोर
हैदराबाद सिकन्दराबाद

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ अक्तूबर १९५६ अङ्क १०

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

गीत
रामदरश मिश्र ९
चन्द्रग्रहण
कीर्तिनारायण मिश्र २
शरद् साँझ
नन्दकिशोर राय ३
प्रार्थना
राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह ४
परिभाषा
कु० रमा सिंह ५
चाँदनी का बन्दी
रांगेय राघव ६
गीत
शकुन्तला सिरोठिया ७
दो गीत
श्रीमती शैल रस्तोगी ८
कुमारिल और बौद्ध : क्षणभंगुरवाद
गोवर्धन भट्ट ९
हमारे साहिय की लोक-यात्रा
गुरुनारायण पाण्डेय १४
प्राचीन भारतीय गणतन्त्र और उनकी विशेषताएँ
परमेश्वरलाल सोलंकी १८
हँसनी—सी-गल
—एण्टन चैखव
अनु० राजेन्द्र यादव २२
तेलुगु (आन्ध्र) का शतक वाङ्मय
जी. एस. राव ३३
भादों की शाम और क्वाँर का सवेरा
रामदरस मिश्र ३७
भारतीय स्वातन्त्र्य-युग के प्रणेता—श्री अरविन्द
लल्लनप्रसाद व्यास ४५
आर्य संगीत विद्या और तानसेन
बनवारीलाल पुरोहित ४९
नैतिक जीवन का प्रभाव क्षेत्र
ब्रजभूषण पाण्डेय ५०
स्मृति-चिन्ह
कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा ५४
'शाकुन्तल' का नैतिक रहस्य
आदित्य मिश्र ५७
कला-चर्चा ६१
आधुनिक कला : एक विश्लेषण
साऊ समर्थ
चिट्ठी-पत्री ६५
'अजन्ता' के सम्बन्ध में : बनारसीदास चतुर्वेदी एम. पी., बालकृष्ण राव, रामनारायण शर्मा, सन्तोषकुमार भट्ट, महावीर सिंहल, राजेन्द्र राय 'राजेश', स्वरूपकुमारी बख़्शी
नीर-क्षीर ६९
देश-विदेश में मनोरंजन : वंशीधर विद्यालंकार; शिक्षा में नवीन प्रयोग (स्वयं ज्ञान तथा खेल विधियाँ), दूर की कौड़ी (कहानी संग्रह), टूटती शृंखलाएँ, काव्य और कवि, विश्व-दर्पण, संसार को चुनौती, स्वर्ण पादुका, लोकमान्य तिलक (जीवन-चरित्र), कालापानी (श्री ईश्वर पेटलीकर के प्रसिद्ध उपन्यास 'जनमटीप' का अनुवाद) :
ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ७४
सामयिक
अंग्रेज़ी और अमरीकी भाषा; उड़िया साहित्य; सितार और अमीर ख़ुसरो। ७८
सम्पादकीय
भारतीय भाषाओं को विकास का अवसर :
वंशीधर विद्यालंकार
हिन्दुस्तानी फ़िल्म आमूल परिवर्तन हो
ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

चित्र :—उपज का दृश्य, टोकरियाँ बुननेवाली, चिरजीवन, अक्षयता : चित्रकार : कुमारी उर्मिला शा

एक प्रति का मूल्य : १)

वार्षिक मूल्य : ९)

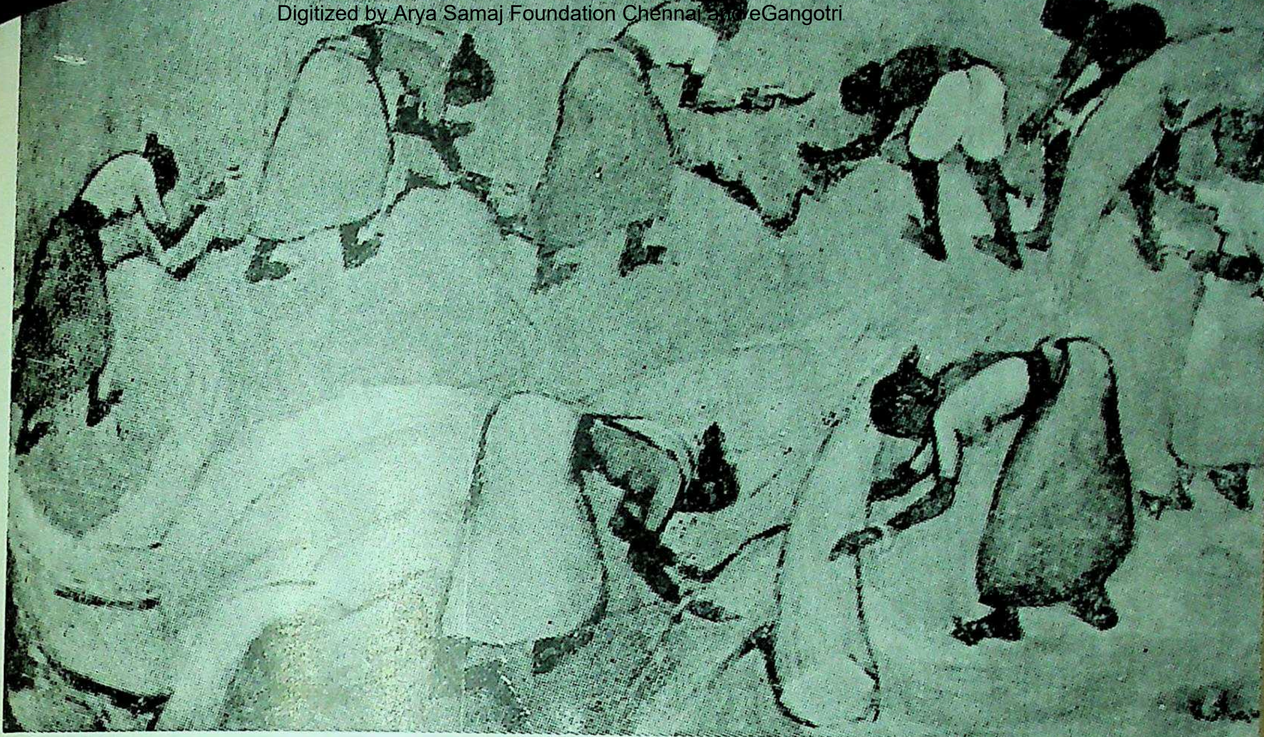

उपज का दृश्य

चित्रकार : कुमारी उर्मिला शा

अजन्ता

अक्तूबर १९५

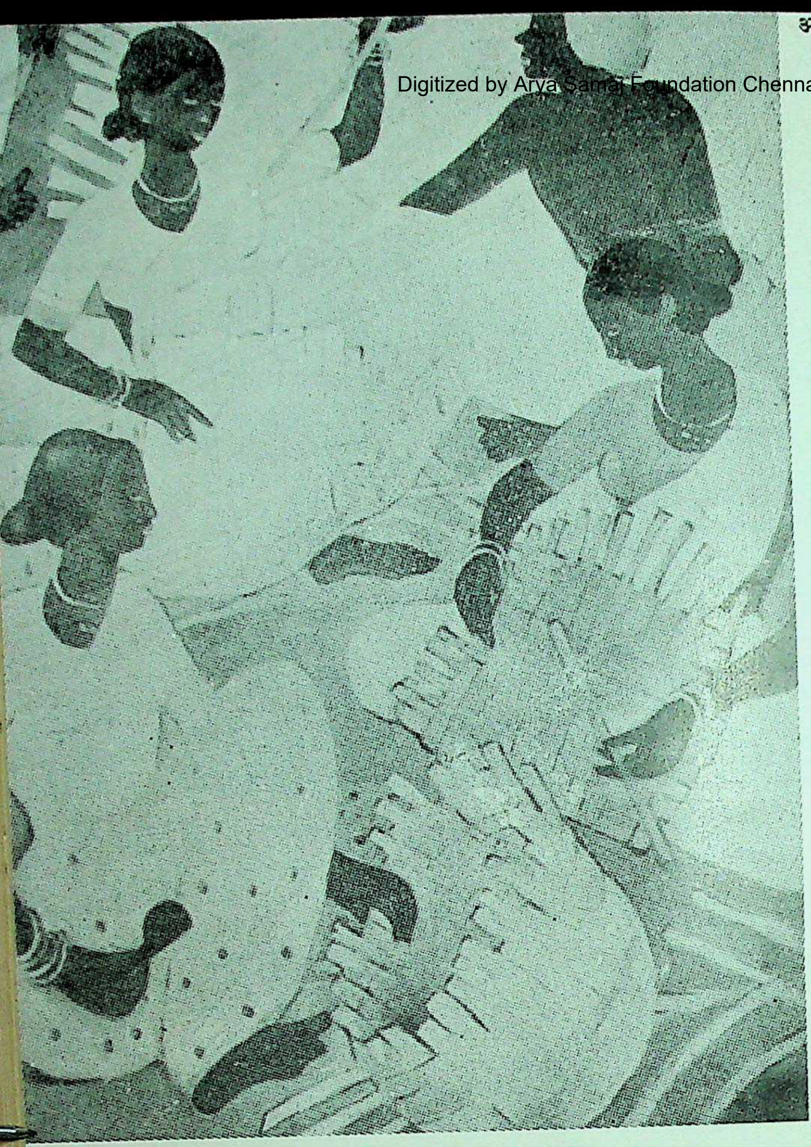

करियाँ बुनने वालीं
त्रकार : कुमारी उर्मिला शा

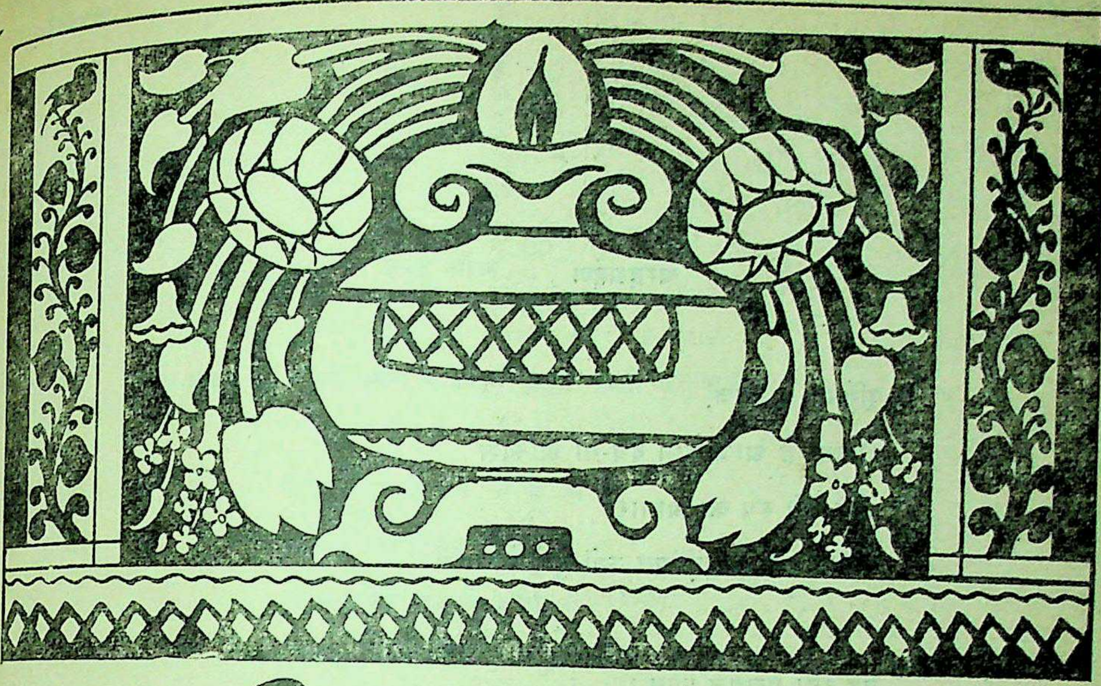

वर्ष ८ **अजन्ता** अङ्क १०

गीत

खिरकियाँ मन की खुली रखिए, न जाने कौन कब आ जाय

हर हृदय में रंग-बिरँगी रूप सोते जागते रहते
रात में तम-पुंज जम जाते, सुबह में स्वर्ण हैं बहते
प्यार की बाँहें खुली रखिए, न जाने कौए कब भा जाय

रंग धरती में सभी हैं सभी के ऋतुराज अपने हैं
सभी के हैं ग़म-खुशी अपने, सभी के नाज़ अपने हैं
व्योम सी आँखें खुली रखिए, न जाने कौन कब आ जाय

हर नए आघात में कुछ दर्द ऐसे मौन छन जाते
प्राण के भीतर समा कर जो, अमर संगीत बन जाते
प्राण की वंशी खुली रखिए, न जाने कौन कब गा जाय

फैकल्टी आफ आर्ट्स
बड़ौदा-विश्वविद्यालय, बड़ौदा

—रामदरश मिश्र

चन्द्रग्रहण

पूर्णिमा है आज,
दीखता है आज कैसा दूध-सा आकाश
चाँद जैसे रूप का आगार
चाँदनी शीतल सुवासित ज्यों तुम्हारा गात

वह रहा मलयज पवन,
नीरव-अबोध निशीथ
सुमुखि ! जिस तरह निश्छल तुम्हारी प्रीति

किन्तु;
मेरा एक अनुनय मान लो प्रिय आज,
काढ़ घूँघट खूब लम्बा जा छिपो—
उस अँधेरे भवन में चुपचाप
चन्द्रग्रहण आज !

राहु आएगा ग्रसित करने गगन का चाँद
और; भ्रम में पड़ गया यदि वह
तो सुनो हे चन्द्रमुखि !
ग्रस ले न तुमको वह !

—कीर्तिनारायण मिश्र

शोकहरा, पो. बरौनी,
मुँगेर (बिहार)

शरद् साँझ

आज शरद् की साँझ गगन में केशर कुसुम कली सी फूली

दिशा सुन्दरी के माथे से
फिसल रही बिन्दिया सिन्दूरी
झाँक श्वेत घन के दर्पण में
मुस्काईं आँखें अँगूरी
छितिज महावर रचा रही है लिए कनक रज रंजित तूली

किरनों की रेशमी चूड़ियाँ
लेकर आया चाँद बिसाती
सजा रही चम्पई कलाई
गदराई धरती सकुचाती
निंदिया भींगे पलक पालने में सपनों की सखियाँ झूली

गूँथ रही है खुले बाल में
फूल सितारे निशा नवेली
पवन हठी झकझोर गया है
कलियों की सुकुमार हथेली
थके पाल के पर सतरंगे नयनों में नौकाएँ भूली
आज शरद् की साँझ गगन में केशर कुसुम कली सी फूली

—नन्दकिशोर राय

प्रार्थना

खोलो हे, प्राणों का बन्धन
पुलकाओ जीवन का कण-कण
मधुर-मधुर बन कर दक्षिण का
मलय पवन, सुरभित मश्चेतन
हृदय-द्वार के पट खोलो हे
खोलो हे प्राणों का बन्धन
सुन्दर कर, निर्मल कर, निश्छल
दुर्लभ ये मेरे जीवन-क्षण
दुख-सुख का घट, चिर-परिवर्तन
जीवन क्या ? उसका ही अंकन
दिखलाता वह ओस-बिन्दु सम
तव शाश्वत प्रतिबिम्ब चिरन्तन
गुँजे वेदना का स्वर उसमें
पा तन्त्री का तव स्वर-गुञ्जन
डालो हे, डालो करुणा का
रस-भाण्डार, अनन्त, सनातन
उठ गाए औदार्य-प्रभंजन
मिट जाए कार्पण्य-तमोघन
दिखलाओ हे, शुभ्र गगन में
प्रतिबिम्बित उर का मुख-दर्पण
प्रेम-पीयूष-भरा घट मेरा
चुगते हों ये प्राण-हंस नित
मानसरोवर के मुक्ता घन
हृदय-ग्रंथियाँ बन कर उर-व्रण
हाय, कर रहीं मुझे अचेतन
इन्हें खोल दो, खोलो हे प्रभु
निज हाथों से ये चिर-बन्धन
मुक्त करो राग को पिंजर से
प्राप्त करें वह वन का प्रांगण
खोलो हे, खोलो प्राणों का
चिर-बन्धन यह द्वन्द्व पुरातन

—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

क्लब रोड,
मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार)

परिभाषा

अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
ज़िन्दगी की एक परिभाषा

सही है राह में चलते बटोही
साथ के ढाढ़स बाँधते हैं
मगर कुछ मोड़ ऐसे हैं—
कि सहसा हाथ से हाथ बरबस छूट जाते हैं

अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
ज़िन्दगी की एक परिभाषा

झुलसते गगन पर मनभावनी
घिरती घटाएँ जो सघन हो कर
उन्हें हर ओर छितराती
उड़ाती है बड़ी ही क्रूरता से वायु की ठोकर।

अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
ज़िन्दगी की एक परिभाषा

यहाँ का मोह ममता से भरा आँगन
मगन यह सांस की पुतली
मगर कब साथ दे पाते सगे-स्नेही
बुलाती जब किसी अज्ञात की उंगली

अकेलापन, अकेलापन, अकेलापन
यही है ठीक शायद
ज़िन्दगी की एक परिभाषा

—कु० रमा सिंह

चाँदनी का बन्दी

सघन पातों से छन-छन आती
चाँद की सी चाँदनी
सुखलासिनी

झरते फूल मौलसिरियों के
बाँध रही है चाँदनी
उन्मादिनी

प्राण बहुत मादक समीर है
बसा तुम्हारे केश में
गंध की प्यास भर

मुस्कानों में बाँधा तुमने
चँदा को ही चौंधिया
बड़ा मधुर विश्वास भर

ज्योत्स्ना के तारों से बुन दूँ
गात सलोना अलस तुम्हारा
रीझ कर

कलियों की सुगंध भर भर कर
झूम रही है चाँदनी
मधुहासिनी

सारी रजनी धूप छाँव का फूल है
झँकृत होती स्वप्नवती
अनुरागिणी

यह अधखुले नयन मैं देखूँ
प्राण तुम्हारे, कितने जीवन
झूम कर !

एक व्याप्ति में डूबा सारा विश्व है
स्पर्शों से भी परे स्पन्दना
चूम कर !

—रांगेय राघव

आगरा

गीत

माँझी ढूँढ़ें चलो किनारा !

रात चाँदनी की कलियाँ
अब खिल खिल बन्द हो गईं
नभ-गंगा की उजली राहें
भी तो मन्द हो गईं;

अब प्रकाश में भीग गया
लो अवनी अवनी अम्बर सारा !
माँझी ढूँढ़ें चलो किनारा !

अनजाने पथ पर भी काँटों का
लेकर विश्वास बढ़ गए,
सागर पार किए पर्वत पर
भी करते उपहास चढ़ गए,

अपना पथ आलोकित करता
नभ का प्रति लघु तारा !

आँधी तूफ़ानों में हमने
आँख मिचौनी खेली,
मिटे न हम, हमने बिजली की
सौ सौ घातें झेलीं,

कब प्रकाश को रोक सका है
जग का सब अन्धियारा
माँझी ढूँढ़ें चलो किनारा !

लाओ मैं पतवार पकड़ लूँ
तुम नव-पथ दिखलाओ,
स्वर लहरी से माँझी
मचली लहरों को समझाओ,

हम बहने वालों को जल्दी
मिलता नहीं किनारा !
माँझी ढूँढ़ें चलो किनारा !!

६७ बी० बाई का बाग,
इलाहाबाद

शकुन्तला सिरोठिया

दो गीत

(१)

कोई तो होगा ही साथी
कहने लगी कली डाली से
डाली बोली यूँ माली से
साथ न देगी जब ये दुनियाँ
हाथों में ले लेगी माटी
कोई तो होगा ही साथी
जब न किनारा दिख पाएगा
मन झंझा में घबराएगा
लहरों पर विश्राम मिलेगा
बीच भँवर में भोले माँझी
कोई तो होगा ही साथी
स्नेह चुकेगा जब प्राणों का
नेह मिलेगा तूफ़ानों का
सो जाएगी अंधकार की बाँहों में दीपक की बाती
कोई तो होगा ही साथी

(२)

मन उदास है मेरा
धूमिल सी रजनी की बेला
अब न शेष जागृति का मेला
दूर दूर तक जाग रहा है
केवल सान्द्र अँधेरा
मन उदास है मेरा
सपनों की आरती सँजोए
दिशा दिशा के प्रहरी सोए
लूट न ले आकर कोई
सपनों का कोष लुटेरा
मन उदास है मेरा
सोच रही हूँ मैं सूने में
खोज रही हूँ मैं सूने में
कितनी मंजिल शेष अभी है
कितना दूर सवेरा ?
मन उदास है मेरा !

—श्रीमती शैल रस्तोगी

रिसच स्कॉलर,
काशी विश्वविद्यालय, बनारस

कुमारिल और बौद्ध : क्षणभंगवाद

परिवर्तन और स्थायित्व दोनों का ही हमें समान रूप से अनुभव होता है, यदि अनुभव को ही प्रमाण माना जाए तो कहना पड़ेगा कि परिवर्तन और स्थायित्व दोनों ही सत्य हैं और दोनों का पलड़ा बराबर है। किन्तु दर्शन-शास्त्र के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि दैनिक अनुभव की उपेक्षा करते हुए कुछ दार्शनिकों ने इनमें से एक को परम सत्य माना है और दूसरे को एकदम मिथ्या। स्थायित्व को एकमात्र तत्व मानने वालों की पूर्वी और पश्चिमी दर्शन में कमी नहीं है। भारत में शंकराचार्य का अद्वैतवादी दर्शन इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसके विपरीत परिवर्तन को एकमात्र तत्व मानने वालों की भी कमी नहीं है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक हिरेक्लिटस (Heraclitus) और आधुनिक फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसां (Bergson) ऐसे ही विचारक हैं। परन्तु परिवर्तनवाद जिस चरम रूप में बौद्ध-दर्शन में पाया जाता है उसकी कहीं उपमा नहीं है। परिवर्तनवाद का यह चरम रूप क्षणभंगवाद के नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से, परिवर्तनवाद को एक विशद और तर्क-पुष्ट रूप देने में बौद्ध-दर्शन ही सर्व प्रथम है और इसका सांगोपांग खण्डन करने वालों में कुमारिल सर्व प्रथम हैं।

क्षणभंगवाद : बौद्ध-मत यह है कि परिवर्तन के नीचे स्थायी वस्तु कोई है ही नहीं। सुवर्ण का उदाहरण लीजिए। पिण्ड के रूप में जो सोना है स्वर्णकार उसको एक गहने का रूप देता है, फिर उस गहने को गलाकर वह दूसरे गहने का रूप देता है। साधारण दृष्टि से हम कहते हैं कि पिण्ड-रूप, एक गहने का रूप और फिर दूसरे गहने का रूप स्वर्ण के परिवर्तन हैं, किन्तु स्वर्णत्व इन परिवर्तनों के नीचे स्थायी है। बौद्ध कहते हैं कि यह साधारण दृष्टि भ्रम है : परिवर्तन होता है और अमूल्य परिवर्तन होता है; वस्तुओं में स्थायित्व है ही नहीं। वस्तुओं की सत्ता एक क्षण तक ही रहती है। अगले क्षण में उनका बिलकुल नाश हो जाता है और उनके स्थान पर एकदम नई वस्तुओं की उत्पत्ति होती है तथा ये वस्तुएँ भी केवल एक क्षण तक ही रहती हैं।

अपने मत की पुष्टि में बौद्धों ने जो युक्तियाँ दी हैं उनमें से पहिली सत् के लक्षण पर आधारित है। सत् का जो लक्षण बौद्धों ने दिया है वह यह है कि वही सत् अर्थात् सत्तावान् है जिसके अन्दर 'अर्थक्रिया' की शक्ति हो—अर्थक्रिया की शक्ति से तात्पर्य है कार्य उत्पन्न करने की शक्ति। जिस वस्तु की वास्तव में सत्ता है वह कोई न कोई कार्य या फल अवश्य उत्पन्न करेगी। यदि कोई वस्तु सत्तावान् होकर भी दूसरी वस्तुओं पर कोई प्रभाव न डाले तो उसका होना वैसे ही है जैसे न होना। किसी सद्वस्तु का न्यूनतम प्रभाव यह है कि वह किसी ज्ञाता में अपना ज्ञान उत्पन्न करती है। वस्तुओं का जो ज्ञान ज्ञाता को होता है उसके जितने कारण हैं उनमें वह वस्तु भी एक कारण—"आलम्बन-प्रत्यय" है जिसका ज्ञान होता है। निस्सन्देह कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका वस्तुतः हमें ज्ञान नहीं होता; फिर भी उनकी सम्भावित सत्ता का तो ज्ञान होता ही है और यहाँ तक उनके अन्दर कार्योत्पत्ति की शक्ति-—अर्थक्रिया है ही।

अब यह देखिए कि सद्वस्तु के इस लक्षण से क्षणिकत्ववाद कैसे सिद्ध होता है? सद्वस्तु जिन कार्यों को उत्पन्न करती है वे या तो एक साथ उत्पन्न होते हैं या एक-एक करके। यदि जितने भी कार्यों को उत्पन्न करने की उसमें क्षमता है वे एक साथ होते हैं, तो उसके अन्दर अगले क्षण में अर्थक्रिया का अभाव हो जाता है और परिणामतः सत् के लक्षण के अनुसार वह असत् हो जाती है। इस प्रकार क्षणभंगवाद की सिद्धि हुई। दूसरा विकल्प अर्थात् कार्यों का एक-एक करके उत्पन्न होना तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि जिस कार्य की किसी वस्तु में सामर्थ्य है उसके होने में 'क्षेप' अर्थात् विलम्ब हो ही नहीं सकता। कहा जा सकता है कि किसी कारण से कार्य उत्पन्न होने में एक "सहकारी" कारण की आवश्यकता हो सकती है और इसलिए यदि सहकारी कारण उपलब्ध नहीं है तो कार्य के होने में विलम्ब होगा। इसका उत्तर बौद्धों ने यह दिया है कि यदि कार्य के लिए सहकारी कारण की आवश्यकता हो

तो इसका अर्थ यह होगा कि उस कार्य की क्षमता यथार्थतः उस वस्तु में नहीं है बल्कि उस 'अतिशय' में है जो सहकारी कारण उस वस्तु में उत्पन्न करता है। और यह अतिशय उस वस्तु से भिन्न है; अभिन्न नहीं; क्योंकि उसके अभिन्न होने से वह भी कार्योत्पत्ति के लिए उतना ही असमर्थ होगा जितनी एकाकी वस्तु है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु से भिन्न भी है और अभिन्न भी क्योंकि इस प्रकार तो वस्तु में आत्म-विरोध हो जाएगा। अतः यह निष्कर्ष निकला कि वस्तु की सत्ता क्षणिक होती है और अगले क्षण में उसका पूर्णतया विनाश हो जाता है।

क्षणभंगवाद के पक्ष में दूसरी युक्ति का आधार है विनाश का 'ध्रुवभावित्व' अथवा अवश्यंभाविता। जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा और इसके लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विनाश वस्तुओं का स्वभाव है और स्वभाव का बाहरी कारण नहीं होता, जैसे अग्नि का स्वभाव ताप है और यह किसी बाह्य कारण से उत्पन्न नहीं होता। जो ध्रुवभावी है वह अविलम्ब हो जाता है; विनाश ध्रुवभावी है; अतः वस्तु के उत्पन्न होते ही विनाश अविलम्ब हो जाना चाहिए। अर्थात् वस्तुओं की सत्ता क्षणिक हुई।

यदि क्षण-क्षण पर विनाश हो रहा है तो हमें प्रतीत क्यों नहीं होता? इसका कारण बौद्ध यह बताते हैं कि यह इतना सूक्ष्म होता है कि इन्द्रियग्राह्य नहीं है। जिस घट को हम एक जैसा देखते हैं उसका यथार्थतः क्षण-क्षण पर विनाश हो रहा है। इस क्षण का घट पूर्व क्षण के घट से नितान्त भिन्न है; फिर भी इसका हमें आभास नहीं होता, इसलिए कि दोनों में अत्यधिक सादृश्य है। इस सादृश्य के कारण ही हमें अलग-अलग क्षणों के घटों के एक ही होने का भ्रम होता है और यह भ्रम तब तक रहता है जब तक कि दण्ड प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते। दण्ड-प्रहार को लोग घट के विनाश का कारण मानते हैं; लेकिन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विनाश के लिए कारण की आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में दण्ड-प्रहार एक नई सन्तान—"कपाल-सन्तान" का कारण है जिसका प्रारम्भ "घट-सन्तान" की समाप्ति पर होता है। जिसे हम एक घट समझते हैं वह बौद्ध-दर्शन में सादृश्य रखने वाले क्षणिक घटों की एक शृंखला—"सन्तान"—है।

किसी वस्तु का जो विनाश होता है और जिसे हम किसी बाह्य कारण का कार्य समझते हैं, वह या तो वस्तु से भिन्न है या अभिन्न। वह अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कारण हम वस्तु के कारण से भिन्न मान रहे हैं। वस्तु से भिन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में विनाश होने पर भी वस्तु दिखाई पड़ती, जैसे पट के होने पर घट पूर्ववत् दिखाई पड़ता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि विनाश वस्तुओं का स्वभाव है, कारणजनित नहीं। और यह निष्कर्ष अनुभव से भी सिद्ध होता है। किसी वस्तु को कितनी ही सावधानी से सुरक्षित रखिए, फिर भी एक दिन उसका विनाश हो ही जाता है। सावधानी से रखा हुआ घड़ा आघात के बिना भी स्वयं नष्ट हो जाता है। वस्तु का इस प्रकार विनष्ट हो जाना तब तक समझ में नहीं आता जब तक हम यह न मानें कि उत्पत्ति के बाद ही धीरे-धीरे सूक्ष्म रूप से उस वस्तु का नाश होता रहा। इस क्रमिक नाश की जो अवस्थाएँ हैं वे अनेक हैं और इस प्रकार परस्पर भिन्न हैं। अतः एक क्षण की वस्तु को इतर क्षणों की वस्तुओं से भिन्न होना चाहिए; अर्थात् वस्तुओं की सत्ता क्षणिक है।

स्थायित्व का अनुभव एक भ्रम है। दीपक की ज्वाला क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती है: ऐसा सभी मानते हैं; फिर भी वह हमें एक अर्थात् स्थायी दिखाई देती है; ऐसा इसलिए कि विभिन्न क्षणों की ज्वालाओं में रूप सादृश्य होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, लेकिन भ्रमवश स्थायी दिखाई देती है।[1]

क्षणभंगवाद का खण्डन : कुमारिल-मत में बौद्ध निष्कर्षों युक्तियों का ज़बरदस्त खण्डन हुआ है। बौद्ध निष्कर्ष जिन मान्यताओं पर आधारित हैं वे स्वयं निराधार हैं। पहले सत्ता के लक्षण को ही लीजिए। बौद्ध-मत सत्ता और अर्थक्रिया में अभेद मानता है: जो सत् है वह कार्य उत्पन्न करता है और जो कार्य उत्पन्न करता है वह सत् है। लेकिन अर्थक्रिया तो सत्ता का एक गुण है।

---

[1] पार्थसारथि : शास्त्र दीपिका, पृ० १४३-४४; सर्वदर्शन संग्रह, बौद्ध-दर्शन।

सद्वस्तु में तो कार्य उत्पन्न करने का गुण रहता है और गुण और गुणी एक ही नहीं होते। ऐसा कोई नियम भी नहीं है कि जिसकी सत्ता है वह सदैव कार्य उत्पन्न करता ही रहे। सत्ता और क्रिया एक ही चीज़ नहीं हैं। और यह नियम भी नहीं है कि सभी सद्वस्तुएँ अपने अपने ज्ञान का "आलम्बन-प्रत्यय" हों ही। बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनका किसी को भी ज्ञान नहीं है। ज्ञानोत्पत्ति का कारण तो सामने की वस्तुएँ ही बनती है और जिसमें वे कारण बनती हैं वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अनुमान तथा अन्य प्रत्यक्षेतर ज्ञान में वस्तुएँ स्वयं कारण नहीं होतीं। यदि सभी सद्वस्तुओं को ज्ञानोत्पत्ति का कारण माना जाए, तो इस प्रकार उनकी अर्थक्रिया क्षमता एक ही क्षण में नष्ट हो जाएगी और सम्पूर्ण जगत् अगले ही क्षण शून्य हो जाएगा, क्योंकि कार्यों की एक-एक करके उत्पत्ति होने को तो बौद्ध मानते ही नहीं। इस तरह बौद्ध अपनी युक्ति के जाल में स्वयं फंस जाते हैं।

कोई सद्वस्तु अपने कार्यों को एक-एक करके उत्पन्न नहीं कर सकती : यह बौद्ध मान्यता भी झूठी है। एक वस्तु अकेली अपने कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि उसे सहकारियों अथवा सहायकों की आवश्यकता होती है; और इस प्रकार सहायकों की प्राप्ति-पर्यन्त कार्योत्पत्ति में विलम्ब रहता है। अंकुर बीज का कार्य है; लेकिन अंकुर की उत्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक भूमि, जल इत्यादि सहायता न करें और बीज की सत्ता भी सहायता मिलने तक बनी रहती है। बौद्ध कहेंगे कि वास्तव में अंकुर का कारण बीज नहीं है, बल्कि बीज का भूमि जल से होने वाला संयोग है। ठीक है, लेकिन संयोग भी तो बीज की विशेषता है। इस प्रकार अंकुरोत्पत्ति का उपादान कारण है बीज और उसका भूमि और जल से संयोग सहकारी कारण है। यदि सहकारियों की आवश्यकता न होती तो गोदाम में पड़ा हुआ बीज भी अंकुर उत्पन्न कर सकता है।

बौद्ध कहेंगे कि जो बीज भूमि और जल से संयोग करता है वह जो पहले गोदाम में पड़ा था उससे भिन्न है। क्योंकि वह उस चरम अवस्था में पहुँच चुका है जो अंकुरोत्पत्ति के लिए सहकारियों के बिना भी स्वतः पर्याप्त है, जबकि दूसरा नहीं। लेकिन बौद्धों से यह प्रश्न पूछा जा सकता है : यदि वह बीज जो अब चरम अवस्था में पहुँच गया है अभी तक गोदाम में पड़ा रहता तो फिर भी क्या वह बीजोत्पत्ति में समर्थ होता? यदि उसका उत्तर 'हाँ' में है, तो फिर कृषक सब झंझट क्यों उठाता है? और फिर बुद्ध के निर्वाण के लिए लोगों को उपदेश देने का ही उपयोग क्या है? क्योंकि उनको चरम अवस्था की प्राप्ति पर स्वयमेव निर्वाण प्राप्त हो जाएगा। अतः निष्कर्ष यह हुआ कि सहकारी कारण आवश्यक हैं और कार्यों का उत्पत्ति में क्रम भी होता है। इससे वस्तुओं का स्थायित्व सिद्ध होता है और क्षणिकता असिद्ध।

बौद्ध कहते हैं कि विनाश वस्तुओं का स्वभाव है और किसी बाह्य कारण पर निर्भर नहीं होता। लेकिन बौद्ध तर्क का बौद्धों पर ही तर्क करके पूछा जा सकता है कि विनाश वस्तु से भिन्न है या अभिन्न? यदि अभिन्न है तो वस्तु को भी विनाश की तरह अदृश्य होना चाहिए। यदि भिन्न है तो विनाश के बावजूद वस्तु को पूर्ववत् दिखाई देना चाहिए। यदि उस युक्ति से बचने के लिए बौद्ध यह कहें कि विनाश भिन्न या अभिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि यह अभावरूप है, तब तो वस्तु सदा के लिए स्थायी हो जाएगी। अतः बौद्धों को यह स्वीकार करना होगा कि विनाश वस्तुओं का स्वभाव नहीं है : विनाश अकारण नहीं होता, बल्कि किसी बाह्य कारण या कारणों पर निर्भर होता है।

यह कथन कि किसी वस्तु की अवस्थाएँ प्रति क्षण बदलती रहती हैं, सही हो सकता है और नहीं भी; लेकिन इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जिस वस्तु की वे अवस्थाएँ हैं वह प्रतिक्षण विनष्ट होती रहती है। एक फल पहिले हरा रहता है और फिर पीला हो जाता है। लेकिन पीला होने पर वह एकदम से दूसरा नहीं हो जाता। कोई भी चीज़ पैदा होती है, बढ़ती है, घटती है और नष्ट हो जाती है। लेकिन इन परिवर्तनों के मध्य वह अपनी एकता कम या अधिक मात्रा में बनाये रखती है। और इन सभी परिवर्तनों के बाहरी कारण होते हैं। जैसे किसी वस्तु की उत्पत्ति का कोई करण होता है, वैसे ही उसके विनाश का भी। उत्पत्ति और विनाश कोई भी स्वाभाविक नहीं है और यदि कोई स्वाभाविक है तो स्थिति। जब कोई चीज़ उत्पन्न या नष्ट होती है तब प्रत्येक के मन में कारण जानने की उत्सुकता होती है; लेकिन स्थिति के बारे में कोई भी प्रश्न नहीं करता कि उसका कारण क्या है? यदि

किसी वस्तु के विनाश का कारण उपस्थित न हो तो वह सदैव बनी रहेगी। यह देखा जाता है कि वस्तुएँ सावधानी से रखी हुई भी एक दिन नष्ट हो जाती हैं; उसका कारण यह है कि विनाशक शक्तियाँ धीरे धीरे अपना काम करती रहती हैं, न कि यह विनाश उनका स्वभाव है।

प्रत्यभिज्ञा वस्तुओं के स्थायित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है। जो वस्तु हम आज देखते हैं उसे कुछ समय पश्चात् देख कर पहचान लेते हैं। बौद्ध कहते हैं कि जिस वस्तु को हम पहचानते हैं वह वही नहीं होती जिसे हमने पहिले देखा था, बल्कि उसके सदृश होती होती है। लेकिन बौद्ध यदि एकता को नहीं मानते तो सदृश को भी नहीं मान सकते। सादृश का अर्थ यह है कि जिन वस्तुओं में वह है उनमें कुछ बातें बिल्कुल एक हैं। बौद्ध कहते हैं इस क्षण के घर और कुछ क्षण क घर में केवल सादृश है, अर्थात् कम-से-कम एक तत्व ऐसा है जो दोनों घरों में वर्तमान है। लेकिन जब पहले घर का बौद्ध दृष्टि से बिल्कुल नाश 'निरन्वय विनाश'—हो चुका है, तो उसका तत्व परवर्ती घर में गया कैसे? अतः या तो दोनों में सादृश नहीं है या है तो कम से कम एक तत्व ऐसा है जो क्षणिक है।[२]

'निरन्वय विनाश' का सिद्धान्त अगले क्षण में होने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असमर्थ है। जब वस्तु का पिछले क्षण में पूर्णतया विनाश हो चुका है, तो उसके स्थान में इस क्षण में जो सदृश वस्तु का जन्म हुआ वह कैसे सम्भव हो पाया? घर की उत्पत्ति मिट्टी से होती है और कुम्भकार उसे बनाता है। किन्तु, यदि मिट्टी का पिछले क्षण में पूर्णतया नाश हो चुका है तो कुम्भकार उपादान कारण के अभाव में उसे बनाएगा कैसे? इस क्षण के घर का पूर्णतया विनाश हो जाएगा और अगले क्षण उसी तरह का एक बिल्कुल नया घर पैदा होगा : ऐसी बौद्ध मान्यता है। लेकिन यह तो एक विलक्षण बात होगी कि कुम्भकार और उपादान-कारता क बिना ही एक नया घर पैदा जाय! बौद्ध विनाश के लिए किसी कारण की आवश्यकता नहीं मानता लेकिन इस प्रकार तो उत्पत्ति भी अकारणजनित हुई। बौद्ध घर-सन्तान में पूर्व-क्षण को उत्तर-क्षण का कारण मानते हैं। लेकिन ऐसा मानने का कोई औचित्य नहीं है। दो वस्तुओं में कारण-कार्य-सम्बन्ध उनके आगे पीछे होने मात्र पर निर्भर नहीं होता। यदि ऐसा होता तो पिछले क्षण का पट भी इस क्षण के घट का कारण माना जाता। कारण-कार्य-सम्बन्ध के लिए यह अधिक आवश्यक है कि कार्य-वस्तु की उत्पत्ति के पहले कारण-वस्तु का कोई व्यापार हो। इस क्षण के घट में अगले क्षण के घट की उत्पत्ति के लिए किसी व्यापार का होना ही सम्भव नहीं है; क्योंकि वह तो ज्यों ही जन्म लेता है त्यों ही समूल विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विनाश के समान उत्पत्ति भी अकारण होती है।

बौद्धों ने अपने मत की पुष्टि के लिए ज्वाला का दृष्टान्त दिया है। लेकिन यदि सही-सही देखा जाए तो ज्वाला का प्रतिक्षण विनाश नहीं होता। दीपक की बत्ती से प्रकाश के अणु निकल निकल कर ऊपर की ओर बढ़ते रहते हैं। प्रकाश के अणु बत्ती के समीपस्थ भाग में सर्वाधिक सघन होते हैं, अतः वे ज्वाला के रूप में दिखाई देते हैं। ज्वाला के ऊपर वे अधिक बिखरे हुए होते हैं और इसलिए केवल प्रकाश के रूप में दिखाई देते हैं। बत्ती के सिरे से प्रकाशाणुओं का निरन्तर प्रवाह चलता रहता है और ज्यों-ज्यों उनकी दूरी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वे विरल होते जाते हैं। ये अणु स्वयं क्षणिक नहीं हैं; बल्कि उनका एक स्थान में रहना क्षणिक है। ज्वाला के क्षेत्र में प्रकाशाणुओं का सन्निवेश एक होता है; इसलिए हमें ज्वाला के एक होने का भ्रम होता है। किन्तु इससे क्षणभंगवाद की सिद्धि नहीं होती। शरीर में भी, यद्यपि कुछ अणु बदलते रहते हैं, तथापि अवयवों का सन्निवेश एक ही रहता है, और यही प्रत्यभिज्ञा का आदार है। परिवर्तन होता अवश्य है, लेकिन वह आंशिक होता है पूर्ण नहीं। इस प्रकार परिवर्तन का स्थायित्व से कोई विरोध नहीं है।[3]

निष्कर्ष : कुमारिल और उनके अनुयायियों के क्षणभंगवाद का जो खण्डन किया है उससे असहमत होने का कोई कारण नहीं है। वस्तुतः परिवर्तन और स्थायित्व परस्पर सापेक्ष हैं : परिवर्तन के अभाव में

---

[२] शास्त्रदीपिका, पृ १४४-४५। [३] कुमारिल : श्लोक वार्तिक, शब्दनित्यता, ४२६-४०।

स्थायित्व और स्थायित्व के अभाव में परिवर्तन का होना असम्भव है। हमारा व्यवहार इन दोनों के ही आधार पर चलता है। यदि वस्तुएँ नितान्त स्थायी रहें तो हमारी उनको बदलने की चेष्टा व्यर्थ होगी और यदि वस्तुओं की सत्ता क्षणिक हो तो किसी वस्तु को पाने के लिए कोई परिश्रम ही क्यों करेगा? एकान्त परिवर्तन और एकान्त स्थायित्व दोनों ही हमारे अनुभव में नहीं आते। अतः कुमारिल का मत बिलकुल ठीक है।

तात्विक दृष्टि से सत्य क्या है: इसका निर्णय केवल तर्क से कर सकना कठिन ही है। व्यास ने तर्क को अप्रतिष्ठित—जिसका कोई दृढ़ आधार नहीं है—माना है ("तर्कोऽप्रतिष्ठः")। आचार्य शंकर ने "अनुभव"—इन्द्रियजन्य अनुभव नहीं—को श्रेष्ठ बताया है। लेकिन दुःख इस बात का है कि तात्विक विवेक के लिए साधारण जनों के पास तर्क से श्रेष्ठ कोई उपाय ही नहीं है।

३६-१, करेलाबाग़ कोलोनी,
इलाहाबाद

वास्तव में शायद बुद्ध ने भी परिवर्तनवाद के उस रूप की कल्पना नहीं की होगी जो रूप उनके शिष्यों ने प्रस्तुत किया। बुद्ध ने क्षणिकत्व का, वस्तुओं की विनश्वरता का उपदेश दिया था, इसलिए कि लोगों में विषय सुखों के प्रति वैराग्य पैदा हो और वे निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों। लेकिन यदि निर्वाण एक स्थायी शाश्वत स्थिति न होती तो उसका उपदेश ही व्यर्थ होता।

कुमारिल ने क्षणभंगवाद का जो खण्डन किया है वह यद्यपि सही है, तथापि उसके पीछे भी एक प्रमुख हेतु है और वह है शब्द को शाश्वत सिद्ध करना। हिन्दू-संस्कृति और धर्म का आधार वेद है और मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं: वेद शब्द-रूप है और उसकी कभी रचना नहीं हुई; अतः वेद के प्रामाण्य के लिए शब्द की नित्यता को सिद्ध करना और इसके लिए क्षणभंगवाद का खण्डन आवश्यक था।

—गोवर्धन भट्ट

जापानी लिपि

"......मैंने अनेक देश देखे हैं जहाँ के प्राकृतिक दृश्य रमणीक हैं और जहाँ के लोग सुन्दर हैं परन्तु मैंने जापान के लोगों में सुन्दरता के प्रति जैसा असाधारण प्रेम देखा वैसा अन्य देशों के लोगों में नहीं देखा।

मैं समझता हूँ कि जापानियों में सुन्दरता के प्रति प्रेम उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब कि वे अपनी भाषा के अक्षरों को लिखना प्रारम्भ करते हैं। जापानी भाषा अत्यन्त कठिन है और उसकी लिपि को सीखना भी एक असाधारण कार्य है। एक जापानी विद्यार्थी को अपनी लिपि के अक्षरों को कंठस्थ करने और लिखने में कम-से-कम ६ वर्ष लगते हैं। इस ६ वर्ष की अवधि में प्रत्येक जापानी जो कि अपनी भाषा की लिपि के अक्षरों के लिखने का अभ्यास करता है एक छोटा कलाकार बन जाता है क्योंकि उसे जो भी अक्षर बनाने पड़ते हैं उनका आलेखन सफ़ाई और सुन्दरता से करना पड़ता है और इस प्रकार अक्षरों के लिखने में पूर्णता प्राप्त करनी पड़ती है।......"

**—जेम्स ए. मिचेनर के
एक लेख में से**

हमारे साहित्य की लोक-यात्रा

स्वर्ग से गंगा की धारा जिस भाँति आशुतोष शंकर के मस्तक की विभूति और नगराज हिमालय की अधित्यका की मिट्टी लेकर लोक की नीची भूमि को सींचती हुए महासागर में विलीन हुई उसी भाँति हमारे साहित्य की सुरसरि ऋषि मानस से वेदों के "रसो वै सः" लेकर उपनिषद् और पुराणों की कथाओं में बहती हुई तुलसी, सूर, कबीर, नानक, रैदास आदि भक्तों के लोकानुराग के साथ लोक की सामान्य भूमि पर फैल कर पूर्णात् पूर्ण की ओर चली। भारतीय साहित्य की इस लोक-यात्रा में वैदिक-काल से भक्ति-काल तक कोई व्यवधान नहीं पड़ा। हमारा साहित्य निरंतर जीवन के उच्चतम सत्यों को लोक-जीवन में उँडेलता रहा। साहित्य में एक ऐसी ऋषि-शैली का विकास हुआ जिसमें कठिनतम सत्य भी सरलतम बन कर लोक-मानस में पिघल गया और हमारा सम्पूर्ण लोक-जीवन संस्कृति और साहित्य के रस से ओत-प्रोत हो गया। देश की कोटि-कोटि जनता में कथा-पुराण, रामलीला, रासलीला, काव्य-संगीत के प्रति जो उत्साह दिखाई पड़ता है वह उसी का परिणाम है।

उसी के फलस्वरूप शताब्दियों तक पराधीनता के गर्त में गिरे रहने के बाद भी हमारे देश की जनता साहित्य के संस्कारों से रहित नहीं है। उसका हृदय कथा-पुराण, काव्य और साहित्य के रस से आर्द्र है। प्रत्येक गांव में ऐसे सहृदय मिलते हैं जिनकी रसना पर साहित्य की मधुर उक्तियाँ थिरकती रहती हैं, जो बात बात में अपनी फबतियों से जनता का हृदय सरसाते रहते हैं। जनता के सांस्कृतिक प्रतिनिधियों की तो बात ही क्या? इन भाट-चारण, पंडित-पुरोहित, भक्त और कथावाचकों की रसना पर तो चाणक्य और विदुर की नीति, भागवत-रामायण की कथाएँ, मनु-याज्ञवल्क्य के विधि-निषेध, तुलसी की चौपाइयाँ, सूर के पद, कबीर की साखियाँ, रसखान के कवित्त और गिरधर की कुण्डलियाँ सदैव अठखेलियाँ करती रहती हैं।

तुलसी और सूर तो सम्पूर्ण शास्त्र-पुराण, धर्म और दर्शन का सार लेकर जनता के हृदय में रमे हुए हैं। कबीर, दादू, नानक, मलूक, रैदास आदि भक्तों का प्रभाव भी कम नहीं है। इन भक्त कवियों ने लोक के एक विस्तृत मरु-खण्ड को सींच कर हरा भरा रखा है। इस मरु-खण्ड के निवासी पासी, चमार, धोबी, दुसाध, धुनिया, घटिकार आदि दलित वर्ग के लोगों की खँजड़ी और करताल से इनका राग ध्वनित होता रहता है। ऊजड़ से ऊजड़ प्रदेश में भी रमते जोगियों की सारंगी और भिखारियों के एकतारों से साहित्य की इस लोक-यात्रा की पद ध्वनि झंकृत होती रहती है।

इन महाप्राण कवियों के ग्रन्थों को पूज्य भाव से बेठनों में लपेटे उनके भक्त अनुयायी गाँवों में घूमते रहते हैं और अपने सेवकान को उनका रस चखाया करते हैं। उनके प्रभाव से लोक की अत्यन्त उपेक्षित भूमि पर भी कैसे अद्भुत फूल खिलते हैं निम्नलिखित उल्लेख से उसकी एक झांकी मिल सकती है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के दिन थे। स्वर्गीय श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी कानपुर के गाँवों की पैदल यात्रा कर रहे थे। एक दिन जेठ की दुपहरी में हमारा दल एक पुरवे में पेड़ के नीचे विश्राम करने बैठ गया। वह पाँच सात घरों का चमारों का पुरवा था। सामने की झोंपड़ी से एक बूढ़ा आदमी निकला। वह हम लोगों से कुछ कहना चाहता था। किन्तु कुछ सोच कर पुनः झोंपड़ी में घुस गया और उसमें से तम्बूरा लाकर हमारे पास बैठ कर गाने लगा :

"साधो! सहज समाधि भली।
गुरु प्रसाद जा दिन ते जागी दिन दिन बढ़त चली

× × ×

आँख न मूँदों कान न रूधों तनिक कष्ट नहिं धारों
खुले नयन पहिचानों हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारों"

उसके मधुर स्वर में हम लोग तन्मय हो चले इतने ही में झोंपड़ी के भीतर से एक नौजवान चिल्लाता हुआ बाहर निकल पड़ा। एक पुरुष और दो मैली कुचैली स्त्रियाँ उसे पकड़ने की चेष्टा कर रही थीं। पास के कई आदमी दौड़ पड़े। हम लोग भी आश्चर्य से

१६५६.

खड़े हो गए। लोगों ने कहा वह नौजवान भगत का एकलौता पुत्र है जो कई दिनों से सन्निपात से पीड़ित है।

भावुक विद्यार्थी जी ने भगत का तमूरा पकड़ लिया, "अजीब आदमी हो भगत! तुम्हारे बुढ़ापे की लकड़ी टूट रही है, एकलौता पुत्र मृत्यु के मुख में है और तुम हम लोगों को भजन सुना रहे हो।"

भगत हँस पड़ा, यह सब माया का खेल है धर्मावतार! चलता रहता है। "माया महाठगिनी हम-जानी" इस पर मेरा क्या वश चल सकता है? इस गाँव में जो दवा-दारू मिल रहा है हो रहा है। इसी में धर्म-कर्म भी तो निभाना है। आप लोग प्रतिनिधि देव हैं। प्रभु की कृपा से हमारे द्वार आए हैं। धूप कितनी कड़ी है? किन्तु मैं जाति का चमार हूँ। आप लोगों को शीतल जल नहीं पिला सकता सरकार! सोचा धर्म कैसे रहे? तब साहब ने सुझाया मेरा ही रस पिला कर अतिथि सत्कार क्यों नहीं करते?

विद्यार्थी जी इस घटना से इतने प्रभावित हुए कि वह गाँव में जहाँ कहीं जाते पहले तुलसी, कबीर, नानक और रैदास के भक्तों की खोज करते। इस घटना की चर्चा कर वह प्रायः किया करते। उस पिछड़े हुए गाँव में भगत जैसा ऊँचा आदमी किसने पैदा किया? स्कूल-कालेज के अध्यापकों ने? नहीं उनके कारखानों में तो सरकारी मशीनरी के लिए चमकीले पुर्जे ढाले जाते हैं। यह तो जनता के उस कवि कबीर की करामात है।

वेनीपुरी जी ने 'माटी की मूरतें' नामक अपने ग्रन्थ में ऐसे कई देहाती चरित्रों का वर्णन किया है।

भक्तिकाल के अन्त तक हमारे साहित्य की यह लोक-यात्रा निरवच्छिन्न चलती रही। रीति काल में उसकी दिशा बदल गई। हमारा साहित्यकार लोक पथ छोड़ कर राजपथ पर चल पड़ा। उसने लोकाश्रय छोड़ राजाश्रय स्वीकार कर लिया। उस काल के अधिकांश प्रमुख कवि नायिकाओं का नख-शिख वर्णन कर उनकी हाव भाव की मुद्राओं से राजा-महाराजाओं का मनोरंजन करने लगे। उन्हें जनता के भाव-भूमि की चिन्ता नहीं रही।

आधुनिक काल में जब युग परिवर्तन हुआ तो हमारा साहित्यकार समाज की ओर झुका। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में समाज-सुधार और राष्ट्रीयता के भावों का समावेश किया जो आगे चल कर काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि साहित्य की विविध धाराओं में प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ। यह आशा हो चली कि हमारे साहित्य की लोक-यात्रा पुनः आरंभ हो जाएगी और साहित्य की ये धाराएँ जन मानस में उमड़ चलेंगी। किन्तु बात ऐसी नहीं हुई साहित्य जनता से दूर रह गया। इसके दो प्रमुख कारण थे: पहला विदेशी शासन का प्रभाव और दूसरा नागरिक जीवन की प्रधानता।

अंग्रेजी शासन का दबदबा बहुत प्रबल था। शासकों के प्रभाव में हमारे नव शिक्षित वर्ग पर विदेशी रंग चढ़ता जा रहा था। शासक कर्मचारियों की तो बात की क्या? वह तो शासन की प्रेस्टिज (रोब) के अंग बन रहे थे। शिक्षा संस्थाओं के अध्यापक और प्राध्यापक की भेष-भूषा, बोली-भाषा में साहब बन कर जनता से अलग रहने में अपनी शान समझने लगे। साथ ही नागरिक जीवन की प्रधानता हो चली। हमारे शासकों के केन्द्र स्थान नगर थे। उनकी संस्कृति नागरिक थी। रेल, तार, डाक, सड़कें, नए ढंग के स्कूल कालेज और कचहरियों के विकास के फलस्वरूप नागरिक जीवन का प्रभुत्व बढ़ गया। प्रेस और पत्र-पत्रिकाओं ने उसका गौरव और बढ़ा दिया। शिक्षित वर्ग गाँव छोड़ कर नगरों के इस वैभव की ओर चल पड़ा। हमारा नव शिक्षित साहित्यकार भी जनता जनार्दन का साथ छोड़ कर नगरों में स्थान खोजने लगा। वहाँ उसके सत्कार के लिए नवीन समाज उत्सुक था। स्कूल-कालेज, पत्र-पत्रिकाएँ, विविध प्रकार की उदीयमान सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक संस्थाएँ फूल माला लिए उसके स्वागतार्थ खड़ी थीं। उसे स्थान मिल गया। नगरों में यूरोप के नागरिक साहित्य के साथ उसकी निकटता स्थापित हो गई। उसकी भाषा शैली उस उस साहित्य की रोमैंटिक घात ने प्रभावित कर लिया। जीवन की जलती धूप छोड़ कर वह छाया पथ से चलने लगा।

जब राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल पड़ा और बैरिस्टर गांधी लंगोटी धारी महात्मा बन कर जनता में पूज्य हुए, चारों ओर उनकी जयकार के नारे लगने लगे तो हमारा साहित्यकार भी गुन गुनाया। उसने अपने साहित्य में जनता का स्वर ऊँचा किया। किन्तु नगर की पक्की सड़कें छोड़ कर जनता की पगडण्डी पर चलने

का उसे साहस नहीं हुआ। फलतः अपनी रचनाओं में वह जनता का सच्चा रूप और भाव ग्रहण नहीं कर सका। उसके साहित्य में जन प्रिय प्रतीकों का अभाव हो गया। उसके भीतर वह जनता के हृश्य का रस नहीं घोल सका। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से उसकी सांस्कृतिक कूटस्थता भंग हो गई। जन-पथ को छोड़ देने के कारण सामाजिक जागरूकता विफल हो गई। जिस दशा का वह अपने निकट जीवन में अनुभव नहीं कर रहा था उसकी सच्ची अभिव्यक्ति उसके साहित्य में कैसे हो सकती थी? फलतः उसका साहित्य जनता के हृदय में स्थान नहीं बना सका। आधुनिक साहित्य की कोई भी पोथी स्कूल-कालेज, पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकालय और संग्रहालयों की अलमारियों से निकल कर जनता के बेठनों में नहीं पहुँच सकीं। जन साधारण की तो बात ही क्या? उसके नवीन प्रतिनिधि शिक्षक, सुधारक एवं नेताओं ने भी आधुनिक साहित्य के प्रति कोई विशेष अनुराग प्रदर्शित नहीं किया। जनता के बीच वे उसके सन्देश-वाहक नहीं बने। रूसी जनता में जो लोकप्रियता टालस्टाय और गोर्की को मिली; फ्रान्सीसी जनता में जिसे रूसो और वाल्टेयर ने प्राप्त किया; हिन्दी जनता में वह लोकप्रियता किसी आधुनिक साहित्यकार को नहीं मिली।

आधुनिक साहित्य का वैभव बढ़ा, उसका बहुमुखी विकास हुआ, उसके भीतर विश्व-साहित्य के बहुमूल्य रत्नों का संचय हुआ, किन्तु जनता को उसका भोग नहीं मिला। कोटि-कोटि जनता अपने साहित्य महारथियों की कृतियों से अपरिचित रह गई। मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द प्रसाद, जैनेन्द्र, पन्त, निराला, दिनकर, बच्चन, अज्ञेय सब नागरिक सीमा तक सीमित रह गए। उनके साहित्य का कोटि-कोटि जनता के लिए कोई उपयोग नहीं हुआ।

आज हिन्दी-प्रदेश की सर्व साधारण जनता अपने साहित्य के नवीन रस से जितनी अनभिज्ञ है संसार के किसी देश की जनता अपने साहित्य के ताज़े रस-प्रवाह से शायद ही उतनी अपरिचित हो।

कुछ लोग इसका सारा दोष जनता के अज्ञान के मत्थे मढ़ कर सन्तोष कर लेते हैं। वह अपने देश की जनता की सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्कारिता पर पूरा ध्यान नहीं देते। इस बात पर तनिक भी विचार नहीं करते कि राजा महाराजाओं के युग में जो साहित्य जनता के साथ रहा, प्रजातन्त्र और साम्यवाद के युग में वह जनता से अलग क्यों हो गया?

दूसरे लोगों का कहना है कि साहित्यकार असामान्य प्रतिभा और भावना का पुरुष होता है। प्रगति के इस युग में उसका पिछड़ी जनता के साथ चींटी की चाल चलना असम्भव है। उनका यह कथन अनेक अंशों में सही है। नवयुग के साथ हमारे साहित्य ने जो प्रगति की है उसका मूल्य घटाया नहीं जा सकता। हमारा तो केवल इतना ही गिड़-गिड़ाना है कि उसके अमूल्य रत्नों का लाभ कोटि-कोटि जनता को नहीं मिल रहा है। जनता के बीच रह कर हमारा प्राचीन साहित्यकार जब जीवन के गम्भीरतम सत्यों को भी जनता का बना सका उससे दूर न होकर आधुनिक साहित्यकार युग के सामान्य सत्यों को भी जनता के हृदय तक नहीं पहुँचा सका।

ब्रज के गांव में बसने वाले सूर की कल्पना जिस भाव से वंशीवट, जमुना तट, गोचारण, गोदोहन, बालक्रीड़ा, रासलीला, गोप और गोपियों में रम गई, जिस प्रकार उन्होंने अपनी कविता में लोक-मानस का रस भर दिया; जनता की तीर्थ भूमि में विचरने वाले तुलसी की प्रतिभा जिस प्रकार अपनी विशाल संस्कृति के अवगाहन में सफल हुई और उसके अमूल्य रत्नों को जिस कौशल से उन्होंने राम के रामत्व के साथ कोटि-कोटि जनता में बिखेर दिया; घुमक्कड़ कबीर की सधुक्कड़ी वृत्ति जिस अनुराग के साथ ग्रामीण जनता के तरानों में तरंगायित होकर लोक-जीवन की सामान्य भूमि पर चौकड़ी भर चली, उनकी फब्तियों में साधारण से साधारण जनता को जो मज़ा आ गया; जनता से दूर रहने वाले आधुनिक कवि को युग और जीवन की विपुल विभूति के साथ भी जन-मानस में प्रवेश करने में वह सफलता नहीं मिली। उसकी भाषा-शैली की नागरिकता और रहस्यवादिता से जनता दूर हट गई। प्रगति के पथ पर उसे जो प्रशंसा मिली लोक के पथ पर वह आदर नहीं मिला। यूरोपीय साहित्य के रोमेंटिसिज़्म और रूसी साहित्य के साम्यवाद की तरंग में उसने जनता को क्रांति का जो आमन्त्रण दिया उसकी ओर से भी जनता ने मुँह फेर लिया। उसका साहित्य केवल स्कूल-कालेजों की पाठ्य-पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य गोष्ठियों तक सीमित रह गया। जनता के प्राणों में उसकी

प्रेरणा नहीं पहुँची ! यही कारण है कि आज हम लोक में साधारण से साधारण शक्तियों का प्रतिनिधित्व तो पा जाते हैं किन्तु प्रगस्रष्टा अपने साहित्यकार का प्रतिनिधित्व नहीं पाते ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद

—गुरुनारायण पाण्डेय

स्वर्ग और नरक

परिपक्व मस्तिष्क और विकसित स्मरणशक्ति से लैस हो कर जब मनुष्य जीवन-पथ पर सुदृढ़ चरण बढ़ाने लगता है तो वह एक स्वतन्त्र इकाई हो जाता है ।

उसका प्रत्येक अच्छा-बुरा कर्म, विस्तार से, उसके मानस-पटल पर अंकित होता रहता है; और स्मृति की प्रेस उसे अलग अलग छाप कर रखती चलती है ।

वे पन्ने आत्मा के वज़नी पेपर-वेट के नीचे दबते रहते हैं और मनुष्य आगे बढ़ता जाता है । जीवन की दौड़ और उसकी हलचल के बीच उसे इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वह उन छपे हुए पन्नों को उलट कर देख सके ।

पर चलते-चलते और दौड़ते-दौड़ते जब उसका अंग-प्रत्यंग थक कर चकनाचूर हो जाता है, तो उसकी गति शिथिल पड़ने लगती है । मृत्यु अपना फौलादी पंजा फैलाए, दबे पाँव, उसकी ओर बढ़ने लगती है । उसके सामने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है ।

लाचार उसे थमना पड़ता है । मृत्यु की ललचाई आँखें उसके ऊपर गड़ी ही रहती हैं; काला फौलादी पंजा, धीरे धीरे, उसकी ओर बढ़ता ही रहता है ।

उसके मस्तिष्क में एक बवण्डर, एक तेज़ तूफ़ान उठ खड़ा होता है । स्मृति की प्रेस में छपे हुए पन्ने फड़फड़ा कर उड़ने लगते हैं । आत्मा का पेपर-वेट इतना हलका हो जाता है कि वह उन्हें दबा कर नहीं रख पाता । एक के बाद एक, वे पन्ने उसके सामने आते-जाते रहते हैं ।

अच्छे कर्म करने वाला उन्हें चुपचाप पढ़ता है और सन्तुष्ट होता है । उसे अपार सुख मिलता मिलता है । यही उसका स्वर्ग है ।

और बुरे कर्म करने वाला उद्विग्न हो उठता है । अपने काले कारनामों का विवरण नहीं पढ़ना चाहता । आत्मा के हलके पेपर-वेट से उड़ते हुए पन्नों को रह रह कर दबाना चाहता है; पर वह उसका साथ नहीं देता । महान् यातना सह कर भी उसको सब कुछ पढ़ना ही पड़ता है । यही उसका नरक है ।

स्वर्ग और नरक जीवन के ही अंग हैं। मृत्यु के पंजे में जकड़ जाने के बाद तो केवल शून्य और अन्धकार ही है ।

—वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

प्राचीन भारतीय गणतन्त्र और उनकी विशेषताएँ

पुण्यकर्मा भारत का इतिहास जितना प्राचीन है, उतना ही गौरवपूर्ण भी है। यहाँ के आजन्मवासी आर्य-गण जहाँ अन्य सभी जीवन पथों में अन्य सांसारिक जनों से आगे हैं, वहाँ शासन-व्यवस्था में भी सबसे अधिक समृद्ध हैं। हमें वैदिक-युग के तुरन्त बाद से ही सर्वाङ्गीय प्रजातन्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद के ब्राह्मण—ऐतरेय और तैतरेय में, उनके निर्माण तक, अच्छे समृद्ध प्रजातन्त्रों का होना, सूचित होता है। उस समय तक, न केवल आर्यों ने विभिन्न शासन प्रणालियाँ ही विकसित करलीं थीं वरन् उनके अलग अलग विधान भी बना लिए थे।

इससे पूर्व कि हम उन प्रजातन्त्रों का सविशेष ज्ञान करें यह आवश्यक है कि उनके कुछ एक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या समझ ली जाए। उन शब्दों में महत्वपूर्ण शब्द "गण और संघ" हैं जिनका उल्लेख हमें सर्व प्रथम जैन शाखा के आचारांग सूत्र और वराह मिहिर की 'वृहत्संहिता' में मिलता है। ("अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा" २.३. व १.१०. तथा ४.१४ वृहत्संहिता) यहाँ 'गण' शब्द का मुख्य अर्थ—समूह है। अतः 'गणराज्य' का अर्थ होगा—समूह द्वारा संचालित राज्य या बहुत लोगों द्वारा शासित राज्य।

फिर 'गण' शब्द का उल्लेख हमें बौद्ध धर्मग्रन्थ महावग्ग (२.१८) में मिलता है वहाँ लिखा है कि—एक समय भगवान् बुद्ध से पूछा गया कि भिक्खुओं की संख्या कैसे जानी जाए? तब भगवान् बुद्ध ने यह व्यवस्था की कि 'उपोसथ' के दिन सब भिक्खुओं की गणना की जाए और वह गणना 'गण' के ढंग पर मताधिकार पत्र (शलाका) एकत्र करके की जाए।" यहाँ बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त गण शब्द का तात्पर्य उन लोगों के समाज से है, जिसमें उपस्थित जनों की जो कि किसी विशिष्ट संख्या में होते थे, गणना की जाए।

'संघ' शब्द भी इसी 'गण' का वाचक है। संस्कृत के महा वैयाकरण पाणिनि मुनि ने अपने "संघोद्धौगणप्रशंसयोः" (३.३.८६) सूत्र में संघ और गण को पर्यायवाची कहा है। प्रसिद्ध प्रजातन्त्री संस्थाओं के लिए कौटिल्य ने भी संघ शब्द का ही प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त बौद्धों का सबसे अधिक पुराना ग्रन्थ स्वयं 'पाली पिटक' भी इस बात का समर्थन करता है। 'मज्झिमय निकाय' (१.४.५.३५) में संघ और गण दोनों शब्द साथ साथ आए हैं (इमे समापिहि, भोगोत्तम! संघानम् गणानम् सेयथिदम् वज्जिनं मल्लानम् अर्थात्—हे गौतम! यह बात संघों और गणों के सम्बन्ध में है जैसे कि वज्जि और मल्ल।)

किन्तु आजकल संघ शब्द केवल धार्मिक या सामाजिक संघों के लिए ही प्रयुक्त होता है। इससे जान पड़ता है कि उस समय धार्मिक संघ नहीं होते थे और वे बाद में राजनीतिक संघों के अनुकरण पर बने हैं। इस कथन के लिए बौद्ध साहित्य से हमें प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना भी उचित है कि यह समूह जो कि गण शब्द का वाचक है, कृत्रिम हुआ करता था। गण का स्वाभाविकता वाचक अर्थ Tribe जो कि मॉनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत अंग्रेजी कोष में किया है, गलत है। गुहावंश के शिला लेखों के अनुवाद में मालवगण का अनुवाद करते हुए डाक्टर प्लीट ने भी उपर्युक्त अर्थ ही गण शब्द से लिया है, पर वे भी गलत हैं। क्योंकि वास्तव में गण शब्द का अर्थ वह कृत्रिम समुदाय है जो कि आवश्यकता पड़ने पर बना करता है। श्रीयुत जायसवाल जी ने इस अर्थ को प्रकाशित करते हुए जातकों के पहले दूसरे भागों से निम्न उदाहरण दिए हैं—एक समन श्रावस्ती के ग्रहस्थों ने बौद्ध भिक्षुओं का सत्कार किया। तब वे तीन-तीन चार-चार ग्रहस्थ और कहीं-कहीं तो मोहल्ले के मोहल्ले मिल गए। उनका यह मिलन गण-बन्धन के अनुसार था—(कदाचि तीनि चत्तारि एकतो हुत्वा, कदाचि वीथि सभागेन, कदाचि गणबंधनेन, कदाचि सकल नगरं छंदकं सहरित्वा (जातक १.४२२) गण-बंधनेन बहु एक तो हुत्वा (जातक २.४५)।

'महाभारत' में बताए गण के स्वरूप से भी उपर्युक्त

१६५६

अर्थ ही गण का किया जा सकता है। धर्म-शास्त्र के टीकाकार भी जो कि राजनीतिक रूप से संघों की समाप्ति के बहुत बाद हुए, गण का अर्थ कृत्रिम समुदाय से ही लेते हैं। अमरकोषकार अमरसिंह ने भी अपने राजक और राजन्य शब्दों को राजाओं और क्षत्रियों का समूह ही कहा है।

'अवदानशतक' में भी गणराज्य को राजा के किसी राज्य से बिलकुल उल्टा कहा है। बुद्ध के समय उत्तरी भारत के मध्यदेश के वणिक् दक्षिणी भारत में आ गए थे तब दक्षिणी राजा ने उनसे पूछा—"हे वणिकों! वहाँ (उत्तर भारत में) कौन राजा है? तब उन्होंने उत्तर दिया—महाराज, कुछ देशों में तो गण का शासन है और कुछ में राजाओं का।" (अथ मध्यदेशाद्वणिजो दक्षिणपथं गताः। तैः राज्ञो महाकय फिणस्य प्राभृत-मुपनीतत्। राज्ञा उक्तं भो वणिजः कस्तत्र राजेति। वणिजः कथयन्ति देव, केचिंद्देशा गणाधीना केचि-द्राजाधीना इति—एड० स्पेयर पेट्रोग्रेड १६०२ भाग २ पृ. १०३)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गण शब्द का अर्थ वह कृत्रिम जन समुदाय है जो कि आवश्यकतावश एकत्रित किया गया हो। और बौद्ध साहित्य के पूर्व तक के साहित्य में संघ शब्द भी इसी अर्थ का वाचक है।

अब हम गण और संघ का अर्थ समझने के पश्चात् भारतीय इतिहास में उल्लिखित कुछ एक मुख्य गणतन्त्रों से परिचय करेंगे। इनका उल्लेख हमें पाणिनि के व्याकरण, बौद्धों के साहित्य, कौटिल्य के अर्थ शास्त्र, यूनानी लेखकों के लेख और शुंग काल के शिला लेखों में मिलता है।

पाणिनि में प्रजातन्त्र : महामुनि पाणिनि की अष्टाध्यायी में जो कि ईसा के ५०० वर्ष पूर्व बनी मानी जाती है निम्न प्रजातन्त्रों का उल्लेख मिलता है—वृक (वृकाट्टेरण्) दामिनी आदि (दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः) त्रिगर्त (आहु स्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी। कौष्टकि र्जालिमानिश्च ब्राह्मगुप्तोऽथ जानकिः॥), यौधेय और पर्श्व आदि (पर्श्वादि यौधेयादिभ्यामणञौ)। पाणिनि ने इन सब को आयुध जीवी प्रजातन्त्र कहा है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थ शास्त्र में कम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी आदि कुछ प्रजा तन्त्रों का शस्त्रोपजीवी कहा है। इन दोनों शब्दों का साधारण अर्थ शास्त्र या आयुध के द्वारा आजीविका पानेवाला होता है किन्तु श्रीयुत काशी प्रसाद जी जायसवाल ने बहुत से प्रमाण देकर यहाँ के इस 'उपजीवी' शब्द का अर्थ मनुस्मृति में प्रयुक्त (सम्यक् उपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् आदि १०, ७४) अर्थानुसार मानना या धर्म आदि का पालन करना किया है। स्वयं कौटिल्य ने भी शास्त्रोपजीवी शब्द के विरुद्ध राजशब्दोपजीवी (राजशब्दिभिरवरुद्धमवक्षिप्तं वा... अर्थशास्त्र १६) देकर शास्त्रोपजीवी का उपर्युक्त अर्थ ही प्रतिपादित किया है।

पाणिनि ने इन सभी संघों का स्थान वाहीक देश बतलाया है जो कि सिन्ध और पंजाब का ही वाचक है क्योंकि इस बात की पुष्टि 'महाभारत' से हो जाती है। वहाँ कहा है कि वाहीक वे लोग हैं जो कि पाँच नदियों तथा छठे सिन्ध नदी की तराई में रहते थे। (पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः—कर्णपर्व ४४. ७)।

उपर्युक्त सैनिक प्रजातन्त्रों के अतिरिक्त 'अष्टाध्यायी' में छै और ऐसे समाजों का नामोल्लेख है जो कि दूसरे साधनों से प्रजातन्त्र शासन सिद्ध होते हैं। वे हैं—१ मद्र, २ वृजि (मद्रवृज्योः कन्), ३ राजन्य (राजन्यादिभ्यो वुञ्) ४ अन्धक वृष्णी (राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेऽन्धक वृष्णिषु) ५ महाराज (महाराजाट्ठञ्) तथा ६ भर्ग (न प्राच्यभर्गादि यौधेयादिभ्यः)। इन सब को पाणिनि ने प्रजातन्त्र नहीं कहा किन्तु इनके लिए बनाए नियमों को देखने से ज्ञात होता है कि पाणिनि इनमें भी प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली मानता है।

इन प्रजातन्त्रों में अन्धक वृष्णी संघ वे हैं जिन्हें पुराणों में सात्वत् कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सात्वतों में भौज्य शासन प्रणाली थी और उनके शासन भोज कहाते थे (ऐतरेय ८.१४)। महाभारत में भी अन्धकों को भोज कहा है (सभापर्व १४अ.) और वृष्णी लोगों को भी राजा रहित ही बताया है। श्रीयुत जायसवाल ने तो इनमें द्वैध शासन प्रणाली का भी अनुमान किया है क्योंकि इनके सिक्कों में—वृष्णि राजन्य गणस्य लिखा मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में जायसवाल जी के उपर्युक्त कथन की पुष्टि भी हो जाती है, क्योंकि वहाँ श्रीकृष्ण अपने को राज्य का अर्द्ध भोक्ता कहते हैं। (अर्ध भोक्ताऽस्मि भोगानां... ८१.५)

पाणिनि के ४.३.१२७ के "संघाङ्क लक्षमेष्व—ञञिञामण्" सूत्र से यह भी-ध्वनि निकलती है कि गणों के अपने अंक और लक्षण भी हुआ करते थे। ये लक्षण पताकाओं के चिन्ह विशेष हो सकते हैं क्योंकि कौटिल्य ने (२.१२) चांदी तांबे के सिक्के अंकित करने के नियम देते समय सिक्के डालने वाले अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहा है।

इसी प्रकार अंक भी हस्ताक्षरों के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है क्योंकि हस्ताक्षरों के लिए हस्तांक का प्रयोग वीर मित्रोदय में उद्धृत वृद्धावशिष्ट के प्राङ्विवाकादि हस्तांकं मुद्रितं राज मुदया—वाक्यांश में मिलता है। कालिदास ने भी गीत के सम्बन्ध में गोत्रांक शब्द का व्यवहार किया है जिसका अर्थ वह गीत है जिसमें बनाने वाले का नाम भी हो। (......मद् गोत्रांक विरचितपद गेयमुद् गातुकाम...मेघदूत २.८५) कौटिल्य ने भी एक 'राजांक' शब्द का प्रयोग किया है जो कि सांड आदि के दागने का वाचक है। इसी प्रकार नेपाल में मिले सिक्कों के मानांक और गुणांक शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके अतिरिक्त पाणिनि के ३, ३, ४२ के "संघेचानौतराधर्षे" सूत्र से यह भी अनुमान है कि इन प्रजातन्त्रों के दो भाग होते होंगे। एक, वे जिनमें ऊपर और नीचे की दो सभाएँ हो और दूसरे, वे जिनमें एक ही प्रतिनिधि सभा हो। अर्थात् आजकल की तरह एक सदन और दो सदन वाले गणतन्त्र राज्य।

अर्थशास्त्र के प्रजातन्त्र : जैसा कि पूर्व कहा गया है कौटिल्य ने अपने समय के गणराज्यों को दो भागों में विभक्त किया है। एक शस्त्रोपजीवी और दूसरे राजशब्दोपजीवी। प्रथम भाग में चाणक्य ने कम्भोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी आदि कर नाम दिया है और दूसरे भाग में लिच्छिविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरू और पांचाल आदि कर नाम दिया है।

इनमें मल्लों का वर्णन काशिका में तथा लिच्छिवियों का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में भी आया है, जहाँ कि वे राजशब्दोपजीवी ही वर्णित हैं।

इन नामों से ऐसा ज्ञात होता है कि राजशब्दोपजीवी वे गणतन्त्र थे जिनका राजा, राजा कहलाता था और शस्त्रोपजीवी वे थे जिनके नागरिक शस्त्रविद्या में निपुण थे। किन्तु कौटिल्य के—'काम्भोज सुराष्ट्र क्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ता शस्त्रोपजीवनः (११।१।१६०)" में 'वार्ताशस्त्रोपजीवन' पद से यह भी अनुमान होता है कि वे केवल शस्त्र निपुण ही नहीं वरन् शिल्प और कृषि में भी निपुण होते थे।

कम्भोज, जिनका नाम यहाँ आयुधजीवी प्रजातन्त्रों में सर्वप्रथम आया है, श्रीयुत जायसवाल के मत में अफ़गानिस्तान के रहने वाले थे। यास्क ने इनकी भाषा संस्कृत कही है। पाणिनि भी इनसे परिचित है क्योंकि उसने इनके राजबोधक रूप के लिए सूत्र दिया है।

सुराष्ट्र लोग काठियावाड़ में थे। उनका अवशेष अब भी सुराठ रूप में बाकी है। ये मौर्य साम्राज्य के बाद तक बचे थे।

दूसरे दो राज्य क्षत्रिय और श्रेणियों के हैं जो कि मैसीडोनिया के लेखकों के अनुसार एक दूसरे के पड़ौसी सिन्ध के वर्तमान खत्री इन्हीं के वंशज जान पड़ते हैं।

बौद्ध साहित्य में प्रजातन्त्र : महामुनि बुद्ध का जन्म ऐसे लोगों के बीच हुआ था जो प्रजातन्त्रों का भोग करते थे। जहाँ वे पले उसके चारों ओर संघ ही संघ थे। इसीलिए उन्होंने जो संघ बनाया उसका नाम भी उन्होंने 'भिक्खु संघ' ही रखा था जो कि पूर्णतः राजनीतिक संघों का अनुकरण था। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके मूल में एक मौलिक विचार था जिसकी कल्पना कोई मनस्वी ही कर सकता है। बुद्ध की मौलिकता इस अनुकरण में यह थी उन्होंने अपनी संस्था को स्थायित्व देने के लिए उसके राजनीतिक संघटन की कल्पना की।

उपर्युक्त कथन का प्रमाण हमें बुद्ध और उनके प्रधान शिष्य आनन्द के वार्तालाप से मिल जाएगा।

एक समय जब मगध के राजा का भेजा महामन्त्री बुद्ध से यह परामर्श लेने आया कि मगध वृजियों लिच्छिवियों और विदेहों पर आक्रमण करना चाहिए या नहीं, तो बुद्ध ने उसे कुछ न कह कर अपने प्रधान शिष्य आनन्द से कहा :

"हे आनन्द ! तुमने सुना कि वज्जि लोग पूरी भरी हुई और बहुत जल्दी-जल्दी सभाएँ करते हैं!"

आनन्द ने उत्तर दिया : "हाँ।"

इसी प्रकार बुद्ध ने महामन्त्री को सुनाने के लिए निम्न सात प्रश्न किए :

१ हे आनन्द ! जब तक वज्जि लोग पूरी-पूरी

और जल्दी-जल्दी सभाएँ करते हैं।

२ जब तक वे एक मत होकर मिलते हैं और एक साथ मिल कर उन्नति करते हैं और राजकार्य एकमत होकर करते हैं।

३ जब तक वे कोई ऐसा नियम नहीं बनाते जो पहले से नहीं चला है, जब तक वे किसी निश्चित नियम का उल्लंघन नहीं करते और जब तक वे वज्जियों की प्राचीन संस्था के अनुकूल चलते हैं।

४ जब तक वे लोग वज्जि वृद्धों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं और जब तक वे उनकी बात सुनना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

५ जब तक वे अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं को बलपूर्वक अथवा भगा कर अपने पास नहीं रखते हैं।

६ जब तक वे वज्जिय चैत्यों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं।

७ और जब तक वे अपने अर्हतों का उचित रक्षण और पालन करते हैं—

तब तक वज्जियों के पतन की कभी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, बल्कि हर तरह से उनके उन्नत और सम्पन्न होने की आशा करनी चाहिए।"

यह सुन कर महामन्त्री ने धीरे से कहा—"तब तो मगध महाराज को वज्जियों के जीतने की आशा त्याग देनी चाहिए"—ऐसा कह कर महामन्त्री बिदा हो गए।

फिर ज्यों ही महामन्त्री बिदा हुआ, बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ को बुलाया और उन्हें पुनः वे सातों बातें कहीं और कहा कि जब तक सब भिक्षु अपने मनों को इस प्रकार संस्कृत रखेंगे तब तक कभी यह नहीं समझना चाहिए कि भिक्षुओं का पतन होगा, बल्कि यही समझना चाहिए कि निरन्तर उनकी उन्नति होगी।"

उल्लिखित प्रजातन्त्र : बौद्ध साहित्य में प्रायः उन्हीं प्रजातन्त्रों का वर्णन है जिनमें बुद्ध जन्मे और रहे थे। ये प्रजातन्त्र पूर्व में कोशल और कौशाम्बी तथा पश्चिम में अंग राज्य तक फैले थे।

१ शाक्य—इनकी राजधानी गोरखपुर जिले में कपिल वस्तु नाम से थी।

२ कोलियों का रामग्राम।

३ लिच्छिवि—इनकी राजधानी, राजधानी मुज़फ़्फ़रपुर जिले में वैशाली थी जिसे 'बसाढ' कहते हैं।

४ विदेह—इनकी राजधानी दरभंगा जिले में मिथिला नाम से थी। इन अन्तिम दोनों को ही वज्जि कहते हैं।

५ मल्ल—इनका राज्य विस्तृत था जो दक्षिण शाक्यों और वृज्जियों तक फैला था।

६ पिप्पलीवन के मोरिय।

७ अल्लकाय के बुली—जो छोटे छोटे वर्गों में थे।

८ भग्ग—ये कौशाम्बी के वत्सों के पड़ौसी थे।

राजनीतिक दृष्टि से इनमें केवल वृज्जि और मल्लों का ही विशेष महत्व है। वृज्जियों का उल्लेख पाणिनि और कौटिल्य ने भी किया है।

इलाहाबाद

—परमेश्वरलाल सोलंकी

संसार में सब से अधिक खानेवाले लोग या तो न्यूज़ीलैण्ड के हैं और या फिर आयरलैण्ड के लोग। युद्ध से पूर्व ब्रिटेन में आम शिकायत यह थी कि लोग दुबले पतले थे परन्तु युद्ध के पश्चात् लोगों में मुटापे की बीमारी अधिकाधिक फैलती जा रही है। समृद्ध देशों में लोगों का वज़न प्रायः अधिक होता है।

—डब्ल्यू. जी. मैटर्स

हँसनी——सी-गल

चौथा अंक

[सोरिन के घर की बैठक को अब त्रेपलेव के अध्ययन-कक्ष के रूप में बदल दिया गया है। दाईं ओर बाईं ओर के दरवाज़े अन्दर कमरों में गए हैं। सामने बीच में शीशों का जंगला बरामदे में खुलता है। बैठक के साधारण फ़र्नीचर के अलावा बाईं ओर के दरवाज़े पास एक कोने में लिखने की मेज़, एक सोफा, किताबों की अलमारी। खिड़की तथा कुर्सियों पर किताबें। सन्ध्या का समय। शेड वाला सिर्फ़ एक ही लैम्प जल रहा है। कमरे की रोशनी बड़ी धुँधली है। ऊपर की चिमनियों से पेड़ों के सरसराने और तेज़ आंधी की गर्जन सुनाई देती है। चोरों को डराने के लिए एक चौकीदार : ज़ोर ज़ोर से कनस्तर पीटता सुनाई दे रहा है]

(मैद्वीद्वैंको और माशा का प्रवेश)

माशा : (पुकारती है) कान्स्तान्तिन ग्रात्रिलिच। (इधर-उधर देख कर) नहीं—यहाँ तो कोई भी नहीं है। बुड्ढा हर मिनट बस यही रट लगाए रहता है कि कोस्त्या कहाँ है, कोस्त्या कहाँ है। बिना उनके उससे रहा ही नहीं जाता।

मैद्वीद्वैंको : अकेलेपन से वह डरता है (आवाज़ सुन कर) कैसा ख़राब मौसम है। पूरे दो दिन होने आ रहे हैं इसे......

माशा : (लैम्प घुमाती हुई) झील में लहरें उठ रही हैं—बड़ी-बड़ी लहरें।

मैद्वीद्वैंको : बग़ीचे में कैसा अन्धकार है। हमें उन लोगों से कह देना था कि बगीचे के स्टेज को तोड़-ताड़ दें। हड्डियों के ढांचे की तरह नंगा और बदसूरत खड़ा है—पर्दे हवा में फड़फड़ा रहे हैं। कल शाम को जब मैं वहां से गुज़र रहा था तो मुझे ऐसा लगा जैसे उसमें बैठा कोई सिसक-सिसक कर रो रहा हो...

माशा : अच्छा अब हमें और क्या करना है ?

(चुप्पी)

मैद्वीद्वैंको : चलो, घर चलें, माशा।

माशा : (सिर हिलाकर) मैं तो आज रात भर यहीं रहूँगी।

मैद्वीद्वैंको : (खुशामद के स्वर में) चली चलो न माशा। मुन्ना भूखा होगा।

माशा : न कहीं। मित्रगोना सब उसे खिला-पिला देगी।

(चुप्पी)

मैद्वीद्वैंको : मुझे तो उस पर बड़ी दया आ रही है। बेचारे को बिना माँ के तीन दिन हो गए।

माशा : तुम तो भाई आफ़त हो। पहले तुम कम से कम और चीजों पर भी तो बोलते थे—अब तो बस वही बच्चा, घर, बच्चा—बस कोई तुम से यही यही सुने जाए।

मैद्वीद्वैंकों : मानो माशा, चली चलो।

माशा : तुम चले जाओ न।

मैद्वीद्वैंको : तुम्हारे बापू मुझे जाने को घोड़ा ही नहीं देंगे।

माशा : नहीं, वे दे देंगे। तुम पूछ लेना बस, वे ज़रूर दे देंगे।

मैद्वीद्वैंकों : अच्छी बात है—पूछ ही लूँगा। तो तुम कल आ रही हो न ?

माशा : हाँ, हाँ कल (चुटकी भर कर सुँघनी चढ़ाती है) तुम तो बस मेरी नाक में दम कर देते हो।

(त्रेपलेव और पोलिना अन्द्रीयेव्ना का प्रवेश। त्रेपलेव रज़ाई और तकिए लिए हैं, पोलिना चादर और गिलाफ़। वे उन्हें सोफ़े पर रख देते हैं। फिर त्रेपलेव मेज़ के पास जाकर बैठ जाता है)

माशा : अम्मा, यह किस लिए है ?

पोलिना : प्योत्र निकोलायेविच ने कहा है कि उनका बिस्तर भी कोस्त्या के कमरे में ही बिछेगा।

माशा : मैं बिछाती हूँ (बिस्तर बिछाती है)।

पोलिना : (आह भर कर) बुड्ढे आदमी भी बिलकुल बच्चों जैसे हो जाते हैं। (लिखने की मेज़ के पास जा कर उस पर कुहनियाँ टिकाकर झुकते हुए एक पाण्डु लिपि को देखती रहती है।)

(चुप्पी)

मैद्वीद्वैंको : अच्छा तो फिर मैं चलता हूँ। अच्छा

माशा, नमस्कार (अपनी पत्नी का हाथ चूमता है) नमस्कार माता जी (अपनी सास का हाथ चूमना चाहता है)।

पोलिना : (खीझ से) ठीक है, ठीक है। जाना ही है तो अब देर मत करो।

मैद्वीद्वेंको : नमस्कार कोन्स्तान्तिन ग्राव्रिलिच।

(त्रेपलेव बिना कुछ बोले हाथ उठा देता है। मैद्वीद्वेंको चला जाता है)

पोलिना : (पाण्डु लिपि को देखते हुए) कोस्त्या, कोई सोच भी नहीं सकता था कि एक दिन तुम सच ही लेखक बन जाओगे। अब तो भगवान् की कृपा से तुम्हें पत्रिकाओं से रुपए भी मिलने लगे हैं (उसके बालों पर हाथ फेर कर) और अब तो तुम भी बड़े अच्छे लगने लगे हो...अच्छे कोस्त्या, बेटा, बस मेरी बेटी माशे पर ज़रा मेहरबानी रखना......

माशा : (बिस्तर बिछाते हुए ही) अम्मा, उन्हें अकेला छोड़ दो न।

पोलिना : (त्रेपलेव से) यह बिचारी बड़ी भोली है (चुप रह कर) तुम तो खुद समझते ही हो कोस्त्या, आदमी की कृपा दृष्टि रहे तो औरत को और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो खुद जानती हूँ।

(त्रेपलेव मेज़ से उठ कर बिना कुछ बोले बाहर चला जाता है।)

माशा : लो, तुमने उन्हें नाराज़ कर दिया ना तुम्हें उन्हें तंग करने की क्या पड़ी थी?

पोलिना : माशेंका—तेरे ऊपर मुझे बड़ी दया आती है।

माशा : बस-बस, काफ़ी है।

पोलिना : मेरे दिल में तेरे लिए बड़ी कलक है बेटी। तू तो जानती ही है, मैं सब देखती हूँ—सब समझती हूँ...

माशा : यह सब बेवकूफ़ी की बातें हैं। बिना किसी उम्मीद के प्यार करते चले जाना—ऐसी बातें उपन्यासों में ही होती हैं। वास्तव में इसका कोई नतीजा नहीं निकलता। ज़रूरत इस बात की है कि आदमी हाथ पर हाथ रख कर न बैठ जाए। कुछ होगा, कुछ होगा इसी आशा में न रहे...ज्वर उतर जाने की राह देखता रहे...और जब प्यार हृदय में बहुत ही गहरा पैठ जाए तो उसे निकाल फेंके। अधिकारियों ने मेरे पति का दूसरे जिले में तबादला करने का वचन दे दिया है...तुम देखना वहाँ जाते ही मैं सब भूल-भाल जाऊँगी...सबको अपने दिल से नोंच कर फेंक दूँगी।

(दो कमरों के पार एक बड़ा उदास-सा संगीत बजता है)

पोलिना : कोस्त्या ही बज रहा है...ज़रूर उसके मन में बड़ा दर्द है।

माशा : (चुपचाप संगीत पर दो एक क़दम नाचती है) अम्मा, यह हमेशा मेरी आँखों के सामने न रहें यही मेरे लिए काफ़ी है...विश्वास मानो अगर वे मेरे सिमियन का तबादला भर कर दे तो एक महीने में मैं अपने को बिलकुल सँभाल लूँगी। ये सब प्रेम-प्यार बेकार की बातें हैं।

(बायीं ओर का दरवाज़ा खुलता है। दोर्न और मैद्वीद्वेंको, सोरिन को उसकी कुर्सी पर धकेलते लाते हैं)

मैद्वीद्वेंको : वे छहों अब मेरे पास हैं। और आटा आजकल जो कापेक पाउण्ड है।

दोर्न : आम के आम और गुठलियों के दाम बनाने के लिए काफ़ी चलता-पुर्ज़ा होने की ज़रूरत है।

मैद्वीद्वेंको : आप तो इस पर हँसेंगे ही। आपके पास तो इतना पैसा भरा पड़ा है कि आप जानते ही नहीं उसका क्या करें...

दोर्न : पैसा? भाई मेरे, तीस साल रगड़ने के बाद! इन दिनों मैंने रात को रात और दिन को दिन नहीं जाना, अपनी जान को अपना नहीं समझा—और तब जाकर कहीं मैं हज़ार रूबल बचा पाया था सो अभी जब बहार गया तो फूँक आया। अब मेरे पास क्या रखा है?

माशा : (अपने पति से) तुम गए नहीं?

मैद्वीद्वेंको : (अपराधी के स्वर में) तुम्हीं बताओ, जब कोई मुझे घोड़ा ही नहीं देगा तो कैसे जाऊँगा?

माशा : (दबी जबान में, बुरी तरह झल्ला कर) मैं तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहती!

(पहियों वाली कुर्सी कमरे के बायीं ओर बीच में रहती है। पोलिमा, माशा और दोर्न उसके आसपास बैठ जाते हैं। मैद्वीद्वेंको उदास-दुखी-सा उन से ज़रा हट कर खड़ा है)

दोर्न : यहाँ कितना बदल गया है। बैठक पढ़ने का कमरा बन गई है।

माशा : यहाँ कोन्स्तान्तिन ग्राव्रिलिव को काम

करने में बड़ी सुविधा रहती है। जब भी मन करता है बाग़ में टहलने चले जाते हैं--वहाँ चिन्तन कर सकते हैं...

(चौकीदार कनस्टर बजाता है)

सोरिन : बहन कहाँ हैं ?

दोर्न : वे स्टेशन पर त्रिगोरिन से मिलने गई हैं। अभी सीधी वापस आ जाएँगी...

सोरिन : जब तुमने मेरी बहन को बुला लेना जरूरी समझा है तो निश्चय ही मेरी बीमारी ख़तरनाक है (कुछ देर चुप रह कर) कैसी अनोखी बात है। मेरी बीमारी ख़तरनाक है और देखो, कोई मुझे दवा ही खाने को नहीं दे रहा है......

दोर्न : अच्छा, कौन-सी दवा लेंगे ? धतूरे का सत ? सोडा ? कुनैन ?

सोरिन : डाक्टर, तुमने फिर वही अपनी-अपनी लगाई ? मुसीबत कर डाली मेरी तो। (सोफ़े पर बिछे बिस्तर की ओर इशारा करके) मेरे लिए यही बिस्तर है क्या ?

पोलिना : जी हाँ, यह आपका ही है प्योत्र निकोलायेविच...

सोरिन : शुक्रिया।

दोर्न : (गुनगुनाता है) "रात आधी और चन्दा तैरता आकाश में।"

सोरिन : मैं कोस्त्या को एक कहानी का विषय देना चाहता हूँ। उसका नाम होना चाहिए "महत्वाकांक्षी मनुष्य।" (L' Lomme quiavoulu) जवानी के दिनों में मैं एक साहित्यिक होना चाहता था—लेकिन हो नहीं पाया। मैं अच्छा भाषण कर्त्ता बनना चाहता था, लेकिन बोलता था तो ऐसा बुरा कि रोना आए। (अपना मज़ाक उड़ाते हुए) 'और भी इसी प्रकार की बातें...वग़ैरा...वग़ैरा..." बोलते-बोलते में एडी-चोटी का पसीना एक कर देता था, अपनी बातों को समेटता था और पसीने-पसीने हो जाता था। मैं शादी करना चाहता था, लेकिन कर नहीं सका। मैंने हमेशा शहरों में रहना चाहा, लेकिन अब अपनी जिन्दगी को यहाँ ख़त्म किए दे रहा हूँ...वग़ैरा...वग़ैरा...

दोर्न : यह भी तो जोड़िए न कि मैं सरपञ्च होना चाहता था और सरपञ्च हो गया।

सोरिन : (हँसता है) इसके पीछे तो मैं कभी पड़ा ही नहीं। यह तो अपने आप ही हो गया।

दोर्न : आप जानते हैं साठ साल पर पहुँच कर हर वक़्त जीवन से असन्तोष देखते रहना आपको शोभा नहीं देता।

सोरिन : अजब ज़िद्दी आदमी हो। अरे, तुम यह भी तो सोचो कि हरेक आदमी ज़िन्दा रहना चाहता है।

दोर्न : अरे साहब बेवकूफ़ी तो यही है। यह तो कुदरती नियम है कि हर प्राणी का अन्त होता है।

सोरिन : तुम उस आदमी की तरह बहस करते हो जिसे जीवन में कोई कमी नहीं रही। तुम सन्तुष्ट हो इस लिए जीवन की ओर से उदासीन हो। तुम्हारे लिए किसी की अहमियत ही नहीं है। मैं कहता हूँ इतने पर भी तुम मरने को आसानी से तैयार नहीं होओगे।

दोर्न : मौत का भय तो एक पशुमय है। आदमी को इस पर विजय पानी चाहिए। मृत्यु का भय सच्चा और युक्ति-संगत भय तो उन्हें हो सकता है जो जीवन के अनन्त-क्रम में विश्वास रखते हैं और अपने पापों की ओर से सचेत हैं। और आप ? पहली बात तो यह कि जीवन के अनन्त क्रम में आप विश्वास ही नहीं करते, दूसरी बात यह कि ऐसी परेशानी का कौन-सा पाप आपने किया होगा ? न्याय विभाग में आपने पच्चीस साल नौकरी की है—बस।

सोरिन : (हँस कर) अट्ठाइस !

(त्रेपलेव आकर सोरिन के पैरों के पास एक चौकी पर बैठ जाता है। माशा अपनी आँखें एकटक उसी पर जमाए रहती है)

दोर्न : हम लोग कोन्स्तान्तिन ग्रात्रिलिच को काम नहीं करने दे रहे।

त्रेपलेव : अरे नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।

मैद्वीद्वेंको : आप से एक बात पूछूँ डाक्टर साहब, आपको कौन-सा शहर सब से अधिक अच्छा लगा !

दोर्न : जनेवा !

त्रेपलेव : जनेवा क्यों ?

दोर्न : वहाँ सड़कों पर क्या ग़ज़ब की ज़िन्दगी है ! सन्ध्या को ज़रा आप होटल से निकल कर सड़कों पर जाइए—सारी सड़कें भीड़ से ठसाठस मिलेगी। आप भीड़ में, निर्लक्ष्य टेढ़े-सीधे, आड़े-तिरछे चारों तरफ़ भटकते फिरेंगे...भीड़ के साथ जिन्दा रहेंगे—मानसिक रूप से एक हो कर इस बात पर विश्वास कर उठेंगे कि

'विश्वात्मा' की बात सम्भव है—जैसे नीना ज़रेशन्या ने तुम्हारे खेल में अभिनय किया था न...अरे हाँ, बात पर बात है—आज कल वह कहाँ है ? कैसी है आजकल ?

त्रेपलेव : उम्मीद तो है, कि बिलकुल ठीक है !

दोर्न : मुझे किसी ने बताया था कि उसकी ज़िन्दगी कुछ अजब हो गई है । इसका क्या मतलब था ?

त्रेपलेव : डाक्टर साहब वह एक लम्बी कहानी है ।

दोर्न : तो भी, संक्षेप में ही बता दो ।

(चुप्पी)

त्रेपलेव : वह घर से भाग गई थी और त्रिगोरिन के साथ उसका किस्सा चलता रहा । इतना तो जानते हैं न ?

दोर्न : हाँ, यह तो पता है ।

त्रेपलेव : फिर वह माँ बनी । बच्चा मर गया । और जैसी कि उम्मीद थी, त्रिगोरिन उससे ऊब चुका था, इसलिए अपने पुराने सम्पर्कों में वापस आ गया । सच पूछा जाए तो उसने उन्हें कभी छोड़ा ही नहीं था, बल्कि अपने उसी 'हाँ—नहीं' के ढंग पर दोनों ही को बनाए रखता था । सुन-सुना कर जो कुछ मैं समझ पाया हूँ वह यह कि नीना के व्यक्तिगत जीवन को तो बिलकुल चौपट ही समझिए ।

दोर्न : और रंगमंच के जीवन का क्या हुआ ?

त्रेपलेव : मेरा विचार है वह उससे भी बुरा है । मॉस्को के पास किसी ऐसे छोटे से थियेटर में जहाँ लोग छुट्टियाँ बिताने पहुँचते हैं—आप पहली बार जनता के सामने तशरीफ़ लायीं...और फिर गांव-गांव भटकती फिरीं...इस पूरे समय मैंने उसे कभी भी आँखों से ओझल नहीं होने दिया । जहाँ-जहाँ वह गई मैं भी पहुँचा । पार्ट वह हमेशा बड़े-बड़े ही लेती थी लेकिन अभिनय बड़ा भोंड़ा, बिलकुल नीरस, चीख-चीख कर और बुरी तरह मुँह बना कर करती थी । कुछ क्षण ऐसे भी होते थे जब उसकी प्रतिभा खिल कर आती थी जैसे मंच पर रोने और मरने के दृश्यों में—लेकिन बस वही क्षण होते थे ।

दोर्न : तो क्या सचमुच उसमें 'प्रतिभा' थी ?

त्रेपलेव : यह कहना तो बड़ा मुश्किल है । मेरा तो ख़याल है कि थी । मैं उसे देखता था लेकिन वह जान बूझ कर आँखें फेर लेती थी । और नौकर लोग मुझे उसके होटल में जाने नहीं देते थे । मैं उसकी मानसिक अवस्था को समझता था और कभी मिलने के लिए हठ नहीं करता था (रुक कर) इससे ज़्यादा और क्या बताऊँ ? बाद में, जब मैं घर लौट आया तो उसके कुछ पत्र मिले—बड़े प्यार, समझदारी से भरे दिलचस्प पत्र ! वह खुद कभी इस बात को मुँह पर नहीं लाई, लेकिन महसूस होता रहा कि वह भीतर दिल की गहराई में व्यथित है—उसकी हर लाइन में उसकी दुखती और चटखती रगें जैसे बोलती थीं । उसकी कल्पना की जैसे धुरी खो गई हो । अपने हस्ताक्षरों की जगह वह हँसिनी बना देती है, पुश्किन की "मत्स्य-कन्या" में पन-चक्की वाला हमेशा कहता है "मैं कौआ हूँ", "मैं कौआ हूँ" इसी तरह वह अपने पत्रों में हमेशा लिखती रहती है कि वह "हँसिनी" थी...अब वह फिर लौट आई है ।

दोर्न : यहाँ ? तुम्हें कैसे मालूम ?

त्रेपलेव : इसी गाँव में एक सराय में ठहरी है । पिछले पाँच दिन से यहीं है । मैं उससे मिलने गया था, मार्या इल्यिनिश्ना भी गई थी, लेकिन वह तो किसी से नहीं ही मिलना चाहती...। सिमिगन सीमोनोविच कहते थे कि उन्होंने एक दिन दोपहर बजे उसे कस्बे से डेढ़ मील दूर एक खेत में देखा था ।

मेद्वीदेंकी : जी हाँ—मैंने देखा था । वह क़स्बे की तरफ़ जा रही थी । मैंने झुक कर नमस्कार भी किया, पूछा हम लोगों से मिलने क्यों नहीं आ रही । वह बोली आऊँगी कभी ।

त्रेपलेव : वह आएगी नहीं (चुप रह कर) उसके बाप और सौतेली माँ ने अपना कुछ भी मानने से इनकार कर दिया है । उन्होंने चौकीदार बैठा दिया है कि वह घर के पास तक न आ सके (डाक्टर के साथ-साथ लिखने की मेज़ तक जाता है) डाक्टर साहब, काग़ज़ पर फिलासफ़ी बघारना कितना आसान है, लेकिन जीवन में कितना मुश्किल है !

सोरिन : लेकिन लड़की बड़ी ही सुन्दर थी ।

दोर्न : क्या कहा ?

सोरिन : मैंने कहा लड़की बड़ी ही सुन्दर थी । खुद सरपंच सोरिन साहब भी उसे एक बार प्यार करते थे ।

दोर्न : वही पुराना पचड़ा ।

(सोरिन की हँसी सुनाई देती है)

पोलिना : मुझे लगता है, स्टेशन से वे लोग लौट आए।

त्रेपलेव : हाँ बाहर अम्मा की आवाज़ लगती है।

(आर्कदीना, त्रिगोरिन और उनके साथ शार्मदेव का प्रवेश।)

शार्मदेव : (प्रवेश करते हुए) आँधी-पानी में मुरझाते पेड़ की तरह हम लोग तो दिन दिन बुड्ढे होते जा रहे हैं...वही हलके रंग के कपड़े का ब्लाउज़, वही रौब-शान......

आर्कदीना : मुझे फिर से नज़र लगाना चाहते हो क्या? दुष्ट कहीं के।

त्रिगोरिन : प्योत्र निकोलायेविच, कैसे हैं आप?

माशा : मेरी अभी तक याद है आपको (हाथ मिलाती है।)

त्रिगोरिन : शादी हो गई?

माशा : बहुत पहले ही।

त्रिगोरिन : खुश हो? (दोर्न और मैद्वीद्वेंको का ज़रा झुक कर अभिवादन करता है। फिर हिचकिचाता सा त्रेपलेव के पास जाता है) इरीनानिकोलायेव्ना बता रही थी कि तुमने सारी पुरानी बातें भुला दी हैं—और अब मुझसे नाराज़ नहीं हो।

(त्रेपलेव उसका हाथ पकड़े रहता है)

आर्कदीना : (बेटे से) बोरिस अलेक्सीविच वह पत्रिका लाए हैं जिसमें तुम्हारी नई कहानी छपी है।

त्रेपलेव : (पत्रिका लेकर, त्रिगोरिन से) शुक्रिया। आपने बड़ा कष्ट किया। (बैठते हैं)

त्रिगोरिन : तुम्हारे प्रशंसकों ने तुम्हें बधाइयाँ भेजी हैं। मॉस्को और पीटर्सबर्ग में तुम्हारी चीज़ों के लिए बड़ी रुचि है और मुझसे लोग लगातार तुम्हारे बारे में पूछते रहते हैं। लोग पूछते हैं, तुम कैसे लगते हो, कितने बड़े हो, काले हो या गोरे। तुम हमेशा नकली नाम से लिखते हो न, इसलिए कोई तुम्हारा असली नाम ही नहीं जानता। तुम लोहे के पर्दे की तरह रहस्यमय हो।

त्रेपलेव : काफ़ी दिनों ठहरेंगे न?

त्रिगोरिन : नहीं, मेरा ख़याल है कि कल मुझे मॉस्को लौट जाना है। मुझे लौटना ही है। जल्दी ही अपना उपन्यास ख़त्म कर देना है। इसके अलावा कहानियों के एक संग्रह प्रकाशन का भी मैंने वचन दे दिया है। सच पूछो तो सब वही पुरानी रफ़्तार है।

(जब ये लोग बातें करते हैं तो, आर्कदीना और पोलिना कमरे के बीच में ताश खेलने की मेज़ ला रखती हैं। शार्मयेव मोमबत्ती जला कर कुर्सियाँ ठीक करता है। आलमारी में से एक 'लोटो' (जुए का चक्कर) निकाल लिया जाता है।)

त्रिगोरिन : मौसम मेरे आने से ख़ास खुश नहीं हुआ। बड़ी भयानक आँधी है। कल सुबह तक अगर शान्ति हो जाए तो मैं झील पर मछली पकड़ने जाऊँगा। मेरे मन में बाग़ और उस जगह को भी ज़रूर देखने की इच्छा है जहाँ तुम्हारे नाटक का अभिनय हुआ था—तुम्हें याद है न! मेरे दिमाग में एक कहानी है—और जहाँ यह कहानी घटित होती है उस दृश्य की सारी स्मृतियों को मैं फिर से दुहरा लेना चाहता हूँ।

माशा : (पिता से) बापू, मास्टर साहब को एक घोड़ा दे दीजिए न। उन्हें अब घर चला जाना चाहिए।

शार्मयेव : (मज़ाक उड़ा कर) घर जाना चाहिए घोड़ा (तेज़ी में) तुम खुद ही देखो न, अभी तो स्टेशन से लौट कर आए हैं। अब तो उन्हें मैं कहीं नहीं जाने दूँगा।

माशा : और भी तो घोड़े हैं। (अपने आप को कुछ न बोलता देख कर, हाथ झटक देती है) तुमसे तो किसी काम की उम्मीद ही नहीं है।...

मैद्वीद्वेंकों : माशा मैं पैदल जा सकता हूँ, वाक़ई......

पोलिना : (गहरी सांस लेकर) ऐसे मौसम में पैदल जाना...(ताश खेलने की मेज़ के सहारे बैठती है) बन्धुओ, आइए।

मैद्वीद्वेंको : चार मील ही तो है। अच्छा माता जी नमस्कार! (अपनी पत्नी के हाथ को चूमता है) माता जी नमस्कार! (उसकी सास बड़े बेमन से चुम्बन के लिए अपना हाथ उधर बढ़ा देती है) अगर बच्चे की बात न होती तो मैं किसी को तंग न करता (सब लोगों को झुक कर प्रणाम करता है) अच्छा बिदा...(बड़े संकुचित से) कदमों से चला जाता है।

शार्मयेव : सीधा चला जाएगा अपने आप। आख़िर कोई लाट साहब तो है ही नहीं।

पोलिना : (मेज़ पर हाथ थपथपा कर) आओ भाइयो, क्यों बेकार ही वक़्त बरबाद किया जाए।

फिर अभी हमें खाना खाने का बुलावा आ जाएगा।

(शार्मयेव, माशा और दोर्न मेज़ के चारों ओर बैठ जाते हैं)

आर्कदीना : (त्रिगोरिन से) जब जाड़े की लम्बी-लम्बी सन्ध्याएँ आ जाती हैं—तो सब लोग यहाँ 'लोटो' खेलते हैं। देखो, जिस 'लोटो' से माँ बचपन में, हमारे साथ खेला करती थी यह वही 'लोटो' है। खाने से पहले एक बाज़ी खेलोगे? (त्रिगोरिन के साथ मेज़ पर बैठती है) देखने में यह खेल बड़ा नीरस-सा है, लेकिन ज़रा सीख जाने पर इतना रूखा नहीं लगता (हरेक को तीन-तीन पत्ते बाँटती है)।

त्रेपलेव : (पत्रिका के पन्ने पलटते हुए) इन्होंने खुद अपनी कहानी पढ़ ली है लेकिन मेरी कहानी के पन्ने भी नहीं चीरे हैं (पत्रिका को पढ़ने की मेज़ पर रख देता है, फिर बायीं ओर दरवाज़े की ओर जाता है। जैसे ही माँ के पास से गुज़रता है, माँ के सिर का चुम्बन लेता है।)

आर्कदीना : कोस्त्या तुम नहीं खेलोगे?

त्रेपलेव : माफ़ करना माँ, मेरा ज़रा भी मन नहीं है...मैं बाहर घूमने जा रहा हूँ...(जाता है)

आर्कदीना : चाल दस कॉपेक की है। डाक्टर साहब, ज़रा मेरी ओर से भी चल दीजिए।

दोर्न : अच्छी बात है।

माशा : सब कोई अपनी अपनी चाल चल चुके? मैं शुरू करती हूँ, बाईस।

आर्कदीना : ठीक।

माशा : तीन।

दोर्न : ठीक।

माशा : तीन आपने चला? आठ! इक्यासी! दस!

शार्मदेव : बौखलाओ मत।

आर्कदीना : हार्कोव में मेरा ऐसा शानदार स्वागत हुआ कि मज़ा आ गया अब भी मेरा सिर आनन्द से घूम रहा है!

माशा : चौंतीस।

(नेपथ्य में यथापूर्ण 'वाल्ज़' बजता सुनाई देता है)

आर्कदीना : विद्यार्थियों ने बाक़ायदा मेरा सत्कार किया......तीन डलिया भर कर फूल......दो मालाएँ और साथ में यह......(गले में लगी जड़ाऊ पिन खोल कर मेज़ पर रखती है।)

शार्मदेव : हाँ यह है कुछ चीज़!

माशा : पचास!

दोर्न : पूरे पचास?

आर्कदीना : उस दिन मैं बड़े शानदार कपड़े पहने थी......और कुछ चाहे मैं न जानती होऊँ......इतना ज़रूर जानती हूँ कि कपड़े कैसे पहने जाते हैं।

पोलिना : कोस्त्या पयानो बजा रहा है...बेचारा बड़ा दुःखी और व्यथित है......

शार्मदेव : अख़बारों में भी उन्हें बुरी तरह कोसा गया है।

माशा : सतहत्तर!

आर्कदीना : जैसे यह कोई बहुत ही महत्व की बात हो।

त्रिगोरिन : असल में अभी तक वह जम नहीं पाया है। अपनी लाइन पर अभी उसने ठीक से अधिकार नहीं प्राप्त किया है। हमेशा उसके लिखे में कुछ अद्भुत, कुछ अस्पष्ट और कभी कभी तो पागलपन-सा रहता है। एक भी पात्र सजीव नहीं......

माशा : ग्यारह।

आर्कदीना : (सोरिन को इधर-उधर देख कर) पैत्रूशा, आप तो बहुत उकता रहे होंगे (चुप रह कर) यह तो सो गए।

दोर्न : असली सरपंच हमेशा सोता रहता है।

माशा : सात! नब्बे!

त्रिगोरिन : मैं भी अगर किसी ऐसी जगह, झील के किनारे रहते तो आप समझते हैं कुछ लिख पाता? मैं तो वहाँ के प्रभाव से ऐसा छा जाता कि मछली मारने के सिवा दिन भर कुछ करता ही नहीं।

माशा : अट्ठाईस!

त्रिगोरिन : झींगा मछली को पकड़ कर कैसा मज़ा आता है।

दोर्न : आप जो कहें, मैं तो कान्स्तान्तिन गाविलिच को मानता हूँ। उसमें कुछ है। ज़रूर कुछ है उसमें! वह कल्पना चित्रों के माध्यम से सोचता है... उसकी कहानियाँ बड़ी ही सजीव, जानदार होती है—मैं तो पूरी तरह प्रभावित हूँ। उसमें सब से बुरी बात यह है कि उसका अपना कोई निश्चित ही नहीं है। वह पाठक के हृदय में प्रभाव पैदा कर देता है, बस। मगर

खाली प्रभाव को ही लेकर तो आप आगे नहीं बढ़ सकते। अच्छा हरीना निकोलायेवा—तुम्हारा बेटा एक लेखक है इससे तुम्हें खुशी है।

आर्कदीना : कभी कल्पना कर सकते हैं आप कि मैंने उसकी लिखी एक भी चीज़ नहीं पढ़ी होगी ? मुझे कभी फुर्सत ही नहीं मिली।

माशा : छब्बीस !

(त्रेपलेव चुपचाप प्रवेश करके मेज़ पर बैठ जाता है)

शार्मेयेव : अरे हाँ, बोरिस अलैक्सीविच, आपकी एक चीज असी भी हमारे पास रखी है।

त्रिगोरिन : क्या चीज ?

शार्मेयेव : कोन्स्तान्तिन गाव्रिलिच ने एक हँसिनी का शिकार किया था और आपने मुझे देकर कहा था कि मैं उसमें आपके लिए मसाला लगवा दूँ।

त्रिगोरिन : मुझे तो याद नहीं है (सोचते हुए) नहीं, मुझे बिलकुल याद नहीं है।

माशा : छयासठ ! एक !

त्रेपलेव : (झटके से खिड़की खोल कर बाहर सुनता) कैसा घना अँधेरा है। मालूम नहीं क्यों, मेरा मन बड़ा उद्विग्न हो रहा है।

आर्कदीना : कोस्त्या, खिड़की बन्द कर दो न, हवा बड़ी तेज़ है।

(त्रेपलेव खिड़की बन्द कर देता है)

माशा : अट्ठासी !

त्रिगोरिन : बाजी मेरी रही।

आर्कदीना : (उल्लास से) शाबास ! शाबास !

शार्मेयेव : बहुत खूब !

आर्कदीना : इनकी तो हर बात में किस्मत चलती है ! (उठते हुए) आइए अब चल कर कुछ खा-पी लिया जाए। हमारे अतिथि 'महान् पुरुष' ने अभी कुछ खाया नहीं है। खाना खाने के बाद हम लोग फिर जमेंगे। (त्रेपलेव से) कोस्त्या, लिखना छोड़ो और चल कर खाना खा लो।

त्रेपलेव : मेरा मन नहीं कर रहा, माँ मुझे भूख नहीं है।

आर्कदीना : जैसी तुम्हारी इच्छा। (सोरिन को जगाती है) पेत्रूशा, खाना...(शार्मेयेव की बाँह पकड़ कर) हाँ तो मैं तुम्हें अपने हार्कोव के स्वागत के बारे में बता रही थी।

(पोलिना, मेज़ पर रखी मोमबत्तियाँ बुझा देती है। फिर वह और दोनें कुर्सी धकेलते ले जाते हैं। सब बायीं ओर के दरवाज़े से चले जाते हैं। मंच पर केवल मेज़ पर बैठ कर लिखता त्रेपलेव रह जाता है)

त्रपलेव : (लिखगे की तैयारी में जो कुछ पहले लिखा है उसे एक बार पढ़ता है) मैंने नए कला रूपों के बारे में बहुत कुछ कहा है लेकिन लेकिन मुझे धीरे-धीरे लगता है जैसे मैं स्वयं एक रूढ़ि में फँसता जा रहा हूँ। (पढ़ता है) "दीवार का बड़ा-सा पोस्टर चीख-चीख कर बोल रहा था"......"अपने काले बालों की टोपी में मुरझाया चेहरा।"—"चीख-चीख कर बोल रहा था", 'टोपी'—बिलकुल बेवक़ूफ़ी है। (लिखे को काट देता है) यहाँ मैं यों शुरू करूँगा कि "नायक पानी बरसने की आवाज़ से जाग पड़ा।"—शेष फिर आता जाएगा। दिन छिपे की चाँदनी का वर्णन बड़ा लम्बा और ज़रूरत से ज्यादा विवरणात्मक हो गया है जो हो, त्रिगोरिन ने अपना अलग ढंग निकाल लिया है... अब उसे लिखने में मुश्किल नहीं पड़ती...वह तो सिर्फ़ बाँध पर पड़ी टूटी बोतल की गर्दन को चमकने और पनचक्की के पहिए की काली परछांई का वर्णन करेगा और लीजिए साहब, चांदनी रात साकार हो उठेगी, जब कि मैं दुनिया भर की कांपती रोशनियों, तारों का मन्द-मन्द टिमटिमाना, खुशबू में महकती हवाओं पर कहीं दूर से आते डूबते पयानों की स्वर लहरियां, सब का वर्णन करूँगा यह सब बहुत ही नीरस हो जाता है (चुप रह कर) मुझे तो धीरे-धीरे यह विश्वास होता जा रहा है कि मूल सवाल नए और पुराने कला-रूपों का है ही नहीं—आदमी को बिना किसी भी कला-रूप का ध्यान किए, जो मन में आए लिख डालना चाहिए। क्योंकि वही तो सीधा उन्मुक्त रूप से उसकी आत्मा से उभर कर आता है (उसकी मेज़ के सबसे पास वाली खिड़की पर थपथपाहट होती है) कौन है ? (खिड़की से बाहर झांकना है) कुछ भी तो नहीं दिखाई देता... (कांच के दरवाज़े खोल देता है और बगीचे में देखता है) किसी के भागते पैरों की आवाज़ है...(पुकारता है) कौन है ? (बाहर जाता है और बरामदे में उसके तेज़ी से चलने की आवाज़ सुनाई देती है। आधे मिनट बाद ही नीना ज़रेश्न्या के साथ वापिस आता है) नीना, नीना !

(नीना उसकी छाती पर सिर रख कर घुटी-घुटी सिसकियों में बिलख पड़ती है)

त्रेपलेव : (व्यतीत उद्विग्न होकर) नीना! नीना! तुम आ गईं...तुम...जैसे इस बात को मेरा हृदय पहले से ही जानता हो...सारे दिन मेरा हृदय जैसे व्यथा से कराहता रहा है...व्याकुल रहा है (उसका चादरा और हैट उतारता है) आह, मेरी प्राण, मेरी निधि...आखिर तुम आ गयीं, रोओ नहीं...मत रोओ......

नीना : कोई है यहाँ।

त्रेपलेव : कोई भी नहीं।

नीना : दरवाजा बन्द कर लो, कोई आ जाएगा।

त्रेपलेव : कोई नहीं आएगा।

नीना : मुझे पता है इरीना निकोलायेना भी तो यहीं है। चटखनी लगा लो।

त्रेपलेव : (दाईं ओर का दरवाजा बन्द करके बाईं ओर के दरवाज़े की ओर जाता है) इस तरफ़ वाले दरवाजे में चटखनी ही नहीं है। मैं यहाँ कुर्सी लगाए देता हूँ। (दरवाज़े के आगे कुर्सी लगा देता है) घबराओ मत, कोई नहीं आएगा......

नीना : ध्यान से उसका चेहरा देखते हुए) मुझे ज़रा अपना चेहरा देख लेने दो...(चारों ओर देख कर) यहाँ बाहर की अपेक्षा गरम है.. बड़ा भला लगता है—पहले यहाँ बैठक थी। मैं क्या बहुत बदल गई हूँ?

त्रेपलेव : हाँ नीना, तुम काफ़ी दुबली हो गई हो आँखें बड़ी-बड़ी निकल आई हैं.. नीना कैसा आश्चर्य है कि मैं तुम्हें फिर अपने पास देख रहा हूँ—मुझे अपना चेहरा क्यों नहीं देखने देतीं? इतने दिनों से क्यों नहीं आईं? मुझे मालूम है तुम्हें यहाँ एक हफ़्ता होने आ रहा है...मैं तो रोज़ कई-कई बार तुम्हारे पास जाता रहा—खिड़की के नीचे भिखारी की तरह खड़ा ताकता रहा...।

नीना : मैं डरती थी कि तुम मुझ से घृणा करोगे—मैं रोज़ सपना देखती जैसे तुम मुझे ऐसी निगाहों से देखते हो जैसे पहचानते ही नहीं...काश मैं तुम्हें समझ पाती...जब से मैं आई हूँ यहीं...यहीं झील के किनारे भटकती रही हूँ। तुम्हारे घर के पास कई बार आई, लेकिन भीतर घुसने की हिम्मत ही नहीं पड़ सकी। आओ बैठ जाएँ (दोनों बैठ जाते हैं) आओ बैठ कर बातें करते रहें—बातें करते रहें। यहाँ कैसा अच्छा लग रहा है, गरम और बड़ा सुहावना है...हवा की सनसनाहट सुनाई दे रही है न...तुर्गनेव की लाइनें हैं वह आदमी कैसा सौभाग्यशाली है, जिसके पास ऐसी रात में एक मकान का सहारा है—जिसके पास अपना एक गर्म कोना है!" मैं तो हँसिनी हूँ ..ना, यह पंक्तियाँ नहीं हैं (माथा खुजलाती है) हाँ याद आया...तुर्गनेव ने कहा है "हे भगवान्, बेठिकाना भटकनेवालों पर दया करो,।"...कुछ भी तो नहीं हो पाया...(रोती है)

त्रेपलेव : नीना, तुम फिर रोने लगीं...नीना।

नीना : मेरे रोने पर ध्यान मत दो। मेरे लिए यही अच्छा है।...दो साल से मैं बिलकुल भी तो नहीं रो पाई हूँ। कल दिन छिपने के बाद मैं बाग में देखने आई थी कि हमारा वह स्टेज क्या अभी भी बना है? वह बना था। तब दो साल में पहली बार मैं बैठ कर वहाँ रोई और इससे जैसे मेरे दिल पर रखा हुआ बोझ उतर गया—मन हलका हो गया, देखो न, अब कहाँ रो रही हूँ! (उसका हाथ पकड़ लेती है) तो अब तुम लेखक बन ही गए—तुम लेखक हो, मैं अभिनेत्री हूँ—हम दोनों ही भँवर में भटकते रहे हैं। पहले बच्चों की तरह खुशी-खुशी में सोया करती थी—गाती हुई सुबह उठा करती थी, तुम्हें प्यार करती थी और यश पाने के सपने देखा करती थी, और अब? कल तड़के ही मुझे थर्ड क्लास में येलेत्स पहुँच जाना है...साधारण किसानों के साथ बैठ कर, येलेत्स में नया-नया रुपया कमा लेने वाले व्यापारी अपने-अपने सत्कार से मेरी नाक में दम कर देंगे, सच, जिन्दगी का ढर्रा बड़ा रसहीन हो गया है...

त्रेपलेव : येलेत्स क्यों जाओगी?

नीना : मैंने पूरे झाड़ों के लिए एक जगह वायदा कर लिया है। अब चलने का समय हो गया।

त्रेपलेव : नीना, मैंने तुम्हें गालियाँ दीं, नफ़रत की, मैंने तुम्हारे पत्र और चित्र फाड़ फेंके, फिर भी पता नहीं क्यों हर क्षण मैं जानता था कि मेरी आत्मा तुम्हारी आत्मा से अनन्त काल के लिए बँध कर एक हो गई है। तुम्हारे प्यार को निकाल फेंकना मेरी ताक़त से बाहर है नीना! जब से मैंने तुम्हें खोया और अपनी रचनाएँ छपाने लगा हूँ—जिन्दगी असह हो गई है... मैं बहुत व्यथित हूँ जैसे किसी ने मेरी जवानी को नोंच फेंका हो और मैं नब्बे नब्बे लम्बे सालों से इस दुनिया

में रहता चला आ रहा होऊँ...बार-बार तुम्हारा नाम लेता हूँ और उस धरती को चूम लेता हूँ, जहाँ तुम चला करती थी...जिधर देखता हूँ तुम्हारा चेहरा दिखाई देता है...वही मधुर मुस्कान जिसने मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ दिनों को आलोकित किए रखा।

नीना : (श्रान्त स्वर में) ऐसा क्यों बोलते हो...क्यों कह रहे हो यह सब ?

त्रेपलेव : दुनिया में मैं अकेला हूँ...किसी के प्यार की गरमाहट मुझे नहीं मिली...मेरे लिए वह है ही नहीं। मैं ऐसा जड़ और जम गया हूँ जैसे तहखाने में दबा रहा होऊँ—मैं जो भी चीज़ लिखता हूँ बड़ी रूखी, नीरस और अवसाद भरी-सी होती है। नीना मैं प्रार्थना करता हूँ रुक जाओ, या मुझे भी अपने साथ ले चलो, यहाँ से...

(नीना जल्दी से अपना टोप और चादरा ओढ़ लेती है)

त्रेपलेव : यह क्या है नीना ? भगवान् के नाम पर नीना...(जब वह अपनी चीज़ें पहनती है तो देखता रहता है)

(चुप्पी)

नीना : मेरे घोड़े फाटक पर खड़े होंगे। मुझे छोड़ने मत चलो—मैं अकेली ही चली जाऊँगी.. (आँसू भरी आँखों से) मुझे ज़रा-सा पानी दो...

त्रेपलेव : (पानी देता है) इस वक़्त कहाँ जाओगी ?

नीना : शहर। (चुप रह कर) इरानी निकोलायेना यहीं हैं क्या ?

त्रेपलेव : हाँ, बृहस्पति को मामा की तबीयत बहुत ख़राब हो गई थी तभी हमने तार देकर बुला लिया था।

नीना : तुमने मुझे यह क्यों बताया कि जहाँ हम लोग घूमा करते थे उस धरती को तुमने चूम लिया ? काश, कोई मुझे मार देता ! (मेज़ पर झुक कर) कितनी चूर-चूर हो गई हूँ मैं ! मन होता है कभी सुस्ता पाती, काश ज़रा-सा आराम कर पाती ! (सिर उठाकर) मैं हँसिनी हूँ...नहीं ग़लत...मैं सिर्फ़ एक अभिनेत्री हूँ...आह...ख़ैर...(आर्कदीना और त्रिगोरिन की हँसी सुनती है, सुनती रहती है, फिर दरवाज़े के पास जाकर ताली के छेद से देखती है) अच्छा वह भी यहीं हैं (त्रेपलेव की ओर घूम कर) आह, ठीक है...कोई बात नहीं...नहीं...रंगमंच में उसकी कोई आस्था नहीं है—वह मेरे सपनों का मज़ाक उड़ाता था और धीरे-धीरे ख़ुद भी रंगमंच से मेरा विश्वास हट गया...मेरा दिल टूट गया...और फिर मैं प्यार और ईर्ष्या में ही परेशान रहने लगी...हमेशा अपने बच्चे की ही बात सोचती—मैं बड़ी क्षुद्र और ओछी हो गई थी...जब भी अभिनय करती तो ग़लत सलत...मेरी समझ में ही न आता कि कैसे बाँहों को चलाऊँ, मंच पर आती तो जान ही न पाती कि कैसे खड़ी होऊँ, आवाज़ पर बस नहीं रहता। जब आदमी ख़ुद जानता हो कि उसका अभिनय बड़ा भद्दा हो रहा है तब उसे कैसा लगता है—तुम नहीं समझ सकते...मैं तो हँसिनी थी...नहीं...झूठ...याद है तुम्हें, तुमने एक बार एक हँसिनी का शिकार किया था ? "अचानक एक आदमी आया—उसने उसे देखा और यों ही मन बहलाने को उसका शिकार कर डाला"...कहानी का एक विषय, नहीं...यों नहीं (माथा खुजलाती है) क्या कह रही थी मैं ?...मैं रंगमंच की बात कह रही थी, नहीं अब मैं पहले जैसी थोड़े ही हूँ...अब सचमुच मैं ऐक्ट्रेस हूँ, जोश और उल्लास से अभिनय करती हूँ—जब मंच पर उतरती हूँ और वह सोचती हूँ कि कैसी सुन्दर लग रही होऊँगी—तो जैसे एक नशे में झूम उठती हूँ...जब से यहाँ हूँ, रोज़ ख़ूब घूमने जाती हूँ और सोचती रहती हूँ...विचार करती रहती हूँ और मुझे लगता है जैसे मेरी आत्मा में हर रोज़ अधिक शक्ति आती जा रही है...अब मैं जान गई हूँ...कोस्त्या, कि चाहे लिखना हो या अभिनय करना—हमारे काम में, यश, प्रशंसा और उस सबका महत्व नहीं है जिसके सपने हम रात-दिन देखा करते हैं—महत्व है धीरज रखने का, धैर्य का ! गले में क्रॉस लटका कर अपनी आस्था उस पर केन्द्रित कर देने का ! अब मेरे मन में आस्था है और यह सब इतनी तकलीफ़ नहीं पहुँचाता...अब जब मैं अपने काम के बारे में सोचती हूँ तो ज़िन्दगी से घबराती नहीं...

त्रेपलेव : (व्यथा से) तुमने तो अपना रास्ता खोज लिया है। तुम किस रास्ते से गुज़र रही हो—तुम्हें पता है लेकिन मैं तो अभी भी सपनों और कल्पना के सूने अवकाश में ही इधर से उधर भटक रहा हूँ, समझ नहीं पाता इस सबका क्या करूँ ? मेरी

आस्था नहीं है, मुझे मालूम ही नहीं कि मैं करूँ क्या ?

नीना : (बाहर कुछ सुन कर) चु...प मैं जा रही हूँ...विदा दो, जब कभी बहुत बड़ी ऐक्ट्रैस हो जाऊँ तो आना और देखना। वचन देते हो न ? लेकिन अब... (उसका हाथ दबाती है) बहुत देर हो चुकी है, मुझ से अपने पाँवों पर खड़ा नहीं रहा जा रहा...मैं चूर-चूर हो गई हूँ—मैं भूखी हूँ।

त्रेपलेव : रुको, मैं कुछ खाना ले जाऊँ, तुम्हारे लिए ?

नीना : ना...ना, मुझे छोड़ने मत आओ। मैं अकेली खुद चली जाऊँगी...पास ही तो मेरे घोड़े हैं...तो तुम्हारी माँ उसे अपने साथ ले आई...? ठीक है...कोई बात नहीं। त्रिगोरिन से जब मिलो तो उन्हें कुछ मत बताना...मैं उन्हें प्यार करती हूँ...पहले से भी ज़्यादा प्यार करती हूँ...कहानी का एक विषय... मैं उन्हें चाहती हूँ...बुरी तरह चाहती हूँ—जी जान से चाहती हूँ। कैसे अच्छे थे वे पहले दिन कोत्स्या !—तुम्हें याद है न ? कैसी निर्मल प्यार और आनन्द से भरी निष्कलुष ज़िन्दगी थी...हम लोगों के दिलों में कैसी भावनाएँ लहराती थीं...फूलों जैसी कोमल और सलोनी...याद है न ? (दुहराती है) "आदमी, शेर, चीलें और तीतर—बारहसिंघे, बतखें, मकड़ें, पानी में चुप-चुप तैरने वाली मछलियाँ, दिखाई न देने वाले छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े, सारे प्राणी, सारे जीव, सारे चेतन अपने दुखों का चक्र पूरा करके समाप्त हो चुके हैं... हज़ारों सालों से धरती ने किसी जीवित प्राणी को अपनी गोद में जन्म नहीं दिया है...और यह बेचारा चाँद अपने प्रकाश-दीप को चलाए रखने का उद्देश्य भूल चुका है...घास के मैदानों में अब बगुले चीख कर चौंक नहीं पड़ते—और नींबू के पेड़ों पर भौंरों की भनभनाहट नहीं गूँजती... (आवेश से त्रेपलेव को आलिंगन कर लेती है और शीशों वाले दरवाज़े में भाग जाती है)

त्रेपलेव : (कुछ देर चुप रह कर) अगर किसी ने बाग़ में उसे देख लिया और माँ को बता दिया तो बुरा होगा...माँ को बहुत तकलीफ़ होगी...

(दो मिनट तक वह अपनी पाण्डु लिपियों को फाड़-फाड़ कर मेज़ के नीचे फेंकता रहता है। तब दाईं ओर के दरवाज़े की चटख़नी खोल कर बाहर चला जाता है)

दोर्न : (बाईं ओर का दरवाज़ा खोलने की कोशिश करते हुए) अजब बात है। दरवाज़े की चटख़नी बन्द लगती है...(भीतर आ जाता है, और कुर्सी को उसकी जगह रख देता है) अच्छी खासी टिकटीवाली घुड़ दौड़ हो गई......

(आर्कदीना, पोलिना का प्रवेश। पीछे-पीछे बोतलों की ट्रे लिए हुए याकोव, माशा, फिर त्रिगोरिन और शार्मयेव आते हैं)

आर्कदीना : बोरिस अलेक्सीविच के लिए अंगूरी शराब और बीयर इधर इस मेज़ पर रखो। खेलते हुए हम लोग पीते भी जाएँगे। बैठिए, साहबान......

पोलिना : (याकोव से) साथ ही चाय भी ले आओ...

(मोमबत्तियाँ जलाती है और ताशों की मेज़ पर बैठती है)

शार्मयेव : (त्रिगोरिन को आल्मारी के पास ले जाता है) यह रही वह चीज़ जिसके बारे में मैं अभी आप से कह रहा था (मसाला लगी हँसनी को बाहर निकाल लेता है) इसी के लिए तो आपने कहा था न...

त्रिगोरिन : (हंसिनी को देखते हुए) मुझे तो याद ही नहीं आ रहा (सोचते हुए) कुछ भी याद नहीं आता।

(मंच के दाहिनी ओर से धमाके की आवाज़। सब चौंक पड़ते हैं।

आर्कदीना : (घबरा कर) क्या हुआ ?

दोर्न : कुछ नहीं, कुछ नहीं। मेरे दवा के बाक्स में कुछ चीज़ फूट गई होगी...चिन्ता की बात नहीं है (दाहिनी ओर के दरवाज़े से बाहर जाकर आधे मिनट में ही वापस आता है) हाँ वही तो बात थी ईथर की एक बोतल फट गई (गुनगुनाता है) "मैं खड़ा हूँ मुग्ध तेरे सामने फिर...

आर्कदीना : उफ़्, मैं कैसी घबरा गई थी...मुझे इससे उस दिन की याद आ गई जब.. (अपने हाथों में चेहरा छिपा लेती है) इससे बुरी तरह मेरा सिर चकरा दिया है...

दोर्न : (पत्रिका के पन्ने पलटाते हुए त्रिगोरिन से) दो महीने पहले इसमें एक लेख छपा था—"अमेरिका से एक पत्र"...अच्छा और बातों के साथ मैं आप से यह पूछना चाहता था कि...(त्रिगोरिन की कमर में हाथ

डाल कर फुट-लाइटों की तरफ़ लाता है) क्योंकि मुझे यह जानने का बहुत ही शौक़ है : (आवाज़ गिरा कर धीमे से) इरीना निकोलायेना को यहाँ से किसी तरह फ़ौरन ले जाइए...बात यह है कि कोन्स्तान्तिन प्राव्रिलिच ने अपने को गोली मार ली है...

(पर्दा गिरता है)

—ले० एण्टन चैख़व
अनु० राजेन्द्र यादव

कलकत्ता

नमक के प्रति भावना

......आगे चल कर नमक के प्रति सर्व साधारण में एक पवित्र भावना उत्पन्न हुई। यूनानियों, रोमनों और सेमेटिक जाति के लोगों में देवताओं को नमक-रोटी का भोग लगाना एक प्रचलित प्रथा थी। "नमक-हलाली" कृतज्ञता और स्वामिभक्ति की अभिव्यक्ति ही तो है। कुछ जातियों में नमक मिला भोजन ग्रहण करने का अर्थ था सम्बन्ध जोड़ना। शत्रु के घर का नमक खा लेने वाला दुश्मन भी कुछ समय के लिए सुरक्षित हो जाता था। यह बात है तो कुछ विचित्र-सी परन्तु है सर्वथा सत्य कि प्राचीन काल में नमक का व्यवहार तिब्बत, अबीसीनिया और मध्य आफ्रिका के कुछ भागों में रुपए-पैसे की तरह होता था।

अंग्रेज़ी के शब्द "सैलरी" (Salary) का जिसका अर्थ कि वेतन है—सम्बन्ध इसी नमक से है क्योंकि अंग्रेज़ी में नमक को 'साल्ट' (Salt) कहते हैं। रोमन सिपाहियों को वेतन के स्थान पर नमक दिया जाता था जिसे कि "सैलेरियम" (Salarium) कहा जाता था और फिर इसी से 'सैलरी' (Salary) शब्द बना।

दक्षिण भारत के ग्रामीणों में विशेषतया तमिल भाषियों में अब भी घर की आवश्यक वस्तुओं की सूची में नमक सबसे पहले होता है। तमिल भाषा में एक कहावत है : "जूठा वही है जिसमें कि नमक न हो।"

—नी. रा. श्रीनिवासन्

'भारती' में प्रकाशित एक लेख से

तेलुगु (आन्ध्र) का शतक वाङ्मय

आन्ध्र-साहित्य के इतिहास में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शतक कविता देखी जाती है। अन्य प्रकार की कविताओं के साथ ही उसका आविर्भाव होता है।

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह तेलुगु का अधिकांश साहित्य आदि से संस्कृत की छाया को लेकर चला है। आदि युग के साहित्य से लेकर आज तक के साहित्य के सभी ग्रन्थों में हमें संस्कृत के साहित्य का ऐसा प्रभाव दिखलाई पड़ता है जिससे आज तक तेलुगु का साहित्य किसी अन्य भारतीय आधुनिक भाषा के साहित्य से कम नहीं रहा है। इस उन्नति के लिए वह संस्कृत की ऋणी है। फिर भी साहित्यिक दृष्टि से उसमें मौलिकता नहीं है यह बात नहीं कही जा सकती।

१० वीं सदी से ही तेलुगु में शतक साहित्य प्राप्त होता है। इसकी रचना और विकास में संस्कृत का शतक साहित्य और खास कर सातवाहन नामक आन्ध्र नरपति के राजपंडित हाल की प्राकृत भाषा की 'गाथा सप्तशती (ईसा की पहली सदी) की परंपरा का प्रभाव पड़ा है।

शतक साहित्य आन्ध्र में अत्यधिक प्रचलित है; गाँव-गाँव और घर-घर में यह पढ़ा जाता है, आन्ध्र के शिक्षित और अशिक्षित सभी लोगों तक इसकी पहुँच हैं। भवनों से लेकर झोंपड़ियों तक इसका समान रूप से आदर है।

शतक का शब्दार्थ सौ है पर शतक में सौ ही पद्य नहीं पाए जाते। बल्कि एक सौ आठ तक पाए जाते हैं। इसी पद्धति में हिन्दी के व्रजभाषा पद्य में जगन्नाथदास रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' की रचना हुई। किन्तु वह मुक्तक नहीं है। उसकी कथा क्रमिक है। इसके अलावा संस्कृत और हिंदी में बहुत प्राचीन काल से शतक की परम्परा चली आती है। गोवर्धन की 'आर्या-सप्तशती' भी इनमें प्रसिद्ध है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य में' इसकी परम्परा प्रदर्शित की है। "वस्तुतः सात सौ हो, या तीन सौ या सौ फुटकर पद्यों के संग्रह के रूप में काव्य रचना की प्रायः इस देश में बहुत पुराने काल से होती आ रही है। चंडी पाठ के श्लोकों को भी सात सौ बनाने की कोशिश की गई है। तुलसी और रहीम के नाम के साथ भी सतसई का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया हैं...सौ पद्यों के संग्रह को शतक कहते थे। अमरुक का शतक तो प्रसिद्ध हैं ही; भर्तृहरि के भी तीन शतक प्रसिद्ध हैं। मयूर कवि का 'सूर्य स्तुति शतक' और बाण के 'चंडी शतक' पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। हिन्दी के रीतिकाल के प्रारंभ होने के पहले भी और बाद में भी संस्कृत में श्रृंगारी शतकों की परम्परा चलती रही है। चौदहवीं शताब्दी से पहले तो उत्प्रेक्षा वल्लभ ने 'सुन्दरी शतक' लिखा था और अट्ठारहवीं शताब्दी में अल्मोड़े के विश्वेश्वर कवि ने 'रोमावली शतक' लिखा था। मुबारक आदियों के अलग शतक और 'तिलक शतक' इसी परम्परा में है।...विल्हण या चौर कवि की चौर पंचाशिका, ५० पद्यों का धारावाहक संग्रह है। प्राकृत और संस्कृत के समान ही अपभ्रंश में भी सतसई और शतकों की परम्परा बनी रही पर दुर्भाग्यवश अब यह साहित्य उपलब्ध नहीं हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण में आए हुए दोहों को देख कर अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय वह परम्परा प्रचलित रही होगी" इस प्रकार शतक मनोवृत्ति नई नहीं है। यह आदिकाल से प्रारम्भ हुई और इसका प्रचलन आज तक है।

शतक साहित्य दक्षिणी भाषाओं के साहित्य में अधिक हैं। हिन्दी साहित्य के लिए यह एक नई चीज सी है या नहीं; कहना कठिन है। भारतीय शतक परम्परा में तेलुगु भाषा के कवियों ने भी उसका विकास किया है।

शतक साहित्य के कई भेद हैं। उनमें चार प्रमुख भेद हैं। (१) भक्ति शतक (२) नीति शतक (३) वेदांत शतक (४) व्याज स्तुति शतक; :—सर्वेश्वर वृषाधिप, नारायण आदि भक्ति शतक हैं। नीति शतकों के उदाहरण सुमति, वेमन भास्कर आदि शतक हैं। सिंहद्रि, नरसिंह, चौडप्पा, आंध्र नायक आदि व्याज स्तुति शतक।

शतक साहित्य का इतिहास : तेलुगु का प्रथम

शतक 'सुमति शतक' हैं। यह भद्र भूपति प्रणीत है। इनके अधिकतर पद्य 'कंद' नामक छंद द्वारा बँधे हुए हैं। यह तेलुगु का प्रसिद्ध शतक है। इसकी भाषा मधुरता की अपेक्षाकृत शुद्धता को लिए हुए हैं। इसमें संस्कृत की पदावली की प्रांजलता और कोमलता तो नहीं है किन्तु उनमें सरलता है। ये छन्द सुनने में अच्छे लगते हैं। शब्द गठन में एकनाद सौन्दर्य गुंफित जिनकी अपनी ही एक विशिष्ट शैली है। इन्होंने इस शतक की रचना पहले संस्कृत में की फिर तेलुगु में उसका सुन्दर अनुवाद किया। आज भी सुमति शतक संस्कृत के शतक साहित्य में अपना खास स्थान रखता है। भद्र भूपति महाराजा जसवंतसिंह और भर्तृहरि की तरह राजा और कवि ये आन्ध्र के इतिहास में इनके अग्निदीप्त शौर्य का और सूर्यदीप्त तेज का वर्णन है। इस कवि ने चालुक्यों की राज्य श्री का बचपन भी देखा था। कामदृप्त यौवन भी देखा था और काकतीयों की राज्य स्थापना भी देखी थी। इसी अनुभवशीलता के नाते उन्होंने लिखा है :

> "कोऽतिं भारस्समर्थानां, किं.दूरं व्यवसायिनाम्"
> दूरमु व्यवसायुलकु
> भारंबु समर्थकुलकु वसुमति गलदे"

'सर्वेश्वर शतक' सुमति शतक के पश्चात् अपना एक विशेष स्थान रखता है। किन्तु यह पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। इसका कवि "ययाताक्कुन अन्नमय्या" है। इसके बारे में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह शतक बाद के अनेक शतक काव्यों के लिए मूल है। इसकी शैली सुगम है। इसकी रचना १२४८ के आसपास हुई है।

१३८० के आसपास "राविपाटित्रिपुरांतक" कवि का 'अम्बिका शतक" मिलता है। नाम से ही स्पष्ट है कि कवि काली या पार्वती का भक्त हैं। इसमें सांसारिक वीभत्सता के विषय में वर्णन है। आरम्भ का शतक साहित्य मध्ययुग में इन्हीं से पुष्ट होता है। इनके कारण शतक साहित्य का भाव-क्षेत्र भी विकसित हुआ। नाना प्रकार के वर्णन होने लगे। इनकी 'तारावली' 'अम्बिका शतक' भक्ति माधुर्य मात्र के लिए ही नहीं वरन् शृंगार माधुर्य के लिए भी प्रसिद्ध है।

सच कहा जाए तो प्रारम्भ में शतक साहित्य का आविर्भाव नीति, भक्ति, वैराग्य, दैवीय प्रशंसा आदि के लिए हुआ किन्तु उसके विकास में शनैः शनैः परिवर्तन भी होता गया।

फिर तेलुगु-साहित्य में 'प्रबन्ध काव्य' युग आता है। इस युग में शतक साहित्य के प्रवर्तक 'ताळ्ळपाक अन्नमय्या" रहे। ये भक्ति क्षेत्र के थे। इसी युग में 'अय्यलराजु त्रिपुरांतक' ने 'रघुवीर जानकी पति शतक' की रचना की। इसकी रचना 'पोतन्ना' कवि के "नारायण शतक" के अनुकरण में हुई है। पोतन्ना आन्ध्र-साहित्य के सूरदास हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं कि तुलसी सा महान् व्यक्तित्व, पांडित्य और काव्यत्व तथा सूर सा भक्ति तत्व रखते हैं। उन्होंने अपने को नारायण का भक्त घोषित किया है। उनका 'नारायण शतक' दैवीय प्रशंसा के लिए लिखा गया है।

"चोड्डपाति पेंटय्या" का 'सूर्य शतक' भी उक्ति वैचित्र्य के लिए प्रसिद्ध है। पेंटय्या सूर्य भक्त थे। उनमें भावना की तीव्रता भी काफ़ी थी। शतक साहित्य रस स्फूर्ति और भाव सौन्दर्य के लिए महा काव्य और प्रबन्ध काव्य की तरह प्रसिद्ध नहीं है क्योंकि वे मुक्तक के रूप में हैं। सूर्य शतक एक महाकाव्य भी है। और एक सूर्य भक्त 'मारद वेंकय्या' का "भास्कर शतक" भी है। कवि का नाम ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं, किन्तु सी. पी. ब्राउन ने अपनी खोज के पश्चात् उसका कवि मारद वेंकय्या निश्चित किया है। यह मधुरता साथ ही साथ भावात्मकता को लिए हुए है। अन्वय की कठिनाई स्वल्प रूप में दिखाई देती है; किन्तु उसके नीचे गम्भीर भाव और नीति तत्व छिपा हुआ है।

'धूर्जटि' कवि के 'काल-हस्तीश्वर' शतक में काव्य-सौन्दर्य निखर उठा है। ये विजयनगर के बाद दरबार में 'कवि दिग्गजंये' इस शतक में शृङ्गार और वेदान्त का समन्वय है। 'धूर्जटि' की प्रशंसा करते हुए 'कविता प्रावीण्य फणीश्वर कृष्णराय शिखामणि ने एक बार कहा भी है कि :

> "स्तुति मति ऐन आन्ध्रकवि धूर्ज पलकुल
> केल कलिगेनो अतुलित माधुरी महिमा"

इनका शतक राजनैतिक, युद्धनैतिक और धार्मिक, शृङ्गा-रिक आदि विषयों से भरपूर है। इसका एक-एक छन्द बिहारी की रस-निष्पत्ति का अमूल्य उदाहरण है।

शृङ्गारप्रियता, तुलसी की आत्मवेदना, भवभूति की करुण रस-प्रियता आदि इसकी दिखाई देती है। किन्तु इन पर उनका प्रभाव नहीं पड़ा था बल्कि उनकी ये काव्य वृत्ति वृत्तियाँ मात्र थीं। इनकी शैली मधुर और सलक्षण है "गंगा का वेगवान् प्रवाह है।"

इस स्थान 'पट्टाभिराम के वज्रपंजर शतक, महनन्दन, तशक' 'गुव्वल चेन्ना शतक' आदि में उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। इन्होंने तीन-चार शतकों की रचना की है।

'पालपर्ति सोमेश्वर' का "शरभिलिंग" शतक स्तुति के लिए लिखा गया था। इससे शतक के आकार के रूपान्तर का द्योतन होता हैं।

इस युग में इस शतक के रचना काल तक शतक रचना के लक्षण पहले कि अपेक्षा रूपान्तरित तथा स्थिरीकृत हुए, इसके ये नियम आवश्यक माने गए।

(१) चतुर्थ पदांत संबोधन न हो (२) सभी पद्यों में मुकुट एक ही प्रकार का हो। (३) कवि और पाठक के बीच में परदा न हो (४) अनुभवों का समक्षोल्लेख हो (५) शतक नाम के कारण १०० या १०८ आठ पद्य हों।

इस प्रकार तीसरे कारण से 'उद्रेक सातत्य' क्या संविधान के बदले आवश्यक होता है। उद्वेग ही वहाँ पर भावावेश का काम करता है, यह भी आवश्यक हो गया। कई भिन्न भावों का संपुटीकरण ही शतक कहा जाने लगा। वाङ्मंय के परिणाम ने प्राकृत का अनुसरण किया। दशक विभाग भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया। (१) नामक दशक (२) अवतार दशक की कल्पना कर कवि शतक की पूर्ति करने लगा।

शतक साहित्य के भावं क्षेत्र में नाना रस प्रवेश करने लगे। यह साहित्य के इतिहास में "भाव परिवर्तनमु" कहा गया है। विम्नांकित विषय और तदंतनिर्हित वर्ण्य यिषय हो गए। (१) शत्रु संहार की इच्छा (वीर और भयानक) उदा : गोगुलवाटि कूर्मनाय कवि को नृसिंह शतक में। अज्ञात कवि रचित 'वेंकटाचल रमण शतक में। (२) समाज दूषण (हास्य के साथ) उदा : कवि चोंडप्पा आदि के व्याज-स्तुति शतकों में (३) सांसारिक अनुभव और उस पर विचार—उदा : भास्कर शतक आदि में। (४) स्वतन्त्र प्रियता (शांति और अद्भुत) कालहस्ती इवर शतक आदि में (५) नीति और सदाचार—उदा : सुमति शतक आदि में (६) शृंगार रस की आराधना—उदा : "कलुवाइ कांता ललाम" के लावण्य आदि के वर्णन में (७) ज्योतिष और वेदांत—उदा : कई शैव और वैष्णव शतक में।

यद्यपि इस प्रकार से शतक साहित्य में नाना प्रकार के रस बह उठे तो भी शतक वाङ्मय में उत्कृष्टता प्राप्त करने वाले शतक तो भक्ति और नीति सम्बन्धी ही हैं। शतक काव्य की खास विशेषताएँ हैं—१. स्वतन्त्र रचना (वस्तु) २. स्वतन्त्र प्रयोग (शैली) ३. व्यावहारिक पद संक्रमण (भाषा) ४. आध्यात्मिक विषय (भाव) आदि।

शतक काव्य की दो उपशाखाएँ हो गईं (१) ह्रस्व शतक—इसके अन्तर्गत 'रुद्रकवि' का 'जानार्दन अष्टक' शतक 'सत्यवोलु भगवत्कवि' का 'दशावस्तुति शतक' 'त्रिपुरांतक कवि' का 'चन्द्रतारावली' शतक और नवरत्न शतक आदि आते हैं।

(२) दीर्घ शतक—नीति और धर्म सम्बन्धी शतक जिनमें पंडिताराध्य और वेमन्ना के शतक हैं। काव्य विपुलता पंडिताराध्य कवि से शुरू होकर वेमना तक पहुँच कर रुक जाती है।

मध्ययुग में वेमना की कविताएँ महान् क्रान्तिकारी सिद्ध हुईं। उन्होंने कबीर की तरह समाज को फटकारा और धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन किया। उनकी शिष्य परम्परा आज भी आन्ध्र में है। इनका शतक, शतक-साहित्य का प्राण है। कबीर के दोहों की तरह इनकी 'आटवेलनि' छन्द के बँधे पद्य शिक्षित और अशिक्षित लोगों की जिह्वा पर नाचते हैं। 'आटवेलनि' छन्द इनके हाथों में आकर चमक उठा है किन्तु इनके पद्यों में कबीर के दोहों की तरह मात्राओं की गड़बड़ी बिल्कुल नहीं दिखाई देती है।

१६ वीं सदी का 'चोंडप्पा' कवि तंजाऊर आन्ध्र राजाओं के राजदरबार में रहा करते थे। इन्होंने व्याज-स्तुति शतक की रचना की है। तेलुगु साहित्य में व्याज स्तुति अलंकार में भी शतक साहित्य की रचना हुई है। कवि गाली गलौज के द्वारा भगवान् की निन्दा और समाज को नीति सुनाते हैं। मगर शतक के अन्त तक पश्चात्ताप तप्त हृदय से क्षमा माँगता है। इस कोटि में कवि चोंडप्पा कूर्म कवि (सिंहाद्रिनरसिंह शतक) पुरुषोत्तम कवि (आन्ध्र नायक शतक) और पेटय्या (भद्रगिरि

शतक) आते हैं।

इनके अलावा उत्तर काल में कई शतककार हुए मगर वे सामाजिक क्रांतिकारी वही थे। अतः वे केवल शतककार के रूप में प्रचलित है। उनमें ये (और इनके शतक) प्रमुख है।

कंचर्ल गोपन्ना कृत 'दाशरथि शतक' बाणाल तीर मुद्रका 'सांबशिव शतक' अडिदमु सूरकवि का 'रामलिंगेश्वर शतका कुक्कुटेश्वर का और रावूल संजीवका 'वीर नारायण शतक' पुलुसूरि सोमराज कवि का 'चन्द्रदूत शतक' रमणप्पा का 'विष्णु सर्वोत्तम शतक' चट्राति लक्ष्मी नरसुका 'कीदंडराम शतक' मादिन सुभद्रम्मा का 'केशव शतक' शेषप्पा का 'नृसिंह शतक' आदि स्तुत्य हैं। इन लोगों में रमणप्पा पर मध्वाचार्य का, भास्कर पर बौद्ध धर्म का, लक्ष्मी नरसु पर सामाजिक आन्दोलन का प्रभाव रहा है।

आधुनिक युग में 'माधव पेद्दि बुच्चि सुन्दर रामय्या शास्त्री' का मृत्युंजय और वेंकटपार्वतीइवर्लु' नामक कतिद्वय का 'कामेश्वरी' शतक ये दोनों शतक सौन्दर्य और भावतत्व को भरने के लिए लिखे गए इनकी रचना रीति शतक की है किन्तु शिक्षा की अपेक्षा भाव सौन्दर्य व्यंग्यगुणी भूत है और प्रकृति सौन्दर्य अधिक है। आधुनिक युग के शतक साहित्य पर आधुनिक काव्य धाराओं का प्रभाव भी रहा है। गीता शतक अनुवाद है। वीर ब्रह्मचारी के 'सत्यदेव शतक' पर छायावादी और प्रगतिवादी धाराओं का प्रत्यक्ष प्रभाव दीखता है। आन्ध्र में लोकप्रिय 'नार्ल' का क्रमशः प्रकाशित होता हुआ शतक अभी तक ही प्रशंसा का पात्र बन गया है। इसमें आधुनिकता का जोर है।

शतक साहित्य तेलुगु का सर्वस्व नहीं है। बल्कि एक अंग मात्र ही है। पाठक यह न समझे कि आन्ध्र साहित्य के माहत्म्य का यही द्योतक है। शतक साहित्य एक काव्य धारा का पोषक मात्र है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुग के ज्ञान पंथियों में जिस प्रकार से साहित्यिक महत्ता की अपेक्षा विचार प्रधानता दीखती है उसी प्रकार तेलुगु के शतक साहित्य में भी विचारों की प्रधानता दीखती है।

अखिल भारतीय हिन्दी परिषद्,
आगरा

—जी. एस. राव

चित्तौड़-महल

"......जोधपुर का चित्तौड़-महल संभवतः समस्त भारतवर्ष में सुन्दरतम महल है। इसमें नक़्क़ाशीवाले स्तम्भ हैं जो राजस्थानी परम्परा के परिचायक हैं। यहाँ के नीले संगमरमर के स्नानागार को देख कर रोमन सम्राट् चकित हो जाते। इस महला का निर्माण महाराजा उम्मीदसिंह ने १६२८ से १६५२ तक अकाल-पीड़ित लोगों को सहायता देने के लिए कराया था और इसमें १ करोड़ २० लाख रुपए खर्च किए गए थे।......"

—कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

भादों की शाम और क्वाँर का सवेरा

[दिन डूब चुका है। गाँव के बाहर एक सुनसान खण्डहर में एक छाया-पुरुष घूम रहा है। रह-रह कर रुक जाता है। कभी-कभी माथा थाम लेता है। लगता है बहुत थका हुआ है। कभी-कभी चौंक कर पीछे की ओर घूम पड़ता है। फिर आहिस्ते से एक टूटे-फूटे शिला खण्ड पर अपना भार डाल देता है। ह...ह...ह...ह...की एक हँसी पीछे की ओर से सुनकर चौंक पड़ता है, खड़ा होकर झटके से पीछे की ओर देखता है। एक छाया-नारी जैसे आकाश में तैरती हुई उतर रही है। नीला परिधान नीले शरीर की गहराई को और गम्भीर कर रहा है। सघन कुन्तल-राशि उसकी पीठ पर यमुना की धारा की तरह लहरा रही है। उसकी आँखें छोटी-छोटी हैं किन्तु बहुत चमक रही हैं जिसमें तरलता नहीं तीक्ष्णता है। लहराती हँसती हुई, स्तब्ध छाया-पुरुष के पास आकर खड़ी हो जाती है।]

छाया-पुरुष : कौन हो तुम ?

छाया-नारी : ह...ह...ह...ह अब भी नहीं पहचाना ?

छाया-पुरुष : तुम्हें पहचाना ही कब था ?

छाया-नारी : मेरी भ्रू-भंगिमा सदा से तुम्हारी हार का इतिहास लिखती रही है, मेरे मेघ नील कुन्तलों की घाटियों में तुम्हारी हँसी की धूप बार-बार बुझ-बुझ कर रोई है। फिर पूछते हो मैं कौन हूँ ? ह...ह...ह... खूब रही।

छाया-पुरुष : (स्मृति पर ज़ोर देते हुए) पहेली न बुझाओ नारी। मेरे जीवन ने कभी हार के आँचल में मुँह छिपा कर क्रन्दन किया हो, मैं नहीं जानता। मेरी हँसी मुझी से फूटती है और मुझी में समाती है, उस पर दूसरे का अधिकार मैंने जाना ही नहीं। मैं नहीं जानता हूँ कि तुम कौन हो ?

छाया-नारी : तुम्हारी जाति ही ऐसी है, भीतर कुछ, बाहर कुछ। भीतर-भीतर तुम्हारी आत्मा थक कर चूर हो गई है, तुम्हारी चेतना पथरा गई है, तुम्हारी आँखें संज्ञाशून्य सी तुम्हारी भीतरी शून्यता का इज़हार दे रही है। तुम्हारे पांव रास्ता छोड़ कर इस सुनसान खण्डहर में भटक गए हैं। तुम्हारी वाणी में एक अव्यक्त थरथराहट है। पर तुम पुरुष जो हो, कहोगे कि मैं विजयी हूँ, अपार शक्तिशाली हूँ। हार नहीं जानता, रोना नहीं जानता। अहं तो तुम्हारा जातीय गुण है। तो सुनो मैं भादों की शाम हूँ जहाँ तक आते आते तुम्हारा रास्ता उलझ जाता है और तुम गिर पड़ते हो।

छाया-पुरुष : (भ्रुकुटियों पर बल देकर) अच्छा तो तुम हो भादों की शाम ! बड़ा अहं हो गया है तुझे नारी। जो मेरे भीतर है वही बाहर है। मैंने संघर्ष करना सीखा है और संघर्षों के क्षणों से ही मेरे जीवन का निर्माण हुआ है। वे क्षण कभी झूठ नहीं बोलते, उनमें प्रवंचना नहीं, सचाई होती है। तुम्हारी जैसी अगिनत शामों को मैं अपनी निगाहों से चीर चुका हूँ। यह दूसरी बात है कि थकावट मुझे भी लगती है जैसा कि अभी देख रही हो। (उसी शिला पर फिर धीरे से बैठ जाता है)

(अन्धकार गहरा रहा है, नारी की आँखें और तेज़ चमकने लगती हैं, हवा चमकने लगती हैं, हवा के झोंकों में उसके सघन केश उड़-उड़ कर आस-पास की भूमि पर अपनी परछाइयाँ छोड़ रहे हैं)

छाया-नारी : तुम्हें पता है इस समय तुम्हारी प्रजा की क्या दशा है ? तुम तो हार कर इस सुनसान खण्डहर में मुँह चुराने आगए हो और तुम्हारी प्रजा पर इस समय मेरा कड़ा शासन है। उनकी आँखों और दिलों में असूझ अन्धकार लोट रहा है।

छाया-पुरुष : झूठ है, सरासर झूठ है। यह सब मुझे कमज़ोर करने के लिए तुम्हारी बनावटी बातें हैं। मेरी प्रजा कभी नहीं हार सकती। वह मृत्युंजय है। (लड़खड़ाती आवाज़ में) यह तो ज़रा मैं चलते चलते थक गया हूँ, ठीक हो जाऊँगा। मेरी प्रजा भी थककर सुस्ता रही होगी (सहसा उग्र होकर) वह तुम्हारा शासन कभी स्वीकार नहीं कर सकती, कभी नहीं, कभी नहीं।

छाया-नारी : (व्यंग्य से हँस कर) हिम्मत हो तो चलो मेरे साथ और अपनी आँखों देखो कि तुम्हारी

प्रजा किस प्रकार कीड़ों जैसी बिलबिला बिलबिला कर जिन्दगी खींच रही है, कैसे जबरदस्त कुत्ते, कमजोर कुत्तों को पटक कर उनके मुँह से रोटी के टुकड़े छीन ले रहे हैं और किस प्रकार धर्म और नीति की खाल ओढ़ कर खूँखार जानवर लोगों की अस्मत और रोटी का पवित्र मज़ाक उड़ा रहे हैं।

छाया-पुरुष : (हाथ से माथा थाम लेता है) उफ़ यह तुम क्या सुना रही हो ? क्या समझती हो इससे मैं हताश हो जाऊँगा ? नहीं नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

छाया-नारी : (मुस्करा कर) तो चलो मेरे साथ। (पुरुष का हाथ पकड़ लेती है। पुरुष निरीह भाव से उसके साथ हो लेता है। दोनों गांव के एक टूटे फूटे मकान के पास आकर रुक जाते हैं और एक अधगिरी दीवार की आड़ में हो लेते हैं।)

(एक टूटा फूटा कच्चा मकान है। तीन ओर की दीवारें आधी आधी गिरी हुई हैं। एक ओर जर्जर दीवार पर खपरैल उलझा हुआ है अब गिरी या तब। जगह जगह थूनियों से छत की बडेरों और धरनों को सहारा दिया गया है। दीवार पर पानी की गहरी लकीरें खुदीं हुई हैं और नीचे फ़र्श पर पानी गिरने के कारण अनेक छोटे छोटे गड्ढे बन गए हैं। एक छोटे से अँधेरे कमरे में एक आठ वर्षीय बालक एक टूटी खाट पर पड़ा हबस रहा है। बाहर बरामदे में एक अधेड़ औरत दीवार से पीठ सटाए गुमसुम बैठी है। उसकी आँखें पथरा सी गई हैं। लगता है कि उसमें अमावस का अन्धकार जम कर जड़ हो गया है। पैबन्द भरी एक साड़ी उसके शरीर की लाज ढकने की बार बार असफल कोशिश कर रही है। एक अधेड़ पुरुष धीरे धीरे बाहर से आँगन में उतरता है मानो वह निराशा की मूर्ति हो। औरत की निगाह पुरुष पर पड़ती है लेकिन वह ज्यों की त्यों बैठी रहती है। उसे कुछ पूछने की हिम्मत नहीं होती है जैसे वह मिलने वाले को जानती है जिससे वह रोज़ रोज की परिचित हो चुकी है (पुरुष का नाम रामदीन और औरत का नाम दुलारी है।)

रामदीन : (नारी के सामने आकर बड़ी ग़मग़ीनी से ठहर कर) बेनी की माँ !

दुलारी : (उसी प्रकार मायूस निगाहों से देखती हुई) यही न कि नहीं कुछ मिला। कौन सी नई बात है यह ?

रामदीन : क्या किया जाए बेनी की माँ ? अब तो इन आँखों यह सब देखा नहीं जाता, यह सब सहा नहीं जाता। सबसे अपना दुखड़ा रो आया किन्तु किसी का दिल नहीं पसीजा।

दुलारी : दिल हो तब तो पसीजे। और सारा गाँव तो इसी महामारी में जल रहा है कौन किसे बचाए ! जो बचा सकते हैं ये तो हमें और झोंक कर तमाशा देखना चाहते हैं।

रामदीन : बेनी कहाँ है ?

दुलारी : सू......उसे छेड़ो मत। उसी कमरे में पड़ा हबस रहा है। वह जानता है कि तुम कुछ ले आओगे इसलिए उसे छेड़ो मत।

रामदीन : ठीक कहती हो बेनी की माँ ! वह भी हम लोगों के साथ उपवास पर उपवास कर रहा है और हम लोग उसे सन्तोष पिला पिला कर जिला रहे हैं। नहीं जाऊँगा उसके पास उसका दिल टूट जाएगा। (कुछ ठहर कर) लेकिन इससे क्या होता है बेनी की माँ ? मेरे हाथ खाली हैं तो क्या हुआ ? बाप का दिल तो नहीं न खाली है वह तो उसे दे सकता हूँ। बेनी बेटा, आ जा बेटा, आ जा :

(बेनी बाप की आवाज़ सुन कर और ज़ोर ज़ोर से हबसने लगता है)

रामदीन : बेटा कलेजा मत फाड़, टुकड़े टुकड़े हो जाएगा। (लपक कर बेटे के खाट के पास पहुँचता है, बेटे को गोद में भर लेता है। बेटा ज़ोर ज़ोर से सिसकियाँ लेने लगता है)

बेनी : बा...बू...हो...ओ...ओ...मा...ईईई

रामदीन : बेटा तुम भी तो भाई को तंग करते हो।

बेनी : बा...बू...हो...ओ...भू...ख लगी—ई...ई...है ऐ ऐ (रामदीन की बाहें ढीली पड़ रही हैं, पांव लड़खड़ा रहे हैं। बेनी को गोद में लिए खाट पर गिर जाता है)

रामदीन : (धीमे स्वर में) हाय अभागे रामदीन, तुम्हारे पास क्या है देने को ? (माथा थाम लेता है)

बेनी : बा...बू ...हो...ओ....ओ...ओ भू...ख...

(बिल्ली म्याऊँ म्याऊँ बोलती है, रामदीन अपना माथा हथेलियों से कसता जा रहा है)

रामदीन : बेनी की माँ, अब मैं नहीं जीऊँगा। हाय मेरा कलेजा दुखता जा रहा है। क्या कहीं उधार बाढ़ी नहीं मिल सकती है बेनी की माँ ?

दुलारी : सभी के घरों में तो मुर्दनी छाई हुई है। सभी के तो खेत डूबे हुए हैं। तन का छुल्ला छुल्ला तो कसी का...(रोने लगती है)

रामदीन : क्या करूँ बेनी की माँ ? बच्चे की सिसकियाँ मेरे कलेजे पर बर्छे की नोक बन कर गिर रही हैं। कुछ तो करना पड़ेगा, कुछ तो...।

(बच्चा सुबकता रहता है)

दुलारी : (उच्छ्वास लेकर) गाँव भर में तो मौत का सन्नाटा छाया हुआ है। देखो भेजा है लीला को जमींदार के यहाँ।

रामदीन : (चौंक कर) क्या कहा ? लीला को जमींदार के यहाँ भेजा है ? (क्रुद्ध स्वर में) तुमने ठीक नहीं किया दुलारी।

दुलारी : क्या नहीं ठीक किया ? इतना परेशान क्यों होने लगे ?

रामदीन : (तड़प कर) क्या तुम नहीं जानती कि जमींदार कितना बड़ा हत्यारा है ? वह गरीबों की इज्जत से खेलता है, उनकी गरीबी का मजाक उड़ाता है।

दुलारी : (निरुद्देश भाव से) यह तुम क्या कह रहे हो ? मैं तो सुनती हूँ वह बड़े शरीफ हैं।

रामदीन : हाँ हाँ, वह शरीफ़ और तुम शरीफ़। चाँदी की चमक में सर्वत्र शराफत ही नज़र आती है।

दुलारी : (उद्विग्न होकर) मेरे कलेजे पर हथौड़े न मारो। लपक कर जाओ, पकड़ लाओ बेटी को। हे भगवान् उसे कहीं कुछ हो न जाए।

(रामदीन क्रोध में लाठी उठा कर जाने को उद्दत होता है कि बेनी की हबस सुनाई पड़ती है—बा...बू...ओ...भूख...लगी...है...ऐ...ऐ...। रामदीन के तने हुए अंग ढीले पड़ जाते हैं। लाठी रख कर धम्म से जमीन पर बैठ जाता है।)

रामदीन : (उदास भाव से) जाने दो दुलारी, भगवान् सब भला करेंगे।

दुलारी : (आवेश में) जाते हो कि नहीं। बड़े आए हैं भगवान् भला करने वाले। बाढ़ लाकर भी भगवान् ने भला किया, गरीबी की चक्की में पीस कर भी भगवान् ने भला किया और अब रही सही इज़्ज़त भी लूट कर भगवान् भला करेंगे।

(दीवार की आड़ से छाया-नारी छाया-पुरुष की बांह पकड़ कर खींचती है। चलो अब आगे देखें। छाया-पुरुष निर्जीव-सा उसकी अंगुलियों से खिंचा चला जाता है। गाँव के बाहर ज़मींदार की हवेली। हवेली की बाईं ओर कलमी आम के घने बाग़। पेड़ों के झुरमुट में बने एक एकान्त बंगले में अमरेश सिंह बैठे हुए हैं। यह बंगला शाम को ज़मींदार साहब के एकान्त सेवन का स्थान है। मोटी थुलथुल देह पर सेन गुप्ता धोती और शरबती कुर्ता लापरवाही से झूल रहे हैं। पचर पचर पान चबा रहे हैं। रेडियो पर गाना चल रहा है छाई बहार है, आजा मेरे बालमा तेरा इन्तज़ार है..।)

(एक नौकर डरते डरते प्रवेश करता है। जमींदार तड़प उठता है—कौन है इस समय दखल देने आया है)

नौकर : मालिक रामदीन दुबे की बिटिया लीला आई हुई है वह आपसे मिलना चाहती है। मैंने लाख मना किया किन्तु वह मानती ही नहीं, कहती है बहुत ज़रूरी काम है। क्या हुकुम है सरकार !

ज़मींदार : (अन्यमनस्कता का अभिनय करते हुए) अच्छा भेज दो यदि नहीं मानती तो। (नौकर को सुना कर बड़बड़ाता है) दिन रात लोग सर खाए रहते हैं...। (नौकर चला जाता है। ज़मींदार जल्दी जल्दी अपने कपड़ों पर सेन्ट उड़ेल लेता है। लीला धीरे धीरे बाग़ का अन्धकार चीरती हुई बंगले की ओर बढ़ती है। पृष्ठभूमि में करुण स्वर में किसी के गाने की आवाज़ उठती रहती है—"रेलिया न बैरी, जहजिया न बैरी, पइसवा बैरी हो..." लीला बँगले के द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती है।)

ज़मींदार : आइए, आइए लीला जी, इस समय कौन-सी आफ़त आ गई कि......

(लीला चुप है)

ज़मींदार : इसमें शरमाने की क्या बात है ? कहिए अपनी ज़रूरत कहिए !

लीला : ज़मींदार बाबू बात यह है कि...यह है कि......

ज़मींदार : कहिए न, निस्संकोच कहिए ? मुझे अपना ही आदमी समझिए।

लीला : बात यह है कि मां ने भेजा कि कुछ रुपयों के लिए।

ज़मींदार : (हँस कर) अरे तो इसमें इतना सकुचाने की क्या बात है ?

लीला : सकुचाने की तो बात है ही जमींदार बाबू। उधार बाढ़ी मांगते किसे नहीं शरम आती ? दूसरों के सामने अपना नंगापन खोलते हुए संकोच तो होता ही है।

ज़मींदार : मुझे पराया क्यों समझती है लीला देवी ? इसे उधार न समझ कर अपनों की सहायता समझें तो बेहतर हो। बोलिए कितने चाहिए ?

लीला : यही कोई दो चार...।

ज़मींदार : बस ! अरे ये तो दो दिन को भी नहीं होंगे। दो दिन बाद किसी और के समाने हाथ फैलाओ, इससे तो बेहतर है अपने आदमी की सहायता मंजूर करो।

लीला : जी ?

ज़मींदार : हाँ, हाँ; ठीक तो कह रहा हूँ। अरे देखो तो कितनी गन्दी फटी साड़ी शरीर की शोभा बिगाड़ रही है ? इसे बदलना होगा।

लीला : लेकिन...

ज़मींदार : लेकिन वोकिन कुछ नहीं (तिजोरी खोल कर दस दस रुपयों के तीन नोट लीला के आगे बढ़ा देता है।)

लीला : नहीं नहीं जमींदार बाबू इतना बोझ मैं नहीं संभाल पाऊँगी, मुझे दो चार चाहिए।

ज़मींदार : पगली हो इसे रख लो जरूरत पर काम देगा। (उठ कर लीला की मुट्ठियों में तीनों नोट कस देता है)

लीला ; नहीं नहीं...

ज़मींदार : अजी छोड़ो भी यह सब नहीं हाँ।

(लीला धीरे धीरे बोझिल पगों से बंगले से बाहर होने लगती है)

ज़मींदार : जरा ठहरिए लीला जी !

लीला : जी !

ज़मींदार : जरा आइए, इधर थोड़ा फूलों की खुशबू के बीच घूम लें।

लीला : मुझे बहुत जल्दी है जमींदार बाबू। मेरा छोटा भाई बोनी कई दिनों का भूखा है अहक अहक कर जान दे रहा है।

ज़मींदार : अरे थोड़ा सा आइए न !

(लीला डरते डरते जमींदार के साथ हो लेती है)

ज़मींदार : आपका भाई भूखा है, आपके पिताजी भूखे होंगे, आपकी माँ भूखी होंगी, आप भूखी होंगी और मैं ?

लीला : (चौंक कर) क्या कहते हैं आप ? आपको क्या कमी है ?

ज़मींदार : है तभी तो कह रहा हूँ। मैं जन्म-जन्मान्तर का भूखा हूँ लीला जी, लेकिन मेरी भूख मिटाने कोई नहीं आता है, सब अपनी ही भूख की फरियाद लेकर आते हैं।

लीला : मैं कुछ भी समझ नहीं पा रही हूँ जमींदार बाबू !

ज़मींदार : (लीला का हाथ पकड़ कर) देखिए मेरी छाती पर हाथ रख कर। ये धड़कनें शायद आपको कुछ समझा दें।

लीला : (जोर से हाथ खींच कर) छोड़िए, छोड़िए आप न जाने कैसी उलटी पुलटी बातें कर रहे हैं।

ज़मींदार : पहले पहल ऐसा ही लग रहा है लीला जी। अभ्यस्त हो जाने पर सारी बातें सीधी हो जाती हैं।

लीला : (घबड़ा कर) पता नहीं आप क्या बकते जा रहे हैं ? कोई सुने हो तो क्या कहे ?

ज़मींदार : घबड़ाओ नहीं लीला देवी, इस समय इस सन्नाटे में मेरे और आपके सिवा और कोई नहीं हो सकता है। (लीला की बाँह पकड़ कर खींचता है।)

लीला : (हुँकार कर) आप होश में नहीं हैं जमींदार बाबू ! शायद आप सोचते हों कि मैं आपके रुपयों पर बिक गई हूँ। आप धोखे में हैं। हम गरीब जान देकर भी इज्जत की रक्षा करते हैं। ये लीजिए अपने रुपए।

ज़मींदार : इस दुनिया में ये रुपए तुम्हारी इज़्ज़त से अधिक काम के हैं नादान लड़की। इज़्ज़त तो ऊपर ओढ़ी हुई एक खोल है। (पृष्ठभूमि में एक छोटे बालक के हबसने की आवाज सुनाई पड़ती है। लीला की खुलती हुई मुट्ठियाँ बन्द होने लगती हैं। उसके कानों में बेनी की हबस कांपने लगती है।)

लीला : दया कीजिए अमर बाबू; मैं आपके रुपए मज़दूरी कर के पटा दूँगी लेकिन यह मुझसे नहीं होगा, नहीं होगा। (माथा थाम लेती है।)

ज़मींदारी : मज़दूरी करें तुम्हारे दुश्मन। तुम तो मेरे दिल पर शासन करने के लिए हो।

(लीला अन्धकार में इधर उधर भागती है। उसकी मुट्ठी कभी खुलती है, कभी बन्द होती है। कभी ज़मींदार की घृणित आकृति, कभी बेनी की भूखी आँखें उसकी आँखों में उतरा जाती है। "नहीं, नहीं; यह नहीं होगा अमर बाबू यह नहीं होगा।..." "भइया तुम भूखे हो, अभी रुपए ले आई...।")

छाया-नारी : देखा तूने। तुम्हारी प्रजा भूख और बरबादी से आहत होकर कैसे कीड़ों की तरह बिलबिला रही है। (अट्टहास करती हुई) मेरी छायाएँ निर्दयता से इनकी आँखों से खेल रही हैं।

छाया-पुरुष : तुम मुझे ग़लत तस्वीरें दिखा कर भयभीत करना चाहती हो। चले चलो यहाँ से, उस प्रकाश में चलो।

(नारी हँस कर उसकी बाँह खींचती हुई चिराग़ के पास ले जाती है। एक बनिए की दूकान है। एक मद्धिम लालटेन भुक-भुका रही है। सामने एक बरगद का घना पेड़ है जिस पर अनगिनत जुगनू जगमगा रहे हैं पीछे के गड्ढे से मेंढ़कों की टर्र-टर्र की आवाज़ कान के परदे फाड़ दे रही है। कभी कभी हवा के तेज़ झोंके से बरगद हरहरा उठता है। थोड़ी थोड़ी बूँदा बाँदी हो रही है। दूकान पर खड़ा कल्लू बनिया चिलम पी रहा है और बीच बीच में बुरी तरह खाँस उठता है।)

कल्लू : भगवान् यह कैसा समय आ गया है? चारों ओर ग़रीबी, झूठ, दग़ा, फ़रेब। हाय राम खों...खों...खों...खों......

(जग्गू चमार का प्रवेश)

जग्गू : जयराम कल्लू दादा।

कल्लू : जयराम, जयराम; कहो क्या हाल है?

जग्गू : क्या हाल बताए कल्लू दादा आफ़त तो आई हुई है देश में।

कल्लू : हाँ, जग्गू ऐसा समय तो इतनी बड़ी जिन्दगी में कभी नहीं आया था। दुनिया पापी हो गई है। पाप का फल कौन भोगेगा?

(सन्नाटा)

जग्गू : कल्लू दादा, कुछ खाने को दोगे।

कल्लू : हे राम, हे राम, क्या कहता है रे जग्गू? अभी उस दिन उधार ले गया था न! चुकाया भी नहीं कि फिर आ धमका।

जग्गू : क्या करे कल्लू दादा, कहाँ जाएँ? क्या करें? अपने लोग तो मज़दूर ठहरे। गांठ में क्या बँधा है कि भुनाभुना कर गाढ़े दिनों में खाया करें? हाय राम।

कल्लू : क्यों जग्गू तू तो ज़मींदार का हरवाहा है न। तुझे क्या कमी पड़ गई है। जाकर उन्हीं से क्यों नहीं मांगता, बखार के बखार तो पड़े हैं।

जग्गू : (उच्छ्वास लेकर) क्या बात करते हो कल्लू दादा? ज़मींदार के बखार हम लोगों के लिए थोड़े न हैं? (कल्लू के कान में कुछ फुसफुसाता है)

कल्लू : हे राम, हे राम, हे परमात्मा, इस दुनिया को क्या हो गया है? अब कहीं धरम करम बाक़ी नहीं रहेगा क्या?

जग्गू : दादा, मैं ठीक कह रहा हूँ। ज़मींदार तो इस समय हरवाहों से कर्ज़ा वसूल करने पर उतारू है। भला तुम्हीं बताओ दादा, जिनगी भर हमने ज़मींदार के यहाँ काम किया तो खाने कहाँ जाए? खाया है तो काम भी किया है। खाया ही तो है, कोई रोजगार नहीं न किया है। (उसकी आँखें भर आती हैं)

कल्लू : तुम रो रहे हो जग्गू। अरे मरद हो, हिम्मत से काम लो। भगवान मालिक है।

जग्गू : रोऊँ न तो क्या करूँ दादा? लड़के भूखे, औरत भूखी, मैं भूखा। भूखे पेट ज़मींदार के यहाँ काम पर जाना पड़ता है। और वह जालिम मज़दूरी देने के बदले कर्ज़ा माँगता है। देखो न दादा पीठ पर के ये घाव! जालिम ने आज कर्ज़ा न दे पाने के कारण मुर्गा बना कर पीटा है। (हबकता है) सुनता हूँ ज़मींदारी टूट गई, किसान मज़दूरों का राज हो गया लेकिन कहाँ कुछ हुआ दादा, हमें तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता।

क० राम राम, शिव शिव, हे परमात्मा क्या हो गया है दुनियाँ को! खों...खों...खों...खों।

(सन्नाटा)

ज० : दादा, मेरा बड़ा लड़का कल कोई काम खोजने शहर जा रहा है। कई दिनों से घर पर उपास हो रहा है। आँख के सामने सब कुछ सह लेता हूँ दादा,

किन्तु वह परदेस जा रहा है, उसे रास्ते में एक वक़्त खाने को भी न दे सकूँ तो मैं बाप कैसा ?

क० : मैं तुम्हारी मुसीबत के साथ हूँ लेकिन तुम तो जानते हो मेरी छोटी सी लेई पूँजी है। उधार बाढ़ी में ही खतम हो जाएगी।

ज० : तो जाऊँ दादा ?

क० : मजबूर हूँ।

(जग्गू धीरे धीरे अन्धकार में खो जाता है, कल्लू चिलम भरता हुआ खाँसता रहता है)

क० : कौन है ?

('मैं हूँ' दादा कहते हुए एक अधेड़ औरत का प्रवेश)

क० : ओ आप हैं बहू जी, कहिए क्या हुकुम है ?

औरत : (चारों ओर ताक ताक कर) कोई है तो नहीं।

क० : नहीं, कोई नहीं है बहू जी, कहिए क्या बात है ?

औरत : अब तुमसे क्या परदा रह गया है कल्लू दादा ? जानते ही हो खेत में कुछ हुआ नहीं। घर पर कोई करने वाला भी नहीं है। वे तो चले ही गए, जवान बेटा भी भगवान से न देखा गया (रोने लगती है) खर्चों की तंगी अलग से, मजूर अलग से तंग करते हैं। यह सब जो है सो है ही। खेत में बोने को तो अनाज चाहिए ही। वही तो एक सहारा है।

क० : बहू जी आप रोती हैं। हे भगवान, दुनियाँ को क्या हो गया है ?

औरत : रोऊँ न तो क्या करूँ कल्लू दादा। अब तो घर में कुछ रहा भी नहीं। यही हँसुली बची थी सो लाई हूँ इसे रख कर कुछ गेहूँ जौ नाप दो दादा।

क० : हे राम, हे परमात्मा कैसा बुरा समय आ गया है। (गेहूँ नापता है. राम राम, दुई दुई, तीनहि तीन...औरत लुकती छिपती चली जाती है।)

......क्यों रे कलुआ ?

'जी जी' चौंक कर कल्लू उठ खड़ा होता है हाथ की चिलम गिर जाती है।

क० : जी सरपंच साहब !

सरपंच : हाँ, हाँ; मैं ही हूँ। तू तो ऐसा घबड़ा रहा है जैसे क़यामत आ गई हो।

क० : अरे मालिक यह आप क्या कहते हैं ?

सरपंच : अच्छा अच्छा बातें फिर बनाना, पहले पांच रुपया निकाल।

क० : हम गरीब बनियाँ हैं मालिक और मांगने वाला गाँव भर। हम कहाँ इतना पैसा पाए सरकार ?

सरपंच : क्यों रे कल्लू की दुम सुअर, मैं मांगने वाला हो गया और वह भी गाँव वालों के साथ।

क० : अरे नहीं मालिक, मेरा यह मतलब नहीं था इस ससुरी जबान को क्या कहें ?

सरपंच : नहीं था ? अच्छा निकाल पांच रुपए।

क० : नहीं है मालिक।

सरपंच : नहीं है ? अच्छा समझ रखना।

क० : अच्छा ठहरिए मालिक, जरा घरवाली से पूछ देखूँ।

(कल्लू घर में घुसता है दोनों छायाएँ जंगले के पास जाकर खड़ी हो जाती हैं)

क० : बुद्धू की माँ, सरपंच बाबू फिर पांच रुपए मांग रहे हैं।

बुद्धु की माँ : (झमक कर) तो दे दो बड़े धन्ना सेठ बने हो तो।

क० : अरे ईश्वर कसम ज़रा धीरे धीरे बोल, मेरी जान मत हतवा। मैं जानता हूँ कि पहले पच्चीस रुपयों की तरह ये भी वापस नहीं होने को, लेकिन तू तो जानती है न कि न देने पर पहले की तरह किसी केस में फँसा कर फिर पन्द्रह बीस रुपए डांड़ लगा देंगे।

बुद्धु की माँ : तो जाओ न दे दो मेरा सिर क्यों खा रहे हो ? मैं कौन होती हूँ रोकने वाली। ये हरामख़ोर पता नहीं कब गांव से साफ़ होंगे।

(कल्लू पांच रुपए लिए आता है)

सरपंच : अक़्ल आती है लेकिन ज़रा देर से, औंधी खोपड़ी है न।

(कल्लू नोट को प्यासी निगाहों से देखता कांपते हाथ से इसे सरपंच को देता है। सरपंच हँसता हुआ चला जाता है, कल्लू कांपता रहता है।)

(छाया-पुरुष हतप्रभ होता जो रहा है। छाया-नारी व्यंग्य से मुस्करा कर पूछती है—देखा कुछ! फिर उसकी बाँह पकड़ कर गांव की अँधेरी गली में लाकर खड़ा कर देती है। पहरेदार की 'जागते रहो' की आवाज़ सुनाई पड़ती है। गली में एक आदमी

विक्षिप्त-सा इधर से उधर और उधर से इधर टहलता हुआ दिखाई पड़ता है। दूर कुत्तों के भौंकने की आवाज़ सुनाई पड़ती है। रिमझिम रिमझिम पानी बरस रहा है। हवा के भयानक झोंके रह रह कर चीख उठते हैं।)

गली में टहलता हुआ पुरुष बड़बड़ा रहा है—नहीं मैंने जीवन में ऐसा काम कभी नहीं किया। चोरी, बाप रे चोरी, ऐसा अधम कर्म मैं करूँ? क्या अपने जीवन के सभी पवित्र क्षणों को पाप के कीचड़ में सान दूँ? नहीं ऐसा नहीं होगा। (उसकी आँखों में दो बुझती हुई आँखें उतरा जाती हैं)

बेटा, मेरे जीवन के संचित अरमान, तुझे बचाने के लिए मैं पाप भी करूँगा।

पृष्ठभूमि में कुछ संवाद कौंध उठते हैं "डाक्टर साहब, इसे बचा लीजिए। मेरा लड़का एम. एस-सी. में पढ़ता है, बड़ा होनहार है, नाम रौशन करेगा। मेरी ग़रीबी का सहारा है।"

"सूइयाँ देनी पड़ेंगी कुल मिला कर डेढ़ सौ रुपए लगेंगे।"

"इतना नहीं हो सकेगा डाक्टर साहब! मैं एकदम ग़रीब हूँ कुछ तो रहम कीजिए।"

"रहम के लिए दातव्य औषधालय पड़ा है ले जाइए। मैं जाता हूँ। और सुनिए जल्दी इन्तज़ाम न होने पर लड़के का कोई भरोसा न कीजिएगा।"

"ठहरिए डाक्टर साहब मैं पाताल फोड़ कर रुपया लाऊँगा। आप अपना काम शुरू कीजिए।"

× × ×

'ज़मींदार बाबू डेढ़ सौ रुपए के रूप में अपने बेटे की ज़िन्दगी माँग रहा हूँ।"

"मैं कोई दानशाला थोड़े न खोले हुए हूँ, कृप्या तशरीफ़ ले जाइए।

"तबाह हो जाऊँगा बाबू।"

"मैं किसी की आबादी बरबादी का ठेका लिए हूँ।"

(पृष्ठभूमि का संवाद बन्द हो जाता है)

"डाक्टर मैं रुपए लाऊँगा। बेटा मैं तेरे लिए आज चोरी भी करूँगा।" (वह गली में घूमता हुआ व्यक्ति एक लम्बी चमकती चीज़ से दीवाल खोदने लगता है।)

छाया-नारी : देखा तूने! यह अनाड़ी व्यक्ति अभी पकड़ जाएगा और फिर सिपाहियों और जेल की परछाइयाँ इसके सिर पर घूमेंगी।

छाया-पुरुष : ले चलो मुझे यहाँ से। मेरा सिर चक्कर खा रहा है मुझे सहारा दो नारी।

(छाया-नारी, छाया-पुरुष को लेकर उसी सुनसान खण्डहर में चली जाती है)

छाया-पुरुष : क्या वक्त होगा इस समय?

छाया-नारी : आधी रात से अधिक हो रहा है।

(शृंगाल फेंकरते हैं। मुवाख पक्षी मुओ-मुओ... चीखता है। रात का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता है।)

छाया-पुरुष : यह कैसी भयावनी आवाज़ आ रही है?

छाया-नारी : मेरे दूत तुम्हारी प्रजा पर मौत का जादू फेर रहे हैं। ये पक्षी और शृंगाल जैसे मौत की सूचना दे रहे हैं।

(भयानक लूक टूटता है।)

छाया पुरुष : यह क्या?

छाया नारी : मौत मसाल जला कर तुम्हारी प्रजा के प्राणों को दबोच कर उड़ रही है।

छाया पुरुष : ओह नारी यह कैसा भयानक सत्य मैं देख रहा हूँ (बेहोश होकर लुढ़क पड़ता है।)

अन्तराल

(दूर खेतों से कुछ आवाज़ सुनाई पड़ती है जो धीरे धीरे इसी ओर बढ़ती आ रही है।)

"बाँ...बाँ...बाँ ओ भइया" धीरे धीरे पुरुष की मूर्च्छा समाप्त होती है।)

छाया पुरुष : यह कैसी आवाज़ है?

छाया नारी : कहीं कोई आवाज़ नहीं है। मूर्च्छा में केवल तुम्हें भ्रम हो रहा है। (पुरुष फिर लेट जाता है।)

(पृष्ठभूमि में)

"चैतू बीया ले आओ
मँहगू हेंगा ले आओ"

छाया पुरुष : (उठ कर बैठता हुआ-सा) यह भ्रम नहीं है नारी, सचाई है। लगता है कोई मेरी नस नस को उत्तेजित कर रहा है। मेरे हृदय के सुनसान में कोई ममता की किरणें बिखेर रहा है।

छाया नारी : आज मेरा अखण्ड राज्य है

पुरुष। मैं संसार की परम सत्य हूँ। अन्त में सब मेरी ही शरण आते हैं। आज वही पर्व है। मेरे इस अगाध सन्नाटे के पारावार में कोई भी ध्वनि तुम्हें किसी कूल किनारे की सूचना नहीं दे सकती।

(पृष्ठभूमि में)

'हलकू भाई, इस साल भी क्या अकाल पड़ा? अकाल क्या था खुद मौत ही उतर आई थी।' "हाँ मँहगू भाई, यह अकाल तो हर साल आता है आफ़तों का पहाड़ सिर पर टूट जाता है, लेकिन यह जिन्दगी बड़ी थेंथर है मँहगू भाई, कभी क्या अकाल से यह हार मानती है। हर साल ही तो बाढ़ आती हैं और हमारी हरीभरी फसलों को हम से छीन कर हमारे जीवन में रेत भर'जाती है लेकिन हम हर साल ही तो कुआर में खेत में हल बैल और नए बीमे लेकर पहुँच जाते हैं।"

"सो तो है हलकू भाई, जिनगी बड़ी अपरबल है।"

छाया पुरुष : (उत्तेजित होकर) तुम मुझे निश्चय ही धोखा दे रही हो। देखो, यह देखो, मेरे ठण्डे रक्त में गरमी आ रही है। मेरी आँखों में भोर-सा उजास फूट रहा है। लग रहा है जैसे अनगिनत स्वर मेरे कण्ठों से फूट रहे हैं। (नारी को झकझोर कर) बोलो तुम बोलती क्यों नहीं?

छाया नारी : छोड़ो, छोड़ो मुझे। तुम अभी सपने में बरी रहे हो! मैं संसार की सबसे बड़ी सत्य हूँ। मुझे कौन मिटा सकता है?

(पृष्ठभूमि में)

"हलकू भाई जिनगी की साथ कितनी अपरबल है? देखो न किसान उपास करता है, ढांस करता है। बीमारियाँ झेलता है। अपने सामने मौत के शोर में चीख़ते अपने बेटे को देखता है लेकिन नए साल पर खेत में बोने के लिए बीमा बचा कर रखता है अपने बेटे की तरह। ये नए बीमे ही उसकी जिनगी के सहारे हैं भाई।"

"हाँ भाई वह मुसीबत के कुहासे में घिरा हुआ भी सोचता रहता है कि कुआर आएगा, धरती में बीए बरसेंगे। बीए अंखुए बनेंगे, अंखुर के पौदे बनेंगे, पौदे लहलहाएँगे। अनेकों फूलों की रंगीनियों में आँखें जुड़ाएँगी। फिर सोने की तरह बड़े बड़े दानों से खलिहान भर जाएगा। नया ज़माना आएगा। सब खुशहाल होंगे। कोई किसी के आगे हाथ क्यों पसारेगा? चोरी बेईमानी क्यों करेगा कोई? सब लोग गीतों के ताल पर नाचेंगे)

(छाया पुरुष खुशी से नाच उठता है)

(पृष्ठ भूमि में)

'मँहगू भाई तुम्हें यह गीत याद है न? अरे वही—'गाढ़े गए दिन बीते।'

'हाँ हलक भाई, वह क्यों न याद रहेगा? वह तो हम किसानों की जीत और उम्मीद का गीत है।'

'तो फिर गाएँ'

"गाढ़े गए दिन बीत रे बैला बाएँ से औं औं।
माँ का हरा कचनार मन मुरझाया हुआ है
धुआँ चिता का ताल में अभी छाया हुआ है
पर न नई यह रीति रे, बैला बाएँ से औं औं।"

(गीत का स्वर एक खेत से दूसरे, दूसरे से तीसरे खेत में फैलता जा रहा है और सभी दिशाओं के किसान उसे दुहराते जाते हैं। लगता है जैसे गीत का प्लावन उमड़ रहा है।

"धानों की दो दिन की जवानी टूट गई रे
आँखों में सपनों की कहानी टूट गई रे
टूटी नहीं परतीति रे बैला बाएँ से औं औं।"

छाया पुरुष : (घूम कर) सुनती हो मौत देवी, यह जीवन का अखण्ड संगीत? अरे तुम कहाँ हो? अरे तुम तो सफ़ेद और निर्जीव होकर पश्चिम की ओर उड़ी जा रही हो।

"मिट्टी के रस में दे मिला परछाइयाँ तू
धरती में फिर साथी सहेज हराइयाँ
फिर बोएँ हम गीत रे बैला बाएँ से औं औं।"

गाढ़े गए दिन......गाढ़े गए दिन......

(छाया पुरुष गीत पकड़ कर नाचने लगता है। पूर्व में भोर का उजास फूटता है, पुरुष का मुख मण्डल सोने की तरह दमदमा उठता है, वह दौड़ता है, दौड़ता है और जाकर उस ज्योति के समुद्र में मिल जाता है।)

—रामदरस मिश्र

इलाहाबाद

भारतीय स्वातन्त्र्य-युग के प्रणेता—श्री अरविन्द

जिस प्रकार योगिराज अरविन्द का महान् आध्यात्मिक जीवन समस्त मानव समाज के लिए एक प्रकाश स्तम्भ बन गया, उसी प्रकार इसके पूर्व का भी उनका जीवन स्वातंत्र्य प्रिय भारतवासियों के लिए एक प्रेरणा-स्रोत बना हुआ था। जब सत्तारूढ़ विदेशियों के भय से कोई 'स्वतन्त्रता' का नाम उच्चारण करने का भी साहस नहीं कर पाता था, उस समय श्री अरविन्द तथा उनके दल का उद्देश्य ही था 'पूर्ण स्वतन्त्रता'। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा भी "आज हमारे अधिकांश देशवासी 'स्वतन्त्रता' का नाम लेने में भी भय खाते हैं किन्तु मैं तो सदैव इस पवित्र नाम का उच्चारण करता हूँ क्योंकि यह मेरे जीवन का मूल मन्त्र है।" इस प्रकार यदि श्री अरविन्द को ही हम भारतीय स्वातंत्र्य युग का प्रणेता कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

प्रारम्भिक जीवन : श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त सन् १८७२ ई॰ को कलकत्ता के एक सर्वसाधन सम्पन्न परिवार में हुआ। उनके पिता पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा तथा जीवन प्रणाली से विशेष प्रभावित थे अतएव ५ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें दार्जिलिंग के कन्वेंट स्कूल में भर्ती कर दिया गया तथा दो वर्ष पश्चात् उन्हें पाश्चात्य वातावरण में ही शिक्षा प्राप्त करने के हेतु इंगलैण्ड भेज दिया गया। इस प्रकार अत्यन्त बाल्यकाल से ही अरविन्द भारभीय वातावरण एवं इसके संस्कारों से वंचित रह गए। इंग्लैण्ड में रह कर उन्होंने लैटिन, ग्रीक, इटैलियन, जर्मन, स्पेनिश आदि भाषाओं को सीखा तथा अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का भी अत्यन्त सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया।

जब अरविन्द ११ वर्ष के थे तभी उन्हें इस बात का ज्ञान हो चुका था कि अंग्रेज हमारे देश और देशवासियों के साथ कितना विश्वासघात तथा दुर्व्यवहार कर रहे हैं। उन्होंने परतन्त्रता की जंजीरों से जकड़ी हुई अपनी भारतमाता के दुर्दैव की कहानी सुनी थी और तभी से उन्होंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया था कि भविष्य में वे देश स्वतन्त्र कराने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करेंगे।

१८ वर्ष की अवस्था में श्री अरविन्द ने इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की किन्तु देशभक्ति की भावना से ओत प्रोत उनका क्रान्तिकारी हृदय विदेशियों की अधीनता नहीं स्वीकार करना चाहता था। इसलिए वे घुड़सवारी की परीक्षा में नहीं सम्मिलित हुए और इस महत्वपूर्ण सरकारी पद को लात मार दी।

स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष : जब श्री अरविन्द इंग्लैण्ड में थे तभी उनके हृदय में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी थी और उन्होंने वहाँ अपने बड़े भाइयों के साथ मिल कर एक क्रान्तिकारी दल का संगठन भी किया था। श्री अरविन्द ने कैम्ब्रिज में क्रान्तिकारी विचारों से परिपूर्ण कई व्याख्यान भी दिए जिन्हें सुन कर अंग्रेज इन्हें अपना परम शत्रु समझने लगे। भारत वापस आने के कुछ दिन पूर्व श्री अरविन्द ने लन्दन निवासी कई भारतीयों को मिला कर Lotus and dagger (कमल और कटारी) नामक एक गुप्त समिति बनाई जिसके सभी सदस्यों ने यह प्रण किया कि हम कोई न कोई ऐसा कार्य अवश्य करेंगे जो कि भारत में विदेशी शासन की नींव हिला देने में सहायक होगा।

जब श्री अरविन्द इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में असफल घोषित हुए उस समय बड़ौदा के महाराजा स्व॰ सयाजी राव इंग्लैण्ड में ही थे। वहीं उनका श्री अरविन्द से परिचय हुआ और उन्होंने अपने राज्य कार्य के लिए इन्हें नियुक्त कर लिया। श्री अरविन्द सन् १८९३ में स्वदेश वापस आए और बड़ौदा में रहने लगे। यहाँ वे १३ वर्ष रहे और राज्य कार्य के अतिरिक्त कालेज में प्रोफेसर तथा बाद में वाइस प्रिंसिपल के रूप में भी कार्य किया। इसी समय उन्होंने अपने भावी जीवन के कार्यक्रमों की एक रूपरेखा तैयार कर ली थी और उसी के अनुसार कार्य करने में जुट गए। यहीं उन्होंने कई भारतीय भाषाएँ सीखी तथा अपने रीति रिवाज, आदर्श, धर्म और संस्कृति का गहरा अध्ययन किया। यहाँ रह कर ही उन्होंने धीरे धीरे योगाभ्यास भी प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् बंगभंग आन्दोलन आरम्भ होने पर श्री अरविन्द कलकत्ता

स्थित नेशनल कालेज के प्रिंसिपल होकर बड़ौदा से कलकत्ता आ गए। जब तक श्री अरविन्द बड़ौदा में रहे वे प्रकट रूप में किसी भी राजनैतिक आन्दोलन में भाग न ले सके। यहाँ वे देश की परिस्थितियों का ही अध्ययन करते रहे। बड़ौदा छोड़ने से कुछ समय पूर्व राज्य की सेना के एक सैनिक यतीन बनर्जी को बंगाल भेजा ताकि वह वहाँ जाकर नवयुवकों का संगठन तैयार करे जो आवश्यकता पड़ने पर देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर सके। इन नवयुवकों को गुप्त रूप से सैनिक शिक्षा देने की व्यवस्था भी की गई थी।

श्री अरविन्द कलकत्ता आते ही अपने कार्य में जुट गए। देश में क्रान्ति का वातावरण उत्पन्न करने के हेतु उन्होंने 'युगान्तर' नामक एक पत्र निकाला जिसके सम्पादक स्वामी विवेकानन्द के भाई थे और इसके द्वारा खुले आम अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध प्रचार किया जाने लगा। जब आपत्ति जनक लेखादि प्रकाशित करने पर सम्पादक पर मुकदमा चला तो इस पत्र ने यह नीति अपनाई कि हम अंग्रेज सरकार को अपनी सरकार ही नहीं मानते फिर उनके न्यायालय में हम अपने मुकदमें की पैरवी क्यों करें। इस घटना के बाद बंगाल में इस पत्र की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

शीघ्र ही श्री अरविन्द की गणना बंगाल के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं में होने लगी। उनके 'वन्देमातरम्' पत्र ने सम्पूर्ण देश में एक नव जागृति उत्पन्न कर दी जिसके परिणाम स्वरूप देश के असंख्य नवयुवक स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व अर्पण कर देने को भी तत्पर हो गए।

अंग्रेज सरकार यह स्थिति अधिक नहीं सहन कर सकती थी और उसने श्री अरविन्द को अपने कानून के शिकंजे में जकड़ना चाहा। दो एक बार तो वह असफल रही किन्तु अन्त में उन्हें अलीपुर बम केस में जकड़ ही लिया गया। इस केस में विचाराधीन क़ैदी के रूप में श्री अरविन्द को लगभग एक वर्ष तक कारावास में रहना पड़ा। आखिरकार सरकार का यह कुप्रयास भी असफल रहा और वे पूर्णतः निर्दोष सिद्ध हुए। किन्तु इस कारावास ने तो श्री अरविन्द के जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। कारागार में उन्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त हुए और तभी वे उसकी खोज में चल दिए, अनन्त पथ पर।

अध्यात्मिक साधना : वास्तव में श्री अरविन्द जब बड़ौदा में ही थे उसी समय से उन्होंने योगाभ्यास प्रारम्भ कर दिया था। और इससे भी पूर्व जब वे योगादि के विषय में कुछ जानते भी न थे तभी उन्हें कुछ आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हो चुकी थीं जिनका कि सम्बन्ध उनकी आध्यात्मिक साधना से नहीं था।

सन् १९१० में श्री अरविन्द भारत में ब्रिटिश राज्य की सीमा छोड़ कर पाण्डेचेरी आ गए और यहीं राजनैतिक हलचल से पृथक् होकर वे योगाभ्यास और आध्यात्मिक साधना में लीन हो गए। इसके पश्चात् लाला लाजपतराय और देशबन्धु चितरंजनदास जैसे महान् राजनैतिक नेताओं ने कई बार उनसे अनुरोध किया कि वे पुनः देश की राजनीति में भाग लें और इंडियन नेशनल कांग्रेस का अध्यक्ष पद ग्रहण करें किन्तु जिसे एक बार आध्यात्मिक शान्ति की अनुभूति हो चुकी हो वह पुनः अशान्त और कोलाहल मय जगत् के वातावरण की कामना ही क्यों करेगा।

फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें संसार से विरक्ति हो गई थी अतः उन्हें इसकी कोई चिन्ता ही न थी। वस्तुतः उनकी साधना में मानव कल्याण की कामना निहित थी। वर्ष की कुछ निश्चित तिथियों पर जब वे आश्रमवासियों को दर्शन देते थे उस समय अपने देश के विषय में अवश्य विचार करते थे। भारतवर्ष के सम्बन्ध में उन्होंने एक बार अपने हृदय के ये उद्गार प्रकट किए थे : "भारतवर्ष का भविष्य बहुत ही स्पष्ट है। भारतवर्ष जगत् का गुरु है। जगत् की भावी रचना भारतवर्ष पर ही निर्भर है। भारतवर्ष जीवित अन्तरात्मा है। भारतवर्ष जगत् में आत्मज्ञान को अवतरित कर रहा है...।"

१५ अगस्त, स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर भारत विभाजन के सम्बन्ध में पूछे जाने पर योगिराज अरविन्द ने कहा था कि भारतवर्ष का यह दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन मिट जाएगा। पाकिस्तान का अस्तित्व भी उन्होंने १० वर्ष ही माना था।

कौन जाने इस योगी ने अपनी योग-दृष्टि से भारतवर्ष के भविष्य को देख लिया हो।

—लल्लनप्रसाद

आर्य संगीत विद्या और तानसेन

संगीत मुक्तिलाभ का प्रथम सोपान है। देवर्षि नारद संगीत के द्वारा ही भगवत उपासना किया करते थे। संगीत के प्रभाव से ही सूरदास, मीराबाई, रामप्रसाद आदि भक्त भगवत साक्षात्कार पाते थे। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने वेदचतुष्टय के सार संग्रह संगीत रूप पंचम वेद का आविष्कार किया था। जहाँ संगीत है वहीं भगवान् है और वही आनन्द भी है। एक जगह भगवान् ने कहा भी है—

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च,
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।"

ब्रह्मा का शिष्यत्व ग्रहण कर शिवजी ने उनसे संगीत विद्या सीखी थी।

दवलोक में दुर्गा और सरस्वती नागलोक में वासुकी, गन्धर्व लोक में कलनाथ, सारदल, तुम्बरू, आपुथो, देशा, होहाई, कोटल, होहा, और हू हू ऋषियों में नारद भरत, और कश्ययप ने, राक्षसों में रावण, कपियों में हनुमान् तथा मनुष्यों में अर्जुन ने संगीत विद्या का प्रवर्तन किया था।

संगीत तीन प्रकार के हैं गीत, वाद्य और नृत्य। तीनों में कंठ संगीत का स्थान सर्व प्रथम है। इसीलिए साधारणतः संगीत के अर्थ में हम कण्ठ संगीत को ही समझते हैं। विशेषज्ञों ने संगीत को प्रधानतः **दो अंशों** में माना है—घनात्मक और वर्णात्मक। दो वस्तु के घात प्रतिघात के फल स्वरूप जो नाद होता है उसे घनात्मक और कंठ तालू के घात प्रतिघात से जो स्वर निकलता है उसे वर्णात्मक कहा गया है। यह दोनों यन्त्र संगीत और कण्ठ संगीत के रूप से परिचित है।

सात कारणों से जीवों को संगीत के प्रति अनुराग हुआ है। शरीर संचालन नाद आदि स्थान अथवा ताल श्रवण, शुद्ध सप्त स्वर, विकृत द्वादश स्वर, वाक्यादि चतुर्विध भेद आदि कारणों से ही जीव संगीत के प्रति आकृष्ट होते है। शुद्ध सप्त स्वर तथा षड्ज, ऋषभ, गांधार पंचम धैवत एवं निषाद। राग रागिणी के मूल स ऋ ग म प ध नि यही सप्त सुर हैं। इनका उच्चारण

उच्चारण स्थान	मूल	अन्त
स.........	दन्त	कंठ
ऋ...... ...	मूर्धा	तालू
ग.........	कंठ	कंठ
म.........	उष्ठ	नासिका कंठ
प.........	उष्ठ	कंठ
ध.........	दन्त	कंठ
नि.........	दन्त	नासिका तालू

सप्तविध जन्तुओं के कण्ठ स्वरों से इन सप्त स्वरों की स्पष्टि हुई है। यथा—मयूर से स, वृष से ऋ, अज से ग, क्रौंच से म, कोकिल से प, कुंजर से घ एवं अश्वमेलि लिया गया है।

सप्त स्वर के संयोग वियोग से छः राग और उनकी पत्नी छत्तीस (३६) रागिनियों का जन्म हुआ है। इनसे पुनः पुत्र-कन्या स्वरूप असंख्य उपराग रागिनियों की सृष्टि हुई है। इन सप्त स्वर के विभिन्न देव-देवियाँ भी हैं।

सा=अग्नि, ऋ=ब्रह्मा, ग=सरस्वति, म=महादेव, प=लक्ष्मी, ध=गणेश, नि=सूर्य। रागिणियों के भी कई भाग हैं।

रागिणी : श्री राग की, श्री मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी। पहाड़ी बसंत : देशी, देगगिरी, बराटि, तोड़िका, ललिता, हिन्दोली। भैरवी गुर्जरा, रामकिरी, गुणकिरी, बंगाली, सैन्धवी। पंचम : विभाष, भूपाली, कर्णाटी, बड़ी हंसिका, मालवी और पटमंजरी। मेघो के मन्दारी, सौरठी, सारेरी, कौशिका, गांधारी, हरश्रृङ्गारा आदि।

एक-एक राग के प्रभाव से प्रकृति में एक एक परिवर्तन होता है। जैसे दीपक राग के आलापन से अग्नि का आविर्भाव। मेघमल्लार के आलापन से मेघों का संचार। भैरवी राग के आलापन से उषा का प्रकाश, हिन्दोल राग के आलापन से नव बसंत आगमन तथा श्री राग के आलापन से प्रदोष का अनुभव होता है। प्रत्येक रागिणी में एक प्रकार की स्वतन्त्र शक्ति विद्यमान है।

दृष्टान्त स्वरूप विहाग राग प्राणों में वैराग्य का

संचार कर आत्मविस्मृति लाता है।

इन ६ रागों से षड़ ऋतुओं का अविद्देश्य संबन्ध है। ऋतु विशेष में गुण क्रिया प्रति के दृष्टि रख आलापन करने का विधान है।

यन्त्र संगीत का दूसरा नाम है वाद्य। यह संगीत चार भागों में विभक्त है : शुशिर, धन, आनन्द, तत।

धन—करताल, मन्दिरा, धन्य आदि धातुमय वाद्य यन्त्र।

शुशीर—सछिद्र, रंध्रयुक्त वंशी शंख आदि।

तत—तन्त्र की विकृति सितार, तानपूरा बेहाणा आदि।

प्राचीन ऋषियों ने नृत्य को दो भागों में बाँटा है। ताण्डव और लास्य—पुरुषों का नृत्य ताण्डव और स्त्रियों का नृत्य लास्य कहलाता है। ताण्डव नृत्य के दो भाग हैं—पेवली और बहुरूप। लास्य नृत्य के भी दो भाग हैं- घूरित और यौवन। जिस नृत्य के समय नायक नायिका नयनों में नयन मिला परस्पर चूमनादि करते है उसे घूरित और जिस नृत्य के समय नर्तकी एकाकी नृत्य कर दूसरों का मनोपहरण का प्रयास करती है उसे यौवन नृत्य कहते हैं। कविता में जैसे यति है वैसे ही संगीत में ताल है। विना ताल के कोई भी गीत, वाद्य या नृत्य मनोमुग्धकर नहीं हो सकता। ताण्डव और लास्य इन द्वयों के आद्याक्षर ता और ला को मिला कर 'ताला' शब्द की उत्पत्ति हुई है। एक ताला, चौताला आदि इस बात की पूर्त्ति करते है यही इसी ताला शब्द के अपभ्रंश को 'ताल' कहा जाता है।

सिकन्दर के भारत अभियान के बाद से ही आर्य संगीत यया मन्दीभूत होने लगा था। सिकन्दर के बाद बार बार विदेशियों ने भारत पर चढ़ाई कर आर्य संस्कृति के अनेक ग्रन्थों को नष्ट कर दिया था उनमें आर्य संगीत शास्त्र के भी अनेक मूल्यवान ग्रन्थ और यन्त्र थे इससे आर्य संगीत की महान् हानि हुई है।

मुसलमान आधिपत्य के समय संगीत चर्चा धर्म विरुद्ध करार कर दी गई थी। मुसलमानों की नमाज़ भी संगीत का एक नामान्तर है यह बात विद्वानों ने तर्क से प्रमाणित कर दिखाई जिसकी वजह से संगीत को मुसलमान राजदरबार में प्रवेशाधिकार मिला। तभी नायक, गन्धर्व, गुणाकर, कालवथ कऊवाल, आताई आदि उपाधियाँ संगीतज्ञों के लिए बनाई गई। गियासुद्दीन तुगलक की सभा में ब्राह्मण गोपाल तथा मुसलमान अमीर खुसरो ने अपूर्ण संगीतालाप कर सभी को मुग्ध कर दिया था। तभी से संगीत को राजानुकम्पा मिलने लगी। इसी परिवर्तन के युग में संगीत सम्राट् तानसेन का आविर्भाव हुआ था।

१५८८ ई. में ग्वालियर राज्य के एक गौड़िय ब्राह्मण परिवार में तानसेन का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम मकरन्द पाण्डे था। बचपन में तानसेन का नाम रामतनु रखा गया था। बचपन से ही बालक रामतनु में संगीतानुराग दृष्टिगोचर होने लगा था। उपनयन संस्कार के बाद रामतनु ने संसार त्यागी संगीत साम्राट् साधक हरिदास स्वामी का शिष्यत्व ग्रहण कर उनसे संगीत की शिक्षा लेने लगे। एकान्तिक अध्यवसाय तथा एकनिष्ठ साधना के बल पर बालक रामतनु अत्यल्प काल में ही संगीत शास्त्र में पारगन्त हो गए। गुरु के आशीर्वाद से दिग्विजयी संगीतज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हो गए। बालक रामतनु का यश चारों ओर फैल गया। नाना स्थान में उनका आदर होने लगा।

१८ वर्ष की आयु में एक मुसलमान तरुणी का का पाणिग्रहण करने के कारण रामतनु को धर्मन्तरित होना पड़ा। स्वजन तथा जाति से त्यक्त होने पर भी अपने गुणों के कारण रामतनु का कहीं अनादर नहीं हुआ। इस समय मुगल सम्राट् अकबर दिल्ली के बादशाह थे गुणग्राही सम्राट ने रामतनु की प्रतिभा से आकृष्ट हो उन्हें अपने दरबार में बुला लिया। रागरागिणी सम्मिलित, विस्मयपूर्ण संगीतालाप सुन कर मुग्ध हो सम्राट् ने उन्हें दो लाख मुद्रा पुरस्कार में दे उन्हें तानसेन उपाधि से विभूषित किया। चारों ओर तानसेन का यश फैल गया। दीपक रागिणी के आलापन से स्वदेहस्थित अग्नि से १५७५ में उनकी प्राणवायु निकल पड़ी।

भारतीय संगीत शास्त्र में तानसेन का दान अपूर्व है। जितने दिन बीत रहे हैं उतनी ही तानसेन की देवता महिमा बढ़ती जा रही है। संगीत चर्चा के आरम्भ में गायक तानसेन को लक्ष्य कर प्रणाम किया करते हैं। आज भी जाति धर्म निर्विशेष से लाखों आदमी उनकी पुण्य समाधि पर समाधी की धूल सिर पर लगाते हैं।

उनकी पुत्र सुरंथ और सानओ भी संगीत विद्या में पारंगत थे उन्हें दरबार में लाए सम्राट् ने संगीत सम्राट्

१९५६

का स्थान पूर्ण किया था। आज भी दिल्ली के आस-पास उनके अधःस्तन पुरुष नाना शाखाओं में विभक्त हो निवास करते हैं। उनमें सभी कुछ न कुछ संगीत विद्या के अधिकारी हैं।

इलाहाबाद

—बनवारीलाल पुरोहित

दखनी लोकोक्तियाँ

नहीं सन्तति
तो क्या करते सम्पति

चावल कहे मेरा सुथरा खाना,
मेरे भरोसे कहीं नइँ जाना
खिचड़ी कहे मैं आऊँ जाऊँ,
रोटी कहे मैं मंज़िल पहुँचाऊँ

चट्टियाँ पट्टियाँ मोड़ मोड़,
ज़ूअन खाइयाँ तोड़ तोड़

लोटा जाके, गड़गा मिलना मुश्किल

दम लगा सिकुड़ने
तो ख़ैरात लगी बटने

एक हाथ लकड़ी
अठारह हाथ फिलपी

काँटा निकाल के खूँटा मारना

पत्तल पिच्छे डुप्पा

जिसका चून, उसका पुन

दाढ़ी के प्रकार

एक दाढ़ी मान मनोहर
एक दाढ़ी ठुड्डा
एक दाढ़ी फजल फजीहत
एक दाढ़ी झब्बा

तिरुपति हजामत

[कहते हैं कि तिरुपति में एक नाई एक साथ कई व्यक्तियों के थोड़े थोड़े बाल इसलिए काट लेता है कि वे फिर किसी और के पास न जाकर उसी से हजामत बनवाएँ।]

हैदराबाद

—ललितादेवी विद्यालंकार

नैतिक जीवन का प्रभाव क्षेत्र

निरुद्देश्य जीवन कोई जीवन नहीं है। ऐसा जीवन तो पशु का जीवन है। इसलिए युगों से मानव मस्तिष्क इस प्रश्न पर विचार करता चला आ रहा है कि मानव जीवन का लक्ष्य अथवा साध्य क्या है? इस चिरन्तन प्रश्न पर विश्व के अनेक विचारकों ने समय समय पर अपने विचार, अनुभूति और सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। विचारकों में बहुत मतभेद हैं। प्रायः प्रत्येक विचारक कुछ न कुछ नई बात कहता है। मानव-मस्तिष्क इस प्रश्न पर अभी तक सर्वसम्मत निश्चय नहीं कर पाया है; किन्तु विचारकों की इस विषमता के बावजूद भी एक बात में सभी एकमत हैं: "जीवन का लक्ष्य चाहे जो कुछ भी हो; किन्तु जीवन का स्वरूप तो अनिश्चित स्थिति में नहीं रह सकता।" इसलिए जीवन के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी विचारक एक मत हैं। इसका मूल-रूप सभी की दृष्टि में एक है और वह है, नैतिक जीवन। नैतिक जीवन, पवित्र और प्रेरणा दायक जीवन ही अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता है, इस सम्बन्ध में मतभेद की गुँजाइश नहीं है। नैतिकता क्या है? उसका माप-दण्ड क्या है? इस सम्बन्ध में सामान्य विचार भेद हैं; किन्तु मूल में कोई भी मतभेद नहीं है। यही कारण है कि नैतिक गुणों की सामान्य स्वीकृति सभी समाज, देश और काल में प्राप्त है। सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, परोपकार आदि नैतिक गुणों की आवश्यकता अनादि और अनन्त है।

दार्शनिक दृष्टि से हम जीवन के पारमार्थिक तत्त्व के सम्बन्ध में चाहे जो विचार रखते हों, उनसे यदि हमारे नैतिक जीवन की पुष्टि नहीं होती, अर्थात् यदि वे विचार हमारे वर्तमान जीवन को ऊँचा उठाने में सहयोग नहीं करते हैं, तो उन विचारों का कोई मूल्य नहीं है। दार्शनिक तत्त्व-विवेचन को जीवन की मूल समस्या का विश्लेषण ही नहीं करना चाहिए अपितु उस विश्लेषण से जीवन को वह रूप मिलना चाहिए, जिसे हम नैतिक जीवन कहते हैं। इस प्रकार मनीषियों के जीवन सम्बन्धी विचार, सिद्धान्त और मान्यताएँ व्यवहारिक जीवन की कसौटी पर ही कसी जा सकती हैं। योगी, साधक अथवा आप्त पुरुष धर्मशास्त्र या तर्क के पीछे नहीं चलते हैं। उनकी जीवन यात्रा स्वयं निष्कलुष रूप से वास्तविक पथ का अनुसरण करती रहती हैं। क्योंकि नैतिक जीवन स्वतः प्रमाण है। एक विचारक का कहना है कि "योगी धर्मशास्त्र के पीछे नहीं चलता, बल्कि धर्मशास्त्र योगी के वचनों की निरुक्ति करता है।" कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक जीवन अपना आदर्श आप है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि नैतिकता क्या है? तथा नैतिक जीवन बुद्धि प्रेरित है या हृदय। यद्यपि अनेक विचारकों ने नैतिकता की परिभाषा को बहुत जटिल बना दिया है; किन्तु हम उस जटिलता की ओर नहीं जाएँगे। भारतीय विचारकों ने इसका बहुत ही स्पष्ट उत्तर दिया है। "राग और द्वेष से रहित शुद्ध आत्मा की प्रेरणा से जो जीवन संचालित होता है, वह नैतिक जीवन है।" 'अहं' के घेरे से बाहर होकर हम जो भी कार्य करते हैं, वह नैतिक कार्य है। बात यह है कि द्वेष 'अहं' में ही है। जब हम किसी कार्य को राग-द्वेष से युक्त होकर संकुचित दायरे में रह कर करते हैं, तो उसकी पवित्रता की गारण्टी नहीं की जा सकती। हमारे 'अहं' का स्वार्थ बहुत संकुचित है। इसलिए समझौते या परस्पर लाभ अथवा भय आदि की प्रेरणा से हम जो कार्य करते हैं, उसे वास्तव में नैतिक कार्य नहीं कहा जा सकता। नैतिक कार्य की प्रेरणा सीधे आत्मा से मिलती है। जब आत्मा से नैतिक प्रेरणा जागृत होती है तो 'अहं' की सीमा भी टूट जाती है, उस समय 'अहं' का दायरा इतना बढ़ जाता है, जिसके बाहर कोई वस्तु नहीं पड़ती। फिर तो उसका राग-द्वेष भी विश्वात्मा में लीन होकर शुद्ध और व्यापक हो जाता है। ऐसी दशा में ही समत्व बुद्धि का उदय होता है जो नैतिक जीवन की व्याख्या करती है। साथ ही हृदय भी इतना विशाल हो जाता है कि प्राणिमात्र क्या संसार का अणु-अणु अपना अंग प्रतिभासित होने लगता है, ऐसी दशा में किसी भी अंग पर आघात हमारे लिए असह्य हो जाता है। इस प्रकार की भावना से प्रेरित हुआ कार्य ही नैतिक कार्य है। पानी में डूबते

१६५६

हुए को बचाने के लिए जब कोई व्यक्ति अथाह जलधारा में कूद कर जीवन की बाज़ी लगा देता है तो वहाँ इसी प्रकार की भावना उसे प्रेरित करती है, यद्यपि यह उस भावना का क्षणिक उद्रेक ही है। वस्तुतः जब इस प्रकार की भावना सुदृढ़ एवं स्थायी रूप से हृदय में निवास करने लगती है तो नैतिक जीवन का उदय होता है। बहुत से लोग इसी भावना को प्रेम की संज्ञा देते हैं। महात्मा गांधी की मान्यता है कि "मनुष्य को अपनी ओर खींचने वाला अगर जगत् में कोई असली चुंबक है तो वह केवल प्रेम है।" गांधी जी की कर्त्तव्य की कसौटी थी कि "इससे प्रेम का विस्तार होता है या नहीं।" जिसके द्वारा प्रेम का पोषण नहीं होता, वह नैतिक कर्म नहीं है। इस प्रकार प्रेम का विस्तार 'अहं' के विस्तार में ही है। जब हम प्राणिमात्र के जीवन को अपना जीवन समझने लगते हैं तो फिर राग-द्वेष के लिए स्थान ही नहीं बचता। "अहिंसा परमो धर्मः" का पावन उद्घोष इसी विस्तृत 'अहं' की पुकार है। जब सारा विश्व ही 'अहं' में समा जाता है तो फिर किसकी कौन हिंसा करे। इस प्रकार जितने भी सदाचार के द्वारा अभिहित कार्य माने जाते हैं, सभी इसी भूमि पर पल्लवित होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक गुणों का सम्बन्ध शरीर के तथा इन्द्रियों के कार्य-कलाप से नहीं होता है, इसकी भूमि आत्मा है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नैतिक जीवन या नैतिकता की आवश्यकता क्यों है? उसका क्या मूल्य है। इसके उत्तर के लिए हमें संसार के इस पहलू पर विचार करना होगा, जिसे दुःखमय कहा गया है या जिस संसार से उपरत रहने की बात बड़े बड़े विचारक कहते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि संसार के सभी विचार संसार के वर्तमान स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं है। रूसी विचारकों ने एक स्वर से संसार के वर्तमान रूप को निकृष्ट एवं त्याज्य बनाया है। उनका मन है कि इस संसार में अनाचार, पापाचार, स्वार्थ तथा नाना प्रकार की व्याधियों और संघर्षों के कारण वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए यदि शान्ति अभीष्ट है, तो इस संसार का कायापलट करना होगा अतएव एक ऐसे संसार का निर्माण करना होगा, जहाँ स्वार्थ नहीं, संघर्ष नहीं पापाचार और अनाचार नहीं अतएव सुख और शान्ति का साम्राज्य है। नैतिकता ऐसे संसार का निर्माण करती है। गांधी जी ने इस संसार का नाम 'रामराज्य' रखा है और दूसरे विचारक भी अपने प्रिय नामों से इसे पुकारते हैं, कोई स्वर्ग और कोई वर्गविहीन समाज की कल्पना करते हैं। नैतिक जीवन ऐसे संसार की नींव डालता है। यद्यपि साधारण लोग ऐसे संसार को नहीं देख पाते, वे इसे कल्पना ही समझते हैं, किन्तु योगी, साधक तथा नैतिक जीवन से सम्यक महापुरुष ऐसे संसार में ही विचरण करते हैं। हमारे और आपके बीच रहते हुए भी वे हमारे और आपके संसार से दूर अपने संसार में रहते हैं और वहीं सब को ले जाना चाहते हैं। कबीरदास कहते हैं :

> "हम सब माँहि सकल हम माँहीं,
> हम थें और दूसरा नाहीं"

इसीलिए ऐसे सन्तों का जीवन शान्त, गम्भीर और शक्तिसम्पन्न होता है। इस प्रकार का जीवन ही नैतिक जीवन है।

नैतिक जीवन उस व्यक्ति के लिए ही अमृत नहीं होता। अपितु समाज भी उनसे अनुप्राणित होता है। नैतिक जीवन जब किसी व्यक्ति में मूर्तमान हो जाते हैं तो उनके तेज से समीप का वातावरण भी प्रभावित हो जाता है। इस प्रकार का प्रभाव तो प्रायः तामस और राजस गुणों में भी होता है। फिर सात्विक गुण सम्पन्न नैतिकता तो स्वयं में एक ऐसी शक्ति है जो सूर्य की तरह सभी आवरणों को छिन्न-भिन्न कर तम को नष्ट कर देती है। समाज में हम अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में पहुँचते रहते हैं। सभी के समीप जाने पर हमें उनमें एक ऐसे व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है जो एक दूसरे से अलग रहती है। और किसी में ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व मिलता है जिस पर हम अनजाने ही मुग्ध हो जाते हैं। यह व्यक्तित्व यद्यपि उसके समष्टि या प्रतीक होता है, किन्तु सामान्यतः उस व्यक्तित्व का मूलाधार उसका गुण ही होता है। वे गुण व्यक्ति के स्वभाव, व्यवहार आदि में ओतप्रोत रहते हैं। हम इस प्रकार के व्यक्तित्व को देखते और परखते भी हैं और जाने अनजाने उससे प्रभावित भी होते रहते हैं और कभी कभी एकाएक किसी विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख श्रद्धा से झुक जाते हैं। यह दोनों ही प्रकाश का प्रभाव स्थायी होता है।

वस्तुतः प्रभावोत्पादक शक्ति दोनों में समय के दृष्टिकोण से नहीं आँकी जा सकती। यह तो इस बात पर निर्भर है कि इस व्यक्ति के गुण किस कोटि तक शक्तिशाली हैं। स्वामी विवेकानन्द ने स्वल्प काल में ही अमेरिकावासियों को इस तरह अपने गुणों से मुग्ध कर लिया कि आज भी उसका प्रभाव ज्यों का त्यों बना हुआ है। भारत और अमेरिका दोनों ही विवेकानन्द को भूल नहीं सकते। कहने का तात्पर्य यह कि व्यक्ति में स्थित नैतिकता का प्रकाश उसे तो प्रकाशित करता ही है, समाज पर भी वह प्रकाश डालता है। समाज पर पड़ने वाला उसका यह प्रकाश व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रकाश से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। क्योंकि नैतिकता की परम्परा समाज पर पड़े हुए प्रकाश से ही आगे बढ़ती है। यदि किसी व्यक्ति के नैतिक गुण उसी तक सीमित रहते हैं, किसी कारणवश समाज पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता तो उसकी परम्परा आगे नहीं बढ़ सकती। इस प्रकार की नैतिकता वन्ध्या है और इस प्रकार का नैतिक जीवन महत्वहीन है।

एक बात और है, नैतिक जीवन सम्पन्न व्यक्ति जान बूझ कर समाज को प्रभावित करना चाहे, तभी उससे समाज लाभान्वित हो सकता है, ऐसी बात नहीं है। वह इस दृष्टि से निरपेक्ष रह कर भी यदि समाज में रहता है, सामाजिक जीवन व्यतीत करता है तो समाज उसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सका। वह मूकभाव से ही समाज को अनुप्राणित करता रहता है। महात्मा गांधी जी कहा करते थे कि "यदि कोई हमारे समाने झूठ बोलता है तो हमें अपने ही ऊपर गुस्सा आता है। क्योंकि हम झूठे हैं, इसलिए हमारे सामने दूसरा भी झूठ बोलता है। यदि हम वस्तुतः सत्य का पालन करते हैं तो हमारे सामने कोई झूठ बोल ही नहीं सकता।" अहिंसा के सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि भी इसी प्रकार की बात कहते हैं—"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (२-३५)।" गोस्वामी तुलसीदास वाल्मीकि आश्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं :

"खग मृग विपुल कोलाहल करहीं,
विरहित वैर मुदित मन भरहीं"

और महर्षि वाल्मीकि अगस्त्य आश्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं :

"यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा
तदा प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः।८३।
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीत मृग सेवितः।८६।
नाम जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः।९०।

—वनकाण्ड सर्ग ११

कहने का तात्पर्य यह कि नैतिक गुण बिना किसी प्रयत्न के वातावरण को प्रभावित करते है। नैतिक गुणों के इस आश्चर्य जनक प्रभाव का रहस्य क्या है? इस पर विचार करने के लिए हमें नैतिक गुणों के आधार की खोज करनी होगी। वस्तुतः मानव जीवन के बहुत सारे गुण केवल अधिष्ठान (शरीर, मन तथा इन्द्रिय आदि) से सम्बन्ध रखते हैं। इनका प्रभाव वातावरण पर उस प्रकार नहीं पड़ता, जिस प्रकार नैतिक गुणों का। क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में जो भेद हैं, उसका कारण यह अधिष्ठान ही है। अर्थात् अधिष्ठान ऊपर से समान ज्ञात होते हुए भी मूलतः एक दूसरे से बहुत भिन्न है। अधिष्ठान की यही विभिन्नता व्यक्तित्व की विभिन्नता का आधार है। किन्तु इन विभिन्न अधिष्ठानों में अधिष्ठित तत्त्व एक ही है। अधिष्ठान के आवरण ने एक ही तत्त्व को विभिन्न नाम रूप का बना दिया है। नैतिक गुण उस तत्त्व से सीधे सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए किसी एक व्यक्तित्व में उदय हुए वे नैतिक गुण दूसरे अधिष्ठान में स्थित आत्म-तत्त्व को सीधे प्रभावित करते हैं। इसमें किसी और से कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। सबसे मज़े की बात तो यह है कि यदि हम किसी 'सन्त' से रुष्ट भी रहते हैं, उसका विरोध भी करते रहते हैं तो भी हम इसके प्रभाव से मुक्त नहीं होते। शास्त्र या विचारक सत्संगति को जो इतना शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उसका यही रहस्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी बात को इस प्रकार कहते हैं :

"मुद मंगलमय संत समाजू,
जो जग जंगम तीरथ राजू
राम भक्ति तहँ सुरसरि धारा,
ब्रह्म सरसइ विचार प्रचारा।
विधि निषेधमय कलिमल हरनी,

राम कथा रवि नन्दिनि बरनी
हरिहर कथा विराजति बेनी,
सुनत सकल मुद मंगल देनी
कटु विश्वास अचल निज धर्मा,
तीरथ राज समाज सुकरमा
सबहिं सुलभ सब दिन सब देखा,
सेवत सादर समन कलेखा
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ,
देइ सही फल प्रकट प्रभाऊ
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग
मज्जन फल पेखिअ तत्काला,
काक होहिं पिक बकहिं मराला
सुनि अचरज करै जनि कोई,
सतसंगति महिमा नहिं गोई।''

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नैतिक गुणों का प्रभाव अमोघ है। लेकिन यह प्रश्न अब भी ज्यों का त्यों रह जाता है कि आखिर इन नैतिक गुणों की उपयोगिता क्या है? 'सन्त' दूसरों पर अपना प्रभाव तुरन्त डालते हैं, इससे तो सन्तों की या उनमें स्थित नैतिक गुणों की उपयोगिता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

नैतिक गुणों की उपयोगिता इस अर्थ में है कि वे मानव जीवन के चरम लक्ष्य की ओर जीवन को उन्मुख करते हैं। वे मानवता के मूल स्तम्भ हैं तथा हमारी विविध प्रवृत्तियों के नियामक तथा पोषक हैं। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हमें मानव-जीवन की समस्त वासनाओं, इच्छाओं आदि के प्रेरक मूल वासना पर ध्यान देना होगा। नैतिक गुण मानव की उस मूल वासना को शुद्ध और परिष्कृत कर जीवन को सार्थक बना देते हैं। फलतः व्यक्ति पूर्ण तृप्त होकर जीवन के चरम लक्ष्य की ओर सुगमता से बढ़ जाता है। जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में मतभेद रखते हुए भी नैतिक गुणों की इस उपयोगिता पर सभी एकमत हैं। यही कारण है कि नैतिक गुणों की स्वीकृति निर्विवाद रूप से सभी देते हैं।

मानव जीवन की मूल वासना है, "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति" इसी के फलस्वरूप ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियाँ उदय होती हैं। किन्तु "मेरे सामने दूसरा कोई नहीं" की वासना प्रतिक्षण ज़ोर पकड़ती रहती है। मनुष्य की और सभी वासनाएँ इसके बाद की चीज़ हैं। धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, प्रभुत्व, स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता। यह वासना मानव में ही नहीं, प्राणिमात्र में पाई जाती है। 'मात्स्य न्याय' इसी वासना की पुष्टि करता है। कहने का तात्पर्य यह कि सारा संसार 'अहमेव' 'अहमेव' की ध्वनि से सर्वदा चीत्कार करता रहता है। मनुष्य तो इसके लिए बड़ा संगठित प्रयत्न करता है। राष्ट्र, सम्प्रदाय, वर्ग और संगठनों के द्वारा वह सामूहिक रूप से अपनी इस वासना की पूर्ति करने का असफल प्रयास करता रहता है। किन्तु उसे इन सबमें अपनी वासना की तृप्ति नहीं मिलती, बल्कि वह और उग्रतर से उग्रतम होती जाती है। नैतिक जीवन इसकी पूर्ति करता है। क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति के 'स्व' का दायरा बढ़ जाता है।

इस प्रकार नैतिक जीवन का प्रभाव क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। आवश्यकता है, समाज में ऐसे जीवन को प्रतिष्ठित करने की।

हिन्दी-साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद

—ब्रजभूषण पाण्डेय

विचार करने और बैठे बैठे दिवास्वप्न लेने में बहुत भेद है। विचार करने के लिए मन को स्पष्ट रूप से किसी एक विषय पर केन्द्रित करना पड़ता है—उसी विषय पर पुनः पुनः मन को अवस्थित करना पड़ता है।

—सैंगस्टर

स्मृति-चिह्न

आसमानी दीवारों वाले इस बड़े गोल कमरे की सफ़ेद कार्निस की क़ीमती सजावट की चीज़ों में से, चीन का बना हुआ एक वाज़ कक्को के हाथ से गिर कर टूट गया है। पाँच वर्ष की कक्को को अपने अपराध की गम्भीरता का अनुभव है; वह मुँह लटका कर खड़ी हो गई है। एक दो नहीं, पचीसियों बार उसके कान सुन चुके हैं कि इस कार्निस पर रक्खी सुन्दर चीज़ें उपहार में मिली हुई हैं। हर वर्ष जन्म दिन मना कर वह उपहार का मूल्य समझने लगी है—शायद इसीलिए मुँह लटका कर खड़ी हो गई है।

मैं उसे डांट नहीं सकी हूँ, इस नुकसान के लिए हड्डी तोड़ डालने की धमकी भी नहीं दे सकी हूँ...बिजली के धक्के से सन्न रह गए से हाथ से उसका कान तक नहीं पकड़ रही हूँ। कहती हूँ-'निकल जाओ कमरे से।'

टूटे हुए टुकड़ों को जमा कर रही हूँ। तले की तरफ़ का जो बड़ा-सा 'पीस' है, उस पर महेन्द्र का नाम खुदा है—देख रही हूँ बड़े-बड़े सुन्दर अक्षर। पर ये टुकड़े, ये अक्षर उसकी स्मृति लौटा कर नहीं ला रहे हैं........

वाज़ जो गिर कर टूट गया है—लगता है, खिलखिला कर हँसा है, मेरी चिरपरिचित उलझन पर। कितनी बार मेरी आँखों का स्पर्श इसे मिला है। कितनी बार इसकी गोलाई पर से धूल पोंछने को, मेरे हाथ इसके समीप तक हैं और अपनी निरर्थकता और भीतर के व्यंग से चमक कर यह खिल उठा है...पर, किसी बार—यह जानता है—यह महेन्द्र का प्रसंग मेरे भीतर नहीं उठा पाया है। शायद इसी से तंग आ कर इस छोटी-सी बच्ची का सहारा ले कर, इसने कार्निस पर से कूद कर आत्महत्या कर ली है। पगोडा, पेड़, पत्ते, फूल...सब छिटक छिटक कर दूर हो गए हैं जो अब तक संगठित हो कर मेरे कमरे की शोभा बना रहे थे जैसे नाराज़ होकर तुनक गए हैं, क्योंकि उन्हें देख कर उन्हें छू कर—मैं महेन्द्र को याद नहीं करती—उसके बारे में नहीं सोचती! सोचती हूँ तुम्हारे विषय में......

उपहार में मिली इन सारी चीज़ों से मैं ऐसा ही दुर्व्यवहार किया करती हूँ। इस महलनुमा बंगले के हर कमरे में, कहीं न कहीं कोई न कोई चीज़ रक्खी है, जिसके साथ विवाह का शुभ मुहूर्त अंकित कर देने का प्रयास किया गया है। बिजली के प्राण से स्पन्दित होने वाली तमाम चीज़ें शीशे के 'सेट्स', कट्ग्लास के फूलदान, साड़ियाँ, अँगूठियाँ, हार...बहुत कुछ हैं—बहुत सुन्दर, बहुत मूल्यवान्! इनमें से आधी से अधिक चीज़ों का स्पर्श करती हूँ, प्रयोग करती हूँ, उनको अनुप्राणित करने वाले महत्व का उपहास करती हूँ। उपहास ही तो! मेरे खोए भावों में उनके लिए एक रत्ती स्थान नहीं। बरबस, हर बार, फूल-सा कोमल एक काँटा मन को सालता है।

आँखों के सामने इन पगोडाओं के भीतर से एक सजा हुआ कमरा खुल रहा है......

...सलमे-सितारों से सजी लाल साड़ी पहने मैं आदमक़द शीशे के सामने खड़ी हूँ। कान, हाथ, उँगलियाँ, माँग—सब हीरे, पन्ने, नीलम से लदे हैं!... धप्...धप् दर्पण में रूप जगमगा रहा है—मन उड़ रहा है—न जाने कहाँ कहाँ...

बधाइयाँ......उपहार...विदेश...मेरे दिमाग में पागल होकर नाच रहे हैं। स्वच्छन्द, उन्मुक्त! क्योंकि मुझे तुम्हारी तरह, अपने को जब्त रख सकने की आदत नहीं है। 'रिज़र्व्ड' रहने की कला मुझमें नहीं है।

...बधाई देने से पहले सबके हाथ उपहार देने को आगे आ रहे हैं। मैं मुस्करा कर उन्हें छू लेती हूँ, भाभी उन्हें उपहार वाले कमरे में ले जा कर सजा रही हैं—

अच्छा लगता है है सबका दुलार प्यार—जो उपहारों से उतर कर उल्लसित मन पर छा रहा है...

हाथ जोड़ कर नमस्कार, प्रणाम, नमस्ते, हलो, 'हाउ डू यू डू'...सब का जवाब दे रही हूँ—मन का तार टूट कर बेसुरी आवाज़ पैदा कर रहा है...घर से अलग, शहर से अलग, देश से अलग जा रही हूँ—नारी के जीवन में विवाह कैसी विचित्र घटना है... बन्धनों को तोड़ कर जीवन भर उनके अस्तित्व को

दूसरों में खोजो...टूट कर छोटे हुए तारों को खींच-खींच कर उन्हीं खूँटियों में 'फिट' करने के लिए भटको—भटको।...

किसी ने मुझे बच्चे के बराबर बड़ी गुड़िया पकड़ा दी है, बता रहा है इस बटन को दबाने से यह लाल हो जाती है। गुड़िया अस्पष्ट सी आवाज़ में कह रही है—'माँ'...माँ'; हाथ पैर फेंक रही है जैसे बच्चे दूध माँगते हैं...। अखिल लाया है—मज़ाकिया। मैं हँस रही हूँ, वह खिल खिला रहा है। न जाने क्या कहता है। मैं सोचती हूँ...उपहार में भी कितनी सार्थकता भरी है; मन की गहराइयों में उतर जाते हैं—न हो कोई लगाव, तो क्यों कोई पैसे और समय खपा खपा कर अनोखी अनोखी चीज़ें ढूँढ लाए...

उपहार और प्यार!—बरबस ही तुम्हारी याद आ रही है। किसी 'यूनीक' चीज़ की खोज में तुम्हारे विचार और पैर चलते जा रहे होंगे—निरन्तर—निरन्तर! क्योंकि तुम सबसे भिन्न हो। और किसी की नहीं, तो कम से कम, मेरी दृष्टि में तो हो ही। तुम्हारे आभव, तुम्हारी सीमाएँ, तुम्हारे बन्धन—जानती हूँ सब।...शायद तुम अपना विचित्र कमरा, जिसे मैं बचपन से अब तक सैकड़ों बार, उसी तरह देख चुकी हूँ, बन्द करके बैठे होंगे। जगह जगह चूने की पपड़ी उतरी हुई दीवार पर टँगे चित्रों की ओर पीठ करके, खिड़की से बाहर अथाह शून्य में देख रहे होंगे, विचार दौड़ रहे होंगे—

'अतीत को खोदना तुम्हें अच्छा नहीं लगता। भूली बात याद दिलाने के लिए तुम कुछ नहीं लाओगे...

नीलम मेरा हाथ दबा कर कुछ पूछ रही है। घबरा कर मैं 'हाँ' की मुद्रा में सिर हिला रही हूँ। वह अन्य सब लड़कियों के साथ 'हो हो' करके हँस पड़ी है—मुझे 'नवंसनेस' मालूम हो रही है। बड़ी बड़ी आँखें चला कर कान्ता प्रश्न करती है—"हाँ? 'आउट आफ़ साइट, आउट आफ़ माइन्ड' (Out of Sight, Out of Mind) वाली बात करोगी?" वे सब फिर शोर से हँस रही हैं। मैं भी हँस रही हूँ, कहती हूँ, "क्लास-रूम की तरह यहाँ भी इतना शोर मचा रही हो कि कुछ समझ में ही नहीं आता।"

शब्द बाहर गूँजते हैं पर मन में प्रश्न होता है, 'शोर तुम मचा रही हो या वे—भीतर या बाहर।' भावनाएँ भटक भटक जाती हैं—क्या करूँ?

वे सब मुझे घेर कर बड़े पलंग पर बैठ गई हैं, जैसे अब कुछ और सोचने नहीं देंगी। मैं अपने रंगे हुए नाखूनों पर आँखें गड़ा कर मौन में खो जाना चाहती हूँ—तुम्हारा ख़याल फिर फिर आ रहा है...

...अतीत नहीं, तो वर्तमान के लिए सोच रहे होंगे। किताबें? उहुँ, पेंटिंग का सेट? नहीं...बहुत क़ीमती होगी...जानती हूँ, इतना नहीं कर सकोगे—अभिलाषाएँ सदा साधनों से मेल नहीं खातीं।...चित्र? अपने हाथ का बना।...पुरानी बात है...तुम सोचते होगे लकीर पीटने से क्या लाभ? तो फिर फ्रेम!... हाँ, तुम शायद ख़ाली फ्रेम लाओगे। ख़ाली फ्रेम!... जिसमें मैं जिस तरह चाहूँ, अपने को बिठा सकूँ। नहीं इस तरह नहीं! 'इन्टेलेक्चुअल लेवेल' पर सोचोगे—तुम्हारे विचारों का फ्रेम और मेरा अस्तित्व! साँचा और ढल जाने वाली मिट्टी!...ऊँह, ऊँब लग रही है, न जाने क्या लाओगे?

उँगली की अंगूठी की चकाचौंध, तुम्हारे ख़यालों से ऊपर उठ कर मेरे ध्यान को केन्द्रित कर लेना चाह रही है, नाखूनों से हट कर मेरी निगाहें उस पर टिकी हैं।

कोई शब्द हुआ है। अभी उसकी 'खट' से मैं चौंक कर ऊपर देखती हूँ, तो तुम...तुम! खड़ी होकर मैं अभ्यस्त-सी हाथ बढ़ा देती हूँ—उपहार के लिए। हृदय बड़ी तेज़ी से धक्...धक् कर रहा है। पर, तुमने दोनों हाथ जोड़ दिए हैं, 'नमस्ते!'

मैं तुम्हें देखती रह गई हूँ!

पर याद आई है कि अभी नमस्ते का उत्तर नहीं दिया है। 'नमस्ते' में तुम्हारी व्यंग्यात्मक मुस्कान का उत्तर केवल फीकी मुस्कान से ही दे सकी हूँ—प्रयत्न करने के बाद।

पीछे से किसी ने साड़ी घसीट ली है। मैं खीझ कर ज़ोर से झटका दे देती हूँ—सरला होगी—किसी समय चुप नहीं रह सकती।

'कान्ग्रेचुलेशन्स' (Congratulations)! तुम कहते हो। उपहार...प्यार...कान्ग्रेचुलेशन्स मैं सोच रही हूँ, 'थैन्क्स' (Thanks) मुँह कहता है। भीतर बहुत कड़ुआ कड़ुआ लग रहा है...कभी नहीं सोचा था—मेरे विवाह पर तुम ईर्ष्या करोगे, व्यंग्य करोगे।

हम बचपन के साथी हैं, फिर क्या विवाह मात्र से ही तुम भी औरों की तरह अपने स्नेह को जकड़ लेना चाहते थे। नहीं सोचती थीं।...एक फूटी कौड़ी भी न ला सके तुम, जिसके व्यक्तित्व में, हारे अटके अपने मन का सहारा पा सकती, जिसके स्वप्निल प्रभाव से, चाहने पर, सत्य की कटुता धो सकती!—विचित्र! निष्ठुर!

मुँह उठाती हूँ, पर तुम चले गए हो। न जाने कब?

बाहर जैसे हंगामा-सा मच रहा है। हंगामा मेरे कमरे में घुस आया है। एक मीठी लहर, सिर पटक पटक कर मेरे भीतर घुस जाना चाहती है। पर न जाने क्या चुभता-सा है! इस तरह हृदय को नहीं लगा पा रही हूँ.....

उँगलियों में सुन्दर हार फँसा है...मेंहदी में रंगी हुई हथेलियाँ सकुचा-सी गई हैं। चारों ओर कण-कण हंस पड़ना चाहता है पर...मन फिर भटक जाता है... एक विचित्र व्यवहार के सूत्र ढूँढने...

किसी ध्वनि की ठक् ठक् से पगोडाओं के भीतर उठा हुआ रंगीन कमरा काँप कर बिखर गया है। जैसे सुबह की धूप सपनों को छू गई हो। कक्को खट खट दौड़ती आई है। आकर ठीक मेरे पास कोच का हाथ पकड़ कर खड़ी हो गई है।

"माँ, अब नहीं तोड़ूँगी। तमाशा देखने भेज दो।" गले में अपने गोरे गोरे हाथ डाल कर मुझे मना रही है।

"आया के साथ चली जाओ" कोमल होकर उसकी पीठ थपथपा दी है। खुश होकर भाग गई है, नादान! चाहती हूँ, वह उपहार में आई इन सारी चीज़ों को अपना खिलौना मान ले—तोड़ डाले—मेरी नज़रों से दूर कर दे। जब इस राशि में से देनेवालों के स्नेह को अलग करके नहीं देख पाती, उपहार विशेष से व्यक्ति विशेष को मन में उतार तक नहीं पाती...तो फिर किस महत्व की रक्षा के लिए इन्हें निहारती रहूँ... हरएक के प्रसंग से उठी तुम्हारी याद से मन को कुरेदने के लिए, उस अलक्ष्य उपहार के लिए रिक्त, हृदय के कोने का दर्द बढ़ाने के लिए?...

...जीवन की धारा में लहरों की तरह, हर उपहार की असाधारणता मेरे साथ घुल मिल गई है, सहज हो गई है। पर...आज की तरह कितनी ही बार मैं फिर सोचने को विवश हुई हूँ, पुराने क्षणों को। फिर से जीने लगी हूँ, और तब खाली कोने की पीड़ा तीखी हो गई है। तुम्हारा यह उपहार सचमुच अनोखा ही रहा है। सोचती हूँ, तुमने भेंट में मिट्टी ही उठा कर दे दी होती.. तो मेरे लिए सब कुछ स्वाभाविक हो गया होता......

ओह, अभी तक ये टुकड़े पड़े हैं, ये ज़रा सा काम भी न हुआ मुझ से......

१७-बी०, मोतीलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा

कोरोट : कलाकार

...कोरोट, कलाकार प्रातःकाल अंधेरें में ही उठ जाता था। अपनी कॉफ़ी स्वयं बना कर वह चित्रकला का सामान लेकर चल पड़ता था। खेतों और जंगलों में भटक कर वह उपयुक्त स्थान की तलाश करता था जहाँ कि वह घंटों स्थिर रूप से चित्र बना सके। उपयुक्त स्थान प्राप्त कर वह अपना कैन्वस लगा देता था और रंग और तूलिका लेकर सूर्योदय के चमत्कार की प्रतीक्षा करता था। एक दिन उसने एक निर्धन व्यक्ति को १०००) दे दिया। उस दिन अपने एक चित्र से उसे ६०००) की प्राप्ति हुई। दान देने के पश्चात् उसके भाग्य को चार चाँद लग जाते थे। उसे दान देने से मानसिक प्रसन्नता होती थी और प्रसन्नता के कारण वह अपने चित्र अच्छे बनाता था...।

—मालकम बॉगन

'शाकुन्तल' का नैतिक रहस्य

'अजन्ता' के जुलाई अङ्क में विद्वद्वर श्री भगवतशरण उपाध्याय का लेख 'कालिदास के नाटक' प्रकाशित हुआ है। महाकवि कालिदास और उनके ऐतिहासिक समय की प्रवृत्तियों के विषय में उनका विशेष अध्ययन है। कालिदास के शिष्य होने के नाते हम यहाँ पर नाटक के नैतिक रहस्य के विषय में कुछ कहेंगे।

अपने लेख में उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की विशद व्याख्या नाटक की कथावस्तु का परिचय देते हुए और उसके नैतिक रहस्य को स्पष्ट करते हुए की है। आरम्भ में वे यह कहते है कि 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'शाकुन्तलम्' संस्कृत नाटक क्षेत्र के सर्वोत्तम रोमांटिक उदाहरण हैं।'' लेकिन नाटक के नैतिक रहस्य की विवेचना में वे यह कहते हैं कि यह रोमांस नहीं वरन् एक दोष था जिसके दोषी दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों थे। इसीलिए वर्णाश्रम धर्म के अनुसार दण्ड द्वारा दोनों का परिष्करण आवश्यक था।

दुर्वासा ऋषि के शाप के विषय में वे यह कहते हैं कि ''ब्रह्मचर्य्य क्षुब्ध हो उठा, कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी, दुर्वासा का रुद्र रूप व्यक्त हो पुकार उठा 'आः अतिथि परिभाविनि......।''

क्या कालिदास की आत्मा सचमुच धर्मभीरु आत्मा थी? क्या अपौरुषेय वेद के सूक्त में वर्णित उर्वशी को एक भीरु प्रेयसी का रूप उन्होंने नहीं दिया? क्या भगवान् वेद व्यास द्वारा वर्णित शकुन्तला की चेतना को सामन्ती महलों में रहने वाली कुलवधू जिसका आदर्श विशेष रूप से यह था कि :

''शुश्रुषस्व गुरून्, कुरु प्रिय सखी वृत्तिं सपत्नी जने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणी पदं युवतयो वामा कुलस्याधयः

क्या रोमांटिक चेतना का यही चरम रूप है? तिरस्कृत होने पर भी जो विजयिनी रही हो? रोमांटिक चेतना सामाजिक व्यवस्था के गलितांग पर एक व्यक्ति परक आक्रमण है। इन दोनों नाटकों की नायिकाएँ अभिशप्त अनिंद्य सुन्दरी बालाएँ हैं और उनके नायक इन्द्र के परम मित्र तथा राज अन्तःपुरों के स्वामी हैं। इसीलिए विक्रमोर्वशी और शाकुन्तल रोमांटिक चेतना की विजय के सर्वोत्तम उदाहरण होने की क्षमता नहीं रखते।

फिर भी यह सत्य है कि 'शाकुन्तल' संस्कृत साहित्य की एक असूल्य और उत्कृष्ट रचना है। सम्भवतः उसकी महत्ता न्याय की दिव्यता अथवा नैतिकता की विजय में है। अगर रोमांटिक चेतना का बहुत ही सतही अर्थ नहीं लिया गया है, अगर रोमांटिक चेतना को उसके क्रान्ति परक अर्थ में लिया जाए तो वह न्याय अथवा राजशक्ति को दिव्य किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं कर सकती। इस दृष्टि से ऋषि विश्वामित्र की तपस्या से आतङ्कित होकर इन्द्र का मेनका को भेजना भी रोमांटिक नहीं कहा जा सकता।

प्रथम अङ्क में दुष्यन्त एक भागते हुए मृग पर बाण खींचे हुए रथ पर प्रवेश करते हैं। उसके अन्य साथी भी आखेट में लगे हुए हैं। बाद में उनको ज्ञात होता है कि वह आश्रम का मृग है—उस पर बाण छोड़ना अनुचित है। राजाओं के वज्र के समान बाण मृगों के शरीरों को भेदने के लिए नहीं बनाए गए हैं। वैखानस उनको 'पुत्र' होने का आशीर्वाद दे, कुलपति कण्व ऋषि के तपोवन में आतिथ्य ग्रहण करने के लिए कहते हैं। अपनी कन्या शकुन्तला को अतिथि सत्कार का कर्तव्य सौंप कर कुलपति उसके अनिष्ट निवारण के लिए सोमतीर्थ गए हैं। आश्रम में प्रवेश करने के पहले ही वेद-ध्वनि से नहीं, वरन् मधुर नारी-कण्ठ से आकृष्ट होकर दुष्यंत वहीं रुक जाता है और छिपकर ही नारियों की श्रृंगार को ध्वनित करने वाली बातों के साथ साथ शकुन्तला की मनोज्ञता से अभिभूत हो जाता है। 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।' उसी अवस्था में वे विचारते हैं 'क्या यही वह कण्व की कन्या है?'

''असाधुदर्शी खलु तत्र भवान् काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।''

आश्रम के कठिन कामों में लगा कर पूज्य कण्व महर्षि ने उचित काम नहीं किया है। उनके हृदय में उस अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति 'जाति' का प्रश्न उठता है। क्या क्षत्रिय द्वारा इसका पाणिग्रहण हो सकता है जिसको वे यह कह कर शान्त करते हैं: "सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुपु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः" सन्त को अगर सन्देह हो जाए तो उसके अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। मधुकर से सताई जाने पर जब शकुन्तला व्याकुल होती है उस समय रक्षक के रूप में दुष्यंत प्रकट होता है। सहसा उसको देखकर तपोबन विरोधी (?) विकार शकुन्तला में भी जागृत होता है। प्रियंवदा और अनुसूया जैसे पहले से ही उद्यत हैं। और वे उसी दिशा में बढ़ती हैं। राजा ने अपना यथार्थ परिचय नहीं दिया। शृंगार लज्जा से आवृत शकुन्तला से दोनों सखियाँ कहती हैं कि यदि आज आश्रम में पिता कण्व होते तो......। दुष्यंत ने यह जान कर कि शकुन्तला क्षत्रिय-कन्या है और कण्व ऋषि भी उसके विवाह की इच्छा करते हैं, अपनी कामना को और भी आगे बढ़ाया। शकुन्तला के विभ्रम भी चपल होते गए। अन्त में गन्धर्व विवाह हो गया। क्षत्रियों और विशेष कर राजाओं के लिए इस प्रकार का विवाह धर्मनिषिद्ध नहीं था। कालिदास की प्रतिभा की उत्कृष्टता परस्पर विरोधी अवस्थाओं को एक साथ रखने में हैं— पहले अंक में ज्यों ही दुष्यन्त आश्रम में प्रवेश करता है त्यों ही भविष्य अङ्ग स्फुरण के रूप में वराङ्गना सङ्गम की सूचना देता है—

'शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ?' अथवा जिस समय राजमाता का आखेट से लौटने और तपोबन वासियों का तपोबन में राक्षसों के उण्द्रव को रोकने का निमन्त्रण दुष्यंत को साथ साथ मिलता है।

दुष्यंत के चले जाने के बाद शकुन्तला को दुर्वासा का जो शाप मिलता है और जो कालिदास की अपनी मौलिकता है उसकी पूर्व छाया अनुसूया के इस कथन में है :

"अद्य स राजर्षिरिष्टिं परि समाप्य ऋषिभिर्विसृष्टः
आत्मनो नगरं प्रविश्य अन्तःपुर समागतः
इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वा इति"

"आज ऋषियों ने यज्ञ की समाप्ति पर दुष्यन्त विदा तो कर दिया है पर नगर में प्रवेश कर अन्तःपुर पहुँचने पर उनको यहाँ की बातें याद रहेंगी की नहीं ?"

मानो अनुसूया की इस व्यावहारिक शङ्का को शक्ति सौंपने के लिए ही तुरन्त ही आत्मविस्मृत शकुन्तला को शाप देने के लिए दुर्वासा ऋषि वहाँ आ गए। दुर्वासा ऋषि सर्वज्ञ है और तपोबन में जो कुछ हुआ है वह उनको ज्ञात है। नहीं तो वे ऐसा नहीं कह सकते थे—

"स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव:"

आत्म विस्मृत शकुन्तला ने अपने प्रति इस अभिशाप को भी नहीं सुना। उसकी सखियों ने जब उन सुलभ कोपी प्रकृतिवक्र दुर्वासा को प्रसन्न करने की चेष्टा में शकुन्तला को इस शाप के अयोग्य बताया तो उन्होंने उसको सीमित कर दिया।

उपाध्याय जी दुर्वासा के शाप को लेकर नाटक के नैतिक रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं: "कालिदास के विचार में सामाजिक व्यवस्था को मान कर उस पर 'नेमिवृत्ति' से आचरण करने वाला व्यक्ति वह पापी है जो नियत द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था का विरोध करता है...'अभिज्ञान शाकुन्तल' उसी रक्षण धर्म का एक सर्वांगपूर्ण उदाहरण है। समूचा नाटक एक स्रोत (है ?) जिसके पूर्व भाग का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म की क्षति और उत्तर भाग का उसके दण्ड से है।"

तो क्या यह यथार्थ है कि नैतिक दृष्टि से दुष्यन्त और शकुन्तसा दोनों दोषी हैं ? क्या तपोवन में केवल वे ही लोग जाते हैं जो सांसारिक सुखों का आस्वादन समाप्त कर चुके हैं ? क्या गान्धर्व विवाह आश्रम के उपयुक्त नहीं है ? और क्या दुष्यन्त तथा शकुन्तला ने सामाजिक व्यवस्था के प्रति नेमिवृत्ति से आचरण किया था ?

मनु ने अपनी स्मृति में धर्म मूलों को इस प्रकार से गिनाया है :

"वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥"

१६५६

यहाँ पर दुष्यन्त और शकुन्तला का धर्म स्रोत आत्मतुष्टि है। 'संता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाण मन्तःकरणप्रवृत्तयः' एक सामान्य नैतिक सिद्धान्त है जिसका सीधा सम्बन्ध 'आत्म तुष्टि' के साथ है। दुष्यन्त केवल सामान्य राजा ही नहीं राजर्षि भी हैं वे परम्परा को जान कर ही कहते हैं—

"गान्धर्वेण विवाहेण बह्वो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः ।।"

स्वयं कुलपति कण्व सोमतीर्थ से लौट कर जब गान्धर्व विवाह का समाचार सुनते हैं तो 'तपोबन की मर्यादा नष्ट हो गई' ऐसा न कह कर यह कहते हैं—

"वत्से सुशिष्यपरिदत्ता इव विद्या,
अशोचनीयासि संवृत्ता ।
अद्यैव ऋषि प्रतिरक्षितां त्वां,
भर्तुः सकाशं विसर्जयामि ।।"

और फिर एक अशरीरी वाणी ने ही यह कहा था :

"दुष्यन्ते नाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ।।"

क्या कुलपति वर्णाश्रम धर्म हो गया है नष्ट जिसका ऐसे तपोबन में प्रवेश करते ही प्रसन्न मुद्रा बनाए रख सकते थे? स्वयं शार्ङ्गरव के हाथों से उन्होंने यह सन्देश भेजा था।

"त्वमर्हतांमाग्रसरः स्मृतोऽसि नः
शकुन्तला मूर्त्तिमिती च सत्क्रिया ।
समानयंस्तुल्यगुणं वधू वरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ।।"

और यहीं से नाटक का वह दृश्य आरम्भ होता है जिसको उपाध्याय जी वर्णाश्रम धर्म की क्षति का दण्ड कहते हैं। यदि कुछ देर के लिए दुर्वासा के शाप के प्रभाव की वास्तविकता को भूल जाएँ तो इस अङ्क में सामाजिक यथार्थ का चित्रण महाकवि ने अद्भुत स्पष्टता से किया है। महर्षि कण्व ने अपने सन्देश के साथ शकुन्तला को भेजा है।

प्रवेश करते ही वामेतर नेत्र स्फुरण अमङ्गल की सूचना देता है। शकुन्तला अवगुण्ठनवती है। दुष्यंत अस्वीकार कर चुके हैं। उनकी बुद्धि फिर सन्देह ग्रस्त हो गई है और अन्तःकरण की प्रवृत्ति लुप्त हो चुकी है। राज्ञिक ऐसी स्थिति में कोप के आवेश में कहता है—

"आजन्मनः शाठ्य मशिक्षितो यः,
तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यैः,
विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।।"

'जिस शकुन्तला ने तपोबन में रह कर जन्म से ही शठता की शिक्षा नहीं पाई उसके वचन असत्य हो जाएँगे? तुमने तो परवञ्चना को शिक्षा के रूप में ग्रहण किया है और तुम्हारे वचन आप्तवाक्य हो जाएँगे?'

शारद्वत मानों भारतीय नारी की स्थिति को निर्धारित करते हुए स्पष्ट कहता है—

"तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा,
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतो मुखी !"

'यह तुम्हारी परणीता है, इसको ग्रहण करो या छोड़ दो—पत्नी के विषय में पति के सब अधिकार हैं।' शार्ङ्गरव शकुन्तला पर क्रोधित हो कर कहता है—कि पुरो भागे, स्वातन्त्रभव लम्ब से (शकुन्तला भीता वेपते) शकुन्तले |

"यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा,
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया ।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः
पति कुले तव दास्यमपि क्षमम् ।।"

दुष्यंते का सन्देह और भी तीव्र होता जाता है—

"दारत्यागी भवाम्यहो परस्त्रीस्पर्शपांशुलः ।"

क्या ज्योतिष शास्त्र ऐसे में कोई सहायता प्रदान कर सकता है? कालिदास के समय में ज्योतिष शास्त्र की उन्नति विशेष रूप से हो रही थी। पुरोहित ने भावी पुत्र के लक्षणों के आधार पर शकुन्तला को ग्रहण करने अथवा न करने की सलाह दी।

इसके उपरान्त ही शकुन्तला एक दिव्य ज्योति के द्वारा अप्सरा-तीर्थ पहुँच जाती है। दुष्यंत ने यह सुन कर आश्चर्य से चकित होकर अपनी निश्चयात्मक बुद्धि को भी और भी खो दिया। मछुए का दृश्य राजकर्मचारी और जनता के बीच सम्पर्क को युग के अनुरूप ही महाकवि ने अङ्कित किया है।

अँगूठी के मिलने पर दुष्यन्त की वास्तविक वेदना जागृत होती है जिसको कलागत उपचार और भी तीव्र बना देते हैं। आत्मग्लानि का स्वरूप अत्यन्त गम्भीर होते हुए भी विक्षिप्तता की सीमा का स्पर्श नहीं करता। बाद में इन्द्र की कृपा से शकुन्तला का दुष्यंत से मिलन होता है। दुष्यंत शकुन्तला के पैरों पर गिर कर अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं। विस्मृति का कारण महर्षि दुर्वासा का शाप था। स्वर्ग का आशीर्वाद लेकर वे अपनी राजधानी में लौट आए। महर्षि मरीचि ने कहा—

"आखण्डलसमो भर्त्ता जयन्त-प्रतिमः सुतः ।
आशीरन्या न योग्या पौलोमी सदृशी भव ॥"

राजा भूमि पर इन्द्र (दिव्यता) का प्रतीक है यह विश्वास सभी मध्यकालीन संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में रहा है। कालिदास की प्रतिभा की यह चेष्टा रही है कि वे राजत्व और उसके प्रणय को दिव्य शक्तियों से मुक्त प्रदर्शित करें। यहीं नाटक का पूर्ण सौन्दर्य है। इन्हीं शक्तियों के आधार पर सामाजिक व्यवस्था का एक विशिष्ट रूप स्थापित और विकसित होता आया है। इसलिए एक ओर शकुन्तला को न तो रोमांटिक चेतना का सर्वोत्तम उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है और न उसमें वर्णाश्रम धर्म के क्षति और उसके दण्ड की कल्पना करना ही उचित है। वास्तव में कालिदास के सामने सांस्कृतिक समस्या वर्णाश्रम की क्षति और उसके दण्ड के रूप में न होकर यह रही है कि राज शक्ति को किस काल्पनिक सौष्ठव से दिव्य और चिरन्तन स्थापित किया जाए। आज इस मान्यता का कोई अधिक मूल्य नहीं रह गया है। इसीलिए नाटक का वह अंश विशेष कर रुचिकर है जहाँ प्रेम की स्वतन्त्रता का आभास है अथवा तपोवन से जब शकुन्तला की विदाई होती है। क्योंकि उनमें तत्कालीन प्रणय की कलाओं और पितृ-स्नेह का एक भावमय सुन्दर चित्र प्राप्त होता है।

उसके बाद नाटक के अलौकिक शक्तियों से प्रेरित क्रिया कलापों का आरम्भ होता है। दुष्यन्त शकुन्तला की प्रणय कथा को भले ही भूल गए हों लेकिन नारी की प्रकृति (?) के सत्य को नहीं भूले हैं।

"स्त्रीणामशिक्षित पटुत्व ममानुषीणाम्,
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्य जातम्
अन्यैर्द्विजैः परभृतः किल पोषयन्ति"

'मृच्छकटिक' के लेखक को भी नारियों के पांडित्य की प्रकृति ठीक प्रकार से ज्ञात है 'स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।' 'नारी को इस नैसर्गिक पांडित्य से विभूषित क्या सरलता से किया जा सकता है?

वास्तव में 'शाकुन्तल' के उत्तरार्ध में समाज की विकट यथार्थता अलौकिकता से कभी प्रच्छन्न, कभी प्रकट रूप में सामने आती है। अन्त में देव जननी. अदिति से लेकर इन्द्र तक इस मिलन को सम्भव बनाते हैं।

वेद व्यास ने जिस मिलन को इसी लोक में सम्भव किया था उसको पाने के लिए कालिदास को दिव्य लोक का आश्रय लेना पड़ा यह अलौकिकतावादियों के लिए कम हर्ष की बात नहीं थी।

कालिदास ने मूल कथा में परिवर्तन बिना किन्हीं सामाजिक कारणों के नहीं किए थे। और उन परिवर्तनों का नैतिक रहस्य न तो रोमांटिक चेतना की विजय में है और न वर्णाश्रम धर्म की क्षतिपूर्ति में है वरन् राजा और उसकी शक्तियों को दिव्य अलौकिकता प्रदान करने में है।

— आदित्य मिश्र

रकाबगंज,
लखनऊ

वह मनुष्य जिसके मस्तिष्क में दिन रात एक ही विचार रहता है—बड़ा खतरनाक होता है।

× × ×

जिस व्यक्ति में हीनता की मनोवृत्ति होती है वह हीन होता है।

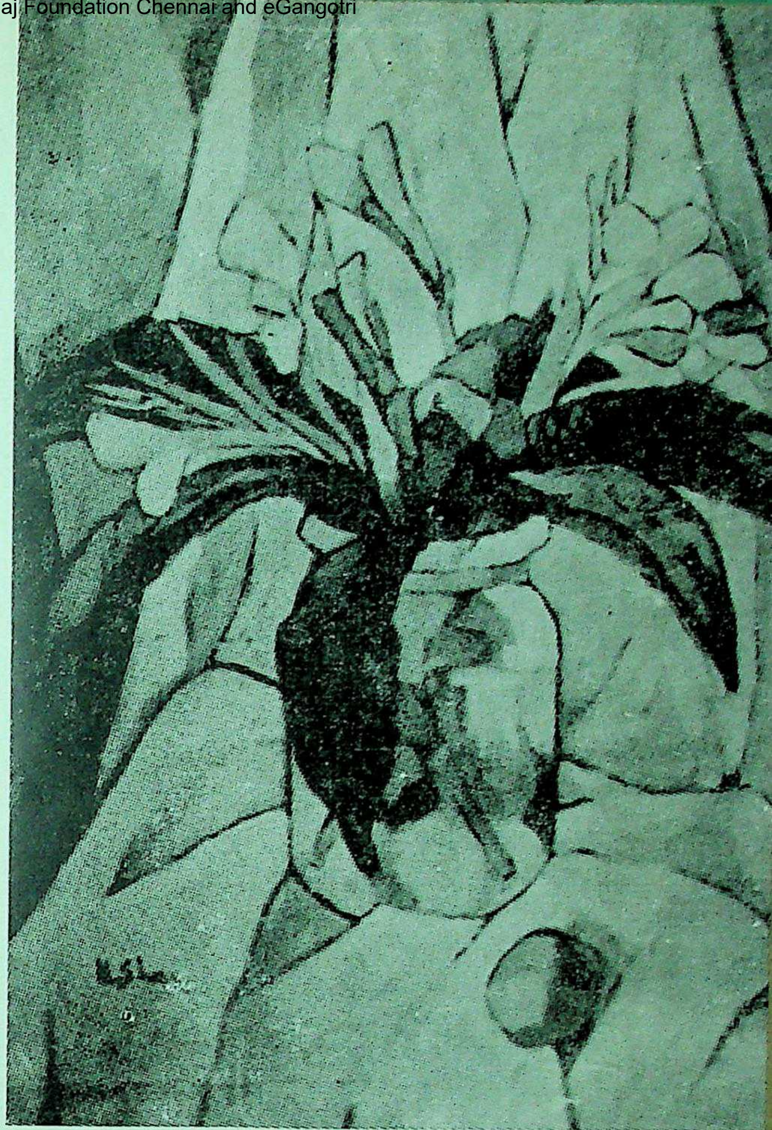

अक्षयता
चित्रकार : कुमारी उर्मिला शा

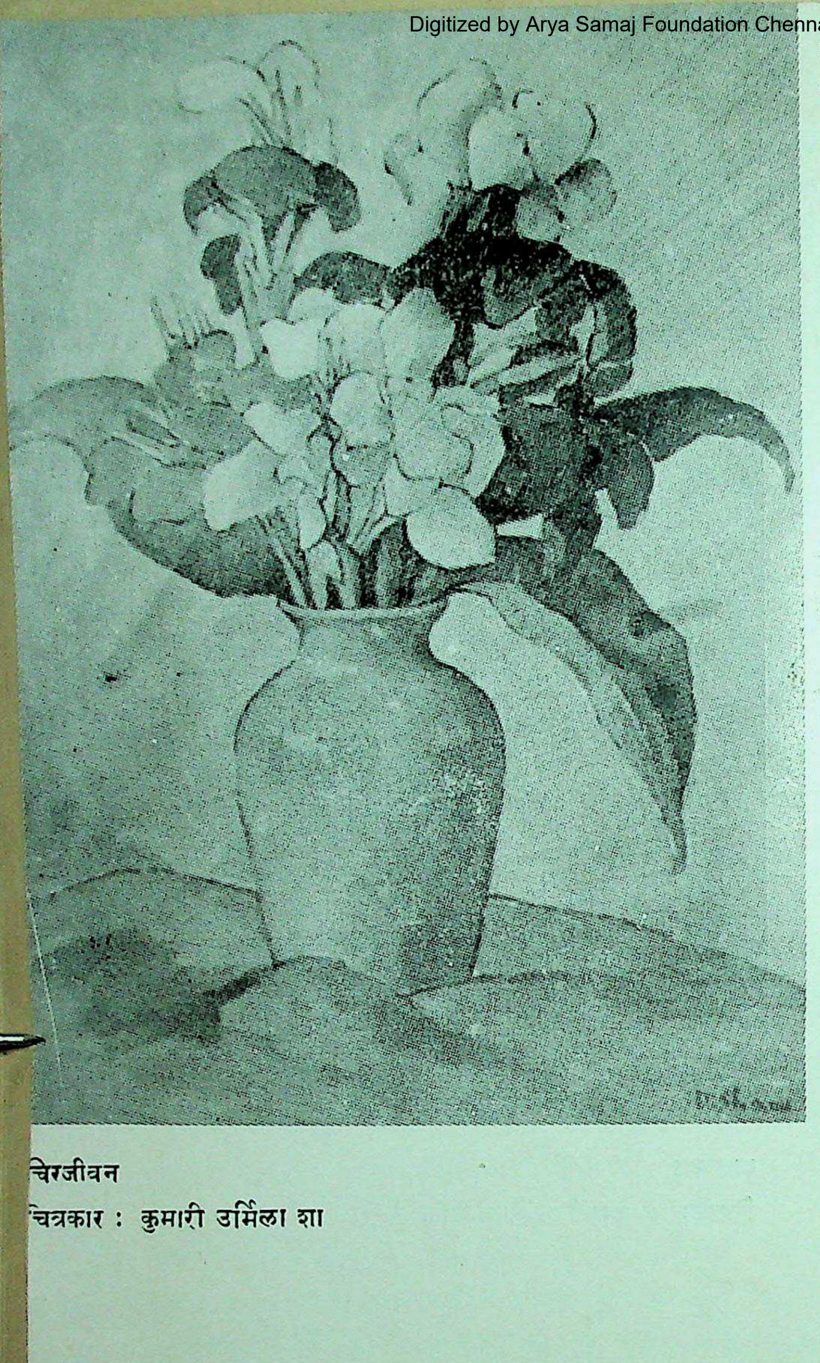

चिरजीवन
चित्रकार : कुमारी उर्मिला शा

कला-चर्चा

आधुनिक कला : एक विश्लेषण

कला नित्य नई है । प्रतिदिन कला का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है । आज की कला के नयेपन का जो आकर्षण है वह कल कम हो जाएगा और आज की कला कुछ वर्षों के बाद परम्परागत शैली मानी जाएगी । इसी के अनुसार पुरातन चित्र शैली उस जमाने की नई शैली रही है । पुरातन मानव और आज के मानव में बहुत अन्तर है । मानव बदला, कला भी बदली । शस्त्र बदले । वस्त्र बदले । परिवर्तन यह सृष्टि का नियम है तब उसका विरोध करना निरर्थक है, उसे समझना ही उचित होगा । जो परिवर्तन दस साल के बाद होने वाला है उन प्रयोगों में लग कर आज ही उस प्रगति तक पहुँचने का प्रयत्न करना ही जीवित मानवों का कार्य है । निसर्ग-क्रम को गति देना ही प्रगति है । कलाकारों ने यही किया है, इसलिए वे अपने युग के स्मरणीय पुरुष बने हैं । नई कला और पुरानी कला में भेद अवश्य है । उसे समझना होगा । लेकिन पुरातन कला रद्दी है और नई कला अच्छी है यह कथन पूर्णतः निस्सार है । पुरानी कला में जो कारीगरी है उसे आज के नये चित्रकार भी मानते हैं । अच्छी कृति कभी भी अच्छी ही मानी जाएगी । फिर वह आज की रहे या कल की । चित्रकृतियों को समझने अथवा उसमें रसानन्द प्राप्त करने के लिए उस कलाकार को समझना होगा । उसका रहने का स्थान, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन, रहन-सहन, स्वभावगुण तथा सामग्री इन पर भी सोचने से हम उस कलाकृति के सही अर्थ में रसग्राही बन सकेंगे । प्राचीन चित्रों को देखते समय उनका काल और स्थान का ज्ञान रखना आवश्यक होता है । यदि आज भी कोई बारीक तूलिका द्वारा आराम से छः मास में एक चित्र बनाने वाला चित्रकार होगा, तो वह आज के ज़माने का चित्रकार नहीं माना जाएगा । वह राजा और बादशाह के युग में ठीक होता । आज का जीवन [illegible] है । इसलिए आज के चित्रांकन में गति की विशेष प्रधानता है । तेज़ दौड़ने वाला ही ज़माने की दौड़ में जी सकता है ।

आधुनिक कलाकृति और पुरातन कलाकृति में जो अन्तर है वह केवल विचारों तथा उद्देश्यों का है । साधन सामग्री वही है । बात स्पष्ट है कि, आज के साधारण तथा गरीब वर्ग को पेट भरने के हेतु रात से सुबह और सुबह से शाम कैसे हो जाती इसका पता नहीं चलता । उन्हें चित्रकला पर सोचने के लिए भी फ़ुरसत नहीं । 'कॅमेरा' निर्माण होते ही चित्रकला में शीघ्रता से बहुत परिवर्तन हुआ है । आधुनिक चित्रकारी के क्षेत्र में कलाकार के भावों का ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है कि उनकी नई और विचित्र कलाकृतियों को देख कर आज का साधारण मानव चौंक उठता है ।

प्राचीन काल में चित्रकार वर्ग भटकता रहता था । राजाओं के दरबार में अपनी कलाकृतियाँ टाँग कर चुनौती दी जाती थी कि यदि उस प्रदेश में कोई चित्रकार हो तो प्रतिस्पर्धा करे । विजेता को राजा पुरस्कृत करता था । इन चित्रकारों द्वारा राजकुमार तथा राजकुमारियों के चित्र बनते थे । फलस्वरूप राजपरिवार में शादी ब्याह रचाये जाते थे । और दोनों राजाओं द्वारा चित्रकारों को इनाम दिया जाता था । उस समय सुन्दर मुखाकृति को ही ज़्यादा महत्व प्राप्त था । सुन्दर भावभंगिमा को ही कला मानते थे । प्रमाणबद्ध शरीर सौष्ठव को ही कला का मूल्य माना जाता था । एक चित्रकार दूसरे चित्रकार की कलाकृति जब देखता था, तब वह कलाकृति रंगने का ढंग और तरीका—इन्हें ही महत्व देता था । राजाओं के ज़माने में दरबार, राजपरिवार और राजाओं के शौक़ आदि विषय पर चित्र बने । सामन्तों के ज़माने में शिकार, वैभवपूर्ण प्रासाद तथा धनिकों के वैभव दिखाने वाले चित्रों का निर्माण जारी रहा । सामन्त वर्ग नष्ट होने से चित्रकार निराश्रित हुआ । तब उसकी दृष्टि जनसाधारण की ओर झुकी । और उनके

प्रतिदिन की जिन्दगी के चित्र बने। लेकिन उदर पूर्ति इस वर्ग द्वारा न हो सकी। आर्थिक असमता के कारण वह दुःखी रहा। दुःख और कारुण्य ने चित्रकार के हृदय में घर कर लिया। वह लोकाभिरुचि की परवाह न करते हुए चित्र के प्रयोग में मग्न रहा। जिससे उसकी आत्मा को संतोष प्राप्त होने लगा। इस प्रकार उसकी कला प्रगति की गति बढ़ने लगी। 'कॅमेरा' और अन्य यन्त्र साधन के कारण चित्रकला ज्यादा तांत्रिक बन गई। 'कॅमेरे' की महत्ता साबित होने पर चित्रकला में जो भिन्न भिन्न वाद उठे इसी कारण चित्रकला दुर्बोधता की ओर बहुत झुक गई। लेकिन आज के यन्त्रयुगीन मानवताहीन जीवन का प्रतिबिम्ब आधुनिक कला में स्पष्ट है।

संसार में आज पश्चिम दिशा की ओर से ही नवकला की लहर उठ रही है और बढ़ कर फैल रही है। अतएव यूरोप की कलाओं के मोड का अध्ययन करना जरूरी है। कला विषयक आन्दोलन का केन्द्र दुनिया में यूरोप ही रहा है। आधुनिक चित्र कला का इतिहास यानी यूरोप की कला इतिहास है। आधुनिक कला का जन्म काल यूरोप के कला इतिहास में १८७० साल से शुरू हुआ है। १८७० से १९१३ तक कला ने जो प्रगति की उससे भी ज्यादा १९१३ से आज तक प्रगति हुई है। १९१३ से ही नई कला का उदय मानने का काल है। नए विचार, नए मानदण्ड और नए तन्त्र को लेकर १८७० से आज तक कला में क्रान्तियाँ होती रहीं। दृश्य वस्तु या जीव को ज्यों का त्यों उतारना ही चित्र का प्रमुख लक्ष्य नहीं रहता है। आजकल की कुछ कला कृतियों में इसे स्थान नहीं है। जैसा देखा, देख कर दृश्य की जो कल्पना की, उसे अपनी बुद्धि और विचार से काग़ज़ पर उतारने को ही चित्र मानना होगा। आधुनिक चित्रों में तन्त्र का महत्व विषय से भी ज़्यादा है। चित्रकार जो कुछ भी करता है, वह उसका चित्र तन्त्र बन जाता है। तन्त्र पूरा होने पर आप ही आप विषय बन जाता है। तन्त्र, दृष्टि और विचार में ही आधुनिक तथा पुरातन कला में भेद है। वैसे देखा जाए तो दो या तीन हज़ार वर्ष पूर्व का मानव और निसर्ग में कोई अन्तर नहीं रहा। वही नदी, वही सूरज, वही प्राणी आदि सब के सब वैसे के वैसे होने पर चित्र में जो भेद आए हैं उसका सही कारण कलाकार के विचार ही है। सत्य की खोजते हुए विचारों में भिन्नता रही है। दृश्य जगत की जड़ या चेतन वस्तु चित्रित करना ही चित्र का उद्देश्य नहीं रहा। चित्रकार अपने आत्मचक्षु से जो कुछ देखता है, जैसी कल्पना करता है और कलाकार की अभिव्यक्ति तथा विचारों को प्रकट करने का उसका जो तरीक़ा है, इससे चित्राकृति की निर्मिति होती रहती है।

दृष्टि, अभिव्यक्ति तथा आकार यही आधुनिक चित्रों का मानदण्ड है। रेखाओं से, छाया प्रकाश से तथा रंगों से आकार प्रस्तुत होता है। आकारों के रचनात्मक प्रबन्ध को एक महत्वपूर्ण गुण मानते हैं। रेखा, छाया प्रकाश और रंगों का संतुलन रहना ही सजावट चित्रों (काम्पोज़ीशन) का आधार है। केवल दृश्य वस्तु, कल्पना तथा विचारों की अभिव्यक्ति से चित्रण करना कथा चित्र (इलस्ट्रेशन) होगा। रेखा, रंग और छाया प्रकाश से बने हुए आकारों का संतुलन ही दर्शक की नज़र चित्र पर स्थिर कर लेती है; मनोरंजन देती है। कई चित्र सजावटी चित्र तथा कथा चित्र इन दोनों दृष्टि से पूर्ण रहते हैं। कुछ चित्र सजावट चित्र या कथा चित्र इनसे कोई एक में यशस्वी होते हैं। सजावट चित्रों के मानदण्ड का प्रयोग करनेवाले प्रथम चित्रकार व्हिसलर रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल से ही चित्र में संगीत का नयनानन्द प्राप्त करने की एक आदत सी हो गई है। इसी काल में चित्र के मूल्यांकन पर ज़ोर रहा। तन्त्र पर काफ़ी प्रयोग हुए। रेखा और रेखांकन में शास्त्रीयता तथा रंगों में शृंगार का साज होने लगा। ग्रीक, रोमन पौराणिक कथा भाग और फ्रान्स तथा ब्रिटन के प्रेमप्रधान साहित्य से चित्रकला ने गठबन्धन किया था। ऐतिहासिक तथा पौराणिक चित्र में रेखा तथा रेखाटन पर ज़ोर दिया जाता था तथा शृंगारिक साहित्य में रंगों पर। साहित्य और चित्रकला दोनों साथ साथ अमर बनी। चित्रकार डेलाक्राईक्स के चित्र के विषय शेक्सपियर तथा बायरन के साहित्य के आधार थे। इसी कारण डेलाक्राईक्स जनता में ज्यादा ख्याति प्राप्त था। लेकिन चित्रकार कारबेट ने जन साधारण के विषयों को चुना। जिससे साधारण जनों को उनके जीवन की और समय की झाँकी मिलने लगी। इसी काल से चित्रकार की जिस विषय पर रुचि रही उस विषय के चिन्तन से, उस विषय से स्फूर्ति लेकर तथा उस विषय का आनन्द चित्र निर्मिति में पैदा करने में चित्रकार प्रयत्नशील रहा। साधारण विषयों का

आज बहुत है। पौराणिक या ऐतिहासिक चित्रों के बदले आज व्हॅनगोफ के 'सूर्यकाल' नामक चित्र को खरीदने के लिए 'पौंडों' की वर्षा हो सकती है। चित्रकार कारबेट को आधुनिक कला का जनक मानते हैं। कारबेट, मॅनेट तथा व्हिसलर आदि चित्रकार त्रयी ने चित्र रंगों में शीतल रंगों का प्रयोग किया। डेलाकाईक्स के चित्र के रंग उष्ण रहा करते थे। शृंगारिक चित्र निर्मिति के बदले विषयों में साधारण जन जीवन पर के विषय आए। सादे विषय चित्रित होने लगे। और यथार्थवाद के इस काल के बाद अभिव्यंजनवाद (इंप्रेशनिज़्म) का जन्म हुआ। अभिव्यंजनवाद के काल में चित्र के विषय बदले नहीं। हरेक भाग नारी के चित्रण से अच्छे सफ़ाई से चित्र में व्यक्त किया जाता था। उससे नज़र में एक ऐसी फिसलन होती थी कि जो मुख्य विषय के साथ साथ तथा कभी मुख्य विषय को छोड़ कर साधारण तथा पृष्ठ के गौण भागों पर समान महत्व रखती थी। एक ही चित्र में प्रत्येक भाग को सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ता था। इससे आँखों को कष्ट होता था। दृश्य वस्तु का अवलोकन कुछ आँख मूँद कर ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में एक बार आँख कुछ मूँद कर फिर खोल देने के पश्चात् जो दृष्टि उससे दृष्टिगत होता है, उसे वैसा ही चित्रित करने में चित्रकार वर्ग जूटा रहा। इससे प्रधान विषय और उसकी पार्श्वभूमि पर कम ज्यादा सोचते हुए चित्रीकरण होने लगे। मुख्य विषय बारीक़ी से और फिर अन्तर और महत्व के अनुसार अस्पष्ट चित्रण करने लगे। इसकी वजह यह है कि एक ही झांकी में सब कुछ बारीक़ी से दिखाना असंभव रहता है। इसे नज़र की एक झलक (इन्स्टनिसव्हिचन) कहते हैं। पुराने चित्रकार व्हॅलॅसकिझ ने इस प्रकार की चित्रसृष्टि निर्माण की थी। इसी प्रकार के व्हिसलर के चित्र पर इंग्लैण्ड में टीका हुई थी कि इनके चित्र अधूरे चित्रण के होते है। अभिव्यंजनावादियों ने दृष्टि के सम्बन्ध में एक मोड़ पैदा किया, यह स्पष्ट है। अभिव्यंजनावाद की प्रथम अवस्था में दृष्टि तथा सादा रंग चित्रकार कारबेट ने प्रस्तुत किया। अभिव्यंजनावाद की द्वितीय पीढ़ी में रंगों में अधिक शोध हुए। चित्रकार क्लाईड तथा मोनेट आदि चित्रकारों ने पीला, लाल, आसमानी इन प्राथमिक रंगों के बदले सूर्य किरण में जो रंग होते हैं, जो इन्द्र धनुष में हम देख पाते हैं, उसे छाया और प्रकाश में सिद्धान्तानुसार कॅन्वास पर व्यवहृत करने लगे। इंग्लैण्ड में टर्नर, पॅरिस में सिसले रेनॉर, डेगास और मॅनेट आदि ने रंगों में एक मोड लाया। ब्रश चलाने के तरीके में भी परिवर्तन हुआ। रंगों को कॅन्वास पर मुलायम हाथों से चिकना फिसलन निर्माण करनेवाला तरीका जा कर, कभी कभी ब्रश के बदले, चाकू से, जिस प्रकार डबल रोटी पर मक्खन लगाते हैं, उसी प्रकार कॅन्वास पर रंग लगाने लगे। दूसरा तरीका यह भी था कि, ब्रश की सहायता से छोटे छोटे ठिपके या फटके लगाना। इसमें 'मोॅझॅक' पद्धति का अन्तरभाव होता है। छोटे-छोटे फटके या छिंटें से रंगों में रंगलहरें पैदा होकर पूरा चित्र लहरपूर्ण मालूम होता रहा। जिससे आँखों को रंगों में अधिक मनोरंजन मिला। रंगों के छोटे छोटे बिन्दु नज़दीक नज़दीक देकर रंगने की पद्धति को 'पाइन्टलिझम' या 'टिपलिंग' प्रकार भी कहते हैं। दो रंगों के कई बिन्दु नज़दीक नज़दीक देने से दूर से वह मिश्रित दिख कर तीसरे रंग का आभास पैदा करते हैं। प्रकाश में पाए जाने वाले रंग तथा छाया में दिखनेवाले रंग की खोज हुई। स्युराट और सिगनॅक आदि चित्रकार रंगों के प्रयोग में अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचे। सूर्य के प्रकाश के रंग प्रयोग करने वाले चित्रकार वर्ग का प्रकाशवाद यह अलग पन्थ हुआ। रंग की प्रगति के सिवाय चित्र कला की प्रगति इस काल में रुक गई। विषय, रचना और आकार वैसे के वैसे ही रहे। व्हॅनगोफ, गोगाँ और पौल सिझानी आदि चित्रकार ने अपने विचारों से अलग अलग विचार पथ पैदा किए। इन पथों को ही उत्तर अभिव्यंजनवाद (पोस्ट इंप्रेशनिझम) कहते हैं। इसी काल के वॅनगोफ जैसे महान् चित्रकारों ने छोटी छोटी रंगीन अनेक रेखाएँ पृष्ठ पर तेज़ी से खींच कर चित्र जगत् में रंग लगाने का एक नया तरीका पेश किया है। 'मायप्रस' के वृक्ष नामक उनका चित्र इस दृष्टि से सराहनीय है।

आधुनिक सभ्यता के दोष से ऊब कर चित्रकार गोगां ने ताहितीबेट के आदिवासियों के जीवन पर चित्र बनाए। सादगी ज़िन्दगी का चित्रण भी सादगीपूर्ण हो यही उसका विचार था। आकारों में उसने काफ़ी सादगी लाई। बाल्यावस्था की सादगी जैसी सादगी चित्रकार गोगां की चित्रसृष्टि को एक देन है। इसी विचार को लेकर चित्रकार मातीसी ने आगे चल कर पाँच साल के उम्र के बच्चे के चित्र बनाने में प्रयत्नशील रहा। इसे

ही पशुवाद कहते हैं। चित्रकार सिफ़ानी का कथन था कि, निसर्ग यदि घन शंकू या दण्डगोल की सहायता से बना है तो ये ही आकार बना कर हम निसर्ग को चित्रित कर सकते हैं। इसी विश्वास को लेकर सिफ़ानी चित्र कार्य करता रहा। १९०७ से १९०९ के ज़माने में पैरिस के चित्रकार वर्ग ने यह तय किया कि यह कोई ज़रूरी नहीं कि हमें जैसा दीखता है वैसा ही चित्रित करें। लेकिन जैसा लगता है उसे वैसा रंगाने में ही सही यथार्थ है। पॅब्लो पिकासो को 'क्युबिझम' का जनक मानते हैं फिर भी उसी काल के जार्ज ब्रेक ने 'क्युबिझम' का सर्वप्रथम चित्र बनाया था। वक्र रेखा से सीधी रेखा और सशक्त रहती है और सशक्तता यह सौन्दर्य का गुण है। इसलिए निसर्ग या निसर्ग की कोई वस्तु चित्रित करते वक्त उसका आकार सीधी सादी रेखाओं से चित्रित करने में चित्रकार पिकासो मग्न रहे। स्वप्न चित्रित करने का प्रयोग भी वह करते रहे हैं। दृश्य वस्तु की दृश्य गुण से पूरा यथार्थ नहीं हो सकता। उस वस्तु की सब जानकारी से ही ज्यादा यथार्थ की व्याख्या बदल गई। चित्र यह दो आयामों पर बनता है लेकिन उस पर दो आयामों से ज्यादा आयाम दिखाने की कोशिश रही। चार और पाँच आयाम दिखाने के प्रयोग आज भी जारी हैं। भविष्यवाद नामक वाद में भागते हुए कुत्ते की पहले की स्थिति और भविष्य की स्थिति की झलक दिखाने वाली अस्पष्ट रेखा का अंकन करना भी एक प्रयोग है।

वास्तविक जीवन की कटुता और असहायता के कारण चित्रकला कुछ इन विषयों से दूर तांत्रिकता में उलझ गई थी। दुःख, कटुता, असहायता, मजदूरी, अत्याचार इनको ही कला का विषय बना कर एक चित्रकार वर्ग सामने आया। इन्हें ही प्रकृतिवादी कहते हैं। इस वक्त तक चित्रकला के पुजारी द्वारा आत्मिक आनन्द तथा मनोरंजन तक ही सीमित रहा। लेकिन रिव्हेरा, ओरोझको और सिक्वेरास आदि महान कलाकारों की कला में सामाजिक यथार्थ वाद का जो निर्माण हुआ वह प्रकृतिवाद की आगे की सीढ़ी है।

१९ वी शताब्दी के उत्तरार्ध में विज्ञान की प्रगति के कारण मानव अधिक ऐश्वर्यशाली और अधिक बुद्धिवादी बना। लेकिन उसकी आत्मा रिक्त रही। भाव, राग, मत्सर, आनन्द आदि मानवी भावनाएँ तथा भाववाचक पदार्थों का विश्लेषण आदि विषय चित्रकार कॅनडिन्स्की, मार्क शेगेल, ग्राफ़, कोकोश्का आदियों ने चित्रित किया है।

फ़ायड के उपचेतन मन के सिद्धान्त का अतिवास्तववाद ने आधार लिया और मानवी उपचेतन मन की भावना प्रकट करने वाले चित्रों का निर्माण पॉल क्ले, सलवादोर दाली, मॅक्स अर्नेस्ट आदि चित्रकार वर्ग ने किया है। वस्तुनिष्ठ संवाहन के बदले आत्मनिष्ठ भावों का आविष्कार ही इन अतिवास्तववाद के चित्रों की प्रेरणा है।

आधुनिक भारतीय चित्रकला का इतिहास देखा जाए तो यह मालूम होगा कि ब्रिटिश काल में हम भूल गए थे कि हमारी कला क्या है। अजन्ता के चित्रों की भी खोज अभी होने की थी। पाश्चात्य यथार्थवादी कला का परिचय और प्रचार करने के हेतु कलकत्ता और बम्बई में 'आर्ट स्कूलस' खोले गए। राजा रविवर्मा ने अपनी यथार्थवादी कला क द्वारा मानव के रूप में देवी देवताओं को चित्रित किया। साथ ही अल्लाबक़्श, ठाकुरसिंह, त्रिनिदाद, मुलर आदि भारतीय चित्रकारों ने ख्याति प्राप्त कर ली थी। अब्दुर्रहमान चुगताई, अवनीन्द्रनाथ टैगोर, नन्दलाल बसु, बोस, मजूमदार आदि चित्रकारों ने अर्ध-यथार्थ और अर्थ सजावटी चित्रों की निर्मिति की। लोग इन्हें भी समझ ही नहीं पाए, साथ में अमृता शेरगील, चावला, जार्ज कीट, गगेन्द्रनाथ टैगोर और हेब्बर आदि चित्रकार सामने आए। शास्त्रीय तन्त्र की ओर यह चित्रकार बढे। फिर भी इनकी कृतियाँ समझ के परे नहीं थीं। आरा, हुसेन, गाड़े, पलसीकर, पै, गायतोंड़े, जेमिनी राय, शीला, आदेन आदि चित्रकारों के चित्र देख कर सामान्य जन चौंक जाते हैं। अभी भी भारतीय चित्रकारों ने पूर्ण रूप में पाश्चात्य नवकला को आत्मसात नहीं किया। फिर भी आशा यही है कि, भारतीय चित्रकार वर्ग भारत के सीमा के बाहर जो प्रयोग हो रहे हैं, उसे देखें, समझें। लेकिन उसे अपनाते वक्त यह न भूलें कि वे भारतीय हैं और भारतीय संस्कृति की रक्षा करना उनका कर्तव्य है।

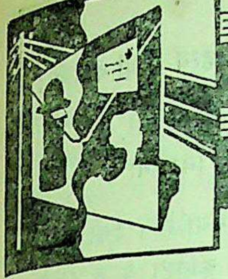

चिट्ठी-पत्री

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

(१)

......इस बात में मैं आपसे सर्वथा सहमत हूँ कि अब First class मासिक पत्र ही निकालने चाहिए पर उनके लिए अनुकूल आदमी कहाँ मिलें ? सम्पादन-कला अभ्यास से आती है और आपका जो संस्कृत भाषा का ज्ञान है और विस्तृत अध्ययन तथा विद्वानों का सम्पर्क, वे साधारण पत्रकार के लिए दुर्लभ हैं। उर्दू से परिचय भी आपके लिए सहायक हुआ है। 'अजन्ता' के सम्पादन में ये सब बातें मददगार हुई हैं।......

उर्दू माध्यम निस्सन्देह एक महान् प्रयोग था—इस बात को आपने स्वीकार करके उचित ही किया है। हिन्दी के बारे में आपने जो लिखा है सो ठीक है और हम लोगों के अंग्रेजी के मोह पर आपका जो आक्षेप है वह भी साधार है।...संस्कृतज्ञों को मैं सदा से पूज्य मानता आया हूँ क्योंकि अपने जीवन में संस्कृत का अज्ञान मुझे सदा खटकता रहा है......।

नई दिल्ली

—बनारसीदास चतुर्वेदी, एम. पी.

(२)

'अजन्ता' के सात अंक आज प्राप्त हुए। अनेक धन्यवाद। इनमें से दो (अगस्त और सितम्बर के अंक) पहले भी आ गए थे। फरवरी और जुलाई के अंकों को छोड़ कर अब इस वर्ष के सभी अंक मेरे पास हो गए हैं। प्राप्त अंकों को उलट-पुलट कर देख लिया है। प्रायः सभी अंक आकर्षक जान पड़े, सब में कुछ न कुछ सामग्री ऐसी मिली जो पढ़ने के लिए आमंत्रित करती है। सामग्री का वैविध्य सचमुच प्रशंसनीय है। आपकी पत्रिका वास्तव में बहुत अच्छी निकल रही है। बधाई। भविष्य में और भी अच्छी बनती रहे यह मेरी हार्दिक शुभ कामना है।

१८-२ बी, टैगोर टाउन,
इलाहाबाद

—बालकृष्ण राव

(३)

पिछले कई वर्षों से मैं 'अजन्ता' का नियमित पाठक हूँ। यह अभिव्यक्त करने में मैं गर्व का अनुभव करता हूँ कि अपने इस लघु जीवन में 'अजन्ता' ने न केवल सर्वतोमुखी उन्नति ही की है वरन् उसने पाठकों को उत्तम साहित्य देने में पक्षपातरहित सुप्रयत्न किया है। 'अजन्ता' दक्षिण भारत की एक मात्र हिन्दी मासिक पत्रिका है जिसके अनेक भिन्न भिन्न स्तम्भों में विभिन्न प्रकार की सामग्री निहित होती है। क्या कविता, क्या निबन्ध, क्या गवेषणात्मक, आलोचनात्मक लेख, क्या कहानी, क्या कला-चर्चा, क्या नीर-क्षीर, क्या सामयिक, क्या चित्र और क्या सम्पादकीय, सभी में एक मौलिकता निहित होती है। 'अजन्ता' की सर्वतोमुखी प्रतिभा सुयोग्य संपादन के ही कारण है।

'अजन्ता' के सितम्बर के अंक के कविता स्तम्भ में "दर्द उतना ही मुझे दो" "वन्य फूल" तथा गीत शीर्षक कविताएँ अधिक मन भाईं। 'वन्य फूल' अनूदित अवश्य है परन्तु इसके अनुवाद में मौलिक भावनाएँ और भी निखर गई हैं। प्रायः अनुवाद में ऐसा नहीं होता। "बौद्ध न्याय का पिता" वाचस्पति गैरोला का गवेषणात्मक लेख "भूपति की एक अप्रकाशित रचना" पाण्डे जी का अनुसंधानात्मक लेख, "व्यक्ति और समाज" यशदेव शल्य जी का साहित्य निबन्ध, "स्वेज नहर की समस्या" सत्यदेव विद्यालंकार जी का राजनैतिक लेख, तथा श्री जीनत साजिदा की "अवतार" कहानी इस अंक के विशेष लेख हैं। ऐसी सर्वतोमुखी-प्रतिभा से सम्पन्न शायद ही कोई पत्र पाया जाता होगा।

'कला-चर्चा' स्तम्भ में श्री विश्वनाथ मुखर्जी के कला के विहंगम तत्वों पर मौलिक विचार तथा 'नीर-क्षीर' में 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की श्री० पं० वंशीधर विद्यालंकार की समालोचना से तो चार चाँद ही लग गए हैं। अर्थशास्त्र में समाज तथा जीवन सम्बन्धी बारीकियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

'अजन्ता' का सम्पादकीय सदा की तरह इस बार भी बड़ा ही मौलिक और प्रभावपूर्ण रहा। भारतीय भाषाओं की उन्नति तथा फ़िल्म जगत के उत्थान के लिए इतना सुयोग्य मार्ग दर्शन शायद ही किसी पत्रिका ने किया होगा। 'अजन्ता' के सम्पादकीय की विशेषता सम्पादक महोदय के गहन अध्ययन तथा पक्षपातरहित विचार-प्रदर्शन में ही निहित है।

डी० डी० विद्यालय,
डोरनकल

—रामनारायण शर्मा

(४)

सितम्बर '५६ का अंक मिला और नव-निर्माण की ओर जाते हुए किसी राष्ट्र की तरह 'अजन्ता' भी एक के बाद एक अधिकाधिक समुन्नत होती जा रही है। 'अजन्ता' राष्ट्र के कला-मण्डप का वह मुख्य स्तम्भ है जिसके न होने से राष्ट्र की कला, साहित्य आदि के भवन का निर्माण नहीं हो सकता। संस्कृत में एक कहावत है :

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"

जनता में यदि साहित्य और कला का ठीक-ठीक प्रचार न हो तो राष्ट्र की उन्नति नहीं हो सकती है। 'अजन्ता' अपने अनोखे ढंग से जनता जनार्दन को साहित्य और कला रूपी अमृतमय पान बड़े सरस रूप से कराती है।

इस अंक में "दूर बहाओ मांझी" नामक काव्य प्रगतिवादियों का समर्थक और रूपक काव्य है। अपनी आत्म-रूपी मांझी को आदर्श की ओर जाने का संदेश इस काव्य में दिया गया है। जीवन के स्थिर भाव को तट का रूप दिया गया है; और प्रगति की ओर जीवन की नैया बढ़ाने के लिए आत्म-रूपी मांझी को आदेश दिया गया है। आगे चल कर कवि ने कहा है :

"एक हाथ, दो हाथ और फिर सागर होगा,
सागर में संसार तुम्हारा जीवन होगा और मरण भी"

ये पंक्तियाँ हृदय की वीणा के तारों को झनझना देने वाली हैं जो हृदय के उच्च भावनाओं का द्योतक है।

आदर्श के लिए और उसी ध्येय के लिए मरना ही चाहिए। आदर्श की ओर जाने में ही जीवन है। इसी ध्येय को हमारे फिल्म-साहित्य में यों कहा है :

"चलना जीवन की कहानी,
रुकना मौत की निशानी"

कह कर प्रस्तुत किया गया है। इसी तरह "दर्द उतना ही मुझे दो" नामक कविता बहुत रोचक बन पड़ी है :

"ज़िन्दगी है चेतना,
जड़ता नहीं है"

यह पंक्ति पढ़ कर हमारा हृदय बाग-बाग हो जाता है। प्रख्यात अंग्रेज़ी कवि R. L. Stevenson की कविता "The Vagabond" की छाया इस काव्य की अंतिम पंक्तियों पर पड़ी प्रतीत होती है।

"चाहता हूँ मैं नहीं मन......
.........हर साँस सहसा"

'स्वेज नहर की समस्या' नामक लेख बहुत ही ठीक समय पर प्रकाशित हुआ है। स्वेज के राष्ट्रीयकरण से विश्व की शक्तियों में जो असन्तुलन हो गया है उसका इस लेख में दिग्दर्शन हो जाता है। मैं इस लेख का गुजराती में अनुवाद करना चाहता हूँ। अन्य सब लेख भी अच्छे हैं। धन्यवाद।

गड्ढ़ा (स्वामीना),
सौराष्ट्र

—संतोषकुमार भट्ट

(५)

साहित्यकार और जीविका से सम्बन्धित कुछ विचार रख रहा हूँ—आशा है आपको तथा 'अजन्ता' के पाठकों को रुचिकर प्रतीत होंगे।

साहित्यकार और जीविका से सम्बन्धित एक लेख 'अजन्ता' के पाठकों को इसी वर्ष के जुलाई के अंक में पढ़ने को मिला है, इसके लेखक श्री रावी ने इसमें स्वयं के विचार उपस्थित किए हैं। (उन्हीं के शब्दों में पृष्ठ १७ पर, जिस प्रश्न को लेकर मैंने अपने ये विचार आपके सामने रखे हैं उसे मैंने आज से सात वर्ष पहले अपनी जीविका के प्रश्न के रूप में ही सुना था) इस सम्बन्ध में मैं भी 'अजन्ता' के पाठकों के समक्ष कतिपय विषयवार विमर्श स्वरूप धारणाएँ प्रस्तुत कर सकने की

किसी भी भाषा के साहित्य जगत् को समुद्र की तरह अगाध एवं विस्तृत माना जाता है, और यह उचित ही है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र में छोटी-छोटी मछिलियों को बड़ी मछलियाँ अपना आहार बनाती हैं उसी प्रकार इस साहित्य जगत में भी होता आया है—और यह होता रहेगा ? मानव अपनी प्रवृत्ति के अनुसार स्वंयं को ही अन्य मानवों से अधिक चतुर एवं श्रेष्ठ मानता रहा है, उसे स्वयं की वृद्धि में प्रसन्नता होती है, और जब अपने पड़ौसी को स्वयं से आगे बढ़ता देखता है तब वह—अगर उसका बस चलो तो—ऊँचे चढ़ते हुए पड़ौसी को पीछे पकड़ कर खेंच लाता है ? मुझे एक दो ऐसे दृष्टान्त स्मरण भी हैं और मैं ऐसे व्यक्तियों को जानता भी हूँ तो आज कल साहित्यकार होने का दावा करते हैं पर जिनको अधिक ऊँचा पहुँचाने का श्रेय छोटे-छोटे ऐरे-गैरे लेखकों को, मैं स्वयं की ही कहूँ, मेरे पास कुछ नवोदित लेखक अपनी रचनाएँ लेकर आते हैं, मैं उनमें सुधार करता हूँ, पर न जाने क्यों मेरी कलम स्पष्टवादिता के क्षेत्र में पिछड़ जाती है, इसका तात्पर्य कि मैं उन रचनाओं को इतना अधिक नहीं संवार पाता जितना कि अगर वे रचनाएँ मेरी होतीं ?—यह क्या है। यह है मेरी, या हमारी मानसिक कमज़ोरी, जिसे मैं या आप कभी कभी पूर्ण रूपेण विजित नहीं कर सकते; क्योंकि हमारा स्वभाव भी ऐसा है और हम अपने जन्मजात स्वभाव को नहीं छोड़ सकते।

इस विचार के विषय में एक बात है कि कोई भी अपनी माँ के पेट में से सीख कर नहीं आता, समाज या यों कहिए यह संसार ही उसे समझाता है और फिर दूध का जला छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है। आपके या मेरे साथ मान लीजिए किसी प्रकाशक ने धोखा किया तो भविष्य में आपके या मेरे तो आँखें हो ही गईं, साथ ही साथ मैंने अपने मिलनेवालों से और कह दिया कि अमुख व्यक्ति ऐसा है या आपने इस प्रकाशक की बुराई में अपने मित्रों से कह दिया यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि आप तो उस व्यक्ति की बुराई करना नहीं चाहते हैं पर परिस्थितियों के वशीभूत होकर आपको ऐसा करना बाध्य होना पड़ा, इसके विषय में मैं आपसे केवल इतना ही कहूँगा कि आप किसी भी कवि या लेखक की रचनाएँ उठा कर देखें आपको उनकी कृतियों में समाज की समस्याओं का, मध्यवर्गीय परिस्थितियों का, एवं इस फ़रेब और दग़ाबाज़ी का, बाहुल्य मिलेगा—यह सब इसलिए है कि या तो इन लेखकों और कवियों ने स्वयं को इन समस्याओं में से होकर गुज़रा है, या उनके सम्बन्धी गुज़रे हैं, या उन्होंने किसी को गुज़रते देखे हैं, लेखक, जैसा देखा जाता है, साधारणतया वैसा ही कहता है वैसा देखता है; जब ही तो कहा गया है कि लेखक का व्यक्तित्व उसकी कृतियों में झलकता है—अतः यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात है कि लेखक का ग़रीब जीवन ही उससे किसी भिकमंगे के लिए लिखने को बाध्य करता है।

यह तो हुआ साहित्य का प्रश्न, साहित्यकार का प्रश्न कि किस तरह नवोदित कलाकारों का भक्षण होता है और वे बेचारे अपनी लेखन प्रवृत्ति को उचित रूप में संचित न करने के फलस्वरूप इस ओर निराशा होकर और कोई धन्धा अपनाते हैं, यह तो माना ही जाएगा कि मानव क्रियाशील एवं सामाजिक प्राणी है। अतः सामाजिक होने के साथ साथ उसमें सब भाँति के भाव निहित रहते हैं, जिस समय उसने जैसा मौका देखा उस समय वैसा ही भाव उसमें जागृत हो गया—यही कारण है कि साहित्यकारों से सम्पर्क भी साहित्य ज्ञान की वृद्धि करता है।

अब प्रश्न आता है जीविका का। यह प्रश्न प्रत्येक युवा व्यक्ति के सामने उपस्थित होता है, साहित्यिक व्यक्ति जब जीविका के प्रश्न पर सोचता है, तब सर्वप्रथम वह ऐसी नौकरी करना चाहता है जो उसकी साहित्यिक प्रेरणा में बाधा न पहुँचाए, यानी कि वह नौकरी भी करता रहे और साथ ही साथ साहित्य सेवा भी। पर यह सत्य है नौकरी आखिर नौकरी है। अतः साहित्य सेवा का समय साहित्यकार के पास नहीं बचता। आज का प्रत्येक साहित्य सम्बन्धित व्यक्ति यही चाहता है, पर प्रत्यक्ष में ऐसा होता यदा कदा ही है, चाहे साहित्यकार कालिज में अध्यापन कार्य करे, या किसी पत्र के सम्पादन में सहायक हो, या आकाशवाणी पर लेखक हो, उसे स्वयं द्वारा साहित्य सेवा का उतना अवसर नहीं मिलता जितना पहले मिला था। नौकरी का मतलब ही बन्धन है, और बन्धित व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। पर आज के समाज का एक ऐसा ढाँचा है जिसमें मानव को किसी न किसी नौकरी में अवश्य अपने को खपाना पड़ता है। यहाँ यह बात

है कि नौकरी अपनी रुचि के अनुसार करनी चाहिए नहीं तो चौकोर छिद्रों में गोल टुकड़े घुमाने की बात शत-शत प्रतिशत सिद्ध होगी। पर एक प्रश्न उठता है। मानव की मजबूरियाँ होती हैं जो उसे कैसी भी नौकरी को संभालने को बाध्य करती हैं, इसके लिए एक उत्तर है कि ऐसी परिस्थिति क्षीण मानव के लिए अपनी जीविका के हेतु ऐसे मार्ग सहायतार्थ अपना लेने चाहिएँ! आप कहेंगे क्या साहित्यकार को भी? इसके उत्तर में मैं केवल आप से यही कहूँगा—कल्पना करो उस समय की जब कि आपके हाथ में एक रोटी का टुकड़ा है और एक बन्दर आपके पास बैठा हुआ है जो उसे लेना चाह रहा है, क्या आपके लिए यहाँ यह श्रेयस्कर नहीं कि आप उस टुकड़े को छिनवाने की बजाय उसे दे ही दें! मेरी समझ में तो यही बेहतर रहेगा क्योंकि आप जानते हैं कि आप उस टुकड़े को किसी भी परिस्थिति में अपने पास नहीं रख सकते! यही दशा आज के साहित्यकार की भी है, वह साहित्य के सहारे जीवनोपार्जन भी करना चाहता है, वह चाहता है कि बाहर भी बैठा रहे और वह उस रोटी के टुकड़े को भी अपने हाथ में ही रखे, आज के घर्षण-तर्जन के इस युग में यह कैसे संभव हो सकता है, [हाँ यह तभी संभव हो सकता है जब कि उस व्यक्ति के पास एक मजबूत लाठी हो, यानी कि साहित्यकार के पास आर्थिकाभाव न हो—पर सामान्यतयः लक्ष्मी और सरस्वती एक स्थान पर नहीं रहती और साहित्यकार ग़रीब होता है] अतः उसे साहित्य के समक्ष जीविका का सहारा छोड़ना ही पड़ता है। प्रारम्भिक समय में साहित्य और जीविका को साथ साथ चलाना कोरी मूर्खता एवं अज्ञानता है, हाँ बाद में तो यह चल भी सकता है, क्योंकि वह मानव यह भी तो कर सकता है कि अपनी उस रोटी में से आधी ही उस बन्दर को दे और आधी स्वयं अपने कार्य में ले, पर ऐसा बाद में ही सोच समझ कर हो सकता है। नवीन लेखक को अतः साहित्य और साहित्य से जीविका उपार्जन कठिन रहता है। हमारी समझ में अगर लेखक आर्थिकाभाव से संचित है तो उसे परिस्थितियों के अनुकूल जैसी भी नौकरी या सहायता मिले अवश्य ग्रहण करनी चाहिए, पर इस नौकरी में उसे इतना मशगूल नहीं हो जाना चाहिए कि वह अपने प्रमुख ध्येय को ही भूल बैठे, उसे बार बार अपना वह ध्येय याद रखना चाहिए और मौका देख कर अपनी वह नौकरी छोड़ कर साहित्य के क्षेत्र में पूर्णरूपेण उतर आना भी चाहिए!

झूमर बाग, स्टेशन रोड,
जयपुर

—महावीर सिंहल

(६)

'अजन्ता' का अगस्त अंक मिला। धन्यवाद। 'अजन्ता' की प्रति मिलते ही मेरा हृदय उन बच्चों की तरह उल्लसित हो उठा, जो मिठाई पाकर अपने हर्षातिरेक को रोक नहीं सकते। पत्रिका बहुत ही सुन्दर है। रचनाओं की उपादेयता श्लाघ्य है।

'बौद्ध युग और साहित्य में संगीत' एवं हिन्दी का प्रगतिवादी काव्य' सफल लेख हैं। इस अंक की कहानी भी सफल उतरीं हैं। 'एक बिन्दु: दो भँवर' श्री ज्ञानेन्द्र भटनागर की कहानी सुन्दर और सरस है।

'नीर-क्षीर' स्तम्भ में विभिन्न पुस्तकों की समालोचनाएँ श्री वंशीधर विद्यालंकार एवं श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ने बड़े ही उचित तरीक़े से की हैं। सम्पादकीय स्तम्भ में सम्पादक महोदय ने 'हिन्दी के अध्ययन का प्रयोजन' निबन्ध लिख कर सचमुच सराहनीय कार्य किया है।

सब मिला कर यह कहा जा सकता है कि पत्रिका अपने आप में सुन्दर और पूर्ण है।

मिठ्ठन लाज, बेगूसराय,
मुंगेर (विहार)

राजेन्द्र राय 'राजेश'

(७)

आपकी सर्वांग सुन्दरी 'अजन्ता' की प्रतियाँ प्राप्त हुईं। मैं इसके लिए आपका हार्दिक धन्यवाद करती हूँ।

'कौड़ियों का नाच' पर आपने जो सहानुभूतिपूर्ण आलोचना लिखी है, वह मैंने सहर्ष पढ़ी। आलोचक की लेखनी से यदि नवीन सुझाव के साथ इसी प्रकार सहानुभूति की भावना भी हो तो लेखक को कितना बल मिल सकता है। आपने जो पथ प्रदर्शन किया है, वह मेरे लिए अवश्य उपयोगी होगा।

राजभवन,
टेलीफोन एक्सचेंज रोड,
लखनऊ

—सरूपकुमारी बख्शी

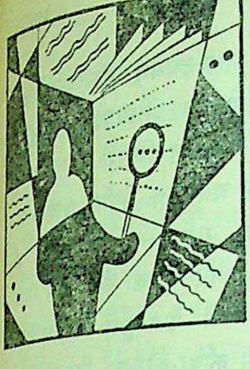

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ ।]

देश-विदेश में मनोरंजन

लेखक : मन्मथ राय

प्रकाशक : साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड,
इलाहाबाद

मूल्य : चार रुपया

प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक को पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः इसमें देश-विदेश में मनोरंजन के साधन क्या थे और हैं, इन पर ऐतिहासिक या वैज्ञानिक ढंग से कुछ विचार किया गया होगा। स्वभावतः निर्दोष मनोरंजन मानव-जीवन का एक प्रधान अंग है। जैसा व्यक्ति या राष्ट्र होगा उसका मनोरंजन भी उसी प्रकार होगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध निबन्ध लेखक ऐडीसन ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि यदि हम किसी व्यक्ति को पहचानना चाहते हैं तो हमें उसे इस बात से पहचानना चाहिए कि वह अपने अवकाश या ख़ाली समय को किस प्रकार व्यतीत करता है। जिस प्रकार जब एक बादल पानी बरसा कर ख़ाली हो जाता है और तब सूर्य की किरणें उसमें अनेक प्रकार से रंग भर कर उसको और भी अधिक सुन्दर और आकर्षक बना देती हैं उसी प्रकार एक व्यक्ति या राष्ट्र भी अपने अवकाश के समय ऐसे मनोरंजन की सामग्री का आयोजन करता है जो कि उसकी संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक रूप में परिचायक होते हैं। गीत, नाटक, उत्सव, तीज-पर्व, सामाजिक आयोजन, खेल-कूद आदि अनेक साधन इस प्रकार के हैं जिनका विकास इसीलिए हुआ कि उनमें मनोरंजन के साथ मनुष्य या राष्ट्र में नव-जीवन उत्पन्न करने की क्षमता होती है। जिस प्रकार नींद एक व्यक्ति के शरीर और मन को स्वस्थ और ताज़ा बना देती है—उसी प्रकार कार्य से थकने के पश्चात् मनोरंजन ही मनुष्य को सशक्त और स्फूर्तिपूर्ण बना देता है। जिन साधनों से व्यक्ति या राष्ट्र में शक्ति और स्फूर्ति उत्पन्न न हो, जो उसे अपने प्रतिदिन के कार्य और लक्ष्य में अधिक शक्ति सम्पन्न और उपयोगी न बना सकें—वे उसको खोखला और निकम्मा बना सकते हैं—उन्हें हमें मनोरंजन के नाम से नहीं व्यसन के नाम से कहना चाहिए। यह सत्य है कि अनेक व्यक्ति कार्य से थक जाने के पश्चात् मद्यपान, धूम्रपान, गांजा-भांग आदि पीने में व्यतीत करते हैं परन्तु इन्हें मनोरंजन के साधन कहना कहाँ तक न्याय्य और उचित है—यह एक विवादास्पद प्रश्न है। मनोरंजन के साधनों में उन्हीं को लिया जाना चाहिए जिनके द्वारा व्यक्ति या राष्ट्र की रचनात्मक प्रतिभा पर प्रकाश पड़ सके। प्रस्तुत पुस्तक में यद्यपि स्थान स्थान पर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के विनोद या मनोरंजन के साधनों पर प्रकाश डाला गया है परन्तु अधिकांश में मनोरंजन के ऐसे साधनों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है जिनमें किसी प्रकार की मर्यादा नहीं है और जो निर्दोष मनोरंजन नहीं हैं—मनुष्य की इस प्रकार की कमज़ोरियाँ हैं कि जिनसे किसी मनुष्य या राष्ट्र का अधःपतन हो जाता है। इस प्रकार की वस्तुओं को हम "व्यसन" कह सकते हैं परन्तु मनोरंजन नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार वे स्त्रियों और सुरापान आदि से अपना मनोरंजन करते थे। हम समझते हैं कि यदि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक मनोरंजन के उन साधनों को लेते जिनसे मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति का निर्माण किया है और उन पर ऐतिहासिक और अन्य दृष्टियों से प्रकाश डाला तो वे अपनी इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बना सकते थे।

बाण की 'कादम्बरी' को पढ़ने से ज्ञात होता है

कि राजा शूद्रक किस प्रकार राज-कार्य से निवृत्त हो कर अपना समय व्यतीत किया करता था। वह कभी संगीत, कभी साहित्यालोचना कभी काव्यालाप, कभी शास्त्रार्थ, कभी नृत्य, कभी विद्वत्-गोष्ठी और कभी भिन्न भिन्न प्रकार के खेलों से जैसे : अक्षर मात्राच्युत्त, अक्षरदत्त और बिन्दु-मती आदि से, कभी प्रहेलिकाओं से और कभी शिकार आदि से। शिकार को भी यद्यपि "व्यसन" कहा जा सकता है तो भी इसे कालिदास ने अपने एक श्लोक में विनोद कहा है। "अभिज्ञान-शाकुन्तल" में मृगया के विषय में कहा गया है : "मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगया मीदृग्विनोदः कुतः।"—खामखाह ही लोग मृगया को एक व्यसन कहते हैं—सत्य तो यह है कि इस प्रकार का विनोद कहाँ है? कालिदास शिकार के शौक़ीन मालूम होते हैं क्योंकि इसमें उन्हें प्रकृति के दर्शन और उसको चित्रित करने, पशुओं के भागने और उनकी मनोवृत्ति के अध्ययन करने और इसी प्रकार शिकारी के साहस आदि का वर्णन करने का अवसर प्राप्त होता है। इन शिकारों के वर्णन में कालिदास के व्यक्तित्व और ईडियोसिन्क्रेसी पर विचित्र रूप से प्रकाश पड़ता है। कालिदास हरिण के शिकार का वर्णन करता है क्योंकि हरिण किस प्रकार चौकड़ी भरता है—यह दृश्य उसके लिए अद्भुत और परम आकर्षणपूर्ण है। परन्तु कभी वह शिकार में हरिण को तीर मारने नहीं देता क्योंकि हरिण ऐसा जानवर है जो कि उसे अत्यन्त प्रिय है। इसी प्रकार वह हाथी की चाल पर मस्त है—वह हाथी पर वार करने को सहन नहीं कर सकता। वह शिकार जंगली सूअरों और इसी प्रकार के अन्य वन्य पशुओं का सहन कर सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक के तीन अध्याय हैं। अन्तिम अध्याय "अवकाश के समय का सदुपयोग" बहुत छोटा है। इसमें उसने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि अवकाश के समय का उपयोग कर किस प्रकार 'कुछ ठोस काम' किया जा सकता है। आगे लेखक लिखते हैं : "प्राचीन काल में समग्र संसार में मनोविनोद का अर्थ मौज लूटना था।" भिन्न-भिन्न देशों में किस प्रकार इस "मौज लूटने" का क्रम जारी था—इसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक के द्वितीय अध्ययन में किया है। मिस्र में नौका विहार, साँड़ों की लड़ाई, नृत्य, कुश्ती, जुआ, ताड़ी-घर और आखेट; चीन में तुकबन्दी की प्रतियोगिता, लक्ष्यवेध की प्रतियोगिता, फूलों का युद्ध, बाज़ीगर, शतरंज, चित्रकारी, सुरापान; यूनान में ओलम्पिया के खेल-कूद जिसमें कि दौड़-धूप, कूद-फाँद और घुड़-दौड़ के अतिरिक्त संगीत, कविता पाठ, मशालधारियों की दौड़, युद्ध-नृत्य, नाव-खेना और सौन्दर्य की प्रतियोगिता, बाज़ीगरों का खेल और बाज़ीगरी के खेल; प्राचीन रोम में फल-फूल की अधिष्ठात्री देवी फ्लोरा के सम्मान में क्रीड़ा-कौतुक, दिगम्बर परायस्त्रियों की दौड़ की प्रतियोगिता, अमीरों के घरों में विवस्त्र स्त्रियों द्वारा भोजन परोसना, सार्वजनिक स्नानागारों में नग्न स्त्री-पुरुषों का स्नान और पांटोमाइम अर्थात् मूक अभिनय और इसी प्रकार पृथ्वी की प्राचीन सभ्य जातियों के मनोविनोद के साधनों का वर्णन किया गया है।" पुस्तक के प्रथम अध्याय में लेखक ने प्रदर्शित किया है कि आधुनिक काल में यह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है कि "काम-धन्धे में फँसे रहते समय भी लोग खेल-कूद का आनन्द लें और खेल-कूद के समय वे कोई नई विद्या या कला सीखें।" सच्चा मनोविनोद वही है जो मनोविनोद के साथ मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदि उन्नति में सहायक हो। मनोविनोद का अर्थ शगल या Pastime या एकमात्र समय गँवाना नहीं है। जो लोग एकमात्र समय काटने के लिए इन साधनों का आश्रय लेते हैं वे एकमात्र अपना और दूसरों का समय गँवाते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का विषय सर्वथा नवीन है। लेखक ने अपनी पुस्तक में कई प्रकार की ऐसी नवीन सूचनाएँ प्रदान की हैं जिनसे पाठक का मनोरंजन होता है।

—वंशीधर विद्यालंकार

हैदराबाद

शिक्षा में नवीन प्रयोग (स्वयं ज्ञान तथा खेल विधियाँ)

लेखक : रामखेलावन चौधरी एम. एड.

प्रकाशक : विद्या मन्दिर, रानी कटरा, लखनऊ

मूल्य : सवा रुपया

पिछले चालीस-पचास वर्षों से शिक्षण-कला को भी एक विज्ञान का रूप दिया गया है; इसी के अन्तर्गत 'स्वयं ज्ञान-विधि' का प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रस्ताव में 'स्वयं ज्ञान विधि' और 'खेल विधि' दोनों का ही निरूपण किया गया है; दोनों शिक्षण विधियों का

और उनके सिद्धान्तों, गुण दोषों का अच्छा विवेचन है। शिक्षण-कला के क्षेत्र वालों के लिए पुस्तक निःसन्देह उपादेय है।

दूर की कौड़ी (कहानी-संग्रह)

लेखक : मनमथनाथ गुप्त
प्रकाशक : चेतना प्रकाशन लिमिटेड, हैदराबाद
मूल्य : दो रुपया आठ आना

'दूर की कौड़ी' के लेखक श्री मनमथनाथ गुप्त हिन्दी कहानी में ख्यातिलब्ध हैं—प्रस्तुत पुस्तक में नौ कहानियाँ संगृहीत हैं : 'राजनीति', 'सोख्ते का टुकड़ा', 'महान् अमीर ने अखबार निकाला,' 'यन्त्र का मूल्य', 'तीसरी बीवी', 'वायसराय का मैडल', 'महायुद्ध की देन' 'देश यन्त्र का अन्त, 'पन्द्रह रुपए बारह आने—इस संग्रह की सभी कहानियों में भाषा की सरलता, कथ्य की सौष्ठता और सोद्देश्यता विशेष उल्लेख्य है। 'तीसरी बीवी', 'महान् अमीर ने अखबार निकाला', 'पन्द्रह रुपए बारह आने' कहानियाँ इस संग्रह की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं, श्री गुप्त जी का कहानी-तत्व सामान्यतः कल्पनापरक न होकर लोक परक और अधिक अंशों में उद्देश्य परक भी है।

टूटती शृंखलाएँ

कवि : महेन्द्र भटनागर
प्रकाशक : कारवाँ प्रकाशन, ६३,
बड़ा सराफ़ा, इन्दौर
मूल्य : पौने दो रुपए

श्री महेन्द्र भटनागर का हिन्दी काव्य-जगत् में एक विशिष्ट स्थान है; विशेष कर वस्तुपरक काव्य के क्षेत्र में हिन्दी को उनकी अपनी सशक्त देन है। उनकी वस्तुवादिता लोकचेतना को प्रवुद्ध करती है, झकझोरती है—इस कविता-संग्रह की प्रायः सभी कविताएँ लोक-चेतना के लिए हैं और असंदिग्धतः कहा जा सकता है कि कवि को अधिकाधिक सफलता ही मिली है; पुस्तक में कुल साठ कविताएँ संगृहीत हैं—इनका रचना काल सन १९४४ से १९४८ तक हैं और वर्तमान में तो सारा जीवनक्रम ही परिवर्तित होना था; इसके बावजूद इन कविताओं की कथ्यता और स्वर पर्याप्त सप्राण है। 'सदियों बाद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ कितनी सरल और सप्राण हैं :

"सदियों बाद हँसी है जनता
करने नवयुग की अगवानी
जीवन की अभिरुचि पहचानी
दफ़नाने को अश्रु कहानी
सदियों बाद जगा है मानव
अधिकारों की आवाज़ लगी
सुन जग की जनता आज जगी
दुःख, दैन्य, निराशा भगी-भगी"

और ध्वस्त करो शीर्षक कविता, का उद्बोधन देखिए :

"सब जर्जर ध्वस्त करो
चिर जीर्ण पुरातन ध्वस्त करो
जीवन की प्राचीन विषमता
रूढ़ि सकल बन्धन, दुर्बलता
दुःख भरे मानव के व्याकुल
अन्तर की शंका ताप करो
सब जर्जर–जर्जर ध्वस्त करो
चिर जीर्ण पुरातन ध्वस्त करो
जीवन की प्राचीन विषमता
रूढ़ि सकल बन्धन, दुर्बलता
दुःख भरे मानव के व्याकुल
अन्तर की शंका ताप करो
सब जर्जर-जर्जर ध्वस्त करो
चिर जीर्ण पुरातन ध्वस्त करो"

कवि का स्वर एक सुन्दर-सी सृष्टि चाहता है; उसका अभिलक्षित रूप कैसा सुन्दर और चैतन्य युक्त बन पड़ा है—

"शून्य नभ में उर-विहग तुम
एक गति से ही उड़ोगे
तुम उड़ोगे
रुक नहीं सकते कभी भी
पंख उठते और गिरते रहेंगे
थक नहीं सकते कभी भी
राह पर आ मेघ घिरते ही रहेंगे
विश्व को सन्देश नूतन
मुक्ति का दे, तुम बढ़ोगे

तुम बढ़ोगे
शून्य नभ में युग विहग तुम
एक गति से ही उड़ोगे
तुम उड़ोगे"

'मन' शीर्षक कविता में कवि की अभिव्यक्तियों की सुकोमल अभिव्यंजना कैसी सरल और हृदयग्राही है :

"मोर-सा मन
फूल-सा तन
उल्लसित पुलकित सरल
हो स्नेहमय
मदमत्त सुख की या हिलोरें,
हो उठा चंचल
कि देखे जब गगन में
कृष्णावर्णी घोर निम्बस मेघ
सविता की प्रखरतम रश्मियों को ढँक लिया
मानो अभी कोई हिमालय के शिखर पर
बर्फ़-चन्दा न श्वेत शीतल झील सुन्दर
फूट पड़ी हो
खिल पड़ी हो दूध-सी"

अन्य कविताओं में 'झंझा में दीप', 'सम्बल', 'नया दृश्य', 'दुश्मनों को गाड़ता हुआ', 'जब-जब', 'शिशिर प्रभंजन', 'धूल-श्री' आदि विशेष उल्लेख्य हैं। संग्रह की सभी कविताओं की अभिव्यक्ति सरल होने के साथ ही प्रेरक और लोक भावना परक है।

काव्य और कवि

लेखक : श्री विश्वमोहन कुमारसिंह, एम. ए., बी. एल.
(पटना), बी. ए. (आनर्स) पटना
प्रकाशक : इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स),
प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद
मूल्य : दो रुपए

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री विश्वमोहन कुमारसिंह हिन्दी तथा अंग्रेज़ी साहित्य के अच्छे अध्येता हैं। काव्य और कवि की विवेचना के सम्बन्ध में लेखक के ये शब्द अवश्य ही मननीय हैं : "सुतरां जो कवि बिना अनुशीलन, अध्ययन या किसी अनिवार्य आन्तरिक प्रेरणा के सिर्फ़ फैशन समझ कर तुक बन्दियां करते हैं; वे चाहे अपना जी बहला लें, इससे किसी को कोई विरोध नहीं, पर वे कवि के उच्च आसन पर बैठने के अधिकारी नहीं होते। जीवन से परे अपार जगत् को देखने-सुनने, समझने के लिए एक अध्ययनशील भावुकता की आवश्यकता है, चाहे, वह कवि हो, समालोचक हो या सिर्फ़ पाठक हो। इसी उद्देश्य को सामने रख कर अब आगे चलें, मैं आज कल के कुछ कवियों के साथ विचरने की चेष्टा करूँगा और जो कुछ भी मेरी प्रतिक्रिया होगी वह आपके सम्मुख आएगी। मैं सिर्फ़ कवियों को ही कसौटी पर नहीं कसने चला हूँ मैं तो स्वयं ही कसौटी पर कसा जा रहा हूँ। (यह तो बहुत पुराना सा आडम्बर है।)"

पुस्तक में प्रथम तिहत्तर पृष्ठ काव्य-विवेचना को दिए गए हैं--काव्य विवेचना हमें शुष्क लगी—शुष्कता से अभिप्राय: है घिसी-पिटी, पुरानी-धुरानी, भद्दी-भौंड़ी—आगे की सारी पुस्तक में हिन्दी के पाँच आधुनिक कवियों की काव्य-समीक्षा प्रस्तुत की गई है, वह भी किसी को भी चमत्कृत या प्रभावित न कर सकेगी—पाँच कवियों में लिया गया है—जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, दिनकर, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को छोड़ कर लेखक ने अपनी काव्य सीमिति का दिवालिया तो अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। हम बाध्यत: कहते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक स्वत: ही व्यर्थ-सी लगती है।

विश्व दर्पण

लेखक : श्री. राजरत्नाचार्य
प्रकाशक : साहित्य प्रकाशन मण्डल,
हैदराबाद
मूल्य : दो रुपया

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत राजरत्नाचार्य ने अपने आध्यात्मिक जीवन के इतिवृत्त को लिखा है। उन्होंने हैदराबाद के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में अपनी शक्ति के अनुसार कार्य किया है और अपनी वृद्धावस्था में भी कर रहे हैं। उन्हें आर्य समाज और वैदिक धर्म से अनुराग है। संगीत से भी आपको अनुराग है और आपने संगीत का भी अभ्यास किया है। प्रस्तुत पुस्तक में आपने अपने धर्म-सम्बन्धी विचारों को लिखा है।

संसार को चुनौती Secrits of personal succiss

लेखक : प्रो. रामचरण महेन्द्र, एम. ए.
प्रकाशक : विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान,
होशियारपुर

मूल्य : दो रुपए दस आने

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री रामचरण महेन्द्र हिन्दी के ख्यातिलब्ध लेखक हैं, अंग्रेजी के अध्यापक होने के बावजूद—श्री महेन्द्र के लेख वर्षों से देश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते आ रहे हैं—विशेष कर अध्यात्म, कला, मनोविज्ञान और स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों को लेकर—प्रस्तुत पुस्तक मनोविज्ञान विश्लेषण की वस्तु को अभिलक्षित करती है—मनोविज्ञान हमारे सब के सामान्य जीवन से प्रकृतितः अभिन्न हैं। इसका परिज्ञान मानों जीवन का ही परिज्ञान है। अपनी दुरवस्था के जिम्मेवार आप स्वयं हैं। 'मनुष्य स्वयं ही अपना भाग्य निर्माता है।' 'आत्म-निर्माण का सरल मार्ग', 'ये अच्छी आदतें डालिए', 'शक्ति संचय का मार्ग ग्रहण करें', 'सफलता की आधार-शिला—आत्मविशास', 'इच्छाशक्ति की दृढ़ता' आदि शीर्षकों में विभाजित सभी सामग्री पठनीय है और सामान्य जीवन के लिए उसकी उपयोगिता अपरिहार्य है।

स्वर्ण पादुका

लेखक : परमानन्द एम. ए.
प्राध्यापक गवर्नमेंट कालेज, धर्मशाला
प्रकाशक : विश्वेश्वरानन्द, वैदिक संस्थान,
होशियारपुर
मूल्य : सवा रुपया

'स्वर्ण पादुका' के लेखक, श्री परमानन्द जी इस पुस्तक से पूर्ण 'छत्रपति' और 'वैरागी' नामक अन्य पुस्तकें भी लिख चुके हैं। वे यथोचित सम्मानित भी हो चुकी हैं; उक्त दोनों पुस्तकें काव्य की थीं; प्रस्तुत पुस्तक एक नाट्य है और हमें यह देख कर प्रसन्नता ही हुई कि लेखक को नाटककार के रूप में अच्छी सफलता मिली है।

इस नाट्य का वर्ण्य विषय रामायण कथा का भरत द्वारा राम पादुका के माध्यम में अयोध्या का राज-संचालन-काल है—साहित्य कला के अत्याधुनिक रूप, गति और शैली की दृष्टि से स्पष्टतः ही 'स्वर्ण-पादुका' कोई उल्लेख्य न हो सके; मगर देश की धर्मप्राण जनता के बीच इसका अपना स्थान हो सकेगा ऐसी कामना है।

लोकमान्य तिलक (जीवन-चरित्र)

लेखक : प्रा. भीमराव गोपाल देशपाण्डे एम. ए. बी. टी.
राष्ट्र-भाषा कोविद्, मराठी-विभाग, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय
प्रकाशक : राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा
मूल्य : तीन रुपया

लोक मान्य तिलक का व्यक्तित्व हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए एक जाज्वल्यमान व्यक्तित्व था यह हमारे दुर्भाग्य का ही विषय है कि लोकमान्य जैसे महान् राष्ट्र-पुरुष के विषय में एक भी अच्छी और पुष्ट कही जा सकनेवाली पुस्तक का हिन्दी में अभी भी अभाव ही है, प्रस्तुत पुस्तक छोटे-से कलेवर में होने के बावजूद इस अभाव को बहुत अंशों में पूरा करती है—लेखक ने सारी सामग्री को बड़े परिश्रमपूर्वक एकत्र किया है और सुरुचिपूर्ण शैली तथा सरल भाषा को सर्वत्र अपनाया गया है—पुस्तक स्वतः ही अभिनन्दनीय है।

कलापानी : (श्री ईश्वर पेटलीकर के प्रसिद्ध उपन्यास 'जनमटीप' का अनुवाद)

अनुवादक : आ. विभूदेव
प्रकाशक : वोटा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, ३, राउण्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई—२
मूल्य : तीन रुपए

वैसे तो अन्य भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में बहुतकाल से होता आया है; किन्तु हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित होने के अनन्तर सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से भी अनुवाद कार्य का भी अपरिहार्य महत्व हो गया है। प्रस्तुत उपन्यास के लेखक श्री ईश्वर पेटलीकर गुजराती साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार हैं—उपन्यास की वर्ण्य वस्तु एक कृषक परिवार की सजीव कथा है; इसमें मुख्य बात अबला समझी जाने वाली एवं नीच मानी जानेवाली एक वीरांगना का सशक्त चित्रण है—कथोपकथन की भाषा अत्यन्त हृदयग्राही, शैली मनोहारिणी तथा प्रवाहयुक्त है। 'जनमटीप' गुजराती के अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यासों में से है—हिन्दी भाषी जनता में इसका समादर व्यापक रूप में होगा : हमारी हार्दिक आकांक्षा है।

हैदराबाद —**ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर एम. ए.**

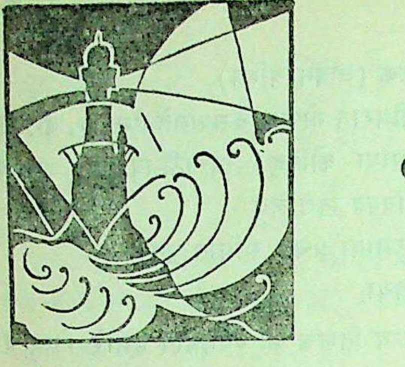

सामयिक

॥

अंग्रेज़ी और अमरीकी भाषा

अक्टूबर '५६ के "रीडर्स डाइजेस्ट" में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है "अंग्रेज़ी का अमरीका को उत्तराधिकार"। इस लेख में से अंग्रेज़ी साहित्य के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में निम्न अंश दिया जाता है :

"......१६ वीं शताब्दी के कुछ बाद तक अमरीका के साहित्य में अंग्रेज लेखकों की प्रधानता थी। १८२० ई. में अमरीका में जितनी पुस्तकें बिकीं उनमें एक-चौथाई से भी कम ऐसी थीं जो कि अमरीका में प्रकाशित हुई थीं। लगभग ८० प्रतिशत पुस्तकें अमरीका में इंग्लैण्ड से आती थीं। अमरीका में उस समय जो सफल लेखक थे वे सब इंग्लैण्ड से आए थे।

इसके विपरीत अमरीका के कुछ ऐसे लेखक थे जिनका इंग्लैण्ड पर प्रभाव पड़ा और जो कि वहाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुए। वाशिङ्गटन इरविङ्ग जो कि इंग्लैण्ड में १८ वर्ष रहे थे—इंग्लैण्ड में उतने ही लोकप्रिय थे जितने कि अमरीका में। जेम्स फ़ेनीमोर कूपर के उपन्यास, लौंगफ़ैलो, मार्कट्वेन आदि की कृतियाँ अमरीका के साथ इंग्लैण्ड में भी प्रकाशित की गईं। इस समय भी स्टीनबेक, फ़ौकनर, हैमिङ्गवे, कार्ल सैण्डबर्ग और थौर्नटन वाइल्डर आदि अमरीकी लेखक इंग्लैण्ड में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

इंग्लैण्ड और अमरीका में सांस्कृतिक जीवन के आदान-प्रदान के विस्तार में जिस वस्तु ने सबसे अधिक सहायता प्रदान की वह अंग्रेज़ी भाषा थी जो कि दोनों देशों में सामान्य रूप से बोली जाती थी। इतने पर भी कई पीढ़ियों तक दोनों राष्ट्रों की बोलचाल और लिखने की भाषा में पर्याप्त विभिन्नता थी। प्रत्येक नूतन आविष्कार और यन्त्र आदि को इंग्लैण्ड में एक नाम से और अमरीका में बिलकुल दूसरे नाम से कहा जाता था। एक माले से दूसरे माले तक ले जाने वाले आविष्कार को इंग्लैण्ड में 'लिफ़्ट' और अमरीका में 'ऐलीवेटर' कहा जाता है। इंग्लैण्ड में लौरी आदि 'पैट्रोल' से चलती हैं परन्तु अमरीका में ट्रक आदि 'गैसोलिन' से चलती हैं। इसी कारण जब एच. एल. मैनकन ने १६१६ में अपनी पुस्तक "अमरिकन लैंगवेज" (अमरीकी भाषा) पुस्तक प्रकाशित की तब उसने अपनी धारणा को सिद्ध करने के लिए अंग्रेज़ी और अमरीकी भाषा में विभिन्नता के हजारों उदाहरणों को प्रस्तुत किया जिनसे कि यह सिद्ध होता था कि अंग्रेज़ी और अमरीकी दोनों भाषाएँ शीघ्र ही दो पृथक् भाषाएँ बन जाएँगी।

कुछ समय के पश्चात् दोनों देशों में पारस्परिक यातायात की अभिवृद्धि हुई और अनेक अमरीकी शब्दों का इंग्लैण्ड में व्यवहार होने लगा। १६३५ में अलिस्टेअर कुक ने जो कि इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुआ था और अमरीका के विषय में निष्णात था—हिसाब लगा कर कहा था : "एक अंग्रेज चाहे अमरीकी मुहावरों और शब्दों को कितना ही अशुद्ध क्यों न कहता हो और उनका वह चाहे कितना ही विरोधी क्यों न हो—अपने प्रतिदिन के जीवन में सर्वथा अज्ञात रूप से ३० या ४० अमरीकी शब्दों का व्यवहार करता है।" द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् तो इंग्लैण्ड में अमरीकी शब्दों का व्यवहार और भी अधिक बढ़ गया है।......"

॥

उड़िया साहित्य

दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में श्रीयुत रामचन्द्र दास का "उड़िया साहित्य" पर अंग्रेज़ी में एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...उड़िया भाषा के साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात नहीं होता कि

साहित्य का प्रारम्भ कब से हुआ और इसका प्रथम लेखक या कवि कौन था ? यह समझा जाता है कि कलिङ्ग देश में गंग वंश के राजाओं के समय ७ वीं और आठवीं ईसा की शताब्दी के बीच में संस्कृत और द्राविड़ी उपभाषा के मेल से ओड्र भाषा उत्पन्न हुई।

बुद्ध-युग में उड़िया में अनेक महान् विश्वविद्यालय थे: पुष्पगिरि, ललितगिरि, और उदयगिरि। वे विश्वविद्यालय शिक्षा के स्थान थे और यहाँ से संस्कृत और पाली के अनेक विद्वान् उत्पन्न हुए। पुरी जिले के धौली नामक स्थान में, गंजाम जिले के जौगडा गिरि में अशोक के जो शिलालेख प्राप्त होते हैं और पुरी जिले में खंडगिरि की गुफाओं में खरवेला के जो शिलालेख प्राप्त होते हैं उनसे न केवल उस समय के राजाओं की सुशासन-व्यवस्था का पता चलता है, अपितु उनसे प्राचीन उड़ीसा के लोगों का जो कि आदिवासी थे, संस्कृति और जीवन का भी कुछ अभास प्राप्त होता है। यह प्रमाणित किया गया है कि उड़िया भाषा ओड्र का ही आधुनिक रूप है जो कि उड़ीसा में इससे पूर्व प्रयुक्त होती थी। प्राचीन कवि संस्कृत में ही लिखना पसन्द करते थे—परन्तु जब संस्कृत व्यवहार कम हो गया तब प्राकृतों का प्रयोग होने लगा।

उड़ीसा के प्रथम कवियों में बच्छदास और सरलादास का नाम लिया जाता है। इस बात का पता नहीं चल सका कि बच्छदास कहाँ और कब पैदा हुए थे—इस कारण सरलादास को उड़िया कविता का पिता कहा जाता है।

कटक जिले के झंकड नामक स्थान में सरलादास रहा करते थे। कहा जाता है कि उनका जन्म १४१५ ई० में हुआ। सरलादास को शूद्र मुनि कहा जाता है। उन्होंने न केवल उड़िया में महान् काव्य 'महाभारत' की रचना की अपितु अपनी 'विलंक रामायण' में सीता को राम से अधिक महान् सिद्ध किया। सरलादास ने 'विलंक रामायण' पुराण की अपनी कल्पना के आधार पर रचना की। सरलादास ने कविता के छन्दों में वर्णों और मात्राओं के गिनने को महत्व नहीं प्रदान किया। उन्होंने अपनी 'महाभारत' को अकृत्रिम, सहज और स्वाभाविक शैली में लिखा जिसे कि 'दंडी वृत्त' के नाम से कहा जाता है। उनकी एक अन्य प्रसिद्ध रचना 'चंडी पुराण' है। आज भी उड़ीसा के प्रत्येक ग्राम में इस पुस्तक को बड़े शौक से पढ़ा जाता है। उड़ीसा के साहित्य के इतिहासकार और लेखक उन्हें उड़िया का आदि कवि मानते हैं। उनका नाम सिद्धेश्वर परीदा था। झंकड़ में स्थित सरलादेवी को अनन्य भक्त होने के कारण उनका नाम सरलादास पड़ गया। सरलादास की 'महाभारत' से उस समय के जीवन और इतिहास का आभास प्राप्त होता है।

कटक से ३६ मील पूर्व में तेन्तुलीपाद नामक ग्राम के निकट वृद्ध नदी के तट पर उनकी समाधि है और यहीं उड़िया के आदिकवि के स्मारक को बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सरला देवी के मंदिर के सामने झंकड़ में सरलादास की स्मृति में १९४८ में एक स्मारक स्तम्भ का निर्माण किया गया था।

बच्छ दास की 'कलश चौतीस', मार्कण्ड दास की 'केशव कोइली' जिसमें कि कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् यशोदा की मातृ-भावनाओं का अंकन किया गया है; शिशु शंकर की 'उषा-विलास' और अच्युतानन्द दास की 'शून्य संहिता' और अन्य कुछ संहिताएँ सरलादास की रचनाओं की समकालीन कहीं जाती हैं। यह बात ध्यान देने के योग्य है कि उड़ीसा के कुछ स्थानों में 'उषा-विलास' के छन्द ताल-पत्रों में आकर्षक चित्रों के साथ लिखे हुए अब भी प्राप्त होते हैं जिससे कि उस समय के लोगों में इस काव्य की लोकप्रियता का ज्ञान होता है।

१६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंचशाखा-युग का प्रारम्भ होता है। पंचशाखा (पाँच मित्र) ने अपने गुरु बलराम दास के नेतृत्व में उड़िया साहित्य के इतिहास में एक क्रान्ति को उत्पन्न किया। इन पंचशाखों में प्रत्येक प्रतिभा-सम्पन्न था और प्रत्येक की अपनी ही विशेषता थी। ये सब भक्त और वैष्णव कवि थे। इन पंचशाख के नाम भिन्न प्रकार हैं : जशोवन्त दास, जगन्नाथ दास, अच्युतानंद दास और शिशु अनन्त। इनके अतिरिक्त बलराम दास भी थे जो कि इनके गुरु थे।

जशोवन्त ने 'बात परचे' और 'प्रेम भक्ति ब्रह्म गीत' की रचना की; जगन्नाथ ने अत्यन्त लोकप्रिय 'भागवत' की रचना की; अच्युतानन्द ने कई संहिताओं की रचना की। उनके काव्यों में 'गुरु भक्ति गीत' (जिसका कुछ अंश अप्रकाशित है) और 'मलिका' भी है। शिशु अनन्त ने 'अनन्त गीत' की रचना की। बलराम दास

ने दंडीसत में 'रामायण' लिखी। इन सबमें पुरी के जगन्नाथ दास की 'भागवत' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी शैली सरल और दार्शनिक ढंग की है। जगन्नाथ दास की 'भागवत' उड़ीसा के प्रत्येक घर में पढ़ी जाता है। जगन्नाथ दास के जन्म का समय १४८७ से १४९० तक निर्धारित किया जाता है। कहते हैं कि जब चैतन्य महाप्रभु पुरी में जगन्नाथ के दर्शनों के आए थे तब उनकी जगन्नाथ दास ने भेंट हुई थी। वे जगन्नाथ दास के जीवन और रचनाओं से इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने 'उड़िया भागवत' के लेखक को 'अति बड़ी' (अति महान्) कहा था।

इसके पश्चात् उड़िया-साहित्य में परिवर्तन हुआ और दीनकृष्णदास, घुमसुर के कवि सम्राट उपेन्द्र भांजा और अभिमन्यु सामन्तसिंह आदि ने कविता को अधिक परिष्कृत और लोकप्रिय बनाया। दीनकृष्ण ने 'रस कल्लोल', और अभिमन्यु सामन्तसिंह ने 'बिदग्ध चिन्तामणि' की रचना की। कवि-सम्राट उपेन्द्र भांजा ने अपनी सुन्दर रचनाओं में शृंगार रस की अवतरणा की।

उपेन्द्र भांजा की 'लावण्यवती' और 'कोटि ब्रह्मांड सुन्दरी' उड़िया साहित्य की महान् रचनाएँ हैं। इसमें उन्होंने उड़िया भाषा के पूर्ण शब्दकोश का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक उड़िया के अभिधान या कोश का भी निर्माण किया जिससे कि लोग उनके काव्यों को ठीक तरह समझ सकें। उपेन्द्र भांजा के पश्चात् कई राजाओं और ज़मींदारों ने उड़िया साहित्य की संवर्धना की। जदुमणि का "प्रबन्ध पूर्णचन्द्र" उड़िया साहित्य की एक महान् रचना है। उसके सम्बन्ध में नयागढ़ के दरबार की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं जिनसे उसकी प्रतिभा, हाज़िर जवाबी और मधुर हास्यप्रियता का परिचय प्राप्त होता है। विश्वनाथ खुँटिया की 'विचित्र रामायण' और पीताम्बर दास का 'नृसिंह पुराण' उसी युग की महान् रचनाएँ हैं। गंजाम जिले में धाराकोट के राजा श्री कृष्णसिंह एक ख्यातनामा कवि थे। उन्होंने अपनी 'महाभारत' को अत्यन्त परिष्कृत और अलंकृत शैली में लिखा है। उन्होंने अपनी 'महाभारत' को संस्कृत की मूल 'महाभारत' के आधार पर लिखा है।

उड़ीसा का दक्षिणी भाग १९३६ तक मद्रास प्रेसिडेन्सी में था और उसके पश्चात इसे उड़ीसा प्रान्त में सम्मिलित किया गया। उड़ीसा के इस दक्षिणी भाग में अनेक उच्च कोटि के कवि और साहित्यकार हुए जिन्होंने अनेक 'पदावली' और 'ग्रन्थावली' लिखीं। इनमें कविसूर्य बलदेव राय, भक्तकवि गोपीकृष्ण पटनायक, गौरहरि परिछा, हनुमान् कविचन्द्र राजगुरु आदि का नाम प्रसिद्ध है। उत्तर उड़ीसा के कवियों में गोपालकृष्ण का नाम विख्यात है। गोपालकृष्ण ने जो पद लिखे हैं उनमें राधा और कृष्ण के दिव्य प्रेम का वर्णन किया गया है। कविसूर्य ने 'किशोर चन्द्रानन्द चम्पू' लिखा है जो कि अब भी उड़िया साहित्य में संगीत और साहित्य की दृष्टि से श्रेणिक समझा जाता है। श्री सत्यनारायण दास और हनुमान् राजगुरु की कविताओं में उस समय के राजाओं की खरी आलोचना है जिनके दरबार में कि वे नियुक्त थे।

कविसूर्य और राजगुरुओं की रचनाओं में तेलुगु, बंगाली, फ़ारसी और उर्दू के अनेक शब्द मिलते हैं। इनसे इस बात का पता चलता है कि इन भाषाओं के साहित्य का उस समय के उड़ीसा के साहित्य और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कविवर राधानाथ राय और फ़कीर मोहन सेनापति ने अपनी कविताओं और गद्य में वास्तविकता को उभारने का प्रयत्न किया है। कविवर रंगनाथ राय ने उड़िया कविता में एक नए युग को जन्म दिया है। उनकी कविताएँ आधुनिक ढंग की और अभिन्नाक्षरों में है और उनमें जहाँ प्रकृति की सुन्दरता का वर्णन है वहाँ उनमें आधुनिक राजनैतिक विषयों का भी समावेश है। फ़कीरमोहन सेनापति बालासोर के रहने वाले थे। ये उड़िया में पहले उपन्यासकार थे और इन्होंने ही सर्वप्रथम उड़िया में पत्र-प्रकाशन कार्य को प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कविताएँ भी लिखीं। उनकी 'मामू', 'लछमा', 'छा मन अथगुन्ना' आदि रचनाएँ उड़ीसा के साहित्य में आज भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। कवि नन्दकिशोर बल ने उड़ीसा के ग्रामीण जीवन पर बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। उन्हें "पल्ली कवि" की उपाधि प्रदान की गई है।

उत्तर उड़ीसा में यात्रा, पल्ला, रास आदि से और दक्षिण उड़ीसा में सखी-नाच, दस कथिया, दण्ड नट, रामलीला, कृष्ण-लीला और प्रल्हाद नाटक आदि से नाटक का विकास हुआ। उड़ीसा में कई

कवि हुए हैं। इनमें भीम भोई का नाम प्रसिद्ध है। ये धेनुकमल के पर्वतीय वर्ग के लोगों में से थे। ये भरी जवानी में अन्धे हो गए थे। इनकी कविताओं में आध्यात्मिकता है।

पं. गोपबन्धु दास को उड़ीसा में राष्ट्रीयता का पिता कहा जाता है। उन्होंने और उनके साथियों ने जो कि सत्यवादी नेशनल हाईस्कूल के कार्यकर्ता थे, उड़ीसा के साहित्य में राष्ट्रीयता को उत्पन्न किया। कवि वैष्णव पति का नाम उड़िया लोगों के लिए अविस्मरणीय है। उनकी मृत्यु अभी कुछ समय पूर्व हुई है। उन्होंने सर्व-साधारण को लोक-नृत्य, लोक-गीत और लोक-नाटकों के द्वारा जागृत और सुसंस्कृत करने का प्रयत्न किया।

उड़िया के आधुनिक कवियों, लेखकों, नाटककारों और उपन्यासकारों में कई साहित्यकारों के नाम प्रसिद्ध हैं। उपन्यासकार कालिन्दीचरण पानिग्रही और गोपीनाथ महन्ती; नाटककार कविचन्द्र कालीचरण पटनायक, जीवन चरित्र-लेखक बिद्यानन्द चरण पटनायक, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी और पं. लिंगराज मिश्र, दार्शनिक पं. नीलकान्त दास, रिसर्च स्कालर आर्त्तबल्लभ महन्ती आदि अनेक लेखक उड़िया साहित्य को सम्पन्न और समृद्ध कर रहे हैं।

उड़िया-साहित्य में कवि वैकुण्ठनाथ पटनायक, राष्ट्रकवि वीरकिशोर दास, गोदावरीश महापात्र, शचीकान्तराय का जिनकी 'Boatman Boy' कविता-पुस्तक प्रसिद्ध है, नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त अन्य लेखक भी हैं जो कि उड़िया साहित्य की भिन्न-भिन्न शाखाओं को पल्लवित और हरा-भरा कर रहे हैं।

उड़िया के स्त्री लेखकों में माधवी दास, कुन्तला कुमारी, सबता, अन्नपूर्णा देवी और सीता देवी आदि हैं। नवीन लेखिकाओं में नन्दिनी, शतपथी और बिद्युल्लता महन्ती आदि का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रकार आधुनिक नाटक के क्षेत्र को भी अनेक उड़िया के लेखक आकर्षक और समृद्ध बना रहे हैं।"

॥

सितार और अमीर खुसरो

श्रीयुत डा० सैयद रागिब हसैन का "सितार और अमीर खुसरो" पर एक लेख "नागपुर टाइम्स" में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"अनेक पुस्तकों में इस बात को बलपूर्वक प्रतिपादित किया गया है कि अमीर खुसरो ने सितार की ईजाद की थी। यह कहा जा सकता है कि सितार भारतीय वाद्य "वीणा" का एक परिवर्तित रूप है। डा० वहीद मिर्जा ने अपनी 'खुसरो' पर लिखी हुई थीसिस में सिद्ध किया है कि अमीर खुसरो ने सितार का आविष्कार नहीं किया और हमारा भी यही विचार है।

१० वीं शताब्दी में एशिया माइनर, ईरान, अरमीनिया और तुर्किस्तान में इस प्रकार का वाद्य विद्यमान था और हो सकता है कि इसे इन देशों से यहाँ पर लाया गया हो। डा० मिर्जा ने लिखा है कि पश्चिमी एशिया में इस वाद्य को ज़ितर या गितार कहा जाता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सितार प्राचीन ईजिप्ट के साइतारा या साइतार शब्द का एक परिवर्तित रूप है। साइतार सितार से अनेक अंशों में मिलता-जुलता एक वाद्य होता है।

पश्चिम में जितने भी सितार से मिलते-जुलते वाद्य हैं—उन सब के चार तार होते हैं। यह संभव हो सकता है कि अमीर खुसरो ने इस वाद्य में तीन और तारें जोड़ दी हों और इस प्रकार आधुनिक सितार का निर्माण किया गया हो। मुसलमान विचारकों ने संगीत के जो स्वर निर्धारित किए थे और आवश्यक विचार करने के पश्चात् उनमें जो अनेक परिवर्तन किए थे, अमीर खुसरो उसी युग के होने के कारण उन परिवर्तनों से अवश्य परिचित रहे होंगे।

अमीर खुसरो विद्वान् और कवि तो थे ही परन्तु वे एक महान् संगीतज्ञ भी थे। उनके सदृश प्रतिभाशाली व्यक्ति विश्व में बहुत कम होते हैं। अनेक शताब्दियों के पश्चात् ऐसे महान् व्यक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। अमीर खुसरो न केवल फ़ारसी और अरबी के कवि थे अपितु उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में भी अनेक रचनाएँ लिखी हैं। अमीर खुसरो भारतीय और ईरानी दोनों देशों के संगीत में निष्णात थे। यही कारण है कि वे दोनों का सम्मिलन करा सके और इस सम्मिलन द्वारा उन्होंने एक ऐसे नवीन संगीत को उत्पन्न किया जिसे कि हम भारतीय संगीत का पुनरुत्थान कह सकते हैं।"

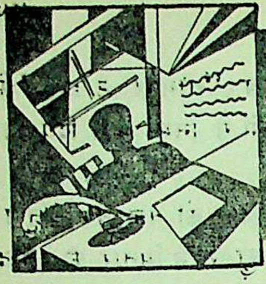

सम्पादकीय

भारतीय भाषाओं को विकास का अवसर

पिछले दिनों बम्बई के "टाइम्स आफ़ इण्डिया" पत्र में एक कार्टून प्रकाशित किया गया था कि जिसमें बाईं ओर एक जिन खड़ा हुआ है जिस पर बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है "इंग्लिश" और उसके नीचे छोटे अक्षरों में लिखा हुआ है "वैज्ञानिक ज्ञान के लिए"। इस जिन को श्री जवाहरलाल नेहरू यह कह रहे हैं: "देखो, इस समय जो कुछ कि हम चाहते हैं वह यह है कि तुम जाओ, बाँध, डैम, और पुल इत्यादि को बनाओ।" श्री जवाहरलाल नेहरू के पीछे कुछ पुस्तकें पड़ी हुई हैं। उन पुस्तकों में किसी पर लिखा हुआ है: "उर्दू ग़ज़ल", किसी पर लिखा हुआ है "बंगाली गल्प", किसी पर लिखा हुआ है "हिन्दी काव्य", और "तमिल काव्य" तथा "मराठी काव्य" या "गुजराती गीत" और "कन्नड़ कहानियाँ"। कार्टून के नीचे लिखा है कि श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने यह घोषणा की है कि जहाँ तक हम देख सकते हैं हमें यांत्रिक शिक्षा अपने देश में अंग्रेज़ी के द्वारा ही प्रदान करनी पड़ेगी।"

यह कार्टून सम्भवतः इस बात को प्रदर्शित करने के लिए बनाया गया है कि जहाँ तक विज्ञान, यन्त्र-विद्या, और पंचवर्षीय योजनाओं का सम्बन्ध है, हमारे देश के प्रमुख राजनीतिज्ञों के विचारों के अनुसार हमें अपना काम अंग्रेज़ी के द्वारा करना पड़ेगा और भारतीय भाषाओं का उपयोग तो इतना ही है कि उसमें किस्से, कहानियाँ, कविता-गीत, नाटक-उपन्यास आदि लिखे जाएँ। देश में जो महान् वैज्ञानिक और यांत्रिक कार्य हो रहे हैं उनमें इन भारतीय भाषाओं का कुछ विशेष उपयोग नहीं हो सकता। इसीलिए श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने अपने भाषण में कहा: "यह बात स्पष्ट है कि वैज्ञानिक और यांत्रिक शिक्षा हमें अंग्रेज़ी के द्वारा प्रदान करनी होगी।" इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय शिक्षा कॉन्फ़रेन्स में भारत के समस्त राज्यों के शिक्षा मंत्रियों ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कि उन्होंने पाठ्यक्रम में अंग्रेज़ी को एक अनिवार्य विषय उद्घोषित कर दिया।

इस बात पर बहुत से वाद-विवाद और टीका-टिप्पणी के पश्चात् श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक पत्र में इस बात को स्पष्ट किया कि जहाँ तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है उनके विचार स्पष्ट हैं और वे यह हैं कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

यह देख कर दुःख होता है कि भारतीय भाषाएँ कैसी परिहासजनक स्थिति में हैं। हमारे देश के राजनीतिज्ञ उनके साथ खिलवाड़-सा कर रहे हैं। भारतीय जनता को अंग्रेज़ी की महत्ता और आवश्यकता से जितना अवगत कराया जाता है, उतना ही भारतीय भाषाओं को असमर्थ, अविकसित, अनुन्नत और कुछ क्षेत्रों में अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष का एक भी राज्य या विश्वविद्यालय नहीं है जिसमें कि अंग्रेज़ी के अध्ययन का पूर्ण प्रबन्ध न हो। इतने पर भी यदि अंग्रेज़ी के अध्ययन का स्तर प्रत्येक राज्य में गिरता जा रहा है तो इसके कारण भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। अंग्रेज़ी के अध्ययन के स्तर को उच्च रखने के लिए अब यह तो नहीं किया जा सकता कि शिक्षा का माध्यम सब राज्यों में अंग्रेज़ी को बना दिया जाए। अंग्रेज़ी के अध्ययन को अनिवार्य करने के बाद भी यह स्वाभाविक ही है कि अंग्रेज़ी अब उस महत्त्वपूर्ण स्थान पर नहीं रह सकती जिसमें कि वह अंग्रेज़ों के प्रभुत्व काल में थी। क्या हमारे राजनीतिज्ञ या शिक्षाशास्त्री इस बात का भी गम्भीरता से अध्ययन कर रहे हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय भाषाओं में समर्थता और क्षमता की कितनी अभिवृद्धि हुई है और वे किस गति से ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर हो रही हैं।

किसी भाषा की उन्नति उसी समय हो सकती है जब कि उसकी उन्नति सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुखी हो। यदि विज्ञान और यन्त्रविद्या आदि के लिए अंग्रेज़ी का ही अनिश्चित काल तक उपयोग किया गया तो भारतीय भाषाएँ एकमात्र कथा-कहानी, कविता-संगीत आदि के आधार पर ही न तो पूर्णतया विकसित हो सकती हैं और न उनको वह महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता

जो कि उन्हें प्राप्त होना चाहिए। जब तक यह कहा जाता है कि विज्ञान और यांत्रिक प्रशिक्षण के लिए हमारे देश का कार्य एकमात्र अंग्रेज़ी के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है तब तक हम स्पष्टतया इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारी भाषाएँ पंगु हैं, हीन हैं, अक्षम हैं और अयोग्य हैं। एक ओर तो हम यह कहते हैं कि हमारे देश में सबको समान अवसर प्रदान किया जाना चाहिए और दूसरी ओर हमारे राजनीतिज्ञ और कुछ शिक्षाशास्त्री भारतीय भाषाओं को वह अवसर ही प्रदान करने के लिए तैयार नहीं हैं जो कि वे अंग्रेज़ी को "अनिश्चित काल" के लिए देने के लिए तैयार हैं। भारतीय भाषाओं की हीनता, अक्षमता और अयोग्यता अन्त में हमें ही हीन, अक्षम और अयोग्य सिद्ध करेगी।

अंग्रेज़ों के प्रभुत्व के समय यह कहा जाता था कि हमें अच्छी और समर्थ विदेशी सरकार नहीं चाहिए—हमें तो अपनी देसी सरकार चाहिए चाहे वह कितनी ही अक्षम और असमर्थ क्यों न हो। क्या इसी युक्ति को भारतीय भाषाओं के पक्ष में नहीं कहा जा सकता। या तो भारतीय भाषाओं का प्रयोग हमें निर्बाध रूप से शिक्षा आदि समस्त क्षेत्रों में करना पड़ेगा, और या फिर हमें भारतीय भाषाओं के प्रयोग को अन्य क्षेत्रों में भी तिलांजलि देनी पड़ेगी। यह असम्भव है कि भारतीय भाषाओं के प्रयोग को ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों से निर्वासित किया जा सके।

आज तो विज्ञान और यन्त्र-विद्या का युग है और जब विज्ञान और यन्त्र-विद्या के लिए भारतीय भाषाओं में न तो क्षमता है और न अनिश्चित काल पर्यन्त उनमें यह क्षमता उत्पन्न हो सकती है—तो फिर भारतीय भाषाएँ वैज्ञानिक दृष्टि से किस प्रकार उन्नत और परिपूर्ण हो सकती हैं और अपने देश में ही किस प्रकार सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकती हैं। सत्य तो यह है कि हमारे देश को अंग्रेज़ी की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि भारतीय भाषाओं को इस योग्य बनाने की कि उनके द्वारा विज्ञान और यन्त्र आदि सब प्रकार की उच्च शिक्षा प्रदान की जा सके और वह तभी हो सकेगा जब कि भारतीय भाषाओं को इन क्षेत्रों में पूर्णतया विकसित होने का अवसर प्रदान किया जाएगा। भारतीय राज्यों और केन्द्र के शिक्षा-मन्त्रालयों का यह कर्तव्य है कि वे संगठित रूप से इस कार्य की ओर प्रयत्नशील हों और हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि वे इस ओर साहसपूर्वक कदम उठाएँगे तो अल्पकाल में ही न केवल भारतीय भाषाओं में इस प्रकार का आवश्यक साहित्य सुगमता से उपलब्ध हो सकेगा—अपितु इस प्रकार का वातावरण भी उत्पन्न हो सकेगा जिसमें हमारे देश की वैज्ञानिक और यांत्रिक उन्नति भी शीघ्रता से प्रगति कर सकेगी।

उपर्युक्त पंक्तियों को लिखने से हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अंग्रेज़ी के प्रशिक्षण को उसका योग्य स्थान न दिया जाए। अंग्रेज़ी का ज्ञान हमारा एकमात्र साधन ही होना चाहिए—उद्देश्य नहीं। चीन और जापान आदि में विदेशी भाषाओं को सीखने पर बल दिया जाता है तो भी वहाँ समस्त वैज्ञानिक और यांत्रिक शिक्षा अपने देश की भाषा के माध्यम के द्वारा ही दी जाती है। यदि चीन और जापान में अपने देश की भाषाओं के द्वारा विज्ञान आदि की समस्त शिक्षा प्रदान की जा सकती है तो हमारे देश में क्यों नहीं?

हिन्दुस्तानी फिल्म में आमूल परिवर्तन हो

समय-समय की बात है।

साहित्य का एक अंग नाट्य आज फ़िल्म के रूप में हमारी जीवन-संस्कृति पर कितनी भयंकरता से छा गया है।

आज हमारी क्या अहमियत? राष्ट्र और समाज के उन्नायकों तथा सेवियों, राष्ट्र-कार्यों या समाज-कार्यों की क्या अहमियत? राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, सरदार पटेल, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, श्री नेहरू आदि राष्ट्रनेता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, सुब्रह्मण्यम भारती जैसे साहित्यकार, महर्षि रमण और अरविन्द जैसे कर्मयोगी, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, यामिनी राय, नन्दलाल बोस जैसे कलाकारों की क्या अहमियत? आज देश का सामान्य वर्ग, वृद्ध और युवक, महिलाएँ और पुरुष—विशेषकर तरुण पीढ़ी के नवयुवक और नवयुवतियाँ—अशिक्षित और शिक्षित सभी जिस मनोयोग से, अभिरुचि से और दीवानेपन से फ़िल्मी हीरो-हीरोइनों की गतिविधियों को बड़ी बारीकी से सँजोकर रखते हैं, उनकी ज़रा-ज़रा सी भी जानकारी रखते हैं; यहाँ तक कि उनके हावभाव, वेशभूषा और वातावरण को भी अपनाने का प्रयत्न करते हैं (विशेषकर तरुण पीढ़ी के और शिक्षित कहे जाने वाले नवयुवक-नवयुवतियाँ,) फ़िल्मी कहानियों में जितनी अभिरुचि और एकाग्रता रखते हैं, फ़िल्मी गानों में जितनी उनकी तन्मयता और

आतुरता अभिलक्षित होती है, यह सब क्या यों उपेक्षणीय है ? मनोरंजन के नाम पर हमारे देश को बड़े पैमाने पर और सीधे-सीधे जो अफ़ीम दी जा रही है, नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक पतन की, वह क्या यों उपेक्षणीय है ?

हमारा धर्मप्राण; भावना-अनुप्राणित देश, विस्तृत विशाल देश, महान् देश दुर्भाग्य है कि वह अशिक्षित और रूढ़िग्रस्त होने के साथ ही अत्यन्त दरिद्र, अभावों से ग्रस्त और आत्मविस्मृत-सा है—जो देश के लिए कुछ भी देखते-सोचते-महसूस करते हैं, वे जानते हैं कि हम न-कुछ से शहर वालों के अलावा ग्रामों में बिखरा-बसा हुआ सारा भारत कैसा निरीह है—रूढ़ियों, अभावों; कुण्ठाओं, दीनताओं से भरा हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी देश की बुनियादी समस्याओं में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है—दृश्य वैसा ही दारुण है—अर्धनग्न, निरीह, भोले-भाले लाखों ग्रामीण आज भी भूखे सोते आ रहे हैं और यों ही एक दिन दम भी तोड़ देते हैं—मनोरंजन, हास, उल्लास, जीवन की प्रगति उनके लिए एक सपना बनी हुई है। पर हम शहर वाले भी क्या खूब हैं !

फिल्म एक माध्यम है, ऐसा जिसमें देश की एक मोटी पूँजी लगी हुई है, जिसका प्रचार-प्रसार देश के ओर-छोर तक व्यापक और जिसकी शक्ति सर्वग्राही है—हमारे सामान्य जीवन पर जिसका प्रभाव अपने आप ही गहरा और गहरा होता जा रहा है और केवल मनोरंजन के नाम पर—यह स्थिति अत्यन्त असाधारण है कि आज का यह मनोरंजन बड़ी शक्तिमत्ता से हमारे जीवनमान को मनमाना और हवाई-सा बना डाले—अमुक हीरो का वेश, अमुक की चाल, अमुक के बाल, अमुक हीरोइन का वह पोज, यह नखरा, वह डायलाग—हीरो-हीरोइनों की एक-एक बात की बारीकी से खोज की जाए और फिर उसे इस क़दर याद रखा जाय कि अपने वंश का इतिहास भी शायद उतनी खूबी से याद न रक्खा गया हो—और फिल्म-कला और कलाकार क्या कुछ हैं, इसे बार-बार क्यों दोहराया जाए ? केवल नग्नता, अश्लीलता, कुत्सितता, अजब दीवानेपन से भरा हुआ सारा वातावरण।

पश्चिम की फिल्में क्या-क्या होती हैं, कैसी-कुछ होती हैं; यह हमारे सोचने का विषय कदापि नहीं—पश्चिम की जीवन-दृष्टि हमसे सर्वथा भिन्न है; वहाँ निर्मित फिल्में फिर भी वहाँ के वातावरण को कुछ तो छूती हैं—कुछ नहीं; बहुत-कुछ छूती है और हिन्दुस्तानी फिल्में—शानदार-शानदार सेटिंग, चमक-दमक, हवाई फैशन, होटलें, डान्स—अजब परिस्तान-सी लगती हैं। हमें हिन्दुस्तानी फिल्मों के सारे के सारे वातावरण घोर आपत्तिजनक प्रतीत होते हैं—विशेषकर कहानियों, डायलागों, गानों, होटल और होटल के नृत्यों और भौंडेपन से भरे हुए मज़ाक़ और उछलकूद।

फिल्म मनोरंजन और कला दो वस्तुओं पर समग्रतः आधारित है—ये दोनों वस्तुएँ जीवन में उल्लास और सौन्दर्य को झलकाती हैं। हमें हिन्दुस्तानी फिल्म-निर्माताओं से स्नेहतम-आग्रहतम भाव से कुछ कहना है। क्या मनोरंजन भौंडेपन से परे रह कर नहीं किया जा सकता ? भारत में निर्मित होनेवाली फिल्मों में ऐसे गाने, नृत्य, रंग-ढंग क्या भारत की जीवन-संस्कृति की सीधी-सीधी हत्या नहीं ? क्या यह अर्थ-सर्वस्व की नीति; (चाहे राष्ट्र पतित हो या संस्कृति) एक जघन्य अपराध नहीं ? अब तक जो हो चुका, बहुत हो चुका—अब प्रथम तो स्वतः इन सब कुत्सितताओं और हीनताओं से स्वतः ही विमुख हो जाना चाहिए; अन्यथा फिल्म-औद्योगिकों को हम सब बाध्य कर दें—बार-बार यही कहा जाता है कि जनता ऐसा चाहती है, वह चाहती है, यह चाहती है—पर बेचारी जनता ! वह तो निःसन्देह गिरी हुई है, क्या हम भी गिरें, गिरें ही नहीं, इतने गिरें कि जो जनता विवेकहीन है, गिरी हुई है, उसे नग्नता और गिरावट की ओर और भी ले जावें—मनोरंजन और कला अन्ततः सृजनात्मक, सौन्दर्यात्मक है; इसे फिल्म-औद्योगिकों को खूब समझना चाहिए और पिछले इतिहास से विदा लेकर मनोरंजन और अभिनय-कला; सृजनात्मकता और सौन्दर्यात्मकता के शाश्वत मूल्यों को हृदयंगम करना चाहिए। आखिर उज्ज्वलता उज्ज्वलता ही है; और इसमें किसी को आपत्ति क्यों हो सकती है आखिर ? फिल्म साहित्य का एक अंग है; प्राचीन नाट्य का यन्त्रीकृत आधुनिक रूप है—जिस प्रकार साहित्य जीवन के शाश्वत सौन्दर्य को अभिव्यंजित करता है, उसी प्रकार; उसी नाते फिल्म भी सौन्दर्यात्मकता को, सृजनात्मकता को अभिव्यंजित करे, हमारी तो यही आग्रहतम कामनाएँ हैं।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बड़ी सावधानी से
तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, हैदराबाद-द.

अजन्ता

अजन्ता

वर्ष ८

नवम्बर १९५६ अंक ११

हिन्दी नाटक-लेखक प्रतियोगिता

नाट्य संघ, कलकत्ता ने एक हिन्दी नाटक-प्रतियोगिता आयोजित की है, जिसमें सर्वश्रेष्ठ निर्णीत होने वाले अभिनय-योग्य नाटक के लिए रु० १०००) का पुरस्कार दिया जाएगा, जो संघ को "अनामिका" (हिन्दी नाटक संघ) द्वारा दिया गया है। यह पुरस्कार हिन्दी में लिखे हुए मौलिक नाटक पर दिया जायगा। नाटक का अभिनय-काल २ से २॥ घण्टे का होना चाहिए तथा वह बिना घूमने वाले रंगमंच पर खेला जा सकने वाला होना चाहिए। इस प्रतियोगिता का संचालन जिस समिति द्वारा होगा, उसमें अनेक अभिनेता और पत्रकार हैं, जिनमें सर्वश्री अहीन्द्र चौधरी, शचीनसेन गुप्ता, ताराशंकर वन्द्योपाध्य के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतियोगिता के लिए प्रेषित नाटक, मंत्री—थियेटर सेंटर, कलकत्ता, ३१-ए, चक्रबेरिया रोड (साउथ), कलकत्ता २५, को भेजे जाने चाहिए। नाटक आगामी ता० ३१ जनवरी १९५७ के पहले कार्यालय में पहुँच जाने चाहिए।

प्रतियोगिता के नियम

(१) नाटक हिन्दी में लिखा होना चाहिए और मौलिक रचना हो, किसी दूसरी भाषा से रूपान्तरित न हो। (२) नाटक पहले प्रकाशित न हुआ हो। (३) नाटक का अभिनय-काल लगभग २ से २॥ घंटे का होना चाहिए। (४) नाटक बिना घूमनेवाले रंगमंच पर खेले जाने लायक होना चाहिए। (५) जिस नाटक पर पुरस्कार दिया जायगा, उसके मुद्रण और अभिनय का नाट्य संघ को पूरा अधिकार होगा किन्तु कापी राइट लेखक का रहेगा। (६) प्रतियोगिता में नाटक भेजने के लिए किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क नहीं रखा गया है। (७) नाट्य-संघ द्वारा नियुक्त निर्णायक-मंडल का निर्णय अन्तिम और सर्वमान्य होगा। (८) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित रचना लौटाई नहीं जायगी, इसलिए रचयिता को एक प्रति अपने पास रख लेनी चाहिए। (९) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित रचना टाइप की हुई हो तो अच्छा, और यदि वैसा न हो सके तो साफ़-साफ़ लिखी हुई होनी चाहिए। (१०) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित नाटक ३१ जनवारी सन् १९५७ तक पहुँच जाने चाहिएँ।

प्रतियोगिता संचालक मंडल

१. श्री अहीन्द्र चौधरी (बंगला के सुविख्यात अभिनेता) २. श्री शम्भू मित्र (प्रसिद्ध अभिनेता और निर्देशक) ३. श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बंगला साहित्य के सुविख्यात लेखक) ४. श्री प्रफुल्ल राय (सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक) ५. श्री शचीनसेन गुप्ता (प्रसिद्ध नाट्यकार और संगीत-नाटक एकेडमी के संस्थापक सदस्य) ६. श्री मोहनसिंह सेंगर (प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक और 'नया समाज' के सम्पादक) ७. श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय (बंगाला के प्रख्यात उपन्यासकार) ८. श्री कल्याणमल लोढ़ा (कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक) ९. श्री भंवरमल सिंघी (नाट्य-संघ, कलकत्ता के मन्त्री)

प्रतियोगिता में भेजे जाने वाले नाटक निम्न पते पर भेजे जाने चाहिएँ :—

मन्त्री
थियेटर सेन्टर (कलकत्ता), ३१-ए, चक्रबेरिया रोड (साउथ),
कलकत्ता—२५

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD
UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED

Sponsord by

THE GOVT. OF HYDERABAD.

Post Box No. 164.

ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात

(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज । ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं ।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है

या

कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात

पो० ज़िन्दा तिलस्मात हैदराबाद-द. से मँगाइए ।

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर
कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और
संस्कृति के परिचय के लिए
प्रेरणा
सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध
सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए
आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक
अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए
अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * एक प्रति का ≡)

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

* साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
* नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
* कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच,
संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्दु छात्रालय, बनारस

फोन नं० १४२

[वसुधा]

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : **रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई**

परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी।
प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी
की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की
जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन,
तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत,
शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-
पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक

[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ३) रु.] [एक प्रति ५ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की
पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३२६ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३ तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्खे तैयार किये जाते हैं।

आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

विश्व-ज्योति

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।।।)

नमूने की प्रति के लिए **बारह आने के टिकट भेजिए**

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !

* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!

* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❀ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

प्रधान सम्पादक

डा० देवराज, एम. ए., डी. फिल.

सम्पादक

कमलापति मिश्र **डा० प्रेमशंकर**
प्रतापनारायण टण्डन

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

'युग-चेतना' कार्यालय, चौक
लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १० ८-०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४-०-०।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सब से पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६-०-०।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य ३ ०-०।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन १/१६, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य साजिल्द १-१२-०।

६. **मीरा** (तेलुगु) लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद मूल्य १ ४-०।

७. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है मूल्य १-२ ०।

८. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी) : श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४-०-०।

व्यवस्थापक : पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं । अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई । आकर्षक मुख पृष्ठ ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ । कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार । ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. पी; एच. डी. । ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए. । ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ । लेखक श्रीराम शर्मा । ०-८-०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी । लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद की चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा । लेखिका— श्री कमला रानी संघी । ०-८-०

७. **दचिण के महापुरुष भाग २ :** लेखिका — श्री विमला लूथरा । ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०	१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०	१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०	१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०	१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०	१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०	१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०	१८ चार एकांकी	०	१२	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०	१९ मणियाँ	०	१०	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०	२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०	२१ कहानी संग्रह	१	२	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०	२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है । पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए ।

सभा, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श–समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा० भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज़, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा० श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

आन्ध्र प्रदेश में

उत्तम से उत्तम और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ

फ़ाउण्टेन पेन

❋ माउण्ट ब्लैंक ❋ पैलिकन ❋ पार्कर ❋ शीफ़र आदि

और

अन्य श्रेष्ठ स्टेशनरी सामग्री प्राप्ति-स्थान :

डेकन पेन स्टोर

हैदराबाद सिकन्दराबाद

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ नवम्बर १९५६ अङ्क ११

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी
फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

चेतावनी
बच्चन १
रेशमी बन्धन
नन्दकिशोर राय ३
देह और देहातीत
वीरेन्द्रकुमार जैन ४
गीत
कृष्णकुमार चौबे "नूतन" ६
गीत
रसिक बिहारी "मंजुल" ७
कल्पना
लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र' ८
नई कहानियों में ग्रामीण सामाजिकता
हीराप्रसाद त्रिपाठी ९
'पद्मावत्' में षट्ऋतु और बारह मास
रवीन्द्र भ्रमर १८
भारत का नया नक्शा
सत्यदेव विद्यालंकार २२
नन्दादेवी—अभियान
नरेन बी. जोशी २६
कक्का
मंगलदेव शर्मा २८
दूसरी शताब्दी की एक प्रेमकथा—'तरंगवती'
अगरचन्द नाहटा ३४
तीन बहनें
नमिता लुम्बा ४२
प्राचीन भारत की सांस्कृतिक नगरी धारा
महेन्द्र भटनागर ४७
महान् विचारक : सँतियाना
ध्रुवप्रसाद सिंह ५१
नई कविता
श्यामसुन्दर 'अशान्त' ५५
प्रेमचन्द के नारी पात्र : सुमन
श्रीमती बिन्दु अग्रवाल ५९
कला-चर्चा ६३
किरणसिंह और उनकी कला
किर्गिज़िस्तान की कला
अमरीकी क्रान्ति के चित्र
चिट्ठी-पत्री ६५
दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक : लक्ष्मीदत्त पाण्डेय, अजन्ता के सम्बन्ध में : नन्दकिशोर राय, नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी, व्रजकिशोर सिन्हा, कीर्तिनारायण मिश्र, शकुन्तला का नैतिक रहस्य : कश्चित् ६८
नीर-क्षीर
प्रेमचन्द और उनकी साहित्य साधना, कुटी का क्रन्दन, शरत के नारी पात्र, संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय : वंशीधर विद्यालंकार, नाँव के पाँव, शिक्षा में नये प्रयोग, दिवा स्वप्न, लोहा सिंह, रामराज्य : ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर ७४
सामयिक
मणिपुरी नृत्य, आफ्रिका की संस्कृति, जापानी साहित्य ७८
सम्पादकीय
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र : विश्वशान्ति के युगपुरुष : राजा दीनदयाल के सौजन्य से
,, एक किशोर चौकट के साथ : चित्रकार : वासुदेवराव
,, श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर की बिदाई के उपलक्ष्य में
,, इथोपिया के सम्राट् भारतवर्ष में
,, बाढ़ निरोध

वार्षिक मूल्य : ९)
एक प्रति का मूल्य : १) रु.

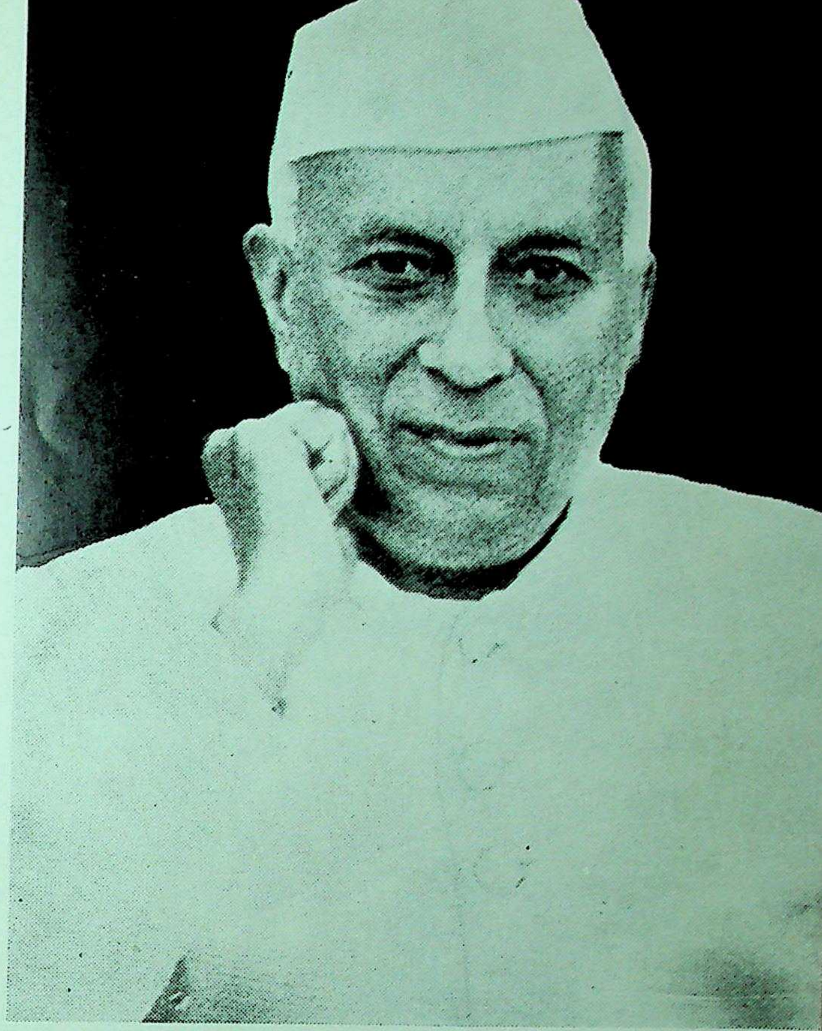

विश्व शान्ति के युग-पुरुष
श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू

श्रीयुत राजा दीनदयाल के द्वार
हाल में लिया हुआ चित्र

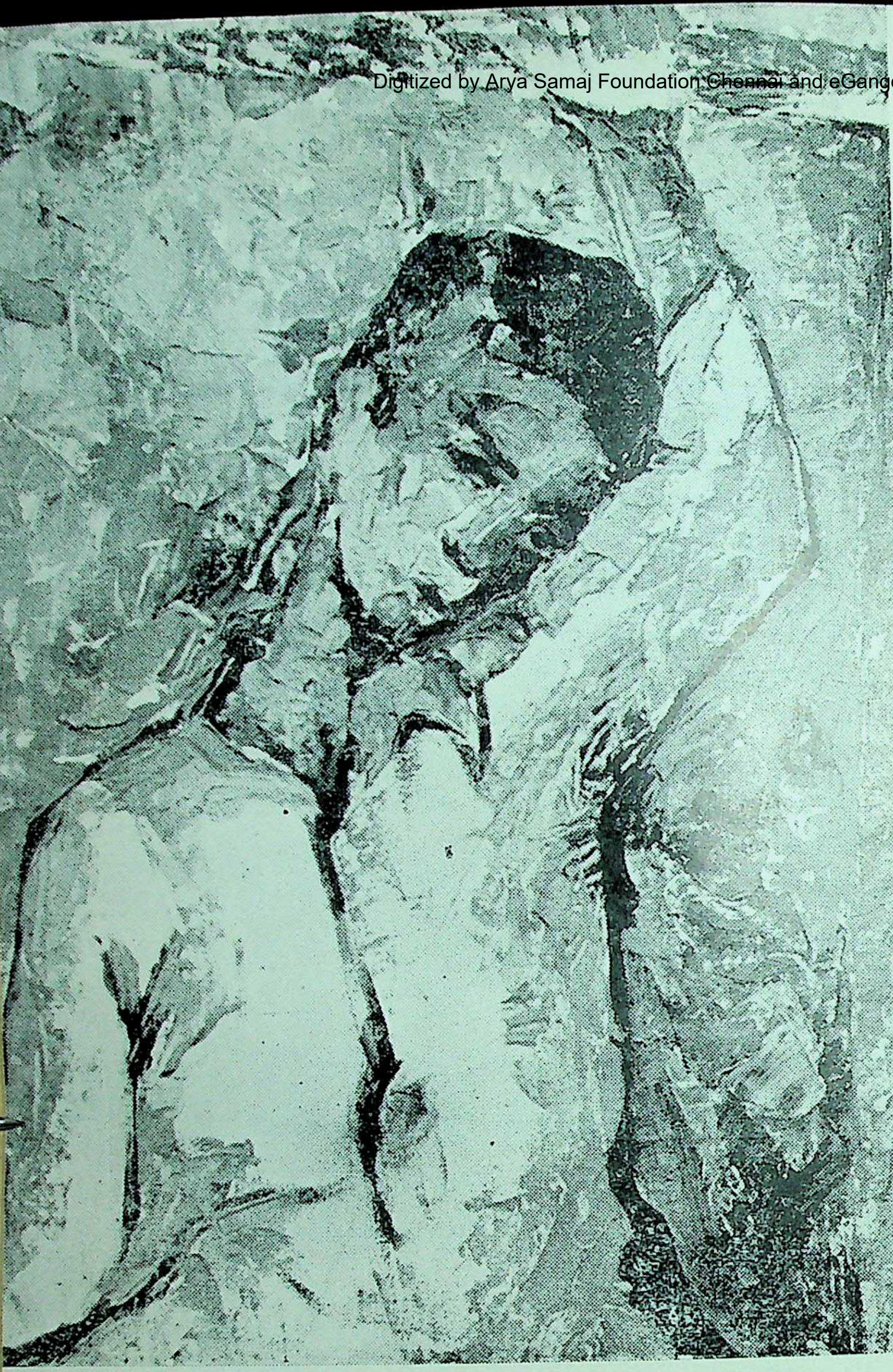

एक किशोर चौखट के साथ

चित्रकार : वासुदेव राव
[आन्ध्र प्रदेश कला प्रदर्शिनी, १९५६
द्वारा प्रथम पुरस्कार प्राप्त]

वर्ष ८ अजन्ता अङ्क ११

चेतावनी

सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

सूर्य-शशि के वंश में पैदा हुआ तू,
कीर्ति जिनकी जग उजागर,
वास तेरा तीर्थ जिसको अनगिनत जन
हैं गए माथा झुका कर,

हिम शिखर की स्वच्छ औ' पावन हवा ने
हैं जिन्हें उड़ना सिखाया,
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

देख अपने साथियों को जो धरा से
बद्ध होकर हाथ अपने

हैं गगन की ओर फैलाए, बसाए
आँख में सतरंग सपने

एक वे हैं जो कि अपनी साधना से
पंख से ऊपर उठे हैं,
एक तू है पंख अपना नीच कीचड़
में फँसाने जा रहा है
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

और यह मत भूल तूने इस जगत् में
क्या बड़ा सम्मान पाया !
कुन्द-इन्दु-तुषार-हार-धवल गिरा ने
है तुझे वाहन बनाया

मोतियों का जो करे आहार, खाने
के लिए कतवार, टूटे !
सोच, तेरे साथ तेरे देवता पर
दाग़ लगने जा रहा है
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

वह मिली सत्ता तुझे, तू याद आए
जब सजाए प्रात प्राची,
वह महत्ता, न्याय और विवेक का तू
बन गया पर्यायवाची,

वह मिला व्यक्तित्व तुझको जो कि सागर
बीच उतराए समुज्ज्वल,
चेत हंस कुमार, डाबर है कि जिसमें
डूबने तू जा रहा है
सुर सरोवर नीर-नहलाए परों को
किस तरफ़ फैला रहा है ?

—बच्चन

विदेश मन्त्रालय,
नई दिल्ली

रेशमी बन्धन

सही है—ज़िन्दगी की एक परिभाषा अकेलापन
रहा है रेशमी बन्धन मगर मन को सदा भाता

बहा कर ओस से आँसू धरा का लीप कर आँगन
किसी को राह में बिखरा किरन के फूल औ चन्दन
गगन की देहरी पर नित जला कर प्राण की बाती
वियोगिन साँझ आँचल में छिपा कर दीप धर जाती

निठुर जग दर्द की परछाइयाँ समझे न समझे पर
रहा है चीर कर उर घाव अपना चाँद दिखलाता

किसी की खोज में वन-वन भटकता है पवन बोझिल
किसी को टेरता रहता अकेला कुंज में कोकिल
नदी है चाहती मिल सिन्धु में अस्तित्व खो देना
जलधि भी चाहता है बाँह में चन्दा पिरो लेना

छले जाते हुए भी देख कर भोले मुकुल-कुल को
रहा है भ्रमर के सँग भाँवरी को फूल ललचाता

भरा सावन उमड़ आता, मचलती स्नेह की बदली
सजल आकाश के दृग में चमकती रूप की बिजली
धरा की भीगती चूनर, खनकते रिमझिमी पायल
लहर जाता छितिज के छोर तक हर ताल का आँचल

मगर प्यासा पपीहा स्वाति की निर्मम बदलियों से
रहा है प्यास अपनी रात दिन सौ बार दुहराता

यहाँ पर वेदना में साथ कोई दे नहीं पाता
नयन से आँसुओं का टूट जाता दुःख में नाता
सभी तो जानते हैं आश औ' विश्वास का छलना
सभी तो मानते हैं ज़िन्दगी का ओस सा गलना

अभागिन सांस की हर डूबती झंकार में लेकिन
रहा है मोह का स्वप्निल सजल संगीत मन गाता

अमेठी राज भवन, लंका,
हिन्दू विश्व विद्यालय,
बनारस

—नन्दकिशोर राय

देह और देहातीत

अपने ही में गहराती अकुलाती
पीले कनेरों की घनी-घनी झाड़ियाँ
हवा के नीले झोंके में
नीरव टुन-टुना जातीं
सैंकड़ों पीली फूल-घंटियाँ
पास ही लाल माटी के घर के
लुकते-से अधखुले किंवाड़
मूर्छा में तैरता-सा एकल-विकल आमन्त्रण :
डूबता—कसकता-सा बिछुओं का लीन रणन !

......चौंक कर ताक उठी
मेंहदी की घनी बाड़
हवा की लचीली हथेलियों में,
चुपचाप झर पड़े,
सफ़ेद फूल-जूमखों के करण-फूल !
पिछवाड़े गुँथने को अकुलाए
सिमटते-संकुचाते जानुओं-से नदी के दोनों कूल
विजनवती नदिया की बेचैन धार पर,
अचानक थम गए......
किसी गुज़रती नाव के वेग से चलते डाँड़ !
घाट के झाउओं पर सूखती
कसूमल ओढ़नी हेरती ही रह गई :
एक निरावरण गौर तनिमा,
लहरों में लीन हो, अनन्तिनी होगई
बिछुड़ी-सी एक देहाभा
दिगन्तर के वलयों में बल खाई, लहराई !

......किनारे की सूनी गैल
हरी घाँस की चोली दोनों ओर खसका कर
अनायास निवेदन हो गई......!
दुपहरिया के फूलों से महकती वन-वीथियों में
धूप-छायाएँ कसकते सीनों की काँप-काँप आईं

चिर अकाम,
निरंजन, अनाविल आसमान,
नदी पर लूमते झाड़ों की डालों में
लिपट कर झुक आया :
आविल-चटुल पानियों के आइने में
अपनी सूरत देखने को अकुलाया !

......अकारण थम गई नाव का नाविक
भेद बूझता-सा......
विजन गैल की बाँह में लेट गया
नदी जानू सिकोड़ कर
उसकी गोद में ढलकी-सी रह गई
......कसूमल ओढ़नी के मोहाकुल छोरों से
पास आती पगतलियों के कमल-कोरक फूट आए !
......लाल माटी के घर का अधखुला दरवाजा,
खुल कर......शर्मीली पलकों-सा ढलक गया......

कटि से फिसलती करधौनी से—
गहन चुप्पी के घूँघुर,
महुआ-वन के फूलों में चू पड़े !
शैवाल का लहँगा खसका कर
रतन-बावली की हरी-नीली गहराइयाँ
काँप-काँप उफ़न आईं......!
धरिणी की माटी के
अथाह घन उरोजों बीच,
आसमानी प्रीतम ने
अपना अगम अगोचर हिया ढाल दिया !
......और पास ही
अपने ही में गहराते घन कनेर-कुंजों में
सैंकड़ों पीले फूलों की घंटियाँ
नीरव-नीरव टुन-टुना उठीं .....!

'धर्मयुग', फोर्ट
बम्बई

—वीरेन्द्रकुमार जैन

गीत

स्नेह सत्यम है सपन है क्या पता
आज तक तो मिल नहीं पाया कभी

हर निशा की आँख के सँग में जगा
हर प्रभा की आश के संग में जला
पर मुझे वरदान मिल पाया नहीं
लाख कोशिश साधना में मैं ढला,

हर लगन मेरी मिलन गाती रही
पर नहीं बह मीत मिल पाया कभी

चाँदनी रातें मुझे जलती लगीं
प्रीत की बातें मुझे खलती लगीं
हर अटल विश्वास की टूटी कड़ी
हर क़दम मंजिल मुझे चलती लगी,

प्यास मृग तृष्णा बनी सी रह गई
पर नहीं नभ स्वाति घिर आया कभी

बाँध पाता हूँ नहीं जब पीर को
गीत गा कुछ बाँध लेता धीर को
पर निठुरता यह कि जो पाषाण सी
सीं नहीं पाती हृदय के चीर को,

जानता है कौन किस मन की व्यथा
क्यों नयन में नीर भर आया कभी

—कृष्णकुमार चौबे "नूतन"

हमीदिया कॉलेज,
भोपाल

गीत

रूप से अनुराग का
मिलता कहाँ है तार !

चाँदनी के सिन्धु में तिरती तरी घन की,
देश से सौन्दर्य के आई परी मन की,
निज करों से ले
सुकीमल विद्युती-पतवार

तम-वसन में थी न उसका दीखता था तन,
चाँद की प्रिय-पालकों में रात की दुलहन,
तारकों का था चमकता
श्वेत—बन्दनवार

पालकी रोकी पवन ने तीर पर लाकर,
भूमि पर अपनी उतरती प्रेयसी पाकर,
भेंट मैंने कर दिया
उसको हृदय का हार

मोहमयि-मुस्कान अधरों पर खिली उसके,
पूँछ बैठा "आई हो तुम आज घर किसके ?"
"घर उसी के जो मुझे
अब दे रहा है प्यार।"

५७ राइट गंज
गाजियाबाद (उ० प्र०)

रसिक बिहारी "मंजुल"

कल्पना

तुम आओगी !
नव नयनों की,
शाश्वत ज्वाला लिपटाओगी !

अपलक देखेंगे आँसू झर,
अभिमान मुखर, नीरव निर्झर,
तुम आओगी !
नव अंगों में,
मीठी छाया भर जाओगी !

बढ़ जाएँगे ये चपल चरण,
बाँहों में भर कर परिरंभण,
तुम आओगी !
अन्तस्तल तक,
स्वप्नों का मधु बरसाओगी !

साँसों में होगी निस्पन्दन,
अवसाद भरा मादक कंपन,
तुम आओगी !
आनन्द प्रहर,
नव शोभा-ज्वार उठाओगी !

जग जाएगा यह छाया वन,
मुसकाएगा निःस्वन यौवन,
तुम आओगी !
जीवन-पथ पर,
सौन्दर्य-रास रच जाओगी !

तुम आओगी !!

ग्राम-पत्रालय—टेढ़ा
ज़िला—उन्नाव

लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

नई कहानियों में ग्रामीण सामाजिकता

कहानीकार : (१) डा० लक्ष्मीनारायण लाल (२) द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' (३) शिवप्रसाद सिंह

नई पीढ़ी के कथाकारों में उपरोक्त लेखकों के नाम सुपरिचित ही नहीं; अग्रगण्य भी हैं। तीनों लेखकों की बहुसंख्यक कहानियाँ गाँवों से सम्बन्ध रखती हैं। इन कहानियों में ग्रामीण जीवन अपनी सम्पूर्ण खूबियों के साथ उभरा है। ये कहानियाँ बदलते हुए जीवन को नवीन सांस्कृतिक मूल्यों के प्रकाश में देखती है। परम्परा विरोधी नई चेतना और गाँव के पुराने रूढ़िवादी विश्वासों के संघर्ष का स्वर भी इन कहानियों में बहुत ही सशक्त है। प्रेम, विवाह, संयोग, वियोग आदि अति प्राचीन एवं शाश्वत विषयों को लेकर मुकदमा, बाढ़ महामारी, प्लेग, विधवा विवाह, दहेज प्रथा, आदि कितनी ही ऐसी सामयिक ग्रामीण समस्याओं को इन लेखकों ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। उत्तर प्रदेश में जमींदारी के बाद हर गाँव नैतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से एक उथल-पुथल से भरे हुए संक्रमण काल से गुज़र रहा है। गाँव के इस पहलू का सच्चा और सहानुभूतिपूर्ण चित्रण हिन्दी कहानियों में कम हुआ है। फिर भी इन लेखकों की कई ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें ग्रामीण जीवन की इस संक्रमणकालीन अवस्था का बड़ा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। अनुमानतः ये सभी लेखक गाँवों से आए हैं। गाँव से सम्बन्धित इनकी सभी कहानियों में ग्रामीण सामाजिकता की अनेक सच्ची तस्वीरें आपको मिलेंगी। अब हम उपरोक्त लेखकों की कुछ चुनी हुई कहानियों के आधार पर उनमें चित्रित ग्रामीण सामाजिकता पर विचार करेंगे।

डा० लक्ष्मीनारायणलाल की अधिकांश कहानियों में उत्तर प्रदेश की बस्ती और गोरखपुर ज़िलों के गाँवों का बड़ा ही सच्चा एवं सजीव चित्रण आपको मिलेगा। हिन्दी साहित्य के पारखियों और साधारण पाठकों के सामने ये कहानियाँ भी इलाचन्द्र जोशी के सम्पादकत्व में, प्रयाग से प्रकाशित 'संगम' के माध्यम से वर्षों पूर्व आने लगी थी और तब से आज तक 'कल्पना', 'साहित्यकार', 'निकष', 'राष्ट्रवाणी' आदि हिन्दी की सुप्रतिष्ठित पत्रिकाओं में ये कहानियाँ बराबर प्रकाशित होती रहती हैं। 'संगम' में प्रकाशित ''धीरे चलै डोलियाँ', 'एक साँझ : एक भोर', 'कच्चा घड़ा', 'तालाब का घाव', 'वहीं चाँद और काँटे' आदि अनेक कहानियाँ नक्षत्रों की भांति एक-एक करके उदित हुई और देखते देखते उन्होंने हिन्दी साहित्याकाश में अपना सुनिश्चित स्थान बना लिया। ये कहानियाँ विशुद्ध ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित, और ग्रामीण सामाजिकता से ओत प्रोत हैं। इन कहानियों को पढ़ने से लगता है कि लेखक गाँवों की ज़िन्दगी का एक निरपेक्ष द्रष्टामात्र नहीं वरन् स्वयं एक भुक्तभोगी है ऐसी ऐसी संवेदनाएँ चुनी गई हैं इन कहानियों के लिए जो लेखक की केवल सहज कल्पना मात्र से संभाव्य नहीं। गाँवों के विश्वास, उनकी सामाजिक मर्यादाएँ, आर्थिक सीमाएँ, परम्परा, रूढ़ियाँ आदि अनेक विषयों पर लेखक ने गहराई से विचार किया है उनमें निहित सत्य को अपने अन्तर में काफ़ी अरसे तक पकाया है और फिर इन कहानियों में व्यक्त किया है। इन कहानियों के पढ़ने के बाद सन्देह की गुंजायश नहीं रहती कि लेखक ने एक ओर गाँव के रिवाज रस्मों का, सामाजिक कुरीतियों और अन्ध विश्वासों का, और दूसरी ओर वहाँ की जीवन्त प्रकृति का, आषाढ़ और कार्तिक की बोअनी का, सावन की सोहनी का, कुवार और चैत की कटाई का, बहुत ही निकट से निरीक्षण किया है। गाँव के अन्तर और बाह्य दोनों ही पक्षों का लेखक ने सच्चा वर्णन किया है। वर्ना नई पीढ़ी के लेखकों में आपको ऐसे लोग भी मिलेंगे जो बाउली में कमल उगाते हैं।

सर्व प्रथम, डा० लाल की, 'वही चाँद और काँटे' शीर्षक कहानी लीजिए। इसकी कलात्मक परिपक्वता और प्रभवविष्णुता के सम्बन्ध में कुछ कहना अप्रासंगिक होगा क्योंकि प्रस्तुत लेख का विषय दूसरा है। कहानी के प्रथम पैरा के दो तीन वाक्यांश लीजिए :......'फूलपुर गांव में लड़कियों की किस्मत उनके ब्याह ढूँढ़ने और तै होने के आधार पर तौली जाती थी और यह एक ऐसा

ज़ालिम तराज़ू था जिस पर मुश्किल से कोई लड़की पूरी उतरती थी, क्योंकि एक तो यह तराज़ू बरसों पुराना है, इसकी डाड़ी और डोर इस तरह पुरानी और मैली हो गई है कि इसे देखते ही किसी बूचरखाने की तराज़ू याद आती है, जिस पर ताज़े खून के धब्बे लगे होते हैं……दूसरे इस तराज़ू के उठानेवाले भी वे अन्धे व्यापारी हैं जो न कभी इस तराज़ू की डाएडी देखते हैं न खरीददार की बेबस आँखों के आँसू… …सच; इस व्यापार में घर के घर लुट जाते हैं। बाबा लोगों का सर कर्ज़ से झुक जाता है। दो एक बीघा हीरा जैसी धरती महाजन के नाम लिख उठती है।'

बेशक; ये पंक्तियाँ घिसी पिसी दूषित दहेज प्रथा की विद्रूपता का मर्मस्पर्शी का चित्र खड़ा करती हैं। किन्तु एक प्रथा विशेष का यह चित्रण मात्र नहीं है और न तो यह लेखक का उद्देश्य ही है। लेखक का लक्ष्य तो तर्कध्वन्यात्मक संकेत है। वस्तु के चित्रण द्वारा ही वस्तु के प्रति घृणा और आक्रोश उत्पन्न करना है। उपरोक्त पंक्तियों में दहेज प्रथा पर एक सफल व्यंजनात्मक प्रहार है।

सामाजिक रीति रिवाजों, वैवाहिक रस्मों आदि का इस कहानी में बहुत ही सही सही वर्णन हैं। ये वर्णन एक ओर जहाँ कहानी में स्थानीय रंगत का पुट देते हैं वहाँ दूसरी ओर लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण एवं ग्राम्य जीवन की बहुमुखी जानकारी का भी परिचय देते हैं। बारात के आगमन के समय द्वार पूजा, मड़वे में सुहागदान, कोहबर में दीपदान, चौक में जुआ खेलना आदि अनेक स्तम्भों का वर्णन इस कहानी में यथातथ्य हुआ है।

किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उठता है। क्या सामाजिक रीति-रिवाजों का यथातथ्य वर्णन ही श्लाघनीय है; क्या लेखक को इन घिसे पिसे सामाजिक कर्मकाण्डों के सम्बन्ध में वर्णन की स्वतन्त्रता नहीं है? क्या कलाकार अपनी कृति के कलात्मक संकेत को उभारने के लिए, उसके प्रभाव को तीव्रतर बनाने के लिए, परंपरागत रीति-रिवाजों से भिन्न मौतिक रस्मों की कल्पना नहीं कर सकता? मेरा अपना विचार है कि वह ऐसे एकदम नवीन सामाजिक रस्मों की कल्पना कर सकता है। किन्तु इस काल्पनिक सम्भावना की एक सीमा है। लेखक की कल्पना किसी ऐसे तथ्य पर आधारित होनी चाहिए जो उस स्थान विशेष की सामाजिकता का जाज्वल्यमान सत्य हो। ऐसे ही एक निर्विवादित सत्य पर आधारित एक ग्रामीण रस्म की कल्पना इस कहानी में की गई है। कहानी का नायक अपने ब्याह में तरह तरह के वैवाहिक रीति-रिवाज़ों की रस्म अदाएगी कर रहा है। उसी सिल-सिले में उसे गाँव के बाहर एक खण्डहर में ले जाया जाता है। वहाँ उसे एक मिट्टी की कब्र पर थोड़ी-सी राख चढ़ानी पड़ती है। उसे बताया जाता है कि वह कब्र उस गाँव की एक कुमारी लड़की की है जिसे पचास वर्ष पहले उस गाँव के लोगों ने ज़िन्दा गाड़ दिया था। कारण यह कि, वह कुँवारी थी और अपने माँ बाप की इच्छा के विरुद्ध एक अन्य जाति के लड़के के साथ भागती हुई पकड़ी गई थी।

विशेष रूप से; शादी ब्याह के मामलों में हमारे देश में जाति-पाँति के बन्धन बहुत ही कड़े हैं, यह एक सत्य है। दो तरुण हृदयों का प्रेम जाति-पाँति के बन्धनों की कृत्रिम सीमा को स्वीकार नहीं करता; यह भी एक सत्य है। किन्तु ये दोनों सत्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परस्पर विरोधी हो गए हैं। और विरोध की इस वेदी पर समाज को कितनी ही कुरबानियाँ देनी पड़ रही हैं। गाँव-गाँव में आपको ऐसे कितने ही उदाहरण मिलेंगे। तो, ऐसी विकृत ग्रामीण सामाजिकता के क्रूर सत्य पर आधारित उपरोक्त काल्पनिक रस्म कहानी के व्यंजनात्मक प्रभाव को बहुत अंश में बढ़ा देता है। ऐसी काल्पनिक सम्भावना तर्क सम्मत और अपने प्रभाव में मंगलमय भी है। किन्तु यथार्थ का नग्न चित्रण करके ही लेखक को संतोष नहीं होता। कहानी दुःखान्त अवश्य है किन्तु उसका दुःखान्त होना हमारी विकृत ग्रामीण सामाजिकता का अनिवार्य परिणाम है। गाँवों के सुन्दर समृद्ध भविष्य में लेखक की प्रबल आस्था है। कहानी के अन्त में, वाली की मृत्यु शैया पर बैठे हुए वंशी के इन शब्दों में भविष्य के प्रति कितना अडिग विश्वास है: 'ज़ब तुम फिर फूलपुर में आओगी तब तुम्हें तमाम गाँव पढ़े लिखे मिलेंगे। हर गाँव में तुम्हें उस तरह के कितने नवजवान मिलेंगे जिन्हें तुम अपनी कल्पना में देखती रही हो। तब तुम्हें वहीं वर मिलेगा जिसे तुम चाहोगी………तब उन्हें (बाबा को) तुम्हारी शादी में कर्ज़ या रेहन नहीं रखना पड़ेगा" गाँव के जीवन से लेखक का कितना भाव पूर्ण अपनापा है, उसके

हृदय में ग्रामीण सामाजिकता के शिकार इन भोले भाले पात्रों के प्रति कितना स्नेह है। गाँवों के सुखमय-भविष्य के प्रति उसकी शुभकामनाएँ और सदाशयता कितनी सच्ची तथा आवेग-पूर्ण हैं; यह सत्य इन पंक्तियों के शब्द शब्द से ध्वनित हो रहा है।

'सूने आँगन रस बरसै'' शीर्षक कहानी 'निकष' के दूसरे भाग में प्रकाशित हुई है वैसे तो, कहानियों की तालिका में न रख कर इसे 'ग्राम-कथा' नाम से अभिहित किया गया हैं। मेरी समझ में इसका कारण यह हैं कि इस कहानी में वर्णनात्मकता अधिक है; इसी तथ्य को ध्यान में रख कर इसे कथा की संज्ञा दी गई है। यदि हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की ग्राम-कथाओं की परम्परा चल निकली तो निश्चित ही 'सूने अँगन रस बरसै' का एक सुनिश्चित ऐतिहासिक महत्व होगा किन्तु प्रस्तुत लेख और ग्रामीण सामाजिकता को ध्यान में रख कर यदि इसे लम्बी कहानी की कोटि में रखा जाए तो अनुचित न होगा वैसे, गाँव से सम्बन्धित लेखक की सभी कहानियाँ लम्बी हैं। बड़कटी कहानियाँ लिखना संभवतः डॉ० लाल को मान्य नहीं।

'सूने आँगन रस बरसै ?' शीर्षक पढ़ते ही कहानी की संवेदना झलमला उठती है। शीर्षक की मौलिकता के लिए डा० लाल बधाई के पात्र हैं। ज़मींदारी उन्मूलन के बाद हमारे गाँवों की आर्थिक, नैतिक और सामाजिक अवस्था में कितना परिवर्तन आ गया है; इस तथ्य का बड़ा ही मार्मिक चित्र इस कहानी में उपस्थित किया गया है। ज़मींदार के दरवाज़े की एक तस्वीर लीजिए : "साहेब काका का द्वार बिलकुल सूना है, न एक हाथी न एक घोड़ा, तीस गोई बैलों की जगह अब मुश्किल से पाँच गोई बैल है—वे भी अन्धे, बूढ़े, अधजवान, दरवाज़े के सात नौकरों और नौ सिरवारों में से अब कोई नहीं है, सबको छुट्टी हो गई...दरवाज़े पर बस बुढ़िया साइकिल खड़ी मिलती है...अब कोई उत्सव नहीं होता, न कोई आयोजन ही मनाया जाता। कोई दान-पुण्य नहीं, यहाँ तक कि अब द्वार पर भिखमंगे नहीं आते जाते...।"

और काश्तकार ?

उसकी स्थिति भी कम शोचनीय नहीं। उसके पास खेती के साधन है, उल्लास और शक्ति है, उसकी बहुओं में ट्रैक्टर की गति से लेकिन उसके पास खेत नहीं है। जब कि ज़मींदार के पास खेत ही खेत है लेकिन खेती करने के साधन नहीं है। फिर ज़मींदार और काश्तकार के मधुर सामाजिक सम्बन्ध भी बहुत ही बिछुड़ चुके हैं। कहानी का प्रारम्भ ही ऐसे नाटकीय समय में होता है जब दोनों परिवार के पुरुष फ़ौजदारी के मुकदमे की पैरवी के लिए डिप्टी के इजलास में गए हुए हैं और मुकदमा पेश न होने के कारण उस दिन वे नहीं लौट पाते। दोनों घरों की स्त्रियाँ पुरुषों का इन्तज़ार करती हुई आधी रात तक जागती रहती हैं और फिर निराश होकर सो जाती हैं।

किन्तु पुरुषों में परस्पर इतना द्वेष, कलह होने के बावजूद भी दोनों घरों की स्त्रियों के सम्बन्ध परस्पर बेहद स्नेहमय हैं, दोनों घरों की कुँवारी लड़कियाँ अभिन्न-हृदया सखियाँ हैं। भाइयों से छिप छिप कर वे एक दूसरे से मिलती हैं। यही हाल बहुओं का है, पतियों से आँख बचा कर, उनकी अनुपस्थिति में एक दूसरे के घर वे भी आती जाती हैं। हमारी ग्रामीण सामाजिकता का यह बहुत ही मधुर और मंगलमय पक्ष है। गाँव गाँव में आपको ऐसे परिवार मिलेंगे जहाँ पुरुष एक दूसरे के रक्त के प्यासे हैं और स्त्रियों में परस्पर दाँत कटी रोटी का सम्बन्ध है। बाहर से जितना तीव्र विरोध भीतर से उतना ही सशक्त समन्वय। भारतीय संस्कृति के मेरुदंड ये गांव ही तो है। वास्तव में गाँवों के ऐसे अन्तरंग सम्बन्धों का चित्रण केवल कल्पना के आधार पर नहीं किया जा सकता। इसके लिए ग्रामीण जीवन का निकट से परिचय, तो एक अनिवार्य आवश्यकता है ही किन्तु साथ ही लेखक की प्रखर समवेदना शक्ति एवं सूक्ष्म निरीक्षण के बिना भी ऐसे मर्मस्पर्शी भाव चित्रों की कल्पना नहीं की जा सकती।

ज़मींदारी विनाश के पूर्व, ग्रामीण सामाजिकता के इस अनुरागमय पक्ष का एक उज्वल अतीत भी है। साहब सिंह बहुत बड़े ज़मींदार हैं और मंगल चौधरी उनके एक मामूली काश्तकार; फिर भी दोनों परिवारों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की खाई दरार या मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं हैं। 'साहब सिंह अपने लिए कुछ भी हों, कैसे भी हों; फूलमती के वह साहेब काका थे, उनकी पत्नी इसकी काकी थीं, उनके बड़े पूत इसके ददुआ जी थे और छोटे इसके राजा भाई। ठीक यही धरातल उधर से भी था; उस घर में कोई भी मंगल काका का नाम

नहीं लेता था। साहेब सिंह उसे चौधरी कहते थे और अन्य लोग उसे चौधरी काका पुकारते थे और उस सम्बन्ध का यही पारिवारिक आदर्श दोनों के लिए एक समान था। 'इस तरह हम देख सकते हैं कि इस कहानी में हमारी ग्रामीण सामाजिकता का बड़ा ही उज्वल महिमामय और मंगलकारी रूप उभरा है। इस दृष्टि से, वास्तव में यह कहानी बहुत ही उच्च कोटि की है।

कहानी के शिल्प, संवेदना, प्रारम्भ, अन्त, वर्णन की चुस्ती, भाषा का निखार, आदि विषयों पर कुछ कहना यहाँ पर मेरा लक्ष्य नहीं। इस लिए इन दिशाओं में काफ़ी परिपुष्टता एवं प्रचुर सामग्री होने के बावजूद भी कुछ कहना अनुपयुक्त होगा। अस्तु 'सफ़ेद हाथी' शीर्षक कहानी ज़मींदारी विनाश के बाद ग्रामीण समाज के एक ऐसे वर्ग का चित्रण करती है जिसकी जीविका का आधार संगीत और नृत्यकला ही थी। इस वर्ग की दयनीय अवस्था का बड़ा ही मर्मभेदी वर्णन इस कहानी में है। इन्हें कथिक या 'गन्धर्व' कहा जाता है। ज़मींदारों के यहाँ इनकी कला की कद्र होती थी और उन्हीं के यहाँ से इन कलाकारों का भरण पोषण भी होता था। किन्तु ज़मींदारी समाप्त होते ही सरस्वती के उपासकों का यह वर्ग जैसे निराश्रित हो गया। 'सफ़ेद हाथी' ग्रामीण समाज के इन गन्धर्वों के जीवन की करुण कथा है।

इसी प्रकार 'तालाब का घाव' विधवा जीवन की विडम्बना एवं करुणा पर आधारित एक 'फ़ैन्टसी' है। यह कहानी, ग्रामीण सामाजिकता के अत्यन्त हीं महत्वपूर्ण एवं प्रताडित अंग से सम्बन्धित है और इसमें वर्तमान तथा अतीत की दो विधवाओं, 'जानकी और सरस्वती' के जीवन का बड़ा ही दर्दनाक चित्र उपस्थित किया गया है। ग्रामीण समाज की विद्रूपता, नृसंशता एवं अत्याचार का इसमें बड़ा ही करुण चित्रण है। किन्तु इस कहानी में शिल्प और कला पक्ष प्रधान हो उठा है। इसलिए ग्रामीण सामाजिकता का स्वर उतना सशक्त नहीं रह पाया। इसी प्रकार 'धीरे चलै डोलिया' में भाई बहन के पवित्र स्नेह का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है जो ग्रामीण पारिवारिकता का एक मंगलमय पक्ष है।

कुल मिला कर हम कह सकते हैं कि डॉ० लाल की उन कहानियों में जिनका सम्बन्ध गाँव से है, हमें ग्रामीण सामाजिकता का कोई न कोई अंश अवश्य चित्रित मिलेगा और यही चित्रण उस कहानी का मेरुदण्ड भी होगा। यह विशेषता शिवप्रसादसिंह की कहानियों में भी लक्षित होती है।

निर्गुण 'जो अपनी कहानियों में पछाहीं' गाँवों की सामाजिकता का बड़ी ही खूबी के साथ चित्रण करते हैं किन्तु उनकी कहानियों में स्थानीय विशेषता उभर कर नहीं आती। स्थानीय रंगत लाने का कोई आग्रह इन कहानियों में दृष्टिगोचर नहीं होता। बस; केवल एक सामान्य सा चित्रण रहता है जिसकी वजह से स्थान विशेष की सामाजिकता अपनी सम्पूर्णता के साथ परिलक्षित नहीं होती फिर भी निर्गुण जी की गाँव से सम्बन्धित कहानियों में ग्रामीण सामाजिकता की कमी खटकने वाली नहीं होती।

अब तक निर्गुण जी के नौ कहानी-संग्रह निकल चुके हैं। 'पूर्ति' 'बहू जी', 'कच्चा धागा', 'छाया', 'टीला', 'ज़िन्दगी', 'प्यार के भूखे', 'टूटे सपने', तथा 'खोज' ये पूरे नौ संग्रह यदि नहीं तो अन्तिम चार कहानी संग्रह निश्चित ही हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व के अधिकारी हैं। इस सत्य को हिन्दी के आलोचक अब स्वीकार करने लगे हैं। निर्गुण जी की प्रतिभा को देर से प्रतिष्ठा मिली इस बात पर कई आलोचकों ने क्षोभ और पश्चात्ताप भी व्यक्त किया है। 'ऐसे कहानीकारों को काफ़ी कीर्ति प्रदान की जा रही है जिनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण निर्गुण जी के मुकाबले में कुछ भी नहीं है . 'किसी और देश में निर्गुण जैसे कलाकार की प्रतिभा की कितनी भारी प्रतिष्ठा होती'... 'निर्गुण का ग्राम्य चित्रण यदि बरबस हमें प्रेमचन्द का स्मरण दिलाता है तो गृहस्थ जीवन के व्यथा भरे चित्र उसी मात्रा में हमें शरत की याद दिलाते हैं...... प्रेमचन्द और शरत बाबू का याद आना दुस्साहस न होकर वास्तविकता मात्र है' इत्यादि बनारसी दास चतुर्वेदी और श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के उद्गार हैं।

'ज़िन्दगी' शीर्षक कहानी संग्रह में 'राशन कार्ड', 'अमरूदों का बाग़', 'सवा धर्म', 'रस बूँद', 'बहू', 'लाल डोरा' और 'ज़िन्दगी' ये सात कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनमें से 'अमरूदों का बाग़', 'रस बूँद' और 'ज़िन्दगी' विशुद्ध ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित है। 'रस बूंद' कहानी ग्रामीण सामाजिकता का बहुत ही करुणापूर्ण और सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। निर्गुण जी

की अधिकांश कहानियाँ बहुत लम्बी होती हैं। किन्तु 'रस बूँद' बहुत ही छोटी कहानी है। इसे एक तरह से अपवाद ही समझिए। यह कहानी अपनी संवेदनाओं में जितनी मर्मस्पर्शी है प्रभविष्णुता से उतनी ही तीव्र। हृदय पर एक ऐसी चोट करती है कि पाठक तिलमिला कर रह जाता है। आर्थिक विषमता पर आधारित एक ही खानदान के दो बच्चों की यह कहानी है। एक ग़रीब दूसरा उसकी तुलना में अमीर। बस, केवल इसी कारण एक का नाम रामचरण होते हुए सभी लोग उसको रमचन्ना कहते हैं यद्यपि दोनों अपने माँ-बाप के इकलौते बेटे हैं। रमचन्ना को केवल उसकी माँ लल्ला कहती है और सभी लोग उसे रमचन्ना ही कहते हैं। किन्तु दूसरे को उसकी माँ लल्ला कहती है और गाँव के सभी लोग उसे लल्ला कहते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि दोनों बच्चों की परिस्थितियों में आर्थिक विषमता है। और यह आर्थिक विषमता ईश्वर की बनाई नहीं, एक सामाजिक सत्य है जिसके फलस्वरूप इन्सान पैदा होते ही अमीर या ग़रीब घोषित कर दिया जाता है।...गंगा सहाय के दादे मूर्ख न थे, गंगा सहाय अमीर है...गंगा सहाय का लल्ला भी अमीर है। मूर्खों में थे लेखराज। उनका बेटा फल भुगत रहा है। उनका नाती अभी से ग़रीब है। उमर उसकी मुश्किल से आठ नौ साल की होगी लेकिन इससे क्या? वह ग़रीब बन गया है?

आर्थिक विषमता का यह विष समूची ग्रामीण सामाजिकता को आक्रान्त किए हुए है। मासूम रमचन्ना भी इसी विषमता से विषाक्त वातावरण में घुट-घुट कर दम तोड़ रहा है। लल्ला मिठाई नहीं खाता; पिता से मिठाई लेकर अपने साथियों में बाँट देता है। 'जी भर गया है खाते खाते।' और एक 'रमचन्ना' है जिसे याद भी नहीं कि उसे मिठाई खाने को कब मिली थी और इसका परिणाम यह हुआ कि रमचन्ना गंगा सहाय की मिठाई की दूकान पर जाता है। जलेबी के लिए भट्ठी पर खौलती हुई चासनी की उफ़ान से गिरी हुई बूँदों को चाटने लगता है, गंगा सहाय की नज़र बचा कर। जब काफ़ी अरसे तक रमचन्ना दूकान से नहीं हटता, तब गंगा सहाय उसके साथ राक्षसी व्यवहार पर उतारू हो जाता है। वह रमचन्ना के सामने भट्ठी से सद्यः उतारी हुई कड़ाही को रख देता है और उसमें से रस लेने के लिए उसे उत्साहित करता है। जब रमचन्ना प्रसन्नता से अपने नन्हें और कोमल हाथ आग की तरह जलती हुई चासनी में जो देखने में शीतल लगती थी, डाल देता है चुल्लू भर रस के लिए। पर वह रस न ले सका। उसी क्षण ज़ोर से चीत्कार करके चासनी से भुनी अंगुलियाँ छिटकता हुआ अरी अम्मा! हाय अम्मा! कहता हुआ वह घर की ओर भागता है।

और जब वह अबोला बालक कराहता हुआ भागता है तो गंगा सहाय उसे गाली देता हुआ जलेबी बनाने बैठ जाता है, जैसे कुछ हुआ ही न हो। कहानी का अंत बड़ा ही कारुणिक और हिला देनेवाला है। चेखव की विख्यात कहानी 'वान्का' से भी अधिक करुणा इस कहानी में है। चेखव का 'वान्का' फिर भी उतना अबोध और सताया हुआ नहीं है जितना निर्गुण जी का रमचन्ना। रमचन्ना और लल्ला को समानान्तर रखने से समाज की विषमता परोक्ष न हो कर प्रत्यक्ष रहती है और एक विद्रोह की सृष्टि करती है। उस गांव की सामाजिकता के प्रति पाठक के मन में आक्रोश उत्पन्न होता है।

इस छोटी सी कहानी में एक बात खटकती है। कहानी पछाहीं गांव की है किन्तु इस गांव में मुहल्ले का ज़िक्र आया है। गांव में मुहल्ले नहीं, टोले पुरवे या डीह होते हैं।

'प्यार के भूखे' संग्रह में भी सात कहानियों संगृहीत है। इनमें से विशुद्ध ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली केवल दो कहानियाँ है एक है 'तिवारी' और दूसरी 'पड़ोसी'। 'तिवारी' शीर्षक कहानी यद्यपि एक व्यक्ति की नैतिकता के उत्थान-पतन की कहानी है, फिर भी इससे ग्रामीण सामाजिकता पर्याप्त मात्रा में व्यक्त हुई है। गांवों में बरातें आती है। आस-पास के दस-पाँच कोस के इलाके में लोगों के लिए वह एक मनोरंजन का साधन बन जाती हैं। किन्तु जिनके यहाँ बारात आती है उनके सिर पर तो जैसे हमेशा कच्चे सूत में बँधी तलवार लटकती रहती है। ऐसी ही एक बारात सरगुजा से तिवारी के गाँव में आई है। लड़कीवाले ख़ौफ़ सा खा गए थे और तन-बदन का होश खो कर, जी जान से सरगुजावालों की ख़ातिर तवाज़ों में लगे हुए थे और हर बात पर हर बराती के हाथ जोड़ते थे और जो कुछ कहना होता था सरकार कह कर अर्ज़ करते थे। भाग-दौड़ करते-करते उनके माथे से पसीना टपक रहा था। एक दयनीय अवस्था जो घराती पक्षवालों की थी

लेकिन बराती लोगों के नखरे एक से एक बढ़ कर होते हैं। एक नमूना लीजिए। 'साईस घोड़ियों के लिए घी माँगने गया। उसे लड़कीवालों के किसी आदमी ने जबाब दे दिया कि खुद चाहे कभी घी न खाते हों बारात लाए तो घोड़ियों के लिए घी माँग रहे हैं। टुच्चे खानदान के हैं न' साईस क्यों चूका? उसने जा कर दूल्हे के बाप से एक की चार लगाई। समधी बिगड़ गए। बारात रूठ कर चलने लगी, छोलदारियाँ उठ गईं, तम्बू उखड़ गए, बारातियों के बिस्तर बँध गए। समधी साहब अपनी गालियों की बौछार से लड़कीवालों की आबरू उतारने लगे। गाँव के ध्वस्त होते हुए मध्यवर्गीय सामन्ती समाज का बहुत ही सच्चा चित्र है। गांवों में इस वर्ग विशेष की बहुत कम बारातें आपको मिलेंगी जिनमें इसी प्रकार का एक न एक तमाशा न खड़ा हो जाता हो।

परम्परा से गाँवों में ब्राह्मणों का मान है। इसका कारण चाहे भारतीय दर्शन की आध्यात्मिकता हो अथवा गाँवों की अशिक्षा और अज्ञान किन्तु अपने में यह एक सत्य है। बल्कि लाल तिवारी नैतिकता की दृष्टि से बहुत गिर गए हैं। वे अपने पतन की चरम सीमा पर आ गए हैं। अगर कोई उन्हें पीटता तो शायद पिट भी लेते' किन्तु कभी किसी ने उन पर हाथ न लगाया था। तिवारी बनिए की दूकान से आलू खरीदते हैं और उसकी आँख बचा कर चार छः आलू चुरा भी लेते हैं। एक दूसरा ग्राहक उनकी यह हरकत देख रहा था वह इस चोरी को दूकानदार से बता देता है। पर वह बनिया हँस देता है और सहानुभूति के स्वर से कहता है—'उनको चोरी करने की आदत पड़ गई है, पढ़ा लिखा आदमी है। भाग्य की बात है कि उचक्का हो गया है अब, 'पहले मदरसे में पढ़ाता था।' गाँव के धनी मानी लोग भी तिवारी की इज़्ज़त ब्राह्मण होने के नाते ही करते हैं। तिवारी की मर्यादा के लिए ही ज़मींदार रामनारायण अपने समधी का विरोध करते हैं; 'आप चाहें तो मेरे सिर पर जूते मरवा सकते हैं। यह ब्राह्मण है, इसके शरीर को कोई छुएगा तो मैं उसकी जान ले लूँगा। इस पर समधी साहब भी ठण्डे पड़ जाते हैं। एक सामाजिक और धार्मिक मर्यादा का प्रश्न आ गया था। समधी महोदय आगे बढ़े। तिवारी की चरण-रज माथे से लगाई और अपराध को स्वीकार करते हुए ब्राह्मण देवता से क्षमा माँगी।

'पड़ोसी' पचास पृष्ठ की एक लम्बी कहानी है। बिखरी हुई कथा वस्तु, ढीला ढाला प्लाट और अपुष्ट समवेदना के बावजूद भी इस कहानी में ग्रामीण सामाजिकता बहुत उभर कर प्रकाश में आई है। ग्रामीण समाज के सबसे उपेक्षित और परित्यक्त अंग कसाइयों की यह कथा है। गाँव के समाज में इनका जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं। ये लोग अपनी जन्मभूमि में ही इतने नगराय हैं कि जब मनसा नाई उन्हें गाँव से निकालने के लिए पंचायत बुलाने जाता है तो जसवन्तसिंह लाल आँखें किए कहते हैं, इसके लिए पंचायत होगी। 'इन लोगों को जूता मार कर अभी नहीं निकाला जा सकता? इसी प्रकार जब यशवन्तसिंह के लड़के लक्ष्मणसिंह ने ठाकुरद्वारे में यह बात उठाई थी कि इन मुसल्टों को गाँव से निकाल दो तो दीनानाथ पाण्डेय ने इस पर कहा कि 'ठीक है हम राम भक्तों के बीच इन राक्षसों का क्या काम है। चाण्डाल का बास तो शास्त्र में सर्वथा निषिद्ध है', किन्तु गाँव के पंच परमेश्वर इस साम्प्रदायिकता से ऊपर हैं। वे लोग संकुचित मनोवृत्ति वालों की हाँ में हाँ नहीं मिलाते। उनका यही उत्तर होता है कि इन से हमारा क्या अनिष्ट होता है। एक किनारे पड़े हैं जाने कब से रहते हैं। बिना किसी खता के हम उन्हें गाँव से क्यों निकालें?

इस कहानी में ग्रामीण समाज के उज्ज्वल पक्ष और विकृत पक्ष दोनों का बड़ी ही प्रामाणिकता और सहृदयता के साथ चित्रण किया गया है। शरणागत की रक्षा, पंच परमेश्वर का न्याय, सत्य के प्रति आग्रह, पड़ोसियों का प्रेम, पुरुषों में संघर्ष होने के बावजूद भी स्त्रियों में परस्पर मधुर सम्बन्ध तथा ज़मीन का अत्यन्त मोह, चुगली खाना, आगजन काण्ड चोरी, जहरखोरी आदि की बड़ी ही व्यापक तस्वीर इस कहानी में प्रस्तुत की गई है। कहानी का अन्त 'पड़ोसी' शीर्षक को सार्थक करता है।

शिव प्रसाद सिंह की कहानियों का एक संग्रह 'आर पार की माला' शीर्षक प्रकाशित हुआ है। इन कहानियों में पूर्वी गाँवों का बहुत ही यथार्थवादी पहलू सामने आता है। 'कर्मनाशा की हार' शीर्षक कहानी कर्मनाशा नदी की बाढ़ के वातावरण में और उसी के प्रतीकात्मक संकेत का आश्रय लेकर लिखी गई है। कहानी का आरम्भ यों है : "काले साँप का काटा आदमी

बच सकता है, हलाहल पीने वाले की मौत रुक सकती है किन्तु जिस पौदे को कर्मनाशा का पानी एक बार छूए वह हरा नहीं हो सकता।" और अन्त यों है : ...मैं आपके सामान को कर्मनाशा से कम नहीं समझता, किन्तु मैं यदि एक-एक के पाप गिनाने लगूं तो यहाँ खड़े सारे लोगों को कर्मनाशा के पेट में परिवार समेत जाना पड़ेगा...है कोई तैयार जाने को ? कर्मनाशा की हार वास्तव में नए युग के उदय होते हुए जीवन के नवीन मूल्यों की विजय है और प्राचीन घिसे पिसे विस्तृत सामाजिक आदर्शों की पराजय भी।

इस कहानी में ग्रामीण सामाजिकता के विविध पक्षों का दिग्दर्शन आपको मिलेगा। अन्तर्जातीय प्रेम, विधवा विवाह, लक्ष्मण की कुल मर्यादा, भ्रातृस्नेह, गाँव की बोली ठोली आदि का बड़ा ही स्पर्शी वर्णन हुआ है। यद्यपि केवट की लड़की फूलमत के गर्भ और कर्मनाशा की बाढ़ से कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी ग्रामीण सामाजिकता अन्धविश्वास तथा अज्ञान के प्रभाव से इतनी दूषित हो गई है कि गाँव के सभी लोग बाढ़ का कारण फूलमत के गर्भ को ही बतलाते हैं और उसकी जान लेने पर तुल जाते हैं। इसी प्रकार जब भैरो पांडे के छोटे भाई का प्रेम एक नीच जाति की लड़की फूलमत से हो जाता है तो वे अपनी कुल मर्यादा की चिन्ता में घुलने लगते हैं। उनकी नसें किसी तीव्र व्यथा से जल रही थीं। पाण्डे के वंश में कभी ऐसा नहीं हुआ 'वे फुसफुसाये। किन्तु कुलदीप से उनका बेहद स्नेह भी था। भाई की खोई खोई अवस्था देख कर वे सोचते हैं... 'जाने कौनसा मन्त्र पढ़ा दिया। यह कबूतर की तरह मुँह फुलाये बैठा रहता है..." और फिर पाण्डे के अन्तर मन में भ्रातृप्रेम और कुल-मर्यादा का संघर्ष चल पड़ता है। चार सौ अड़तालीस पृष्ठ के अन्तिम पैरा चार सौ उनचास पृष्ठ के दूसरे पैरे में इस संघर्ष का बड़ा ही यथार्थ और छू देने वाला चित्र खींचा गया है।

गाँव के एकरस जीवन में मनोरंजन का बहुत ही अभाव है। बरात ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने साथ थोड़े से मनोरंजन लाती है। ऐसे अवसर पर गाँव में लोग कैसी तैयारी करते हैं इसका उदाहरण ये पंक्तियाँ हैं : "फागुन का आरम्भ था, मुखिया जी की लड़की की शादी थी। गाँव भर में खुशी रहती जैसे सब के घर शादी होने वाली है। शादी के दिन तो गाँव वालों में बनने संवरने की होड़ लग गई। सब लोग पट्टी कटा रहे थे, शौकीनों की पट्टी चार चार अंगुल चौड़ी, छुरे से बनी थी। कुँए की जगह पर दोपहर के दो घण्टे पहले से भीड़ लगी थी, और अब दो बजने को आए, साबुन लग रहा था, पैरों में जमी मैल सिकड़े से रगड़ कर छुड़ाई जा रही थी, ऐसे यथार्थ और शत-प्रतिशत सही वर्णन के लिए निकट निरीक्षण की आवश्यकता है।

'पापजीवी' कहानी का वास्तव में ग्रामीण सामाजिकता से सीधा सम्बन्ध नहीं है। कहानी के मुख्य पात्र बदलू मुसहर उसकी बेटी टुअरी, और उसका बाप पव्वर ग्रामीण समाज से उपेक्षित और तिरस्कृत लोग हैं। इन मुसहरों की न तो कोई सापेक्षिक सामाजिक इकाई है और न तो इनके पास जीविकोपार्जन का निश्चित साधन ही है। किन्तु चूँकि गाँव के निवासियों से ही इनकी जीविका चलती है इस लिए ग्रामीण सामाजिकता का अप्रत्यक्ष प्रभाव इन पर भी पड़ता ही है। ग्रामीण समाज के ऐसे अभिशप्त वर्ग को अपनी लेखनी का विषय बनाने के लिए लेखक हार्दिक बधाई और प्रशंसा का पात्र है। कहानी का शिल्प और समवेदना दोनों ही सुलझे हुए हैं। फ़्लैश-बैक के माध्यम से बदलू मुसहर की चेतना पर्दे पर अतीत का जो चित्र उभारा जाता है वह लाजवाब है। दरिद्र की निर्मम परिस्थितियों के लौह सींखचों से जकड़े हुए पुव्वर और बदलू दोनों बाप बेटे को मजबूर हो कर चोरी करनी पड़ती है और दोनों का अन्त एक जैसा होता है। पुस्त दर पुस्त इस अभिशप्त जीवन की परम्परा चलती रहती है : बदलू और उसकी घरवाली में कभी पटी नहीं। 'कई के फूल, कमलगट्टे, और पलाश के पत्ते, दोने बेच कर जब वह घर लौटता तो देशी अद्धा की बोतल साथ लाना न भूलता जिस पर मुशहरिन उसके सात पुस्त को गंगा के दहन में ग़र्क करती। बदलू को बरदाश्त न होता। वह सूखे रेंड की तरह खड़खड़ा उठता; कहाँ है रे टूरी ला तो टाँगा। माली की बोटी बोटी छिलगा दूँगा। टूरी अपने बाप की आवाज़ सुन कर खटमल के बच्चों की तरह गुदड़ी में चिपक जाती।' और बदलू के पिता पव्वर को भी शराब और गांजे की लत थी, इसी नशे में वह अपनी पत्नी और लड़के को बुरी तरह पीटता था यह है दाम्पत्य प्रेम और वात्सल्य स्नेह की तस्वीर।

इन निरीह लोगों के साथ परिस्थितियों ने कुछ ऐसा षड्यन्त्र किया है कि वे गरीब उन सुखों से भी वंचित हैं जिनका आनन्द पशु पक्षियों को भी प्राप्त है।

ग्रामीण समाज का सब से बड़ा अभिशाप उसका अन्ध विश्वास है। इसका शिकार बदलू भी है। सोखा, ओझा, बन सप्ती भाई, बरम बाबा आदि देव देवताओं में उसका अटूट विश्वास है। 'बदलू इसे अच्छी तरह जानता था कि दूध का खप्पर, इक रंगें धज और मुर्गे के चूज़े से देवी प्रसन्न होती है'......'किन्तु इतना भी वह अपनी बीमार बच्ची के लिए नहीं कर पाता। दारिद्रय का राहु उसकी मासूम बेटी को ग्रसने के लिए तैयार जो बैठा था। वास्तव में यह कहानी हृदय को छू कर तिलमिला देती है। और इसका कारण है कि लेखक ने कहानी को केवल कल्पना के आधार पर नहीं गढ़ा है। मुसहरों के दैन्य पूर्ण जीवन ने स्वयं लेखक के हृदय को छू लिया है और ग्रामीण समाज के उन अभिशप्त मानवों से लेखक का एक रागात्मक सम्बन्ध सा हो गया है। यह तथ्य कहानी के स्थान पर झलक उठता है।

'विन्दा महराज' एक ऐसी कहानी है जिसकी संवेदना और कथानक, दोनों ही एक दम मौलिक हैं। अप्राकृतिक यौन सम्बन्धी की कहानियाँ तो आप की नई पीढ़ी के लेखकों में मिलेगा। उदाहरण के लिए मार्कण्डेय के 'पान फूल' संग्रह की 'बासवी की माँ' शीर्षक कहानी ऐसी ही है। इस कहानी में अप्राकृतिक यौन सम्बन्धों का नग्न और खुला हुआ चित्रण किया गया है। मसलन...कभी कभी वह कम उमर के लड़के को लेकर घर लौटते थे और बातें करते करते सो जाते थे...तुम्हारे पिता जी प्रायः उस लड़के के साथ दूसरे कमरे में सोया करते थे और माँ सोने के कमरे में देर तक उनका इन्तज़ार करते करते थक कर सो जाती थीं...लेकिन इतना तो ज़ाहिर था कि वे तुम्हारे पिता जी और उस लड़के का सम्बन्ध बिलकुल पसन्द नहीं करती थीं; आदि...।

किन्तु विन्दा महराज एक ऐसे मानव की कहानी है जो न तो सम्पूर्ण रूप से स्त्री ही है और न पुरुष ही। एक हिजड़े के जीवन को लेकर लिखी गई और पाठक के हृदय में पूरी सहानुभूति जगा देनेवाली ऐसी कहानी हिन्दी कथा साहित्य में नहीं है। कम से कम मेरी दृष्टि से ऐसी कहानी नहीं गुज़री। विन्दा महराज के समूचे अन्तस का एक ऐसा चित्र यह कहानी खड़ा करती है जो प्रकृति के उस क्रूर विधान के प्रति एक बड़ी ही करुण भावना जगाती है। 'प्यार उसकी आत्मा की प्यास थी, किन्तु परिणामहीन प्रेम की क्रूरता वह समझ नहीं पाता। ज़रा से आकर्षण से चित चंचल हो जाता है। मनोरंजन को प्रेम समझा तो नशा छा गया, हाथ फैला कर बटोरना चाहता तो हथेलियाँ ठकरा गईं। प्रेम शब्द केवल उसके लिए शब्द था, निर्जीव शब्द, हृद अर्थ! 'किन्तु यह सब अप्रासंगिक है प्रस्तुत लेख का विषय नहीं।

वास्तव में यह कहानी चरित्र प्रधान है और दूसरे ग्रामीण सामाजिकता बहुत उभर कर व्यक्त नहीं हो पाई है। जो कुछ सामने आई भी है, प्रधान पात्र और उससे सम्बन्धित गौण पात्रों के माध्यम से ही। जैसे, दीपू, मिसिर के भौंडे और अभद्र 'चित्रण द्वारा ग्रामीण समाज का एक पहलू सामने आता है। दीपू मिसिर को लंघी लगाने की आदत थी। छोटा हो या बड़ा लड़का हो या जवान यदि कोई आदमी मिसिर से मिलता......'तो वे उसका हाथ पकड़ कर पूछते, का गुइंया मज़े में हो न? और चटाक बगली खींच कर उसके पैर में लंघी मार देते। आदमी होशियार रहा तो तो संभल गया नहीं तो चारों खाने चित। यही दीपू मिसिर का प्रणाम और आशीर्वाद सब कुछ था। गाँवों में एक से एक बढ़ कर ऐसे उजड्ड आपको मिलेंगे।

गाँवों में नाच गाना अथवा कोई सी मनोरंजन या मजमा यदि हुआ तो सारा गाँव शरीक होता है। बूढ़ी औरतें लड़कियाँ, नौकरानियाँ और सभी लोग वहाँ नहीं जा सकती। ग्रामीण सामाजिकता की यह एक मर्यादा है, खास कर ब्राह्मण, ठाकुर आदि ऊँची जातियों के यहाँ। गाँव घर की लड़कियाँ बूढ़ी औरतें विन्द्रा महाराज का नाच देखने इकट्ठी हुईं। विन्दा महाराज जब पैरों में घुंघरू बाँध कर खड़ा हुआ तो लड़कियों की आँखों में गूलर फूलने लगे, बूढ़ी औरतें अपनी हँसी छिपाने के लिए ओठों पर आँचल रखने लगीं......" इस वर्णन में लेखक का सूक्ष्म निरीक्षण सराहनीय है। वास्तव में गाँव के सम्बन्ध में लिखने के लिए ग्रामीण जीवन का प्रामाणिक और सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण एक अनिवार्य आवश्यकता है। वर्ना कल्पना के आधार पर उल-जलूल लिखने वालों की लेखनी ग्रामीण जीवन के प्रति

न्याय नहीं कर सकती । दुःख से कहना पड़ता है कि नई पीढ़ी में आने वाले कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिन्हें ग्रामीण समाज के अन्तरंग पहलू का ज्ञान होना तो दूर की बात है, उन्हें गाँव के बाहरी वातावरण, वहाँ की प्रकृति, तालाब और खेतों, का भी सम्यक् ज्ञान नहीं होता । एक लेखक ने अपनी एक कहानी में गाँव की बावली में कमल उगाया है उसी कहानी में गुड्डे गुड्डी के ब्याह में लेखक ने बच्चों के माँ बाप से दावतें दिलवाईं और बाजे-गाजे से सजी हुई बरात भी निकलवाई है ।

लक्ष्मी भवन,
जवाहरलाल नेहरू रोड,
इलाहाबाद

—हीराप्रसाद त्रिपाठी

तितलियों का व्यापार

कैण्ट में एक व्यक्ति तितलियों को पालता है और उनका व्यापार करता है । उसके ग्राहक समस्त विश्व में हैं ।

लगभग ५० वर्ष हुए एक हौबी के रूप में वर्तमान मालिक के पिता ने एक "फ़ार्म" चलाया था । कुछ समय के पश्चात् उसने उस "फ़ार्म" को बेच दिया और वह तितलियों का व्यापार करने लगा ।

एक बगीचे में वह तितलियों को पालता और बढ़ाता है । उनकी उत्पत्ति अण्डों से होती है । उन्हें पहले-पहल छोटे छोटे बूटों पर पाला जाता है । उनके चारों ओर या तो पतली जाली रहती है और या फिर बारीक मलमल की थैलियाँ । धीरे धीरे तितलियाँ पूर्ण आकार में बँट जाती हैं । कुछ बड़ी तितलियाँ मनुष्य के हाथ जितनी बड़ी होती हैं ।

तितलियों के आर्डर, परीक्षण शालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, संग्रहालयों, कृषिकारों, हॉबीवालों और जायदादों के मालिकों के पास से आते रहते हैं ।

अभी पिछले दिनों न्यूजीलैण्ड से तितलियों के लिए आर्डर प्राप्त हुआ है । यह आर्डर बड़े आर्डरों में से एक है ।

—"होम लौकिक" से

'पद्मावत' में षट् ऋतु और बारह मास‡

शृंगार रस के उद्दीपन के लिए विभिन्न प्राकृतिक चित्रों और घटनाओं को काव्य-निबद्ध कर लेना हमारे साहित्य की एक चिराचरित प्रथा है। इसकी परम्परा का विकास अभिजात-साहित्य और लोक-साहित्य दोनों ही में हुआ है। षट्-ऋतु वर्णन की प्रणाली अभिजात-साहित्य की है और बारहमास वर्णन की पद्धति लोक-साहित्य (Folk Literature) से गुज़रती हुई इस साहित्य तक आ पहुँची है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' में इन दोनों ही परम्पराओं का समावेश किया है। यदि उन्होंने संयोग-वियोग वर्णन के लिए व्यवहृत संस्कृत और परवर्त्ती साहित्य की षट्-ऋतु वर्णनवाली पद्धति ग्रहण की है, तो लोक गीतों की बारह मास गानवाली शैली को भी छोड़ देने की भूल नहीं की है।

षट्-ऋतु वर्णन की परम्परा अभिजात-साहित्य की अपनी वस्तु है। इसका प्रारम्भ आदि कवि वाल्मीकि की 'रामायण' से ही होता है। आगे चल कर कालिदास के 'ऋतु संहार' में ऋतु वर्णन की यह परम्परा विशद और भव्य रूप धारण कर लेती है। महाकवि ने अपनी इस आरंभिक कृति में केवल ऊपरी ढंग से प्रकृति-चित्रण मात्र नहीं किया है, वरन् अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा प्रकृति के विभिन्न रूपों से तादात्म्य स्थापित करने की पूरी-पूरी कोशिश की है और छः ऋतुओं[1] में घटित होनेवाली प्रेम की मानसिक स्थितियों का सुन्दर निरूपण भी किया है।[2] अपभ्रंश के कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) ने अपने 'संदेशरासक' नामक ग्रन्थ में ऋतु वर्णन की इस काव्य-रूढ़ि का पालन किया है। हिन्दी के प्रथम यशस्वी कवि चन्दबलद्दिय (बरदायी) ने भी 'पृथ्वीराज रासो' के ६१ वें समय में प्रत्येक ऋतु का अलग-अलग वर्णन किया है। रासोकार का यह प्रकृति वर्णन अत्यन्त सरस और चित्ताकर्षक है।[3] साहित्यिकता की दृष्टि से भी इसका अपना महत्व है।

जायसी ने—परम्परा पालन की दृष्टि से ही सही षट्-ऋतुओं का वर्णन किया है। 'पद्मावत' में षट्-ऋतु वर्णन नाम का एक पूरा खण्ड ही आया है।[4] विवाह के पश्चात् रत्नसेन और पद्मावती एक दूसरे से मिलते हैं, चिरवियोग का काल समाप्त होता है और स्नेह मिलन के क्षण अनन्त हो उठते हैं। जायसी को इसी अवसर पर मौक़ा मिलता है और वे छओं ऋतुओं का विस्तृत वर्णन कर बैठते हैं। बेला संयोग की है, इसलिए वे परम्परानुसार प्रकृति को संभोग-शृंगार की पूर्व-पीठिका के रूप में अवतरित करते हैं। उदाहरण-स्वरूप पा कर ऋतु में एक ओर तो बादल गरजते हैं दूसरी ओर पद्मावती चौंक कर प्रीतम के गले से लिपट जाती है:

> रंगराती पीतम संग जागी।
> गरजे गगन चौंकि गर लागी॥"[5]

ऊपर कहा जा चुका है कि लोक-गीतों में इस प्रकार के षट्-ऋतु वर्णन की कोई परम्परा नहीं मिलती। लेकिन विभिन्न महीनों की प्रकृति का चित्रण 'बारह-मासा' और 'चौमासा' नामक लोकगीति-शैलियों में थोड़ी बहुत मात्रा में उपलब्ध होती है। जायसी ने अपने षट्-ऋतु वर्णन में जो चित्र दिए हैं उनकी मूल चेतना लौकिक-गीति-चित्रों से तुलनीय है। इनमें लोकजीवन के चित्रों और लोक-भावनाओं का समावेश हुआ है और इनका मूल आधार सामान्य लौकिक भावभूमि ही जान पड़ती है। उदाहरण के लिए वसन्त-वर्णन के कतिपय

---

‡ लेखक के शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले—'पद्मावत में लोक उपादान'—नामक प्रबन्ध से। [1] प्रत्येक ऋतु की अवधि दो महीने मानी गई है। कालक्रमानुसार इन ऋतुओं के नाम उल्लिखित हैं: वसन्त (चैत, बैसाख); ग्रीष्म (जेठ, असाढ़); वर्षा (सावन-भादो); शरद् (कवार, कार्तिक); हेमन्त (अगहन-पूस); शिशिर (माघ, फागुन)। [2] A. B. Keith, History of Sans. Literature, p 84. [3] नामवरसिंह संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृ० १७३-७५। [4] ना० प्र० स० काशी, जायसी ग्रन्थावली, पृ० [illegible] (पद्मावत)।

१९५६

चित्र लिए जा सकते हैं :

"प्रथम बसन्त नवल ऋतु आई
सुरितु चैत बैसाख सुहाई
चन्दन चीर पहिरि धरि अंगा
सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि भंगा
× × ×
होई फाग भलि चाँचर जोरी
बिरह जराइ दीन्ह जस होरी
जिन्ह घर कान्ता, रितु भली, आव बसंत जो नित
सुख भरि आवैं देव हरैं, दुःख न जानैं कित ॥"[1]

इस उद्धरण में भर माँग का सेन्दूर, फाग की लोक-रागिनी के साथ नाचा जाने वाला चर्चरी-नृत्य, होलिकादहन और देवालय में बसन्त पूजन आदि के उल्लेख, लोक-जीवन की प्रचलित बातें हैं। इन्हीं सब के माध्यम से कवि ने अपने वर्णनों को स्वच्छन्द रूप से चित्रित किया है। यहाँ परवर्ती रीतिकालीन कवियों जैसी अलंकारों की ठूँस-ठाँस अथवा उक्तिचातुर्य की कलाबाजियों का प्रदर्शन नहीं किया गया है। जायसी के इस वसन्त वर्णन को :

"बनन में बागन,
बगरो बसन्त हैं"[2]

अथवा—

"कंत बिन वासर बसंत लागे अन्तक से
तीर ऐसे त्रिविध समीर लागे दहकन।"[3]

जैसे बसन्त वर्णनों की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। यहाँ उक्ति का जो सारल्य है, लोक की विविध वस्तुओं का सहज रूप से जो उल्लेख है, उनके आधार पर हम उसे लोकगीतों के स्वाभाविक वातावरण में पाते हैं। इसी प्रकार पद्मावतकार द्वारा किया गया अन्य ऋतुओं का वर्णन भी सहज भावभूमि पर ही आधारित जान पड़ता है।

बारहमासा-वर्णन की परम्परा लोक गीतों की है। यह काव्य रूप संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता और हिन्दी साहित्य में इसे सम्भवतः लोक-साहित्य से ही उधार लिया गया है। लोक-जीवन में श्रावण के महीने में अनेक बारहमासी-गान गाए जाते हैं। यहाँ एक लोक-प्रचलित बारह मासे की कुछ पंक्तियाँ उल्लिखित हैं :

"लागे असाढ़ झमाझम बरसन,
अब सुधि आय कई बलम परदेसिया की
सावन में सखी डारैं हिंडोरा,
मोहिं सुधि आय गई धानी चुनरिया की
भादवँ मास रयन अँधियारी
बिन पियवा हो कहँ नाहीं रतियाँ
आए न स्याम, लिखीं नाहीं पतियाँ"[4]

इसी प्रकार के बारह मासी लोकगीत[5] हिन्दी साहित्य के बारहमासा-वर्णनों के मूल स्रोत हैं। यह शैली वस्तुतः लोक-गीत-शैली ही है। डॉ० रघुवंश के शब्दों में "बारह मासों की परम्परा का मूल जन-गीतियों की उन्मुक्त भावना में है। इन गीतियों की भावधारा में वियोगिनी की व्यथा के साथ साथ परिवर्तित होते काल का रूप और उसकी वियोग की प्रतीक्षा मिल कर आई है। प्रत्येक मास की प्रमुख रूपरेखा के आधार पर वह अपने प्रिय को याद कर लेती है और उसके लिए विकल हो उठती है।"[6] हमारे साहित्य में उसके आदि-काल से ही बारहमासा-वर्णन मिलने लगते हैं। नरपति-नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' में वियोगिनी राजमती के बारह मासे का सुन्दर वर्णन किया गया है। मैथिलकोकिल विद्यापति ने भी इस लोक-काव्य-शैली को ग्रहण किया है। कबीरदास के नाम से भी एक 'बारहमासी' नामक पुस्तक का उल्लेख मिलता है।[7] ५० पद्यों में लिखित यह पुस्तिका ज्ञान की बारह मासी है और इसी लोक-शैली में लिखित जान पड़ती है।

जायसी ने अपना बारहमासा-वर्णन वियोगिनी नागमती के विरहोद्दीपन की दृष्टि से किया है। किसी

---

[1] वही पद्मावत २६-५। [2] पद्माकर कवि। [3] कविवर देव। [4] लेखक द्वारा संकलित। [5] हिन्दी के कुछ प्राचीन बारहमासों के लिए देखिए—राहुल जी की पुस्तक 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें' पृ० ११५ से १२१ तक। [6] डॉ० रघुवंश, प्रकृति और हिन्दी काव्य (मध्य युग) पृ० ४०६। [7] डॉ० रामकुमार वर्मा, हि० सा० का आ० इति० पृ० २५५

विरहिणी की वेदना का जैसा मर्मस्पर्शी, सरल और स्वाभाविक चित्र हमें यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी साहित्य के विप्रलम्भ काव्यों में जायसी कृत नागमती के इस बारह मासे का स्थान बहुत ऊँचा है। वैसा तो और भी अनेक कवियों ने बारहमासा वर्णन किया है लेकिन उनकी उक्तियाँ अधिकांशतः कतिपय रूढ़ि चित्रों अथवा परम्परा प्रथित उपनामों की बैसाखी के आधार पर ही खड़ी हो सकी हैं। जायसी के बारहमासे की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी ताज़गी। नई-नई मौलिक उक्तियाँ एवं नवीन उपनामों के माध्यम से व्यक्त हुए अनेक चित्र इस बारहमासे को विम्प्रलम्भ शृंगार के परवर्ती वर्णनों से अलग एक नूतन कोटि में स्थान देते हैं। कवि की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य है चित्तौड़ की राजरानी को 'लोक' की सामान्य नारी के रूप में अवतरित करना। नागमती चित्तौड़ की पटरानी और महादेवी है, किन्तु आषाढ़ लगते ही वह एक सामान्य कृषक बाला के हृदय से सोचती है—पुष्पा नक्षत्र तो लग गया, किन्तु मेरा प्रिय परदेस है, मेरी टूटी-फूटी मड़ैया को कौन छाएगा ?

"पुष्प नखत सिर ऊपर आवा
हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा"[1]

इन पंक्तियों के साथ ही साथ लोक-साहित्य से परिचित अध्येता के मन में एक चौमासा-गान की निम्न लिखित पंक्तियाँ भी गूँज उठती है :

"चार महीना कै बरखा परतु हैं
हे सुनउ हो सजनी !
हमरे सइयाँ बिनु बँगलवा
के छवइ हैं सजनी ! !"[2]

इसी प्रकार नागमती सावन मास में अपने विरह झकझोरित हृदय की तुलना हिंडोले से करती है, भादों में उसके नैन ओरी की तरह टपकते हैं, क्वार में चित्रा नखत लगते ही उसका हृदय पपीहे की तरह 'पी-पी' रटने लगता है और कातिक में वह 'झूमक' गाने को तरस कर रह जाती है। इसी तरह प्रत्येक मास के वर्णन में जायसी ने लोक-प्रचलित तथ्यों को अंकित किया है।

इस प्रकार सामान्य जन-जीवन की भावनाओं को लेकर पद्मावतकार ने अपने बारहमासे को जो अंतिम रूप दिया है—वह लोककण्ठ में अनुगुंजित बारहमासी गीतों से बहुत दूर की वस्तु नहीं जान पड़ता। इस दृष्टि से कतिपय अंश तुलनीय हैं :

"सावन बरस मेह अति पानी
भरनि परी हौं विरह झुरानी
× × ×
सखिन रचा पिउ संग हिंडोला
हरियरि भूमि, कुसुंभी चोला
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा
विरह झुलाई देइ झकझोरा"[3]

इसी प्रकार की स्वाभाविक उक्तियाँ एक लोक-प्रचलित बारहमासा-गान के सावन वर्णन से उद्धृत की जा रही है :

"सखि मैं ना जाऊँ झूलण कूँ......
उस लसकरिया से कहियो जाय...
सावण मास लगा जब आय
घर-घर झूला बठावैं लोग
घर घर हिंडोले गड़ावैं लोग
......आलि हमें दुख होय
सखि मैं ना जाऊँ झूलण कूँ"[4]

सावन का महीना लगते ही गाँवों में हिंडोले पड़ जाते हैं। गाँव की स्त्रियाँ इन पर झूलती हैं और कजली गाती हैं। ऐसे अवसर पर संयोगियों के हर्ष की सीमा नहीं रहती, किन्तु वियोगियों को उनके प्रिय की स्मृति आकुल किए रहती है। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में लोक जीवन के इसी पक्ष की अभिव्यक्ति हुई है।

इसी प्रकार जायसी के पूस मास और लोक-गीतों के पूस-मास के वर्णन में एक जैसी लोक-भावना की अभिव्यक्ति हुई है—

---

[1] ना० प्र० स० काशी, जायसी ग्रन्थावली, पद्मावत, ३०-४-६ । [2] संकलित (लेखक द्वारा) । [3] जायसी ग्रन्थावली पद्मावत, ३०-५-१—५ । [4] राहुल सांकृत्यायन 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें' पृ० ११५ ।

"पूस मास थर थर तन काँपा ।"
"कन्त कहाँ लोगों ओहि हियरे ।"
"सौंर सपेती आवै जूड़ी ।"

इन उक्तियों में न तो कवि-कल्पना का कोई चमत्कार है और न विरहकालीन प्रकृति वर्णन का एक रूप। जिस ढंग से एक अपढ़ और सरल हृदय सोच सकता है, कुछ वैसी ही भावनाओं का छन्द बद्ध रूप हमें यहाँ प्राप्त होता है—

"सखि मैं ना जाऊँ झूलन कूँ
इस लसकरिया से कहियो जाय

....

पूस मास लगा जब आय,
काँपै पलंग तुरैया सेज
पिया बिन काँपै गोरी का सरीर
सखि मैं ना जाऊँ झूलण कूँ"[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पद्मावत' के षट्-ऋतु और बारहमास-वर्णनों में 'लोक' की उन्हीं सहज और प्रचलित भावनाओं का समावेश हुआ है जो लोक-गीतों की अपनी वस्तु हैं। बारह मासा एक अत्यन्त प्रचलित लौकिक-काव्य-रूप है और इस दृष्टि से भी जायसी का प्रकृति-वर्णन लोकोन्मुख ही ठहरता है। यहीं इस बात का भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि षड्-ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह निवेदन करना भारतीय साहित्य की एक प्रचलित कथानक-रूढ़ि है।[2] अपने कथानकों को विकास देने की दृष्टि से अनेक कवियों ने इस प्रचलित काव्य-रूढ़ि का अवलम्बन लिया है।

—रवीन्द्र भ्रमर

हिन्दी-रिसर्च-फ़ेलो
काशी विश्वविद्यालय, काशी

जीने का संकल्प

जापान में एक प्रीति-सम्मेलन में मैंने एक पत्रकार से पूछा : "हिरोशिया पर जब बम गिरा था, तब उसकी आप लोगों पर क्या प्रतिक्रिया हुई ?"

उसने बड़ी गम्भीरता और दृढ़ता के साथ उत्तर दिया : "जापानियों ने कभी आत्म-विश्वास नहीं खोया। न जाने कितनी बार प्रकृति के कोप ने भूचाल के रूप में हमारे देश को अपार क्षति पहुँचाई है; ज्वालामुखियों के रूप में हमारे साहस की परीक्षा ली है; किन्तु जापान का जीने का संकल्प सदैव दृढ़ रहा। जीवन के हर रूप का हम नये विश्वास और नई आशा से स्वागत करते हैं।"

'नवनीत' से

—सदानन्द भारती

---

[1] वही, पृ० ११५। [2] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५४.

भारत का नया नक़्शा

पौने तीन वर्ष की मेहनत के बाद हमारे देश का जो नया नक़्शा तैयार किया गया है इसका महत्व दूसरी पंचवर्षीय योजना की पृष्ठभूमि में वैसे ही आँका जाना चाहिए जैसे कि लौह पुरुष सरदार पटेल द्वारा तैयार किए पहले नक़्शे का महत्व देशी राज्यों के विलीनीकरण की दृष्टि से आँका गया था। उसको रक्तहीन क्रान्ति कहा गया था जिसका उदाहरण सारे विश्व के इतिहास में कहीं और नहीं मिलता। पुरानी व्यवस्था के विरुद्ध अनेक देशों में बड़ी से बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं, सामन्तशाही का अन्त करके जनता के हाथों में शासन सूत्र अनेक देशों में सौंपे गए और बादशाह फ़ारूक को गद्दी से उतारे जाने सरीखी घटनाएँ भी बहुत घटी हैं, किन्तु सम्राट् अशोक और सम्राट् अकबर के बाद एक बार फिर जैसे सारे भारत को एक सूत्र में पिरोया गया वैसी ऐतिहासिक घटना कहीं और नहीं घटी।

भारतीय मामलों, विशेषतः देशी राज्यों के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार के विशेषज्ञ वा सलाहकार प्रोफ़ेसर कूपलैण्ड ने यह प्रश्न ठीक ही उठाया था कि "भारत अपने उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम में मुसलमानों को अलग से स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में बसा कर तो जीवित रह सकता है। पर, क्या वह अपने हृदयस्थान के बिना भी जीवित रह सकेगा?" प्रोफ़ेसर कूपलैण्ड ने अपने इस प्रश्न में उन कूटनीतिज्ञ अंगरेज़ों की कूट चालों की ओर स्पष्ट संकेत किया था, जो यहाँ से जाते हुए भी भारत में स्थायी गृह-कलह उत्पन्न करने की सारी सामग्री जुटा गए थे। देश का विभाजन करके पाकिस्तान का निर्माण और ५६२ अथवा ६०० देशी राज्यों को उनकी सार्वभौम सत्ता का सौंपा जाना ऐसी कुटिल चालें थीं, जिनके परिणामों पर उनकी दृष्टि से भारतीय राजनीतिज्ञ काबू नहीं पा सकते थे। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ ही क्यों, पश्चिम के प्रायः सभी राजनीतिज्ञ फूट डाल कर शासन करने और विभाजन करके किसी भी देश को पंगु बनाने की कला में अति प्रवीण हैं। वे जहाँ भी कहीं गए वहाँ उन्होंने इसी नीति से काम लिया। आयर को जिस प्रकार दो टुकड़ों में बाँटा गया उसी प्रकार कोरिया, जर्मनी, पैलेस्टाइन, मलाया-सिंगापुर, चीन और मिश्र तक को भी विभाजन करने में कुछ उठा नहीं रखा गया। चीन से फ़ारमोसा को अलग रख कर दो सामानन्तर राष्ट्र बना दिए गए। मिश्र से जब उनके पैर उखड़ रहे थे तब सुडान को उससे अलग करने की परिस्थितियाँ पैदा कर दी गईं। डचों को जब हिन्द-एशिया छोड़ने को बाध्य होना पड़ गया तब उससे डच बोर्नियो को अलग कर दिया गया। फ्रान्स को जब हिन्द-चीन से हाथ धोने को बाध्य होना पड़ा तब वहाँ तीन चार राष्ट्र पैदा कर दिए गए। भारत में भी इस नीति पर सुव्यवस्थित रूप से आचरण किया गया। बर्मा, श्रीलंका और अदन उससे इसी प्रकार अलग किए गए।

भारत में भी विभाजन की इसी दुर्नीति से काम लिया गया। १८५७ की राज्य-क्रान्ति के विफल हो जाने के बाद जब भारत के शासन के सूत्र कम्पनी से महारानी विक्टोरिया के नाम पर पार्लियामेण्ट ने अपने हाथों में लिए तब केन्द्र में सुदृढ़ शासन क़ायम करने की नीति अपनाई गई परन्तु अनुभवी अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने उसके विरुद्ध ख़तरे की घण्टी बजा कर सावधान किया। उनका कहना यह था कि केन्द्र को सुदृढ़ बनाने का अर्थ यह होगा कि भारतीयों के हृदय में अपने देश के प्रति एक राष्ट्र की भावना का संचार हो कर १८५७ सरीखी देश व्यापी विद्रोह की आग फिर सुलग उठेगी और उसको बुझाना कठिन हो जाएगा। इसलिए उनका सुझाव यह था कि प्रान्तीय शासन को सुदृढ़ बना कर प्रान्तीय भावना को जगाया जाना चाहिए। इससे भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सिर ऊँचा करनेवाले नेताओं और आन्दोलनों का दमन कर सकना कठिन न होगा। ऐसा ही किया गया और प्रति दस वर्ष बाद दिए जाने वाले शासन सुधारों की योजनाओं में प्रान्तीय भावना को निरन्तर सुदृढ़ किया जाता रहा। अन्त में माण्टफ़ोर्ड योजना में प्रान्तीय स्वायत्त शासन के विष को इस बुरी तरह घोला गया कि पुराने देशभक्त भी गांधी जी के असहयोग एवं सत्याग्रह के विरुद्ध उस पर ललचा गए और उन्होंने मन्त्री-पद तक स्वीकार कर लिए। १९३६

में इसी लालच में फँस कर कुछ लोगों ने कांग्रेस के अनुशासन तक की अवज्ञा कर दी। इस प्रान्तीय किंवा प्रादेशिक संकीर्णता एवं अनुदारता को प्रश्रय देने के लिए ही बंगाल, बिहार को अलग अलग किया गया और सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर के अलग प्रान्त बनाए गए। भाषा, संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं जातीयता के आवेश को इस खूबी के साथ अपनाया गया है कि अंग्रेज़ों के यहाँ से चले जाने के बाद भी उसका दुष्परिणाम हमको जिस रूप में भोगना पड़ा है उसका नग्न चित्र पिछले दिनों में उपस्थित हो चुका है। राजाओं ने भी अपने राज्यों का परित्याग करते हुए ऐसे लज्जास्पद दृश्य उपस्थित नहीं होने दिए थे।

इस संकीर्ण प्रान्तीय भावना को जिन कारणों से प्रश्रय दिया गया था, उन्हीं से प्रेरित होकर लार्ड डलहौज़ी की देशी राज्यों का अन्त करने की नीति से हाथ खींच कर उनको अधिक से अधिक संख्या में बनाए रखने की दुर्नीति अपनाई गई। १९२६ में नियुक्त की गई बटलर कमेटी ने एक बार फिर इस बात पर ज़ोर दिया कि अंग्रेज़ी राज्य का हित इसी में है कि देशी राज्यों के पृथक् अस्तित्व को दृढ़ता के साथ निरन्तर बनाए रखा जाए। उसका यदि वश चलता तो अनेक जागीरों को भी स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति दी जाकर उनका भी पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता। जिन देशी राज्यों की संख्या उसकी रिपोर्ट में ५६२ बताई गई है वह कई हज़ार तक पहुँच जाती। उसके बाद साइमन कमीशन, संयुक्त पार्लियामेण्टरी कमेटी, १९३५ की संघ-शासन योजना, गोलमेज़ परिषदों, शिमला सम्मेलन, क्रिप्प योजना, मन्त्री-मण्डल मिशन और १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता विधान तक में उनकी पृथक् सत्ता निरन्तर स्वीकार ही नहीं की गई किन्तु उनको पूरी तरह संरक्षण भी दिया गया। संयुक्त पार्लियामेण्टरी कमेटी ने बटलर कमिटी के विरुद्ध उनकी संख्या ६०० स्वीकार की थी। वास्तविकता यह है कि अंग्रेज़ स्वयं भी यह न जानते थे कि उनकी ठीक ठीक संख्या और ठीक ठीक स्थिति क्या है? न तो वे ऐसे किसी शब्द का आविष्कार कर सके जिसका प्रयोग उन सबके लिए किया जा सकता और न वे ऐसी कोई व्याख्या ही कर सके जो उन सब पर लागू हो सकती। १९३५ के शासन विधान की संघ-शासन योजना में पहली बार उनको भारतीय संघ में सम्मिलित करने का हलका सा प्रयत्न किया गया था; परन्तु तब भी उनके पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आने दी गई थी। उस विधान में उनकी जो व्याख्या की गई थी उसमें उनके लिए स्टेट, एस्टेट जागीर तथा अन्य क्षेत्र आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए यह लिखा गया था कि कोई भी ऐसा प्रदेश, सीमा या क्षेत्र चाहे उसको कुछ नाम क्यों न दिया जाता हो, जो किसी राजा की आधीनता में हो, जिसकी सार्वभौम सत्ता इंग्लैण्ड के बादशाह में निहित होगी और जो अंग्रेज़ी भारत का हिस्सा न होगा देशी राज्य कहा जाएगा। एक ओर ८४ हज़ार से भी अधिक वर्ग मील का काश्मीर और ८२ हज़ार से भी अधिक वर्ग मील का हैदराबाद था तो दूसरी ओर २०२ ऐसे भी देशी राज्य थे जिनका क्षेत्रफल १० वर्ग मील से भी कम था। नरेन्द्र मण्डल के सदस्य होने के अधिकारी केवल १८८ राज्य समझे गए थे और १२० मिल कर उसके लिए १२ प्रतिनिधि चुन सकते थे। शेष की स्थिति इतनी नगण्य समझी गई थी कि उनको उसकी सदस्यता अथवा प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया गया था। उन राज्यों की संख्या तो केवल ४० थी जिनके साथ अंग्रेज़ों की कई संधियाँ हुई थीं। फिर भी यहाँ से जाते हुए उन सबकी सार्वभौम सत्ता उनके हाथों में इस रूप में सौंप दी गई थी कि वे यदि चाहते तो सर्वथा स्वतन्त्र रह सकते थे और पृथक् पृथक् आपस में मिल कर अनेक संघों का भी निर्माण कर सकते थे। जिस वृत्ति का प्रदर्शन निज़ाम हैदराबाद में किया गया था और भोपाल के नवाब, इंदौर के महाराज तथा ट्रावनकोर के दीवान आदि भी जिसके कुछ अंशों में शिकार हो चुके थे यह सब के दिल और दिमाग़ में भर दी गई थी। आश्चर्य नहीं कि भारत में भी बर्मा की-सी गृह युद्ध की सी रक्तरंजित भयानक स्थिति पैदा हो गई होती। भारत की एकता, अखण्डता एवं राष्ट्रीयता को तहस-नहस कर देने वाली इस सम्भावित परिस्थिति के प्रकाश में लौहपुरुष सरदार पटेल द्वारा तैयार किए गए भारत के पहले नक़्शे का महत्व आँका जाना चाहिए। निःसंदेह सरदार ने भारत के हृदय को सुरक्षित रख कर दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन से हुई हानि की भरपाई कर ली थी।

यह नया नक़्शा उसी दिशा में किया गया एक और सराहनीय प्रयत्न है। इसका श्रेय निस्संदेह सरदार के उत्तराधिकारी श्री गोविन्द वल्लभ पन्त को है

जिन्होंने असीम धैर्य, अटूट संयम तथा अपार सहिष्णुता से काम लेते हुए इसका निर्माण किया है। हमारे लोकप्रिय प्रधान मन्त्री श्री नेहरु की दृढ़ता की भी अवश्य ही सराहना करनी चाहिए, जिन्होंने इतने भयानक विवाद, वितंडा, रोष, असंतोष, विरोध तथा बवंडर में भी अविचल बने रह कर उन सब बातों को अनसुना कर दिया जिन में आगामी आम चुनावों और दूसरी पंचवर्षीय योजना आदि का बहाना उपस्थित करते हुए इस सारी ही योजना को स्थगित रखने की अपीलें की गई थीं। पौने तीन वर्षों में जो अप्रिय काण्ड हुए उनके सम्बन्ध में कांग्रेस के अध्यक्ष श्री ढेबर ने यह बिलकुल ठीक कहा है कि उनसे कांग्रेसियों में परस्पर जो ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं वैमनस्य पैदा हुआ उससे उसकी एकता अस्त-व्यस्त हो गई थी। प्रसव वेदना की तरह इन सब काण्डों की पीड़ा सहन की गई अब तो "अन्त भला सो भला" और "बीती ताहि बिसारि दे" की नीति से काम लेते हुए इस नए नक़्शे के अनुसार अपने राष्ट्र की एकता, संगठन एवं राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाने में हम सबको लग जाना चाहिए। अभी इस दिशा में निकट भविष्य में ही एक और क़दम उठाना आवश्यक हो सकता है; किन्तु जो कुछ इस दूसरे नक़्शे के निर्माण करने के लिए किया गया है उसका भी कुछ कम महत्व नहीं है। क्या ही अच्छा होता यदि बंगाल बिहार के एकीकरण का प्रयत्न भी सफल हो गया होता और सारा दक्षिण प्रदेश भी एक ही राज्य के सूत्र में पिरो दिया जाता। बम्बई के निर्माण के बाद दक्षिण का विभिन्न तीन राज्यों में बंटा रहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता।

सब से बड़ा जो काम इस दूसरे नक्शे के निर्माण द्वारा किया गया है वह यह है कि हमने अपनी नागरिकता और राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाकर उनके लिए विघातक तत्त्वों को मानने से इन्कार कर दिया। अंग्रेज़ों द्वारा पैदा की गई प्रान्तीयता के गर्भ में से कुछ ऐसे तत्व प्रगट हो चुके थे जिन से प्रेरित होकर विविध स्वतन्त्र राज्यों की माँग बड़े ज़ोर शोर से की जा रही थी। "महा" शब्द ने जो विष हमारे दिमाग़ में भर दिया था उसका कैसा भीषण दुष्परिणाम हम को भोगना पड़ गया। एक ओर पंजाबी सूबे की माँग थी तो दूसरी ओर महापंजाब का नारा था। एक ओर बम्बई नगर को महाराष्ट्र के लोगों ने पानीपत का युद्धक्षेत्र बना दिया था तो दूसरी ओर महागुजरात की आवाज़ें कसी जा रही थीं। महाविदर्भ की तूती भी सुनने में आ रही थी। कर्नाटक, झारखण्ड, तेलंगाना व द्राविडस्तान आदि के पृथक् राज्यों के दावे भी पेश किए जा रहे थे। पंजाब में हरियाना और उत्तर प्रदेश में आगरा के पृथक् राज्य बनाने के लिए भी दुराग्रह किया जा रहा था। नागा क्षेत्र की स्वतन्त्रता के लिए अब भी भीषण संघर्ष किया जा रहा है। यह सब हमारी राष्ट्रीयता के सर्वथा विपरीत था और नागरिकता की उस बन्धुभावना को नष्ट करने वाला था जिसके रंगों में अपने देश की समस्त जनता को रंगने का हमने अपने संविधान में उल्लेख किया है। धर्म, भाषा, संस्कृति, साहित्य, पुराना इतिहास, जन्मगत जाति-सम्प्रदाय एवं संकीर्ण प्रादेशिकता के भावावेश में बह जाने वाले लोग उस नए इतिहास का निर्माण नहीं कर सकते जिसमें हम इस समय लगे हुए हैं। इन सब तत्वों के सामने सिर झुकाने से स्पष्ट इन्कार करके सराहनीय साहस का परिचय दिया गया है और विरोधी इन तत्वों को निश्चित रूप से एक घातक चोट दी गई।

विभिन्न राज्यों में विद्यमान अस्वाभाविक अन्तर तथा भेद को अधिक से अधिक दूर करने का यथासंभव प्रशस्त प्रयत्न किया गया है। क, ख, ग श्रेणियों का विभाजन और उनके लिए राज्यपाल, उपराज्यपाल, राजप्रमुख तथा मुख्य आयुक्त आदि की व्यवस्था केवल अन्तरिम काल के लिए की गई थी; किन्तु उनका संविधान में उल्लेख किए जाने से कुछ ऐसी भावना पैदा हो गई थी जैसे कि वे पत्थर की लकीर हों। हिमाचल, भोपाल, अजमेर और विन्ध्य, मध्य भारत तथा ऐसे ही अन्य राज्यों के पृथक् अस्तितव को बनाए रखने का आन्दोलन क्या अर्थ रखता था? देशी राज्यों के अस्तित्व के मिट जाने पर भी जैसे जागीरदार अपनी जागीरों को सुरक्षित रखने के लिए छटपटा रहे थे, ठीक वैसी ही मनोवृत्ति का प्रदर्शन इन राज्यों के अस्तित्व के लिए किया जा रहा था। जो इकाइयाँ आर्थिक दृष्टि से दुर्बल तथा प्रशासकीय एवं राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर थीं, उनको बनाए रखने का आग्रह करना कितनी बड़ी मूर्खता थी।

कभी छोटे राज्यों के निर्माण को शासन की

सुविधा की दृष्टि से महत्व दिया जाता था और राज्य पुनर्निर्माण आयोग ने भी विदर्भ एवं हैदराबाद और तेलंगाना सरीखे छोटे राज्यों के निर्माण की सर्वथा अवहेलना नहीं की थी; किन्तु इस नए नक़्शे में बड़े राज्यों के निर्माण का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और उसको लागू करने का प्रयत्न भी किया गया है। श्री नेहरू ने क्षेत्रीय परामर्शदात्री समितियों के गठन करने के सुझाव का सर्वसम्मति से स्वागत किया जाना भविष्य में बड़े राज्यों के निर्माण की स्पष्ट सूचना है। बात यह है कि अनेक बहु उद्देशीय विकास योजनाएँ, विशेषतः जल, विद्युत और रासायनिक खाद पैदा करने वाली छोटी योजनाओं को सफलतापूर्वक पूरा करके उनसे समुचित लाभ नहीं उठाया जा सकता। खनिज पदार्थों के समुचित विकास के लिए भी छोटे राज्य अनुकूल नहीं हैं। इतने संघर्ष के बाद भी अन्तिम क्षणों में बम्बई का बहुभाषी राज्य के रूप में गठित किया जाना उल्लेखनीय है। यह स्पष्ट है कि विवेक से काम लेने में यथासम्भव कोई भूल नहीं की गई।

भाषा और संस्कृति आदि के सम्बन्ध में कुछ भावनाओं और विकास सम्बन्धी कुछ आवश्यकताओं का आदर करना आवश्यक समझा गया। उनके लिए ही पंजाब में क्षेत्रीय योजना, बम्बई में प्रादेशिक विकास बोर्ड और आन्ध्र में तेलंगाना अथवा आन्ध्र के बीच पंचसाला संधि करनी आवश्यक समझी गई। सभी राज्यों में अल्प संख्यकों को अपनी भाषा, शिक्षा तथा नौकरियों आदि के सम्बन्ध में उचित संरक्षण दिया गया है। राजनीति और शासन आदि की सुविधा के सम्मुख भारतीय संघ की सर्वोच्च स्थिति को यत्किंचित् सी आँच नहीं आने दी गई।

वर्तमान २७ राज्यों के स्थान में राज्य पुनर्निर्माण आयोग ने १६ राज्य और तीन केन्द्रशासित क्षेत्र रखने की सिफ़ारिश की थी परन्तु इस नए नक्शे में केवल १४ राज्य और ६ केन्द्र शासित प्रदेश रखे गए हैं। निश्चय ही यह आशा का लक्षण है। जम्मू और काश्मीर की गणना इन राज्यों में की जानी उल्लेखनीय है। हैदराबाद का पृथक् राज्य के रूप में अस्त कर दिया गया है और आन्ध्र की राजधानी के रूप में हैदराबाद नगर के महत्व में दो चाँद और लग जाएँगे। नए नक़्शे में नए राज्यों की स्थिति निम्नलिखित होगी—

	राज्य	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जन संख्या (वर्गमील लाख)
१	आन्ध्र	११०,२५०	३२.२
२	आसाम	३४,९२४	९.०
३	बिहार	६७,८३०	३८९.३
४	बम्बई	१८८,२४०	४७.८
५	जम्मू-काश्मीर	९२,७८०	४.४
६	केरल	१३,९८०	१३.६
७	मध्यप्रदेश	१७१,२००	
८	मद्रास	५०,१७०	३०.०
९	मैसूर	७२,७३०	१९.०
१०	उड़ीसा	६०.१४०	१४.६
११	पंजाब	४९,६१६	१६.०
१२	राजस्थान	१३२,३००	१६.०
१३	उत्तर प्रदेश	११३,४१०	६३.२
१४	पश्चिम बंगाल	३३,२७९	१६१.६

इनके अलावा केन्द्र शासित ६ क्षेत्र अन्दमान अथवा नीकोबार द्वीप, दिल्ली, हिमांचल प्रदेश, लक्ष अथवा अमीन द्वीप मणिपुर और त्रिपुरा होंगे।

यह है हमारा नया नक्शा। नवम्बर से सक्रिय रूप धारण कर लेगा; किन्तु हृदयों की एकता के बिना उसको प्राणवान् नहीं बनाया जा सकता। यदि कहीं मध्य भारत में इन्दौर और ग्वालियर की, विन्ध्य में बुंदेलखण्ड और बघेलखंड की तथा राजस्थान में पुराने देशी राज्यों की संकीर्णताओं में ही हम उलझे रहे तो इस नए नक़्शे के निर्माण की भावना पूरी नहीं हो सकेगी। पंजाब में सिख अथवा हिन्दु मुसलिम एक न हो सके और बम्बई में महाराष्ट्रीय और गुजराती दो तन एक मन न बन सके तो हमारा यह प्रयत्न वैसा साकार और सार्थक न हो सकेगा जैसा कि होना चाहिए। अपने संविधान में नागरिकता एवं राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में जिन ऊँचे आदर्शों एवं सिद्धान्तों का हमने प्रतिपादन किया है उनको मूर्त्त रूप देने में हम पीछे नहीं रह सकते,—यह हमें सारे संसार के सामने स्पष्ट रूप में प्रगट कर देने का यह अवसर है।

४०-ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली

—सत्यदेव विद्यालंकार

नन्दा देवी-अभियान

नन्दा देवी (२५,६४५) फ़ीट मध्य हिमालय की सब से ऊँची चोटी है। यद्यपि इस उच्च शिखर पर अनेकों बार विजय प्राप्त हेतु प्रयास हो चुके हैं, किन्तु अभी तक यह अजेय रही है। इसके अनुसन्धान के लिए सन् १६५५ सितम्बर-अक्तूर मास में हिमालयन सोसाइटी की ओर से एक अभियान किया गया था और पूर्वी की ओर से शिखर पर पहुँचने के मार्ग का पता लाया गया है।

हमारे दल के चार सदस्य सर्व श्री जी० डी० जोशी (नेता) श्री ए० जौर्ज, श्री आई० दत्त और मैं २६ सितम्बर १६५५ की शाम को अभियान के लिए देहली चल पड़े। दूसरे दिन दोपहर के बाद बरेली और टनकपुर पीलीभीत होते हुए हम टनकपुर पहुँचे। टनकपुर से दल के प्रबन्ध के लिए मैं दूसरे दिन पिठौरागढ़ को चल पड़ा किन्तु भीषण वर्षा के कारण स्थान स्थान पर यातायात रुक गया था। मुझे घाऊ से चम्पावत (१८ मील) पैदल चलना पड़ा। इस प्रकार मैं पिठौरागढ़ दो दिन में पहुँच पाया और दल में अन्य सदस्य तीन दिन पश्चात् पिठौरागढ़ पहुँचे।

पिठौरागढ़ एक पर्वतीय रम्य स्थान होते हुए भी अभी तक विकसित नहीं हो पाया है। वहाँ वर्तमान युग के प्रसादन नहीं है। पिठौरगढ़ में हम डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के के डाक बंगले में ठहरे। पिठौरगढ़ अल्मोड़े के पूर्वी भाग में टनकपुर से ६५ मील के उत्तर दिशा पर स्थित है। अब यहाँ तक मोटरें बारहों मास चलती रहती है और तिब्बत की सीमा तक सब सड़क बनती जा रही है। नैपाल की सरहद यहाँ से १५ मील की दूरी पर है। पिठौरगढ़, अल्मोड़े ज़िले के पूर्व में पूर्वी भाग का हैड क्वार्टर सौर परगने में स्थित है। कुमावनियों ने और विशेषकर सौर के निवासियों ने और भारत की फ़ौज ने विशेष रूप से सेवा की है।

हमारा विचार पिठौरगढ़ में दो या तीन दिन ठहर कर सामग्री व सामान वाहकों का प्रबन्ध कर के आगे बढ़ने का था। किन्तु १६५५ के अक्तूबर मास के प्रथम सप्ताह में अति वृष्टि के फल स्वरूप ८ अक्तूबर तक हमें यहाँ रुकना पड़ा। २ अक्तूबर १६५५ रविवार को महात्मा गाँधी का जन्म दिवस हमने पिठौरगढ़ के डाक बंगले में मनाया जिसमें पिठौरगढ़ के लब्ध प्रतिष्ठित सभी व्यक्ति उपस्थित थे। घन घोर जल वृष्टि व यातायात की कठिनाइयों के होते हुए भी उत्तर प्रदेश के उद्योग स्वास्थ्य मन्त्री श्री चन्द्रभान जी गुप्त ५ अक्तूबर को पिटौरगढ़ पधारे। हमें भी वहाँ आप के सम्मान में आयोजित कई सभाओं में शामिल होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ८ अक्तूबर को हम लोग पिठौरगढ़ से नन्दा देवी अभियान के लिए रवाना हुए। यहाँ से दो मार्ग मुनस्यारी के लिए जाते हैं। हम यहाँ से देवलथल, तेजम, गिरगाँव होते हुए मुनस्यारी पहुँचे। मनुस्यारी वहाँ से ६६ मील दूर है। हमारे साथ में सदस्यों के अतिरिक्त आठ डोटियाल (नैपाली) सामान-वाहक तीन भृत्य और एक पथ-प्रदर्शक था। इस प्रकार हम लोगों ने एक सप्ताह में यह यात्रा समाप्त की; तेजम तथा मुनस्यारी में भी हमें एक एक दिन ठहरना पड़ा। मार्ग बरसात के कारण मार्ग जटिल हो गया, था पुल बह गए थे। तथा सड़क जगह जगह पर खण्डित हो गई थी। फिर भी हम लोग आगे बढ़ते गए। मुनस्यारी से तीन दिन चलकर हम लोग मारतीली गाँव में पहुँचे। रास्ते में कई स्थानों पर ख़तरनाक कच्चे पुल पार किए। मुनस्यारी से आगे हम लोग गौरी गंगा के किनारे-किनारे चलते रहे और मारतोली तक हमें इसी के किनारे चलना पड़ा। यह नदी बड़ी भयानक और तेज़ रफ़तार से बहती है। इसका उद्गम स्थल मिलन ग्लेशियर है। इसमें कई दर्जन नाले आसपास से मिलते हैं। मिलम से जेलें जीदी में आकर यह काली गंग से में मिल गई है। मुनस्यारी से हमारा दल जब रवाना हुआ तो सामान-वाहक पीछे रह गए थे इसलिए हम दो दलों में विभक्त हो गए। कुछ लोग बाग ओडियार पहुँचे और कुछ चार मील पीछे गाड़ी में रह गए। इस प्रकार दूसरे दिन का कार्यक्रम भी स्थगित करना पड़ा। दो पहर को बाग़ ओडियार से चलने के बाद हम लोग माँपंग नामक स्थान तक ही पहुँच सके; भारी वर्षा के

कारण सारा मार्ग अव्यवस्थित था। चलने में बड़ी दिक़्क़तें थीं, अतएव सामान-वाहकों को बड़ी सावधानी से चलना पड़ता था। मुनस्यारी से दूसरे दिन हम लोग मारतोली पहुँचे। यह गाँव समुद्र की ऊँचाई से लगभग बारह हज़ार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। मकान पक्के हैं और गाँव खुली जगह में बसा हुआ है। सारे गाँव के लोग इस समय नीचे मुनस्यारी में उतर चुके थे इसलिए वहां पूर्ण रूप से सुनसान था। हमारे साथ इस गाँव के पुजारी पथप्रदर्शक के रूप में थे अतः उन्होंने हमारे लिए सारी व्यवस्था की और हम लोग उनके ही घर में ठहरे।

मारतोली के चारों ओर हिमाच्छादित पहाड़ हैं। विशेष कर इस वर्ष सभी पहाड़ बर्फ़ से ढके दिखाई पड़ते थे। गौरी गंगा के उस पार पूर्व की ओर बरफ़ का बर्फ़ीला पहाड़ था। उत्तर की ओर जयन्ती तथा कुगरी-बिंगरी पहाड़ों की चोटियाँ दिखाई देती हैं। पश्चिम की ओर बनकटिया, नन्दाखाट, तथा नन्दाकोट पहाड़ों की चोटियाँ है। इसके बाद नन्दा घूँटी तथा नन्दा देवी पहाड़ हैं इन दिनों अधिकांश भौटिया लोग नीचे उतर चुके थे और कुछ लोग नीचे की ओर जा रहे थे। दूसरे दिन प्रातः हमने इस गाँव में स्थित नन्दा देवी के दर्शन किए और फिर बाद को बर्फ़ीले मार्ग में होते हुए बनकटिया पर्वत की जड़ में पहुँचे। सारा मार्ग बर्फ़ से ढंका हुआ था। अतएव हमलोग बड़ी सावधानी से पाँव उठाते हुए इस बर्फ़ीली भूमि को रौंदते हुए बनकटिया की जड़ में पहुँचे। इसके समीप ही ल्वाँ का छोटा-सा बर्फाच्छादित गाँव था। नीचे की ओर हमारी बाईं तरफ़ मारतोली का ढाल था। यदि अचानक ऊपर से कोई फिसल पड़े तो एक मील नीचे मारतोली गंगा में गिर पड़ने का खतरा था। हम लोग बनकटिया की जड़ में होते हुए और आगे बढ़े। कुछ दूर पहुँचने पर एक बर्फ़ीली चोटी मिली, यहाँ से नन्दाकोट की तरफ़ एक पगडण्डी जाती है। परन्तु इस वर्ष अत्यधिक हिमपात होने के कारण पगडण्डी का कहीं नामोनिशान भी न था और सामने नन्दाकोट पर्वत बिलकुल समीप दीखता था। इसके बाद फिर नन्दा घूँटी की चोटी दिखाई दे थी। नन्दा घूंटी से पश्चिमोत्तर की ओर विशालकाय नन्दा देवी की चोटी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी। नन्दा-देवी मध्य हिमालय में सबसे ऊँची चोटी है। उसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से २५६४५ फ़ीट है। यहाँ से एक मार्ग गढ़वाल की ओर तो दूसरा मार्ग रूपकुण्ड की तरफ़ को जाता है। इस पर्वत के पर्वतीय सतह का घेरा लगभग तीस मील है। इसके चारों ओर बड़े बड़े ग्लैशियर हैं, पूर्व की तरफ़ का निकास मारतोली गंगा तथा पाँचू गंगा में बहता है। इन ग्लैशियरों का पश्चिम का निकास ऋषि गंगा में बहता है। नन्दा देवी के चारों ओर भिन्न भिन्न स्थानों पर, लगभग १४००० से अधिक ऊँचाई के स्थानों पर कई जलकुण्ड है, जैसे रूपकुण्ड, नन्दाकुण्ड, सूर्यकुण्ड तथा शाण्डिल्य कुण्ड आदि मिलन का ग्लैशियर नन्दादेवी से पूर्वोत्तर की ओर इस स्थान पर ही है। सम्प्रति जिस स्थान पर मिलम ग्लैशियर है, वहाँ से एक मार्ग बद्रीनाथ को जाता है। तिब्बत का भू भाग यहाँ से ३०-४० मील की दूरी पर है। सायंकाल को हम लोग बर्फ़ीले पहाड़ से मारतोली गांव में वापस आ गए। रात्रि को शीत इतनी अधिक थी कि बाल्टी में रखा हुआ पानी प्रातःकाल बर्फ के रूप में परिणत हुआ मिला। तीसरे दिन प्रातः हम लोग पुनः बर्फ़ीले पहाड़ पहाड़ की ओर गए, लगभग तीन घण्टे तक बर्फाच्छादित पहाड़ पर चढ़ते गए। परन्तु इस ओर से नन्दा देवी के आरोपण करने का सुविधाजनक रास्ता मालूम नहीं हुआ। मारतोली से नन्दा देवी की जड़ लगभग ८ मील दूर है बीच में दाहिने पार्श्व में बड़ी बड़ी चार चोटियां है। पर्वतारोहियों को मारतौली के बजाय पांचू ग्राम की ओर से पर्वत पर अभियान करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि पांचू गंगा के किनारे किनारे नन्दा देवी की जड़ पांचू ग्राम से केवल चार मील दूर रह जाती है। इस पांचू गंगा का उद्गम स्थान नन्दा कुण्ड है जो कि नन्दा देवी पर्वत से है। हिमालय सोसाइटी की ओर से भविष्य में पर्वतारोहर की ट्रेनिंग के लिए नवयुवकों के दलों का संगठन किया जाएगा।

११८ एम. ब्लाक
कनाट

—नरेन बी. जोशी

कक्का

श्रीयुत गणेशीलाल चौबे

राष्ट्र के द्रुतगामी विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। राष्ट्रोद्धार राजनीतिक प्रयत्नों से परे सामाजिक क्षेत्रों में भी अनेक देशवासियों ने शिक्षा-प्रसार और सामाजिक उत्थान की दिशा में अथक परिश्रम किया। देश की अनेक शिक्षा संस्थाएँ उन्हीं प्रयासों के प्रतिरूप हैं। इनके संस्थापक महान् व्यक्तियों को भुलाया नहीं जा सकता।

किन्तु, हमारे देश की पिछली पीढ़ी में एक वर्ग ऐसा भी रहा जिसने देश के बालकों को शिक्षित और शालीन बनाने में एकान्त और शान्त भाव से त्यागपूर्ण सेवाएँ कीं। सोलह आना समाज कल्याण की भावना से जिन्होंने अपने गाँव की पाठशालाओं में अनेक शताब्दियों तक निरन्तर और एकनिष्ठ सेवा करते हुए खपा दिया। उन्हें किसी ने नहीं जाना। आज की-सी हज़ारों में से थोड़े-से उन लोगों ने जिन्होंने उनसे जीवोत्थान का पहला पाठ पढ़ा और जो कृतज्ञतापूर्वक आजीवन अपने प्रथम गुरु को भुला न सके। अन्यथा, उनकी समस्त सेवा स्वान्तःसुखाय और अल्पसन्तोषदायिनी रही।

कक्का (श्रीयुत गणेशीलाल चौबे) एक ऐसी ही हस्ती हुए हैं। आगरा जिला बोर्ड के आधीन वह ग्रामीण पाठशाला के शिक्षक थे। उन्होंने प्रायः ५५ वर्षों तक मुदर्रिसी की। इस दीर्घ काल में कई सहस्र बालकों को उन्होंने साक्षर बनाया। उस समय के मुदर्रिसों और आजकल के मास्टर लोगों के रवय्ये में बड़ा भेद है। कक्का के युग के अध्यापक शिक्षार्थी बालकों को पुत्र-तुल्य समझते और तदनुकूल ही उनकी शिक्षा-दीक्षा की चिन्ता करते थे। उनके लिए अध्यापन कार्य सामाजिक सेवा का एक पवित्र मिशन था और एक मिशनरी की भाँति ही वह अपनी शाला का संचालन करते थे।

अनुपम गुरुभक्त : कक्का की जैसी अपार गुरुभक्ति मैंने न तो देखी और सुनी। मानव स्वभाव विस्मरणशील है। बड़ी जल्दी वह अपने उपकारी को भूल जाता है किन्तु, कक्का इस परम्परागत नियम के अपवाद थे। इस दृष्टि से वह युगपुरुष थे। शताब्दियों पूर्व मेरे पूज्य पितामह, पण्डित जयरामभाई ने उन्हें पढ़ाया था। पितामह तक फ़ीरोज़ाबाद के तत्कालीन तहसीली स्कूल में (आजकल उत्तर प्रदेश में जिनका नाम जूनियर हाई स्कूल हो गया है) हैड मुदर्रिस थे। पंडित जयराम जी का मानस अत्यन्त सहानुभूतिशील और स्नेह-सम्पन्न था। बड़े सहृदय व्यक्ति बताए जाते हैं वह। उनके अन्यान्य गुणों का विशद उल्लेख कक्का के सामने ही उनके प्रिय शिष्य, हिन्दी के निर्माता और अपने युग के महान् कवि स्वर्गीय पण्डित श्रीधर पाठक ने किया है और वह 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था। पण्डित जयराम जी का शिष्यसमुदाय बड़ा था। यों तो अनेक विद्यार्थी तब की मिडिल कक्षा में उनसे पढ़ते थे, किन्तु उनमें ऐसे कई विद्यार्थी थे जिनकी शिक्षा के साथ भरण-पोषण का दायित्व भी पण्डित जी ने अपने ऊपर ले रखा था। उनका ऐसा स्वभाव था, इसमें उन्हें आत्मसंतोष प्राप्त होता था। उनके संस्मरणों का बखान करते समय उनके शिष्य और कुछ वर्षों तक मेरे गुरु स्वर्गीय चौबे ख़याली रामजी ने बताया कि मेरी मातामही भी, जिन्हें हम लोग अय्या कह करते थे, अपने पति के इस आयोजन में पूर्ण सहयोग देती थीं। ऐसे सब लड़कों को यथासमय भोजन करना उनके सुख-सुविधा का ध्यान रखना और उनके कपड़े सीना आदि उन्हीं का काम काम था।

कक्का गणेशीलाल जी को पितृस्नेह प्राप्त नहीं हुआ। माता का सुख भी उन्हें नहीं मिला। अपने बहनोई के आश्रित रह कर उन्होंने अपना बालपन बिताया। कदाचित् इसी अनाथावस्था के कारण उन्हें अपने गुरु पंडित जयराम जी का स्नेहपूर्ण सहयोग सबसे अधिक मिला। मेरी दादी मुझे बताया करती थीं जैसा स्नेह इन दोनों का विद्यार्थी गणेशीलाल के प्रति था। वह उन्हें पुत्रतुल्य मानती थीं और गुरु का तो उन्हें

ममत्वपूर्ण स्नेह प्राप्त ही था।

वह स्नेह शिक्षण काल में ही समाप्त नहीं हो गया। मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर उनके गुरु, मेरे पितामह, ने 'ज़िला बजीटर' (शिक्षा के डिस्टक्ट विज़िटर) से कर उन्हें ६) रु० मासिक पर नायब मुदर्रिस नियुक्त कराया। उत्तर प्रदेश में तब सहकारी अध्यापक का वेतन-मान इतना ही था। और जब चौबे गणेशीलाल जी नायब मुदर्रिस नियुक्त हो गए तो गुरु जी ने आदेश दिया कि, 'रविवार की छुट्टी में मदरसे से घर आवे तो मेरे पास होता हुआ जा, और जब लौटे तो मेरे पास से होता हुआ मदरसे को वापस जा' और उनके अनुशासनवर्ती शिष्य ने' जब तक वह फीरोज़ाबाद के पास की पाठशाला में तैनात रहे, इस नियम का निष्ठापूर्वक पालन किया। पहली नौकरी का पहला वेतन उन्होंने गुरु के हाथ पर लाकर रखा। गुरु जी ने सहर्ष उन ६) रुपयों को वापस करते हुए कहा कि, "मुझे ख़ुशी है कि तू कमाने लायक हो गया। जा, इन रुपयों को जमुनादास (कक्का के बहनोई के भाई) के हाथ पर जा कर धर, उनका सन्तोष कर।" इस पहले वेतन के समर्पण के समय गुरु और शिष्य दोनों ही के नेत्र स्नेह-सजल हो रहे थे।

गुरु के प्रति उनका समादर और स्नेह सदैव समरूप में रहा। आजीवन वह उनका गुणगान करते रहे। गुरु के जीवन-विषयक किसी प्रसंग के छिड़ने पर, अपने किसी सहपाठी से भेंट होने पर, हिन्दी कविता की चर्चा में पं० श्रीधर पाठक की रचनाओं का उल्लेख होने पर या पूज्य पिता जी अथवा मुझे देख लेने पर उन्हें तत्क्षण अपने गुरु पं० जयरामजी का पुण्य स्मरण हो आता और वे उनकी गुण-गरिमा का बखान आरम्भ कर देते। वर्णन करते-करते गद्गद हो जाते और उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित रहती। उनकी एक-एक बात कहते न अघाते। उनके मन-मानस से गुरु के प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा की प्रेमधारा नेत्रों के मार्ग से ऐसी निःसृत होती कि उनके विशाल वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ कुर्ता या वस्त्र उसमें सराबोर हो जाता और उस समय उनसे वार्तालाप करनेवाले जनों को भी रोमाञ्च हो आता। और, उस घड़ी तो इस अनन्य श्रद्धाभक्ति की पराकाष्ठा होती जब कक्का अत्यन्त भाव-विभोर और गद्गद कण्ठ से अपने प्रति गुरु के इस आशीर्वचन का कई बार उच्चारण करते: 'जा ख़ुश रहेगा।' फिर कहते,' जिसको भी उन्होंने आशीर्वाद दिया, वह आज सभी फूल-फल रहे हैं।' कहते, श्रीधर को भी उन्हीं का आशीर्वाद फला और वह यशस्वी हुआ।

कक्का और दद्दू: जिन गुरु के प्रति उनकी ऐसी प्रगाढ़ आस्था थी उनके पुत्र, मेरे पूज्य पिता जी, को वे अनुज समान स्नेह करते थे। छोटा भाई मान कर जहाँ उनकी सेवा-सहायता करने में कभी चूकते न थे, वहाँ गुरु-पुत्र होने के कारण, 'गुरुवत गुरुपुत्रेषु' कह कर उनका स्वागत-सत्कार्य उसी के अनुकूल करते थे। कभी भेंट होने पर दद्दू (पिता जी) को यथाशक्य उत्तम भोजन कराते और भोजन के समय उन पर पंखा झलते। पिता जी को इस पर बहुत संकोच होता था, वह विनीत अनुरोध करते, हाथ से पंखा ले लेने का प्रयास भी करते, पर कक्का को यह गवारा न था कि उनके गुरु-पुत्र की शुश्रुषा में कोई कसर रह जाय।

मेरे पिता जी भी ग्रामीण अध्यापक थे। उन्होंने भी आगरा ज़िला बोर्ड के मातहत चालीस वर्षों के लम्बे ज़माने तक अध्यापन कार्य किया। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम और बीसवीं शताब्दि के प्रारंभिक वर्षों में पिता जी अपने गाँव, कोटला, से ३६ मील दूर जयनगर ग्राम में अध्यापक थे। किसी बड़ी छुट्टी में वह घर को जाते। ८) रु० मासिक तब उन्हें वेतन मिलता था। इतना वेतन पाने वाला इक्के या रेल मार्ग द्वारा रास्ता तय करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। फिर, एक गुण इन बुजुर्गों में यह भी था कि एक दिन में चालीस-पैंतालीस मील तक पैदल चले जाना उनके लिए साधारण बात थी। अतएव पिता जी पैदल ही घर को आते। पुरातनकालीन प्रभातियों में वर्णित बटोहियों की भाँति अपनी यात्रा ब्राह्ममुहूर्त में उषा दर्शन में, चार बजे ही आरम्भ कर देते थे। मैं बहुधा पिता जी के साथ होता था। उषा-वेला, शीतल मन्द सुगन्ध पवन-प्रवाह, बड़े भोर बोलने वाले पक्षियों का एकान्त संगीत, निस्तब्ध और निर्जन वातावरण, यौवन की भाँति अवसान को प्राप्त होती हुई चन्द्रिका, अपने निरंजन के ध्यान में प्रभाती और वन्दनामूलक श्लोकों को गुनगुनाते हुए पिता जी स्थिर पग रखते हुए आगे बढ़ते थे और मैं उनके क़दम-ब-क़दम पीछे चलता था। कैसा मनोमुग्ध-

कारी और बलदायक समय होता था वह। आज भी उसकी मधुर स्मृति हृदय में सुरक्षित है। घर जाने की हौंस के कारण इस 'समां' में चार चाँद लग जाते थे। मैं थक जाने पर भी थकता न था। मेरे कारण पिता जी किसी कूप, देवस्थान पर या सुन्दर वृक्ष के नीचे सुस्ताने बैठते, तब भी मेरा मन चलने के उत्साह से ओतप्रोत होता और हृदय की डोर घर और गाँव की ओर लगी होती। पिता जी बताते, 'देखो श्याम चिरैया कैसी मधुर बोल रही है। वह भगवान् का भजन कर रही है। तू भी मन में वन्दनाएँ पढ़ता चल।' पिता जी ने मुझे 'रामायण' की अनेक वन्दनाएँ याद कराई थीं। जीवन में अनेक बार उषाकाल में फिर भी यात्राएँ कीं। हिमाचल प्रदेश और विन्ध्यप्रदेश जैसे निसर्ग-सुषमा-मण्डित क्षेत्रों में हज़ारों मील की यात्रा पैदल और मोटर द्वारा की, पर वैसा आनन्द फिर नसीब नहीं हुआ।

कक्का तब सराय नूरमहल नामक गाँव की प्राथमिक पाठशाला में प्रधानाध्यापक थे और यह गाँव जयनगर और कोटला के मार्ग में पड़ता था। यहाँ से कोटला चार कोस रह जाता था। वक़्त तंग हो जाता था और जाड़े के दिनों में तो सराय नूरमहल पर सूर्यास्त होने को आ जाता था। किन्तु पिताजी कक्का से भेंट करने के लिए उनके मदरसे पर अवश्य रुकते थे। बिना कक्का से मिले रास्ते निकल जाना उनके लिए असम्भव था। एक बार, मुझे याद है, मार्ग में पड़ने वाले जमुना घाट पर पार उतरने में देर हो गई और सराय नूरमहल तक पहुँचते-पहुँचते रात हो गई। पिता जी इस कारण कक्का से मिले बग़ैर ही अपने मार्ग पर बढ़ गए। अगली यात्रा में जब कक्का ने पूछा कि अमुक छुट्टी में क्या घर नहीं आए थे, और दद्दू ने जब कारण बताया तो कक्का ने तत्काल कहा—'हम इसे बरदाश्त नहीं कर सकते। इधर से नहीं तो उधर से तुम्हें हमारे पास होकर जाना था और उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आए। मेरे लिए पिता जी से कहते—'इससे इतनी लम्बी दौड़ मत कराओ। इनके पौरुष हमारे-तुम्हारे जैसे नहीं हैं। इसे गाँव में ही ख़यालीराम के सुपुर्द कर दो।' चौबे ख़यालीराम जी भी पूज्य पितामह के एक शिष्य थे और हमारे गाँव के प्राइमरी मदरसे में अव्वल मुदर्रिस थे। गाँवों में तब और मिठाई तो नहीं पेड़ा अवश्य मिलता था और कक्का पेड़ा मँगा कर हम दोनों को खिलाते। कोरा पानी कभी नहीं पिलाते। पिता जी इनकार करते तो कक्का का आग्रह होता—'बिना मुँह जुठाए तुम कैसे जा सकते हो।' इस अल्पकालिक भेंट में दोनों ही अपनी अपनी एक दूसरे से कहते-सुनते। दो सहोदर भी ऐसे निश्छल भाव से कदाचित् ही मिलते हों। चलते समय पिता जी को गाँव के बाहर दूर तक पहुँचाने जाते। मदरसे से उठते वक़्त पिता जी की खुरजीनी अपने खुरजी कन्धे पर ले लेते और कभी-कभी मार्ग में आकर उनके कन्धे पर से उतार लेते। पिता जी इसका आदरपूर्ण प्रतिरोध करते तो कक्का कहते—'तुम थोड़ा सुस्ता लो, दूर से चल कर आ रहे हो, खुरजी भारी है।' और हम लोगों को छोड़ कर लौटने का अवसर तो बड़ा दुखदायी होता। कक्का की आँखों से आँसुओं की धारा बहती होती और रुद्ध-कण्ठ से कई बार पिता जी को स्मरण कराते—'मैया से हमारो पालागन कहि दीजो हुसियारी से चले जइयो।' क्योंकि सूर्यास्त हो चुका होता था।

कुछ वर्षों के लिए दद्दू और कक्का गोंछ गाँव के मदरसे में एक साथ ही बदल कर आ गए। दैवयोग से कोटला और फ़िरोज़ाबाद में प्लेग फैला और दोनों के परिवार भाग कर गोंछ आ गए और वहाँ एक ही घर में आकर बसे। प्लेग पड़ने से पूर्व दोनों जने मदरसे में ही एकाकी रहते थे। मैं हिन्दी मिडिल का इम्तहान दे चुका था और पिता जी के साथ रह कर उनसे उर्दू पढ़ा करता था। कक्का बड़े सहृदय और सूझ-बूझ के व्यक्ति थे। गाँव के लोग, बहुधा विद्यार्थियों के सरपरस्त, अपनी समस्याओं के समाधान की चर्चा कक्का से आकर कराते। कक्का का व्यावहारिक ज्ञान पिता जी से अच्छा था। लोगों का समाधान वह कर दिया करते। गाँव के छोटे ज़मींदार केहरीसिंह जाट तो अपनी छोटी-मोटी कठिनाइयों पर भी कक्का से परामर्श करते थे।

कक्का की देश भक्ति : दद्दू की भाँति कक्का ने देश प्रेमपूर्ण हृदय पाया था। इस दृष्टि से वह 'नोंन तेल लकड़ी' की चिन्ता में ही खप जाने वाले भारतीय न थे। तब देश में देश भक्ति का सूर्य उदय ही हुआ था। तब कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'बंगवासी' और बम्बई के 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के अतिरिक्त हिन्दी में कोई साप्ताहिक न था। और इन दोनों साप्ताहिकों को पढ़ते रहने का सुयोग दद्दू और कक्का को

प्राप्त होता था। 'हिन्दी केसरी' भी तत्पश्चात् आने लगा था। वंगभंग के कारण विचलित बंगालियों द्वारा चलाए गए। स्वदेशी और बायकाट के आन्दोलन की भूमिसात् और प्रकट ज्वाला उत्तर में लाहौर होती हुई पेशावर तक और दक्षिण में महाराष्ट्र तक व्याप्त हो गई थी। उक्त दोनों पत्र इसका सम्वाद—यद्यपि अत्यन्त संयम और संतुलन के साथ—दिया करते थे। कक्का जब देश में चारों ओर इस आन्दोलन की व्यापकता का समाचार पढ़ते तो आनन्दित हो उठते।

मेरे गाँव के ज़मींदार राजा खुशलपालसिंह के छोटे भाई कुँवर महेन्द्रपालसिंह उन दिनों आरा कालेज में पढ़ते थे। छुट्टियों में वह कोटला आते। वह घोड़े के शहसवार थे। उनको फ़िरोज़ाबाद स्टेशन से लाने के लिए अरबी वा काठियावाड़ी घोड़ा भेजा जाता था। कुँवर साहब मदरसे पर उतर पड़ते और देर तक स्वदेशी और बहिष्कार आन्दोलन की चर्चा दद्दू और कक्का से करते रहते। वह स्वतः देशभक्त थे और तब, यद्यपि उनके अन्य चार भाई बढ़िया विलायती कपड़े इस्तेमाल करते थे, कुँवर महेन्द्रपालसिंह जी भारत की मिलों का बना स्वदेशी कपड़ा ही पहनते थे, और इस 'स्वदेशी' को तब वही मान प्राप्त था जो आज खादी को है। एक बार चलने के लिये जैसे ही वह घोड़े पर सवार हुए कि ज़ीन ज़ोर से चरमराने लगा। इस पर कक्का ने पूछा, 'लल्लू, ज़ीन ऐसी क्यों चरमराती है?' यह विलायती ज़ीन है, और ज़ीन में चरमराने का ऐब होता है।" कक्का ने तत्काल कहा: "लल्लू आप तो स्वदेशी ज़ीन मँगाओ।"

"देश में अभी ज़ीन अच्छे नहीं बनती। सरकार ने अपने रिसाले के लिए कानपुर में जीन बनवाती है, पर वह बेचती नहीं। हमारे अस्तबल का दारोग़ा जैसी मंगा लेता है वही काम में लानी पड़ती है।

कक्का ने इस पर मुस्करा कर कहा: "हम तो स्वदेशी की पराकाष्ठा तब समझेंगे जब आपका यह अरबी विलायती ज़ीन अपनी पीठ पर लेने से इनकार कर देगा।"

कुँवर महेन्द्रपाल सिंह जी इससे बहुत प्रभावित हुए और घोड़े से उतर कर खड़े-खड़े देर तक इसी प्रसंग पर बातें करते रहे।

कक्का की अपनायत : नई शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश हुआ था और अध्यापकों को 'नया तरीका तालीम' सिखाने के लिए किसी केन्द्रीय मदरसे पर 'कान्फ्रेंस' हुआ करती थी। शिक्षा-विभाग के सब डिप्टी इन्सपैक्टर उस केन्द्र पर आकर अध्यापकों को नवीन शिक्षा-पद्धति पढ़ाया करते थे।

सन् १९१० के जून में ऐसी ही एक कान्फ्रेंस मेरे गाँव, कोटला, में थी। प्रातः सात बजे अध्यापकों की कक्षाएँ आरम्भ हो जाती थीं साढ़े ६ बजे तक शौचादि-स्नान नित्य नियम से पिता जी को निवृत्त हो जाना पड़ता था। वह इसके अभ्यस्त भी थे। घर के लिए कुएँ से पानी भी इसी समय भरना होता था। कक्का भी कान्फ्रेंस में आए हुए थे। वे अध्यापकों के साथ ठहरे हुए थे। अपने सब काम से निवृत्त होकर कक्का प्रातः ही हमारे घर आ जाते और पानी लाने में सहयोग देने का उपक्रम करने लगते। पिता जी को बहुत संकोच होता, पर वह कक्का के हाथों में से बर्तन को लेने की व्यर्थ ही चेष्टा करते। पिता जी मेरी ओर संकेत कर कहते,' यह भरवा रहा है, एक खेप और लानी है, हम दोनों जने अभी लिए आते हैं, आप विराजिए।' और इस बीच मेरी दादी लकड़ी का बड़ा पट्टा या मूँढा कक्का को बैठने के लिए ले आतीं। 'मैया, पालागूं' कहते हुए कक्का उनका चरण-स्पर्श करते और पात्र को लिए हुए द्वार से बाहर चले जाते। अय्या (मेरी दादी) कहती रह जातीं, 'तुम्हारौ छोटौ भैय्या कामु करिबे कूँ है, तुम तो आराम से बैठो।' कक्का कहते होते, 'मैया का मेरौ घरु ना हैं? छोटे भैया के साथ बड़ो भैया हूँ कामु करैगौ।" मेरी ओर देख कर कहते, 'जे बालक जा काम लाइक नाएँ, इनके पौरिख (पौरुष) ऐसे नाएँ।'

और ऐसे अवसरों पर अय्या का एक रवैया मुझे बहुत प्रभावित करता था। मैं देखता या कि जिन कक्का को उन्होंने तब से प्रायः चालीस-पचास वर्ष पूर्व अपने बालक की भाँति माना था, आज वह कक्का के समकक्ष खुले मुँह कभी नहीं आती थीं। परिधान को समेटे हुए, कि जिससे हाथों के अतिरिक्त शरीर का कोई अंग दिखाई न दे, और आधी लाज मारे हुए—जिसमें से ठोढ़ी के सिवाय और कुछ न दिखाई दे। कक्का से बात करतीं तो समक्ष होकर नहीं, कक्का को थोड़ी पीठ देकर। और कक्का उनके चरण छूते ही अपने गुरु के स्मरण में गद्गद हो उठते और कहते—'मैया, हों तो, तुम्हारौ बुई (वही)

गनेसा हों।' आजकल के इस नम्रताप्रिय युग में मेरी समझ में आ रहा है कि बड़े बूढ़े कक्का के सामने अग्या का यह परदा उस युग की स्त्री-जाति की एक शोभनीय एवं गरिमामूलक आस्था थी। मैंने अपनी माँ को भी देखा कि उन्होंने भी अपने मुँह को अपने मायके के सिवाय हमारे घर में मरते दम तक कभी पूरी नहीं खोला। हमारे घर, और घूरे को झाड़ने आने वाली मंगन तक के सामने, वह मुँह नहीं खोलती थीं, क्योंकि गाँव नाते वह उनकी सास होती थी और वह उसको 'चाची' कह कर सम्बोधन करती थीं।

'लिखौ श्रीधर कौं' : मेरी छोटी बहन का विवाह था। मिती समीप आ रही थी। कक्का का विवाह-विषयक सभी प्रगति पिताजी से ज्ञात कर लिया करते जब भी उनकी भेंट होती। बरात के लिए डेरे तम्बुओं की आवश्यकता थी और पिताजी गाँव के राजा साहब से कुछ थी माँगना नहीं चाहते थे। हमारे परिवार का गाँव के राज-परिवार से चन्द्रमाँ कभी मिला नहीं, अतएव उसी परिवार के प्रधान पुरुष से किसी प्रकार का सवाल करना पिताजी के लिए आत्मसम्मान के संरक्षण का प्रश्न था। कक्का ने कहा, 'इसमें क्या हर्ज है, तुम राजा साहब से डेरों के लिए कहो ?'

'और राजा ने इनकार कर दिया हो तो हमारा मरण हो जाएगा, चौबेजी;' पिता ने उत्तर दिया।

इस पर कक्का तत्काल बोले, 'लिखौ श्रीधर कौं।'

पण्डित श्रीधर पाठक और कोटला के राजा बहादुर कुशपालसिंह का सम्बन्ध पुरातन था। पाठकजी के पूर्वज प्रतापी पण्डित थे और कोटला के 'राजघराने' में उनका अच्छा मान था, विशेष कर राजा साहब की दादी ठकुरानी महताब कुंवरि के काल में। ठकुरानी साहिबा बड़ी भक्तिमती और लोकप्रिय थीं। उन्होंने गाँव में बड़ी धनराशि लगा कर सीतारामजी का सुन्दर मन्दिर बनवाया और उसके 'भोगराग' के लिए अपनी जमींदारी में से १२ गाँव उससे लगा दिए थे। पं० श्रीधरजी के पिता उनके गुरु थे। श्रीधरजी की जन्मभूमि, जोंधरी, कोटले के समीप ही है।

पिताजी ने पाठकजी को पत्र लिखा। पाठकजी ने राजासाहब को लिखा कि आपके गाँव के पण्डित व्रजभूषणजी मेरे गुरु भ्राता हैं, उनकी बेटी का विवाह है, आप उनकी सहायता करें। पाठकजी ने पत्र के साथ विवाह के उपलक्ष में रुपयों की कुछ भेंट भी भेजी। यद्यपि पत्र चिरकाल पश्चात् लिखा गया था, किन्तु पाठकजी ने उसमें अपनी गुरुभक्ति का परिचय भी दिया और अपनी गुरुमाता को भी वह नहीं भूले। राजासाहब ने पिताजी को बुलाकर कहा कि आपने व्यर्थ ही संकोच किया। बेटी के विवाह में सहायता करना तो सबका धर्म है। आप गाँव के हैं, अपने हैं। पाठकजी भी अपने हैं, पर वे अब अपना देश छोड़ कर प्रयागवासी हो गए हैं।'

कक्का अपने सभी सम्पन्न और सुपरिचित गुरु भाइयों के पास पिताजी का इस अवसर पर ले गये। पिताजी को इस कारण बड़ा सन्तोष प्राप्त हुआ कि उनके पिताजी के प्रायः सभी शिष्यों ने अपने गुरु के प्रति आदरभा का परिचय दिया। इस प्रकार पिताजी का परिचय ही अनेक गुरु भाइयों से नहीं हो गया प्रत्युत् भेंट में उनसे टक राशि भी प्राप्त हो गई।

गोंछ के मदरसे से पिताजी का स्थानान्तर हो गया और कक्का वहाँ अकेले रह गए। गोंछ कोठला और फीरोजाबाद के बीच में है। मैं फीरोजाबाद के तब एक मात्र मिशन स्कूल में पढ़ता था और गाँव को ८ वें दिन आता-जात था। फीरोजाबाद कोटला की तब की कच्ची सड़क में गोंछ पर बरसाती सिरसा नदी बहुत बड़ बीच में फैलती थी और कभी-कभी उसमें पानी ऊँचा चढ़ आता था। उतार बन्द हो जाता था। गाँव के मजदूपेशा लोग पार आने वालों को कन्धे पर बिठा कर पार उतारते थे। कक्का की मेरे लिए ताकीद थी कि, मैं गाँव आते समय मदरसे में होकर जाऊँ ताकि वह मुझे नदी की स्थिति का ज्ञान करादें। नदी जरा भी चढ़ी होती तो नदी पार कराने की व्यवस्था के लिए मेरे साथ जाते। कोटले से लौठते समय के लिए उनका आदेश था कि मैं किसी के द्वारा मदरसे में खबर करा दूँ और वह मुझे आकर ले जाएँगे। एक बार नदी वास्तव में चढ़ी थी, तैरने का मुझे अभ्यास था। तेज धूप में चला आया था। खूब गोते लगा कर नहाया और नदी पार भी उतर आया। कक्का की स्नेहिल ताड़ना का भय हुआ। सशंकित उनके समक्ष आ खड़ा हुआ। मैंने तुरन्त उनसे अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँग ली। क्षमा उन्होंने कर दिया, पर साथ ही सख्त ताकीद की कि आइन्दा ऐसा मत करना। उनका

मुझ पर ऐसा ही स्नेह था।

कक्का का व्यक्तित्व : यों अपने साधारण जीवन में भी वे कोमल स्वभाव के थे। अपने विद्यार्थियों की भी कभी उग्र प्रताड़ना नहीं करते थे। बहुत से ग्रामीण अध्यापकों की तरह वे उन पर ज़ोर से चिल्लाते भी न थे बड़े ही स्वल्प सन्तोषी, संयमी और सदाचारी। आत्मा के आन्तरिक आनन्द योगी मुनि। दारिद्रय के वरेण्य सहचर, किन्तु मदान्ध और मायावी संसार के के लिए अज्ञेय। कक्का और दद्दू दोनों ही इन गुणों के प्रतीक थे। कक्का के मानस की गम्भीरता का परिचय दुनिया को तब लगा जब उनके सामने उनके सुयोग कनिष्ठ युवा पुत्र (प्रोफ़ेसर रामनारायण चतुर्वेदी एम. ए.) का आकस्मिक देहावसान हुआ। इस अतुल वज्रपात को कक्का ने सचमुच ही गीता के स्थितप्रज्ञ की भाँति सहन किया।

उनके बलिष्ठ शरीर में सहिष्णु आत्मा का आवास था। ऊँचा पूरा छः फ़ीट का क़द, चौड़ी चकली छाती, ऊँचे कन्धे, सुगठित लम्बे बाहु। मुख-मण्डल पर आकर्षक रक्तिम आभा, जिसमें आत्म-सन्तोष और नैष्ठिक आस्था की झलक। नेत्रों में आत्मविश्वास, स्नेह, दृढ़ता और निश्छलता का प्रकाश।

वह युग था जब हिन्दी की हित-कामना देशभक्ति का लक्षण मानी जाती थी। हिन्दी की हिमायत हिन्दुस्तान की हिमायत के समतुल्य समझी जाती थी। फ़िरोज़ाबाद के उत्साही भक्तों के प्रयत्न से आगरा ज़िला साहित्य सम्मेलन का प्रथमाधिवेशन जून १६११ में फ़िरोज़ाबाद में हुआ। पण्डित श्रीधर पाठक इसके अध्यक्ष थे। उस अवसर पर कक्का ने बड़े उत्साह से सम्मेलन में भाग लिया। दद्दू को भी साथ लाये। मुझे भी पण्डित श्रीधर जी से मिलाया। पाठकजी ने आपने अभिभाषण में अपने गुरु (मेरे पितामह) पं० जयराम जी का आदर और आस्थापूर्ण उल्लेख किया था। जब कक्का और दद्दू ने उनसे भेंट की तब फ़िरोज़ाबाद के तहसीली मदरसे में पढ़ने के दिनों के अपने बालपन के सुखद स्मरण दोनों को पाठक जी सानुराग सुनाते रहे। श्रीधर जी बहुत कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थी थे और वह हिन्दी मिडिल परीक्षा में तब के समस्त पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब उत्तर-प्रदेश) में प्रथम आए थे। इस पर उन्हें शासकीय छात्रवृत्ति मिली और उनका आगे अंग्रेज़ी पढ़ कर सरकारी नौकरी में निकल जाना सुलभ हो गया।

कक्का हिन्दी-प्रेमी भी थे। एक बार उनके मदरसे में तहसीलदार निरीक्षण करने आया। वह मुसलमान था। किन्तु निरीक्षण उसने शुद्ध हिन्दी में लिखा, जिसमें मुख्याध्यापक (कक्का) के प्रति, उनके अनुकरणीय परिश्रम और उत्साह के लिए, कृतज्ञता प्रगट की गई थी। कक्का को निरीक्षण का पूरा लेख कंठाग्र था। मैंने उनसे उसे लिख लिया था। किन्तु, मुझे बहुत खेद है कि मेरे अन्य अनेक संचित ऐसे ही काग़ज़ों के साथ वह भी खो गया। वास्तव में तत्कालीन एक मुसलमान शासकीय अधिकारी का ऐसा हिन्दी-अनुराग स्पृहणीय है। आज उस काग़ज़ के टुकड़े का बड़ा मूल्य होता।

कक्का की स्मरणशक्ति अच्छी थी। हिन्दी मिडिल में पढ़े हुए इतिहास तिमिर नाशक के पृष्ठ-के-पृष्ठ उन्हें जिह्वाग्र थे। 'शिवा जी विजय' के प्रसंग को वह खूब सुनाया करते थे। मराठों की अदम्य वीरता उनसे सुनते ही बनती थी। इसी प्रकार पितामह के बताए हुए गणित के अनेक गुर उन्हें सुलभ थे। बातचीत के समय जीवन के व्यावहारिक प्रसंग में तुलसी और रहीम के दोनों के उदाहरण बहुधा दिया करते थे। 'क्या नामें' उनका तकिया क़लाम था और 'राम भजा सोई जीता' तथा 'हरि बिन कोई काम न आयो' उनकी उठते-बैठते की स्वस्थ्यदायक टेक।

उन्हें दीर्घायुष्य प्राप्त हुआ। दद्दू ७५ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग सिधारे जब कि कक्का ने ६२ वर्ष पूरे किए। अपने कनिष्ठ पुत्र के असामयिक वज्राघात ने अपने पिछले जीवन में, उन्हें मर्माहित किया था, अन्यथा और भी दीर्घजीवी होते। दद्दू और कक्का के जीवन मेरे समक्ष एक खुली पुस्तक जैसे हैं, जिनसे कम-से-कम मैंने इतने सीखा है कि संसार में केवल श्रमशील, सन्तोषी, सहृदय व्यक्ति ही दीर्घजीवी होते हैं। दोनों ही उपनिषद् के लोक संग्रहात्मक उपदेश 'चरैवेति' के साकार प्रतीक थे। उनकी पुण्यस्मृति में मेरा शतशः नमन।

ज्ञान मन्दिर, पाटणकर बाज़ार,
ग्वालियर

—मंगलदेव शर्मा

दूसरी शताब्दी की एक प्रेम-कथा—'तरंगवती'

भारतीय साहित्य में कथा कहानियों का बहुत बड़ा भण्डार है। हज़ारों छोटे-बड़े कथानक सैकड़ों, हज़ारों वर्षों की परम्परा से आज भी हमें प्राप्त है। न मालूम इससे कितनी अधिक कहानियाँ विस्मृति के गर्त में विलीन हो चुकी होंगी। वेदों में कुछ छोटी छोटी कथाएँ और दृष्टान्त मिलते ही हैं। पुराणों में कथाओं का खूब विस्तार पाया जाता है। रामायण, महाभारत आदि उपाख्यानों के भण्डार हैं ही। जैन साहित्य भी इस विषय में बहुत समृद्ध है। बौद्धों की जातक कथाओं की भाँति लोक-प्रचलित और पौराणिक अनेक आख्यान जैन ग्रन्थों में संग्रहित हुए। बहुत-सों पर मौलिक ग्रन्थ विविध भाषाओं में रचे गए। लोकवार्ताओं के संग्रह का जो प्रयत्न जैन ग्रन्थों में मिलता है, वह तो बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि वे उनको नहीं अपनाते तो सैकड़ों लोकवार्ताओं से हम आज वंचित ही रह जाते।

धार्मिक उपदेशों को प्रभावशाली ढंग से लोक मानस पर अंकित करने के लिए कथाओं का बहुत अधिक आश्रय लिया गया। शायद उनके प्रचार के लिए ऐसा सरल साधन दूसरा हो भी नहीं सकता। धार्मिक आख्यानों के साथ साथ प्रेमाख्यानों की परंपरा तो बहुत प्राचीन समय से मिलती हैं। सांसारिक जीवन में स्त्री-पुरुषों का प्रेमाकर्षण एक प्रधान तत्व है। अतः अधिकांश व्यक्तियों का प्रेम कथाओं के प्रति ही अधिक आकर्षण रहना स्वाभाविक है।

जैन-धर्म निवृत्ति-प्रधान है। उसमें प्रेम कथानकों को अधिक विकसित होने का अवसर नहीं। फिर भी निवृत्त जीवन से पूर्व जीवन में प्रवृत्ति ही प्रधान रहती है। अतः पूर्व जीवन के कथा-प्रसंगों के रूप में अनेक धार्मिक मानी जानी वाली कथाओं में प्रेम कथाओं को भी पाते हैं। अर्थात् उनकी अन्तिम परिणति मुनि धर्म या श्रावक धर्म के स्वीकार के रूप में होली के पर प्रारम्भिक जीवन वृत्तान्त भी आ जाता है। ऐसी ही एक प्राचीन प्रेम कथा का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

आज जो हिन्दी के प्रेमाख्यानों की परम्परा बहुत थोड़े समय की उल्लिखित की जाती है, उसका स्रोत प्राकृत और संस्कृत काव्यों में बहुत दीर्घ काल से चलता आता है। पर उसकी खोज की ओर हमारी शोध-कलाओं का ध्यान अभी विशेष नहीं गया। इसलिए इस दशा में विशेष खोज करने के लिए प्रस्तुत कथा प्रकाशित की जा रही है। इस कथा का नाम 'तरंगवती' है। प्राकृत और देशी भाषा में गुम्फित यह कथा कई शताब्दियों तक लोकप्रिय और उल्लेखनीय रही है। सातवीं शताब्दी के बहुत बड़े आगमज्ञ जिन भद्र गणि क्षमा श्रमण के विशेष आवश्यक भाष्य में सुप्रसिद्ध वासवदत्ता कथा के साथ-साथ इसका भी स्मरण और उल्लेख किया गया है।

"जह वा निदिट्ठवसा तंणवइ माइं
तह निद्दसगवसओ लोए ममु रक्खवा उत्ति"

इस गाथा में 'निर्दिष्ट के उदाहरण में 'वासवदत्ता' 'तरंगवती' इत्यादि का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि ऐसी ही अन्य भी कई कथाएँ ग्रन्थ को अभिप्रेत थी। पातंजलि महाभाष्य[1] में वासवदत्ता के साथ सुगुणोजरा, सुमनोजरा, उर्वशी और भैमरथी आख्यायिकाओं का भी उल्लेख है। इसी प्रकार विशेष निशीथ चूर्णि[2] में लौकिक आख्यानों में नरवाहन दत्त कहा और लोकोत्तर कथाओं में तरंगवती और मगध सेना का उल्लेख किया है। सिद्धसेन गणिकृत तत्वार्थ सूत्र की टीका[3] में बन्धुमति आख्यायिका का और उद्योतन सूरि की कुवलय माला[4] कथा में सुलोचना कथा का उल्लेख है। प्राकृत ग्रन्थों में मलयवती, अशोकवती और चटक

---

[1] "वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका ।
वासवदत्ता सुमनोत्तरा उर्वशी, न भैवति मैमरथी ॥"

[2] अणे गित्थीहिं जा काम कहा, तत्थलोइया णर वाहण दत्त कहा लोउत्तारिया तरंगवती मगध सेणादीणि ।"

[3] "विकल्पितऽपिह्यर्थे स्मृतिर्दृष्टा, बन्धुमत्याख्यायिकादौ ।"

[4] "सन्निहिय जिज वरिंदा धम्म कहा बंधदक्खिय नरिन्दा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समयसरणं वा ।"

चरित्र का उल्लेख है। यह सब ग्रन्थ आज हमारे लिए लुप्त से हैं।

जहाँ तक का तरंगवती कथा का सम्बन्ध है, विशेषावश्यक भाष्य के बाद विक्रमी संवत् ७३३ में जिन दास गणि रचित दशवें कालिक की पूर्णि में इस कथा का इस प्रकार उल्लेख है :

"तत्थलोइएसु जहा भारहरा मायजादिसु जन्न क्रियाव्दीसु सामइगेसु तरंग वइगाइसु धम्मत्थकाम सहिताश्रो कहाश्रो कहिज्जन्ति।"

अर्थात् महाभारत रामायण आदि को लौकिक ग्रन्थ और तरंगवई कथा को धर्म अर्थ काम सहित कथा बतलाया गया है। 'निशीथ-विशेष पूर्णि' में लोकोत्तर कथाओं में तरंगवती और मगध सेना आदि की और लौकिक काम कथाओं में नरवाहन दत्त कहा था जो उल्लेख किया है उसका उद्धरण पहले टिप्पणी में दिया जा चुका है।

तदनन्तर सं० ८३५ में रचित 'कुवलय माला' में लिखा है :

"कक्काय जुवल सांहिया रम्मतण रायहंस कय हरिसा।
जस्सकुल प्यवयस्स व वियरइ गंगातरंग वई।"

अर्थात् जैसे कुल पर्वत में से गंगा निकली है वैसे कुल पर्वत रूपी मुख में से चक्रवाक के युगल से युक्त सुन्दर राजहंसों को आनन्द देनेवाली गंगा रूपी तरंगवती निकली।

ग्यारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध महाकवि धनपाल ने अपनी 'तिलक मंजरी' ग्रन्थ में इस प्रकार उल्लेख किया गया है :

"प्रसन्नगम्भीरपथा रथाङ्गमिथुनाश्रमा।
पुण्या पुनाति गङ्गेव गां तरंगवती कथा।"

इससे पहले के शीलाचार्य रचित 'महापुरिस चरित्र' में भी इस कथा के महत्वं का इन शब्दों में उल्लेख किया है :

"सानत्थिं कला, तं नत्थि लक्खणं जं न दीसइ
फुडत्थं पालित्तयाइ विरइय तरंगमइयासु य कहासु।"

११६६ में 'सुपासनाह चरित्रम्' में लक्ष्मण गणि ने लिखा है :

"को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वरयरं सुणेउण।
इयरे पबंध सिंधूवि पावया जीए मुहुत्तं।"

'प्रभावक चरित्र' में इस कथा की महत्ता का सूचक एक पद्य इस कथा में रचियता की प्रतिस्पर्द्धा वाले पंडित के मुँह से कहलाया है :

"सीसं कहविन फुट्टं जमस्स, पालिजयं हरंतस्य।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंग लोला नई बूढ़ा॥"

चन्द्रपुत्र उपाध्याय ने 'वासु पूज्य चरित्र' भी इसका स्मरण किया है :

"गंगव्व तरंगवई तेहिं कहा निम्मिया पवित्त पया।
ते सिद्ध संवियपए पालित्तय सूरिणो वंदे॥"

अर्थात् 'महापुरिस चरियं' में लिखा है कि ऐसी कोई कला और लक्षण नहीं है जो तरंगवती कथा में स्पष्ट रूप से देखने में न आता हो। लक्ष्मण गणि ने कहा है कि इस कथा को सुन कर कौन मनुष्य हर्षित न होगा। विरोधी पण्डित ने कहा है कि इस कथा के रचयिता पादलिप्त के हरण करने वाले यमराज का मस्तक क्यों न फूट गया जिसके मुख निर्झर से तरंग लीला रूपी नदी बही है।

दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में इस कथा के देशी वाक्य लोगों को कुछ दुरूह लगने लगे होंगे इसलिए इसका प्रचार कम हो गया होगा और इसका १६४२ गाथाओं में प्राकृत पद्य-बद्ध सार नेमिचन्द जी गणि ने लिखा है। वही अब प्राप्त है। पादलिप्ताचार्य रचित मूल कथा ग्रन्थ अब लुप्त हो चुका है। इस कथा की नेमिचन्द रचित तरंगलोला या संक्षिप्त तरंगबइ-कहा के प्रकाशन का भी एक रोचक वृतान्त है। सबसे पहले इसकी प्रसिद्धि जर्मनी में हुई। सन् १९२० में अहमदाबाद के जर्मन साहित्यानुरागी वकील केशवलाल प्रेमचन्द नोरी ने उसकी एक प्रति डा० हर्मन जेकोली को भेजी। उन्होंने अपने मित्र डा० लॉयमान को दी। उन्हें यह कथा बड़ी पसन्द आई। प्रेषित प्रति में पाठ बहुत अशुद्ध था, फिर भी लॉयमान ने बड़े परिश्रम से इसका जर्मनी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित किया और उस जर्मनी अनुवाद से शान्ति निकेतन में उस समय रहने वाले श्री नरसिंह भाई पटेल ने गुजराती भाषान्तर किया। इसे पुरातत्वाचार्य मुनि जिन विजय जी ने मूल

प्राकृत कथा से मिलान कर संशोधित किया। सन् १९२४ में यह गुजराती अनुवाद केशवलाल मोदी के पुत्र बबलचन्द्र ने अनी बहन माणिक के स्मृति में इसे प्रकाशित किया। तदनन्तर 'जैन सस्ती वांचन माला—पालीताना' से इसकी तीन आवृत्तियाँ नए अनुवाद की निकलीं। इसकी तीसरी आवृत्ति सं. १९८९ में सचित्र प्रकाशित हुई। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का पाठक अनुमान लगा सकते हैं। सं. २००७ में इसका चतुर्थ संस्करण धीरजलाल टोकरसी शाह ने सम्पादित कर भावनगर के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'जैन' के आफिस से प्रकाशित कराया। इस संस्कारण में इस कथा के मूल रचयिता पादलिप्ताचार्य की जीवन कथा ५५ पृष्ठों में दी गई है।

नेमिचन्द गणि के प्राकृत तरंगलोला ग्रन्थ को डा० लायमान संपादित कर प्रकाशित करने वाले थे। पता नहीं वे कर सके या नहीं। पर सं. २००० में जीवन भाई, छोटा भाई जंवेरी डोलीवाड़ानी पोल अहमदाबाद ने इस पद्यबद्ध प्राकृत सार को प्रकाशित किया जिसकी उपयोगी प्रस्तावना श्री प्रो. हीरालाल कापड़िया ने लिखी है। इस संस्करण में प्रस्तुत कथा का अति संक्षिप्त सार गुजराती में भी दिया है।

सं० १९८५ में 'दी साहित्य प्रकाशक कम्पनी, बम्बई से' गुजराती साहित्य के पाँचवें खण्ड के रूप में 'मध्यकालनो साहित्य प्रवाह' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसमें प्रो० मंजूलाल मजूमदार ने 'लोकवार्तानु साहित्य और गुजराती लोकवार्ताओं' शीर्षक दो निबन्ध दिए हैं जिनमें से प्रथम में मंजूलाल जी ने तरंगवती कथा का परिचय देते हुए उसका आवश्यक सार जरा विस्तार से दिया है। जिससे कथावस्तु के साथ उसकी शैली व विशेषता का भी कुछ परिचय मिल सके। हमने उसी का रूपान्तर आगे दिया है।

इस कथा के मूल रचयिता पादलिप्ताचार्य बहुत बड़े प्रभावक चरित्रादि में पाया जाता है। यह लेख बहुत विस्तृत हो रहा है इसलिए उनका परिचय देने का लोभ संवरण करना पड़ रहा है। पादलिप्त बहुत बड़े विद्वान् होने के साथ-साथ विद्यासिद्ध थे, नागार्जुन उनका शिष्य बतलाया गया है। उनकी प्राथमिक अवस्था मथुरा और पाटलिपुत्र (पटना) में व्यतीत होती है। अपनी अप्रतिम मेधा और असाधारण [illegible] के कारण दश वर्ष की छोटी अवस्था में ही आचार्यपद पा लेते हैं। अपनी विद्याशक्ति से पाटलिपुत्र के राजा मुरण्ड को आकर्षित करते हैं और मानखेट के राजा कृष्ण को प्रभावित करते हैं। बहुत समय तक मान्यखेट में रह कर प्रतिष्ठानपुर आते हैं और वहाँ अपने गुणों का प्रकाश कर सौराष्ट्र में पधार जाते हैं। वहीं आपका स्वर्गवास होता है। काठियावाड़ में सुप्रसिद्ध जैन तीर्थ शत्रुंजय की तलहटी में पालीनाभा नामक जो नगर है उसका प्राचीन नाम पादलिप्तपुर था और वह आचार्य पादलिप्त के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ—ऐसा प्राचीन प्रवाद है प्राचीन जैन इतिहास के ज्ञाता मुनि कल्याण विजय जी ने उपलब्ध प्रमाणों पर विचार करते हुए आपके गुरु का समय वि० सं० १५१ से २१९ तक बतलाया है। अतः पादलिप्त का अस्तित्व भी विक्रमी की द्वितीय शताब्दी के अन्त का और तृतीय के पूर्वार्ध तक सिद्ध है।

आचार्य पादलिप्त का जन्म कौशलापुरी (अयोध्या) में हुआ था। नेमिचन्द की संक्षिप्त तरंगवई-कथा में भी इसका उल्लेख है। तरंगलोला का क्यों निर्माण किया गया इसके सम्बन्ध में नेमिचन्द ने प्ररम्भ में ही कहा है:

> "पालित्तएण रइया वित्थरओ तह य देसिवयणेयहिं
> नामेण तरंगवई कहा विचित्ताय विडला य
> कत्थय कुलयाइं मणोरमाइं अन्नत्थ गुविल जुयलाइं
> अराणत्थ (छ) क्कलाइं दुप्परिअल्लाइ इयराणं
> न य सा कोई सुणेई ना पुण पुच्छेइ नेव य कहेइ
> विडसाण नवर जोगा इयरिजणो तीए किं कुणउ
> तो उच्चेजणं गाहाओ, पातित्तएण, रइआओ
> देसीपयाइ मोत्तु, संखित्तयरी कया एसा"

अर्थात् पादलिप्त सूरि ने तरंगवती की कथा बनाई थी, वह बहुत विस्तृत, विपुल और विचित्र है। उसमें अनेक देशी-वचन हैं, मनोहर कुलक हैं, गुपिल युगल षट्कल हैं। इस प्रकार वे पाठकों के लिए दुर्गम होने से कोई इसे सुनता, पूछता और कहता नहीं है। वह केवल विद्वानों के काम की रह गई है इसलिए देशी पदों को छोड़ कर इस संक्षिप्त ग्रन्थ का मैं निर्माण कर रहा हूं। आचार्य पादलिप्त की मुझे इसके लिए क्षमा करें।

आचार्य पादलिप्त की प्रस्तुत मूल कथा के लुप्त हो जाने का यही कारण है कि जब सरल रचना प्रसिद्धि में

आ गई तो मूल कथा को क्लिष्ट समझ कर उसका पठन-पाठन बन्द हो गया और जो एक आध प्रति रही होगी, वह कहीं नष्ट हो गई। मूल कथा किस समय तक विद्यमान थी, यह अन्वेषण का विषय है। नेमिचन्द के सामने तो वह थी ही, उसके बाद कब लुप्त हुई, इसकी खोज आवश्यक है। सं० ११९९ के 'सुपास नाह चरिय' में इसका उल्लेख है ही अतः तेरहवीं शताब्दी तक उसका अस्तित्व होना चाहिए।

पादलिप्त सूरि रचित 'प्रश्न-प्रकाश' और 'काल ज्ञान' ग्रन्थ भी अब उपलब्ध नहीं होते। 'निर्वाण कालिका' नामक आपका ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

तरंगवती कथा, नेमिचन्द्र के तरंगलोला के अतिरिक्त भद्रेश्वर कृत 'कहावली' में भी प्राप्त होती है। 'कहावली' में अन्य अनेक कथानकों का संग्रह है अतः यह कथा करीब ४५० श्लोकों में ही सार रूपेण संगृहीत कर दी है।

कथा नायिका तरंगवती भगवान् महावीर के समय में हुई थी। कथा के प्रारम्भ में राजगृही नगरी के कौणिक राजा का उल्लेख है। तरंगवती कौशाम्बी के राजा उदयन की रानी वासवदत्ता के राज्य काल में कौशाम्बी के नगर सेठ ऋषभदत्त की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई थी। भगवान् महावीर की प्रधान शिष्या आर्या चन्दन बाला की शिष्या सुव्रता की तरंगवती शिष्या थी। इन तीनों उल्लेखों से उसका समय सुनिश्चित है। आचार्य पादलिप्त ने इस ग्रन्थ की रचना तरंगवती की आत्मकथा के रूप में की है। तरंगवती राजगृह के नगर सेठ धनपाल के घर भिक्षार्थ आती है, और सेठ की पत्नी सोमा उसके दीक्षित होने का कारण पूछती है। इसी प्रसंग से तरंगवती स्वयं अपनी समस्त पूर्वकथा सेठानी को कह सुनाती है। इसलिए इस कथा-ग्रन्थ को तरंगवती की आत्मकथा भी कह सकते हैं। डा० लायमान ने इसे 'एक साध्वी की कथा' के नाम से प्रकाशित किया था। उनके मतानुसार पुनर्जन्म की पुष्टि करने के लिए, शायद इसका निर्माण हुआ हो। वैसे इसमें तरंगवती जो अपने पूर्व जन्म की कथा स्वयं कहती है, वह बड़ी रोचक है। चक्रवाक और चक्रवाकी का प्रेम सम्बन्ध भारतीय साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। अनेक लोक कथाओं में चकवा-चकवी के मुँह से कई उप-कथाएँ भविष्य कथन और रोगोपचार आदि की कहानियाँ कहलाई गई हैं। अपने पूर्व जन्म के पति की शोध के लिए चित्रपट का आश्रय लेना अनेक लोक-कथाओं में आता है। और भी लोक-कथाओं की कई विशेषताएँ पाठकों को इसमें देखने को मिलेगी। कार्तिक पूर्णिमा के कौमुदी-उत्सव की उल्लेख भी इसमें महत्वपूर्ण है।

तरंगवती कथा : पूर्व मागध देश में धनपाल नामक एक नगर सेठ रहता था जिसकी सेठानी का नाम था सोमा। सेठ के मकान के निकट एक उपाश्रय था जहाँ एक सुव्रता नाम की साध्वी अपनी अनेक शिष्याओं के संग ठहरी थी। उन शिष्याओं में से एक अति विनीत शिष्या को एक दिन दो उपवास का पारणा करना था—इसलिए वह एक दूसरी नव दीक्षित भिक्षुणी को साथ लेकर भिक्षा लेने बाहर निकली।

एक ऊँची हवेली के चौक में आकर यह साध्वी खड़ी हुई। उसे देख कर सेठानी घर के बाहर आई और भिक्षा लेने के लिए उसे भीतर बुला ले गई। आसन देकर आदर पूर्वक भिक्षा देने के बाद, साध्वी के स्वरूप पर मुग्ध सेठानी ने उससे प्रश्न किया—"साध्वी जी, यदि समय हो तो हमें कोई धर्म-कथा कहो" साध्वी ने स्वीकृति दी और धर्म-रहस्य सुनाया। उपदेश समाप्ति के बाद सेठानी ने फिर से साध्वी से नम्रता पूर्वक पूछा : "इस उम्र में आप पर क्या विपत्ति आ पड़ी कि आपको साध्वी होना पड़ा, इसका कारण समझाएँ।" आग्रह देख कर साध्वी अपना पूर्व जीवन कथा कहना आरंभ किया—

"यमुना के किनारे वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी पर राजा उदयन राज करता था। उसकी रानी का नाम वासवदत्ता था। नगर सेठ रिषभसेन राजा का मित्र था। उस सेठ के आठ पुत्र थे। बाद में उसने यमुना नदी से प्रार्थना की, फलस्वरूप मेरा जन्म हुआ, इसीलिए मेरा नाम (तरंगवती यमुना की तरंगों की कृपा से मेरा जन्म हुआ इसलिए) तरंगवती पड़ा।

मैं बड़े ही लाडकोड में पली और मैं ज्यों ही बड़ी हुई मेरे अंग-प्रत्यंग खिल उठे, मैं प्रेम क्या है यह समझने लगी। मेरी सखि सारसिका मेरे विवाह के सम्बन्ध में जो-जो बातें चलती थीं; वह मुझे कह जाती।

एक समय कुटुम्ब की सारी स्त्रिएँ किसी उत्सव के

लिए शहर के एक बाग़ में जाने के लिए तैयार हुई। हमें राजमार्ग से रथ में बैठ कर जाते हुए देख नगर के नौजवान एक टक देखने लगे और अनेक तो मेरे ही सौन्दर्य से घायल ही हो गए।

बाग़ में पहुँच कर—मैं वहाँ कमल सरोवर पर सारसिका के साथ गई। वहाँ अनेक श्वेत हंस, बतक और चकवों-चकवियों को हमने विचरते देखा। कमल की नीली पंखड़ियों पर आराम करते हुए चकवों के पारस्परिक स्नेह और ममता देखी मेरी मन में अनेक विचार उमड़ने लगे। इस जन्म में कभी न अनुभव किए होने पर भी पूर्व संस्कारों ने मुझे प्रभावित किया और विचार ही विचार में मुझे मेरे पूर्व जन्म प्रत्यक्ष दीखने लगा। इस स्मरण से मुझे मूर्च्छा आ गई मैं बेहोश हो गई।

जब मुझे होश आया उस वक्त मेरी सखी कमल के दोने में पानी ला कर मेरी आँखों पर छिड़क रही थी। सारसिका ने स्नेह से मुझे पूछा—"बहन तुझे यह अकस्मात ही क्या हो गया? तुझे थकावट प्रतीत हुई या शहद की मक्खी ने तुझे डंक मारा?" मैं मेरी प्रिय सखी को कुञ्ज में ले जा कर अपने पूर्व-जन्म की कथा कहने लगी:

अंग देश के आगे गंगा नदी बहती है। उसके दोनों किनारों पर गाँव बसे हुए हैं और जल पक्षियों के टोल-के-टोल वहाँ रहते हैं। हँस-पंक्ति इस नदी जैसे कटि मेखला रचते हैं और जल में तैरते चक्रवाक-युग्म मानों पानी की सतह पर तैरते पक्के लाल घड़े हों। मैं पिछले जन्म में इन्हीं में से एक चकवी थी। अपने चक्रवाक के साथ सबेरा होते ही तैरने जाती और उसी के साथ उड़ती। कमल-सरोवर में रेत के किनारे या तट के जंगल में जहाँ भी जाते हम सच्चे प्रेम बन्धन में बन्ध कर साथ-साथ ही रहते।

एक समय हम जब जल-पक्षी गंगा जल से बने एक तालाब में खेल रहे थे। उस समय धूप से तप्त एक हाथी नदी में स्नान करने आया। इसने जी-भर पानी पिया और तब सूंड से पानी उछलने लगा। हम भय से ऊपर उड़ चले। उस समय यमदूत जैसा एक तरुण पारधी वहाँ आ पहुँचा उसने हाथी को देख कर तीर खींचा, परन्तु दुर्भाग्य से निशाना चूक गया और हाथी को न लग कर सामने ही उड़ते हुए मेरे चक्रवाक को जा लगा। तुरन्त ही हवा के झोंके से टूट पड़े कमल की समान उसका एक पंख कट कर नीचे गिर पड़ा, साथ ही वह स्वयं भी चक्कर खा कर जल के किनारे आ गिरा। मैं भी उसकी वेदना न सह सकने के कारण उसके पीछे ही गिर पड़ी।

मेरे चक्रवाक के शरीर में अभी बाण घुसा ही हुआ था। मैंने मेरे चोंच द्वारा उसके घाव से बाण खींच निकाला और अश्रुमंन्वित नयन लिए अपनी पंखों से उस पर हवा भरने लगी। फिर मैं उसको पुकारा—परन्तु वह तो निश्चेष्ट हो कर पड़ा हुआ था। मैं सब कुछ समझ गई। अतः मैं मूर्छित हो गई। फिर रुदन विलाप करने लगी और आसपास उड़ने लगी।

पीछे वही क्रूर पारधी आया और मेरे जीवन-साथी को देखने लगा। उसने हाथी के बदले मेरे प्रिय को पड़ा देखा। वह भी इससे दुखित हुआ प्रतीत हुआ। उसने उसे रेत पर डाला और लकड़ियाँ बीन कर अग्नि प्रज्वलित की। मैं उस अग्नि में कूद पड़ी; परन्तु मुझे वह अग्नि बर्फ के समान ठण्डा प्रतीत हुई क्योंकि मैं मेरे प्रियतम के पास ही थी। मैं भी अपने पति के साथ ही मृत्यु को प्राप्त हुई।

इस प्रकार चक्रवाक का जन्म पूरा कर मैंने नगर सेठ के यहाँ जन्म लिया, और इस वक्त कमल-सरोवर की जल-तरंगों को देख कर मुझे मेरे पूर्व-जन्म की कथा का स्मरण हो आया। तालाब में फिरते चक्रवाक देख कर मुझे मेरी प्यार की स्मृति सजग हो उठी। "ओ सरिसिका! मैं मेरे पूर्व-जन्म के पति से मिलने को तड़प रही हूँ"—सखि ने मुझे 'आश्वासन दिया। हम वहाँ से माँ के पास आई और सबमें शामिल हो गई। पर मेरी माँ ने मेरा दुःख मेरे चेहरे से ही भाँप लिया। मैंने बहाना बनाया कि "मेरे सिर में दर्द हो रहा है" सबको वहीं छोड़, माँ मुझे घर ले गई।

मेरे पिता ने वैद्य को बुलाया। वैद्य ने खेद-ज्वर बतलाया। रात भर में अस्वस्थ रही। पहले दिन जो युवक मुझे देख कर रूप मुग्ध हो गए थे उनके पितादि की ओर से मेरी 'मंगनी' आने लगी। मेरे पिता ने सबकी 'मंगनी' अस्वीकार कर दी।

मेरी अन्तर्व्यथा में मुझे एक विचार सूझा; और मैंने कुछ चित्रपट बनाए। मेरे पिछले जन्म के सब अनुभवों को उसमें तूलिका से व्यक्त किया। इतने में

कार्तिक-पूर्णिमा का 'कौमुदी पर्व' आया। नगर में लोगों का मेला भरा। तदर्थ मैंने लोगों को अपने चित्र-पट दिखाने के उद्देश्य से आँगन में रखवाए और उसकी देख-रेख के लिए मेरी चतुर सखी सारसिका को अधिष्ठित किया, यह इस कामना से कि मेरे पूर्व जन्म के स्वामी जो मनुष्य योनि में आए होंगे उनका अवश्य पता लग जाएगा। मैंने सखि से कह दिया था कि इन चित्रों से मेरे स्वामी को पिछले जन्म का ऐसा स्मरण एकाएक हो उठेगा—कि वे मूर्छित हो जाएँगे—और अधीर होकर पूछें कि ये चित्र सच्चे हैं या काल्पनिक? और ये किसने बनाए हैं?—तो समझ लेना कि वे ही मेरे पति हैं।

उसी रात मुझे सुस्वप्न आया। प्रातः ही सारसिका दौड़ी-दौड़ी आई और हर्ष का समाचार सुनाया। वह बोली कि रात को मैंने चित्र चौकी पर सजा दिए थे—उस वक्त असंख्य लोग चांदनी में सैर करने बाहर निकल पड़े थे। चित्रों के सामने अपार भीड़ हो गई। बहुत रात बीतने पर भीड़ कम हुई। इतने में कई नौजवान वहाँ आ पहुँचे उनमें से एक युवक उन चित्रों को बड़े गौर से देखने लगा। वह अभी देख ही रहा था कि जिस प्रकार बाँस पर बंधी हुई ध्वजा रस्सी के कटने पर गिर पड़ती है उसी तरह वह ज़मीन पर मूर्छित होकर गिर पड़ा—उसके मित्र उसे वहाँ से दूर ले गए। मैं भी पीछे-पीछे गई। वहाँ मैंने उसे पूर्व जन्म की स्मृति से दुखित बड़-बड़ाते हुए देखा। मालूम हुआ कि उसने मित्रों से चक्रवाक की कथा कही थी—और प्रत्येक चित्र से उस कथा का साम्य भी बतलाया था। और फिर उसे पुनः मूर्छा आ गई। फिर उसने मित्रों से चित्र बनाने वाले को ढूँढ़ने की बात कही। यह सुनकर मैं जल्दी-जल्दी लौट कर चित्रों के पास जा कर खड़ी हो रही। मुझ से उन्होंने नाम पूछा तो मैंने तुम्हारा नाम बतला दिया।

मित्रों ने युवक के पास पहुँच कर बोले : "पद्मदेव! चिन्ता मत करो; तेरी प्रेमिका मिल गई है। अपने नगर सेठ की पुत्री तरंगवती ने ही ये चित्र बताए हैं; और इनमें एक सच्चे जीवन की करुण-कथा का चित्रण किया है।" ऐसा उसकी सखी ने कहा है।

यह सुनकर पद्मदेव मुस्कराया पर तुरन्त ही उसने सोचा कि "नगर सेठ मेरी मंगनी कैसे स्वीकार करेगा?" मैंने उस युवक की मन की हकीकत जान ली।

(साध्वी तरंगवती सेठानी को वार्ता सुना रही है):

"मेरी सखी ने मुझे बतलाया कि वह हमारे गाँव के साहसी व्यापारी सेठ धनदेव का पुत्र था। मैं प्रातः के नित्य-कर्म से निवृत्त हुई—उसी समय सारसिका मुझे कहने आई कि मेरे पिता ने धनदेव सेठ के पुत्र के लिए मेरी मंगनी वापस कर दी है। वे व्यापारवश हर समय प्रवास में रहने वाले व्यक्ति को वे कन्या नहीं देना चाहते क्योंकि ऐसा करने से उनकी पुत्री को सदा 'प्रेमित पतिका' ही रहना पड़ेगा। पद्मदेव के पिता इसे अपमान समझ शोकयुक्त हो अपने घर लौट गए।

यह सुनकर मेरी तो आशा लता तो पैदा होने से पहले ही मुरझा गई। मैंने एक प्रेम पत्र सखी के साथ भेजा। उसने उत्तर दिया कि तुमने जो आशा प्रदान की है उसी पर मैं जीवित हूँ, तुम मेरे लिए धैर्य रक्खो।

धीरे धीरे दिन बीत गया और रात हुई। मेरी उत्कंठ बढ़ी; धैर्य समाप्त हो गया; लाचार होकर प्रेम की वेदी पर अपनी लज्जा की बलि देने को भी उद्यत हो गई। मैंने अपनी सखी को समझा बुझा कर अपने साथ लिया और मैं अपने 'प्रिय' के महल जाने को तैयार हो गई। मेरा हृदय तो तूफ़ान पर चढ़ कर न जाने कब का ही वहाँ पहुँच चुका था! हम राज्य मार्ग से होकर जल्दी-जल्दी चलते-चलते हवेली के सामने आ पहुँची। सखी ने मुझे 'उनको' दूर से ही दिखला दिया। उस समय वे मित्रों के साथ बैठे वीणा बजा रहे थे। मैं दूर ही से उनकी रूप सुधा का पान करती रही। जब मित्र-गण चले गए तब सारसिका उनसे मिली। उन्होंने संदेश माँगा, सखी ने कहा कि—वह तो स्वयं ही यहाँ आई है!

मैं तत्काल उनके पास जा खड़ी उई और उनके चरण छुए—उन्होंने रात को अकेली आने के सम्बन्ध में मुझे मीठा उलाहना और घर लौट जाने को कहा। इतने में किसी राहगीर के ये शब्द सुनाई दिए—जो अपने आप चली आई हुई अपनी प्रिया, यौवन, धन, राजलक्ष्मी, वर्षा ऋतु, ज्योत्सना और चतुर स्नेही जन के समागम के आनन्द का उपयोग नहीं कर सकता वह उनकी मूल्य ही नहीं जानता"— इस उद्गार से प्रेरित होकर मेरे 'प्रिय' ने कहा कि यदि हम परदेस चले चलें तो विघ्न से बच कर आनन्द पूर्वक रह सकेंगे।" मैंने,

वे जहाँ भी जाएँगे, उनके साथ रहने का अपनी निश्चय बतलाया।

उन्होंने माला के लिए आवश्यक तैयारी कर ली। मैंने सखी को अपने ज़ेवर लाने पर भेजा। तब तक वे तैयार हो चुकें थे, उन्होंने कहा कि सखी की तरह देखना व्यर्थ है। क्योंकि 'तीसरा आदमी बे मतलब का विघ्न हो सकता है। इसीलिए हम दोनों जने चल पड़े। रात को खुले रहनेवाले दरवाज़े से हम यमुना के किनारे जा पहुँचे। वहाँ एक डोंगी खोज निकाली। उसकी डोर छोड़ कर हम उसमें जा बैठे। मेरे प्रिय ने अपने हाथ की जवाहरात की थैली अन्दर रक्खी। और डण्डा पकड़ा। नाव ज्यों ही प्रवाहित की, हमें सियारों के रुदन का अपशकुन हुआ।

हमारा लम्बे वियोग के बाद, उस समय, एकान्त मिलन था। बातें करते करते हमें वे चक्रवाक-जीवन का स्मरण हुआ। उन्होंने मुझे प्रेमोद्रेक से गाढ़ आलिंगन में बाँध लिया तब तक हमारी होंगी हमें गंगा के पानी में ले आई थी। पूर्व जन्म में ज्यों हमारी चक्रवाक की जोड़ी पानी पर तैरती थी त्यों ही आज हमारी युगल-जोड़ी तैरने लगी।

पौ फटने पर हम एक रेती वाले किनारे पर डोंगी लगा कर नीचे उतरे। अभी हमने सामने गौर कर के देखा भी न था कि एकाएक दूर की झाड़ियों में से लुटेरे आते दिखाई दिए। प्रेम सम्बन्धों में जो संकट होते हैं उनका इस समय हमें भाव हुआ—लुटेरों ने हमें पकड़ कर बाँधा अथवा लूट लिया मेरे सब गहनें उन्होंने उतार लिए और हमारी जवाहरात की थैली भी उनके हाथ लग गई।

तत्पश्चात् हमें पर्वत के अन्दर गहरी गुफ़ा में ले जाया गया। हमें पैसा प्राप्त हुआ देख (यहाँ लुटेरों की संस्थान[१] का भयानक वर्णन दिया गया है।) हमें बाँध कर काली माता को बलि देने के लिए एक तरफ़ एक विभाग में रक्खा गया और एक लुटेंरे नायक को हमारी 'देखरेख' के लिए नियुक्त किया। हमने हमारे जैसे दुःखी स्त्री-पुरुषों को वहाँ देखा। हमें वहाँ आया देख कर सब लोगों ने हमें खूब ढाढस बँधाया। और हम से हमारे समाचार पूछे। दूसरों को कहने से दुःख हल्का होता है यह सोच कर हमने हमारे पूर्व जन्म से लेकर कर्मों के भोग की कहानी कह सुनाई। उस कहानी को ध्यान से सुनते हुए हमारे नीरीक्षक नायक को भी कुछ दुःख हुआ और हमें मुक्त करने का उसने वचन दिया। भोर होते होते—रात की तीसरी पहर—वह हमें गुफ़ा के गुप्त वन-मार्ग से गुफ़ा के बाहर ले गया और वन के किनारे तक छोड़ आया। हम दोनों ने उस नायक का आभार माना।

भूख और थकावट से हम लोग अधमरे से हो गए थे। किसी तरह चलते-फिरते हम एक गाँव के आगे आ पहुँचे—कितने ही ग्वालों के लड़कों को हमने गाँव के निकटवर्ती खेतों में देखा। हमने उन्हें कहा कि 'भाई हम भूले भटके हैं हमें गाँव का रास्ता दिखाओ।'

ग्वालों के साथ हम गाँव में आए। वहाँ सीता-मन्दिर का चबूतरा देखा और वहीं अपना डेरा डाला। इतने में हमने एक तरुण घुड़सवार को आते देखा। जैसे ही वह हमारे सामने से निकला अकस्मात मेरे स्वामी को देख कर घोड़े से छलांग मार कर उतर पड़ा। वह उनका एक बालसखा था। उसने इन्हें पहचान लिया। वह उनसे मिला—सब कुशल समाचार कहने के बाद वह बोला कि सारसिका ने तुम्हारे चले जाने के बाद, तुम्हारी पूर्व जन्म की सारी कथा कह सुनाई। और तुम किसलिए भाग गए थे उसका उद्देश्य भी बतलाया। नगर सेठ तुम्हारे पिता के पास आए, और तुम्हारी खोज करने के लिए कहा। सब तुम्हारी प्रतीक्षा में है।

अब तुम घर चलो। तुम्हारी खोज करने चारों ओर मनुष्य दौड़ाए गए हैं। फिर उस घुड़सवार ने सेठ के लिखे हुए पत्र दिखलाए—पत्रों में खूब वात्सल्य पूर्वक लिखा था कि वह घर लौट आए—अन्त में भोजनादि से निवृत होकर हम घर की ओर चले।

हमारे सम्बन्धी एक गाँव आगे हमारी अगवानी को आए—हमने नगर में जब प्रवेश किया, हमें देखने

---

[१] इन लुटेरों के संघ का वर्णन अनेक गुजराती लोक-वार्ताओं में मिलता है, 'ठगपुर-पाटण', 'धुतारापुर' आदि नाम से यह जाने जाते हैं। वीरजी की 'कामावती' वार्ता में से 'धुतेरा-पुर' और शामण भट्ट की 'भद्राभामिनी' में से 'ठगपुर-पाटण।'

के लिए राजमार्ग पर लोगों की अपार भीड़ लग रही थी।

हम घर पहुँचे। हमने अपनी सुख-दुख की कथा सब सम्बन्धियों को सुनाई। तत्पश्चात् वसंत ऋतु में एक शुभ-मुहूर्त पर हमारा विधिवत् विवाह सम्पन्न हुआ। हमने कमल-सरोवर के चक्रवाक की तरह—एकता का अनुभव किया और आनन्द उल्लास में मग्न हो रहने लगे।

लगभग बारह मास पश्चात् हम पुष्पों की गेंद से खेलते हुए बाग में कल्लोल कर रहे थे। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे रखी एक शिला पर किसी साधु को बैठे देखा। उसे देखते ही मैंने बालों में जो पुष्प खोंस रक्खे थे, वे ज़मीन पर गिर पड़े। मुख पर उड़ कर आया हुआ पुष्प-पराग मैंने आँचल से पोंछ डाला। मेरे पति स्वस्थ हो गए और हम दोनों साधु के पास पहुँचे। नमस्कार करने पर उसने निर्वाण-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया और कुछ धर्मोपदेश किया।

मेरे पति ने साधु की 'पूर्व-कथा' जानने की उत्सुकता प्रकट की, इस पर साधु बोला :—"पूर्व जन्म में हाथी का शिकार करनेवाले पारधीगण का मैं युवराज था। धनुर्विद्या में पारंगत देख कर लोग मुझे 'सिद्धबाण' कहते थे। एक समय ग्रीष्मकाल में वनहाथी की खोज में मैं निकल पड़ा था। खूब भटकने के बाद मैंने गंगा-किनारे एक हाथी देखा, मैंने उस पर बाण चलाया। किन्तु निशाना चूक गया और बाण ऊँचा हवा में उड़ चला। उस जीव-संहारक बाण से हाथी का तो बध न हुआ परन्तु एक चक्रवाक घायल होकर नीचे आ गिरा। उसकी चकवाकी रुदन करती हुई इधर-उधर चक्कर काटने लगी। फिर उसने चोंच द्वारा बाण खींच निकाला। चक्रवाक चल बसा। उसका मैंने रेत पर अग्निसंस्कार किया। चक्रवाकी भी प्रेम सम्बन्ध में विकल होकर अग्नि में कूद पड़ी और उसके साथ ही जल मरी। यह देख कर मुझे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ, जिससे मैंने भी अपना शरीर उसी अग्नि में समर्पित कर अपने पापी शरीर को जला डाला। कृत पाप कर्मों के पश्चात्ताप करने के कारण नरक मिलने के बदले मुझे एक सेठ के यहाँ जन्म मिला। बड़ा होने पर मैंने अपने बाप का धन जुए में उड़ा डाला; शनैः शनैः मुझे चोरी की कुटेव लगी और चोर से मैं लुटेरा बन गया। लूट में मेरी निपुणता को देख कर एक लुटेरों के सरदार ने मुझे नायक बनाया। एक समय हमारी टोली के कुछ लोग एक युवक युवती का शिकार लेकर आए। उन्हें गुफ़ा में रखा गया। उन बेचारों ने मृत्यु के निकट आए जान अपने पूर्व-जन्म से लेकर वर्तमान तक की कहानी अन्य क़ैदियों से कहनी आरम्भ की। मैंने उनकी कहानी दूर ही से सुनी और मुझे अकस्मात् अपने पूर्व-जन्म का स्मरण हुआ। मुझे प्रतीत हुआ कि "मैंने बाण से जिस निर्दोष चक्रवाक की हत्या कर डाली थी वह चक्रवाक जोड़ी यही है!"—मैंने रातोंरात गुप्त मार्ग से उन्हें गुफ़ा से बाहर कर दिया। मैं उसके बाद गुफ़ा में लौटा ही नहीं। मैं विरक्त हो गया था। संसार की असारता मुझे खूब कष्ट जन्य प्रतीत हो रही थी। भाग्यवश एक गुरु से भेंट हुई। उन्होने मुझे जिज्ञासु देख कर वीतराग-दीक्षा दी।

अब मैं अपने पूर्व कर्मों को संयम द्वारा काट रहा हूँ।"

(साध्वी आगे कथा कहती है) : "जब हमने यह खेद जनक कथा सुनी तो लगा कि जैसे हमें पूर्व जन्म का अनुभवजन्य दुःख नए सिरे से कष्ट दायक लग रहा है। आँसू भरी आँखों से हमने एक दूसरे की तरफ़ देखा हमें प्रतीत हुआ कि "यह साधु हमें उसी प्रकार अमृत के समान प्राप्त हुए हैं।" बीते दुःख का ध्यान आने पर हमें हमारे स्नेह एवं भोग-विलास पर घृणा हो गई। हमने उस साधु को अपना जीवनोद्धारक माना।

साधु ने हमारी तीव्रता को देख कर हमें वहीं बोध दिया। जिससे संसार से हमें विरक्ति हो गई, और दीक्षा लेकर पवित्र साधु-जीवन व्यतीत करने का हमने संकल्प किया अथवा निश्चय को अपने माँ-बाप पर प्रगट किया। सब स्नेही जनों और नगर वासियों ने हमें खूब रोका परन्तु हमारा निश्चय अडिग था और विरक्ति दृढ़ थी इसलिए सब को अनिच्छा से सम्मति देनी पड़ी।

मेरे स्वामी एक साधु से दीक्षा ले कर वहीं से तपस्या करने निकल पड़े। उनसे विपरीत दिशा में मैं एक सुव्रता नाम की साध्वी के पास गई और उनसे दीक्षा प्राप्त की। आज उन्हीं के साथ विहार करते करते यहाँ आ पहुँचे हैं। आज मेरे दो उपवास का 'पारणा' (पूर्णाहुति के बाद का भोजन-ग्रहण) होने से भिक्षा के लिए निकली।"

साध्वी तरंगवती ने अपनी आत्म-कथा समाप्त

की तो सेठानी ने सोचा कि इन्होंने इस छोटी-सी अवस्था में कठिन तपस्या ग्रहण की है तो मुझ से 'बने जितना ही मैं भी क्यों न करूँ ?' संसार में रहते हुए भी ऐसा साधु जीवन क्यों नहीं बिता सकती ? साध्वी तरंगवती ने सेठानी को यथा शक्य व्रत-नियम का उपदेश दिया, तत्पश्चात् भिक्षा लेकर आश्रम में आ गई।

नाहटों की गवाड़,
बीकानेर (राजस्थान)

—अगरचन्द नाहटा

भारतीय संगीत

भारतीय संगीत अग्नि की तरह है,
उससे हृदय और आत्मा दोनों को गरमी पहुँचती है
विश्व का कोई संगीत चाहे वह कितना ही उत्तम क्यों न हो—
भारतीय संगीत के सामने कुछ हकीकत नहीं रखता,
विदेशी लोग इस देश में अनेक वर्ष रह कर
हजार प्रयत्न कर—
इस संगीत का मर्म नहीं समझ सकते
और न कोई राग-रागिनी ठीक ढंग से गा सकते हैं

× × × ×

भारतीय संगीत अनुपम है
इसमें ऐसा आकर्षण है
कि इसके द्वारा
मनुष्य ही नहीं पशु भी मुग्ध हो जाते हैं
भारतीय संगीत से
सम्मोहित कर हिरण पकड़ लिए जाते हैं''

—अमीर खुसरो

तीन बहनें

चौधरी छेदीलाल के मकान की बैठक। छेदीलाल अछूत जाति के हैं। परन्तु वर्तमान में वकालात के द्वारा यथेष्ट मान और धन उपार्जन किया है। बैठक अच्छा सजाया हुआ है। गुलदस्ते में फूल रखा है। एक ओर रेडियो सेट रखा है। फ़ोन मेज़ पर है। एक ओर तानपूरा इत्यादि वाद्य रखे हैं। देखने से लगता है कि घर के लोग बहुत शिक्षित एवं सुरुचिपूर्ण हैं।

शीला, लीला और बेला चौधरी साहब की तीन लड़कियाँ हैं। शीला संगीत के लिए पागल बनी रहती है। भावुक और कविता करने का शौक है।

लीला पिता की उत्तराधिकारी बन कर एक प्रभुत्व नेत्री बनने का स्वप्न देखती है। सारे दिन बगल में फ़ाइल दबा कर घूमती है। खाने पीने की भी कुछ चिन्ता नहीं।

बेला सब से छोटी बहन फ़ैशन करने में व्यस्त रहती है। कनवेंट में पढ़ती है। अंग्रेज़ी बोलने का शौक है। सारे दिन फ़ैशन में लगी रहती है।

इनकी माता जी, कोमलांगी देवी नाम के सम्पूर्ण विपरीत यानी बेहद मोटी हैं। एडवोकेट की पत्नी हैं यह सब समय मन में रखती हैं। बहुत अप-टू-डेट एवं फ़ैशनेबल बनने की चेष्टा करती जाती हैं। लड़कियाँ उन्हें टोकती रहतीं हैं। वह बार-बार कुछ-न-कुछ बेतुकी बात करती रहती हैं।

सुखीराम बिलकुल बुड्ढा नौकर है जो हर बात भूल जाता है। भूलने का रोग सा है। बहुत वृद्ध और दीन अवस्था है उसकी।

[समय शाम के पाँच बजा है। शीला गाना गा रही है।]

शीला : (तानपूरा रख कर) ओफ़! मुझ से कुछ भी नहीं बन रहा है। गाना तो नहीं ठीक हो रहा है। श्रीमान् देश सेवक जी का मैं कैसे स्वागत करूँगी? (उठ कर मेज़ के पास जाती है) अच्छा, अभ्यर्थना पर एक कविता ही सुना दूँगी। (मेज़ के पास जाकर कापी खोल कुछ लिखने लगती है।)

(उसी समय लीला बगल में फ़ाइल दबा कर आँखों में धूप का चशमा लगाए बदहवास सी वहाँ आती है। पहनावा खद्दर का है। पैरों में चप्पल। हाथ में छाता। आकर फ़ाइल रेडियो पर रख देती है और सोफ़े पर बैठ जाती है फिर ज़ोर से पुकारती है) सुखराम अरे सुक्खू!

सुखराम : (दूर से) जी, आवत हूँ मंझली बाबा। (अन्दर आता है)

लीला : (चिढ़ कर आँखों से ऐनक उतारती हुई रोब से) अरे क्या कर रहा है? जा एक गिलास पानी ला।

(सुखराम जाने लगता है)

शीला : (लिखने में व्यस्त रह कर बिना देखे ही) और सुन मेरे लिए भी पानी......(कुछ गम्भीर होकर सोचते हुए स्वगत) नहीं, पानी ठण्डा है, गला खराब हो जाएगा। कविता नहीं सुना पाऊँगी। (ज़ोर से) हाँ, सुन, मेरे लिए गरम चाय लेता आ।

(सुखी माथे पर हाथ रख कर विवशता दिखाता हुआ चला जाता है।)

लीला : (शीला के उद्देश्य से) आज मैंने इतना अच्छा भाषण दिया कि लोग देखते ही रह गए। सोचा था देश सेवक जी वहाँ आएँगे। पर वे तो वहाँ दिखे नहीं। (वह बोलती जाती है पर शीला अपनी कविता में उलझी हुई है। कुछ देर बाद उसे देख कर झल्लाती हुई कहती है।) शीला! क्या बेमतलब का काम कर रही हो! तुम्हें इतना भी याद नहीं रहता कि दूसरों की बातों को सुन लेना चाहिए। (मेज़ के पास पहुँच जाती है)

शीला : (कलम रोक कर) लीला! देखो बाबू ने......नहीं पापा ने कितने बार कहा है कि हम को 'सिस्टर', सिस कहा करो। तुम सब भूल जाती हो। श्रीमान् देश-सेवक जी सुनेंगे तो क्या सोचेंगे? इन छोटी-छोटी बातों का असर बहुत होता है समझी? अच्छा जाओ, मेरा 'मूड' मत बिगाड़ो। कविता पूरी करने दो।

लीला : (बिगड़ती है) हूँ, कवि बनी है! कुछ [illegible] काम! किसी सभा सोसाइटी में

काम करना पड़े तो पता चले। देश-सेवक जी तो करेंगे मेरे काम की क़दर। तुम जैसी भैंसों के सामने बीन बजाने से क्या लाभ ? (वह मेज़ के पास से हट जाती है और फाइल खोल कर बैठ जाती है)

बेला : (हाथ में एक रंगीन कार्ड पकड़ कर पढ़ती हुई आती है।)

"चौधरी छेदीलाल और श्रीमती कोमलांगी देवी (नाचने के ढंग से चलते हैं)

लीला : बेला ! तुम क्यों भूल जाती हो कि माता पिता के नाम नहीं लेने चाहिए !

बेला : (उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है और आँखों के सामने पत्र खोल कर कहती है) कौन कहता है कि मैं नाम ले रही हूँ ! मैं तो निमन्त्रण पत्र पढ़ रही हूँ। जस्टिस् वर्मा के वहाँ से पापा और मन्त्री के लिए 'इनविटेशन' आया है। परसों शाम को चाय पर उन्होंने बुलाया है ! (पत्र बन्द करके दोनों को देख कर) वाह ! वाह ! तुम दोनों यों ही बैठी हो ? अरे भई, तुम इसी तरह 'नैस्टी' बनी रहोगी क्या ? मिस्टर देश-सेवक तो अब आते ही होंगे। (गुलदस्ते से फूल लेकर अपने बालों में लगाती है और एक अंग्रेज़ी गाने का धुन गुनगुनाती हुई रेडियो के पास जाती है) 'ड्राइंग-रूम' को ठीक से तो 'एरेंज' करो (स्वयं ही कुछ कुछ ठीक ठाक करने लगती है)

लीला : (ज़ोर से) अरे सुखराम......

सुखराम : आवत हौं बाबा.........। (सामने आकर) जी क्या हुकुम ?

लीला : पानी माँगा था न ?

शीला : और चाय ?

सुखराम : (हाथ जोड़ कर) सरासर बिसुर गबा, अबहिं लावत हौं। (भागता है)

बेला : व्हट् ए फूल ! सब कुछ भूल जाता है !

लीला : पर चारों वक्त खाना तो नहीं भूलता है न ?

बेला : पापा से कितनी बार कहा इस 'कैड' को निकाल दीजिए ! कहते हैं पुराना है ! हूँ ! (मुँह बिचकाती है)

सुखराम : एक हाथ में चाय की प्याली दूसरे हाथ में (गिलास लेकर अन्दर आता है) लो बिटवा !

बेला : (डपट उठती है) ओह ! होपलेस फूल ! लो........ तुम से कहा यह सब जंगली बातें मत कहो। बाबा कहो, बाबा......

सुखीराम : (घबरा कर) हाँ, हाँ, यही कहब। लो बाबा, लो (दोनों के पास चाय और पानी रख देता और जाने लगता है)

बेला : अरे, यू ओल्ड पिग, हमारा काफ़ी कहाँ है ? हम ने भी तो काफ़ी का 'आर्डर' दिया था न ?

सुखीराम : हाँ, बिटवा,.. ...नहीं नहीं, बाबा; छोटी बाबा, तुम कहे तो रह्यो मुला हम अकेल जान का का कर सकित ही ? घबराए जाइत ही (सिर खुजाता हुआ चला जाता है)

बेला : अच्छा, जाओ ! फ़ौरन लाओ। बात मत करो। (धोती को संभारती है, इधर उधर घूम कर देखती है अपने पैरों की ओर और बालों पर हाथ फेरती है)

लीला : बेला ! तुम बहुत शौक़ीन हो रही हो। दूसरों का ख़याल रखा करो। सुखी को सताया न करो। उसने तुम्हें पाला पोसा है, समाज में किसी को सताना नहीं चाहिए ! यह 'डेमोक्रेसी' का युग है, इसे मत भूलो, समझी ?

बेला : (उपेक्षा से) 'आफ़टर-आल वह 'सरवेंट' है। उसे अपने काम में एक्सपर्ट' होना चाहिए। हमारे 'प्रिंसपल' के नौकर........

लीला : (फ़ाइल देखती हुई) देखो इस विषय में मैंने अपनी पार्टी का यही 'स्लोगन' और 'कैम्पेन' रखा है कि 'नौकरों के साथ उचित बर्ताव हो यह सामाजिक न्याय है। (वह कुछ पढ़ने के लिए ढूँढ़ती है)

बेला : मुँह बिचका कर और कन्धा उचका कर) 'यूज़लेस' नौकर आराम देने को रखा जाता है। नौकर की ख़ातिर करना हमारा 'बिज़नेस्' नहीं।

कोमलांगी : (नेपथ्य से) अरी, लड़कियो, तुम आख़िर क्या कर रही हो ? (कमरे में आती है, खूब मोटी, ऊँची एड़ी के जूते पहने है जिससे चलने में कष्ट हो रहा है। पतली शिफ़न की साड़ी जो उनसे संभाली नहीं जा रही है। वह साड़ी के साथ उलझी हुई हैं ! खूब सारी लिपस्टिक् इत्यादि लगाई है। मानों सज धज कर कहीं जा रही हो। झुंझला कर कहतीं) देखो, यहाँ तीनों बैठी हैं। और हम जो पुकार रही तो........

शीला : (अब कापी रख कर) अम्मा, हम भी

बेला : ओह ! 'व्हट् ए डिसग्रेस !' शील मिस् ! तुम भी सब भूल जाती हो। इतनी बार कहा कि मम्मी कहा करो। मम्मी......(माँ की ओर देख कर) और मम्मी ! तुम भी एक ही हो ! इतनी बार सिखाया 'हम पुकार रही' नहीं ! मैं पुकार रही हूँ ! कहो। मिस्टर देश-सेवक सुनेंगे तो क्या सोचेंगे ? पापा के ऊपर हँसेंगे कि नहीं ?

कोम० : हाँ, बिटिया (सिर ज़ोर से हिला कर) नहीं नहीं, 'यस् भाई डार्लिंग ! (बेबसी से खींसें निपोर कर) धीरे धीरे आदत पड़ जाएगी।

बेला : (कभी बालों को सँवारती है कभी पल्ला ठीक करती है) मेरी 'मदर' कह रही थी हिन्दी बहुत ही साधारण भाषा है।

कोम : (विषय से) हम ने तो यह कभी नहीं कहा।

बेला : (हाथ झटक कर) ओफ़ ! तुम नहीं...।

कोम : पर...माँ को ही तो मदर कहा जाता है न !

बेला : (समझ कर) कहते तो हैं। पर हमारे स्कूल में पढ़ाने वाली 'टीचर' को भी 'मदर' कहा जाता है। अब समझीं ?

कोम : पता नहीं भई ! हमें तो यह सब गड़बड़ झाला सा लगता है।

लीला : (प्यार से) पर मम्मी, नहीं सीखोगी तो काम कैसे चलेगा ? परसों जस्टिस वर्मा के वहाँ तुम फिर सब के साथ कैसे 'मिक्स' कर पाओगी ?

बेला : इसी को तो 'एटिकेट' कहते हैं मम्मी ! यह सब नहीं सीखोगी तो......

कोम : (लड़कियों के उपदेश से चिढ़ कर) अच्छा, भई अच्छा ! जैसा कहोगी धीरे धीरे वैसा ही सीख लूँगी। आखिर पुश्तों की आदत कितनी जल्दी छुट सकती है ? अरे अब भगवान् ने यह दिन दिखाया है तो वह भी हो जाएगा। घबराती क्यों हो ? (हँसती है)

लीला : तुम पुरानी बातें क्यों याद करती हो मम्मी ! दुनिया को देखो, आगे बढ़ रही है।

कोम : ठीक है ! तुम भूल जाती हो पांच साल पुरानी बातें। हम नहीं भूले हैं। हमने वह दिन भी देखे हैं जब लोग हमारे हाथ का पानी......

बेला : (भौंहें सिकोड़े, होंठ पर अँगुली धर, आँखें बड़ी-बड़ी करके धीरे कहती है) हुश ! मम्मी तुम तो गड़े मुर्दे उखाड़ती हो ! 'डोंट बी-सिली !' उन दिनों को भुला दो। अब देखा जस्टिस वर्मा ने परसों चाय पर तुम्हें और पापा को बुलाया कि नहीं ?

(अंग्रेज़ी सुर से गाती हुई, नाचती हुई माँ के पास जाती है और उन से एक अदा के साथ लिपटना चाहती है) 'ओ माई पुअर स्वुईट मम !'

कोम : (घबरा कर हटना चाहती है तो ऊँची एड़ी के कारण लड़खड़ा जाती है, गिरने लगती है) अच्छा भाई, तुम अपना गाना बन्द करो (पैर को देखती हुई) मेरे से यह जूता नहीं पहना जाता है। हाय, हाय ! एड़ी में तो छाले पड़ गए। (वह लंगड़ती हुई जाकर सोफ़े पर बैठ जाती है और हाथ घड़ी देख कर) अरे, तुम सब अब तैयार होगी कि नहीं ? देश-सेवक जी तो अब आते ही होंगे। तुम्हारे बाबू जी (ज़बान निकाल कर) नहीं, नहीं, पापा भी तो अभी नहीं आए।

शीला : (माँ के पास आकर घड़ी देखती है) ओफ़ ! मम्मी तुम भी ग़जब करती हो ! घड़ी तो तुमने उल्टी बाँधी है (खोलती हुई) यह इस तरह नहीं। इस तरह बाँधी जाती है ! (वह बाँध देती है)

कोम : इसमें न जाने कैसे लिखा है। हमारे समझ में तो कुछ नहीं आता। अंग्रज़ी का एक दो तो अब सीख गई हूँ। पर कुछ नहीं पढ़ पाते।

लीला : (घड़ी देख कर) अरे, बातों बातों में तो हमने ख़याल ही नहीं किया। छः तो कब का बज चुका है। पर वे आए क्यों नहीं। (परेशान हो उठती है)

शीला : (जल्दी मेज के पास जाकर कापी उठा लाती है) माँ ! मैंने इतनी अच्छी कविता लिखी है कि श्रीमान् देश-सेवक सुन कर मुग्ध हो जाएँगे। इसे मैं तानपूरा के साथ गाकर उन्हें सुनाऊँगी। उनकी सम्वर्धना करूँगी। (भावुक-सी, खोई सी तानपूरे के पास चली जाती है। मानों इस दुनिया से खो गई हो)

लीला : (जल्दी से) बस, बस हो चुका। अब तुम अपने तानपूरा को मत छेड़ो। मेरा तो इस टीन्, टीन् से जी घबराता है। यह सब भावुकता बेकार है। देश-सेवक जी कभी भी यह सब पसन्द नहीं कर सकते। (माँ को अपनी ओर खींच कर) मम्मी ! मैंने एक उच्च कोटि का भाषण तैयार किया है। (फ़ाइल टटोलती हुई इस तरह कहने लगती है मानों सामने माँ नहीं स्वयं

देश-सेवक ही बैठे हैं।)

बेला : (जो अब तक शीशे के सामने खड़ी बाल ठीक कर रही थी। पाउडर, काजल लगा रही थी, वहाँ से हट आती है। (माँ की गोद से चिपट कर बैठती हुई) तुम लोग तो अपनी-अपनी धुन में पागल हो। न घर सजाने का शौक न अपने को संवारने का। जब तक तुम अपने को आकर्षक नहीं बनाती, कोई तुम्हारी बात नहीं सुनेगा। (माँ की ठुड्डी पर हाथ धर कर उसका मुँह अपनी ओर घुमाती हुई लाड़ से) देखो मम्मी! आज मैंने यह साड़ी खरीदी है। कितना अच्छा 'कलर' है न?

लीला : अरे भई, आज देश-सेवक जी आएँगे नहीं क्या? शाम तो हो गई। शील सिस, तुमने सुखीराम को पत्र दिया था कि नहीं?

शीला : (चिन्तित-सी) दिया तो था...(ज़ोर से) अरे सुखीराम! ओ सुखिया......

सुखीराम : (नेपथ्य से' जी 'बिटिया जी' आवत हौं। (आकर) जी हमका बुलावत हैं?

बेला : बे 'इडियट'! हज़ार बार कहा इस तरह मत बोला करो। मिस बाबा कहा करो। ठीक से बोलना सीखो। बोलो, "मुझे पुकारा है?"

शीला : तुम सुबह चिट्ठी दे आए थे श्रीमान् देश-सेवक के घर पर!

सुखीराम : (मानो आकाश से गिरता है) चिट्ठी! कौऊन? बाबा? (सिर खुजाता है।)

लीला : (ज़ोर से डाँटती है) गधा कहीं का। सिर में क्या भरा हुआ है? जल्दी बता चिट्ठी दे आया था कि नहीं?

सुखीराम : (झेंप कर) अरे हाँ, हम तो सरासर बिसुर गवा। वह तो यहीं रह गवा। (वह टेंट टटोलता है)

बेला : (हताश हो कर) 'आई गुडनेस्!' 'व्हट ए डल फ़ेलो' तुम सुबह से कौन-सा पहाड़ खोद रहे थे! क्यों नहीं गए? (उठ कर खड़ी हो जाती है)

कोम॰ : (सोफ़े के अन्दर धंस जाती है। माथे पर हाथ मार कर चिल्लाती है) हाय, हाय, मैंने दस रुपए की मिठाई मंगवाई थी। इस मुए ने सब गुड़ गोबर कर दिया। (शीला की ओर जलती आँखों से देख कर) शीलवा को हम तब हीं कहा कि इस मुए से काम न होने का। हमार तो कोई सुनता ही नहीं। हाए, हाए, मेरे सारे पैसे बरबाद कर दिए। (वह आँखें बन्द कर के पड़ जाती है। सुखी अपराधी-सा सिर खुजाता हुआ खड़ा रहता है।)

शीला : अपनी कापी सीने से लगा कर खूब लम्बी-सी साँस खींचती है मानों दिल टूट गया हो) अफ़सोस! समस्त आशाएँ बिखर गईं। मेरी कविता निष्फल वेदना बन गई। (वह कापी मेज़ पर रखती है और उसी पर सिर टेक देती है। रह रह कर लम्बी साँस लेने के कारण उसका शरीर हिलता रहता है)

लीला : (सुखी के पास आती है मानों उसे एक झापड़ रसीद करेगी) तुम नालायक हो। महीने भर की तनख़्वाह नहीं मिलेगी तुमको। निकल जाओ यहाँ से (वह बाहर उंगुली दिखाती है) गँवार, बुद्धू कहीं का (हाथ ऊपर उठाती है, सुखी दुबक कर पीछे हट जाता है) मैं आज ही इस विषय पर एक लेख लिखूँगी, इन अपदार्थों से समाज को बचाना चाहिए। (वह फाइल लेकर जल्दी चली जाती है)

बेला : (नाक से रोती हुई) मैंने कितने शौक से आज ही के लिए यह साड़ी खरीदी थी। कितनी 'बोर' हो गई आज की शाम! मैं तो 'ड्राईंग-रूम' ठीक करते करते थक भी गई। 'आई गुडनेस्' (वह सोफ़े पर लुढ़क जाती है। सब लोग खामोश पड़े रहते हैं। मानों मातम छा गया हो)

सुखीराम : (जाता हुआ) हम का करी? बिहान से साँस लेवे का तनिक फुरसत तो नाहीं मिलत। हम बैल थोड़ेकई हईं। हम ग़रीब तो सेंत में भूखन मरबै।

(जाता है)

—नमिता छुम्बा

६/१४ ई. पटेल नगर,
नई दिल्ली—१२

दया से पापियों के जीवन में जितना परिवर्तन हो जाता है उतना उपदेश के द्वारा नहीं। —एफ़. डब्ल्यू. फ़ेबर

प्राचीन भारत की सांस्कृतिक नगरी धारा

भारत के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास में धारा नगरी और उसके परमार-वंशीय शासकों का अपरिहार्य स्थान है। आज भी उज्जैन और इन्दौर के दक्षिण पश्चिम में स्थित धारा नगरी अपने अतीत वैभव की गाथा कह रही है। जगह-जगह बिखरे हुए खण्डहर उसकी उज्वल सांस्कृतिक परम्परा का उद्घोष करते से प्रतीत होते हैं। धारा नगरी आज न 'धारा' रही और न 'नगरी'। आज वह लगभग चालीस हजार की जन-संख्या का छोटा-सा शहर है; जिसे धार कहा जाता है—जहाँ से लगभग ३३ मील दूर महू का रेलवे-स्टेशन है। धार में मात्र आउट-एजेन्सी है। धार यद्यपि मध्य-भारत का एक ज़िला है; जिसका प्रमुख नगर धार है तथापि यह प्रदेश आदि वासी क्षेत्र में परिगणित है। धार के पश्चिमी ग्रामों में आदिवासी भील रहते हैं। धार में प्रत्येक रविवार को लगने वाली हाट में भीली-जनता की भीड़ देखी जा सकती है। वैसे इस प्रदेश में ठेठ मालवी लोग रहते हैं; जिनकी बोली भी मालवी है। धर्म की दृष्टि से यहाँ शैवोपासक, जैन और मुसलमान प्रमुख हैं।

प्राचीन संस्कृति-साहित्य में इस नगरी का नाम धारी नगरी मिलता है। पर इसका यह नाम क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में कोई तथ्य प्राप्त नहीं होता। संभवत: 'धारा' शब्द 'असिधारा' से सम्बन्धित है। तलवार की धार पर विजय की गई नगरी 'धारा नगरी' के नाम से अभिहित हुई। अत: यह नाम शौर्य और पराक्रम का सूचक है। दूसरे 'धार' शब्द का अर्थ किनारा अथवा 'तरफ़' भी है। विन्ध्याचल-पर्वत के किनारे स्थित होने के कारण भी इसे कदाचित् धारा नगरी कहा जाने लगा होगा। प्रसिद्ध ग्रीक भूगोलवेत्ता टालेमी (Ptolemy) ई० स० १५०) ने लिखा है कि उज्जयिनी के निकट नैऋत्य में जेरोगिरि (Zerogerei) नामक एक नगरी है। विद्वानों का मत है कि वह और कोई नहीं यही धारा नगरी अथवा धारागिरि है। धारागिरि का अपभ्रंश जरोगिरि हो गया।[1] इसके अतिरिक्त कुछ शिलालेखों में भी धारा नगरी का उल्लेख मिलता है। जौनपुर से प्राप्त ईश्वर वर्मन के एक खण्डित शिलालेख (ई० स० ५०० से ६००) में धारा का उल्लेख है। चीनी यात्री ह्युएनत्सांग (Hsiian tsang;) ई० स० ६२६—४५) ने अपने भारत-प्रवास सम्बन्धी विवरण में अवन्ती व मालवा (मोलोप्पो) का अलग से वर्णन किया है; जिसमें मालवा की राजधानी धार बताई है। तत्पश्चात् नवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस नगरी पर परमार-वंशीय शासकों का आधिपत्य हो गया। परमार वंशीय शासकों के शासन में धारा नगरी ने चहुँमुखी प्रगति की। इन परमार वंशीय राजाओं की राजधानी उज्जयिनी रही; पर आगे चल कर किन्हीं कारणों से उज्जयिनी का महत्त्व घट गया और धारा नगरी ने राजधानी का गौरव प्राप्त किया। राजा मुंज के दरबार के राज कवि पद्मगुप्त (अथवा परिमल) रचित महा काव्य 'नवसाहसांक चरित' में धारा नगरी की तुलना लंका अथवा अलकावती से की गई है :

> "विजित्य लंकामपि वर्तते या
> यस्याश्च नायात्यलकाऽपि साम्यम्
> जेतु:पुरी साप्यपरास्ति यस्या:
> धारेति नाम्ना कुल राजधानी"

कवि पद्मगुप्त (परिमल) ने धारा नगरी की जो तुलना लंका अथवा अलकावती से की है उसमें अतिशयोक्ति नहीं। धारा नगरी के चारों ओर तालाब थे (जिनकी संख्या साढ़े-बारह है—मुंज, नटनागरा देवी सागर आदि) अत: लंका के समान यह नगरी भी जल-राशि से घिरी हुई थी। अलकावती कुबेर की नगरी मानी जाती है; जिसकी स्थिति हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में है। 'ठीक इसी प्रकार धारा नगरी भी विन्ध्याचल के पर्वतीय प्रदेश में स्थित है। लंका और उलकावती नामक दोनों-नगरी अपने वैभव और सौन्दर्य के

---

[1] जर्मन पंडित लॉ सेन और स्व० काशीनाथ कृष्ण लेले का मत।

लिए प्रसिद्ध हैं; ठीक इसी प्रकार धारा-नगरी भी वैभवशालिनी और सौन्दर्यवती थी।[२] आज भी धार का प्राकृतिक सौन्दर्य द्रष्टव्य है ।

धार के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० काशीनाथ कृष्ण लेले को ई० सन् १९०२ में भोजनशाला में एक शिला-खण्ड प्राप्त हुआ था; जिस पर मदन कवि विरचित 'पारिजात मंजरी' (अथवा विजय श्री) नामक संस्कृत नाटिका के दो-अंक खुदे हुए हैं । यह शिला लेख 'भोजशाला' में सुरक्षित है । यह नाटिका परमार-वंशज राजा अर्जुनवर्मदेव (ई. सन् १२१०—१२१८) की विजय श्री से सम्बन्ध रखती है । इसमें धारा का निम्नलिखित वर्णन है :

> "चतुरशीति चतुष्पथ सुरसदन प्रधाने ।
> धारापुर्यां युवतिश्रृङ्गारमुक्तास्रजो
> जगज्जडतान्धकारशातनशरच्चन्द्रिकाय:
> शारदादेव्या:सद्मनि ।
> सकल दिगन्तरोंपागतानेक त्रैविद्य सहृदय
> सकला कोविद रसिकसुकविसंकुले । आदि

[इस धारा नगरी के चार विस्तीर्ण राजमार्ग हैं और उन पर चौरासी चौपाटी हैं । उसमें से एक विस्तृत पथ के मुख्य स्थान पर 'शारदा देवी' का प्रशस्त भवन है । इस भवन में ही इस नाटिका का अभिनय किया जाए । इस धारा नगरी का वर्णन करना कठिन है । यह नवयुवती द्वारा धारण की जाने वाली बहुमूल्य मुक्ता-माला के समान है । उसे प्रत्यक्ष शारदा देवी भी कहा जा सकता है; जो इस जगत् के अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश करने वाली शरद-चन्द्रिका के समान है ।][३]

परमार वंशीय शासकों के बाद मालवा और धारा नगरी पर मुसलमानों का आधिपत्य हो गया । मुसलमानों ने अपने मज़हबी दीवानेपन में इस प्रदेश के सांस्कृतिक अवशेषों को नष्ट करने अथवा विकृत करने के भरसक प्रयत्न किये । परमार वंशीय खण्डित मूर्तियाँ और शिलपकला के कुछ भग्नावशेष आज धार के पुरातत्व संग्रहालय में देखे जा सकते हैं ।

धार का सब से पुराना हिस्सा 'भोजशाला' एवं 'बनियावाड़ी' नामक मोहल्ला है जो एक संकरी गली में स्थित है । श्री हरिभाऊ वाकणकर अपने "नयन मनोहर परमार कालीन मूर्तियों की खोज' नामक लेख में लिखते हैं : "भोजशाला एवं बनियावाड़ी के मध्य का सारा भू-भाभ प्राचीन मूर्तियों से भरा पड़ा है—कुछ वर्ष पूर्व बनियावाड़ी में ही १३ वीं और १४ वीं शताब्दी की पार्श्वनाथ जी की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ नींव खोदते समय पाई गई थीं ।"[४]

धार के दृष्टव्य स्थानों में भोजशाला, लाट मसज़िद, दुर्ग, कालिका मंदिर आदि हैं ।

भोजशाला : सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राचीन स्थानों में भोजशाला का स्थान सर्वोपरि है । भोजशाला की अर्द्ध खण्डित और अर्द्ध परिवर्तित पाए जाने वाले चिन्ह राजा भोज के शिक्षा और साहित्य के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का परिचय देते हैं। वैसे भी भोजशाला की इमारत भारतीय शिल्प का एक उत्कृष्ट उदाहरण है ।

भोजशाला को 'भारती–भवन' अथवा 'शारदा-सदन' के नाम से उस समय पुकारा जाता था। इस भवन के मध्य में सरस्वती की मूर्ति आसीन थी। जो आजकल लन्दन-म्यूज़ियम में सुरक्षित है। अर्जुन वर्म प्रशस्ति के आधार पर भारती भवन में राजा भोज की सभा लगती थी; जिसमें तत्कालीन स्थानीय और बाहर के विद्वान् सम्मिलित होते थे तथा जिसमें नाट्यशाला भी थी। नव साहसांक चरितकार परिमल अथवा पद्मगुप्त, धनपाल, भट्ट गोविन्द, विद्यापति, भास्कर भट्ट, छित्तप, शंकर, निचुल, विनायक, वररुचि, धनिक और धनंजय उस समय के प्रमुख विद्वान थे। सभा में साहित्य सम्बन्धी चर्चाओं के अतिरिक्त कवियों की काव्य-प्रतिभा की समस्या-पूर्तियों द्वारा परीक्षा भी होती थी। सर्वश्रेष्ठ कवि को 'कालिदास' की पदवी प्रदान की जाती थी। अन्य पारितोषक भी दिए जाते थे।

भोजशाला के फ़र्श पर जो पत्थर बिछे हुए हैं उन सब पर साहित्य खुदा हुआ है। ये पत्थर किसी समय अन्य उचित स्थान पर लगे होंगे, जिन्हें मुसल-

---

[२] धार संस्थानचा संक्षिप्त प्राचीन इतिहास—शि० का० ओक और का० कृ० लेले । [३] 'पारिजात-मंजरी'—अनुवादक श्री अनन्त वामन वाकणकर पृ० २ और ३३—३४ । [४] "उषा" (मासिक); धार—अंक मई १९५५, पृ० १२।

मान आक्रमणकारियों ने खुरच कर न पढ़ने योग्य बना बना कर फ़र्श पर लगा दिया है। कुछ ऐसी मूर्तिओं को भी, जो खम्भों के ऊपरी हिस्से में लगी रहती थीं, खंडित करके नीचे के हिस्से में लगा दिया है, जिससे उस साहित्य पर और मूर्तियों पर सभी के पैर पड़ें और उनकी निरादर हो। आज भी भोजशाला के स्तम्भों पर वर्णमाला एवं व्याकरण सम्बन्धी अनेक बातें स्पष्ट खुदी हुई देखी जा सकती हैं। बहुत से शिलालेख जब खुरच कर विकृत न किए जा सके तो उन्हें ज्यों-का-त्यों दीवारों पर उलटा लगा दिया गया। ऐसे दो शिलालेख सन १९०२ में उखड़ गए थे, जिन्हें सन् १९०३ में वायसराय लार्ड कर्जन की आज्ञा से निकाला गया। उनमें से एक पर मदन कवि कृत 'पारिजात-मंजरी' अथवा 'विजयश्री' नामक नाटिका के दो अंक खुदे हुए हैं और दूसरी पर भोजकृत 'अवनिकूर्मशतक' खुदा हुआ है। फ्रेम में जड़े हुए ये दोनों शिलालेख भोजशाला में लगे हुए हैं।

इसी भोजशाला में एक कूप है, जिसे 'सरस्वती-कूप' कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इस कूप का जल पीने से बुद्धि तीव्र होती है! पर खेद की बात है कि आजकल यह कूप आयोग में नहीं आता!!

मुसलमान आक्रमणकारियों ने 'भोजशाला' को अंग-भंग करके मसजिद में परिवर्तित कर दिया था। आज भी यह परिवर्तित रूप ज्यों का त्यों है। इस परिवर्तित इमारत को 'कमाल-मौला' के नाम से पुकारा जाता है। मौलाना कमालुद्दीन की कब्र के कारण इसका नाम 'कमाल-मौला' पड़ा है।

लाट मसजिद : अन्य महत्वपूर्ण स्थानों में फिर 'लाट मसजिद' का क्रम आता है। यह स्थान ऐतिहासिक गरिमा से पूर्ण है। मसजिद की इमारत के पास लोहे की एक विशाल लाट पड़ी है, जिसके कारण इस मसजिद को 'लाट मसजिद' कहा जाता है। यह स्थान धार के दक्षिण में है। मालवा के प्रथम सुलतान दिलावर खान गौरी ने प्राचीन हिन्दू-मंदिर को तोड़ कर सन् १४०५ में इसे बनवाया था और इसका नाम 'जामा-मसजिद' रखा था। इस बात का उल्लेख 'जहाँगीर की डायरी' में किया गया है। मसजिद के पूर्व व उत्तर में दो दरवाजे हैं, जहाँ फ़ारसी शिलालेख लगे हुए हैं। जिसमें इस मसजिद के निर्माण का उपर्युक्त सन् एवं दिलावर खान गौरी का नाम अंकित है।

मसजिद के सामने २४ फुट लम्बी और ४ फुट परिधि की चौकोनी लोहे की लाट पड़ी हुई है। इस लाट का लोहा अद्वितीय है; जिसमें ज़ंग नहीं लगता।

इस लाट को स्थानीय साधारण जनता 'तेली की लाट' कहती है। 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगी तेलन' नामक कहावत मालवा में ही नहीं, देश के प्रायः सभी हिस्सों में प्रचलित है। लोहे की इस लाट को गांगी नामक तेलन की तराजू की डण्डी कहा जाता है और लाट के आसपास जो तीन बड़ी-बड़ी गोलाकार शिलाएँ पड़ी हुई हैं उन्हें तोलने का वज़न माना जाता है। धार के दक्षिण में लगभग चौदह मील दूर नालछा नामक गाँव है। यह तेलन इसी गाँव में रहती थी। नालछा के निकट एक टेकड़ी है; उसे तेलन-टेकड़ी के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार इस लाट के सम्बन्ध में आश्चर्य-जनक कहानी प्रचलित है। पर, इस कहानी में कोई सार नहीं है। गांगी और तेलन क्रमशः गांगेयदेव और तैलंगन के अपभ्रंश रूप हैं। वास्तव में यह लाट एक विजय-स्तम्भ है; जिसे भोज ने प्रतिष्ठापित किया था। इसके पीछे प्रामाणिक इतिहास है। भोज ने अपने शत्रु त्रिपुरी के राजा कलचूरि गांगेय देव और तैलंगनाधिपति को पराजित किया; जिसकी स्मृति में यह जय-स्तम्भ निर्मित किया गया। नालछा के निकट जिस टेकड़ी के समीप युद्ध हुआ उसका नाम आगे चल कर तेलन-टेकड़ी पड़ गया!

दुर्ग : धार में एक टीले पर लाल पत्थर का दुर्ग है। इस दुर्ग को दिल्ली—सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ ने बनवाया था; जिसे इतिहासकारों ने पागल कहा है। जहाँगीर-बादशाह की डायरी में इस बात का उल्लेख है कि सन् १३४४ ई० में मुहम्मद तुग़लक़ देवगिरि (दौलताबाद) को जाता हुआ कुछ दिन के लिए धार रुका था। धारा का यह दुर्ग महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दुर्ग है। सन् १६५८ ई० में इसी दुर्ग में दारा ने ससैन्य शरण ली थी। इसी युग में बाजीराव पेशवा, द्वितीय का जन्म हुआ था। सन् १८५७ ई. के विद्रोह में मकरानी लोग इसी दुर्ग में आकर छिपे थे; जिनकी टुकड़ी का पीछा महू के जनरल स्टुअर्ट की पलटन ने किया था। मकरानी लोग १६ अक्टूबर से २२ अक्टूबर तक दुर्ग में रहे। लगभग तीन-सौ गज की दूरी से तोप लगा कर दुर्ग पर

गोले मारे गए, पर दुर्ग नहीं टूट सका। छठवें दिन दुर्ग के कगार टूटने लगे। ऐसा कहा जाता है कि स्थानीय किसी व्यक्ति ने दुर्ग का जोड़ अंग्रेज़ों को बता दिया! दुर्ग के सब से कमज़ोर हिस्से पर जब तोपों से गोले बरसाए गए तब उसका टूटने लगना स्वाभाविक था। दुर्ग के कगार ढहते देख कर मकरानी लोग दुर्ग के दूसरे द्वार से मन्दसौर की तरफ़ भाग गए।

कालिका देवी का मन्दिर : कालिका-देवी का मन्दिर, भक्तों के लिए तो, पवित्र स्थान है ही; वैसे भी यह स्थान बड़ा रमणीय लगता है मंदिर एक ऊँची टेकड़ी पर बना हुआ है। वहाँ तक पहुँचने के लिए पत्थर की १५० सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। मन्दिर में काले पत्थर की एक भव्य मूर्ति है। यहाँ आश्विन में नवरात्रि का मेला लगता है। मन्दिर के सामने 'मुंज-सागर' नामक मनोरम सरोवर फैला हुआ है। शरद् ऋतु में, यह सुन्दर सरोवर कमलों से रंगीन हो उठता है। इस स्थान की प्राकृतिक श्री दर्शकों को अभिभूत कर लेती है।

रामकुंज, देवास-मार्ग,
माधव नगर, उज्जैन

—महेन्द्र भटनागर

लेनिन का बच्चों से प्रेम

एक बार की बात है कुछ बच्चे जंगल से ओक वृक्ष के अंकुर को लाए। उन्होंने चिल्ला कर कहा : "हम इस छोटे ओक को बग़ीचे में बोना चाहते हैं।" उनके पिता ने कहा : "वृक्ष वसन्त ऋतु में बोये जाते हैं और इस समय तो पतझड़ है।"

ये बातें चल ही रही थीं कि लेनिन वहाँ आ गए। लेनिन ने कहा कि उन्हें इसी समय अंकुर को बो देना चाहिए अन्यथा वह मुरझा जाएगा। लेनिन ने बच्चों के पिता से कहा : "बच्चों की भर्त्सना मत कीजिए। हम अंकुर को बग़ीचे में लगा देंगे। हो सकता है कि यह उग जाए।"

बच्चे कस्सी ले आए। लेनिन स्वयं बच्चों की मदद करने लगे। इससे बच्चों को बहुत प्रसन्नता हुई।

एक बच्चे ने खोदा। लेनिन ने स्वयं उस अंकुर को मट्टी में जमाने का प्रयत्न किया। दूसरे बच्चे पानी ले आए। उसमें पानी डाला गया। ओक के अंकुर को लगा देने के पश्चात् उसने बच्चों से कहा : "देखो! इस ओक की देखभाल करते रहना। हमें और वृक्षों को भी लगाना चाहिए।" कुछ समय बाद लेनिन वहाँ से चले गए। आज वही ओक का वृक्ष एक महान् वृक्ष बन गया है। लेनिन को बच्चों से बहुत प्रेम था।

—"सोवियत लैण्ड" से

महान् विचारक : सँतियाना

महान् सांस्कृतिक अभियान के रणबाँकुरे सँतियाना का जन्म १८६३ ई. के 'मेडरीद' नामक नगर में हुआ। ये एक ही साथ विचारक, कवि, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक थे। ये अमेरिकन ही नहीं थे बल्कि यूरोपियन भी, इनका जीवन दो महान् राष्ट्रों की देन है, और विचार प्रगतिशील लेखक संघों का समिश्रण। इन्होंने साहित्यिक परम्परा में ही बल नहीं दिया, बलिक वैज्ञानिक धारा में भी। जो अमानत इन्हें पूर्वजों से मिली थी, उसकी उन्होंने रक्षा ही नहीं की वरन् श्रीवृद्धि भी की। इनका अध्ययन पौराणिक अध्ययन शाला से चल कर, नवीन प्रगतिशील युग में मुखर हो गया है। उनकी गूढ़ दार्शनिक विचार धारा २७ साल से प्रारम्भ होकर ५० साल के अन्तराल में प्रौढ़ हो गई थी। उनके अध्ययन का अधिक समय 'हवर्ड' नामक नगर में हो पाया था। इनके निकाय के ही प्रगतिशील छात्र एक स्थान पर इस तरह से इनके विषय में लिख चुके हैं :

> "Those who remember him in the class room will remember him as a spirit Solemn, Sweet and with drawn, whose Johannine face by a renaissance painter held an abstract eye and a hieratie Smile half mischief half content, whose rich voice flowed evenly in cackness Smooth and balanced as a liturgy, whose periods had the intricate perfection of a poem and the import of the prophet who spoke some how for his hearers and not to them, stirring the depths in their natures and froubling, their minds, as an oracle might, to whom pertained mystery and reverence, so compact of remoteness and fascination was he, so moving and so unmoved."
>
> —Horace-Kallen 1921

सँतियाना की आत्मा काव्यात्मक उत्स से पूर्ण प्रवहमान होती रहती थी और मन दर्शन के प्राङ्गन में भ्रमणशील था। अमेरिका जैसे उद्योग प्रधान एवं व्यावसायिक नगर में भी उन्होंने दार्शनिक बनने का दावा प्रकट किया। उन्होंने अध्ययन के लिए 'वोस्टन', 'केम्ब्रीज' और हार्वड का भ्रमण किया और चिरगतिशील रहे। उन्होंने 'प्लेरो', 'अरस्तु' एवं रायसी से शिक्षा की भिक्षा ली, साथ ही साथ उन विचारकों के विचार से अति प्रभावित रहे।

उन्होंने प्राय: अध्ययन शाला की तलाश में ही अपनी जिन्दगी खपानी प्रारम्भ की थी और अध्ययन निकाय में ही जिन्दगी बिता भी दी। वे पक्के विचार के पुजारी थे। उन्होंने चिन्तन से तो अध्ययन का काम लिया और काल्पनिकता से नवीन दिशा की खोज का। जिस निकाय में उन्हें शान्ति मिल जाया करती थी, उसे वे अध्ययन शाला की संज्ञा प्रदान करते थे। वे सभी समय मेघाच्छन्न आकाश की घोर कालिमा की ओर देखा करते थे। वे कहा करते थे इसी घोर कालिमा से मेरा जीवन मुक्त हुआ है। वे उसी कालिमा से जीवन की ममता प्रकट किया करते थे।

आधुनिक युग के विधायक विचारकों में सँतियाना का नाम अति उच्चता के साथ आता है। दर्शन की भूमिका में उन्होंने सर्वप्रथम 'The sense of beauty' को प्रसारित किया था। वह लेख १८६८ में प्रसारित किया गया था इस लेख में अधिकतर सौन्दर्यमूलक भावना का विकास हो पाया है। इसके बाद पाँच वर्ष तक इनकी एक भी रचना प्रकाश में नहीं आ पाई, और इसके बाद इन्होंने 'धर्म और काव्य' से सम्बन्धित एक लेख प्रसारित करवाया, जिसका नाम था 'Interpretations of poetry and religion' और लगातार सात साल तक इसी तरह के विषयों पर अध्ययन करते रहे। सौन्दर्य की प्रयोग शाला में इन्होंने काव्य को मंजरित किया, साथ ही कामशास्त्र की भी विषद विवेचना की है। काव्य में ये नवीन युग लाने को आकुल थे।

उसके बाद का समय इन्होंने दार्शनिक एवं काव्यात्मक चिन्तन में बिताया। इनके पाँच खण्ड जो पाँच गहन विषयों पर लिखे गए है, वास्तव में विश्व के

लिए एक महान् प्रयोग हैं। 'Reason in common sense', 'Reason in society', Reason in religion', 'Reason in art' और 'Reason in science' इन पाँच खण्डों में सभी विषयों का मूल स्वरूप आ जाता है।

'प्लेटो' के दर्शन वाद के सिद्धान्त से सँतियाना काफ़ी प्रभावित हो चुके थे। एक ही साथ एक ही आदमी में कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य पर अधिकार करना और सौन्दर्य की पीठिका पर सत्यता का प्रसाद का निर्माण करना कोई हँसी खेल की कहानी नहीं है। कहा जाता है प्रत्येक कवि दार्शनिक होता है पर प्रत्येक दार्शनिक कवि नहीं होता है, लेकिन संवियाना पहले दार्शनिक थे फिर कवि।

१९२३ ई० के मार्च में इन्होंने 'Scepticism and animal faith' नामक पुस्तक लिखी, यह पुस्तक वास्तव में अधिक परिश्रम के बाद लिखी गई है, इस पुस्तक में संवियाना ने एक नवीन पथ का अवलोकन किया है। पाठकों से भी कुछ इस प्रकार का निवेदन उन्होंने किया जिस तरह से पहले के विचारकों ने नहीं किया था। उनका कहना था कि पाठक मेरी रचना का अध्ययन करें पर इससे पहले वे आत्म चिन्तन एवं आत्म शुद्धि का ज्ञान हासिल करें।

वे जीवन में हमेशा चिन्तन एवं कल्पना का आश्रय लिया करते थे। वे विश्व हरवादी में संदेह उपस्थित किया करते थे, संदेह के बाद ही एक विचार उपस्थित किया करते थे, उन्होंने सब से पहले इस पर संदेह उपस्थित किया था कि 'हम कहाँ से आए हैं', मेरा सबसे पहला क्या काम था, साथ ही साथ इसके बाद फिर कहाँ जाना होगा। वे घन-घन के चिन्तन को ही अध्ययन मानते थे। 'गुण' का क्या स्वभाव है, गुण कभी बदलता है या नहीं; रंग का क्या स्वभाव है, रंग भी बदल सकता है, विचार में कौन-कौन तत्व पाए जाते हैं आदि आदि विषयों पर जम कर चिन्तन एवं अध्यन प्रकट किया करते थे। इतना ही नहीं विश्य में चिन्तन कितने प्रकार के होते हैं और चिन्तन का कोई नैतिक स्तर हो सकता है या नहीं; चिन्तन में मौलिकता का कहाँ तक मिश्रण है।

इन विषयों को ऊपर से तो देखने में पता चलता है कि इसके अन्दर अवास्तविकता एवं कोई सत्य ही नहीं, पर जब इन्हीं विषयों को अध्ययन के क्षेत्र में लाया जाता है तो सारा का सारा मानव इतिहास ही असत्य दृष्टिगोचर होने लगता है। लाखों वर्ष का ब्रह्ममय विश्वास उठ जाता है। पर संतियाना ने ये भी कहना प्रारम्भ किया कि लाखों वर्ष का विश्व संवेदना का एक छोटा इतिहास है। सत्य एवं संवेदना चिरन्तन है और सभी पदार्थ अमौलिक एवं असामान्य है। एक फ्रेंच दार्शनिक महिला कहा करती थी कि 'All children are unrational' और संतियाना ने ये कहना प्रारम्भ किया था कि 'Human beings are rational' वास्तव में संतियाना विकासवादी विचारक था। इसी तरह से संतियाना ने Scepticism and animal faith में कहा था (१९२ पृ०)।

"We are not asked to abolish our conception of the natural world, nor even in our daily life to cease to believe in it, we are to be idealists only north-north west or transcendently; when the wind is southerly we are to remain realists; I should be ashamed to countenance opinions which, when not arguing I did not believe. If would seem to me dishonest and cowardly to militant under other colors than those under which I live........Therefore no modern writer is at together a philosopher in my eyes spinsza.......I have frankly taken nature by the haed accepting as a rule, in my farthest speculation the animal faith I live by from day to day."

Scepticism and animal faith Page 192

सँतियाना ने यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया था कि मैं अब तक 'प्लेटो', 'अरस्तु' एवं स्पेनोगा का अध्ययन किया है और इन सबों का अध्ययन ने हमें एक सुदृढ़ता प्रदान की है और साथ ही साथ सँतियाना का ये भी कहना था कि इन तीनों ने जो कुछ लिख दिया है वह आधार शिला स्वरूप है। सँतियाना का कथन था कि जब सामन्ती समाज अपनी अन्तिम साँस की गिनती में था उस समय भी दर्शन मुखर ही मुखर था। फिर उसी सँतियाना को हम ये भी कहते पाते हैं

कि दो पदार्थों के संमिश्रण से तीसरे का जन्म स्वयं ही हो जाता है और मानवों का जन्म भी कुछ इसी प्रकार का है। उसने इन बातों को 'Reason in science' में कहा था। सँतियाना ने ये भी कहा था कि 'विज्ञान और जीवन' में एक अजीब सम्बन्ध है। सभी विचारक ये मानते हैं कि विश्व परिवर्तनशील है, पर 'सँतियाना' कहता था कि विश्व परिवर्तनशील तो है ही पर किस हद तक है इसे अभी मानव नहीं जान पाया है। 'सँतियाना' के चिन्तन में और 'सुकरात' के चिन्तन में कुछ-कुछ समता है। अरस्तु के विषय में 'सँतियाना' ने कहना प्रारम्भ किया था कि 'अरस्तु' एक महान् विचारक तो था ही, पर वैज्ञानिक भी।

प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु में एक रहस्यवादी विकास है, लगता है जैसे 'सँतियाना' ने सर कर मानवों से भावों का आदान प्रदान किया है।

"In natural philosophy I am decided materialist apparently the only one living..,..But I do not progress to know what matter is itself.. ...I wait for the men of science to tell me.,....But what ever matter may be. I call it matter boldly as I call my acquaintances. Smith and Jones without knowing secrets.

लेकिन अन्त में 'सँतियाना' 'वर्गसाँ' महोदय से काफ़ी प्रभावित हुए थे। 'सँतियाना' ने 'वर्गसाँ' महोदय के विषय में लिखा है कि उहोंने प्राकृतिक अध्ययन से ही चिन्तन का अध्ययन प्राप्त किया था। उन्होंने मृत्यु, जन्म एवं प्रकृति पर अधिक जम कर लिखा है और चिन्तात्मक अध्ययन किया है। यह जीवन एक साधारण-सा लगता है और Reason in Religion में लिखा है :

"Exile that I am
Exile not only from the window
sweet moor
when Guadaranna life is his
purple crest
But from the spirits realm
Celestial sure
Goal of all hope and
vision of the best"

यद्यपि कइयों का कहना है मानवों में बहुतेरे धार्मिक नहीं होते हैं, पर मनुष्य किसी न किसी रूप में धर्म का सहारा लेता रहता है। इतना ही क्यों? वह धर्म का अध्ययन करता है। मानव स्वभाव ही ऐसा नहीं है जो अधार्मिक हो पाए। नास्तिक दर्शन अभी तक इस विश्व में नहीं हो पाया है। फिर सँतियाना ने ही कहना प्रारम्भ किया कि धर्म का इतना व्यापक अध्ययन क्यों किया जाता है अभी तक हमें पता नहीं चल पाया है। 'सँतियाना' सर्व प्रथम देवी-देवता एवं धर्म से भय खाता था पर आगे चल कर उसने उन वादों एवं झंझटों को सुलझाने का प्रयत्न किया था।

'Reason in Society' में सँतियाना ने सामाजिक दर्शन की ओर अपना अध्ययन बढ़ाया था। जिस तरह से 'सुकरात' और 'स्पेनोज़ा' का विचार था उसी तरह से सँतियाना का भी, इन तीनों विचारकों के सामाजिक चेतनत्व में तनिक भी अन्तर नहीं है। 'सँतियाना' ने भी कह दिया था कि समाज से अलग दर्शन पर चिन्तन नहीं किया जा सकता है। चिन्तन और समाज में एक बढ़िया सम्बन्ध स्थापित माना गया है। जीवन उत्समय है, और वह जीवन का उत्स समाज के अन्तर्गत ही प्रवहमान हो सकता है। साथ ही साथ काव्य और समाज में भी एक अच्छा सम्बन्ध है। प्रेम भी सामाजिक तत्व है। इसमें भी खुशी एवं आनन्द का ही राज्य है। रोमांटिक प्रेम लोगों को अन्धा बना देता है, जहाँ अपना पराया, देश समाज और माता-पिता कोई नहीं देखता है।

'सँतियाना' कहा करता था कि समाज प्रेम या देश प्रेम ही सच्चा प्रेम है, इस प्रेम में सभी अपना ही अपना है, सभी पराया ही पराया है। 'सँतियाना' ने क्रान्ति की महत्ता भी प्रसारित की है। उसने कहा है रूढ़िवादी समाज में यदि क्रान्ति हो तो अच्छा है। 'सँतियाना' का कहना था कि मानव लड़ाई को कदापि नहीं जीत सकता है। लड़ाई भले ही लड़ी जा सकती है पर सभी लड़ाई जीती नहीं जा सकती है।

'सँतियाना' ने आम जनता को समुद्र के किनारे की बालू कह कर सम्बोधित किया है। 'सँतियाना' का कहना था मैंने उस स्थान का भ्रमण किया है जहाँ ईश्वर नहीं थे और अबोध जनता चिल्ला रही थी—ईश्वर ईश्वर! गण-राज्य के विषय में उसने कहा था कि—सदियों के बाद जनता को राहत मिली है। इस

राज्य में जो जिस योग्य हैं उन्हें उसी तरह की वृत्ति दी जाएगी। सँतियाना का कथन था : "The only equality Subsisting would be equality of opportunity" और उसने यह भी कहा था कि दर्शन की अध्ययन शाला पहले से ही बनाई गई थी। दर्शन के विषय में आज से लोग अध्ययन नहीं करते हैं वरन् सृष्टि के पूर्व से ही। साथ ही साथ 'सँतियाना' का कथन था कि "Wisdom comes by disillusionment" सँतियाना के जीवन की 'ट्रेजडी' आप ही आप मुक्तकण्ठों से फूट पड़ी और आज हम 'सँतियाना' को महा मानव मानने लग गए हैं।

'सँतियाना' ने केवल दार्शनिक विचार धारा ही प्रस्तुत नहीं की, वरन् जीवन के हर निकाय में प्रवेश कर जीवन का अध्ययन किया। उसने यह भी कहा कि राज्य का रूप किस तरह से हो, असल आज़ादी किसे कहते हैं, आज़ादी एवं क्रान्ति के कौन-कौन से चेतन तत्व हैं। ज्ञान और विज्ञान में व्यावहारिक अन्तर क्या है? यदि कला है तो उसका रूप क्या है? गणतन्त्र के कौन कौन से चेतन तत्व हैं। कहने का अर्थ समाज में जितने पदार्थ पाए जाते हैं उन सबों का अध्ययन सँतियाना द्वारा किया गया। अन्त का समय सँतियाना ने रोम की पवित्र भूमि में बिताया और १९५२ ई० में वे सदा के लिए चल दिए।

बरौनी डेवढ़ी,
जि० मुँगेर (बिहार)

—ध्रुवप्रसाद सिंह

कुत्ते और सिनेमा

मैं जब भारतवर्ष में थी—उस समय मेरे पास दो कुत्ते थे : एक बुल टैरियर, दूसरा कौकर। मैं जब सिनेमा जाती थी—दोनों को अपने साथ ले जाती थी। बुल टैरियर कुर्सी पर सीधा बैठ जाता था और यदि खेल पाश्चात्य होता था तो वह उसकी प्रत्येक गति-विधि को अत्यन्त ध्यानपूर्वक देखता था। वह आगे की ओर इतना झुक झुक कर चित्रपट पर घोड़ों के दौड़ने को देखता था कि कुरसी से गिर पड़ता था। कौकर सिनेमा को लगातार देखता रहता था।

एक रात हत्या की फ़िल्म थी। चित्र में हत्यारा दरवाज़े की ओर सरक रहा था। उसने धीरे धीरे हैण्डल को घुमाया। हत्यारा जिस को मारना चाहता था—वह कमरे में बैठा हुआ था। इस दृश्य को देख कर कौकर ने ज़ोर ज़ोर से गुर्राना और भौंकना प्रारम्भ किया।

सिनेमा फ़ौजियों से भरा हुआ था। उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा : "शाबाश। यह अच्छा कुत्ता है" और सब ने उसकी पीठ को थपथपाया।

—फ़ील्ड" से

नई कविता

आज कल पत्र पत्रिकाओं में जो कविताएँ छपा करती हैं उन्हें पढ़ कर कविता के पुराने प्रेमी अक्सर ही नाक भौं सिकोड़ा करते हैं। उनके लिए उन कविताओं में कुछ आकर्षण नहीं होता। न तो उनमें रस होता है और न लय अथवा संगीत। उन्हें वे गद्य जैसी प्रतीत होती हैं।[1] उनका यह आक्षेप बहुत अंशों में ठीक है। लेकिन कविता का आधुनिक लय ऐसा क्यों हो गया यदि वे इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो हमारा विश्वास है कि वे आज की नई कविता से उतने असंतुष्ट नहीं रहेंगे।

'विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देख कर अनासक्त और तद्‌गत भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण है'।[2] यह दृष्टिकोण विज्ञान की देन है। आज इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि आज के साहित्य और साहित्यकार पर विज्ञान का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। आज के साहित्य के लिए यह कतई संभव नहीं कि वह विज्ञान के प्रभाव से अछूता रह कर अपने प्राचीन स्वरूप को ही अक्षुण्ण रख सके।[3] जब बात ऐसी है तो स्वाभाविक है कि आज की नई कविता भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिचालित होगी। आज प्रत्येक वस्तु को अनासक्त और तद्‌गत भाव से देखा जाता और ऐसा करने पर हमारा दृष्टिकोण वह नहीं रह जाता जो पहले था।[4]

कविता मूल रूप से जीवन की अभिव्यंजना होती है। जीवन के स्वरूप के अनुसार ही कविता का स्वरूप निर्धारित होता है। होमर के काव्य की स्वच्छता और सरलता आज के कर्म-संकुल और जटिल जीवन से निःसृत होनेवाली कविता में नहीं पाई जा सकती। आज भी एकाध कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति और जीवन को सरल स्वच्छ स्वरूप की अभिव्यंजना कर सकता है लेकिन ऐसा अपवाद में ही गिना जाएगा। आज का जीवन इतना जटिल और गुह्य हो गया है कि उसे देख कर हम यह कभी नहीं कह सकते कि आज की कविता भी पहले की भाँति ही सीधी और सरल होगी। जीवन की यह जटिलता काव्य में भी आएगी ही, कविता उससे बच नहीं सकती। अतः यदि कोई आज की कविता को जटिल और दुरुह कह कर उसे अपने आप से दूर करता है तो गलती करता है।

आज भी ऐसे पाठक मिलते ही हैं जो अब भी भक्तिकाल अथवा रीतिकाल जैसी कविता की अपेक्षा रखते हैं। उनके बारे में विशेष क्या कहा जाए, यदि उन्हें मानव समाज के विकास का उसकी गतिशील प्रक्रिया का ज़रा भी ज्ञान होता तो वे ऐसी अपेक्षा नहीं करते। जब एक युग बीत जाता है तो वह लौट कर नहीं आता। उस युग के साथ उसकी बहुत सी विशेषताएँ तिरोहित हो जाती हैं। उस युग में जो साहित्य लिखा जाता है वह उन्हीं विशेषताओं से परिचालित होता है। उन विशेषताओं के अभाव में फिर वैसा साहित्य नहीं रचा जा सकता। यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से मानव समाज के विकास का अध्ययन करें और साहित्य को उससे मिला कर देखें तो हमें आज के साहित्य से असंतोष नहीं रह जाएगा। यह ठीक है कि साहित्य केवल युग की अभिव्यक्ति ही नहीं होता; वह युग से आगे बढ़कर भविष्यत् सम्भावनाओं की अभिव्यंजना भी करता है, लेकिन ऐसा साहित्य विरले साहित्यकारों द्वारा ही लिखा जाता है। हम हर समय प्रेमचन्द और गोर्की की उम्मीद नहीं कर सकते। सामूहिक रूप से साहित्य युग की उत्पत्ति ही होता है।

---

१ कृत्रिमता से मुक्ति पाने की वृत्ति ने ही कदाचित् नई कविता को कुछ अंशों में गद्य के समीप ला दिया है—डा० जगदीश गुप्त 'नई कविता'। २ हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी। ३ हमारा युग प्राचीन मूल्यों के विघटन, उसके प्रति अनास्था का युग है—डा० देवराज।

४ विषय को जब अनासक्त और तद्‌गत भाव से देखा जाता है तब स्वभावतः ही भावुकता का स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक की भाँति गद्यमय भाषा को लिखने लगता है—हिन्दी साहित्य की भूमिका डा० द्विवेदी।

आज की कविताओं में जो एक ठहराव, कुण्ठा और स्थिति-शीलता परिलक्षित होती है, उसका कारण यही है कि आज के जीवन में भी ये तत्व कमोवेश कर अपनी जड़ जमा चुके हैं।[५] फल स्वरूप ये आज की कविताओं में भी किसी न किसी तरह अपना स्वरूप झलका ही देते हैं। हिन्दी की नई कविता के प्रति पाठकों की जो शिकायत है इसका एक कारण यह भी है कि वे सिर्फ़ कविता का अध्ययन करना चाहते हैं, जीवन का नहीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जीवन का स्वरूप कैसा हो गया है यदि इस पर विचार कर आज की नई कविता पाठकों से कुछ अधिक सहानुभूति अवश्य ही पा सकेगी।[६] आज आदमी का विश्वास कुण्ठित हो गया है। आज़ादी तो मिल गई पर आज के युवकों के सामने कोई 'स्कोप' नहीं है।[७] इस स्थिति में उनके मन में जो शंकाएँ और जिज्ञासाएँ अपना सिर उठाती हैं वे आज के काव्य में भी कमोवेश कर झलकेंगी ही।

आज के अधिकांश कवि मध्यम वर्गीय समाज से आए हैं। उनके काव्य में मध्यम वर्गीय समस्याएँ और जिज्ञासाएँ प्रभूत मात्रा में पाई जाती है।[८] यदि कोई उनसे यह उम्मीद करे कि वे उन जटिलताओं से मुक्त होकर कोई सीधी और सरल अभिव्यंजना करें तो यह सबके लिए सम्भव नहीं हो सकता।[९] आज के अधिकांश कवि इतने शक्तिशाली नहीं कि वे अपने आप को आज की जटिलता से मुक्त कर भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार कर सकें। उनकी दृष्टि बहुत कुछ उसी घेरे में सिमट कर रह जाती है। जीवन की जटिलता ने आज के कवियों को कुछ इतना आक्रान्त कर लिया है कि वे

---

[५] आज के जीवन की परिभाषा :

पैराम्बुलेटर नहीं है जीवन
कि जिसमें बैठ कर अनुक्षण
घूम आया जाय आया के साथ
साँझ की मद्धिम छाया के साथ
शहराओं पर, चौराहों, तिराहों, दुराहों पर
अपना जीवन तो खँडहर है
या हबड़ा स्टेशन का बड़ा टिकट घर है

मणीन्द्र नई कविता

[६] इस सम्बन्ध में Martine Jilkes की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं : "Much of the difficulty which people find in reading modern poetry, and of the distaste for it which they are so ready to express, seems to me to be due to a lack of realization of the great change which have occured during the last fifty years, both in the world and in ourselves who live in it : or rather perhaps, to a failure to recognize that as human life and its invironment change, so the face and form of literature change too. In other wores many people approach modern literature with a background which still remain obstinately nineteenth century. The result can not be anything but perploxitly and confusion.—

Introduction to
Modern Poetry

[७] "हम सब के दामन पर दाग
हम सब की आत्मा में झूठ
हम सब के माथे पर शर्म
हम सब के हाथों टूटी तलवारों की मूठ
सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूट नक्षत्रों की घाँव
कब तक आखिर कब तक
लड़ने वाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द"

धर्मवीर भारती

[८] एक तरह से मेरी कविता खोखली है, उसमें सामाजिकता भी कम है और ज़िन्दगी की कशम कश भी कम है। मेरी कविता अजीब तरह से व्यक्तिगत कविता है। वह जन साधारण से दूर है, उसमें केवल अपने मन की निराशा और व्यथा का ही क्रन्दन और सोच है।—भारत भूषण अग्रवाल प्रतीक दिसम्बर '५१। [९] नये कवियों का नाम रवीन्द्र तथा छायावादियों से कहीं कठिन है। उन कवियों को परम्परा प्राप्त जीवन-दर्शन का बल था आज जीवन दृष्टि को विकसित करने की समस्या है—नन्ददुलारे बाजपेयी।

कोई विज़न (Vision) नहीं देख पाते।[१०] फल यह होता है कि उनकी रचनाएँ एकांगी रह जाती हैं। वे 'जो है' उसे तो बखूबी व्यक्त कर देते हैं मगर 'जो होना चाहिए' उसे नहीं लिख पाते। इसी बात को लेकर आज के पाठकों और आलोचकों को शिकायत हो सकती है।[११] इसके विपरीत यदि वे इस बात पर शंका उठाते हैं कि आज की कविता का स्वरूप जटिल और दुरुह क्यों है तो हमें यह युक्ति-युक्त नहीं दीखता। कविता सीधी और सरल होनी चाहिए इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।[१२] लेकिन इसके साथ हमें यह भी मानना होगा कि आज की कविता को विज्ञान के प्रभावों से अछूता नहीं रखा जा सकता है। उसमें वैज्ञानिकता आएगी ही। आज के जीवन का दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक हो गया है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव कविता पर भी पड़ेगा।

आज की कविता में लय नहीं है, संगीत नहीं है, रस ही नहीं है। उसका स्वरूप अनगढ़ तथा भाषा जटिल एवं विराम चिन्हों से युक्त है। आखिर यह सब क्यों? इसका कारण यही है कि आज का जीवन भी रस-शून्य, लय-शून्य और संगीत-शून्य है।[१३] आज के जीवन का स्वरूप भी अनगढ़ और जटिल है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए सीधी और सरल भाषा पर्याप्त नहीं हो सकती। उसके आड़े-तिरछे स्वरूप को व्यक्त करने के लिए आड़ी-तिरछी भाषा काम में लायी जाती है। आज की कविता में भाव और अनुभूतियों की अपेक्षा विचारों, तर्कों और व्यंग्यों का प्राधान्य है। आज जीवन में भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। आज के कवियों का दृष्टिकोण भावात्मक न रह कर वस्तुगत हो गया है।[१४] रस, लय, संगीत इन सब का स्थान सर्वोपरि है। इनके महत्व से कोई इनकार नहीं करता। यह सब कविता में हो तो बहुत अच्छा। लेकिन यदि आज की कविता में यह सब नहीं है तो इसे अस्वाभाविक नहीं समझना चाहिए। जब जीवन में इन तत्त्वों का समावेश हो जाएगा तो कविता आप से आप इन गुणों से विभूषित हो जाएगी। वह कविता हमारे लिए वरेण्य होगी। लेकिन उस कविता के अभाव में आज की कविता का कोई महत्त्व नहीं है ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं होगा।

कविता से साधारणतः आनन्द की उपलब्धि होती है। कविता आदमी इसलिए पढ़ता है कि वह कुछ क्षण के लिए पाठक को एक अपूर्व रस-लोक में ले जाकर अवस्थित कर देती है। इसी रस-दशा में आकण्ठ निमग्न होने के लिए हम कविता पढ़ते हैं। आज की नई कविता हमें इस रस-दशा तक नहीं ले जा पाती।[१५] उसके पढ़ने से हमें वह आनन्द नहीं मिलता जो हम पूर्व की रचनाओं को पढ़ कर पाते रहे हैं।

---

१० "कहने को तो बहुत कुछ है कहते नहीं बनता
वाणी की तपस्या दर्द की ताड़का से हार गई
...   .
लगता है कहीं कोई ठौर नहीं
आज का मनुष्य
गर्भ से धक्के दे कर निकाला गया ऋषि पुत्र"

राजेन्द्र किशोर, नई कविता

११ कविगण नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न करके सिर्फ़ शब्दों तथा मुहावरों की विलक्षणता द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं—डा० देवराज। १२ नई कविता सीधी और सरल नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दूसरा सप्तक भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएँ।

१३ आलोचना की उपेक्षा कविता अधिक अन्तरंग क्षणों की वाणी है और आज के व्यस्त जीवन में इतने अन्तरंग क्षण विरल ही होते हैं—डा० नगेन्द्र।

१४ "जो भी दो
चाहे जो दो
स्वीकार करेंगे हम सब को
यह हलकापन, यह थोथापन
यह टूटा दिल जर्जर तन मन
दर्शन चिन्तन अपवाद वाद
रोता जीवन
चिर तिक्त स्वाद
या खालीपन
चाहे जो दो"

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

१५ शायद ही किसी युग में कवि इतना चिन्ता ग्रस्त रहा हो। जीवन के शोभन, अशोभन, शिव, अशिव सभी पक्षों पर उसकी दृष्टि जाती है इस लिए आज कविता उसके लिए मात्र आनन्द की वस्तु न होकर और भी कुछ है।

—डा० जगदीश गुप्त

लेकिन इसके साथ-साथ नई कविता में एक बड़ी विशेषता है। वह आज के कर्म-संकुल और जटिल जीवन का चित्र अत्यन्त खूबी के साथ प्रस्तुत करती है। हम आज की कविता में व्यक्ति की मानसिक धड़कन बड़े स्पष्ट रूप में सुन सकते हैं। उसमें आज के जीवन की बौद्धिकता मुखर हो उठती है। हमारे जीवन की जो असंगतियाँ हैं, उनकी झाँकी पा लेने के लिए आज की कविता पठनीय हो गई है। आज के मध्यम-वर्गीय युवकों और बौद्धिक समुदायों में कौन-सी भाव-धारा प्रवहमान हो रही है यह जानने के लिए आज की कविता का अध्ययन आवश्यक है। उसमें आनन्द तो नहीं है पर विचारों और भावनाओं का जो विश्लेषण है वह अपूर्व है, और इससे कौन इनकार कर सकता है कि नवीन विचारों के साहचर्य में आनन्द की उपलब्धि नहीं होती।

आज की कविता मनुष्य को आनन्द प्रदान करने के लिए उतनी उत्सुक नहीं है, वह चाहती है जीवन के सही स्वरूप को उपस्थित करना, उसकी आलोचना प्रत्यालोचना में प्रवृत्त होना। वह आज एक शास्त्र हो गई है जिसके पारायण से हम बहुत-सी नई सूचनाएँ पा सकते हैं। रसोद्रेक आज उसका लक्ष्य नहीं रह गया है, वह आज भावोद्रेक और विचारोद्रेक की इच्छा रखती है। आज की कविता व्यक्ति के मस्तिष्क का चित्र प्रस्तुत करती है। जिस तरह हम एक्सरे के द्वारा आदमी की आन्तरिक स्थितियों से परिचित होते हैं उसी तरह आज की कविता अपने आप में मस्तिष्क का सही चित्र लिए घूमती है। जीवन को अभिव्यक्त करने का दायित्व वह बड़ी खूबी से निभा रही है। यदि उसमें कमी है तो सिर्फ़ एक बात की—वह जीवन को परिष्कृत करने के लिए उद्यत नहीं है, उसमें भविष्यत् सम्भावनाओं के दर्शन नहीं हो रहे हैं। इसी के लिए आज के पाठकों को चिन्ता है।

पोस्ट ग्रेजुएट होस्टल,
पटना—६

—श्यामसुन्दर 'अशान्त'

पुस्तकों की दुकान

"......लन्दन में पुस्तकों की एक विस्तृत और विशाल दुकान है। कहने को तो यह एक दुकान है परन्तु वास्तव में यह एक महान् संस्था है। यह विचारों का एक जगमगाता हुआ बाज़ार और मुद्रित शब्दों की मनमोहक हाट है। इस दुकान में ऐसा ही चुम्बकीय आकर्षण है जैसा कि किसी उत्तम विनोद-स्थान में होता है। यहाँ विद्वान्, विद्यार्थी, अनुसन्धानकार, अवसर प्राप्त व्यक्ति, महिलाएँ युवक आदि सब प्रकार के लोगों का सदा जमघट रहता है। इस दुकान का नाम "फ़ोयेलस" है। "फ़ोयेलस" में सेकण्ड-हैण्ड पुस्तकें चाय के एक प्याले की क़ीमत में प्राप्त हो जाती हैं। आज कल यह आम शिकायत हो गई है कि कोई पुस्तक नहीं पढ़ता और हमारी सोसाइटी में से पुस्तकों का प्रेम उठता जा रहा है। "फ़ोयेलस" की पुस्तकों की दुकान में लोगों के जमघट को देख कर इस कथन की असत्यता प्रमाणित होती है। ....."

—"इलस्ट्रेटेड वीक्ली आफ़ इंडिया" से

प्रेमचन्द के नारी पात्र

सुमन

हिन्दी के उपन्यास साहित्य में 'सेवासदन' अपने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, विषय की विभिन्नता, तत्कालीन समस्या के उभार और समाधान एवं संगठित कथानक के कारण निर्विवाद रूप से युगान्तकारी रचना थी। मध्यवर्गीय जीवन की विपन्नता का वास्तविक बोध लोगों को प्रथम बार इस उपन्यास से हुआ। प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में नारी सम्बन्धी समस्या, उसके मनोवैज्ञानिक चित्रण एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व को महत्ता प्रदान नहीं की जाती थी। किन्तु प्रेमचन्द अपने समय में होने वाले सामाजिक आन्दोलन और राष्ट्रीय विचार-धारा से परिचित थे। प्रेमचन्द ने ही पहली बार नारी को उसकी व्यक्तिगत विशेषता ही प्रदान नहीं की वरन् उसे वर्ग की प्रतिनिधि के रूप में भी रखा। घर और व्यक्ति की अपेक्षा लेखक ने समाज और नगर को अधिक ममता दी। जीवन के उत्थान पतन, समाज की विडम्बनाओं एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति के कारण सेवा सदन को ही हिन्दी साहित्य का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। यह ठीक है कि हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास परीक्षा गुरु (१८८३ ई०) में भी लेखक ने एक आदर्श सामने रखा था किन्तु उसमें कला, जीवन की पैठ एवं तत्कालीन समस्याओं का गहन अध्ययन न था। इस उपन्यास के बाद अन्य साहित्यकारों का ध्यान भी सामाजिक कुरीतियों, व्यक्ति एवं समाज की समस्याओं, उसके सुख-दुःख की ओर आकर्षित हुआ। तिलस्मी काल्पनिक एवं रोमांस भरे उपन्यासों से उठ कर साहित्यकार यथार्थ चित्रण की ओर प्रवृत्त हुए। यथार्थ का चित्रण करना ही अपने आप में प्रगति की ओर अग्रसर होना है यद्यपि युग प्रभाव के कारण इस काल के प्रायः सभी लेखकों ने यथार्थ को आदर्श की ओर मोड़ दिया है। आदर्श की इस भावना में इन्द्रिय दमन, त्याग, संयम एवं कर्तव्य की पूर्ति ही मुख्य रूप से निहित है। यही कारण है कि सुमन एक बार ग़लती करके आत्मपीड़क बन जाती है। वह समाज को दोषी ठहराने के स्थान पर अपनी सुख भोग की लालसा और अपने अज्ञान को ही दोष देती पाई जाती है। सुमन का ऐसा चित्रण न होता तो हो सकता था कि समाज उससे साथ सहानुभूति न कर पाता किन्तु सुमन की आत्म पीड़ा उसके भावों की पवित्रता समाज की सहानुभूति बरबस ग्रहण कर लेती है। वेश्या, वेश्या क्यों बनती है, उसकी व्यक्तिगत दुर्बलताएँ तथा समाज की कुप्रथाएँ किस प्रकार नारी को अनैतिकता की ओर ले जाने में सहायक होती हैं। यह 'सेवा सदन' की नायिका सुमन के चरित्र चित्रण से जाना जा सकता है।

दारोगा कृष्णचन्द्र की लाड़ली बेटी सुमन, चंचल, सुन्दर और अभिमानिनी थी। वह सुख से पली थी, किन्तु उसके पिता के पास दहेज के लिए भारी रक़म न थी। वरों का मोल उनकी शिक्षा के अनुसार था। इस राक्षसी कुप्रथा का पेट भरना आवश्यक जान कर कृष्णचन्द्र रिश्वत लेने के लिए बाध्य होते हैं और जेल जाते हैं। अन्त में दहेज की कुप्रथा के कारण सुमन का विवाह एक अपढ़, गँवार, दरिद्र कृष्ण शंकाशील, उजड्ड एवं लापरवाह व्यक्ति गजाधर से होता है। सुमन जिस वातावरण में पली थी उसने उसको अपव्ययी और गर्वीली बना दिया था। सुख सन्तोष के साथ ग़रीबी के दिन काटना, या अपने को छोटा समझ कर समाज में रहना, उसके स्वभाव में ही न था। 'पड़ौसियों ने शीघ्र ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सुमन उनके बीच में रानी मालूम होती थी। उसकी सगर्वा प्रकृति को इसमें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था। वह उन स्त्रियों के सामने अपने गुणों को बढ़ा कर दिखाती, वे अपने भाग्य को रोतीं, सुमन अपने भाग्य को सराहती। वे किसी की निन्दा करतीं तो सुमन उन्हें समझाती। वह उनके सामने रेशमी साड़ी पहन कर बैठती, जो वह मैके से लाई थी। रेशमी जाकट खूँटी पर लटका देती। उन पर इस प्रदर्शन का प्रभाव सुमन की बातचीत से कहीं अधिक होता था। वे वस्त्र, भूषण आदि के विषय में उसकी सम्मति को बड़ा महत्व देती। नए गहने बनवातीं तो सुमन से सलाह लेती, साड़ियाँ लेती तो पहले सुमन को

अवश्य दिखा देतीं। सुमन ऊपर से उन्हें निष्काम भाव से सलाह देती पर उसे मन में बड़ा दुःख होता। वह सोचती ये सब नए नए गहने बनवाती हैं, नए नए कपड़े लेती हैं। और मेरे यहाँ रोटियों के भी लाले हैं। इन सब बातों ने सुमन के आत्म सम्मान एवं अहंकार भावना को भले ही तृप्त किया हो किन्तु जीवन से असंतोष की उसकी भावना तीव्रतर हो गई। उसके हृदय के असन्तोष को प्रेमचन्द ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से सफलता के साथ चित्रित किया है।

समाज में नैतिक आचार-विचारों की आड़ में अनेक अनैतिक कार्य होते रहते हैं। जिनके पास धन है, नाम है, वे अनैतिक कार्य करके भी धर्मात्मा एवं सम्मानित बने रह सकते हैं। सुमन के मन में नैतिक आचार-विचार ने ही किस प्रकार उसे अनैतिकता की ओर शनैः शनैः अग्रसर किया है इसका अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। प्रारम्भ में सुमन के हृदय में भी परम्परागत नैतिकता और अनैतिकता का माप दण्ड निहित था। वह वेश्या को अत्यन्त दुश्चरित्र और कुलटा समझती थी और अपने को समझाती थी कि 'मैं दरिद्र सही, दीन सही पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ, किसी भले मनुष्य के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता' किन्तु बाद में अपने तत्कालिक जीवन से दुःखी सुमन को अपनी इस नैतिक भावना पर कुठाराघात सहना पड़ता है, वह समाज की इस नैतिकता से बार बार प्रश्न करती पाई जाती है। सुमन यदि अपने जीवन से दुखी न होती, पति गजाधर का प्रेम उसे मिला होता तो शायद उधर उसका ध्यान आकर्षित न होता, किन्तु असन्तोषी जीवन चारों ओर भटकता है। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के चक्कर में पड़ कर उसके आत्म सम्मान पर बार बार सीधे चोट पड़ती है। वह अपने को संभाल नहीं पाती और समाज की विडम्बनाओं के भँवर में तृण के समान बहती चली जाती है। बाहरी परिस्थिति और सुमन के अहंकार में बराबर संघर्ष होता रहता है।

उसके घर के सामने ही मौली नाम की वेश्या के यहाँ उसने सभी प्रतिष्ठित लोगों को आते देखा था। यहाँ तक कि उसका पति गजाधर भी गया था। राम नौमी के दिन मन्दिर में जन्मोत्सव के अवसर पर मौली को वैष्णव तिलक धारियों के बीच जाते देखा। वे सभी धर्मात्मा एवं विद्वान् कहे जाने वाले लोग मौली के एक कटाक्ष में स्वर्ग लोक का आनन्द पा रहे थे। इस दृश्य ने सुमन के हृदय पर वज्र का सा आघात किया। अपने नैतिक सम्मान के बल पर वह जिस मौली को नीची दृष्टि से देखती थी, उसी को देवी की तरह पूजते देखा। तब सुमन ने अनुभव किया कि मौली के आगे धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है। चौकीदार का थकी माँदी सुमन को अपमानित करके बेंच से उठाना और उन्हीं बेंचों पर वेश्या मौली का स्वागत करना, उसकी क्रोध की अग्नि के लिए घी का काम करता है। वकील पद्मसिंह ने जिनको वह देवता का अवतार समझती थी, म्यूनिस्पैलिटी के मेम्बर बनने के अवसर पर मौली को बुला कर नाच गाने का आयोजन किया। स्वयं पद्मसिंह रसज्ञ बन कर अपने नयनों को तृप्त करते जान पड़ते थे। भद्र और सम्मानित व्यक्तियों के इस प्रकार के व्यवहार ने सुमन को अपने उपेक्षित जीवन की तुलना मौली के सम्मानित जीवन से करने के लिए बाध्य कर दिया। वह सोचती कि स्वयं मौली से अधिक सुन्दर होकर भी, सभ्य समाज में रह कर भी, समाज के लिए पैर की जूती के महान् है और नीच कर्म करनेवाली मौली समाज की रानी बनी बैठी है।'

रात में देर से घर पहुँचने के अपराध में जब क्रोधी गजाधर बिना कोई जाँच-पड़ताल किए सुमन को घर से निकाल देता है तो अबला नारी के पास कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वह सुरक्षित रह सके। नारी आर्थिक रूप में स्वतन्त्र न होने के कारण उसके एकाकी जीवन को समाज में कोई आदर प्रदान नहीं किया जाता। लोकनिन्दा के कारण सुमन पद्मसिंह के यहाँ भी आश्रय नहीं पाती। परम्परागत मान्यताओं का, कटु अनुभव का, मिथ्या धर्म, धन और सज्जनता का, अविवेक का और लोकनिन्दा का धक्का खाकर वह विवश हो मौली के चंगुल में फँस जाती है। सुख भोग की अबाध आकांक्षा, रूप प्रदर्शन की दुर्बलता, आर्थिक परतन्त्रता पति और स्वयं की अपनी अनुभवहीनता ने ही उसे मौली के मायालय में डाल दिया। वह गृहिणी से वेश्या बन बैठी।

वेश्या बनने के पश्चात् भी सुमन के संस्कार काम करते रहते हैं, परिस्थितिवश वह चाहे जहाँ आ पड़ी

हो किन्तु शरीर से वह पवित्र रही। किसी के हाथ का छुआ तक नहीं खाती थी। किन्तु समाज की ओर से सुमन को जो अनुभव होता है वह रूढ़िवादी समाज की नैतिकता पर चुभता हुआ व्यंग्य है। जब सुधारक विट्ठलदास सुमन से वेश्या वृत्ति छोड़ने का आग्रह करते हैं तब सुमन विट्ठलदास से कहती है: "मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुर द्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भीगती रही, किसीने भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुर द्वारे में मेरा गाना हुआ तो तो ऐसा जान पड़ता था मानों मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया। रूढ़िवादी नैतिकता के विरुद्ध सुमन के मन का यह विद्रोह प्रगतिशील भावना है। प्रेमचन्द ने जिस समस्या को उठाया है, उसके कारणों की स्वस्थ छानबीन करके, व्यक्तिगत दुर्बलताओं, एवं समाज के जो नेता हैं जिसके हाथ में समाज की बागडोर है, जो आर्थिक रूप से मदद करने में समर्थ है, वे ही दुर्वासनाओं की कीच से सने हुए हैं तो फिर समाज की दशा कैसे सुधर सकती है।"

सुमन प्रारम्भ में समाज से विद्रोह करती प्रतीत होती है किन्तु फिर दालमण्डी से निकल कर वह आत्मपीड़क बन जाती है। सारा दोष अपने ऊपर ओढ़ लेती है और पाप का प्राश्चित करने के लिए ईश्वर पर विश्वास रख कर आदर्शवादिनी बन जाती है। यह प्रेमचन्द के पात्रों की अपनी विशेषता है। सुमन के चरित्र का यह मोड़ यथार्थ से मेल नहीं रखता, और प्रेमचन्द के तत्कालीन विचारों की सीमा निरूपित करता है।

इस कुप्रथा को मिटाने के लिए समाज सुधारकों को को पग पग पर विरोध सहना पड़ता है किन्तु वे पीछे नहीं हटते। पद्मसिंह को वेश्याओं के साथ सच्ची सहानुभूति थी। वे जानते थे कि अपनी सुख-लालसा से वेश्या नहीं बनती, बल्कि मानसिक और आर्थिक जीवन से दुखी हो कर परिस्थिति के फेर में पड़ कर वे अपनी देह का व्यापार करने पर वाध्य होती हैं। इस प्रकार पुरुष की वासनाओं का दण्ड उन्हें भोगना पड़ता है। उनके शब्दों में मानों स्वयं प्रेमचन्द बोल रहे हों—"हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्या का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात्कार स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लाएँ, उनके जीवन को सुधारने का प्रयत्न करें, और यह तभी हो सकता है जब वे शहर से बाहर दुर्व्यसनों से दूर रहें।" उन्होंने पाप से घृणा की किन्तु युग युग से ठुकराई जाने वाली नारी के प्रति उनके मन में स्वाभाविक ममता एवं सहानुभूति थी।

विट्ठलदास और पद्मसिंह की सतत चेष्टा के बाद सुमन उसका पूर्ण परिचय दिए बिना ही विधवा आश्रम में ठहराई जाती है। वह आत्मग्लानि के बोझ से दबी जाती थी। वह भारतीय आदर्श नारी की भाँति अपना सात्विक जीवन व्यतीत करती है। वेश्या की बहन होने के कारण शान्ता को भी समाज स्वीकार नहीं करता और मदनसिंह गई हुई बारात को लौटा कर ले आते हैं। शान्ता को भी इसी आश्रम की शरण लेनी पड़ती है। इधर विधवा आश्रम में जैसे ही पता चलता है कि सुमन पहले वेश्या थी वहाँ हलचल मच जाती है और अनेक विधवाएँ वह आश्रम छोड़ कर चली जाती हैं। आत्मपीड़ा से दुःखी सुमन आत्महत्या करने की सोचती है किन्तु सौभाग्यवश सदन मिल जाता है। दोनों को वहीं ठहर जाना पड़ता है। सुमन यहाँ भी अपने संयम, परिश्रम एवं सहनशीलता से बहन शान्ता और सदन को निस्वार्थ भाव से सुख पहुँचाना चाहती है। किन्तु इसके प्रति दान में उपेक्षा के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता। सदन के पुत्र जन्म के अवसर पर उसकी माँ भामा जब उसको घृणा की दृष्टि से देखती है, छुआछूत मानती हैं तो उसका धैर्य टूट जाता है। इस प्रकार समाज के लोगों के परम्परागत अन्ध विश्वासों की जड़ें इतनी दृढ़ता से जमी रहती हैं कि वे आँख खोल कर यथार्थ का ज्ञान करना भी नहीं चाहते। पतित व्यक्ति यदि उचित रास्ते पर चलना भी चाहे तो समाज ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। जिसके कारण या तो उसके मन में समाज से प्रतिशोध लेने की भावना जागृत हो जाती है, या आत्महत्या करने की। दोनों ही समाज

के लिए अभिशाप स्वरूप हैं। लेकिन उसके बाद ही कथानक की गतिविधि अनायास ही एक सुधारवादी आदर्श की ओर मुड़ जाती है। सुमन अपने आप को और अधिक परिस्थिति से लड़ने में असमर्थ पाकर असहाय होकर ईश्वर की गोद में जाना चाहती है और भटकती भटकती साधु गजाधर की झोंपड़ी के पास पहुँच जाती है। वहाँ वे उसे सेवासदन का कार्य सौंपते हैं। सेवा सदन में वेश्याओं की ही लड़कियाँ रखी जाती थीं। उन्हें शिल्प आदि की शिक्षा देखर जीविकोपार्जन के योग्य बनाना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। इन लड़कियों को समाज ग्रहण करेगा कि नहीं इसको स्वयं प्रेमचन्द भी नहीं जानते। सुभद्रा के पूछने पर सुमन सरल भाव से उत्तर देती है 'यही तो टेढ़ी खीर है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि इन कन्याओं को चतुर गृहणी बनाने के योग्य बना दें। उनका आदर समाज करेगा या नहीं, नहीं कह सकती।'

इस प्रकार एक ओर सुमन दालमण्डी से निकलने से लेकर अन्त तक अपने को अज्ञानी दोषी एवं अभागिनी समझ कर भारतीय दर्शन के आत्म-दमन वाले सिद्धान्त पर चलती है और पाठक की सहानुभूति ग्रहण करती है तो दूसरी ओर समाज सुधारकों द्वारा वेश्याओं के जीवन में सुधार करने की भावना भी साथ साथ प्रवाहित होती है। उपन्यास में वेश्या वृत्ति का विश्लेषण कर सेवा सदन स्थापित कर जो समाधान उपस्थित किया गया है वह अव्यावहारिक आदर्श जैसा ही है। हाँ, उपन्यास में सुमन के संस्कार उसकी चारित्रिक विशेषताओं एवं उसकी मानसिक वृत्ति के उत्थान पतन का अत्यन्त सुन्दर अंकन हुआ है।

C/o श्री भारतभूषण अग्रवाल
१८ बी टैगोर टाऊन,
घोष बिल्डिङ्ग, इलाहाबाद

—श्रीमती बिन्दु अग्रवाल

ध्वनि का विस्तार करने वाले घड़े

गिरजा-घरों में ध्वनि को विस्तृत करने का सदा प्रश्न रहा है। इसके लिए गिरजा-घरों में पहले ध्वनि-बोर्ड लगाए जाते थे और अब तो बिजली के सहारे ध्वनि को विस्तृत किया जाता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि मध्य युग में यह कार्य मिट्टी के घड़ों के द्वारा किया जाता था।

एक गिरजे में साधारण मिट्टी के दो लाल घड़े प्राप्त हुए हैं जो कि वेदी की दीवार में लगे हुए हैं। इन घड़ों को खुले मुख रखा जाता था। एक अन्य गिरजे में भी इसी प्रकार के घड़े प्राप्त हुए हैं।

अभी कुछ समय पूर्व सेराट जार्ज चैपल में भी श्रवण सम्बन्धी घड़ों को पाया गया है। कुछ श्रमिकों ने जो कि गिरजे में कार्य कर रहे थे—इस प्रकार के घड़ों का अनुसन्धान किया।

ये घड़े १४ वीं—१५ वीं शताब्दी के ढंग के बने हुए हैं और संभवतः १४७६—१४८० ही में रखे गए होंगे। इनसे ध्वनि विस्तृत हो कर श्रोताओं द्वारा सुनी जा सकती थी।

—रौयल डाल्टन मेगज़ीन के एक लेख से

कार्यकर्त्ता संघ हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद (आ. प्र.)

'अजन्ता' के सह-सम्पादक तथा नवयुवक पत्रकार श्री ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर के लिए हिन्दी प्रचार सभा तथा हिन्दी प्रेस द्वारा एक विदाई समारोह आयोजित किया गया। इस समूह चित्र में सभा तथा प्रेस के अधिकारी तथा कार्यकर्त्ता गण

इथोपिया के सम्राट् भारतवर्ष में

कला-चर्चा

किरणसिंह और उनकी कला

कलागुरु अवनीन्द्रनाथ के समकालीन चित्रकारों ने प्रधानतः साहित्य को ही उपजीव्य मान कर चित्र बनाए। नवीन चित्रकारों ने हमारी इस चित्र संस्कृति को साहित्य के बन्धन से मुक्त कर पारिपार्श्विक जीवन तथा वस्तु जगत् के क्षेत्र को अपनाया। श्री किरणसिंह भी एक ऐसे ही कलाकार हैं जिनकी चित्रकला में प्रकृति और वास्तवता का परिचय मिलता है। शांतिनिकेतन के प्रसिद्ध कला भवन से इन्होंने अपनी कला शिक्षा पाई। आजकल भी श्री किरणसिंह यहीं रहते हैं। चित्रकार को प्रकृति के साथ सहज और अन्तरंग परिचय जब मिलता है, साधारण जीवन के साथ जब उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है एवं प्रचुर, अवकाश और आजादी रहती है तभी चित्रकार की सृजन-शक्ति का विकास होता है एवं उनकी कला को नई प्रेरणा मिलती है, व्यापकतर रस-सृष्टि का सुयोग रहता है। इसके अलावा सांस्कृतिक वातावरण का भी एक महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ करता है। श्री किरणसिंह को अपनी कला के शिक्षण में यह सभी सुयोग मिले और तभी हम उनके चित्रों में प्रकृति, मौलिकता और परम्परा का सम्यक् समन्वय पाते हैं।

श्री किरणसिंह ने अपनी कला में शारीरिक श्रम को चित्रित किया है। कलाकार अपने आसपास के जीवन से विशेष परिचय रखते हैं एवं उन्हीं के दैनन्दिन जीवन को अपनी कला में रूपान्वित करते हैं। 'फसल' चित्र में कलाकार के एक नगण्य गाँव के एक विशिष्ट रूप को प्रदर्शित करते हैं। शीत काल के मध्य भाग में जब बंगाल के गाँवों में धान की फसल उठाई जाती है तब चारों ओर एक नए जीवन का स्पन्दन शुरू होता है। पौष, माघ महीने के मध्य भाग में अन्नपूर्णा के शुभ आविर्भाव के साथ-साथ ग्रामवासी पात्र आनन्द से धान झाड़ते दिखाई पड़ते हैं।

'मिल्क मैन' (Milk man) चित्र में हम देखते हैं कि गाय, ग्वाला और गगरा—सभी खाली हैं; गाय के जैसे दूध नहीं है। ग्वाला का भी स्वास्थ्य ठीक नहीं है और बर्तन खाली पड़ा हुआ है। दो इस प्रकार के चित्र हैं जिनमें हमें राजस्थान की झाँकी मिलती है। राजस्थान में कलाकार जब कला शिक्षणालय में थे तब उन्हें राजस्थान के जीवन से परिचित होने का मौका मिला और उन्होंने उदयपुर की औरतों के यह चित्र बनाए।

चित्रों को ध्यान से देखने पर हम शिल्पी की मानसिक धारा और शिक्षण पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय पाते हैं। नए जीवन का स्पन्दन जैसे उन्होंने गाया है वैसे ही मानव जीवन के दुःख कष्टों को भी चित्रित किया है। श्री किरण सिंह की कृतियों का एक सामाजिक महत्व है क्योंकि जीवन के प्रति उनकी जागरूकता है, उसकी अनुभूति है; दूसरों के प्रति सहानुभूति है।

चित्रकार पूरी ईमानदारी के साथ अपने चित्र बनाता है और ईमानदारी के साथ बनाए गए चित्र पुराने नहीं पड़ते।

बोलापुर (वीर भूम)
पश्चिम बंगाल —**भगवानदास पुरोहित**

किर्गिज़िस्तान की कला

किर्गिज़िस्तान देश को सोवियत क्रान्ति ने जन्म दिया है और अब यह प्रजातन्त्र रूस के सीमान्त पर चीनी-तुर्किस्तान से लगा हुआ पश्चिम की ओर है। सोवियत विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषणों और अलंकारों से किर्गिज़ कला के पिछले एक हज़ार वर्षों पर अच्छा प्रकाश डाला है। किर्गिज़ के पुराने कलाकारों ने अपनी कला का अंकन आभूषणों और अलंकारों पर ही नहीं किया अपितु उन्होंने पत्थरों पर बहुमूल्य कलाकृतियाँ जीवित की हैं। सोवियत के कला-मर्मज्ञों ने किर्गिज़ के बने कालीन और ग़लीचों में प्राचीन काल से आज तक के किर्गिज़ के जीवन की गाथा का अध्ययन किया

है। इस कला में कहीं-कहीं आखेट के अत्यन्त सजीव दृश्य हैं। कहीं भोज और देशान्तर-यात्रा के चित्र और कितनी ही लोक कथाओं का उल्लेख है। फ्रुंजे के राष्ट्रीय संस्कृति म्यूज़ियम में पुराने मदों और कालीनों का अच्छा संग्रह है। इन मदों और क़ालीनों के नाम नीले-भड़कीले रंग और लाल आकार बहुत ही आकर्षक हैं। किनारे पर तरह-तरह के रंगों का गोटा लगा मख़मली लिहाफ़ है। अच्छी तरह अलंकृत राष्ट्रीय परिधान चाँदी, चमड़े, ऊन और पत्थर से अलंकृत घर के काम की चीज़ें भी वहाँ प्रचुर मात्रा में संगृहीत की गई है। इस संग्रह से किर्गिज़ कला का विकास अच्छी तरह समझा जा सकता है—परन्तु किर्गिज़ की प्राचीन कला प्रायः नष्ट और लुप्त ही हो चुकी है। सोवियत क्रान्ति के बाद इसी कला के पुनर्जीवन के लिए प्रयास अवश्य किए गए हैं—भ्रमर जब से किर्गिज़ों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया है तब से कालीनों, चमड़े की वस्तुओं और धातु के बर्तनो पर मनुष्य का चित्र बनाना वर्जित हो गया है। अब किर्गिज़ कलाकार केवल फ़ूल-पत्री और अलंकार तक ही अपनी कला को प्रकट कर सकते हैं।

किर्गिज कला के नए विकास में किर्गिज़िस्तान में बसे हुए रूसी कलाकारों का उल्लेखनीय योग रहा है। प्रसिद्ध चित्रकार सेन योग चुइकोफ़ रूस में ही पैदा हुआ था और उसने रूसी कला का गम्भीर अध्ययन तथा अभ्यास किया। इसी की सक्रिय महानता से किर्गिज़िस्तान में एक चित्रशाला और एक राष्टीय कला-विद्यालय भी खोला गया। आज चुइकोफ़ के शिष्य और अनुयायी किर्गिज़ कला का नेतृत्व करते हैं।

युद्ध काल में किर्गिज़ कलाकारों ने अद्भुत कार्य-तत्परता दिखाई। राजधानी में उनकी चित्र प्रदर्शनियाँ हुई। जिन्हें भारी संख्या में लोग देखने आये। पिछले कुछ वर्षों से किर्गिज़ की जनता की रुचि भी बहुत अधिक बढ़ी है।

अमरीकी क्रान्ति के चित्र

जॉन ट्रम्बल को पहले पहल कला की ओर प्रेरणा अपनी बहन से प्राप्त हुई। वह सूई से जो कार्य करती थी—उसी से उसे कला के प्रति प्रेरणा प्राप्त हुई। बचपन में ही उसकी एक आँख जाती रही थी। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि वह चित्रकला में इतनी निपुणता प्राप्त कर सकेगा।

पिछले दिनों एक प्रदर्शिनी में उसके चित्रों को प्रदर्शित किया गया था। इस प्रदर्शिनी में उसके लगभग १०० चित्र थे। उन चित्रों को देखने से उसकी महान् कला का कुछ आभास प्राप्त होता था। उसने 'सूर्योदय' का जो चित्र बनाया है वह अद्भुत और अनुपम है।

जब अमरीका में स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति हुई तब वह भी सेना में सम्मिलित हो गया और उसने अनेक मूल्यवान् सैनिक नक़्शों को बनाया। उसे सेना में उच्च पद न प्राप्त होने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार वह लड़ाई के मैदान में तो न जा सका परन्तु उसने क्रान्ति के चित्रों को बड़ी ख़ूबी से बना कर आनेवाली पीढ़ी के लिए उसे सुरक्षित कर दिया है। वह लन्दन में गया। लन्दन के एक कलाकार ने उसके सम्बन्ध में लिखा है: "क्योंकि उसकी एक ही आँख थी इसलिए वह छोटे चित्रों को ही बनाता था। क्रान्ति के पश्चात् जब वह अमरीका वापस आया—उसने युद्ध-क्षेत्रों के चित्रों को बनाया।

इन चित्रों में संभवतः जो उसने सबसे सुन्दर चित्र बनाया—वह है "स्वतन्त्रता की घोषणा" का चित्र। यह चित्र ३० इंच चौड़ा है और इसमें ४८ व्यक्तियों के आकृति-चित्र हैं। इस सम्बन्ध में उस समय की अमरीका की अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें बैंजामिन फ्रैंकलिन, थौमस जफ़रसन, रौबर्ट आर० लिविंगस्टन, रौजर शर्मन आदि अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के चित्र हैं।

जॉन ट्रम्बल ने अपने एक पत्र में जफ़रसन को लिखा था: "मैंने अपने देश की इन महान् घटनाओं में व्यक्तिगत रूप से साधारण-सा भाग लिया था। मैंने इन महान् घटनाओं को अपने चित्रों में वर्णन करने का प्रयत्न किया है।"

आशा है कि कोई महान् चित्रकार भारतवर्ष के असहयोग आन्दोलन और स्वतन्त्रता के संघर्ष की महान् घटनाओं को भी इसी प्रकार चित्रों के रूप में प्रस्तुत करेगा।

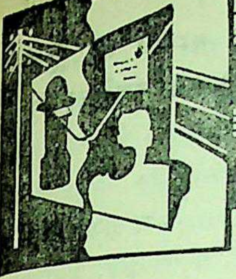

चिट्ठी-पत्री

(१)

दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक

आज घोड़ा अपना है और लगाम भी अपने हाथों में है। वाह्य रूप से स्वतन्त्र होने के कारण, चाहे किसी रूप में हो सभी को सोचने समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। भावी भारत के मनोरम चित्र के निर्माण में सभी हाथ बढ़ाना चाहते हैं। वह बने कैसे—यही सब से बड़ी समस्या है।

सूक्ष्म दृष्टि से यदि विचारा जाए तो आज की सब से बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य के जीवन के दृष्टिकोण में समयपरक परिवर्तन की और मनुष्य को अधिक से अधिक मनुष्यता प्राप्त करने के अवसर देने की। देशवासियों के जीवन में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, उनको नये विचारों का प्रकाश देना ही आज का मुख्य काम है। मानसिक उत्कर्ष के बिना किसी देश का सच्चा विकास सम्भव नहीं। इसके न होने पर, यदि भौतिक विकास हो भी गया तो उसके संचालन, वितरण में सदा संघर्ष और अशान्ति बनी रहेगी। सर्वाङ्ग पूर्ण विकास के लिए दूसरी योजनाओं के साथ मानसिक तथा नैतिक विकास की योजनाएँ भी अनिवार्य हैं, अन्यथा विकास पंगु रह जाएगा।

किन्तु परिवर्तन और विकास की झोंक में कोई ऐसा क़दम नहीं उठाना होगा जो इस देश की आधार भूत समन्वय कांक्षिणी संस्कृति से मेल न खाता हो। प्रकृति ने इस देश को मोदमयी त्रिवेणी में सामञ्जस्य की स्वर लहरी प्रदान की है। उसके विपरीत, बेसुरा राग यहाँ नहीं निभ सकता। यहाँ की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों से मिलता जुलता विकास और परिवर्तन ही यहाँ पनप और फल फूल सकता है।

मानसिक परिवर्तन का सर्व सुलभ उपाय है शिक्षा। आधुनिक शिक्षा प्रणाली, जैसा कि महात्मा जी का विचार था, हृदय की शिक्षा से वञ्चित है। हृदय की शिक्षा से रहित मनुष्य और कुछ भले ही हो जाए किन्तु सच्चा मानव नहीं बन सकता। केवल मस्तिष्क की शिक्षा व्यक्ति, जाति, और राष्ट्र सब के लिए हानिकारक है। उस उन्नति से क्या लाभ जो मनुष्य को मनुष्यता के पवित्र स्थान से नीचे ढकेल, उसके हृदय से दया, स्नेह, सहानुभूति की भावना को निकाल कर उसे एक भयंकर दानव के रूप में खड़ा कर दे. वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति किसे प्रिय नहीं ? पर, यदि उस उन्नति के नाम समाज के शोषण का एक नया मार्ग खुल जाता है, सौ के घर उजड़ कर एक का बनने लगता है तो वह त्याज्य है। सामाजिक अन्याय की ज्वलन्त निशानी अपने घोर स्वार्थों का पुतला बना इन्सान आज सब कुछ कर गुज़रने को तत्पर है। इन्हीं प्रवृत्तियों के अन्तिम फल स्वरूप आदि शताब्दी में दो विश्व युद्ध लड़े जा चुके हैं और तीसरे की गरमागरम धमकियाँ दी जा रही हैं।

एक तरफा समृद्ध हुई भौतिकता ने इस युग के नर के मन-मस्तिष्क को इतना अधिक प्रभावित किया है कि शरीर प्रसाधन, उसकी पूजा में ही जीवन की सफलता समझने लगा है और कतई भूल गया है कि धूल-मिट्टी के अतिरिक्त इसमें और भी कुछ है। आत्मा-चिन्तन का मार्ग त्याग आलोचना, बहस आदि के पीछे पड़ा है। आत्म-चिन्तन सदा मनुष्य जाति का महान् शिक्षक रहा है। महर्षियों ने उसे जीवन की सच्ची प्रगति का अनन्य साधन माना था।

साथ में सदियों की सड़ी-गली, युगबीती सामाजिक प्रथाओं, मृतप्राय मनोभावनाओं का परिवर्तन भी आवश्यक है। थोड़ा समझदार होते ही दूसरों का शोषण करने की प्रवृत्ति और विलासिता न बदली तो प्रातः से सायं तक अथक परिश्रम करते श्रमिक के अन्दर की हँसी आँखें अन्दर ही रह जाएँगी "और भी चाहिए और" वालों के पेट फूल कर फट जाएँगे। अब समय आ गया है, जब, जो कस कर काम करे, देश के निर्माण में पूर्ण सहयोग दे वह 'छोटा आदमी' और

जो दिन भर हलुवाबाजी करे राष्ट्र के मूल्यवान् समय का हनन करे वह 'बड़ा आदमी' वाली परिभाषा और मनोवृत्ति बदल लेनी होगी। बापूजी का 'मेरे स्वप्नों का भारत' (India of my dreams) साकार बनाना है तो 'श्रम और संयम में ही आनन्द है' को समझना और अपनाना होगा।

और किसी उन्नति को देख कोई सन्तुष्ट होते परंतु नित्य भ्रष्ट आचारों और अन्यायों की कहानियों से रंगे समाचारपत्रों के कालमों को पढ़ अवश्य दिल दुख जाता होगा। दुःख होता है कि इस 'धर्मभूमि' कहे जाने वाले देश, राम-कृष्ण, बुद्ध-गांधी की जन्मभूमि में यह सब होने को शेष रहा? नहीं भूलना चाहिए कि यह 'असतो मा सद्गमय' की पुकार करने वालों की धरती है। यह सबको भली भांति समझ लेना चाहिए कि भारत के दूरदर्शी ऋषि सदियों पूर्व 'धन से मनुष्य कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकता' का शोध और घोषणा कर चुके हैं। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का व्यापक अर्थ समझ उसे आचरण जीवन में उतारने का समय यही है।

मानसिक परिवर्तन के लिए बाह्य संस्कार उतने लाभ कर नहीं जितने आभ्यन्तरिक। उसका एकमात्र उपाय है सात्विक वातावरण का निर्माण, हृदय की शिक्षा और नैतिक उन्नति। इनके बिना आज की अशान्ति एवं हाहाकार उग्र रूप धारण कर सकेंगे। "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो......जथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो' का आचरण करते राष्ट्र और व्यक्ति के चरित्र निर्माताओं के पथ-प्रदर्शन की जरूरत है।

हमें न केवल व्यक्ति, राष्ट्र अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए सन्तों के मार्ग का अनुसरण करना होगा।

द्वारा सिगनल इन्स्पैक्टर,
ऐशबाग़, लखनऊ —लक्ष्मीदत्त पाण्डेय

(२)

अजन्ता के सम्बन्ध में

'अजन्ता' का अक्तूबर अंक यथासमय मिल गया किन्तु प्रमादवश उत्तर लिखने आज ही बैठा। अंक पहले अंकों जैसा ही सुन्दर है। इतनी सुरुचिपूर्ण सामग्री तो हिन्दी के शायद ही किसी पत्रिका में रहती हो। इस सफल सम्पादन के लिए मेरी हार्दिक बधाई। अपने विचार तो मैं 'अजन्ता' के सम्बन्ध में पहले ही लिख चुका हूँ। अब तो इसे इसी रूप देखते रहने की अभिलाषा है।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी,
बनारस —नन्दकिशोर राय

(३)

अक्तूबर के 'अजन्ता' के दर्शन हुए। रामदरस मिश्र, नन्दकिशोर राय, राजेश्वर प्रसाद नारायणसिंह आदि की कविताएँ विशेष पसन्द आईं।

कुमारी लक्ष्मी मेहरोत्रा की कहानी कुछ विशेष प्रभावित नहीं कर पाई। कृपया कुछ अच्छी और एक से अधिक कहानियाँ 'अजन्ता' में दिया करें! श्री राजेन्द्र यादव द्वारा अनूदित "हंसनी—सी-गल" एक सुन्दर नाटक है। लेख सभी पठनीय एवं ठोस हैं। कला-चर्चा भी कम ज्ञानवर्धक नहीं है! सम्पादकीय सदैव की भाँति ठोस, तथा आलोचनाएँ निष्पक्ष हैं!

सूफ़ी औषधालय,
जुमेराती, भोपाल —नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

(४)

'अजन्ता' सितम्बर '५६। सुदूर दक्षिण में रह कर भी 'अजन्ता' जो हिन्दी की सेवा कर रही है, वह उसके गौरवपूर्ण अतीत की उज्वल परम्परा ही है। इस अंक में बालस्वरूप भटनागर 'राही' की कविता :

"दर्द उतना ही मुझे दो,
गीत बन जाए तड़प कर साँस सहमा!"

सीधे मर्मस्थल को स्पर्श करती है। काव्यात्मक दृष्टि से प्रस्तुत अंक की तमाम कविताओं से, यह कविता भावपूर्ण, कोमल एवं मृदुस्पर्शी है। कुछ पंक्तियाँ 'सोचना भी ग़म किसी की बददुआ है।' अपने आप में पूर्ण एवं जीभ पर बैठने लायक है। अन्य कविताओं में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री एवं कुमारी रमासिंह की कविताएँ सुन्दर हैं। 'प्रगतिशील कविता : 'जीवन संवेदना' (ले. मु. म. प्र. सिंह) शीर्षक तो गंभीर है, पर निबन्ध पढ़ने के बाद, शीर्षक पढ़ कर जो आशा बँधती है, पूरी नहीं होती। प्रतिपाद्य विषय की गहराई तक न जा कर, ऐसा लगता है कि लेखक उद्धरण देकर ही पाठक की आँखों में धूल झोंकना चाहता है। राजेन्द्र यादव का अनुवाद निस्सन्देह सफल और सुन्दर है। वाचस्पति गैरोला का निबन्ध

विषय—गाम्भीर्य एवं श्रम सार्थकता की मिसाल है। 'भाषा की समस्या' सुलझा हुआ, विचारपूर्ण एवं विद्वत्तापूर्ण निबन्ध है। स्थायी स्तम्भों की सामग्रियाँ भी उपयोगी, पठनीय एवं प्रशंसनीय हैं। इस बार का सम्पादकीय भी विशेष अभिशंसनीय है। अन्ततः, 'अजन्ता' की सामग्रियाँ किसी भी मासिक पत्र के लिए चुनौती हैं।

'रोमांटिक वियु'
डा० आमगोला
मुजफ्फरपुर (बिहार)

—व्रजकिशोर सिन्हा

(५)

"………'अजन्ता' का अक्तूबर वाला अंक मिला। धन्यवाद! रामदरस मिश्र की कविता अत्यधिक पसन्द आई। इस अंक की सर्वश्रेष्ठ कविता में उनके गीत का ही नाम गिनाऊँगा। आशा है पाठक इसे पढ़ कर कम से कम मन की खिरकियाँ तो अवश्य ही खुली रखेंगे। कवि को मेरी बधाइयाँ। रांगेय राघव की कविता भी सुरुचिपूर्ण है।

'भादों की शाम और क्वाँर का सवेरा' में एक अधःपतित समाज का नग्न चित्र हमें देखने को मिलता है। आर्थिक असमानता कितनी भयावह होती है? ………'हमारे साहित्य की लोकयात्रा' एक सुन्दर निबन्ध है। सम्पादकीय टिप्पणी में 'अजन्ता' के स्वनामधन्य सम्पादक वंशीधर विद्यालंकार और ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर के बहुत ही ठोस और मार्गप्रदर्शक हैं।"

शोकहारा (कलमबाग) बरौनी,
जि० मुंगेर (बिहार)

—कीर्तिनारायण मिश्र

(६)

'शाकुन्तल' का नैतिक रहस्य

सितम्बर की 'अजन्ता' में "'शाकुन्तल' का नैतिक रहस्य" पर श्रीयुत भगवतशरण उपाध्याय का लेख प्रकाशित हुआ है और अक्तूबर की 'अजन्ता' में उसके संबन्ध में श्रीयुत आदित्य मिश्र का एक अन्य सुन्दर लेख भी। श्रीयुत भगवतशरण उपाध्याय का यह कथन: "यह रोमांस नहीं वरन् एक दोष था जिसके दोषी दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों थे। इसलिए वर्णाश्रम धर्म के अनुसार दण्ड द्वारा दोनों का परिष्करण आवश्यक था।" आगे उनका चल कर यह कहना…… "कालिदास की धर्मभीरु आत्मा काँप उठी—दुर्वासा का रुद्र रूप व्यक्त होकर पुकार उठा… .."

जब आलोचक और विद्वान् लोग—किसी के काव्य, नाटक या साहित्यिक रचना पर अपनी व्याख्याएँ या टीकाएँ आरोपित करना प्रारम्भ करते हैं तो उसे दुःखी होकर कहना पड़ता है: "……कवित्वनिवेदनं। शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"

अन्ततः दुष्यन्त को इस 'रोमांस' का क्या दण्ड मिला। कालिदास ने रोमांस में किसी प्रकार का दोष प्रदर्शित नहीं किया है उसने तो 'शकुन्तला' के द्वारा स्त्रियों की इस सम्बन्ध में सामाजिक स्थिति का प्रदर्शन किया है। दुर्वासा के शाप से 'कालिदास की भीरु आत्मा' नहीं काँपती। यह कहना कालिदास के साथ सरासर अन्याय करना है। कालिदास ने दुर्वासा के शाप को स्त्रियों की इस निर्बल स्थिति पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालने के लिए ही अवतरित किया है। 'शकुन्तला' एक आश्रम की लड़की है और दुष्यन्त सम्राट्। यदि दुष्यन्त 'शकुन्तला' को पहचान जाते तो जिस कथा को कालिदास बनाना चाहते थे वह न बन पाती। साधारण स्थिति में यह असम्भव था कि दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाते। इसलिए कालिदास ने अति प्राकृत (Supernatural) का सहारा लिया है। शाप के द्वारा दुष्यन्त को वे ऐसी स्थिति में ले आते हैं कि असम्भव सम्भव हो जाता है। दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जाते हैं और एक ऐसी विषम स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसका कि कोई इलाज ही नहीं है और फिर मजा यह कि इसकी जिम्मेदारी किसी पर नहीं है। और इस स्थिति से जो करुणा उत्पन्न हुई है उसका जवाब विश्व के किसी नाटक में दिखलाई नहीं पड़ता। वह अनुपम है।

हमें साहित्य का अध्ययन सहृदयतापूर्वक मानव-हृदय और भावनाओं और कला की दृष्टि से करना चाहिए। 'शकुन्तला' नाटक में दुर्वासा का शाप ही कथा का Turning point मोड़-बिन्दु है। कथा की सृष्टि इस प्रकार हुई है कि यह उसका एक प्रधान अंग बन गया है। इसके बिना कालिदास अपनी नाटक की वस्तु-रचना नहीं कर सकते थे। इसमें वर्णाश्रम धर्म और इसी प्रकार की अन्य बातों की रिसर्च करना इस नाटक के मानवीय मूल्य और महत्व को कम करना है।

हैदराबाद

—कश्चित्

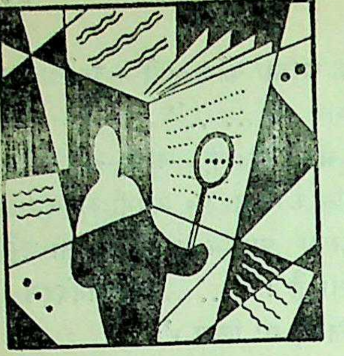

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ।]

प्रेमचन्द और उनकी साहित्य साधना

लेखक : डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
प्रकाशक : आनन्द कपूर एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली
मूल्य :

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने प्रेमचन्द के विषय में प्रायः प्रत्येक पहलू से अध्ययन और अनुशीलन करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने स्वयं इस पुस्तक के विषय में भूमिका में लिखा है : "एक दृष्टि से देखें तो इस पुस्तक से पूरे प्रेमचन्द की कल्पना हो जाती है।" पूरे प्रेमचन्द से लेखक का तात्पर्य यह है कि उन्होंने अपनी इस पुस्तक में उनके जीवन और उनकी "हर एक रचना की छानबीन" करने का प्रयत्न किया है। क्या किसी लेखक की "पूर्ण कल्पना" उसकी हर एक रचना की छानबीन से ही की जा सकती है? एक तो किसी लेखक की समस्त रचनाएँ एक सदृश नहीं होतीं और दूसरा "छानबीन" या अनुशीलन लेखक प्रायः जिस दृष्टि को सम्मुख रख कर करता है वह दृष्टि यदि अपने में पूर्ण है तो वह लेखक और उसके व्यक्तित्व पर भी पूर्ण प्रकाश डाल सकती है। किसी लेखक की एक ही रचना पर इतना गहरा प्रकाश डाला जा सकता है कि लेखक की पूर्ण कल्पना हो जाए और उसकी समस्त रचनाओं पर विस्तृत होते हुए भी यदि पूर्ण प्रकाश न डाला जाए तो लेखक के पूर्ण व्यक्तित्व के प्रस्तुत करने पर भी हम उसे पूर्ण रूप से देख नहीं सकते। किसी प्रकार के व्यक्तित्व को पूर्णता से देखने के लिए दृष्टि की पूर्णता की आवश्यकता है क्योंकि व्यक्ति की पूर्णता को हम एकमात्र उसी के द्वारा देख सकते हैं। इसी बात को उर्दू के कवि दाग़ ने इस प्रकार अपने एक शेर में कहा है :

> "उनके जल्वे के तो क्या कहने—मगर,
> देखनेवाले को देखा चाहिए"

लेखक की प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि लेखक ने 'प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना' पर पर्याप्त अध्ययन और अनुशीलन किया है परन्तु इसके साथ यह भी अनुभव होता है कि क्योंकि लेखक का विषय पर्याप्त रूप से विस्तृत है इस कारण यह स्वाभाविक है कि वह उसकी गहराई में दूर तक नहीं जा सका है। जहाँ तक प्रेमचन्द और उनकी साहित्य-साधना के विषय में जानकारी का प्रश्न है उसने अपनी ओर से इस बात का प्रयत्न किया है कि उनके सम्बन्ध में वह अपनी इस पुस्तक में उसे पूर्ण रूप से प्रस्तुत कर सके यद्यपि उसमें भी कुछ पहलू छूट गए हैं जैसे कि "प्रेमचन्द का पत्र-साहित्य' या 'प्रेमचन्द पत्रकार के रूप में" आदि। प्रस्तुत पुस्तक में प्रेमचन्द के सम्बन्ध में जितनी जानकारी दी गई है उतना मार्मिक या गम्भीर विवेचन नहीं और यह सम्भव भी नहीं हो सकता था। प्रस्तुत पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता जो हमें प्रतीत हुई वह यह है कि लेखक ने प्रेमचन्द को स्वयं प्रेमचन्द की दृष्टि से देखने और समझने का प्रयत्न किया है और इसी कारण उसने उनके सम्बन्ध में जो कुछ विवेचना की है वह सहानुभूतिपूर्ण होने के साथ प्रायः उन्हीं के शब्दों में है। वह लेखक के व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित है कि वह जो कुछ देखना चाहता है वह उन्हीं के रंग में और उन्हीं की आँखों या दृष्टि द्वारा। वह उनको देखने के लिए अपनी आँखों या दृष्टि के प्रयोग को बहुत कुछ भूल-सा गया है। किसी भी लेखक के महत्व को समझने या समझाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके समस्त विचारों से सहमत हुआ जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने प्रेमचन्द के समस्त विचारों से अधिकांश में अपनी सहमति प्रकट की है। लेखक ने प्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिखा

है : "प्रेमचन्द साहित्य के द्वारा वही कार्य कर रहे थे जो गांधी जी राजनीति द्वारा कर रहे थे।" इसी प्रकार लेखक कहता है : "यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आज राष्ट्रभाषा के लिए जो कार्य हो रहा है उसकी रूप-रेखा बहुत कुछ प्रेमचन्द की ही विचारधारा पर बनी है।" एक और स्थान पर : "तुलसीदास के राम की तरह ..प्रेमचन्द का साहित्य सबको...महान् लगता है।"

प्रेमचन्द हिन्दी के एक महान् लेखक थे और उनकी रचनाओं से हिन्दी के गौरव की श्रीवृद्धि हुई है। प्रेमचन्द और उनके साहित्य को वैज्ञानिक ढंग से गहरे अनुशीलन और विश्लेषणात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। यह अध्ययन इस प्रकार का होना चाहिए जो कि हमें जहाँ लेखक की उसकी अपनी दृष्टि से देखने की क्षमता प्रदान करे वहाँ हमारी आँखों में भी इस प्रकार के प्रकाश को आलोकित कर सके कि उसे हम अपनी दृष्टि से भी यथार्थ रूप से देख सकें।

कुटी का क्रन्दन (एक गाथा काव्य)
लेखक : मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर'
प्रकाशक : पुस्तक-भण्डार, पटना और लहेरिया सराय
मूल्य :

इस 'गाथा-काव्य' को प्रस्तुत करने से पूर्व लेखक ने अपने प्रारम्भिक 'निवेदन' में लिखा है : "व्रजभाषा के कवियों ने इस (सुदामा और कृष्ण के) आख्यान को भक्ति के रंग में रंग कर उपस्थित किया। आज का कवि परम्परा को स्वीकार करते हुए नवयुग का प्रभाव ग्रहण कर उस प्राचीन गाथा को काव्य के रूप में प्रस्तुत कर रहा है।" गाथाएँ सदा अपने समय के अनुकूल रंग में उपस्थित की जाती रही हैं और सदा की जाती रहेंगी। सुदामा और कृष्ण की कथा में ऐसा अद्भुत रस है कि जो कवियों का ध्यान अपनी ओर सदा आकर्षित करती रहेगी। नरोत्तमदास कवि ने 'सुदामा-चरित' लिख कर हिन्दी को जो देन दी है वह अनुपम है। उसमें भक्ति होते हुए भी पहले सुदामा और पत्नी की बातचीत को जिस ढंग से कराया गया है, फिर द्वारपाल ने जिस तरह कृष्ण को सुदामा का परिचय दिया है और फिर कृष्ण सुदामा को देख कर जिस प्रकार रोए हैं—अन्त तक समस्त कथा ऐसी प्रवाहमयी और मधुर व्रज की भाषा में लिखी गई है कि जिसे बार-बार पढ़ने पर भी मन की तृप्ति नहीं होती। नरोत्तमदास कवि का यह छोटा-सा काव्य हिन्दी-साहित्य में अपना ही एक विशेष स्थान रखता है। कवि ने इसमें दरिद्र होते हुए भी सुदामा के चरित्र को जिस प्रकार उपस्थित किया है उसमें भी एक महानता है। दरिद्र और अकिंचन होते हुए भी वह कृष्ण के पास जा कर माँगना नहीं चाहता और अपनी पत्नी की भर्त्सना करता है : "द्वारका जाहु जू द्वारका जाहु जू आठहुँ जाम यही झख तेरे" और अन्त में पत्नी के ("काहे को द्वारका ठेल पठौनी") ज़बर्दस्ती करने पर वह द्वारका जाता है और वहाँ भी वह कृष्ण से कुछ माँगता नहीं। वह मिलने मात्र के लिए जाता है। नरोत्तमदास ने सुदामा को भी महान् बनाया है। उसके कपड़े और जूते सब फटे हुए हैं परन्तु वह एक सिर उठा कर चलने वाला ब्राह्मण है जो कि सगर्व होकर कहता है : "औरन को धन चाहिए बावरि, ब्राह्मण के धन केवल भिच्छा।"

प्रस्तुत काव्य में लेखक ने दरिद्रता को 'पाप' के रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस कहानी की रूप-रेखा वही है जो कि नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' की है परन्तु इसमें दरिद्रता को लेकर उसने 'साम्यवाद' का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। द्वारका के मार्ग पर उसे एक यात्री मिलता है और जब उन दोनों की बातचीत होती है तब वह दरिद्रता के विषय में कह उठता है :

"तुमने कैसे सहा, दैन्य-दुःख
तथा विषम यह अत्याचार
दैन्य पाप है तथा पाप का
उचित सदा भीषण प्रतिकार
वह समाज हो दग्ध, जहाँ पर
दुःख विषमता हो उद्दाम
जलता जहां क्षुधाग्नि बीच हो
पीड़ित प्रजावर्ग अविराम।"

× × ×

"इच्छा होती है समाज में
साम्यभाव का करूँ प्रचार
तथा विमषता का प्रभुता का
करूँ प्राणपण से प्रतिकार"

इतना ही नहीं वह 'क्रान्ति' के लिए अपने समस्त

जीवन में क्रान्ति का 'यज्ञ' करना चाहता है और कहता है :

> "इस समाज के दैन्य-दुःखों का
> भेद-भाव का कर दूँ अन्त
> करूँ स्वजीवन होय क्रान्ति का
> यज्ञ जले, चिर रहे ज्वलन्त"

परन्तु इस सबका सुदामा पर भी प्रभाव नहीं पड़ता और वह इस आशा से कि द्वारकाधीश से मिलने पर उसके दुःखों का अन्त हो जाएगा वह अपने पथ पर अग्रसर हो जाता है।

कृष्ण और सुदामा की कथा में इतनी मधुरता है और इतना रस है कि वह स्वयं एक काव्य है और इसलिए उसे चाहे किसी रूप में उपस्थित किया जाए उसमें एक अपना आकर्षण रहता ही है। पुस्तक को पढ़ने में दिल लगता है क्योंकि कविता की भाषा में प्रवाह है यद्यपि उसके कथानक और भाषा में कहीं कहीं शिथिलता है और कहीं कहीं विचित्र शब्दों का प्रयोग है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने कवि-हृदय पाया है। उसमें भावुकता है, विचार है और रस है। यद्यपि वह सुदामा की कथा में कोई विशेष नवीन आकर्षण नहीं उत्पन्न कर सका है तो भी हम उनके इस प्रयत्न को अभिनन्दनीय समझते हैं।

शरत् के नारी पात्र

लेखक : रामस्वरूप चतुर्वेदी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, काशी
मूल्य : साढ़े चार रुपए

प्रस्तुत पुस्तक का लेखक श्रीयुत शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों के सम्बन्ध में कहता है : "पात्रों की दृष्टि से शरत् की रचनाओं के मोटे तौर पर दो विभाग किए जा सकते हैं। उनके कुछ उपन्यासों और कहानियों में पुरुष-चरित्रों की प्रधानता है और कुछ में स्त्री-चरित्रों की। किन्तु पहली प्रकार की रचनाएँ दूसरी प्रकार की रचनाओं से संख्या में अपेक्षाकृत कम हैं। जिन उपन्यासों और कहानियों में पुरुष पात्रों की प्रधानता है उनमें शरत् अधिक मार्मिक नहीं हो सके हैं। उनकी कला का निखार तो उनके नारी-पात्रों में ही द्रष्टव्य है।" "स्त्रियों की अवस्था के सम्मान" के विषय में शरत्चन्द्र कहते हैं : "जब तक स्त्रियों का विवाह नहीं हो जाता, तब तक वे अपनी बड़ी बहन, भाभी, माँ, बुआ अथवा दादी के पास छोटों की भाँति रह कर थोड़ी बहुत उम्मीदवारी करती हैं फिर उसके उपरान्त वे एकदम से सबसे ऊँची श्रेणी में जा बैठती हैं।" एक अन्य स्थान पर स्त्रियों के सम्बन्ध में शरत् चन्द्र कहते हैं : "स्त्री का बाल्य रूप मनुष्य को मुग्ध कर सकने पर भी उसे उन्मत्त नहीं कर सकता और जब वह सन्तान धारण करने की आयु को पार कर जाती है, तब फिर ठीक वही बात रह जाती है। स्त्री की ही नहीं पुरुष की भी यही अवस्था है तभी तक उसमें रूप रहता है, जब तक वह सन्तान पैदा कर सकती है। यह सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता ही उसका रूप है—उसका यौवन है। सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा ही उसका प्रेम है।"

प्रस्तुत पुस्तक में तीन वर्ष में शरत् के नारी-पात्रों पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। लेखक ने इन निबन्धों में शरत् चन्द्र के नारी-पात्रों का गहराई से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। विधवा, विमाता, सपत्नी, परित्यक्ता, सन्तानहीना, विवाहिता आदि अनेक रूपों में शरत् बाबू ने स्त्री के रूप और चरित्र को प्रदर्शित किया है। उनके स्त्री-चरित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें एक प्रकार की श्री (Dignity) है; उन्होंने उन्हें एक ऐसे स्तर पर और ऐसी मर्यादा में रखा है जिससे स्त्री जाति की महानता का परिचय प्राप्त होता है। शरत् चन्द्र के लिए नारी एकमात्र खिलवाड़ या विषय-वासना की वस्तु नहीं है, वह पुरुष का एकमात्र विनोद का साधन नहीं है वह उसके लिए जगद्धात्री है, अन्नपूर्णा है, स्नेहमयी ममता है, माँ है, साक्षात् करुणा है और जीवन की प्रेरणा है। नारी-जीवन में जहाँ कोमलता है वहाँ कठोरता भी है। उसकी कठोरता का परिचय शरत्चन्द्रने उसके संयम और कर्तव्यपरायणता में दिया है और कोमलता का परिचय उसके परिपालन और ममता में है। प्रायः नारी के बाह्य रूप को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है परन्तु शरच्चन्द्र नारी के आन्तरिक रूप के प्रति आकर्षित हैं बाह्य रूप के प्रति नहीं। यही कारण है कि वे पतित से पतित कही जाने-वाली नारी के हृदय की कोमलता को अनुभव करते हैं। यही कोमलता ही स्त्री की सबसे महान् सुन्दरता है। इसी कोमलता को शरत् बाबू ने अपने उपन्यासों में अनेक रूपों में प्रदर्शित किया है। निबन्ध परिश्रमपूर्वक लिखे गए हैं और पठनीय हैं।

संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय

लेखक : किशोरीदास बाजपेयी
प्रकाशक : हिमालय एजेन्सी, कनखल (उत्तर प्रदेश)
मूल्य : डेढ़ रुपया

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में लेखक ने लिखा है : "भारतीय संस्कृति के चार युग बीत चुके, पाँचवाँ शुरू है। इन सांस्कृतिक युगों को हमारे मित्र श्री 'दिनकर' ने अध्याय नाम दिया है। मैंने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। इस पुस्तक में इस वर्तमान (पाँचवें) अध्याय के बारे में ही विशेष रूप से कहा जाएगा।" इस पाँचवें अध्याय के विषय में वे लिखते हैं : "पाँचवाँ अध्याय अब (अंग्रेज़ों की प्रभुता के पश्चात्) आरम्भ हुआ है, स्वराज्य में सांस्कृतिक पर्यवेक्षण और एकता के लिए प्रयत्न।" लेखक हिन्दु संस्कृति का तात्पर्य भारतीय संस्कृति समझते हैं और विचार करने पर उनका यह विचार युक्ति-संगत प्रतीत होता है यद्यपि यह सत्य है कि आजकल "हिन्दु" शब्द का सम्बन्ध एकमात्र "धर्म" से ही किया जाता है। अंग्रेज़ों के प्रभुत्व के काल में हिन्दुस्तान से जो मुसलमान आदि भिन्न धर्मावलम्बी व्यक्ति अमरीका जाते थे उन्हें भी "हिन्दु" के नाम से ही कहा जाता था—ऐसा हमने अमरीका से लौटे हुए कई मुसलमान यात्रियों के मुख से सुना है। लेखक के अनुसार संस्कृति हज़ारों विभिन्न देशों की विभिन्नताओं से प्रभावित हो सकती है परन्तु उसका रूप अन्ततः एकदेशीय ही हो सकता है। पिछले दिनों भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न धर्मों के नाम पर संस्कृतियों को बनाया गया। फिर प्रान्तों के नाम पर संस्कृतियों को बनाया गया। ये सब महान् भारतीय संस्कृति के अंग हैं—और इन्हें अब भारतीय संस्कृति से पृथक् नहीं किया जा सकता। लेखक देश में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था के विषय में लिखता है : "वस्तुतः आज वर्ण-व्यवस्था का नाम भर है। लाभ कुछ नहीं, हानि बहुत। सब अपने को अलग अलग समझने लगे हैं। इस अलगाव को समाप्त कर देना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था के भूत को भगाने के लिए यदि लाल मिर्चों की धूनी भी देनी पड़े तो घबराना न चाहिए।" लेखक ने अपनी इस पुस्तक में कई व्यक्तिगत घटनाओं का उल्लेख किया है और कई स्थानों पर यह उल्लेख काफ़ी लम्बा हो गया है। भारतीय संस्कृति एक है—उसका आधार एक है—इसलिए उसके द्वारा समस्त देश में एकता को उत्पन्न करना चाहिए। लेखक ने संस्कृति का लक्षण निम्न प्रकार किया है : "किसी जाति की संस्कृति बहुत लम्बे अरसे से चले आ रहे पुरखों के जीवन प्रवाह के समुदित संस्कार ही हैं। वे संस्कार जाति-जीवन में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता।" उन्होंने संस्कृति की जो व्याख्या की है—उसमें मतभेद हो सकता है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का है परन्तु इसका इस अर्थ में प्रयोग आधुनिक है। जिस प्रकार 'आर्ट' शब्द के लिए 'कला' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है—उसी प्रकार 'कल्चर' शब्द के लिए 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है—यद्यपि 'आर्ट' और 'कल्चर' के शाब्दिक अर्थ 'कला' और 'संस्कृति' के शाब्दिक अर्थों से सर्वथा भिन्न हैं। इस नए प्रयोग के कारण 'कला' और 'संस्कृति' आधुनिक शब्द हैं—प्राचीन नहीं। 'कल्चर' या संस्कृति शब्द का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस पुस्तक में 'संस्कृति' को सीमित क्षेत्र में लिया गया है। लेखक 'संगीत, नृत्य' आदि को 'संस्कृति' के अन्तर्गत मानने के लिए तैयार नहीं है। संस्कृति शब्द के व्याकरणानुसार चाहे कुछ भी अर्थ क्यों न हों—यह शब्द अंग्रेज़ी शब्द 'कल्चर' के लिए प्रयुक्त होता है और इसीलिए 'कल्चरल प्रोग्राम' के लिए 'सांस्कृतिक प्रोग्राम' शब्द का प्रयोग जिसमें संगीत और नृत्य आदि कलाओं का समावेश होता है। लेखक 'संस्कृति' शब्द का अर्थ 'परम्परागत संस्कार' करते हैं। परन्तु 'संस्कृति' शब्द के अर्थ की कोई ऐतिहासिक परम्परा नहीं है। संस्कृत के किसी भी पुराने शब्दकोश में 'संस्कृति' शब्द नहीं प्राप्त होता। अंग्रेज़ी के 'कल्चर' शब्द के लिए 'संस्कृति' का प्रयोग किया जाता है। 'कल्चर' शब्द का अंग्रेज़ी शब्दकोशों में अर्थ निम्न प्रकार किया गया है : "प्रशिक्षण के द्वारा मन या शरीर का विकास; किसी व्यक्ति के गुणों और शक्तियों का विकास; विश्व में जो कुछ सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है उसका ज्ञान।" किसी देश की या मनुष्य की जो सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ या रचनाएँ हैं वे सब संस्कृति के क्षेत्र में अन्तर्गत हैं।

हैदराबाद **—वंशीधर विद्यालंकार**

नाव के पाँव (कविता पुस्तक)

कवि : जगदीश गुप्त

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर
मूल्य : ढाई रुपया

सुमित्रानन्दन पन्त के शब्द हैं : "नाव के पाँव की कल्पना नई कविता की कल्पना है।" और कथ्य कविता का पन्त जी के शब्दों में परिचय है : "आप इन धूप छाँह के लम्बे-लम्बे पैरों को भावना की लहरियों की उभरती हुई छातियों पर तैरते या नीर के विस्तार के नीचे, हृदय की अनजानी गहराइयों में छिपे, दूर तक फैले हुए देख सकते हैं। मछलियों की तरह चंचल पाद इन छोटी बड़ी रुपहली रचनाओं में कविता की आत्मा ऊब डूब करती हुई आँख मिचौनी खेलती है। इनमें नई कविता की चेतना, उसी के अलंकरण, ध्वनि, लय तथा निखार है।..."

पुस्तक में कुल पृष्ठ अठहत्तर हैं। कुल कविताएँ सत्तावन 'नाव के पाँव' और 'टूटती लहरें' के पार्थक्य में पुस्तक विभक्त है—पार्थक्य आकर्षण वर्णन के लिए ही किया प्रतीत है; 'नाव के पाँव' भाग में 'नाव के पाँव' शीर्षक कविता है और 'टूटती लहरें' भाग में 'टूटती लहरें' शीर्षक कविता—हाँ, इतना अवश्य है कि 'नाव के पाँव' प्रथम खण्ड में कवि की १९५१ के बाद की प्रायः सभी कविताएँ संग्रहीत हैं और द्वितीय खण्ड में इसके पूर्व की कुछ कविताएँ।

समग्रतः जो वस्तु इन कविताओं में सबसे अधिक उल्लेख्य है, वह कथ्य का रूपाकार सर्वत्र सौष्ठवयुक्त, चारु, चंचल, संक्षिप्त-सा, रुपहली-सुनहली आवरण में मण्डित-सा—हठात् ही मनमोह लेता है—'नखत की परछाईं' कविता है :

"अँकुरती-सी क्यारियाँ धान की
राशि वर्षा के बिखरते दान की
हुई संचित
उसी संचित राशि में सीमन्त-सी
झिल मिलाई
क्षीण परछाईं
फटे-टूटे बादलों के बीच से
झाँकते नन्हें नखत की
नखत की वह क्षीण पर छाईं
धू गई हर एक रग जी की
युग युगों से दृश्य की सुकुमार पत्तों में बसी थी जो
वह रजत-सी रात पूनों की
लग उठी फीकी" .

'पुतली' कविता कितनी संक्षिप्तता से, तीव्रता से अपने कथ्य को प्रस्तुत करती है—

"नाश और निर्माण दोनों ध्रुवों के बीच
सारी ज़िन्दगी तिरती
जागरण में स्वप्न में सुख दुख सँजोए
ठीक पुतली की तरह फिरती
चिर शयन बन
शीश पर जब मृत्यु आ घिरती
फिर नहीं फिरती नहीं तिरती

'पानी गहरा है' कविता की इन दो पंक्तियों का दर्शन कितना सुष्ठु है—

"मन की तुलना में पर देह बहुत हलकी है
इसको तट ही प्रिय है चाह नहीं तल की है"

पुस्तक में द्वितीय खण्ड में दस-बारह गीत हैं; वे अपनी अभिव्यक्ति में अतीव मोहक और गति में अति सरल हैं। 'गोरी रात' का गीत कितना-सा है, कुछ पंक्तियों भर का; किन्तु कितना सौन्दर्य युक्त है, शाश्वत है, सौष्ठवयुक्त है—

"व्योम-गंगा में आई बाढ़
चाँद से टकराई हिलकोर
इधर से सुधा उधर से दूध
भीगने लगे गगन के छोर
धरा पर गई सुधा सब फैल
हो गई सहसा गोरी रात
धुल गया युगों युगों का मैल"

और अन्तिम कविता 'टूटती लहरें' तो अत्यन्त सशक्त बन पड़ी हैं; कुछ पंक्तियाँ हैं—

"अन्धियारा उतर रहा सपनों के गाँव में
रेतीला सूनापन पलकों की छाँव में
पत्थर ज्यों बँधे हुए नज़रों के पाँव में"

"यों मुझको देखो मत
नीर भरी आँखों में एक लहर टूटती
दर्द भरे सागर की लहर-लहर टूटती"

पुस्तक की प्रायः सभी कविताओं की भाषा सरल, प्रवाहमयी तथा भाव और अभिव्यंजना अनुभूति युक्त हैं, नवीन शैली, रूप, गति और सौष्ठव से युक्त।

शिक्षा में नए प्रयोग

लेखक : सूरजभान एम. एड. (लन्दन)
प्रिन्सिपल, डी. ए. वी. कॉलेज, जालन्धर
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट,
दिल्ली—६
मूल्य : चार रुपया

यह पुस्तक इसी लेखक की अंग्रेज़ी पुस्तक Towards A Happier Education का हिन्दी संस्करण है : पुस्तक में शिक्षा विषय पर मानसिक विज्ञान के अध्ययन और विश्लेषण पर अधिकाधिक बल दिया गया है।

पश्चिमी देशों में विशेष रूप से अमेरिका में शिक्षा पद्धतियों में मानसिक स्वास्थ्य के विज्ञान पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है—अभी हमारे देश में इस दिशा में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है—श्री सूरजभान की यह पुस्तक हमारे देश में मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता और अध्यापन पद्धति के साथ अपने विषय में एक विशिष्ट देन है। इस पुस्तक के साथ एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि श्री सूरजभान जैसे पुराने, सुशिक्षित और अनुभवी शिक्षक के अनेक वर्षों के अनुभवों पर यह आधारित है।

अध्यापकों को प्रशिक्षित करनेवालों के लिए तथा स्वयं अध्यापकों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए यह पुस्तक निःसन्देह ही उपादेय और प्रेरणायुक्त है; इस दृष्टि से भी कि इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध में मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के लिए बहुत बल दिया गया है; अपितु इसलिए भी कि इसमें भारतीय विद्यालयों में एक नया दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है।

दिवा स्वप्न (एकाङ्की-संग्रह)

प्रकाशक : विद्या मन्दिर गनी, कटरा लखनऊ
लेखक : प्रेमनारायण टण्डन
मूल्य : दो रुपया

प्रस्तुत 'दिवा स्वप्न' लेखक का चौथा एकांकी संग्रह है। इस संग्रह में चार एकांकी हैं—'उपहार', 'श्रमदान', 'कृष्णजन्म' और 'दिवा स्वप्न'—'दिवास्वप्न' और 'कृष्णजन्म' एकांकी पौराणिक है। किन्तु प्रस्तुतीकरण नवीन और आकर्षणयुक्त है। 'उपहार' और 'श्रमदान' एकांकी सामयिक हैं—चारों एकांकियों में परिष्कृत रुचि और स्वस्थ दृष्टिकोण के साथ नयापन भी मिलता है और एक नई शैली की उपलब्धि भी होती है।

लोहा सिंह (आँवले का मुरब्बा और अन्य करतूतें)

लेखक : श्री रामेश्वर सिंह काश्यप
प्रकाशक : ग्रन्थ माला कार्यालय, पटना—४
मूल्य : सवा दो रुपया

'लोहा सिंह' पुस्तक पाँच एकांकियों का संकलन है; ये एकांकी पूर्णतः हास्य रस पूर्ण हैं—'लोहा सिंह' नाम का एक पात्र पाँचों एकांकियों में छाया हुआ है ये पाँच एकांकी हैं : ''लोहा सिंह ने मुरब्बे खाए,' 'लोहासिंह ने शादी ठीक की', 'लोहा सिंह ने डाक्टरी की', 'लोहा सिंह ने खेती की' और 'लोहा सिंह ने नौकरी दिलवाई'—पाँचों एकांकियों में हास्य-रस ओतप्रोत है, किसी भी दर्शक या पाठक को हँस-हँस कर लोट-पोट करने की ये एकांकी पूरी क्षमता रखती है।

रामराज्य

प्रकाशक : राजपाल-प्रकाशन
राजपाल प्रेस, आगरा
मूल्य : पौने दो रुपया

पुस्तक काव्य-पुस्तक के 'रामराज्य' की कल्पना महात्मा गान्धी के स्वराज्य या 'रामराज्य' की विचारधारा से अनुप्रेरित हुई है और मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के राज्य को भी पृष्ठभूमि में रख कर, यह पुस्तक रची गई है; सारी पुस्तक भारतीय भावना और भारतीय संस्कृति से समग्रतः अनुप्राणित है। पुस्तक को अनेक परिच्छेदों में विभक्त करते हुए भारतीय आदर्शों को कवित्व बद्ध किया है—भारतीय लोक जीवन का शायद ही कोई ऐसा अंग बच पाया हो, जिसकी भव्य और आदर्श रूपी कल्पना रचयिता ने न की हो। 'राम राज्य' भावनाशील आदर्शप्रिय भारतीय समाज के समादरणीय तथा प्रेरणायुक्त है।

बम्बई —ज्ञानेन्द्रकुमार भटनागर

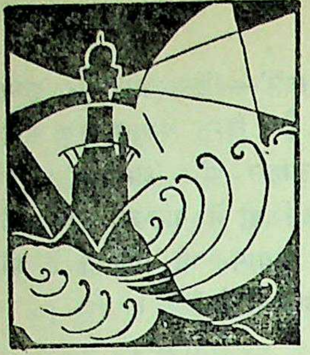

सामयिक

॥

मणिपुरी नृत्य

आलइण्डिया रेडियो की अँग्रेज़ी पत्रिका में श्रीमती रूबी मुकर्जी की "मणिपुरी नृत्य" पर एक वार्ता प्रकाशित हुई है। यह इलाहाबाद से प्रसारित हुई थी। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"मणिपुर एक छोटा-सा राज्य है जो कि आसाम की पर्वतमाला में बर्मा की सीमा पर अवस्थित है। भारतवर्ष के एक कोने में होने के कारण अनेक वर्षों तक इसकी सभ्यता और संस्कृति के विषय में कुछ विशेष ज्ञात न था। क्योंकि यहाँ यातायात के साधन नहीं थे, इस कारण मणिपुर की सांस्कृतिक परम्पराएँ क़ायम रहीं और उन पर बाहर का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ सका।

२० वर्ष पूर्व भारतवर्ष में मणिपुर नृत्य के विषमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं था। जो लोग मणिपुर गए उनसे इस विषय में कुछ पता चला। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस नृत्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने शान्तिनिकेतन में इसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। श्रीयुत रवीन्द्रनाथ-ठाकुर ने अपने कई नाटकों—"चित्रांगदा", शापमोचन", "नटीर पूजा" और "ताश का राज्य" में मणिपुरी नृत्य का आयोजन किया है।

मणिपुर नृत्य का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ? इसके विषय में कई दन्तकथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि लगभग ५०० वर्ष पूर्व मणिपुर में एक बार अकाल पड़ा। नागाओं का विश्वास था कि यह अकाल राक्षसों के कारण हुआ है। नागाओं के सरदार के सम्मुख देवी काली आविर्भूत हुईं और उन्होंने आदेश दिया कि देवताओं को नृत्य और संगीत के द्वारा तृप्त करो और इससे अकाल दूर हो जाएगा। इस प्रकार मणिपुर में संगीत और नृत्य का प्रारम्भ हुआ और इसका परिणाम यह हुआ कि देश में अनाज प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हुआ।

इस सम्बन्ध में एक और दन्तकथा प्रचलित है। मणिपुर राज्य के राजा श्रीमान् भाग्यचन्द्र ने अपने स्वप्नों में भगवान् श्रीकृष्ण को देखा। भगवान् श्रीकृष्ण ने राजा को स्वप्नों में आदेश दिया कि भगवान् का एक मन्दिर बनाओ और उसमें नृत्य और संगीत द्वारा भगवान् की पूजा करो। इस स्वप्न के अनुसार राजा ने एक विशाल मन्दिर बनवाया देश के प्रसिद्ध शिल्पकारों ने चन्दन की लकड़ी से भगवान् की सुन्दर प्रतिमा बनाई। इसके पश्चात् राजा ने ऐसे पुजारी की खोज की जो कि भगवान् की पूजा नृत्य और संगीत के द्वारा कर सके। एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक शहर से दूसरे शहर में वह भटकता रहा परन्तु उसे एक भी ऐसा पुजारी न मिला जो कि भगवान् की अर्चना नृत्य और संगीत के द्वारा सम्पन्न कर सके। तब राजा ने भगवान् से प्रार्थना की और उसे ऐसा अनुभव हुआ कि भगवान् उसे यह आज्ञा दे रहे हैं कि इस मन्दिर के पुजारी के कार्य पर अपनी लड़की को नियुक्त करो। कहते हैं कि भगवान् समय-समय पर आविर्भूत होकर स्वयं उस कन्या को नृत्य और संगीत की शिक्षा प्रदान करते थे।

इस मणिपुर नृत्य का उद्भव चाहे किसी प्रकार से हुआ हो यह स्पष्ट है कि इस नृत्य का आधार बिलकुल सरल और सहज विश्वास हैं और इसलिए नृत्य और संगीत के प्रेमियों ने इसे पूजा और प्रतिदिन के जीवन में आनन्द का साधन बनाया है।

अन्य भारतीय नृत्यों की तरह मणिपुरी नृत्य कठिन नहीं है। यह बहुत सरल है। इस में अंग-संचालन विना किसी प्रयास के सरलतापूर्वक होता है। इसके 'बोल' को सीखना सुगम है। मणिपुर नृत्य की कला, नर्तक के सुन्दर हावभाव में है। मणिपुर नृत्य के अभिमुख, अधोमुख, अंचित, अंग-परिचय, हंसवक्र,

कुंचित, पताका और उत्तान आदि मुद्राओं में है। इसमें लगभग ४० गतियाँ हैं। इनके साथ-साथ बोल होते हैं। बोल वह अक्षर होता है जो प्रत्येक गति के साथ होता है। इसके साथ चलि होती है। यह पैर रखने की पद्धति का नाम है।

प्रायः समस्त मणिपुर वैष्णव मत का अनुयायी है। इस कारण मणिपुर नृत्य के समस्त विषय श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में हैं या 'महाभारत' से लिए गए हैं। शिव-पार्वती, विष्णु, ब्रह्मा और अन्य देवताओं के प्रति भी समान आस्था प्रदर्शित की जाती है।

अनेक उत्सवों और त्यौहारों के समय मणिपुर के लोग 'रामायण' और 'महाभारत' के अनेक दृश्यों को नृत्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वैशाख, कार्तिक और फाल्गुन में रामलीला होती है। अन्य नृत्यों के नाम इस प्रकार हैं: करताली नृत्य, मंजीरा नृत्य, अधिवास नृत्य, अभिसार नृत्य और वासक नृत्य। करताली नृत्य मणिपुरी में जगन्नाथ के मंदिर के सम्मुख रथयात्रा के समय किया जाता है; मंजीरा नृत्य मंजीरों से किया जाता है और उसमें समस्त ग्राम भाग लेता है, अधिवास नृत्य में मृदंग के साथ संगीत और नृत्य होता है; अभिसार नृत्य में यह प्रदर्शित किया जाता है कि श्री राधा श्री कृष्ण को ढूँढ रही है और वासक नृत्य में एकमात्र कन्याएँ—राधा की सखियाँ ही नृत्य करती हैं।

इसके अतिरिक्त कृष्णलीला में कृष्ण का, रामलीला में श्री रामचन्द्र का, कुरु-लीला में कौरव और पाण्डवों के युद्ध और निमाई लीला में समस्त प्रकार के मणिपुरी नृत्यों के सार और श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवन-चरित्र को प्रदर्शित किया जाता है। मणिपुर के नर्तकों का विश्वास है कि जब वे नृत्य करते हैं तब देवता लोग उनके नृत्य में सम्मिलित होकर उसका आनन्द लेते हैं। लाई हरोबा नृत्य में देवतागण आते हैं और खेल करते हैं। लोग अपने साथियों और लड़कियों को नृत्य के लिए स्वयं चुन लेते हैं। उनकी पोशाक भड़कीली होती है और फूल उनके हाथों में होते हैं। इस नृत्य में एक गरीब लड़के की कहानी है। इस गरीब लड़के का नाम खम्बा है। वह एक राजकुमारी से जिसका नाम थैबी है—प्यार करने लग जाता है। वास्तव में मणिपुरी नृत्य शैली में यह शिव-पार्वती नृत्य है। इसमें खम्बा का नृत्य बड़ा डायनमी और प्राणवान् होता है।

जब हम मणिपुरी नृत्य की शैली का विश्लेषण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि इसमें चार भंगिमाएँ हैं: (१) वृन्दावन भंगिमा (२) प्रणाम भंगिमा (३) कृष्ण भंगिमा (४) गोपाल गोष्ठ भंगिमा। वृन्दावन भंगिमा में राधा की सखियों द्वारा श्रीकृष्ण के स्वागत का, कृष्ण-भंगिमा में कृष्ण की लीला का और गोपाल गोष्ठ भंगिमा में श्रीकृष्ण के बाल्यक्रीडा का चित्रण और प्रदर्शन किया जाता है।

रासलीला का प्रारम्भ वृन्दावन-भंगिमा से होता है उसका अन्त किसी दूसरी भंगिमा से होता है। रामलीला दोल पूर्णिमा अर्थात् होली के दिन की जाती है और इसमें प्रणाम-भंगिमा का अवश्य प्रदर्शन किया जाता है।

जब प्रणाम-भंगिमा होती है तब न तो दर्शक और न नर्तक मंडप को छोड़ कर जा सकते हैं। उस समय छोड़ कर जाना या बात करना अनुचित समझा जाता है। प्रत्येक नृत्य की समाप्ति आरती नृत्य पर होती है जिसमें कि समस्त उपस्थित जनता भाग लेती है। मणिपुरी टेकनीक में त्रिताल, रूपक, झपताल, दादर, कहारवा, चौताल और दस कुश आदि ताल का प्रयोग किया जाता है। भंगिमाओं में लोफ़ाताल का और बाद में दादरा और कहरवा ताल का प्रयोग किया जाता है।

संगीत में एक या एक से अधिक गायक पृष्ठभूमि में रह कर गाते हैं और मंजीरों से ताल और मृदंग से लय दी जाती है। पोशाक में धोती और चमकदार रेशमी घघरा, कटि में कटिबन्ध होता है और स्त्रियों के सिर पर पर्दा रहता है। पोशाकें भड़कीली होती हैं। मणिपुरी नर्तक प्रायः बालों में सज्जा के ऊपर फूल लगाते हैं। मणिपुरी नर्तकों की पोशाक का फूल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश होता हैं।

नृत्य मणिपुर के सर्वसाधारण के प्रति दिन के जीवन की एक आवश्यक वस्तु है। यह न केवल पूजा और आनन्द का साधन है अपितु सब प्रकार के उत्सवों और घर के संस्कार विवाह आदि के अवसर पर नृत्यों का आयोजन किया जाता है। दुःख के समय और श्राद्ध आदि के समय भी नृत्य किए जाते हैं। हम देखते हैं कि सुहाग के कपड़ों को पहने हुए एक दुलहिन पुष्पमाला को वर के गले में डालने के लिए उसकी ओर नृत्य करती

हुई जाती है। मृत्यु के समय करतान्त नृत्य किया जाता है।

मणिपुरी नृत्य मणिपुर की साधारण जनता का नृत्य है। यह पुरुषों और स्त्रियों दोनों का नृत्य है; यह बूढ़ों और जवानों का नृत्य है; अमीरों और ग़रीबों का नृत्य है। सत्य तो यह है कि यह सारे मणिपुर का नृत्य है।"

॥

आफ्रिका की संस्कृति

प्रायः समझा जाता है कि आफ्रिका के काले हवशी लोगों में किसी प्रकार की संस्कृति नहीं है और वे जंगली होते हैं। आफ्रिका के इन काले हवशियों की संस्कृति के अध्ययन के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय में "इन्स्टीट्यूट आफ़ आफ्रिकन स्टडीज़" नामक विभाग की स्थापना की गई है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत सुनीलकुमार चटर्जी की एक वार्ता अँग्रेज़ी में दिल्ली से प्रसारित की गई थी। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...आफ्रिका में मुख्यतया तीन प्रकार के मनुष्य हैं : श्वेत, काले और भूरे। काले और भूरे आफ्रिकी लोगों के सम्बन्ध में हमें बहुत कम ज्ञान है। उनके विषय में यह कहा जाता रहा है कि वे असभ्य और बर्बर हैं। विश्व की अधिकांश जनता के मन पर इन विचारों की छाप लगा दी गई है कि आफ्रिका के काले हवशी लोगों का न तो कोई भूत था और न ही उनका कुछ भविष्य है। ये लोग घटिया और हीन कोटि के हैं। पहले के यूरोपीय अनुसन्धान कर्ता और मिशनरी आफ्रिका को 'काला महाद्वीप' कहा करते थे क्योंकि उन्हें इनके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं था उनका विचार था कि ये लोग असभ्य, क्रूर और अन्ध-विश्वासी होते हैं और इनके जीवन में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिससे इन लोगों को किसी प्रकार सभ्य या शिक्षित कहा जा सके। परन्तु अब विचारों में परिवर्तन हो रहा है। वैज्ञानिक नृतत्व और कला शास्त्रियों के गहरे अनुसन्धान से आफ्रिकी लोगों को सभ्य जातियों के समाज में अपना ही एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया है। न केवल लोग उनके काव्य और कला आदि में एक विशेष सौन्दर्य, श्रीसंपन्नता और शिवत्व को अनुभव कर रहे हैं अपितु काले हवशी लोग भी अपने इस विशिष्ट उत्तराधिकार के प्रति उद्बुद्ध होते जा रहे हैं। वे धीरे-धीरे इस बात को समझते जा रहे हैं कि वे इस संसार में ख़ाली हाथ नहीं आए और उनके पास भी इस प्रकार की वस्तुएँ हैं जो कि कला के संसार में अपना एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह सत्य है कि उनकी जाति ने बड़े-बड़े शहर या बड़ी-बड़ी इमारतों का और न विज्ञान के द्वारा घातक शस्त्रों का निर्माण किया है परन्तु उसने अपनी एक संस्कृति, कला और समाजिक जीवन का ऐसा विकास किया जिस पर कि उसे अभिमान हो सकता है।

इन काले हवशियों ने अपने जीवन के ढंग का जंगल के वातावरण और छोटे छोटे ग्रामों के रूप में विकास किया। उनके आर्थिक जीवन का आधार खेती और शिकार थे। नीग्रो लोगों की सभ्यता मुख्यतया ग्रामों की सभ्यता और संस्कृति है यद्यपि १५०० वर्षों की अवधि में उन्होंने कई बड़े राज्यों और साम्राज्यों की स्थापना की। इन राज्यों और साम्राज्यों में काफ़ी बड़े नगर थे जिनमें इमारतें नहीं परन्तु झोपड़ियाँ होती थीं। ऊपर की निगर घाटी में मुस्लिम प्रेरणा से सख़्त लाल मिट्टी की कुछ इमारतें बनाई गईं जिनकी अपनी ही विशेषता है।

प्राचीन समय में पश्चिमी आफ्रिका में मूर्ति कला की संस्कृति थी। बन्टु लोगों के नगरों और क़िलों में पत्थरों की दीवारें और भिन्न प्रकार की बनावटें प्राप्त होती हैं जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है।

मूर्तिकला में काले आदमी, वास्तविक नीग्रो की जो कि पश्चिम का अधिवासी था और केन्द्रीय आफ्रिका के बन्टु जाति के नीग्रो लोगों की कला, संस्कृति और प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। ये मूर्तियाँ धातु, हाथी-दाँत और लकड़ी की हैं। मट्टी की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। लकड़ी, मट्टी और धातु के बनाए हुए नक़ाब, मानवीय आकृतियाँ पूरी और मुख तक की जानवरों की आकृतियाँ, धातुओं के आभूषित पत्र जिन पर जीवन के चित्र और दृश्य अंकित हैं, धातुओं और हाथी-दाँत के आभूषण, बरतन, और फ़र्नीचर आदि में इनकी प्रतिभा, कला और संस्कृति का परिदर्शन होता है।

काले आफ्रिका की कला यथार्थ और प्रतीकात्मक दोनों प्रकार की है। इनकी कला के नमूने प्राचीन ग्रीस और यूरोप के पुनर्जागरण की कला का मुक़ाबला कर सकते हैं। धातुओं के बनी कुछ इस प्रकार की सिर की

आकृतियाँ हैं, जो कम-से-कम ५०० वर्ष पुरानी हैं अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होती हैं। ये आकृतियाँ पुरुषों और स्त्रियों दोनों की हैं। ये सिर की आकृतियाँ राजाओं, वीरों योरुबा और अन्य आफ्रिकी धर्मों के देवताओं की हैं। निगेरिया के बेनिन नगर में आफ्रिका के कुछ कला के नमूने प्राप्त हुए हैं जो विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। यूरोपीय संसार को इनका पता १८६६ में लगा। वे सशक्त हैं और प्रेरणा प्रदान करते हैं। इनमें ४०० से ५०० वर्ष पूर्व के सैनिक, घुड़सवार, राजा और उनके दरबार आदि की आकृतियाँ हैं।

आफ्रिकी लोगों का नृत्य और संगीत जो कि ढोल, हार्प (Harp) ग्जाइलोफ़ोन (एक वाद्य) पर मानवीय आवाज़ के साथ होता था—आफ्रिकी संस्कृति का एक प्रधान अंग है। आफ्रिका की जानवरों की कहानियों की भारतवर्ष की जानवरों की कहानियों से तुलना की जा सकती है। उनमें मानव-जीवन का गम्भीर अध्ययन है। नृत्य, संगीत और जानवरों की कहानियों ने जिन्हें कि पश्चिम आफ्रिका से नीग्रो लोग अमेरिका ले गए हैं अमेरिका के संगीत, नृत्य और लोक-साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला है। आफ्रिकी कला यूरोप और आधुनिक विश्व को अपना एक नया सन्देश प्रदान कर रही है।

आफ्रिका की संस्कृति में अपनी ही एक नवीनता और अपना ही एक नया आकर्षण है। यदि इसका अध्ययन विश्व-मानव की दृष्टि से किया जाएगा तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि इससे मानव-कला, सभ्यता और संस्कृति अधिकाधिक समृद्ध और बलशाली हो सकेगी।"

॥

जापानी साहित्य

जापानी साहित्य का एक संकलन अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में जापानी साहित्य के रूप को प्रारम्भ से अन्त तक प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। इससे जापानी साहित्य की स्थिति और विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इस साहित्य के सम्बन्ध में निम्न अंश दिया जाता है :

जापानी साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह अनुभव होता है कि इसमें विविधता प्रचुर मात्रा में है। इस साहित्य को तीन राजनैतिक कालों के अनुसार तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है प्राचीन (७६४ ई. प. तक), ही उन (७६४-११३५ ई. तक), कमकुरा (११३५ से ३३३ ई. तक) और तोकुगावा (१६५० से १८६८ ई. तक)।

जापानी काव्य-साहित्य में संगीत और मूर्ति-कल्पना प्राचीन काल से ही अभिलक्षित होती है। उदाहरण के लिए :

"प्रेम महान् कष्टप्रद होता है—तब
जब कि हम उसे छुपाते हैं
इसलिए क्यों न उसे सबके सम्मुख
पूर्ण रूप से प्रकट किया जाए
ठीक उस पूर्ण चन्द्रमा के समान
जो कि पहाड़ों की आड़ में से निकल कर
विश्व के सम्मुख प्रकाशमान् रूप में
उपस्थित हो जाता है" (अज्ञात)

जापान का प्राचीन साहित्य हृदय की भावनाओं और उमंगों से पूर्ण है। इसमें कल्पना और रंग है। इस प्रकार का साहित्य सामूहिक नहीं होता हीयान काल का साहित्य धार्मिक और आध्यात्मिक रंग लिए हुए है। इस समय जापान में बौद्ध-धर्म का प्रवेश हो चुका था इस कारण इस काल के लेखक इस नए प्रकाश से आलोकित हैं। १० वीं सदी के गद्य-लेखक भारतीय और चीनी दन्त-कथाओं से स्पष्टतया प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। कमकुरा साहित्य रक्त रंजित और निराशापूर्ण है। इसमें युद्धों आदि का वर्णन है कमकुरा कविता और नाट्य के मुख्य विषय मृत्यु वियोग और विच्छेद हैं। इसमें एक ऐसे पक्षी की परिकल्पना की गई है "जिसके कि दो सिर हैं और जो कि स्वयं अपने को मारने के लिए अपनी चोंच से प्रहार कर रहा है।"

तोकुगावा काल का साहित्य इस दुःख, विषाद और निराशा से निकल कर हास्य और व्यंग्य की ओर अग्रसर होता है। इसी समय जापान ने ऐसे सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों को उत्पन्न किया जिन पर कि उसे अभिमान है। इसमें से कुछ एक के नाम निम्न प्रकार हैं उएडा अकिनारी, ताकिज़ावा बकिन और जिपेनशा इक्कु। जापानी साहित्य को पढ़ने से जहाँ जापानियों के चरित्र की विशेषताओं से परिचिति प्राप्त होती है वहाँ उस देश की कर्मशीलता और महानता से भी परिचय प्राप्त होता है।"

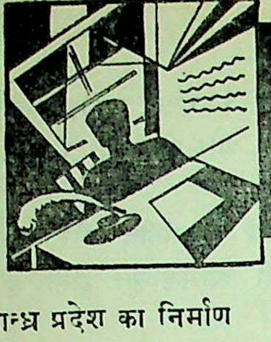

सम्पादकीय

आन्ध्र प्रदेश का निर्माण

आन्ध्र प्रदेश बन गया। आन्ध्र प्रदेश के बन जाने से आन्ध्र वासियों की एक प्रदेश में सम्मिलित हो कर रहने की चिरकाल की इच्छा और भावना पूर्ण हुई। १ नवम्बर का दिन भारतीय इतिहास में एक महान् दिन समझा जाएगा इस दिन भारतवर्ष के प्रान्तों का भाषा के आधार पर निर्माण किया गया। यह सत्य है कि प्रान्तों के इस प्रकार के निर्माण से उग्र रूप में प्रान्तीयता उत्पन्न हो सकती है और उसके लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। प्रारम्भ में यह स्वाभाविक भी है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा के आधार पर प्रान्तों की रचना नहीं होनी चाहिए थी। देश के लिए इसके सिवाय कोई मार्ग ही नहीं था। अधिकांश जनमत इसी पक्ष में था और अधिकांश जनमत का जनसत्ता के युग में आदर होना अनिवार्य था और इस जनसत्तात्मक देश में वही हुआ भी। यदि ऐसा न किया जाता तो स्थिति की विकटता बढ़ जाती और वह स्थिति दृष्टिगोचर न होती जो कि नवीन राज्यों के निर्माण के पश्चात् दिखाई दे रही है। अन्ततः इस प्रकार भाषा के आधार पर राज्यों के निर्माण का अर्थ यह तो नहीं है कि इन राज्यों का भारतवर्ष के अन्य राज्यों से सम्बन्ध नहीं रहेगा। केन्द्रीय प्रशासन के द्वारा अब इस प्रकार के प्रयत्न किए जाने चाहिएँ कि भारतवर्ष के भिन्न राज्यों में अधिकाधिक निकट सम्बन्ध स्थापित हों; एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य में जाकर यह अनुभव करे कि वह भिन्न भाषी होता हुआ भी प्रत्येक राज्य उसका अपना ही राज्य है। भिन्न-भिन्न राज्यों में मैत्री, सद्भावना और एकता की वृद्धि के लिए पूर्णतया प्रयत्न किए जाने चाहिएँ। भिन्न भिन्न राज्यों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान और इस प्रकार के आयोजन वैज्ञानिक और विस्तृत ढंग पर किए जाने चाहिएँ जिनसे कि भारतवर्ष की एक राष्ट्रीयता सशक्त और अक्षुण्ण रहे। हम मानते हैं कि अंग्रेजों के पश्चात् पृथक् भावना की जो विरासत हमें प्राप्त हुई है, हमें उसका समूलोन्मूलन करना होगा। प्रत्येक प्रान्त को इस बात को अनुभव करना चाहिए कि यदि भाषाओं के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन हो सका है तो इसका कारण यह है कि आज समस्त भारतवर्ष एक है। यदि आज भारतवर्ष एक न होता तो प्रान्तों का इस प्रकार पुनर्गठन भी न होता। इसलिए इस प्रकार के आधार को स्थिर रखने के लिए हमें भारतवर्ष की एकता को किसी भी प्रकार क्षति नहीं पहुँचने देनी चाहिए। भारतवर्ष जैसे महान् देश में भाषाओं आदि की विविधता और विभिन्नता स्वाभाविक है और इसी से देश के जीवन में विशालता और अनेकरूपता उत्पन्न होती है। प्रयत्न इस बात का किया जाना चाहिए कि इन राज्यों का विकास स्वास्थ्यपूर्ण हो और उससे जनता का कल्याण हो; सर्वसाधारण में कर्मशीलता और आत्म-सम्मान की भावना समुचित रूप से जागृत हो। हमें पूर्ण विश्वास है कि आजकल जब कि समस्त विश्व को एक बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है भाषावारी प्रान्तों के कारण भारतवर्ष की एकता में किसी प्रकार की रुकावट उत्पन्न नहीं हो सकेगी। प्रारम्भ में कुछ इस प्रकार की बातें हो सकती हैं और अवस्थाओं के देखते हुए यह कुछ अनिवार्य भी है परन्तु कुछ समय के पश्चात् इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो जाएगा और देश के प्रत्येक नागरिक को अपने जीवन के विकास और विस्तार के लिए इतना प्रचुर क्षेत्र मिलेगा कि प्रान्तीय संकीर्णताओं के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाएगा। इस प्रकार की संकीर्णता का मुख्य कारण जनता की आर्थिक दुरवस्था है। देश की आर्थिक स्थिति में जैसे जैसे सुधार होता जाएगा और देश में कार्य और उत्साह की वृद्धि होगी वैसे वैसे वर्ग, जाति और प्रान्तीय सीमाओं का विचार-क्षेत्र भी संकुचित नहीं रहेगा।

आन्ध्र प्रदेश बनने का हम स्वागत करते हैं। इस महान् ऐतिहासिक घटना के अवसर पर हमें वातावरण में चारों ओर अधिकांश जनता में आनन्द और उत्साह का अनुभव होता है, जिसकी प्रतिध्वनि हमें अपने हृदय में भी अनुभव देती है। जिस आनन्द, उत्साह और भावना के साथ इस नवीन राज्य का

निर्माण हुआ है आशा है कि उस आनन्द, उत्साह और भावना का अधिकाधिक विस्तार होगा और आन्ध्र प्रदेश भारतवर्ष के राज्यों में एक गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करेगा।

राज्यों का पुनर्गठन : प्रश्न का एक पहलू

भाषा आयोग अपनी रिपोर्ट को भारतीय प्रशासन के सम्मुख प्रस्तुत कर चुका है। जब यह रिपोर्ट भारतीय प्रशासन के सम्मुख उपस्थित की गई उस समय देश के सामने भाषाओं के आधार पर राज्यों के पुनर्निर्माण का जटिल प्रश्न था—और वह एक ऐसा प्रश्न था जिसके कारण देश का वातावरण पर्याप्त रूप से अशान्त और क्षुब्ध था। सम्भव है इसी कारण भाषा-आयोग की रिपोर्ट को केन्द्रीय प्रशासन ने प्रकाशित नहीं किया है और न उसे समस्त देश के सम्मुख रखा है। यह भी हो सकता है कि नए चुनावों के पूर्णतया सम्पन्न हो जाने तक अभी इस रिपोर्ट को स्थगित ही रखा जाए। क्योंकि सम्भवतः यह समय अभी इसके लिए अनुकूल नहीं है। जिस प्रकार की अवस्थाएँ हैं—उन्हें देखते हुए यह तो निश्चित है कि जब भी इस प्रश्न को उठाया जाएगा उस समय इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ अप्रिय स्थिति अवश्य उत्पन्न होगी। देश की जनता भाषा-आयोग की सिफ़ारिशों को जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक है और इस सम्बन्ध में केन्द्रीय प्रशासन का एकदम ख़ामोश हो जाना इस बात का प्रमाण है कि प्रशासन अनुकूल समय और स्थिति की प्रतीक्षा कर रहा है। वह समय हमें ऐसा अनुभव होता है कि इसीलिए इसमें विलम्ब किया जा रहा है। समझा जाता है कि समय से अवस्थाओं में सुधार हो जाता है और इसीलिए शायद कुछ विलंब से देश में अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में सहायक हो सके। एक-न-एक दिन इस प्रश्न को केन्द्रीय प्रशासन को खुले रूप में सब के सम्मुख उपस्थित करना होगा।

भाषाओं के आधार पर राज्यों का निर्माण इस प्रश्न का एक पहलू है और यदि भारतवर्ष की राज्यों की रचना का युक्तिसंगत आधार भाषाएँ ही हो सकती थीं—तो फिर केन्द्र में भी इस भाषा के प्रश्न को हल किए बिना समस्त राज्यों का यह पुनर्गठन अधूरा ही रह जाएगा। जब प्रत्येक राज्य में अपने अपने राज्य की भाषा को मुख्य स्थान दिया जा रहा है तो केन्द्र में केन्द्रीय भाषा को भी स्वाभाविक रूप से मुख्यता प्रदान करनी पड़ेगी। यदि राज्यों में इस प्रश्न को टाला नहीं जा सकता था—तो केन्द्र में भी इस प्रश्न को टाला नहीं जा सकता और यदि राजनैतिक या किन्हीं अन्य कारणों से इस प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया गया या इसमें अनावश्यक रूप से विलम्ब किया गया तो इससे समस्त देश की राष्ट्रीयता को क्षति पहुँच सकती है। प्रत्येक राज्य में उसकी भाषा को अधिष्ठित करना—प्रश्न का एक पहलू है और स्वभावतः ही इसका दूसरा पहलू है केन्द्र में केन्द्रीय भाषा को प्रतिष्ठित करना। इसके बिना यह प्रश्न अधूरा है। जिस प्रकार केन्द्रीय प्रशासन ने साहस के साथ प्रश्न के एक पहलू को हल कर दिया है उसी प्रकार उसे इस प्रश्न के दूसरे पहलू को भी हल करना पड़ेगा अन्यथा देश में सन्तुलन नहीं रह सकेगा।

कहा जा सकता है कि केन्द्र के सम्बन्ध में इसलिए विशेष कठिनाई नहीं होगी क्योंकि समस्त कार्य अंग्रेज़ी के द्वारा चल ही रहा है और उसे इसी प्रकार चलाया जा सकता है। फिर केन्द्र की भाषा के साथ अन्य भी कई बातें सम्बद्ध हैं जिनमें कि विदेशी मामले भी हैं जिन्हें कि अंग्रेज़ी द्वारा ही समुचित रीति से और कुशलता पूर्वक किया जा सकता है। यदि ऐसा ही है तो प्रान्तों या राज्यों का कार्य भी अब तक अंग्रेज़ी में ही चलता रहा है और अब भी चल रहा है और वह कार्य भी संभवतः अंग्रेज़ी में अधिक कुशलता पूर्वक किया जा सकता था। यदि राज्यों में राज्य की भाषाओं को लाए बिना कार्य नहीं चल सकता था—तो केन्द्र में भी उसी प्रकार का क़दम उठाना आवश्यक हो जाता है। रह गया विदेशी मामलों का प्रश्न। विदेशों में हिन्दी आदि को इसलिए महत्व नहीं दिया जाता क्योंकि उसे अभी हमारे अपने देश में ही कुछ विशेष महत्व प्राप्त नहीं है। यदि हमारे देश में उसकी प्रतिष्ठा होगी—तो विदेशों में उसके अध्ययन का यथोचित प्रबन्ध किया जाएगा। विदेशी भी उसी प्रकार हमारी भाषा का प्रयोग करेंगे जैसा कि हम उनकी भाषा का प्रयोग करते हैं।

पुनर्गठित राज्यों में प्रान्तीयता की संकीर्ण भावनाओं को रोकने के लिए जिन मार्गों का अवलम्बन किया जा सकता है उनमें यह मुख्य है। आशा है कि केन्द्रीय प्रशासन इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को उसी प्रकार पूर्ण करेगा जिस प्रकार कि उसने राज्यों के पुनर्गठन में उसे पूर्ण किया है।

हीनता या उच्चता ?

हिन्दी को समस्त भारतीय या केन्द्रीय स्थान देने के विरोध में जिन युक्तियों को दक्षिण के प्रान्तों में दिया जाता है उनमें जो युक्ति हमें सर्वथा अनुपयुक्त, अन्यायपूर्ण और कठोर प्रतीत होती है वह यह है कि इससे भारतीय अन्य भाषाओं की स्थिति हीन हो जाएगी और हिन्दी की स्थिति उच्च हो जाएगी। श्रीयुत राजगोपालाचार्य ने अपने भाषण में इस बात को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है: "यदि भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार का विधान बनाया जाएगा तो इसका परिणाम यह होगा कि प्रान्तों की जनता को बराबरी का दर्जा प्राप्त नहीं रहेगा और इस प्रकार हम लोकसभा के आधारभूत सिद्धान्त का उल्लंघन करेंगे क्योंकि लोकसभा में सबको समान अधिकार दिए जाने चाहिएँ। यदि यह क़ानून बना दिया जाए कि हिन्दी समस्त भारत के प्रशासन की भाषा होगी तो इसका यह तात्पर्य होगा कि हिन्दी को ऐसी उच्च स्थिति में रखना जो कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं को प्राप्त नहीं होगी। इससे प्रान्तीय भाषाओं का और वहाँ की जनता का दर्जा गिर जाएगा। यह सब इसलिए होगा क्योंकि हिन्दी भारतवर्ष के एक राज्य की भाषा है और इस भाषा को बोलनेवालों की संख्या देश में सबसे अधिक है। यदि हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी को रखा जाएगा तो हमारी स्थिति निम्न नहीं बन सकेगी।"

यदि संविधान द्वारा हिन्दी को समस्त भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा बनाया गया है तो उसका कारण एकमात्र हिन्दी-प्रान्तों की जनता ही नहीं है उसे समस्त देश की अधिकांश जनता ने भी स्वीकृत किया है। जिसकी स्वीकृति प्रत्येक प्रान्त की अधिकांश जनता ने दी हो उसके सम्बन्ध में एकमात्र हिन्दी-भाषी-जनता को ही जिम्मेदार ठहराना कहाँ तक उचित और न्याय्य है ? श्रीयुत राजगोपालाचार्य के वक्तव्य को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि हिन्दी यदि भारतवर्ष के किसी प्रान्त की भाषा न होती तब सम्भवतः वह इस रूप में स्वीकार्य हो जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में यह उसकी विशेषता नहीं है; यह उसका अपराध है और इसी के आधार पर वे उसे Condem कण्डेम करना चाहते हैं। क्या भारतवर्ष की केन्द्रीय भाषा कोई ऐसी भाषा बन सकती है जो अभारतीय हो और भारत के किसी प्रान्त की भाषा न हो। हिन्दी को इसीलिए सरकारी भाषा बनाया जा रहा है क्योंकि वह अधिकांश भारतीयों की भाषा है और इसे उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि परिवर्तन शनैः शनैः होना चाहिए और इसके लिए कोई अवधि निश्चित की जानी चाहिए। इसी कारण संविधान में १५ वर्ष की अवधि रखी गई थी। यदि दक्षिण के नेता इस अवधि को कम समझते हैं तो वे इस अवधि को बढ़ाने का और इस सम्बन्ध में जिन अ-हिन्दी भाषी प्रान्तों में कठिनाई है उनकी सुरक्षा के लिए कुछ प्रतिबन्ध लगवाने का प्रयत्न कर सकते हैं परन्तु उन्हें इसमें "उच्चता" और हीनता आदि का प्रश्न उठा कर भाषा के प्रश्न को और भी अधिक जटिल बनाने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। हिन्दी को समस्त भारत की सरकारी भाषा बनाने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दी को अन्य प्रान्तीय भाषाओं से किसी प्रकार कोई ऊँचा दर्जा दिया जा रहा है और इससे प्रान्तीय भाषाओं की अवमानना की जा रही है। यदि हिन्दी भारतवर्ष में उच्च स्थान पर पहुँच सकती है तो वह भारत के समस्त प्रान्तों की सहायता और प्रयत्नों से ही पहुँच सकती है। हिन्दी को उसके लिए समस्त प्रान्तों की सद्भावना की आवश्यकता है। हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने से प्रान्तीय भाषाओं का महत्व किसी प्रकार कम नहीं होगा। इस बात के प्रयत्न किए जा रहे हैं कि जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनके लिए भारत की किसी अन्य भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाए।

श्रीयुत राजगोपालाचार्य प्रान्तीय भाषाओं को तो उनका महत्व देने के लिए तैयार हैं परन्तु जहाँ समस्त भारतवर्ष का प्रश्न है उसमें वे अंग्रेज़ी को रखना चाहते हैं और इसके लिए वे यह युक्ति देते हैं कि हम अंग्रेज़ी को २०० वर्ष से पढ़ रहे हैं। अंग्रेज़ी के सम्बन्ध में वे एक कुशल वकील की तरह अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक, न्याय, अन्याय इसी प्रकार के किसी प्रश्न को नहीं उठाते। एक कार्य लम्बी अवधि से हो रहा है इसीलिए सत्य तो वह समुचित और न्याययुक्त नहीं हो जाता। तो यह है कि हीनता और उच्चता का प्रश्न तो भारतीय भाषाओं का अंग्रेज़ी के साथ है—हिन्दी के साथ नहीं क्योंकि अंग्रेज़ी को जिस उच्च स्थिति का समझा जाता है और उसे जो आदर प्रदान किया जाता है वह भारतीय भाषाओं को अभी तक प्रदान नहीं किया जाता।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वा
मी
स
न्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आबिद रोड, : : : हैदराबाद-द.

प्रकाशक : माणिकलाल कौल—मुद्रक : हिन्दी प्रेस, हिन्दी प्रचार सभा, है. द.

अजन्ता

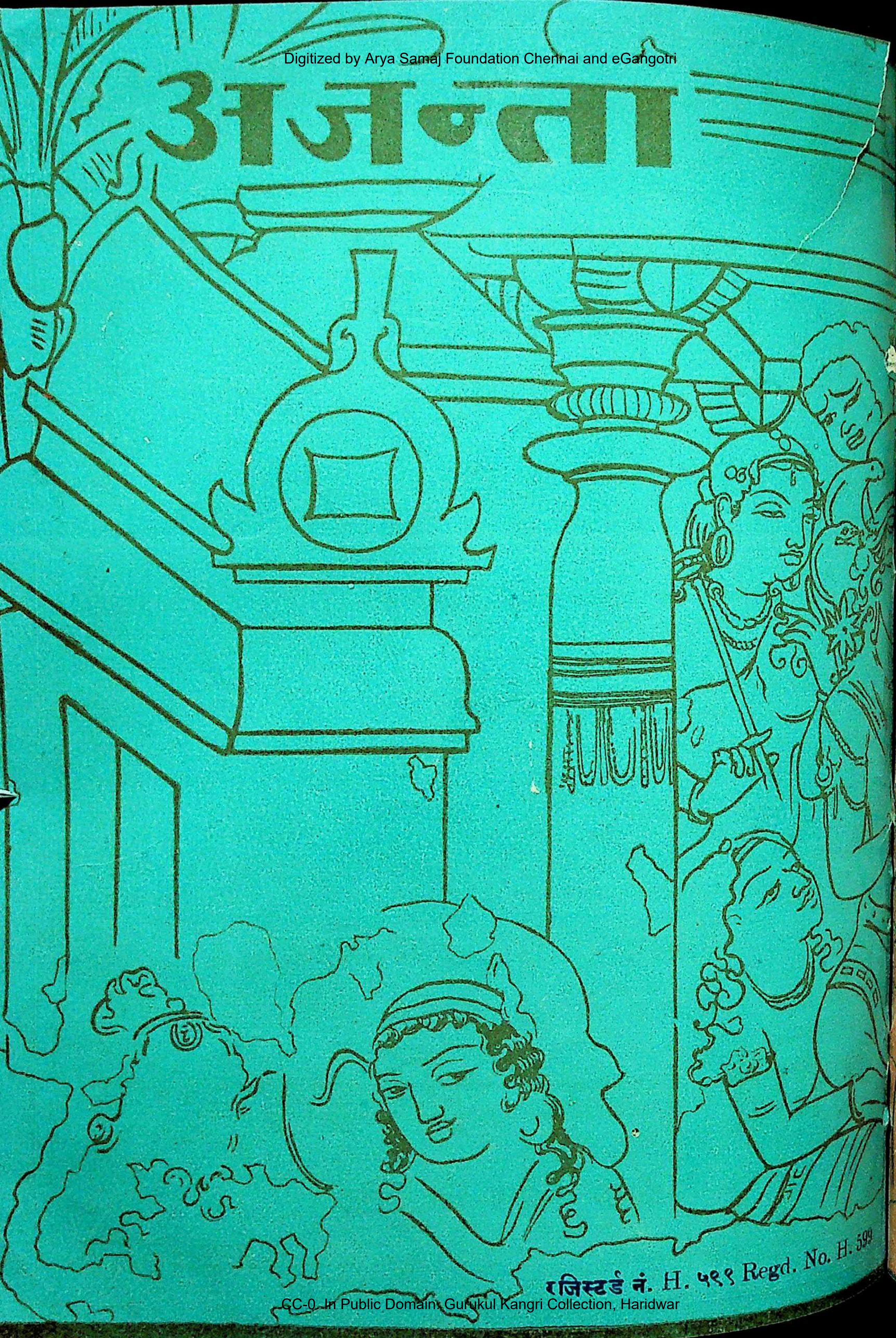

रजिस्टर्ड नं. H. ५९९ Regd. No. H. 599

अजन्ता

वर्ष ८ दिसम्बर १९५६ अंक १२

हिन्दी नाटक-लेखक प्रतियोगिता

नाट्य संघ, कलकत्ता ने एक हिन्दी नाटक-प्रतियोगिता आयोजित की है, जिसमें सर्वश्रेष्ठ निर्णीत होने वाले अभिनय-योग्य नाटक के लिए रु० १०००) का पुरस्कार दिया जाएगा, जो संघ को "अनामिका" (हिन्दी नाटक संघ) द्वारा दिया गया है। यह पुरस्कार हिन्दी में लिखे हुए मौलिक नाटक पर दिया जायगा। नाटक का अभिनय-काल २ से २॥ घण्टे का होना चाहिए तथा वह बिना घूमने वाले रंगमंच पर खेला जा सकने वाला होना चाहिए। इस प्रतियोगिता का संचालन जिस समिति द्वारा होगा, उसमें अनेक अभिनेता और पत्रकार हैं, जिनमें सर्वश्री अहीन्द्र चौधरी, शचीनसेन गुप्ता, ताराशंकर वन्द्योपाध्य के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रतियोगिता के लिए प्रेषित नाटक, मंत्री—थियेटर सेंटर, कलकत्ता, ३१-ए, चक्रबेरिया रोड (साउथ), कलकत्ता २५, को भेजे जाने चाहिए। नाटक आगामी ता० ३१ जनवरी १९५७ के पहले कार्यालय में पहुँच जाने चाहिए।

प्रतियोगिता के नियम

(१) नाटक हिन्दी में लिखा होना चाहिए और मौलिक रचना हो, किसी दूसरी भाषा से रूपान्तरित न हो। (२) नाटक पहले प्रकाशित न हुआ हो। (३) नाटक का अभिनय-काल लगभग २ से २॥ घंटे का होना चाहिए। (४) नाटक बिना घूमनेवाले रंगमंच पर खेले जाने लायक होना चाहिए। (५) जिस नाटक पर पुरस्कार दिया जायगा, उसके मुद्रण और अभिनय का नाट्य संघ को पूरा अधिकार होगा किन्तु कापीराइट लेखक का रहेगा। (६) प्रतियोगिता में नाटक भेजने के लिए किसी प्रकार का प्रवेश-शुल्क नहीं रखा गया है (७) नाट्य-संघ द्वारा नियुक्त निर्णायक-मंडल का निर्णय अन्तिम और सर्वमान्य होगा। (८) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित रचना लौटाई नहीं जायगी, इसलिए रचयिता को एक प्रति अपने पास रख लेनी चाहिए। (९) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित रचना टाइप की हुई हो तो अच्छा, और यदि वैसा न हो सके तो साफ़-साफ़ लिखी हुई होनी चाहिए। (१०) प्रतियोगिता के लिए प्रेषित नाटक ३१ जनवारी सन् १९५७ तक पहुँच जाने चाहिएँ।

प्रतियोगिता संचालक मंडल

१. श्री अहीन्द्र चौधरी (बंगला के सुविख्यात अभिनेता) २. श्री शम्भू मित्र (प्रसिद्ध अभिनेता और निर्देशक) ३. श्री प्रेमेन्द्र मित्र (बंगला साहित्य के सुविख्यात लेखक) ४. श्री प्रफुल्ल राय (सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक) ५. श्री शचीनसेन गुप्ता (प्रसिद्ध नाट्यकार और संगीत-नाटक एकेडमी के संस्थापक सदस्य) ६. श्री मोहनसिंह सेंगर (प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक और 'नया समाज' के सम्पादक) ७. श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय (बंगाला के प्रख्यात उपन्यासकार) ८. श्री कल्याणमल लोढ़ा (कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक) ९. श्री भंवरमल सिंघी (नाट्य-संघ, कलकत्ता के मन्त्री)

प्रतियोगिता में भेजे जाने वाले नाटक निम्न पते पर भेजे जाने चाहिएँ :—

मन्त्री
थियेटर सेन्टर (कलकत्ता), ३१-ए, चक्रबेरिया रोड (साउथ),
कलकत्ता—२५

FIRE! *ACCIDENT!* *MARINE!*

THE HYDERABAD UNITED INSURANCE COMPANY
LIMITED
Sponsord by
THE GOVT. OF HYDERABAD.
Post Box No. 164.
ABID ROAD, HYDERABAD-DECCAN.

Telegram: ***HUICOL*** *Telephone:* ***5579***

Chairman
L. N. GUPTA Esqr. I. A. S.

General Manager
H. D. MEHTA Esqr.

Branches: BOMBAY, CALCUTTA, MADRAS, NIZAMABAD & MANCHIRIYAL.

'HIND'

फोन नं० ५५७४ तार : तिलस्मात

ज़िन्दा तिलस्मात
(ट्रेडमार्क 'ताज')

सर का दर्द, दांत का दर्द, पेट का दर्द, हैज़ा, मलेरिया, पेचिश, प्लेग, खांसी, सर्दी, ज़ुकाम, बिच्छू का काटना एवं तमाम शारीरिक दर्दों का शर्तिया इलाज। ज़िन्दा तिलस्मात की एक बोतल सदा अपने पास रखने का अर्थ है आप डाक्टर को अपने साथ रखते हैं।

रजिस्टर्ड नं० ५७७ ::: सी. डी. एल नं० १६८३

प्रत्येक स्थान पर बेचा जाता है
या
कारखाना ज़िन्दा तिलस्मात
पो० ज़िन्दा तिलस्मात
हैदराबाद-द. से मँगाइए।

राजस्थान का प्रमुख साहित्यिक सांस्कृतिक
हिन्दी मासिक

'प्रेरणा'

विचारोत्तेजक लेख, भावपूर्ण कविताएँ, सुन्दर
कहानियाँ, एवं राजस्थानी कला और
संस्कृति के परिचय के लिए
प्रेरणा
सर्वोत्तम साधन है।

प्रधान सम्पादक : देवनारायण व्यास

१, मिनर्वा बिल्डिंग, जोधपुर

एक प्रति १) * वार्षिक १०)

दार्शनिक त्रैमासिक

सम्पादक :
यशदेव शल्य

वार्षिक मूल्य : ६ रुपए

अक्तूबर १९५४ से प्रकाशित

उत्कृष्ट तथा विशाल आकार
के निबन्ध
सुन्दर कागज़, बढ़िया छपाई

प्रकाशक :
अ. भा. दर्शन परिषद्, फरीदकोट
(पेप्सू)

क्या आप अब तक.........

आपका-स्वास्थ्य

.........के ग्राहक नहीं बने हैं ?

'आपका स्वास्थ्य' : आपके और आपके परिवार के स्वास्थ्य का रक्षक है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपका ज्ञान-वर्धन करता है।

'आपका स्वास्थ्य' : आपको सभ्य जगत की गति-विधि से परिचित कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : स्वस्थ मनोरंजन भी कराता है।

'आपका स्वास्थ्य' : इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन द्वारा प्रकाशित हिन्दी में स्वास्थ्य पर एकमात्र प्रामाणिक पत्रिका है।

शीघ्र ही छः रुपए भेज कर ग्राहक बनिए—

वी. पी. भेजने का नियम नहीं है। नमूने के लिए आठ आने का टिकट भेजिए।

व्यवस्थापक, **'आपका स्वास्थ्य'**, बनारस—१

अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के आर्थिक, राजनीतिक
अनुसंधान-विभाग का पाक्षिक पत्र।

आर्थिक समीक्षा

प्रधान सम्पादक : **श्री आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल**
सम्पादक : **श्री हर्षदेव मालवीय**

हिन्दी में अनूठा प्रयास :

आर्थिक विषयों पर विचारपूर्ण लेख
आर्थिक सूचनाओं से ओत-प्रोत

भारत के विकास में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए
अत्यावश्यक तथा पुस्तकालयों के लिए
अनिवार्य रूप से आवश्यक।

वार्षिक चन्दा : ५ रुपए * **एक प्रति का ≡)**

व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग
अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी
७, जन्तर मन्तर रोड, नई दिल्ली.

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पोषक
हिन्दी का
एकमात्र पाक्षिक विचार-पत्र

'सिद्धान्त'

■

प्रधान कार्यालय
गंगा तरंग, नागवा, काशी

शाखा कार्यालय
मदनकुटीर सुभाष मार्ग
लखनऊ

फोन नम्बर : ५८१

वार्षिक मूल्य ४) रु. * विशेष मूल्य १०) रु.

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के
रचनात्मक रूपों का एक और संकलन

"अभिजात"

सम्पादक :
हरिमोहन, रवीन्द्र भ्रमर

प्रकाशक :

- * साठ लेखकों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन
- * नवीनता, प्रेरकता और उन्नयन का प्रतीक
- * कविता, कहानी, एकांकी, ललित लेख, स्कैच, संस्मरण—सब कुछ एक साथ

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है

मूल्य दो रुपए मात्र

: व्यवस्थापक :
८, गुर्टू छात्रालय, बनारस

फोन नं० १४२ **[वसुधा]**

साहित्यिक मासिक पत्रिका : रामनवमी अप्रैल से प्रकाशित
सम्पादक : रामेश्वर गुरु, हरिशंकर परसाई

परामर्शदाता :
पं० नंददुलारे बाजपेयी पं० भवानीप्रसाद तिवारी
पं० भवानी प्रसाद मिश्र पं० मोहनलाल बाजपेयी
श्री अमृतराय

स्तम्भ : कविता, कहानी, निबन्ध, एकांकी। प्रगतिशील पाश्चात्य-साहित्य पर प्रो० मोहनलाल बाजपेयी की साहित्यिक डायरी। अमर साहित्यिकों की जीवन-रेखाएँ। नए प्रश्न, मूल्यांकन, तथा समालोचना के विशेष पृष्ठ।
पृष्ठ संख्या ७२।

एक प्रति : १० आने * वार्षिक : ७ रुपए

पत्र व्यवहार का पता
वसुधा कार्यालय, दीक्षित पुरा,
जबलपुर (म० प्र०)

कोविद, राष्ट्रभाषा रत्न, विशारद, प्रवीण, विनीत, शिक्षक सनद आदि परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों पर महत्वपूर्ण मार्गदर्शक

हिन्दी शिक्षक
[मासिक]

१२५, गिरगांव रोड, बम्बई—४

●

वार्षिक मूल्य ३) रु.] [एक प्रति ५ आने

आज ही ग्राहक बन जाएँ
नमूना अङ्क मुफ्त नहीं भेजा जाता

अपनी औषधि और चिकित्सा-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

गुप्ता मेडिकल हॉल

आबिद रोड, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ५३२६

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

रॉयल मेडिकल हॉल

अफ़ज़लगंज, हैदराबाद दक्षिण

फोन नं. : ४३९३

तार का पता : लीवेरेक्स

◆

ओम मेडिकल हॉल

चारकमान, हैदराबाद दक्षिण

◆

फोन नं : ६८२१

अमर मेडिकल हॉल

स्टेशन रोड, सिकन्दराबाद दक्षिण

हमारे यहाँ कुशल कम्पाउण्डरों द्वारा नुस्ख़े तैयार किये जाते हैं।
आप औषधियाँ खरीदिए और लाभान्वित होइए।

जनता का सन्तोष और सुख ही हमारा ध्येय है

पश्चिमोत्तर भारत की प्रमुख हिन्दी मासिक पत्रिका

—: विश्व-ज्योति :—

: सम्पादक :

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, श्री सन्तराम, बी. ए.

संचालक : **श्री विश्वेश्वरानन्द,** वैदिक शोध-संस्थान

विश्व-हित की साधना के लिए :

(क) शुद्ध सांस्कृतिक साहित्य का सृजन
(ख) प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान का समन्वय
(ग) बौद्धिक क्रांति और नई चेतना का जागरण
(घ) अन्यायपूर्ण सामाजिक विषमताओं का दूरीकरण
(ङ) सभी प्रकार के विचारों का निष्पक्ष अध्ययन और आलोचन।

वार्षिक चन्दा : ८ रुपए

१०) रु. वार्षिक चन्दा दे कर विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के सदस्य बन जाने पर भेंट के रूप में मुफ्त।

पत्र-व्यवहार का पता :—

व्यवस्थापक, 'विश्व-ज्योति'
साधु आश्रम, होश्यारपुर—पंजाब

खरीदने, पढ़ने और सँजोकर रखने योग्य

'साहित्यकार'

साहित्यकार संसद प्रयाग का मुख पत्र
श्रेष्ठ साहित्य की प्रतिनिधि मासिक

संपादक

महादेवी :०: इलाचन्द्र जोशी

* हमारा यह दावा है कि एक बार पढ़ कर आप हमेशा के लिए 'साहित्यकार' के पाठक बन जाएँगे !
* हिन्दी के श्रेष्ठतम साहित्यकारों का सक्रिय सहयोग इसे प्राप्त है !!
* साहित्यकारों द्वारा संचालित, संपादित एवं प्रकाशित अपने ढंग का अकेला और पहला मासिक !!!

वार्षिक शुल्क १०) ❁ एक प्रति १)

कार्यालय
साहित्यकार-संसद,
५८, रसूलाबाद, इलाहाबाद

अपनी उन्नति के लिए पढ़िए !!

जीवन संघर्ष में विद्यार्थियों तथा समस्त अन्य व्यक्तियों को सहायता देने के लिए हिन्दी में अपने प्रकार की पहली मासिक पत्रिका

सफल जीवन

मुख्य विषय :

१ आगामी परीक्षाएँ २ नवयुवकों और नवयुवतियों को मिल सकने वाली सरकारी और प्राइवेट नौकरियाँ ३ रत्न, भूषण, प्रभाकर और साहित्यरत्न की परीक्षाओं के लिए साहित्यिक लेख ४ कहानी-कविता ५ ज्ञान-विज्ञान ६ देश-विदेश के समाचार ७ खेल और सिनेमा।

आज ही ग्राहक बनिए

चन्दा : वार्षिक ७), छःमाही ४), एक प्रति ।||)

नमूने की प्रति के लिए बारह आने के टिकट भेजिए

"सफल जीवन" प्रकाशन की पुस्तकें अमूल्य निधि हैं। अवश्य पढ़िए।

९४, बेयर्ड रोड, नई देहली

हिन्दी की प्रतिनिधि साहित्यिक पत्रिका

युग-चेतना

प्रधान सम्पादक

डा० देवराज, एम. ए., डी. फिल.

सम्पादक

कमलापति मिश्र डा० प्रेमशंकर
प्रतापनारायण टण्डन

जनवरी '५५ से प्रकाशित हो रहा है

इसका प्रत्येक अङ्क स्थायी साहित्य की कोटि का अतएव संग्रहणीय होता है।

'युग-चेतना' कार्यालय, चौक
लखनऊ

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद

१. **दक्खिनी का पद्य और गद्य** : व्रज, अवधी और राजस्थानी आदि की तरह दक्खिनी भी हिन्दी की एक विशेष शैली है। खड़ी बोली के लिए इस शैली का विशेष महत्व है। दक्खिनी में ही खुसरो और कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया गया है। हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का सबसे पुराना नमूना दक्खिनी में ही मिलता है। संकलन में लगभग सौ लेखकों की अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। यह संकलन १२ वीं शती से १९ वीं शती तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक नई कड़ी जोड़ने वाला है। पुस्तक की भूमिका भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखी है। संकलन कर्ता हैं श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग छः सौ। मूल्य १०-८-०।

२. **पञ्चामृत** (तेलुगु) : तेलुगु के पाँच प्रतिनिधि-महाकवियों का परिचय तथा उनकी उत्कृष्ट रचनाओं को नागरी लिपि में देकर हिन्दी अर्थ दिया गया है। इस पुस्तक द्वारा हिन्दी-भाषी लोग तेलुगु के काव्य का आनन्द ले सकते हैं। लेखक तथा अनुवादक श्री बालशौरि रेड्डी। मूल्य ४-०-०।

३. **सबरस** : गोलकुण्डा के विद्वान् लेखक वजही की दक्खिनी शैली में लिखी गई हिन्दी गद्य की सब से पहली और उत्कृष्ट रचना। शब्दों के लिए विस्तृत टिप्पणी और विवेचनापूर्ण भूमिका। यह पुस्तक आज से चार सौ वर्ष पहले लिखी गई थी। प्रस्तुतकर्त्ता—श्रीराम शर्मा। पृष्ठ संख्या लगभग २५०, डेमी साइज़। मूल्य ६-०-०।

४. **मुहावरा कोश** : पृष्ठ संख्या २९८। रघुवीरशरण एम. ए., प्राध्यापक जैन कालेज मद्रास, तथा श्रीराम गुप्त, बी. ए. प्राध्यापक विजय कालेज बीजापूर। मूल्य ३-०-०।

५. **चाबुक** (कहानी संग्रह) : श्री विनायकराव विद्यालङ्कार की कहानियों का संकलन। प्रत्येक कहानी समाज की वर्तमान बुराइयों पर तीखा व्यंग लिए हुए है। इस कहानी-संग्रह ने हिन्दी के कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। कहानियों में हैदराबाद और उसके आसपास का जीवन अंकित हुआ है। क्रौन $\frac{१}{१६}$, पृष्ठ संख्या १३९। मूल्य साजिल्द १-१२-०।

६. **मीरा** (तेलुगु) लेखक रामचन्द्र कौण्डिन्य। मीरा के हिन्दी पद्यों का तेलुगु अनुवाद मूल्य १-४-०।

७. **तुलसीदास** (नाटक) : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन पर लिखा गया नाटक। नाटक रंगमंच के उपयुक्त है मूल्य १-२-०।

८. **शकुन्तला एण्ड अदर एसेज़** (अंग्रेज़ी) : श्री वंशीधर विद्यालङ्कार। मूल्य ४-०-०।

व्यवस्थापक : **पुस्तक-विक्रय विभाग, हिन्दी प्रचार सभा,**

के महत्वपूर्ण प्रकाशन

बाल-साहित्य-माला

बाल-साहित्य-माला के अन्तर्गत सभा ने निम्न सात पुस्तकें प्रकाशित की हैं। अठपेजी क्राउन साइज़, सचित्र छपाई। आकर्षक मुख पृष्ठ।

१. **बालपद :** ७ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए कविताएँ। कविवर आचार्य श्री पं० वंशीधर विद्यालङ्कार। ०-८-०

२. **गाँवों की कहानियाँ :** उत्तर भारत के गाँवों में कही जानेवाली आकर्षक कहानियाँ लेखक—श्री पं० रामनिरंजन पाण्डेय एम. ए. पी; एच. डी.। ०-८-०

३. **दक्षिण के महापुरुष भाग १ :** दक्षिण के ५ महापुरुषों का बालोपयोगी जीवन-चरित्र लेखक—श्री राजकिशोर पाण्डेय एम. ए.। ०-८-०

४. **बालकों की कहानियाँ :** बच्चों के लिए मनोरंजक कहानियाँ। लेखक श्रीराम शर्मा। ०-८-०

५. **दो एकांकी :** ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालकों के खेलने के लिए प्रभावशाली दो एकांकी। लेखिका—श्री विमला लूथरा एम. ए. ०-८-०

६. **हैदराबाद के ऐतिहासिक और कला-स्थल :** अजन्ता से लेकर हैदराबाद की चारमीनार तक का परिचय इस पुस्तक में मिलेगा। लेखिका—श्री कमला रानी संघी। ०-८-०

७. **दक्षिण के महापुरुष भाग २ :** लेखिका—श्री विमला लूथरा। ०-६-०

हैदराबाद सरकार द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत पुस्तकें

१ हिन्दी बोध प्रवेशिका	०	१०	०
२ हिन्दी बोध भाग १	०	८	०
३ हिन्दी बोध भाग २	०	१२	०
४ हिन्दी बोध भाग ३	०	१३	०
५ हिन्दी बोध भाग ४	०	१४	०
६ गद्यसोपान भाग २	१	०	०
७ सरल गणित भाग २	०	१०	०
८ सरल गणित भाग ३	०	१२	०
९ पद्य पारिजात भाग १	०	१२	०
१० पद्य पारिजात भाग २	१	५	०
११ कथाकुञ्ज भाग १	१	८	०
१२ रचना बोध भाग १	०	५	०
१३ रचना बोध भाग २	०	६	०
१४ इतिहास की कहानियाँ भाग १	०	८	०
१५ इतिहास की कहानियाँ भाग २	०	१२	०
१६ विज्ञान सोपान भाग १	०	१०	०
१७ विज्ञान सोपान भाग २	०	१२	०
१८ चार एकांकी	०	१२	०
१९ मणियाँ	०	१०	०
२० सरल व्याकरण भाग १	०	६	०
२१ कहानी संग्रह	१	२	०
२२ सरल भूगोल	१	०	०

सभी पुस्तकों पर उचित कमीशन दिया जाता है। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर कीजिए।

सभा, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—१

'अजन्ता'
की
परामर्श—समिति

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
एम. पी, नई दिल्ली

श्री विनायकराव विद्यालङ्कार
भूतपूर्व वित्त, वाणिज्य एवं उद्योग-मन्त्री, हैदराबाद-द.

डा॰ भगवतशरण उपाध्याय
डाइरेक्टर
इन्स्टीट्यूट ऑफ़ एशियन स्टडीज, हैदराबाद-द.

श्री लक्ष्मीनारायण गुप्त
सचिव लोककर्म विभाग हैदराबाद-द.

श्री विश्वनाथ मुखर्जी
प्रिन्सिपल, स्कूल ऑफ़ आर्ट, हैदराबाद-द.

डा॰ श्रीनिवासाचार्य
डाइरेक्टर, पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद-द.

श्री युद्धवीर
संचालक, दैनिक उर्दू व हिन्दी 'मिलाप'

आन्ध्र प्रदेश में

उत्तम से उत्तम और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ

फ़ाउण्टेन पेन

❀ माउण्ट ब्लैंक ❀ पैलिकन ❀ पार्कर ❀ शीफ़र आदि

और

अन्य श्रेष्ठ स्टेशनरी सामग्री प्राप्ति-स्थान :

डेकन पेन स्टोर

हैदराबाद सिकन्दराबाद

अजन्ता

सचित्र मासिक पत्रिका

वर्ष ८ दिसम्बर १९५६ अङ्क १२

सम्पादक

वंशीधर विद्यालंकार

संचालक

हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद-दक्षिण.

तार : हिन्दी

फोन : ५४५०

सौराष्ट्र, बम्बई, बिहार, राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और मद्रास राज्यों के शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृत

अनुक्रम

प्रभात का विश्वास
विनोद रस्तोगी १
दो चतुर्दश पदियाँ
प्रकाश दीक्षित ३
गीत
सुहास ४
अमावस की गंगा
यतेन्द्रकुमार गर्ग ५
चाँद न मुस्काने आओ
व्रजराज तिवारी 'अधीर' ६
मत दबा
माखनलाल चतुर्वेदी ७
अग्नि ताण्डव
मंजुल मयंक ८
बौद्ध जातकों से सामाजिक जीवन की झलक
परशुराम चतुर्वेदी ९
समकालीन हिन्दी कविता में व्यंग्य विद्रूप
हरिनारायण मिश्र १६
दक्खिनी के अन्तिम बड़े कवि सिराज
राजकिशोर पाण्डेय २३
प्रगतिवाद
श्रीराम प्रसाद २६
अवसान
कुमारी इन्दिरा 'नूपुर' ३५
प्रजातन्त्र और शिक्षा का आदर्श
व्योहार राजेन्द्रसिंह ३९
वेदों और उपनिषदों की रूपक शैली का 'महाभारत' और पुराणों पर प्रभाव
रूपनारायण शास्त्री ४३
हास्य साहित्य क्यों नहीं ?
घनश्याम सेठी ४८
दक्षिण वाराणसी : अलंपुर
ले० : तण्ड्री नारायणराव
अनु० : बालशौरि रेड्डी ५१
प्रत्यावर्तन
मन्मथनाथ गुप्त ५३
जवाहरलाल नेहरू
ले० : जवाहरलाल नेहरू
अनु० : तिलक ५६
हिन्दी की आदिम आत्मकथा—'अर्ध कथानक'
महेन्द्रसागर प्रचण्डिया ५९
राजभाषा हिन्दी
बालशौरि रेड्डी ६१
कला-चर्चा :
कला महाविद्यालय हैदराबाद
विश्वनाथ मुखर्जी ६७
चिट्ठी-पत्री :
अजन्ता के सम्बन्ध में : क. ला. चंचरिक, भगवत पाण्डेय, रामकुमार जैन 'भारिल्ल', नरेन्द्र पी. पारिन, निर्मल, श्रीधर, कश्चित् ६९
नीर-क्षीर :
एशिया की राजनीति, चक्रव्यूह, मेरी अफ्रिका यात्रा, नागफनी का देश, मधुमय, आंग्ल काव्य कलाप : वंशीधर विद्यालंकार ७२
सामयिक :
प्रतिभाशाली व्यक्ति और अविवाहित जीवन, अंग्रेज़ी के कुछ आधुनिक लेखक, तिब्बती पांडुलिपियों का संग्रह । ७८
सम्पादकीय : ८२
वंशीधर विद्यालंकार

चित्र : माँ और शिशु, चित्रकार : टी. वी. त्यागराज
कुतुबशाही सुल्तान : पुरातत्व विभाग आन्ध्र प्रदेश के सौजन्य से
सरोजिनी देवी स्मारक भवन : नवजीवन मण्डल के सौजन्य से
आन्ध्र प्रदेश के मंत्रियों का (सभा भवन में) स्वागत

वार्षिक मूल्य : ९)

एक प्रति का मूल्य : १) रु.

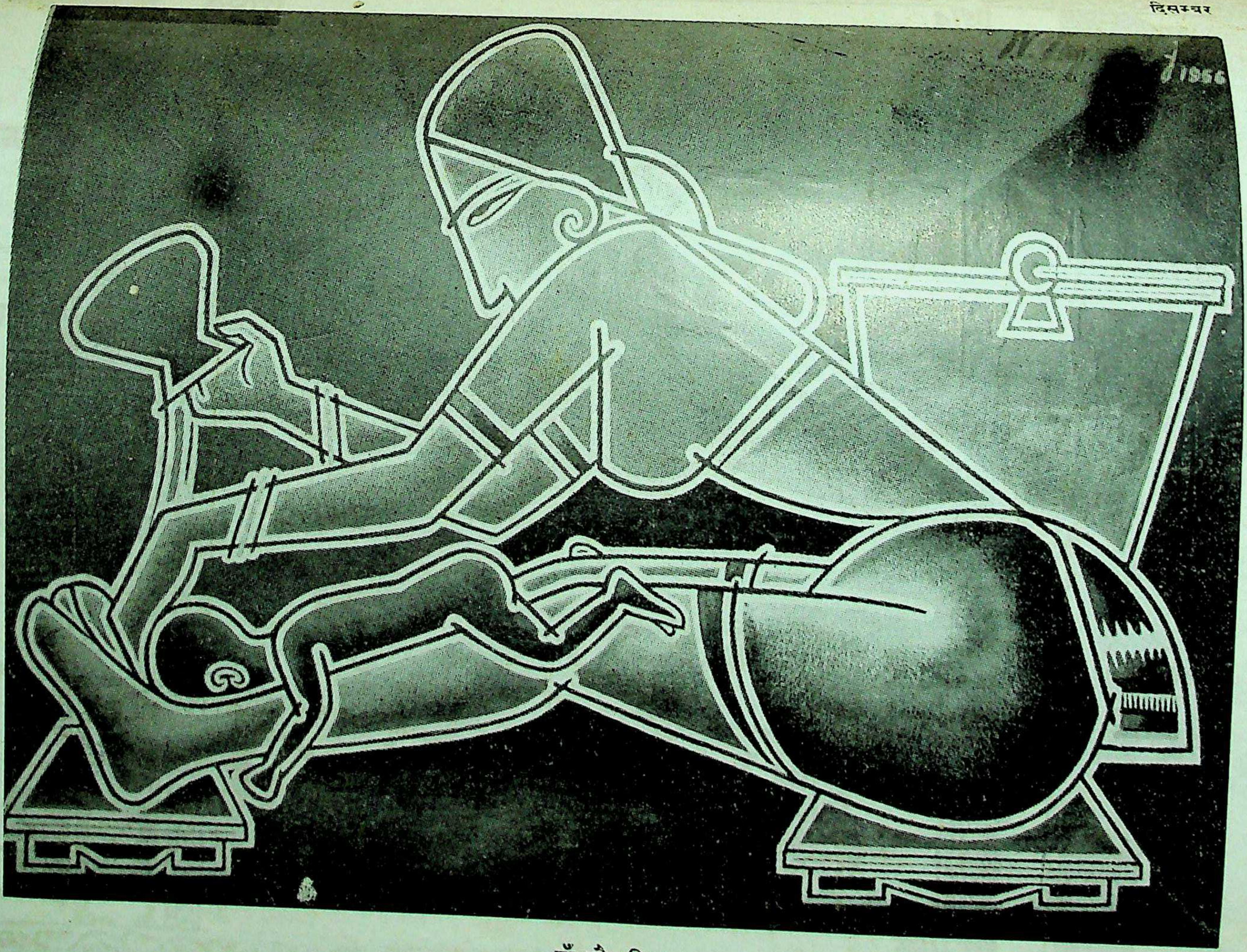

माँ और शिशु

चित्रकार : टी. वी. त्यागराज

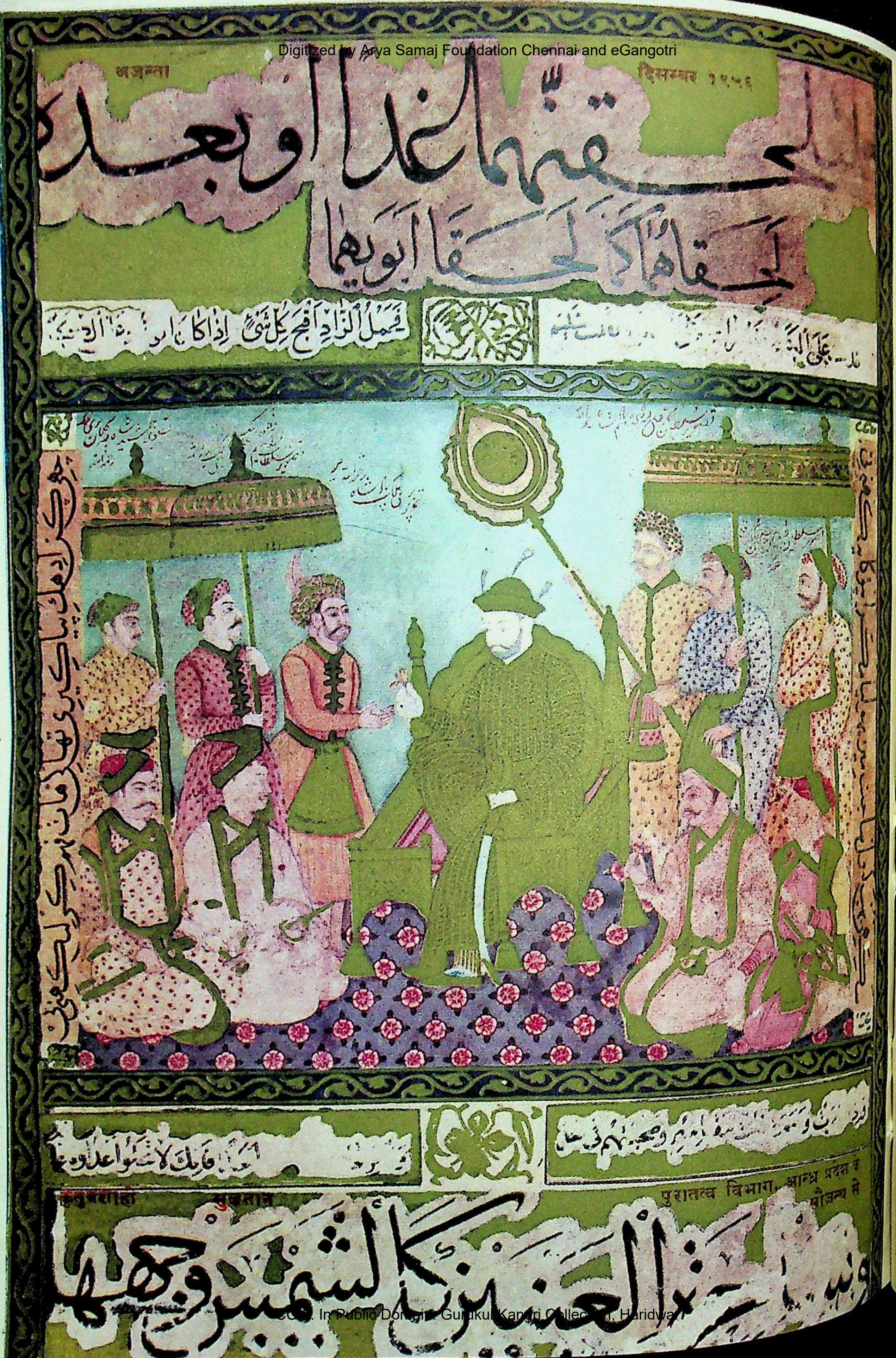

कुतुबशाही सुलतान

पुरातत्व विभाग, आन्ध्र प्रदेश के सौजन्य से

वर्ष ८

अजन्ता

अङ्क १२

प्रभात का विश्वास

[कविता प्रतीकात्मक है। इसमें दुःख-दैन्य, बेकारी. भूख एवं निराशा के अन्धकार का चित्रण कर आनेवाली सुख-शान्ति की सुनहरी सुबह के प्रति आस्था प्रकट की गई है। प्रश्न—वह सुबह आएगी कैसे ? उत्तर है उसके लिए हमें स्वयं मिलजुल कर प्रयास करना पड़ेगा]

हारे, निराश, थके कवि की वाणी की तरह—
सूरज के अश्व शिथिल;
ऊँची पहाड़ी की चोटी से रथ गिरा—
गहरी, अनजान, अंधकार पूर्ण घाटी में !
छा गई उदासी घोर मातम सी

चरवाहे की वंशी का मन्द मीठा स्वर—
जा कर विलीन हुआ किसी स्वप्न-देश में
सूनी चरागाहें हुईं,
घंटियों की ध्वनि —
दूर जाते कारवाँ की तरह—
धीमी हुई और फिर जा कर कहीं खो गई

राहें हैं निर्जन—
और पनघट की चहल पहल—
नीड़ों के गीतों सी गहरी नींद सो गई
धरती का हरा-भरा आँचल हुआ मैला;
नभ हुआ धुँधला—
वियोगिन की सजल मूक आँखों की भाँति ही;
सूनी दिशाएँ हैं विधवा की माँग सी !

धुएँ की लहरें उठीं गाँव के घरों से—
भावों की आँधी
अभावों की रेत
अवसादों की बाढ़ सी
आँखों में कड़ुवाहट
अकुलाहट अन्तर में !

छोटा-सा गाँव, खेत-खलिहान, चरागाहें—
राहें और पनघट सभी कुछ डूबे हैं
मनहूस तम के अगाध शीत सागर में
छाई है मायूसी-ख़ामोशी मौत सी !

× × ×

रात के अँधेरे से ऊबो मत, भागो मत
भ्रम की भयंकर परछाइयों से डरो मत
माना, नहीं सूरत—
पर माटी का नन्हा सा दीपक तो जलता है;
पी लेगा शंकर बन तीखा विष तम का
निश्चय ही धरती पर ज्योति-सुधा बरसेगी

गाँव, खेत-खलिहान,
राहें चरागाहें और पनघट मुस्काएँगे
मुझ को तो कल के सुनहरे प्रभात पर
पूरा भरोसा है—
पूरा विश्वास है !
लेकिन सवेरा वह हम को ही लाना है
कन्धे से कन्धा मिला कर—
उजाले की फ़सलें उगाना है !

७/१४०, स्वरूपनगर,
कानपुर

—विनोद रस्तोगी

दो चतुर्दश-पदियाँ

(१)

स्वर के ये अनजान पखेरू रोमिल
मेरे तुम तक के सन्देशों से बोझिल
साधों के अम्बर में फैलाए पाँखें
उड़ते मुड़ते, ये रुकते बढ़ते प्रतिपल
आतप की किरणों ने इनको सहलाया
मेघीली मावस ने इनको दुलराया
चाँद शरद् का जब नीले-नभ में विहँसा
झरती शबनम ने इन पर स्नेह लुटाया
है गति का ही इतिहास कहानी इनकी
जो दर्द-भरा, विश्वास, रवानी इनकी
अन्धड़ भी क़ैद न इनको कर पाए
प्राणों में पलती आस जवानी इनकी
सन्देश तुम्हारे मुझ तक ये लाएँगे
जब-जब खले अकेलापन, बहलाएँगे

(२)

मेरे गीतों की अन्तर्कथा तुम्हीं हो
प्राणों को जिसने प्रतिपलशृंगार दिया है
सपनों को जिसने नेहिल संसार दिया है
गीतों में पलती भ्रान्त व्यथा तुम्हीं हो
कि मेरी साधों की नीड़ तुम्हारी सुधियाँ
फेनिल अन्तस के ये बनते-मिटते बुद्बुद
नयनों के परकोटों पर घिरते घन अद्भुत्
ये वरदान तुम्हारे मेरे स्वर की निधियाँ
तुमको देखा, जीवन को आवाज़ लगाई है
जड़ता का निर्मोक तजा विधवा आसों ने
मादकता का अवगुण्ठन खोला, श्वासों ने
अब लो बज उठी चेतना की शहनाई है
मेरे गीत उस सीमा तक इन्सान हैं
जहाँ नहीं पाषाण तुम्हारे वरदान है

प्रेम भवन, माधव गंज,
लश्कर (मध्य प्रदेश)

—प्रकाश दीक्षित

गीत

काँपकर बुझ जाय मेरी अर्चना का दीप
तो समझना प्यार था बलहीन

स्नेह की लघु बूँद जीवन-दान स्थिर लाए
एक पल में ही तिमिर पर ज्योति तिर जाए
आपदाएँ झेल लेने दो अकेले ही
स्यात् जीवन में प्रलय का मेघ घिर आए

छोड़ दो, बल दे चुकी इसको तुम्हारी छाँह
दीप की होगी न ज्योति मलीन

काल का व्यवधान इसका साधना-आधार
हैं निकष से विश्व के आघात और प्रहार
हो प्रबल तम वेग ले छाया भले पवमान
कर सकेगा मात्र इसमें शक्ति का संचार

मिल गया तुमसे जिसे गौरव अमर-अनमोल
किस लिए होगा भला वह हीन

स्नेह की सुधि में जले जब दीप, तब है बात
इस तरह कट जाएगी ही यह अमा की रात
रँग रहा हो व्योम को निज संस्मरण से धूम
जिस समय बिखरा रहा हो रश्मि-जाल प्रभात

जो तुम्हारे ध्यान में लवलीन है यों आज
मौन बन होगा तुम्हीं में लीन

—सुहास

रसवन्ती,
उन्नाव (उत्तर प्रदेश)

अमावस की गंगा

फैला है अज्ञान पुंज-सा गिरि चेतना विहीन
महाकाय अजगर-सा मूर्छित, जड़ निद्रा में लीन
भीषणता की पृष्ठ भूमि-सा, तमपट का अभिलेख
आज अमावस की रजनी में गिरि, काली-सी रेख

चिर विषाद की आत्मा पहने जड़ता का परिधान
आवृत है दिगंत तमपट से, भय से शंकित प्रान !
तने हुए से वृक्ष कहीं पर जैसे पूर्ण विराम !
'झाऊ' 'काँस' सटे अक्षर से करते हैं विश्राम !

चक्की के घर घर स्वर सा गहराता गंगा पाट
मटियाला जल लगता जैसे पीला खेत सपाट
तट पर चाबुक के प्रहार-सी टकराती जलधार
लघु लहरें मुड़ मुड़ कर करतीं चूम परस्पर प्यार !

सिहर सिहर कर रह जातीं हैं, तट पर उठी तरंग
जैसे शिशिर वायु में कँपते, दीन मनुज के अंग
पीपल की छाया पानी पर है स्थिर मूक विचित्र
जैसे पीले 'कैन्वस' पर हो सुन्दर छाया चित्र !

अन्दर बाहर मचल उछलती जलकीटों की पाँति
अवचेतन मन में अनियंत्रित इच्छाओं की भाँति
कहीं दूर भूले से पंछी उठता कहीं पुकार
जम जाता निस्तब्ध शून्य में यह आकुल चीत्कार

कटे वृक्ष भी बह उठते हैं, कभी कभी इस पार
जैसे 'चायपात्र' में रह जाती पत्ती दो चार !
भयावने सपने की स्मृति सा, है निकटस्थ श्मशान
बिखरी स्याही सी जिसकी परछाईं फैली म्लान

आज अमावस की रजनी में भय विजड़ित संसार
पर ऊपर तो स्वर्गंगा का फैला रूप अपार !

विद्या भवन कालेज,
सासनी, अलीगढ़

प्रो० —यतेन्द्रकुमार गर्ग

"चाँद न मुस्काने आओ"

मैं संघर्षों तूफ़ानों में पलने वाला,
मेरे आँगन में चाँद न मुस्काने आओ

मैं देख चुका हूँ चाँद तुम्हारी तरुणाई,
संध्या तेरे नयनों की देखी सुरमाई;
जिसको पा कर सब का जीवन बेहाल हुआ,
ऊषा के उन अधरों की देखी अरुणाई;
पर मैं न कभी अपने पथ से गुमराह हुआ,
तुम मुझे न मेरे पथ से बहकाने आओ

तुम ले जाओ अपनी ये रात बहारों की,
तुम ले जाओ अपनी बारात सितारों की;
जिन को सुन कर कितने दिल में तूफ़ान उठे,
आवाज़ कहीं ले जा पायल झनकारों की;
मैं मूक क्रान्ति के गीत लिए चलने वाला,
इन गलियों में मधु-गीत न तुम गाने आओ

मैं जग की आहों को सुन कर रोने वाला,
मैं जग के लिए स्वयं को भी खोने वाला;
मिट जाय जगत की जिससे यह प्राचीन डगर,
मैं वही बीज सब के मन में बोने वाला;
मैं नई राह दुनिया को दिखलाने आया,
प्राचीन डगर पर मुझे न लौटाने आओ

झुक जाय हिमालय मैं न कभी झुक सकता हूँ,
रुक जाय पवन पर मैं न कभी रुक सकता हूँ;
दो प्यार भरे मीठे-मीठे जज़बातों पर—
बिक जाय कोई पर मैं न कभी बिक सकता हूँ;
एहसानों के सम्मुख न कभी झुकना सीखा,
तुम मेरी पीड़ा को मत सहलाने आओ

—व्रजराज तिवारी 'अधीर'

सेंट एंड्रूज़ कालेज,
गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)

मत दबा

मत दबा समय की चट्टानों के नीचे
दोनों हाथों तेरी मूरत को खींचे
चरणों को धोते, आधे से दृग मींचे
मैं पड़ा रहूँगा तरु-छाया के नीचे

स्वागत !

जग चाहे कितना कीच उलीचे
मत दबा समय की चट्टानों के नीचे

कर्मवीर प्रेस,
खण्डवा (मध्य प्रदेश)

—माखनलाल चतुर्वेदी

अग्नि-ताण्डव

मानव तेरे नग्न नृत्य से
धरणि सिन्धु में समा न जाए

तेरी उर्वर वसुन्धरा पर बरस चुके कितने शोणित घन
किन्तु कोटि बलिदान मनुज के अविकल रणचण्डी का नर्तन
शत कुरुक्षेत्र कर्बला तेरी
रक्त पिपासा बुझा न पाए

तेरे कल्पित स्वर्ग लोक पर अट्टहास करता है रौरव
ऊँचे आज महल मिट्टी के नीचा है सोने का मानव
लौह शक्ति की बलिवेदी पर
स्वर्ण खड़ा है शीश झुकाए

तुझे न ईसा और मुहम्मद तुझे न गौतम बुद्ध चाहिए
और चाहिए तुझे न गान्धी तुझे अनवरत युद्ध चाहिए
ओ विनाश के भक्त तुझे क्यों
कवि विकास के गीत सुनाए

ओ कंचन काया के मानव विधि के गौरव गान मनोहर
ओ रे मानव सृष्टिकार की अनुकृति के मधुमय स्वर्णाक्षर
तेरी सुरभित उच्छ्वासों को
अन्तरिक्ष अञ्चल फैलाए

—मंजुल मयंक

८८/१२४, प्रेमनगर,
कानपुर

बौद्ध जातकों से सामाजिक जीवन की झलक

बौद्ध जातकों की कथाओं में हमें प्राचीन भारत के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का एक जीता-जागता चित्र देखने को मिलता है। कहने को तो ये रचनाएँ केवल भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों की ही घटनाओं के विवरण प्रस्तुत करती हैं किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इसी व्याज से, हमें इनमें उस समय के भी लोगों की एक झाँकी मिल जाती है, जब इनकी पद्यमयी गाथाओं का पहले पहल निर्माण हुआ होगा। इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन सम्बन्धी जो दृश्य, ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अंकित किए गए, सांची, भरहुत और अमरावती वाले चित्रों में दीख पड़ते हैं, उनके बीजरूप का पता हमें इन गाथाओं में अवश्य लग जाता है। यह असम्भव नहीं कि इन जातकों का गद्यमयी अट्ठकथा वाला अंश ईसवी सन् के पीछे वाली पाँचवीं शताब्दी की रचना ठहर जाए। किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट है कि उसमें भी तत्वतः उन गाथाओं के ही ठीक-ठीक अनुसरण का प्रयत्न किया गया होगा। इन जातकों में हमें न केवल भारतीय समाज के तत्कालीन संगठन का ही संकेत उपलब्ध होता है, अपितु इनके अन्तर्गत हमें, उसके आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं से लेकर, उसकी साधारण से साधारण बातों तक का भी प्रत्यक्ष चित्रण, पूरे विवरण के साथ किया गया मिल जाता है। इनमें कम से कम, पूर्वोत्तर भारत का जो प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध हो सकता है वह, कई दृष्टियों से सर्वथा रोचक और सजीव होगा।

बौद्ध जातकों के अध्ययन से पता चलता है कि इनके रचना काल वाले युग में यहाँ वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण प्राधान्य रहा। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के पृथक् पृथक् वर्ग, भगवान् बुद्ध देव का आविर्भाव होने के पहले से ही वर्त्तमान थे। ये फिर उनके बहुत पीछे तक प्रायः वैसे ही बने रहे गए—उनमें केवल थोड़ा ही परिवर्तन लाया जा सका। इन चारों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग चाण्डालों, पुक्कसों आदि का भी था जो इनके सीधे सम्पर्क से सदा दूर ही रहता आया, किन्तु जिसका कुछ अपना ही महत्व था। इन सभी वर्गों को उन दिनों अधिकतर 'जाति' की सञ्ज्ञा दी जाती थी और कभी-कभी इन्हें 'वर्ण' अथवा 'कुल' भी कह दिया जाता था।[1] इनमें सम्मिलित किए जाने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण साधारणतः इस आधार पर किया जाता था कि किस वंश में उन्होंने जन्म ग्रहण किया है। परन्तु, ऐसा करते समय, सदा उनकी जीविका के प्रति भी ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता था। जातकों को पढ़ते समय हमें ऐसा लगता है कि उनके रचना काल तक, 'चातुर्वर्ण्य' का 'गुणकर्म' के अनुसार किया गया प्रारम्भिक विभाजन बहुत कुछ पुराना पड़ चुका था। प्रत्येक जाति की कुछ न कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य रह गई थीं। किन्तु वह उनकी रक्षा के प्रति उतनी दृढ़ नहीं रहा करती थी, उसका विशेष ध्यान अपनी रक्त शुद्धि की ही ओर रहता था। यद्यपि इस बात में भी हमें यहाँ प्रायः शिथिलता ही देखने को मिलती है।

वैवाहिक सम्बन्ध के विषय में यह एक साधारण सा नियम बन गया था कि उसका, अपने सजातीयों में स्थापित होना ठीक है। जातकों में हम इसका पालन, प्रायः प्रत्येक स्थल पर इसी के अनुसार होता हुआ देखते हैं। एक पिता को अपने पुत्र के प्रति स्पष्ट शब्दों में कहते हुए पाते हैं कि "समजातिक कुल कुमारिक गण्ह'[2] अर्थात् समान जाति वा कुल की ही कुमारी के साथ विवाह करो। इन बातों में माता-पिता अपनी सन्तानों की किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते नहीं जान पड़ते। इसमें उन्हें, कदाचित् इस बात का भय बना रहता है कि यदि विवाह कहीं बे-मेल हो गया तो, उसके परिणाम स्वरूप वैसी ही सन्तान उत्पन्न होगी

---

[1] Richard fick : "The Social Organisation in North east India (University of Calcutta, 1920) P. 34 (footnote) [2] Do (quoted at p 52)

जैसा, "विनीलक जातक" वाले हंसराज द्वारा कौवी के साथ सहवास किए जाने पर, निरा अयोग्य बच्चा पैदा हो गया था और उसे, अन्त में, अपने यहाँ से हटा देना भी पड़ा था।[1] फिर भी विवाह का होना भिन्न गोत्रियों में ही उत्तम समझा जाता था, समान गोत्रियों में नहीं, जैसा "कच्छप जातक" वाले उदाहरण में भी स्पष्ट किया गया है।[2] इसी प्रकार विवाह के लिए कन्याओं की उचित अवस्था २० से ले कर ३० वर्षों तक की भी मान ली जाती थी और इस दशा में उन्हें अपने लिए योग्य वर ढूँढ़ लेने की प्रायः छूट भी दे दी जाती थी जैसा "अम्ब जातक" में कहे गए कतिपय वचनों द्वारा भी ध्वनित होता है।[3] परन्तु इसमें कन्याओं के कारण, वरों को कभी-कभी धोखा भी हो जा सकता था जैसा "कुक्कुट जातक" वाले कुक्कुट को, बिल्ली के कारण, सम्भव हो गया।[4] "उदय जातक" वाले उदाहरण से तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन दिनों कदाचित्, कोई कन्या विक्रय की भी प्रथा रही होगी।[5] इस बात की पुष्टि "संकिच्च जातक" से भी होती जान पड़ती है जहाँ भार्या के लिए "धनक्कीता" शब्द का विशेषण दिया गया है।[6] जातकों में हमें इस बात का पता नहीं चल पाता कि वैवाहिक विधियों का अनुष्ठान कभी पुरोहितों के माध्यम से पूरा किया जाता था। यहाँ पर ऐसे ही उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें पारस्परिक प्रेमभाव रखनेवाले कन्या-वर अपना सम्बन्ध किसी श्मशान क्षेत्र तक में भी अनुष्ठित कर लिया करते हैं।[7]

"कट्ठहारि जातक" से पता चलता है कि ब्रह्मदत्त राजा ने किसी समय उद्यान में लकड़ी चुनती हुई किसी कन्या पर आसक्त हो उसके साथ सहवास किया तथा फिर उसके गर्भ से उत्पन्न बालक को उपराजा तथा उसकी माँ को पटरानी बनाया। एक अन्य 'सुजाता' नामक जातक से भी प्रकट होता है कि राजा ने किसी बेर बेचनेवाली माली की लड़की को ही अपनी पटरानी बना लिया था।[8] वास्तव में राजाओं के लिए इस प्रकार का प्रथा-विरुद्ध व्यवहार करना उन दिनों अनुचित नहीं समझा जाता था और उनके ऐसे कार्य प्रायः अपवाद स्वरूप भी मान लिए जाते थे। राजा लोग, अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करके, उनमें से जिन्हें भी चाहें, झट त्याग दिया करते थे और यह केवल उनकी इच्छा पर ही निर्भर रहता था। परन्तु विवाहिता पत्नी को सदोष पा कर अथवा, उससे किसी कारण रुष्ट हो कर, उसका परित्याग कर देना कदाचित् औरों के लिए भी संभव था। "रुहक जातक" वाले ब्राह्मण ने अपने साथ निंद्य परिहास करनेवाली ब्राह्मणी को घर से पीट कर निकाल दिया और वह दूसरी पत्नी भी ले आया।[10] "कुस" नामक एक दूसरे लम्बे जातकवाली कथा से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुत्र न होने की दशा में, उन दिनों नियोग द्वारा इस अभाव की पूर्ति कर ली जाती थी। इसके लिए बड़े-बड़े राजाओं तक को अपनी पटरानी "धर्मनटी" के रूप में, दूसरों के हाथ दे देनी पड़ती थी। सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि राजा अपनी पटरानी को सर्वसाधारण के सिपुर्द कर देता था। वह इस प्रकार चाहे जिस किसी के भी साथ सहवास करके, उसके द्वारा सन्तान उत्पन्न करा लेती थी और यदि पुत्र होता था तो वही राजकुमार भी कहला सकता था।[11]

जातकों वाले भारतीय समाज में, एक ओर जहाँ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ते समय, रक्त-शुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है वहाँ दूसरी ओर सहभोज के अवसरों पर एवं भोज्य पदार्थों का स्पर्श करते समय भी, कुलीनता एवं पवित्रता का विचार कर लिया जाता है। 'भद्दसाल जातक' से पता चलता है कि महानाम संज्ञक एक क्षत्रिय ने स्वयं अपनी पुत्री के साथ भी भोज नहीं किया, क्योंकि वह उसकी अवैध सन्तान थी और इस बात को छिपाने के लिए उसे युक्तियों का आश्रय लेना पड़ा।[12] अपवित्र हाथों द्वारा स्पष्ट भोजन का ग्रहण करना अथवा अकुलीन के हाथ का खाना लगभग उतना ही निषिद्ध था जितना उच्छिष्ट भोजन का खा लेना और दोनों ही दण्डनीय भी थे। फिर भी हम देखते हैं कि मातंग जातक' वाले बड़े भोज के अवसर पर जो ब्राह्मण एक चांडाल को उच्छिष्ट भोजन तक नहीं देना

---

[1] जातक सं० १६० (साहित्य सम्मेलन प्रयाग)। [2] वही, सं० २७३। [3] वही, सं० ३४४। [4] जातक सं० ३८३। [5] वही, सं० ४५८। [6] वही सं० ५३०। [7] वही सं० १२६ (अभिलक्खण जातक)। [8] वही, सं० ७। [9] वही, सं० ३०६। [10] वही, सं० १९१। [11] वही, सं० ५३१। [12] जातक सं० ४६५।

चाहता उसे, फिर उसी चांडाल के यहाँ और प्रायः उसी प्रकार का भोजन दण्ड स्वरूप ग्रहण करना पड़ता है। 'सतधम्म' नामक जातक में इस प्रकार की भी कथा आती है कि माणवक ब्राह्मण ने पहले एक चांडाल का भात खाने से इनकार कर दिया। किन्तु जब उसे क्षुधा ने सताया और उससे नहीं रहा गया तो उसने उस चांडाल का जूठा भात तक खा लिया; जिसके प्रायश्चित स्वरूप उसे (माणव को) छिप रह कर अनाथवत् मरना पड़ा।[2] परन्तु 'विधुर पंडित' जातक वाले विधुर के लिए कहा गया है कि उसने एक सार्वजनिक भोज के अवसर पर सभी वर्णों का छुआ भात खा लिया।[3]

भात उन दिनों एक सामान्य भोज्य पदार्थ था जिसे सर्व साधारण 'यागु' अथवा 'यवागु' (मण्ड) के साथ खा लिया करते थे। किन्तु, जिसे खाते समय, धनी-मानी व्यक्तियों को मांस का भी उपयोग करना पड़ता था। मांस भोजन उस युग में कदाचित् ब्राह्मणों के लिए भी निषिद्ध नहीं समझा जाता था। इस वर्ग के लोग बहुधा बहेलिए तथा मांस विक्रेता तक की जीविका भी करते थे। 'तेलोवाद जातक' वाली कथा में तो एक तपस्वी ने मत्स्य मांस खा कर बतलाया है कि बुद्धिमान् मांस भोजी को हिंसा जन्य पाप नहीं लगता।[4] मांस पकाने के सम्बन्ध में चर्चा करते समय गोध अथवा गोह का नाम, कदाचित् सबसे अधिक लिया गया है। जान पड़ता है कि इस जीव का मांस कुछ अधिक स्वादिष्ट हुआ करता था, क्योंकि कहीं तो हम देखते हैं कि एक तपस्वी तक उसे मार कर पकाने के उद्योग में लीन है।[5] अन्यत्र ऐसा भी पाते हैं कि, इसके पके मांस की ओर आकृष्ट होकर एक राजकुमार तक उसे चुपके-चुपके खा लेता है।[6] इसी प्रकार सूअर के लिए भी कहा गया मिलता है कि उसे यवागु और भात खिला-खिला कर इसलिए पोसा गया था कि उसका मांस एक राजकुमारी के विवाहोत्सव पर जलपान का काम देगा और अन्त में, ऐसा ही हुआ भी था।[7] 'चुल्लपदुम जातक' में तो मांस के सम्बन्ध में यहाँ तक संकेत मिलता है कि एक बार, भूख की वेदना न सह सकने के कारण, सात राजकुमारों ने एक-एक करके क्रमशः अपने छः भाइयों की पत्नियों को मार कर खा डाला और केवल सातवें की पत्नी ने किसी प्रकार भाग कर जान बचाई।[8] ऐसा ही एक अन्य प्रसंग 'महासुत सोम जातक' में भी आता है, जहाँ एक राजा को मनुष्य का मांस खाने की चाट पड़ गई थी।[9] यह निश्चय ही एक अत्यन्त विलक्षण सी बात है, किन्तु जातकों में इस प्रकार का वर्णन, बहुत स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में किया गया मिलता है।

जातकों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का भी पता चलता है कि उन दिनों के लोगों में कई व्यसन भी प्रचलित थे। जैसे वेश्या-प्रसंग की लत, सेठ पुत्रों, कर्मचारियों तथा पुरोहितों तक में भी देखने को मिलती थी। 'उद्दालक जातक' वाला पुरोहित उद्यान क्रीड़ा के लिए गई हुई गणिका पर आसक्त होकर उसके साथ भोग करता है और फिर उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम रखने के फेर में पड़ जाता है।[10] इसी प्रकार 'कणवेर जातक' वाली श्यामा वेश्या नगर कोतवाल पर प्रभाव डाल कर उसे अपना स्वामी बना लेती है।[11] और वाराणसी की एक दूसरी वेश्या सेठ पुत्र के हज़ार न देने पर उसे गर्दन पकड़ कर निकलवा देती हुई दीख पड़ती है।[12] वास्तव में उन दिनों की अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों के भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे उस काल के नैतिक आचरण पर प्रकाश पड़ता है। 'सुसीम जातक' की राजमाता तक अपने पुरोहित पर आसक्त हो जाती है और वह उसे अपनाने के फेर में पड़ कर अस्वस्थ बन जाती है। अतएव, मातृभक्त राजा को, उसे सन्तुष्ट करने के लिए, पुरोहित को राज सिंहासन पर बिठा तथा उसे उसकी पटरानी बना कर, स्वयं उपराजा बनना पड़ जाता है।[13] इसके सिवाय एक अन्य जातक में हमें यह भी दीख पड़ता है कि उसका राजा अपनी रानी को, अमात्य के साथ सहवास कर लेने पर भी, कोई दण्ड नहीं देता, प्रत्युत वह उस अमात्य को भी क्षमा ही कर देता है।[14] 'बन्धन मोक्ख जातक' वाले राजा की रानी तो उसे धोखा देकर क्रमशः चौंसठ

---

[1] वही, सं० ४६७ । [2] वही, सं० १७९ । [3] वही, सं० ५४५ । [4] वही, सं० २४६ । [5] जातक सं० ३२५ । [6] वही, सं० ३३३ । [7] वही, सं० २८६ । [8] वही, सं० १९३ । [9] वही, सं० ५३७ । [10] वही, सं० ४८७ । [11] वही, सं० ३१८ । [12] जातक सं० ४२५ । [13] वही, सं० ४११ । [14] जातक सं० १९५ (पब्बत पत्थर जातक) ।

व्यक्तियों के साथ सहवास करती है।[1] एक ब्राह्मण की पत्नी अपने पतिदेव को जाट का जूठा भात खिला देती है।[2] और 'समुग्ग जातक' वाली एक स्त्री राक्षस की कोख में कैद रहती हुई, पर-पुरुष के साथ भोग कर लेती है।[3] एक सौतेली माँ के भी, इसी प्रकार अपने पुत्र के प्रति रमणेच्छा का प्रस्ताव करना तथा उसकी अस्वीकृति पर उसे मरवा डालने की चेष्टा भी करना एक जातक में आता है।[4] बौद्ध जातकों में न केवल स्त्रियों की ऐसी चारित्रिक निर्बलता के ही दृष्टान्त मिलते हैं, अपितु 'अनभिरत जातक' वाली कथा में, एक शिष्य द्वारा उनके दुराचार की शिकायत किए जाने पर, उसके प्रति आचार्य का ऐसा कथन भी पाया जाता है कि :

"यथा नदी च पन्थो च, पाणागारं सभा पपा।
एवं लोकित्थियो नाम, नासं कुज्झन्ति पण्डिता।"[5]

अर्थात् जैसे नदी, महामार्ग, मदिरालय, धर्मशालाएँ तथा प्याऊ सब किसी के लिए होते हैं वैसे ही लोक में स्त्रियाँ भी हैं, अतः पण्डित उन पर क्रोध नहीं करते।

जातकों में व्यभिचार के अतिरिक्त सुरापान जैसे कुछ अन्य व्यसनों के भी उदाहरण देखने को मिलते हैं। सुरापान की एक चर्चा 'सुरापान जातक' में ही आती है जहाँ एक राजा ने, मदिरा जैसे उत्तम पेय को तपस्वियों के लिए अलभ्य समझ कर, इसे उन्हें प्रेम से पिलाया है।[6] इसके सिवाय कहीं-कहीं पर ऐसे प्रसंग भी दीख पड़ते हैं जहाँ युद्ध में विजय पाने पर 'सुरा नक्खत्त' नामक सार्वजनिक उत्सव मनाया गया है। इसी प्रकार एक दूसरा भी व्यसन जो उन दिनों के लोगों में बहुत प्रचलित था वह जुए के खेल का था। 'विधुर पंडित जातक' वाली कथा में आता है कि द्यूत के व्यसन वाले धनंजय कोरव्य के लिए यह उसकी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी का कारण बन गया था। इस व्यसन की अन्यत्र जहाँ कहीं भी कोई चर्चा आई है वहाँ पर इसे पूर्ण रूप से हानिकर सिद्ध करने की ही चेष्टा की गई है।[8] जातकों में हमें उन दिनों के कतिपय लोग चोरी के लिए सेंध मारते फिरते अथवा दल बाँध कर डकैती करते हुए भी जान पड़ते हैं। 'कणवेर जातक' से पता चलता है कि ऐसे लोग प्रायः नगर की वेश्याओं के साथ भी सम्पर्क रखते थे और अवसर पाते ही उनके भी गहने कपड़े चुराने में नहीं चूकते थे।[9] डाकू लोग अधिकतर सौदागरों की गाड़ियों पर लदे माल को लूट कर भाग जाते थे और इसमें उन्हें रक्षकों के साथ लड़ना भी पड़ जाता था।[10] 'गण्ड तिन्दु जातक' के पढ़ने से विदित होता है कि पांचाल नरेश के राज्य में दिन के समय राजपुरुष लूटते थे तथा रात को चोरों की बना करती थी।[11] उन दिनों के राज्यों में प्रायः सर्वत्र घूस लेने की भी चलन देखी जाती है जिससे जनता को बहुत हानि उठानी पड़ती है। 'कणवेर जातक' में हम यदि कोतवाल को घूस लेते देखते हैं[12] तो 'असि लक्खण जातक' से पता चलता है कि शकुन-विचार करने वाले ब्राह्मण तक रिश्वत ले लिया करते हैं।[13] और 'धम्मद्ध जातक' वाले कालक नामी सेनापति भी इस दुर्गुण से रहित नहीं जान पड़ता।[14] इसी प्रकार 'खण्डहाल जातक' वाली कथा में न्यायाधीश को घूस लेते देखते हैं।[15] इसके साथ ही हमें 'किछन्द जातक' से विदित होता है कि ऐसे ही एक अन्य कर्मचारी को इस कर्म का कुफल भी भोगना पड़ जाता है।[16] सबसे उल्लेखनीय बात तो यह जान पड़ती है कि 'भरु जातक' वाला राजा तक स्वयं तपस्वियों से घूस लेकर उनके झगड़े को बढ़ा दिया करता है।[17]

जातकोंवाली कई कथाओं द्वारा यह भी प्रकट होता है कि उन दिनों के लोगों में अन्धविश्वास की भी कमी नहीं थी। "नक्खत जातक" से पता चलता है कि एक बार देहातवाले कुछ व्यक्तियों ने नगर में जा कर विवाह के लिए कोई लड़की पक्की की। परन्तु जब उन्हें किसी आजीवक अथर्वा ज्योतिषी से पता चल गया कि वह

---

१ वही, सं० १२०। २ जातक सं० २१२ (उच्छिट्ठभत्त जातक)। ३ वही, सं० ४३६। ४ जातक, संख्या ४७२ (महापदुम जातक)। ५ वही, सं० ६५। ६ वही, सं० ८१। ७ वही, सं० ५४५। ८ जातक सं० ६२ (अण्डभूत जातक)। ९ जातक सं० ३१८। १० वही, सं० २६५ (खुरप्पा जातक)। ११ वही, सं० ५२०। १२ वही, सं० ३१८। १३ वही, सं० १२६। १४ वही, सं० २२०। १५ वही, सं० ५४२। १६ वही, सं० ५११। १७ वही, सं० २१३।

दिन मंगल-क्रिया के लिए शुभ नहीं है तो वे नहीं गए और वह लड़की दूसरे को दे दी गई। इसी प्रकार "मंगल जातक" में आता है कि एक अन्धविश्वासी ब्राह्मण ने अपने कुछ कपड़े इसलिए फेंक दिए कि उनमें उसे अशुभ लक्षण दिखाई पड़े।[2] उन दिनों के सर्व-साधारण में इस प्रकार का भी विश्वास दीखता है कि छींक का आना अपशकुन सूचित करता है और इसी कारण वे छींक आने पर बहुधा जीवें अथवा जियों कह कर उसका दुष्परिणाम दूर कर देने के प्रयत्न करते हुए भी पाए जाते हैं।[3] "दद्दभ जातक" वाली कथा से तो यह भी प्रकट होते देर नहीं लगती कि उन दिनों के लोग न केवल अन्धविश्वासी थे, प्रत्युत अन्धानुसरण भी कर जाते थे। उन्हें जहाँ तक भी नहीं सूझ पाता था कि केवल किसी साधारण से व्यक्ति के ही इतना कह डालने पर कि पृथ्वी उलटने जा रही है हम बिना समझे-बूझे इधर-उधर दौड़ने-भागने क्यों लग जाएँ तथा सर्वत्र आतंक फैला दें।[4] इसी प्रकार उन दिनों के ब्राह्मण चांडाल की ओर से आती हुई हवा द्वारा दूषित और पतित हो जाने के भय से आतंकित हो कर प्रायः दिशाओं का साधारण ज्ञान तक भी खो दिया करते थे।[5]

उस दिनों के लोग सत्य-क्रिया पर भी पूरी आस्था रखते थे और उन जातकों में आता है कि इससे उनके कार्य भी सिद्ध हो जाया करते थे। उदाहरण के लिए "मूगपक्ख जातक" वाले काशीराज की पटरानी ने सत्य-क्रिया के ही बल पर सन्तान लाभ किया।[6] "महाजनक जातक" वाले राजा के कनिष्ठ राजकुमार ने सत्य-क्रिया करके अपनी हथकड़ी बेड़ी तुड़वा ली तथा बन्धनागार के द्वार तक खुलवा दिए।[7] "साम जातक" वाले अन्धे माता पिता ने अपने श्रवणकुमार जैसे पुत्र को सत्य-क्रिया के ही द्वारा विषाक्त बाणों के विष से मुक्त कर दिया।[8] परन्तु इतना होते हुए भी सत्य-क्रिया की विधि का कोई स्पष्ट विवरण नहीं पाया जाता। केवल यही पता चलता है कि इसके श्रेयस्कर परिणाम का ज्ञान मानवेतर प्राणियों तक को रहा होगा, क्योंकि "वट्टक जातक" में आई हुई कथा से पता चलता है कि किसी जंगल में आग लग जाने पर अपने घोसलों में अकेला पड़ा हुआ एक बटेर का बच्चा तक सत्य-क्रिया द्वारा उसे बुझा सकता था।[9] परन्तु, "सन्थव जातक" के अन्तर्गत एक ऐसी कथा भी आई है जिसमें किसी ब्राह्मण ने अग्निदेव को प्रसन्न करके उद्देश्य से, उन्हें घी के साथ मिश्रित खीर दिला दी, जिसका परिणाम यह निकला की आग की लपटें पर्याप्त ऊँची हो आईं और उसकी पर्णकुटी भी जल गई।[10] स्पष्ट है कि यह दृष्टांत 'वट्टक जातक' वाले से सर्वथा भिन्न है और यह कदाचित् अग्निपूजन अथवा होम-क्रिया की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए आया है।

परन्तु हम देखते हैं कि उन दिनों के लोगों में उच्च शिक्षा का भी प्रकार कम न था। वे लोग विविध कलाओं में भी पारंगत होते थे। कई जातकों में कहा गया है कि उच्च कोटि की विद्याओं का अध्ययन करने के लिए, लोग तक्षशिला जैसे शिक्षा-केन्द्रों में जाया करते थे। जातकों की मूलगाथाओं में तक्षशिला का नाम, स्पष्ट रूप में, किसी शिक्षा-केन्द्र जैसा प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता, इस कारण श्री गोकुल दास दे नामक एक लेखक ने उसके, उस काल तक. ऐसा हो चुकने में संदेह प्रकट किया है और अनुमान किया है कि उच्च से उच्च शिक्षा उन दिनों ब्राह्मण पंडितों के ही घरों पर दी जाती रही होगी तथा वहीं से अध्ययन करके लोग वेदादि के ज्ञान में पूर्ण विचक्षण हो जाते रहे होंगे।[11] परन्तु जातकों की ही गद्यमयी अट्ठकथाओं में तक्षशिला के शिक्ष केन्द्र होने का वर्णन बहुत स्पष्ट शब्दों में किया गया पाया जाता है। चित्र 'सम्भूत जातक' से तो यह भी प्रकट होता है कि चाँडाल जाति तक के दो लड़कों ने. ब्राह्मण विद्यार्थियों के वेष में जा कर, तक्षशिला में विद्याध्ययन किया था और वहाँ से शिल्पकला की भी शिक्षा ग्रहण की थी।[12] "असदिस

---

[1] वही, सं० ४९। [2] वही, सं० ८७। [3] वही सं० १५५ (गग्गा जातक)। [4] जातक सं० ३२२। [5] वही, सं० ३७७ (सेतकेतु जातक)। [6] वही, सं० ५३८। [7] वही, सं० ५३९। [8] वही, सं० ५४०। [9] जातक सं० ३५ [10] वही, सं० १६२। [11] Gokuldas De : Significance of Importace of the Jatakas P. 102 [12] जातक सं० ४९८।

जातक'' में इस बात की चर्चा आती है कि तक्षशिला में रह कर तीनों वेदों के साथ-साथ १८ विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा प्राप्त की जाती थी[१]। वहाँ पर आचार्य को एक हजार देने का नियम था और बहुत से लोग वहाँ अन्य कलाओं की भाँति धनुर्विद्या एवं हस्तिशिल्प का भी अभ्यास करते थे।[२] 'सूची जातक' में एक ऐसी अद्भुत सूई के निर्माण की कथा आती है जो क्रमशः ७ फोफियों के भीतर सुरक्षित रक्खी गई थी और जिसकी विशेषता यह थी कि वह पानी से भरे घड़े के नीचे रखी जाने पर, उसे छेड़कर भीतर वाले जल में सीधी पहुँच जाती और उसकी सतह तक जा कर वैसे ही खड़ी रहा करती।[3]

जातकों वाले युग के भारतीय समाज में पारस्परिक मैत्री भाव को भी विशेष महत्व प्रदान किया जाता था। यह सम्बन्ध एक समान वय, कुल, रूप, सौन्दर्य अथवा धन ऐश्वर्यादि पर आश्रित न रह कर उच्चशील जैसे गुणों की अपेक्षा करता था। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक मित्र दूसरे के अवसर पर किसी न किसी प्रकार काम आ जाए। 'गुण जातक' से तो यहाँ तक पता चलता है कि एक बलवान् सिंह के निर्बल मित्र सियार ने, समय पड़ने पर उसे दलदल से बाहर निकाल दिया।[४] परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कभी किसी ना समझ में भी विश्वास कर लिया जाए, क्योंकि इन्द्र समान 'गोत जातक' वाले हाथी ने बड़े होकर अपने रक्षक को ही मार डाला।[५] 'विधुर पंडित जातक' में तो विधुर द्वारा इस प्रकार कहलाया गया है कि मनुष्य को किसी के यहाँ केवल एक रात भी आश्रय पाकर उसे मित्रवत् मान लेना चाहिए और उसके प्रति किसी भी प्रकार अहित-चिंतन करना महान् अपराध है।[६] इस प्रकार की मैत्री एवं सामाजिक एकता के भाव को अक्षुण्ण बनाए रखने के उद्देश्य से उस काल के लोग प्रायः मनोरंजनों एवं महोत्सवों की व्यवस्था किया करते थे। इनके द्वारा वे, समय-समय पर कहीं एक स्थल पर, एकत्रित होते और सामूहिक उल्लास द्वारा पारस्परिक सद्भावना की पुष्टि करते। ऐसे लोकोत्सवों में से ''सुरानक्खत'' की चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। जिस दिन पहले पहल, किसानों के खेतों की जोताई आरंभ की जाती थी, उस दिन वे लोग एकत्रित होकर ''वप्प मंगल दिवस'' मनाते थे। इसी प्रकार आश्विन की पूर्णिमा के दिन ''चातुर्मासिक कौमुदिनी दिवस' भी मनाया जाता था। जिसका रूप अंत में राजकीय महोत्सवों का हो गया। एक ऐसा ही अन्य महोत्सव 'हत्थि मंगल' नाम का भी था जो प्रति वर्ष राजप्रसादों के प्रांगण में मनाया जाता था और जिसमें सजेसजाए हाथियों की पंक्ति खड़ी कीजाती थी।[७]

उन दिनों के भारतीय समाज में दास प्रथा का भी प्रचार था और वे (दास) यातो 'क्रीत' होते थे अथवा गृह में ही उत्पन्न रहा करते थे। ऐसे दासों का युद्ध-क्षेत्रों से पकड़ कर आना जातकों द्वारा सूचित नहीं होता।[८] ये डाकुओं द्वारा लूटे गए माल के रूप में आ जाते थे। 'चुल्ल नारद जातक' से पता चलता है कि उस समय सीमान्त के डाकुओं ने जनपद में आकर गाँव को लूटा और लोगों को दास बनाया। 'उगर जातक' से यह भी पता चल जाता है कि एक ब्राह्मण के घर में प्रायः ६ सदस्यों का परिवार रहा करता था जिसमें एक दासी भी रहती थी।[१०] इन दासों वा दासियों की स्थिति अधिकतर कष्टमयी ही बनी रहती थी, यद्यपि कभी-कभी हमें उनके साथ अच्छे व्यवहार का भी पता चल जाता है। उदाहरण के लिए 'नानच्छन्द जातक' में आता है कि घर के मालिक पुरोहित ने अपनी दासी पुण्णा से भी परामर्श किया था।[११] इसके सिवाय 'कटाहक जातक' में जो कथा आती है, उसके अनुसार किसी सेठ की दासी के गर्भ से उत्पन्न दास का पुत्र उसके लड़के, अर्थात् सेठ-पुत्र की ही भाँति, लिख-पढ़ कर चतुर एवं भाषाविद् बन जाता है और एक अन्य [illegible] सेठ की पुत्री के साथ छलपूर्वक विवाह भी कर लेता है।[१२] लगभग इसी प्रकार की बातें 'कलण्डुक जातक' में भी दीख पड़ती हैं और यहाँ पर एक तोता द्वारा उसे

---

१ वही सं० १८१। २ जातक सं० ५२२ सरभंग जातक)। ३ वही, सं० ३८७। ४ वही, सं० १५७। ५ वही, सं० १६१। ६ वही, सं. ५४५। ७ मन्मथराय हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव (साहित्य भवन लि०, सन् १९५३ ई०) पृ० २४-८। ८ Richard Fick : Social organisation etc. P. 307-9। ९ जातक सं० ४७७। १० वही, सं० ३५४। ११ वही, सं० २८६। १२ वही, सं० १२५।

कुछ चेतावनी भी मिलती है।[1] 'गगमाल जातक' से तो यहाँ तक पता चलता है कि एक राजा ने किसी भिस्ती मज़दूर को उस पर प्रसन्न होकर अपना आधा राज्य दिया। परन्तु इस भिस्ती को फिर अपने धन से विरक्ति भी आ गई। अन्त में अपने 'आधा मासा' वाले धन पर ही संतोष कर लिया।[2]

जातकों से यह भी पता चलता है कि उनके रचना काल के समय, भारतीय समाज में विरक्त लोगों की भी कमी नहीं थी। 'युवंज्जय जातक' में एक प्रसंग आता है जिसके अनुसार कोई राजकुमार प्रातःकाल की ओस-बिन्दुओं को पत्तों तथा मकड़ी के जालों पर देख कर उनकी क्षणिक अवस्था द्वारा प्रभावित हो जाता है और अपने माता पिता के रोकने पर भी ध्यान न देकर प्रवज्या ग्रहण कर लेता है।[3] इसी प्रकार 'चुल्ल सुत सोमजातक' वाला एक राजा भी जब वह नई द्वारा अपने सिर से उखाड़े गए किसी सफ़ेद बाल को देखता है तो वृद्धावस्था को निकट आई जान कर, प्रवज्या के लिए प्रवृत्त हो जाता है। अपने पिता, सात वर्ष के बालक अथवा गर्भिणी पत्नी की भी एक नहीं सुनता।[4] यह बात केवल राजाओं में ही नहीं देखी जाती, प्रत्युत पुरोहित, उसका लड़का अथवा कभी कभी उसका सारा परिवार तक इस प्रकार की विरक्ति अपनाया करता है। एक सेठ, कुमार अथवा चांडाल तक में भी यह प्रवृत्ति लगभग एक प्रकार की ही दीख पड़ती है।[5] 'गरहित जातक' में आई हुई कथा से विदित होता है कि एक बार एक बन्दर ने जो मनुष्यों के सभ्य समाज में कुछ दिनों तक रह चुका था अपने साथियों में लौट कर जब अपने अनुभवों की राम कहानी सुनाई तो उन्हें मानवों के सांसारिक जीवन की ओर से घृणा हो गई। उन्होंने अपने-अपने कानों को बन्द करते हुए अपने उस स्थान तक का परित्याग कर दिया जहाँ पर वैसी निन्दनीय बातें सुनी गई थी।[6] प्रवज्या ग्रहण कर चुकने वाले व्यक्ति यद्यपि वे समाज से अलग रहते थे किन्तु भिक्षाटन अथवा उपदेश-दान के व्याज से कुछ समय के लिए, उसमें आ भी जाया करते थे। इस प्रकार, उनके आदर्शों द्वारा प्रायः सर्वसाधारण तक प्रभावित होते रहते थे।

जातकों की कथाओं में हमें बहुत से अंश पौराणिक अथवा काल्पनिक वार्ताओं जैसे लगते हैं। इनमें कई ऐसे भी हैं जिनमें विभिन्न मानवेतर प्राणियों द्वारा मनुष्यवत् व्यवहार किया जाना दिखलाया गया है। इसके सिवाय इनकी अनेक कहानियों में हमें उपदेशों का पुट देकर, किसी न किसी साम्प्रदायिक भावना का प्रचार किया गया भी प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि वहाँ, एक साधारण से प्रसंग के व्याज से मानव समाज के ऊपर व्यंग्यात्मक छींटे कसे गए हैं। परन्तु इन सभी बातों के होते हुए भी वे सामाजिक प्रसंग जो इन कथाओं के माध्यम का काम करते हैं और जिनका मूलाधार इनके निर्माण की पृष्ठभूमि सा बना लक्षित होता है, उनका निःसंदेह अपना एक पृथक् महत्व है। इस विचार से हमें इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की कमी भी नहीं जान पड़ती, अपितु इन्हीं के द्वारा, हमें प्राचीन कालीन जीवन की एक सुन्दर झांकी भी मिल जाती है। जर्मन लेखक फिख का तो यहाँ तक कहना है कि "प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन का जो भी विवरण कभी भविष्य में प्रस्तुत किया जाएगा उसे इन जातकों की कथाओं पर किसी न किसी प्रकार अवश्य आश्रित रहना पड़ेगा। इस कारण उसके अनुसार, "इनके विषय में यह कथन भी यथार्थ ही है कि जातक-साहित्य, भारतीय पुरातत्व के सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत अर्थात् इन दोनों प्रकार के ही प्रसंगों के लिए एक विशाल कोश का भी काम देने में समर्थ है।[7]

बलिया,
उत्तर प्रदेश

—परशुराम चतुर्वेदी

---

[1] वही, सं० १२७। [2] वही, सं० ४२१। [3] जातक सं० ४६०। [4] वही, सं० ५२५। [5] Richard Fick : Social organisation etc. P. 728। [6] जातक, सं० २१९। [7] Richard Fick : Social organisation etc. P. Viii (Author's Preface)

समकालीन हिन्दी कविता में व्यंग्य-विद्रूप

हिन्दी में व्यंग्य को परिहास से विलगाकर देखने की प्रथा अब तक पूर्णतः प्रसार लाभ नहीं कर पाई है; किन्तु ज्यों-ज्यों पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से हमारा परिचय घनिष्ठतर होता जा रहा है, हम इस तथ्य का औचित्य स्वीकार करने लगे हैं कि आंशिक साम्य होने पर भी दोनों के क्षेत्र और सीमाएँ भिन्न हैं। दोनों का अन्तर सूक्ष्म होते हुए भी अस्पष्ट नहीं है, क्योंकि व्यंग्य परिहास की तरह कभी प्रयोजनहीन नहीं होता—इसकी 'शुद्धता' सदैव संदिग्ध रहती है। सोद्देश्यता व्यंग्य कविता की प्राण है। रोमीय साहित्य में यूनानी साहित्य सिद्धान्तों के पुनः प्रतिष्ठापन का कार्य विलक्षण रूप में सम्पन्न करने वाले ख्यातनामा समालोचक हारेस ने सर्व प्रथम व्यंग्य-काव्य पर विचार किया और इसकी सीमा रेखा निर्धारित की। उन्होंने व्यष्टिगत और समष्टिगत त्रुटियों का परिमार्जन व्यंग्य-रचना का मुख्य लक्ष्य बतलाया। इसकी उपयोगिता उन्होंने इसलिए स्वीकार की है कि इसके द्वारा सुगमतापूर्वक दोषों का दूरीकरण हो सकता है; तर्क और विवाद जिस पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते, व्यंग्यास्त्र का प्रहार उस पर अमोघ सिद्ध होता है; कि इसके माध्यम से बात संक्षिप्त और सांकेतिक ढंग से कही जा सकती है—जो सीधे अपने लक्ष्य स्थल पर जा पहुँचे। किन्तु, इसमें थोड़ी सावधानी बरतने की भी आवश्यकता है। व्यंग्य रचना इतनी तीव्र और उग्र न हो कि मनुष्य की आत्मा को आहत कर दे और उसमें प्रतिशोध की भावना जागृत होने का अवसर पा जाए। दूसरी बात यह कि "व्यंग्य-लेखक की चित्तवृत्ति समयानुसार बदलती रहनी चाहिए—कभी तीव्र, कभी शान्त, कभी तीक्ष्ण, कभी सहज। श्रेष्ठ व्यंग्य-लेखक वही हो सकेगा जो काव्य, भाषण-शास्त्र तथा व्यंग्य के श्रेष्ठ गुणों को प्रयुक्त करता जाएगा। औचित्य पालन उसका उद्देश्य होना चाहिए।"[1]

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार व्यंग्यकारों में मौलिक और क्रांतिदर्शी प्रतिभा प्रचुर परिणाम में विद्यमान होती है। जन्म से ही ये आर्थिक संघर्षों से निरन्तर जूझते रहते हैं और समाज में उचित प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होने के कारण ये उसकी रूढ़ि, रीति-नीतियों को, उसके वैषम्य और कृत्रिमता को, उसकी गतानुगतिकता और आडम्बर प्रियता को न केवल यथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं, अपितु निष्ठुरता पूर्वक उन पर कशाघात भी करते हैं और इस प्रकार इन्हें अद्भुत आत्मतोष की उपलब्धि होती है। इन सारी बातों के मूल में इनके दैन्यदग्ध जीवन का भारी हाथ है।

इस मत से कुछ लोगों का विरोध भी हो सकता है और वह इसलिए कि आत्महीनता की भावना व्यंग्य-रचना की प्रधान अन्तर्वृत्ति के रूप में मान ली गई है। ऐसा होना सब कहीं आवश्यक नहीं है। ऐसे कई रचनाकारों के उदाहरण हमें मिलते हैं, जिन्होंने अभिजात कुल में प्रादुर्भूत होने पर भी समाज की मर्मवेदना से आहत होकर व्यंग्य-रचना का आश्रय ग्रहण किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सम्पत्ति शाली परिवार में जन्म ग्रहण किया था. किन्तु देश की दयनीय परिस्थिति से दुःखी थे और इसके लिए उत्तरदायी शासकों के प्रति उन्होंने "चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हज़म कर जाता"—जैसी व्यंग्यमयी रचनाओं की सृष्टि की। हाँ, यह बात दूसरी है कि परिमाण में वे ही लोग अधिक हैं जिन्होंने सतत अभावों, अभियोगों से जूझते रहने पर व्यंग्य कविताएँ लिखीं और अधिक मर्मच्छेदी रचनाएँ उन्हीं की हैं।

व्यंग्य का समावेश पाश्चात्य साहित्य में, विशेषतया अँग्रेजी साहित्य में, हम आरम्भ से ही पाते हैं। हमारे यहाँ हिन्दी में व्यंग्य रचना आधुनिक काल की देन है, प्राचीनों में कबीर को हम अपवाद मान लें। "रामचरितमानस" में नारदमोह का संदर्भ, राम के बना

---

[1] आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त (पृ. ९८)—डॉ० एस. पी. खत्री।

१६५६

गमन का समाचार सुनकर आश्रमवासियों का 'हैहैं सिला सब चन्द्रमुखी' आदि सोचना, सूर के कतिपय पद, बिहारी के अनेकानेक दोहे परिहास के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं। आगे चलकर कुछ कवियों ने धनिकों की कृपणता का को आलम्बन मान कर जो कविताएँ लिखीं, उनमें भी व्यंग्य काव्य के तत्वों की शोचनीय अभाव है। यहाँ तक कि परिहास का भी मंजा और निखरा हुआ रूप सामने नहीं आ पाया है। शुद्ध व्यंग्यलेखन की परम्परा का विकास भारतेन्दु-युग में होना शुरू हुआ। भारतेन्दु समाजिक विरूपता के प्रति खड्गहस्त थे। माँग कर खाने और मसजिद में सोने की नीति भारतेन्दु की निर्मम आलोचना का विषय बनी। 'व्यंग्यवीणा के धनी' और 'रूढ़ि राक्षसी मिसूदन' भारतेन्दु ने उन दार्शनिक मान्यताओं को अपने प्रहार का लक्ष्य बनाया जो उसमें पराधीनता और पिछड़ेपन से तुष्टिलाभ करने की भावना पनपाती थीं और यों "उन्होंने निराला (और प्रेमचन्द) जैसे व्यंग्य लेखकों के लिए ज़मीन तैयार की और हमें पुरानी धारणाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से परखना सिखाया।"[१] उनके अतिरिक्त उस युग में बालमुकुन्द गुप्त प्रतापनारायण मिश्र आदि व्यंग्यलेखन की ओर आकृष्ट और प्रेरित हुए।

व्यंग्य रचना के क्षेत्र में निराला का आगमन हिन्दी के लिए वरदानवत् है। उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और शब्द-शिल्प का उपयोग पूरी निपुणता से किया है। समाजवादी वर्ग भावना से पूरी एकात्मता नहीं स्थापित करने पर भी निराला आरम्भ से ही स्वच्छन्दताप्रेमी और रूढ़िविद्रोही रहे हैं। छन्द और उपमान सम्बन्धी उनकी क्रान्ति तो उल्लेखनीय है ही, उस यथार्थवाद की अवतारणा का श्रेय भी उन्हें ही देना चाहिए जिसने हिन्दी कविता धारा को जन-जीवन के सामान्य और उपेक्षित पक्षों से सम्पृक्त किया। उनकी सामाजिक चेतना जिन रचनाओं में मुखर हो उठी है, उनमें प्रायः सर्वत्र व्यंग्य का स्वर ही प्रधान है। '४० में उन्होंने कुकुरमुत्ता (प्रकाशन काल '४२) लिखा, जिसमें "कुकुरमुत्ता" निम्न वर्ग का प्रतीक है और गुलाब उच्च वर्ग (पूँजीपति) का। इस प्रकार उन्होंने दलित मानवता के पक्षधर की भूमिका धारण की और प्रतिपक्षियों के लिए व्यंग्य को ही सर्वोत्तम शास्त्र के रूप में स्वीकार किया। इसके पहले वह 'वनबेला' और 'सरोज स्मृति'[२] शीर्षक कविताओं में राष्ट्रीय कवि और सम्पादकों को काफ़ी कटु-कषाय बातें सुना चुके थे, किन्तु उनकी व्यंग्यधर्मी प्रतिभा का वास्तविक प्रस्फुटन सर्वप्रथम "कुकुरमुत्ता" में ही हुआ, जो निराला की व्यंग्य रचना की ही नहीं, प्रत्युत हिन्दी व्यंग्य रचना की एक कोण शिला है। फिर 'बेला' और 'नए पत्ते' में उन्होंने हमें सहेतुक अर्थसत्तावाली व्यंग्य कविताएँ दीं। 'रानी और कानी', 'खजोहरो' 'गर्म पकौड़ी' 'खुश खबरी', 'प्रेम संगीत', 'महँगू महँगा रहा', 'झींगुर डर कर बोला' 'छलांग मारता चला गया' आदि रचनाओं में बहुत ही सूक्ष्म किन्तु तिलमिला देनेवाला व्यंग्य है। कुछ समीक्षकों को इनमें यथार्थ का नग्नरूप मिलता है[3] किन्तु सचाई इसके विपरीत है। इनमें व्यंग्य का बहुत ही संयत और सुधरा हुआ रूप (जितना एक व्यंग्यरचना के लिए सम्भव है) मिलता है। थोड़ी बहुत छीछालेदर तो इस प्रकार की रचनाओं में होगी ही, चिकोटी काटी ही जाएगी, मुँह चिढ़ाया ही जाएगा यह सब तो व्यंग्य का आवश्यक गुण है। इसी कारण यदि किसी व्यंग्य रचना को 'विकृत' और 'नग्न' कहा जाए तो यह दृष्टिकोण की अनर्गलता का ही पर्याय होगा। मैं 'मास्को डायलाग्ज़' को निराला की संयमित किन्तु पैनी व्यंग्य दृष्टि के उदाहरण के रूप में रखना चाहूँगा :

> "मेरे नए मित्र हैं श्रीयुत गिडवानी जी
> बहुत बड़े सोशलिस्ट
> मास्को डायलाग्ज़ लेकर आए हैं मिलने
> बोले, यह देखिए मास्को डायलाग्ज़ हैं,
> श्री सुभाषचन्द्र ने जेल में मँगाई थी
> भेंट की मुझको जब थे पहाड़ पर
> '३५ तक मुश्किल से पिछड़े इस देश में
> दो प्रतियाँ आई थीं"

---

[१] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (पृष्ठ ६७)—डॉ० रामविलास शर्मा। [२] ये दोनों कविताएँ 'अनामिका' में संग्रहीन हैं।—लेखक

[४] गिरिजाकुमार माथुर (नई कविता का भविष्य) 'आलोचना' अंक १२।

फिर बोले—"वक्त नहीं मिलता
बड़े भाई साहब का बँगला बन रहा है
देखभाल करता हूँ।"
फिर कहा—"मेरे समाज में बड़े-बड़े आदमी हैं
एक से हैं एक मूर्ख
फाँसना है मुझे उन्हें
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का
उपन्यास लिखा है
ज़रा देख लीजिए
अगर कहीं छप जाए
तो प्रभाव पड़ जाए उल्लू के पट्ठों पर
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से
आप भी वहीं चलें, चैन की वंशी बजे"
देखा उपन्यास मैंने
श्रीगणेश में मिला—
'प्रिय स्नेहमयी श्यामा मुझे प्रेम है'
उसे फिर रख दिया
देखा मास्को डायलाग्ज़
देखा गिडवानी को"

निराला के व्यंग्य गीत मान्यताओं के प्रति तल्ख दवा और नश्तर का काम करते हैं—चोट करने की प्रवृत्ति उनमें सर्वत्र समभाव से परिलक्षित होती हैं। लेकिन, औचित्य का उल्लंघन सम्भवतः कहीं हुआ ही नहीं है।

व्यंग्य के दर्शन पन्त की 'ग्राम्या' में भी हो जाते हैं, किन्तु मुख्य रूप में नहीं। चोट धरने की जितनी सामर्थ्य और शक्तिमत्ता निराला में है, उसका यहाँ अभाव है। यहाँ व्यंग्य का 'पुट' मात्र है। ग्राम देवता की भर्त्सना, ग्राम-वधू के कृत्रिम रुदन के उपहास आदि के प्रसंग में पन्त की व्यंग्य दृष्टि का चमत्कार दर्शनीय है, किन्तु निराला की-सी प्रखरता कहीं नहीं है। असलियत यह है कि निराला के बाद काफ़ी दिनों तक किसी ने व्यंग्य-रचना की ओर पूरा ध्यान ही नहीं दिया। छिटपुट प्रयत्न तो अवश्य हुए, किन्तु प्रगति का कोई विशेष लक्षण नहीं दीख पड़ा। अज्ञेय की 'जयतु हे कंटक चिरन्तन', दिनकर की 'कवि का मित्र', अचल की 'हवेली', 'चल-चित्र' आदि कविताओं में व्यंग्य के तत्त्वों का सन्निवेश यथेष्ट रूप में हुआ है, किन्तु ये [illegible] रचनाएँ हिन्दी व्यंग्य कविता के विकास में कितना योग दे पातीं ?

प्रसन्नता का विषय तो यह है कि कुछ ही समय बाद एक ऐसी कवि-पीढ़ी सामने आई जिसने जी खोल कर व्यंग्य को अपनाया और गुण एवं परिमाण दोनों दृष्टियों से व्यंग्य कविता की ऐश्वर्य वृद्धि में योगदान दिया। इस पीढ़ी के कवियों में नागार्जुन, जानकीवल्लभ शास्त्री, भवानीप्रसाद मिश्र, प्रभाकर माचवे, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, रामविलास शर्मा, शंकर-शैलेन्द्र, भारत भूषण अग्रवाल आदि प्रमुख हैं। ये वे कवि हैं जिन्होंने कबीर, भारतेन्दु और निराला की परम्परा को अपनाया ही नहीं, उसे आगे भी बढ़ाया।

नागार्जुन की व्यंग्य-रचना में कबीर की तल्खी, भारतेन्दु की करुणा और निराला की विनोद-वक्रता का विलक्षण सामञ्जस्य है। अन्य व्यंग्यकारों से नागार्जुन की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ और लोग सोच विचार कर किसी रचना को व्यंग्य-बहुल बनाते हैं, वहाँ नागार्जुन में व्यंग्य एक जन्मजात संस्कार के रूप में है, अथवा यों कहें कि चुभोना इनका स्वभाव-सा है, कि वह रोज़मर्रा का बन गया है इनके लिए। यही कारण है कि हिन्दी में जितना व्यंग्य नागार्जुन ने लिखा उतना किसी ने नहीं, स्वयं निराला नहीं लिख पाए।

इनकी व्यंग्य-रचना पर आलोचकों की अनुकूल-प्रतिकूल सम्मतियाँ बराबर आती रही हैं। डा० नागेन्द्र इनकी ऐसी कविताओं को अन्तर्बाह्य भदेसपन दिखलाने के लिए उद्धृत करते हैं; डा० रामविलास शर्मा के अनुसार भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त ने हमारे साहित्य में जो व्यंग्य और ज़िन्दादिली पैदा की नागार्जुन उसका समर्थ प्रतिनिधि है; डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त की राय में ये रचनाएँ ऊबड़-खाबड़ तो हैं, लेकिन चट्टान की भाँति मज़बूती भी रखती हैं; श्री नामवर सिंह कहते हैं कि हिन्दी में व्यंग्य या तो निराला ने लिखा है या नागार्जुन (और केदार) ने; डा० रांगेय राघव के शब्दों में उनकी विचारधारा की परम्परा में अनर्गलता, चुटकुलेबाज़ी और वाहवाही लूटने की प्रथा पड़ गई है; अमृतराय व्यंग्य को ही उनकी कविता का खास रंग मानते हैं; विश्वम्भर 'मानव' की दृष्टि में व्यंग्य में नागार्जुन बेजोड़ हैं; और रामदरस मिश्र के अनुसार ये

कविताएँ क्षिप्र और हथौड़ी-सी चोट करने वाली हैं। इतने सारे आलोचकों के मन्तव्य का हवाला देने का एकमात्र तात्पर्य यही है कि नागार्जुन ने जितनी व्यंग्य कविताएँ लिखीं सभी एक-सी उत्कृष्ट नहीं है, उनमें कुछ घटिया क़िस्म की भी हैं। नेताओं के नाम ले लेकर उन्हें गालियाँ देने का गर्हित कार्य निश्चय ही नागार्जुन जैसे सधे हुए व्यंग्य-लेखक की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। यही कारण है कि ऐसी कुछ रचनाएँ व्यंग्य की मर्यादा में समा सकने के कारण कटूक्ति अथवा तिक्तोक्ति की अभिधा की अधिकारिणी हो गई हैं :

"आज़ादी की कलियाँ फूटीं,
पाँच साल में होंगे फूल
पाँच साल में फल निकलेंगे,
रहे पन्तजी झूला झूल
पाँच कम खाओ भैया,
ग़म खाओ दस-पन्द्रह साल
अपने ही हाथों तुम झोंको,
यों अपनी आँखों में धूल"

अथवा

"बेच-बेच कर गाँधी जी का नाम
बटोरो वोट
हिलाओ शीश
निपोड़ो खीस
बैंक बैलेंस बढ़ाओ
राज घाट में बापू की वेदी के आगे अश्रु बहाओ
तैसे घी के चह बच्चों में अमृत की हौदी में,
बाबू, खूब नहाओ
हमें छोड़ दो राम भरोसे
जिएँ तो भले
मरें तो भले
क्या बिगड़ेगा अजी, तुम्हारा

यह ठीक है कि ऐसी रचनाओं के मूल में देश की विषम और संकटबहुल स्थिति से उत्पन्न अन्तर्वेदना है कांग्रेसी कठओड़े की अक्षमता पर गहरे हाथ हैं, किन्तु यहाँ भी कवि अपेक्षित संयम का निर्वाह कर पाता तो वह आश्चर्यजनक रूप में सफल दीखता। ऐसा जहाँ कहीं वह कर पाया है, उसकी दृष्टि का पैनापन इसमें विस्मय में डाल गया है :

"कोटरगत नेत्र, धँसे हुए गाल
उदयशंकर-कट के कुन्तलीन बाल
गमन मराल का, चितवन चकोर की
कुहासा-सी भाषा, न साँझ की न भोर की
कलित कलकण्ठ, विकल वेदनामय गाना
पौरुष नदारद, स्त्रैण सवा सोलह आना
पहचाना फिर भी नहीं ?
देखा है ज़रूर कहीं ?
कौन हैं आप ?
शिव, शिव ! हरे, हरे !!
और कौन होगा अरे
मृदु-मसृण विधुवदनी छवि है
ढलते दिनमान का छायावादी कवि है"

और,

"ख़ून पसीना किया बाप ने एक, जुटाई फीस
आँख निकल आई पढ़-पढ़ के नम्बर आए तीस
शिक्षा मंत्री ने सिनेट में कहा : अजी, शाबास !
सोना हो जाता हराम यदि ज़्यादा होते पास
फ़ेल पूत का पिता दुखी है, सिर धुनती है माता
जनगणमन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता !"

व्यंग्य-रचना के लिए नागार्जुन ने विविध शैलियाँ अपनाई हैं। 'चना ज़ोर गरम' के लटके की शैली से लेकर मुक्तवृत्त के आधुनिकतम रूप को इन्होंने व्यंग्य-रचना का माध्यम बनाया। इनमें नाटकीय शैली बेहद सराही जा चुकी है। 'सौदा', 'प्रेत का बयान', 'मास्टर', 'अमलेन्दु एम. एल. ए.', 'अनुदान' आदि इसी शैली की रचनाएँ हैं, जिन्होंने व्यंग्य-रचना के क्षेत्र में नवीन प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं। जनता की ओर से निश्चित अधिकारियों और कल्चर-वर्णी बाबू-वर्ग के प्रति इन्होंने जिन कविताओं में तिलमिलाहट ज़ाहिर की है, उनकी टेकनीक का नयापन भी मन को हर लेता है। अफ़सरों बाह्याडम्बर और उनकी हास्यास्पद भावभंगिमा का यह चित्र कितना सजीव हो उठा है :

"बड़ी-बड़ी तनखाहें पाने वाले विदुरों की मत पूछो
मुद्रित मुख नतनयन कुर्सियों पर बैठे हैं
अपना ली है संध्या भाषा"

भारतेन्दु की तरह नागार्जुन ने भी मुकरियाँ लिखी हैं और इनके द्वारा पूँजीवादियों की शोषण-प्रवृत्ति और प्रतिक्रियावाद के जघन्यतम पहलुओं पर छींटाकशी की है। भाषा का पुरानापन, शब्दों की रूप विकृति आदि कुछ कमज़ोरियों के बावजूद भी ये मुकरियाँ अपने उद्देश्य में कृतकार्य हो सकी हैं। बेतकल्लुफ़ी, फक्कड़पन और निर्भीकता—इन तीनों ने मिल कर कवि की व्यंग्य-दृष्टि को अधिकाधिक विस्तार दिया है, इन मुकरियों का पारायण करने से ऐसा ही भासता है।

व्यंग्य-रचना की समृद्धि में जानकी वल्लभ शास्त्री का अवदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। नागार्जुन के व्यंग्य-काव्य पर लिखते समय उनकी कुछ कविताओं के जिस रूप विधान सम्बन्धी अनगढ़पन की ओर इंगित किया गया है, शास्त्री जी उससे प्रायः मुक्त हैं। इनकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता व्यंग्य की असाधारण सूक्ष्मता है। व्यंजना का चमत्कार यों तो उनके समग्र काव्य-साहित्य पर छाया हुआ है, किन्तु व्यंग्य कविताओं में उसकी चरम परिणति देखते ही बनती है। 'गाथा' का मूल स्वर व्यंग्य ही है—लेकिन कहीं भी असंयत और अमर्यादित नहीं। मानवीय दुर्बलताओं की ओर उसकी दृष्टि सदैव सहानुभूतिपूर्ण है। व्यंग्य के सम्बन्ध में Dryden की उक्ति 'The true end of satire is the aimendment of Vices by correction and he who writes honestly is no more an enemy to the offender than the physician when he prescribes harsh remedies to an invetrate disease' की पूर्ण चरितार्थता हम 'गाथा' में पाते हैं। 'गाथा' के बाद शास्त्री जी ने अनेक उत्तमोत्तम व्यंग्य कविताएँ लिखीं, जिनमें कुछ तो उनके 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवन्तिका' आदि संकलनों में जमा हैं और कुछ सामाजिक पत्रों में बिखरी पड़ी हैं :

"सोने का बाजार मन्द है लोहे का है तेज
पाठ यही इतना है बच्चा, उलट रहा क्या पेज
अगर काटनी है चाँदी तो ले सोने से लोहा
फिर क्या तुलसी की चौपाई क्या रहीम का दोहा"

शास्त्री के सम्बन्ध में लिखते हुए आलोचकों आदि की दृष्टि बहुधा उनके गीतों की ओर ही रहती है, उनके व्यंग्य काव्य को अनदेखा कर देते हैं; जिससे उनकी काव्य प्रतिभा अपनी पूर्णता के साथ हमारे समक्ष प्रकट होने से रह जाती है। बुज़ुर्गों को तो कोई परामर्श नहीं दिया जा सकता है, हमारी नई पीढ़ी के आलोचकों को इस ओर सजग और सचेष्ट रहना है। किसी कवि को सम्पूर्णतः पढ़े बिना हम उसके साथ कदापि न्याय नहीं कर पाएँगे।

भवानी प्रसाद मिश्र ने कई तगड़ी व्यंग्य कविताएँ लिखी हैं, जिनमें 'गीत फ़रोश' ने अतिशय कीर्ति अर्जित की है। आधुनिक पाठकों की विकृत तथा असंस्कृत रुचि और कविता के मूल्यगत संक्रमण की ओर इस कविता में बड़े ही व्यंग्यात्मक लहजे में प्रभावपूर्ण संकेत है :

"जी, छन्द और बे-छन्द पसन्द करें
जी, अमर गीत औ' वे जो तुरत मरें
इनमें से भाएँ नहीं नए लिख दूँ
जी, नए चाहिए नहीं गए लिख दूँ
जी, गीत जन्म का लिखूँ, मरण का लिखूँ
जी, गीत जीत का लिखूँ शरण का लिखूँ
कुछ और डिज़ाइन भी हैं ये इल्मी
ये लीजे चलती चीज़ नई फ़िल्मी"

इस 'मोनोलौग' में आज का गद्य युग व्यंग्य और विच्छित्ति का आलम्बन बन गया है। इसी प्रकार मिश्र जी ने अपनी अन्य व्यंग्य कविताओं में हमारे जीवन की रूढ़ि जर्जरता और बनावटीपन की चुटकी ली है और अपने अन्दर एक परम जागरूक व्यंग्यकार के विद्यमान होने का प्रमाण प्रस्तुत किया। उनकी ऐसी रचनाओं की संख्या यद्यपि अधिक नहीं है, तथापि ये कुछ ही रचनाएँ ऐसी बन पड़ी हैं, जिनकी उपेक्षा किसी भी भाँति सम्भव नहीं।

प्रभाकर माचवे नागार्जुन के समान ही मुख्यतः एक व्यंग्य कवि हैं। कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, कई कई दिशाओं में अपनी प्रतिभा को सैर कराते रहने के कारण यद्यपि माचवे अपने कवि-कर्म के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाते, तथापि यह मानना होगा कि उनमें व्यंग्य करने का अद्भुत कौशल है। जब किसी आर्ष वाक्य को उद्धृत कर उसी के आधार पर किसी व्यंग्य कविता की सृष्टि करते हैं और उद्धरण की सार्थकता का निर्वाह अन्त तक करते चलते हैं तो उनकी

सफलता पर दंग रह जाना पड़ता है 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः' गीता की इस पंक्ति को लेकर पुराणपन्थी भारतीय संस्कृति को कछुआ मानते हुए माचवे ने उस पर जैसा तीखा और चुटीला व्यंग्य किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है :

"जो हो, मुझे दीखते हो तुम
मानो भारत संस्कृति के प्रतीक
जिसे ज़रा सी छुए न छुए
नए ज्ञान की सूक्ष्म सी लहर
कि वह सिहर
बन जावेगी सिमट सुमट कर
गड़ी-मुड़ी-सी
अविचल सिर्फ़ गाँठ ही गाँठ
नकारात्मक दिखला देगी
करी, चिकनी निपट पीठ ही पीठ"

इधर आकर माचवे ने बहुत सारे सानेट लिखे हैं जिनमें बम्बई की प्रसिद्ध वेश्यागली फोरास रोड, रेडियो कवि सम्मेलन, क्रासवर्ड भरने की ओर शिक्षित समुदाय की प्रवृत्ति आदि विषयों पर बड़ा तीखा व्यंग्य किया है। यहीं त्रिलोचन की भी चर्चा वांछनीय है। उन्होंने ने भी कई व्यंग्य गर्भित सानेट लिखे हैं, जिनमें नागार्जुन और माचवे की तल्खी न होने पर भी एक अनूठा सुधरापन है। आत्मलघुता की भावना से आक्रान्त कवि की मनोदशा का यथार्थ और हू-ब-हू चित्र एक सॉनेट में पिरो कर त्रिलोचन ने "आजकल" के कविता अंक (१९५३) में छपाया था, जिसकी पर्याप्त सराहना हुई। इसी प्रकार उनके कई सॉनेटों में व्यंग्य भरे सुर गुंजित हैं।

केदार, रामविलास, शंकर शैलेन्द्र और भारत भूषण—इन चारों कवियों ने भी सामाजिक दुर्दशा से उत्पन्न अपनी आक्रोशजनित प्रतिक्रिया को व्यंग्य रचनाओं में ही मूर्त किया। इन कवियों ने पुरानी धारणाओं, जीर्ण परम्पराओं और वर्तमान शासन व्यवस्था को जिस आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, उसमें पर्याप्त वक्रता थी। केदार 'हंस' के कई अंकों में 'केदार के बोल' शीर्षक के अन्तर्गत सरकार की निष्क्रियता को आड़े हाथों लेते रहे और जनता की ओर से उसकी लापरवाही की नुक्ताचीनी की। इस काल की उनकी रचनाओं कड़वाहट तो है ही, रूखापन भी आ गया है प्रभाकर माचवे ने केदार की ऐसी कविताओं की बढ़ती लोकप्रियता को देख कर 'भारतीय वाङ्मय' नामक अपने आलोचनात्मक ग्रन्थ में यह आशंका व्यक्त की थी, इन कविताओं का अनुकरण बढ़ने से हिन्दी कविता गद्य बन कर रह जाएगी। यह कथन युक्ति संगत अवश्य है लेकिन अब यह भी एक स्वीकृत तथ्य है कि व्यंग्य रचना के विकास का इतिवृत्त केदार के बिना अपूर्ण रहेगा।

'तार सप्तक' में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' तथा अन्यत्र प्रकाशित कुछ व्यंग्य कविताओं में हम डा० रामविलास शर्मा की वास्तविक नाम पाते हैं, किन्तु आगे चल कर वह ऐसी कविताओं के लिए अपने छद्म नामों (गोरा-बादल, अगिया बैलाल) का सहारा लेने लगे। एक अजीब अटपटी ज़बान में बिलकुल उखड़ा हुआ व्यंग्य 'अगिया बैलाल' और 'गोरा बादल' ने हमें दिया है जो बेधता तो है लेकिन शालीनता के चिन्ता ह्रास के कारण गम्भीर तथा परिष्कृत रुचि के पाठकों के लिए ग्राह्य नहीं हो पाता है :

"झूला झूलैं जवाहरलाल
ताली दै दै ताल मिलावैं साथी सरमाएदार
इनके पिया परदेस बसत हैं डालर भेजैं उधार"

शंकर शैलेन्द्र का व्यंग्य भी डा० शर्मा के व्यंग्यों की भांति घोर अभिधा मूलक हैं, जिनसे रसानुभूति की आशा करना आकाश कुसुमतुल्य है। हाँ, भारत भूषण अपेक्षाकृत प्राञ्जल व्यंग्य लिखते हैं, जिनमें एक अद्भुत Wit या 'संचोटता' के बीज मौजूद हैं। तीन ही पंक्तियों की इस कविता में व्यंग्य रचना के सारे मार्मिक गुण समाविष्ट हो गए हैं :

"ज़िन्दगी भर काव्य ही रचता रहा हूँ
जगत के कर्म से बचता रहा हूँ
बड़ा ही मूर्ख हूँ पछता रहा हूँ"

इस प्रकार इन कवियों (नागार्जुन से लेकर भारत-भूषण तक) ने व्यंग्य कविता को विविध रूप रंगों से मंडित किया। इतने कम समय में इतनी अधिक प्रगति आलोचकों को निवाक कर डालने वाली है। इधर फिर दिनकर की सद्यः प्रकाशित कविता पुस्तक 'नीम के पत्ते' और मेघराज 'इन्द्र' (अमृतलाल नागर का छद्म

नाम) की कुछ रचनाओं में व्यंग्य कविता का उत्कर्ष झाँकने लगा है।

कई नए कवि भी व्यंग्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए हैं। केशवचन्द्र वर्मा, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, गोपालकृष्ण कौल, सुदर्शन चक्र, रामदरस मिश्र, अनन्तकुमार पाषाण, नीरज और यह सूची और भी आगे बढ़ाई जा सकती है। इन कवियों की उपलब्धियों से अधिक सम्भावनाएँ हमें अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। व्यंग्य समग्र हिन्दी की अत्यन्त महत्वपूर्ण काव्य प्रवृत्ति के रूप में शीघ्र ही स्थान ग्रहण करने जा रहा है और उसके इस उन्नयन में इन कवियों की देन विशिष्ट भूमिका पूरी करेगी।

—हरिनारायण मिश्र

शोकहरा, पो. बरौनी,
मुँगेर (बिहार)

गौएँ और रेडियो

अभी कुछ दिन हुए। दुपहर का समय था। मेरी पड़ोसिन ने अपने रहने के कमरे की खिड़की इसलिए खोली कि वसन्त की ताज़ी और जीवनप्रद वायु का प्रवेश हो। मेरी पड़ोसिन ने अचानक अपनी खिड़की में से देखा कि गायों का झुंड का झुंड उसके घर के लॉन पर से जा रहा है।

वह घबरा गई और शीघ्र ही उस झुंड को घर से बाहर निकालने के लिए दरवाज़े के पास दौड़ कर गई और जो कुछ उसने देखा—उसे देखकर वह खड़ी रह गई। उसने देखा कि गौओं का समस्त झुंड उसके पास की खिड़की के नीचे रेडियो पर लगे हुए सीरियल से चुपचाप कान लगाए खड़ा है।

इस बीच में इन गायों का चरवाहा भागा हुआ आया और मेरी पड़ोसिन से क्षमा माँग कर गौओं को मकान से बाहर हाँकने लगा।

चरवाहे ने कहा: "बात यह है कि हमारे फ़ॉर्म में रेडियो पर आजकल यही प्रोग्राम चल रहा है। आपके घर में रेडियो पर वही प्रोग्राम सुनकर गौएँ संभवत: इसलिए खड़ी हो गई कि इस प्रोग्राम के किसी अंश को सुनने से वे रह न जाएँ।"

'रीडर्स डाइजेस्ट' श्रीमती डी. एन. मेकिन

दक्खिनी के अन्तिम बड़े कवि सिराज

सिराज दक्खिनी के अन्तिम कवि माने जाते हैं। दक्खिनी हिन्दी चौदहवीं शताब्दी में खिलजी और तुग़लक शासकों की सेवाओं और राज्य कर्मचारियों के साथ दिल्ली से दक्षिण में आई, उसने नई परिस्थितियों और नए वातावरण में एक अलग बोली का रूप धारण किया। दक्षिण के मुसलमान शासकों के आश्रय में वह बोली फूली-फली और करीब साढ़े चार सौ वर्षों तक उसमें साहित्य निर्माण की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही।

यद्यपि दक्षिण भारत के एक बड़े भाग में दक्खिनी अब भी कुछ लोगों के बोल-चाल की भाषा है किन्तु साहित्य के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में दक्खिनी का स्थान स्टैण्डर्ड उर्दू ग्रहण करने लगी। सिराज का स्थान इस दृष्टि से दक्खिनी साहित्य के इतिहास में और दक्षिण भारत में निर्मित होने वाले उर्दू साहित्य के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण है। वे दक्खिनी और आधुनिक उर्दू के बीच की कड़ी है।

सिराज सन् १७१५ में औरंगाबाद में पैदा हुए। इनका सम्बन्ध सादात के एक प्रसिद्ध परिवार से था, जो कई सौ वर्ष पहले मदीना से भारत वर्ष आया था और जो अपनी विद्वत्ता और बुजुर्गी के क़ारण पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका था। बचपन में सिराज की शिक्षा इनके पिता सैयद दरवेश की देखरेख में हुई। किन्तु बारह वर्ष की अवस्था के बाद इन्होंने पढ़ना लिखना छोड़ दिया और मस्ती एवं भावावेश की दशा में इधर उधर घूमने लगे। ये कभी एकान्त स्थानों और घने जंगलों में घूमते हुए दिखलाई पड़ते और कभी हज़रत बुरहानुद्दीन ग़रीब के मज़ार पर बैठे हुए। इनके पिता इन्हें पकड़ कर लाते किन्तु जब अवसर मिलता, ये फिर भाग निकलते। कई वर्षों तक सिराज की यही दशा रही। कुछ दिनों के बाद इन्होंने शाह अब्दुल रहमान चिश्ती से शिष्यता ग्रहण की और सन् १७५२ में शाह साहब की देहान्त हो जाने के बाद ये घर-बार छोड़ कर फकीरों का जीवन व्यतीत करने लगे।

सिराज शान्त प्रकृति के सरल व्यक्ति थे। संगीत और कव्वाली से इन्हें विशेष प्रेम था। सप्ताह में एक बार इनके यहाँ मजलिस जमा होती, जिसमें संगीतज्ञ अपना संगीत और कव्वाली, कव्वाल सुनाते।

सिराज की मृत्यु सन् १७६८ में, ५३ वर्ष की अवस्था में हुई।

सिराज में शेर और शायरी की ओर स्वाभाविक रुझान थी। इन्होंने 'मन्तखबे दीवान' की भूमिका में लिखा है कि जब ये अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में भावावेश में इधर उधर घूमते तो इनके मुँह से फ़ारसी के शेर निकल जाते। यदि उन शेरों को जमा किया गया होता तो उनकी संख्या कई हज़ार होती।

सिराज ने दक्खिनी में कविता लिखना उस समय प्रारम्भ किया जब ये शाह अब्दुल रहमान चिश्ती से शिष्य हो चुके थे। अब्दुल रसूल खाँ, जो सिराज के गुरु भाई थे, उन्होंने सिराज की दक्खिनी कविताओं को अकारादि क्रम से जमा किया। इस संग्रह में कविताओं की संख्या पाँच हज़ार है।

ऐसे तो सिराज की प्रतिभा बहुमुखी थी और ये विभिन्न शैलियों में कविता कर सकते थे किन्तु इन्हें गज़ल और मसनवी लिखने में विशेष सफलता मिली है। इनकी कविताओं के जो संग्रह उपलब्ध हैं, उनमें गज़लों की संख्या अधिक है। इनकी लिखी हुई सात मसनवियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें 'बोस्ताँ खयाल' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह मसनवी सन् १७५१ में लिखी गई और इसमें शेरों की कुल संख्या ११६० है। इस मसनवी की एक हस्त-लिखित प्रति उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद के पुस्तकालय में उपलब्ध है।

'बोस्ताँ खयाल' सिराज की अन्तिम दक्खिनी रचना है। उसके बाद इन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से शायरी करना बन्द कर दिया। किन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने कुछ फ़ारसी दीवानों का संकलन किया और उसका नाम 'मन्तखब दीवान' रखा।

सिराज के विचारों में शेर और शायरी मनोरंजन

की वस्तु नहीं है बल्कि शायर के दिल का दर्द ही शायरी है। सिराज ने जो कुछ अनुभव किया है, वही उनकी शायरी है। इसीलिए इनकी शायरी में न बहुत दूर के दूसरों से उधार लिए विचार है और न किसी प्रकार की बनावट।

कुछ मसनवियों को छोड़ कर सिराज की शायरी का वर्ण्य-विषय अध्यात्म है। 'बोस्ताँ ख़याल' का वर्ण्य-विषय एक प्रेम की कहानी है। इस मसनवी के अंतिम भाग को पढ़ने से ज्ञान होता है कि वह कहानी किसी दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि इनकी आप-बीती कहानी है।

सिराज ने अपने समय के और बाद के बीसियों कवियों को प्रभावित किया। बहुत से कवियों ने सिराज के ढंग पर कविता की और कुछ शायरों ने इनकी प्रशंसा में ग़ज़लें लिखीं। सिराज, अपने जीवन काल में ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उत्तर और दक्षिण भारत के एक बड़े भाग में इनकी कविता बड़े प्रेम के साथ पढ़ी जाती थी।

सिराज ने ऐसे समय शायरी शुरू की जब दक्षिण भारत में दक्खिनी की जगह दिल्ली की बोल-चाल की भाषा का प्रयोग बढ़ रहा था। दक्षिण भारत के कुछ भाग में मुग़लों का राज्य स्थापित हो चुका था और दक्षिण और उत्तर भारत के राजनीतिक सम्बन्ध, जो कई सौ वर्षों से टूट गए थे फिर से जुटने लगे थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों के समाप्त होने के कारण इन नगरों का महत्व बढ़ रहा था और खिरकी का छोटा सा गाँव, औरंगाबाद के नाम से दक्षिण भारत में मुग़ल साम्राज्य का सदर मुक़ाम बनने के साथ संस्कृति, कला और साहित्य के एक बड़े केन्द्र के रूप में विकसित हो रहा था। दक्षिण भारत में मुग़ल साम्राज्य के विस्तार का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण और उत्तम भारत में आवागमन बढ़ने लगा और दक्खिनी के क्षेत्र में दिल्ली की बोल-चाल की भाषा का प्रभाव पड़ने लगा।

सिराज के पैदा होने से १५ वर्ष पूर्व दक्खिनी के प्रसिद्ध कवि वली दिल्ली गए और वहाँ उनकी भेंट दिल्ली के प्रसिद्ध सूफ़ी शाह सादुल्ला से हुई। शाह सादुल्ला ने वली को राय दी कि वे दक्खिनी छोड़ कर उर्दू में कविता करें ताकि उनकी रचनाओं को अधिक लोग समझ सकें।

वली ने औरंगाबाद लौटने के बाद 'रेख़्ता दीवान' लिखा, जिसमें दक्खिनी कविता में सर्व-प्रथम दिल्ली की बोल-चाल की भाषा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। सन् १७२२ में, जिस समय सिराज की अवस्था करीब ७ वर्ष की थी, वली दूसरी बार दिल्ली गए। उनका 'रेख़्ता दीवान' पूरा हो चुका था और उनकी गणना बड़े कवियों में होने लगी थी। दिल्ली में लोगों ने 'रेख़्ता दीवान' को बड़ा पसन्द किया। महफ़िलों में तो 'रेख़्ता दीवान' के शेर पढ़े ही जाते थे, गली-कूचों में भी उसकी धूम थी।

वली ने दिल्ली के साहित्यिक वातावरण को बड़ा प्रभावित किया। दिल्ली के बहुत से शायर जो फ़ारसी में रचना किया करते थे, वली से प्रभावित हो कर बोल चाल की भाषा में शेर लिखने लगे। किन्तु वली भी दिल्ली से कम प्रभावित नहीं हुए। वली की बाद की शायरी में दक्खिनी के पुराने शब्दों और मुहावरों के स्थान पर दिल्ली की बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग अधिक है।

सिराज की कविता में दिल्ली के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव और अधिक है और बाद के साहित्यिकों में दक्खिनी भाषा और साहित्य की विशेषताएँ प्रायः ग़ायब सी हैं।

सिराज से पूर्व उर्दू और दक्खिनी कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा में तो अन्तर था ही, दोनों में एक बड़ा फ़र्क यह था कि दिल्ली की शायरी फ़ारसी वातावरण से अधिक प्रभावित थी और दक्खिनी कविता में भारतीय वातावरण का प्रभाव अधिक था। दिल्ली के शायर बोल-चाल की भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने के लिए फ़ारसी शब्दों का प्रयोग अधिकता से कर रहे थे। उनके सामने आदर्श फ़ारसी शायरी का था और वे अपनी शायरी को फ़ारसी शायरी के साँचे में ढालने की कोशिश कर रहे थे। दक्खिनी के कवि हिन्दी शब्दों का प्रयोग अधिक कर रहे थे। उनकी भाषा बोल-चाल की भाषा के अधिक समीप थी। उन्होंने भारतीय रीति-रिवाजों, हिन्दू त्यौहारों, भारत के प्राकृतिक

दृश्यों का वर्णन पूर्ण मनोयोग के साथ किया। उन्होंने फ़ारसी छन्दों के साथ हिन्दी छन्दों का भी प्रयोग किया। सिराज के बाद के दक्षिण के शायरों ने दिल्ली के शायरों के अनुकरण पर रचना प्रारंभ की और साहित्यिक भाषा के रूप में दक्खिनी के स्थान में दिल्ली की बोल-चाल की भाषा ग्रहण की जाने लगी।

हिन्दी विभाग, निज़ाम कालेज,
हैदराबाद

—राजकिशोर पाण्डेय

थाईलैण्ड में वन्य-जीवन

"......थाईलैण्ड में एशिया के वन्य पशुओं का दृश्य परम अद्भुत रूप में देखा जा सकता है। यहाँ आप जंगलों में हाथियों के झुँड के झुँड को मदमस्त रूप में इधर से उधर दौड़ता हुआ देख सकते हैं। यहाँ आपको ऐसे जंगल मिलेंगे जहाँ बन्दर ही बन्दर हैं। उनकी किलकारियों से सारा जंगल गूँजता रहता है। क्या आपने कभी एक साथ एक हजार मगरमच्छों को देखा है? उन्हें आप यहाँ के जंगलों में देख सकते हैं? क्या आपने ऐसे हरिण देखे हैं जो कि घोड़ों से भी बड़े होते हैं? क्या आपने जंगली लाल बैल देखा है? इन सब को थाईलैण्ड के जंगलों में देखा जा सकता है। प्रायः यह समझा जाता है कि थाईलैण्ड नर्तकों और भव्य मन्दिरों का एक आकर्षण पूर्ण प्रदेश है परन्तु सत्य तो यह है कि थाईलैण्ड के जंगल जैसे सुन्दर हैं वैसे शायद ही किसी अन्य देश के हों। यहाँ का वन्यजीवन दर्शनीय है।

थाईलैण्ड का सबसे असाधारण जानवर बन्दर है। इस देश में बन्दरों को नारियल तोड़ने की शिक्षा दी जाती है। बन्दरों को भूमि पर नीचे एक लम्बी और लचकदार तार से बाँध दिया जाता है। फिर वे नारियल के वृक्ष पर चढ़ जाते हैं ऊपर जा कर वे नीचे देखते हैं। यदि नीचे से मालिक चिल्ला कर कहता "हरा" तो वे नारियल के फलों के पास पहुँच कर फिर नीचे देखते हैं। यदि मालिक चिल्लाकर कहता है "पका हुआ" तो बन्दर नारियलों को तोड़ कर नीचे फेंकने लग जाते हैं। एक अच्छा बन्दर एक दिन में ६०० नारियलों को तोड़ सकता है।..."

'थाईलैण्ड' लेख से

—जेम्स ए. मिचेनर

प्रगतिवाद

पृष्ठभूमि : किसी साहित्य की चिन्तन-धारा एवं शैली विभिन्न सरणि का अवलम्बन करती है तब यह समझना चाहिए कि उस देश के साहित्य का निष्क्रिय नहीं है, अपितु सदा जागरूक हैं। किन्तु साहित्यकारों की सजगता और क्रियाशीलता का अभिप्राय होना चाहिए जन-हित का चिन्तन, जनहित के लिए अभिव्यक्ति-मानव साहित्य सृष्टि। यह तो स्पष्ट है कि प्रकृति, मानव और इतिहास की समस्याओं को हल करने के लिए ही 'वाद' या सिद्धान्त का जन्म होता है। उस वाद या सिद्धान्त की परीक्षा सामाजिक व्यवहारों में होती है। साहित्य स्वयं गतिमान है। वह साहित्य ही कैसे कहा जाएगा और वैसे साहित्य का प्रयोजन ही क्या हो जिसने समाज को गति नहीं दी। तब तो प्रगतिवाद की चर्चा के पूर्व का साहित्य समाज के लिए कुछ नहीं कर सका। यदि भक्तिकालीन रचना ने मानव को आदर्श-पथ दिखलाया तो वह भी प्रगतिशील है। कबीर ने समाज को जो अज्ञानतिमिर में टटोलता रहा एक निश्चित सरणि दी, पर न तो हम कबीर की रचना को प्रगतिवाद का नाम देते हैं और न कबीर को प्रगतिवादी मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रगतिवाद अपने वर्तमान रूप में अर्थ-विशेष और शैली विशेष में गतिमान है। उसका अपना निजी दर्शन है। स्पष्ट है कि प्रगतिवाद किसी विचार के प्रति क्रान्ति का भाव रखता है उसके विरोध में अथवा प्रतिक्रिया में खड़ा है। उसकी पृष्ठ-भूमि समझना आवश्यक है।

हिन्दी में प्रगतिवादी विचारधारा का प्रारम्भ अपने आधुनिक रूप में लगभग १९३६—३७ ई० से समझना चाहिए। आधुनिक रूप में कहने का मेरा अभिप्राय यह है कि कुछ लोग 'प्रगतिवाद' नाम से ही घबड़ाते हैं और सच पूछा जाए तो 'वाद' से घिर कर प्रगति की अग्रोन्मुखी गति अवरुद्ध-सी जान पड़ती है अन्यथा सृष्टि के आदि से मानवजाति का जीवन ही संघर्ष की कथा है जिससे स्पष्ट है कि वह निरन्तर प्रगति करती हुई आज इस रूप में अपना अस्तित्व देख रही है। प्रत्येक युग में नित नूतन प्रयोग होते हैं। जब किसी प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाने लगता है तो हमारी प्रगति रुकती हुई प्रतीत होती है। पुनः अभिनव प्रयोग, नवीन सिद्धान्त, नई सरणि की गवेषणा होने लगती है। प्रगतिवाद के जन्म काल में छायावाद ने अपनी विशेष काव्य धारा में ख्यातिलाभ किया था शैली उसकी प्रतीकात्मक रही। किन्तु छायावाद की इस प्रतीक शैली ने अपनी प्रारम्भ की भावनाओं को खो दिया। कालान्तर में जब उसने अपने छायावादी प्रयोग को सत्य से अधिक बल देना प्रारम्भ किया—जब कवि गगन-लोक में विहार करने लगा। वह भी उस समय जब मानव की कहानी दुख, करुणा, आक्रोश, प्रपीड़न की हो, जब मानवता नग्नता को पहुँची हो, जब कि सामाजिक संघर्षों की आधारशिला आर्थिक व्यवस्था के होने के कारण शोषक और शोषित वर्ग समाज में हों और शोषक दानवता के साथ शोषण में रत हों; और तब भी कवि अपनी कल्पना में डूबा रहे, पीड़ित वर्ग के, अपितु मानव समाज के असन्तोष का कारण उसकी कोरी कल्पना की रागिनी और तदरूप अभिव्यंजना होंगी। यान्त्रिक युग की निरन्तर बढ़ती हुई विषमता में दग्ध-उर मानव के लिए तो चाहिए था कि सरस कोमल-कान्त पदावली की छायावादी रचना शीतल प्रलेप का काम करे। But every one is mum at the point is which is the out put of symbolism to the age it exist. अस्तु जब तक छायावादी, समाज के करुण स्वर के साथ स्वर मिलाते रहे उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई परन्तु जब वह आकाशलोक की लम्बी उड़ान लेने लगा और वहाँ पहुँच कर—इस धरातल से दूरस्थ हो गगनस्थ विहगवाला के गीत गाने लगा और आकाश-कुसुम की मुस्कान से सस्मित हो उसकी हँसी में विहँसने लगा, तब उसकी कल्पना में तत्वहीन भावुकता के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया। जो कवि-हृदय सामाजिक चेतना से अनुप्राणित था, उसने काव्य धारा को एक मानवीय गति देना निश्चय किया, और छायावाद की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद आ खड़ा हुआ।

परिस्थिति, परम्परा और विकास : छायावाद के

युग में ही उसके अनेक दोष दिखलाई पड़ने लगे। जीवन की अनुभूतियों से शून्य कल्पना का प्राबल्य, सामाजिक चेतना का अभाव, वस्तु की नहीं भाव की अभिव्यक्ति, लोक-संवेदना की कमी आदि अनेक दोष एवं स्त्रैणता और निष्क्रियता आदि आरोप लगाए जाते रहे। साहित्य सामाजिक चिन्तन धारा को भी लेकर चलता है; और लोक की विचार धारा बहुत कुछ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों पर ही संचालित होती है। इन परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ भाव-धारा, साहित्यक-चेतना तथा मानव-हृदय का तरङ्गित या परिष्कृत होना स्वाभाविक था। इन तमाम ने छायावाद की अनुगामी प्रगतिवादी काव्य धारा की पृष्ठभूमि में काम किया। आंग्ल शिक्षा-प्रौढ़ता ने देश में राष्ट्रीय भावना को रूपनानात्त्व दिया। सन् १९२७ में कम्युनिस्ट पर्टी का जन्म हो चुका था, कांग्रेस का जन्म तो बहुत पहले हुआ था, उन दिनों (१९३४) में समाजवादी पार्टी के जन्म के पश्चात् पं. नेहरू और सुभाष प्रभृति अनेक गरम दल के नेताओं का अभ्युदय हुआ। युवक मस्तिष्क ने सत्य, अहिंसा के सिद्धान्त की अपेक्षा (रूस की अपने इस सिद्धान्त में सफलता के कारण) साम्यवाद और समाजवाद को देश के लिए भी श्रेयस्कर समझा। भारतीय प्रगतिवाद मार्क्सवादी दर्शन और गांधी दर्शन से प्रभावित हुआ। यद्यपि कहने को वह छायावाद की घोर प्रतिक्रिया में सामने आया पर उसका अतीत की चिन्तन धारा से मात्र विरोध नहीं और न किसी मोह से वह वर्तमान के सत्य की उपेक्षा करता है यह दूसरी बात है कि प्रारंभ में कई रूप (अस्पष्ट रूप) में प्रसारित होने से उसकी चिन्तन धारा अनेक रूपरंग बनाती दिखलाई दी। १९३६ में अ० भा० प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के पश्चात् तो छायावाद के महारथी 'पन्त', 'प्रसाद' और निराला एवं प्रेमचन्द और रवीन्द्र भी जो एक स्वतन्त्र भाव-धारा में बह रहे थे परिवर्तित दिखलाई पड़े। इधर तो राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति ने प्रभाव डाला। उधर अधिकांश विद्वानों ने छायावाद के मूल में अतृप्त कामवासना देख उसे वास्तविकता से दूर हटा हुआ पाया। कवियों ने अनुभव किया साहित्य में जीवन की चर्चा होनी चाहिए। प्रगतिवादी साहित्य भाव-क्षेत्र में मार्क्सवाद से प्रभावित हुआ। वह जनता का साहित्य था, जनता में प्रवेश करने की उसमें शक्ति थी। छायावाद भी अपनी आध्यात्मिकता रखता था। पर सत्य है कि जहाँ रोटी के लाले पड़े हों, जहाँ इतनी विषमता हो कि कोई खाने बिना मरता हो, कोई खाते-खाते मरता हो, साथ ही मानव की दुर्दशा मानव चुपचाप देखता हो, वहाँ शृङ्गार के गीत प्रकृति के बहाने से गाए जाए, मानवता के साथ अशिष्टता होगी, असमय का राग होगा। कौन नहीं स्वीकार करेगा कि मानव के सुख-स्वप्नों तथा उसके आदर्श को जलते देख मानव की समस्या जीवन के लिए आध्यात्मिक साधन जुटाना नहीं है, अपितु नग्न मानवता को ढकने के लिए—अपने अस्तित्व बनाए रखने के लिए—जीवन के भौतिक उपकरण जुटाना तथा उसकी उपलब्धि का प्रयत्न उसका व्रत होगा। इसीलिए वह जीवन की विषमता से होड़ लेता है और मानव को उसके लिए दृढ़ करता है। वह यथार्थ के पथ पर पथिक है, कोरे आदर्श का उपासक नहीं। उसने देखा—उसके यथार्थ जीवन की परिस्थितियाँ बड़ी विषम हैं, समाज में अर्थ-दस्यु और दस्यु-सभ्यता के प्रचारक अब भी दिखलाई पड़ते हैं। श्रम का शोषण, धन का शोषण अब भी होता है। साम्यवादियों का सिद्धान्त भारत का बहुत प्राचीन है। वाल्मीकि का करुणा कल्पित हृदय बहुत पहले साम्यवादिता का संदेश दे चुका है। और उनकी वाणी को लेकर हम प्रगतिवाद की परम्परा को बहुत पहले ले जा सकते हैं, पर वैदिक काल और काव्य-काल की परिस्थिति से आज की परिस्थिति भिन्न है, अस्तु। वर्ग-संघर्ष की भावना जागृत हुई तथा प्रगति के नारे लगने लगे हैं। और सामाजिक विषमता से उत्पन्न द्वन्द्व से राष्ट्रीय चेतना की जागृति लेकर वर्ग-संघर्ष की भावना से अन्वित होकर प्रगतिवाद प्रोत्साहित अथवा उद्बुद हुआ।

छायावाद की पृष्ठभूमि को जानने, उसकी परिस्थिति को समझने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी विकास-परम्परा १९३६ के बाद की है, साथ ही भारतीय नहीं है। सर्व प्रथम १९०७ में इटली में इस विचार धारा का आधुनिक रूप में अथवा इसके लाक्षणिक रूप में सूत्रपात हुआ। डा० प्रेमनारायण शुक्ल के अनुसार भविष्यवादियों ने, जो प्राणी मात्र की महत्ता पर बल देते हैं और भविष्य का वर्तमान में ही दर्शन करते हैं;

वर्तमानवाद (प्लैस्टिसिज्म) की विचार धारा चल ई वही तात्विक दृष्टि से प्रगतिवाद है। आखिर प्रगतिवाद है क्या ? और गतिशीलता के नाम पर नया 'वाद' कहाँ से उत्पन्न हुआ। भला साहित्य भी अप्रगतिशील होता है। प्रगतिशीलता के अर्थ में तो हम साहित्य को चाहे वह भारतीय या अभारतीय हो सर्वदा प्रगतिशील पाते हैं। यदि विदेश से आया हुआ वाद न माने तो प्रगतिवाद की परम्परा भारतीय ही और है, लगभग ६०० वर्षों की प्राचीन राजनैतिक उथल-पुथल, साम्प्रदायिक विष धर्मान्धता के विरोध में ही तो कबीर ने अपनी आवाज़ ऊँची की थी। वस्तुतः कबीर सर्वप्रथम भारतीय प्रगतिवादी कवि हैं। प्रगतिवादी में सुधार भावना भी होती है। तटस्थवादिता भी होती है। स्पष्टतः उसका कथन है। लोक कल्याण उसकी सरणि। कबीर ने भी यही किया। रोमाँ-रोलाँ का एक कथन है : 'क्रान्ति और प्रगति किसी पार्टी की बपौती नहीं है...हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे लेकिन आज़ाद मानव बन कर रहेंगे।" कबीर ऐसे ही स्पष्ट वक्ता थे, लोगों के विचारों को बदला, क्रान्ति लाए, आँखों देखी कहा, किसी के गुलाम नहीं रहे। हाँ, यह दूसरी बात है कि कबीर के बाद काव्य का वह रूप न रहा और रहे क्यों 'परम्परा सम्प्रदाय का प्रवर्तन कर सकती है काव्य को अपने अंचल में बाँध कर नहीं ले जा सकती। भक्ति काल की परम्परा प्रगति पथ पर चल कर रीतिकाल में प्रतिष्ठित हुई जैसा कि प्रगति किसी की बपौती नहीं, रीतिकालीन प्रणाली का विरोध भूषण ने उसके ही काल में किया। आधुनिक काल में काव्य की इतिवृत्तात्मक आदि अनेक शैलियाँ प्रगति के मार्ग से ही आईं। युग में उनकी भी आवश्यकता थी। पुनः काव्य कब प्रगतिशील नहीं रहा। आधुनिक काल में भी एक तीसरी शक्ति अंग्रेजी सत्ता के प्रभुत्व स्थापित होने के लक्षण देख कर भारतदुर्दशा से पीड़ित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहा था—'पै धन विदेश चलि जात यह अति ख्वारी'। यह रचना प्रगति की द्योतक थी। भारतेन्दु जैसे राष्ट्रीय कवि ने देश की परिस्थिति का अध्ययन किया और वे ताड़ गए कि पारस्परिक द्वेष बढ़ा कर अंग्रेज़ अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के द्वन्द्व में उन्होंने प्राचीन आदर्शों को नव जागरण के रूप को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनका एक पैर रीतिकाल में और एक आधुनिक काल में था, रसिक थे ही अतः ब्रजभाषा का माधुर्य आकर्षक बना रहा पर काव्य क्षेत्र में। वे कबीर के बाद दूसरे प्रगतिवादी कवि थे, जिनसे भी भारत-दुर्दशा देखी नहीं गई।

> ' री अहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई
> हा ! हा !! भारत दुर्दशा न देखी जाई।"

उन्होंने साहित्य और राजनीति के बाद देखना नहीं चाहा और उस समय 'वाद' कहीं था भी नहीं अन्यथा वे करुणावाद, प्रगतिवाद, निराशावाद, आशावाद, सुधारवाद, और न जाने कितने वादों के जनक और पोषक माने जाते। उन से आगे बढ़ कर इस परंपरा में प्रेमचन्द जी पर दृष्टि रुकती है जिन्होंने लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का सभापतित्व किया था और सामाजिक कल्याण के लिए साहित्य-निर्माण की अपील की थी' [सा. सा., सुधाकर पाण्डे—पृष्ठ २०४] १९३८ में कलकत्ता कान्फ्रैंस में रवीन्द्रनाथ सभापति रहे। इस प्रकार कल्पना प्रधान निष्क्रिय बनानेवाले पलायनवादी साहित्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी-साहित्य में नवोद्भूत प्रगतिवाद के निर्देशक थे कबीर, प्रवर्तक थे भारतन्दु और उन्नायक हुए प्रेमचन्द, दिनकर, गुप्त, निराला और पन्त। हरिऔध जी ने आधुनिक साहित्य के तीनों उत्थान काल को देखा पर उन पर किसी वाद का प्रभाव नहीं रहा। भारतेन्दु काल की रचनाएँ प्रगतिवादी अर्थ में सार्थक हैं और उन्होंने अनेक विचारों की दृष्टि से युगान्तर कारी कवि पद को प्रतिष्ठित किया, किन्तु तब प्रगतिवाद को जानता कौन था ? गुप्त जी मानवतावादी कवि हैं और उन पर गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है वे प्राचीनता के पोषक हैं पर रूढ़िवादी नहीं। जनहित की भावनाएँ उनमें है शुद्ध प्रगतिवादी की कोटि में वे तथा उनकी रचनाएँ आएँगी पर प्रगतिवाद की प्रावैधिकता-लाक्षणिकता कुछ और है उस अर्थ में वे प्रगतिवादी नहीं। स्वतन्त्र प्रगतिवाद की परम्परा में आएँगे, निराला, पन्त, दिनकर, नरेन्द्र और अंचल आदि प्रमुख कवि प्रगतिवाद की परम्परा और विकास का क्रम देखने से स्पष्ट हुआ कि प्रगतिवाद का विकास क्रम नवीन और वैज्ञानिक है। पीड़ितों की नग्नता साहित्यकारों ने देखी और उनसे सहानुभूति प्रगट की, रूढ़ियों का विरोध किया, क्रान्ति की भावना का उद्भव किया। सृष्टि के विकास का क्रम

जो मार्क्स को मान्य है वही क्यों न यहाँ भी माना जाए। सृष्टि में भी द्वन्द्वात्मक तत्व है। जो कुछ भी है उसकी स्थिति स्वतः वह नहीं रहेगी। इस परिवर्तन में किसी दैवी परोक्ष सत्ता का हाथ नहीं। वस्तु की पूर्वापर स्थिति यथावत् नहीं रह सकती। क्षय और भव का क्रम ज़ारी रहता है, ध्यान रहे कि क्षय या पराभव अस्तित्व हीनता नहीं है रूपान्तर है और भव (उद्भव) भी प्रकारान्तर से रूपान्तर ही है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम प्रकृति के अन्दर विद्यमान विरोधी तत्वों के इन्द्र अथवा उनके संघर्ष से चलता रहता है। अब प्रगतिवाद को यों विकसित देखा जाए कि जब पूँजीवादी की वस्तुस्थिति अपने अगों सहित विनाशोन्मुख है—दूसरे शब्दों में उसके विरोधीतत्व उसके रूप को बदलने के लिए उदभूत हैं अपितु उसी में विद्यमान रहे हैं ऐसी दशा में साहित्य और कला वर्ग-संघर्ष को प्रेरणा प्रदान करके प्रगति में योग अवश्य देंगे। यही प्रगति का विकास है। छायावाद के विरोधी तत्व, उसी में थे प्रगतिवाद ने वह स्थान लिया। निराला ने 'शेफाली' या 'जूही की कली' से मुँह मोड़ 'पत्थर तोड़नेवाली' को देखा यही नहीं साहित्य-क्षेत्र में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की मान्यता में भी प्रगति शीलता लाना कवि ने ठीक समझा :

"आज सत्य शिवसुन्दर,
करता नहीं हृदय आकर्षित।
सभ्य शिष्ट औ, संस्कृत,
लगते मन को केवल कुत्सित॥"

इस प्रकार जन हित को मन में रखने वाला कवि 'पन्त' इतना प्रगतिशील है कि ताजमहल को देख कर बोल उठता है—

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन"

वस्तुतः वह आत्मा का अपमान नहीं देखना चाहता और न छाया के प्रति रति प्रगट करना चाहता है। उसका विकास पूँजीवाद, जो मानव का शोषण करे, तथा अत्याचार और अहिंसा जो पाशविकता का नग्न प्रदर्शन करे आदि को मिटा कर सच्चे जनवाद की स्थापना के लिए हुआ है। किन्तु दुख है कि उसमें दल गत राजनीति भी प्रवेश कर गई है। राजनीति में साम्यवाद का समर्थक कवि प्रगतिवाद में रूस का गुणगान करता है। समाजवाद द्वारा रूढ़ियों को मिटाना और ऐसे ही अन्य रूप भी प्रगतिवाद के दीख पड़ते हैं। अब प्रगतिवादी साहित्य सुलझे हुए रूप में आ रहा है। अपनी परम्परा में विकास की परिक्रिया से होकर आज स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिवाद के दो अखाड़े दिखलाई पड़ते हैं। एक दल समाजवादी राजनीति से प्रभावित होकर प्रगतिपथ का पथिक है दूसरा सर्वोदय वादी विचारों से आकर्षित है जिसको गांधी-विचार-सरणि ने प्रश्रय दिया है।

प्रगतिवाद की रूप रेखा और आलोचकों के भक्त : प्र-प्रकर्षेण वर्तमान इति, प्रगतिमांश्चासौ वादः-सरणि :—सिद्धान्तःवा स प्रगतिवादः। प्रगतिवाद का वाच्यार्थ प्रकर्ष से गतिमान होना आगे बढ़ना अथवा पुरस्करण हुआ। इस अर्थ में तो हम और हमारा साहित्य सर्वदा आगे बढ़ता हुआ उन्नति पथ पर ही है। साहित्य की सर्वथा उन्नतिशील दशा में भी उसका 'प्रगतिवाद' अपनी विशिष्टता रखता है। वैसे तो आदि कवि वाल्मीकि की 'मा निषाद प्रतिष्ठाम्' वाली वाणी में ही प्रगति की भावना है, वर्ग-संघर्ष का बीज है, अत्याचार अथवा हिंसा के विरुद्ध एक आन्दोलन है, पर आज की भांति हम उसे प्रगतिवादी कथन नहीं मानते। प्रगतिवाद के इतिहास पर विचार करते समय इसे चाहे हम जितना पीछे तक ले जा सकते हैं। किन्तु आज जिस अर्थ में प्रगतिवाद प्रयुक्त है वह साम्यवादी विचार धारा का प्रतिपादक है। प्रगतिवाद के साथ साहित्य का एक निर्दिष्ट दिशा में विशेष प्रणाली से समाज को उद्बुद्ध करने के हेतु अग्रसर होने का अर्थ सुसम्बद्ध है। प्रगतिवाद में जनहित की भावना को पर्याप्त विकासोन्मुख रक्खा गया है। साहित्य में बहुजन हितार्थ जो सुधार होते हैं वे साहित्य की प्रगति के परिचायक हैं। जनहित साधन आर्य साहित्य का पुरातन दृष्टिकोण है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया इस भावना का मूल आदि कवि की वाणी में है। किन्तु आज के प्रगतिवाद के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए आज की राजनैतिक आदि परिस्थिति को जानना आवश्यक है। प्रगतिवाद की परिस्थिति और विकास के विवेचन में स्पष्ट बतलाया जा चुका है कि दस्यु-सभ्यता के परिणाम

स्वरूप समाज को प्राप्त आर्थिक विषमता से असन्तोष हुआ। असन्तोष संघर्ष का कारण होता है और फलतः साम्यवाद की चर्चा से समाज का वातावरण ध्वनित सुनाई पड़ता है। जिसे राजनीति से साम्यवाद कहते हैं वही साहित्य में आकर प्रगतिवाद हुआ। रूस आदि में साम्यवाद के प्रचार का साधन प्रगतियादी साहित्य हुआ, वहाँ साहित्य को प्रचार का साधन समझा जाता है। भारतीय स्वरूप कुछ भिन्न है। परिवर्तन का-प्रगति का-स्वागत करने वाले युग के साथ चलने वाले सुकुमार भावनाओं के कवि पन्त प्रगतिवाद का स्वरूप बतलाते हैं—"प्रगतिवाद उपयोगितावाद का ही दूसरा नाम है। वैसे तो सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहा है, परन्तु आधुनिक काल का प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति का पक्षपाती है।"

आज की ग़रीबी के प्रति क्रान्ति की भावना नई जान पड़ती है क्योंकि हम सुदामा के दैन्य 'टूटो तवा अरु फूटी कठौती' प्रति कहाँ प्रतिक्रिया पाते है, वहाँ तो सन्तोष है अस्तु संघर्ष नहीं वस्तुतः शान्ति। किन्तु अतीत के दैन्य का सौन्दर्य त्याग और तपस्या में था। सामन्तवाद की जब प्रधानता थी उस समय शोषक-शोषित अवश्य थे, पर दोनों में मालिन्य नहीं था। कृष्ण ने सुदामा की दशा जान कर उसे अपने समान बना दिया, वे पक्के साम्यवादी थे, पर आज कहाँ ऐसा होता है वास्तव में विज्ञान के सत्य और साहित्य के सत्य में बड़ा अन्तर होता है। साहित्यिक सत्य समाज में शिव की प्रतिष्ठा करता है और शिवं की प्रतिष्ठा से सुन्दरम् की उद्भूति होती है समाज में शान्ति रहती है—साहित्य का उन्नयन होता है आनन्द की अभिवृद्धि होती है यह साहित्य का क्रम-सनातन है। पर आज प्रगतिवाद समाज से मालिन्य कहाँ तक मिटा सका है यह सबके सामने है। आधुनिक काल में प्रगतिवाद का आविर्भाव दलित मानवता के त्राण के लिए हुआ है। वास्तव में प्रगतिवाद जीवन के क्षेत्र में उपयोगिता को और कला के क्षेत्र में यथार्थ को ले कर चला है। किन्तु कला आदर्श होना भी तो आवश्यक है, उसका आदर्श ही तो मानव कल्याण ही पुनः प्रगतिवाद आदर्शवाद से भी दूर कैसे जा सकता है। भारतीय राजनीतिक आन्दोलनों के कारण जिन प्रगतिवादी विचारधाराओं का प्रवाह देश में व्याप्त हुआ उनमें पूँजीवाद के विरोध, अधिक बटवारा की साम्यवादी नीति, दलितों के उद्धार के साथ पूर्ण समाज सुधार और मानवता एवं राष्ट्रीयता के प्रतिपादन भी आवाज़ अधिक निनादित हुई। यह भी सत्य है कि प्रगतिवाद साहित्य की सफलता की परिणति सामाजिक भावधारा की कुशल अभिव्यक्ति में देखता है। वह व्यक्ति व्यक्ति की वैयक्तिक कुण्ठा और निरीह पराजय को एक मात्र सत्य के रूप में देखने का विरोधी है वह यथार्थ के उस रूप को ग्रहण करता है जो एक युग के विराट् जन-जीवन की समस्याओं आकांक्षाओं और संवेदनाओं को आन्दोलित कर रहा हो।—कतिपय विद्वानों के अनुसार प्रगतिवाद ने छायावाद के रूप में ही उसकी प्रतीक प्रयोग-प्रणाली में ही अपनी भावधारा का उन्नयन किया किन्तु उसमें गाम्भीर्य का अभाव है। जनता जनार्दन की चर्चा तो वे करते हैं किन्तु जनता के भीतर प्रवेश नहीं पा सके हैं। उनमें जीवन-शक्ति की प्रधानता होनी चाहिए पर यह बात सिद्धान्त रूप में ही रह जाती है। डा० नगेन्द्र ने आगे बढ़ने वाले, जीवन को गति प्रदान करने वाले साहित्य को प्रगतिशील मानते हुए उसकी दिशा तथा उस प्रणाली को विशेष बतलाया है उनके अनुसार प्रगतिवाद की परिभाषा विशिष्ट ही और उसका आधार द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद ही है।

श्री धर्मवीर भारती : अपनी पुस्तक 'प्रगतिवाद' में बतलाते हैं कि 'व्यापक अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा को कहेंगे जिसमें चल कर साहित्य मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग देता है; गूढ़ अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते हैं जो मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गई हो।

अन्ततोगत्वा हम यह देखते हैं कि आर्थिक व्यवस्था के कारण ही सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं में उत्थान और पतन होता है और आज की जो सामाजिक स्थिति है उससे भी हम अनभिज्ञ नहीं, अस्तु यथार्थवाद का पोषक प्रगतिवादी साहित्य यदि काव्य, नाटक, कहानी, आदि सब में मज़दूर, भिखारी, कुलटा, घृणित की चर्चा करे तो आश्चर्य ही क्या है।

किन्तु जैसा कि भारतीय संस्कृति की विशेषता है 'पाँक से पाँक धोने' का प्रयत्न फिर पंकमय कलंकमय होना ही है अस्तु 'समाज की देह यष्टि में लगे जोंक समुदाय को घृणा के द्वारा नहीं, प्रेम के द्वारा, निर्मूल करना चाहिए' यह भारतीय आदर्श है। किन्तु जोंक जड़ है—वैसे ही शोषक जड़ हैं उनके लिए यह आदर्श कल्पना ही, व्यवहार्य नहीं ऐसा प्रगतिवादी कहता है। यही ठीक है कि घृणा जनित काव्य स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकता और प्रगतिवाद का अश्लीलता और वीभत्सता से ज़रूर बचना ही चाहिए। किन्तु यदि काव्य के कथित रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करते हुए यथार्थोन्मुख आदर्श को अपना कर वाणी संयम द्वारा काम लें तो प्रगतिवादी संकीर्णता से आगे बढ़ कर आशावादी काव्य के कर्ता होंगे।

कुछ प्रगतिवादी कवि उनके उदाहरण : आज प्रगतिवाद की चर्चा बहुत है किन्तु उसके मार्ग में एक बाधा यह जान पड़ती है कि अभी पाठकों का मन छायावाद में अधिक रहता है। छायावाद को जैसे उन्नत कलाकार मिले हैं वैसे कुशल शिल्पी प्रगतिवाद को नहीं मिले। अब सौभाग्य से 'दिनकर' ऐसे कवि प्रगतिवाद को व्यापक दृष्टिकोण दे रहे हैं 'दिनकर' सम्पूर्ण मानवता की प्रगति देखना चाहते हैं। उनके काव्य में संकीर्ण भावना के दर्शन नहीं होते। छायावाद के प्रमुख कवि भी बाद में प्रगति मार्ग को अपनाते देखे गए हैं। 'पन्त' में तो क्रमशः कई भावनाओं पर युग के अनुकूल देखी जाती है। प्रगतिवादी कवियों और लेखकों में श्री अज्ञेय, गिरजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, भगवती चरण वर्मा, अंचल, दिनकर, नरेशकुमार मेहता, धर्मवीर भारती तथा यशपाल, जैनेन्द्र, निराला, पन्त, प्रभृति अनेकों का नाम लिया जा सकता है। जिस मानव वाद अथवा जनवाद को प्रगतिवाद के आश्रय से आगे बढ़ाने वाले कवि साहित्य में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं उसमें विदेशी बू आती है। माना कि भारतीय अभारतीय विचार की चर्चा ठीक नहीं, सत्य सर्वथा और सर्वदेशीय सत्य ही। विदेशी विचार सत्य ही तो वह उसलिए अग्राह्य नहीं कि अभारतीय ही किन्तु भारतीय संस्कृति और सभ्यता में जब ऐसे उपादान ही जिन का साहित्यिक सत्य के रूप में अपनाना मानव हित के हेतु सुगम है तो पुनः वैज्ञानिक सत्य के पीछे दौड़ना कहाँ तक समीचीन होगा। आर्थिक विषमता से दग्ध दिन कर की ध्वनि है—

'श्वानों को मिलता दूध दही बच्चे भूखे तड़पाते हैं,
मिल मालिक तेल फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं'

पर वे मानव के अभाव को दूर करने में मानव को समर्थ बताते हुए न केवल आर्थिक विषमता का चित्र पर टट्टी की ओझल शिकार खेलने वालों को विधि के विधान की ओर भी संकेत करते हैं :

"कैसी रचना कैसा विधान"

इस प्रकार दिनकर ने प्रगतिवाद की अच्छी रचनाएँ की है पर वे भी राष्ट्रीय इससे आगे 'कुरुक्षेत्र' में बढ़ कर वे प्रगतिवाद में अधिक व्यापक दीख पड़ते हैं और सच्चे जनवाद के पोषक प्रतीत होते हैं :

'दलित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो'

इस प्रकार किसी भी प्रगतिवादी कवि में हम नीचे लिखी भावना की चर्चा के कारण उसकी रचना को प्रगतिवाद के अन्दर रखते हैं : प्रथम उसमें किसी रूढ़ि का विरोध है द्वितीय शोषकों-शोषितों की प्रतिकूल भावना तीसरे क्रान्ति की भावना चौथे रूसी साम्यवाद या उसके व्यवस्था की गीत पाँचवें धार्मिक अथवा अन्य सिद्धान्त की विवेचना। जब भूखे अध खाए किसान को आज स्वतन्त्र भारत में भी मैं देखता हूँ तो अचानक प्रश्न उठता है—

"ऐ गाँव से आने वाले! बता अब,
हालत कैसी है गाँवों की?
क्या अब भी वहाँ कई बच्चों की माँ,
कुछ अन्न बटोर के आँचल में
बिता देती है रात उसी के तले,
बरसात में मौन खड़ी ही खड़ी?"

वस्तुतः कवि हृदय 'दिनकर' ऐसी परिस्थिति में उमड़ पड़ते हैं—

'श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं'

'हुँकार' में तो 'दिनकर' क्रान्ति का भी प्रभावशील भावना का कवि है। महाकवि 'निराला' भी युग

के साथ बदलते दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने अनेक नवीन प्रयोग किए हैं। वे युग को सच रूप में पहचान सके। अस्तु जब समाज की छाती पर जोंक चिपक कर उसका शोषण करती हो युग-द्रष्टा कवि 'यमुना की लहरों' में उलझना छोड़ कर कुल्लीभाट, चतुरी चमार में भी मनुष्यता का यथार्थ रूप देखने लगा। इसी लिए 'इलाहाबाद के पथ पर' झुलसाती हुई लू में कवि ने देखा 'वह तोड़ती पत्थर' और उसे सौन्दर्य की पुरातन साधना व्यर्थ जान पड़ी। इसी प्रकार भिक्षुक के चित्र में भी कवि ने समाज की दुर्दशा का शब्दचित्र प्रस्तुत किया है—

"वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता"

पीड़ितों की दशा पर व्यक्त किए 'अंचल' के विचार देखिए उनमें क्रान्ति की जलन है परवश भी अपने को पाते हैं। भिक्षुक की नस्ल पर उन्हें सन्देह है—

"वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती
बुझ जाती तो आश्चर्य न था हैरत है पर कैसे जीती"

पूँजीवादी तथा सूदखोरों के विरोध में भगवतीचरण वर्मा की घृणात्मक भावना का उदाहरण देखिए :

"वह राज काज जो सधा हुआ है,
इन भूखे कगालों पर
इन साम्राज्यों की नींव खड़ी है,
तिल तिल मिटने वालों पर
वे व्यापारी वे ज़मीन्दार,
जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त
वे निपट निरामिष सूदखोर,
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त"

—भगवतीचरण वर्मा

वर्मा जी प्रसिद्ध उपरोक्त रचना 'भैंसागाड़ी' में कृषकों के जीवन का व्यंग्य चित्र है। विचार कीजिए लोकजीवन के आधार-स्तम्भ कृषक के जीवन में ग्राम विभव—वह 'चूँ चरर मरर चर मर जा रही चली 'भैंसागाड़ी' गति के पागलपन से प्रेरित संसृति में उसके पागलपन से पीड़ित कृषक का अविकल क्रन्दन है। कृषकों के दैन्य के चित्र कम नहीं। 'मानव की कौन कहानी है मानव ही एक कहानी है।' एक ओर गगन चुम्बी प्रासाद दूसरी ओर छप्पर पर सड़ा करायन! असह्य है कवि को।

रूढ़िवादी अन्धविश्वासों के प्रति व्यंग्यात्मक शैली द्वारा विद्रोह की भावना सुगमता से जाग्रत की जा सकती है। केदार नाथ अगुताज और 'पन्त' रूढ़ियों के प्रति अच्छा व्यंग्य किया है। पन्त की 'ग्राम्या' तो प्रगति का पूर्ण संकेत देती है। उसमें ऐसे चित्र बहुत हैं। केदारनाथ अच्छे प्रगतिशील कवि हैं। सम्पन्न भारत की कारुणिक स्थिति से उनका द्रवित हृदय बोल उठता है।

"बाप बेटा बेचता है भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खो कर हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है"

—केदारनाथ

'चन्दू' के जीवन का व्यंग्य दीन-जनों को सजग करने की प्रेरणा है—

"कहीं एक कोने में बैठा हाथ चरस की चिलम दबाए
शेष आयु का धुआँ उड़ाता चन्दू चना चबैना खाता"

—केदारनाथ

इसी प्रकार 'पन्त' जी 'ग्राम देवता' में कृषक की ग्रामीणता को लक्ष्य करके कहते हैं—

"हे ग्राम्य देवता, यथा नाम
शिक्षक हो तुम मैं शिष्या तुम्हें सविनय प्रणाम
विजया, महुआ ताड़ी गाँजा पी सुबह शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो तुम्हें जग से न काम"

× × ×

तुम रूढ़ि रीति खा अफीम, लो चिर विराम

'पन्त' ने रूसी भावधारा में बहनेवाले कवियों की भाँति मार्क्स का गुणगान करने में ही प्रगतिवाद काव्य की इति नहीं मानी है। वे गांधीवाद में आस्था रखते है पर कभी-कभी मार्क्स के गुणगान में प्रवृत्त भी हो जाते हैं।

"धन्य मार्क्स चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञानचक्षु से प्रगट हुए प्रलयंकर"

इस गुणगान से यह न समझना चाहिए कि कवि पन्त की प्रगति यहीं तक है। गुणगान तो उन्होंने 'बापू' का, निराला, आचार्य द्विवेदी और अन्य कितनों का भी किया है देखना यह है कि क्या इन रचनाओं में उनकी प्रगतिशीलता के दर्शन होते हैं? क्या इन में गुणगान से ले कर सिद्धान्तों की विवेचना तक ये प्रगतिशील के लक्षण मिलते हैं? निस्सन्देह कवि ने युग को पहचान कर लेखनी चलाई है।

इसी प्रकार नरेन्द्र शर्मा, उदयशंकर भट्ट, बच्चन प्रगति अन्य अनेक कवियों ने प्रगतिवाद को अपना कर क्रान्ति का आह्वान की प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। कुछ भी क्रान्तिकारी भावना राष्ट्रीयतावाद के अन्दर स्थान पाने योग्य है। सबके उदाहरण संग्रह करना बहुत कठिन कार्य हो गया। एक दो की भावनाओं के संकेतार्थ के कुछ पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी:

"उठ समय से मोरचा लूँ धूल धूसर वस्त्र मानव
देह पर फबते नहीं हैं
देह की ही रक्त से तू देह के कपड़े रंगा ले"
—बच्चन

"लाल रूस का दुश्मन साथी,
दुश्मन सब इन्सानों का,
दुश्मन है सब मज़दूरों का
दुश्मन सभी किसानों का"
—नरेन्द्र

रूस के गुणगान में ही कवि मी यह उक्ति है।

मैथिली शरण गुप्त ने भी प्रगतिवादी रचनाएँ की हैं पर वे प्रतिनिधि कवि की हैसियत से सभी ओर रहे हैं उन्हें किसी वाद का प्रवर्तक मानना हो तो राष्ट्रीयतावाद या मानवतावाद का माना जाए अन्यथा रहस्य, छाया, प्रतीक, प्रकृति, प्रभृति, न जाने कितने वाद उनकी रचनाओं में झलक मारते हैं। अस्तु वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि ही हैं। यदि क्रान्ति की भावना लाते हैं तो भी नव जीवन की राग प्रज्वलित करते हैं—

"आ जगत्प्राण उठ जाग-जाग धरूँ,
भीतर धधका एक आग
इस वेणु रन्ध्र से निकल पड़े,
नव जीवन का प्रज्वलित राग"

गुप्त जी क्रान्ति में किसी के पिछलगुए होना नहीं जानते। वे व्यक्ति का गुण नहीं गाते। "भारत भारती" द्वारा ही प्रगति रचना उनका उद्देश्य रहा, पर भारत को अपने गौरव को प्राप्त करने की प्रेरणा ही उन्होंने दी। इसी प्रकार सुभद्रा कुमारी ने भी अपनी संस्कृति पोषित प्रगति से भारतीय नारी को जगाया है किन्तु वे भी राष्ट्रीय कवियों की श्रेणी में आएँगी। 'भारतीय आत्मा' और सोहनलाल भी ऐसे ही कवि हैं।

प्रगतिवाद का स्थान: आज का युग अभी शोषकों के चंगुल से मुक्त नहीं हुआ है। साम्राज्यवाद अभी अन्तिम साँस ले रहा है। विदेशी शासन का जुवा कन्धे से अभी अभी हटा है। अभी शोषण और प्रपीड़न जारी है। ऐसे वातावरण में प्रगतिवादी रचना ने वर्ग संघर्ष को बढ़ाने और वर्ग-चेतना को उद्बुद्ध में बड़ा काम किया है। यद्यपि स्थूलता की ओर दृष्टि गई है और इस वाद पर अनेक दोष भी लगाए जाते हैं पर प्रगतिवाद युग के अनुकूल पड़ा है। सामाजिक चेतना जागृत करने में इसने इतना काम किया है कि समीम होते हुए भी इस वाद ने काव्य में एक निश्चित धारा का रूप धारण कर लिया है। मानव के दृष्टिकोण को व्यापक बना रचना की गद्यात्मक नीरसता मिटा और स्टेज से भाषण देने वाले की भाँति केवल कथन से नहीं अपितु जनता के हृदय में प्रवेश कर नेता गिरी के प्रलोभन से दूर रह रह जब मानव स्वस्थ कल्याणमयी भावना का समावेश करना ही इस वाद का ध्येय होगा तब यह वाद सप्राण और स्थायी हो उठेगा अन्यथा विभिन्न प्रयोग तो साहित्य में हो ही रहे हैं।

अब प्रगतिवादी साहित्य संकीर्णता छोड़ कर सुलझे रूप में चमत्कार मात्र ही न रह कर साहि और जीवन के स्वस्थ सम्बन्ध का आदर्श रख रहा है. आधुनिक साहित्य में इस काव्यधारा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

प्रगतिवादी रचना का काव्य शास्त्र में स्थान: यह भी विचारणीय है कि इस वाद की रचनाओं को

काव्य शास्त्र में कहाँ स्थान है ? विचार पूर्वक देखा जाए—इन रचनाओं में उत्साह और शोक स्थायी भाव हैं । कहीं कहीं रति का स्थायी भाव भी पाया जाता है और सम्पूर्ण रचनाओं में शृङ्गार, वीर, करुण रस पाया जाता है । परुषा वृत्ति का उपयोग है और अर्थ में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों शक्तियों से काम लिया जाता है । ये कवि अलंकार के लोभ को छोड़ते दृष्टिगोचर नहीं होते । व्यंग की ध्वनि अधिक पाई जाती है । सभी प्रकार की प्रगतिवादी रचनाएँ अभिव्यञ्जनावाद के अन्दर आएँगी । प्रस्तुत के द्वारा यही उद्देश्य व्यंग्य है कि इन रचनाओं को भी शास्त्रीय ढंग से आलोचना की जाए । वादों की कसौटी पर नहीं ।

बलिया,
उत्तर प्रदेश

—श्री राम प्रसाद

अमरीकी की पहचान

—ब्रिटिश लोग यह कैसे पहचान जाते थे कि मैं एक अमरीकी हूँ—जब कि अभी एक शब्द भी मेरे मुख से नहीं निकलता था—यह मेरे लिए एक महान् रहस्य है ।

उन्होंने कहा : "वे मुझे अमरीकी हैट से पहचानते हैं ।" मैंने फ्रेंच हैट ले लिया परन्तु क्या इससे मुझे वे फ्रेंच समझने लगे ? नहीं, बिलकुल नहीं ।

उन्होंने कहा : "वे मुझे अमरीकी नैकटाई से पहचानते हैं ।" मैंने स्विज़ नैकटाई ले ली परन्तु क्या मुझे स्विज़ समझा गया ? नहीं, बिलकुल नहीं ।

उन्होंने कहा : "वे मुझे अमरीकी ओवरकोट से पहचानते हैं ।" मैंने आस्ट्रिया का ओवरकोट ले लिया परन्तु क्या उन्होंने इससे मुझे आस्ट्रिया का समझा ? नहीं, बिलकुल नहीं ।

फ्रेंच हैट, स्विज़ नैकटाई और आस्ट्रिया का कोट पहन कर जब मैं ऑस्टिन मोटर में—जिस पर कि लाइसैन्स प्लेट जी. बी. (ग्रेट ब्रिटेन) लगी हुई थी—मैं जहाँ जहाँ भी गया—बिना एक शब्द भी बोले—अमरीकी पहचान लिया गया ।

एक स्थान पर एक वेट्रेस ने कहा : "आप जिस तरह देखते और चलते हैं उससे पहचाने जाते हैं ।" परन्तु उसने मुझे उस समय अमरीकी पहचाना था जब कि मैं बैठा हुआ था और उसकी ओर नहीं देख रहा था ।—

—'एमेरिकन ट्रेडीशन' से

अवसान

शेखर बाबू : मध्यवर्ती गृहस्थ
रेखा : शेखर बाबू की पत्नी
अनूप : शेखर बाबू का लड़का
अनीता : शेखर बाबू की लड़की
मुन्शी जी : सेठ गिरधारी लाल के मुन्शी
समय : रात के साढे आठ बजे

[शेखर बाबू का कमरा। पीछे खिड़की में नीला पर्दा झूल रहा है। खिड़की के पास एक पलंग पर शेखर बाबू लेटे हैं। कमरे में एक ओर दरी बिछी है, जिस पर एक मसनद रखी है। पलंग के पास एक मेज़ पर दवा की कुछ शीशियाँ रखीं हैं। दीवारें सूनी हैं।

शेखर बाबू। अवस्था लगभग पचास वर्ष। बीमार। कृश गात। मुरझाया चेहरा। लेटे हैं, जैसे थक कर चूर हो गए हों। बीच बीच में खाँसी का दौरा-सा उठता है।

रेखा। अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष। अधेड़, समय की मार से दुर्बल हो आई काया। साँवला रंग। बीच बीच में हाथ के कपड़े की मरम्मत करती जाती है।]

शे० बाबू : सुना तुमने ?

रेखा : सुन लिया। तुम अपना जी हलका न करो।

शे० बाबू : क्या न करूँ ? (खाँसते हैं) तुम समझती हो, जो कुछ सेठ जी कहते हैं, वह ठीक है ?

रेखा : ठीक न भी हो, तो भी क्या होता है ? (कुछ रुक कर) मजबूर होकर इन्सान क्या नहीं करता ? पर छोड़ो इस बात को...तुम ज्यादा सोचोगे, तुम्हीं भोगोगे और कोई नहीं।

शे० बाबू : भुगत तो मैं पिछले छः महीनों से रहा हूँ। पर अपनी इज्ज़त......

रेखा : (चिढ़ कर) दुबारा नाम लेना इज्ज़त का। (तीखे स्वर में) भला ग़रीबों की भी कहीं इज्ज़त होती है ?

शे० बाबू : (खाँस कर) ठीक कहती हो। हम ग़रीब हैं। हमारी इज्ज़त नहीं है। पर हमारा स्वाभिमान तो है।

रेखा : स्वाभिमान... ..स्वाभिमान की बात न चलाओ। जब कल को मकान की कुड़की आएगी, बिरादरी वाले उंगलियाँ उठाएँगे, देनदार दरवाज़ा पीटेंगे, तब तुम्हारा स्वाभिमान क्या गल कर बह नहीं जाएगा ?

शे० बाबू : (ठण्डी साँस लेकर) तो क्या करूँ ?

रेखा : और यह छोटी-सी ज़मीन लेकर कौन-सा महल खड़ा कर लोगे ? सेठ जी माँगते हैं दे दो।

शे० बाबू : (जैसे तड़प कर) क्या कहती हो ? मैं ...मैं ज़मीन दे दूं ? सेठ को ? मैं सेठ को ज़मीन दे दूं ? ज़मीन...जिसे मैंने अपने पसीने की गाढ़ी कमाई से खरीदा था, वह ज़मीन...वह ज़मीन मैं सेठ को दे दूँ ? (हांफने लगते हैं)

रेखा : (चिढ़ कर) नहीं, उस ज़मीन को सजा कर रखे रहो। बड़ी लायक तुम्हारी लड़की है न, जिसके लिए ज़मीन खरीदी है। हुंह।

शे० बाबू : मेरी लड़की को कुछ मत कहो रेखा। बह लड़की नहीं...

रेखा : (व्यंग्य से) लड़की नहीं, देवी है देवी। जिसके मारे घर से निकलना मुहाल हो गया है।

शे० बाबू : तुम तो माँ हो रेखा। अपनी लड़की के मन के भावों को पढ़ने की कोशिश करो।

रेखा : तुम्हीं पढ़ो। तुम्हारे बच्चे, तुम्हारा घर, तुम्हारी ज़मीन। तुम जानो। मुझे क्या लेना देना है। कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरी छांडि न होउब रानी।

शे० बाबू : (खाँस कर) अजीब हालत है तुम्हारी।

रेखा : हां, हालत सब को दिखती है। मेरी फ़जीहत कोई नहीं देखता। मुहल्ले पडोस की औरतें बीस तरह की बातें सुनाती हैं...। आवाज़ बना कर। इतनी बड़ी लड़की अभी तक घर में बैठी है...और उस कमबख्त को भी जाने क्या भूत सवार हो गया

है जो...

शे० बाबू : (क्रोधित होकर) रेखा ।

रेखा : उसी तरह) आज तुम चिल्ला कर मुझे खामोश नहीं कर सकते, इसे समझ लो । अनीता के हाथ पीले करने ही हैं ..और जब तुम छः महीने से खाट पर पड़े हो तो इसके सिवा कोई चारा नहीं कि वह ज़मीन सेठ को बेच दो...कम नहीं, सेठ उसके दूने दाम देने को तैयार है ।

शे० बाबू : पर अनीता...

रेखा : अनीता अनीता करने से काम नहीं चलेगा । अनीता सयानी हुई, उसका ट्यूशन करना मुझे ज़रा भी अच्छा नहीं लगता ।

शे० बाबू : (चौंक कर) अनीता ट्यूशन करती है...यह तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया रेखा ?

रेखा : इसलिए, कि मैं समझती थी, तुम खुद इसे समझोगे । पर...और भी सुन लो । अनूप ने अखबार बांटने का काम ले लिया है । और सुनोगे ?

शे० बाबू : बस करो रेखा ! बस करो ! यह सब...यह सब मत सुनाओ रेखा...

[इसी समय द्वार पर खटपट होती है । रेखा उठती है । दरवाज़ा खोलती है ।]

रेखा : कौन है ?

नेपथ्य से : अजी मैं हूँ मुन्शी तोताराम ।

रेखा : (दरवाज़ा खोल कर) आइए मुन्शी जी । आइए, बैठिए ।

[मुन्शी तोताराम । अवस्था बत्तीस वर्ष के लगभग । सांवला रंग । दुबला पतला शरीर । आँखों पर गोल फ्रेम का चश्मा ।]

मुन्शी जी : बैठते हुए । जय राम जी की शेखर बाबू । कहो, तबीयत कैसी है ?

शे० बाबू : (उदास होकर) किसी तरह चल रहा हूँ मुन्शी जी ।

मुन्शी जी : शो तो शब किश्मत की बात है शेखर बाबू । (इधर उधर देख कर) आज बड़ी बिटिया नहीं दिखाई दे रही है ! क्या सो रही है ?

शे० बाबू : नहीं...

रेखा : सोना उसके भाग्य में नहीं है ।

मुन्शी जी : फिर तो [illegible] पढ़ती होगी । क्यों मालकिन ?

रेखा : पढ़ती तो नहीं ..

शे० बाबू : मुन्शी जी को कुछ चाय वाय...

मुन्शी जी : नहीं नहीं बाबू । शो रहने दो । और...बच्चा कहाँ गया ?

शे० बाबू : कहीं गया होगा । आने का समय हो गया है । आता होगा ।

मुन्शी जी : आप बहुत बीमार रहते हो बाबू । शो, एक बात कहने को आया था मैं ।

शे० बाबू : कहिए । संकोच कैसा ?

मुन्शी जी : आज शेठ जी ने कहा है, उश जमीन के शाढ़े तीन हज़ार ले कर उसे हमें दे दो...तुम नहीं जानते बाबू । सेठ बड़ा आदमी है । यूँ नहीं दोगे, जबरदस्ती ले लेगा ।

शे० बाबू : (क्रोध में) क्या कहा ? जबरदस्ती ले लेगा ? खून पी जाऊँगा सेठ का पर एक इंच ज़मीन नहीं दूँगा ! सेठ हमें समझता क्या है ?

मुन्शी जी : शो तो तुम जानो बाबू । पर सेठ बड़ा आदमी है, कहता था, ज़मीन दे दो, तो बड़ी बिटिया के बिहाव में भी मदद कर देंगे ।

शे० बाबू : (व्यंग्य से तो मैं अपनी लड़की के ब्याह लिए चन्दा इकट्ठा करूँगा ? (खांसते है तुम निकल जाओ यहाँ से मुन्शी वरना...

रेखा : चुपचाप लेटे रहो । बेकार क्यों चिल्लाते हो । आप जाइए मुन्शी जी । जब किस्मत से टक्कर लेनी होती हैं तो, शक्कर नहीं मिला करती ।

मुन्शी जी : शो तुम्हारी मरजी है मालकिन । पर सेट आमीर आदमी है । तुम्हारी लड़की रानी बनकर रहेगी, रानी ।

रेखा : पर मेरी लड़की...

शे० बाबू : क्या सेठ...(स्वर को कोमल करके । विलास बाबू से अनीता की...

मुन्शी जी : (हंसकर) शो नहीं बाबू, शो बात नहीं । विलाश बाबू तो अभी बच्चा है । शेठ की शेठानी तो पिछले शाल गुजर गई...अब शेठ अपनी...

शे० बाबू : (आवेग में तुम निकल जाओ मुन्शी । मैं अपनी लड़की का गला घोट दूँगा । पर...पर उस बूढ़े के साथ...नहीं नहीं, यह कमी नहीं हो सकता ।

(खाँसते हैं)

[इसी समय अनीता का प्रवेश। अवस्था बीस वर्ष छरहरा शरीर। गोरी। भोली। सुन्दर। सादे सूती साफ़ कपड़े। आते ही ताके पास पहुँचेती है]

अनीता : कैसी तबियत है पिता जी ?

मुन्शी जी : अच्छी हो बेटी ?

अनीता : (रूखाई से) नमस्ते मुन्शी जी। (पिता से) आप फिर हाँफ रहे हैं। पिता जी।

शे० बाबू : (सम्हार कर नहीं नहीं, मैं अच्छा हूँ बेटी बिल्कुल अच्छा।

अनीता : सो तो मुझे दिख ही रहा है, कि आप कितने स्वस्थ हैं। (उदास होकर) और . मुसम्बी का रस तो आपने पिया नहीं होगा, न ?

शे० बाबू : क्या करूँगा। रस पीकर अनी बेटी ?

रेखा : (जो अब तक सिलाई करने में व्यस्त थी, अब एक दम उबल पड़ती है) हाँ, रस पीकर कहीं अच्छे हो गए...तो घर का जंजाल, देनदारों का देना पखना...सब सिर न पड़ जाएगा... ?

अनीता : (चीख कर) माँ।

मुन्शी जी : शो बात मत बोलो मालकिन, भगवान् शब भला करेगा! शब भला करेगा। अच्छा मैं चलता हूँ...राम राम।

शे० बाबू : राम राम।

[मुन्शी तोताराम का प्रस्थान।]

शे० बाबू : (अनीता से) तुम चिन्ता न करो बेटी। तुम्हारी माँ ने बहुत दुःख उठाए हैं मेरे साथ, उसे मुझ पर बिगड़ने का पूरा अधिकार है।

रेखा : (जैसे व्यथित होकर) फिर मैं क्या करूँ ? ज़माने भर की बातें, दुनिया की उल्टी सीधी तोहमत, मुझसे नहीं सही जाती।

अनीता : परेशान न हो माँ। अब अपने दुःख के दिन कटने वाले हो आए हैं।

शे० बाबू : सो कैसे अनीता ?

अनीता : गर्ल्स हाई स्कूल में...

रेखा : वह सब नहीं होगा अनीता। इतना निश्चय जान लो।

अनीता : माँ! तुम जानती हो कि यह सब कितना आवश्यक हो गया है, फिर...

शे० बाबू : तेरी माँ ठीक कहती है! अनीता, तुझे उसकी बात मान लेनी चाहिए।

[द्वार पर कई मनुष्यों की आवाज़ सुनाई पड़ती है...“धीरे धीरे’...“सम्हाल कर” आदि।]

नेपथ्य से : शेखर बाबू! शेखर बाबू!

अनीता : (उठ कर) कौन है ?

नेपथ्य से : दरवाज़ा खोलो बेटी, जल्दी...

[दरवाज़ा खुलता है, और अनीता चीख पड़ती है।]

अनीता : (चीख कर) हाय भैया।

रेखा : (घबरा कर) क्या हुआ ?

शे० बाबू : (खाँसते हुए अरे। बेटा। अनूप। तुझे क्या हो गया ?

रेखा : सर में . खून...पट्टी...

एक व्यक्ति : घबराएँ नहीं शेखर बाबू। डाक्टर वर्मा से पट्टी बँधवा कर ही घर लाएँ हैं।

दूसरा व्यक्ति : साइकिल और ट्रक की टक्कर हो गई थी। बच्चे के घाव काफी आ गया है। दारी...

रेखा : (रोकर) हाय मेरा अनूप। मेरा अनूप। मेरा बच्चा। मेरा लाल।

अनीता : (शेकर बाबू से) पिता जी घर में एक एक कौड़ी नहीं है... अगर आप कहें तो...

[इसी समय मुन्शी तोताराम का प्रवेश बाक़ी सब लोग चले जाते हैं।]

मुन्शी जी : शेखर बाबू। बच्चा को क्या हो गया हम तो अभी शुना, भागा-भागा आया। शेठ ने यह रुपिए भेजे हैं, कहा है, दवा ठीक से कराना

शे० बाबू : (रोकर) मैं तो लुट गया मुन्शी।

अनीता : घबराइए मत पिता जी।

रेखा : अभी क्या देखना बाक़ी है ? भगवान्! यह दिन दिखाने से पहले मुझे उठा लेते...अपने जवान बेटे की यह गति...(गला भर्रा जाता है।)

मुन्शी जी : शो तो ठीक है मालकिन। शेठ के रुपिए ले लो। ज़मीन उशे दे दो। बच्चा का इलाज भी कराओ, बाबू का भी, और बिटिया का...(अनीता की ओर देखता है)

अनीता : (दृढ़ स्वर में) मुन्शी जी। अपने सेठ से कहिएगा, अनीता तैयार है।

शे० बाबू : क्या कह रही है अनीता ?

रेखा : क्या खाली ज़मीन लेकर सेठ जी छोड़ न देंगे मुन्शी ?

मुन्शी जी : (कुटिलता से मुस्कुरा कर) शो बात नहीं मालकिन। ज़मीन तो शेठ तब लेगा जब बिटिया.....(अर्थ भरी दृष्टि से अनीता की ओर देखता है)।

अनीता : आप रुपए दे जाइए मुन्शी जी, मैं तैयार हूँ।

मुन्शी जी : लो मालकिन ये पचाश रूपए शम्हालो। मैं शेठ को खुश खबरी शुना आऊँ...तुम धन्य हो बिटिया। धन्य हो।

[मुन्शी जी का प्रस्थान। रेखा एक बार हाथ में कपड़े रुपयों की ओर देखती है, फिर अनूप की ओर, तब अनीता की ओर देख कर सिसकने लगती है।]

रेखा : हाय अनीता ! मेरी बच्ची !

शे० बाबू : (स्वतः) इस समाज ने मेरा रक्त चूस लिया।...अनीता अनूप !......अनीता सेठानी बनेगी...नहीं तो अनूप...मर जाएगा...शेखर मर जाएगा...

अनीता : आप क्या कह रहे है पिता जी ?

शे० बाबू : अनूप...सेठ...अनीता...रुपया... (पागलों की तरह हंसता है) मैं कल अपनी बिटिया का ब्याह रचाऊँगा। बूढ़े सेठ के साथ। (हँसता है) ज़मीन बेच दूँगा...(हँसता है) और कल...कल अपनी बीबी की भी बोली लगा दूँगा। हा हा हा।

रेखा : यह क्या कह रहे हो ?

शे० बाबू : रुपया ! रुपया ! रुपया (सोचते हुए पागलपन से) रुपया मुझे खा जाएगा रेखा...रुपया...

अनूप : (कराहकर) पानी।

[रेखा उसे पानी पिलाती है]

रेखा : लो बेटा !

अनूप बोलता नहीं आँख बन्द कर लेता है।

शे० बाबू : (हँस कर) पानी; नहीं, पानी, क्यों पिला रही हो ? उसे रुपया पिलाओ (स्वर विकृत हो जाता है) रुपया पिलाओ ! रुपया...रुपया.. (जैसे स्वर धीमा पढ़ पर समात हो जाता है)

रेखा : अरे इन्हें क्या हो गया अनीता ! सुनो। कुछ बोलो तो। (रोकर) तुम......तुम्हें क्या हो गया ?...

अनीता : (ठण्डी साँस ले कर) खूब रो लो माँ। पिता जी अब कभी तुम्हारा रोना नहीं सुनेंगे.. पिता जी चले गए। (सिसक उठती है)

पर्दा धीरे-धीरे गिरता है।

—कुमारी इन्दिरा 'नूपुर'

६३, लाउदर रोड, दरभंगा कालोनी,
इलाहाबाद

आस्ट्रेलिया में श्रमिक वर्ग

आस्ट्रेलिया में जन-संख्या बहुत कम है। आस्ट्रेलिया में इतना अधिक काम है कि करनेवाले मिलते ही नहीं। अभी के एक रिकार्ड से ज्ञात होता है वहाँ ४६,००० स्थान रिक्त हैं जिनकी पूर्ति करने वाला कोई नहीं है। श्रमिकों के कम होने से वहाँ श्रमिकों को अधिक वेतन देना पड़ता है। वहाँ औसतन एक श्रमजीवी को १३ पाउण्ड प्रति सप्ताह दिए जाते हैं। वह नहीं चाहता कि उसे अधिक कार्य मिले जिससे उसे और अधिक वेतन प्राप्त हो। एक श्रमिक ने एक बार एक अमरीकी दर्शक से कहा था : "ठीक है। आप डालर के लिए काम करते हैं। हम अपने आनन्द के लिए कार्य करते हैं। बताइए,—हम दोनों में कौन अच्छा है ?"

प्रजातन्त्र और शिक्षा का आदर्श

प्रजातन्त्र : भारत के विधान में न्याय, स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के जो महान् सिद्धान्त स्वीकृत किए गए हैं वे हमें शिक्षा में भी रखने होंगे। प्रजान्तत्र में हमें प्रत्येक व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की उन्नति का ध्यान रखना होगा। बिना सामाजिक न्याय के यह स्वतन्त्रता टिक नहीं सकती। सामाजिक न्याय का अर्थ है—व्यक्ति को दरिद्रता और अज्ञानता से बचाना। व्यक्तिगत उन्नति के साथ हमें सामाजिक सम्बन्धों की, दृढ़ता और साथ मिल कर चलने की कला भी उन्नत करनी होगी।

व्यक्ति की महत्ता तथा गौरव पर ही प्रजातन्त्र आधारित है। प्रजातन्त्र उस तानाशाही नारे को स्वीकार नहीं करता जो कहता है कि अकेला व्यक्ति अनुपयोगी है जब तक वह शब्द मशीन के पुरज़े के रूप में फ़िट नहीं कर दिया जाता। प्रजातन्त्र मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन का एक विशेष प्रयोग है अतः उसका अलग महत्व है।

शिक्षा का कार्य : शिक्षा का कार्य है प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और क्षमता का विकास करना, उसकी विशेष शक्तियों की खोज कर उनको शिक्षण द्वारा विकसित करना। शिक्षण का काम है उनको उत्तेजन और निर्देशन देकर उन्नत करना। ज्ञान की प्राप्ति और कला की योग्यता के द्वारा ही इन शक्तियों की उन्नति और विकास है।

शिक्षा की शिस्त कोई ऊपर से लाई हुई शिस्त नहीं किन्तु मीटर से निकली हुई है। वह परतन्त्र नहीं, आत्मतन्त्र है आत्म विकास ही सच्चा विकास है।

प्राचीन ग्रन्थों में कहा है शिक्षा का एक भाग आचार्य से दूसरा माता पिता से तीसरा स्वतः से चौथा संसार के अनुभव से प्राप्त होता है। जीवन में अनुभव का बड़ा महत्व है।

शिक्षा का आधार शारीरिक उन्नति है। उसके बिना मानसिक उन्नति की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

तीन शक्तियाँ : मनुष्य का मस्तिष्क त्रिविध है: विचार प्रधान, भावना प्रधान और क्रिया प्रधान। असल में ज्ञान भावना और इच्छा बिलकुल अलग नहीं की जा सकती। इन्हीं के अनुसार ज्ञान, भक्ति और कर्म का विभाजन किया गया है। तीनों शक्तियाँ प्रत्येक मनुष्य में कम या अधिक परिमाण में पाई जाती हैं। किसी में एक की प्रबलता होती है किसी में दूसरे की।

सन्तुलित शिक्षा प्रणाली : इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली में सभी को विकास का अवसर मिलना चाहिए। शिक्षक विद्यार्थी की विशेष रुचि पहचान कर उसी को विकसित करने का प्रयत्न करेगा। यदि वह विचार प्रधान है तो फिर उसे खोजना होगा कि उसका झुकाव साहित्य की ओर है या तत्व ज्ञान की ओर। यदि वह कला प्रधान है तो देखना होगा कि साहित्य संगीत या चित्र कला में से किस ओर उसकी रुचि है। यदि क्रिया प्रधान है तो वह विज्ञान या यन्त्र कला किस ओर झुकता है? माध्यमिक शिक्षा की अवस्था में इन विशेष रुचियों का पता लगा लेना चाहिए।

यह कहना ठीक नहीं कि अधिक बुद्धिमान् विद्यार्थी ही विश्व विद्यालय में जाते हैं बाक़ी हस्त कलाओं की ओर झुक जाते हैं। दोनों में एक ही दर्जे की बुद्धिमत्ता आवश्यक होती है। नवीन शिक्षा प्रणाली का काम होगा कि विचारात्मक और क्रियात्मक दोनों प्रकार की रुचियों को समान महत्व दें।

त्रिविध क्षेत्र : संसार भी त्रिविध है प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। शिक्षा का क्षेत्र भी त्रिविध होता है—प्राकृतिक वस्तुओं से सम्बन्धित, सामाजिक व्यापारों से सम्बन्ध और आध्यात्मिक जगत् से व्याप्त। प्रत्येक विद्यार्थी सभी क्षेत्रों में दक्षता तो पा नहीं सकता किन्तु परिचय तो सभी का होना ही चाहिए।

प्राकृतिक जगत् : प्रत्येक विद्यार्थी का अपने आसपास के प्राकृतिक संसार से कुछ परिचय तो होना ही चाहिए। यान्त्रिक शक्ति से प्राकृतिक संसार कितना बदलता जा रहा है यह भी उसे जानना आवश्यक है

प्रस्तर युग से यन्त्र युग—कितना परिवर्तन है ?

सामाजिक : साथ ही मनुष्य जिस समाज में रहता है उसके नियमों से भी उसे परिचित होना आवश्यक है। इतिहास उसकी राजनीति अर्थशास्त्र समाज शास्त्र आदि के नियमों का साधारण ज्ञान परमावश्यक है।

आध्यात्मिक : इसी प्रकार मनुष्य के आन्तरिक विश्व से परिचय पाने के लिए उसे आध्यात्मिक अन्तर्विश्व से परिचय होना आवश्यक हो जाता है। हमारे आदर्शों के लिए उसे अपनी मातृभाषा के साहित्य का जानना नितान्त आवश्यक है। भाषा में किसी जाति के आदर्श निहित रहते हैं। साहित्य में जाति के विचार और भावना उसकी आकांक्षा और इच्छाएँ निहित रहती हैं।

साहित्य के अध्ययन से भावनात्मा का विकास होता है। बालक के हृदय पर उसका बड़ा असर पड़ता है। मनुष्य की व्यक्ति समृद्धि तथा मानव सम्बन्धों की संश्लिष्टता उससे स्पष्ट होती है।

इसी प्रकार कला और संगीत से मनुष्य की भावना उन्नत होती है। उससे सौंदर्य शिष्टता और कलात्मक जीवन की शिक्षा मिलती है।

जीवन के लिए तैयार करने के हेतु विद्यार्थी को तत्व ज्ञान की शिक्षा आवश्यक है जिससे जीवन का उद्देश्य तथा जीवन की कला का ज्ञान होता है। उसे अपने प्राचीन युगों से संचित ज्ञान का भान होता है। जब सभ्यता खतरे में है तब तत्वज्ञान, कला और साहित्य की हम किसी प्रकार उपेक्षा नहीं कर सकते। हममें वस्तुओं की कमी नहीं मानसिक दृष्टिकोण की कमी है। शिक्षा ने नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा की यही हमारी विपत्ति का कारण है। हमने विद्याओं और कलाओं में भेद उपन्न किया। उन्हें खण्ड-खण्ड कर डाला। इसी लिए यह अवस्था उत्पन्न हुई। विद्याएँ विभिन्न नहीं किन्तु एक ही विद्या की अभिन्न अंग है। यही ज्ञान आज आवश्यक है।

प्राकृतिक सामाजिक और आध्यात्मिक विद्याओं की एकता : विद्याओं के विभिन्न विभाग विज्ञान समाज शास्त्र और आध्यात्मिक विद्या परस्पर विरोधी नहीं। विज्ञान का उद्देश्य केवल उन्नति नहीं किन्तु सत्य की खोज है। तत्व ज्ञान के समान उसका भी आदर्श सत्य अनुसंधान है। भाषा विज्ञान में भी हमें भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता है—पाणिनि का व्याकरण इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

विज्ञान यदि तथ्यों को खोजता है तो समाज शास्त्र घटनाओं को और आध्यात्म शास्त्र मूल्यों को। उनके मार्ग भिन्न हैं किन्तु सभी में एक दूसरे का उपयोग होता है।

विज्ञान में केवल तथ्य ही नहीं कल्पना भी लगानी पड़ती है। तत्वों का मूल्यांकन करते समय भी विश्लेषण आवश्यक होता है और इतिहास में भी तथ्यों की खोज के साथ निर्णय शक्ति लगानी पड़ती है। इसी प्रकार कोई भी विद्या का क्षेत्र ले हमें गम्भीर पर्यवेक्षण, गहन विचार तथा निष्पक्ष निर्णय तीनों की आवश्यकता होती है।

इसलिए वर्तमान संसार में जिसे निर्वाह करना है उसे तीनों विद्याओं की आवश्यकता है—१ विज्ञान और यन्त्र विद्या २ सामाजिक शास्त्र जिसमें इतिहास सम्मिलित है ३ मानव शास्त्र (Humanity) जिसमें भाषा और ललित कलाएँ नीति धर्म और तत्व ज्ञान सम्मिलित हैं।

मन की एकता और ज्ञान की स्वतन्त्रता : यदि शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण जीवन के लिए मनुष्य को शिक्षित करना है तो उसे संपूर्ण मनुष्य को शक्ति युक्त बनाना होगा उसे प्रकृति समाज और आत्मा के तत्वों से अलग करना होगा। मनुष्य का मस्तिष्क भी एक है और ज्ञान भी परस्पर संबद्ध है। प्रत्येक विद्या से मनुष्य को मानसिक दृष्टि कलात्मक आनन्द और क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त होना चाहिए।

हमें सम्पूर्ण मनुष्य को शिक्षित करना है—कार्ल मार्क्स ने कहा था—उत्पादक श्रम को शिक्षा से संबद्ध करो। गांधी ने भी कहा कार्य के द्वारा शिक्षा दो। दोनों एक मत हैं चाहे हम विज्ञान की खोज कर रहे हों, चाहे साहित्य में विचार कर रहे हों, चाहे हस्त कला सीख रहे हों—हमारा सारा व्यक्तित्व क्रिया शील होना चाहिए।

शिक्षा के सामने दो उद्देश्य हैं—मनुष्य को नागरिकता तथा प्रजातन्त्र के लिए तैयार करना तथा

किसी कला में दक्ष बनाना जिससे वह अपनी जीविका चला सके। ज्ञान को शक्ति कहा गया है। चूं कि ज्ञान को शक्ति में परिणत करना है अतः उसे शुद्ध और जीविकोपयोगी दोनों ही बनना होगा।

यदि विद्यार्थी अपने विषय में रस नहीं लेता है तो सारी शिक्षा नीरस और शुष्क हो जाती है। नीरसता से प्राप्त ज्ञान मृत ज्ञान है जो कि अज्ञान से भी ख़राब है। शिक्षा तो विचार की क्रिया है—केवल तथ्यों से दिमाग़ को भरना नहीं है। जो हम पढ़ें उसका उपयोग भी हम कर सकें। उसे शक्ति सम्पन्न करें। प्रकाश युक्त बनाएँ—वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है—"तेजस्विनावधीनमस्तु।"

शिक्षा केवल बौद्धक वस्तु नहीं है उसे चरित्र में भी उतारना होगा। विद्या की उन्नति शिक्षा का उद्देश्य अवश्य है किन्तु व्यक्तित्व का विकास और उच्च जीवन भी उसका लक्ष्य होना चाहिए। केवल बाह्य बन्धनों से मुक्ति काफ़ी नहीं है—असली मुक्ति आन्तरिक होती है—मन और आत्मा की मुक्ति ही असली मुक्ति है। मनुष्य स्वतन्त्र नैतिक व्यक्तित्व है—शुभ अशुभ का विवेक स्वतन्त्रता का मूल सूत्र है कभी कभी हम ग़लत बात चुन सकते हैं किन्तु प्रजातन्त्र में तो हमें ग़लत चुनने का भी अधिकार होना चाहिए। तभी हम ठीक रास्ते पर आ सकते हैं।

यद्यपि मनुष्य पार्थिव संसार में रहता है पर वह अपार्थिव वस्तुओं का मूल्य करता है। हम चाहे उसे फाँसी पर चढ़ा दें, चिता में जीवित जलाएँ भूमि में गाड़ दें जेलों में यातना दें या बोटी बोटी काट डालें किन्तु सत्य के मार्ग से उसे हटा नहीं सकते। शिक्षा में यह गुण होना चाहिए कि वह मनुष्य को अपनी आत्मा के अनुसार चलने निर्भीकता पूर्वक वर्त्ताव करने और अपने विचारों पर दृढ़ रहना सिखाए स्वतन्त्रता और न्याय तभी टिक सकता है जब यह घोषित करने वाले मनुष्य प्रचुर संख्या में हों कि हम मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर की आज्ञा पालना करेंगे। आत्मा के लिए हम सारी पृथ्वी का त्याग करने को तैयार हो जावें। "आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।" प्लेटो ने कहा है कि मनुष्य को अपने जीवन या मरण के विषय में नहीं सोचना चाहिए। उसे तो केवल यह सोचना चाहिए कि वह उचित कर रहा है या अनुचित।

प्राचीन भारत में शिक्षा जीविकोपार्जन की नहीं किन्तु नवीन जीवन की साधिका थी। आत्मिक जीवन में प्रवेश सत्य के खोज की दीक्षा तथा धर्माचरण का प्रारंभ थी। इसी कारण उसे द्वितीय जन्म माना गया था।

समाज का स्थापित और परिवर्त्तन : यह भी सच है कि शिक्षा समाज की धाराओं को अक्षुण्ण रखने का साधन भी है। शिक्षा वह साधन है जिससे समाज अपने अपने आपको प्रवाहित रखता है। किन्तु समाज के क़ायम रखना ही यथेष्ट नहीं है—उसे परिवर्त्तन भी आवश्यक है शिक्षा मनुष्य को केवल नागरिक न बनाए वह उसे व्यक्तित्व भी प्रदान करे। बहुत सी शिक्षा प्रणालियाँ व्यक्ति ही को अपने ढाँचे में ढाल देती है। इससे हम ने तृत्व नहीं उत्पन्न कर सकते। शिक्षा का उद्देश्य तो नवीन मूल्यों के लिए भूमि तैयार करना है—पुरानी लकीर को पीटना नहीं। कोई भी प्रणाली स्थिर नहीं किन्तु परिवर्त्तन शील होनी चाहिए जो नवीन परिस्थितियों में अपने को ढाल सके। प्रलाणियाँ तो सब बदलती रहेंगी। स्वतन्त्र समाज में स्वतन्त्र मनुष्य विकास ही प्रजातन्त्र का सिद्धान्त है। इसी आदर्श की ओर हमें बढ़ना है।

सामाजिक न्याय : जिस प्रकार हम मनुष्य की शक्तियों को खण्ड में नहीं बाँट सकते उसी प्रकार मनुष्य को समाज से भी अलग नहीं कर सकते। जब समाज को भय आवश्यकता और अज्ञान से मुक्ति करना हमारा उद्देश्य है तब हम अपने चारों ओर दरिद्रता और अज्ञान, रोग और मृत्यु कारण ताण्डव देखते हुए चुप नहीं बैठ सकते। यदि हम प्रजातन्त्र का दम भरते हैं तो सारी प्रजा के माप दण्ड को ऊँचा उठाना हमारा धर्म हो जाता है। इससे राज्य क्रन्ति के बाद ही अज्ञान दारिद्रय और रोग का नाम मिटाने का निश्चय कर विज्ञान उयोग और ज्ञान के प्रचार से देश का काया पलट कर दिया जा सकता है।

यान्त्रिक शिक्षा : हमारी सरकारें बिजली और सिचाई बाँधों और पुलो की लाम्बी योजनाएँ बनाती है किन्तु इनके लिए हमारे पास उयुपक्त विद्यार्थी कहाँ है! जब तक यान्त्रिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध न किया जाएगा हमारा देश उन्नत न होगा।

ग्रामोन्नति : भारत ग्रामों का देश है—इसका उच्चारण अधिक किया जाता है किन्तु इस दिशा में काम कम होता है। सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने १०० वर्ष पहले ग्राम संस्था की महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा था :

“सारी क्रान्तियों और परिवर्त्तनों में ग्रामों ने भातर की रक्षा की है। अतः इनमें कभी गड़बड़ी उत्पन्न न हो इसका ध्यान रखा जाए।” पर उनको विनष्ट कर दिया गया। अब फिर उनका पुनरुत्थान हो रहा है। ग्रामोद्योग और सहकारिता.के द्वारा ही वे अपने प्राचीन उन्नत स्थान पर पहुँच सकते हैं। हमें विकेन्द्रित समाज की रचना करनी है जिस जिसका आधार कृषि और ग्रामोद्योग होंगे। साथ ही नगरों में बड़े-बड़े उद्योगों से उनका सन्तुलन और सहयोग स्थापित करना ही मशीनों का उचित स्थान हमें समझना है—वे मनुष्य की सहायक और सेवक है, मालिक नहीं। उचित निमन्त्रण और वितरण के द्वारा जीवन की आवश्यकता वस्तुएँ उत्पन्न कर हमें समाज के सारे मानों में पहुँचाना है।

यान्त्रिक और वैज्ञानिक शिक्षा का उचित स्थान भी निश्चित हो जाना चाहिए। हमने पार्थिव और भौतिक वस्तुओं पर अधिकार पा लिया किन्तु सामाजिक शक्तियों का निमन्त्रण करने में हम अशक्त रहे।

इसलिए शिक्षा में सामाजिक दृष्टिकोण अत्यन्त आवश्यक है। यन्त्र और विज्ञान के विद्यार्थियों को भी उच्च सामाजिक आदर्शों से प्रेरित होना चाहिए। केवल व्यक्तिगत दक्षता काफी नहीं नहीं है, उसका उपयोग सामाजिक हित में होना चाहिए।

इसी प्रकार केवल राजनितिक संस्थाओं का ज्ञान काफ़ी नहीं है जब तक उनकी नैतिक प्रेरणा का ज्ञान न हो। हमें केवल भावना से काम न ले कर बुद्धि और तर्क द्वारा निर्णय करने की शक्ति आनी चाहिए।

इसी तरह प्राकृति विज्ञान भी चकाचौंध में सामाजिक विज्ञानों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

जबलपुर

—व्योहार राजेन्द्र सिंह

बड़ा और छोटा

एक बार एक अंग्रेज़ न्यूयार्क में गया। उसने न्यूयार्क के एक स्टोर में टुथ पेस्ट की एक सबसे छोटी ट्यूब को माँगा।

उसे एक ट्यूब दी गई जिस पर “ लार्ज ” (बृहत्) लिखा हुआ था।

अंग्रेज़ ने ज़रा रुष्ट हो कर कहा : “देखिए साहब मैंने तो आपसे सब से छोटी ट्यूब की माँग की थी। आपने तो मुझे बड़ी साइज़ की ट्यूब ला कर दे दी।

विक्रयकर्ता ने उत्तर दिया : “महाशय ! इस देश में तीन साइज़ होते हैं : “लार्ज (बृहत्), जाइएट (असाधारण), और सुपर (अत्यन्त असाधारण)। आपको सबसे छोटी ट्यूब चाहिए और इन तीनों में ‘लार्ज’ (बृहत्) ही सब से छोटी है और इसी कारण वही आपको दी गई।”

—“डर्बीशायर कंट्रीसाइड” से

वेदों और उपनिषदों की रूपक शैली का 'महाभारत' और पुराणों पर प्रभाव

वेदों में अलंकारिक ढग से जो वर्णन किए गए हैं, उन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों ने एक नया रूप दिया और उन्हीं वर्णनों को 'महाभारत' तथा पुराणों में कथा का रूप देकर रोचक और सहज बोध गम्य बनाया है[1]। 'महाभारत' तथा पुराणों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों की अनेक कथाएँ हैं। इन दोनों वंशों की उत्पत्ति वैवस्वत मनु से हुई है। सूर्यवश का प्रवर्तक इक्ष्वाकु है और चन्द्रवंश का पुरूरवा। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि सूर्यवंश का मूल—विवस्वान् या सूर्य और चन्द्रवंश का मूल चन्द्र दोनों आकाशीय पदार्थ हैं। वेदों ने—मनुष्य शरीर, पृथ्वी के प्राकृतिक पदार्थ और आकाशीय पदार्थ– इन तीन संसारों की कल्पना की है। हम यहाँ पुराणों की कुछेक कथाओं का निर्देश कर यह बताना चाहते हैं कि कि इनके मूल वेद हैं और रूपक शैली में पुराणों ने इनको वेदों से ही ग्रहण किया है।

पुराणों में एक कथा बहुत प्रसिद्ध है, जिसका सारांश है कि राजा पुरूरवा ने इन्द्र की एक अप्सरा उर्वशी से विवाह किया और उससे 'आयु' नाम का एक पुत्र पैदा हुआ।

यजुर्वेद[2] में यज्ञाग्नि को मथता हुआ ऋषि अग्नि से कहता है, कि—हे अग्नि, तू उर्वशी है, तू आयु है, तू पुरूरवा है. तुझे गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों से मथकर निकालता हूँ।' यजुर्वेद के ही एक दूसरे मन्त्र 'सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस.' में बताया गया है कि सूर्य गन्धर्व है और उसकी किरणें अप्सराएँ हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अग्नि ही सूर्य है और वही गन्धर्व इसलिए कहा जाता कि हवनीय पदार्थ उसमें होम किए जाते हैं, जो सुगन्धि फैलाते हैं। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्नि से अग्नि की उत्पत्ति होती है। अप्सरा उर्वशी अग्नि पुरूरवा अग्नि से 'आयु' अग्नि का पैदा होना संभव है।

पुराणों में उर्वशी के अतिरिक्त मेनका, सहजन्या, प्रम्लोचन्ती, पुंजिकस्थला, क्रतुस्थला, विश्वाची और घृताची आदि जिन अप्सराओं का वर्णन है उन सबके नाम यजुर्वेद[3] में अप्सराओं के रूप में ही मिलते हैं। यहीं यजुर्वेद[4] में 'अग्ने आयुरसि' लिख कर आयु को स्पष्टतया अग्नि कहा गया है। ऋग्वेद[5] में यह कह कर कि 'त्वमग्ने प्रथमं आयुं, आयवे देवा अकृण्वन्'—बताया गया है कि अग्नि ने पहले आयु को बनाया, फिर आयु से देवताओं को। इसका समर्थन हमें स्मृति में भी उद्धृत—'पुरूरवार्द्रवाश्चैव विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः' पुरूरवा और आर्द्रवा वैश्वानर हैं— वाक्य से मिलता है।

'महाभारत' में राजा नहुष की एक कथा इस प्रकार है—'राजर्षि नहुष ने पुण्यकर्म के फल से इन्द्रत्व प्राप्त किया। ऐसा पद पाने पर उसे घमंड हो गया। उसने ऋषियों से अपनी पालकी तक उठवाना आरंभ कर दिया। एक बार पालकी ढोते हुए अगस्त्य ऋषि के सिर पर नहुष ने लात से ठोकर मारी तो भृगु ऋषि को क्रोध आ गया और उन्होंने उसे साँप होने का शाप दे दिया। तत्काल नहुष साँप बन कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अहि, नाग आदि शब्द सर्प के पर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं। 'महाभारत' में नागों के भेद का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

आप्तः कर्कोटकश्चैव, शंखो बालिशिखस्तथा।
निष्ठानको हेमगुहो नहुषः पिंगलस्तथा॥[6]

यहाँ पर नहुष शब्द बादलों के अर्थ में लिया गया है। वैदिक निघण्टु भी 'अहि' का अर्थ बादल ही करता है। इसी बात को 'महाभारत' के वनपर्व में और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि —'अगस्त्येन ततोऽभ्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा—अर्थात् अगस्त्य तारा के उदय होते ही बादलों का ध्वंस हो जाता है।

वेदों में इन्द्र नाम सूर्य का है। 'महाभारत' की कथा का तात्पर्य वैदिक ऋचाओं का रहस्य कथा के रूप में यह खोलता है कि नहुष (बादलों) ने इन्द्र (सूर्य) के स्थान को प्राप्त किया अर्थात् आकाश को घेर लिया,

---

१. ५।२ २. १८।३८ ३. १५।१५।१८ ४. ५।२ ५. १।३१।११ ६. १।३५।८

किन्तु अगस्त्य ऋषि के तेज से वह ज़मीन पर गिर पड़ा अर्थात् वर्षा ऋतु बीत गई।

पुराणों में नहुष के लड़के का नाम ययाति बताया गया है। उसके दो पत्नियाँ थीं - एक तो शूद्र की कन्या और दूसरी वृषपर्वा की। ये तीनों भी आकाशीय पदार्थ ही हैं। ऋग्वेद[1] में लिखा है कि—'अग्ने अंगिरस्वत् अंगिरः ययातिवत्' अर्थात् तुम अंगिरस् की तरह हो और अंगिरस् ययाति की तरह है। एक दूसरे स्थान पर और स्पष्ट कहा गया है—'अंगिरसः सूनवस्ते अग्ने'[2] अर्थात् अंगिरस् अग्नि का लड़का अंगार है। इसी का समर्थन ऐतरेय भी करता है—'ये अंगाराः आसन् ते आंगिरसोऽभवन्।' अर्थात् जो अंगार थे वही आंगिरस् हुए। इससे यह प्रतीत होता है कि आंगिरस आकाश का नक्षत्र है, जो आग के अंगार की तरह चमकता है। ययाति को अंगार की तरह बताया गया है, इसलिए 'ययाति' भी कोई तारा है। शुक्र और वृषपर्वा नक्षत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं ही, जिसकी कन्या से पुराणों ने ययाति का विवाह कारण और उससे 'यदु', 'तुर्वसु,' 'पुरु,' 'द्रुह्यु' 'अनु'—ये पाँच लड़के पैदा हुए। ऋग्वेद के विभिन्न बारह मन्त्रों द्वारा इन पाँचों को भी आकाशीय पदार्थ बताया गया है। जैसे—

जो विद्युत् 'तुर्वश' में है, वह सूर्य की रश्मियों में आ गई—१।४७।७

अग्नि से 'तुर्वश' 'युद्ध' को दूर करते हैं—१।३६।१८

अन्तरिक्ष का रास्ता 'पुरु' है—८।१०।६

'यदु' सूर्य के द्वारा जाते हैं—८।६।१८—८।१०।६

हुत पदार्थों को ले जाने वाले 'पुरु'—१।१२।२

'अनु' का घर द्युलोक है—८।६६।१८

'पुरु' सूर्य के आश्रित है—१०।६४।५

इन्द्र माया करके 'पुरु' बन जाता है—६।४७।१८

'तुर्वश' 'यदु' को शचीपति इन्द्र पार कर देगा—४।३०।१७

जो इन्द्र और अग्नि यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु में है—१।१०८।८

प्रातःकाल का हवन 'पुरु' को प्रिय है—५।१८।१

प्रकाश से 'तुर्वश' 'यदु' को पार करो—१।१७४।६

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि ये सब संज्ञाएँ नक्षत्रों की हैं, जिन्हें मनुष्य के रूप में पुराणों ने स्वीकार किया है।

राजाओं, ऋषियों के नामों की भाँति नगरों, नदियों और पहाड़ों के भी रूपक वर्णन वेदों से पुराणों में आए हैं। पुराणों के अनुसार सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु ने अयोध्या नगरी बसाई थी। अथर्ववेद[3] के दो मन्त्रों में अयोध्या का वर्णन इस प्रकार है :

"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या
तासां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः
तस्मिन् हिरण्यमये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते
तस्मिन्यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु:"

'अथर्ववेद' शरीर रूप नगरी को अयोध्या कहता है, जिसमें आठ परिखाएँ और नौ द्वार हैं। इसमें जो हिरण्यकोश है, वह स्वर्गज्योति से आवृत है और यहाँ तिहरा प्रबन्ध है, जहाँ पर आत्मा की भाँति यक्ष बैठा हुआ है, जिसे ब्रह्मविद् लोग जानते हैं।

'ऋग्वेद'[4] में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, पहष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता और आर्जिकीया आदि साम से सम्बन्ध रखने वाली किरणें हैं। इन नौ किरणों के अतिरिक्त जो दसवीं किरण है, उसका नाम कपिला है। 'ऋग्वेद'[5] कहता है—'दशगर्भं चरसे धापयन्ते'—अर्थात् ये दसों किरणें पृथिवी में गर्भधारण करती हैं। इन्हें शरीर के सब से ऊपरी हिस्से में प्रतिष्ठित माना है। उसी प्रकार पुराणों ने भी इन्हें एक-एक के ऊपर अवस्थित किया है। उपनिषदों ने दो हाथ, दो चरण, एक मूत्रेन्द्रिय, एक मलेन्द्रिय और शरीर के मध्य भाग को शरीर का नियत स्थान माना है। पुराणों ने इन्हीं के आधार पर अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल रसातल और पाताल—इन सात लोकों की कल्पना की है।

वेदों में बताया गया है कि जीवात्मा जब गर्भ में प्रवेश करता है, तो उसका नाम 'सप्तवध्रि' होता है। रस, रुधिर, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातुएँ उसे बांधे रहती हैं। इसलिए उसे 'सप्तवध्रि'

---

१. १।३१।१७ २. १०।६२।५ ३. १०।२।३१।३२ ४. १०।७५।५ ५. ५।४७।४

संज्ञा दी गई। इसी सप्तवध्रि को ले कर क्षत्रिय गोत्रोत्पन्न ऋषि सप्तवध्रि की कथा पुराणों में इस प्रकार रोचक ढङ्ग से लिखी गई है—'सप्तवध्रि ऋषि के अनेक शत्रु थे, जो ऋषि को प्रति दिन रात में सन्दूक के अन्दर बन्द कर दिया करते थे। इस तरह ऋषि अपनी पत्नी से नहीं मिल पाते थे इसीलिए उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था, किन्तु लाचार थे। रात में स्त्री से वियुक्त रहने के कारण उनके कोई सन्तान भी न हुई तो एक रात को सन्दूक के अन्दर बैठे हुए ऋषि ने अश्वी देवता का स्मरण किया, वह वहीं प्रकट हुए। अश्वी देवता के अनुग्रह से ऋषि रात में अपनी पत्नी से मिले और वह गर्भवती हुई।'

किन्तु वेदों में ऐसी कोई कथा नहीं है। हाँ, सायण ने ऋग्वेद की सप्तमी, अष्टमी और नवमी ऋचाओं को 'गर्भस्राविणी उपनिषद्' कहा है। उनके मत से सप्तवध्रि ऋषि की पत्नी जब गर्भवती हुई तो ऋषि को भय लगा कि कहीं शत्रुओं को मालूम न हो जाए। इसलिए निर्विघ्न पुत्र हो जाने के निमित्त उसने इन तीन ऋचाओं को पढ़ा। सायण की यह कल्पना अनवद्य नहीं कही जा सकती है। इसका रहस्य तो भागवत के तृतीय स्कन्ध में कपिल और देवहूति के सम्वाद से खुल जाता है। कपिल जी अपनी माता देवहूति से गर्भस्थ जीव के सम्बन्ध में कहते हैं—माता, प्रथम रात्रि में तो वह वीर्य कलिल (गोंद के समान, पाँच रात बाद बुद्बुद् (बुलबुला), दसवें दिन कर्कन्धु (बेर) के फल के समान हो जाता है। एक मास में शिर, दूसरे मास में हाथ-पैर, तीसरे में नख-रोम, चौथे में धातु, पाँचवें में भूख-प्यास की इच्छा, छठवें में जरायु से बंधना और सातवें में वह जीवात्मा ऋषि अपने जन्म कर्म स्मरण करता है। उसे हज़ारों जन्मों की बातें याद आने लगती हैं, तब वह याचना करता हुआ, भयभीत कृताञ्जलि सप्तवध्रि ऋषि विह्वल वाणी से उसकी स्तुति करता है, जिसने उसे गर्भ में रखा है। 'भागवत' के टीकाकारों ने भी 'सप्तवध्रि' को समझने में भूल की है।

'ऋग्वेद' का एक सूक्त है, जो गर्भवती स्त्री के प्रसवकाल में सही सलामत ढङ्ग से बच्चा पैदा होने के लिए पढ़ा जाता है। वस्तुतः इस सूक्त का तात्पर्य यह है कि ये दसों किरणें पृथ्वी पर प्रकाश पहुँचाती हैं। इन्हें गर्भ धारण करानेवाला इन्द्र (सूर्य) है और वही किरणें पुनः लौट कर उसी सूर्य के दस पुत्र बन जाती है। इसी प्रकार असिक्नी का सम्बन्ध यज्ञ से है—'असिक्न्याँ यजमानो न होता।' वायु द्वारा गोमती से होम करता है—'वायुना यजति गोमतीषु' और सरस्वती से पितर हवन करते हैं,—'सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते।' ये सब किरणें हैं, जो पुराणों में नदियों के नाम से विख्यात हुईं।

सप्तक की कल्पना : ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों आदि वैदिक वाङ्मय में शिर पर स्थित—दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक जिह्वा—इन सात प्राणों का वर्णन कई स्थलों पर हुआ है। इन्हीं प्राणों को 'यजुर्वेद'[2] और 'बृहदारण्यक'[3] में मनुष्य शरीर पर स्थिर रहनेवाले ऋषि कहा गया है। इन्हीं सात प्राणों अथव ऋषियों के साथ आठवें मन को मिला कर उपनिषदों ने यज्ञ की कल्पना की है। उस यज्ञ में सात होता आत्मा को यजमान बना कर मन की सहायता से होम करते हैं। 'ऋग्वेद' में इन्हीं सातों को 'सप्तसिन्धु' और 'सप्तविप्र' कहा गया है।

वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों की रूपक शैली में वर्णित सात प्राणों को ले कर पुराणों ने 'सप्त सागर', 'सप्तद्विप', 'सप्तपाताल', 'सप्तसरिता', 'सप्तपर्व', और 'सप्तकरण' आदि अनेक की कल्पनाएं की हैं। इस कल्पना का विस्तार इतना व्यापक हुआ कि सात दिन, सात स्वर, सात छन्द और व्याकरण की सात विभक्तियाँ आदि अनेक संज्ञाओं की सर्जना हुई।

वेदों में सप्तसिन्धु कई बार आया है, परन्तु वर्णन प्रसंग के अनुसार वहाँ पर सिन्धु से तात्पर्य इन्द्रिय-प्राण आदि से ही है। किन्तु पुराणों ने उसे समुद्र के अर्थ में ग्रहण किया है। आगे चल कर कोशकारों ने 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च नदे देशभेदा' पर्यायी शब्दों के साथ स्वीकार कर लिया। 'विष्णु पुराण'[4] में बताया गया है कि जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाकर और पुरस्कार—ये सात द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि, दधि, दुग्ध और जल—इन सात समुद्रों से वेष्टित हैं।

'भागवत'[5] में बताया गया है कि एक बार राजा

---

[1] ताण्ड० २।२४।२२, ऐतरेय० १.३ १७, वेदान्त सूत्र २।४५।४।५ [2] ३४।५५ [3] २।२।३ [4] २।२
[5] ५।२

प्रियव्रत ने अपने रथ को पृथ्वी पर सात बार घुमाया, जिससे क्षीरोध, इक्षु आदि सात समुद्र और उनके बीच-बीच के भाग सात द्वीप बन गए।

"विष्णुपुराण"[1] तथा "भागवत" में सात लोकों और चौदह भुवनों के नाम, स्थिति और परिचय विशद रूप से वर्णित हैं। पुराणों के इन भौगोलिक स्थानों के नामों की कल्पना वैदिक वाङ्मय से प्रसूत है। वेदों और उपनिषदों में दो कान, दो नेत्र, दो प्राण और रसना—यही सात भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक है। इस व्याख्यान से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि पुराणों में जो इतिहास और भूगोल है, वह सब वेदों के रूपकों के आधार पर केवल प्रकृति और खगोल का वर्णन मात्र है। हमारा मुख्य प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि वेदों में जितने नाम और स्थान आए हैं उन्हीं के परवर्ती काल में ऋषियों, मनुष्यों, असुरों, नदियों, पहाड़ों और समुद्रों आदि के रूप में नामकरण हुए। इसे "मनुस्मृति" ने भी "वेदेभ्य एवादौ पृथक् संज्ञाश्च निर्ममे" कह कर स्वीकार किया है। यह बात आगे कृष्ण के विवेचन में अधिक स्पष्ट हो जाएगी।

भागवत के कृष्ण चरित का रहस्य : महाभारत, भागवत और विष्णुपुराण आदि में वासुदेव नाम के वार्ष्णेय, कृष्ण आदि अनेक पर्यायी नाम मिलते हैं। वासुदेव शब्द वैदिक साहित्य के किसी ग्रन्थ में नहीं आया। केवल तैत्तरीय आरण्यक (१० प्रपा०) में वासुदेव गायत्री का उल्लेख है। यह गायत्री इस आरण्यक के 'खिल' (परिशिष्ट भाग) में होने से इसकी प्राचीनता पर भी सन्देह किया जा सकता है।

वैदिक काल में विष्णु और नारायण ये दोनों देवता भिन्न-भिन्न थे, जो आजकल की भाँति उपास्य नहीं थे। इनका तात्पर्य उस समय सूर्य, यज्ञ आदि से ही ग्रहण किया जाता रहा है। धीरे-धीरे जब भक्ति की स्रोत उमड़ने लगा तो विष्णु उपास्य देव माने जाने लगे और वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। वैष्णव धर्म का प्रारंभिक नाम 'सात्वत धर्म' रहा, जिसके उपास्य देव 'वासुदेव' माने जाते थे। तैत्तरीय आरण्यक की विष्णु गायत्री —'नारायणाय' विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्'—से ज्ञात होता है कि इस आरण्यक के रचना काल में नारायण, विष्णु, वासुदेव आदि विभिन्न नाम एक ही में मिल कर एक ही देवता के बोधक बन गए। आगे चल कर 'कृष्ण' नाम भी इसी में सम्मिलित हो गया। शतपथ ब्राह्मण में 'सात्वत' शब्द का उल्लेख मिलता है। महाभारत[2] में 'वासुदेव' का तात्पर्य समझाते हुए कहा गया है कि—'मैं वासुदेव इसलिए कहलाता हूँ कि अपनी माया और दिव्य प्रभा से सभी प्राणियों को ढके रहता हूँ। सूर्य के रूप में अपनी किरणों द्वारा समस्त विश्व को ढक लेता हूँ। सभी प्राणियों का एकमात्र आश्रय होने से मैं 'वासुदेव' कहलाता हूँ।' इसी में एक दूसरे स्थल पर वासुदेव को वसुदेव का पुत्र कहा गया है।[3] गीता में भगवान् कृष्ण ने 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' कहकर अपने को वृष्णि-वंशी कहा है। 'महाभारत' में कृष्ण भगवान् ने अपने को 'सात्वत' कहा है। विष्णु पुराण[6] में क्रोष्टु कुल की चर्चा के प्रसंग में बताता है कि इस वंश में 'अंश' नाम के एक व्यक्ति के पुत्र का नाम 'सत्वत' था, जिससे उसके वंशज 'सात्वत' कहलाए। भागवत[7] के अनुसार सात्वता लोग परमात्मा को 'भगवान् वासुदेव' कहा करते थे। 'भागवत' में कई स्थलों पर कृष्ण भगवान् को 'सात्वतां पतिः', सात्वतर्षभ, कहा गया है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में सात्वत धर्म की उपासना 'सात्वत-विधि, को सूर्य द्वारा प्रवर्तित बताया गया है। "गीता" में भी भगवान् ने—'इमं विवस्वान् योगं) कहा कर इसका समर्थन किया है।

'शथपथ' ब्राह्मण में सात्त्वत के शब्द के साथ ही 'वार्ष्णेय' का भी प्रसंग उल्लिखित है। "महाभारत" और पुराणों में वृष्णि वंश की चर्चा बहुत आई है। विष्णु पुराण[8] में बताया गया। है कि यदु के पुत्र सहस्रजित् वंश में मधु के पुत्र वृष्णि हुए, जिनसे वृष्णि वंश चला। यदु नाम के कारण इसी को यादव वंश भी कहा जाता है।

वासुदेव का पर्यायी नाम कृष्ण माना जाता है। 'ऋग्वेद'[9] में कृष्ण एक मन्त्र द्रष्टा ऋषि थे। अनुक्रमणीकार

---

१. २।७।१६।२१; २।५।२ २. ५।२४।७ ३. १३।५।४।२१ ४. १२।३४१।४१ ५. ३।१४।८ ६. ४।११ ७. ८।८४८ ८. ४।१३ ९. ८।८५।३

१६५६

उसी को आंगिरस् गोत्र में उत्पन्न कृष्ण कहते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण[1] भी यही स्वीकार करता है। छान्दोग्य उपनिषद्[2] का कहना है कि देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस् के शिष्य थे। इस प्रकार ऋग्वेद से ले कर छान्दोग्य उपनिषद् के समय तक कृष्ण नाम ऋषि की परम्परा विद्यमान रही। उपनिषदों के वंश ब्राह्मण में कार्ष्णायन गोत्र चलता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कृष्ण नाम की ऋषि-परम्परा का मूल पुरुष कृष्ण था। धार्मिक सिद्धान्तों की परम्परा महाभारत काल के देवकी पुत्र कृष्ण के समय तक अनुसरण बनी रही। तथा वैष्णव धर्म से सम्बन्धित वैदिक कालीन सात्त्वत, वासुदेव वार्ष्णेय आदि विभिन्न नामों की एकता 'गीता' के उपदेशक देवकी पुत्र कृष्ण से हुई। देवकी पुत्र कृष्ण ने अर्जुन को जो गीतोपदेश दिया, वह भी कृष्ण नाम की भाँति परम्परागत ही है। आर ब्राह्मणों और उपनिषदों का सार ही गीता है। छान्दोग्य उपनिषद् और गीता के वचनों में अत्यधिक साम्य है।

इस विवेचन से एक यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है, गीता के उपदेशक कृष्ण क्या ऋग्वेद कालीन हैं? लेकिन इसका निराकरण इस प्रकार है कि नाम आदि का निर्माण वेद में उल्लिखित नामों के आधार पर गुण-कर्म अनुसार किया गया है। 'श्रीमद्भागवत' आदि पुराणों में श्रीकृष्ण की व्रजलीला का जो वर्णन मिलता है, उसमें आये हुए राधा, गो, गोप, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन आदि नाम ऋग्वेद में भी पाए जाते हैं—

१. स्तोत्रं राधानांपते। १।३०।५
२. गवामथ व्रज वृधि। १।१०।७
३. दासपत्नी रहिगोपा अतिष्ठन्। १।३२।११
४. त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वीः कृष्णास्वग्ने अरुषो विभाहि। अथर्व० ३।१५।३
५. तमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु। ८।९३।१३
६. कृष्णा रूपाणि अर्जुना वि वो मदे। १०।२१।३

'ऋग्वेद' में बताया गया है—'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च' अर्थात् अर्जुन और कृष्ण दोनों दिन के नाम हैं। इसी प्रकार राधा, धन और अन्न को कहते हैं। गो किरणें हैं और व्रज किरणों का स्थान द्यौ है। वेदों का यह कृष्णार्जुन अलंकार पुराणों में जा कर अधिक विस्तृत हुआ है। ऋग्वेद तथा उपनिषदों के नामों, स्थानों आदि ही को नहीं, अपितु उसके विचारों को भी उसी रूप में ग्रहण किया गया है। गीता में भगवान् कृष्ण अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए जहाँ यह कहते हैं कि—मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, मैं ही 'कवीनामुशना कविः' हूँ। इसी का मूल रूप हमें 'ऋग्वेद' में भी मिलता है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्युञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय के प्रतीकों के विकास पुराणों में हमें सर्वत्र आलंकारिक वर्णनों द्वारा वेदों के रहस्य और उस समय के इतिहास का बोध एक साथ हो जाता है। भगवान् व्यास की अनिन्द्य प्रतिभा के ओजायमान स्रोत पुराणों की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक त्रिवेणी अपनी पीयूष धारा से हमारे वाङ्मय एवं राष्ट्र को अजर-अमर बनाए हुए हैं।

—रूपनारायण शास्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
इलाहाबाद—३

प्रधान वस्तु जिसकी आवश्यकता है
—वह है आँख,
संसार में देखने के लिए प्रकाश पर्याप्त है

—जान रस्किन

---

[1] ३।१७।६ [2] ३०।६

हास्य-साहित्य क्यों नहीं

कभी-कभी लोगों के दिलों में यह ख़याल अवश्य जन्म लेता है कि हिन्दी साहित्य में हास्य-व्यंग्य की शून्यता क्यों है ? साहित्य में हास्य-व्यंग्य की कभी ऐसी समस्या नहीं, जो केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित हो। इस का सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी के प्रत्येक साहित्य से है (यदि Industrialist साहित्य से कहा जाए तो अधिक संगत होगा)। यूँ होने को तो पश्चिम में हास्य-साहित्य की थोड़ी बहुत रचना हो रही है और हास्य-व्यंग्य, Parody से ले कर Fantasy तक प्रत्येक वस्तु मौजूद है। यदि शुद्ध साहित्यिक महत्व रखने वाली वस्तुएँ समाप्त भी हो जाएँ तो भी जब तक Music-hall विद्यमान हैं, पश्चिमी सभ्यता से हास्य ग़ायब नहीं हो सकता प्रत्युत यदि कॉडवेल की बात मानें तो Music-hall की रचनाओं को परोलतारी Prolatarian कला कहना पड़ेगा। परन्तु इन सब बातों के होते हुए खुद पश्चिम में चौसर, राबेले, सरो एन्टीनर और शेक्सपीयर के स्तर के हास्य की रचना नहीं हो रही है। हाँ इस सम्बन्ध में जूईस का नाम अवश्य लिया जा सकता है, पर सीमाएँ यहाँ भी हैं। क्योंकि उसकी हास्य व्यंग्य सम्बन्धी रचनाओं में भी ट्रेजिडी का पुट बना ही रहता है। यदि जूईस को छोड़ दें तो साधारणतः हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि बीसवीं शताब्दी वह युग नहीं जहाँ हास्य की आत्मा फले-फूले। हमारे युग का मानव एक बड़ी आफ़त में फँसा हुआ है। वह भविष्य को वर्तमान के क्षणों में भी उसी प्रकार जज़्ब नहीं कर पाता जिस प्रकार इसी मशीनी युग से पहले का मनुष्य कर सकता था और फिर भविष्य भी ऐसा जो हमेशा भयानक न सही परन्तु इतना अरूप अवश्य होता है कि दिल में तरद्दुद पैदा कर देता है। बीसवीं शताब्दी का मानव इस विश्वास के साथ नहीं हँस सकता कि कल भी वह उसी प्रकार हँस सकेगा। पहले मनुष्य के लिए जीवनोपरान्त मृत्यु का अक़ीदा एक बहुत बड़ा सहारा था। इसी अक़ीदे के साथ यह विश्वास भी जुड़ा हुआ था कि ऐसी शक्ति विद्यमान है जिस की इच्छानुसार संसार की प्रत्येक घटना घटती है। यह शक्ति बहुत सी बातों में मनुष्य से बुलन्द हो कर भी कुछ बातों में मानवता के स्तर पर ही थी। यह शक्ति भयानक तो थी ही पर दया की भी कमी वहाँ नहीं थी। कम से कम मनुष्य को थोड़ा बहुत यह अवश्य ज्ञात था कि किन बातों से यह शक्ति प्रसन्न होती है और किन बातों से अप्रसन्न। इन विश्वासों ने अपना अधिकार खो दिया तो यह प्रयत्न किया गया कि उन की जांनशीनी कुछ राजनैतिक एवं सामाजिक दृष्टि-कोणों के हवाले कर दी जाए, पर यह दृष्टि-कोण जन-साधारण के शऊर में अभी अपना नहीं कर सके। इसलिए अब के उनके पास अपनी दुनिया को समझने का कोई ऐसा माध्यम नहीं रहा जो उन्हें सन्तुष्ट कर सके। हर नया संयोग एक नई घटना समझा जाता है। और मानसिक वृत्तियाँ ऐसी हैं कि आश्चर्य और हैरानगी के तत्वों की उन में प्रचुरता हो गई है। अतएव इस युग में कोई हास्य-साहित्य का रचयिता पैदा हो भी जाए तो उसे ऐसा पाठक नहीं मिलेगा, जो हँसने के लिए तैयार हो। मेरे विचार में चेस्टरटन में एक उत्कृष्ट हास्य-लेखक बनने की Faculty थी, परन्तु वातावरण का दबाव देखिए कि वह सारी उमर हँसने की आवश्यकता पर मर्सिया ही पढ़ता रहा और स्वयं कभी नहीं हंस सका (नहीं हँस सका: किसी महान् हास्य रचना की शक्ल में !)

एक और कठिनता हमारे युग के हास्य लेखक को पेश आती है। वह पूरे विश्वास के साथ यह नहीं कह सकता कि इस वस्तु पर हंसा जा सकता है और उस पर नहीं। वातावरण इस तेज़ी के साथ बदल रहा है कि किसी वस्तु को ध्यानपूर्वक बारीक बीन दृष्टि से परखने का अवकाश ही नहीं मिलता। जो वस्तु आज दुःखान्त है वह कल व्यंग्यात्मक बन जाती है। मूल्य और स्तर के इस प्रकार गिड-मिड हो जाने का परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक वस्तु या तो भयानक दृष्टि-गोचर होने लगी है या हास्य-प्रद। किन्तु जब प्रत्येक वस्तु हास्य-प्रद हो जाए तो इसका यह मतलब होगा कि आप किसी बात पर नहीं हंस सकते। सोचिए कि यदि आप Alice in Wonderland वाले संसार में पहुँच जाए तो आपके

मस्तिष्क की क्या दशा होगी। हँसी के लिए बहुरंगी और Variety की आवश्यकता होती हैं। एकरंगी में तो सब वस्तुएँ हीन-सी होती है हमारे युग में कोई Standard of normality तो है ही नहीं हालांकि हास्य के लिए यह वस्तु मूलतः आवश्यक है। इधर असाधारण बातें इतनी आम हो रही हैं कि हम उन्हें दैनिक जीवन की वस्तुएँ समझ कर अपनाने लगे हैं। ये सब बातें हमारे अन्दर दुःख और रंज वरन् खिन्नता और दीवानगी तक पैदा कर सकती हैं, लेकिन जब तक हम इन्हें मामूल से अलग बातें न समझें, हम इन पर हँस नहीं सकते।

कुछ हमारी दुनिया में नज़रिए-बाज़ी का शौक भी बढ़ गया है और देखा जाए तो हमारे युग की घटनाएं हैं भी बड़ी महत्वपूर्ण। समूची मनुष्यता का भविष्य वरन् मनुष्यता का जीवन तक इन घटनाओं द्वारा रचित रुझानों पर अवलम्बित है। इसलिए हर एक वस्तु एक समस्या बन गई है और एक ऐसी समस्या जिससे आनन्दित होने का समय बिलकुल नहीं है प्रत्युत् जिस का शीघ्र से शीघ्र सुलझाया जाना आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु इतनी गम्भीर हो गई है कि छिछले-पन से हँसते हुए भी डर लगता है। इसलिए हम हँसते नहीं और इतने जागरूक हम हैं नहीं कि उपर्युक्त समस्याओं का हल ढूँढ़ कर उन्हें सुलझा सकें। जब हम किसी समस्या का हल नहीं ढूँढ़ सकते तो पराजय, निराशा, खिन्नता और झुँझलाहट के कारण एक प्रतिक्रिया अवश्य हमारे मस्तिष्क में जन्म लेती है (चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो)। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के साहित्य में घिनावने व्यंग्य की बड़ी प्रचुरता है।

इधर अन्य बहुत सी वस्तुओं की तरह, अफ़रात-फरी के इस युग में साहित्य और साहित्यकार भी बड़ी अनावश्यक सी वस्तुएँ प्रतीत होने लगे हैं। यहाँ तक कि साहित्यकार को भी शिद्दत से यह अनुभव होने लगा है कि समाज अब उसकी आवश्यकता को नहीं समझता, या उसकी गणना अब ऐय्याशी के सामान में होती है जिसका बोझ अब समाज नहीं उठा सकता। इसका नतीजा यह निकला है कि कुछ साहित्यकार समाज से विरक्त होने का प्रयत्न करने लगे हैं लेकिन प्रत्येक व्यक्ति में तो इतना बल-बूता होता नहीं। अतएव साहित्यकारों में से अधिकांश ने समाज पर अपना महत्व प्रकट करने और अपना खोया सम्मान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। वे समाज को यह दिखाना चाहते हैं कि हम भी ज़िम्मेदार आदमी हैं। हम भी नज़रिए बना सकते हैं। हमारा भी एक उद्देश्य है। साहित्यकार इस बात से बहुत डरते हैं कि कहीं उन्हें ग़ैर ज़िम्मेदार न समझ लिया जाए। इसलिए वे प्रयत्न-पूर्वक अपने चहरे पर शिकनें डालते हैं स्वयं अपने आपको ज़बरदस्ती विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वे बड़े ज़िम्मेदार व्यक्ति हैं! वे बड़े जागरूक और गम्भीर हैं!! वे यह भूल जाते हैं कि ज़िन्दगी से लुत्फ़ लेना खुद एक बड़ी ज़िम्मेदारी है। इस प्रकार ये साहित्यकार अपने भीतर हँसी का गला दबाए रखते हैं।

ये ऐसी बातें हैं जो केवल भारतवर्ष ही में नहीं वरन् सारे संसार में हास्य साहित्य की रचना और उसके विकास को रोक रही हैं। लेकिन हिन्दी के आधुनिक साहित्य में हास्य की कमी के एक दो और भी कारण हैं। हिन्दी के साहित्यकारों की आकांक्षा बस ले दे कर लेखक बनने की है। उनकी जड़ें न तो साहित्य में सुदृढ़ हैं और न जीवन में। जिस वातावरण में उन्होंने जन्म लिया है, उससे न तो वे परिचित हैं और न ही उस वातावरण से उन्हें मुहब्बत ही है। यूँ देश-प्रेम की अभिव्यक्ति एक अलग वस्तु है। लेकिन जिस प्रकार हम कौशिक, प्रेमचन्द और देवकी नन्दन खत्री के विषय में कह सकते हैं कि वे अपने वातावरण में पूरी तरह डूबे हुए थे और अपनी दुनिया से प्रेम करते थे। इस प्रकार के शब्द हम वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकारों के लिए नहीं कह सकते। व्यक्तिगत इच्छाओं को छोड़ कर हिन्दी के प्रायः नए साहित्यकारों को जीवन आंकने और जाँचने का बस यूँ ही सा दखल है। उपेक्षित वर्ग से सहानुभूति के समस्त दावों के बावजूद उनका ज्ञान ठस है और जीवन की गुत्थियों से अपरिचित है (मेरा अभिप्राय यहाँ किताबी ज्ञान से नहीं है।) यदि मेरा यह अभियोग कुछ गलत सा लगता हो तो जांच भी कुछ कठिन नहीं। हिन्दी के समस्त नये कथा साहित्य से कोई सी एक रचना निकाल कर दिखाइए जिस में भारत की ज़िन्दगी और भारत की आत्मा नज़र आती हो। जिसे पढ़ कर कोई विदेशी यह कह सके 'हाँ इस रचना में हिंदुस्तान समा गया है।' मैं यह नहीं कहता कि पिक-विक पेपर्स

(Pick wick Papers—Dickens) जैसी वस्तु से ही मैं सन्तुष्ट होऊँगा। यहाँ तो स्काट के The Two Drovers की जोड़ की कहानी मिलनी भी कठिन है।

हिन्दी के साहित्यकारों की दूसरी कमज़ोरी यह है कि उन्हें अपनी जबान ही नहीं आती। हमारे साहित्यकारों ने जनता को बोलते हुए नहीं सुना उनकी कहानियों उपन्यासों और नाटकों में जीवित भाषा और जीवित मानव ('अज्ञेय' एक अपवाद हैं) का लहजा ही नहीं है। ऐसी सूरत में हास्य-साहित्य की रचना सम्भव ही नहीं। साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में हास्य-व्यंग्य कहीं अधिक सामाजिक वस्तु है। जब तक कि हास्य रचना दूसरों के भीतर छिपे हुए हास्य को नहीं गुदगुदाती, सफल हो ही नहीं सकती। और यह गुदगुदी उस समय तक उत्पन्न नहीं होती, जब तक भाषा पर अधिकार न हो। लोगों को रुलाने के लिए इतनी कला-प्रवीणता की आवश्यकता नहीं है, जितनी हँसाने के लिए। इधर हमारे लिखने वालों को एक ओर हिन्दी नहीं आती, दूसरी ओर अधिक संख्या ऐसे लिखने वालों की है, जिन्हें सिर्फ़ इतनी अँग्रेज़ी आती है कि भाषा का तात्पर्य समझ लें। जब वे किसी विदेशी लेखक से प्रभावित होते हैं तो वह उस प्रभाव से अभिभूत ही नहीं हो सकते, उस का विश्लेषण तो बात ही दूसरी है। इसलिए मोटी-मोटी बातों की तो वह भली-बुरी नकल कर ही लेते हैं परन्तु वास्तविक वस्तु उन की पकड़ में नहीं आती।

अन्य जितनी रुकावटें हैं वह दूर भी हो जाएँ तब भी हिन्दी में हास्य-साहित्य का भविष्य उज्जवल नहीं बन सकता जब तक कि हिन्दी के लेखक हिन्दी सीखने का प्रयत्न न करें।

—घनश्याम सेठी

C/o सेठी ब्रदर्स अमीरा क़दल,
श्रीनगर (काश्मीर)

साधारण से असाधारण

शेक्सपियर एक कसाई का बेटा था जो कि अपना नाम भी नहीं लिख सकता था और दिवालिया हो गया था।

महान् संगीतज्ञ बिथोवन एक शराबी बाप का बेटा था। उसकी माँ क्षयरोग से पीड़ित थी।

शूबर्ट का पिता एक साधारण किसान था और माँ घरों में नौकरी करती थी।

माइकेल फ़ैरेडे एक अस्तबल में उत्पन्न हुआ था। उसका बाप लुहार था जो कि काम नहीं कर सकता था और उसकी माँ एक साधारण औरत थी। उसने लंदन की सड़कों पर अख़बार बेच कर शिक्षा प्राप्त की।

लुई पैस्टयूर को आधुनिक औषधि का निर्माता कहा जाता है। वह एक चमार का बेटा था।

—हैरी एमर्सन फौसडिक

दक्षिण वाराणसी : अलंपुर

दक्षिण वारणासि (वाराणसी) नाम से प्रसिद्ध बाल ब्रह्मेश्वरतीर्थ स्थान ही अलंपुर है। यह हैदराबाद प्रान्त के रायचूर ज़िले के अन्तर्गत पावन तुंगभद्रा नदी के किनारे स्थित है। जैसे उत्तर वाराणसी पवित्र गंगानदी के किनारे है। वैसे ही अलंपुर तुंगाभद्रा के किनारे अनन्द शिल्पकला वैभव से अपनी प्राचीन प्रतिभा का परिचय दे रहा है। शिलालेखों में इसे श्रीशैल तीर्थस्थान का पश्चिम द्वार कहा गया है। परन्तु तेलंगाने में यह 'कोटि लिंगाल क्षेत्र' नाम से मशहूर है। पुण्य नगरी काशी-तीर्थ स्थान में गंगा के किनारे ६४ घाट हैं, उसी प्रकार अलंपुर में भी तुंगाभद्रा नदी के किनारे ६४ घाट हैं। काशी का प्रधान देवता विश्वेश्वर हैं तो यहाँ का ब्रह्मेश्वर हैं। वहाँ मुख्य देवी का पीठ विशालाक्षी का है, यहाँ गुलांबा का है। डुंठी, गणेश और काल भैरव दोनों नगरों में हैं। वहाँ का प्रधान मंदिर वरुण और असी नदियों के बीच है और उसके समीप में प्रयोग के पास) गंगा यमुना का संगम है। यहाँ भी अनति दूर में ही कृष्णा और तुंगभद्रा का संगम है। इस प्रकार इसे दक्षिण वारणासि (वाराणसी) के रूप में सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की समानताएँ हैं।

शिल्पकला में प्राचीन इतिहास की झलक : अलंपुर में पत्थरों की चट्टानों पर चित्रित शिल्पकला अपने प्राचीन वैभव का प्रदर्शन कर रही है। पाषाण युग में से ले कर इतिहास के पूर्व के समय से चले आनेवाला इतिहास शातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट, कालचूर्य, काकतीय, तेलुगु चोला विजयनगर के सार्वभौम आदि के समय के मधुर शेष चिह्न आँखों के सामने नाचते दिखाई देते हैं।

विश्वख्याति प्राप्त मानव्यस गोत्र एवं हरीतिवंश के चालुक्य राजाओं के सप्त मातृकों से उन्नति, तथा कुमारस्वामी के अनुग्रह से अनेक सुविधाएँ प्राप्त करके, नारायणदेव प्रदत्त 'वराह' चिन्ह की महिमा से समस्त राजाओं को अपने अधीन किया हुआ विधान दुर्ग के शिथिल प्राचीरों पर के शिलाशासनों में चित्रित किया हुआ है। ये शिलालेख चालुक्य वंश के वैभव का स्मरण दिलाते हैं। देवद्रोणी तीर्थ के पास दीवार पर अंकित एक दूसरा शिलालेख विजयादित्य चालुक्य के समय का है।

द्वितीय पुलिकेशी के पोते ने तुंगभद्रा नदी की बाढ़ के समय ब्रह्मेश्वरालय के अन्दर घुसने वाली जल धारा को रोकने के लिए ईशानाचार्य स्वामी, भट्टपादु से 'प्राकार बंधम' नामक प्राचीर बनवाई है। यह दीवार ई. सन् ७१४, मई ३,४ तारीखों में बनाई गई है।

प्राचीन विद्यापीठ : यहाँ का विद्यापीठ प्राचीन काल में ब्रह्मपुरी नाम से विख्यात था। इस विद्यापीठ के आचार्य त्रिलोचन मुनिराध पंडित, एकांत देशिका आदि पण्डित थे। यहाँ दर्शनार्थ आए हुए राजा, महाराज, सामन्तगण आदियों ने इन्हें अपनी भेंट चढ़ाई थी। और यहाँ पश्चिमांध्र के इतिहास सम्बन्धी अनेक वीरों की मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं।

चालुक्य शासनों का भण्डार : अलंपुर के ब्रह्मेश्वर तथा पापनाशन मन्दिरों का समुदाय जो दक्षिण भारत के मन्दिरों की शिल्प कला में उत्तम माने जाते हैं, अजन्ता, एल्लोरा गुफ़ाओं से सम्बन्धित मालूम होते हैं। अलंपुर में चालुक्य वंश के अन्तिम राजाओं के स्थापित किए अनेक शिलाशासन हैं। इनके बाद के काकतीय एव विजयनगर साम्राज्य के राजाओं ने यथ्यदि मन्दिर नहीं बनाए, फिर भी उनके समय के कई शिलालेखों से यही पता चलता है कि उन दिनों पवित्र मन्दिरों में अलंपुर के मन्दिरों का समूह ही श्रेष्ठ माना जाता था। ये मन्दिर ब्रह्मेश्वर सामुदाय तथा पापनाशन समुदाय नामक दो समुदायों से विभक्त हैं। पहला समुदाय दुर्ग के अन्दर हैं और दूसरा अलंपुर से आधी मील की दूरी पर है।

स्थल पुराणों में इन मन्दिरों के सम्बन्ध में इस प्रकार बताया गया है जो नौ भागों में विभक्त मालूम होता है। यह श्लोक उसकी पुष्टि करता है :

"बाल ब्रह्मा कुमारोऽर्क
वीरो विश्वश्च तारकः,

गरुड स्वर्ग पद्मश्च
नव ब्रह्मा प्रकीर्तिताः ।”

इनके नाम क्रमशः बालब्रह्मा, कुमारब्रह्मा, अर्क ब्रह्मा, वीरब्रह्मा, विश्वब्रह्मा, तारकब्रह्मा, गरुडब्रह्मा, स्वर्ग ब्रह्मा और स्वर्ग ब्रह्मा हैं । इन नव ब्रह्म मन्दिरों को ही ब्रह्मेश्वर मन्दिर समुदाय कहते हैं । इनमें से प्रधान मन्दिर का गोपुर तीन तरफ़ से तुंगभद्रा नदी के अभिमुखी है ।

मन्दिरों के निर्माण में अद्भुत कारीगरी : यहाँ का प्रधान देवता बालब्रह्म है । इन मन्दिरों के बनाने की पद्धति, अलंकार इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ अन्वेषकों की राय है कि ये यहाँ की कला से सम्बन्धित नहीं हैं । इनकी पद्धति पश्चिम भारत के मन्दिरों की पद्धति एवं खुदाई से मिलती हैं । इनके मण्डप आकार प्रकार में अजन्ता की उन्नीसवीं गुफा के मन्दिर का जो द्वार मण्डप है, उस ढंग पर बने हैं । इन मन्दिरों में गर्भालय के सामने वसारा बना हुआ है । ये मन्दिर वर्गाकार में प्रदक्षिणा के लिए स्थान छोड़ कर बनाए गए हैं । दीवारें पूर्ण रूप से ढकी हुई हैं, फिर भी हवा बहने के अनुकूल सुन्दर कारीगरी से निर्मित पत्थरों की खिड़कियाँ लगी हुई हैं । खम्भों पर खुदी हुई कारीगरी पश्चिम भारत के बौद्ध एवं वैदिक गुफ़ाओं की शिल्पकला से मेल खाती हैं । मन्दिरों के गोपुरों का ढंग असाधारण मालूम होता है । मुख्यतया इतिहास के लेखकों, कलाकारों आदियों के लिए तो अलंपुर रत्नों की खान है ।

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास

ले० : तन्डूरि नारायणराव
अनु० : बालशौरि रेड्डी

मोठ की मज़जि

“...दिल्ली में और आस-पास अनेक ऐतिहासिक इमारते हैं । इनमें एक मोठ की मसजिद है । इस मसजिद को बनाने का आधार एक मोठ की दाल का दाना है । मोठ की मसजिद दिल्ली से कुछ दूर एक ग्राम के किनारे पर है। इस ग्राम का नाम इस मसजिद के नाम के आधार पर मोठ पड़ गया है ।

इस मसजिद को मियाँ बुहवा ने बनवाया था । मियाँ बुहवा सिकन्दशाह लोदी (१४८८-१५१७) के वज़ीर थे । कहते हैं कि एक दिन बादशाह सिकन्दर लोदी मसजिद में नमाज़ पढ़ने के लिए गए । उसी समय एक पक्षी ने वहाँ मोठ के एक दाने को गिरा दिया । नमाज़ के वक्त झुकने के कारण बादशाह का इस दाने पर सिर पड़ा ।

नमाज़ के पश्चात् वज़ीर ने मोठ के उस दाने को देखा और कहा : “बादशाह ने जिस दाने को इतनी इज्ज़त बख्शी है उसे यों ही नहीं फेंका जा सकता । उसने उस दाने को बोया । उससे जो मोठ की खेती हुई उसने उसे फिर फिर बोया । जब इस प्रकार खेती से वज़ीर को पर्याप्त धन प्राप्त हो गया तो उसने उससे एक मसजिद बनवाई । इसका नाम उसने मोठ के दाने का आदर करने के लिए मोठ की मसजिद रखा ।...”

—ए. जे. सिंह

एक लेख से

प्रत्यावर्तन

सुमित्रा ने कहा—सुन्दर, तुम्हें व्यावहारिकता से काम लेना चाहिए। मैंने बहुतेरी कोशिश की, पर मैं अब इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि यह विवाह होने का नहीं है।

सुन्दर बोला : "तुम जिसे व्यावहारिकता कहती हो, वह न तो कभी मेरी समझ में आई, और न कभी आएगी। आख़िर यह व्यावहारिकता क्या है? मैं प्रेम और विवाह के क्षेत्र में एक ही व्यवहारिकता मानता हूँ, वह यह कि हम दोनों एक दूसरे को चाहते हैं या नहीं? इसके आगे मेरे सामने कोई प्रश्न नहीं उठता।"

सुमित्रा बोली : "तुम तो सिद्धान्तों की बात कर रहे हो। पर जीवन सिद्धान्तों की प्रयोगशाला नहीं है, बल्कि जीवन के प्रयोगों पर ही सिद्धान्त आधारित होने चाहिएँ।"

सुन्दर बोला : "यदि प्रयोग की बात कहती हो, तो छः साल से हम एक दूसरे को जानते हैं। कितनी ही बार हम एक साथ दिन और रात बिता चुके हैं। हमने एक दूसरे को सर्वथा परस्पर के योग्य पाया। जिन बातों में तुम्हारी अभिरुचि है, उन्हीं में मेरी भी है। हम दोनों पढ़े लिखे हैं। लोगों ने हमें लगभग पति पत्नी मान लिया है। फिर किस बात की बाधा है?"

सुमित्रा कुछ झुंझलाहट के साथ बोली : "यह सब तो ठीक है, पर जीवन में और भी बातें हैं। मेरे पिता माता इस शादी के विरोधी हैं, पर मान भी लिया जाए कि उनके विरोध से कुछ आता जाता नहीं है क्योंकि हम बालिग़ हैं पर वे जो बातें कहते हैं, उनका तो सामना हमें करना ही है। उनकी बातें जीवन की अभिज्ञता पर आधारित हैं।"

सुन्दर बोला : "बड़ी अजीब बात है कि तुम उनकी बातों को इतनी अहमियत देती हो। पिता माता हमेशा इस तरह की बातें कहा करते हैं, फिर मेरी आर्थिक दशा इतनी ख़राब भी नहीं है, हाँ मेरे माँ-बाप मेरे लिए लाखों की जायदाद छोड़ नहीं गए, यह ठीक है। उस मामले में मैं कमज़ोर ज़रूर हूँ। क्या तुम इसी के लिए इतने दिनों के प्रेम को तिलांजलि दे दोगी?"

सुमित्रा बोली : "इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारे साथ हमारा सम्बन्ध बहुत अच्छी तरह निभा, मैं इन वर्षों को अपने जीवन का बहुत उज्वल काल मानती हूँ, पर हाल ही में कुछ ऐसी घटनाएँ मेरे सामने आई हैं, जिनके प्रति मैं उदासीन नहीं रह सकती।"

स्वाभाविक रूप से सुन्दर ने पूछा कि वे घटनाएँ कौन सी हैं? तब सुमित्रा ने जो बात बताई, वह संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है :

सुमित्रा की बड़ी बहन उर्मिला उससे भी सुन्दर थी। जब वह कालेज में पढ़ती थी, तो उसके पीछे सब लट्टू रहते थे। बड़े-बड़े धनी घरों से उसकी शादी की मांग आई, पर उसने अन्त तक अपेक्षाकृत एक ग़रीब युवक से शादी कर ली। दो एक साल तो अच्छी तरह निकल गए, कम से कम किसी को पता नहीं लगा कि पति पत्नी में किसी प्रकार की अनबन है पर धीरे-धीरे अनबन की भनक आने लगी। अभी कुछ दिन पहले सुमित्रा उर्मिला के घर कुछ दिन रह आई तो उसे पता लगा कि ऊपर से इमारत बनी हुई है, पर भीतर से सब कुछ खोखला हो चुका है।

सुमित्रा ने एक दिन समय पाकर उर्मिला से पूछा कि बात क्या है, तो वह पहले तो बचने लगी, बोली—जाने दो, अभी तुम एक खिलती हुई कली हो, तुम पर ऐसी वैसी हवा नहीं लगनी चाहिए। जब तुम और तगड़ी हो जाओगी, तब तुम जीवन के कुरूप तथ्यों से परिचित हो जाओगी।

सुमित्रा बोली "यह तो तुम अजीब बात कह रही हो। उपमाओं से कुछ साबित नहीं होता। तुमने कली की उपमा दी, जो बहुत कवित्वपूर्ण है, पर तथ्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो बल्कि ऐसा अनुभव करती हूँ कि एक अनभिज्ञ कप्तान सी हूँ जो पहली बार जहाज लेकर समुद्र यात्रा में जा रहा हो। उसे तो रास्ते में आने वाली चट्टानों और अन्य खतरों से आगाह कर देना ही प्रिय जनों का धर्म है।"

उर्मिला ने कुछ सोच कर कहा "उम्र बढ़ने के साथ-साथ सारी बातें स्वयं समझ में आ जाती हैं। जब मैं पढ़ती थी तो मैं यह समझती थी कि यह संसार एक रमणीय कुञ्ज है, जिस की एक डाली पर बैठ कर मैं कूजन करती हूँ, और मुझे कूजन ही करना है, पर जब व्यावहारिक जगत् में आई, तो देखा कि सुन्दर मकान चाहिएँ नौकर चाकर चाहिएँ कपड़े लत्ते चाहिएँ, और ये सब पैसों से आते हैं।"

इसलिए तुमने यह समझ लिया कि पैसा प्रेम से बड़ा है ?

उर्मिला दुखी होकर बोली "तुम मेरी बात नहीं समझ रही हो। इन दोनों की तुलना न तो मैंने की और न करने का कभी अवसर ही आया। मैं तो तुम्हें एक दूसरी ही बात बताने जा रही हूं, वह यह है कि प्रेम अपनी जगह पर रहा, पर पैसों की कमी के कारण उस पर रगड़ आने लगी, तुम्हारे जीजा जी बिगड़ने लगे, मैं भी आपे से बाहर होने लगी। पत्थर पर रस्सी ऐसी नरम चीज भी जब बार-बार आती जाती है, तो उस पर भी दाग़ बनते जाते हैं और थोड़े दिनों में वह घिस जाता है। यही हुआ प्रेम घटने और झगड़े बढ़ने लगे।"

सुमित्रा बोली : 'तुम इतनी बुद्धिमती हो, चीज़ों का इतना सुन्दर विश्लेषण करती हो, पर अपने को नहीं संभाल सकीं ?'

नहीं, यह तुम न समझो कि मैंने अपने को नहीं समझाया। पर समझाने से संस्कार नहीं बदलते। जो जैसी आबोहवा में पलता है, उसके कारण उसके वैसे ही संस्कार बन जाते हैं। इन संस्कारों को मिटाना क़रीब क़रीब असम्भव है। एक छोटा सा उदाहरण देती हूँ। किसी खाने पर मक्खी बैठ जाए, तो उसे तुम या मैं नहीं खा सकतीं, कम से कम उस हिस्से को निकाल देंगी, जिस पर मक्खी बैठी है। पर लाखों व्यक्ति ऐसे हैं, जो मक्खी बैठी हुई चीज़ को खाते और बेचते रहते हैं। यदि यह कहो कि वे हम से अधिक बीमार रहते हैं, अवश्य रहते होंगे, पर देखने में यह बात नहीं आती। अब एक ऐसे आदमी को और तुमको लिया जाए, तो केवल तर्क से दोनों में मेल नहीं हो सकता। तुम्हें कितना भी समझाया जाए, तुम मक्खी बैठी हुई चीज़ नहीं खा सकतीं।

मैंने फिर भी बहन से तर्क किया। उस समय तक मैं अपने प्रण में अटल थी, पर दो तीन दिन हुए उर्मिला एकदम से अपने बच्चे को लेकर आ गई। पहले तो उसने कुछ बताया नहीं, केवल रोती रही, पर धीरे धीरे उसने यह बताया कि उसने इधर एक नई साड़ी ख़रीदी, जिसे देख कर मिस्टर मनोहर आपे से बाहर हो गए और यह बताया कि सब पूँजी तो ख़त्म हो ही चुकी है, इसके अलावा वे बीस हज़ार रुपए के क़र्ज़दार हो चुके हैं। उन्होंने साड़ी लेकर आग में झोंक दी और जब इस पर झगड़ा हुआ, तो उर्मिला पर दो चार हाथ भी झाड़ दिए।

यों तो पिता जी बराबर मनोहर के विरुद्ध थे और उन्हें एक लफंगा बताते थे, पर इस अवसर पर उन्होंने मनोहर का पक्ष लिया और बोले—मैं उस पत्नी को बिल्कुल नालायक और निकम्मा समझता हूँ, जो अपने पति की आय के अनुसार नहीं चलती। फिर तुम्हारा तो प्रेम विवाह था, तुमने तो सब कुछ जान बूझ कर शादी की थी।

पर उर्मिला बोली : "मुझे क्या मालूम था कि ८ सौ रुपए महीने इतने कम होते हैं ? मैंने तो देखा कि इससे रोटी दाल भी नहीं चलती।"

पिताजी बोले : "इसीलिए मैंने तुमसे कहा था कि इस शादी से तुम सुखी नहीं हो सकती। तुम लोग पुस्तकें पढ़ कर और सिनेमा देख कर यह समझती हो कि तुम प्रेमिका हो, पर असल में तुम लोगों को प्रेम से कोई वास्ता नहीं। तुम प्रेम कर सकती हो, मगर आराम के साथ।"

फिर वे मेरी तरफ़ घूम कर बोले : "यह भी समझ रही है कि यह जूलियट या लैला है, इसकी भी तुम्हारी तरह बुरी गत होगी।"

सुन्दर ने बीच में बात काट कर कहा : "इस पर तुमने क्या कहा ?"

मैं क्या कहती। जब उनके सामने प्रमाण मौजूद था, तो मैं क्या कह सकती थी ?

उर्मिला जी ने क्या कहा ?

बड़ी देर तक तो वह पिता जी की झिड़कियाँ सुनती रहीं, फिर एकाएक बोल पड़ीं, अगर बीस हजार क़र्ज़ हो गया, तो कौन सा अनर्थ हो गया ! क्या लोग

कर्ज़दार नहीं होते ? यदि वे कर्ज़दार हुए तो मेरा इसमें क्या दोष है ?

अबकी बार पिता जी आपेसे बाहर हो गए, बोले- मूर्ख लड़की, यही अक्ल लेकर गृहस्थी करने चली थी ! सारी ज़िम्मेदारियाँ उसीकी हैं, तेरी एक भी नहीं ?

क्यों मेरी क्यों नहीं है, मैं घर देखती हूं ।

पिताजी बोले "चालीस रुपए की नौकरानी तुझसे अच्छा घर देख सकती है । क्या इसी का नाम प्रेम है ? क्या प्रेम में कोई सन्तुलन नहीं है ? तेरा प्रेम तो केवल एक अच्छे भले आदमी का शोषण मात्र है । तुम लोगों ने आधुनिक काल की कुछ धारणाएँ तो अपना लीं, पर संतुलन खो दिया । यह बहुत ही खतरनाक बात है ।"

उर्मिला ने इन सारी बातों का यह मतलब निकाला कि पिता जी उसे घर में रखना नहीं चाहते और वह उसी रात को अपने बच्चे को छोड़ कर कहीं चली गई । अजीब बात है कि पिता जी ने उसकी किसी प्रकार खोज कराने से भी इनकार कर दिया । लड़के का भार मैंने स्वयं अपने ऊपर ले लिया । उसी समय मैंने दो निश्चय किए । एक तो यह कि शादी नहीं करनी है, दूसरे यह कि कोई काम ढूँढ़ना है, जिससे मैं अपने पैरों पर खड़ी हो सकूँ और जैसे कि पिता जी कहते हैं, रुपए की कदर समझ सकूं ।

कह कर सुमित्रा ने बिना कुछ कहे सुने मुँह फेर लिया और चलती गई चलती गई । सुन्दर वहाँ अवाक् खड़ा रहा ।

दिल्ली

——मन्मथनाथ गुप्त

लम्बे भाषण

अमरीका के व्यापारी इस बात का उपाय कर रहे हैं कि किसी प्रकार कान्फ्रेन्सों और बोर्डों आदि की बैठकों में लम्बे भाषणों के कारण अधिक समय नष्ट न हो । इसके लिए कुछ निर्देश दिए गए हैं । पहला : घड़ी को १३ घण्टों की बनाया जाए और प्रत्येक घंटा ५५ मिनट का हो । दूसरा : बोर्डों की बैठकें आदि बैठ कर नहीं, खड़े रह कर की जाएँ । तीसरा : मीटिंग आदि देर में सायंकाल में रक्खी जाएँ जब कि लोग अपने अपने घरों को जाने की जल्दी में होते हैं ।

सदियों से संसार को मनुष्य के बहुत बोलने के प्रश्न ने परेशान कर रक्खा है । रेड इंडियन लोग एक आदमी को उतने ही समय तक बोलने देते हैं जितने समय तक कि वह एक टाँग पर खड़ा रह सकता है । साइबेरिया में एक ऐसा समय था जब कि एक व्याख्याता को पानी से भरे बरतन में खड़े हो कर व्याख्यान देना पड़ता था ।

——'मानचेस्टर गार्डियन' से

जवाहरलाल नेहरू

अपने सम्बन्ध में यथातथ्य लिख पाना कठिन है किन्तु पंडित जी इस कला में कितने सिद्धहस्त और आत्म-सजग हैं, यह उनके प्रस्तुत लेख से स्पष्ट हो जाएगा। अनुवाद का मूल 'राष्ट्रपति शीर्षक से अंग्रेज़ी की विख्यात पत्रिका "माडर्न रिव्यू" में उनके "चाणक्य" उपनाम से कई वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था—**अनुवादक**

राष्ट्रपति जवाहरलाल की जय गूँज उठी।

प्रतीक्षा में खड़े जन समूह के बीच से धीरे धीरे गुज़रते हुए राष्ट्रपति ने भीड़ पर दृष्टि डाली। अभिवादन के लिए उनके दोनों हाथ बरबस उठ गए। कठोर चेहरा मन्द मुस्कान से प्रदीप्त हो उठा। राष्ट्रपति की मुस्कान में ऐसा अनुराग और ऐसी आत्मीयता थी जिसे देखते ही जन समूह के कोटि कोटि व्यक्तियों ने स्मिति और करतल ध्वनि से उत्तर दिया।

स्मिति की रेखाएँ विलीन हो गई और राष्ट्रपति का चेहरा पूर्ववत् कठोर और भावशून्य हो गया। जिस चेहरे ने जन समूह की भावुकता को उभारा था अब वह उदास था। कुछ ऐसा लगा मानों उनकी मुस्कराहट और भावभंगिमा अधिक स्वाभाविक न थीं। जिस जन-समूह के वे हृदयहार हैं उसका स्नेह और सद्भावना पाने के लिए वे मुस्कान भरी भावभंगिमा केवल व्यावसायिक चालें थीं। क्या यह बात सही है?

एक बार फिर उन्हें ध्यान से देखिए। बड़ा जुलूस है और सशस्त्रों नरनारी उनकी कार के इर्दगिर्द आत्म विभोर हो कर करतल ध्वनि कर रहे हैं। कार की सीट पर राष्ट्रपति स्वयं खड़े हुए हैं—अपने को सम्हाले हुए—तने हुए। देखने में प्रस्तर प्रतिमा की तरह उन्नत और शान्त हैं। चंचल जन समूह से एकदम बेखबर और अप्रभावित। सहसा स्मिति की वही रेखाएं पुनः उनके चेहरे पर उभर आती है—बल्कि इस बार तो ज़ोरदार हँसी है। लगता है जैसे संयम और गम्भीरता का बाँध टूट जाएगा। जन समूह भी उनके साथ हँस पड़ा। क्यों और किस पर, वह नहीं जानता।

राष्ट्रपति अब अतिमानव नहीं लगते, वरन् एक ऐसे इन्सान—जो अपने इर्द गिर्द घिरे कोटि इन्सानों को अपना सहयोगी और बाँधव स्वीकार कर रहे हैं। जन-समूह के हृदय में मोद और मित्रता की लहरियाँ उमड़ रही हैं और वह...उसने राष्ट्रपति को अपने अन्तर में प्रतिष्ठापित कर लिया है। किन्तु स्मिति की रेखाएं मिट चुकी और राष्ट्रपति का चेहरा पूर्ववत् ही पीला और कठोर हो गया।

क्या यह सब स्वाभाविक है अथवा इस लोकनायक की सुनिश्चित चालें हैं? शायद दोनों हैं, और पुरानी आदत स्वभाव बन गई है। सर्वोत्कृष्ट मुद्रा वही होती है जिसमें कृत्रिमता कम से कम हो। जवाहरलाल इस कला में सिद्धहस्त हैं और मज़ा यह है कि उन्हें इसके लिए अभिनेताओं की तरह किसी साज-सज्जा की जरूरत नहीं होती। अपनी ज़ाहिरा लापरवाही से वे सार्वजनिक जीवन के मंच पर बड़ी खूबी से सर्वोत्कृष्ट कला प्रदर्शित करते हैं। किन्तु उनका यह अभिनय उन्हें और देश को किधर ले जाएगा? आख़िर उनकी ज़ाहिरा लक्ष्यहीनता का लक्ष्य क्या है? उनके आवरण में आख़िर क्या छिपा है। कौन सी इच्छाएँ हैं? किस शक्ति की कामना है? अथवा कौन सी अतृप्त आकांक्षाएँ है?

यह प्रश्न किसी भी समय रोचक हो सकते हैं, क्योंकि जवाहरलाल का व्यक्तित्व हमें बरबस आकृष्ट करता है और हम उस पर ध्यान देने को विवश होते जाते हैं। किन्तु हमारे लिए इसका विशेष महत्व भी है क्योंकि भारत का वर्तमान उनसे बँधा है—शायद भविष्य भी और उनमें भारत का बहुत बड़ा हित अथवा अहित करने की शक्ति छिपी है। अतएव हमें इन प्रश्नों के उत्तर जानने चाहिए।

लगभग दो वर्ष से वे कांग्रेस के अध्यक्ष हैं।

कुछ लोगों का अनुमान है कि वे कार्यकारिणी में केवल एक 'कैंप फ़ालोअर' हैं और उन पर या तो दूसरे लोग हावी हैं या उन्हें नियन्त्रण में ले रखा है। किन्तु फिर भी वे समाज के अनेक वर्गों और अवाम में व्यक्तिगत प्रभाव एवं सम्मान बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं।

किसान-मज़दूर, ज़मींदार-पूँजीपति, व्यापारी और और खोंचेवाले, ब्राह्मण एवं अछूत सभी से उसका सम्पर्क है। मुसलमान, सिख-पारसी-ईसाई और यहूदी और वे सभी जिनके सम्मिलन से भारतीय जीवन का निर्माण हुआ है उनके निकट हैं। इन सब से अलग-अलग बात करते समय उनकी बातचीत का ढंग भी भिन्न हो जाता है और सदैव ही पण्डित जी उन्हें अपने पक्ष में लेने को प्रयत्नशील रहते हैं।

इस उम्र में भारत के विस्तृत भूमिखंड के दौरे करने में उन्होंने जिस क्षमता का परिचय दिया है, उसे देख कर आश्चर्य होता है और सभी जगह असाधारण रूप से उनका स्वागत भी हुआ है। उत्तर से लेकर सुदूर दक्षिण में कन्या कुमारी तक वे सीज़र जैसे विजेता की भाँति आए गए हैं। और अपने पीछे कीर्ति की धवल ज्योति और एक कहानी छोड़ते आए हैं।

किन्तु क्या यह सब एक ऐसी क्षणिक इच्छापूर्ति है जिससे उन्हें आत्मतोष होता है अथवा कोई गहन योजना है ? या फिर यह किसी ऐसी शक्ति का चमत्कार है, जिससे वे स्वयं भी परिचित नहीं हैं ? क्या यह सत्ता की आकांक्षा है जिसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आत्म कथा में भी लिखा है, जो उन्हें एक से दूसरे जनसमूह में जाने को प्रेरित करती है जो उन्हें स्वगत यह कहने को विवश करती है, "जनार्णव की मानव रूपी लहरियों को हाथ में लेकर आकाश पर सितारों से अपनी वसीयत लिखी।"

फ़ासिस्ट मनोवृत्ति ? : यदि उनकी मनोवृत्ति बदल जाए, तब क्या होगा ? जवाहरलाल जैसे व्यक्ति जिनमें अच्छे और महान कार्य करने की क्षमता है, जनतन्त्र में अरक्षित हैं। वे अपने को जनवादी और समाजवादी कहते हैं और इसमें सन्देह भी नहीं है कि वे पूरी ईमानदारी से इसे निभाते भी हैं किन्तु प्रत्येक मनोवैज्ञानिक जानता है कि मानव मस्तिष्क अन्ततः हृदय के आधीन है और जहाँ तक तर्क का प्रश्न है उसे मनुष्य की आकांक्षाओं और बलवती प्रेरणाओं की संगति ठहराने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। एक साधारण-सा घुमाव चाहिए, जवाहर, जनतन्त्र के बाह्याडम्बर को बालाये ताक रख कर तानाशाह हो सकते हैं। सम्भव है इसके बाद भी वे जनतन्त्र के नारे और समाजवाद का ढंढोरा पीटते रहें। लेकिन हम सभी जानते हैं इस भाषा पर फ़ासिस्टवाद किस बुरी तरह छा गया है और फिर इसे बकवास कह कर छोड़ दें।

जवाहरलाल विश्वास अथवा स्वभाव से निश्चय ही फासिस्ट नहीं हैं। उनमें कुछ ऐसी सामन्ती विशेषताएँ हैं जिसके कारण फ़ासिस्टवाद की कठोरता और गन्दगी कुछ पीछे पड़ जाती है। उनकी मुखाकृति और वाणी से ऐसा स्पष्ट पता चलता है कि "गोपनीय चेहरे सार्वजनिक स्थानों पर उन चेहरों से अधिक अच्छे रहते हैं जो सार्वजनिक हो कर गोपीनीय स्थानों में दिखाई देते हैं।'

फ़ासिस्ट का चेहरा एक तरह से सार्वजनिक होता है। वह न गोपीनीय स्थानों में और न सार्वजनिक स्थानों में ही रुचिकर होता है। जवाहरलाल की मुखाकृति और वाणी दोनों ही निश्चित रूप से वैयक्तिक हैं। मजमों और सार्वजनिक स्थानों में उनके बोलने का ढंग कुछ ऐसा अपनापन लिए रहता है जिसे सुन कर लगता है मानों वे एक-एक व्यक्ति से अत्यन्त निकट होकर घरेलू ढंग से बात करते हों। उनकी बात सुन कर अथवा उनके सजग चेहरे को देख कर यह आश्चर्य होता है कि आखिर उनके आवरण में क्या छिपा है—कौन से विचार अथवा आकांक्षाएँ ? कौन सी आश्चर्यजनक अज्ञात भावनाएँ अथवा दबी हुई भावधाराएँ ? कौन-सी वासनाएँ हैं जिन्हें बलात् दबाया गया है अथवा शक्ति की दिशा में मोड़ा गया है ? अथवा कौन-सी आकांक्षाएँ हैं, जिन्हें वे स्वयं को भी बताने का साहस नहीं कर पाते।

उनकी भावधाराएँ सार्वजनिक सभाओं में उन पर हावी हो जाती हैं किन्तु अन्य अवसरों पर वे खोए खोए से दिखाई देते हैं, क्योंकि उनके मस्तिष्क में अन्यान्य क्षेत्र और इच्छाएँ चक्कर काटने लगती हैं और कुछ क्षणों के लिए वे अपने सभी संगी साथियों को भूलकर अपने मस्तिष्क में उपजे हुए जीवों से मौन की भाषा में बात करते हैं।

उन्हें यह अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि जो रास्ता उन्होंने अपने लिए चुना है उसमें विश्राम नहीं है और विजय का भी अर्थ होगा अधिकाधिक बोझ । जैसा कि लारैंस ने अरबों से कहा भी था—"बग़ावत के लिए विश्राम नहीं होता—दी हुई ख़ुशी का कोई साझीदार भी नहीं ।" सम्भव है प्रसन्नता नाम की कोई वस्तु उनके लिए नहीं, किन्तु फिर भी यदि प्रारब्ध और क्रियमाण सहायक हैं तब शायद प्रसन्नता से अधिक बड़ी चीज़ उनके लिए लिखी बदी हो—और वही हो उनके जीवन का लक्ष्य ।

सीज़र नहीं : यद्यपि जवाहरलाल फ़ासिस्ट नहीं हो सकते किन्तु फिर भी उनमें तानाशाही के सभी तत्व वर्त्तमान है यथा व्यापक लोकप्रियता, तीव्र इच्छा शक्ति, योग्यता, कठोरता । जनसामान्य के प्रति सहज स्नेह होते हुए भी उनमें औरों के लिए कम ही सहनशीलता है, विशेष कर कमज़ोर और नाकारे लोगों को वे कुछ हेय समझते हैं ।

उनका स्वभाव तो प्रसिद्ध है ही । यद्यपि अपनी उग्रता पर वे काबू पा लेते हैं किन्तु फिर भी होटों का कम्पन उनकी मनःस्थिति को व्यक्त कर देता है । किसी कार्य को करा डालने की तीव्र आंकाक्षा और अवांछनीय चीज़ों को झाड़ फैंक कर नवनिर्माण का काम प्रजातन्त्र की मन्दगति के साथ मुश्किल से ही चल सकेगा ।

वाह्यावरण और दिखावा चाहे जो भी रहे, किन्तु वे अपनी तीव्र इच्छाशक्ति के सम्मुख इन व्यवधानों को झुका कर ही रहेंगे । सामान्यतः वे एक कुशल और सफल प्रशासक सिद्ध होंगे, परन्तु क्रान्ति के इस ढांचे में अधिनायकवाद (सीज़रवाद) की सदैव ही सम्भावना है । और तब क्या यह सम्भव नहीं कि जवाहरलाल स्वयं भी एक अधिकनायक बन बैठे ?

किन्तु इसमें जवाहरलाल और भारत दोनों ही के लिए एक खतरा है । क्योंकि भारत में स्वाधीनता अधिनायकवाद के द्वारा नहीं आती । किसी भी उदार और कुशल तानाशाही के अन्तर्गत देश की थोड़ी बहुत उन्नति भले हो जाए, किन्तु देश की आत्मा मृतप्राय हो जाएगी और जनमुक्ति का स्वर्णिम दिवस भी दूर हो जाएगा ।

लगातार दो वर्ष से जवाहरलाल कांग्रेस के अध्यक्ष होते आ रहे हैं । कुछ बातों में उन्होंने अपने को कुछ ऐसा अपरिहार्य बना लिया है कि कुछ लोग उन्हें तीसरी बार भी चुनने का मत व्यक्त कर रहे हैं । किन्तु इससे बड़ा देश और जवाहरलाल का अहित शायद ही कुछ हो सके । उन्हें तीसरी बार चुनने का अर्थ होगा कि हम कांग्रेस की बलि दे कर एक आदमी को चढ़ाते चले जा रहे हैं और इससे लोग भी अधिनायकवाद की शक्ल में सोचने लगेंगे ।

इतना ही नहीं, ऐसा करने से हम जवाहरलाल में भी ग़लत प्रवृत्तियां उभारेंगे और उनमें मिथ्याभिमान तथा धोखे को जन्म देंगे । उन्हें यह विश्वास हो जाएगा कि अकेले वही देश का भार उठा सकते हैं अथवा भारत की बहुमुखी समस्याओं को सुलझा सकते हैं । हमें स्मरण रखना चाहिए कि, ज़ाहिरा तौर पर 'पद' के प्रति उदासीन होते हुए पिछले सत्रह साल से उन्होंने कांग्रेस के महत्वपूर्ण पदों को ले रखा है । क्षण भर को भी उनके मस्तिष्क में यह बात नहीं आना चाहिए कि वे अपरिहार्य हैं । वही क्या किसी भी मनुष्य में यह विचार नहीं पनपने देना चाहिए ।

उन्हें बिगाड़े नहीं : इस बात के लिए एक निजी कारण भी है । अपनी वीरोक्तियों के बावजूद भी वे ज़ाहिर तौर पर कमज़ोर और थके हुए दिखाई देते हैं । यदि वे अध्यक्ष बने रहे तो निसन्देह उनका स्वास्थ्य गिरता जाएगा । वे विश्राम भी नहीं कर सकते, क्योंकि सिंह पर सवारी गांठ कर कौन उतर सकता है ! किन्तु फिर भी हम कम-से-कम उन्हें भटकने और अत्यधिक भार और ज़िम्मेवारियों के कारण होने वाली मानसिक गिरावट से तो बचा ही सकते हैं । भविष्य में भी उनसे सत्कार्यों की आशा करना हमारा अधिकार है । हमें चाहिए कि उसे ठेस न पहुँचाएँ और अत्यधिक पूजा-प्रशंसा कर उन्हें भी न बिगाड़ें । उनका मिथ्याभिमान, यदि है तो पहले से ही अजेय है । और उसे रोकना चाहिए, क्योंकि हमें अधिनायक नहीं चाहिए ।

ले० : जवाहरलाल नेहरू
अनु : —तिलक

स्वदेशी हाउस,
कानपुर

हिन्दी की आदिम आत्मकथा—'अर्धकथानक'

आत्मकथा—वह विशिष्ट रचना है जिसमें लेखक अपने जीवन की सम्पूर्ण दशाओं का सत्य और स्वाभाविक वर्णन करता है। हमारे साहित्य में आत्म-कथाओं की संख्या अत्यन्त अल्प है, फिर भी हिन्दी साहित्य क्षेत्र में इन नियत रचनाओं ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'मेरी असफलताएँ नामक आत्मकथा लिख कर श्रीयुत गुलाबराय ने अपनी जीवनी लिखने का साहित्यिक उद्योग किया है।

कुछ भी हो इस प्रकार के साहित्य सृजन का रिवाज़ हमारे यहाँ (हिन्दी साहित्य जगत् में) पहले नहीं था, वह अंग्रेज़ी साहित्य से उद्धृत और अनुकरण किया गया है, अतः वह विदेशी देन है, इस प्रकार की थोथी धारणा कतिपय साहित्यकों ने बना ली है। यथार्थ में इस प्रकार की धारणा बना लेना साहित्य समाज के हित में अधिक उपादेय नहीं है। जिस साहित्य के इतिहास में वे आत्म कथाएँ टटोलते हैं, कदाचित् वह इतिहास ही अधूरा है। उसमें किंचित जातीयता की बू आती है। ऐतिहासिक और साहित्यिक को निष्पक्ष भाव से साहित्य की शोध करनी चाहिए। अधुनातन प्राप्य हिन्दी मान्य साहित्य में जैन साहित्य का अभाव परिलक्षित होता है। इसका कारण एक मात्र केवल उन ऐतिहासिकों किं वा साहित्यकों पर ही नहीं थोपा जा सकता, अपितु आँशिक आरोप उस समाज पर भी लगाया जावेगा जिसको जैन साहित्य के सृजन और संरक्षण का श्रेय सदैव से रहा है।

कविवर बनारसीदास जैन का समय १७ वीं शताब्दी के बीच में निर्धारित किया जाता है। आप तात्विक साहित्य के निर्माण करने वालों में प्रमुख विद्वान् कवि थे। उनकी रचनाएँ अध्यात्म और दर्शन का रसास्वादन करने के लिए अपूर्व हैं।[1] आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले आपने अपने जीवन चरित्र को पद्यमय लिखने का आयोजन किया था, जिसका नाम 'अर्धकथानक' रखा गया। आपने ऐसे विषय को रच कर यथार्थ में साहित्य को मौलिक कृति की देन दी। आत्मकथाओं का श्री गणेश विलायत से हमारे देश में हुआ ऐसी धारणा को 'अर्धकथानक' नामक आत्मकथा ने असत्य सिद्ध कर दिया।

आत्मकथा लिखना कोई सरल काम नहीं है। अमेरिका के लेखक श्री मार्कन्टेन का विचार है कि यथार्थ आत्मकथा लिखी ही नहीं जा सकती। छपने वाले जीवन चरित्रों को आदमी के कपड़े और बटन ही समझना चाहिए। उक्त सज्जन का कथन किसी सीमा तक अनर्गल नहीं है। यह प्रायः देखने में नहीं आता कि मनुष्य अपने नैतिक पतन का भी उल्लेख करें। हाँ कतिपय, घटनाओं को अवश्य शिक्षात्मक ढुलिया में ढाल कर लोग अपने पाठकों के समक्ष अभिव्यक्त करते हैं। वस्तुतः इस प्रकार के आत्मचरित उत्तम आत्मचरित्रों की कोटि में नहीं आते, श्रीयुत बनारसीदास जी के विषय में यह बात चरितार्थ नहीं होती। 'अर्धकथानक' में जीवन की सकल घटनाओं—जिनका किंचित् मात्र भी अस्तित्व सम्भव है, का उल्लेख विधिवत किया गया है। यहाँ तक कि लेखक के जीवन में जो उथल पुथल हुई उसका भी वर्णन यथार्थ में सत्य प्रियता का द्योतक है। कविवर ने समूचे कथानक में स्वाभाविकता और सरलता से काम लिया है।

'अर्धकथानक' केवल जैन साहित्य के गौरव में ही सहायक नहीं है अपितु इसने समस्त हिन्दी साहित्य को अमिट देन दी है। कथानक के सम्बन्ध में वर्तमान हिन्दी साहित्य के अधिकारी विद्वान् श्रद्धेय श्रीयुत बनारसीदास चतुर्वेदी अपना अभिमत प्रस्तुत करते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस ग्रन्थ का एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही में इस में वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है जो इसे अभी तक कई सौ वर्ष जीवित रखने में सर्वथा समर्थ होगी। सत्य प्रियता, स्पष्ट वादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा ज़बरदस्त पुट इसमें विद्यमान है। हिन्दी का तो यह सर्व प्रथम

---

[1] हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—डा० कामताप्रसाद, डी० एल० एम० आर० ए० एस० आदि।

आत्म चरित है ही पर अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नहीं।

अर्धकथानक का जितना महत्व उसके साहित्य गुणों और ऐतिहास बृतान्तों के कारण है उतना ही और सम्भवतः उससे भी अधिक उसकी भाषा के कारण है, श्रीयुत बनारसीदास ने अपने 'अर्धकथानक' की भाषा को स्पष्ट रूप से 'मध्यदेश' की बोली कहा है और संस्कृत साहित्य में मध्यदेश की चतुः सीमा इस प्रकार मानी जाती हैं, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विंध्यचल, पूर्व में काशी और पश्चिम में पंजाब के सरहिन्द जिले का वह मरुस्थल जहाँ सरस्वती नदी का लोप हुआ है। चीनी यात्री फाहियान ने (सं० ४५७) मताऊल (मथुरा) से दक्षिण के प्रदेश को मध्यदेश कहा है और अलबरूनी (सं० १०८७) ने कन्नौज के चारों ओर के प्रदेश को मध्यदेश माना है। बनारसीदास का कवि क्रीड़ास्थल प्रायः आगरा से जौनपुर तक यू० पी० का प्रदेश रहा है। अतएव उसे ही उनके द्वारा सूचित मध्यदेश माना जा सकता है।[2]

जहाँ तक आत्म कथा का सम्बन्ध है उसकी भाषा साधारणतः बोल चाल की ही होनी चाहिए। आत्म कथा इस प्रकार का इतिहास है जो एक व्यक्ति का प्रधानतः इतिहास प्रस्तुतः करता है। 'अर्धकथानक' की भाषा प्रायः इस मत के अनुकूल ही है। भाषा इस पुस्तक की इतनी सरल है और साथ ही इतनी सारगर्भित भी है कि साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति में उसकी गणना अवश्य मेव होगी।[3]

'अर्धकथानक' के आद्योपान्त पारायण के पश्चात् हमें कविवर बनारसीदास के जीवन के सम्बन्ध में अच्छी खासी जानकार हासिल हो जाती है उनके जीवन की प्रत्येक घटना का उल्लेख करना प्रस्तुत विवेचन का उद्देश्य नहीं है। फिर भी कतिपय प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख यहाँ समीचीन होगा कवि ने अपने गुण दोष का निस्संकोच भाव से उल्लेख किया वे अपने प्रारम्भिक जीवन में चारित्रिक तपन की पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे। उदाहरणार्थ

"कै पढ़ना कै आसिखी, मगन युहू रस माहि।
खान पान की सुध नहीं, रोज़ गार किछु नांहि॥"

इतना ती नहीं इस सम्बन्ध में आपने एक 'नवरस' नामक पुस्तक तक रच डाली जो विवेक उपजने पर आपके द्वारा ही जल मग्न कर डाली गई आपने लिखा है—

"कबहू आइ सबद उन धरैं। कबहू जाइ आसिखी करैं।
पोथी एक बनाई नई। मित हज़ार दोहा चौपाई!
तामैं नव-रस रचना लिखी, पै विसेस बरनन आसिखी।
ऐसे कुकवि बनारस भए, मिथ्या ग्रन्थ बनाए नए!"

कविवर को भयंकर कोढ़ रोग से भी प्रपीड़ित होना पड़ा। साथ आप अपमानित भी हुए जो साधारणतः असहनीय था।

"भयौ बनारसिदास तन, कुष्ट रूप सरबंग।
हाड़-हाड़ उपजी विथा, केस रोम भुव भंग!
जल भोजन की लेहु सुध, दैहि आनि मुख माहि।
ओखद ल्यावहि अंग में नाक मूंदि उठि जाहि।"

आगे चलकर कविवर का जीवन अत्यन्त संयमी और धार्मिक हो गया। यहाँ तक कि पूजा पाठ के पश्चात् भोजन आदि करना आपके नियम के अन्दर था।

"पूजा करि आए निज थान
कीजै भोजन खाए पान।
सान्ति कुंथु अरनाथ को, कीनौ एक कवित्त
ताकौ पढ़ बनारसी भाव भगति सौं नित्त।"

'अर्धकथानक' के अपूर्ण अध्ययन के उपरान्त स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कवि को पारिवारिक सुख कभी न मिला। अनेक शादियाँ आपने की और अनेक पुत्र पुत्रियों की मृत्युएँ आपने देखीं। आप को शान्ति अध्यात्म जगत् में विहार करने पर ही अनुभवित हुई।

'अर्धकथानक' और उसके रचयिता के बिना हिन्दी साहित्य की आत्मकथाओं का इतिहास प्रायः अपूर्ण ही रहेगा। आपने हिन्दी साहित्य में एक मौलिक क्षेत्र में पदार्पण कर मार्ग प्रदर्शन का कार्य किया है। आजकल हिन्दी-साहित्य की यह एक अनुपम रचना है। आजकल 'आत्मकथा' गद्य में लिखी जाती हैं परन्तु यह पद्य में लिखी गई है।

राजामन्डी-स्टेशन
आगरा

—महेन्द्र सागर प्रचंडिया,

---

[2] अर्धकथानक की भाषा—डॉ० हीरालाल ए०, ए०, डी० लिट० [3]. अर्धकथानक—पृष्ठ २६ श्री० बनारसीदास चतुर्वेदी

राजभाषा हिन्दी

भारत की संविधान सभा ने हिन्दी को राजभाषा का पद दे दिया है । नियमानुसार १९६६ के उपरांत सभी व्यवहार हिन्दी भाषा के माध्यम से ही होने चाहिए। हाल ही में भारत सरकार ने हिन्दी आयोग की नियुक्ति की । आयोग ने देश भर में भ्रमण कर गवाही ली और राजभाषा के स्वरूप की सिफारिशें भी की । हिन्दी के राजभाषा घोषित होने के पश्चात् देश के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि वर्तमान स्थिति में हिन्दी को राजभाषा के पद पर कैसे आरूढ़ किया जाए ? प्रान्तीय भाषाओं का भविष्य में क्या स्थान होगा और हिन्दी तथा अंग्रेज़ी का कौन-सा स्थान ? कालेज, न्यायालय, वैज्ञानिक एवं चिकित्सा क्षेत्र तथा वैदेशिक विभाग इत्यादि में किस भाषा का कहाँ तक स्थान रहेगा अथवा इस स्थान पर बिठाने की क्षमता हिन्दी में इस समय है कि नहीं । इस सम्बन्ध में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? आदि आदि समस्याएँ पर्याप्त जटिल हैं जिन पर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है ।

× × ×

भारत शताब्दियों से दासता की शृंखलाओं में जकड़ा रहा । उस पर अनेक जातियों का आक्रमण हुआ । ऐसी दशा में विजेताओं की भाषा और संस्कृति का प्रभाव भारत पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा । इस प्रकार जो परिवर्तन हुए, उन्हें भारत ने भले ही आत्मसात् कर लिया हो, पर उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित है ।

हिन्दी भाषा को ही ले लीजिए, तो विदित होगा—उस पर अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पोर्चुगीज़ आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रभाव परिलक्षित होता है । अभी तक हिन्दी की कोई एक निश्चित शैली और स्वरूप नहीं है । दैनिक समाचार पत्रों में हम नित्य-प्रति देखा करते हैं, किसी में विशुद्ध संस्कृत गर्भित हिन्दी का प्रयोग है, किसी में उर्दू शब्दों से भरी हिन्दी है तो और किसी में दोनों का सम्मिश्रण ! तिस पर भी खूबी यह है कि किसी में संस्कृत, अंग्रेज़ी और फ़ारसी के शब्दों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग होता है तो किसी में जबर्दस्ती शब्द लादे जाते हैं । इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और उसमें कृत्रिमता आ जाती है ।

हिन्दी के जो कट्टर हिमायती हैं, वे विदेशी भाषाओं के शब्दों का घोर विरोध करते दिखाई देते हैं । पर इसे भूलना न चाहिए कि मुसलमानी सभ्यता का हमारी रहन सहन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है । रोटी-तवे से लेकर पोशाक, गहने, मेवे-मिठाई, बाजे इत्यादि से सम्बन्धित सहस्रों शब्द हिन्दी में आ गए हैं । विदेशी शब्द होने मात्र से क्या आप हलवा, मिठाई, जलेबी, खाजा आदि खाना छोड़ देंगे ? पायजामा, रूमाल, कुर्ता पहनना छोड़ देंगे ? कभी नहीं ! फिर आप अपनी भाषा को सम्पन्न कैसे बना सकते हैं ?

इसी प्रकार अंग्रेज़ों के शासन-काल में भारतीय भाषाओं में हज़ारों शब्द आ गए हैं । उन शब्दों के स्थान पर हिन्दी में ढूँढ़ने पर भी कोई शब्द नहीं मिलता । डाक्टर, टिकट, स्टेशन, बूर, पेंशन, इंच, मील, टिन, लालटेन, प्रेस, मास्टर, इन्स्पेक्टर, डिग्री, कोट, पैन्सिल, पास, मोटर, फ़्रएड, होटल, रेल, बटन, हैरा, पालिश, मेम्बर इत्यादि असंख्य शब्द हैं ।

जनाब ! आप भले ही साइकिल के स्थान पर चक्रशकट शब्द अथवा रेल के लिए धूम्रशकट आदि शब्द चलाएँ, पर उस पर अमल करनेवाला कौन है ? इसलिए जो शब्द स्वाभाविक रूप से हिन्दी में आ गए हैं, और खप गए हैं, वे हिन्दी के अपने शब्द हो गए हैं, साहित्य और व्यावहारिक जीवन में भी वे शब्द पूर्णतया प्रचलित हैं । अतः उन्हें निकालने की चेष्टा करना उचित ही नहीं बल्कि अहितकर सिद्ध होगा ।

आजकल लोगों में यह फ़ैशन-सा हो गया है कि जो अंग्रेज़ी के अर्धशिक्षित हैं, वे अनावश्यक ही अंग्रेज़ी शब्दों को प्रयोग करते हैं । वैसे ही जब से हिन्दी राजभाषा बनी, हिन्दी के शब्दों का प्रभाव प्रान्तीय भाषाओं पर दिखाई देने लगा है । एक दक्षिण के हिन्दी प्रचारक उत्तर से लौटे, तो बात बात में वहाँ की हिन्दी के शब्दों का प्रयोग करने लगे, मेरे एक मित्र ने तुरन्त कहा—यह

साहब तो फॉरन रिटर्न्ड हैं उन्हें अपनी भाषा का प्रयोग करने में क्यों संकोच ?

सुनने में आया है कि उत्तर भारत से लौटे कुछ हिन्दी प्रचारक घरों में बीबी-बच्चों से, माता-पिता से भी हिन्दी में बोलने लग गए हैं। आखिर हिन्दी राजभाषा है न ! शायद वह साहब बीबी पर अपनी धाक जमाना चाहते होंगे ! खिलाने में देरी हुई तो वह उठे, कहने लगे—"खाना जल्दी खिलाओ, हमें आफ़िस जाना है। लेट हो गया है। अफ़सर साहब रज़िस्टर अपस्टेयर्स में मंगवाएँगे।" जनाब क्या कहूँ, यह कौन-सी भाषा है ? बोलनेवाले महाशय को जीभ पर नियन्त्रण नहीं, बेचारी बीबी मुँह बाये खड़ी रही और सोचने लगी : उत्तर भारत से लौटने पर मेरे पति को क्या हो गया !

हिन्दी आयोग जब दक्षिण भारत का भ्रमण कर रहा था, उन दिनों में सर्वत्र राजभाषा की ही चर्चा चलती रही। यहाँ तक होटलों में, क्लब, स्टेशन, सड़क, बीच-पार्क, बसों में—अखबारों की चर्चा तो थी ही—उन दिनों में मैं अपने एक मित्र के यहाँ दावत में गया था। चार-पाँच सज्जन वहाँ पर पहले ही उपस्थित थे। मेरे मेज़बान मित्र बोल उठे—"दट ईज़ दि सिचुएशन आलांटपुडु (ऐसी हालत में) मैं क्या करूँ ?" यह वाक्य अंग्रेज़ी में शुरू हुआ, तेलुगु का स्पर्श करते हुए हिन्दी में समाप्त हुआ। तब मेरे मित्र ने बीच में ही उसे रोकते हुए कहा—वाह रे शेर ! तुमने लोक भाषा (एक सामान्य भाषा) का सच्चा उदाहरण पेश किया ! कुछ लोग तो सनकी होते हैं। कुछ शौक़ीन ! मेरे कई ऐसे परिचित व्यक्ति हैं जो मिनट-मिनट में भाषाएँ और शब्द बदलते रहते हैं। वे अपने को बहुभाषाविद् साबित करने के विचार से बोलते हैं या सनक सवार हो कर कुछ लोग बिना सोचे समझे जिस समय जो शब्द याद आया, बस वही कह दिया। मेरे जिस मित्र ने मेज़बान को रोका था, उसी व्यक्ति ने एक मिनट के बाद कहा—"ब्रदर ! जल्दी नीरु तिसकरा (पानी लाओ)।" ये शब्द ऐसे खप गए हैं। कहने का तात्पर्य है कि लोग अपनी जिह्वा पर नियंत्रण न रख सकने के कारण व्यावहारिक जीवन में भाषा का कैसा रूप बना देते हैं और फिर लोग इसे फ़ैशन समझते हैं, फ़ैशन !!!

राजभाषा के प्रचार के पूर्व हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं का स्थान निर्धारित होना चाहिए। प्रारंभिक अध्ययन मातृभाषा के द्वारा ही होना आवश्यक है। लेकिन मातृभाषा के अध्यापन में सावधानी न बरतने पर कैसे अनर्थ होते हैं—एक दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करूँगा।

हैदराबाद निज़ाम में उर्दू का बोलबाला था। उर्दू जाननेवाले मुन्शी को ही तेलुगु पढ़ाने को नियुक्त किया जाता था। वह दोनों भाषाएँ पढ़ा देता था। एक उर्दू-मुन्शी को इज़्ज़त शब्द का अर्थ बताना था बेचारे उसका अर्थ (गौरवमु) नहीं जानता था। व्याख्या करना शुरू किया :

मान लो, तुम्हारे घर में कोई मेहमान आए हैं, तब तुम क्या करोगे ? पानी दोगे, हाथ मुँह पोंछने के लिए तौलिया दोगे, खाट पर बिस्तर बिछाओगे, बैठने को कहोगे, अन्त में कुशल पूछोगे, है न ! इसको इज़्ज़त कहते हैं। लड़कों ने इज़्ज़त शब्द के कोई १२ अर्थ लिख कर दिखाए। मुंशी साहब के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं ! यह है शिक्षा !!

हिन्दी के राजभाषा होने पर कुछ समय तक लोक-जीवन में हिन्दी की क्या स्थिति होगी ? इस विषय में मैंने प्रारम्भ में एक दो घटनाओं का वर्णन किया। हिन्दी के कुछ शब्दों का तेलुगु में बुरा अर्थ होता है और तेलुगु के कुछ शब्दों का अर्थ हिन्दी में अश्लील होता है। ऐसे कई शब्द हैं। उदाहरणार्थ मैं दो-तीन शब्द प्रस्तुत करूँगा :

एक बार एक उत्तर भारत की महिला तरकारी खरीदने मार्केट में गई। तरकारी बेचने वाले ने प्रसन्न मुद्रा में उसका स्वागत करते हुए कहा :

"रंडी, एमि कावले ?" (आइए, क्या चाहिए ?) वह युवती झल्ला उठी। सरपर आसमान लेकर चिल्लाने लगी, "यह दुष्ट मुझे रंडी कहता है। रंडी का काम करते इसने कहाँ देखा है ?" आदि। वहाँ पर बड़ी भीड़ जमा हो गई। सबने उस महिला को समझा बुझा कर कि तेलुगु में रंडी का अर्थ 'आइए' होता है, भेज दिया। यही घटना एक महीने पूर्व हैदराबाद में एक हिन्दी विद्वान् पर घटी।

वैसे ही हिन्दी का 'कुत्ता' शब्द तेलुगु में कैसा अश्लील होता है, पूछिए मत। रायलसीमा ज़िलों में 'योनि' के 'गुदा' के अर्थ में और सरकार ज़िलों में

अर्थ में प्रयुक्त होता है । अध्ययन और अध्यापन यह शब्द कैसे हास्यास्पद का रूप धारण करता होगा, आप ही कल्पना कीजिए ? ऐसा अवसर आया भी है । एक अध्यापक ने बोर्ड पर कुत्ता शब्द लिखा । वर्ग में बैठी लड़कियों से पूछा : "कुत्ते के नीचे क्या है ?" क्लास के सभी लोग हँस पड़े । जवाब देते नहीं बना ! यह है भाषाओं की कठिनता !

एक और घटना सुन लीजिए। एक बार मेरे यहाँ एक उत्तर भारत के मित्र आए थे ! बसंत विहार होटल में उत्तर भारत का भोजन मिलता है । मैं उन्हें वहाँ ले गया । द्वार पर खड़े दरबान ने मेरे मित्र से पूछा—"क्या गाना गाएँगे गाना ?" मेरे मित्र खाने गए थे, गाने नहीं । वह चकित हो देखते ही रहें । स्मरण रहें कि तमिल में क, ख, ग, घ के लिए एक ही वर्ण है । गांधी कांती हो सकता है । धन शब्द तन हो सकता है—तेलुगु में अभिमान का अर्थ प्रेम होता है जब कि हिन्दी में घमण्ड या गर्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है । वैसे ही—

	हिन्दी में	तेलुगु में
चरित्र	चाल-चलन	इतिहास
संसार	विश्व	परिवार, कुटुम्ब
कल्याण	शुभ	विवाह
वासना	इच्छा, संस्कार	गंध
उपन्यास	कल्पित आख्यायिका	भाषण
उद्योग	प्रयत्न	नौकरी
मत	अभिप्राय	धर्म

अब आप ही कल्पना कीजिए कि आप यदि किसी तेलुगु आदमी से पूछेंगे कि आपका क्या मत है ? वह तुरन्त हिन्दू कहेगा; यदि आप कहेंगे तुम्हारा कल्याण हो ! आशीस देंगे तो शादी शुदा व्यक्ति आशीर्वाद देने वाले को पागल समझ बैठेगा । एक ही शब्द भिन्न भाषाओं में किस प्रकार विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होता है और इन शब्दों का लोक-जीवन में प्रचलन होते समय किस प्रकार का वातावरण बनेगा । कैसी हँसी आएगी और कैसा झगड़ा होगा, यह आप स्वयं समझ सकते हैं ।

इस समय हिन्दी का जो व्यावहारिक रूप है बड़ा विचित्र है—एक बार हम रेल में यात्रा कर रहे थे । हमारे साथियों के साथ जब चर्चा चली तो वे गम्भीर हो कर हिन्दी में वाद विवाद करने लगे । हम से थोड़ी दूर पर एक गोरखा, एक मुसलमान और कई उत्तर हिन्दुस्तान के तीर्थयात्री भी थे । हमारे वार्तालाप को सुन कर गोरखा उछल पड़ा और कहने लगा: "साब ! आप बोत अच्छा बोलता है । हम भी हिन्दी जनता है । इधर बात करने को कोई नहीं मिलता ।" मैं उसकी बातें सुन हँस रहा था । मुसलमान सज्जन बोल उठा : "जनाब ! हमारा उर्दू से तुम्हारा हिन्दी बहुत मिलता है ।" तीर्थयात्री सज्जन की बाँछें खिल गईं । दक्षिण में भी हिन्दी बोलते हैं, उन्हें बड़ी खुशी हुई । कहा : "यह का कहत भइया ! हम हूँ खुद समझत नाहिं । अपन लोग हिन्दी को बहुत प्यार करत हौं । उर्दू दूसरी ही चीज़ है । हिन्दी अलग चीज़ ।"

लोक-जीवन में हिन्दी के स्वरूप का नमूना देख मैं मन ही मन विचार करने लगा कि लोग अपने ढंग से सोचते, समझते और बोलते हैं । आखिर इसमें दोष ही क्या है !

लेकिन उन दोनों सज्जनों ने चर्चा को गम्भीर बनाया । मुसलमान ने कहा : "हम खुदा कहता है । तुम ईश्वर । दोनों एक ही चीज़ है । ज़रा भी फ़र्क नहीं ।

तीर्थयात्री : शब्दों में फ़रक है न ! हम इस्कूल को पाठशाला कहत हैं, तुम लोग मदरसा ।

मुसलमान : मदरसा और पाठसाला दोनों एक ही तो हैं ?

चर्चा और भी गम्भीर होती । रेणुगुण्टा के समीप आ गए थे । अतः तीर्थयात्री ने कहा : "भाई ! अपन लोगों की बहस बहुत अच्छी रही । इस स्टेशन पर हम उतरत हैं—राम ! राम !!"

हिन्दी तेरे कितने रूप हैं । जो जिस रूप में चाहें उस रूप में तेरी आराधना करता है ! पर हम किस रूप को स्टैण्डर्ड समझें ! मैं गम्भीर होकर सोचता रहा । मेरे मित्र ने अवकाश पाकर चर्चा पुनः छेड़ दी ।

शिक्षा के क्षेत्र में : हाँ भाई ! आप हिन्दी भाषा के बखान करते थकते नहीं । उसे राजभाषा के योग्य बताते हैं । मैं आपकी बात मानता हूँ । पर मेरे हृदय में जो संदेह हैं, उनका निवारण तो कीजिए । क्लास में विद्यार्थी मुझे तंग करते हैं । उनमें पहली कठिनाई लिंग सम्बन्धी है । संस्कृत, तेलुगु, मलयालम, बंगाली, मराठी यहाँ तक कि अंग्रेज़ी में भी Neuter gender

नपुंसक लिंग है। हिन्दी में नहीं है, क्या बात है ?

मैंने कहा : अरे साहब ! वह तो नहीं है ! सो हम क्या करें ? हिन्दी भाषा में दो ही लिंग हैं वैसा ही सीखो न ! "भाई ! मैंने तो सीख ली है।" मैंने तुरन्त कहा—"तब तो मामला ही खतम ! मेरा सिर क्यों खाए जा रहे हो ?" हिन्दी वाले सिर भी खाते हैं, हवा भी खाते हैं, गालियाँ भी खाते हैं, चप्पल भी खाते हैं और न मालूम क्या क्या खाते हैं। यही सब प्रश्न लड़के पूछ बैठते हैं। मित्र ने कहा : कुछ दिन पहले मैं IV Form में हिन्दी पढ़ा रहा था। एक लड़के ने उठ कर पूछा : "मास्टर मूँछ पुरुषों की है ? स्त्रीलिंग क्यों, दूसरे ने कहा : स्तन पुलिंग है न। इसलिए दाढ़ी स्त्रीलिंग, सर और उसके बाल पुलिंग इन्हें समझाने में मैंने बहुत कठिनाई का अनुभव किया है। आप तो इसे हँसी मज़ाक समझेंगे। यह मेरे जीवन मरण की समस्या बनी हुई है। लड़के यदि शिकायत करें हेडमास्टर साहब से कि मैं स्त्री. पु. तक नहीं बता सकता हूँ तो मेरी नौकरी ही चली जाए। खैर, यहाँ तक तो ठीक था—सामर्थ्य, पवन को उभयलिंग कहते हैं यह क्या बला है ? एक शब्द स्त्री और पुं. कैसे बन सकता है ? अप्राणिवाचक शब्दों को अन्य भाषाओं की भाँति नपुंसक लिंग मान लें तो बहुत ही अच्छा हो, यह सोचने की बात है न ? मैंने कहा : हां, हाँ ! ज़रूर !...

मेरे मित्र में मेरा पूर्ण उत्तर सुनने की सहनशीलता नहीं थी। फिर पूछ बैठे, मानों अपनी कसर निकालना चाहते हो—पुस्तक स्त्री ग्रन्थ पु० वायु, हवा—स्त्री सुमीर पु० पैर और टाँग का अर्थ एक ही है। पैर पु० टाँग स्त्री इस प्रकार कितने शब्द गिनाऊँ ? हिन्दी की लिंग सम्बन्धी इस अव्यवस्था से मैं ऊब उठा हूँ। सभी भारतीय भाषाओं में एकरूपता लाने के लिए इसमें सुधार हो तो अच्छा ! यह राजभाषा हो गई। शायद इसीलिए इसकी यह विशिष्टता है !

दूसरे सज्जन ने हमारा ध्यान भंग करते हुए कहा—"साहब ! खड़ीबोली बहुत सुन्दर और मीठी भाषा है ? हिन्दुस्तानी म्यूज़िक सुनें तो समझ में आए !"

अरे साहब ! वह तो खड़ीबोली का संगीत भी नहीं और न बैठी बोली का। वह तो हिन्दुस्तानी म्यूज़िक है—जनाब हिन्दुस्तानी !! समझे ! मेरे मित्र ने कहा—

भाई, कभी सोचता हूँ कि आखिर हिन्दी है क्या ? राजस्थानी, अवधी, व्रज, उर्दू, हिन्दुस्तानी इन सब को हिन्दी कहा है। हिन्दी तो हिन्दी ही है, व्रज और अवधी कैसे ? क्या कभी मराठी तेलुगु हो सकती है ! मैंने हिन्दी की उत्पत्ति से लेकर वर्तमान समय तक के विकास पर एक भाषण दिया। सारा सुनने के बाद कहा हाँ, थोड़ी देर के लिए मान भी लेता हूँ कि व्रज, अवधी राजस्थानी आदि हिन्दी के रूप हैं। पर यह 'ने' प्रत्यय क्या बला है ? स्वर्णयुग के सूर और तुलसी जैसे महाकवियों ने 'ने' प्रत्यय का प्रयोग कहाँ किया ? वह भाषा भी तो अच्छी थी। यह खड़ीबोली तो भाई ८० साल की है, ८० साल की ! इसने 'ने' प्रत्यय को स्थान देकर हमारी नाकों दम कर रखा है ! हाँ। मैंने समझाया कि 'ने' प्रत्यय बहुत दिनों से चल पड़ा है। वह भाषा में इस प्रकार हिल-मिल गया है, उसके कारण भाषा भी सुन्दर हो गई है, अब इसे निकालना कठिन है। मेरे मित्र कहने लगे—यह प्रत्यय किसी भाषा में भी नहीं है। मैं इसे निकाल फेंक देने को अखबारों द्वारा आन्दोलन करूँगा द्राविड़ कज़गम वाले रेल स्टेशनों पर हिन्दी के बोर्ड भी मिटा रहे हैं—उनको साथ लूँगा। इस 'ने' प्रत्यय की गुलामी को मैं स्वीकार नहीं करूँगा।

मैंने समझाया, भाई, यह प्रत्यय भी बराबर कहाँ आता है, तुम्हें तंग करने के लिए। वर्तमान, भविष्य अथवा सामान्य भूतकाल इत्यादि में बेचारा वह आता ही नहीं।

वह इस बार गंभीर हो कर कहने लगे—मैं कहता हूँ कि हिन्दी को अपनी निर्धारित अवधि के भीतर एक सामान्य एवं राजभाषा का पद लेना है तो उसे अपने इन कुछ कठिन नियमों को शिथिल करना होगा, उसे बना कर वह हिन्दी के अध्यापक, विद्यार्थी और नव शिक्षितों की प्रशंसा प्राप्त करें। तभी अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार शीघ्र होगा। 'ने' निकाल कर बोले तो क्या हर्ज़ है ! असल में उसके प्रयोग में कितनी कठिनाई है, देख तो लीजिए—

वर्तमान काल : राम रोटी खाता है
भविष्य काल : राम रोटी खाएगा
भूतकाल : राम ने रोटी खाई
सीता ने रोटी खाई

भूतकाल में कर्त्ता के अनुसार क्रिया का रूप नहीं है बल्कि वह कर्म के अनुसार है। उसी में 'को' प्रत्यय लगाइए, बस, झंझट खतम—राम ने रोटी को खाया—सीता ने रोटी को खाया। यह तो ठीक है ! तब तो मैं सदा सर्वदा द्वितीय विभक्ति प्रत्यय 'को' लगा कर पढ़ाया करूँगा। यह तो अच्छा 'तारक मन्त्र' है ! इससम्बन्ध में मैं कुछ सुझाव देने वाला था। पर उसने ध्यान नहीं दिया। अपने जीवन का एक और अनुभव सुनाने के लिए उसका हृदय छटपटा रहा था—उसने लेक्चर झाड़ना शुरू किया—भाई ! मैं एक तेलुगु के प्रसिद्ध अभिनेता को हिन्दी सिखा रहा था। वहाँ पर भी 'ने' का प्रश्न उठा। मैंने उसे जिस ढंग से समझाया वह अद्भुत है। अभिनेता कुछ मज़ाकिया स्वभाव के हैं, उनके लिए वही तरीका अच्छा था। चाहे जो भी मार्ग अपनाएँ, हमें राजभाषा का प्रचार करना है। असल में बात यों हुई—मैंने कहा—हिन्दी के वर्तमान, सामान्य भूत और भविष्यात्मक में कर्त्ता जिस लिंग और वचनों में होगा, क्रिया भी उसी रूप में होगी। अभिनेता ने जवाब दिया था—यह तो भारत का पवित्र सम्प्रदाय है। कर्त्ता रूपी भर्त्ता के पद चिन्हों पर चलना क्रिया रूपी महिला का परम कर्त्तव्य है। कर्त्ता एक भर्त्ता का और क्रिया एक धर्मपत्नी का स्वरूप है। भाषा में भी हिन्दी ने परम्परागत भारतीय संप्रदाय की रक्षा की है। वाह-वाह ! तब तो हिन्दी बहुत अच्छी भाषा है ! मैंने कहा—लेकिन एक कठिनाई है। इसे अपवाद मान लो ! भूतकाल में क्रिया सकर्मक हो कर्म के अनुसार क्रिया का रूप होगा। अभिनेता ने तुरन्त मुझ से कहा था—"तो मास्टर साहब ! यह क्रिया का कर्म (विधि विधान) नहीं, हमारा कर्म (भाग्य) है !

मैंने शुरू किया—हाँ, सुनिए। संसार में पापात्मा भी होते हैं और पुण्यात्मा भी ! पापी कर्त्ता को 'ने' नामक आसरा मिली जब सकर्मक क्रिया का भर्त्ता अप्सरा के जाल में फँसा तो सकर्मक क्रिया कर्म की वशवर्तिनी हो गई। लेकिन उसे कर्म नामक व्यक्ति ने क्रिया रूपी मानवी को त्याग कर 'को' नामक गन्धर्व कन्या को ग्रहण किया। सकर्मक क्रिया का भाग्य पलट गया। बेचारी उसकी स्थिति न घर की रही और न घाट की, क्रुद्ध हो उसने शिखण्डी का रूप धारण किया। मेरे अभिनेता विद्यार्थी ने सारा किस्सा सुन कर कहा—यह कर्म (भाग्य) दक्षिणी भाषाओं को प्राप्त नहीं, अच्छा ही है। मैं आशा करता हूँ कि इस लिंग भेद और 'ने' प्रत्यय की गड़बड़ियों को हटा कर हिन्दी के विद्वान् भारतीय सम्प्रदाय की रक्षा करेंगे और साथ ही साथ अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी सीखने वालों की भी !!

इस प्रकार की अनेक समस्याएँ नित्य प्रति हिन्दी के पठन और पाठक के समय मेरे सामने उपस्थित हुआ करती हैं। इन पर बड़े विद्वान् ध्यान नहीं देते और न देश के नेता भी। इन कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। यार ! एक बार मैंने समझाया था—मेज पर पुस्तक है। विद्यार्थियों ने इस प्रत्यय को ठीक से समझा और उत्तर भी दिया। दूसरे दिन एक आवश्यक कार्यवश मैंने एक विद्यार्थी से कहा—"तुम्हारे पिता घर पर हैं कि नहीं, देख आओ।" वह हँस पड़ा। इस अकारण हँसी पर क्रोधित हो मैंने दो-चार चपत लगा दीं, मेरी आज्ञा का पालन करना था, अतः वह चला गया। पाँच, छः मिनट में लौट कर कहा—"मास्टर साहब ! मैंने घर पर बहुत ढूँढा, मेरे पिताजी नहीं मिले, आखिर घर में बैठे थे। मैंने सोचा था कि आपने मेरे पिताजी को घर के ऊपर (पर) चढ़े हुए देखा होगा। वाह री हिन्दी ! तू ने हमारे (मास्टर का) अपमान किया ! तू रोटी भी देती है। अपमान करे भी तो सहन करना होगा। तेरी कृपा रहे तो भविष्य में इसका प्रतिकार हो जाएगा ! यह सोच कर चुप रहा।

इस समय हिन्दी के राजभाषा होने में दक्षिणी के लोगों में प्रधान रूप से दो प्रकार के भय हैं। एक तो भाषा पर उसका प्रभाव अधिक पड़ेगा। और प्रान्तीय भाषाओं के विकास का कार्य रुक जाएगा। अहिन्दी भाषाएँ कुंठित हो जाएँगी (२) हिन्दी अभी अंग्रेज़ी के समकक्ष स्थान प्राप्त नहीं कर सकी है। इस योग्य बनने में काफ़ी समय लगेगा। उसे लोकमत के अनुसार प्रामाणिक रूप से वैज्ञानिक भाषा, राजभाषा, अथवा लोक भाषा का स्वरूप प्राप्त नहीं है। हिन्दी वाले इस दौड़ में आगे रहेंगे। दक्षिणी वालों के साथ अन्याय होगा। इन सब का निराकरण करना कठिन नहीं है। उन सब पर विचार करना भी हमारा लक्ष्य नहीं है। हिन्दी के प्रति मेरी श्रद्धा है। मैंने परिहास पद्धति

में हिन्दी की कुछ कमियों को प्रस्तुत किया है। अतः हिन्दी के विद्वानों से नम्र निवेदन है कि वे अन्यथा न सोचें !

× × ×

परिचय : हिन्दी का अध्ययन बनारस और प्रयाग में हुआ है। साहित्यरत्न और साहित्यालंकार परीक्षाएँ पास की हैं। १९४८ से हिन्दी और तेलुगु दोनों भाषाओं में लिख रहा हूँ। मेरी पुस्तक "पंचामृत" पर उत्तर प्रदेश सरकार का ३००, और भारत सरकार का २००० पुरस्कार इसी वर्ष प्राप्त हुए हैं। "तेलुगु साहित्य का इतिहास" इस समय प्रेस में है। दो-तीन महीनों में प्रकाशित होगा। यह पूर्ण अनुवाद है। मेरे हिन्दी के प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास

—बालशौरि रेड्डी

मन्दिर

"धनी और सम्पन्न लोग बना सकते हैं
शिव के मन्दिर
परन्तु मैं—अकिंचन और निर्धन
दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति
क्या मन्दिरों का निर्माण कर सकता हूँ

परन्तु मैं तो स्वयं ही
तुम्हारा एक मन्दिर हूँ
मेरा सिर सुवर्ण-कलश है
और मेरे अंग जीवित और सुन्दर स्तम्भ हैं

मन्दिरों के विषय में
क्या तुमने कहा नहीं है—हे भगवान्!
ये मट्टी के खड़े हुए मन्दिर
एक दिन गिर जाएँगे
परन्तु
आत्मा के मन्दिर सदा जीवित रहेंगे

—बसवन्ना (एक कर्नाटक का कवि
जो १२ वीं सदी में हुआ है)

महिला नव जीवन मंडल, हैदराबाद में सरोजिनी देवी स्मारक भवन

इस भवन का उद्घाटन प्रधान मन्त्री श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने गत नवम्बर मास में किया। उनके दाईं ओर श्रीमती प्रेमलता गुप्त, अध्यक्षा, महिला नव जीवन मंडल हैं और बाईं ओर श्रीमती सीता युद्धवीर, अवैतनिक सेक्रेटरी महिला नव जीवन मंडल और कार्य समिति के अन्य सदस्य

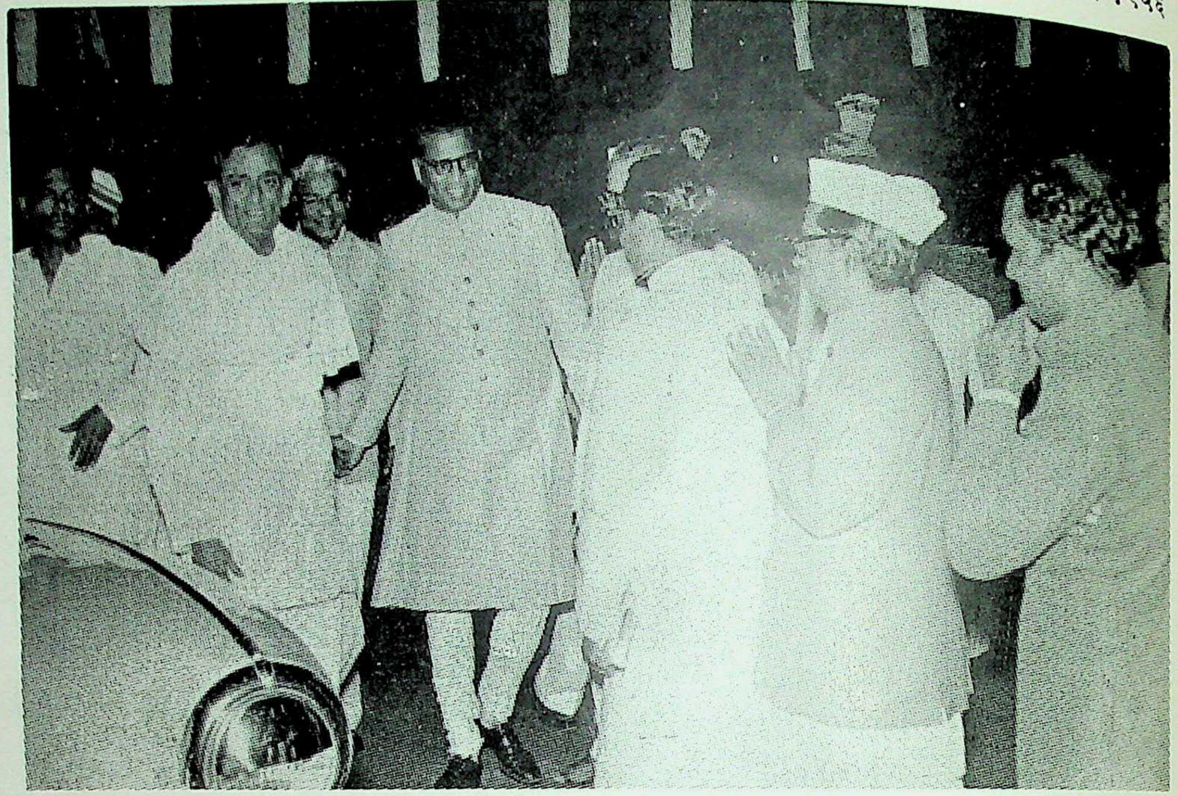

आन्ध्र प्रदेश के मुख्य मन्त्री श्रीयुत संजीव रेड्डी तथा अन्य मन्त्रियों का हि. प्र. स. में स्वागत
बाईं ओर से दूसरे : श्रीयुत संजीव रेड्डी (मुख्य मन्त्री) तीसरे श्रीयुत अच्युत रेड्डी
अध्यक्ष, हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद

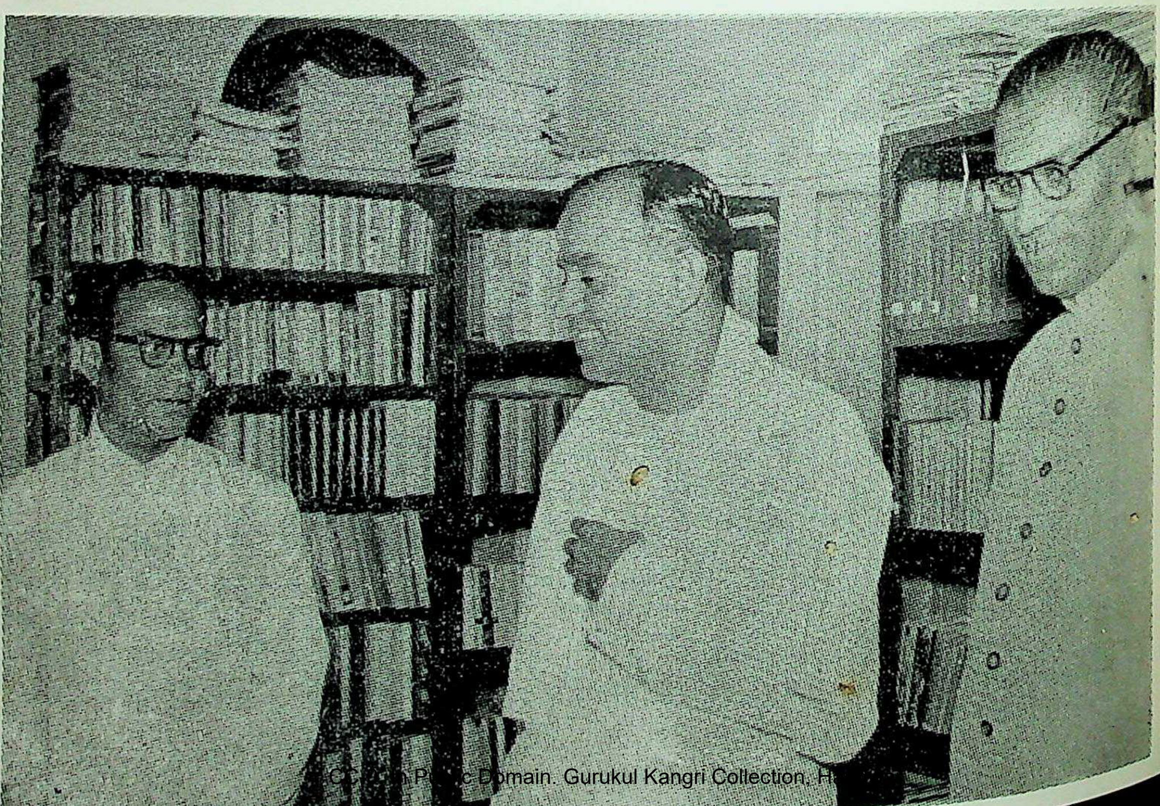

कला-चर्चा

कला महाविद्यालय, हैदराबाद

भारतवर्ष अपनी कला सम्पत्ति में समृद्ध है और विश्व में कला की उन्नति में किसी भी देश से कम नहीं है परन्तु हमारे देश में वर्तमान अवस्थाएँ कुछ इस प्रकार की हैं कि कला के द्वारा जीवन-यापना की शिक्षा का क्षेत्र बहुत कुछ सीमित है और हमारे देश में विश्वविद्यालयों की संख्या में ऐसी संस्थाओं की संख्या नगण्य सी है जो कि कला की शिक्षा प्रदान करती हैं। जिस देश की जनता में सुन्दरता को समझने की जितनी अधिक शक्ति होती है वह देश उतना ही अधिक सभ्य कहलाने का अधिकारी होता है। सुन्दरता को समझने का अर्थ है उन समस्त वस्तुओं का जो कि सुन्दर और कलापूर्ण हैं आदर करना और इस प्रकार की वस्तुओं का निर्माण कर सकना। ललित कलाओं की शिक्षा समाज की कला और सुन्दरता का आदर करने की शक्ति के विकास में सहायक होती है। १९५६ की फरवरी के तीसरे सप्ताह में नई दिल्ली में शिक्षा-मन्त्रालय, ललित कला अकादमी की ओर से कला-शिक्षा के सम्बन्ध में एक सेमिनार का आयोजन किया गया था। इस सेमिनार में मैं भी सम्मिलित हुआ था। इस सेमिनार ने देश की वर्तमान जीविकासंपादिका कला की वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर विचार किया और सिफ़ारिश की कि भारतवर्ष में कला-संस्थाओं का पुनर्निर्माण और पुनर्जीवन करना चाहिए और कला की शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि प्रत्येक कलाकार कला के क्षेत्र में अपने श्रेष्ठतम व्यक्तित्व का विकास कर सके।

हैदराबाद में वर्तमान कला-महाविद्यालय की स्थापना १६ वर्ष हुए इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गई थी। १९४० में इस संस्था में ३० विद्यार्थी थे। इसमें दो विभाग थे एक तो कला का और दूसरा शिल्प का। १९५० में इस संस्था का नया गठन किया गया; शिल्प विभाग को स्थानान्तरित कर दिया गया और निम्न नए विभागों को प्रारम्भ किया गया। रंग-चित्रण, मूर्तिकला, व्यापारिक कला और स्थापत्य। रंग-चित्रण, मूर्तिकला और व्यापारिक कला के पाठ्यक्रम को तीन स्टेजों में विभक्त किया गया : दो वर्ष में पूर्ण होनेवाला इण्टरमीडिएट सर्टिफिकेट, दो वर्ष का डिप्लोमा का पाठ्यक्रम और एक वर्ष का एडवान्स डिप्लोमा का पाठ्यक्रम। मैट्रिक्यूलेशन परीक्षा के पश्चात् स्थापत्य के पाठ्यक्रम में ३ वर्ष इण्टरमीडिएट सर्टिफ़िकेट और दो वर्ष का डिप्लोमा का पाठ्यक्रम रखा गया था। मैंने इस संस्था को १९५३ में अपने हाथ में लिया। मेरे आने के पश्चात् एप्लाइड आर्ट और डिज़ाइन और ड्राइंग और मैनुअल इन्स्ट्रक्टर के प्रशिक्षण में पंचवर्षीय डिप्लोमाके कोर्स को प्रारम्भ किया गया। इस संस्था का नाम "कला-विद्यालय" हटाकर "कला-महाविद्यालय कर दिया गया।

इस महाविद्यालय के प्राध्यापकों की योग्यता उच्च श्रेणी की है। इनमें से कुछ एक तो यूरोप और अमेरिका में शिक्षा प्राप्त करके आए हैं। इस समय विद्यार्थियों की संख्या जो कि विभिन्न विभागों में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं २२० है। इस महाविद्यालय के द्वारा समस्त राज्य में कला के कार्य का पर्याप्त प्रसार हुआ है। हैदराबाद आर्ट सोसाइटी एक पुरानी संस्था है जिनमें कि इस कालेज के प्राध्यापक अत्यन्त महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। इस सोसायटी के द्वारा विदेशी और भारतीय कई कला-प्रदर्शिनियों का आयोजन किया गया है। यहाँ की जनता और विद्यार्थियों में कला और सुन्दरता की रुचि को जाग्रत करने और विकास के लिए कला के भारतीय और विदेशी विद्वानों को व्याख्यानों के निमित्त आमंत्रित किया जा रहा है। इसी प्रकार भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में वहाँ की जनता को यहाँ के कला के कार्यों से परिचित कराने के लिए कला और हस्तोद्योग आदि की समय समय पर प्रदर्शिनियाँ की जाती रही हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ के स्थानीय ६ चित्रकारों को भारतीय संसद् के भवन के लिए चित्रों का निर्माण करने के लिए चुना गया। इस कालेज के प्राध्यापकों द्वारा बनाए हुए कई रंग-चित्र और भित्ति-चित्र हैदराबाद पैलेस, नई दिल्ली, शाह मंज़िल, लेक व्यू गेस्ट हाउस, हैदराबाद म्यूज़ियम और राज्य की अन्य स्थानीय संस्थाओं आदि में देखे जा सकते हैं। नैशनल आर्ट गैलरी, नई दिल्ली के स्थिर कला-संग्रह, भारतीय संसद के भवन और बोलारम के राष्ट्रपति निलयम के लिए इस कालेज के भूतपूर्व विद्यार्थियों और प्राध्यापकों की कलाकृतियों को चुना गया है।

पिछले दिनों युगोस्लाविया के प्रशासन ने चित्र और मूर्तिकला के उच्च प्रशिक्षण के लिए कुछ छात्र-वृत्तियाँ प्रदान की थीं और इस कालेज के कई विभागों के अध्यक्षों को इससे लाभ उठाने के लिए युगोस्लाविया भेजा गया था। भारतवर्ष में जितनी भी कला-प्रदर्शिनियाँ होती हैं उनमें इस कालेज के कलाकारों के चित्रों और कलाकृतियों को पर्याप्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यूरोप, मध्य पूर्व देश, अफ़ग़ानिस्तान, चीन, जापान, आस्ट्रेलिया आदि विदेशों में भी भारतीय कला-प्रदर्शिनियों में इस संस्था के कलाकारों के चित्रों और कला कृतियों को भी सम्मिलित किया जाता रहा है। ये प्रदर्शिनियाँ आल इंडिया फ़ाइन आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स सोसाइटी, नई दिल्ली की ओर से भारतीय प्रशासन और नैशनल अकाडमी आफ़ आर्ट के तत्वावधान में आयोजित की जाती रही हैं। समय समय पर इस राज्य या दिल्ली में जो सांस्कृतिक समारोह गणतन्त्र दिवस, पंचवर्षीय सप्ताह, संयुक्तराष्ट्र दिवस, स्थानीय अखिल भारतीय औद्योगिक प्रदर्शिनी, वन्य जीवन सप्ताह आदि में आयोजित किए जाते हैं उन में भी इस कालेज के छात्र और प्राध्यापक भाग लेते रहते हैं। विद्यार्थियों के लाभ के लिए छात्रों की यात्रा का प्रबन्ध किया जाता है जिससे कि वे भिन्न भिन्न स्थानों की कला को देख सकें और उसका अध्ययन कर सकें।

भारतीय प्रशासन ने एक नेपाली विद्यार्थी को यहाँ के कालेज में कला के प्रशिक्षण के लिए भेजा है और इसी प्रकार इस कालेज की एक छात्रा को कला में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए भारतीय प्रशासन की ओर से इटली भेजा गया है। मुझे यह कहने में प्रसन्नता है कि गत ३ वर्षों से भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में आयोजित कला-प्रदर्शिनियों में यहाँ के विद्यार्थियों और प्राध्यापकों को उनकी कलाकृतियों पर १५० पारितोषिक और सार्टिफ़िकेट प्रदान किए गए हैं। आल इंडिया स्कूल्स आफ़ आर्ट एग्ज़िहिबिशनों में यहाँ के कालेज को उनकी सुन्दर कलाकृतियों के लिए दो बार रोलिंग ट्रॉफ़ी पुरस्कृत की जा चुकी है।

शिशु-कला शिक्षा के प्रश्न की ओर कला महाविद्यालय के अधिकारियों द्वारा ध्यान दिया जा रहा है। इसके लिए भी एक योजना तैयार की गई है। शिशु-कला की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय गैलरी को प्रारम्भ किया गया है। इस गैलरी की स्थापना १९५४ में आयरन बैंगलो, बाग़ेआम हैदराबाद में की गई थी और इसका उद्घाटन श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने किया था। रूस, इंग्लैण्ड, चीन, जापान, टर्की, जर्मनी, ज़ेकोस्लोवेकिया, नार्वे, सीलोन और न्यूज़ीलैण्ड आदि १५ विदेशों से ४०० सुन्दर शिशु-कला की कृतियों के सुन्दर नमूनों का संग्रह किया गया है और इन सब कला-कृतियों को इस गैलरी में देखा जा सकता है। जुबिली हाल, बाग़े आम में भी सरकार ने हमें इसकी वृद्धि और विकास के लिए और भी कुछ स्थान प्रदान किया है। इस कालेज में कला का कार्य इतना अधिक और विभिन्न रूपों में अग्रसर हो रहा है कि कालेज की इमारत जो कि अपनी नहीं है और किराए पर है—छोटी पड़ गई है और इसके कार्यों के लिए पर्याप्त नहीं है।

—विश्वनाथ मुखर्जी

प्रिन्सिपल,
कला-महाविद्यालय,
हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

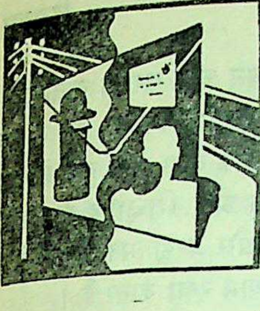

चिट्ठी-पत्री

(१)

'अजन्ता' के सम्बन्ध में

......मेरी यह दृढ़ धारणा है कि हिन्दी में जो आज दो ढाई दर्जन पत्रिकाएँ निकलती हैं उनमें केवल कल्पना, नई धारा, नया समाज, युग चेतना, नया पथ, अवन्तिका और दो एक और पत्रिकाओं का ही स्तर अच्छा है और निश्चय ही 'अजन्ता' उनमें सिरमौर है। हिन्दी में जितनी भी साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं उनमें घिसी-पिटी थीम की लचर-पचर कविताएँ, हलके-सस्ते रोमान्स की कहानियाँ, कीचड़ उछालनेवाले आलोचनात्मक लेख आदि ही छपते हैं। लेकिन 'अजन्ता' पढ़ने पर विचार बदल जाते हैं और उसके स्टैण्डर्ड को देख कर सन्तोष होता है कि अभी हिन्दी में अच्छे पत्र भी निकल रहे हैं। मैं यह कामना करता हूँ कि 'अजन्ता' उत्तरोत्तर प्रगति करे।

आल इंडिया काँग्रेस लाइब्रेरी
नई दिल्ली

क. ला. चंचरीक

(२)

'अजन्ता' का अक्टूबर अंक देखा। अन्य अंकों की भाँति इस अंक की सामग्री भी सरस, सुरुचि पूर्ण एवं उपयोगी रही। हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में 'अजन्ता' का जो स्थान है उसकी चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है, चर्चा केवल इस अंक की रचनाओं का करना ही उचित होगा।

आज के हिन्दी साहित्य में जितनी डाँवाडोल स्थिति कविता की है उतनी उपन्यास कहानी आदि साहित्य में किसी भी अंग की नहीं। 'अजन्ता' ने कविताओं के चयन में जिस पथ को अपनाया है वह प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। इसी विशेषता के कारण हिन्दी काव्य साहित्य के निर्माण की मंज़िल में 'अजन्ता' के प्रत्येक अंक मील के एक एक पत्थर होंगे। अकेले अचन्ता की कविताओं के जितने पाठक है उतने शायद हिन्दी के अनेक पत्रिकाओं को मिला कर भी नहीं होंगे किन्तु कुछ लोगों को भ्रम है कि 'अजन्ता' में नए ढंग की प्रयोगवादी रचनाएँ नहीं छपती। इस पत्रिका में अब भी छायावादी गीत ही छपा करते हैं जब हिन्दी साहित्य आज छायावाद, प्रगतिवाद के सीमा को पार कर प्रयोग वाद के घेरे में बँधने जा रहा है किन्तु ऐसे साहित्य प्रेमियों से मेरी प्रार्थना है कि 'अजन्ता' के अक्टूबर अंक की केवल एक कविता 'शरद् साँझ' को देखे। कविता का मूल्यांकन उसके काव्य गुणों द्वारा होना चाहिए किसी वाद विशेष के कारण नहीं, जो लोग प्रयोगवादी कविताओं को कविता समझते ही नहीं, उन लोगों से भी मैं आग्रह करूँगा कि वे इस अंक की इस गीत को अवश्य पढ़ें। कविता गीत काव्य की सभी कसौटियों पर अत्यन्त सफल है साथ ही प्रयोग की दृष्टि से भी यह गीत इस मास की अन्यतम और वर्ष की सफल प्रयोगवादी रचनाओं में एक है यह निर्विवाद है। अन्त में इस रचना के लिए लेखक को बधाई। उनकी दूसरी रचना की प्रतीक्षा है।

अध्यक्ष अंग्रेज़ी विभाग,
संस्कृत महाविद्यालय गहमर,
गाज़ीपुर

—भगवत पाण्डेय

(३)

शुभकामना-पत्र

हालाँकि मेरी आर्थिक परिस्थिति इतनी विशिष्ट अच्छी नहीं है कि मैं "अजन्ता" का ग्राहक बन कर स्वकीय ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिए उसे नियमित रूपेण पढ़ सकूँ किन्तु फिर भी इसे ईश्वरीय अनुकम्पा या मेरा सौभाग्य कहिए कि मुझे सात-आठ माह से नियमित यथा समय "अजन्ता" का प्रत्येक अंक सुलभ रूप से प्राप्त हो जाता है। जिससे मैं स्वकीय भाषा ज्ञान या अन्य ज्ञान क्षुधा की शान्ति करता हूँ। इसको प्रकाशित सुरुचिपूर्ण कविताएँ, ज्ञानवर्धक लेख, मनमोहक

कहानियाँ अथवा अन्य स्तम्भ तथा सुगम्य शैली में अंकित भाषा आदि प्रत्येक अंक की सामग्री यथार्थ में इतनी चित्ताकर्ष है कि उसे पढ़े बिना मन नहीं मानता। इसकी उत्कृष्ट रचनाएँ हिन्दी के सभी पत्रों में सम्भवतः अपना एक अद्वितीय और महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

"अजन्ता" को नियमित पढ़ने से यह तो स्वयं ही ज्ञात हो जाता है कि "अजन्ता" के सम्पादक महोदय में वे सभी गुण यथा विधि व्यवस्थित रूप से विद्यमान हैं, जो कि एक हिन्दी पत्र के सम्पादक में अनिवार्यतः होने आवश्यक हैं। यही कारण है कि आज "अजन्ता" अहिन्दी भाषायी क्षेत्रों में भी जा कर निरन्तर प्रगति के पथ पर बढ़ती हुई अपनी अतुल्य योग्यता का उचित प्रमाण दे रही है।

"अजन्ता" के साथ हमेशा ही मेरी शुभ कामनाएँ हैं। तथा मैं ईश्वर से यह हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि "हमारे देश में "अजन्ता" जैसे महान् हिन्दी पत्रों का विकास हो, तथा ऐसा दुर्भाग्य कभी न आए कि मुझे "अजन्ता" के अध्ययन से वंचित रहना पड़े। मेरी शुभकामनाएँ "अजन्ता" की प्रगति एवं समुन्नति में सहायक हों।"

मनिहारों का रास्ता,
जयपुर रामकुमार जैन "भारिल्ल"

(४)

......'अजन्ता' का अक्टूबर १९५६ का अंक यहाँ की एक लाइब्रेरी में मैंने देखा। सच कहता हूँ—मुझे उसके लेख और शैली आदि—बहुत अच्छे लगे।......

बैरिंगवाला ब्लाक्स,
अहमदाबाद —नरेन्द्र पी. पारिन

(५)

'अजन्ता' का दक्षिण भारत की हिन्दी पत्रिकाओं में विशिष्ट स्थान है। दक्षिण में हिन्दी की पत्रिकाएँ ही कम हैं और साहित्यिक पत्रिकाएँ तो उंगलियों पर गिने जा सकती हैं। इस दिशा में 'अजन्ता' का प्रयास सराहनीय है।

'अजन्ता' में कविताओं का संकलन बड़े परिश्रम से किया जाता है। इन कविताओं का प्रकाशन खास अपने ढंग का है। कविताएँ चुन चुन कर दी जाती हैं। नए लोगों को, यदि उनकी रचनाएँ विशिष्ट हों, उचित स्थान दिया जाता है। साहित्यिक लेख मंजे हुए लेखकों के, लेख होते हैं जो सामयिक और शिक्षाप्रद ही नहीं, अनुसंधान की ओर उन्मुख और प्रेरणात्मक दीखते हैं। लेखों में विविधता का भी ध्यान रखा जाता है।

'अजन्ता' की एक और विशेषता 'कला चर्चा' का शीर्षक है। 'सामयिक' में विभिन्न विषयों पर प्रकाशित सुन्दर सामग्री का, उत्कृष्ट हिन्दी अनुवाद पढ़ने को मिलता है। 'नीर-क्षीर' सचमुच ही अपनी विशिष्ट समालोचना के लिए प्रशंसनीय है। पुस्तक किसी की क्यों न हो, समालोचक महोदय अपनी निष्पक्ष राय प्रकट करने में आनाकानी नहीं करते। उदाहरण के लिए 'चील और चट्टान' 'भारत', आदि पुस्तकों की समालोचना रखी जा सकती है।

'अजन्ता' के भविष्य के लिए अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करते हुए, हम यह आशा करते हैं कि इस पत्रिका में दक्षिण के साहित्य अथवा दक्षिण के लेखकों को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलेगा। आन्ध्र प्रदेश की राजधानी से प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका, आन्ध्र साहित्य एवं स्थानीय उत्साही लेखकों को अवश्य ही अधिकाधिक प्रोत्साहन प्रदान करेगी।

सिकन्दराबाद —'निर्मल'

(६)

'अजन्ता' के अक्टूबर ५६ के अंग में मेरी एक रचना प्रकाशित हुई है जिसका शीर्षक है—"आर्य-संगीत विद्या और तानसेन" उक्त रचना के लिए—मेरे पते में भूल हो गई है, होना चाहिए था—'बनवारीलाल पुरोहित पो० बोलपुर, जिला० वीरभूमा पर छपा है: बनवारीलाल पुरोहित, इलाहाबाद।

(७)

मैंने 'अजन्ता' में (सितम्बर) आपका लेख "भाषा समस्या" शीर्षक से पड़ा। आपके विचार स्तुत्य हैं। मैं स्थानीय गु० कालेज में विज्ञान का एक विद्यार्थी हूँ। इस वर्ष मैंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की है। मैट्रिक में मैंने सब विषय हिन्दी में पड़े थे, और अब कालेज में सब विषय अंग्रेज़ी में हमें पढ़ाए जा रहे हैं। इसलिए कुछ समझ में नहीं आता। क्या करूँ ? इस विषय में मैंने एक पत्र

राहुल सांस्कृत्यायन जी को भी भेजा था। इस सम्बन्ध में उनका एक लेख २५ नवम्बर के साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में भी आया था। मगर ऐसे लेखों से तो अंग्रेज़ी के हिमायतियों के कान पर जूँ तक भी नहीं रेंगती!

और वे लगातार अंग्रेज़ी का समर्थन करते ही चले जा रहे हैं। मुझे समझ में नहीं आता कि ये लोग भारतीय भाषाओं का विरोध क्यों करते हैं? और इन्हें भारतीय भाषाओं को यथा स्थान देखने से जलन क्यों है? भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने में क्या हानि है? मेरे समवयस्क विद्यार्थियों की पीढ़ी अंग्रेज़ी उतनी अच्छी तरह नहीं समझ सकती जितनी कि आपकी पीढ़ी समझती थी। अंग्रेज़ी माध्यम से राष्ट्र को बहुत बड़ा नुकसान है।

३३ उषागंज
इन्दौर

—श्रीधर

[यह सचमुच विचित्र बात है कि जब विद्यालय की उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम प्रायः प्रत्येक राज्य में मातृभाषा को बना दिया गया है तब क्यों कालेज में एक दम शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को बना दिया गया है? यदि हमारे देश के शिक्षा शास्त्री इस सिद्धान्त के पक्षपाती हैं कि समस्त शिक्षा मातृभाषा के द्वारा होनी चाहिए—तो वे कैसे इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि महाविद्यालयों में विज्ञान आदि के शिक्षण का माध्यम अंग्रेज़ी को बनाया जाना चाहिए। वैसे भी क्रियात्मक दृष्टि से भी देखने पर इसमें अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। अंग्रेज़ी-काल में विद्यालय में भी उच्च शिक्षा अंग्रेज़ी के द्वारा प्रदान की जाती थी और इस कारण महाविद्यालय में अंग्रेज़ी के माध्यम से विशेष कठिनाई नहीं होती थी। अब यदि हमारे देश के शिक्षा शास्त्री महाविद्यालय के स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को बनाते हैं तो उन्हें विद्यालय के स्तर पर भी कम-से-कम विज्ञान आदि के शिक्षण के लिए माध्यम अंग्रेज़ी को ही बनाना चाहिए और यदि यह संभव नहीं है तो उन्हें महाविद्यालय में भी शिक्षण का माध्यम भारतीय भाषाओं को ही बनाना पड़ेगा। अंग्रेज़ी के अनिवार्य विषय के होते हुए भी आम विद्यार्थी अंग्रेज़ी में न तो विषय को पूर्ण रूप से समझ सकता है और न अपने विचारों को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर सकता है। महाविद्यालय के स्तर पर अंग्रेज़ी को एक अनिवार्य विषय रख कर विज्ञान आदि विषयों का प्रशिक्षण भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा प्रदान किया जा सकता है। प्रारम्भ में इस सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होंगी—परन्तु धीरे धीरे अपने आप मार्ग बन जाएगा और किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रहेगी। विद्यालय के स्तर पर भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना और महाविद्यालय के स्तर पर अंग्रेज़ी को—न केवल भारतीय भाषाओं के साथ अपितु विद्यार्थियों के साथ भी एक महान् अन्याय है जिसका शीघ्र-से-शीघ्र प्रतिकार किया जाना चाहिए—सं०]

(८)

मणिपुरी नृत्य

नवम्बर १९५९ की 'अजन्ता' में सामयिक के स्तम्भों में "मणिपुरी नृत्य" पर श्रीमती रूबी मुखर्जी का लेख पढ़ा। इस लेख में "चलि" नृत्य के सम्बन्ध में लिखा गया है। लेख में "चलि" पर जितना प्रकाश पड़ना चाहिए था नहीं डाला गया है। इसमें केवल इतना लिखा गया है: "इसमें लगभग ४० गतियाँ होती हैं। इनके साथ-साथ बोल होते हैं। बोल वह अक्षर होता है जो प्रत्येक गति के साथ होता है। इसके साथ "चलि" होती है। यह पैर रखने की पद्धति का नाम है।" इस "चलि" को पढ़ कर हमें संस्कृत के महाकवि कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" नाटक में मालविका द्वारा प्रेक्षागृह में अभिनीत "चलित" नृत्य का स्मरण हो आया। "चलित" नृत्य को "छलिक" भी कहते हैं। कालिदास ने इस नृत्य को "दुष्प्रयोज्य" कहा है और इसी नृत्य का मालविका ने रंगमंच पर कुशलता के साथ अभिनय किया है। क्या यह सम्भव नहीं है कि यह "चलि" नृत्य उसी "चलित" नृत्य का ही एक अवशिष्ट रूप हो और या उसी का रूपान्तर हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस नृत्य को आज "मणिपुर" नृत्य कहा जाता है उसका प्रादुर्भाव मणिपुर में नहीं हुआ। कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" नाटक से ज्ञात होता कि कभी यह नृत्य भारतवर्ष में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है होगा। क्या कारण है कि यह नृत्य आसाम के मणिपुर में ही अवशिष्ट रह गया?

हैदराबाद

—कश्चित्

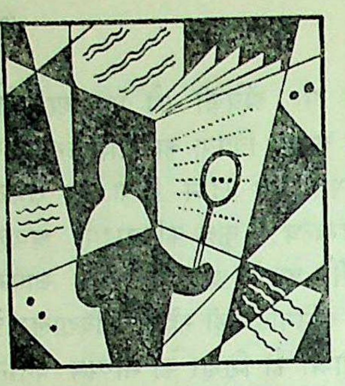

नीर-क्षीर..

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ सम्पादक 'अजन्ता' के नाम से भेजी जानी चाहिएँ]

एशिया की राजनीति

(ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला- –हिन्दी ग्रन्थाङ्क ५२)

लेखक : परदेशी साहित्यरत्न

प्रकाशन : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

मूल्य : छः रुपए

एशिया के अधिकांश भू-भाग पर यूरोपीय लोगों के आधिपत्य के कारण कुछ ऐसी अवस्था हो गई थी—कि जैसे एशिया के देशों का अस्तित्व ही न रहा हो। उनकी भाषा, संस्कृति, पोशाक आदि किसी भी वस्तु की कोई क़ीमत वे न केवल विश्व की आँखों में अपितु अपनी आँखों में गिर गए थे। एशिया के लोग जब अपने ही देश के विषय में कुछ विशेष नहीं जानते थे तब उन्हें अपने पड़ोसी अन्य एशिया के देशों के विषय में जानने की किस प्रकार कुछ विशेष उत्सुकता हो सकती थी। इस समय स्थिति में परिवर्तन हुआ है। एशिया जाग उठा है और अपने विकास की ओर द्रुत गति से अग्रसर हो रहा है। एशिया का प्रत्येक देश किस प्रकार गुलामी की शृंखलाओं को तोड़ कर स्वतन्त्र हुआ है—या स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहा है यह स्वतन्त्रता की कहानी—एशिया ही नहीं विश्व के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और शानदार कहानी है। प्रस्तुत पुस्तक में यद्यपि उस कहानी को नहीं दिया गया है तो भी उसी की पृष्ठभूमि में एशिया के देश जो "नव रचना" का कार्य कर रहे हैं और उस "नव रचना" के लिए किस प्रकार विदेशी हस्तक्षेप से बचकर न केवल एशिया के अपितु विश्व के समस्त देशों के लिए शान्ति को स्थापित-करने के लिए उद्योगशील हैं प्रस्तुत पुस्तक में इसीका अभिदर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से इस बात का अनुभव होता है कि एशिया के देश यदि किसी भी रूप में विदेशी हस्तक्षेप को सहन करेंगे तो इससे उनके देश में युद्ध का डर उत्पन्न हो जाएगा और इस समय एशिया के एक देश में ऐसे युद्ध का अर्थ जिसमें कि विदेशी शक्तियों का हाथ हो—समस्त विश्व का युद्ध है। इसी कारण अब सैनिक सन्धियों के दिन लद गए हैं—अब तो सन्धि, मित्रता या सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग और विश्वशान्ति के लिए ही किए जा सकते हैं और पंचशील के सिद्धान्त इसी के प्रतीक रूप हैं।

प्रस्तुत पुस्तक को लेखक ने परिश्रमपूर्वक लिखा है। उसने अपनी विषय-सामग्री का अनेक पुस्तकों और पत्रिकाओं से अध्ययन करके चयन किया है। उसकी लेखन-शैली में बल है और उसने अपने विषय का स्पष्टता और सरल शैली में प्रतिपादन किया है। अच्छा होता कि यदि पुस्तक में एक तो वर्तमान एशिया का नक़शा और एशिया के देशों का अलग-अलग नक़शा भी दे दिया जाता। पुस्तक में लेखक ने एशिया के कई राष्ट्रों के राष्ट्रगानों को दिया है। एशिया के देशों के विषय में पुस्तक के अन्तिम अध्याय में जो परिचय दिया गया है वह अत्यन्त संक्षिप्त है। यद्यपि लेखक ने पुस्तक को अनेक दृष्टियों से उपादेय और सुपाठ्य बनाने का प्रयत्न किया है तो भी अवस्था कुछ इस प्रकार की है कि "राजनीति" विषय को जहाँ आकर्षक बनाती है वहाँ विषय को चलता हुआ सा बना देती है जिससे उसका महत्व कुछ कम-सा हो जाता है। एशिया के देशों ने जिस प्रकार विदेशी शासनों से मुक्ति प्राप्त की है और जिस प्रकार वे अपने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नव निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं उनका एक ऐतिहासिक महत्व है।

एशिया के देशों के सम्बन्ध में स्वतंत्रता-युद्ध और पुनर्निर्माण पर प्रकाश डालनेवाली पुस्तकों की हिन्दी में परम आवश्यकता है। वह समय अब चला गया है कि जब कि कोई देश अपनी पृथक् सत्ता रख सकता था। भारतीय ज्ञानपीठ ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर इस ओर आवश्यक कदम उठाया है और इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। आशा है कि वे एशिया के देशों के सामाजिक, आर्थिक और साहित्य और संस्कृतियों के सम्बन्ध में इसी प्रकार अन्य आवश्यक पुस्तकों को प्रकाशित करेंगे। प्रस्तुत पुस्तक पढ़ने से एशिया के देशों का वर्तमान रंग-मंच पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है जिस पर कुशल पात्र अपनी कुशलता और खेल का प्रदर्शन कर रहे हैं। स्थिति इस प्रकार की है कि एशिया के देशों को किसी भी अवस्था में विश्व के युद्ध का अखाड़ा नहीं बनने देना चाहिए। विदेशी शक्तियाँ इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि एशिया के देश ही युद्ध का क्षेत्र बनें और विज्ञान की सर्व-संहारक शक्तियों का यदि कहीं प्रयोग हो तो वह एशिया के देशों पर। एशिया के देशों को इसीसे सतर्क और सावधान रहने की आवश्यकता है। एशिया की राजनीति इसी कारण बिलकुल शान्ति की ओर है और यदि एशिया का कोई देश विदेशी शक्तियों के कारण लड़ाई में न उलझा तो विश्व में युद्ध होने का डर नहीं है। इसीलिए एशिया के जो देश विदेशों से सैनिक सन्धियाँ कर रहे हैं वे न केवल अपने देश को अपितु समस्त विश्व के युद्ध को उसकी सर्व-संहारिणी शक्ति के साथ आमंत्रित कर रहे हैं।

चक्रव्यूह
लेखक : कुँवर नारायण
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन
दिल्ली, इलाहाबाद, बम्बई
मूल्य : साढ़े तीन रुपए

प्रस्तुत पुस्तक कविता की नई शैली में लिखी गई है। उसके चार खण्ड हैं : लिपटी परछाइयाँ, चिटके स्वप्न, शीशे का कवच और चक्रव्यूह। प्रथम खंड में २२, द्वितीय में १८, तृतीय में १३ और चतुर्थ में १८ कविताएँ हैं। सम्भवतः कवि अपनी कविताओं के विषय में कहता है :

"प्रकाश के रंगीन झरने
जो असम्भव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं
पत्थर को गुदगुदा कर
एक तरल संगीत जगा कर
कहीं दूर चले जाएँगे
और तब मैं बन्द आंखों के अपार अन्धकार में
झूलते हुए अपने ही चित्रों को नोच कर रहूँगा
कि सब कुछ
शायद मेरे उन्माद की छाया थी
तुम नहीं

कवि में अनुभूति है, विचार है, वेदना भी है परन्तु अधिकतर उसकी भावनाएँ "उन्माद" के रूप में ही अधिकतर अभिव्यक्त हुई हैं और यही कारण है कि वह अपनी इन कविताओं के उस रागिनी को जिसका कि संकेत उसने अपनी निम्न पंक्तियों में किया है—जगा नहीं सका है :

"एक मुझ में रागिनी है
जो कि तुम से जागनी है"

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ कविताएँ तो अत्यन्त सरल भाषा में लिखी गई हैं और वे अधिकांश में अनुप्रास के आधार पर चलती हैं। उनमें यहाँ वहाँ एकाध भाव और अनुभूति शब्दों के पन्नों पर ओस की बूँदों की तरह चमकती है, कुछ कविताएँ चलते-से छन्दों में लिखी गई हैं—उनमें भाव और भावना नहीं; एक प्रकार की गति है परन्तु संगीत नहीं। कई कविताएँ गम्भीर हैं उनमें तथाकथित छायावाद और प्रयोगवाद का सम्मिश्रण है, कई कविताओं में कुछ पंक्तियाँ हृदय स्पर्शी हैं परन्तु कई शब्द कविता की कोमलता और सुषमा को नष्ट कर देते हैं; कई कविताओं में कवि चित्रकार बन कर आता है; उसके पास रंग तो हैं और वह चित्र को बनाता भी है परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता कि वह चित्र को एक सदृश बना सका है। कुछ कविताओं में अस्पष्टता है और कई शब्दों के प्रयोग अखरते हैं।

देखिए। निम्न उदाहरणों में शब्दों में सरलता है, स्पष्टता है, गम्भीरता है परन्तु अनुप्रास ने उसे इस प्रकार हलका और चलता-सा कर दिया है कि उसमें भावुकता तो अनुभव होती है परन्तु भावों की अनुभूति की गहराई नहीं।

"जीवन को जीवन से ही मिल कर ही बल मिलता,
औरों में जी कर ही अपना सम्बल मिलता
जीवन तुम तुच्छ नहीं, मेरी दृष्टि छोटी है
तुम यदि निस्सार हो, मेरी परख खोटी है"

इसी प्रकार :

"जीवन में यथार्थ नहीं,
दृष्टि भर मिलती है
खरीदार सच्चा हो
सृष्टि बेचारी (!) तो सभी दाम मिलती है'

इसी प्रकार :

"दास तुम जब किसी को आराध्य करते हो
तुम मुझे सोचने पर बाध्य करते हो।"

यहाँ आराध्य और बाध्य की जोड़ी खूब है! "मेरा सार" और कई अन्य कविताओं में कई विचारों को लाया गया है और परन्तु वे ऐसे विचार हैं जो इन कविताओं में नीरस गद्य मात्र प्रतीत होते हैं—उनमें किसी प्रकार का संगीत का हलका-सा भी स्पर्श नहीं है। कई कविताओं को उठाया तो ठीक तरह से गया है परन्तु बिठाया ठीक तरह नहीं गया है :

"क्या यही हूँ मैं
अन्धेरे में किसी संकेत को पहचानता-सा"

'चक्रव्यूह' कविता में :

"मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ
प्रारब्ध जिस का गर्भ से ही हो चुका निश्चित
अपरिचित ज़िन्दगी के व्यूह में फेंका हुआ उन्माद
बाँधी पंक्तियों को तोड़
क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद"

'चक्रव्यूह' कविता में न तो अभिमन्यु की वीरता चित्रित हो पाई है और न यह कविता प्रतीकात्मक है। कई पंक्तियों में कुछ सुन्दर और आकर्षक सूक्तियाँ है परन्तु वे भी ऐसी भाषा में हैं जो संभवतः कुछ लोगों को चमत्कृत तो कर सकें परन्तु भावाविष्ट नहीं कर सकतीं। इन कविताओं में "चेतना" का "संविधान" है परन्तु चेतना की गति, स्फूर्ति और कान्ति और मधुरता नहीं।

मेरी आफ्रिका यात्रा
लेखक : स्वामी सत्यभक्त
प्रकाशक : सत्याश्रम, वर्धा
मूल्य : चार रुपए (दस शिलिङ्ग)

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीयुत स्वामी सत्यभक्त ने अपनी आफ्रिका की यात्रा का विवरण लिखा है जो कि उन्होंने सन् १९५१ के अन्त में की थी। श्रीयुत स्वामी जी लिखते हैं कि आफ्रिका में प्रायः अनेक भारतीय चन्दे और धन संग्रह के लिए जाते हैं पर वे इस उद्देश्य से नहीं गए थे। इस कारण वे आफ्रिका के ग्रामों तक में गए और वहाँ के जीवन का दर्शन और अध्ययन कर सके। 'मेरी आफ्रिका की यात्रा' पुस्तक एक प्रकार की डायरी के पन्ने हैं जिनमें स्वामी सत्यभक्त ने न केवल आफ्रिका और वहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में लिखा है अपितु अपने व्यक्तिगत विचारों और आफ्रिका में दिए हुए अपने प्रवचनों का भी संग्रह किया है। प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ने से पूर्वी आफ्रिका के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। अच्छा होता कि यदि लेखक इसमें आफ्रिका के ग्रामों और प्राकृतिक दृश्यों के कुछ चित्र दे देते। इससे पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हो जाती। पुस्तक पर्याप्त रोचक भाषा में लिखी गई है और इस प्रकार के यात्रा-विवरणों की पुस्तकों की भारतीय भाषाओं के साहित्य में बड़ी आवश्यकता है। इससे मनुष्य के मन का विस्तार होता है और बहुत-सी नई बातों का ज्ञान होता है।

पूर्वी आफ्रिका के ज़मीन के बारे में श्रीयुत स्वामी सत्यभक्त लिखते हैं : "आफ्रिका की ज़मीन अभी कन्या कुमारी जैसी है।...अभी तक इस ज़मीन पर हल नहीं चला है। आफ्रिकन लोग हाथ से खोद खाद कर केलों के बन लगा लेते हैं। वर्षा वर्ष में कई बार और प्रायः सदा होती रहती है इसलिए सदा चारों तरफ़ हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है। जंगल यहाँ इतने घने हैं कि आदमियों की उनमें से गुज़र नहीं हो सकती। बन्दर वृक्षों के ऊपर से ही गुज़र सकते हैं।... घास भी यहाँ खूब बड़ा-बड़ा होता है। घास का यहाँ कोई मूल्य नहीं।...यहाँ गन्ने को भी पानी देने की आवश्यकता नहीं होती। आम यहाँ बारह मास होता है। एक ही आम के वृक्ष में जहाँ बड़े-बड़े आम लगे रहते हैं वहाँ नया बौर भी आता रहता है।...गन्ना भी

यहाँ बारह महीने होता है ।...एक जगह ऐसी तीखी मिर्च देखी कि चखे बिना जिसके तीखेपन की कल्पना नहीं हो सकती । यह मिर्च लवंग से छोटी थी । मैंने उसे दाँत से काट कर तुरन्त थूक दिया; उसका कुछ अंश खाया नहीं, पर जीभ से छू जाने के कारण ही घण्टे भर तक सारा मुँह झन्नाता रहा । मैंने सुना कि अगर कोई उस मिर्च को खा जाय तो रात भर बेचैनी के कारण सोना मुश्किल हो जाए ।...यहाँ फूलों की भी बहुतायत है । ऐसे रंग-बिरंगे फूल होते हैं कि देखने रहने को जी चाहता है । यहाँ ऋतुओं का सुन्दर समन्वय हुआ है । कहीं तो हाल यह है कि प्रातःकाल शीत ऋतु जैसी सर्दी पड़ती है; दुपहर को गर्मी की ऋतु के समान गर्मी और शाम को वर्षा ।" प्रायः कहा जाता है कि "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" परन्तु श्रीयुत स्वामी सत्यभक्त पूर्वी आफ्रिका की भूमि के विषय में कहते हैं : "ऋतुओं का समन्वय और ज़मीन को देख कर यहाँ की ज़मीन को बार-बार चूमने का जी चाहता है । अगर मनुष्य में मनुष्यता, विश्वकुटुम्बता का भाव हो, रंग-राष्ट्र का भेद न हो, तो आफ्रिका की भूमि स्वर्गावतरण के लिए अधिक-से-अधिक उपयुक्त है ।" आफ्रिका की भूमि की इससे अधिक और क्या तारीफ़ हो सकती है !

नील नदी के जन्म के विषय में श्रीयुत स्वामी सत्यभक्त लिखते हैं : "यह जिंजा में विक्टोरिया झील से निकल कर युगांडा में बहती है, फिर सूडान में प्रवेश करती है ।···यहाँ के पत्थर देखने से पता लगा कि ये साधारण पत्थर नहीं हैं । पत्थर मिली हुई लोहे की शिलाएँ हैं । इस कारण यहाँ रेत नहीं दिखाई देती ।··· झील से जन्म लेते समय नील नदी चौड़े प्रपातों के रूप में गिरती है जिससे दिग्दिगन्त शब्दायमान हो जाते हैं । पैदा होते समय ही यह जिस प्रकार भीषण तांडव नृत्य करती है उसे अगर निकट से देखा जाए तो चक्कर आ जाए । आस पास काफ़ी दूर तक जल-कण भाफ़ की तरह हवा में फैल जाते हैं ।···बीच के प्रपातों पर जो भयंकर रूप में विशाल परिमाण में पानी उछलता है तब ऐसा मालूम होता है कि नील नदी अपने तांडव नृत्य के समय अपना लहँगा उछाल रही है । सचमुच बड़ा विशाल और अद्भुत दृश्य है ।"

आफ्रिका की नदियों के विषय में लेखक लिखता है : "आफ्रिका की ये नदियाँ बड़ी विचित्र होती हैं । भारतवासी इन नदियों की कल्पना नहीं कर सकते । इन नदियों में पानी नहीं दिखाई देता । सारी नदी में एक तरह का जंगल लगा रहता है और छोटे छोटे झाड़ों के नीचे भागों में पानी भरा रहता है । ये करकोटे के झाड़ इतने घने रहते हैं कि उनकी कलगियाँ ही दिखाई देती हैं । पानी का बहाव भी धीमा धीमा होता है ।... नदी का पानी नीचे धीरे धीरे बहता रहता है पर दिखाई नहीं देता । इसी करकोटे को देख कर नदी का पता लगता है । इसी करकोटे से यहाँ मकान छार रहते हैं । काट कर इसे सुखा लेते हैं ।"

लेखक ने आफ्रिका के वन्य जीवन के विषय में थोड़ा ही लिखा है । वहाँ की गौओं के विषय में लेखक ने लिखा है : "इतने में गायों का झुण्ड मिला । इतने सुन्दर, चिकने, सफ़ेद और विशाल सींग किसी जानवर के सिर पर नहीं देखे जा सकते । अच्छे हाथी दाँतों से ही इनकी तुलना की जा सकती है । आफ्रिकन लोगों की धनिकता का परिचय इन गायों से लगाया जाता है ।" उन्होंने एक और जानवर का वर्णन किया है जिसे 'किबोका' कहते हैं । यह विक्टोरिया झील में पाया जाता है । इसे बिना सूँड का पानी का हाथी कहना चाहिए । इसके पैर छोटे होते हैं । इसका चमड़ा इतना मज़बूत होता है कि इस पर गोली या भाला आदि का कोई असर नहीं होता ।"

लेखक ने आफ्रिका में जितना भारतीयों का वर्णन दिया है उतना आफ्रिकी लोगों का नहीं । यदि वे उनके सामाजिक जीवन, और तीज-त्योहार, खुशी-ग़मी का भी कुछ वर्णन देते तो अच्छा होता । वे आफ्रिका में भारतीय जीवन के जितने संसर्ग में आए हैं उतना आफ्रिकी लोगों के जीवन के सम्पर्क में नहीं । पुस्तक सरल और रोचक शैली में लिखी गई है । पुस्तक को पढ़ने से प्रसन्नता प्राप्त होती है ।

नागफनी का देश

लेखक : अमृतराय
प्रकाशक : हँस प्रकाशन, इलाहाबाद
मूल्य : डेढ़ रुपया

यह कहानी एक छोटी प्रयोगवादी कविता जैसी है जिसका विषय साधारण है और इसलिए उसमें कुछ

विशेषता या नवीनता का अनुभव नहीं होता। बैठे बैठे बातचीत में जैसे कहानी बना दी गई है जिसमें न कोई उल्लेखयोग्य घटना घटी है और न लेखक ने किसी विशेष स्थिति को उत्पन्न किया है। कहानी क्या है—मानसिक मूड (Mood) है जिसमें किसी प्रकार की स्थिरता नहीं है। कहानी का वातावरण आवेश का है—उस आवेश का जो ज़िन्दगी में गति प्रदान करने की बजाय उसकी नींव को ही हिला देता है। वेला, रनजीत, श्रीकान्त सब का चरित्र-चित्रण साधारण है और एकांगी है। वे जिस प्रवाह में बहते हैं—बहते जाते हैं। इस आवेश की क्षणिकता में से लेखक उसकी सृष्टि नहीं कर सका है जो कि जीवन में आकर्षक और चिर महत्वपूर्ण हो। रनजीत के जीवन में मुरौवत और मुहब्बत है परन्तु किसी प्रकार की विचारशीलता नहीं। उसने जो कुछ किया है—वह आवेश के वश में ही और बेला को जिस प्रकार होश में लाने का प्रयत्न किया गया है वह भी जैसा आकस्मिक है वैसा ही प्रभावशून्य भी है। जिस वस्तु को लेखक ने अपने अन्तर्वीक्षण के विस्तार के साथ खड़ा किया है—उसीको उसने बाहर की ज़रा सी यथार्थता के हलके धक्के से बैठा दिया है और ऐसा बैठा दिया है कि वह सर्वथा समाप्त हो गई है। चित्रण और अन्तर्मनोवीक्षण भी इतना अधिक एकांगी है कि उसमें कृत्रिमता का अनुभव होता है। "नागफनी का देश" शीर्षक पढ़ने से अनुभव होता है कि हमें श्रीयुत अमृतराय की किसी मौलिक और नवीन रचना को पढ़ने से मिलेगा। इस ६१ पृष्ठ के छोटे से उपन्यास को पढ़ कर चित्त कुछ विशेष प्रसन्न नहीं होता क्योंकि कथानक की बातें ऐसी साधारण हैं और वे ऐसे ढंग पर प्रस्तुत की गई हैं जिसमें किसी प्रकार की कुछ विशेष नवीनता या आकर्षणशीलता नहीं है। घटना, स्थिति और यहाँ तक कि मनोदशाओं के अध्ययन में भी किसी प्रकार की कोई विलक्षणता नहीं है। कहानी पत्रों के चलते पन्नों में मानसिक आवेशों से पूर्ण जैसी कहानियाँ प्रकाशित होती रहती हैं वैसे ही यह एक कहानी है। नवीनता एकमात्र पुस्तक के नाम में है—न विषय में और न विषय को प्रस्तुत करने की शैली में। हम समझते हैं कि इस उपन्यास से लेखक के यश में किसी प्रकार की अभिवृद्धि नहीं हो सकती। हिन्दी-जगत् उनसे सर्वथा मौलिक और नवीन रचनाओं की आशा करता है।

मधुमय

लेखक : व्रजकिशोर नारायण
प्रकाशक : किताबघर, पटना
मूल्य : ढाई रुपए

श्रीयुत व्रजकिशोर नारायण का यह 'चौथा कविता-संग्रह है'। लेखक के अनुसार लेखक की 'यह कृति' उसकी "ज़िन्दगी की उस नज़दीकी पर नज़र लगा रही है·जो छन्द, शब्द, भाषा और वाद के वितण्ड से बहुत दूर है।" पुस्तक का नाम 'मधुमय' है। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ को मधुमय बनाने का प्रयत्न किया गया है और प्रत्येक पृष्ठ को इस प्रकार सचित्र और रंगीन छापा गया है कि जिससे लेखक के अनुसार उसका "दर्द रंगीन" हो गया है। अपनी कविता के विषय में कवि कहता है :

"ये उर्दू नहीं है, यह हिन्दी नहीं है
ये जुमले जिगर के ज़ुबाँ ज़िन्दगी की"

और सचमुच लेखक ने जो कुछ लिखा है वह उसके अपूर्व हृदय की भाषा और परिभाषा है और हृदय की भाषा जहाँ बेसाख़्ता होती है वहाँ उसमें कुछ विलक्षणता भी आ जाती है। इस विलक्षणता का अनुभव लेखक के प्रत्येक शेर में होता है। 'प्यार की करामत' का एक शेर में मुलाहिज़ा फ़रमाइए :

"मेरे प्यार की यह करामत देखो,
तुम्हें मार कर के अमर कर रहा है"

यहाँ 'मार कर अमर करना' विलक्षण है। एक और शेर में विलक्षणता और नई बानगी देखिए :

"तुम ख़ुद पिला रही हो, तो लग रहा है ऐसा
मैं पी रहा मरण हूँ, जीवन के हाथ से"

"जीवन के हाथ से मरण पीना" विलक्षण और अछूती अनुभूति है।

कवि ने यह भी क्या ख़ूब लिखा है :

"बड़ी मुश्किलों से जो इज़्ज़त मिली हो
वह बदनाम हो कर ही मशहूर होगी"

आंग्ल काव्य-कलाप
लेखक और
अनुवादक : भ. रा. श्रीमाली
प्रकाशक : साहित्य कला परिषद्
भिंड, (मध्य प्रदेश)
मूल्य : एक रुपया

हमें इस पुस्तक को पढ़ कर बहुत प्रसन्नता हुई। लेखक श्री भ. रा. श्रीमाली शासकीय महाविद्यालय भिंड में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक हैं। उन्होंने इस पुस्तक में पहले अंग्रेज़ी के काव्य के इतिहास की रूपरेखा को दिया है, तत्पश्चात् आंग्ल कविता के प्रमुख छन्दों तथा अलंकारों और अंग्रेज़ी के गीतिकाव्य के विशिष्ट रूप का परिचय दिया है और फिर अंग्रेज़ी के कुछ प्रमुख कवियों की कुछ प्रसिद्ध कविताओं का हिन्दी में पद्यानुवाद किया है। ये कविताएँ संख्या में १६ हैं। लेखक ने "मूल रचनाओं के भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों का निर्वाह" करने का तथा "अधिकांश रचनाओं में" लय (Rhythm) और तुक (Rhyme) को मूल से मिलाने का" सफलतापूर्वक प्रयत्न किया है। अंग्रेज़ी से हिन्दी में कविता का रूपान्तर करना अत्यन्त कठिन कार्य है। पुस्तक में एक ओर मूल अंग्रेज़ी पाठ दिया गया है और दूसरी ओर हिन्दी में अनुवाद। अनुवादों में कई स्थानों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो ठीक नहीं प्रतीत होता : जैसे कि गाउन (Gown) के लिए जामा, आर्च फ़िअर (Arch Fear) के लिए "भयों का सम्राट्", (Guerdon) के लिए "प्राभृत", वैनिश्ड हैण्ड (Vanished Hand) के लिए 'ओझल कर' पैश्शनेट (Passiliate) के लिए अनुरागी, आधी कटी हुई फ़सल की पंक्ति (Funow) के लिए 'सीता', कॉटेज (Cottage) का 'सदन' और डान्स (Dance) के लिए होड़ आदि। कई जगह पर मूल के शब्दों और शब्दार्थों का निकटता से अनुसरण करने का प्रयत्न किया गया है। लेखक ने अपनी ओर से इस बात का प्रयत्न किया है कि वे मूल कविता का जहाँ तक हो सके हिन्दी में ठीक उसी प्रकार रूपान्तर कर दें। लेखक ने जिन कविताओं का चयन किया है उससे हमें अंग्रेज़ जाति के जीवन की भी झलक प्राप्त होती है। अनुवाद कई स्थानों पर शाब्दिक (Literal) हो गया है और इस कारण कई स्थानों पर कविता का रूपान्तर ठीक तरह नहीं हो पाया है और कई स्थानों में शिथिलता रह गई है परन्तु इतने पर भी अधिकांश में यह कहा जा सकता है कि इन अनुवादों में प्राण, स्वर और संगीत है और इन्हें पढ़ने में हल्के-से आनन्द की अनुभूति होती है। कई स्थानों पर लेखक को अपने अनुवाद में अंग्रेज़ी के शब्दों को ज्यों का त्यों रखना पड़ा है। तुक के कारण कई स्थानों पर ऐसे शब्द आ गए हैं जो कि नीरस और बेतुके प्रतीत होते हैं परन्तु लेखक ने अपने कार्य को उत्तरदायित्व के साथ निभाने का प्रयत्न किया है और इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। 'डैफ़ोडिल्स' की कविता में निम्न पंक्तियाँ सुन्दर हैं :

> "पार्श्व में थी नाचती लहरें, बढ़े पर
> झिलमिलाती ऊर्मियों से वे ख़ुशी में
> कवि भला आल्हादय न हो क्यों कर
> इस तरह की मोहपूरित मण्डली में"

इसी प्रकार टैनीसन के इस गीत में कितनी सरलता है :

> "कितना अच्छा है कि उधर मछुवे का लड़का
> अपने भगिनी संग खेलता है चिल्लाता
> कैसा है सौभाग्य कि नाविक का बालक वह
> खाड़ी पर अपनी नौका में चढ़ है गाता"

और क्रास्टोफ़र मारलो की गडरिए की कविता :

> "हम देखेंगे बैठ वहाँ उन चट्टानों पर
> चरवाहों को भेड़ चराते, बीन बजा कर
> यहाँ गुलाबों की शय्याएँ रचा करूँगा
> और सहस्र सुमन के गुच्छ तुझे मैं दूँगा
> फूल भरी टोपी मनहर, और लहँगा सुन्दर
> मेंहदी के पत्तों की जिसमें लटकी झालर"

आशा है कि लेखक इसी प्रकार अंग्रेज़ी कविता का हिन्दी में कवितामय रूपान्तर करता रहेगा। हिन्दी के काव्य-साहित्य में इसकी परम-आवश्यकता है। यह सत्य है कि एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में रूपान्तर करने में न केवल शब्दों को परन्तु कई बार वातावरण तक को बदलना पड़ता है परन्तु इसके बिना हमारे साहित्य का विस्तार नहीं हो सकता। श्रीयुत श्रीमाली ने "आंग्ल काव्य कलाप" पुस्तक लिख कर जो हिन्दी की सेवा की है उसके लिए हम उनका अभिनन्दन करते हैं।

हैदराबाद —वंशीधर विद्यालंकार

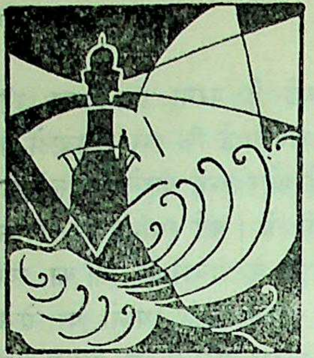

सामयिक

॥

प्रतिभाशाली व्यक्ति और अविवाहित जीवन

मद्रास के अंग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र "स्वतन्त्र" में श्रीयुत सुभाष जे. रेले का "प्रतिभाशाली व्यक्ति और अविवाहित जीवन" पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"......सृष्टि के प्रारम्भ से यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है कि मानव-सुख के लिए विवाहित जीवन अच्छा है या अविवाहित। विवाह के विरोधी विचारक कहते हैं कि विवाह से मनुष्य का साहस और मानसिक शक्ति का विनाश हो जाता है। रोम्याँ रोलाँ लिखते हैं : "एक विवाहित व्यक्ति आधे व्यक्ति से अधिक नहीं रह जाता।"

अनेक लेखक और दार्शनिक प्रतिभाशाली व्यक्तियों के लिए वैवाहिक जीवन को आवश्यक नहीं समझते। जर्मनी के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी श्रीयुत शापनहार लिखते हैं : "उच्च चिन्तन करने वाले बौद्धिक पुरुषों, कवियों, दार्शनिकों और सामान्यतः उन व्यक्तियों के लिए जो कला और विज्ञान की अनन्य भाव से सेवा करना चाहते हैं अविवाहित जीवन विवाहित जीवन से बेहतर है क्योंकि वैवाहिक बन्धन रचनात्मक कार्यों में विघ्न उपस्थित कर देते हैं।" संभवतः शौपनहार के विषय में यह कहा जा सके कि वह स्त्रियों को पसन्द नहीं करता था, परन्तु लार्ड बेकन के भी इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार हैं : "स्त्री और बच्चे मनुष्य की उन्नति में बाधक होते हैं। महान् साहसपूर्ण कार्यों के करने में वे विघ्न बन जाते हैं।"

विश्व के अनेक महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति अविवाहित रहे हैं। उनके जीवन की समस्त शक्ति ज्ञान और कला के पीछे लगी रही है। न्यूटन को यह पता नहीं था कि प्रेम किसको कहते हैं और वह स्त्रियों से सदा बच कर रहता था। कहते हैं कि वह एक बार एक महिला से विवाह करने के लिए प्रयत्न करने लगा। वह तमाखू पीने लगा और एक बार इतना भूल गया कि उसने उस महिला की अंगुलियों को तमाखू के स्टौपर के काम में लगाने का प्रयत्न किया। उनका सम्बन्ध समाप्त हो गया। अविवाहित रहने के कारण उसे अपने कार्य और प्रतिभा के विकास के लिए प्रचुर समय प्राप्त हुआ। जेरेमी बैन्थम ने अपने जीवन में कभी विवाह नहीं किया। प्रारम्भ में वह कुछ इधर आकृष्ट हुआ था। पिट और फ़ौक्स दोनों आजीवन अविवाहित रहे, यद्यपि पिट एलीनोर ईडन की सुन्दरता के प्रति आकृष्ट हुआ था। उसने उसके दिल को तोड़ दिया था। पीछे उसने उस महिला को छोड़ दिया। उसका विश्वास था कि घरेलू जीवन के बन्धन सार्वजनिक कार्यों में सहायता के नहीं होते। हेनरी कैवेण्डिश एक महान् रासायनिक था। वह स्त्रियों से इतना अधिक बचता था कि अपने मकान की प्रबन्धका से नोट लिख कर बात करता था जिन्हें कि वह अपनी मेज़ पर छोड़ जाता था। अपने घर की नौकरानियों से बचने के लिए उसने अपने मकान के पिछवाड़े में एक अलग सीढ़ी बनवाई थी। उसका हुक्म था कि कोई स्त्री उसके सामने न आए। यदि भाग्यवश एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते समय कोई नौकरानी उसके सामने अचानक आ जाती थी तो उसे तत्काल नौकरी से बरखास्त कर दिया जाता था। उसकी जीवनी के लेखक ने इस सम्बन्ध में उसके चरित्र का इस प्रकार परिचय प्रदान किया है : "वह न तो प्रेम करता था और न घृणा। वह न आशा करता था और न भय। उसके हृदय में किसी प्रकार की वासना नहीं थी। वह एक वैज्ञानिक एकान्त-सेवी तपस्वी था।" शौपनहार अपने मित्रों को विवाह करने से सदा रोकता रहता था और स्त्रियों के विषय में कहता था : "इनके बाल तो लम्बे होते हैं परन्तु इनमें अक्ल कम होती है।"

लार्ड बेलफ़ोर अविवाहित रहने के लिए प्रसिद्ध है। वह मरणपर्यन्त अविवाहित रहा। वह स्त्रियों से कितना विरक्त था— इसके विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। श्रीयुत ऑस्टिन चैम्बरलेन ने यह प्रस्ताव किया कि, अविवाहितों पर कर लगाया जाए जिससें कि प्रति दस वर्ष में कुछ प्रतिशत वृद्धि कर दी जाए। बेलफ़ोर को इस कर लगाने पर आश्चर्य हुआ। चैम्बरलेन ने बेलफ़ोर से कहा : "अब आपको अविवाहित रहने के लिए ४० पाउण्ड प्रति वर्ष कर देना होगा।" इसके उत्तर में बेलफ़ोर ने कहा : "ठीक है। टैक्स दे कर भी मैं अविवाहित जीवन को ही उचित समझता हूँ।"

वोल्टेअर ने कभी विवाह नहीं किया परन्तु वह अपने प्रेम में अस्थिर रहा। कभी उसने एक से प्रेम किया और कभी दूसरी महिला से इसके सम्बन्ध में कारलाइल ने लिखा है : "मनुष्य की कलम उन दुखों का वर्णन करने में असमर्थ है जिन्हें कि इस तत्वज्ञानी ने स्त्रियों के साथ रह कर अनुभव किया था।"

मैकोले जीवन भर अविवाहित रहा। उसने स्वेच्छापूर्वक अपने आपको विवाहित जीवन के सुख और घर के आराम से वंचित रखा। गिब्बन प्रसिद्ध इतिहासकार जीवनपर्यन्त अविवाहित रहा। कैमडन अपने अनुसन्धान के पीछे इतना व्यस्त था कि उसने अपने अधिकाधिक अनुशीलन के लिए विवाह करने से इनकार कर दिया। ह्यूम के जीवनी लेखक ने कुछ कविताएँ उद्धृत की हैं जो कि उसने लिखी थीं। ये कविताएँ उसने यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत की हैं कि उसका प्रेम के प्रति झुकाव था—परन्तु इस प्रकार का एक भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ जिससे यह सिद्ध हो कि उसके हृदय में वासना थी। हौब्स ने अपने आपको अध्ययन के कार्य में लगाने के लिए विवाहित होने से बचाए रखा। एडम स्मिथ ने पुस्तकों पर ही अपना समस्त स्त्री-प्रेम कुर्बान कर दिया। वह "अपने आपको एकमात्र पुस्तकों का प्रेमी समझता था।' गुस्ताव स्त्रियों से प्लेग के समान बचता था। उसने अपने एक मित्र लिखा था : "संगीत और कविता के देवी को यद्यपि प्रसन्न है तो भी उसने स्त्री के समान बहुत कम कष्ट विश्व को प्रदान किए हैं। मैं दोनों में किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकता। हर एक को चुनाव करना ही पड़ता है।"

अन्य प्रसिद्ध पुरुषों में [illegible] कार्टीज़, लौकी, स्पिनोज़ा, काण्ट, बर्गो, बिशप बटल, बैापसी, डाल्टन और थिरवाल अविवाहित थे।

जिन कवियों ने विवाह नहीं किया उनकी संख्या भी पर्याप्त है। काउली, ओटवे, प्रायर, कौन्ग्रीव, ग्रे, स्विफ्ट, पोप, कौलिन्स और गोल्डस्मिथ जन्म भर अविवाहित रहे। कुछ ने केवल एक बार गहरा और सच्चा प्रेम किया। काउली ने जीवन में एक बार प्रेम किया परन्तु उसमें इतना आत्म-विश्वास नहीं था कि अपने प्रेम की घोषणा कर सके। स्विफ्ट एक पूर्ण और भावनाशील प्रेमी था। उसके वैरिना, स्टैला और वेनेसा के साथ षड्यन्त्र बड़े मनोरंजक हैं। जीवन के प्रारम्भ में ही कूपर ने अपना हृदय अपने चाचा की लड़की थिओडारा को दे दिया था परन्तु दोनों का विवाह नहीं हो सकता था। दोनों जीवनपर्यन्त अविवाहित रहे। कूपर की निराशा को कविता में राहत मिली।

प्रसिद्ध चित्रकारों में लिओनार्डो विन्सी, राफ़ेल और माइकेल एंजलो ने विवाह नहीं किया। माइकेल एंजलो ने अपनी कला के विषय में कहा था : "चित्रकला ऐसी प्रेमिका है जो किसी अपने प्रतिद्वन्द्वी को सहन नहीं कर सकती। मैंने अपनी कला के साथ विवाह कर लिया है। इससे मुझे पर्याप्त घरेलू चिन्ताएँ प्राप्त हुई हैं। मेरे कार्य मेरी सन्तान होंगे।'

हेण्डोल, बीथोवन, मेण्डेलसौन और मेअरबीज़ महान् संगीत शास्त्री थे। ये आजीवन अविवाहित रहे। हैण्डेल का समस्त प्रेम पूर्ण रूप से उसकी कला में सराबोर हो गया है। बीथोवन की जीवन की कहानी अत्यन्त करुणाजनक है। यद्यपि उसे अपनी कला से अतिशय प्रेम था तो भी वह चाहता था कि उसे किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त हो। यह प्रेम उसे अपने जीवन में प्राप्त नहीं हुआ। जब कि वह एक नवयुवक था वह हाउराथ के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुआ परन्तु उसने उसे छोड़ कर आस्ट्रिया के एक अफ़सर के साथ विवाह कर लिया। एक अन्य अवसर पर एक अन्य स्त्री के प्रति प्रेम हुआ परन्तु उसकी स्थिति बीथोवन से उच्च थी। वह निराश हो गया और उस समय से उसने अपने हृदय के समस्त प्रेम को "संगीत" के प्रति अर्पित कर दिया। हेण्डोल ने कभी किसी को प्रेम ही नहीं किया। उसे विवाह से चिढ़ थी। वह १७०७ ई. [illegible] बकसैटेहडे का स्थान

लेने के लिए गया। वहाँ उसे यह ज्ञात हुआ कि यह स्थान उसी को प्राप्त होगा जो इस स्थान के पूर्ववर्ती की कन्या के साथ विवाह करेगा। वह यह सुन कर डर गया और वहाँ से भाग गया।

कुछ भी हो संसार के यह सत्य है कि कई ऐसे कलाकार, कवि, वैज्ञानिक, इतिहासकार, दार्शनिक और विचारक हुए हैं जो कि जीवन भर अविवाहित रहे और जिन्होंने विश्व की कुछ श्रेष्ठतम रचनाओं का सृजन किया।"

॥

अंग्रेज़ी के कुछ आधुनिक लेखक

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत स्टीफ़न स्पैण्डर ने "अंग्रेज़ी के कुछ आधुनिक लेखक" विषय पर आकाशवाणी, मद्रास से एक वार्ता प्रसारित की गई थी। इसमें से निम्न अंश दिया जा रहा है :

"...मैं समझता हूँ कि इस समय लेखकों की नई पीढ़ी पाँच वर्ष के अन्दर उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए लेखकों को दोष देना ठीक नहीं है। यह हमारे उस युग में होने का परिणाम है जिसमें कुछ इस प्रकार की घटनाएँ हो रही हैं जो पाँच वर्ष में बड़ा परिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं।.. साहित्य में जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उनका उत्तर एक प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है। सत्य तो यह है और मुझे इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आज समस्त विश्व में लिखने में प्रतिभाशाली व्यक्तियो का सर्वथा अभाव हो गया है। विशेष कर आज के इंग्लैण्ड में हमें यही अवस्था दिखलाई देती है। यदि आप इंग्लिश मासिक पत्रों को पढ़ें जैसे कि 'इंग्लिश मेगज़ीन' या 'एनकाउण्टर' तो आप देखेंगे कि आज के नवयुवक लेखक यह कह रहे हैं : "हमें अब नए प्रयोगों की आवश्यकता नहीं है, न अधिक साहस और न रहस्यों की। हमारे पूर्वजों ने काफ़ी बड़े कार्य किए हैं। हम उनके अवशेषों में से जो भी मूल्यवान् वस्तुएँ हैं उनका उपयोग करेंगे और उन्हीं वस्तुओं को विशद बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारे साहित्य के उद्देश्य सीमित होने चाहिएँ। वे ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में होने चाहिएँ जिन्हें कि हम बखूबी जानते हैं।...हम अपनी कविता में अपने पिछले मान्य मौडलों का गंभीरता से अध्ययन करते हैं जिन्हें कि आदर के योग्य महाकवियों ने बनाया और स्वीकार किया है। हम उन्हीं मौडलों को या तो अपना बना लेते हैं या अपने अनुभव के अनुसार उनको अवसर के अनुकूल बना लेते हैं। सत्य तो यह है कि आधुनिक लेखक जब अपने कृतिम विचारों को किसी कथा या कविता में भयानक रूप से मूर्तिमान् करते हैं तब वे अपने पूर्वजों के मार्ग का परित्याग कर देते हैं, अधुनिक लेखक यह समझते हैं कि हमें सचाई से लिखने के लिए गली-सड़ी प्रान्तीय वस्तुओं का वर्णन करना चाहिए और कोई ऐसी वस्तु न लिखनी चाहिए जो कि अवास्तविक हो और हमें जिसके विषय में ठीक तरह ज्ञान न हो। आधुनिक लेखक लिखने में अपने क्षेत्र को अत्यन्त संकुचित रखते हैं। वे किसी भी प्रकार अपने चारों ओर के वातावरण से पृथक् होना नहीं चाहते।

संभवतः आधुनिक लेखकों और इंग्लैण्ड के नए लेखकों के सम्बन्ध में जो बात सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि वे दुःखान्त का परित्याग कर रहे हैं। वे जान बूझ कर ऐसी घटनाओं को लिखते हैं जो हास्य कारक होती हैं और जीवन में जो कुछ दुःखप्रद है वे उससे बचते हैं। वे जीवन को चलती हुई कथा की एक श्रृंखला समझते हैं जो कि सर्वथा परिणामहीन है।

इसका निर्वाह उपन्यास में तो कुछ हद तक हो जाता है परन्तु जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है वह उतनी सशक्त नहीं हो सकती। उसकी कविताएँ अधिकतर शुष्क हैं और उनके पढ़ने में मन नहीं लगता। जिन कवियों ने प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व में लिखा था उन्होंने कविता को भुला दिया था जब कि अभी भावनाओं का उभार समाप्त नहीं हुआ था। इंग्लैण्ड के आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में भी इसी बात को कहा जा सकता है। मैं समझता हूँ कि इन नए लेखकों की मनःस्थिति को समझा जा सकता है। वे धर्मयुद्ध में नहीं जाना चाहते क्योंकि इनका परिणाम युद्ध है। वे महान् अंगों और भावनाओं की लहरों में नहीं प्रवाहित होना चाहते इसलिए आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य की सीमाएँ छोटी और संकुचित होती जा रही हैं। आधुनिक लेखक साहित्य के कार्य को एक प्रकार की नौकरी या जॉब समझते हैं और वे अपने इस जॉब को अच्छी तरह करना चाहते हैं। उनके लिए सब से मुख्य वस्तु ठीक तरह से इस कार्य को करना है और इसके अतिरिक्त और कुछ

नहीं। मैं इसे स्वीकार करने के लिए विवश हूँ कि यह सब अत्यन्त निराशाजनक है। फिर भी कई नए लेखकों की रचनाएँ प्रशस्त और आदरणीय हैं।

आज इंग्लैण्ड की राजनीति इस प्रकार की है कि हम अपनी सीमाओं में आबद्ध हो जाना चाहते हैं और यही कारण है कि आज का अंग्रेज़ी लेखक अपनी तात्कालिक अवस्थाओं की ओर ही दृष्टिपात करता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नए लेखक न केवल इंग्लैण्ड से बाहर—जैसे कि सिंगापुर है—देखते हैं अपितु वे आज लन्दन, ऑक्सफ़ार्ड और केम्ब्रिज को भी नहीं देखना चाहते क्योंकि इंग्लैण्ड के ये केन्द्र भी स्थानीय न हो कर समस्त राष्ट्रोन्मुख हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मैं सिंगापुर के सम्बन्ध में कोई उपन्यास लिखना चाहता हूँ। मैं इस बात को बल देकर कहना चाहता हूँ कि आज का साहित्य अत्यन्त संकुचित हो गया है।

जब तक हमारे साहित्य का सम्बन्ध समस्त विश्व से नहीं होगा और जब तक की इसकी खिड़कियाँ समस्त विश्व की ओर खुली हुई नहीं होंगी तब तक हमारे साहित्य का क्षेत्र संकुचित रहेगा। एक ओर तो विश्व एक होता जा रहा है और दूसरी ओर हमारे लेखक एकमात्र अपनी ही छोटी सीमाओं में आबद्ध रहना चाहते हैं। मेरा विश्वास है कि इस समय साहित्य स्थानीय नहीं बन सकता और न ऐसे रूपों में रह सकता है जिनके कि उद्देश्य संकुचित हों।

॥

तिब्बती पांडुलिपियों का संग्रह

‘सोवियत भूमि’ में “प्राच्य-विद्या का बहुमूल्य संग्रह” एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख में से निम्न अंश दिया जा रहा है :

“...सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी का तिब्बती संग्रह विश्व के तिब्बती सांस्कृतिक स्मारकों के सबसे बड़े संग्रहों में से है। इसमें तीस हज़ार से अधिक पांडुलिपियाँ और काष्ठ-मुद्रित लेख हैं।’ इस संग्रह का प्रारम्भ ज़ार पीटर प्रथम ने किया था और सन ७२० में उनकी आज्ञा के अनुसार साइबेरिया के एक मठ से खरीद ली गई थीं। १८१८ ई. में एशियाई संग्रहालय की स्थापना के साथ तिब्बती सामग्रियों के संग्रह का कार्य प्रारम्भ हुआ। तिब्बती सामग्रियों में रूसी अनुसन्धानकर्ता सिबिकोव द्वारा १८९९-१९०२ के उनके तिब्बत के भ्रमण में लासा से लाया हुआ संग्रह है। इसमें बाराइदिन द्वारा गुरुम्ब और लाबरान मठों से लाई हुई सामग्री भी सम्मिलित है। भारतीय विद्वान शरत्चन्द्र दास की तरह ये दोनों अनुसन्धानकर्ता यात्रियों के भेष में तिब्बत में घूमे थे। इस संग्रहालय में सुरक्षित रखी हुई पांडुलिपियों में भारत से बहुमूल्य उपहार के रूप में प्राप्त १४ पांडुलिपियाँ भी हैं जिनमें कई तिब्बती भाषा की हैं।

इन संग्रहों में सुप्रसिद्ध तिब्बती विद्वान् लाभा तारानाथ (जन्म १५७५) द्वारा १६०८ में लिखी एक २२४ पृष्ठों की विशालकाय पांडुलिपि है जिसका शीर्षक है : “भारत में अमूल्य पवित्र धर्म के प्रचार के मार्गों का एक स्पष्ट और सामान्यतः सन्तोषप्रद भाष्य”। सन्त मिलारस्प (१०३३-११२२) तिब्बत के सबसे लोकप्रिय कवियों में माने जाते हैं। उनके शिष्य रास्टचून ने १२ वीं शती में शिष्य द्वारा गुरु से उनके जीवन सम्बन्धी प्रश्नों और गुरु के द्वारा दिए गए उत्तरों के रूप में लिखा था। इसका शीर्षक है : “सन्त मिलरास्प की जीवन-कहानी जो मोक्ष और सर्वग्राही ज्ञान के मार्ग का निर्देश करती है” इसमें उनकी अन्य कृतियाँ भी हैं जिन्हें “लाख गीत” कहा जाता है। ये कण्ठ-मुद्रित ३४० पृष्ठ है। इनमें एक अन्य पाण्डुलिपि है जिसका नाम है : “पंडित और मूर्ख”। यह कहानी पहले भारतवर्ष में लिखी गई थी और बाद में इसका अनुवाद तिब्बती भाषा में किया गया। यह उन पुस्तकों में है जो कि तिब्बत में सब से अधिक पढ़ी जाती है। एक पाण्डुलिपि में विक्रमादित्य सम्बन्धी दन्त कथा है। इस संग्रह में तिब्बती भाषा के कई व्याकरण हैं और कई तिब्बती-मंगोल शब्दकोश हैं जैसे कि “नाम सागर” शब्द कोश तथा अनेक द्विभाषी और त्रिभाषी मूलपाठ (तिब्बती-मंगोल, तिब्बति-मंगोल-चीनी और संस्कृत-तिब्बती) हैं। इनमें पिङ्नाग की भी कृतियाँ हैं। इस संग्रह में चिकित्सा सम्बन्धी भी अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं जिनमें कई संस्कृत से अनूदित है। इसमें एक पुस्तक “चिकित्सा-सार” है। इसका संस्कृत मूल पाठ नहीं प्राप्त होता। इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद लाभा यूथोग्या नामक एक तिब्बती डाक्टर ने ११ वीं शताब्दी में अनुवाद किया था...।”

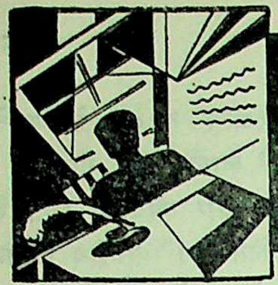

सम्पादकीय

पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न

भारतीय प्रशासन पिछले कई वर्षों से हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली को तैयार करवा रहा है। इस सम्बन्ध में विद्वानों की कई कमेटियाँ बनाई गई हैं जो पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी में निर्माण कर रही हैं। इन शब्दावलियों को भारतीय प्रशासन की ओर से प्रकाशित किया गया है जिन्हें विश्वविद्यालयों और अन्य विद्वानों के पास सम्मत्यर्थ भेजा गया है। अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि ये पारिभाषिक शब्दावलियाँ किस स्थिति में हैं; कहाँ तक प्रगति कर चुकी हैं, विद्वानों ने इनके सम्बन्ध में क्या सम्मति प्रदान की है; इनका प्रयोग ज्ञान-विज्ञान और अन्य क्षेत्रों में कब से किया जाएगा और अब तक के इन प्रयत्नों में भारतीय प्रशासन को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है?

भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में सबसे बड़ी जिस कमी का बार-बार उल्लेख किया जाता है वह यह है कि इन भाषाओं में आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली नहीं है और इन भाषाओं में इस महान् अभाव के कारण वे ज्ञान-विज्ञान आदि के शिक्षण और प्रशिक्षण के लिए अयोग्य और अनुपयुक्त समझी जाती हैं। परन्तु प्रश्न यदि उनकी अयोग्यता और अनुपयुक्तता पर समाप्त हो जाता तब तो कोई बात नहीं थी। इससे आगे स्वाभाविक रूप से यही प्रश्न उठता है कि भारतीय प्रशासन की ओर से इस सम्बन्ध में क्या किया गया है और इस बात की कब तक आशा की जा सकती है कि ये पारिभाषिक शब्दावलियाँ तैयार हो जाएँगी और इनका प्रयोग प्रारम्भ हो जाएगा। हम बड़े दुःख के साथ इस बात को देख रहे हैं कि भारतीय प्रशासन का शिक्षा मंत्रालय इस सम्बन्ध में बिलकुल चुप है। शिक्षा-मंत्रालय द्वारा कई प्रकार की विज्ञप्तियाँ प्रकाशित की जाती हैं, आए दिन दिल्ली में शिक्षा-मंत्रियों के और शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सम्मेलन होते रहते हैं और यन्त्र-विज्ञान आदि के सम्बन्ध में मंत्रियों, सचिवों और उप-सचिवों के द्वारा भारतीय भाषाओं की अयोग्यता और अनुपयुक्तता के फ़तवे दिए जाते हैं परन्तु पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कहाँ तक और किस रूप में हुआ है और भारतीय प्रशासन की पारिभाषिक शब्दावलियों के विषय में क्या योजनाएँ हैं उन पर किसी प्रकार का कुछ भी प्रकाश नहीं डाला जाता। यह सत्य है कि इस कार्य को शीघ्रतापूर्वक नहीं किया जा सकता और इसके मार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हैं परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि सर्वसाधारण को इस सम्बन्ध में भारतीय प्रशासन की ओर से समय-समय पर आवश्यक जानकारी प्राप्त न हो क्योंकि पारिभाषिक शब्दावली के कार्य को अन्ततः अनिश्चित काल के लिए विलम्बित नहीं किया जा सकता।

भारतीय प्रशासन ने जब तक इस कार्य को अपने हाथ में नहीं लिया था तब तक इस क्षेत्र में कुछ विद्वान् और अन्य कुछ संस्थाएँ कार्य कर रही थीं और उन्होंने परिश्रमपूर्वक अपनी शब्दावलियों और कोशों को प्रकाशित किया था। उनकी उपयुक्त और अनुपयुक्त दोनों प्रकार की आलोचनाएँ हुई थीं और उनकी शब्दावलियों के आधार पर इस बात को अनुभव किया गया कि इस कार्य को समस्त भारतीय स्तर पर किया जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि इस विषय में विद्वानों और संस्थाओं की ओर से जो प्रयत्न हो रहे थे—वे अधिकांश में समाप्त हो गए। यदि व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार के प्रयत्न न किए गए होते तो आज हिन्दी के अनेक क्षेत्रों में जो शब्दावलियाँ प्रचलित हो गई हैं जिनके आधार पर अंग्रेज़ी से अनुवाद कर लिए जाते हैं और इस प्रकार हिन्दी के साहित्य में जो विकास और विस्तार हो रहा है वह संभव न हो सकता। अन्य किसी प्रकार की शब्दावली के अभाव में यह अनिवार्य और स्वाभाविक ही है कि उनको प्रयोग में लाया जाए क्योंकि पारिभाषिक शब्दावली शून्यता या अभाव की स्थिति में नहीं रह सकती और जो व्यक्ति इन क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं जब उन्हें भारतीय प्रशासन की ओर से कोई प्रामाणिक पारिभाषिक

शब्दावली प्राप्त नहीं होती तब उनके पास इसके अतिरिक्त और मार्ग ही क्या रह जाता है कि वे जो शब्दावली उपलब्ध होती है उसीका प्रयोग करें।

यदि भारतीय प्रशासन ने परिभाषिक शब्दावली के निर्माण में इसी प्रकार देरी की तो इसके दो परिणाम तो स्पष्ट ही हैं। एक तो यह कि जब भारतीय प्रशासन की पारिभाषिक शब्दावली बन कर तैयार हो जाएगी तब तक जो शब्दावली प्रयोग में आ चुकेगी वह इतनी अधिक प्रचलित हो जाएगी की उसे अप्रयुक्त करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन होगा। शब्दों के सम्बन्ध में बड़ी वस्तु प्रचलन है और प्रचलन होने के पश्चात् शुद्ध और अशुद्ध, प्रामाणिक और अप्रमाणिक का विचार नहीं रहता। प्रचलन के कारण ये शब्द भाषा के अंग बन जाएँगे। दूसरा परिणाम परिणाम यह होगा कि पारिभाषिक शब्दावली में न केवल हिन्दी में अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में भी एकरूपता (Unifarmity) को लाना कठिन हो जाएगा। भारतीय स्तर पर इस शब्दावली को बनाने का मुख्य उद्देश्य यही था कि ये शब्द प्रामाणिक और एकरूप हों।

जहाँ तक नवीन पारिभाषिक शब्दावली का प्रश्न है—कहा तो यह जाता है कि वह हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में एक ही होनी चाहिए। और यह बात सर्वथा युक्तियुक्त है। परन्तु प्रश्न यह है कि यह किस प्रकार हो सकती है। इस समय भी एक अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्द के लिए हिन्दी और भारतीय भाषाओं में एक प्रकार के शब्दों का प्रचलन नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि जो संस्थाएँ सरकारी और अखिल भारतवर्षीय हैं वे भी हिन्दी में एक शब्द का प्रयोग करती हैं और अन्य भारतीय भाषाओं में दूसरे शब्दों को। उदाहरण के तौर पर आल इंडिया रेडियो केन्द्रीय भारतीय प्रशासन द्वारा संचालित और नियामित संस्था है। इसके द्वारा हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में एक ही प्रकार के प्रोग्रामों को प्रसारित किया जाता है। दिल्ली में आल इंडिया रेडियो में हिन्दी और भारतीय भाषाओं के अनेक विद्वान् हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि वे अपनी भाषाओं के प्रोग्रामों में एक ही प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करें। और यदि अखिल भारतीय स्तर पर भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में एक प्रकार की शब्दावली का प्रयोग संभव नहीं हो सकता—तो फिर इन भाषाओं में ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्रों में किस प्रकार एक ही प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया जा सकेगा। एक ही आकाश वाणी के प्रोग्राम में हिन्दी में "पंचवर्षीय योजना" कहा जाता है और तेलुगु में "पंचवर्षीय प्रणालिका"; सरकार के लिए हिन्दी में 'प्रशासन और 'सरकार' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है और कन्नड़ और तेलुगु में "प्रभुत्व" शब्द का प्रयोग किया जाता; है 'कालेज' शब्द के लिए हिन्दी में 'महाविद्यालय' या 'कालेज' शब्द का प्रयोग किया जाता है और तेलुगु में 'कलाशाला' का। 'प्राइम मिनिस्टर' के लिए हिन्दी में 'प्रधान मन्त्री' शब्द का प्रयोग किया जाता है और गुजराती में "वड़ा प्रधान' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार अनेक शब्दों का उदाहरण दिया जा सकता है। यदि भारतीय प्रशासन इस शब्दावली में एकरूपता रखना चाहता है तो इसका प्रारम्भ पहले अखिल भारतीय संस्थाओं में तो कम-से-कम नियमित रूप से किया जाना चाहिए। यदि भारतीय प्रशासन द्वारा पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में इसी प्रकार विलम्ब होता गया तो हम समझते हैं कि भारतीय समस्त भाषाओं में एक प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली को चलाना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। इस विषय में जागरूकता और सतर्कता की आवश्यकता है।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण करने का प्रश्न जितना कठिन है इस शब्दावली के प्रयोग का प्रश्न भी उतना ही अधिक कठिन है। किसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग या प्रचलन क़ानून द्वारा तो नहीं किया जा सकता। इस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग जिसे कि भारतीय प्रशासन की कमेटियाँ बना रही हैं सबसे पूर्व भारतीय प्रशासन को ही करना पड़ेगा। इसके बिना इस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकेगी। भारतीय प्रशासन को न केवल हिन्दी में अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की पुस्तकों को तैयार करवाना पड़ेगा जिनमें कि उसके द्वारा निर्मित शब्दावली का पूर्ण रूप से प्रयोग हो। इस प्रकार जितना समय इस शब्दावली के निर्माण में लगेगा उसके प्रचलन और प्रयोग में उससे कम समय नहीं लग सकेगा।

यदि पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण यथासमय न हो सका तो १५ वर्ष की अवधि में संभवतः किसी प्रकार हिन्दी को सरकारी कार्यों की भाषा वैकल्पिक

रूप से बताया जा सके परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाएँ ज्ञान और विज्ञान आदि को पढ़ाने के लिए कितने समय में समर्थ और सक्षम हो सकेंगी इसके लिए तो किसी प्रकार की अवधि नियत नहीं की गई है और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की अवधि आजकल की परिस्थितियों में संभव है। शायद यही कारण है कि यह कहा जा रहा है कि ज्ञान-विज्ञान और यन्त्रशास्त्र आदि की शिक्षा हमारे देश में अनिश्चित काल तक अंग्रेज़ी के द्वारा प्रदान की जाएगी। संभवतः पारिभाषिक शब्दावली को बनाने में जो समय लगेगा वह भी अनिश्चित है। क्या यह मुमकिन नहीं है कि भारतीय प्रशासन कोई अवधि निश्चित कर दे कि इतने समय में आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली तैयार हो जाएगी जिससे ज्ञान-विज्ञान आदि की शिक्षा हिन्दी और भारतीय भाषाओं द्वारा सम्भव हो सकेगी।

हिन्दी : समस्त एशिया की भाषा

हम को वह समय दीख रहा है जबकि हिन्दी समस्त एशिया में समझी और बोली जानेवाली मुख्य भाषाओं में से एक होगी। अभी तो जितने एशियाई सम्मेलन होते हैं उनमें एशियाई भाषाओं को वह महत्व प्राप्त नहीं होता जो कि उन्हें होना चाहिए। दिल्ली में समस्त एशिया के लेखकों के सम्मेलन की इस मास में आयोजना की गई है। यद्यपि यह सम्मेलन एशिया के लेखकों का है तो भी इसकी अधिकांश कार्यवाही अंग्रेज़ी के द्वारा सम्पन्न की जाएगी। सम्भवतः इस समय इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग भी नहीं है। प्रारम्भ में इन सम्मेलनों को अंग्रेज़ी के द्वारा किया जा सकता है परन्तु यदि ये संस्थाएँ विकसित हों और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में समर्थ हों तो एशियाई भाषाओं को प्रमुखता प्रदान करनी पड़ेगी। अन्यथा ये समस्त एशियाई सम्मेलन निष्प्राण ही रहेंगे।

विश्व का चक्र कुछ इस प्रकार घूम रहा है कि एशिया का ऊपर आना अब अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व प्रायः समस्त विश्व पर इंग्लैण्ड का आधिपत्य था और वही विश्व का नेता था। ऐसी अवस्था में अंग्रेज़ी का विश्व-भाषा बनना अनिवार्य था। प्रथम विश्व-युद्ध में इंग्लैण्ड विजयी तो हो गया परन्तु विश्व का नेतृत्व उसके हाथ से जाता रहा और अमरीका विश्व का नेता बन गया। क्योंकि अमरीका की भाषा भी अंग्रेज़ी थी इसलिए इस समय भी अंग्रेज़ी का ही आधिपत्य रहा। परन्तु इसमें कुछ भेद हो गया। जो अंग्रेज़ी इंग्लैण्ड की विरासत समझी जाती थी—अब अमरीका की हो गई। अमरीका की जिस अंग्रेज़ी पर अंग्रेज़ हँसा करते थे—उसी का वे निस्संकोच और अभिमान पूर्वक प्रयोग करने लगे। द्वितीय महायुद्ध हुआ। इस समय यद्यपि इंग्लैण्ड और अमरीका की विजय हुई तो भी उनके साथ रूस भी विजयी हुआ। विश्व का नेतृत्व अकेले अमरीका के हाथ में नहीं रह गया। अमरीका की स्थिति अब भी प्रमुख है—इसलिए अंग्रेज़ी को अब भी प्रमुख स्थान प्राप्त है परन्तु अब अंग्रेज़ी की वह स्थिति नहीं रह गई है। अंग्रेज़ी की स्थिति डाँवाडोल हो गई है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् चीन, कोरिया, हिन्द एशिया आदि स्थानों में जो युद्ध हुए उनमें जहाँ एशिया के देश स्वतन्त्र हो गए वहाँ उनकी अपनी भाषाओं को भी मुख्यता प्राप्त होने लगी। मिस्र में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों को मुँह की खानी पड़ी और उससे अब ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य पूर्व से ले कर सुदूर एशिया के राष्ट्रों में जाग्रति उत्पन्न हो रही है और यह असम्भव नहीं है कि विश्व के रंगमंच पर अब एशिया के देश अधिकाधिक मुख्यता और नेतृत्व प्राप्त करें। भारतवर्ष को इसमें पर्याप्त हिस्सा लेना पड़ेगा और इस कारण यह स्वाभाविक है कि एशिया के देशों में भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा और अन्य भाषाओं को सीखने की इच्छा जागृत हो। वैसे भी चीन आदि देशों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी की शिक्षा प्रदान की जा रही है। इसी प्रकार एशिया के अन्य देशों में भी हिन्दी की शिक्षा दी जाने लगेगी।

एशिया यूरोपीय भाषाओं को अब वह महत्व प्रदान नहीं कर सकता जो कि उन्हें आज प्राप्त है और इसका अनिवार्यतः यह परिणाम होगा कि एशिया की भाषाएँ विश्व के रंगमंच पर आएँगी और उन भाषाओं में हिन्दी को निश्चय ही प्रमुख स्थान प्राप्त होगा। संभव है कि एक दिन वह एशिया और विश्व की अन्यतम भाषाओं में से एक हो। हमें इसी दृष्टि से हिन्दी के कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए और उसे लोकप्रिय और सर्वाङ्गरूप से विकसित, पूर्ण और विस्तृत करने का प्रयत्न करना चाहिए।

आइए ! मिलिए !

हमारे यहाँ उत्तमोत्तम नुस्खे बडी सावधानी से तैयार किये जाते हैं

स्वामी सन्स

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

प्रत्येक रविवार को भी दुकान खुली रहती है।

स्वामी सन्स मेडिकल हॉल

औषधि प्रस्तोता और विक्रेता

आविद रोड, ::: हैदराबाद-द.

पुस्तकालय
029513
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

अजन्ता

079573

ल होता म

रजिस्टर्ड नं. H. ५९९ Regd. No. H. 599

H. 599

Compiled
1999-2000